महाकविश्रीहर्षविरचितं
नैषधीयचरितम्
'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहितम्
आचार्य शेषराज शर्मा 'रेग्मी'

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

13

महाकविश्रीहर्षविरचितं

नैषधीयचरितम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

व्याख्याकारः

आचार्य श्रीशेषराजशर्मा रेग्मीः

भूतपूर्व-प्राध्यापकः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य, नेपालस्थत्रिभुवनविश्वविद्यालयस्य,

वाल्मीकिसंस्कृतमहाविद्यालयस्य च

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

नैषधीयचरितम्

पृष्ठ : 4+144

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : +91 542-2335263; 2335264

email : csp_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in

संस्करण 2021 ई०

मूल्य : प्रथम सर्ग ₹ 70; 1-3 सर्ग ₹ 110;

1-5 सर्ग ₹ 175; 6-9 सर्ग ₹ 160 सर्ग;

1-10 सर्ग ₹ 350

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : +91 11-23286537

email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

4360/4, अंसारी रोड, दरियागंज,

नई दिल्ली - 110002

•

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

13

NAIṢADHĪYACARITA

OF

ŚRĪ HARṢA

with

'Chandrakala' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Acharya Shesharaja Sharma 'Regmi'

Former Professor

Banaras Hindu University, Tribhuvan University

and Valmiki Sanskrit Mahavidyalaya, Nepal

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

नैषधीयचरितम्

पृष्ठ : 4+144

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : +91 542-2335263; 2335264

email : csp_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in

संस्करण 2021 ई०

मूल्य : प्रथम सर्ग ₹ 70; 1-3 सर्ग ₹ 110;

1-5 सर्ग ₹ 175; 6-9 सर्ग ₹ 160 सर्ग;

1-10 सर्ग ₹ 350

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : +91 11-23286537

email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

4360/4, अंसारी रोड, दरियागंज,

नई दिल्ली - 110002

•

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

13

NAIṢADHĪYACARITA

OF

ŚRĪ HARṢA

with

'Chandrakala' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Acharya Shesharaja Sharma 'Regmi'

Former Professor

Banaras Hindu University, Tribhuvan University

and Valmiki Sanskrit Mahavidyalaya, Nepal

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

Published by :
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. +91 542-2335263; 2335264
email : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

Also can be had from :
CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road. Darya Ganj
New Delhi 110002
Tel. +91 11-23286537
email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

•

CHAUKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

भूमिका

महाकाव्य नैषधीयचरित और महाकवि श्रीहर्ष

संस्कृतके महाकाव्योंमें नैषधीयचरितका उच्च स्थान है। यों तो संस्कृतमें काव्य अपरिमित हैं, परन्तु पठनपाठनमें लघुत्रयी, बृहत्त्रयी और पञ्च महाकाव्य बहुत ही प्रसिद्ध हैं। लघुत्रयीमें प्रस्तुत महाकाव्यका परिगणन न होनेसे उसके विषयमें कुछ भी न कहकर बृहत्त्रयी और पञ्च काव्योंकी कुछ चर्चा की जाती है। किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित ये तीन महाकाव्य बृहत्त्रयीके रूपमें विख्यात हैं। इसी तरह कुमारसम्भव, रघुवंश, किरातार्जुनीय शिशुपालवध और नैषधीयचरित ये पाँच महाकाव्य "पञ्चकाव्य" के रूपमें विख्यात हैं और पठनपाठनमें बहुप्रचलित हैं। इन दोनों विभागोंमें व्याकरणके "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" इस उक्तिके समान पूर्वकी अपेक्षा पर श्रेष्ठ माने गये हैं। लोकोत्तर चमत्कार, रस, भाव, ध्वनि, अलङ्कार, पदलालित्य और वर्णन तथा प्रमाणमें असाधारणता इत्यादि गुणगणोंसे नैषधीयचरित महाकाव्य सब काव्योंमें श्रेष्ठ माना गया है।

पूर्वोक्त इन सभी काव्योंका कथानक इतिहास और पुराणसे लिया गया है परन्तु इनको आकर्षक मनोहर कल्पनासे सजाकर महाकवियोंने अतिशय सुन्दरता और नवीनतासे चित्रित किया है। अतएव।

> "अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापति।
> यथेदं रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
> शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये सर्वं रसमयं जगत्।
> स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥"

यह उक्ति विशेषतया इन लोगों में लागू होती है। यद्यपि—

> "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
> नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥"

इस उक्तिसे नैषधमें पदलालित्यकी विशेषता होने पर भी तीनों गुण होनेसे माघकी विशेषता परिलक्षित होती है, परन्तु—

Published by :
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. +91 542-2335263; 2335264
email : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

Also can be had from :
CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road. Darya Ganj
New Delhi 110002
Tel. +9111-23286537
email: chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

•

CHAUKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

भूमिका

महाकाव्य नैषधीयचरित और महाकवि श्रीहर्ष

संस्कृतके महाकाव्योंमें नैषधीयचरितका उच्च स्थान है। यों तो संस्कृतमें काव्य अपरिमित हैं, परन्तु पठनपाठनमें लघुत्रयी, बृहत्त्रयी और पञ्च महाकाव्य बहुत ही प्रसिद्ध हैं। लघुत्रयीमें प्रस्तुत महाकाव्यका परिगणन न होनेसे उसके विषयमें कुछ भी न कहकर बृहत्त्रयी और पञ्च काव्योंकी कुछ चर्चा की जाती है। किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीथचरित ये तीन महाकाव्य बृहत्त्रयीके रूपमें विख्यात हैं। इसी तरह कुमारसम्भव, रघुवंश, किरातार्जुनीय शिशुपालवध और नैषधीयचरित ये पाँच महाकाव्य "पञ्चकाव्य" के रूपमें विख्यात हैं और पठनपाठनमें बहुप्रचलित हैं। इन दोनों विभागोंमें व्याकरणके "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" इस उक्तिके समान पूर्वकी अपेक्षा पर श्रेष्ठ माने गये हैं। लोकोत्तर चमत्कार, रस, भाव, ध्वनि, अलङ्कार, पदलालित्य और वर्णन तथा प्रमाणमें असाधारणता इत्यादि गुणगणोंसे नैषधीयचरित महाकाव्य सब काव्योंमें श्रेष्ठ माना गया है।

पूर्वोक्त इन सभी काव्योंका कथानक इतिहास और पुराणसे लिया गया है परन्तु इनको आकर्षक मनोहर कल्पनासे सजाकर महाकवियोंने अतिशय सुन्दरता और नवीनतासे चित्रित किया है। अतएव।

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापति।
यथेदं रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये सर्वं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥"

यह उक्ति विशेषतया इन लोगों में लागू होती है। यद्यपि—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥"

इस उक्तिसे नैषधमें पदलालित्यकी विशेषता होने पर भी तीनों गुण होनेसे माघकी विशेषता परिलक्षित होती है, परन्तु—

"तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे भानौ क्व माघः ? क्व च भारविः ? ॥"

अर्थात् भारविकी कान्ति माघके उदयके पहले ही शोभित होती है परन्तु नैषधरूपी सूर्यके उदय होनेपर कहाँ माघ ? और कहाँ भारवि ? इस उक्तिसे नैषधमहाकाव्यकी पूर्वोक्त दोनों काव्योंसे श्रेष्ठता जानी जाती है ।

नैषधीयचरित महाकाव्यके कर्ता महाकवि श्रीहर्षके पिताका नाम श्रीहीर और माताका नाम माम्ल्लदेवी वा अल्लदेवी था, यह बात उक्त काव्यके प्रत्येक सर्गके अन्तमें स्थित—

"श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं ।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ॥"

इस पद्यसे मानी जाती है । किसी उदयनाचार्य नामके पण्डितसे श्रीहर्षके पिता श्रीहीर शास्त्रार्थमें हार गये थे । ये उदयनाचार्य कुसुमाञ्जलि और किरणावलीके कर्ता दशमशताब्दीके मैथिल दार्शनिक उदयनाचार्यसे भिन्न थे । अन्तिम समयमें श्रीहीरने अपने पुत्र श्रीहर्षसे उक्त पण्डितको शास्त्रार्थमें जीतनेका अनुरोध किया था । श्रीहर्षने अपनी मातासे चिन्तामणि मन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवतीकी उपासनाके फलस्वरूप असाधारण विद्वत्ता और प्रतिभाकी प्राप्ति होनेसे खण्डन-खण्डखाद्य नामक वेदान्त ग्रन्थसे उदयनाचार्यको परास्त किया ।

असामान्य वैदुष्यपूर्ण प्रतिभाके कारण जब इसकी रचना दुरूह हुई तब अपनी कृतिको बोधगम्य करानेके लिए उन्होंने आधीरातके समय शिरमें पानी डालकर दही पिया तब कफकी प्रचुरतासे कुछ बुद्धिकी मन्दता हुई तदनन्तर इनका काव्य समझनेमें लोग समर्थ हुए ऐसी अनुश्रुति है ।

ऐसी भी उक्ति है कि महाकवि श्रीहर्ष प्रसिद्ध आलङ्कारिक मम्मटभट्टके भाञ्जे थे और उन्होंने अपनी रचना नैषधचरित मामाको दिखलाया मम्मटने कहा कि "मुझे काव्यप्रकाशके सप्तम उल्लास लिखनेके पहले ही यह ग्रन्थ मिल जाता तो दोषोंके उदाहरण ढूँढनेमें अनेक ग्रन्थोंको देखनेका परिश्रम नहीं उठाना पड़ता, तुम्हारे एक ही ग्रन्थ से सब काम चल जाता" परन्तु इस लोकोक्तिमें सत्यताका बहुत कम अंश देखा जाता है । महाकवि श्रीहर्ष कान्यकुब्ज (कन्नौज) और वाराणसीके महाराज विजयचन्द्र और जयचन्द्रके सभापण्डित थे और वे कान्यकुब्जेश्वरसे पानके दो बीड़े और आसन पाते थे, तथा समाधिमें ब्रह्मका

साक्षात्कार करते थे। उनका काव्य मधुकी वृष्टि करनेवाला है और तर्कोंमें उनकी उक्तियाँ शत्रुओंको परास्त करने वाली हैं, ये बात ग्रन्थके अन्त में स्थित—

"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षत्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदाऽर्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि, धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम्॥" २२–१५३

इस पद्यसे जानी जाती है। महाकवि श्रीहर्षका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी है। ये न्याय, वेदान्त आदि अनेक शास्त्रोंपर पूर्ण अधिकार रखते थे। इनके ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय देकर पीछे नैषधीयचरितपर कुछ लिखेंगे—

१ स्थैर्यविचारणप्रकरण—संभवतः इसमें बौद्धोंके क्षणिकवादका खण्डन होगा।
२ विजयप्रशस्ति—इसमें जयचन्द्रके पिता विजयचन्द्र की प्रशस्ति है।
३ खण्डनखण्डखाद्य—इसमें न्यायकी रीतिका अवलम्बन कर न्यायका खण्डन और अद्वैतसिद्धान्तका मण्डन है। यह अत्यन्त दुरूह और पाण्डित्यका निकषग्रावा माना गया है। बादमें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके शङ्करमिश्रने इसीकी शैलीपर "वादिविनोद" नामक ग्रन्थकी रचना की थी।
४ गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति—इसमें बङ्गदेशके किसी राजाकी प्रशस्तिका वर्णन है।
५ अर्णववर्णन—इसमें समुद्रका वर्णन होगा।
६ छिन्दप्रशस्ति—इसमें छिन्द नामके किसी राजाकी प्रशस्तिका वर्णन होगा।
७ शिवशक्तिसिद्धि—नामके अनुसार इसमें भी शिव और शक्तिकी सिद्धि की गई होगी।
८ नवसाहसाङ्कचरितचम्पू—संभवतः राजा भोजके पिता "नवसाहसाङ्क" उपाधिवाले सिन्धुराजका चरित होगा।
९ नैषधीयचरित महाकाव्य—महाकविने इसे "तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले" कहकर चिन्तामणि मन्त्रके चिन्तनसे फलस्वरूप बतलाया है। इसमें कुल २२ सर्ग हैं रत्नाकर महाकविके "हरविजय महाकाव्य"—(जिसमें ५० सर्ग हैं) को छोड़कर प्रचलित अन्य समस्त महाकाव्योंमें यह विशाल और श्रेष्ठ है इसमें तेरहवाँ सर्ग ५६ श्लोकोंका १५ वाँ सर्ग ९३ श्लोकोंका और उन्नीसवाँ सर्ग ६७ श्लोकोंका है। इनको

छोड़कर अन्य सर्गोंमें श्लोकोंकी संख्या शताऽधिक है। किं बहुना १७ वाँ सर्ग २२२ श्लोकोंका है।

इसमें समष्टि श्लोकसंख्या २८२८ है। कहा जाता है कि अपने आश्रयदाता महाराज जयचन्द्रकी आज्ञासे महाकविने इस महाकव्यको रचा था इसमें उन्नीस छन्दोंका प्रयोग किया गया है जिनमें सबसे अधिक उपजाति छन्द हैं, जिसमें ७ सर्ग लिखे गये हैं। वंशस्थमें ४ सर्ग हैं। इनके अतिरिक्त दोघक, वसन्ततिलका, स्वागता, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, शिखरिणी और अनुष्टुप् आदि छन्द हैं। १७ वाँ सर्ग तो अनुष्टुप् छन्दोंमें ही रचित है। इस महाकाव्यपर २३ टीकाएँ रची गई हैं ऐसा प्रतीत हुआ है। जिनमें प्राचीनमें मल्लिनाथकी जीवातु और नारायण पण्डितकी प्रकाश टीका तथा नवीनमें जीवानन्द विद्यासागर और म० म० हरिदास सिद्धान्तवागीशकी टीकाएँ उपलब्ध हैं, टीकाएँ केवल नाममात्रसे प्रसिद्ध हैं। श्रीहर्षके ग्रन्थोंमें नैषधीयचरित और खण्डनखण्डखाद्य उपलब्ध हैं अन्य अप्राप्य हैं।

नैषधीयचरितका उपजीव्य है महाभारतके वनपर्वस्थित नलोपाख्यान। इसमें आरम्भमें नलके अनुपम गुणगणोंका सविस्तर वर्णन है। दमयन्तीके पूर्वाऽनुरागकी भी विशद चर्चा है। अनन्तर नलकी दमयन्तीमें आसक्ति, दमयन्तीके विरहसे अधीर होकर राजा वनविहारके लिए जाते हैं, वहाँ तालाब-के पास एक हंसको पकड़ते हैं। मनुष्यकी वाणीमें उसका विलाप सुनकर उसको छोड़ देते हैं। वह फिर आकर उनसे दमयन्तीका वर्णन करता है, और दमयन्तीके साथ राजाका सम्बन्ध करानेका प्रण कर दमयन्तीकेपास जाता है। हंस दमयन्तीसे राजा नलके सौन्दर्य और गुणोंका वर्णन करता है राजा भीम दमयन्तीके स्वयम्वरका प्रयोग करते हैं नारदके मुखसे स्वयम्वरका समाचार सुनकर इन्द्र, यम, वरुण और अग्निके साथ दमयन्तीके स्वयम्वरमें जानेके लिए प्रस्तुत होते हैं। रास्तेमें नलको देखकर अपने कौशलसे उन्हें अपना दूत बनाते हैं। बड़े समारोहसे स्वयंवर होता है: चारों देवता नलका रूप लेकर उपस्थित होते हैं। नलका निश्चय करनेमें असमर्थ होकर दमयन्ती व्याकुल होती है। अन्तमें देवगण उनकी पति-भक्तिसे प्रसन्न होकर अपने चिह्नोंको प्रकट करते हैं तब दमयन्तीके साथ नलका विवाह होता है। लौटते समय कलिके साथ देवताओंका सामना होता है। कलिके नास्तिकवाद प्रकाशित करनेपर देवगण उसका खण्डन करते हैं। कलि नलके ऊपर कुपित होकर उनको पीडित करने-का प्रण करके द्वापरके साथ अन्यत्र कहीं उपयुक्त स्थान न देखकर उनके

बागीचेमें रहकर अवसर ताकता रहता है। अन्तमें नल और दमयन्तीकी प्रथम मिलनरात्रिका मनोहर वर्णन करके ग्रन्थ समाप्त होता है।

नलोपाख्यानके अनुसार भाई पुष्करके साथ जुँएमें राज्य गँवाकर नलका पर्यटन आदि वृत्तान्त न होनेसे यह महाकाव्य अधूरा-सा प्रतीत होता है। अतएव कहा जाता है कि इसमें पहले ६० सर्ग थे, परन्तु अभी २२ सर्ग-मात्र उपलब्ध हैं इसमें रस, अलङ्कार, ध्वनि, गुण, रीति आदि अलङ्कार शास्त्रके प्रत्येक विषयसे पूर्ण मौलिकता परिलक्षित होती है। कालिदासकी रचनाओंको छोड़कर पूर्ववर्ती समस्त कवियोंकी रचनाएँ इसके सामने हतप्रभ हो गई हैं। श्रीहर्षने आलङ्कारिकोंके नियमका भी पूर्णरूपसे पालन नहीं किया है, वर्णनोंमें उनकी विलक्षण कल्पनाओंकी उड़ानने सब सीमाका अतिक्रमण कर दिया है। श्रीहर्षने अलङ्कार आदिके प्रयोगोंमें दर्शन और व्याकरणसे उदाहरण लेकर अपनी अनोखी सूझबूझका परिचय दिया है। संस्कृतभाषामें श्रीहर्षका असाधारण अधिकार देखा जाता है। "नैषधं विद्वदौषधम्" यह प्रसिद्ध जनश्रुति है। नैषधको शास्त्रकाव्य कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती है। अलङ्कारोंमें उन्होंने अतिशयोक्ति, अपह्नुति, अर्थान्तरन्यास, उपमा, व्यतिरेक, रूपक आदिमें अपना बेजोड़ कौशल प्रदर्शित किया है। यमक आदि शब्दाऽलङ्कारके प्रयोगमें भी वे अपनी सानी नहीं रखते हैं। हाँ भारवि और माघके समान एकाक्षर और द्व्यक्षरवाले श्लोकोंका प्रदर्शन कर श्रीहर्षने काव्यशिल्प नहीं दरसाया है, वस्तुतः यह भूषण है, दूषण नहीं है। नैषधीयचरितके १३ वें सर्गके ३४ वें श्लोकमें उन्होंने पञ्चनलीका वर्णन करनेमें अद्भुत और असाधारण वैदुष्य दिखाया है। नैषधीयचरितमें प्रसादगुण और वैदर्भी रीतिका पर्याप्त प्रदर्शन होनेपर भी माधुर्य और ओजोगुण और पाञ्चाली आदि रीतिकी प्रचुरता उपलक्षित होती है। इस काव्यरत्नके रसास्वादनके लिए कठिन परिश्रम और परिमार्जित बुद्धि अपेक्षित है इसमें दो मत नहीं।

अब नैषधीयचरितके कुछ असाधारणश्लोकोंका प्रदर्शन कर इस प्रसङ्गका उपसंहार किया जाता है—

नलके प्रताप और यशका कैसा मनोहर वर्णन है—

"तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेशकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ १-१४।

दमयन्तीके विरहसे सन्तप्त होनेपर भी नलके अयाचित-व्रतका पालन कितनी रमणीयतासे वर्णित है—

"स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम॥ १-५०।

नलसे पकड़े जानेपर हंसके मुखसे करुणरसका कैसा सजीव वर्णन है—

"मदेकपुत्रा जननी जराऽतुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो ! विधे ! त्वां करुणा रुणाद्धि नो" ॥१-१३५

महाराज भीमकी पुरीका श्लिष्ट रूपमें कैसा मनोहर वर्णन है—

"स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलिताऽनल्पमुखारवा न वा" ॥ २-९८ ॥

नलकी साधुताका वर्णन व्याकरणपाण्डित्यप्रदर्शनपूर्वक कैसी प्रवीणतासे किया गया है—

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात्" ॥ ३-२३।

कितनी मार्मिकतासे नलके घोड़ोंका वर्णन अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकसे प्रदर्शित है—

"विना पतत्रं विनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः॥ ३-३७।

कैसी सूझबूझसे नलके गुणोंका अतिशयोक्तिसे अशक्यवर्णन प्रतिपादित किया है—

"यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्" ॥ ३-४० ॥

चन्द्रमें स्थित कलङ्कको उत्प्रेक्षा और अपह्नुतिसे कैसी सजीवतासे दरसाया है—

"स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृषे विधुः।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाऽङ्कितः" ॥ ४-७३।

इस पद्यमें देवताओंका विग्रह नहीं है, शब्द ही देवता हैं ऐसे मीमांसा-सिद्धान्तको कैसी विलक्षणतासे प्रस्तुत किया है—

"विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये।
विग्रहं मखभुजालसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय" ॥ ५-३९।

सार अलङ्कारके द्वारा इन्द्रकी श्रेष्ठताका कैसा मनोहर वर्णन है—

"लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अत्यादितेयेषु महान्महेन्द्रः ।
किङ्कर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्षा किमतः पराऽपि ॥६-८१ ।

स्वर्गसे भी भारतवर्षकी श्रेष्ठताका कितना सुन्दर वर्णन है—

"स्वर्गे सतां शर्म, परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च ।
इष्टा[illegible]ष्टिः सुकरा सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे" ॥ ६-९८ ।

एक दमयन्तीको देखनेसे अनेक अप्सराओंको देखनेका कौतुक पूर्ण होता है, इस बातको कैसी विलक्षणतासे दिखाया है—

भ्रूश्चित्ररेखा च, तिलोत्तमाऽस्या नासा च, रम्भा च यदूरुसृष्टिः ।
दृष्टा ततः पूरयतीयमेकाऽनेकाऽप्सरः प्रेक्षणकौतुकानि" ॥ ७-९२ ।

महाराज नल कामदेव और अश्विनीकुमारोंसे भी सुन्दर हैं इस बातको दमयन्ती के मुखसे किस तरह विलक्षणतासे प्रदर्शित किया है—

"न मन्मथस्त्वं स हि नाऽस्तिमूर्तिर्न वाऽऽश्विनेयः स हि नाऽद्वितीयः ।
चिह्नैः किमन्यैरथवा तवेयं श्रीरेव ताभ्यामधिको विशेषः" ॥ ८-२९ ।

दमयन्ती नलको "आपकी वाणी मात्रके सुननेसे नाम सुननेकी इच्छा शिथिल नहीं हुई है" इस बातको दृष्टान्त अलङ्कारसे कैसे मधुरतापूर्वक कहती है—

"गिरः श्रुता एव तव श्रवःसुधाः, श्लथाऽभवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा, न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि" ॥९५ ॥

नैषधीयचरितके एकसे नौ सर्गों तक आपाततः कतिपय मनोहर श्लोकोंका प्रदर्शन किया गया है, इसको परिसंख्याके रूपमें नहीं समझना चाहिए ।

नैषधीयचरितकी इस नवीन चन्द्रकलाव्याख्यामें मैंने प्राचीन तथा नवीन जीवातु, प्रकाश और जयन्तीका निरीक्षणपूर्वक छात्रोंको सुगमतया बोध करानेका प्रयत्न किया है, मैं इस विषयमें कहाँ तक सफल हुआ हूँ इस विषयमें कृतवेदी विद्वद्गण तथा छात्रगण ही प्रमाण हैं ।

अन्तमें त्वरा और प्रमादके कारण होनेवाले स्खलनमें सूचनाकी प्रार्थना कर मैं अपने लघुवक्तव्यको समाप्त करता हूँ ।

वाराणसी, ब्रह्माघाट
सं० २०३३ मेषसंक्रान्तिः ।

शेषराजशर्मा

द्वितीय संस्करण

यद्यपि संस्कृतके महाकवियोंकी कृतिमें एक-एक विशिष्ट उत्कर्ष विद्यमान है, जैसे प्रसादगुण, उपमा आदि अलङ्कार और वैदर्भी रीतिमें कालिदास; अर्थगौरव, प्रकृतिवर्णन आदिमें भारवि; पदलालित्य और अनुप्रास आदिमें दण्डी और वर्णन आदिकी व्यापकतामें बाणभट्ट अपनी सानी नहीं रखते हैं। तथाऽपि संस्कृत महाकाव्यमें महाकवि श्रीहर्ष अप्रतिम हैं। मैंने पूर्व संस्करणकी भूमिकामें उनकी रचनाकी कतिपय विशेषताको प्रदर्शित किया है तो भी इस द्वितीय संस्करणमें भी थोड़ा-सा दिग्दर्शन करनेका प्रयास करता हूँ।

सभी जानते हैं कि प्रतिभा; लोकचरित्रविज्ञता और शास्त्रज्ञता इनसे काव्यकी उत्पत्ति होती है, इन तीनों गुणोंके पारिपाकसे काव्य चरम उत्कर्षको प्राप्त होता है। जैसे केवल शास्त्रज्ञता होनेसे कवित्व कुण्ठित होता है वैसे केवल लोकचरित्रविज्ञता होनेसे काव्य, ग्राम्यता आदि अनेक दोषोंका स्थान होता है। मुरारि कविमें शास्त्रज्ञताकी मात्रा अधिक होनेसे उनके अनर्घराघवमें कवित्वका परिपाक नहीं हो पाया है। भवभूतिके उत्तररामचरितमें और दिङ्नागकी कुन्दमालाकी तुलनामें उनका अनर्घराघव नहीं ठहरता है। जैसे प्रतिभाके साथ साथ पूर्वोक्त दोनों गुणोंका उत्कर्ष श्रीहर्षके नैषधीयचरितमें देखा जाता है संभवतः वैसा उत्कर्ष विश्वसाहित्यमें प्राप्त नहीं है।

नैषधीयचरितकी विशेषताको परखनेके लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी आवश्यकता है; इसलिए अभी इतनेसे ही सन्तोष करते हैं।

—शेषराजशर्मा

संक्षिप्त कथासार

[नवमसर्गपर्यन्त]

प्रथम सर्ग

निषध देशके महाराज नलके गुणोंका वर्णन। उनके गुणोंको दूत, द्विज और वन्दी आदिसे सुनकर विदर्भ देशके नरेश भीमकी पुत्री दमयन्तीका उनमें पूर्वराग-का वर्णन। उसी तरह दमयन्तीके लोकोत्तर सौन्दर्य और गुणगणोंको सुनकर उन पर नलके अनुरागका वर्णन। दमयन्तीके विरहसे आकुल होकर सभाभवनमें रहनेमें नलकी असमर्थता। मन बहलानेके लिए बागीचेमें जानेके लिए उनकी इच्छा। नलके घोड़ेका वर्णन। घुड़सवार अपने वयस्योंके साथ उपवनमें नलकी यात्राका वर्णन। उपवनके साथ वहाँके तालाबका सविस्तर वर्णन। वहाँपर एक सुनहरे हंसको देखकर नल द्वारा उसका ग्रहण। मनुष्यवाणीमें नलकी निन्दा कर अपनी माता, हंसी और बच्चोंकी शोचनीयताको प्रकाश कर हंसका अतिकरुण विलाप करना। उससे आर्द्रचित होकर सहृदय नलका उसे छोड़ देना।

द्वितीय सर्ग

नलसे छुटकारा पाकर हंसका अपने घोंसलेमें जाना और वहाँसे लौटकर फिर राजाके पास आना। हंसका राजाके लिए मृगयाका समर्थन करना और और प्रत्युपकारके लिए दमयन्तीका और उनके सौन्दर्य आदिका सविस्तर वर्णन कर राजाके प्रति दमयन्तीकी आसक्ति उत्पन्न करानेकी प्रतिज्ञा करना। दमयन्तीके विरहसे अपनी अवस्थाका राजा द्वारा वर्णन। राजाकी अनुमतिसे आकाश मार्गसे हंसका कुण्डिनपुरके प्रति प्रस्थान। प्रस्थान-समयमें शकुन आदिका वर्णन। कुण्डिनपुर वहाँके भवनोंका और राजप्रासादका सविस्तर वर्णन उप-वनका वर्णन और हंसका उपवनमें सखियोंके साथ दमयन्तीको देखना।

तृतीय सर्ग

दमयन्तीके पास जमीनपर हंसका उतरना। उसे देखकर पकड़नेके लिए दमयन्तीको इच्छा। उनकी सखियोंका निषेध। दमयन्तीका अभिप्राय जानकर प्रतारण कर हंसका सखियोंसे बहुत दूर एकान्त स्थानमें दमयन्तीको पहुँचाना और मनुष्यवाणीसे उनको उलाहना देकर अपना परिचय देकर नलके गुणोंका

सविस्तर वर्णन करना। हंसका नलके प्रति दमयन्तीका अनुराग उत्पन्न करनेका प्रयत्न करना और "मैंने आपको परिश्रान्त कर अपराध किया है, अतः आपका कौन-सा ईप्सित कर्म करूँ ?" कहना। दमयन्तीका उत्तरके तौरपर आरम्भमें आकारगोपन करना और श्लेषसे द्व्यर्थक पदोंका प्रयोग करना, तब नलके प्रति दमयन्तीका सन्देश देनेके लिए हंसकी असमर्थता प्रकट करनेपर दमयन्तीका व्यक्त रूपसे नलमें अपने अनुरागको प्रकाश करना तथा नलको अपने प्रति-सन्देश देनेके लिए उपयुक्त अवसरका प्रतिपादन करना। हंसका भी नलकी विरहाऽवस्थाका वर्णन करना और दमयन्तीका नलके साथ सम्बन्धमें औचित्य का प्रतिपादन करना इसी समय ढूँढती हुई सखियोंका उस स्थानपर आना और रुखसत होकर हंसका विरहसे व्याकुल और अशोक वृक्षके नीचे शय्यामें लेटे हुए राजाके पास आकर कार्यकी सफलताकी सूचना करना।

चतुर्थ सर्ग

दमयन्तीकी विरहाऽवस्थाका करुण वर्णन। सखियोंके सामने उपालम्भ-पूर्वक दमयन्तीका चन्द्रकी निन्दा और राहुकी स्तुति करना। पीछे उनको सविस्तर कामदेवकी निन्दा करना। दमयन्तीका कामबाणसे विद्ध होकर ज्यादा बोलनेमें असमर्थ होना, सखियोंके साथ उक्तिप्रत्युक्तिमें तत्पर होना जैसे कि पूर्वार्द्धमें सखियोंका दमयन्तीको प्रबोध करना उत्तरार्द्धमें दमयन्तीका उत्तर देना। इसी प्रसङ्गमें नैराश्यके कारण दमयन्तीका बेहोश होना, उनको होशमें लानेके लिए सखियोंका अनेक उपचार करना। दमयन्तीकी चेतनाका वर्णन, कोलाहल सुनकर राजा भीमका प्रधान मन्त्री और प्रधान वैद्यके साथ कन्याके अन्तःपुरमें आना तथा प्रधानमन्त्री और प्रधान वैद्यका एक-ही पद्यमें भिन्न-भिन्न अर्थमें दमयन्तीके उपयुक्त उपचारका प्रतिपादन करना और राजा स्वयंवर करानेकी सूचना कर दमयन्तीको आश्वासन देना।

पञ्चम सर्ग

राजा भीमका दमयन्तीके स्वयंवरमें उपस्थितिके लिए अनेक राजाओंको निमन्त्रण देना उसी अवसरमें पर्वत मुनिके साथ देवर्षि नारदका आकाशमार्गसे इन्द्रके समीप जानेका वर्णन अतिथ्य कर इन्द्रका "राजाओंका धर्मयुद्धमें प्राण-परित्याग न करनेका" कारण पूछना। नारदका स्वयंवरमें दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिए राजाओंकी युद्धमें अप्रवृत्तिका वर्णन करना और युद्ध देखनेके लिए

अपनी इच्छाको प्रकट करना। इन्द्रका उपेन्द्रके संरक्षणमें युद्धमें अपनी अभीति का प्रकाश करना और दोनों ऋषियोंका मर्त्यलोकके प्रति प्रस्थान। यम वरुण और अग्निके साथ इन्द्रका कुण्डिनपुरमें दमयन्तीके स्वयंवरमें जानेके लिए प्रवृत्त होना। उस समय इन्द्राणी और अप्सराओंके भिन्न-भिन्न मनोभावों का सविस्तर वर्णन। इन्द्र आदि देवताओंका दमयन्तीके पास दूतीको और राजा भीमके पास मित्रभावसे अनेक उपहारोंको भेजना। रास्तेमें रथमें आरूढ़ होकर कुण्डिनपुर में प्रस्थानके लिए उद्यत नल का सौन्दर्य देखकर देवताओंमें प्रत्येककी दमयन्ती की प्राप्तिमें निरासाका वर्णन। इन्द्रका अपने साथ देवताओंका परिचय देकर नलके प्रति अपनी आर्थिताको जतलाना। इन्द्रका कपट न जानकर अपनेको सौभाग्यशाली समझकर नलका उनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए स्वीकृति देना। तब इन्द्रका दमयन्तीके पास दूतरूपमें जाने के लिए नलसे प्रकाशरूपमें अनुरोध करना। देवताओंका ‧पट जानकर स्वयम् दमयन्तीके प्रणयार्थी होने से नलकी अस्वीकृति जतानेपर इन्द्र आदि देवताओंके सामूहिक प्रयासकर अदृश्य शक्ति देकर जबर्दस्ती से नलको अ‧ने दूतकर्म में प्रवृत्त करना।

षष्ठ सर्ग

रथमें आरूढ होकर वेगपूर्वक नलका कुण्डिनपुरमें पहुँचना। पहुँचनेके बाद ही उनकी मूर्तिका अदृश्य होना। नलका राजमन्दिरमें और अन्त पुरमें प्रवेश करना। भ्रमसे दमयन्तीका दर्शन होना और अन्तःपुरमें नलका अनेक महि-लाओंका अनेक क्रियाकलाप देखना। नलकी जितेन्द्रियताका वर्णन। स्त्रियोंके स्पर्शसे बचनेके लिए नलका चतुष्पथ (चौराहा) में जाना, वहाँपर भी उनका अनेक स्त्रियोंके सम्पर्कका वणन। अन्तःपुरमें माताको प्रणाम कर लौटती हुई दमयन्तीके साथ योग होने पर भी भ्रमवश नलका न पहचानना तथा दमयन्ती का भी नलको न देखना। भ्रमणक्रमसे नलका दमयन्तीके प्रमादमें पहुँचना। वहाँ पर नलका स्त्रियोंकी अनेक क्रियाओंको देखना। सखीसमाजमें विद्यमान दमयन्तीको नलका पहचानना। वहाँपर अग्नि यमराज और वरुणकी दूतियों की प्रार्थनाओंमें दमयन्तीकी अस्वीकृतिसे नलको उनकी प्राप्तिमें प्रत्याशा। दमयन्तीको इन्द्रके दूतोंसे इन्द्रसन्देशका विशेष वर्णन। इन्द्र की प्रार्थनाको स्वीकार करनेके लिएसखियोंकी भी दमयन्तीसे अभ्यर्थना दमयन्तीसे प्रीतिपूर्वक इन्द्रकी प्रणयप्रार्थनाका प्रत्याख्यान नलमें आशाका सञ्चार होना।

सप्तम सर्ग

दमयन्तीके अङ्गप्रत्यङ्गोंमें नलका दृष्टिपात। नलका मन ही मन दमयन्तीके केशोंसे आरम्भ कर नखपर्यन्त शरीरके अवयवोंका सविस्तर वर्णन कर उनके समीप प्रकटरूप होनेकी इच्छा करना।

अष्टम सर्ग

दमयन्ती और उनकी सखियोंका नलको देखकर अनेक मनोभावोंका वर्णन। उनका नलसे "आप कौन हैं? और कहाँसे आये हैं?" इस प्रकार प्रश्न करनेमें भी असमर्थ होकर आसन छोड़कर उठना, तब स्वयम् दमयन्तीका नलके प्रति मधुरवचनोंसे स्वागत वाक्यका भाषण। आसनपर बैठनेका अनुरोध कर "आप कौन हैं? कहाँसे आये हैं? और कहाँ जायेंगे?" इत्यादि प्रश्न दमयन्तीका नलके रूपकी प्रशंसा करना। दमयन्तीका नलके कुल आदिका परिचय पूछकर उनमें नलत्वकी संभावना करना। तब आसनपर बैठकर नलका आपनेको इन्द्र आदि देवताओंका सन्देश लेकर आया हुआ दूत बतलाना क्रमपूर्वक नलका दमयन्तीके विरहसे इन्द्र, अग्नि, यम, और वरुणकी अवस्थाका वर्णन करना और चारों देवताओंके प्रणयसन्देशका वर्णनकर एकको वरण करनेके लिए प्रार्थना करना।

नवम सर्ग

नलवर्णित इन्द आदि देवताओंके प्रणयसन्देशको अनुसुना-सा कर दमयन्तीका पुनः नलके कुल और नामका प्रश्न करना उनसे अनावश्यकताका प्रतिपादनकर नलका देवताओंकी प्रणय-प्रार्थनाका उत्तर देनेके लिए दमयन्तीसे अनुरोध कर अपनेको चन्द्रवंशका अंकुर बतलाकर शिष्टलोग अपने नामका ग्रहण नहीं करते हैं" कहकर नामकीर्तनमें अपनी असमर्थता जताना तब दमयन्तीका भी परपुरुष के साथ कुलललनाके संभाषणमें अनौचित्य प्रतिपादनकर देवताओंके प्रणयसन्देशके उत्तर देनेमें अपनी असमर्थता दिखाना। तब दमयन्तीकी सखीका दमयन्तीके अभिप्रायको अपने वचनसे कहना और नलकी अप्राप्तिमें दमयन्तीकी आत्महत्या करनेका इरादा जताना। तब नलका आत्महत्या करनेपर भी दमयन्तीपर तत्त-देवताओंका अधिकार होनेका वर्णन करना फिर उनका दमयन्तीसे देवताओंमें किसी एकको वरण करनेके लिए अनुरोध करना। दमयन्तीका उस वाक्यको अनसुना-सा कर नलको यमदूतके समान कहना। तब सखीका नलके प्रति दमयन्तीका दृढ़ अनुरागका वर्णन करना तब भी दूतकर्ममें धुरन्धर नलका इन्द्र

आदि देवताओंकी प्रतिकूलतासे नलके साथ दमयन्तीके विवाहमें असंभाव्यताका वर्णन करना। अनन्तर दमयन्तीके करुणापूर्ण विलापसे पिघलकर दूतकर्म भूलकर नलका अनेक प्रकारसे दमयन्तीको आश्वासन देना। फिर अपने दूतकर्मका स्मरण होनेसे नलका पश्चात्ताप करना, तब हंसका आकर दमयन्तीको निराश न करनेके लिए अनुरोध करना। अनन्तर नलका "इन्द्र आदि देवताओंमें किसी एकको वा मुझे वरण कीजिए" ऐसा अनुरोध कर विचारपूर्वक कार्य करनेकी सम्मति देना। नलको पहचान कर दमयन्तीका प्रसन्न और लज्जित होना। उनकी सखीका नलको वरण करनेके लिए दमयन्तीके दृढ निश्चयकी सूचना। यह सुनकर लज्जित होकर नलका देवताओंके साथ स्वयंवरमें उपस्थितिका ज्ञापन कर जाना। अन्तमें नलका इन्द्र आदि देवताओंको दमयन्तीका सब वृत्तान्त सुनाना।

इति शम्

—:०:—

नायकादिसिद्धान्त

नैषधीयचरितमें राजा नल धीरोदात्त नायक हैं,दमयन्ती परकीया (कन्या) नायिका हैं। ये दोनों विभाव हैं। हंसादि द्वारा नल और दमयन्तीके वर्णन परक वाक्य पुष्प, चन्दन, चन्द्रोदय, वसन्तऋतु, कोकिलशब्द, भ्रमरझङ्कार आदि उद्दीपन विभाव हैं, परस्परनिरीक्षण आदि अनुभाव है। निर्वेद आदि व्यभिचार भा हैं। १७ सर्गतक विप्रलम्भशृङ्गारका पूर्वाराग है, यनन्तर संभोगशृङ्गार है। प्रधान रस शृङ्गार है, करुण आदि अङ्गरस हैं। स्थायी भाव रति है। वैदर्भी रीति प्रधान है कहीं-कहीं गौड़ी भी है, गुण प्रायः प्रसाद है कहीं-कहीं माधुर्य और ओज भी हैं। हंस निसृष्टार्थ दूत है।

—:०:—

सूक्तयः

अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनाऽतिथिम् । १-३९ ।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् । १-५० ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः । १-५४ ।
क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग् जनः । १-१०२ ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निवर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि । १-१३१ ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् । २-४४ ।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् । २-४८ ।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः । २-५३ ।
स्वत एव सतां पराऽर्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता । २-६१ ।
कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते । ३-१७ ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय । ६-४८ ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन । ३-४९ ।
ह्रदे गभीरे हृदि चाऽवगाढे शंसन्ति कार्याऽवतरं हि सन्तः । ६-५३ ।
अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु । ३-७८ ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणाऽपि सुधाकरेण । ३-८० ।
अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला, कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः ॥ ३-९१ ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा । ३-९३ ।
आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बिसिद्ध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति । ३-९६
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति । ३-११६ ।
प्रियमनु सुकृतां हि स्वच्छाया विलम्बः । ३-१३४ ।
तदुदितः स हि यो मदनन्तरः । ४-३ ।
त्रसति कः सति नाऽऽश्रयबाधने ? ४-१६ ।
व्यवसहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता । ४-११० ।
झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः । ४-११८ ।

साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः । ५-३ ।
कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ५-६ ।
यावदर्हंकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय । ५-९ ।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः । ५-१२ ।
पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विपदा एव विमृष्टाः !
पात्रपाणिकमलाऽर्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः ॥ ५-१७ ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः । ५-३७ ।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गताऽनुगतिको न महाऽर्घः । ५-५५ ।
द्यौर्न काचिदथवाऽस्ति निरूढा, सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् । ५-५७ ।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः । ५-८३ ।
याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत ! जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं, न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ५-८८ ।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते ? भास्वतस्तु कथमस्तुलयाऽऽस्ते ? ५-१०० ।
आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः । ५-१०३ ।
ह्रीगिराऽस्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता । ५-१०५ ।
दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि । ५-१०९ ।
हास्यतेव सुलभा न तु साध्यं, तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन । ४-११५ ।
शंसति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ् निमेषमिषघूर्णनपूर्णा । ५-१२६ ।
स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी । ६-२२ ।
गलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः । ८-२ ।
मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ? ८-१८ ।
वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि, तदस्तु बन्दिभ्रमभूमितैव ॥ ८-३२ ।
बिम्बाऽनुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टाऽतिसरूपसृष्टिः । ८-४६ ।
द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या, तन्मिष्टता नेष्टमुखे त्वमेया । ८-५१ ।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति । ८-५४ ।
नामाऽपि जार्गाति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते ? ८-७४ ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा, न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि । ९-५ ।

गरौ गिरः पल्लवनाऽर्थलाघवे मितञ्च वचो हि वाग्मिता । ६–८ ।
जनः किलाचारमुचं विगायति । ६–१३ ।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा । ६–२६ ।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना । ६–२७ ।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाऽङ्गके किमारकूटाभरणेन न श्रियः ? ६–२८ ।
पृषतिकिशोरी कुरुतामसङ्गतां कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाऽधिपे ? ६–२६ ।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुटयति चापलात्किल । ६–३१ ।
निषिद्धमप्याचरणीयमापदि सती क्रिया नाऽवति यत्र सर्वथा ।
घनाऽम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥ ६–३६ ।
क्व वा निधिर्निर्धनमेति किं च तं स वा कपाटं घटयन्निरस्यति ? ६–३६ ।
अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ? ६–८२ ।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः । ६–४४ ।
............न्याय्यमुपेक्षते हि कः ? ६–४६ ।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः । ६–५० ।
चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः । ६–५६ ।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ? ६–८३ ।
जनाऽऽनने कः करमर्पयिष्यति ? ६–१२५ ।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः । ६–१२६ ।
सतां हि चेतःशुचिताऽऽत्मसाक्षिका । ६–१२६ ।
विचार्य कार्यं सृच मा विधान्मुधा कृताऽनुतापस्त्वयि पाणिविग्रहम् । ६–१३४ ।
न मोघसङ्कल्पधराः किलाऽमराः । १–१४५ ।
स्तवे रवेरप्सु कृतप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत्कुमुद्वती । ६–१४८ ।

इति ।

—: ० :—

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

—: ० :—

प्रथमः सर्गः

मङ्गलाचरणम्

सृष्टिस्थितिप्रलयरूपदशामुपेतो यद्भ्रूविलासवशगोऽस्ति समस्तलोकः ।
आनन्दकाननपतिं गिरिजापतिं तं प्रारिप्सितं सपदि पूरयितुं नमामि ॥ १ ॥
दैवीं समृद्धिमिह यत्करुणा बिभर्ति यच्चिन्तनं सततमेव सुखं पिपर्ति ।
भोगाऽपवर्गजननी परदेवता सा नित्यं कृतार्थयतु भक्तजनं प्रबोधात् ॥ २ ॥
सौजन्यधन्यबुधतल्लजदेवचन्द्रसौभाग्यभाग्यपरहेमकुमारिसूनुः ।
वीणाप्रवीणगुणभूषणकृष्णपूर्णचन्द्रद्वयीसहजनुर्द्विजशेषराजः ॥ ३ ॥
सोऽहं करोमि निषधाऽधिपवृत्तकाव्यव्याख्यां नितान्तसरलीकरणाशयेमाम् ।
श्रीहर्षकोविदकृतिः क्व ? मदीयमन्द-संविच्च कुत्र ? सुतरामसमानयोगः ॥ ४ ॥
छात्रोपकारपरतामभिलक्ष्य जातं जानन्तु मामकमिमं प्रगुणप्रयासम् ।
पुष्पोपलब्धिरहितेषु जनेषु जातु किं कोरकोऽपि जनुषा न मुदं करोति ? ॥ ५ ॥
हा हन्त ! वर्षनवकाद्दयिताऽनुजेन जातोऽहमस्मि दुरदृष्टवशाद्वियुक्तः ।
हा ! मासषट्कसमयात्पुनरस्मि हन्त ! पूज्याऽग्रजेन च वियुज्य नितान्ततान्तः ॥६॥
"रुग्णं मदग्रजवरं किल काशिकायामानीय भेषजविधानपरो भवामि ।"
मन्मानसप्रभवमत्र शुभाऽभिलाषं हा ! हन्त !! घातुकविधिर्विफलीचकार ॥ ७ ॥
जैवातृकस्त्वमरतिं नितरां तनोति स्वस्यास्मृतिश्च हृदयं बहुशो दुनोति ।
कालप्रतीक्षणपरः समयं नयामि श्रीविश्वनाथचरणौ शरणं प्रयामि ॥ ८ ॥

अथ तत्र भवांश्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनप्राप्ताऽलौकिकप्रतिभाप्रकर्षो महाकविः श्रीहर्षः पुण्यश्लोकश्लोकनपरं नैषधीयचरिताऽभिधानं महाकाव्यं विधित्सुरादौ वस्तुनिर्देशरूपं मङ्गलं निर्दिशति निपीयेति—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाऽऽद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥ १ ॥

अन्वयः—यस्य क्षितिरक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधाम् अपि यथा न आद्रियन्ते । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः महसां राशिः महोज्ज्वलः स नल आसीत् ॥ १॥

व्याख्या—यस्य = प्रकृतस्य, क्षितिरक्षिणः = भूपतेः, कथानायकस्य नलस्येति भावः । कथाम् = उपाख्यानं, निपीय = नितरामास्वाद्य, सादरं श्रुत्वेति भावः । बुधाः = विद्वांसः, सुधाम् अपि = अमृतम् अपि, तथा = तेन प्रकारेण न आद्रियन्ते = न आदरं कुर्वन्ति. बुधाः सुधाम् उपेक्ष्य नलकथां बहु मन्यन्त इति भावः । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = शुक्लातपत्रीकृतयशोमण्डलः, महसां = तेजसां, राशिः = समूहः, रविरिवेतिभावः । महोज्ज्वलः = उत्सवदीप्यमानः, नित्यमहोत्सवशालीति भावः । सः = प्रसिद्धः, नलः = नलनामको राजा, आसीत् = अभवत् ॥ १ ॥

अनुवादः—जिन राजा नलकी कथाको सुनकर विद्वान् (वा देवता) अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते हैं । महाराज नल कीर्तिमण्डलको सफेद छत्र बनानेवाले, तेजोंके राशिस्वरूप (सूर्य के समान), उत्सवोंसे उज्ज्वल अथवा अतिशय श्रृङ्गार-रसवाले थे ॥ १ ॥

टिप्पणी—विघ्नध्वंसके लिए वा आरब्ध कार्य निर्विघ्नपूर्वक समाप्त हो जाय इसके लिए मङ्गलका आचरण किया जाता है । मङ्गलके तीन भेद होते हैं—नति (नमस्कार), स्तुति और वस्तुनिर्देश । यहाँपर पुण्यश्लोक (पवित्र कीर्तिवाले) नलरूप वस्तुका निर्देश करनेसे वस्तुनिर्देशरूप मङ्गल है । क्षितिरक्षिणः = क्षितिं रक्षतीति तच्छीलः तस्य, क्षिति—उपपदपूर्वक रक्ष धातुसे "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्रसे णिनि प्रत्यय (उपपदसमास) । कथां= कथनं कथा नाम् "कथ वाक्यप्रबन्धे" धातुसे "चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च" इस सूत्रसे अङ् और "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । निपीय=नितरां पीत्वा, नि उपसर्गपूर्वक "पीङ् पाने" धातुसे "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय और उसके स्थानमें "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इस सूत्रसे ल्यप् आदेश । यहाँ "पा पाने" धातु नहीं लेना चाहिए क्योंकि "न ल्यपि" इस सूत्रसे

उसमें ईत्वका निषेध होता है। बुधाः = बुध्यन्त इति, "बुध अवगमने" धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय। "ज्ञातृचान्द्रसुरा बुधाः" इति क्षीरस्वामी। सुधाम् = "पीयूषममृतं सुधा" इत्यमरः। आद्रियन्ते = "आङ्— उपसर्गपूर्वक "दृङ् आदरे" इस तौदादिक धातुसे लट्+झ। सितच्छत्रितकीर्ति-मण्डलः = सितं च तत् छत्रं, "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" इस सूत्रसे समास और उसकी "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः" इससे कर्मधारय संज्ञा हुई है। सितच्छत्रं कृतं सितच्छत्रितं, "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर क्त प्रत्यय हुआ है। कीर्तः मण्डलम् (ष० त०)। सितच्छत्रितं कीर्तिमण्डलं येन सः "अनेकमन्यपदार्थे" इससे बहुव्रीहि समास। महोज्ज्वलः = महैः उज्ज्वलः (तृ० त०)। "क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः" इत्यमरः। अथवा महान् (साऽतिशयः) उज्ज्वलः (शृङ्गारः) यस्य सः (बहु०)। "शृङ्गारः शुचि-रुज्ज्वलः" इत्यमरः। आसीत् = "अस भुवि" धातुसे लङ्। इस पद्य में सुधासे भी नल-कथाकी मधुरताके आधिक्य वर्णनसे व्यतिरेक अलंकार है। व्यतिरेकका लक्षण है—

"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेकः" (सा०द०१०-५२) इसी तरह कीर्तिमण्डलमें सितच्छत्रका, एवम् नलमें महोराशित्वका आरोप करनेसे दो रूपक अलंकार हुए हैं। रूपकका लक्षण है—"रूपकं रूपितारोपा-द्विषये निरपह्नवे।" (सा० द० १०–२८)। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपकों-की निरपेक्षतया स्थित होनेसे तिल-तण्डुल न्यायसे संसृष्टि अलंकार है। उसका लक्षण है -"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।" (सा० द० १०–९८)। इस सर्गमें १–१४२ पद्यतक वंशस्थ छन्द है, उसका लक्षण है—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ।ऽ।ऽऽ ।ऽ।ऽ।ऽ।। १ ।।

रसैः कथा यस्य सुधाऽवधीरिणी नलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

अन्वयः—यस्य कथा रसैः सुधाऽवधीरिणी, भूजानिः स नलः सुवर्णदण्डैक-सितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः गुणाद्भुतः अभूत् ॥ २ ॥

व्याख्या—यस्य = नलस्य कथा = उपाख्यानं, रसैः = स्वादैः, शृङ्गारा-दिरसैर्वा, सुधाऽवधीरिणी=अमृततिरस्कारिणी, भूजानिः = भूपतिः, सः=पूर्वोक्तः, नलः = नलाख्यो नृपः, सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः= स्वर्णदण्डैकशुक्लच्छत्रितदीप्यमानतेजःपङ्क्तियशोमण्डलः, अतएव गुणाद्भुतः = शौर्यदाक्षिण्यादिभिराश्चर्यभूतः, अभूत् = आसीत् ॥ २ ॥

अनुवाद:—जिन (नल) का उपाख्यान, स्वाद वा शृङ्गार आदि रसोंसे अमृतको भी तिरस्कार करनेवाला है, ऐसे महाराज नल दीप्यमान प्रतापपङ्क्तिको सुवर्णदण्ड और कीर्तिमण्डलको एक सफेद छत्र बनानेवाले अतएव शौर्य और दाक्षिण्य आदि गुणोंमें आश्चर्यरूप थे।

टिप्पणी—रसैः = "रसो गन्धो रसः स्वादः" इति विश्वः। सुधाऽवधीरणी =सुधाम् अवधीरयतीति तच्छीला, सुधा + अव + धीर + णिनिः; स्त्रीत्व-विवक्षामें "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप् (उपपदसमास)। भूजानिः=भूः, जाया यस्य सः (बहु०), "जायाया निङ्" इस सूत्रसे जाया शब्दका निङ् आदेश। सुवर्णदण्डैक० इत्यादिः = सुवर्णस्य दण्डः (ष० त०), सितं च तत् आतपत्रम् (क० धा०)। एकं च तत् सितातपत्रं (क० धा०), सुवर्णदण्डश्च एकसितातपत्रं च सुवर्णदण्डैकसितातपत्रं, "चाऽर्थे द्वन्द्वः" इस सूत्रसे इतरेतरयोग-द्वन्द्व। सुवर्णदण्डैकसितातपत्रे कृते सुवर्णदण्डैकसिताऽऽतपत्रिते, "सुवर्णदण्डैक-सितातपत्र" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर कर्ममें क्त प्रत्यय। प्रतापानाम् आवलिः (ष० त०)। ज्वलन्ती चाऽसौ प्रतापावलिः (क० धा०)। कीर्तेः मण्डलम् (ष० त०)। ज्वलत्प्रतापावलिश्च कीर्तिमण्डलं च (द्वन्द्वः)। सुवर्णदण्डैकसितातपत्रिते ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डले यस्य सः (बहु०)। गुणाऽद्भुतः = गुणैः अद्भुतः (तृ० त०)। अभूत् = भू + लुङ् + तिप्, "गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे सिच्का लुक् हुआ है। यहाँ पर व्यतिरेक, दीप्यमान प्रतापावलिमें सुवर्ण दण्डका और कीर्तिमण्डलमें एक-सितातपत्रका आरोप करनेसे दो रूपक और यथासंख्य इस प्रकार इन तीन अलंकारोंका संसृष्टि अलंकार हुआ है। यथासंख्यका लक्षण है—"यथासंख्य-मनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।" सा० द० ११-७९ ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ? ॥ ३ ॥

अन्वयः—अत्र युगे यत्कथा स्मृता (सती) रसक्षालनया इव जगत् पवित्रम् आतनुते। सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिरं कथं न पवित्र-यिष्यति ? ॥ ३ ॥

व्याख्या—कविः स्वविनयं प्रदर्शयति—पवित्रमिति। अत्र = अस्मिन्, युगे= कलियुग इत्यर्थः। यत्कथा = यस्य (नलस्य) कथा (उपाख्यानम्), स्मृता= चिन्तिता (सती), रसक्षालनया इव = जलधावनेन इव, जगत् =लोकं,

पवित्रं = विशुद्धम्, आतनुते = करोति । सा = नलकथा, आविलाम् अपि, कलुषाम् अपि, सदोषाम् अपीति भावः, स्वसेविनीम् एव = आत्मवर्णनपराम् एव । मद्गिरं = मद्वाचं, नैषधवर्णनरूपामिति भावः । कथ = केन प्रकारेण, न पवित्रयिष्यति = पवित्रां न करिष्यति ? पवित्रां करिष्यत्येवेति भावः ॥ ३ ॥

अनुवादः—इस कलियुगमें जिन महाराज नलकी कथा जलसे प्रक्षालनके समान लोकको पवित्र कर देती है, वह (कथा) कलुष (दोषयुक्त) होनेपर भी अपनी ही सेवा करनेवाली मेरी वाणीको क्यों पवित्र नहीं करेगी ? ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अत्र = अस्मिन् इति, इदम् + त्रल् । यत्कथा = यस्य कथा (ष० त०), स्मृता = स्मृ + क्त + टाप् (कर्ममें) । रसक्षालनया = रसेन क्षालना, तया (तृ० त०) । "शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ।" इति विश्वः । णिजन्त "क्षल शौचकर्मणि" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् (अन) होकर टाप् प्रत्ययसे "क्षालना" शब्द बनता है । आतनुते=आङ्-उपसर्गक "तनु विस्तारे" धातुसे लट् + त । आविलाम् = "कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः । स्वसेविनीं= स्वं सेवते तच्छीला, ताम् : स्व + सेव + णिनि + ङीप् (उपपद०) । यहाँपर जैसे जलसे प्रक्षालन करनेसे वस्तुकी पवित्रता होती है उसी तरह नलकी कथाका स्मरण करनेसे जगत्‌की पवित्रता होती है ऐसा अर्थ अभिव्यक्त होता है । कहा भी गया है—

"कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥"

अर्थात् कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल और राजर्षि ऋतुपर्ण इनका कीर्तन करनेसे कलिका नाश होता है । और भी—

"पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः ।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥"

अर्थात् राजा नल, युधिष्ठिर, वैदेही (सीताजी) और जनार्दन (भगवान् कृष्ण) ये सब पुण्यश्लोक अर्थात् पुण्यकीर्तिवाले हैं, इनका स्मरण करनेसे पुण्यलाभ होता है यह तात्पर्य है । यहाँपर उत्प्रेक्षा अलंकार और जिन नलकी कथा स्मरण करनेपर भी शुद्ध करती है, सेवा (वर्णन) करनेसे क्या कहना है ! इस प्रकार कैमुतिक न्यायसे अर्थापत्ति अलंकार है । उसका सोदाहरण लक्षण है—

"अर्थापत्तिः स्वयं सिद्ध्येत्पदाऽर्थान्तरवर्णनम् ।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम् ॥' (चन्द्रालोक)

इस प्रकार दो अलंकारोंसे संसृष्टि अलंकार है ॥ ३ ॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् स्वयं चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान् ? (इति) न वेद्मि ॥ ४ ॥

व्याख्या—नलस्य चतुर्दशविद्याध्ययनं प्रतिपादयति—अधीतीति । अयं=नलः, चतुर्दशसु = चतुर्दशसंख्यकासु, विद्यासु = वेदादिषु, अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः= श्रवणार्थज्ञानतदर्थाऽनुष्ठानप्रसारणैः, उपाधिभिः = भेदैः, चतस्रः = चतुःसंख्यकाः, दशाः = अवस्थाः, प्रणयन् = कुर्वन्, स्वयम् = आत्मना, चतुर्दशत्वं=चतुर्दशसंख्यकत्वं, कुतः=कस्मात्, कृतवान्=विहितवान्, इति, न वेद्मि = नो जाने, चतुर्दशसंख्यकानां विद्यानां चतुरावृत्या षट्पञ्चाशत्त्वमापादनीयं, कथं केवलं चतुर्दशत्वमिति भावः, चतुरवस्थत्वं कृतवानिति विरोधपरिहारः ॥ ४ ॥

अनुवादः—महाराज नलने चौदह विद्याओंमें, शब्दतः अध्ययन, अर्थका ज्ञान, शास्त्रोक्त कर्मका आचरण और प्रचारण इन भेदोंसे चार अवस्थाओंको करते हुए स्वयम् चतुर्दशत्व कैसे किया ? यह मैं नहीं जानता हूँ। चौदह विद्याओंको चार भेदोंसे गुणन करनेपर छप्पन भेद होने चाहिए परन्तु चौदह ही कैसे हुए ऐसा विरोध होनेपर उन विद्याओंको चतुर्दशत्व अर्थात् अध्ययन आदिसे चार अवस्थाओंवाली बनानेसे उसका परिहार हो जाता है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—चतुर्दशसु = चतुरधिका दश चतुर्दश, तासु, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इससे मध्यमपदलोपी समास । विद्यासु = विदन्ति धर्माऽर्थकाममोक्षान् आभिरिति विद्या, तासु, "विद ज्ञाने" धातुसे "संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय होकर "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । चौदह विद्याएँ हैं जैसे कि विष्णुपुराणमें हैं—

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥"

अर्थात् वेदके छः अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष चार वेद—ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद । मीमांसा न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण । अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः = अध्ययनम् अधीतिः, अधि = उपसर्गपूर्वक "इङ् अध्ययने" धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन्प्रत्यय । बोधनं बोधः, "बुध अवगमने" धातुसे "भाव" इस सूत्रसे घञ् । अधीतिश्च बोधश्च आचरणं

च प्रचारणं च अधीतिबोधाचरणप्रचारणानि, तैः (द्वन्द्वः)। यहाँपर "अधीति" पदसे शब्दतः अध्ययनका, "बोध" पदसे अर्थज्ञानका, "आचरण" पदसे शास्त्रोक्त कर्मके अनुष्ठानका और "प्रचारण" पदसे अध्यापन वा लोकमें प्रचार करनेका तात्पर्य समझना चाहिए। "उपाधिभिः=उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे।" इति विश्वः। चतस्रः=यह "दशाः" इस पदका विशेषण है। "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ" इस सूत्रसे स्त्रीलिङ्गमें 'चतुर्' शब्दके स्थानमें "चतसृ" आदेश हुआ है। प्रणयन्=प्रणयतीति, प्र-उपसर्गपूर्वक "णीञ् प्रापणे" धातुसे लट्के स्थानमें "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इस सूत्रसे शतृ आदेश, लट्की अनुवृत्ति होनेपर भी फिर लट्के ग्रहणसे कहीं-कहींपर प्रथमाके सामानाधिकरण्यमें भी शतृ-शानच् आदेश ज्ञापित हैं। चतुर्दशत्वं = चतुर्दशानां भावः चतुर्दशत्वं, तत्। चतुर्दश शब्दसे "तस्य भावस्त्वतलौ" इस सूत्रसे त्व प्रत्यय। "त्वाऽन्तं क्लीबम्" इस लिङ्गाऽनुशासन सूत्रसे त्व-प्रत्ययाऽन्त शब्द नपुंसकलिङ्गमें रहता है। यहाँपर चौदह विद्याओंको चार भेदोंसे गुणन करनेपर छप्पन होना चाहिए, फिर चतुर्दशत्व कैसे ? ऐसा विरोध होनेपर उसका परिहार—"चतुर्दशत्वम्" इसका चतस्रः दशा यासां ताश्चतुर्दशाः (बहु०), तासां भावः चतुर्दशत्वम् अर्थात् चार अवस्थावालियोंका भाव ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार होता है, अतः विरोधाभास अलंकार होता है। उसका लक्षण है—

"आभासत्वं विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।" "चतुर्दशत्वम्" यहाँपर "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इससे पुंवद्भाव हुआ है। कुतः=कस्मात् इति "किम्" शब्दसे "पञ्चम्यास्तसिल्" इस सूत्रसे तसिल् प्रत्यय और "कु तिहोः" इससे "किम्" के स्थानमें "कु" आदेश हुआ है। कृतवान् = "कृ" धातुसे "निष्ठा" इस सूत्रसे कर्ताके अर्थमें क्तवतु प्रत्यय। वेद्मि=विद्+लट्+मिप्॥ ४॥

अमुष्य विद्या रसनाऽग्रनर्तकी त्रयीव नीताऽङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताऽष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥ ५॥

अन्वयः—अमुष्य रसनाऽग्रनर्तकी विद्या, त्रयी इव अङ्गगुणेन विस्तरं नीता (सती) नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियां जिगीषया अष्टादशताम् अगाहत॥ ५॥

व्याख्या—नलस्याऽष्टादशविद्याऽभिज्ञतां प्रतिपादयति अमुष्येति। अमुष्य = नलस्य। रसनाऽग्रनर्तकी = जिह्वाग्रसञ्चारिणी, विद्या=पूर्वोक्ता वेदादिविद्या सूदविद्या च रसनाऽग्रनर्तनधर्मादिति भावः, त्रयी इव=त्रिवेदी इव, अङ्गगुणेन = शिक्षाद्यङ्गावृत्त्या, विस्तरं=वृद्धिं, नीता=प्रापिता सती, नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्=

अष्टादशद्वीपपृथग्विजयलक्ष्मीनां, जिगीषया = जेतुमिच्छया (इव), अष्टादशताम् = अष्टादशसंख्यकत्वम्, अगाहत = अभजत ॥ ५ ॥

अनुवादः—नलकी जिह्वाके अग्रभागमें नर्तकीके समान विद्या (वेदादि-विद्या, अथवा पाकविद्या) ने त्रयी = त्रिवेदी (तीन वेदों) के समान शिक्षा आदि छः अङ्गोंकी गुणनक्रियासे वृद्धिको प्राप्त करायी जाती हुई मानो अठारह द्वीपोंकी पृथक्-पृथक् विजय-लक्ष्मियोंको जीतनेकी इच्छासे अठारह संख्याको प्राप्त किया ॥ ५ ॥

टिप्पणी— रसनाऽग्रनर्तकी = रसनाया अग्रम् (ष० त०), नृत्यतीति नर्तकी, "नृती गात्रविक्षेपे" धातुसे "शिल्पिनि ष्वुन्" इस सूत्रसे "नृतिखनिरञ्जिभ्य एव" इसके अनुसार "ष्वुन्" प्रत्यय होकर षकारका "षः प्रत्ययस्य" इससे इत्संज्ञा होनेसे लोप होकर षित होनेसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । क्रिया-कौशलको "शिल्प" कहते हैं । रसनाऽग्रे नर्तकी (स० त०) । विद्या नलकी जिह्वाके अग्र भागमें नाचती थी अर्थात् सब विद्याएँ उनको उपस्थित थीं । त्रयी= त्रयः (ऋग्यजुःसामाख्याः अथवा पद्यगद्यगीतरूपा अथवा प्रायेण धर्माऽर्थकाम-रूपाः) अवयवा यस्याः सा, 'त्रि' शब्दसे "संख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् और उसके स्थानमें "द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा" इस सूत्रसे अयच् आदेश और श्रुतिका विशेषण होनेसे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् । 'त्रयी' कहनेसे ऋक्, यजु, साम ही वेद हैं, अथर्वा वेद नहीं है यह नहीं समझना चाहिए । यहाँपर 'अङ्गगुणेन' इस पदके साथ सम्बन्ध करनेके लिए ऐसा प्रयोग किया है । वेदके कोई अवयव ऋग्रूप अर्थात् पद्यमय, कोई यजुरूप अर्थात् गद्यमय और कोई समरूप अर्थात् गीतरूप हैं ऐसा कहनेसे अथर्ववेदका भी इनमें अन्तर्भाव हो जाता है । अथवा प्रायेण मन्त्ररूप वेदके प्रतिपाद्य विषय धर्म, अर्थ, काम ही अवयव हैं, अतएव भगवान्ने अर्जुनको—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन" ।

कहा है । मोक्षका प्रतिपादन अधिकतर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्में है । अङ्गगुणेन = अङ्गानां गुणः, तेन (ष० त०) । वेदके छः अङ्ग हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष । त्रयीको छः अङ्गोंसे गुणन करनेपर अठारह संख्या होती है । विस्तरं=विस्तरणं विस्तरः, तम्, वि-उपसर्गपूर्वक "स्तृञ् आच्छादने" धातुसे "ऋदोरप्" इससे अप् प्रत्यय । शब्दके फैलावमें विस्तर शब्द है । इतर विषयके फैलावमें पूर्वोक्त-उपसर्गयुक्त धातुसे "प्रथने वावशब्दे"

इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय होकर "विस्तार" शब्द बनता है। अतएव अमरसिंहने कहा है—

"विस्तारो विग्रहो व्यासः, स च शब्दस्य विस्तरः।"

नीता=नी+क्त+टाप्। नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियां=द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्, द्वि+तयप् (अयच्)। द्विर्गता आपो यस्मिन् इति द्वीपम् (बहु०), "द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इस सूत्रसे अप्के अकारके स्थानमें ईत्व। ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त 'अ' प्रत्यय। "द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्।" इत्यमरः। नवानां द्वयम् (ष० त०)। नवद्वयं च ते द्वीपाः (क० धा०)। नवद्वय कहनेसे अठारह द्वीप जाने जाते हैं। इनमें सात महाद्वीप हैं जैसे कि—१. जम्बूद्वीप, २. प्लक्षद्वीप, ३. शल्मलीद्वीप, ४. कुशद्वीप, ५. क्रौञ्चद्वीप, ६. शाकद्वीप और ७. पुष्करद्वीप। ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार हैं। स्वर्णप्रस्थ आदि आठ जम्बूद्वीपके उपद्वीप हैं, तीन अन्य द्वीप हैं। महाकवि कालिदासने भी "अष्टादशद्वीपनिखातयूपः" कहकर अठारह द्वीपोंकी चर्चा की है। जयस्य श्रियः (ष० त०), नवद्वयद्वीपानां पृथग्जयश्रियः, तासाम् (ष० त०) "जिगीषया" इस कृदन्तपदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी। जिगीषया=जेतुमिच्छा जिगीषा, सन् प्रत्ययान्त "जि जये" धातुसे "अ प्रत्ययात्" इससे 'अ' प्रत्यय और टाप्। अष्टादशताम्=अष्टौ च दश च अष्टादश (द्वन्द्वः), "द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः" इससे आत्व हुआ है। अष्टादशानां भावः अष्टादशता, ताम्, अष्टादशन्+तल्+टाप्। अगाहत="गाहू विलोडने" धातुसे "अनद्यतने लङ्" इस सूत्रसे लङ्। पूर्वोक्त चौदह विद्याओंके साथ वेदोंके चार उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इनमें भी महाराज नल पारदर्शी थे यह बात इस पद्यसे सूचित होती है। नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियां जिगीषया अर्थात् नलसे जीते गये अठारह द्वीपोंकी पृथक् जयश्रियोंको मानों जीतनेकी इच्छासे उनकी विद्याओंने भी अठारह संख्याको प्राप्त किया। यहाँपर उत्प्रेक्षावाचक शब्द इव आदि न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उपमा, इनका संसृष्टि अलंकार है॥५॥

दिगीशवृन्दांऽशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभाऽवरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाऽधिकां निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकाम्॥६॥

अन्वयः—दिगीशवृन्दांऽशविभूतिः दिशाम् ईशिता सः शास्त्राणि कामप्रसभाऽवरोधिनीं निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकां द्वयाऽधिकां दृशं बभार॥६॥

व्याख्या—नलस्य देवांशत्वं प्रतिपादयति–दिगीशेति। दिगीशवृन्दांऽशविभूतिः

=इन्द्रादिदिक्पालमात्रोद्भवः, दिशां = प्राच्यादिकाष्ठानाम्, ईशिता = ईश्वरः, सः = नलः, शास्त्राणि = वेदादिशास्त्राणि (एव), कामप्रसभावरोधिनीं=इच्छायाः कामदेवस्य वा बलाऽवरोधकारिणीं, निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकां =स्वत्रिनयनाविर्भावज्ञापिकां, स्वमहादेवाऽवतारत्वज्ञापिकां वा, द्वयाऽधिकां = द्वितयाऽतिरिक्तां, तृतीयामिति भावः, दृशं = नेत्रं, बभार = धृतवान् ॥ ६ ॥

अनुवादः—इन्द्र आदि दिक्पालोंके अंशसे उत्पन्न अतएव दिशाओंके स्वामी नलने स्वेच्छाचारिताको वा कामदेवको बलसे निवारण करनेवाली, अपने तीन नेत्रोंके आविर्भावका वा महादेवके अवतारत्वका बोधन करनेवाली दो से अधिक शास्त्ररूप दृष्टिको धारण किया ॥ ६ ॥

टिप्पणी—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशाम् ईशाः (ष० त०), तेषां वृन्दं, (ष० त०), "स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम् ।" इत्यमरः । दिगीशवृन्दस्य अंशा (ष० त०), तैः विभूतिः (उद्भवः) यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) । लोकपालकोंके अंशोंसे राजाकी उत्पत्ति होती है, इस बातको भगवान् मनुने भी कहा है—

इन्द्राऽनिलयमाऽर्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ मनु० ७-४ ।

दिशाम्="ईशिता" इस पदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी । ईशिता=ईष्टे इति, "ईश ऐश्वर्ये" धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे तृच्प्रत्यय । नलको "दिशाम् ईशिता" कहने से आठ दिक्पाल इन्द्र आदि एक-एक दिशाके स्वामी हैं, पर नल सब दिशाओंके स्वामी हैं । अतः व्यतिरेक अलंकार व्यङ्ग्य होता है । शास्त्राणि=शिष्यते एभिरिति, "शासु अनुशिष्टौ" धातुसे 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" इस सूत्रसे ष्ट्रन् प्रत्यय । शास्त्रका लक्षण ऐसा किया गया है-"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा पुंसां येनोपदिश्यते । तद्धर्मांश्चोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः ।" अर्थात् पुरुषोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति एवम् उनके धर्म जिसमें उपदेश किये जाते हैं, उसे 'शास्त्र' कहते हैं । कामप्रसभाऽवरोधिनीं=प्रसभेन अवरुणद्धीति प्रसभाऽवरोधिनी, प्रसभ और अव-उपसर्गपूर्वक 'रुधिर् आवरणे' धातुसे णिनि प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् । कामस्य प्रसभावरोधिनी ताम् (ष० त०) । स्वेच्छाचारिताको बलसे रोकनेवाली (नलपक्षमें) । कामदेवको बलसे रोकनेवाली (महादेव पक्षमें) । "प्रसभ" के बदलेमें कहींपर "प्रसर" पदका पाठ है, उसमें कामस्य प्रसरः (विस्तारः, वृद्धिर्वा), तम् अवरुणद्धीति ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए । निज-

त्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकाम्=अवतरणम् अवतरः, अव-उपसर्गपूर्वक तृधातुसे "ऋदोरप्" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय, अवतरस्य भावः अवतरत्वम्, अवतर+त्व, त्रयाणां नेत्राणाम् अवतरत्वम् "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपदसमास, निजं च तत् त्रिनेत्राऽवतरत्वम् (क० धा०)। बोधयतीति बोधिका, बुध+ण्वुल् (अक)+टाप। निजत्रिनेत्राऽवतरत्वस्य बोधिका, ताम् (ष० त०)। अपने तीन नेत्रोंके आविर्भावका वा महादेवत्वका बोधन करनेवाली, यह पद "दृशम्" का विशेषण है। द्वयाऽधिकां=द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्, द्वि+तयप् (अयच्)। द्वयात् अधिका, ताम् (प० त०)। यह भी "दृशम्" इसका विशेषण है, शास्त्ररूप दो से अधिक नेत्र यह तात्पर्य है। कहा भी गया है—

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षाऽर्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नाऽस्त्यन्ध एव सः॥"

महाराज नलके शास्त्र ही दो से अधिक अर्थात् तीसरे नेत्ररूप थे यह तात्पर्य है। बभार = 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' धातुसे लिट्+तिप्। यहाँ शास्त्रोंमें दृक्का आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है॥ ६॥

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे?
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्॥ ७॥

अन्वयः—अमुना कृते सुकृते चतुर्भिः पदैः स्थिरीकृते (सति) के तपो न प्रपेदिरे? यत् अधर्मोऽपि अङ्घ्रिकनिष्ठया भुवं स्पृशन् कृशः (सन्) तपस्वितां दधौ॥ ७॥

व्याख्या—अथ नलस्य स्वभावं दर्शयति—पदैरिति। अमुना = नलेन, कृते= सत्ययुगे, सुकृते = धर्मे, चतुर्भिः=चतुःसंख्यकैः, पदैः= चरणैः, वृषरूपत्वादितिशेषः। स्थिरीकृते= निश्चलीकृते (सति)। तपोज्ञानयज्ञदानरूपैः पदैरयमर्थो धर्मपक्षे योज्यः। के = जनाः, तपः=चान्द्रायणादिरूपं नियमाचरणं, न प्रपेदिरे=न प्राप्तवन्तः, अपि तु सर्व एव तपश्चक्रुरित्यर्थः। यत् = यतः, अधर्मोऽपि=धर्मविरोध्यपि, किमुत अन्य इति अपिशब्दार्थः। अङ्घ्रिकनिष्ठया=चरणकनिष्ठया, भुवं=भूमिं, स्पृशन् = आमृशन्, कृशः = दुर्बलः (सन्), तपस्वितां = तापसत्वं, दीनत्वं च दधौ = धारयामास, नलस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मव्यापृतचित्तोऽभूदिति भावः।

अनुवादः—सत्ययुगमें महाराज नलके धर्मको चार चरणों (तपस्या, ज्ञान, यज्ञ और दान) से स्थिर करनेपर किसने तपस्या नहीं की? जो कि अधर्म भी पैरकी छोटी अङ्गुलिसे पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ दुर्बल होकर तपस्वी (तपस्या करनेवाला वा दीन) हो गया॥ ७॥

टिप्पणी – कृते = कृ + क्तः, कृतम् = "युगपर्याप्तयोः कृतम्" इत्यमरः। सुकृते = "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः।" इत्यमरः।

"तपः परं कृतयुगे, त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥"

इस उक्तिके अनुसार सत्ययुगमें तपस्याकी, त्रेतामें ज्ञानकी, द्वापरमें यज्ञकी और कलियुगमें दानकी प्रधानता है, परन्तु महाराज नलने इन चारों चरणोंसे धर्मको स्थिर किया, यह बात इस पद्यसे सूचित होती है। शास्त्रोंमें लिखा गया है—सत्ययुगमें पूर्वोक्त तपस्या आदि चारों विषयोंकी उपस्थितिसे धर्म चतुष्पाद होता है। परन्तु अन्य युगमें धर्मके एक-एक चरणोंकी क्रमसे न्यूनता होती है, जैसे कि त्रेतामें तपस्याकी न्यूनतासे ज्ञान, यज्ञ और दानकी स्थितिसे धर्म त्रिपात् होता है। द्वापरमें तपस्या और ज्ञानकी न्यूनतासे यज्ञ और दानकी स्थितिसे धर्म द्विपात् होता है। इसी तरह कलियुगमें तपस्या, ज्ञान और यज्ञकी न्यूनतासे और एकमात्र दानकी स्थितिसे धर्म एकपात् हो जाता है। नलने अपने पराक्रमसे तपस्या आदि चारों चरणोंसे धर्मको स्थिर रखखा था। स्थिरीकृते = अस्थिरं स्थिरं यथा संपद्यते तथा कृतं स्थिरीकृतम्, तस्मिन्, "कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः" इससे च्वि प्रत्यय स्थिर + च्वि + कृ + क्त + ङि। "च्वौ च" इससे अ वर्णका ई भाव होता है। प्रपेदिरे = प्र-उपसर्गपूर्वक "पद" धातुसे लिट् + झ। अधर्मः = न धर्मः (नञ् त०)। यहाँपर नञ् विरोध अर्थमें है, नञ्के छः अर्थ हैं। जैसे कि—

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

अर्थात् नञ्के सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्रशस्तता और विरोध ये छः अर्थ होते हैं। अङ्घ्रिकनिष्ठया = अङ्घ्रेः कनिष्ठा, तया (ष० त०)। "पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्।" इत्यमरः। स्पृशन् = स्पृश + लट् (शतृ०) तपस्वितां = तपः अस्याऽस्तीति तपस्वी, तपस् शब्दसे "तपःसहस्राभ्यां विनीनी" इस सूत्रसे विनि प्रत्यय। तपस्विनो भावः तपस्विता, ताम्, तपस्विन + तल् + टाप्। तपस्वी पदके दो अर्थ हैं, "तपस्वी शोचनीयः स्यात्" इस कोशके अनुसार शोचनीय अर्थात् दीन पुरुष और "मुनिदीनौ तपस्विनौ" इस विश्वकोशके अनुसार तपस्या करनेवाला मुनि भी। दधौ = धा + लिट् + तिप्। यहाँपर "अधर्मोऽपि तपस्वितां दधौ, किमुत अन्यः" अर्थात् अधर्म भी तपस्वी हो गया, अन्यका क्या

कहना ? ऐसा कहनेसे कैमुत्य न्यायसे अर्थापत्ति अलङ्कार और अधर्म भी धार्मिक हुआ कहनेसे विरोध अलङ्कार है। इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ७ ॥

अथ श्लोकसप्तकेन महाकविर्नलप्रतापं वर्णयति –

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम ।

तदेव गत्वा पतितं सुधाऽम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

अन्वयः—अस्य यात्रासु बलोद्धतं स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम यत् रजः, तद् एव गत्वा सुधाऽम्बुधौ पतितम् (अतएव) पङ्कीभवत् (सत्) विधौ अङ्कतां दधाति ॥ ८ ॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, यात्रासु = विजययानेषु, बलोद्धतं = सैन्योत्क्षिप्तं, स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम = ज्वलत्तेजोऽग्निधूममञ्जु, यत्, रजः = धूलिः, तद् एव = रज एव, गत्वा = व्रजित्वा, उत्क्षेपवेगादिति भावः। सुधाऽम्बुधौ = क्षीरसमुद्रे, पतितं = निपतितं सत्, अतएव, पङ्कीभवत् = कर्दमीभवत् सत्, विधौ—चन्द्रमसि, सुधाऽम्बुधिस्थित इति भावः, अङ्कतां = कलङ्कत्वं, दधाति = धारयति ॥ ८ ॥

अनुवादः—नलकी विजययात्राओंमें सेनाओंसे उठी हुई और जलते हुए प्रतापरूप अग्निके समान मनोहर जो धूलि है वही जाकर क्षीरसमुद्रमें गिर पड़ी और वही कीचड़ होकर चन्द्रमामें कलङ्कके भावको धारण कर रही है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—बलोद्धतं=बलैः उद्धतम् (तृ० त०), स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम= प्रताप एव अनलः "मयूरव्यंसकादयश्च" इससे रूपकसमास, स्फुरं-श्चाऽसौ प्रतापाऽनलः (क० धा०), तस्य धूमः (ष० त०)। मञ्जोर्भावो मञ्जिमा 'मञ्जु' शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय। "कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जुमञ्जुलम् ।" इत्यमरः। स्फुरत्प्रतापानलस्य धूम (ष० त०), तस्य इव मञ्जिमा यस्य तत्, "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रमें "सप्तमी" पदसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि। रजः = "पांशुर्ना न द्वयो रजः" इत्यमरः। सुधाऽम्बुधौ = अम्बूनि धीयन्ते यस्मिन् सः, अम्बुधिः अम्बु-उपपदपूर्वक "धा" धातुसे "कर्मण्यधिकरण च" इस सूत्रसे कि प्रत्यय। अम्बु + धा + किः। सुधाया अम्बुधिः तस्मिन् (ष० त०) पतितं = पत + क्तः (कर्ताके अर्थमें)। पङ्कीभवत्=अपङ्कं पङ्कं यथा सम्पद्यते तथा भवत्, पङ्क + च्वि + भू + लट्

(शतृ०)। अङ्कताम् = अङ्कस्य भावः अङ्कता, ताम्, अङ्क + तल् + टाप्। "कलङ्काऽङ्कौ लाञ्छनं च" इत्यमरः। दधाति="डुधाञ् धारणपोषणयोः" इस जुहोत्यादि धातुसे लट् + तिप्। यहांपर द्वितीय चरणमें रूपक और उपमा है। धूलि समुद्रमें पड़कर कीचड़ होती हुई चन्द्रमामें कलङ्करूपको धारण करती है, यहांपर उत्प्रेक्षाव्यञ्जक इव आदि शब्दोंके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार तीन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८ ॥

स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाऽशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजः शिखिनः परःशता वितेनुरङ्गारमिवाऽयशः परे ॥ ९ ॥

अन्वयः—सङ्गरे परःशताः परे स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य निजस्य तेजः शिखिनः अङ्गारम् इव अयशः वितेनुः ॥ ९ ॥

व्याख्या—सङ्गरे = युद्धे, परःशताः = शतात् परे, शताधिका इत्यर्थः, बहव इति भावः। परे = शत्रवः, स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य= प्रसरच्चापघोषसमन्वितनलमेघबाणमहावर्षनिर्वापितस्य, निजस्य = स्वस्य, तेजः-शिखिनः=प्रतापाऽग्नेः, अङ्गारम् इव = उल्मुकम् इव, अयशः = अकीर्तिम् पराजयजनितामिति भावः। वितेनुः = विस्तारयामासुः ॥ ९ ॥

अनुवादः—युद्धमें सैकड़ों शत्रुओंने चमकनेवाले धनु और शब्दोंसे युक्त मेघरूप नलके बाणोंकी प्रचुर वृष्टिसे बुझाये गये अपने प्रतापरूप अग्निके अङ्गार (कोयला) के सदृश अकीर्तिको फैलाया ॥ ९ ॥

टिप्पणी—परःशताः = शतात् परे (अनन्ताः) (ष० त०), "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इस सूत्रसे पारस्करादिगणके आकृतिगण होनेसे सुट् आगमका निपातन हुआ है। महाराज भोज परः शब्दको निपात मानते हैं। परे = "अभिघातिपराऽरातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः।" इत्यमरः स्फुरद्धनुर्निःस्वन०= धनुश्च निःस्वनश्च धनुर्निःस्वनौ (द्वन्द्वः)। स्फुरन्तौ धनुर्निःस्वनौ यस्य सः (बहु०)। सः (नलः) एव घनः (रूपक०)। स्फुरद्धनुर्निःस्वनश्चाऽसौ तद्घनः (क० धा०) तस्य आशुगाः (ष० त०)। प्रगल्भा चाऽसौ वृष्टिः (क० धा०) स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाशुगानां प्रगल्भवृष्टिः (ष० त०), तया व्ययितस्य (संजात-व्ययस्य, निर्वापितस्येति भावः) (तृ० त०)। तेजःशिखिनः = तेज एव शिखी, तस्य (रूपक०)। अयशः = न यशः, तत् (नञ्त०)। वितेनुः= वि-उपसर्गपूर्वक "तनु विस्तारे" धातुसे लिट् + झि। यहांपर रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९ ॥

अनल्पदग्धाऽरिपुराऽनलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

अन्वयः—राजघः सः अनल्पदग्धाऽरिपुराऽनलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलत् भुवो वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज ॥ १० ॥

व्याख्या—राजघः = शत्रुभूपालघातुकः, सः=नलः, अनल्पदग्धारिपुराऽनलोज्ज्वलैः=बहुलभस्मीकृतशत्रुनगरवह्निप्रदीप्तैः, निजप्रतापैः=स्वतेजोभिः, ज्वलत्= दीप्तं, भुवः = भूमेः, वलयं=मण्डलं, प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणं विधाय, जयाय = जेतुं, सृष्टया = निर्मितया; नीराजनया = आरात्रिकेण, प्रतिपक्षराजाऽभावकरणेन वा; रराज = शुशुभे, नलस्य प्रतापो भूमण्डलव्यापकोऽभूदिति भावः ॥ १० ॥

अनुवादः—शत्रु राजाओं को मारनेवाले नल प्रचुर शत्रुनगरोंको जलानेवाले और अग्निके समान उज्ज्वल अपने प्रतापोंसे प्रदीप्त भूमण्डलकी प्रदक्षिणा करके जीतनेके लिए की गयी नीराजनासे शोभित हुए ॥ १० ॥

टिप्पणी—राजघः = राजानं हन्तीति, "राजघ उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे इस पदका निपातन हुआ है। अनल्पदग्धाऽरिपुरानलोज्ज्वलैः = न अल्पानि अनल्पानि (नञ्०)। अरीणां पुराणि (ष० त०)। अनल्पानि दग्धानि अरिपुराणि यैस्ते (बहु०)। अनला इव उज्ज्वलाः (उपमानपू० कर्म०)। अनल्पदग्धाऽरिपुराश्च ते अनलोज्ज्वलाः, तैः (क० धा०)। निजप्रतापैः=निजस्य प्रतापाः, तैः (ष० त०)। ज्वलत् = ज्वलतीति, तत् ज्वल + लट् (शतृ)। प्रदक्षिणीकृत्य = अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं यथा संपद्यते तथा कृत्वा प्रदक्षिण + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। जयाय = "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी। सृष्टया= सृज् + क्त + टाप् + टा। रराज = "राजृ दीप्तौ" धातुसे लिट् + तिप् (णल्)। यहाँपर निजप्रतापोंसे नीराजनासृष्टिके सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः ।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

अन्वयः—तेन अखिले महीतले निरीतिभाव गमिते निवारिता अतिवृष्टयः अनन्य संश्रयाः (सत्यः) प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशं न तत्यजुः नूनम् ॥ ११)

व्याख्या—तेन = नलेन, अखिले=समस्ते, महीतले=भूतले, निरीतिभावम्= अतिवृष्टयादीतिभावराहित्यं, गमिते = प्रापिते, सति निवारिताः = निराकृताः, अतिवृष्टयः = अतिवर्षाणि, अनन्यसंश्रयाः = अन्याश्रयस्थानरहिताः सत्यः, प्रतीप-

भूपालमृगीदृशां = शत्रुभूपतिसुन्दरीणां, दृशः = नेत्राणि, न तत्यजुः = त्यक्तवत्यः नूनम् = इव ॥ ११ ॥

अनुवादः—महाराज नलने समस्त भूतलसे अतिवृष्टि आदि ईतियोंको हटा दिया, तब निवारित अतिवृष्टियाँ दूसरा आश्रयस्थान न होनेसे नलके शत्रु राजाओंकी पत्नियोंके नेत्रोंको नहीं छोड़ती थीं ऐसा मालूम होता है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—महीतले = मह्यास्तलं, तस्मिन् (ष० त०)। निरीतिभावं = ईतेः भावः (ष० त०)। राष्ट्रमें दुर्भिक्ष आदि उपद्रवोंकी सूचना करनेवाली ईतियाँ छः प्रकारकी होती हैं। जैसे कि—

"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः।
अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥"

अर्थात् अतिवृष्टि, अनावृष्टि (वृष्टिका न होना), चूहे, शलभ (टिड्डी), तोते, ज्यादा निकटवर्ती राजा इस प्रकार ईतिके छः भेद होते हैं निर्गता ईतयो यस्मिस्तत् (बहु०)। निरीतिनो भावः, तम् (ष० त०)। गमिते = गम् + णिच् + क्तः। ङि। निवारिताः = नि + वृ + णिच् + क्तः + टाप् + जस्। अनन्यसंश्रयाः। अन्यस्य संश्रयः (ष० त०)। अविद्यमानः अन्यसंश्रयः यासां ताः (नञ्बहु०) अनन्यसंश्रयः = "नञो स्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इससे (नञबहु०) प्रतीपभूपालमृगीदृशां = प्रतिकूला आपो येषु ते प्रतीपाः, प्रति-उपसर्गपूर्वक "अप्" शब्दसे "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय ओर 'अप्' के अकारका ईत्व हुआ है (बहु०)। भुवं पालयन्तीति भूपालाः, भू-उपपदपूर्वक "पाल रक्षणे" धातुसे "कर्मण्यम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय "उपपदमतिङ्" इस सूत्रसे उपपदसमास। प्रतीपाश्च ते भूपालाः (क० धा०)। मृग्या इव दृशौ यासां ताः मृगीदृशः' सप्तमी विशेषण बहुव्रीहौ" इस सूत्रसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि। प्रतीपभूपालानां मृगीदृशः, तासाम् (ष० त०)। तत्यजुः = "त्यज हानौ" धातुसे लिट् + झि (उस्)। नूनम् = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है, जैसे कि कहा गया है—

"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः ॥

शत्रु राजाओंकी सुन्दरियोंके अश्रुपातके वर्णनसे नलसे उनके शत्रु राजाओंकी पराजय गम्य होता है अतः पर्यायोक्त अलङ्कार है, जैसे कि काव्यप्रकाशमें उसका लक्षण है—"पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।" १०-११५।

इस प्रकारसे उत्प्रेक्षा और पर्यायोक्त इन दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ११ ॥

सिताऽशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महाऽसिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाऽङ्गाभरणं रणाऽङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

अन्वयः—तद्भटचातुरी तुरी महाऽसिवेम्नः सहकृत्वरी रणाऽङ्गणे सिताऽशुवर्णैः दिगङ्गनाऽङ्गाभरणं बहुं यशःपटं वयति स्म ॥ १२ ॥

व्याख्या—तद्भटचातुरी = नलयोद्धृचतुरता, तुरी = सूत्रवेष्टननलिका, महाऽसिवेम्नः = विशालखड्गवायदण्डस्य, सहकृत्वरी = सहकारिणा (सती), रणाऽङ्गणे=युद्धाऽजिरे, सिताऽशुवर्णैः = चन्द्रवर्णैः, शुक्लवर्णैरित्यर्थः । तदगुणैः = नलशौर्यादिगुणैरेव तन्तुभिः, दिगङ्गनाऽङ्गाभरणं = दिशानार्यवयवभूषणं बहुं = प्रचुरं, यशःपटं = कीर्तिवस्त्रं, वयति स्म = निर्मितवती ॥ १२ ॥

अनुवादः—नलके योद्धाओंकी चतुरता-रूप ताँतीने उनके बड़ेसे तलवाररूप वायदण्डके सहारे युद्धके प्राङ्गणमें चन्द्रसदृश सफेद रूप नलकी शूरता आदि-गुणरूप गुणों (तन्तुओं) से दिशा-रूप स्त्रियोंके अङ्गोंके भूषण-स्वरूप प्रचुर कीर्तिरूप वस्त्रको बुना ॥ १२ ॥

टिप्पणी—तद्भटचातुरी = तस्य भटाः (ष० त०), "भटा योधाश्च योद्धारः इत्यमरः । चतुरस्य भावाश्चातुरी "चतुर" शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इस सूत्रसे भाव और कर्मके अर्थमें ष्यञ् प्रत्यय होकर "षप्रत्ययस्य' इस सूत्रसे प्रत्ययके आदिमें स्थित मूर्धन्य षकारका लोप होकर "हलस्तद्धितस्य" इससे यकारका लोप हुआ है। "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् प्रत्यय। तद्भटानां चातुरी (ष० त०) । महाऽसिवेम्नः = महांश्चाऽसौ असिः = महाऽसिः, "सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" इससे समास (क० धा०) हुआ है । महाऽसिरेव वेमा, तस्य (रूपक०) । "पुंसि वेमा वायदण्डः" इत्यमरः । सहकृत्वरी = सह कृतवती, सह-उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "सहे च" इस सूत्रसे क्वनिप् प्रत्यय और अनुबन्धका लोप होकर "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इस सूत्रसे तुक् आगम और स्त्रीत्वविवक्षामें "वनो र च" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय होकर अन्त्य 'न' के स्थानमें 'र' आदेश हुआ है । रणाऽङ्गणे = रणस्य अङ्गणं, तस्मिन् (ष० त०) । "अङ्गणं चत्वराऽजिरे" इत्यमरः । सिताऽशुवर्णैः = सिता अंशवो यस्य स सिताऽशुः (बहु०) । सिताऽशोरिव वर्णो येषां ते, तैः (व्यधिकरण-बहु०) । तद्गुणैः = तस्य गुणाः तैः (ष० त०)

दिगङ्गनाऽङ्गाभरणं = दिश एव अङ्गनाः दिगङ्गनाः (रूपक०) तासामङ्गानि, (ष० त०) तेषाम् आभरणम् (ष० त०)। यशःपटं = यश एव पटः, तम् (रूपक०)। वयति स्म = 'वेञ् तन्तुसन्ताने'' इस धातुसे ''स्म'' के योगमें ''लट् स्मे'' इस सूत्रसे भूतकाल के अर्थमें लट्। इस पद्यमें ''सितांऽशुवर्णैः'' इसमें उपमा और अन्यत्र रूपक अलङ्कार है। इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर हुआ है ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥ १३ ॥

अन्वयः— प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैः अपि ततो भिया भेत्तृता उज्झिता किम् ? यत् स अमित्रजित्, मित्रजित्, विचारदृक् अपि चारदृक् अवर्तत ॥ १३ ॥

व्याख्या--प्रतीपभूपैः इव = विरोधिभूपतिभिः इव, विरुद्धधर्मैः अपि = मिथोविरोधिधर्मैः अपि, ततः तस्मात् नलात् इत्यर्थः, भिया = भयेन हेतुना भेत्तृता = भेदनकारिता, पक्षान्तरे भेदज्ञापकता, व्यावर्तकता इति भावः, उज्झिता किं = परित्यक्ता किम् ? 'यत् = यस्मात्कारणात्, सः = नलः, ओजसा = तेजसा, अमित्रजित् = मित्रजिद्भिन्नः, परं मित्रजित = मित्रजेता, अत्र योऽमित्रजित् मित्राजिद्भिन्नः स कथं मित्रजित् (मित्रजेता इति विरोधः प्रतीयते, तत्परिहारस्तु— ओजसा = प्रतापेन, अमित्रजित्=शत्रुजेता, तथा ओजसा = तेजसा, मित्रजित् = सूर्यजेता इति । इत्थमेव सः = नलः विचारदृक् = चारदृग्भिन्नः । परं चारदृक् = चारदृष्टिः, अत्राऽपि यो विचारदृक् (चारदृग्भिन्नः) स कथं चारदृक् (चारदृक्) इति विरोधः प्रतीयते, तत्परिहारस्तु-विचारदृक् = विचारपूर्वकं द्रष्टा, चारदृक् = गुप्तचरनेत्रः, ''राजानश्चारचक्षुषः'' इति श्रवणादिति भावः । अवर्तत = आसीत् ॥ १३ ॥

अनुवादः--शत्रु राजाओंके समान विरुद्ध धर्मोंने भी उनसे डरकर भेत्तृता =भेदकारिता वा व्यावर्तकता छोड़ दी है क्या ? क्योंकि वे प्रतापसे अमित्रजित् (मित्रको जीतनेवालेसे भिन्न) होकर भी तेजसे मित्रजित् (मित्रोंको जीतनेवाले थे), यहांपर विरोध प्रतीत होता है, इसका परिहार है, नल प्रतापसे अमित्रजित् अमित्र अर्थात् शत्रुओंका जीतनेवाले थे और तेजसे मित्रजित्=मित्र अर्थात् सूर्यको जीतनेवाले थे इसी तरह नल विचारदृक् अर्थात् चारदृष्टिसे भिन्न होकर भी चारदृक् अर्थात् चारदृष्टि थे यहांपर भी विरोध प्रतीत होता है। इसका

परिहार है, नल विचारदृक्=विचारसे इन्साफको देखनेवाले और चारदृक् अर्थात् वे चारों (गुप्तचरों) से सब राष्ट्रके व्यवहारोंको देखनेवाले थे ॥ १३ ॥

टिप्पणी – प्रतीपभूपैः=प्रतीपाश्च ते भूपाः, तैः (क० धा०)। विरुद्धधर्मैः= विरुद्धाश्च ते धर्माः, तैः (क० धा०)। ततः = तस्मात् इति, तद्+तसिल्; भिया = "भीतिर्भीः साध्वसं भयम्।" इत्यमरः। भेत्तृता = भिनत्तीति भेत्ता, भिद्+तृच्। भेत्तुर्भावः, भेत्तृ+तल्+टाप्। 'भेत्तृता' पदके दो अर्थ हैं— भेदनीति कराना और व्यावर्तकता अर्थात् दूसरेसे व्यावृत्ति कराना। अमित्रजित्= न मित्राणि अमित्राः (नञ्०) अमित्रान् (शत्रून्) जयतीति अमित्रजित्। अमित्र+जि+क्विप् (उपपद०)। मित्रजित्=मित्रं जयतीति, मित्र+जि+ क्विप् (उपपद०)। यहाँपर अमित्रजित् अर्थात् जो मित्रजित्से भिन्न हैं वे कैसे मित्रजित् होंगे इस प्रकार विरोध प्रतीत होता है, इसका समाधान है--ओजसा= प्रतापसे अमित्रजित् अर्थात् अमित्रों (शत्रुओं) को जीतनेवाले और ओजसा= तेजसे मित्रजित् अर्थात् मित्र (सूर्य) को जीतनेवाले। विचारदृक् विचारं पश्यति, विचारदृश्+क्विन् (उपपद०)। चारदृक्=चारा एव दृशो यस्य सः (बहु०)। इसी तरह नल विचारदृक् अर्थात् चारदृक्से भिन्न होकर भी चारदृक् थे, यहाँ-पर भी विरोध प्रतीत होता है, इसका समाधान है महाराज नल विचारदृक् विचारको देखनेवाले थे एवम् चारदृक् अर्थात् चार (गुप्तचर) ही उनके नेत्र थे, गुप्तचरों के द्वारसे नल स्वराष्ट्र और परराष्ट्रोंके सब व्यवहारोंको देखते थे यह तात्पर्य है। अवर्तत = "वृतु वर्तने" धातुके लङ्+त सूर्यके समान तेजवाले और गुप्तचररूप नेत्रोंवाले नलसे डरकर शत्रुओंने भेद और वैरको छोड़ा यह भाव है। इस पद्यमें 'प्रतीपभूपैरिव" यहाँपर उपमा है और "अमित्रजित् मित्रजित्, विचारदृक् चारदृक्" इन अंशोंमें विरोध अलङ्कार और 'किं' शब्दके सम्भावना-का बोधक होनेसे उत्प्रेक्षा इस प्रकार तीन अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हुआ है ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ १४ ॥

अन्वयः—विधिः तदोजसः तद्यशसः स्थितौ इमौ वृथा इति यदा यदा चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवात् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति ॥ १४ ॥

व्याख्या— विधिः = ब्रह्मा, तदोजसः = नलतेजसः, तद्यशसः = नलकीर्तेः स्थितौ = विद्यमानतायाम्, इमौ=भानुविधू, सूर्यचन्द्रावित्यर्थः। वृथा=व्यर्थप्रायौ,

निष्फलाविति भावः । इति = इत्थं, यदा यदा = यस्मिन् यस्मिन् समये, चित्ते = मनसि, कुरुते = विधत्ते, विमृशतीति भावः । तदा = तस्मिन् तस्मिन् समये, परिवेषकैतवात् = परिधिच्छलात्, भानोः = सूर्यस्य, विधोः अपि = चन्द्रमसः अपि, कुण्डलनां = वैयर्थ्यसूचकं रेखामण्डलं, तनोति = विस्तारयति ॥ १४ ॥

अनुवादः— ब्रह्माजी नलके तेजकी और उनकी कीर्तिकी स्थितिमें ये (सूर्य और चन्द्र) व्यर्थ हैं ऐसा जब-जब विचार करते हैं तब-तब परिवेष (मण्डल) के छलसे सूर्य और चन्द्रकी कुण्डलता (घेरे) को फैला देते हैं ॥ १४ ॥

टिप्पणी— तदोजसः = तस्य ओजः, तस्य (ष० त०) । तद्यशसः = तस्य यशः, तस्य (ष० त०) । स्थितौ = स्था + क्तिन् + ङि । यदा = यस्मिन् काले, "सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा" इस सूत्रसे यद् शब्दसे दा प्रत्यय । तदा = तस्मिन् काले, पूर्वकथित सूत्रसे तद् शब्दसे दा प्रत्यय । परिवेषकैतवात् = परिवेषस्य कैतवं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी । "परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले ।" इत्यमरः । तनोति = "तनु विस्तारे" इस धातुसे लट् + तिप् । यहाँपर प्रसिद्ध उपमानभूत सूर्य और चन्द्रकी निष्फलताका अभिधान होनेसे प्रतीप अलङ्कार है, जैसा कि साहित्यदर्पणमें उसका लक्षण है—

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाऽभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥" १०-११३ ।

इसी तरह यहाँपर प्रस्तुत परिवेषका निषेध कर कुण्डलनाका स्थापन करनेसे अपह्नुति भी है । इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अल्पितकल्पपादपो नृपः अर्थिजनस्य ललाटे "अयं दरिद्रो भविता" इति जाग्रतीं वैधसीं लिपिं दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय मृषा न चक्रे ॥ १५ ॥

नलस्य दानशौण्डत्वं श्लोकद्वयेन प्रतिपादयति—अयमिति ।

व्याख्या— अल्पितकल्पपादपः = अल्पीकृतकल्पवृक्षः, नृपः = नैषधः, अर्थिजनस्य = याचकजनस्य, ललाटे = भाले, अयम् = एषः, जनः = नरः, दरिद्रः = निःस्वः, भविताः = भविष्यति, इति = इत्थं, जाग्रतीं = सदा स्थितां, वैधसीं = ब्रह्मसम्बन्धिनीं, लिपिं = लिपिं, वर्णावलीमिति भावः, दारिद्र्यदरिद्रतां =

दरिद्रताऽभात्रं, प्रणीय = निर्माय, मृषा = मिथ्या, न चक्रे = न कृतवान्, एतेन याचितपदार्थस्य दातुः कल्पपादपान्नलस्योत्कर्षाऽतिशयो द्योत्यते ॥ १५ ॥

अनुवादः—कल्पवृक्षको भी मात करनेवाले नलने याचकके लिलारमें "यह दरिद्र होगा" ऐसी विद्यमान ब्रह्माकी लिपिको उस याचककी दरिद्रताका दारिद्रय करके झूठा नहीं बनाया ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अल्पितकल्पपादपः = अल्पः कृतः अल्पितः; अल्प शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर क्त प्रत्यय। कल्प (संकल्पिताऽर्थ) पूरकः पादपः कल्पपादपः, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपदलोपी समास। अल्पितः कल्पपादपो येन सः (बहु०)। अर्थिजनस्य=असन्निहितः अर्थः अस्याऽस्तीति अर्थी, 'अर्थ' शब्दसे "अर्थाच्चाऽसन्निहिते" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय। "वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ।" इत्यमरः। अर्थी चाऽसौ जनः, तस्य (क० धा०)। दरिद्रः=दरिद्रातीति, "दरिद्रा दुर्गतौ" इस धातुसे पचाद्यच्। भविता = "भू सत्तायाम्" इस धातुसे "अनद्यतने लुट्" इससे लुट् + तिप्। जाग्रती = जागर्तीति जाग्रती, तां, "जागृ निद्राक्षये" इस धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षा में टित् होनेसे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् प्रत्यय। वैधसीं = वेधस इयं वैधसी, ताम्, "वेधस्" शब्दसे "तस्येदम्" इससे अण् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। दारिद्र्यदरिद्रतां = दरिद्रस्य भावः कर्म वा दारिद्र्यं, दरिद्र + ष्यञ्। दरिद्रस्य भावो दरिद्रता, दरिद्र + तल् + टाप्। दारिद्र्यस्य दरिद्रता, ताम् (ष० त०)। प्रणीय = प्र + नी + क्त्वा (ल्यप्)। मृषा=यह अव्यय है। चक्रे=कृ + लिट् + त। इस पद्यसे नलकी उत्कृष्ट दानशीलता प्रतीत होती है। इस पद्यमें "अल्पितकल्पपादपः" इस पदसे उपमान कल्पपादपसे उपमेय नलके आधिक्य वर्णन करनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥१५॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजाऽयशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ॥ १६ ॥

अन्वयः— विभज्य मेरुः यत् अर्थिसात् न कृतः, उत्सर्गजलव्ययैः सिन्धुः, यत् मरुः न कृतः, तत् तेन द्विफालबद्धाः चिकुराः शिरःस्थितं निजाऽयशोयुगम् अमानि ॥ १६ ॥

व्याख्या विभज्य = विभागं कृत्वा, खण्डशो विधायेति भावः। मेरुः =

सुमेरुपर्वतः, यत् = यस्मात्कारणात्, अर्थिसात् = याचकाऽधीनः, कृतः = नो विहितः, एवं च उत्सर्गजलव्ययैः = दानसलिलोपयोगैः, सिन्धुः = समुद्रः । यत् = यस्मात्कारणात्, मरुः = धन्वा, निर्जलदेश इति भावः, न कृतः = नो विहितः । तत्=तस्मात् कारणद्वयात्, तेन = नलेन, द्विभागनद्धाः=द्विफालबद्धा, चिकुराः= केशाः उद्देश्यवाचकं पदमेतत् । शिरःस्थितं = स्वमस्तकस्थं, निजाऽयशोयुगं = स्वकीयाऽकीर्तियुग्मं, विधेयवाचकं पदमेतत् । अमानि = मतं, विचारितमिति भावः ॥ १६ ॥

अनुवाद: —विभाग करके (खण्ड-खण्ड बनाकर) सुमेरुपर्वतको याचकजनोंको नहीं दिया और न तो दान करनेके समयमें जलका व्यय करके समुद्रको मरु-स्थल बनाया इस कारणसे महाराज नलने दो भागोंमें बाँधे गये अपने केशोंको अपने शिरमें स्थित अपने दो अकीर्तिरूप समझा ॥ १६ ॥

टिप्पणी — विभज्य = वि + भज् + क्त्वा (ल्यप्) । मेरुः = "मेरुः सुमेरु-र्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः ।" इत्यमरः । उक्त कर्ममें प्रथमा । अर्थिसात्=अर्थ्य-धीनः, "अर्थिन् शब्दसे "तदधीनवचने" इस सूत्रसे "साति" प्रत्यय । उत्सर्गजल-व्ययैः = उत्सर्गस्य जलं (ष० त०), तस्य व्ययाः तैः (ष० त०) । मरुः = "समानौ मरुधन्वानौ" इत्यमरः । द्विफालबद्धाः=द्वयोः फालयोः बद्धाः, "तद्धि-ताऽर्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपदसमास । चिकुराः="चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः ।" इत्यमरः ।" यह उद्देश्यवाचक पद है । शिरः-स्थितं – शिरसि स्थितम् (स० त०) — निजाऽयशोयुगं = न यशसी, (नञ्०) अयशसोर्युगम् (ष० त०) । निजं च तत् अयशोयुगम् (क० धा०), यह विधेय-वाचक पद है । अमानि = मन्धातु से कर्ममें लुङ् । उद्देश्य वाचक "चिकुराः" के बहुवचनान्त होनेपर भी विधेयवाचक पद "निजाऽयशोयुगम्" इसके एकवच-नान्त होनेपर विधेयकी प्रधानतासे क्रियापदमें एकवचन हुआ है । इस पदमें मेरु और मरु इन दोनों अप्रस्तुत पदोंकी कर्मतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अल-ङ्कार है । जैसा कि उसका लक्षण है—

"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माऽभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।" सा०द०१०-६६ ।

केशोंमें कृष्णताकी समतासे अयशका रूपण करनेमें रूपक अलङ्कार है, इस प्रकार तुल्ययोगिता और रूपककी परस्परमें अनपेक्षतया स्थिति होने संसृष्टि अलङ्कार है ॥ १६ ॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७ ॥

अन्वयः—पटीयान् दिनेश्वरश्रीः अयं देवः अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च समं मुदा एव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ ॥ १७ ॥

नलस्य विद्वज्जनसंगतिं प्रतिपादयति—अजस्रमिति ।

व्याख्याः—पटीयान् = कार्यकुशलः, दिनेश्वरश्रीः = सूर्यसमतेजाः, अयं वर्ण्यमानः, देवः = राजा, नल इत्यर्थः । अजस्रं = निरन्तरम्, अभ्यासं = समीपम्, उपेयुषा = प्राप्तवता, कविना = काव्यकर्त्रा शुक्रेण च, बुधेन = पण्डितेन, चन्द्रपुत्रग्रहेण च, समं = सह, मुदा एव = आनन्देन एव, समयं = कालं, नयन् = यापयन्, दिने दिने = प्रतिदिनम्, उदयम् उन्नतिम् उदयपर्वतसम्बन्धं च, दधौ = धृतवान् ॥ १७ ॥

अनुवादः—कार्यकुशल और सूर्यके समान तेजवाले ये महाराज नल जैसे सूर्य निरन्तर समीपमें रहनेवाले कवि (शुक्र) के तथा चन्द्रके पुत्र ग्रहके साथ हर्षके साथ समयको बिताते हुए प्रतिदिन उदयाचलको प्राप्त करते हैं उसी प्रकार निरन्तर निकट रहनेवाले कवि (काव्यकर्ता) और बुध (विद्वान्) के साथ हर्षसे समयको बिताते हुए प्रतिदिन उन्नतिको प्राप्त करते थे ॥ १७ ॥

टिप्पणी—पटीयान् = अतिशयेन पटुः, पटु + ईयसुन् । दिनेश्वरश्रीः = दिनस्य ईश्वरः (ष० त०), तस्य इव श्रीर्यस्य सः (व्यधिकरण-बहु०) । अभ्यासं 'सदेशाभ्याससविधसमर्यादसवेशवत् । इत्यमरः । उपेयुषा=उपेयायेति उपेयिवान्, तेन, "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इस सूत्रसे उप-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे भूतमात्रमें लिट्, उसके स्थानमें क्वसु प्रत्यय और इट् आगम । कविना = "उशना भार्गवः कविः" इति, "संख्यावान्पण्डितः कविः" इति चाऽमरः । बुधेन = "रौहिणेयो बुधः सौम्य" इति "सन्सुधीः कोविदो बुधः" इति चाऽमरः । "समम्" पदके साथ योग होनेसे दोनों पदोंसे "सहयुक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे तृतीया । नयन् = नयतीति, नी + लट् (शतृ) । दधौ = धा + लिट् + तिप् । इस पद्यमें "दिनेश्वर श्रीः" इस पदमें उपमा तथा "कविना" और "बुधेन" इन दोनों पदोंमें श्लेष होनेसे दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ १७ ॥

अधोविधानात्कमलप्रवालयोः, शिरःसु दानादखिलक्ष्माभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याऽङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरःसु धानात् इदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति इति वेधसा अस्य पदम् ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?॥१८॥

व्याख्या—कमलप्रवालयोः = कमलपल्लवयोः, अधोविधानात् = तिरस्करणात्, अरुणतास्निग्धतामृदुत्वाऽतिशयैरिति शेषः । तथा अखिलक्षमाभुजां = सकलभूपालानां, शिरःसु = मस्तकेषु धानात् = स्थापनात्, "...नात्" इति पाठान्तरेऽपि स एवाऽर्थः । इदं = पदम्, ऊर्ध्वम् = उपरिवर्ति, पुरा भवति = भविष्यति इति = हेतोः, वेधसा = ब्रह्मणा, अस्य = नलस्य, पदं = चरणम्, ऊर्ध्वरेखया = उच्चरेखया, अङ्कितं किं = चिह्नितं किम् ? ॥ १८ ॥

अनुवादः—कमल और पल्लवको तिरस्कार करनेसे और संपूर्ण राजाओंके मस्तकोंमें स्थापन करनेसे, यह चरण उच्च स्थानमें रहेगा इस हेतुसे ब्रह्माजीने इनके चरणको ऊर्ध्वरेखासे अङ्कित किया है क्या ? ऐसा मालूम पड़ता है ॥१८॥

टिप्पणी—कमलप्रवालयोः = कमलं च प्रवालश्च, तयोः (द्वन्द्वः) । अखिलक्षमाभुजां=क्षमां भुञ्जन्तीति क्षमाभुजः, क्षमा + भुज् + क्विप् (उपपद०) । "गोरिला कुम्भिनी क्षमा" इत्यमरः । अखिलाश्च ते क्षमाभुजः, तेषाम् (क० धा०) । धानात् = धा + ल्युट् + ङसि । पुरा भवति = भू धातुसे "पुरा" पदके योगमें "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भविष्यत् कालमें लट् ऊर्ध्वरेखया = ऊर्ध्वा चाऽसौ रेखा, तया (क० धा०) । सौन्दर्य और शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न नलका चरण है यह तात्पर्य है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवाञ्शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथाऽऽलिङ्गदथाऽस्य यौवनम् ॥ १९ ।

अन्वयः—शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं, तेन च कोशम् अक्षयं प्रणीतवान् । अयं रतीशस्य सखा ऋतुः यथा वनं, तथा यौवनम् अस्य वपुः आलिङ्गत् ॥१९॥

अथ नलस्य तारुण्योपगमं क्रमेण वर्णयति—जगज्जयमिति ।

व्याख्या—शैशवशेषवान् = बाल्याऽवशेषयुक्तः, षोडषवर्षदेशीय इति भावः । अयं = नलः, जगज्जयं=लोकविजयं, प्रणीतवान् = कृतवान्,तेन च = जगज्जयेन च, कोशं = भाण्डारगृहम्, अक्षयं=क्षयरहितं, परिपूर्णमिति भावः, प्रणीतवान् = कृतवान् । अथ=अनन्तरं, शैशवाऽपगमानन्तरमिति भावः । रतीशस्य = रतिपतेः कामदेवस्येति भावः, सखा = सहचरः, मित्रमित्यर्थः । ऋतुः = वसन्तः, यथा = येन प्रकारेण, वनं = काननम्, आलिङ्गति, तथा = तेन प्रकारेण, यौवनं = तारुण्यम्, अस्य = नलस्य, वपुः = शरीरम्, आलिङ्गत् = आलिङ्गितवत्, आश्रयदित्यर्थः । नलस्य यौवनप्रादुर्भावो जात इति भावः ॥ १९ ॥

अनुवादः--बाल्यावस्थाका कुछ अवशेष रहनेपर ही नलने जगत् को जीत लिया उससे अपने कोषको अक्षय (परिपूर्ण) बना डाला। जैसे कामदेवका सहकारी (मित्र) ऋतु (वसन्त) वनको आश्रय करता है, वैसे ही बाल्यावस्थाके बीतनेपर यौवनने उनके शरीर का आश्रय लिया, अर्थात् नल युवा हो गये ॥ १९ ॥

टिप्पणी--शैशवशेषवान् = शिशोर्भावः, शैशवम् शिशु शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इस सूत्रसे अण् "शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्" इत्यमरः। जगज्जयं = जगतां जयः, तम् (ष० त०)। प्रणीतवान् = प्र + नी + क्तवतुः। कोषम् = यह उद्देश्यवाचक है। अक्षयम् = अविद्यमानः क्षयो यस्य-तम् (नञ्-बहु०)। यह विधेयवाचक है। रतीशस्य = रतेःईशः, तस्य (ष० त०)। यौवनं = यूनः भावः युवन्-शब्दसे "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय और "अन्" इससे अन् का प्रकृतिभाव होनेसे टिलोप नहीं हुआ। "तारुण्यं यौवनं समे।" इत्यमरः। आलिङ्गत् = आङ् + लिगि + लङ् + तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १९ ॥

अथ नलशरीरवर्णनमुपक्रमते—

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

अन्वयः—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अकारि। तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे क्व ? शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गतः ॥२०॥

व्याख्या—तदङ्घ्रिणा = नलचरणेन, पद्मेपु = कमलेषु, घृणा = जुगुप्सा अधारि = धृता, नलचरणापेक्षया कमलानां निकृष्टत्वादिति भावः। तच्छयच्छायलवः अपि = नलपाणिकान्तिलेशः अपि। पल्लवे = किसलये क्व=कुत्र, नलपाणितः कमलानां हीनत्वादिति भावः। शारदः = शरदभ्युदितः, पार्विकशर्वरीश्वरः = पूर्णिमाचन्द्रः, षोडशकलासम्पूर्ण इति भावः। तदास्यदास्ये अपि= नलमुखदासभावे अपि, अधिकारितां = योग्यतां, न गतः = न प्राप्तः, शारदपूर्णचन्द्रोऽपि नलमुखतो हीन आसीदिति भावः ॥ २० ॥

अनुवादः--नलके चरणने कमलोंमें घृणा की। नलके पाणिकी कान्तिका लेश भी पल्लवमें कहाँ था ? शरत् ऋतुकी पूर्णिमाके चन्द्र उनके मुखके दास होनेके लिए भी अधिकारी (योग्य) नही थे ॥ २० ॥

टिप्पणी--तदङ्घ्रिणा=तस्य अङ्घ्रिः, तेन (ष० त०), "पादः पदङ्घ्रि-

श्चरणोऽस्त्रियाम्'' इत्यमरः। अधारि = धृ + लुङ् (कर्ममें)। तच्छयच्छायलवः= तस्य शयः तच्छयः (ष० त०) ''पञ्चशाखः शयः पाणिः'' इत्यमरः। तच्छयस्य छाया तच्छयच्छायम् (ष० त०), ''विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्'' इस सूत्रसे विकल्पसे नपुंसकलिङ्गी हुआ है। ''छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।'' इत्यमरः। शारदः = शरदि भवः, शरद्-शब्दसे ''सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्'' इस सूत्रसे अण्। पार्विकशर्वरीश्वरः = पर्वणि भवः पार्विकः, पर्वन्-शब्दसे ''कालाट्ठञ्'' इससे ठञ्। शर्वर्या ईश्वरः (ष० त०)। पार्विकश्चासौ शर्वरीश्वरः क० धा०)। तदास्यदास्ये = तस्य आस्यम् (ष० त०)। दासस्य भावो दास्यम्, दास + ष्यञ्। तदास्यस्य दास्यं, तस्मिन् (ष० त०)। अधिकारिताम् = अधिकरोतीति तच्छीलः अधिकारी, अधि + कृ + णिनिः, अधिकारिणो भावः अधिकारिता, ताम् अधिकारिन् + तल् + टाप्। इस पद्यमें नलके अङ्घ्रि आदिका कमल आदिमें घृणाका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलंकार है। उसका लक्षण है—

''सिद्धत्वेऽध्यवसायस्याऽतिशयोक्तिर्निगद्यते'' ।। १०–६६ ।।

उसके पाँच भेद इस प्रकार हैं

''भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ।

पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः'' (६७) ।। २० ।।

किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न लेखाभिरजीगणद् गुणान् ?।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ।। २१ ।।

अन्वयः—विधिः रोम्णां कपटेन कोटिभिः लेखाभिः अस्य गुणान् किं न अजीगणत्? जगत्कृता रोमकूपौघमिषात् दूषणशून्यबिन्दवश्च किं न कृता ?।।२१।।

व्याख्या—विधिः = ब्रह्मा, रोम्णां = लोम्नां, कपटेन=व्याजेन, कोटिभिः= सार्धत्रिकोटिसंख्याभिः, लेखाभिः = रेखाभिः, अस्य = नलस्य, गुणान् = शौर्यौ-दार्यसौन्दर्यादीन्, किं न अजीगणात्=किं न गणितवान्, अजीगणत् इति भावः। तथैव जगत्कृता = लोकसृजा, ब्रह्मणेति भावः, अस्य रोमकूपौघमिषात् = लोमकूपसमूहच्छलात्, दूषणशून्यबिन्दवः—दोषाऽभावपृषताः, किं न कृताः = किं नो विहिताः, कृता एवेति भावः, नलस्य गुणा अतिप्रचुरा दोषाणां सुतरामभाव इति भावः ।। २१ ।।

अनुवादः—ब्रह्माजीने रोओंके बहानेसे करोड़ों रेखाओंसे क्या नलके गुणोंको

नहीं गिना ? उसी तरह लोककी सृष्टि करनेवाले उन्होंने लोमकूपोंके बहानेसे नलके दोषोंके अभावसूचक शून्यबिन्दुओंको क्या नहीं किया ? ॥ २१ ॥

टिप्पणी—रोम्णां = "तनूरुहं रोम लोम" इत्यमरः। अजीगणत् = "गण संख्याने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ्का रूप है, "ई च गणः" इससे ईत्व हुआ है। जगत्कृता = जगत् करोतीति जगत्कृत, तेन, जगत्+कृ+क्विप्+टा (उपपद०)। रोमकूपौघमिषात् = रोम्णां कूपाः (ष० त०), तेषामोघः (ष० त०), तस्य मिषं, तस्मात् (ष० त०)। दूषणशून्यबिन्दवः = दूषणानां शून्यानि (ष० त०) तत्सूचका बिन्दवः (मध्यमपदलोपी स०)। इस पद्यमें दो अपह्नुतियाँ और दो अर्थापत्तियाँ इनकी संसृष्टि है ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीताऽर्गलदीर्घपीनता।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता गृहीता ध्रुवम्। तत्र उरःश्रिया च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता गृहीता ध्रुवम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—अमुष्य = नलस्य, दोर्भ्यां = बाहुभ्याम्, अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रुदुर्गमस्थलबलात्कारग्रहणे, अर्गलदीर्घपीनता = विष्कम्भायतपुष्टता, गृहीता ध्रुवम् = उपात्ता किम् ? तत्र=अरिदुर्गलुण्ठने, उरःश्रिया च= वक्षःस्थलसम्पत्त्या च, गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = पुरद्वारप्रकाशमानकपाटाऽधृष्यता तिर्यक्प्रसरणशीलता च, गृहीता ध्रुवम् = उपात्ता किमु ॥ २२ ॥

अनुवादः—नलकी बाहुओंने शत्रुओंके किलोंको बलात्कार से ग्रहण करनेमें अर्गलाके समान लम्बाई और मुटाईको ग्रहण कर लिया है ऐसा मालूम पड़ता है। उसमें वक्षःस्थलकी शोभाने शहरके द्वारमें प्रकाशमान कपाट (किवाड़) के समान दुर्धर्षता और तिरछी विस्तृतताको ग्रहण कर लिया है ऐसा प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

टिप्पणी—दोर्भ्यां = "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः। अरिदुर्गलुण्ठने = दुःखेन गम्यन्त एषु इति दुर्गाणि, दुर्-उपसर्गपूर्वक गम् धातुसे 'सुदुरोरधिकरणे" इस सूत्रसे ड प्रत्यय। पर्वत आदि दुर्गम स्थानोंको "दुर्ग" कहते हैं। ऐसे दुर्गोंके छः भेद होते हैं, जैसा कि भगवान् मनुने कहा है—

"धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥" ७-७०।

अर्थात् मरुदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग और पर्वतदुर्ग राजा इनमें

एक दुर्गका आश्रय करके नगरमें रहे। अरीणां दुर्गाणि (ष० त०)। तेषां लुण्ठनं, तस्मिन् (ष० त०)। "लुठि स्तेये" धातुसे ल्युट् प्रत्यय होकर "लुण्ठन" पद बनता है। अर्गलदीर्घपीनता = दीर्घं च तत्पीनम् (क० धा०)। तस्य भावः, दीर्घपीन + तल् + टाप्। अर्गलस्य दीर्घपीनता (ष० त०)। "तद्विष्कम्भो गलं न ना।" इत्यमरः। गृहीता = ग्रह् + क्त + टाप्। ध्रुवम् = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। उरःश्रिया = उरसः श्रीः, तया (ष० त०)। गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = स्फुरच्च तत्कपाटम् (क० धा०)। गोपुरे स्फुरत्कपाटम् (स० त०)। "पुरद्वारं तु गोपुरम्" इत्यमरः। दुःखेन धर्षितुं शक्यं दुर्धर्षं, दुर् + धृष् + खल्। तिरःप्रसरतीति तच्छीलं तिरःप्रसारि, तिरस् + प्र + सृ + णिनि दुर्धर्षं च तत् तिरःप्रसारि (क० धा०), तस्य भावः, दुर्धर्षतिरः प्रसारिन् + तल् + टाप्। गोपुरस्फुरत्कपाटस्य दुर्धर्षतिरःप्रसारिता (ष० त०)। इस पद्यमें दो उत्प्रेक्षाओंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांऽशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराऽचरे ॥ २३ ॥

अन्वयः—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांऽशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य प्रतिमा अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे चराऽचरे न ॥ २३ ॥

व्याख्या—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = आत्मक्रीडालवमन्दहास्यविजितचन्द्रस्य, निजांऽशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = स्वभागनेत्रभर्त्सितकमलश्रियः, तन्मुखस्य = नलाननस्य, प्रतिमा = उपमा, अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे = चन्द्रपद्मजेतृरुचिरपदार्थरहिते, चराऽचरे = जङ्गमस्थावरात्मके जगति, न = न अवर्तत ॥ २३ ॥

अनुवादः—अपनी क्रीडाके लेशभूत मन्दहास्यसे चन्द्रको जीतनेवाले और अपने अंशभूत नेत्रोंसे कमलोंकी शोभाकी भर्त्सना करनेवाले नलमुखकी उपमा चन्द्र और कमलको जीतनेवाले सुन्दर पदार्थसे रहित चराऽचर (जगत्) में नहीं थी ॥ २३ ॥

टिप्पणी—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = स्वस्य केलिः (ष० त०)। तस्याः लेशः (ष० त०)। स्वकेलिलेशश्च तत् स्मितम् (क० धा०)। "ईषद्विनासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्" साहित्यदर्पण-(३-२२१) की ऐसी उक्तिके अनुसार जिस हास्यमें नेत्र कुछ विकसित होते हैं और ओष्ठ हिलता है उसे "स्मित" कहते हैं। निर्जित इन्दुः येन तत् (बहु०)। स्वकेलिलेशस्मितेन

निर्जितेन्दु, तस्य (तृ० त०)। यह और आगेका दूसरा पद ये दोनों पद "तन्मुखस्य" इस पदके विशेषण हैं। निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = निजश्चाऽसौ अंशः (क० धा०)। स चाऽसौ दृक् (क० धा०)। पद्मस्य सम्पत् (ष० त०) तर्जिता पद्मसंपत् येन (बहु०)। निजांशदृशा तर्जितपद्मसम्पत् तस्य (तृ० त०)। तन्मुखस्य=तस्य मुखं, तस्य (ष० त०)। अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे = द्वौ अवयवौ यस्याः सा द्वयी, द्वि शब्दसे "संख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् प्रत्यय होकर उसके स्थानमें "द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा" इससे अयच् आदेश होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् प्रत्यय। तयोर्द्वयी (ष० त०)। जयतीति तच्छीलं जित्वरं, जि–धातुसे "इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्" इस सूत्रसे क्वरप्। तद्द्वय्या जित्वरम् (ष० त०)। अन्यत् सुन्दर सुन्दराऽन्तरम्, "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे समास हुआ है। तद्द्वयीजित्वरं च तत् सुन्दराऽन्तरम् (क० धा०)। अविद्यमानं तद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरं यस्मिन्, तस्मिन् (नञ् बहु०)। चराऽचरे = चराश्च अचराश्च चराऽचरं, तस्मिन्, "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति" इस परिभाषासे एकवद्भाव हुआ है। इस पद्यमें व्यतिरेक अलंकार, और चन्द्र तथा पद्मकी विजयकी विशेषणगतिसे नलके मुखमें उपमाऽभावकी हेतुतासे पदाऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"हेतोर्वाक्यपदाऽर्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते" (सा० द० १०–६१)

इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ २३ ॥

भङ्ग्यन्तरेण तमेवाऽर्थं पुनरप्याह—

सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं, जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

अन्वयः—तस्य दृशा एव सरोरुहं तर्जितम्। (तस्य) स्मितेन न विधोः अपि श्रियः जिताः। (आभ्याम्) परं भव्यं कुतः ? अहो ! तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता ॥ २४ ॥

व्याख्या—तस्य = नलमुखस्य, दृशा एव = नेत्रेण एव, सरोरुहं = कमलं, तर्जितं = भर्त्सितम्। तस्य स्मितेन एव = मन्दहास्येन एव, विधोः अपि = चन्द्रमसः अपि, श्रियः = शोभाः, जिताः = निर्जिताः (आभ्यां = सरोरुहविधुभ्याम्) परम् = अन्यत्, भव्यं =सुन्दरं वस्तु, कुतः=कस्मात्, उपलभ्येतेति शेषः। अहो= आश्चर्यम्। तदाननस्य=नलमुखस्य, उपमितौ = तुलनायां, महीयसी= अतिमहती

दरिद्रता = वचनसम्पत्तेरभावः । कवीनामिति शेषः, सर्वथा निरुपमं नलमुखमिति भावः ।। २४ ।।

अनुवादः——नलके मुखमण्डलमें वर्तमान नेत्रने ही कमलकी भर्त्सना की और मन्दहास्यसे ही चन्द्रमाकी शोभाओंको जीत लिया । इन दोनों (कमल और चन्द्र से अन्य सुन्दर पदार्थ कहाँ है ? आश्चर्य है कि नलके मुखकी उपमामें बड़ी दरिद्रता है ।। २४ ।।

टिप्पणी——सरोरुहं = सरसि रोहतीति, सरस्-उपपदपूर्वक रुह धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय (उपपद०) । विधोः = " विधुः सुधांऽशुः शुभ्रांऽशुः" इत्यमरः । भव्यं = भवतीति, भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा" इस सूत्र से निपातन हुआ है । कुतः = कस्मात् इति, किम् + तसिल् । तदाननस्य = तस्य आननं, तस्य (ष० त०) । महीयसी = अतिशयेन महती, महत् शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे ईयसुन् प्रत्यय और स्त्रीत्व विवक्षामें ङीप् दरिद्रता= दरिद्रस्य भावः, दरिद्र + तल् + टाप् । इस पद्यमें व्यक्तिरेक तथा सरोरुह और विधुके बिजयरूप वाक्यार्थमें मुखकी उपमाकी दरिद्रताके हेतु होनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । दोनोंकी संसृष्टि है ।। २४ ।।

स्ववालभारस्य तदुत्तमाऽङ्गजैः समं चमर्येव तुलाऽभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

अन्वयः——चमरी एव तदुत्तमाऽङ्गजैः समं तुलाभिलाषिणः स्ववालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापलं शंसति ।। २५ ।।

व्याख्या——चमरी एव = चमरमृगी एव, तदुत्तमाऽङ्गजैः समं = नलकेशैः सह, तुलाऽभिलाषिणः = साम्यकामिनः, स्ववालभारस्य = आत्मकेशकलापस्य, अनागसे = अपराधाऽभावाय, पुनः पुनः = भूयो भूयः, पुच्छविलोलनच्छलात् = लाङ्गूलसञ्चालनव्याजात्, बालचापलं = रोमचाञ्चल्यं यद्वा, बालचापलं = शिशुचाञ्चल्यं, शंसति = सूचयति । यथा माता महापुरुषैः समं संघर्षशीलस्य स्वपुत्रस्याऽपराधाऽभावप्रतिपादनाय "एतेन मतिपूर्वकं नैतदाचरितम् बालत्वान्मूर्खत्वादेव इत्थमाचरितमि"ति कथयति तथैव चमर्यपि नलकेशैः समं साम्यं वाञ्छतो निजवालभारस्याऽपराधाऽभावप्रतिपादनार्थं पुच्छविलोलनच्छलात् इदं चापलं बालत्वेन कृतमिति सूचयतीति भावः ।

अनुवादः——चमरी मृगी ही नलके केशोंके साथ बराबरीकी इच्छा करनेवाले

अपने केशकलापकी निरपराधता-प्रकाशनके लिए वारं वार पूंछ हिलानेके बहानेसे रोओंकी चपलता वा यह बालककी चपलता है ऐसी सूचना करती है ॥ २५ ॥

टिप्पणी - तदुत्तमाऽङ्गजैः = उत्तमं च तत् अङ्गम् (क० धा०)। "उत्तमाऽङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः । तस्य उत्तमाऽङ्गम् (ष० त०) । तदुत्तमाऽङ्गे जाताः, तैः, तदुत्तमाङ्ग-उपपदपूर्वक "जनी प्रदुर्भावे" धातुसे "सप्तम्यां जनेर्डः" इससे ड प्रत्यय (उपपद०) "समम्" पदके योगमें तृतीया । तुलाऽभिलाषिणः = तुलाम् अभिलषतीति तच्छीलः, तस्य तुला + अभि + लष् + णिनिः + ङस् (उपपद०) । स्ववालभारस्य = स्वस्य वालाः (ष० त०), "चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः ।" इत्यमरः । स्ववालानां भारः, तस्य (ष० त०) अनागसे = न आगः, अनागः, तस्मै "क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी । पुच्छविलोलनच्छलात् = पुच्छस्य विलोलनं (ष० त०), तस्य छलं, तस्मात् (ष० त०)। बालचापलं = बालानां चापलम् एव बालस्य चापल तत् (ष० त०) । शंसति = शंसु स्तुतौ" धातुसे लट् । इस पद्यमें श्लेष और कैतवापह्नुति दो अलंकारोंका सङ्कर है ।२५।

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया, निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६ ॥

अन्वयः—तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत् ॥ २६ ॥

व्याख्या—तस्य = पूर्वोक्तस्य, महीभृतः = राज्ञः, नलस्येति भावः । मन्मथश्रिया = कामसदृशशोभया, तं प्रति = नलं प्रति, निजस्य = स्वस्य, चित्तस्य = मनसः, इच्छया च = स्पृहया च तत्र = तस्मिन् नृपे=राजनि, नल इति भावः। जगत्त्रयीभुवां = लोकत्रितयोत्पन्नानां, नतभ्रुवां = सुन्दरीणां, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, मन्मथविभ्रमः = कामभ्रान्तिः, कामविलासश्च । अभवत् = अभूत् । लोकत्रितयसुन्दरीणां कामसदृशे नले अयं मन्मथ इति भ्रमो मन्मथविलासश्चाऽभवदिति भावः ॥ २६ ॥

अनुवादः—राजा नलकी कामदेवके समान शोभासे और उनके प्रति अपने चित्तकी इच्छासे उनके विषयमें तीन लोकोंमे विद्यमान स्त्रियोंमें दो प्रकारोंसे कामविभ्रम (ये कामदेव है ऐसी भ्रान्ति और कटाक्ष आदि कामविलास भी) हो गया ॥ २६ ॥

टिप्पणी--महीभृतः = महीं बिभर्तीति महीभृत्, तस्य मही + भृ + क्विप् + ङस् (उपपद०)। मन्मथश्रिया = मन्मथस्य श्रीः, तया (ष० त०)। तं = "प्रति" के योगमें "अभितःपरितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" इस वार्तिकसे द्वितीया। तत्र = तस्मिन्निति तद् + त्रल्। नृपे = नॄन् पातीति नृपः तस्मिन्, नृ + पा + कः (उपपद०) जगत्त्रयीभुवां = जगतां त्रयी (ष० त०), तस्यां भवन्तीति जगत्त्रयीभुवः, तासाम्, जगत्त्रयी + भू + क्विप्। नतभ्रुवां = नते भ्रुवौ यासां ता नतभ्रुवः, तासाम् (बहु०)। द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् द्वि-शब्दसे "सख्याया विधार्थे धा" इस सूत्रसे धा प्रत्यय (अव्यय) मन्मथविभ्रमः = मन्मथस्य विभ्रमः (ष० त०)। "भ्रान्तिर्मिथ्यामतिभ्रमः" इति—

"स्त्रीणां विलासबिब्बोकविभ्रमा ललितं तथा।
हेला लीलेत्यमी भावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः॥"

इत्यमरः। अभवत् = भू + लङ् + तिप्। यहाँपर तीन भुवनोंका स्त्रियोंमें वैसे दो मन्मथविभ्रमोंके न होनेपर भी वैसे सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और "मन्मथविभ्रम" पदमें श्लेष अलंकार है इस प्रकारसे दो अलंकारोंकी परम्परामें निरपेक्ष स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार है॥ २६॥

**निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनाऽपि लोचनैः॥ २७॥**

अन्वयः--त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः। अमूः अधुना अपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते॥ २७॥

व्याख्या--त्रिदशीभिः = देवीभिः, निमीलनभ्रंशजुषा = मुद्रणनिवृत्तिसेविन्या, निमेषव्यापारशून्यया इति भावः। एतादृश्या दृशा = दृष्टया, तं = नलं भृशम् = अत्यर्थं, निपीय = पानं कृत्वा, प्रणयाऽतिशयेन दृष्ट्वेति भावः। यः = अभ्यासभरः, अर्जितः = उपार्जितः। अमूः = त्रिदश्यः, देव्य इत्यर्थः। अधुना अपि = इदानीम् अपि, निमेषनिःस्वैः = निमेषव्यापाररहितैः, लोचनैः = नेत्रैः, तम्=पूर्वोपार्जितम्, अभ्यासभरम्=अनुशीलनोत्कर्षं, विवृण्वते=प्रकटयन्ति। २७।

अनुवादः--देवियोंने निर्निमेष दृष्टिसे उनको देखकर जो अतिशय अभ्यासको अर्जित किया था वे लोग अभी भी निमेषरहित दृष्टियोंसे उसको अभिव्यक्त कर रही है॥ २७॥

टिप्पणी--त्रिदशीभिः = तिस्रो (बाल्यकौमारयौवनाख्या) दशा येषां ते त्रिदशाः (बहु०)। त्रिदशानां स्त्रियः त्रिदश्यः, ताभिः "पुंयोगादाख्यायाम्"

इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय वा त्रिदशजातो भवास्त्रिदश्यः, ताभिः "जातरस्त्रीविषया-दयोपधात्" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय। निमीलनभ्रंशजुषा = निमीलनस्य भ्रंशः (ष० त०), तं जुषत इति निमीलनभ्रंशजुट्, तया, निमीलभ्रंश + जुष् + क्विप् + टा (उपपद०)। निपीय = नि + पा + क्त्वा (ल्यप्)। अर्जितः = "अर्ज अर्जने" धातुसे कर्ममें क्तप्रत्यय। निमेषनिःस्वैः = निर्गतः स्वः (धनम्) येभ्यः तानि (बहु०)। निमेषेसु निःस्वानि, तैः (स० त०)। अभ्यासभरम् = अभ्यासस्य भरः, तम् (ष० त०)। "अथाऽतिशयो भरः" इत्यमरः। विवृण्वते = वि — उपसर्गपूर्वक "वृञ् वरणे" धातुसे लट् + श। इस पद्यमें देवियों की नलको देखनेकी अभ्यासवासनासे निर्निमेषताकी उत्प्रेक्षा है, वह इव आदि शब्दोंका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ २७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाऽफलम्।

इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदाऽऽत्मनः॥ २८॥

अन्वयः—चक्षुःश्रवसां प्रियाः अदः नः दृशोः द्वयं तदाकर्णि (सत्) फलाढ्य-जीवितं, तदवीक्षि (सत्) अफलं च इति नले आत्मनः हृदा तत् स्तुवन्ति स्म निन्दन्ति स्म च॥ २८॥

व्याख्या—चक्षुःश्रवसां=सर्पाणां, प्रियाः = वल्लभाः सर्प्यः इत्यर्थः। अदः= इदं, नः = अस्माकं, दृशोः = नेत्रयोः, द्वयं = द्वितयं, दृग्द्वयमित्यर्थः। तदाकर्णि = नलश्रवणशीलं सत्, फलाढ्यजीवितं=सफलजीवितं, वर्तत इति शेषः। एवं च तदवीक्षि = नलाऽवेक्षणरहितं सत्, अफलं च = निष्फलं च, इति =अस्माद्धेतोः, नले = नैषधविषये, आत्मनः = स्वस्य, तत् = दृशोर्द्वयं, स्तुवन्ति स्म = प्रशंसन्ति स्म, नलाकर्णित्वेनेति शेषः। निन्दन्ति स्म च = जुगुप्सन्ते च नलाऽवीक्षित्वे-नेति शेषः॥ २८॥

अनुवादः—सर्पोंकी स्त्रियाँ ये हमारी दो आँखें नलके गुणोंको सुनाती हैं, इसलिए इनका जीवन सफल है, नलको देखनेसे ये निष्फल भी हैं इस प्रकारसे वे (सर्पोंकी स्त्रियाँ) नलके विषयमें अपनी आँखोंकी स्तुति और निन्दा भी करती हैं॥ २८॥

टिप्पणी—चक्षुःश्रवसां = चक्षुषी एव श्रवसी येषां ते चक्षुःश्रवसः, तेषाम् (बहु०), सर्पके चक्षु (नेत्र) ही कान हैं, इसलिए उन्हें "चक्षुःश्रवाः" कहा गया है। परन्तु जब वे चक्षुसे देखते हैं तब सुनते नहीं, जब सुनते हैं तो देखते नहीं, इसी बातको लेकर उनकी नलके विषयमें स्तुति और निन्दाका प्रकाशन

किया गया है। "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवा, काकोदरः फणी।" इत्यमरः। नः = अस्मद् + आम् (नस्) "बहुवचनस्य वस्नसौ" इससे नस् आदेश। द्वयं = द्वि + तयप् (अयच्)। तदाकर्णि = तम् आकर्णयतीति, तद् + अम् + आङ् + कर्ण + णिनि + सु। फलाढ्यजीवितं = फलेन आढ्यम् (तृ० त०), तादृशं जीवितं यस्य तत् (बहु०)। तदवीक्षि = वीक्षते तच्छीलं वीक्षि, वि + ईक्ष + णिनिः (उपपद०) न वीक्षि अवीक्षि (नञ्०)। तस्य अवीक्षि (ष० त०)। अफलम् = अविद्यमानं फलं यस्य तत् (नञ् बहु०)। नले = विषयमें सप्तमी। आत्मनः = आत्मन् + शस् (कर्म)। स्तुवन्ति स्म = "ष्टुञ् स्तुतौ" धातुसे "स्म" के योगमें लट् स्मे" इससे भूतकालमें लट्। निन्दन्ति स्म = "णिदि कुत्सायाम्" धातुसे 'स्म' के योग में पहलेके समान लट्। इस पद्यमें यथासंख्य और वैसी स्तुति और निन्दाके सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अजस्रभावनाबलात् नेत्रनिमीलनेषु अपि अमुं विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि ॥ २९ ॥

व्याख्या—अजस्रभावनाबलात्=निरन्तरचिन्तनशक्तेः, नेत्रनिमीलनेषु अपि= नयनमुद्रणेषु अपि, अमुं = नलं, विलोकयन्तीभिः = पश्यन्तीभिः, मनसेति शेषः। तादृशीभिः मर्त्याभिः = मानुषीभिः स्त्रीभिः, अमुष्य = नलस्य, दर्शने=विलोकने, निमेषनिर्मितः=नेत्रनिमीलनरचितः, विघ्नलेशः अपि=अन्तरायलवः अपि, न अलम्भि = नो लब्धः ॥ २९ ॥

अनुवादः—निरन्तर चिन्तनकी शक्तिसे आँखोंको मूँदनेपर भी नलको देखने वाली मर्त्यलोककी स्त्रियोंने नलको देखनेमें निमेषसे उत्पन्न विघ्नका लेश भी नहीं पाया ॥ २९ ॥

टिप्पणी—अजस्रभावनाबलात्=भावनाया बलम् (ष० त०)। अजस्रं (यथा तथा) भावनाबलं, तस्मात् (सुप्सुपा०)। हेतुमें पञ्चमी। नेत्रनिमीलनेषु= नेत्रयो निमीलनानि, तेषु (ष० त०)। विलोकयन्तीभिः=वि+लोक+णिच् + लट् (शतृ) + ङीप्। मर्त्याभिः = मर्त्य शब्दके योपध होनेसे "जातेरस्त्री०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् न होकर सामान्य स्त्रीत्वमें टाप् प्रत्यय। दर्शने=दृश् + ल्युट् + ङि निमेषनिर्मितः=निमेषेण निर्मितः (तृ० त०)। विघ्नलेशः = विघ्नस्य लेशः

(ष० त०)। "विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः। अलम्भि="डुलभष् प्राप्तौ" धातुसे कर्ममें लुङ्, "विभाषा चिण्णमुलोः" इस सूत्रसे नुम् हुआ है। इस पद्यमें मनुष्य-स्त्रियोंकी सब अवस्थाओंमें नलदर्शनका सम्बन्ध न होनेपर भी उसका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है॥ २९॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं, जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम्।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्॥ ३०॥

अन्वयः—का निशि स्वप्नगतं तं न ददर्श। का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद। का च रते तदात्मताध्यातधवा (सती) स्वमनोभवोद्भवं न चकार॥३०॥

व्याख्या—का = स्त्री, निशि = रात्रौ, स्वप्नगतं = स्वापप्राप्तं, तं = नलं, न ददर्श = नो दृष्टवती, अपि तु सर्वा अपि ददर्शेति भावः। का च = स्त्री, गोत्रस्खलिते = नामविपर्यासे, तं = नलं, न जगाद = नो बभाषे, अपि तु सर्वा एव जगाद इति भावः। का च = स्त्री, रते =सुरतकेलौ; तदात्मताध्यातधवा = नलरूपचिन्तितभर्तृका सती, स्वमनोभवोद्भवं = निजचित्तकामोत्पत्ति, न चकार =न कृतवती, अपि तु सर्वा एव चकारेति भावः॥ ३०॥

अनुवाद:—किस स्त्रीने रातमें स्वप्नमें उन्हें नहीं देखा? किस स्त्रीने नामके उच्चारणकी भ्रान्तिसे उनका नाम नहीं लिया? किस स्त्रीने रतिक्रीडामें नलके रूपमें अपने पतिकी चिन्ता कर अपने चित्तमें कामदेवको प्रकट नहीं किया।

टिप्पणी—स्वप्नगतं = स्वप्नं गतः, तम् (द्वि० त०)। ददर्श = दृश्+लिट्+तिप्। गोत्रस्खलिते = गोत्रस्य स्खलितं, तस्मिन् (ष० त०)। "गोत्रं नाम्न्यचले कुले" इत्यमरः। तदात्मताध्यातधवा = तस्य (नलस्य) आत्मा (स्वरूपम्) यस्य सः तदात्मा (व्यधिकरण बहु०)। तदात्मनोभावस्तदात्मता, तदात्मन्+तल्+टाप्। ध्यातः धवः यया सा (बहु०)। "धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता" इत्यमरः। तदात्मतया ध्यातधवा (तृ० त०) स्वमनोभवोद्भवं = स्वस्य मनोभवः (ष० त०)। तस्य उद्भवः, तम् (ष० त०) चकार = कृ+लिट्+तिप्। इस पद्यमें अतिशयोक्ति अलङ्कार है॥ ३०॥

श्रियाऽस्य योग्याऽहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः॥ ३१॥

अन्वयः—भैमीं विहाय कया सुरूपया तम् आलोक्य "श्रिया अहम् अस्य योग्या" इति स्वम् ईक्षितुं करे धृतः दर्पणः अपदर्पया (सत्या) श्वासमलीमसः न कृतः?॥ ३१॥

व्याख्या—भैमीं = दमयन्तीं, विहाय = त्यक्त्वा, कया, सुरूपया = सुन्दर्या, तं = नलम्, आलोक्य, श्रिया = शोभया, अहम्, अस्य = नलस्य, योग्या = अनुरूपा, इति = एवं, विचार्येति शेषः स्वम् = आत्मानम्, ईक्षितुं = द्रष्टुं, करे = हस्ते, धृतः = गृहीतः, दर्पणः = आदर्शः, अपदर्पया = गताऽभिमानया सत्या, श्वासमलीमसः = निःश्वासमलिनः, न कृतः = नो विहितः, भैमीं विहाय सर्वथा निःश्वासवातेन दर्पणो मलिनीकृत इति भावः ॥ ३१ ॥

अनुवादः—दमयन्तीको छोड़कर किस सुन्दरीने नलको देखकर "शोभासे मैं इनके अनुरूप हूँ" ऐसा विचार कर अपने रूपको देखनेके लिए हाथमें लिये हुए दर्पणको दर्पहीन होकर निःश्वास वायुसे मलिन नहीं बनाया ? ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—भैमीं = भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, ताम् भीम + अण् + ङीप् । विहाय = वि + हा + क्त्वा (ल्यप्) । सुरूपया = शोभनं रूपं यस्या सा सुरूपा तया (बहु०) । आलोक्य = आङ् + लोक् + क्त्वा (ल्यप्) । योग्या = योगाय प्रभवतीति, योग शब्दसे "योगाद्यच्च" इति सूत्रसे यत् प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । ईक्षितुम् = ईक्ष् + तुमुन् । धृतः = धृञ् + क्तः । दर्पणः = "दर्पणे मुकुरादर्शौ" इत्यमरः । अपदर्पया = अपगत दर्पः यस्या सा तया (बहु०) । श्वासमलीमसः = श्वासैः मलीमसः (तृ० त०) । "मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम् ।" इत्यमरः । कृतः = कृ + क्तः (कर्ममें) । इस पद्यमें भी अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलाऽवरुद्धं वयसैव वेशितः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यथा भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः अनलाऽवरुद्धं वैरोचनिजस्य पत्तनं प्रसह्य वेशितः खलु । तथा भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः नलाऽवरुद्धं विदर्भजाया मनः प्रसह्य वेशितः खलु ॥ ३२ ॥

"आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः" इति नियमेन नले भैम्याः पूर्वरागं प्रस्तौति – यथेति ।

व्याख्या—यथा = येन प्रकारेण, भोगभोजिना = सर्पशरीरभोक्त्रा, वयसा एव = पक्षिणा एव, गरुडेनेत्यर्थः । उह्यमानः = प्राप्यमाणः, मदनः = कामः प्रद्युम्न इत्यर्थः । अनलाऽवरुद्धम् = अग्निपरिवृतं, वैरोचनिजस्य = बाणाऽसुरस्य, पत्तनं = नगरं, शोणितपुरमिति भावः । प्रसह्य = बलेन, वेशितः = प्रवेशितः,

खलु = निश्चयेन । तथा=तेन प्रकारेण, भोगभोजिना = सुखाऽनुभाविना, वयसा एव = अवस्थया एव, तारुण्येन एवेत्यर्थः=ऊह्यमानः । वितर्क्यमाणः, मदनः = कामः, नलाऽवरुद्धं, नैषधसम्बद्धं, विदर्भजाया = वैदर्भ्याः, दमयन्त्या इति भावः । मनः = चित्तं, प्रसह्य = बलेन । वेशितः = प्रवेशितः, खलु = निश्चयेन । नलस्य गुणगणश्रवणोत्तरं दमयन्त्या मनसि यौवनेनैव नलविषयकः कामावेशः प्रापित इति भावः ।। ३२ ।।

अनुवादः—जैसे सर्पके शरीरको खानेवाले पक्षी गरुडने ही अग्निसे परिवेष्टित बाणाऽसुरके नगर (शोणितपुर) में प्रद्युम्न (कामदेव) को बलसे प्रवेश कराया वैसे ही सुखका अनुभव करनेवाली अवस्था (जवानी) ने ही सखीजनोंसे तर्कित कामदेवको नलकी चिन्ता करनेवाली दमयन्तीके मनमें बलसे प्रवेश कराया ।। ३२ ।।

टिप्पणी—इस पद्यमें "आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।" अलङ्कारशास्त्रके इस नियमके अनुसार नलमें दमयन्तीके पूर्वरागको पहले प्रस्तुत किया है । भोगभोजिना = भोगम् (सर्पशरीरम्) भुनक्तीति भोगभोजी, तेन, भोग + भुज् + णिनिः (उपपद०) । "अहेः शरीरं भोगः स्यात्" इति "भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः ।" इति चाऽमरः । वयसा = "खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः । उह्यमानः = उह्यत इति, "वह प्रापणे" धातुसे कर्ममें लट् (शानच्) । अनलाऽवरुद्धम् = अनलेन अवरुद्धम्, तत् (तृ० त०) । वैरोचनिजस्य = विरोचनस्य (प्रह्लादपुत्रस्य) अपत्य पुमान् वैरोचनिः (बलिः), विरोचन + इञ् । वैरोचनेः जातः वैरोचनिजः, तस्य । "पञ्चम्यामजातौ" इस सूत्रसे वैरोचनि = उपपदपूर्वक जन् धातुसे ड प्रत्यय (उपपद०) । पत्तनं = "पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम् ।" इत्यमरः । यह कर्म है । प्रसह्य = प्र + सह् + क्त्वा (ल्यप्) । वेशितः = विश् + णिच् + क्तः । ऊह्यमानः = ऊह्यत इति, "ऊह वितर्के" इस धातुसे कर्ममें लट् (शानच्) । नलाऽवरुद्धं = नलेन अवरुद्धं तत् (तृ० त०) । विदर्भजायाः = विदर्भेषु जायत इति विदर्भजा, तस्याः, विदर्भ + जन् + ड + टाप् + ङस् । (उपपद०) । उस पद्यमें "यथोह्यमानः" "मनोनलः ०" यहाँपर शब्दश्लेष और अन्यत्र "भोगभोजिना" "वयसा" यहाँपर अर्थश्लेष है । श्लिष्ट विशेषणवाली यह उपमा वयोरूप द्व्यर्थक दो पदोंका अभेदाऽध्यवसायमूलक अतिशयोक्तिसे अनुप्राणित है अतः सङ्कर अलङ्कार है ।

पौराणिक कथा—उषाकी सखी चित्रलेखाने बाणाऽसुरकी कुमारी उषासे स्वप्नमें देखे गये अनिरुद्धको योगबलसे लाकर उषासे समागम कराया। बाणाऽसुरने यह वृत्तान्त जानकर अनिरुद्धको बन्दी बनाया। नारदसे इस बातको जानकर कृष्ण, बलराम और प्रद्युम्नने गरुडपर सवार होकर शोणितपुरमें प्रवेश कर बाणाऽसुरको संग्राममें जीतकर अनिरुद्धको छुड़ाया—यह कथा श्रीमद्भागवत महापुराणमें है ॥ ३२ ॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदाम् अनुरूपे तस्मिन् नृपे बहुशः श्रुतिगते विशिष्य मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः दिदेश ॥ ३३ ॥

सम्प्रति दमयन्त्याश्चित्तासङ्गाख्यां द्वितीयावस्थां प्रतिपादयति – नृप इति।

व्याख्या—सा = पूर्वोक्ता, भीमनरेन्द्रनन्दना = भीमभूपतनया, दमयन्तीत्यर्थः, निजरूपसम्पदां=स्वसौन्दर्यसम्पत्तीनाम्, अनुरूपे=योग्ये, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, नृपे= राजनि, नल इत्यर्थः। बहुशः = अनेकवारं, श्रुतिं = श्रवणगोचरं, गते = प्राप्ते सति। विशिष्य = अतिशयेन, मनोभवाज्ञैकवशंवदं = कामदेवादेशैकाधीनं, मनः = चित्तं, दिदेश = अर्पितवती, नलं प्रति चित्तं निदधाविति भावः ॥ ३३ ॥

अनुवाद।—दमयन्तीने अपनी रूपसम्पत्तियोंके योग्य नलके बारम्बार कर्ण-गोचर होनेपर विशेषतया कामदेवकी आज्ञाके एकमात्र अधीन अपने मनको उनमें लगाया ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—भीमनरेन्द्रनन्दना = नन्दयतीति नन्दना, "टुनदि समृद्धौ" धातुसे णिच् होकर "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इस सूत्रसे ल्यु (अन) प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप्। भीमश्चाऽसौ नरेन्द्रः (क० धा०)। भीमनरेन्द्रस्य नन्दना (ष० त०)। निजरूपसम्पदां = रूपं च सम्पदश्च (द्वन्द्वः)। निजाश्च ता रूपसम्पदः तासाम् (क० धा०)। अनुरूपे = रूपस्य योग्यम् अनुरूपम् "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे योग्यता-रूप यथाके अर्थमें समास होकर, अनुरूपम् अस्याऽस्ति इति "अर्शआदिभ्योऽच्" इससे अच् प्रत्यय। नृपे = नॄन् पातीति नृपः, तस्मिन्, नृ + पा + कः (उपपद०)। बहुशः = बहून् वारान्, बहु शब्दसे "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इस सूत्रसे शस् प्रत्यय। यह पद अव्यय है। विशिष्य = वि-उपसर्गपूर्वक "शिष्लृ विशेषणे" धातुसे क्त्वाके स्थानमें ल्यप् आदेश। मनोभवाज्ञैकवशंवदं = मनोभवस्य आज्ञा (ष० त०)। वशं वदतीति

वशंवदं, वश-उपपद पूर्वक वद धातुसे "प्रियवशे वदः खच्" इससे खच् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इस सूत्रसे मुम् आगम हुआ है (उपपद०)। एकं च तद् वशंवदम् (क० धा०)। मनोभवाज्ञाया एकवशंवदं, तत् (ष० त०)। इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें छेकाऽनुप्रास और वृत्त्यनुप्रासका एक आश्रयमें अनुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः--सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितुः उपासनाम् एत्य रज्यते स्म । तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु नलं शृण्वती अलं विनिद्ररोमा अजनि ॥ ३४ ॥

अथ दमयन्त्याः श्रवणाऽनुरागं श्लोकचतुष्टयेन प्रतिपादयति–उपासनामिति ।

व्याख्या—सा = दमयन्ती, दिने दिने = प्रतिदिनम्, वन्दिनां = स्तुतिपाठकानाम्, अवसरेषु = प्रसङ्गेषु, स्तुतिपाठस्येति शेषः । पितुः = जनकस्य, भीमभूपालस्येति भावः, उपासनां = सेवाम्, एत्य = प्राप्य, रज्यते स्म = अनुरक्ता बभूव । तेषु = वन्दिषु, भूपतीन् = राज्ञः, प्रति पठत्सु = वदत्सु, स्तुतिकर्मत्वेनेति शेषः । नलं = नैषधं, शृण्वती = आकर्णयन्ती सती, अलम् = अत्यर्थं, विनिद्ररोमा = रोमाञ्चयुक्ता, अजनि = जाता, दमयन्ती नलगुणाकर्णनाऽनन्तरं साऽतिशयं सञ्जातपुलकाऽभूदिति भावः । एतेन भैम्या वन्दिमुखेभ्यो नायकगुणगणाकर्णनं वर्णितम् ।

अनुवादः—दमयन्ती प्रतिदिन स्तुतिपाठकोंके स्तुतिपाठके अवसरोंमें पिताकी सेवाके लिए उपस्थित होकर नलके प्रति अनुरक्त होती थीं; जब वे राजाओंका स्तुतिपाठ करते थे उस समय नलके गुणोंको सुननेपर दमयन्ती अतिशय रोमाञ्चयुक्त हो जाती थीं ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—दिने दिने = वीप्सामें द्विरुक्ति । वन्दिनां = वन्दन्ते (स्तुवन्ति) इति वन्दिनः, तेषां "वदि अभिवादनस्तुत्योः" इस धातुसे ग्रह्यादिगणमें पठित होनेसे णिनि । "वन्दिनः स्तुतिपाठकाः" इत्यमरः । अवसरेषु = "प्रसङ्गः स्यादवसरः" इत्यमरः । उपासनाम् = उपासनम् उपासना, ताम् उप-उपसर्गपूर्वक "आस्" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् और टाप् । एत्य = आङ् + इण + क्त्वा (ल्यप्) रज्यते स्म = "रन्ज रागे" धातुसे लट्, "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इस सूत्रसे नकारका लोप । 'स्म' का योग होनेसे "लट् स्मे" इस सूत्रसे भूतार्थमें लट् । भूपतीन् = भुवः पतयः, तान् (ष० त०)। "प्रति" के

योगमें "अभितः-परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि" इससे द्वितीया। पठत्सु = पठन्तीति पठन्तः, तेषु, पठ+लट् (शतृ)+सुप्। 'यस्य च भावेन भावलक्षणाम्' इससे सप्तमी। शृण्वती = शृणोतीति, श्रु+लट् (शतृ)+ङीप्। अलं = "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्।" इत्यमरः। विनिद्ररोमा = विगता निद्रा येभ्यस्तानि विनिद्राणि (बहु०)। विनिद्राणि रोमाणि यस्याः सा (बहु०)। अजनि = "जनी प्रादुर्भावे" धातुसे लुङ् "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" इससे 'च्लि' के स्थानमें चिण्। "जनिवध्योश्च" इससे वृद्धिका निषेध। इस पद्यमें विनिद्ररोमत्व (रोमाञ्च)-रूप सात्त्विक भावके उदयसे भावोदय अलङ्कार है॥ ३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयताऽनया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥ ३५॥

अन्वयः—तन्व्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् नलनामनि तृणे अपि श्रुते द्रुतम् अन्यत् विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत॥ ३५॥

व्याख्या—तन्व्या = कृशशरीरया, अनया = दमयन्त्या, मिथः = रहसि परस्परं वा, कथाप्रसङ्गेषु = वार्तालापाऽवसरेषु, सखीमुखात् = वयस्याऽऽननात्, नलनामनि = नलनामधेये, तृणे अपि = अर्जुने अपि, श्रुते = आकर्णिते, द्रुतं = शीघ्रम्, अन्यत्=अपरं, कार्यं कथान्तरं वा, विधूय = परित्यज्य, मुदा = हर्षेण, तदाकर्णनसज्जकर्णया = नलश्रवणतत्परश्रोत्रया, अभूयत = भूतम्॥ ३५॥

अनुवादः—कृश शरीरवाली दमयन्तीने परस्परमें वार्तालापके अवसरोंमें सखीके मुखसे "नल" नामवाले तृण (खश-खश) के सुननेपर भी झटपट सब काम छोड़कर हर्षसे नलके श्रवणमें कर्णोंको तत्पर बनाया॥ ३५॥

टिप्पणी—तन्व्या = "तनु" शब्दसे "वोतो गुणवचनात्" इस सूत्रसे विकल्पसे ङीष्। कथाप्रसङ्गेषु=कथायाः प्रसङ्गाः, तेषु (ष० त०)। सखीमुखात् = सख्या मुखं, तस्मात् (ष० त०)। नलनामनि = नलं नाम यस्य तत् नलनाम, तस्मिन् (बहु०) "नलः पोटगले राज्ञि" इति विश्वः। तृणे="तृणमर्जुनम्" इत्यमरः। श्रुते = श्रु+क्त+ङि। द्रुतं = "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः। अन्यत् = "अन्य" शब्दसे अम्में "अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" इस सूत्रसे अद्ड् आदेश। विधूय = वि+धू+क्त्वा (ल्यप्)। तदाकर्णनसज्जकर्णया =तस्य आकर्णनम् (ष० त०)। सज्जौ कर्णौ यस्याः सा सज्जकर्णा (बहु०)। तदाकर्णने सज्जकर्णा, तया (स० त०)। अभूयत="भू सत्तायाम्" धातुसे

भावमें लङ् "सार्वधातुके यक्" इससे यक्। इस पद्यमें औत्सुक्य और हर्ष ये दो व्यभिचारिभाव नलविषयक रति भावके अङ्ग हुए हैं; इस कारणसे भावसन्धि अलंकार है ॥ ३५ ॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।

जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—"परासोः अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् उदाहर" इति सा यूनः स्तुवता जनेन तदास्पदे निदर्शनं नैषधम् अभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—परासोः=मृतात्, अत एव अनिमेषलोचनात्=निमेषरहितनेत्रात्, देवाच्चेति गम्यते, स्मरात् = कामात्, बिभेमि = भीता भवामि, अतः तद्भिन्नं= स्मरभिन्नं जनम्, उदाहर=वद, इति = इत्थं, सा = दमयन्ती, यूनः = तरुणान् जनान्, स्तुवता=प्रशंसता, जनेन=सखीजनेन, तदास्पदे=स्मरस्थाने, निदर्शनं= दृष्टान्तभूतं, नैषधं = नलम्, अभ्यषेचयत् = अभिषेचितवती, दमयन्ती स्मर-स्थाने परमसुन्दरनरत्वेन नलं स्थापयामासेति भावः ॥ ३६ ॥

अनुवादः—"मरे हुए अत एव निमेषहीन नेत्रोंवाले कामदेवसे मैं डर जाती हूँ, इसलिए कामदेवसे भिन्न पुरुषका उदाहरण दो" ऐसा कहकर दमयन्तीने सुन्दर तरुणोंकी तारीफ करनेवाली सखीके द्वारा कामदेवके स्थानमें दृष्टान्तभूत नलको स्थापित किया ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—पराऽसोः=परागता असवो यस्मात्स पराऽसुः, तस्मात् (बहु०)। अनिमेषलोचनात्=अविद्यमानौ निमेषौ ययोस्ते अनिमेषे (नञ् बहु०)। अनिमेषे लोचने यस्य, तस्मात् (बहु०)। स्मरात्="कामः पञ्चशरः स्मरः" इत्यमरः। "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादान संज्ञा होनेसे पञ्चमी। बिभेमि = "ञिभी भये" इस धातुसे लट्+मिप्। तद्भिन्नं = तस्मात् भिन्नः, तम् (ष० त०)। उदाहर = उद्+आङ्-उपसर्गपूर्वक "हृञ् हरणे" धातुसे लोट्+सिप्। यूनः = युवन्+शस्, "श्वयुवमघोनामतद्धिते" इस सूत्रसे सम्प्रसारण, "वयःस्थस्तरुणो युवा" इत्यमरः। स्तुवता=स्तौति इति स्तुवन्, तेन "ष्टुञ् स्तुतौ" इस धातुसे लट्के स्थानमें शतृ+टा। तदास्पदे=तस्य आस्पदं, तस्मिन् (ष० त०)। "आस्पदम्" इसमें "आस्पदं प्रतिष्ठायाम्" इस सूत्रसे सुट्का निपातन। निदर्शनं= नि+दृश्+ल्युट्। नैषधं = निषधानामयं नैषधः, तम् 'तस्येदम्" इससे अण् प्रत्यय और 'तद्धितेष्वचामादेः" इससे आदि वृद्धि। यहाँपर निषधानां राजा ऐसा विग्रह करेंगे तो न आदिमें होनेसे "जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्" इस सूत्रको बाधित

कर "कुरुनादिभ्यो ण्यः" इससे ण्य प्रत्यय होकर "नैषध्यः" ऐसा रूप बनेगा। अभ्यषेचयत् = अभि–उपसर्गपूर्वक णिजन्त "षिच क्षरणे" धातुसे लङ् + तिप् "प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि" इससे षत्व हुआ है। इस पद्यमें अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ३६ ॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान्मिषेण दूतद्विजबन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथामथाऽनया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अनया निषधागता दूतद्विजबन्दिचारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टाः अथ तत्कीर्तिकथां निपीय चिराय विमनायमानया तस्थे ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अनया = दमयन्त्या, निषधागता = निषधेभ्यः आयाताः, दूतद्विजबन्दिचारणाः = सन्देशहरब्राह्मणस्तुतिपाठकनटाः, मिषेण = व्याजेन, नलस्य = नैषध्यस्य, गुणान् = सौन्दर्यशौर्यादीन्, पृष्टाः = अनुयुक्ताः, अथ = अनन्तरं, तत्कीर्तिकथां = नलयशोवर्णनं, निपीय = पानं कृत्वा, प्रणयाऽतिशयेन श्रुत्वेति भावः। चिराय = बहुकालपर्यन्तं, विमनायमानया = अन्तर्मनायमानया सत्या, तस्थे = स्थितम् ॥ ३७ ॥

अनुवादः—दमयन्तीने निषध देशसे आये हुए दूत, ब्राह्मण, स्तुतिपाठक और नटोंसे किसी बहानेसे नलके गुणोंको पूछा, तब नलकी कीर्ति-कथाका पान कर वे बहुत समयतक अनमनी-सी हो जाती थीं ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—अनया = अनुक्त कर्तामें तृतीया। निषधागता = निषधेभ्य आगताः (पं० त०)। दूतद्विजबन्दिचारणाः = दूताश्च द्विजाश्च बन्दिनश्चचारणाश्च (द्वन्द्वः)। यह गौणकर्म है "स्यात्सन्देशहरो दूतः" इति "भरता इत्यपि नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः।" इत्यप्यमरः। पृष्टाः = प्रच्छ + क्तः। कर्ममें क्त प्रत्यय। तत्कीर्तिकथां = तस्य कीर्तिः (ष० त०), तस्याः कथा, ताम् (ष० त०)। निपीय = नि + पा + क्त्वा (ल्यप्)। चिराय = "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः।" इत्यमरः। यह अव्यय है। विमनायमानया = विगतं मनो यस्याः सा (बहु०) "दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यात्" इत्यमरः। विमना इव आचरतीति विमनायमाना, तया। विमनस् शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय 'स' का लोप, "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" इससे दीर्घत्व और ङित् होनेसे 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इससे आत्मनेपद होकर लट्के स्थानमें शानच् + टाप् + टा। तस्थे = स्था धातुसे भावमें लिट्। इस पद्यमें चिन्ता नामक व्यभिचारि भावका उदय होनेसे भावोदय अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाऽधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥ ३८ ॥

अन्वयः—"अधिलीलागृहभित्ति कौ अपि त्रिजगज्जयिश्रियौ प्रियं प्रियां च लिख" इति सा कारुतरेण लेखितं नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

अथ दमयन्त्याः कान्तप्रतिकृतिदर्शनरूपं विनोदोपायमुपस्थापयति-प्रियमिति ।

व्याख्या—अधिलीलागृहभित्ति = विलासभवनकुडचे, कौ अपि = कौ चित्, अनिर्दिष्टनामधेयौ, त्रिजगज्जयिश्रियौ = लोकत्रयविजयिशोभौ, प्रियं = नायकं, प्रियां = नायिकां च, लिख = चित्रीकुरु, इति = इत्थम्, आदिश्येति शेषः । सा= दमयन्ती, कारुतरेण = कुशलचित्रकरेण, लेखितं = चित्रितं, नलस्य = नैषधस्य स्वस्य च = आत्मनश्च, सख्यं = सखित्वं, चित्ररूपे सहस्थितिमिति भावः । ईक्षते स्म = अद्राक्षीत् ॥ ३८ ॥

अनुवादः—"विलास भवनकी दीवारपर तीन लोकोंको जीतनेवाली शोभा-वाले किन्हीं नायिका और नायकको लिखो" इस प्रकार आज्ञा देकर दमयन्ती कुशल चित्रकारसे लिखे गये चित्रमें नल और अपनी सहस्थितिको देखती थीं ।

टिप्पणी—अधिलीलागृहभित्ति = लीलाया गृहं (ष० त०), तस्य भित्तिः (ष० त०) "भित्तिः स्त्री कुडयम्" इत्यमरः। लीलागृहभित्तौ इति अधिलीला-गृहभित्ति, "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव० । कौ = का च कश्च कौ, तौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष । त्रिजगज्जयिश्रियौ= त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत्, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे समास, उसकी "संख्यापूर्वो द्विगुः" इस सूत्रसे द्विगुसंज्ञा । त्रिजगत् जयतीति तच्छीला त्रिजगज्जयिनी, त्रिजगत्-उपपदपूर्वक "जि जये" धातुमे "जिदृक्षिवि-श्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय । त्रिजगज्जयिनी श्रीर्ययोस्तौ, तौ (बहु०) । प्रियं = प्रीणातीति प्रियः, तं, "प्रीञ् तर्पणे" धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय । लिख = "लिख अक्षरविन्यासे" धातुसे विधि अर्थमें लोट्+सिप् । कारुतरेण = कुर्वन्तीति कारवः, कृ धातुसे "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्" इस उणादिसूत्रसे उण् प्रत्यय, कारुः"शिल्पी" इत्यमरः । अतिशयेन कारुः कारुतरः (तरप् प्रत्यय) तेन, लेखितं, लिख+ णिच्+क्तः । सख्यं = सख्युर्भावः, तद् "सख्युर्यः इस सूत्रसे सखि शब्दसे य प्रत्यय । ईक्षते स्म = ईक्ष + लट्+त, "स्मे लट्" इस सूत्रसे 'स्म'के योगमें भूत अर्थमें लट् ॥ ३८ ॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति ?
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनाऽतिथिम् ॥ ३९ ॥

अन्वय:—स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं क्व निशि न पश्यति स्म ? सुप्तिः अदृष्टवैभवात् अदृष्टम् अपि अर्थं जनदर्शनाऽतिथिं करोति ॥ ३९ ॥

व्याख्या--स्वपती = निद्राती, सा = दमयन्ती, मनोरथेन = अभिलाषेण, स्वपतीकृतम् = निजनाथीकृतं, नलं = नैषधं, क्व = कुत्र, निशि = रात्रौ, न पश्यति स्म = नो दृष्टवती, सर्वस्यां रात्रावपि ददर्शेति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति। सुप्तिः = स्वप्नः, अदृष्टवैभवात् = धर्माऽधर्मप्रभावात् अदृष्टम् अपि = अविलोकितम् अपि, अर्थं = पदार्थं, जनदर्शनाऽतिथिं = लोकविलोकनगोचरं, करोति = विदधाति, स्वप्नरूपेण दर्शयतीति भावः ॥ ३९ ॥

अनुवादः--सोती हुई वे (दमयन्ती) अभिलाषसे अपने पति बनाये गये नलको किस रातमें नहीं देखती थीं। स्वप्न धर्म और अधर्मके प्रभावसे नहीं देखे गये पदार्थको भी जनोंका दर्शनगोचर बनाता है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—स्वपति = "ञि ष्वप शये" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप्। स्वपतीकृतं = स्वस्य पतिः (ष० त०)। अस्वपतिः स्वपतिर्यथासंपद्यते तथा कृतः स्वपतीकृतः, तम्। स्वपति+च्वि+कृ+क्तः। क्व कस्यामिति, "किमोऽत्" इस सूत्रसे "किम्" शब्दसे अत् और "क्वाऽति" इससे 'किम्'के स्थानमें क्व आदेश। पश्यति स्म = दृश (पश्य)+लट्+तिप्, 'स्म' के योगमें भूतकालमें लट्। सुप्तिः = स्वप्नं, "ञिष्वप शये" धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इससे क्तिन् और सम्प्रसारण अदृष्टवैभवात् = न दृष्टम् अदृष्टम् (नञ्०) धर्म और अधर्म। अदृष्टस्य वैभवं, तस्मात् (ष० त०)। अदृष्टं = न दृष्टः, तम् (नञ्०)। अर्थम = "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु।" इत्यमरः। जनदर्शनाऽतिथिं = जनानां दर्शनम् (ष० त०), तस्य अतिथिः, तम् (ष० त०)। करोति = कृ+लट्+तिप्। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाऽप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

अन्वयः निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदः अपि संगोप्य कदाऽपि अवीक्षितः अस्याः महत् रहस्यं स महीपतिः अदर्शि ॥ ४० ॥

व्याख्या—निद्रया = स्वापेन, निमीलितात् = मुद्रितात्, अक्षियुगात्=नेत्र-

युगलात्, बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बहिरिन्द्रियाऽव्यापारनिमीलितात्, हृदः अपि = मनसः अपि, संगोप्य=सम्यग् गोपयित्वा, कदाऽपि = कस्मिन्नपि काले, अवीक्षितः = अदृष्टः, अस्याः = दमयन्त्याः, महत् = महत्वपूर्णं, रहस्यं = गोपनीय वस्तु, सः = पूर्वोक्तः, महीपतिः=राजा नल इत्यर्थः । अदर्शि = दर्शितः ॥४०॥

अनुवाद--नींदसे मूंदे गये दो नेत्रसे बाह्य इन्द्रियके व्यापारभावसे निष्क्रिय अन्तःकरण (मन) से भी छिपाकर कभी भी नहीं देखे गये इन (दमयन्ती) के अत्यन्त गोपनीय महाराज नलको निद्राने दमयन्तीको दिखाया ॥४०॥

टिप्पणी—निमीलितात् = नि + मील + क्तः (कर्ममें) । अक्षियुगात् = अक्ष्णोः युगं, तस्मात् (ष० त०) । बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बहिर्भवानि बाह्यानि, बहिस् शब्दसे "बहिषष्टिलोपो यञ्च" इस सूत्रसे यञ् प्रत्यय और 'टि' (इस्) का लोप हुआ है । बाह्यानि च तानि इन्द्रियाणि (क० धा०) । मुनेर्भावो मौनम्, 'मुनि' शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इस सुत्रसे अण् प्रत्यय । बाह्येन्द्रियाणां मौनम् (ष० त०), तेन मुद्रितं, तस्मात् (तृ० त०) । हृदः="चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।" इत्यमरः । संगोप्य = सम्-उपसर्गपूर्वक "गुपूरक्षणे" धातुसे 'क्त्वा' के स्थानमें ल्यप् । अवीक्षितः=न वीक्षितः (नञ्०) । रहस्यं = रहसि भवं, रहस्-शब्दसे "तत्र भवः" इस सूत्रसे यत् । महीपतिः = मह्याः पतिः (ष० त०) । अदर्शि = दृश् + णिच् + लुङ् ॥ ४० ॥

अहो ! अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभराम्बभूविरे ॥ ४१ ॥

अन्वयः – अहो ! स्मराऽर्दितां तां प्रति हिमागमे अपि अहोभिः महिमा अतिप्रपेदे, तपर्तुपूर्तौ अपि विभावरीभिः मेदसां भरा बिभराम्बभूविरे ॥ ४१ ॥

व्याख्या – अहो = आश्चर्यम्, स्मराऽर्दितां = कामपीडितां, तां प्रति=दमयन्तीं प्रति, हिमागमे अपि । हेमन्ते अपि = अहोभिः = दिनैः, महिमा=महत्त्वं, दैर्घ्यमिति भावः । अतिप्रपेदे = अतिशयेन प्राप्तः, तपर्तुपूर्तौ अपि = ग्रीष्मर्तुपूरणे अपि, विभावरीभिः = रात्रिभिः, मेदसां = वसानां, भराः = अतिशयाः, दैर्घ्यरूपा इति भावः । बिभराम्बभूविरे = धृताः । हेमन्ते दिनानि ह्रस्वानि, ग्रीष्मे रात्रयो ह्रस्वा भवन्ति परं नलवियोगपीडितायाः दमयन्त्याः कृते हेमन्ते दिनानि दीर्घाणि, ग्रीष्मर्तौ रात्रयो दीर्घरूपाः प्रतीयन्ते स्मेति भावः ॥ ४१ ॥

अनुवादः--आश्चर्य है ! कामदेवसे पीडित दमयन्तीके लिए हेमन्त ऋतुमें

भी दिन लम्बेसे प्रतीत होते थे, ग्रीष्म ऋतुमें भी रात्रियोंसे दीर्घताका धारण किया जाता था ।। ४१ ।।

टिप्पणी——अहो="अहो हीति विस्मये" इत्यमरः । ओकाराऽन्त निपात है, इसलिए "अहो अहोभिः" यहाँपर "ओत्" इस सूत्रसे 'अहो' पदको प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होनेसे पूर्वरूप नहीं हुआ । स्मरार्दितां = स्मरेण अर्दिता, ताम् (तृ० त०) । तां = "प्रति" इस पदके योगमें "अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि" इससे द्वितीया हुई है । हिमाऽऽगमे = हिमस्य आगमः, तस्मिन् (ष० त०) । अहोभिः = "घस्रो दिनाऽह्नी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ ।" इत्यमरः । महिमा = महतः भावः, महत्-शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय, यह पुलिङ्ग शब्द है । अतिप्रपेदे = अति + प्र + पद + लिट् + त (कर्ममें) । तपर्तुपूर्तौ = तपश्चाऽसौ ऋतुः तपर्तुः (क० धा०), "आद्गुणः" इससे "उरण् रपरः" इसके सहकारमें अर् गुण । "निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः ।" इत्यमरः । तपर्तोः पूर्तिः, तस्याम् (ष० त०) । विभावरीभिः="विभावरीतमस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी ।" इत्यमरः । मेदसां = "मेदस्तु वपा वसा" इत्यमरः । "मेद" पदसे चरबीका बोध होता है । विभराम्बभूविरे = "डुभृञ् धारणपोषणयोः" इस धातुसे कर्ममें लिट् + झ, "भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च" इससे श्लुवद्भाव होनेसे द्वित्व हुआ है । इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो विरोधाभास हैं, निरपेक्षतासे उनकी स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार है । इस पद्यसे दमयन्तीकी निरन्तर चिन्ता और रातमें जागरण प्रतीत होता है ।। ४१ ।।

साम्प्रतं नलस्यापि दमयन्त्यामनुरागं सूचयति—

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद् गुणोत्करम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः——नलः अपि कदाचित् लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनम् अस्या गुणोत्करम् अश्रृणोत ॥ ४२ ॥

व्याख्या——नलः अपि = नैषधः अपि, कदाचित् = जातुचित्, लोकात् = जनात्, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = आत्मसौन्दर्ययशःसमूहमुक्तामालायाः, अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अभ्यन्तरगुम्फनसूत्रशोभां, श्रयन्तम् = आश्रयन्तं, युवधैर्यलोपिनं = तरुणधीरत्वनाशकम्, अस्याः = दमयन्त्याः, गुणोत्करं = सौन्दर्यसौशील्यादिगुणसमूहम्, अश्रृणोत् = श्रुतवान् ॥ ४२ ॥

अनुवादः—नलने भी किसी समय लोगोंसे अपने सौन्दर्यके यशःसमूहरूप हारके भीतर गुम्फनके लिए सूत्रकी शोभा करनेवाले और युवकोंके धैर्यको हटानेवाले दमयन्तीके गुणगणको सुना ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—लोकात् = हेतुमें पञ्चमी 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = स्वस्य कान्तिः (ष० त०) कीर्तीनां व्रजः (ष० त०)। स्वकान्तेः कीर्तिव्रजः (ष० त०)। मौक्तिकानां स्रक् (ष० त०)। स्वकान्तिकीर्तिव्रज एव मौक्तिकस्रक् (रूपक०), तस्याः। अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अन्तः घटना (सुप्सुपा०)। अन्तर्घटनायाः गुणः (ष० त०), तस्य श्रीः, ताम् (ष० त०)। श्रयन्तं = श्रयतीति श्रयन्, तम्, श्रि + लट् + शतृ + अम्। युवधैर्यलोपिनं = यूनां धैर्यम् (ष० त०)। युवधैर्यं लुम्पतीति युवधैर्यलोपी, तम्। युवधैर्य + लुप + णिनिः (उपपद०)। गुणोत्करं = गुणानाम् उत्करः, तम् (ष० त०)। अशृणोत् = "श्रु श्रवणे" धातुसे लङ् + तिप्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

तमेव लब्ध्वाऽवसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः।

अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तम् एव अवसरं लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुम् इयेष ॥ ४३ ॥

अथ नलस्य दमयन्त्यां रागोदयं वर्णयति-तमेवेति।

व्याख्या-ततः = अनन्तरं, नलकर्तृकदमयन्तीगुणश्रवणाऽनन्तरमिति भावः। शरीरशोभाजयजातमत्सरः = स्वदेहसौन्दर्यविजयोत्पन्नविद्वेषः, स्मरः = कामः, तम् एव = नलकृतदमयन्तीगुणश्रवणात्मकम् एव, अवसरं = प्रसङ्गं, लब्ध्वा = प्राप्य, मूर्तया = मूर्तिमत्या, निजया = स्वकीयया अमोघशक्त्या इव = अकुण्ठसामर्थ्येन इव, तया = दमयन्त्या, करणभूतयेति भावः। नैषधं = नलं, विनिर्जेतुं = पराभवितुम्, इयेष = ऐच्छत्, शत्रवो रन्ध्राऽन्वेषणपरायणा भवन्तीति भावः ॥ ४३ ॥

अनुवादः—तब अपने शरीरके सौन्दर्यको जीतनेसे विद्वेषसे युक्त कामदेवने उसी अवसरको पाकर मूर्तिमती अपनी सफल शक्तिके समान दमयन्तीके द्वारा ही नलको जीतनेकी इच्छा की ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—शरीरशोभाजयजातमत्सरः = शरीरस्य शोभा (ष० त०)। तस्या जयः (ष० त०)। जातः मत्सरः यस्य सः। (बहु०)। शरीरशोभाजयेन जातमत्सरः (हेतुमें तृतीया और तृ० त०)। लब्ध्वा = लभ् + क्त्वा। अमोघ-

शक्त्या = अमोघा चाऽसौ शक्तिः तया (क० धा०) । नैषधं = निषध + अण् । विनिर्जेतुम् = वि + निर् + जि + तुमुन् । इयेष = "इषु इच्छायाम्" धातुसे लिट् + तिप् । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। ४३ ।।

अकारि तेन श्रवणाऽतिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः ।

तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ।। ४४ ।।

अन्वयः—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः गुणः श्रवणाऽतिथिः अकारि, तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः गुणः श्रवणाऽतिथिः अकारि ।। ४४ ।

व्याख्या--तेन = पूर्वोक्तेन, क्षमाभुजा = राज्ञा, नलेनेत्यर्थः । भीमनृपात्मजाऽऽश्रयः=दमयन्तीनिष्ठः, गुणः=सौन्दर्यवैदुष्याऽऽदिः, श्रवणाऽतिथिः=श्रोत्रेन्द्रियागन्तुकः, कर्णविषय इति भावः । अकारि = कृतः, नलेन दमयन्त्या गुणगणः श्रुतः इति भावः । ततः तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = नलोन्नतधीरताविनाशार्थं संयोजितबाणेन, स्मरेण च = कामदेवेन च, स्वात्मशरासनाश्रयः = निजदृढधनुर्निष्ठः गुणः = मौर्वी, श्रवणाऽतिथिः = श्रोत्रेन्द्रियागन्तुकः, अकारि = कृतः, कामदेवेन नलविजयार्थं स्वचापारोपितो गुण आकर्णं कृष्ट इति भावः ।। ४४ ।।

अनुवादः—महाराज नलने दमयन्तीमें रहनेवाले सौन्दर्य और वैदुष्य आदि गुणोंको अपने कानोंका अतिथि बनाया अर्थात् दमयन्तीके गुणोंको सुना । नलके उन्नत धैर्यका नाश करनेके लिए धनुमें बाणका सन्धान करनेवाले कामदेवने अपने दृढ़ धनुमें चढ़ायी गयी प्रत्यञ्चाको कानोंतक खींचा ।। ४४ ।।

टिप्पणी--क्षमाभुजा=क्षमां भुनक्तीति क्षमाभुक्, तेन, क्षमा + भुज् + क्विप् । भीमनृपात्मजाश्रयः=भीमश्चाऽसौ नृपः (क० धा०), तस्य आत्मजा (ष० त०)। भीमनृपात्मजा आश्रयः यस्य सः (बहु०)। श्रवणाऽतिथिः = श्रवणयोः अतिथिः (ष० त०)। अकारि = कृ + लुङ् (कर्ममें)। तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = उच्चं च तत् धैर्यम् (क० धा०)। उच्चधैर्यस्य व्ययः (ष० त०)। तस्य उच्चधैर्यव्ययः (ष० त०)। संहितः इषुः येन सः (बहु०)। तदुच्चधैर्यव्ययाय संहितेषुः, तेन (च० त०)। स्वात्मशरासनाश्रयः = आत्मनः शरासनम् (ष० त०)। शोभनम् आत्मशरासनम् "कुगतिप्रादयः" इससे गतिसमास । स्वात्मशरासनम् आश्रयः यस्य सः (बहु०) । गुणः = "मौर्वीज्या शिञ्जिनी गुणः" इत्यमरः । श्रवणातिथिः = श्रवणयोः अतिथिः (ष० त०)। अकारि = कृ + लुङ् + त (कर्ममें)। इस पद्यमें 'अकारि"

इस एक क्रियाके साथ नल और स्मर इन दोनों प्रस्तुतोंकी कर्तृतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है और "स्वात्मशरासनाश्रयः" इस पदमें स्व और आत्मन् शब्दके प्रयोगसे पहले पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पीछेसे सु-(शोभन) आत्मशरासन ऐसे अर्थकी प्रतीति होनेसे पुनरुक्तवदाभास अलंकार है, उसका लक्षण है—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्याऽवभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ।। १०.२ (सा० द०) ।

इस प्रकार दो अलंकारोंकी संसृष्टि है ।। ४४ ।।

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ।। ४५ ।।

अन्वयः—साहसी स्मरः धीरस्य अमुष्य जयाय तदा ज्यां विशिखैः सनाथयन् त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि यशांसि संशये निमज्जयामास खलु ।।४५ ।।

व्याख्या—साहसी = साहसकरः, स्मरः = कामदेवः, धीरस्य = धैर्ययुक्तस्य, अमुष्य = नलस्य, जयाय = विजयाय, तदा = तस्मिन् समये, ज्यां = मौर्वीं, विशिखैः = बाणैः, सनाथयन् = सनाथां कुर्वन्, संयोजयन्नित्यर्थः । त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि = त्रिभुवनजयोपार्जितानि अपि, यशांसि = कीर्तीः, संशये = सन्देहे; निमज्जयामास = स्थापयामास, खलु = निश्चयेन, त्रिभुवनविजेताऽपि कामः नलविजयार्थं प्रवर्तमानः सन् "सोऽयं कामः नलविजये समर्थो भवेन्नवेति संशयपात्रं बभूवे" ति भावः ।। ४५ ।।

अनुवाद—साहसी कामदेवने धैर्यशाली नलको जीतनेके लिए उस समय प्रत्यञ्चामें बाणोंको चढ़ाकर तीन लोकोंको जीतकर उपार्जित अपने यशको संशयमें डाल दिया ।। ४५ ।।

टिप्पणी—साहसी साहसम् अस्यास्तीति, साहस शब्दसे "अत इनिठनौ" इससे इनि प्रत्यय । "न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति" इस न्यायसे विलम्ब नहीं करता हुआ यह तात्पर्य है । जयाय = क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी । सनाथयन् = नाथैः सहिता सनाथा (तुल्ययोग बहु०) । सनाथां कुर्वन्, "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्रसे णिच् प्रत्यय होकर लट्के स्थानमें शतृ आदेश । त्रिलोकीविजयार्जितानि = त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इससे समास, "संख्यापूर्वो द्विगुः इससे उसकी द्विगुसंज्ञा और "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इससे स्त्रीलिङ्ग

होनेसे "द्विगोः" इस सूत्रसे ङीप्। त्रिलोक्या विजयः (ष० त०)। तेन अजितानि, तानि (तृ० त०)। निमज्जयामास = नि-उपसर्गपूर्वक "टुमस्जो शुद्धौ" इस धातुसे णिच् होकर लिट्+तिप्। कामदेवके उक्त संशयसे सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्धका प्रतिपादन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्।

अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः दैवयोगात्कामस्य नलविजयोद्यमः सफल इति प्रतिपादयति—अनेनेति। अनेन भैमीं घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया तत् तथा व्यलासि। यत् पौष्पैः अपि अनङ्गमार्गणैः अस्य तादृक् तत् धैर्यकञ्चुकम् अभेदि ॥ ४६ ॥

व्याख्या--अनेन = नलेन सह, भैमीं = दमयन्तीं, घटयिष्यतः = संयोजयिष्यतः, विधेः = ब्रह्मणः; अवन्ध्येच्छतया = अमोघाऽभिलाषत्वेन, तत्, तथा=तेन प्रकारेण, व्यलासि = विलसितम्। यत् पौष्पैः अपि = पुष्पमयैः अपि, न तु कठिनैरिति भावः। अनङ्गमार्गणैः = अनङ्गबाणैः न तु अङ्गिबाणैः, अस्य = नलस्य, तादृक् = अतिकठोरम्, तत् = प्रसिद्धं, धैर्यकञ्चुकं = धीरत्वकवचम्, अभेदि = भिन्नम्। विधेरभिलाषसाफल्येनाऽनङ्गस्य कुसुमरूपैरपि बाणैर्नलस्य धैर्यकवचं भिन्नमिति भावः ॥ ४६ ॥

अनुवादः—नलके साथ दमयन्तीका संयोग करानेवाले ब्रह्माजीकी इच्छाके अमोघ होनेसे ऐसा हुआ कि कामदेवके वैसे पुष्पमय बाणोंसे भी नलका धैर्यरूप कवच भिन्न हो गया ॥ ४६ ॥

टिप्पणी – अनेन = "सह युक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे सहका योग गम्यमान होनेपर भी तृतीया। भैमीं = भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, ताम्, भीम + अण् + ङीप् + अम् घटयिष्यतः = घट + णिच् + लृट् + (शतृ) + ङस्। अवन्ध्येच्छतया = न वन्ध्या (नञ् तत्पु०), अवन्ध्या इच्छा यस्य सः (बहु०)। अवन्ध्येच्छस्य भावः अवन्ध्येच्छता, तया (अवन्ध्येच्छ + तल् + टाप् + टा)। व्यलासि = वि + लस + लुङ् (भावमें)। पौष्पैः = पुष्पाणाम् इमे, तैः (पुष्प + अण् + भिस्)। अनङ्गमार्गणैः = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य सः अनङ्गः (नञ् बहु०) "कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः।" इत्यमरः। अनङ्गस्य मार्गणाः, तैः (ष० त०)। तादृक् = तदिव दृश्यते इति, तद्-उपपदपूर्वक दृश् धातुसे "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय और "आ सर्वनाम्नः" इस सूत्रसे आत्व। धैर्यकञ्चुकं=धैर्यम् एव कञ्चुकम्, "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे

रूपकसमास। "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री" इत्यमरः। अभेदि = भिदिर् विदारणे इस धातुसे कर्ममें लुङ्। इस पद्यमें पुष्पमय बाणोंसे कञ्चुकके भेदमें विरोधकी प्रतीति होती है, विधिकी अवन्ध्य इच्छासे उसका परिहार होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है। धैर्यमें कञ्चुकका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है। इस प्रकार रूपक और विरोधाभासका अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ४६॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।

स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः॥ ४७॥

अन्वय.—अहो! अन्यत् किम्? यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजम् आश्रयति। स नलः आत्मनः तनुच्छायतया तं स्मरं लङ्घितुं न शशाक (इति) शङ्के॥ ४७॥

व्याख्या—अहो = आश्चर्यम्, अन्यत् = अपरं, किं = किम् उच्यते, यदस्त्रतापितः = यस्य (स्मरस्य) आयुधसन्तापितः, पितामहः = ब्रह्मा, अद्यापि = इदानीम् अपि, वारिजं = कमलम्, आश्रयति = अवलम्बते, कामसन्तापाऽपनयार्थं कमलासनमधिवसतीति भावः। सः पूर्वोक्तः, नलः, आत्मनः = स्वस्य, तनुच्छायतया = शरीरकान्तिमत्त्वेन अथवा शरीरच्छायत्वेन, तं = पूर्वोक्तं, स्मरं = कामदेवं, लङ्घितुम् = अतिक्रमितुं, न शशाक न समर्थो बभूव, इति, शङ्के = शङ्कां, करोमि, स्वसदृशः आत्मच्छाया वा लङ्घितुं न शक्यत इति भावः॥ ४७॥

अनुवाद:—आश्चर्य है। और क्या कहना है? जिस कामदेवके अस्त्रसे तापित ब्रह्माजी आज भी कमलका आश्रय ले रहे हैं। महाराज नल अपने शरीरकी कान्तिके सदृश होनेसे वा अपने शरीरकी छाया होनेसे कामदेवको लङ्घन करनेके लिए समर्थ नहीं हुए मैं ऐसा समझता हूं॥ ४७॥

टिप्पणी—यदस्त्रतापितः = यस्य (स्मरस्य) अस्त्राणि (ष० त०), तैः तापितः (तृ० त०)। पितामहः = पितुः पिता, "पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इससे निपातन, "मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्" इस वार्तिकसे पितृ शब्दसे डामहच् प्रत्यय। वारिजं = वारिणि जातं तत्, वारि + जन् + ड + अम्। आश्रयति = आङ् + श्रिञ + लट् + तिप्। तनुच्छायतया = तनोः इव छाया (कान्ति) यस्य सः (व्यधिकरण बहु०)। अथवा आत्मनः छाया आत्मच्छायं, "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इससे विकल्पसे नपुंसकलिङ्गता। "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति वैजयन्ती। तनुच्छायस्य भावः, तत्ता तया, तनुच्छाय + तल् + टाप् + टा। लङ्घितुं = लघि + तुमुन्। शशाक = शक + लिट् + तिप्।

होनेसे "द्विगोः" इस सूत्रसे ङीप् । त्रिलोक्या विजयः (ष० त०)। तेन अर्जितानि, तानि (तृ० त०)। निमज्जयामास = नि-उपसर्गपूर्वक "टुमस्जो शुद्धौ" इस धातुसे णिच् होकर लिट् + तिप् । कामदेवके उक्त संशयसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः दैवयोगात्कामस्य नलविजयोद्यमः सफल इति प्रतिपादयति—अनेनेति । अनेन भैमीं घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया तत् तथा व्यलासि । यत् पौष्पैः अपि अनङ्गमार्गणैः अस्य तादृक् तत् धैर्यकञ्चुकम् अभेदि ॥ ४६ ॥

व्याख्या--अनेन = नलेन सह, भैमीं = दमयन्तीं, घटयिष्यतः = संयोजयिष्यतः, विधेः = ब्रह्मणः; अवन्ध्येच्छतया = अमोघाऽभिलाषत्वेन, तत्, तथा=तेन प्रकारेण, व्यलासि = विलसितम् । यत् पौष्पैः अपि = पुष्पमयैः अपि, न तु कठिनैरिति भावः । अनङ्गमार्गणैः = अनङ्गबाणैः न तु अङ्गबाणैः, अस्य = नलस्य, तादृक् = अतिकठोरम्, तत् = प्रसिद्धं, धैर्यकञ्चुकं = धीरत्वकवचम्, अभेदि = भिन्नम् । विधेरभिलाषसाफल्येनाऽनङ्गस्य कुसुमरूपैरपि बाणैर्नलस्य धैर्यकवचं भिन्नमिति भावः ॥ ४६ ॥

अनुवाद:—नलके साथ दमयन्तीका संयोग करानेवाले ब्रह्माजीकी इच्छाके अमोघ होनेसे ऐसा हुआ कि कामदेवके वैसे पुष्पमय बाणोंसे भी नलका धैर्यरूप कवच भिन्न हो गया ॥ ४६ ॥

टिप्पणी - अनेन = "सह युक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे सहका योग गम्यमान होनेपर भी तृतीया । भैमीं = भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, ताम्, भीम + अण् + ङीप् + अम् घटयिष्यतः = घट + णिच् + लृट + (शतृ) + ङस् । अवन्ध्येच्छतया = न वन्ध्या (नञ् तत्पु०), अवन्ध्या इच्छा यस्य सः (बहु०)। अवन्ध्येच्छस्य भावः अवन्ध्येच्छता, तया (अवन्ध्येच्छ + तल् + टाप् + टा)। व्यलासि = वि + लस + लुङ् (भावमें) । पौष्पैः = पुष्पाणाम् इमे, तैः (पुष्प + अण् + भिस्) । अनङ्गमार्गणैः = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य सः अनङ्गः (नञ् बहु०) "कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः ।" इत्यमरः । अनङ्गस्य मार्गणाः, तैः (ष० त०)। तादृक् = तदिव दृश्यते इति, तद-उपपदपूर्वक दृश् धातुसे "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय और "आ सर्वनाम्नः" इस सूत्रसे आत्व । धैर्यकञ्चुकं=धैर्यम् एव कञ्चुकम्, "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे

रूपकसमास । "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री" इत्यमरः । अभेदि = भिदिर् विदारणे इस धातुसे कर्ममें लुङ् । इस पद्यमें पुष्पमय बाणोंसे कञ्चुकके भेदमें विरोधकी प्रतीति होती है, विधिकी अवन्ध्य इच्छासे उसका परिहार होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है । धैर्यमें कञ्चुकका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है । इस प्रकार रूपक और विरोधाभासका अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।

स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥ ४७ ॥

अन्वय.—अहो ! अन्यत् किम् ? यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजम् आश्रयति । स नलः आत्मनः तनुच्छायतया तं स्मरं लङ्घितुं न शशाक (इति) शङ्के ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अहो = आश्चर्यम्, अन्यत् = अपरं, किं = किम् उच्यते, यदस्त्र-तापितः = यस्य (स्मरस्य) आयुधसन्तापितः, पितामहः = ब्रह्मा, अद्यापि = इदानीम् अपि, वारिजं = कमलम्, आश्रयति = अवलम्बते, कामसन्तापाऽपनयार्थं कमलासनमधिवसतीति भावः । सः पूर्वोक्तः, नलः, आत्मनः = स्वस्य, तनुच्छा-यतया = शरीरकान्तिमत्त्वेन अथवा शरीरच्छायत्वेन, तं = पूर्वोक्तं, स्मरं = कामदेवं, लङ्घितुम् = अतिक्रमितुं, न शशाक न समर्थो बभूव, इति, शङ्के=शङ्कां, करोमि, स्वसदृशः आत्मच्छाया वा लङ्घितुं न शक्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवाद:—आश्चर्य है । और क्या कहना है ? जिस कामदेवके अस्त्रसे तापित ब्रह्माजी आज भी कमलका आश्रय ले रहे हैं । महाराज नल अपने शरीर की कान्तिके सदृश होनेसे वा अपने शरीरकी छाया होनेसे कामदेवको लङ्घन करनेके लिए समर्थ नहीं हुए मैं ऐसा समझता हूं ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—यदस्त्रतापितः = यस्य (स्मरस्य) अस्त्राणि (ष० त०), तैः तापितः (तृ० त०) । पितामहः = पितुः पिता, "पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इससे निपातन, "मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्" इस वार्तिकसे पितृ शब्दसे डामहच् प्रत्यय । वारिजं = वारिणि जातं तत्, वारि + जन् + ड + अम् । आश्रयति = आङ् + श्रिञ + लट् + तिप् । तनुच्छायतया = तनोः इव छाया (कान्ति) यस्य सः (व्यधिकरण बहु०) । अथवा आत्मनः छाया आत्मच्छायं, "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इससे विकल्पसे नपुंसकलिङ्गता । "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति वैजयन्ती । तनुच्छायस्य भावः, तत्ता, तया, तनुच्छाय + तल् + टाप् + टा । लङ्घितुं = लघि + तुमुन् । शशाक = शक + लिट् + तिप् ।

शङ्के = शकि + लट् + त । इस पद्यमें अर्थापत्ति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इन तीनों अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयःकृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—तन्वी सा त्रपासरिद्दुर्गम् अपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं यत् विवेश तत् वयःकृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं किम् ? ॥ ४८ ॥

व्याख्या—तन्वी = कृशाऽङ्गी, सा=दमयन्ती, त्रपासरिद्दुर्गम् अपि = लज्जा-नदीदुर्गमस्थलम् अपि, प्रतीर्य = प्रकर्षेण तीर्त्वा, नलस्य = नैषधस्य, हृदयं=मनः, यत्, विवेश = प्रविष्टवती, तत् = नलहृदयप्रवेशनं, वयःकृतेन = यौवनविहितेन, नवोपहारेण = नूतनोपायनरूपेण, उरोभुवा = वक्षःस्थलोत्पन्नेन; कुम्भयुगेन = कलशयुग्मेन, कुचयुगलरूपेणेति शेषः, जृम्भितं किम् = विलसितं किमु ॥ ४८ ॥

अनुवाद:—कृशाऽङ्गी दमयन्तीने लज्जारूप नदी दुर्गको भी पार कर नलके हृदयमें जो प्रवेश किया वह यौवनसे किये गये उपहाररूप छातीमें उत्पन्न दो कुचकलशोंने विलास किया है क्या ? ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—त्रपासरिद्दुर्गं = त्रपा एव सरित् (रूपक०), "मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा" इत्यमरः । त्रपासरित् एव दुर्गं, तत् (रूपक०) । प्रतीर्य = प्र + तॄ + क्त्वा (ल्यप्)। विवेश = "विश प्रवेशने" धातुसे लिट् + तिप् । वयः-(क० धा०) । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा ।" इत्यमरः । उरोभुवा = उरसि भवतीति, तेन, उरस् + भू + क्विप (उपपद०) । कुम्भयुगेन = कुम्भयोः युगं, तेन (ष० त०) । जृम्भितं = "जृभि गात्रविनामे" इस धातुसे क्त प्रत्यय (भावमें) । इस पद्यमें अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और रूपक इनकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥ ४९ ॥

अन्वयः—निजाम् अधीरतां जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं, तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला निशा शय्या च अबोधि ॥ ४९ ॥

अधुना नलस्य जागराऽवस्थां प्रतिपादयति—अपह्नुवानस्येति ।

व्याख्या—निजां = स्वकीयाम्, अधीरताम् = अधैर्यं, चपलतामिति भावः । जनाय = लोकाय, अपह्नुवानस्य = अपलपतः, अस्य=नलस्य, मनोभुवा = काम

देवेन, यत् = जागरप्रलापादिकं, कृतं = विहितं, तत्, जागरदुःखसाक्षिणी = अनिद्रापीडायाः साक्षाद्द्रष्ट्री, शशाऽङ्ककोमला = चन्द्रमृदुला, शीतलेति भावः। निशा =रात्रिः, शशाङ्ककोमला, शय्या च = शयनीयं च, अबोधि = ज्ञातवती। निशा शय्या च नलजागरदुःखसाक्षिणीति भावः ॥ ४९ ॥

अनुवादः--अपनी अधीरताको लोकसे छिपानेवाले राजा नलका कामदेवने जो किया उसको उनके जागरणके दुःखकी साक्षिणी चन्द्रसे कोमल (शीतल) रात और चन्द्रके समान कोमल शय्या भी जानती थी ॥ ४९ ॥

टिप्पणी --अधीरता = न धीरता, ताम् (नञ् त०) । जनाय = "अपह्नुवानस्य" इस ह्नुञ् धातुके योगमें "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमान" इस सूत्रसे सम्प्रदानसंज्ञा होनेसे चतुर्थी। अपह्नुवानस्य = अपह्नुत इति अपह्नुवानः, तस्य, अप-उपसर्गपूर्वक "ह्नुङ् अपनयने" इस धातुसे लट्के स्थानमें शानच् आदेश। मनोभुवा = मनसि भवतीति मनोभूः, तेन, मनस् + भू + क्विप् + टा। जागर-दुःखसाक्षिणी = जागरणं जागरः, "जागृ निद्राक्षये" धातुसे घञ् प्रत्यय। जागरे दुःखम् (स० त०)। साक्षाद्द्रष्ट्री साक्षिणी, "साक्षात्" शब्दसे "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इससे इनि प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप्। जागरदुःखस्य साक्षिणी (ष० त०)। शशाऽङ्ककोमला = शशः अङ्कः यस्य सः शशाङ्कः (बहु०)। शशाङ्केन कोमला (तृ० त०), यह विग्रह निशाके विशेषणमें है। शशाङ्क इव कोमला, "उपमानानि सामान्यवचनैः" इससे समास। यह विग्रह शय्याके विशेषणमें है। शय्या = शेते अस्याम् इति, "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय और "अयङ् यि क्ङिति" इससे अयङ् आदेश। अबोधि = बुध् + लुङ् + त (कर्तामें)। यहाँ तुल्ययोगिता और उपमा अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ ५०॥

अन्वयः --प्रभुः स भृशं स्मरोपतप्तः अपि विदर्भराजं तनयां न अयाचत। मानिनः असून् शर्म च त्यजन्ति वरम्, तु एकम् अयाचितव्रतं न त्यजन्ति ॥५०॥

व्याख्या--प्रभुः = समर्थः, सः = नलः, भृशम् = अत्यर्थं, स्मरोपतप्तः अपि = कामसन्तप्तः अपि, विदर्भराजं = भीमनृपं, तनयां = पुत्रीं, तत्पुत्रीं दमयन्तीमिति भावः, न अयाचत = नो याचितवान्। तथा हि-मानिनः = अभिमानिनः, मन-स्विन इत्यर्थः। असून् = प्राणान्, शर्म च = सुखं च, त्यजन्ति = जहति, वरं = प्राणसुख-

त्यागोऽपि मनाक् प्रियः, तु = किन्तु, एकम् = अद्वितीयम्, अयाचितव्रतम् = अयाचनानियमं तु, न त्यजन्ति = नो जहति, मनस्विनां प्राणादित्यागदुःखादपि याचनादुखं दुःसहं भवतीति भावः ।। ५० ।।

अनुवादः--समर्थ महाराज नलने अतिशय कामपीडित होकर भी विदर्भराज भीमसे उनकी पुत्री दमयन्तीको नहीं मांगा। क्योंकि मनस्वी पुरुष प्राणोंको और सुखको भी छोड़ देते हैं, यह त्याग भी कुछ उत्कर्ष ही है परन्तु एक अयाचित व्रतको नहीं छोड़ते हैं ।। ५० ।।

टिप्पणी--स्मरोपतप्तः = स्मरेण उपतप्तः (तृ० त०)। विदर्भराजं = विदर्भाणां राजा विदर्भराजः, तम् (ष० त०)। "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् प्रत्यय। "अयाचत" इस "याच्" धातुका "अकथितं च" इससे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। यह गौण कर्म है। तनयाम् = यह मुख्य कर्म है। अयाचत = "याचृ याच्ञायाम्" धातुसे लङ् + त। मानिनः = मान + इनि + जस्। असून् = "पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः" इत्यमरः। वरं = "देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक् प्रिये।" इत्यमरः। अयाचितव्रतं = याचनं याचितम्, 'याच्' धातुसे "नपुंसके भावे क्तः" इससे क्त प्रत्यय। न याचितम् (नञ्तत्पु०)। अयाचितं च तद्व्रतम् (क० धा०)। त्यजन्ति + त्यज् + लट् + झि। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार और तुल्ययोगिताका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ।। ५० ।।

मृषाविषादाऽभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याऽधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ।। ५१ ।।

अन्वयः--अयं क्वचित् मृषाविषादाऽभिनयात् वियोगजां निःश्वासततिं जुगोप। विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् पाण्डुतां च अपललाप ।। ५१ ।।

व्याख्या--अयं = नलः, क्वचित् = कुत्रचित् विषये मृषाविषादाऽभिनयात् = मिथ्याखेदप्रकाशनात्, वियोगजां = भैमीविरहोत्पन्नां, निःश्वासततिं = निःश्वासपरम्परां, जुगोप = गोपितवान्, संववारेत्यर्थः। विलेपनस्य = चन्दनादिलेपनद्रव्यस्य, अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = अतिरिक्तकर्पूरांऽशताज्ञापनात्, पाण्डुतां च = शरीरपाण्डिमानं च, अपललाप = अपलपितवान् ।। ५१ ।।

अनुवादः--नलने किसी विषयमें मिथ्याखेदको प्रकाशित करके दमयन्तीके वियोगसे उत्पन्न निःश्वासपरम्पराको छिपाया। चन्दन आदि लेपनद्रव्यमें ज्यादा कर्पूरका भाग पड़ गया है ऐसा कहकर शरीरकी पाण्डुताको छिपाया ।। ५१ ।।

टिप्पणी—मृषाविषादाऽभिनयात् = मृषा चाऽसौ विषादः (क० धा०)। 'मृषा' यह अव्यय है। मृषाविषादस्य अभिनयः, तस्मात् (ष० त०), "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" इस सूत्रसे हेतुमें पञ्चमी। वियोगजां = वियोगात् जाता, ताम्, वियोग-उपपदपूर्वक 'जन्' धातुसे "पञ्चम्यामजातौ" इस सूत्र से ड प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप्। निःश्वासततिं = निश्वासानां ततिः, ताम् (ष० त०)। जुगोप = "गुपू रक्षणे" धातुसे लिट् + तिप्। अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = चन्द्रस्य भागः (ष० त०)। "घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका।" इत्यमरः। अधिकश्चाऽसौ चन्द्रभागः (क० धा०), तस्य भावः तत्ता अधिक-चन्द्रभाग + तल् + टाप्। अधिकचन्द्रभागताया विभावनं, तस्मात् (ष० त०), पहलेके सूत्रसे हेतुमें पञ्चमी। पाण्डुतां = पाण्डोर्भावः, तां, पाण्डु + तल् + टाप् + अम्। "हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरः। अपललाप = अप-उपसर्गपूर्वक "लप व्यक्तायां वाचि" धातुसे लिट् + तिप्। "अपलापस्तु निह्नवः" इत्यमरः। इस पद्यमें व्याजोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्याऽपि वस्तुनः।" सा० द० १०-१२०।

शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवाऽऽलपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च॥ ५२॥

अन्वयः अयम् अलीकवीक्षितां प्रियां यत् बभाषे, वैणिकैः पञ्चममूर्च्छनासु आलपितासु समाज एव च यत् मुमूर्च्छ; तत् अनेन निह्नोतुं शशाक॥ ५२॥

व्याख्या—नलस्य प्रलापाख्यां कामदशां प्रतिपादयति—शशाकेति। अयं = नलः, अलीकवीक्षितां = मिथ्याऽवलोकितां, प्रियां = वल्लभां, दमयन्तीमित्यर्थः। यत्, बभाषे = भाषितवान्, निरन्तरध्यानवशात्पुरः संप्राप्तां विदित्वेति शेषः। वैणिकैः=वीणावादकैः, पञ्चममूर्च्छनासु = पञ्चमस्वरमूर्च्छासु, आलपितासु=पुनः पुनर्गीतासु सतीषु, समाजे एव च = सभास्थितजनसमूहे एव च, यत् = यस्मात्कारणात्, मुमूर्च्छ = मूर्च्छां प्राप, स्फुटतां न प्रापेति भावः। तत् = भाषणम्, अनेन= प्रकारेण, निह्नोतुं = गोपायितुं, शशाक = समर्थो बभूव॥ ५२॥

अनुवादः—इन्होंने भ्रमसे देखी गयी प्रिया (दमयन्ती) को जो कहा, बीन बजानेवालों के पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाओंके आलाप करनेपर जनसमूहमें ही जिससे स्फुट नहीं हुआ इस कारणसे उसे छिपानेके लिए नल समर्थ हुए॥ ५२॥

टिप्पणी—अलीकवीक्षिताम् = अलीकम् (यथा तथा) वीक्षिता, ताम् (सुप्सुपा०) बभाषे = भाष + लिट् + त। वैणिकैः = वीणावादनं शिल्पं (क्रिया-

कौशलम्) येषां ते वैणिकाः, तैः, "शिल्पम्" इस सूत्रसे ठञ् । पञ्चममूर्च्छनासु= पञ्चमस्य मूर्च्छनाः, तासु (ष० त०) । तन्त्री (तार) और कण्ठसे उत्पन्न होनेवाले शुद्ध स्वर सात प्रकारके होते हैं, जैसे कि—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद । स्वरोंके आरोह और अवरोहके क्रमको "मूर्छना" कहते हैं । मूर्च्छनाके इक्कीस भेद होते हैं । आलपितासु = आङ् + लप् + क्त + टाप् + सुप् । यत् = यद्-शब्दका प्रतिरूपक अव्यय । मुमूर्च्छ= "मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः" इस धातुसे लिट् + तिप् । निह्नोतुं = नि, उपसर्ग-पूर्वक "ह्नुङ् अपनयने" धातुसे "समानकर्तृकेषु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय । शशाक = "शक्लृ मर्षणे" धातुसे लिट् + तिप् । इस पद्यमें "मूर्च्छ"···· "मूर्च्छ" इस प्रकारसे व्यञ्जनसमुदायका एक बार अनेक प्रकारसे समता होनेसे छेकाऽनुप्रास अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।" सा० द० १०-४ ॥ ५२ ॥

अवाप साऽपत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥ ५३ ॥

अन्वयः—जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः तत्र असंवरे शम्बर-वैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटताम्, उपेयुषि साऽपत्रपताम् अवाप ॥ ५३ ॥

व्याख्या—जितेन्द्रियाणां=वशीकृत-हृषीकाणां जनानां, धुरि=अग्रे, कीर्तित-स्थितिः = स्तुतमर्यादः, सः=पूर्वोक्तः, भूपतिः=राजा, नल, इत्यर्थः । तत्र = तस्मिन्, समान इति शेषः । असंवरे = निरोद्धुम् अशक्ये, शम्बरवैरिविक्रमे = मदनपराक्रमे, मदननानाविधविकार इति भावः, क्रमेण = परिपाट्या, स्फुटतां= व्यक्तताम्, उपेयुषि = प्राप्तवति सति, साऽपत्रपताम् = अन्येभ्यो लज्जिततताम्, अवाप=प्राप, जनसमाजे कामविकारे व्यक्ते सति नलो लज्जितो बभूवेति भावः ॥५३॥

अनुवादः—जितेन्द्रियोंके अग्रभागमें वर्णित मर्यादावाले महाराज नल समाज-में कामविकारके रोकनेमें अशक्य होकर क्रमसे व्यक्त हो जानेपर अन्य लोगोंके सम्मुख लज्जित हुए ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—जितेन्द्रियाणां = जितानि इन्द्रियाणि यैस्ते, तेषाम् (बहु०) । कीर्तितस्थितिः = कीर्तिता स्थितिः येषां ते (बहु०) । "संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः" इत्यमरः । भूपतिः = भुवः पतिः (ष० त०), तत्र = तस्मिन्निति, तद् + त्रल् । असंवरे = संवरणं संवरः, सम्-उपसर्गपूर्वक "वृञ वरणे" धातुसे "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय । अविद्यमानः संवरो यस्य सः,

तस्मिन् (नञ् बहु०)। शम्बरवैरिविक्रमे = शम्बरस्य वैरी (ष० त०), ''शम्बराऽरिर्मनसिजः'' इत्यमरः। शम्बरवैरिणः विक्रमः, तस्मिन् (ष० त०)। स्फुटता = स्फुट + तल् + टाप्। उपेयुषि = उप-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे ''उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च'' इस सूत्रसे क्वसु प्रत्यय + ङि। साऽपत्रपताम् = अन्यतः लज्जा अपत्रपा, ''लज्जा साऽपत्रपाऽन्यतः'' इत्यमरः। अपत्रपया सहितः सापत्रपः, ''तेन सहेति तुल्ययोगे'' इससे तुल्ययोगबहुव्रीहि, ''वोपसर्जनस्य'' इस सूत्रसे 'सह' के स्थानमें विकल्पसे 'स' भाव। साऽपत्रपस्य भावः सापत्रपता, ताम्, साऽपत्रप + तल् + टाप् + अम्। अवाप = अव-उपसर्गपूर्वक ''आप्लृ व्याप्तौ'' धातुसे लिट् + तिप्। इस पद्यमें प्रथमचरणमें 'प'कारका बार बार साम्य होनेसे वृत्यनुप्रास अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

''अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते॥'' सा० द० १०-५

पूर्वार्द्धमें अन्त्याऽनुप्रास है। उसका लक्षण है-

''व्यञ्जनं चेद्यथाऽऽवस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्याऽनुप्रास एव तत्॥'' १०-७।

उत्तरार्द्धमें ''वरे''' म्बर'' ''क्रमे क्रमे''' '' इस प्रकार व्यञ्जनसमुदायका अनेक प्रकारसे साम्य होनेसे छेकानुप्रास है, इस प्रकार वृत्यनुप्रास, अन्त्याऽनुप्रास और छेकाऽनुप्रास इन अलंकारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है॥ ४३॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाऽभवन्गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः॥ ४४॥

अन्वयः—अमी विवेकप्रभवा गुणा नलं चापलं रोद्धुम् अलं न अभवन् किल। यत् स स्मरः रत्याम् अनिरुद्धम् एव सृजति, ईदृशः अयं सर्गनिसर्गः।

व्याख्या--विवेकादयो गुणा नलचापलं निवारयितुं कथं न समर्था जाता इत्यत्राऽऽह—अलं नलमिति। अमी=एते, विवेकप्रभवाः = पृथगात्मतोत्पन्नाः, गुणाः=धैर्यादय इत्यर्थः। नलं=नैषधं, नलादिति भावः, चापलं चाञ्चल्यं, कामजनितमिति शेषः। रोद्धुं = निवारयितुम्, अलं=समर्थाः, न अभवन् = नो जाताः, किल = निश्चयेन। अत्र हेतुमुपपादयति—स्मर इति। यत् = यस्मात्कारणात्, सः = प्रसिद्धः, स्मरः = कामदेवः, रत्याम् = अनुरागे सति, अथवा रतिनामस्वप्रियायाम्, अनिरुद्धम् एव = अनिवारितम् एव, चापलम् एव, पुरुषमिति शेषः।

पक्षान्तरे—अनिरुद्धनामकं पुत्रम् एव, सृजति = करोति, ईदृशः = एतादृशः, अयम् = एषः, सर्गनिसर्गः = सृष्टिस्वभावः, कामः रतौ = अनुरागे सति पुरुषं चपलमेव करोति अथवा कामः रतौ = स्वप्रियायाम्, अनिरुद्धम् एव = अनिरुद्धनामकं पुत्रम् एव उत्पादयति, एतादृशः सृष्टिस्वभाव इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अनुवादः—ये विवेकसे उत्पन्न धैर्य आदि गुण नलकी कामचञ्चलताको रोकनेके लिए समर्थ नहीं हुए। जो कि कामदेव अनुराग उत्पन्न होनेपर मनुष्यको चञ्चल ही कर देता है अथवा कामदेव प्रद्युम्न रति (पत्नी) अनिरुद्ध (पुत्र) को उत्पन्न करते हैं। ऐसा यह सृष्टिका स्वभाव है॥ ५४ ॥

टिप्पणी—विवेकप्रभवाः = विवेकः प्रभवः येषां ते (बहु०)। "विवेकः पृथगात्मता" इत्यमरः। नलम् = अधिकरण वा सम्बन्धकी विवक्षा न करके "अकथितं च" इस सूत्रसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। चापलं = चपलस्य भावः चापलं, तत् "चपल" शब्दसे युवादिगणमें पठित होनेसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण्, ब्राह्मणादिगणमें पठित होनेसे ष्यञ् प्रत्यय होकर "चापल्यम्" ऐसा रूप भी बनता है। यह मुख्य कर्म है। रोद्धुम् = "अलम्" इस पदका योग होनेसे "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" इससे तुमुन् प्रत्यय। अलम्="अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्।" इत्यमरः। अभवन् = भू + लङ् + झि। रत्याम्=रम् + क्तिन् + ङि। अनिरुद्धम्=न निरुद्धम् तद् (नञ त०)। अथवा अनिरुद्धम्=प्रद्युम्नपुत्रम्। सृजति=सृज् + लट् + तिप्। सर्गनिसर्गः=सर्गस्य निसर्गः (ष० त०)। "सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाऽध्यायसृष्टिषु।" इति "स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यप्यमरः। इस पद्यमें उत्तरार्धस्थित सामान्यसे पूर्वार्द्धस्थित विशेष अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है उसका लक्षण है—

"सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणाऽर्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।" सा० द० १०-८० ॥ ५४ ॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि।
क्षणं तदाऽऽरामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—स यत्नवान् अपि संसदि यदा अनङ्गचिह्नं विना आसितुं नो शशाक, तदा क्षणम् आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुं इयेष ॥ ५५ ॥

अथ नलस्याऽभीष्टपूर्तिसहाय हंससमागमहेतुकोपवनविहारं प्रस्तौति अनङ्गेति।

व्याख्या—सः = नलः, यत्नवान् अपि = प्रयत्नसम्पन्नः अपि, अनङ्गचिह्नं-

गूहन इति शेषः। संसदि=सभायां, यदा = यस्मिन् समये, अनङ्गचिह्नं विना = स्तम्भादिकामलक्षणं विना, आसितुम् = उपवेष्टुं, नो शशाक=न समर्थो बभूव। तदा = तस्मिन् समये, क्षणं = कञ्चित्कालं यावत्, आरामविहारकैतवात्=उपवन क्रीडाच्छलात्, निर्जनं = जनरहितं, देशं = स्थानं, निषेवितुम् = आश्रयितुम्, इयेष = इष्टवान्, लज्जापरिहारार्थमिति शेषः॥ ५५॥

अनुवाद:—नल प्रयत्न करनेपर भी सभामें जब काम लक्षणके बिना रहनेको समर्थ नहीं हुए, तब कुछ समय तक बगीचेमें क्रीडाके बहानेसे उन्होंने निर्जन स्थानका आश्रय लेनेके लिए इच्छा की॥ ५५॥

टिप्पणी—यत्नवान्=यत्नः यस्याऽस्तीति यत्नवान्, "यत्न" शब्दसे "तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस सूत्रसे मतुप्, 'म' कारके स्थानमें "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इससे वकार आदेश। संसदि="समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः।" इत्यमरः। अनङ्गचिह्नं विना = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य सः अनङ्गः (नञ् बहु०)। अनङ्गस्य चिह्नं, तत् (ष० त०), "विना" इस पदके योगमें "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इससे तृतीया, पञ्चमी और द्वितीया होती है, यहाँपर द्वितीया। आसितुम्=आस+तुमुन्। शशाक=शक+लिट्+तिप्। क्षणं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया, "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः" इत्यमरः। "आरामविहारकैतवात्=आरामस्य विहारः (ष० त०), "आरामः स्यादुपवनम्" इत्यमरः। आरामविहारस्य कैतवं, तस्मात् (ष० त०) "कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे।" इत्यमरः। निर्जनं=निर्गता जना यस्मात्, तम् (बहु०)। निषेवितुं=नि+सेव+तुमुन्। "परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" इससे मूर्धन्य षकार। इयेष=इष्+लिट्+तिप्। यहाँपर वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है॥ ५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिताऽऽदिदेश यानाय निदेशकारिणः॥ ५६॥

अन्वयः—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकण्ठोपवनम् ईक्षिता (सन्) यानाय निदेशकारिणः आदिदेश किल॥ ५६॥

व्याख्या—अथ=अनन्तरं निर्जनदेशनिषेवणेच्छानन्तरमिति भावः। श्रिया= स्वशरीरकान्त्या हेतुना, भर्त्सितमत्स्यकेतनः = तिरस्कृतकामः, नल इति भावः। स्वरहस्यवेदिभिः=आत्मगोप्यविषयाऽभिज्ञः, वयस्यैः=तुल्यवयस्कैः मित्रैः, समं= सह, पुरोपकण्ठोपवनं=नगरनिकटारामम्, ईक्षिता = अवलोकिता सन् यानाय =

यानम्, वाहनमानेतुं, गमनाय वा, निदेशकारिण: = आज्ञाकारिणो जनान्, आदिदेश = आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अनुवाद:—तब शरीरकी शोभासे कामदेवको तिरस्कृत करनेवाले नलने अपने रहस्यके जानकार मित्रोंके साथ शहरके निकटस्थ बगीचेको देखनेके लिए वाहन लानेके लिए कर्मचारियोंको आज्ञा दी ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—श्रिया = "हेतौ" इससे तृतीया । भर्त्सितमत्स्यकेतन: = मत्स्य: केतनं (चिह्नम्) यस्य स: (बहु०) । "भर्त्सितमत्स्यलाञ्छन:" "भर्त्सितमीनकेतन:" ऐसे पाठान्तरोंमें भी अर्थमें भेद नहीं है । "मदनो मन्मथो मार: प्रद्युम्नो मीनकेतन:" इत्यमर: । स्वरहस्यवेदिभि: = रहसि (एकान्ते) भवं रहस्यम्, रहस्+यत् । स्वरहस्यं विदन्तीति तच्छीला:, तै:, स्वरहस्य+विद्+णिनि:+भिस् (उपद०) । वयस्यै: = वयसा तुल्या वयस्या:, तै: "वयस्" शब्दसे "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत् प्रत्यय । "समम्" इस पदके योगमें तृतीया । पुरोपकण्ठोपवनं = पुरस्य उपकण्ठ: (ष० त०), "उपकण्ठाऽन्तिकाऽभ्यर्णाऽभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम् ।" इत्यमर: । पुरोपकण्ठे उपवनं, तत् (स० त०) "ईक्षिता" इस तृन् प्रत्ययान्तपदके योगमें "कर्तृकर्मणो: कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठीकी प्राप्ति थी, पर "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे निषेध हुआ है । ईक्षिता= ईक्षत इति; ईक्ष+तृन् । यानाय = "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन:" इस सूत्रसे चतुर्थी । निदेशकारिण: निदेशं कुर्वन्तीति तच्छीला:, तान् निदेश+कृ+णिनि: (उपपद०) । आदिदेश=आङ्+दिश+लिट्+तिप् । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाऽधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलै: खुराञ्चलै: क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥ ५७ ॥

अन्वय:—तत: अमी तस्य विभूषितं सितं जवे अपि माने अपि पौरुषाऽधिकम् अजस्रचञ्चलै: खुराऽञ्चलै: क्षोदितमन्दुरोदरम अश्वम् उपाहरन् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—तत: आदेशनाऽनन्तरम्, अमी निदेशकारिणो जना:, तस्य = नलस्य विभूषितम् = अलङ्कृतं, सितं = श्वेतवर्णं, जवे अपि = वेगे अपि, माने अपि = प्रमाणे अपि, पौरुषाऽधिकं = पुरुषप्रमाणाऽतिरिक्तम् एवं च अजस्रचञ्चलै: = निरन्तरचपलै:, खुराऽञ्चलै: = शफाऽग्रभागै:, क्षोदितमन्दुरोदरं = विदारितवाजिशालामध्यम्, अश्वं = हयम्, उपाहरन् = उपानीतवन्त: ॥ ५७ ॥

अनुवाद:—तब आज्ञाकारी भृत्य अलङ्कृत, सफेद वेग और प्रमाणमें भी

पुरुषके प्रमाणसे अधिक तथा निरन्तर चलनेवाले खुरोंके अग्रभागोंसे घुड़शालके मध्यभागको विदारित करनेवाले घोड़ेको नलके पास ले आये ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—विभूषितं=वि+भूष+क्तः (कर्ममें)। पौरुषाऽधिकं=पुरुषस्य भावः पौरुषं, पुरुष+अण्, युवादिगणमें पठित होनेसे अण्। जवके पक्षमें यह व्युत्पत्ति है। मानके पक्षमें—पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषं, "पुरुषहस्तिभ्यामण् च" इससे अण्। पौरुषात् अधिकः, तम् (पं० त०)। अजस्रचञ्चलैः=अजस्रं (यथा तथा) चञ्चलाः, तैः (सुप्सुपा०)। खुराऽञ्चलैः=खुराणाम् अञ्चलाः, तैः (ष० त०), क्षोदितमन्दुरोदरं=मन्दुराया उदरम् (ष० त०)। "वाजिशाला तु मन्दुरा।" इत्यमरः। क्षोदितं मन्दुरोदरं येन सः, तम् (बहु०)। उपाहरन्=उप-उपसर्गपूर्वक "हृञ् हरणे" धातुसे लङ्+झि। इस पद्यमें वृत्त्यनुप्रास और छेकाऽनुप्रासकी संसृष्टि अलंकार है ॥ ५७ ॥

अथाऽन्तरेणाऽवटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केशरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अथ निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः निगालगात् देवमणेः आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना उत्थितैः इव केशरकेशरश्मिभिः विराजितम् ("तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह" इति चतुःषष्टितमश्लोकस्थैः पदैः सम्बन्धः) ॥५८॥

अथ अश्ववर्णनप्रसङ्गे सप्तभिः कुलकमाह अथेति।

व्याख्या—अथ = अश्वोपहाराऽनन्तरं, निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः = चन्द्रकिरणसदृशैः, शुक्लैरिति भावः। निगालगात् = गलोद्देशस्थात्, देवमणिः =देव--मणिनामकदक्षिणावर्तात्, आन्तरेण=कण्ठमध्यवर्तिना, अवटुगामिना=कृकाटिकापर्यन्तगतेन, अध्वना=मार्गेण, उत्थितैः इव=उद्गतैः इव, स्थितैरिति शेषः। तादृशैः केशरकेशरश्मिभिः=केशररूपचिकुरकिरणैः, विराजितं=शोभितम् (तं=तादृशं, हयम्=अश्वं, क्षितिपाकशासनः = भूमहेन्द्रः, सः = नलः, आरुरोह = आरूढवान्, इति चतुःषष्टितमश्लोकस्थैः पदैः सम्बन्धः, एवं परत्राऽपि) ॥ ५८ ॥

अनुवादः—तब घोड़ेको लानेके अनन्तर (सफेद) गलेके निकटवर्ती देवमणिनामक दक्षिण आवर्तसे कण्ठके बीचमें रहनेवाले कृकाटिका तक गये हुये मार्गसे उठे हुएके समान चन्द्रकिरणोंके सदृश केशररूप केशोंकी किरणोंसे शोभित (उस घोड़ेके ऊपर नल सवार हुए) ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः = निशीथः (अर्धरात्रः) अस्याः अस्तीति निशीथिनी (रात्रिः), निशीथ शब्दसे "अत इनि ठनौ" इस सूत्रसे

इनि प्रत्यय और तदन्तसे स्त्रीत्वविवक्षामें "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप्, निशीथ + इनि + ङीप् । "अर्धरात्र निशीथौ द्वौ" इति "निशा निशीथिनी रात्रि स्त्रियामा क्षणदा क्षपा ।" इत्यमरः । निशीथिन्या नाथः (ष० त०), तस्य महांसि (ष० त०) "महश्चोत्सवतेजसोः" इत्यमरः । सह (समानम्) उदरं येषां ते सहोदराः (बहु०) । "वोपसर्जनस्य" इसके "स" भावकी विकल्पतासे एक पक्षमें न होनेसे यह रूप होता है । प्रायः सहोदर भाइयोंमें तुल्यरूपता होती है इसलिए यहाँपर 'सहोदर' शब्दका सदृश अर्थ लक्षित होता है । निशीथिनीनाथमहसां सहोदराः तैः (ष० त०) । महस् और मह अकारान्त भी शब्द देखा जाता है । निगालगात् = निगालं गच्छतीति, निगालगः तस्मात् निगाल + गम + ड + ङसिः, देवमणेः = "देवमणिः शिवेश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे ।" इति विश्वः । आन्तरेण=अन्तरे भवः आन्तरः, तेन, अन्तर + अण् + टा । अवटुगामिना = अवटुं गच्छतीति तच्छीलः, तेन अवटु + गम् + णिनिः + टा । "अवटुर्घाटा कृकाटिका" इत्यमरः । उत्थितैः=उद् + स्था + क्तः + भिस् । केशरकेशररश्मिभिः = केशरा एव केशाः (रूपक०) । घोडेके स्कन्धके बालोंको 'केशर' कहते है । त एव रश्मयः, तैः (रू०क०) । विराजितं = वि + राज् + क्तः । इस पद्यम द्वितीय चरणमें उपमा, तृतीय चरणमें उत्प्रेक्षा और चतुर्थ चरणमे रूपक इस प्रकार इन तीनों अलंकारोंकी निरपेक्ष रूपसे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाऽध्ययनाऽर्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाऽणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

अन्वयः – रयप्रकर्षाऽध्ययनाऽर्थम् आगतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः चरणेषु उपास्यमानम् इव (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ५९ ॥

व्याख्या—रयप्रकर्षाऽध्ययनार्थं = वेगाऽतिशयपठनार्थम्, आगतैः = आयातैः, अणिमाङ्कितैः=अणुभावचिह्नितैः, जनस्य = लोकस्य चेतोभिः इव=मनोभिः इव "अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याऽणुत्वमिहेष्यते ।" इति नैयायिकसिद्धान्ते मनसो णु परिमाणत्वं स्वीकृतम् । अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = निरन्तरधरातलविदारणोत्थितैः रेणुभिः=धूलिभिः, चरणेषु उपास्यमानम् इव = सेव्यमानम् इव तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) । यथा शिष्यो गुरुचरणयोरुपास्ते तथैवाऽणुपरि-माणैर्जनमनोभिश्चरणेषूपास्यमानमिव तं हयं राजाऽऽरूढवानिति भावः ॥ ५९ ॥

अनुवादः—वेगके उत्कर्षके अध्ययनके लिए आये हुए अणपरिमाणवाले लोगोंके मनोंके तुल्य, लगातार जमीनको विदारण करनेसे उत्पन्न धूलियोंसे चरणोमें सेवित (उस घोड़ेके ऊपर राजाने आरोहण किया ॥ ५६ ॥

टिप्पणी - रयप्रकर्षाऽध्ययनाऽर्थम् = रयस्य प्रकर्षः (ष० त०) "रंहस्तरसी तु रयः स्यदः जवः" इत्यमरः। रयप्रकर्षस्य अध्ययनम् (ष० त०)। रयप्रकर्षाऽध्ययनाय इदं "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" इस सूत्रसे "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इस वर्तिकके सहकारसे चतुर्थी तत्पुरुष, यह "आगतैः" इसका क्रिया विशेषण है। आगतैः = आङ् + गम् + क्तः + भिस्, अणिमाङ्कितैः = अणोर्भावः अणिमा, "अणु" शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच्। अणिम्ना अङ्कितानि, तैः (तृ० त०)। जनस्य= "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे जातिमें एकवचन। अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = भूम्याः तटम् (ष० त०)। 'भूमि' शब्दसे 'कृदिकारादक्तिनः" इस गणसूत्रसे ङीष्। भूमीतटस्य कुट्टनम् (ष० त०) अजस्रं (यथा तथा)। भूमितटकुट्टनम् (सुप्सुपा०)। अजस्रभूमीतटकुट्टनेन उत्थिताः, तैः (तृ० त०)। उपास्यमानम् = उपास्यत इति, उप + आस + लट् (कर्ममें) + यक् + शानच् + अम्। जैसे अध्ययनके लिए शिष्य गुरुचरणोंमें उपासना करते हैं वैसे ही अतिशय वेगके अध्ययनके लिए आये हुए अणुपरिमाण मनुष्योंके मनोंके समान धूलियोसे चरणोमें उपासना किये गये घोड़े पर राजा आरूढ हुए यह भाव है। नलका अश्व मनके समान वेगवाला है यह अर्थ व्यङ्ग्य होता है। इस पद्यमें चित्तोंमें शिष्यव्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥" सा० द० १०-७४।

"चेतोभिरिव" यहांपर उत्प्रेक्षा है, इन दोनोंका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥" सा० द० १०-१२८

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम्।
अलं गिरा, वेद किलाऽयमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥ ६० ॥

अन्वयः—चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पान् वक्तुम् उत्सुकम् इव, अयं

स्वयं हयस्य आशयं वेद किल, "गिरा अलम्" इति मौनम् आस्थितं च (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६० ॥

व्याख्या—चलाचलप्रोथतया = अतिचञ्चलनासिकत्वेन, महीभृते = राज्ञे, नलायेत्यर्थः । स्ववेगदर्पान् = आत्मजवगर्वान्, वक्तुं=प्रतिपादयितुम् = उत्सुकम्, इव =उत्कण्ठितम् इव, तर्हि किमर्थं स्ववेगदर्पो न प्रतिपादित इत्याशङ्कयाह— अलमिति । अयं = महीभृत्, नल इत्यर्थः । स्वयम् = आत्मना एव, हयस्य = अश्वस्य, आशयम् = अभिप्रायं, वेद = जानाति, किल=निश्चयेन, अतः गिरा = वाण्या, वेगदर्पप्रकाशनकारिण्येति शेषः । अलं = पर्याप्तं, राज्ञः स्वयमभिज्ञत्वाद् गिरा साध्यं नाऽस्तीति भावः । इति = अनेन कारणेन, मौनं = तूष्णीकत्वम् आस्थितं च = आश्रितं च (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥६०॥

अनुवादः—अत्यन्त चञ्चल नाक होनेसे राजाको अपने वेगके दर्पको कहनेमें उत्कण्ठितके समान परन्तु ये (राजा) स्वयम् घोड़ेका अभिप्राय जानते हैं, वाणीसे क्या ? इस कारण मौनको धारण करनेवाले (घोड़ेके ऊपर राजा आरूढ़ हुए) ॥ ६० ॥

टिप्पणी—चलाचलप्रोथतया = चलनशीलं चलाचलं, 'चल' धातुसे "चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे अच् प्रत्यय, विकल्पसे द्वित्व और आक् आगम । "चलनं कम्पनं कम्प्रं चलं लोलं चलाचलम् ।" इत्यमरः । चलाचलं प्रोथं यस्य सः (बहु०) । "घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्" इत्यमरः । चलाचलप्रोथस्य भावश्चलाचलाचलप्रोथता, तया, चलाचलप्रोथ + तल् + टाप् + टा । महीभृते=मही बिभर्तीति महीभृत्, तस्मै, मही + भृ + क्विप् + ङे । "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' इससे सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी । स्ववेगदर्पान्=स्वस्य वेगः (ष० त०) तस्य दर्पाः, तान् (ष० त०)। वक्तुं=वच + तुमुन् । आशयम् = "अभिप्रायश्छन्दः आशयः" इत्यमरः वेद="विद् ज्ञाने" धातुसे लट् "विदो लटो वा" इस सूत्रसे तिप्के स्थानमें णल् । गिरा="गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका" इससे तृतीया । मौनं = मुनेर्भावो मौनम् तत्, मुनि + अण् + अम् । आस्थितम् = आङ् + स्था + क्तः + अम् । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें वाच्या उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो उत्प्रेक्षाओंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार है । नलकी अश्वशास्त्रमें अभिज्ञता महाभारतके वनपर्वमें उल्लिखित है ॥ ६० ॥

महारथस्याऽध्वनि चक्रवर्तिनः पराऽनपेक्षोद्वहनाद्यशःसितम् ।
रदाऽवदातांऽशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अध्वनि महारथस्य चक्रवर्तिनः पराऽनपेक्षोद्वहनात् यशःसितं रदाऽवदातांऽशुमिषात् अनीदृशां रवेः अर्वतां बलम् अन्तःहसन्तम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६१ ॥

व्याख्या—अध्वनि = मार्गे, महारथस्य = बृहत्स्यन्दनस्य, अयुतयोधिनो वा, चक्रवर्तिनः = सार्वभौमस्य, नलस्येति भावः । पराऽनपेक्षोद्वहनात् = अन्याऽश्वाऽपेक्षाऽभावेन वहनात्, एकाकित्वेन धारणदिति भावः । यशःसितं = कीर्तिशुभ्रं, रदाऽवदातांऽशुमिषात् = दन्तोज्ज्वलकिरणच्छलात्, अनीदृशाम् = अनेतादृशानां, पराऽनपेक्षोद्वहनाऽसमर्थानामिति भावः । रवेः=सूर्यस्य, अर्वताम्=अश्वानां, सप्तसंख्यकानामिति भावः । बलं = शक्तिम्, अन्तः = अन्तःकरणे, हसन्तम् = उपहसन्तम् इव स्थितम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६१ ॥

अनुवादः—मार्गमें बड़े रथवाले अथवा दश हजार धनुर्धारियोंसे युद्ध करनेवाले चक्रवर्ती महाराज नलको दूसरे घोड़ोंकी अपेक्षा न रखकर ढोनेसे कीर्तिसे शुभ्र, दाँतोंकी उज्ज्वल किरणोंके बहानेसे अन्य घोड़ोंकी अपेक्षाके बिना ढोनेमें असमर्थ सूर्यके (सात) घोड़ोंके बलको मन ही मन उपहास करते हुए (उस घोड़ेके ऊपर महाराज नलने आरोहण किया) ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—महारथस्य = महान् रथो यस्य स महारथः, तस्य (बहु०), "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" इस सूत्रसे "महत्" शब्दका आत्व । महारथ शब्दका लक्षण है—

"एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयः स महारथः ॥"

चक्रवर्तिनः = चक्रे (राजमण्डले) मुख्यत्वेन वर्तते तच्छीलः चक्रवर्ती, तस्य, चक्र + वृत् + णिनि + ङस् । "चक्रवर्ती सार्वभौमः" इत्यमरः । 'पराऽनपेक्षोद्वहनात् = न अपेक्षा अनपेक्षा' (नञ्त०) । परेषाम् अनपेक्षा (ष० त०) । पराऽनपेक्षया उद्वहनं, तस्मात् (तृ० त०) । यशःसितं = यशसा सितः, तम् (तृ० त०) । रदाऽवदातांशुमिषात् = अवदाताश्च ते अंशवः (क० धा०), "अवदातः सितो गौरोऽवलक्षो धवलोऽर्जुनः ।" इत्यमरः । रदानाम् अवदातांऽशवः (ष० त०) । रदाऽवदातांऽशूनां मिषं, तस्मात् (ष० त०) । अनीदृशां = न ईदृशः तेषाम्, (नञ्०) । अर्वताम् = "अर्वणस्त्रसावनञः" इस सूत्रसे "तृ"

अन्तादेश । "वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः ।" इत्यमरः । सूर्यके सात घोड़े हैं, जैसे कि—

"जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः ।
मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्तिताः ॥"
(भविष्योत्तरपुराण, आदित्यहृदयस्तोत्र) ।

"हरितः सूर्यस्य" निघण्टुकी इस उक्तिके अनुसार सूर्यके घोड़ोंका वर्ण हरा है । बलम् = "हसे हसने" धातु अकर्मक है, अतः, "बलम्" इस पदके अनन्तर "उद्दिश्य" इस पदका ऊह करना चाहिए । सूर्यके घोड़ोंके बलको उद्देश्य करके भीतर हँसनेवाले ऐसा अर्थ करना चाहिए । हसन्तं=हस + लट् + शतृ + अम । इस पद्यमें अपह्नुतिके साथ "हसन्तम्" इस पदमें "इव" के गम्यमान होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है और सूर्यके घोड़ोंसे नलके घोड़ेका उत्कर्ष प्रतीत होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है, इस प्रकार इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटां चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः— सितत्विषः चञ्चलताम् उपेयुषः पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः स्फुटां निजवाजिराजताम् अनिह्नुवानम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६२ ॥

व्याख्या— सितत्विषः=शुक्लकान्तियुक्तस्य, चञ्चलतां=चपलताम्, उपेयुषः= प्राप्तवतः, पुच्छस्य = लाङ्गूलस्य, केसरस्य च = ग्रीवाबालसमूहस्य च, मिषेण= छलेन, चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = चलत्प्रकीर्णकयुगललक्षणैः, स्फुटां = प्रसिद्धां, निजवाजिराजताम् = स्वहयराजताम्, अनिह्नुवानम् = अनिषेधन्तं, प्रकटयन्त- मिति भावः । (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६२ ॥

अनुवाद:—सफेद कान्तिवाले, चञ्चल भावको प्राप्त करनेवाले, पूँछ और कन्धेके बालोंके छलसे चलते हुए दो चँवरोंके चिह्नोंसे प्रसिद्ध अपने अश्वराजत्व- को प्रकट करते हुए (उस घोड़ेपर राजा नलने आरोहण किया) ॥ ६२ ॥

टिप्पणी— सितत्विषः=सिता त्विट् यस्य, तस्य (बहु०) । चञ्चलतां = चञ्चल + तल् + टाप् + अम् । उपेयुषः=उप + इण् + क्वसुः + ङस् । चलच्चामर- युग्मचिह्नकैः=चलत इति चलती । चल् + लट् (शतृ) + औ । चलती च ते चामरे (क० धा०), "चामरं तु प्रकीर्णकम्" इत्यमरः । चलच्चामरयोर्युग्मम्

(ष० त०) चिह्नानि एव चिह्नकानि, स्वार्थमें क प्रत्यय । चलच्चामरयुग्मयोश्चिह्नकानि, तैः (ष० त०) । निजवाजिराजतां=वाजिनां राजा वाजिराजः (ष० त०), "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इससे समासाऽन्त टच् । वाजिराजस्य भावो वाजिराजता, वाजिराज+तल्+टाप् । निजा चाऽसौ वाजिराजता, ताम् (क० धा०) । अनिह्नुवानं = निह्नुत इति निह्नुवानः, नि+ह्नुङ्+लट् (शानच्), न निह्नुवानः, तम् (नञ्०) इस पद्यमें अपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनोंकी संसृष्टि है ।। ६२ ।।

अपि द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया ।

उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ।। ६३ ।।

अन्वयः—रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे अपि मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया प्रतिमल्लताम् उपेयिवांसम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ।। ६३ ।।

व्याख्या—रयस्मये = वेगाहङ्कारे, प्रसभं = बलात्कारेण, जितस्य=पराजितस्य, गरुत्मतः=गरुडस्य, द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे अपि=सर्पभक्षणपुरुषाऽर्थेऽपि, मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया = आननलग्नदीर्घमनोहररज्ज्वा, प्रतिमल्लतां = प्रतिद्वन्द्विताम् उपेयिवांसं=प्राप्तवन्तम् (तं हय क्षितिपाकशासनः सः आरुरोह) ।।६३।।

अनुवादः—वेगके अहंकारमें बलपूर्वक जीते गये गरुड़के सर्पभक्षणरूप पुरुषाऽर्थमें भी मुखमें लगी हुई लम्बी और सुन्दर लगामसे प्रतिद्वन्द्विभावको प्राप्त करनेवाले (उस घोड़ेपर राजा नलने आरोहण किया) ।। ६३ ।।

टिप्पणी—रयस्मये = रयस्य स्मयः, तस्मिन् (ष० त०) । "दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः ।" इत्यमरः । प्रसभम् = यह क्रियाविशेषण है । गरुत्मतः = गरुतः सन्ति यस्य स गरुत्मान् तस्य (गरुत्+मतुप्+ङस्) । यवादिगणमें 'गरुत्' शब्दका पाठ होनेसे 'झयः" इस सूत्रसे वत्व नहीं हुआ । यह शब्द योगरूढ है, "गरुत्मान्गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः ।" इत्यमरः । द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे = द्वे जिह्वे येषां ते द्विजिह्वाः (बहु०) । "द्विजिह्वो सर्पसूचकौ" इत्यमरः । द्विजिह्वानाम् अभ्यवहारः (ष० त०), स एव पौरुषं, तस्मिन् (रूपक०) । मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया=मुखे अनुषक्ता (स० त०) । आयता चाऽसौ वल्गुः (क० धा०) । आयतवल्गुश्चाऽसौ वल्गा (क० धा०) । मुखाऽनुषक्ता चाऽसौ आयतवल्गुवल्गा, तया (क० धा०) । प्रतिमल्लतां= प्रतिकूलो मल्लः प्रतिमल्लः, 'कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे समास । प्रतिमल्लस्य

भाव: प्रतिमल्लता, ताम् । प्रतिमल्ल + तल् + टाप् + अम् । उपेयिवांसम् = उप + इण् + क्वसु: + अम् । इस पद्यमें गरुडके जयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और "प्रतिमल्लताम् उपेयिवांसम्" यहांपर सादृश्यका आक्षेप होनेसे उपमा इस प्रकार दो अलंकारोंकी निरपेक्षतया स्थित होनेसे संसृष्टि है ।। ६३ ।।

स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताऽखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ।। ६४ ।।

अन्वय:—जिताऽखिलक्ष्माभृत् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः सः सिन्धुजं शीतमहःसहोदरम् उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तं तं हयम् आरुरोह ।। ६४ ।।

व्याख्या—जिताऽखिलक्ष्माभृत् = वशीकृतसकलभूभृत्, अनल्पलोचनः = विशालनयनः, क्षितिपाकशासनः = महीमहेन्द्रः, सः = नलः, सिन्धुजं = सिन्धुदेशोत्पन्नं समुद्रोत्पन्नं वा, शीतमहःसहोदरं, चन्द्रसहोदरं चन्द्रसदृशं शुक्लवर्णमित्यर्थो वा, एवं च उच्चैःश्रवसः = इन्द्रहयस्य, श्रियं = शोभां, हरन्तं = गृह्णन्तं, तं = पूर्वोक्तं, हयम् = अश्वम्, आरुरोह = आरूढवान् ।। ६४ ।।

अनुवाद:—सम्पूर्ण राजाओंको जीतनेवाले, दीर्घ नेत्रोंवाले, पृथ्वीके इन्द्र महाराज नल सिन्धुदेशमें वा समुद्रमें उत्पन्न चन्द्रमाके सदृश (श्वेत वर्णवाले) और इन्द्रके अश्व उच्चैःश्रवाकी शोभाको हरण करनेवाले ऐसे घोड़ेपर आरूढ हुए ।

टिप्पणी—जिताऽखिलक्ष्माभृत् = क्ष्मां बिभर्तीति क्ष्माभृतः क्ष्मा + भृ + क्विप् + जस् (उपपद०) । जिताः अखिलाः क्ष्माभृतः (राजानः) येन, सः (बहु०) अनल्पलोचनः = न अल्पे अनल्पे (नञ्०) । अनल्पे लोचने यस्य सः (बहु०) । क्षितिपाकशासनः = शास्तीति शासनः, "शासु अनुशिष्टौ" धातुसे 'कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्रमें बहुलग्रहण करनेके सामर्थ्यसे कर्तामें ल्युट् । पाकस्य (दैत्यभेदस्य) शासनः (ष० त०) । "इन्द्रो मरुत्वान्मघवा बिडौजाः पाकशासनः ।" इत्यमरः । क्षितौ पाकशासनः (स० त०) । पूर्वोक्त दो पदोंसे इन्द्र और नलका उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य होता है । इन्द्रके पक्षमें "जिताऽखिलक्ष्माभृत्" इस पदमें विद्यमान "क्ष्माभृत्" पदसे पर्वतरूप अर्थ भी व्यङ्ग्य होता है । इन्द्रने सब पर्वतोंके पक्षोंको काट दिया था । "अनल्पलोचनः" इस पदमें इन्द्रके पक्षमें न अल्पानि अनल्पानि (नञ्०), प्रचुराणि इत्यर्थः, अनल्पानि लोचनानि यस्य सः (बहु० । अनल्पलोचन अर्थात् हजार नेत्रोंवाले इन्द्र यह अर्थ है । सिन्धुजं=सिन्धौ देशे जायते इति सिन्धुजः, तम्, 'सप्तम्यां जनेर्डः'' इस सूत्रसे सिन्धु उपपदपूर्वक जन

धातुसे ड प्रत्यय । उच्चैःश्रवाका भी यह पद विशेषण हो सकता है । उस पक्षमें सिन्धौ (समुद्रे) जायत इति । शीतमहःसहोदरं = शीतं महः (कान्तिः) यस्य सः शीतमहाः (बहु०), शीतमहसः सहोदरः, तम् (ष० त०) । चन्द्रमा और इन्द्रका घोड़ा दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न हैं, इसलिए वे सहोदर भाई हो गये हैं, यह तात्पर्य है । हरन्तं = हृञ् + लट् (शतृ) + अम् । आरुरोह=आङ् + रुह + लिट् + तिप् । इस पद्यमें श्लेष, उपमा और "श्रियं हरन्तम्" इस अंशमें अन्यकी श्री (शोभा) को अन्य कैसे हरण करेगा इस प्रकार सादृश्यका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है, अतः संसृष्टि है । अट्ठावनवें श्लोकसे चौसठवें श्लोकतक कुल सात श्लोकोंमें परस्पर सम्बन्ध होनेसे कुलक हो गया है, जैसे कि—

छन्दोबद्धपदं पद्यं, तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं, सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।।
कलापकं चतुर्भिश्च, पञ्चभिः कुलकं मतम् ।। सा० द० ६-३०२

अर्थात् छन्दोबद्ध पदवालोंको "पद्य" कहते हैं । दूसरे पद्यसे असम्बद्ध एक पद्यको "मुक्तक", दो पदोंमें परस्पर सम्बन्ध होनेसे "युग्मक" और तीन पद्योंमें "सन्दानितक" कहते हैं । सन्दानितकको ही कोई विशेषक और कोई "तिलक" भी कहते हैं । चार श्लोकोंमें परस्पर सम्बन्ध रहनेसे "कलापक" और पाँच श्लोकोंमें वा उनसे अधिक श्लोकोंमें परस्पर सम्बन्ध रहनेसे "कुलक" कहते हैं ।। ६४ ।।

निजा मयूखा इव तीक्ष्णदीधितिं स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाऽश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ।।६५।।

अन्वयः—प्रकाशरूपा निजा मयूखाः स्फुटाऽरविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं जवनाऽश्वयायिनं तीक्ष्णदीधितिम् इव प्रकाशरूपा निजा अश्ववाराः स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपङ्कजं जवनाऽश्वयायिनं तं मनुजेशम् अन्वयुः ।। ६५ ।।

व्याख्या—प्रकाशरूपाः = द्योतस्वरूपाः, निजाः = स्वकीयाः, मयूखाः = किरणाः, स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपल्लवं = विकसितरक्तकमलचिह्नितकरकमलं, जवनाऽश्वयायिनं = वेगयुक्तसप्तहयगामिनं, तीक्ष्णदीधितिम् इव = सूर्यम् इव, प्रकाशरूपाः = प्रसिद्धसौन्दर्याः, निजाः = आत्मीयाः, अश्ववाराः = हयारोहाः, स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपङ्कजं = व्यक्तरेखारूपकमलचिह्नितकरकमलं, जवनाऽश्वयायिनं = वेगवद्धयगामिनं, तं = पूर्वोक्तं, मनुजेशं = नरपतिं, नलमित्यर्थः । अन्वयुः = अनुगतवन्तः ।। ६७ ।।

अनुवाद:—प्रकाशस्वरूपवाले अपने किरणसमूह जैसे विकसित रक्तकमलोंसे चिह्नित करकमलवाले तथा वेगवाले सात घोड़ोंसे गमन करनेवाले सूर्यका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार प्रसिद्ध सौन्दर्यवाल नलके घुड़सवारोंने स्पष्ट रेखारूप कमलोंसे चिह्नित करकमलोंवाले तथा वेगवाले घोड़ेसे यात्रा करनेवाले राजा नलका अनुगमन किया ।। ६५ ।।

टिप्पणी—प्रकाशरूपा: = प्रकाश: रूपं येषां ते (बहु०) । "प्रकाशो द्योत आतप:" इत्यमर: । स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपल्लवं = स्फुटे च ते अरविन्दे (क० धा०), ताभ्याम् अङ्कितम् (तृ० त०), पाणि: पङ्कजम् इव, पाणिपल्लवम्, "उपमितं व्याघ्रादिभि:, सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितं पाणिपङ्कजं यस्य, तम् (बहु०) । मनुजेश पक्षमें—स्फुटानि च तानि अरविन्दानि (क० धा०) । और अंश पहलेके समान । जवनाऽश्वयायिनं = जवशीला: जवना:, "जु" यह सौत्र (सूत्रपठित) धातु गति और वेग अर्थमें है, उससे "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपद:" इस सूत्रसे युच् प्रत्यय, "जवनस्तु जवाऽधिक:" इत्यमर: । जवनाश्च ते अश्वा: (क० धा०). तै: यातीति तच्छील:, तम्, जवनाऽश्व + या + णिनि: + तम् (उपपद०) । मनुजेशपक्षमें—जवशील: जवन:, स चाऽसौ अश्व: (क० धा०) । और पहलेके तुल्य । तीक्ष्णदीधिति = तीक्ष्णा दीधितिर्यस्य, तम् (बहु०) । "भानु: करो मरीचि: स्त्रीपुंसयोर्दीधिति: स्त्रियाम् ।" इत्यमर: । प्रकाशरूपा:=प्रकाशं रूपं येषां ते (बहु०) । अश्ववारा:=अश्वान् वृण्वत इति, अश्व-उपपदपूर्वक "वृञ् वरणे" धातुसे 'कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् (उपपद०) । इसी 'अश्ववार' शब्दका अपभ्रंश हिन्दी भाषाका 'सवार' शब्द है । मनुजेशन् = मनौ जाता मनुजा:, मनु + जन् + ड: (उपपद०) । मनुजानाम् ईश:, तम् (ष० त०) । अन्वयु: =अनु-उपसर्गपूर्वक "या प्रापणे" धातुसे लङ्के 'झि' के स्थानमें "लङ: शाकटायनस्यैव" इस सूत्रसे विकल्पसे जुस् आदेश । एक पक्षमें "अन्वयान्" ऐसा रूप भी बनता है । इस पद्यमें पूर्णोपमा अलङ्कार है ।। ६५ ।।

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशल: ।
प्रमोदनि:ष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नल: ।। ६६ ।।

अन्वय:—वाहवाहोचितवेषपेशल: स नल: महारयं हयम् अलङ्कृत्य चलन् प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभि: नगरालयै: लोकै: व्यलोकि ।। ६६ ।।

व्याख्या—वाहवाहोचितवेषपेशल:=अश्वारोहणयोग्यनेपथ्यसुन्दर:, स.=पूर्वोक्त:

नलः =नैषधः, महारयम् = अतिशयजवं, हयम् = अश्वम्, अलंकृत्य = भूषयित्वा, चलन् = गच्छन्, भूषणीभूय गच्छन्निति भावः, प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभिः = हर्षनिश्चलतरनेत्रलोमभिः, नगराऽऽलयैः = पुरनिवासिभिः, लोकैः = जनैः, व्यलोकि = विलोकितः, विस्मयहर्षाभ्यामिति शेषः ॥ ६६ ॥

अनुवादः—घुड़सवारीके योग्य वेशसे सुन्दर और बड़े वेगवाले घोड़ेको अलंकृत कर चलते हुए नलको हर्षसे निश्चेष्ट नेत्रलोमवाले नगरवासी लोगोंने देखा ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—वाहवाहोचितवेषपेशलः = उह्यते अनेन इति वाहः, "वह प्रापणे" धातुसे "हलश्च" इस सूत्रसे करणमें घञ्। "वाजिवाहाऽर्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः। इत्यमरः। वहनं वाहः, "वह" धातुसे "भावे" सूत्रसे भावमें घञ्। वाहस्य वाहः (ष० त०) तस्मिन् उचितः (स० त०)। वाहवाहोचितश्चाऽसौ वेषः (क० धा०), तेन पेशलः (तृ० त०)। "चारौ दक्षे च पेशलः" इत्यमर। महारयं = महान् रयो यस्य सः महारयः, तम् (बहु०)। अलंकृत्य = अलं+कृ+क्त्वा (ल्यप्)। चलन् = चल+लट् (शतृ)। प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभिः = निर्गतः स्पन्दो येभ्यस्तानि निष्पन्दानि (बहु०)। अतिशयेन निष्पन्दानि निष्पन्दतराणि, 'निष्पन्द' शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे तरप् प्रत्यय। अक्ष्णोः पक्ष्माणि (ष० त०)। निष्पन्दतराणि अक्षिपक्ष्माणि येषां ते निष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मणः (बहु०)। प्रमोदेन निष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मणः, तैः (तृ० त०)। नगराऽऽलयैः = नगाः सन्ति अस्मिन्निति नगरम्, 'नग' शब्दसे "नगपांसुपाण्डुभ्यश्च" इससे र प्रत्यय। नगरम् आलयो तेषां ते, तैः (बहु०)। व्यलोकि = वि-उपसर्गपूर्वक "लोकृ दर्शने" धातुसे लुङ्+त (कर्ममें) इस पद्यमें वृत्यनुप्रास अलङ्कार है ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन वाजिना।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत्पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अथ क्षणदापतिप्रभः पुरुहूतपौरुषः एषः प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभिः, जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव पुरः बहिः अभूत् ॥ ६७ ॥

व्याख्या—अथ = लोकविलोकनाऽनन्तरं, क्षणदापतिप्रभः = चन्द्रसदृशः, सुन्दर इत्यर्थः, पुरुहूतपौरुषः = इन्द्रसमपुरुषार्थयुक्तः, एषः = अयं, नल इत्यर्थः। प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन = वायुशिक्षणीयवेगेन, वाजिना = अश्वेन, क्षणात् = अल्प-

कालात्, ताभिः = पूर्वोक्ताभिः, जनदृष्टिवृष्टिभिः लोकदृष्टिपातैः, सह एव = समम् एव, पुरः = नगरात्, बहिः = बहिर्गतः, अभूत् = अवर्तिष्ट ॥ ६७ ॥

अनुवादः—अनन्तर चन्द्रमाके सदृश कान्तिसे सम्पन्न, इन्द्रके समान पराक्रमी नल वायुसे पढ़नेके योग्य वेगवाले घोड़ेपर आरूढ होकर अल्प क्षणमें ही जनोंके दृष्टिपातोंके साथ ही शहरसे बाहर हो गये ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—क्षणदापतिप्रभः=क्षणं ददातीति क्षणदा, क्षण-उपदपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय और टाप् । (उपपद०) । "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा ।" इत्यमरः । क्षणदायाः पतिः (ष० त०) । क्षणदापतेरिव प्रभा (कान्तिः) यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) । पुरुहूतपौरुषः = पुरुभिः (बहुभिः) हूतः (आकारितः), इति पुरुहूतः (तृ० त०) "पुरुहूतः पुरन्दरः" इत्यमरः । प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन = अध्येयः जवः यस्य सः (बहु०) प्रभञ्जनेन अध्येयजवः, तेन (तृ० त०) । वाजिना = बहिर्भवन क्रियामें "साधकतमं करणम्" इस सूत्रसे करणसंज्ञा होकर तृतीया । जनदृष्टिवृष्टिभिः = दृष्टीनां वृष्टयः (ष० त०) । जनानां दृष्टिवृष्टयः, ताभिः (ष० त०) । "सह" पदके योगमें तृतीया । पुरः="अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या" इस सूत्रमें पञ्चमी समासका विधान होनेसे पञ्चमी । अभूत् = भू + लुङ् + तिप् । इस पद्यमें "क्षणदापतिप्रभः" "पुरुहूतपौरुषः" इन दो स्थलोंमें उपमा और अश्ववेगका प्रभञ्जनसे अध्येयजवत्वका सम्बन्ध न होकर भी सम्बन्धकी उक्तिरूप अतिशयोक्ति इन दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ६७ ॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषामृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—ततः "प्रतीच्छ प्रहर" इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नलस्य नासीरगते सादिबले कुतूहलात् मृषामृधं वितेनतुः ॥ ६८ ॥

व्याख्या—ततः = पुरादबहिर्गमनाऽनन्तरं, प्रतीच्छ = गृहाण, मच्छस्त्रप्रहारं स्वाऽङ्गे स्वीकुर्विति भावः, प्रहर = मयि प्रहारं कुरु, इति = एवं, भाषिणी = भाषमाणे, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = अन्योन्यप्रसारिततोमराग्रे, नलस्य = नैषध्यस्य, नासीरगते = सेनामुखप्राप्ते, सादिबले = तुरङ्गसैन्ये, कुतूहलात् = कौतुकात्, मृषामृधं = मिथ्यायुद्धं, युद्धनाटकमित्यर्थः, वितेनतुः = चक्रतुः ॥ ६८ ॥

अनुवादः—नगरसे बाहर निकलनेके अनन्तर "मेरा शस्त्रप्रहार ले लो, प्रहार करो" ऐसा भाषण करते हुए परस्पर पल्लवके समान तोमरको उठाते हुए नलके

सेनामुखमें स्थित नलके घुड़सवारोंकी दो सेनाओंने कुतूहलसे मिथ्या युद्धका अभिनय किया ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—प्रतीच्छ=प्रति + इष् + लोट् + सिप् । प्रहर = प्र + हृ + लोट् + सिप् । भाषिणी = भाषते तच्छीले, भाष + णिनि + ओ । परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = "परस्परम्" यहाँपर पर शब्दसे वीप्सामें द्वित्व होकर "कस्कादिषु च" इससे सत्व हुआ है । परस्परम् उल्लासितानि (सुप्सुपा०) । शल्यानि पल्लवानि इव (उपमित०) "शल्यं तोमरम्" इत्यमरः परस्परोल्लासितानि शल्यपल्लवानि याभ्यां ते (बहु०) । नासीरगते = नासीरं गते (द्वि० त०), "सेनामुखं तु नासीरम्" इत्यमरः । सादिबले = अवश्यं सीदन्तीति सादिनः, "षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" धातुसे "आवश्यकाऽधमर्ण्ययोर्णिनिः" इससे णिनि । "अश्वारोहास्तु सादिनः" इत्यमरः । सादिनां बले (ष० त०) । मृषामृधं = "मृधमास्कन्दनं संख्यम्" इत्यमरः । वितेनतुः = वि-उपसर्गपूर्वक "तनु विस्तारे" धातुसे लिट् + तस (अतुस्), एत्व और अभ्यास लोप । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत्पदम्, तत् अम्भोधिः अपि स्थलायताम् इति इव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रज उत्थितम् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—इयम् = एषा, धरा = भूः, अस्माकं = धावताम् अश्वानाम्, प्रयातुं = प्रस्थातुं, कियत्पदं = किंपरिमाणं स्थानं, भवेदिति शेषः । न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः । तत् = तस्मात्, कारणात्, अम्भोधिः अपि = समुद्रः अपि, स्थलायतां = स्थलवत् आचरतु, भूरेव भवतु इति भावः । इति इव = इति मत्वा इव, निजवेगदर्पितैः = स्वजवदर्पयुक्तैः, वाहैः = अश्वैः, पयोधिरोधक्षमं = समुद्राच्छादनसमर्थं, रजः = धूलिः, उत्थितम् = उत्थापितम् "उद्धतम्, उद्धृतम्" इति पाठान्तरयोरपि अयमेवाऽर्थः ॥ ६९ ॥

अनुवादः—'यह पृथ्वी हम लोगोंके प्रस्थानके लिए कितने पगोंके लिए होगी ? इस कारण समुद्र भी स्थल हो जाय मानों ऐसा विचार कर अपने वेगसे दर्प करनेवाले घोड़ोंने समुद्रको आच्छादन करनेके लिए पर्याप्त धूल उड़ा दी ॥६९॥

टिप्पणी—प्रयातुं = प्र + या + तुमुन् । कियत्पदं = कियन्ति पदानि यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०) । अम्भोधिः = अम्भांसि धीयन्ते अत्र इति

अम्भस + धा + किः । स्थलायतां = स्थलवत् आचरतु "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ्, स्थल + क्यङ् + लोट्—त । निजवेगदर्पितैः = दर्पः संजातो येषां ते दर्पिताः, "दर्प" शब्दसे "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्प्रत्यय। निजश्चाऽसौ वेगः (क० धा०), तेन दर्पिताः, तैः (तृ० त०)। पयोधिरोधक्षमं= पयांसि धीयन्ते अस्मिन् पयोधिः, पयस् + धा + किः । पयोधे रोधः (ष० त०), तस्मिन् क्षमम् (स० त०) । रजः = "पांशुर्ना न द्वयोरजः" इत्यमरः । उत्थितम् = उद् + स्था + क्तः. यहाँ णिचका अर्थ अन्तर्भावित है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । ६९ ॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताऽऽननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभः कृतक्रमैः ॥ ७० ॥

अन्वयः—"यत् खं हरेः एककेन पदा अक्रामि, तस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे अपि हरीणां नः त्रपा" इति नम्रिताऽऽननैः अर्धनभः कृतक्रमैः तैः न्यवर्ति ॥७०॥

व्याख्या—यत्, खम् = आकाशं, हरेः = विष्णोः, एककेन = एकाकिना, असहायेन एकेनेति भावः, पदा=पादेन, अक्रामि=अलङ्घि, तस्य = खस्य, चतुर्भिः= चतुःसंख्यकैः, पदैः=पादैः, क्रमणे अपि=लङ्घने कृते अपि, हरीणां=वाजिनां, विष्णूनां चेति गम्यते, नः = अस्माकं, त्रपा=लज्जा, एकस्य हरेः एकाकिना पदेन यत् खं लङ्घितं, तस्य बहूनां हरीणाम् (अश्वानां, विष्णूनां वा) चतुर्भिः पदैर्लङ्घने लज्जेति भावः । इति=अस्मात् कारणात् इव, नम्रिताऽऽननैः=अवनतीकृतमुखैः, तथा अर्द्धनभःकृतक्रमैः =अर्द्धाकाशविहितपादविक्षेपैः, तैः=हरिभिः, न्यवर्ति= निवृत्तम् । एतेन प्लुतगतिरुक्ता तत्र गगनलङ्घनस्य संभवादिति भावः ॥ ७० ॥

अनुवादः—"जिस आकाशका विष्णुके एक चरणने लङ्घन किया था उस- (आकाश) का चार चरणोंसे लङ्घन करनेपर भी हरि (घोड़े अथवा बहुतसे हरि) हम लोगोंको लज्जा है" मानों इस कारणसे नम्र मुख करनेवाले तथा आधे आकाशमें चरणविक्षेप करनेवाले वे लोग लौट गये ।

टिप्पणी—खं= "नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम् ॥" इत्यमरः । एककेन=एक एव एककः, तेन 'एक' शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रमें चकारका पाठ होनेसे कन् प्रत्यय । पदा="पाद" शब्दकी टा विभक्तिमें "पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु" इस सूत्रसे पद आदेश । अक्रामि = क्रम + लुङ् (कर्ममें) + त । यहाँपर "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" इस सूत्रसे वृद्धि-निषेध होनेसे यह प्रयोग "च्युतसंस्कृति"

दोषसे युक्त है, "अक्रमि" होना इष्ट है। क्रमणे = क्रम + ल्युट् + ङि। हरीणां= "यमाऽनिलेन्द्रचन्द्राऽर्कविष्णुसिंहांऽशुवाजिषु। शुकाऽहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।" इत्यमरः। नः "अस्माकम्" के स्थानमें "बहुवचनस्य वस्नसौ" इस सूत्रसे नस् आदेश। नम्रिताऽऽननैः = नम्रं कृतं नम्रितम्, 'नम्र' शब्दसे णिच प्रत्यय कर क्तप्रत्यय। नम्रितम् आननं यैः, तैः (बहु०)। अर्धनभःकृतक्रमैः= अर्धं नभसः अर्धनभः "अर्धं नपुंसकम्" इससे समास। कृतः क्रमो यैस्ते कृतक्रमाः (बहु०)। अर्धनभसि कृतक्रमाः, तैः (स० त०)। न्यवर्ति=नि-उपसर्गपूर्वक "वृतु वर्तने" धातुसे भावमें लुङ्। इस पद्यमें "इति" के आगे "इव" पदका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि॥ ७१॥

अन्वयः–तस्य नृपस्य चमूचराः सैन्धवाः सादिनः जिनोक्तिषु श्राद्धतया इव तं विहारदेशम् अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि मण्डलीम् अपि अकारयन्॥ ७१॥

व्याख्या–तस्य=पूर्वोक्तस्य, नृपस्य = राज्ञः नलस्येत्यर्थः। चमूचरा, = सेनाचराः, सैन्धवाः = सिन्धुदेशोत्पन्नाः, सादिनः = अश्वारोहाः, जिनोक्तिषु = बुद्धवचनेषु, श्राद्धतया इव =श्रद्धालुतया इव, तं = प्रसिद्धं, विहारदेशं = सञ्चार-भूमिम्, बौद्धमठं च, अवाप्य=प्राप्य, तुरङ्गान् = अश्वान्, भूरि = बहुलं, मण्डलीम् अपि=मण्डलाकारं च, मण्डलासनं च, अकारयन् = कारितवन्तः, बौद्धा अपि स्वकर्माऽनुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः॥ ७१॥

अनुवादः–जैसे बौद्ध बुद्धके वचनमें श्रद्धालु होकर बौद्धमठमें मण्डलासन कराते हैं वैसे ही राजा नलके सैन्यमें रहनेवाले सिन्धु-देशवाले घुड़सवारोंने विहारभूमि पहुँचकर घोड़ोंको मण्डलाकार रूपमें भ्रमण कराया॥ ७१॥

टिप्पणी—नृपस्य=नृ + पा + कः (उपपद०)। चमूचराः = चम्वां चर-न्तीति, चमू-उपपदपूर्वक "चर" धातुसे "चरेष्टः" इस सूत्रसे ट प्रत्यय। सैन्धवाः = सिन्धौ भवाः, "सिन्धु" शब्दसे "तत्र भवः" इस सूत्रसे अण्। "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्।" इत्यमरः। जिनोक्तिषु = जिनस्य उक्तयः, तासु, (ष० त०) "समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः।" इत्यमरः। श्राद्धतया = श्रद्धा अस्ति येषां ते श्रद्धाः, "श्रद्धा" शब्दसे "प्रज्ञाश्रद्धा-ऽर्चाभ्यो णः" इस सूत्रसे ण प्रत्यय। श्रद्धानां भावः श्राद्धता, तया, श्राद्ध + तल् + टाप् + टा। विहारदेशं = विहारश्चाऽसौ देशः, तम (क० धा०)।

"विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये ।" इति विश्वः । अवाप्य=अव+आप्+क्त्वा (ल्यप्) । तुरङ्गमान् = "हृक्रोरन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे विकल्पसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया, एक पक्षमें "तुरङ्गमैः" ऐसा भी रूप बनता है। मण्डलीम् = "मण्डल" शब्दसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीष् । अकारयन् ='कृ' धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लङ्+झि । नल सत्ययुगमें हुए परन्तु बुद्धदेव कलियुगके प्रथम चरणमें हुए इसलिए नलके समयमें बौद्धोंके विहारकी चर्चा अनुचित प्रतीत होती है, पर नलसे पूर्वकल्पके बुद्धकी विवक्षा करनेसे दोषपरिहार समझना चाहिए । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलंकार है ।। ७१ ।।

द्विषद्भिरेवाऽस्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाऽब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधीर्यं मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ।। ७२ ।।

अन्वयः—अस्य द्विषद्भिः एव च दिशः विलङ्घिताः, अस्य यशोभिः एव अब्धिः गोष्पदम् अकारि; इति इव तुरंगमैः धाराम् अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि ।। ७२ ।।

व्याख्या—अस्य = नलस्य, द्विषद्भिः एव = शत्रुभिः एव, पलायमानैरिति शेषः । दिशः = ककुभः, विलङ्घिताः = अतिक्रान्ताः, अस्य = नलस्य, यशोभिः एव = कीर्तिभिः एव, अब्धिः = समुद्रः, गोष्पदं = गोखुरप्रमाणः, अकारि = कृतः इति = एवं विचार्य, इव, अन्यसामान्यं कर्म उत्कर्षाय न भवेदिति विमृश्य इवेति भावः । तुरंगमैः = अश्वैः, धाराम्=आस्कन्दितादिगतिम् । अवधीर्य = अनादृत्य, मण्डलीक्रियाश्रिया=मण्डलीकरणशोभया, मण्डलगत्यैव इति भावः । स्थली = अकृत्रिमा भूमिः, अमण्डि = मण्डिता, भूषितेति भावः ।। ७२ ।।

अनुवाद—नलके शत्रुओंने ही दिशाओंको लङ्घन किया है इनकी कीर्तियोंने ही समुद्रको गायके खुरके समान बना डाला है, मानों ऐसा विचार कर घोड़ोंने आस्कन्दित आदि गतियोंका अनादर करके मण्डलीकरणकी शोभासे भूमिको अलङ्कृत कर दिया ।। ७२ ।।

टिप्पणी—द्विषद्भिः = द्विषन्तीति द्विषन्तः, तैः, "द्विष अप्रीतौ" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश । "रिपौवैरिसपत्नाऽरिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः ।" इत्यमरः । अब्धिः=आपः धीयन्ते अत्र, अप्+धा+किः, "समुद्रोऽब्धिरकूपारः" इत्यमरः । गोष्पदं = गावः पद्यन्ते अस्मिन्स्थले तत्, गोभिः सेवितं गोष्पदं, "गोष्पदं सेविताऽसेवितप्रमाणेषु" इस सूत्रसे सुट् और 'स' के स्थानमें "ष" । अकारि = "कृत"

धातुसे लुङ्+त (कर्ममें), धाराम् = जातिमें एकवचन। आस्कन्दित आदि पाँचों गतियोंको यह तात्पर्य है जैसे कि—

"आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्।"

"गतयोऽमूः पञ्चधाराः" इत्यमरः। अवधीर्य = अव—अधि—उपसर्गपूर्वक "ईर प्रेरणे" धातुसे 'क्त्वा' के स्थानमें ल्यप् आदेश। "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इससे पररूप। मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डल्या· क्रिया (ष० त०), तस्या श्रीः; तया (ष० त०)। स्थली = अकृत्रिम अर्थमें "जानपदकुण्डगोणस्थल०" इत्यादि सूत्रसे ङीष् प्रत्यय। कृत्रिम भूमिके लिए "स्थला" ऐसा प्रयोग होता है। अमण्डि = "मडि भूषायाम्" धातुसे णिच् होकर लुङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा इन दोनों अलंकारोंका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर है॥ ७२॥

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत्किमद्याऽपि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्॥ ७३॥

अन्वयः—नलः निजातपत्रस्य तलस्थले हयेन या भ्रमीः चारु अचीकरत्, तासु मरुत् अद्य अपि वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य किं न शिक्षते ?॥ ७३॥

व्याख्या—नलः = नैषध्यः, निजाऽऽतपत्रस्य = स्वच्छत्रस्य, तलस्थले=अधःप्रदेशे, हयेन = अश्वेन, याः, भ्रमीः = मण्डलगतीः, चारु = मनोहरं यथा तथा अचीकरत् = कारितवान्, तासु = भ्रमीषु विषये, मरुत् = वायुः, अद्य अपि= अधुना अपि, वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = वातसमूहमयमण्डलगतीः, वितत्य = विस्तीर्य, किं न शिक्षते = किमर्थं न जिज्ञासते, शिक्षितश्चेन्मरुत् तथा गतिं कुर्यादिति भावः। नलो वायोरप्यसंभाविता गतीः अश्वेन कारयामासेति तात्पर्यम्॥ ७३॥

अनुवादः—नलने अपने छत्रके अधोभागमें घोड़ेसे जिन मण्डलगतियोंको मनोहरतासे कराया, उनमें वायु अभी भी वायुओंकी मण्डलगतियोंको फैलाकर क्यों नहीं सीखना चाहता है ?॥ ७३॥

टिप्पणी—निजातपत्रस्य = आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्, आतप+त्रै (त्रा)+कः (उपपद०)। निजं च तत् आतपत्रं, तस्य (क० धा०)। तलस्थले = तलञ्च तत् स्थलं तस्मिन् (क० धा०)। हयेन="हृक्रोरन्यतरस्याम्" इससे कर्तृत्वके वैकल्पिक होनेसे तृतीया। भ्रमीः = "भ्रमु अनवस्थाने" धातुसे "इक् कृष्यादिभ्यः" इससे इक्। चारु=यह क्रियाविशेषण है। अचीकरत् = णिजन्त 'कृ' धातुसे लुङ्+तिप्। "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्" इससे

षङ् और द्वित्व आदि । वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्=वातानां समूहो, वात्या, "वात" शब्दसे "पाशादिभ्यो यः" इस सूत्रसे य प्रत्यय और टाप् । वात्यास्वरूपा वात्यामयाः, 'वात्या' शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे स्वरूप अर्थमें मयट् । पुनः पुनः क्रमणानि चङ्क्रमाः, "क्रमु पादविक्षेपे" धातुसे "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्" इस सूत्रसे यङ्, द्वित्व होकर घञ्, ह्रस्व अकारका लोप और "यस्य हलः" इससे यकारका लोप । चक्रस्य चङ्क्रमाः (ष० त०) । वात्यामयाश्च ते चङ्क्रमाः, तान् (क० धा०) । वितत्य = वि + तन् + क्त्वा (ल्यप्) । शिक्षते = शक धातुसे "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" इस सूत्रसे सन् प्रत्यय और शिक्षेर्जिज्ञासायाम्" इससे आत्मनेपद लट् + त । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७३ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात्क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाऽम्भसां निधिम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः — ततः हरिः सुषुप्सया विलासकाऽननं प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायम् अम्भसां निधिम् इव स क्षोणिपतिः धृतीच्छया गत्वा प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायं विलासकाननं क्षणात् विवेश ॥ ७४ ॥

व्याख्या—ततः = अनन्तरं, हरिः = विष्णुः, सुषुप्सया = स्वप्तुम् इच्छया, विलासकाऽननं = सर्पप्राणनं, प्रवालरागच्छुरितं = विद्रुमाऽऽरुण्यरूषितं घनच्छायं = मेघकान्तिम्, अम्भसां = जलानां, निधिम् इव = शेवधिम् इव; समुद्रम् इवेत्यर्थः । सः = पूर्वोक्तः, क्षोणिपतिः = भूपतिः, नल इति भावः । धृतीच्छया= सन्तोषकाङ्क्षया, गत्वा = गमनं कृत्वा; प्रवालरागच्छुरितं = पल्लवारुण्यराञ्जतं, घनच्छायं = सान्द्राऽनातपं, विलासकाननं = क्रीडावनं, क्षणात् = अल्पकालात्, विवेश = प्रविष्टः ॥ ७४ ॥

अनुवादः—तब जैसे भगवान् विष्णु सोनेकी इच्छासे सर्पोंके स्थानभूत, मूँगोंके वर्णसे रञ्जित, मेघकी समान कान्तिसे युक्त समुद्रमें प्रवेश करते हैं वैसे ही राजा नलने दिल बहलानेकी इच्छासे जाकर पल्लवोंके वर्णसे अनुरञ्जित, गाढ छायासे सम्पन्न क्रीडावनमें थोड़े ही समयमें प्रवेश किया ॥ ७४ ॥

टिप्पणी सुषुप्सया = स्वप्तुम् = इच्छा सुषुप्सा, तया "ञिष्वप् शये" धातुसे सन् प्रत्यय, द्वित्व होकर तदन्तसे "अ प्रत्ययात्" इससे अ प्रत्यय और टाप्—टा । विलासकाऽननं = 'ब' और 'व' में अभेद होनेसे बिले आसते इति बिलासकाः, (सर्पाः), बिल-उपपदपूर्वक आस धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे ण्वुल् (अक)

प्रत्यय । विलासकानाम् अननम् (प्राणनम्), तत् (ष० त०)। प्रवालराग-च्छुरितं = प्रवालानां रागः, (ष० त०), "प्रवालो वल्लकादण्डे विद्रुमे नव-पल्लवे।" इत्यमरः। प्रवालरागेण छुरितः, तम् (तृ० त०)। घनच्छायं= घनस्य (मेघस्य) इव छाया यस्य, तम् (व्यधिकरणबहु०)। क्षोणिपतिः=क्षोणेः पतिः (ष० त०)। धृतीच्छया=धृतेः इच्छा, तया (ष० त०)। गत्वा = गम् धातुसे "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्रसे क्त्वा। घनच्छायं = घना छाया यस्य, तत् (बहु०)। "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति विश्वः। विलासकाननं= विलासस्य काननं, तत् (ष० त०)। विवेश = "विश प्रवेशने" धातुसे लिट् + तिप्। इस पद्यमें पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

वनाऽन्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।

न्यवर्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥ ७५ ॥

अन्वयः अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः, पुरौकसां दृष्टिप्रकरैः वनान्तपर्यन्तं सस्पृहम् उपेत्य क्रमेण तस्मिन् अवतीर्णदृक्पथे (सति) न्यवर्ति ॥ ७५ ॥

व्याख्या अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः = अनुगच्छद्बान्धवसङ्घसदृशैः स्नेहा-दिति शेषः। पुरौकसां = नगरवासिनां, दृष्टिप्रकरैः = नेत्रसमूहैः (कर्तृभिः), वनाऽन्तपर्यन्तं = काननोपान्तसीमाम्, उदकप्रान्तपर्यन्तं च, सस्पृहं = साऽभिलाषं यथा तथा, उपेत्य=गत्वा, क्रमेण = समयपरिपाट्या, तस्मिन् = नले, अवतीर्ण-दृक्पथे = अतिक्रान्तनेत्रविषये सति, न्यवर्ति = निवृत्तम्। यथा जनाः प्रवासोन्मुखं जनं जलाशयं यावदनुगम्य "ओदकान्तमनुव्रजेत्" इति शास्त्रेण निवर्तन्ते तथैव बन्धुसदृशानि नागरिकाणां नेत्राणि अपि गच्छन्तं नलं काननोपान्तसीमां यावद् गत्वा, तस्मिन्नतिक्रान्तनेत्रभागे सति न्यवर्तन्त इति भावः ॥ ७५ ॥

अनुवादः—पीछे जानेवाले बान्धवसमाजोंके सदृश नगरवासियोंके नेत्र उपवन की सीमातक जाकर क्रमसे नलके दृष्टिसे ओट हो जानेपर लौट गये ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः = अनुव्रजन्तः। अनुव्रजन्तः, अनु+ व्रज+लट् (शतृ) + जस्। बन्धूनां समाजाः (ष० त०)। अनुव्रजन्तश्च ते बन्धुसमाजाः (क० धा०)। अनुव्रजद्बन्धुसमाजानां बन्धवः तैः (ष० त०)। यहाँपर पिछले 'बन्धु' शब्दका अर्थ सदृश है। पुरौकसां = पुरम् ओकः येषां ते पुरौकसः, तेषाम् (बहु०)। दृष्टिप्रकरैः = दृष्टीनां प्रकराः, तैः (ष० त०)। वनाऽन्तपर्यन्तं = वनस्य अन्तः (ष० त०)। 'वन" का अर्थ यहाँपर "अटव्य-रण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्।" इत्यमरः, इस कोशके अनुसार वन और "वने

सलिलकानने" इत्यमरः इस कोशके अनुसार जल अर्थ भी होता है। वनान्तस्य-पर्यन्तम् (ष० त०)। सस्पृहं = स्पृहया सहितं यथा तथा (तुल्ययोगबहु०)। उपेत्य = उप + इण् + क्त्वा (ल्यप्)। अवतीर्णदृक्पथे = दृशोः पन्था दृक्पथः (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय। अवतीर्णःदृक्पथः येन तस्मिन् (बहु०)। भावलक्षणमें सप्तमी। न्यवर्ति = नि + वृत् + लुङ् + त (भावमें लुङ्)। जैसे प्रवासमें जानेके लिए उद्यत जनको बन्धुगण जलाशयतक उसको पहुँचाकर लौट जाते हैं वैसे ही बगीचेमें जाते हुए नलके दृष्टिपथसे ओट होनेपर पुरवासियोंके नेत्र लौट पड़े यह तात्पर्य है। इस पद्यमें चतुर्थ चरणमें उपमा अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननरामणीयकम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः— ततः स जनाऽधिपः मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं व्यलोकयत् ॥ ७६ ॥

व्याख्या— ततः = अनन्तरं, सः = पूर्वोक्तः, जनाऽधिपः = नरेशः, नल इत्यर्थः। मञ्जुले = मनोहरे, प्रसूने = पुष्पे, मञ्जुले फले च = सस्ये च, सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना = अभिमुखस्थकरशाखेन, वनपालपाणिना = उद्यानरक्षकहस्तेन, निवेद्यमानं = ज्ञाप्यमानं, प्रदर्श्यमानमिति भावः। काननरामणीयकं = वनसौन्दर्यं व्यलोकयत् = अपश्यत् ॥ ७६ ॥

अनुवाद:-- तब राजा नलने सुन्दर फूल और फलमें उद्यानरक्षकसे उँगलियोंको सम्मुख कर दिखलायी गयी वनकी सुन्दरताको देखा ॥ ७६ ॥

टिप्पणी— जनाऽधिपः = जनानाम् अधिपः (ष० त०)। संमुखस्थाङ्गुलिना = सम्मुखं तिष्ठन्तीति सम्मुखस्थाः, सम्मुख + स्था + कः (उपपद०)। सम्मुखस्था अङ्गुलयः यस्य सः तेन (बहु०)। "अङ्गुल्यः करशाखाः स्युः" इत्यमरः। वनपालपाणिन = वनं पालयतीति वनपालः, वन-उपपदपूर्वक "पाल रक्षणे धातुसे "कर्मण्यम्" इस सूत्रसे अण् (उपपद०)। वनपालस्य पाणिः, तेन (ष० त०)। निवेद्यमानः = निवेद्यत इति, तत्, नि + विद + णिच् + लट् (कर्ममें) + यक् + शानच् + अम्। काननरामणीयकं = रमणीयस्य भावो रामणीयकम्, रमणीयशब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय। "कामनीयकम्" ऐसे पाठमें भी कमनीयस्य भावः ऐसा विग्रह और पूर्व सूत्रसे वुञ्। अर्थ भी वही है। काननस्य रामणीयकं, तत् (ष० त०)। यहाँ

पर "रामणीयकम्" इस गुणवाचकपदके साथ 'कानन' पदका समास 'पूरणगुण-सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाऽधिकरणेन" इस सूत्रसे निषिद्ध था परन्तु "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" इत्यादि निर्देशसे वह निषेध अनित्य है, अतः समास हुआ। व्यलोकयत्=वि+लोकृ+णिच्+लङ्+तिप्। इस पद्यमें मञ्जुलत्वरूप एक गुणके साथ प्रसून और फल इन पदार्थोंका अभिसम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माऽभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥" सा० द० १०-६६।

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥ ७७॥

अन्वयः—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितैः वने शाखिभिः महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि॥ ७७॥

व्याख्या—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते=पक्षिपातोत्पन्नवायुकम्पिते, महर्षि-पक्षे—बाल्याद्यवस्थाऽपगमोत्पन्नवातदोषकम्पिते, पल्लवे करे=किसलये एव पाणौ, महर्षिपक्षे—पल्लवे = किसलये इव कोमल इति भावः, करे = पाणौ, फलानि= सस्यानि, पुष्पाणि च=कुसुमानि च, समाधाय = निधाय, स्थितैः = तिष्ठद्भिः, वने = उपवने, शाखिभिः = वृक्षैः, वेदशाखाऽध्यायिभिश्च, महर्षिवार्द्धकात् = वृद्धमहर्षिसङ्घात्, तदातिथ्यं = नलाऽतिथिसत्कारः, अशिक्षि = शिक्षितम्, नो चेत्कथमिदमाचरितमिति भावः॥ ७॥

अनुवादः—बाल्य आदि अवस्थाके बीतनेसे उत्पन्न वात दोषसे कम्पित पल्लवके समान हाथमें फलों और फूलोंको लेकर रहनेवाले वेदशाखाका अध्ययन करनेवाले बूढ़े महर्षियोंके समान वनमें पक्षियोंके उड़नेसे उत्पन्न हवासे हिलते हुए पल्लवरूप हाथमें फलों और फूलोंको लेकर रहनेवाले वृक्षोंने बूढ़े महर्षियोंसे राजाके आतिथ्यको सीखा॥ ७७॥

टिप्पणी—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = वयसः अतिपातः (ष० त०), "खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः। वयोतिपातेन उद्गतः (तृ० त०), स चाऽसौ वातः (क० धा०) तेन वेपितः, तस्मिन् (तृ० त०)। महर्षिपक्षमें "पल्लवे" यहाँपर पल्लव सदृशमें लक्षणा है। वृक्षपक्षमें "पल्लवे एव करे" इस प्रकार व्यस्तरूपक है। समाधाय = सम्+आङ्+धा+क्त्वा (ल्यप्)। शाखिभिः = शाखाः (महर्षि-पक्षमें वेदशाखाः) सन्ति येषां ते, तैः "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस

सूत्रसे इनि प्रत्यय। महर्षिवार्द्धकात् = महान्तश्च ते ऋषयः महर्षयः, 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः'' इस सूत्रसे समास और "आन्महतः समानाधिकरणजातीययो." इससे आत्व और अर् गुण। वृद्धानां समूहो वार्द्धकम्, 'वृद्ध' शब्दसे "वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे वुञ् प्रत्यय। महर्षीणां वार्द्धकं, तस्मात् (ष० त०), सामर्थ्यसे वृत्तिके अन्तर्गत 'वृद्ध' शब्दका अन्वय होकर "शिवभागवत" पदके समान समास हुआ है। "आख्यातोपयोगे" इससे अपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी। तदातिथ्यम्=अतिथये इदम् आतिथ्यम्='अतिथि' शब्दसे "अतिथेर्ञ्यः" इस सूत्रसे ञ्य प्रत्यय। तस्य आतिथ्यम् (ष० त०)। अशिक्षि = "शिक्ष विद्योपादाने" धातुसे कर्ममें लुङ्+त। इस पद्यमें "पल्लवे करे" यहाँपर व्यस्तरूपक, श्लेष और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवान्मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—कौतुकी स तत्र विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात् मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितम् आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानं केतकं ददर्श ॥ ७८ ॥

व्याख्या—कौतुकी = कुतूहली, आरामदर्शन इति शेषः। सः = नलः, उपवने, विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात् = विकसिदलपङ्क्ति स्थितभ्रमरच्छलात्, मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितं=शिवपरिहारोपार्जितम् आशासु=दिशासु, चरिष्णु = संचरणशीलं दुर्यशः = अपकीर्ति, दधानं = धारयत्, केतकं = केतकी कुसुमं, ददर्श = दृष्टवान् ॥ ७८ ॥

अनुवादः—उपवन देखनेके लिए कुतूहल रखनेवाले नलने वहाँपर विकसित पत्तोंकी पङ्क्तिमें स्थित भ्रमरके छलसे शिवजीके छोड़नेसे उपार्जित तथा दिशाओंमें सञ्चरणशील अपकीर्तिको धारण करते हुए केतकी पुष्पको देखा ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—कौतुकी = कौतुकम् अस्याऽस्तीति, 'अतइनिठनौ'' इस सूत्रसे इनि प्रत्यय, कौतुक+इनिः। विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात् = पत्त्राणाम् आलिः (ष० त०)। विनिद्रा चाऽसौ पत्त्राऽऽलिः (क० धा०)। विनिद्रपत्त्रालिगतः (द्वि० त०)। ते च ते अलयः (क० धा०)। विनिद्रपत्त्राऽऽलिगतालीनां कैतवं, तस्मात् (ष० त०)। मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितं = मृगः अङ्कः यस्य सः (बहु०)। चूडाया मणिः (ष० त०)। मृगाङ्कः चूडामणिः यस्य सः (बहु०), शिव इत्यर्थः। मृगाऽङ्कचूडामणिना वर्जनम् (तृ० त०)। तेन

अर्जितम् (तृ० त०) तत् । चरिष्णु = चरणशीलं तत्, 'चर' धातुसे "अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्" इससे इष्णुच् । दुर्यशः = दुष्टं यशः, तत् "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे समास । केतकं = केतक्या विकारः (पुष्पम्) इति केतकं, तत् । 'केतकी' शब्दसे "तस्य विकारः" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय, उसका "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे लुक् और "लुक् तद्धितलुकि" इससे स्त्रीप्रत्ययका लुक् । ददर्श = दृश् + लिट् + तिप् ।

पूर्वकालमें ब्रह्मा और विष्णुके श्रेष्ठत्वके विषयमें विवाद होनेपर शिवलिङ्ग प्रकट हुआ और "इसका ऊर्ध्वभाग और अधोभाग जो देख सके वह श्रेष्ठ है" ऐसी आकाशवाणी के होनेपर ब्रह्मा ऊपर और विष्णु नीचे गये । विष्णु शिवलिङ्गका पार न पाकर लौट गये, परन्तु ब्रह्माजीने पार न पाकर भी मैंने पार पाया कहकर केतकी पुष्पकी साक्षी बनाया । तब मिथ्याभाषणके कारण शिवजीने केनकी का वर्जन किया, अतएव "न केतक्या सदाशिवम्" ऐसे निषेधवचन का उद्गम हुआ, ऐसी पौराणिक प्रसिद्धि है । इस पद्यमें "अलिकैतवात्" इस पदमें अलित्वका अपह्नव कर उसमें दुर्यशस्त्वका स्थापन करनेसे कैतवाऽपह्नुति अलङ्कार और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है । उन दोनोंकी संसृष्टि है ।। ७८ ।।

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ।। ७९ ।।

अन्वयः—(हे केतक !) यत् (त्वम्) स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुः कर्णिशरः (सन्) निधीयसे, ततो दुराकर्षतया तदन्तकृत् (सन्) मन्मथदेहदाहिना विगीयसे ।। ७९ ।।

व्याख्या – अथ नलः कामोद्दीपकत्वात्त्रिभिः केतकमुपालभते वियोगभाजामिति । (हे केतक !) यत् = यस्मात्कारणात् (त्वम्), स्मरेण = कामदेवेन, वियोगभाजां = विरहिणां जनानां, हृदि = वक्षःस्थले, कण्टकैः = निजतीक्ष्णाऽवयवैः, कटुः = तीक्ष्णः, कर्णिशरः = प्रतिलोमशल्यवद्बाणः सन्, निधीयसे = निक्षिप्यसे, ततः = तस्मात्करणात्, दुराकर्षतया = दुरुद्धारतया, तदन्तकृत् = वियोगिनाशकारी सन्, मन्मथदेहदाहिना = स्मरहरेण, विगीयसे = निन्द्यसे, अतएव परिह्रियसेऽपीति शेषः । ७९ ।।

अनुवाद हे केतकीपुष्प ! जो तुम कामदेवसे वियोगियोंके हृदयमें काँटोंसे तीक्ष्ण और नुकीला बाणवाला होकर रक्खे जाते हो, दुःखसे निकाला जानेवाला होकर वियोगियोंका प्राण लेनेसे महादेव तुम्हारी निन्दा करते हैं ।। ७९ ।।

टिप्पणी—वियोगभाजां = वियोगं भजन्तीति वियोगभाज:-तेषाम् वियोग-उपपदपूर्वक भज धातुसे "भजो ण्वि:" इस सूत्रसे ण्विप्रत्यय (उपपद०)। कर्णिशर: = कर्ण इव कर्ण:, स: अस्याऽस्तीति कर्णी, कर्ण + इनि: । कर्णी चाऽसौ शर: (क० धा०)। निधीयसे = नि-उपसर्गपूर्वक धा धातुसे कर्ममें लट् । दुराकर्षतया=दु:खेन आक्रष्टुं शक्य: दुराकर्ष:, दुर् + आङ् + कृष् + खल् (उपपद०)। तस्य भाव: तत्ता, तया, दुराकर्ष + तल् + टाप् + टा । तदन्तकृत् = तेषाम् अन्त: (ष० त०)। तदन्तं करोतीति, तदन्त + कृ + क्विप् (उपपद०) । विगीयसे = वि-उपसर्गपूर्वक गै धातुसे लट् (कर्ममें) थास् (से)। द्वेष्य कामदेवके समान द्वेष्यका साधन भी असह्य होता है, वह भी हिंसाशील हो तो क्या कहना है? यह तात्पर्य है। शिवजीसे की गयी कामनिन्दामें कामदेवसे की गयी वियोगि-हिंसाकी कारणताकी उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और केतकी पुष्पमें कर्णिशरत्वका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार, इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है।७९।

त्वदग्रसूचीसचिव: स कामिनोर्मनोभव: सीव्यति दुर्यश:पटौ ।
स्फुटं च पत्त्रै: करपत्त्रमूर्तिभिर्वियोगहृद्दारुणि दारुणायते ।। ८० ।।

अन्वय:—त्वदग्रसूचीसचिव: स मनोभव: कामिनो: दुर्यश:पटौ सीव्यति । च करपत्त्रमूर्तिभि: पत्त्रै: वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ।। ८० ।।

व्याख्या—(हे केतक !) त्वदग्रसूचीसचिव: = त्वन्मूलसीवनीसहकारी, स: = प्रसिद्ध:, मनोभव: = कामदेव:, कामिनो: = तरुणदम्पत्यो:, दुर्यश:पटौ = अपकीर्तिवस्त्रे, सीव्यति = योजयति, कण्टकस्यूतं करोतीति भाव: । च = किञ्च, करपत्त्रमूर्तिभि: = क्रकचाकारै:, पत्त्रै: = दलै:, वियोगिहृद्दारुणि = विरहिवक्ष:-काष्ठे, दारुणायते = भीषणवत् आचरति ।। ८० ।।

अनुवाद:—(हे केतकीपुष्प !) तुम्हारी नोकरूप सुईकी सहायतासे कामदेव तरुण दम्पतियोंके अपकीर्तिरूप वस्त्रको सीता है और आरेके समान आकारवाले पत्तोंसे वियोगियोंके वक्ष:स्थलरूप काष्ठमें भयङ्कर आचरण करता है।८०।

टिप्पणी—त्वदग्रसूचीसचिव: = तव अग्राणि त्वदग्राणि (ष० त०), युष्मद् शब्दके स्थानमें "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्रसे उत्तरपदके परे रहते "त्वन्" आदेश हुआ है। त्वदग्राणि एव एव सूच्य: (रूपकम्)। त्वग्रसूच्य: एव सचिवा यस्य स: (बहु०)। मनोभव:=मनसि भवतीति, मनस् + भू + अच् । कामिनो: = कामिनी च कामी च कामिनौ, तयो: "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्रसे एकशेष । दुर्यश:पटौ = दुष्टे यशसी (गति०), ते एव पटौ, तौ (रूपक०)। सीव्यति=

षिवु तन्तुसन्ताने" धातुसे लट् + तिप्। "हलि च" इससे दीर्घ। करपत्र-मूर्तिभिः = करपत्रस्य इव मूर्तिर्येषां तानि करपत्रमूर्तीनि, तैः (व्यधिकरण-बहु०)। "क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्" इत्यमरः। वियोगिहृद्दारुणि=वियोगिनः हृत् (ष० त०)। वियोगिहृत् एव दारु, तस्मिन् (रूपक०)। "काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्।" दारुणायते=दारुणवत् आचरति, 'दारुण' शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ् + लट् + त। इस पद्यमें रूपक और उपमा का संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन केतकम् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—(हे केतक !) "प्रसूनधन्वा धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि तव परागैः धूलिहस्तयन् भीमजापरं मां शरसात् करोति", इति तेन क्रुधा केतकम् आक्रुश्यत ॥ ८१ ॥

व्याख्या—(हे केतक !) प्रसूनधन्वा = पुष्पचापः, काम इति भावः। धनु-र्मधुस्विन्नकरः अपि = कार्मुक (पुष्प) मकरन्दार्द्रपाणिः सन् अपि, तव=केतकी-पुष्पस्य, परागैः = रजोभिः, धूलिहस्तयन् = धूलिहस्तम् आत्मानं कुर्वन्, अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, भीमजापरं = दमयन्त्यासक्तं, मां = नलं, शरसात् = शराऽधीनं, करोति = बिदधाति, इति=इत्थं, श्लोकत्रयोक्त्या इति भावः। तेन= नलेन, क्रुधा = क्रोधेन, केतकं = केतकीपुष्पम्, आक्रुश्यत = आक्रुष्टं, निन्दित-मिति भावः ॥ ८१ ॥

अनुवाद—("हे केतकीपुष्प !) पुष्परूप धनुको लेनेवाला कामदेव पुष्प-रूप धनुके मकरन्द (रस) से आर्द्रपाणि होकर भी तेरे परागसे हाथको धूलि-युक्त करता हुआ दमयन्तीमें आसक्त मुझको वाणका लक्ष्य बनता है" इस प्रकारसे (तीन श्लोकोंकी उक्तिसे) नलने केतकीपुष्पकी निन्दा की ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—प्रसूनधन्वा = प्रसूनं धन्व यस्य सः (बहु०)। "धनुश्चापौ धन्व शरासनकोदण्डकार्मुकम्।" इत्यमरः। अथवा प्रसूनं धनुः यस्य सः (बहु०), "धनुषश्च" इस सूत्रसे विकल्पसे अनङ्। "पुष्पधन्वा रतिपतिः" इत्यमरः। धनु-र्मधुस्विन्नकरः=धनुषः मधु (ष० त०), "मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" इत्यमरः। स्विन्नः करः यस्य सः (बहु०)। धनुर्मधुना स्विन्नकरः (तृ० त०)। परागैः= "परागः सुमनोरजः" इत्यमरः। धूलिहस्तयन्=धूलियुक्तो हस्तः धूलिहस्तः, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपद-

लोपी समास । धूलिहस्तं कुर्वन् धूलिहस्तयन्, "धूलिहस्त" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लट्के स्थानमें शतृ आदेश । भीमजापरं = भीमाज्जाता भीमजा, भीम + जन् + टाप् । भीमजायां परः, तम् (स० त०) । शरसात्=शराऽधीनम्, "शर" शब्दसे "तदधीनवचने" इस सूत्रसे साति प्रत्यय । करोति = कृ + लट् + तिप् । क्रुधा="कोपक्रोधाऽमर्षरोषप्रतिघा। रुट्क्रुधौ स्त्रियौ" इत्यमरः । आक्रुश्यत=आङ्-उपसर्गपूर्वक "क्रुश आह्वाने रोदने च" धातुसे कर्ममें लङ् + त । इस पद्यमें कामका धनु (फूल) के रससे आर्द्र हाथ होनेका, केतकी के रजवाला हाथ होनेका और नलकर्तृक कामनिन्दाका भी सम्बन्ध न होनेपर भी तत्तत्सम्बन्धकी उक्ति होनेसे तीन अतिशयोक्ति अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ८१ ॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये घटानिवाऽपश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

अन्वयः—स दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये अलं तपस्यतः धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत् ॥ ८२ ॥

व्याख्या—सः=नलः, दोहदधूपिनि = फलवर्द्धकदोहदधूपयुक्ते, दाडिमे = करके, द्रुमे = वृक्षे, विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये = दमयन्तीपयोधरोन्नतत्तालाभाय, अलम् = अत्यर्थं, तपस्यतः = तपश्चरतः अतः धूमस्य = दोहदधूमस्य, धयान् = पातॄन्, पानकारिण इत्यर्थः, अधोमुखान् = अवनतवदनान्, घटान् इव=कुम्भान् इव, फलानि = दाडिमफलानि, अपश्यत् = दृष्टवान्, उन्नतिलाभार्थमन्येऽपि अधोमुखत्वेन धूमं पीत्वा तपश्चरन्तीति भावः ॥ ८२ ॥

अनुवादः—नलने (फलादिवर्द्धक) दोहदधूपवाले अनारके पेड़में दमयन्तीके पयोधरोंकी ऊँचाई पानेके लिए अत्यन्त तपस्या करते हुए और धूमको पीनेवाले अधोमुख घटोंके समान फलोंको देखा ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—दोहदधूपिनि=दोहदश्चासौ धूपः (क० धा०) । वृक्ष, गुल्म और लताओंमें फूल और फल उत्पन्न होनेके समयसे पूर्व ही फूल और फलोंके उत्पादनके लिए जिस द्रव्यका उपयोग किया जाता है उसे "दोहद" कहते हैं । जैसे कि—

"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् ।
पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ।" (शब्दार्णव) ।

दोहदधूपः अस्याऽस्तीति दोहदधूपी, तस्मिन् (दोहदधूप + इनि + ङि) । दाडिमे="समौ करकदाडिमौ" इत्यमरः । विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये=शोभने

भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः (बहु०), विदर्भेषु सुभ्रूः, दमयन्तीत्यर्थः (स० त०); विदर्भसुभ्रुवः स्तनौ (ष० त०)। तुङ्गस्य भावः तुङ्गता, तुङ्ग+तल्+टाप्। विदर्भसुभ्रूस्तनयोः तुङ्गता (ष० त०), तस्या आप्तिः, तस्मै (ष० त०), "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इस वार्तिकसे चतुर्थी। तपस्यतः = तपश्चरतीति तपस्यन्, तस्य, "तपस्" शब्दसे "कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः" इस सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय और "तपसः परस्मैपदं च" इससे परस्मैपद होकर लट् (शतृ)+ङस। धयान् = धयन्तीति धयाः, तान् "धेट् पाने" धातुसे "पाघ्राध्माधेड्दृशः शः" इस सूत्रसे श प्रत्यय। अधोमुखान् = अधो मुखं येषां ते, तान् (बहु०)। अपश्यत् = दृश् (पश्य) + लङ् = तिप्। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।८२।

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।

फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगाम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—असौ वियोगिनीं प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टकां फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगां दाडिमीम् ऐक्षत ॥ ८३ ॥

व्याख्या असौ = नलः, वियोगिनीं = पक्षियोगिनीं, विरहिणीं च। प्रियस्मृतेः=प्रीतिकरणदोहदादिस्मरणात्, नायकस्मरणाच्च। स्पष्टं = व्यक्तम्, उदीतकण्टकाम् = उत्पन्नतीक्ष्णाऽग्रऽवयवाम्, उत्पन्नरोमाञ्चां च, फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकाऽऽस्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगां = दाडिमीफलस्थलस्फुटितरक्तहृदयप्रविशत्कीरमुखकामपलाशबाणां, दाडिमीं-दाडिमवृक्षं, कांचिन्नायिकां च, ऐक्षत = अपश्यत् ॥ ८३ ॥

अनुवादः--जिसपर तोता बैठा था, प्रियके स्मरणसे रोमाञ्चसे युक्त वियोगिनी स्त्रीके समान कण्टकयुक्त, नायिकाके फलसदृश स्तनोंके भीतर अनुरागयुक्त विदीर्ण हृदयमें प्रविष्ट कामदेवके पलापुशष्परूप बाणके सदृश जिसके विदीर्ण लाल फलमें प्रविष्ट तोतेकी चोंच दिखाई पड़ती थी ऐसी दाडिमी (अनार केपेड़) को राजा नलने देखा ॥ ८३ ॥

टिप्पणी —वियोगिनीं = वियोगः अस्या अस्तीति वियोगिनी ताम्, वियोग+इनि+ङीप्। दाडिमी (दाडिम) वृक्ष में यह व्युत्पत्ति है। विना (पक्षिणा) योगिनी (संयुक्ता) (तृ० त०) विरहिणी स्त्रीमें यह व्युत्पत्ति है। प्रियस्मृतेः = प्रियस्य (कान्तस्य, प्रीतिकारकदोहदादेर्वा) स्मृतिः, तस्याः (ष० त०)। उदीतकण्टकाम् = उदीयन्ते स्म इति उदीताः, उद्-उपसर्गपूर्वक "ईङ् गतौ" इस दिवादि धातुसे कर्ताके अर्थमें क्त प्रत्यय। उदीताः कण्टकाः (रोमाञ्चाः, तीक्ष्णा-

ऽग्रावयवा: वा) यस्याः सा उदीतकण्टका, ताम् (बहु०)। फलस्तनस्थान-विदर्णरागिहृद्विशच्छुकाऽऽस्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगां = फलानि एव स्तनौ (रूपक०), तौ एव स्थानम् (रूपक०)। तस्मिन् विदीर्णम्(स० त०) । दाडिमी (अनार) के पक्षमें पकनेसे विदीर्ण, नायिकाके पक्षमें विरहके तापसे विदीर्ण। रागः अस्याऽस्तीति रागि (राग + इनि)। दाडिमी फलके पक्षमें ––– (लाल वर्ण) वाला, नायिकाके पक्षमें अनुरागवाला । फलस्तनस्थानविदीर्णरागि च तत् हृत् (क० धा०)। दाडिमी पक्षमें हृत् = मध्य भाग, नायिका पक्षमें-हृदय प्रदेश । शुकस्य आस्यम् (ष० त०)। किंशुकम् एव आशुगः (रूपक०)। स्मरस्य किंशुकाऽऽशुगः (ष० त०)। विशति इति विशत्, विश् + लट् (शतृ) विशच्च तत् शुकास्यम् (क० धा०)। अनारका बीज खानेके लिए घुसता हुआ यह तात्पर्य है। फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृदि विषच्छुकास्यम् (स० त०) स्मरस्य किंशुगाऽऽशुगः (ष० त०)। फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यम् एव स्मरकिंशुकाऽऽशुगः यस्याः सा, ताम् (बहु०)। इस पद्यमें श्लिष्ट एकदेश-विवर्ति रूपक अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

स्मराऽर्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाऽशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः––सः स्मराऽर्द्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसाम् अध्वजुषां पलाऽशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं खण्डम् आलोकत ॥ ८४ ॥

व्याख्या––नलः नैषधः, स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे = कामाऽर्धचन्द्राकारबाणसदृशे, वियोगिहृत्खण्डिनि = विरहिहृदयच्छेदिनि, क्रशीयसां = कृशतराणाम्, अध्वजुषां =पान्थानां, पलाशनात् = मांसभक्षणात्, स्फुटे = प्रकटम् एव, पलाशे = अन्वर्थके पलाशे, किंशुकपुष्पे । अन्वितं = सम्बद्धं, वृन्तं = प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं = यकृत्खण्डम्, कृष्णवर्णत्वादिति भावः । आलोकत=दृष्टवान् ॥ ८४ ॥

अनुवादः––नलने कामदेवके अर्धचन्द्राकार बाणके सदृश, विरही जनोंके हृदयको खण्डित करनेवाले और प्रिया वियोगसे अत्यन्त दुर्बल पथिकोंके पल-(मांस) को भक्षण करनेसे अन्वर्थ पलाशकी कलीमें सम्बद्ध प्रसवबन्धनको कलेजेके टुकड़ेके समान देखा ॥ ८४ ॥

टिप्पणी––स्मराऽर्धचन्द्रेषुनिभे = अर्धं चन्द्रस्य अर्धचन्द्रः, "अर्धं नपुंसकम्" इससे समासः । अर्धचन्द्राकार इषुः अर्धचन्द्रेषुः (मध्यमपदलोपी समासः)। स्मरस्य अर्धचन्द्रेषुः (ष० त०) स्मराऽर्धचन्द्रेषुणा सदृशं स्मराऽर्धचन्द्रेषुनिभम्

तस्मिन् (तृ० त०) । नित्यसमास होनेसे अस्वपद विग्रह । "स्युरुत्तरपदेत्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः ।" इत्यमरः । यह "पलाशे" इस पदका विशेषण है । वियोगिहृत्खण्डिनि = वियोगः अस्ति येषां ते वियोगिनः, वियोग + इनिः । वियोगिनां हृत् (ष० त०) । तत्खण्डयतीति वियोगिहृत्खण्डि, तस्मिन्, वियोगिहृत् + खडि + णिनि + ङि । यह भी "पलाश" का विशेषण है । क्रशीयसाम्=अतिशयेन कृशाः क्रशीयांसः, तेषाम्, "कृश" शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे ईयसुन् प्रत्यय और "र ऋतो हलादेर्लघोः" इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमें "र" आदेश । अध्वजुषाम् = अध्वानं जुषन्ते इति अध्वजुषः, तेषाम्, "अध्वन्" उपपदपूर्वक "जुषी प्रीतिसेवनयोः" धातुसे क्विप् (उपद०) । पलाऽशनात् = पलस्य अशनं, तस्मात् (ष० त०) । "पलमुन्मानमांसयोः" इति हैमः । अन्वितम्=अनु + इण + क्तः । वृन्तं = "वृन्तं प्रसवबन्धनम्" इत्यमरः । कालखण्डजं = कालखण्डात् जातं, तत्, कालखण्ड + जन् + ड । "कालखण्डयकृती तु समे इमे" इत्यमरः । हिन्दी में कालखण्डको "कलेजा" कहते हैं । आलोकत = आङ्-उपसर्गपूर्वक "लोकृ दर्शने" धातुसे लङ् + त । इस पद्यमें "स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे" यहाँपर उपमा और "कालखण्डजं खण्डम्" यहाँपर इव आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दराऽऽदराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥ ८५ ॥

अन्वयः--गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताऽङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनी नवा लता नृपेण दराऽऽदराभ्यां दृशा पपे ॥ ८५ ॥

व्याख्या—गन्धवहेन=वायुना, चन्दनाद्यनुलिप्तेन पुरुषेण च, चुम्बिता = स्पृष्टा, कृतमुखसंयोगा च, मकरन्दशीकरैः=पुष्परसकणैः, करम्बिताऽऽङ्गी=मिश्रिताऽवयवा, कस्यचित्पुरुषस्य स्पर्शेन स्वेदयुक्ताऽङ्गी च । स्मितशोभिकुड्मला = विकासरम्यमुकुला, मधुरहासमनोहरदशनमुकुला च, दरकम्पिनी = वातस्पर्शात् ईषत्कम्पिनी, पुरुषस्पर्शात्सात्त्विककम्पयुक्ता च, नवा = नूतना, लता = वल्ली, लतासदृशी कान्ता च, नृपेण=नलेन, दराऽऽदराभ्यां = भयतृष्णाभ्याम्, उपलक्षितेन सता, कामोद्दीपनाद्भयं प्रियासादृश्यात् आदरश्चेति भावः । दृशा = नेत्रेण करणेन, पपे = पीता, लालसया अवलोकितेति भावः ॥ ८५ ॥

अनुवादः--चन्दन आदिसे अनुलिप्त किसी पुरुषसे चुम्बित, पुरुषके स्पर्शसे

स्वेदयुक्त शरीरवाली, मन्द हास्यसे मुकुलके समान दन्तोंवाली और पुरुषके स्पर्श से कुछ कम्पसे युक्त किसी नायिकाकी समान वायुसे स्पृष्ट, पुष्परसोंसे मिश्रित अवयवोंवाली मन्दहास्योंके समान कोंपलोंसे शोभित होनेवाली और हवासे कुछ हिलनेवाली नयी लताको राजा नलने भय और आदरके साथ नेत्रोंसे पान किया (इच्छापूर्वक देख लिया) ॥ ८५ ॥

टिप्पणी – गन्धवहेन = गन्धं वहतीति गन्धवहः, तेन गन्ध + वह + अच् (उपपद०) । "पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहाऽनिलाऽऽशुगाः ।" इत्यमरः । समासोक्ति अलङ्कार होनेसे प्रस्तुत गन्धवह आदि शब्दोंसे अप्रस्तुत नायक आदि अर्थ भी प्रतीत होते हैं । चुम्बिता = चुबि + क्त (कर्ममें) + टाप् । मकरन्दशीकरैः = मकरन्दस्य शीकराः, तैः (ष० त०) । "मकरन्दः पुष्परसः" इति "शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः," इति चाऽमरः । करम्बिताऽङ्गी = करम्बितानि अङ्गानि यस्या सा (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इससे ङीष् । "करम्बितं मिश्रिते स्यात् खचिते च" इति त्रिकाण्डशेषः । स्मितशोभिकुड्मला= स्मितवत् शोभन्ते इति स्मितशोभिनः, स्मित + शुभ् = णिनिः (उपपद०) स्मितशोभिनः कुड्मलाः यस्याः सा (बहु०), कुड्मल शब्दका अप्रस्तुत अर्थ दन्त है । दरकम्पिनी = दरम् (ईषत्) कम्पते तच्छीला दर + कपि + णिनि + ङीप् । प्रस्तुत लताके पक्षमें हवासे कुछ हिलनेवाली और अप्रस्तुत नायिकापक्षमें नायकके स्पर्शसे सात्त्विक कम्पवाली ऐसा तात्पर्य होता है । दराऽऽदराभ्यां=दरं च आदरश्च दराऽऽदरौ, ताभ्याम् (द्वन्द्वः) । "इत्थंभूतलक्षणे" इससे तृतीया । "दरोऽस्त्री शंखभीगतेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्" इति वैजयन्ती । उद्दीपक होनेसे डर और प्रिया दमयन्तीके सादृश्यसे आदरसे युक्त राजाने लालसापूर्वक लताको देखा यह तात्पर्य है । पपे = पा + लिट् (कर्मणि) । इस पद्यमें श्लिष्ट विशेषणसाम्यसे, लिङ्गसाम्यसे और कार्यसाम्यसे भी प्रस्तुत लतामें अप्रस्तुत नायिकाके व्यवहारसाम्यसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ८५ ॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बराऽरेर्बलिदीपिका इव ॥ ८६ ॥

अन्वयः - सः अलिकज्जलच्छलात् पान्थपतङ्गहिंसनैः अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः शम्बराऽरेः बलिदीपिका इव चम्पककोरकाऽऽवलीः व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

व्याख्या – सः नलः, अलिकज्जलच्छलात्=भ्रमराऽञ्जनकैतवात्, पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिकपक्षिवधैः, अपुण्यकर्माणि = पापक्रियाः, विचिन्वतीः = संगृह्णतीः,

हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । शम्बरारेः = कामदेवस्य, बलिदीपिका इव = पूजाप्रदीपान् इव, चम्पककोरकाऽवलीः = चम्पकपुष्पकलिकाश्रेणीः, व्यलोकयत् = अपश्यत् ॥ ८६ ॥

अनुवादः—नलने भ्रमररूप कज्जलके छलसे पान्थरूप पक्षियोंके वधसे पाप कर्मोंको इकट्ठा करती हुई, कामदेवकी पूजाके प्रदीपोंके समान चम्पक पुष्पोंकी कलियोंको देखा ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—अलिकज्जलच्छलात् = अलयः कज्जलानि इव अलिकज्जलानि, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । अलिकज्जलानां छलं, तस्मात् (ष० त०) । पान्थपतङ्गहिंसनैः = पन्थानं नित्यं गच्छन्तीति पान्थाः, पथिन् शब्दसे "पन्थो ण नित्यम् इस सूत्रसे ण प्रत्यय, पन्थ आदेश और आदि वृद्धि, "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थ पथिक इत्यपि ।" इत्यमरः । पान्था एव पतङ्गाः (रूपक०) । "पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च" इत्यमरः । पान्थपतङ्गानां हिंसनानि तैः (ष० त०) । अपुण्यकर्माणि = पुण्यानि च तानि कर्माणि (क० धा०) । न पुण्यकर्माणि, तानि (नञ०) । विचिन्वतीः = विचिन्वन्तीति विचिन्वन्त्यः ताः वि + चिञ् + लट् (शतृ) + ङीप् = शस् । शम्बराऽरेः = शम्बरस्य अरि, तस्य (ष० त०) । "शम्बराऽरिर्मनसिजः । इत्यमरः । बलिदीपिका = बलेः दीपिकाः, ताः (ष० त०) । चम्पककोरकाऽऽवली = कोरकाणाम् आवल्यः (ष० त०) । चम्पकानां कोरकावल्यः, ताः (ष० त०) । व्यलोकयत् = वि + लोक + णिच् + लङ् + तिप् । इस पद्यमें रूपक कैतवाऽपह्नुति, उत्प्रेक्षा और उपमा इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अमन्यताऽसौ कुसुमेषु गर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुराऽरये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—अयं कुसुमेषुगर्भजं वियोगिनाम् अन्धङ्करणं परागं पुरा स्मरेण पुराऽरये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्गभस्म इव अमन्यत ॥ ८७ ॥

व्याख्या—असौ = नलः, कुसुमेषुगर्भजं = पुष्परूपबाणाऽभ्यन्तरजातं, "कुसुमेषु गर्भगम्" इति पाठान्तरे कुसुमेषु=पुष्पेषु गर्भगम् = अन्तःस्थितमित्यर्थः । वियोगिनां = विरहिणाम, अन्धङ्करण नेत्रोपघातकं, परागं = सुमनोरजः, पुरा= पूर्वं, स्मरेण = कामदेवेन, पुराऽरये = शिवाय, मुक्तेषु = निक्षिप्तेषु, शरेषु = बाणेषु, सङ्गतं = संसक्तं, तदङ्गभस्म इव = पुरार्यवयवभसितम् इव, अमन्यत = उत्प्रेक्षितवान् ॥ ८७ ॥

अनुवादः—राजाने फूलोंके भीतर रहे हुए, विरहियोंको अन्धा करानेवाले

परागको पूर्वकालमें कामदेवसे महादेवको लक्ष्य कर छोड़े हुए पुष्परूप बाणोंमें लगा हुआ महादेव के अङ्गमें संसक्त भस्मके समान जाना ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—कुसुमेषुगर्भजं = कुसुमानि एव इषवः (रूपक०) गर्भे जातः गर्भजः, गर्भ + जन् + ड (उपपद०) कुसुमेषूणां गर्भजः, तम् (ष० त०)। अन्धङ्करणम् = अनन्धान् अन्धान् कुर्वन्ति अनेन इति, अन्ध-उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "आढचसुभगस्थूलपलितनग्नाऽन्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्" इस सूत्रसे ख्युन् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इस सूत्रसे मुम् । पुराऽरये= पुराणाम् अरिः, तस्मै (ष० त०)। तदङ्गभस्म = तस्य अङ्गं (ष० त०), तस्मिन् भस्म (स० त०) इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—दूनः नलः वने पिकान् भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिनां दशाम् उदञ्चत्करुणं शृण्वति अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीं ददर्श ॥ ८८ ॥

व्याख्या—दूनः = उपतप्तः, दमयन्तीविरहेणेति शेषः । नलः = नैषधः, वने = उपवने श्रोतरि, पिकात् = कोकिलात् वक्तुः, सकाशात्, भृङ्गहुङ्कृतैः = भ्रमरहुङ्कारैः, वियोगिनां = विरहिणां, दशाम् = अवस्थां, दुःखाऽवस्थामित्यर्थः । उदञ्चत्करुणम् = उद्यत्कृपम्, विकसद्वृक्षविशेषं च यथा तथा, शृण्वति = आकर्णयति सति, अनास्थया = श्रोतुम् अनिच्छया, सूनकरप्रसारिणीं = पुष्परूपहस्तविस्तारिणीं, निवारयन्तीम् इव स्थिताम् इति भावः । स्थलपद्मिनीं = स्थलकमलिनीं, ददर्श = दृष्टवान् । यथा कस्मिंश्चिज्जने कस्माच्चिज्जनात् विरहिजनानां दुखपूर्णावस्थां श्रवणद्योतकहुङ्कारशब्देन शृण्वति काचित्सहृदया हस्तं प्रसार्य निषेधति तथैव उपवने श्रोतरि कोकिलाद्वक्तुः भृङ्गहुङ्कारैः वियोगिनां दशां साऽनुकम्पं शृण्वति सति अनिच्छया पुष्परूपहस्तप्रसारिणीं स्थलकमलिनीं नलो ददर्शेति भावः ॥ ८८ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके विरहसे संतप्त नलने सुननेवाले उपवनके वक्ता कोकिलसे भौंरोंके हुङ्कारोंसे वियोगियोंकी दुर्दशाको करुणापूर्वक सुननेपर अनिच्छासे पुष्परूप हाथको फैलाकर (निषेध करनेवालीके समान) स्थलकमलिनीको देखा ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—दूनः = "टदु उपतापे" धातुसे कर्ताके अर्थमें क्त प्रत्यय और "ल्वादिभ्यः" इससे "त" के स्थानमें 'न' कार और "दुग्वोर्दीर्घश्च" इससे दीर्घत्व । भृङ्गहुङ्कृतैः = भृङ्गाणां हुङ्कृतानि तैः (ष० त०) । उदञ्चत्करुणं = उदञ्चन्ती

(उद्यन्ती) करुणा यस्मिन् (कर्मणि) तद् यथा तथा (बहु०)। दूसरे पद्यमें उदञ्चन्तः (विकसन्तः) करुणाः (वृक्षविशेषाः) यस्मिंस्तद् यथा तथा (बहु०)। जैसे करुणवृक्ष विकसित होते हैं उस तरह। "करुणस्तु रसे वृक्षे, कृपायां करुणा मता।" इति विश्वः। शृण्वति ॥ श्रु + लट् (शतृ) + ङि। अनास्थया= न आस्था, तया (नञ्०)। सूनकरप्रसारिणी = सूनम् एव करः (रूपक०)। सूनकरं प्रसारयतीति तच्छीला, ताम् सूनकर + प्र + सृ + णिच् + णिनि + ङीप् + अम्। ददर्श= दृश् + लिट् + तिप्। इस पद्यमें स्थलपद्मिनी और वनमें कार्यसे स्त्री और पुरुषके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

रसालसालः समदृश्यताऽमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अमुना स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृतिः समीरलोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् इव रसालसालः समदृश्यत ॥ ८९ ॥

व्याख्या—अमुना = नलेन, स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृतिः = संचलद्भ्रमरझङ्कारकोपहुङ्कारः, समीरलोलैः = वायुचञ्चलैः, मुकुलैः=कुड्मलैः, अङ्गुलिभिरिवेति भावः। वियोगिने=विरहिणे, जनाय=लोकाय, तर्जनाभियं = भर्त्सनाभयं, दित्सन् इव = दातुम् इच्छन् इव, रसालसालः = आम्रवृक्षः, समदृश्यत = सम्यग् दृष्टः ॥ ८९ ॥

अनुवाद: नलने घूमते हुए भौंरोंके झङ्काररूप क्रोधका हुङ्कारवाला और वायुसे चञ्चल उँगलियोंके समान मुकुलोंसे वियोगी जनको भर्त्सनके भयको देनेकी इच्छा करते हुएके समान आमके पेड़को देखा ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृतिः=द्वौ रेफौ येषां ते द्विरेफाः (बहु०), द्विरेफ शब्द लक्षितलक्षणासे भ्रमरमें दो रेफ होनेसे उसका लक्षक है। "द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलयः।" इत्यमरः। स्फुरन्तश्च ते द्विरेफाः (क० धा०)। तेषाम् आरवः (ष० त०)। रोषस्य हुङ्कृतिः (ष० त०)। स्फुरद्द्विरेफारव एव रोषहुङ्कृतिः यस्य सः (बहु०)। समीरलोलैः=समीरेण लोलाः, तैः (तृ० त०)। तर्जनाभियं = तर्जनाया भीः, तां (ष० त०), "भीत्राऽर्थानां भयहेतुः" इससे पञ्चमी होकर 'भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्" इससे समास। दित्सन्= दातुम् इच्छन्, सन्प्रत्ययाऽन्त 'दा' धातुसे द्वित्व, लट्के स्थानमें शतृ आदेश, "सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्" इससे इस्, "अत्र लोपोऽभ्यासस्य"

इससे अभ्यासका लोप, "सः स्यार्धधातुके" इससे सकारके स्थानमें तकार आदेश। रसालसालः = रसालश्चाऽसौ सालः (क० धा०)। समदृश्यत=सं=दृश+लङ् (कर्ममें) + त। इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षा, इनका अङ्गाऽङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ ८९ ॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च ।
इतीव पान्थं शपतः पिकान्द्विजान्सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥ ९० ॥

अन्वयः—रे ! त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनः मूर्च्छ च; मृत्युम् ऋच्छ च" इति पान्थं शपत इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् स सखेदम् ऐक्षिष्ट ॥ ९० ॥

व्याख्या—रे = हे दीन !, त्वं, दिने दिने = प्रतिदिनम्, अधिकं = भृशं, तनुः = कृशः, एधि = भव, पुनः पुनः = भूयो भूयः, मूर्च्छ च = मूर्च्छां प्राप्नुहि च, किं बहुना—मृत्युं = मरणम्, ऋच्छ च = गच्छ च, इति = इत्थं, पान्थं = पथिकं, शपत इव = आक्रोशत इव, लोहितेक्षणान् = रक्तदृष्टीन्, कोकिलपक्षे स्वभावतः ब्राह्मणपक्षे रोषात इति बोद्धव्यम्। द्विजान् = पक्षिणः, कोकिलान्, पक्षान्तरे ब्राह्मणान्, सः = नलः, सखेदं = विषादपूर्वकम्, ऐक्षिष्ट = दृष्टवान्, स्याऽपि उक्तशङ्कयेति भावः ॥ ९० ॥

अनुवादः—"रे पान्थ ! तुम प्रतिदिन अधिक कृश बनो, फिर फिर मूच्छित हो जाओ, मृत्युको भी प्राप्त करो" इस प्रकारसे पथिकको शाप देते हुएके समान लाल नेत्रोंवाले पक्षियों (कोयलों) को क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले ब्राह्मणोंके समान नलने खेदके साथ देखा ॥ ९० ॥

टिप्पणी—अधिकम् = यह क्रियाविशेषण है। एधि = "अस भुवि" धातुसे लोट्के 'हि' के स्थानमें "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इससे "धि" आदेश, "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इससे एत्व और श्नसोरल्लोपः इससे अकारका लोप। मूर्च्छ = 'मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः" धातुसे लोट्+सिप्। ऋच्छ = ऋच्छ+लोट्+सिप्। पान्थम् = पथिन् (पन्थ)+ण+अम्। यहाँपर ज्ञीप्स्यमानत्व (ज्ञापनमें इष्टत्व) के न होनेसे "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इस सूत्रसे सम्प्रदानके न होनेसे द्वितीया। शपतः=शपन्तीति शपन्तः, तान् "शप आक्रोशे" धातुसे लट् (शतृ)+शस्। उपालम्भ न होनेसे आत्मनेपद नहीं हुआ। लोहितेक्षणान्=लोहिते ईक्षणे येषां, तान् (बहु०)। कोकिल स्वभावसे ही और ब्राह्मण कोपसे लाल नेत्रोंवाले है यह तात्पर्य है। द्विजान् = द्विर्जायन्ते इति द्विजाः, तान्। "अन्येष्वपि दृश्यते"

इससे ड प्रत्यय। सखेदं =खेदेन सहित यथा तथा (तुल्ययोग बहु०)। ऐक्षिष्ट= ईक्ष + लुङ + त। इस पद्यमें 'शपत इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा अलंकार है और "द्विज" पदसे ब्राह्मण अर्थका भी बोध होनेसे उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है अतः (उत्प्रेक्षा) अलंकारसे अलंकार ध्वनि है ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।

स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

अन्वयः—अलिस्रजा उच्चशेखरं चाम्पेयं कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आतङ्कितवान् स वियोगिनां विपदे उदीत धूमकेतुम् अशङ्कत् ॥ ९१ ॥

व्याख्या--अलिस्रजा = भ्रमरपङ्क्त्या, उच्चशेखरम् = उन्नतशिरोभूषणं, भ्रमरमलिनाऽङ्गमिति भावः। चाम्पेयं = चम्पकविकारं, कुड्मलं = मुकुलम्, अधीरया = धैर्यरहितया दृशा = दृष्टया, निपीय = सादरं दृष्ट्वा, आतङ्कितवान् = भीतः किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवानिति भावः। सः = नलः, वियोगिनां = विरहिणां, विपदे = विनाशसूचनाय, उदीतम् =उत्थितं, धूमकेतुम् = अशुभसूचकं तारापुञ्जम्, अशङ्कत शङ्कितवान् ॥ ९१ ॥

अनुवादः—भ्रमरोंकी पङ्क्तियोंसे ऊँचे शिरोभूषणवाली चम्पाकी कलीको अधीर दृष्टिसे देखकर अनिष्टकी आशङ्का करनेवाले नलने उसमें वियोगियोंके विनाशके लिए उठे हुए धूमकेतु होनेकी शङ्का की ॥ ९१ ॥

टिप्पणी अलिस्रजा = अलीनां स्रक् तया (ष० त०)। उच्चशेखरम् = उच्चः शेखरो यस्य, तम् (बहु०), चाम्पेयं = चम्पाया अपत्यं पुमान् चाम्पेयः, तम् "स्त्रीभ्यो ढक्" इससे ढक् (एय) प्रत्यय और "किति च" इससे आदिवृद्धि। यहाँपर मल्लिनाथजीने "न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत्" ऐसी उक्ति होनेसे भौंरोंमे चम्पाकी कली कैसे उन्नत होगी ऐसी अशङ्का कर भौंरा उसे छूकर मर जाता है, इतनेसे ऐसी प्रसिद्धि हो गयी, अथवा चाम्पेय कहनेसे यहाँपर नागकेसर लेना चाहिए इस प्रकार उसका परिहार किया है। "अथ चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः" इति "एतस्य कलिका गन्धफली स्यात्" इति "चाम्पेयः केशरो नाग केसरः काञ्चनाह्वयः।" इति चाऽमरः। अधीरया = न धीरा, तया (नञ्)। निपीय = नि + पा + क्त्वा ल्यप्)। आतङ्कितवान् आङ् + तकि + क्तवतु + सु। विपदे = तादर्थ्यमे चतुर्थी। धूमकेतु = धूमप्रधानः केतुः, तम् (मध्यमपदलापी स०)। "अग्न्युत्पातो धूमकेतुः" इत्यमरः। अशङ्कत = शकि + लङ् + त। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेशरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—स गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेशरं मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणम् इव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

व्याख्या—सः = नल-, गलत्परागं = निर्यद्रजस्कं, भ्रमिभङ्गिभिः = भ्रमणप्रकारैः, उपलक्षितं, पतत् = भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि = सक्तभ्रमरकुलं; नागकेशरं = कुसुमविशेषं, मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं = स्मरशरकर्षणलुठद्दीप्यमानं स्फुलिङ्गं, शाणम् इव = निकषम् इव, व्यलोकयत् = अपश्यत् ॥ ९२ ॥

अनुवादः—नलने गिरते हुए परागवाले, घूमकर आती हुई भ्रमरपङ्क्तिसे सम्बद्ध, गिरे हुए नागकेशरके फूलको कामदेवके बाणसंघर्षणसे निकलते हुए जलते हुए स्फुलिङ्गसे युक्त कसौटीके समान देखा ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—गलत्परागं = गलन्तः परागा यस्मात्, तत् (बहु०)। भ्रमिभङ्गिभिः = भ्रमेः भङ्गिमः, ताभिः (तृ० त०)। पतत् = पततीति, पत्+लट् (शतृ)। प्रसक्तभृङ्गाऽऽवलि = भृङ्गाणाम् आवलिः (ष० त०)। प्रसक्ता भृङ्गावलिः यस्मिन्, तत् (बहु०)। नागकेसरं=नागकेसरस्य विकारः (पुष्पम्) नागकेसरं, "तस्य विकारः" इससे अण् प्रत्यय, "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे उसका लुक्। मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं=मारस्य नाराचाः (ष० त०), तेषां निघर्षणं (ष० त०), तस्मात् स्खलन्तः (ष० त०)। मारनाराचनिघर्षणस्खलन्तः ज्वलन्तः कणाः यस्यः सः, तम् (बहु०)। शाणम् = "शाणस्तु निकषः कषः।" इत्यमरः। व्यलोकयत् = वि —लोक्+णिच्+लङ्+तिप्। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ९२ ॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलमुखालीः, अवलोक्य स्मरः स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् लज्जितः (अभवत्) ॥ ९३ ॥

व्याख्या—सुगन्धि = मनोहरगन्धं, तदङ्गं = नलाऽङ्गम्, उद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य, गुणस्पृशः गन्धादिस्पृशः, मौर्वीस्पृशश्च, कुसुमात् = पुष्पात्, पातुकाः = धावन्तीः, स्वनन्तीः = ध्वनन्तीः, शिलीमुखाली भ्रमरपङ्क्तीः, बाणपङ्क्तीश्च, अवलोक्य = दृष्ट्वा, स्मरः = कामदेवः, स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = स्वपुष्पधनुर्विदमनिःसृतबाणभ्रान्तेः, लज्जितः = व्रीडितः, अभवदितिशेषः ॥ ९३ ॥

अनुवाद—सुगन्धसे युक्त नलके अङ्गको उद्देश्य करके गुण (गन्ध आदि वा मौर्वी) को स्पर्श करनेवाले, पुष्पसे दौड़नेवाले, शब्द करते हुए भ्रमरसमूहोंको देखकर कामदेव अपने धनुसे निशानेसे चूके हुए बाणके भ्रमसे लज्जितके तुल्य हुए ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—सुगन्धि = शोभनः गन्धः यस्य, तत् (बहु०) "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इस सूत्रसे समासाऽन्त इ प्रत्यय। तदङ्गं = तस्य अङ्गं, तत् (ष० त०)। उद्दिश्य = उद् + दिश् = क्त्वा (ल्यप्)। गुणस्पृशः = गुणं (गन्धादिं मौर्वीं च) स्पृशन्तीति, ताः, गुण-उपपदपूर्वक स्पृश धातुसे "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय (उपपद०), यह पद 'शिलीमुखालीः' इसका विशेषण है। पातुकाः = पतन्तीति, ताः पत्-धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्" इस सूत्रसे उकञ् + शस्। स्वनन्ती = स्वनन्तीति स्वनन्त्यः, ताः, स्वन + लट् (शतृ) + ङीप् + शस्। शिलीमुखालीः=शिलीमुखानाम् (अलीनां बाणानां वा) आल्यः, ताः (ष० त०)। "अलिबाणौ शिलीमुखौ" इत्यमरः। अवलोक्य=अव + लोक् + क्त्वा (ल्यप्)। स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = स्वस्य चापः (ष० त०)। दुर्निर्गताश्च ते मार्गणाः (बाणाः), (क० धा०)। स्वचापात् दुर्निर्गतमार्गणाः (ष० त०)। तेषां भ्रमः, तस्मात् (ष० त०)। इस पद्यमें श्लेष, भ्रमरोंमें बाणके भ्रान्तिमान्, "लज्जितः" यहाँपर उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दों के न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इस प्रकार इन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् ।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वारनारीकुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श ॥ ९४ ॥

व्याख्या—सः = नलः, मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः=वायुचलत्किसलयतीक्ष्णाऽग्रावयवैः, अन्यत्र विलसद्विटनखैरिति गम्यते। क्षतं=विलिखितम्, समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं =प्रसर्पच्छ्रीखण्डसारसौगन्ध्यम्, अत एव वारनारीकुचसञ्चितोपमं = वेश्यापयोधरसम्पादितसादृश्यं, पचेलिमं = स्वतःपक्वं, मालूरफलं = बिल्वफलं, ददर्श = विलोकयामास ॥ ९४ ॥

अनुवाद—नलने वायुसे चलते हुए पल्लवोंके काँटोंसे विद्ध, फैलते हुए चन्दनके समान सौरभसे युक्त, वेश्याके पयोधरके सदृश पके हुए बेलफलको देखा ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः = ललन्ति च तानि पल्लवानि (क० धा०)। मरुता ललत्पल्लवानि (तृ० त०)। तेषां कण्टकाः, तैः (ष० त०)। यहाँपर दूसरा अर्थ मरुत्‌रूप विलासीके नखोंसे क्षत ऐसा व्यङ्ग्य होता है। समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं = चन्दनस्य सारः (ष० त०), तस्य सौरभम् (ष० त०)। समुच्चरत् चन्दनसारसौरभं यस्य, तत् (बहु०)। वेश्याका पयोधर भी चन्दन आदिके सौरभसे सम्पन्न होता है। वारनारीकुचसञ्चितोपमं= वारस्य (नरसमूहस्य) नारी वारनारी (ष० त०), "वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा" इत्यमरः। तस्याः कुचः (ष० त०), सञ्चिता उपमा यस्य तत् (बहु०)। वारनारीकुचेन सञ्चितोपमं, तत् (तृ० त०)। पचेलिमं=स्वयमेव पच्यत इति, पच् धातुसे "केलिमर उपसंख्यानम्" इस वार्त्तिकसे कर्मकर्तामें केलिमर प्रत्यय। मालूरफलं = मालूरस्य फलम् (ष० त०), तत्। "बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि।" इत्यमरः। ददर्श = दृश् + लिट + तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—स युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरं पाटलायाः स्तबकं भिया अन्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

व्याख्या—सः = नलः, युवद्वयीचित्तेत्यादिः = तरुणमिथुनमानसब्रुडनसमर्थपुष्पपूर्णगर्भकुहरं पाटलायाः = पाटलवृक्षस्य, स्तबकं=गुच्छं, भिया = भयेन, अन्धया = मूढया, धिया = बुद्ध्या, स्मरेषुधीकृत्य = "इदं कामतूणीरम्" इति विभ्रम्य, प्रकम्पितः = चकम्पे ॥ ९५ ॥

अनुवादः—नल युवती और युवकजनोंको आकर्षण करनेमें समर्थ पुष्पोंसे पूर्ण भीतरी भागवाले पाटल पुष्पोंके गुच्छेको भयसे मूढ बुद्धिसे "यह कामदेवका तरकश है" ऐसा विचार कर कम्पित हुए ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—युवद्वयीचित्तेत्यादिः=युवतिश्च युवा च युवानौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष, यूनोर्द्वयी (ष० त०)। युवद्वय्याः चित्ते (ष० त०)। नि + मस्ज + णिच् + ल्युट=निमज्जनम्। युवद्वयीचित्तयोः निमज्जनं (ष०त०), तस्मिन् उचितानि (स० त), तानि च तानि प्रसूनानि (क० धा०) शून्यात् इतरत् (पं० त०। अशून्यं पूर्णमित्यर्थः। गर्भस्य गह्वरम् (ष० त०)। युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनैः शून्येतरत् (तृ० त०), तत् गर्भगह्वरं यस्य, तम् (बहु०)।

स्तबकं = "याद् गुच्छकस्तु स्तबकः" इत्यमरः। भिया = "भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः। स्मरेषुधीकृत्य = स्मरस्य इषुधिः (ष० त०)। तूणोपासङ्ग-तूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः। तूण्याम्" इत्यमरः। अस्मरेषुधिः यथा स्मरेषुधिः सम्पद्यते तथा कृत्वा, स्मरेषुधि + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। प्रकम्पितः=प्र + कपि + क्तः (कर्तामें)। इस पद्यमें पाटलके स्तबकमें नलको कामदेव तूणीर (तरकश) का भ्रम होनेसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार है जैसे कि—

"सम्यादतस्मिंतद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।" सा० द० १०–३६॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन्॥ ९६॥

अन्वयः— अमुना वने कोरकितः शितिद्युतिः मुनिद्रुमः तमिस्रपक्षत्रुटिकूट-भक्षितं वैधवं कलाकलापं वमन् सिंहिकासुतः अमन्यत किल॥ ९६॥

व्याख्या— अमुना = नलेन, वने = उपवने, कोरकितः = संजातकोरकः, शितिद्युतिः = कृष्णकान्तिः पत्त्रेषु इति शेषः। मुनिद्रुमः = अगस्त्यवृक्षः, तमिस्र-पक्षत्रुटिकूटभक्षितं=कृष्णपक्षक्षयव्याजगिलितं, वैधवं=चान्द्रमसं, कलाकलापं = कलासमूहं, वमन् = उद्गिरन्, सिंहिकासुतः = राहुः, अमन्यत = ज्ञातः, किल = निश्चयेन॥ ९६॥

अनुवादः—नलने वनमें कलियोंसे युक्त, काली कान्तिवाले अगस्त्यके वृक्ष को कृष्णपक्षके बहानेसे खाये गये चन्द्रमाके कलासमूहको वमन करता हुआ राहु समझा॥ ९६॥

टिप्पणी—कोरकितः = कोरकाः संजाता अस्य, 'कोरक' शब्दसे "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्। अगस्त्यवृक्षकी कलियाँ चन्द्रकी कलाओं के समान सफेद होती हैं। शितिद्युतिः = शिति द्युतिः यस्य सः (बहु०)। अगस्त्यके पत्ते काले होते हैं। "शिती धवलमेचकौ", इत्यमरः। तमिस्रपक्षत्रुटि-कूटभक्षितं = तमिस्रस्य पक्षः (ष० त०), तस्य त्रुटिः (ष० त०) तस्याः कूटम् (व्याजः) (ष० त०), तेन भक्षितः, तम् (तृ० त०)। वैधवं = विधोः अयं वैधवः, तम्, विधु + अण् + अम्। "विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुः" इत्यमरः। कला-कलापं = कलानां कलापः, तम् (ष० त०)। वमन् = वमतीति, "टुवम् उद्-गिरणे" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश। सिंहिकासुतः = सिंहिकायाः सुतः (ष० त०) अमन्यत = मन् + लङ् + त (कर्ममें)। इस पद्यमें कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षामें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ९६॥

पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदाऽऽवृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥ ९७ ॥

अन्वयः--पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः नभस्वतः वीरुधि नद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः विलोकिताः (सत्यः) तं मिलन्निमीलं विदधुः ॥ ९७ ॥

व्याख्या--पुरः = अग्रे, हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदाऽऽवृतेः = बलाकृष्टहिमशुक्लपत्राऽऽवरणस्य, नभस्वतः=वायोः, वीरुधि = लतायां, नद्धविभ्रमाः = अनुबद्धभ्रमणाः, कुसुमेषु = पुष्पेषु, केलयः = कम्पनादिक्रीडाः, कुसुमेषु केलयः= कामक्रीडाश्च, विलोकिताः = दृष्टाः सत्यः, तं=नलं, मिलन्निमीलं=निमीलितनेत्रं, विदधुः = चक्रुः । वायोर्लतायां कम्पनव्यापारस्य कामोद्दीपकत्वात् अथवा वायोर्लतायां कम्पनं समागमक्रियां ज्ञात्वा नलो निमीलितनयनो बभूवेति भावः ॥ ९७ ॥

अनुवाद--सामने बलसे बरफसे सफेद पत्ररूप वस्त्रको खींचनेवाले वायुकी लतामें सम्बद्ध भ्रमण वा विलाससे युक्त फूलोंमें कम्पन आदि क्रीडा वा कामक्रीड़ाओंको देखकर नलने आँखोंको मूँद लिया ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—हठाऽऽक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = हठेन आक्षिप्ता (तृ० त०)। तुषारेण पाण्डराः (तृ० त०), "हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरः । तुषारपाण्डराश्च ते छदाः (क० धा०) । "पत्रं पलाश छदनं दलं पर्णं छदः पुमान् ।" इत्यमरः । तुषारपाण्डरच्छदानाम् आवृतिः (ष० त०)। हठाक्षिप्ता तुषारपाण्डुरच्छदावृतिः येन, तस्य (बहु०)। वीरुधि = वीरुत् शब्दका "लता प्रतानिनी वीरुत्" इस उक्तिके अनुसार फैली हुई लता ऐसा अर्थ न कर सामान्य लता ऐसा अर्थ करना चाहिए । नद्धविभ्रमाः = नद्धा विभ्रमाः (भ्रमणानि विलासा वा) यासां ताः (बहु०)। कुसुमेषु यहाँपर विषयमें सप्तमी । अथवा कुसुमेषुकेलयः = कुसुमानि इषवः (बाणाः) यस्य सः कुसुमेषुः (बहु०), "शम्बराऽरिर्मनसिजः कुसुमेषुरनन्यजः ।" इत्यमरः । कुसुमेषोः केलयः (ष० त०)। मिलन्निमीलं = मिलन् निमीलः यस्य, तम् (बहु०)। विदधुः= वि+धा+लिट्+झि (उस्)। इस पद्यमें कार्य और श्लिष्टविशेषणसाम्यसे प्रस्तुत नभस्वान्‌में अप्रस्तुत नायकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलंकार है । लतामें वायुके पत्ररूप वस्त्रके हटानेसे समागमरूप व्यवहारकी प्रतीति होनेसे "नेक्षेताऽर्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम्, (याज्ञवल्क्य० १-१३५) इस वचनके अनुसार नलने आँखोंको मूँद लिया यह तात्पर्य है ॥९७॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ॥ ९८ ॥

अन्वयः—द्रुमाः यदुत्सङ्गतले विशालतां गताः, तां धात्रीं फलगौरवेण अतिमात्रनामितैः शिरोभिः वन्दमानान् तान् स कथं न अभिनन्दति स्म ? ॥ ९८ ॥

व्याख्या—द्रुमाः = वृक्षाः, यदुत्सङ्गतले = यदुपरिदेशे, यदङ्कतले च, विशालतां = विवृद्धिं, गताः = प्राप्ताः तां=धात्रीं, भुवं च, फलगौरवेण=फलभारेण, धर्माऽतिशयेन च हेतुना, अतिमात्रनामितैः = अतिशयप्रह्वीकृतैः, शिरोभिः=अग्रभागैः, उत्तमाङ्गैश्च, वन्दमानान् = स्पृशतः, अभिवादयमानांश्च, तान् द्रुमान्, सः = नलः, कथं = केन प्रकारेण न अभिनन्दति स्म = अस्तौषीत्, अभिनन्द एवेति भावः । द्रुमाणां क्षेत्राऽनुरूपफलसम्पत्तिमपत्यानां मातृभक्तिं च को नाम नाऽभिनन्दतीति भावः ॥ ९८ ॥

अनुवादः—पेड़ जिन (धरती) के गोदमें विशाल हो गये उन (माता) को फलोंके भारसे अत्यन्त झुके हुए शिरों (अग्र भागों) से अभिवादन करते हुए उन (पेड़ों) को नल कैसे अभिनन्दन नहीं करते थे ? ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—यदुत्सङ्गतले = उत्सङ्गस्य तलम् (ष० त०), यस्या उत्सङ्गतलं तस्मिन् (ष० त०) । विशालतां=विशालस्य भावो विशालता ताम् विशाल + तल + टाप् + अम् । धात्रीं=धयन्ति याम् इति धात्री, ताम्, "धेट पाने" धातुसे "ध: कर्मणि ष्ट्रन्" इस सूत्रसे ष्ट्रन् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें षित् होनेसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीप् । "धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु ।" इत्यमरः । इसका यहाँपर "उपमाता" ऐसा अर्थ भी ध्वनित होता है । फलगौरवेण = फलानां गौरवं, तेन (ष० त०) । अतिमात्रनामितैः = अतिमात्रं नामितानि, तैः (सुप्सुपा०) । वन्दमानान् = वन्दन्त इति वन्दमानाः, तान्, वदि + लट् (शानच्) + शस् । अभिनन्दति = अभि + नदि + लट् + तिप् । इस पद्यमें कार्यसे और विशेषणसाम्यसे भी प्रस्तुत द्रुमों में अप्रस्तुत पुत्रोंके व्यवहारकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनाऽनिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः ।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽदत्त न कौमुदीमुदः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—वनाऽनिलैः हिमितं, पुष्परसैः सुधीकृतं, केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितम् अहर्महः (एव) कौमुदी वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः न अदत्त ॥ ९९ ॥

व्याख्या—वनाऽनिलैः = उद्यानवातैः, हिमितं = हिम (शीतलं) कृतम्

पुष्परसैः=कुसुमरसैः, मकरन्दैरित्यर्थः, उपवनवाताऽऽनीतैरिति शेषः। सुधीकृतम्=अमृतीकृतं, तथा केतकरेणुभिः = केतकीपुष्परजोभिः, सितं = शुक्लं, विनिर्मितं= कृतम्, इत्थं च—अहर्महः = दिनतेजः आतप एव, कौमुदी = चन्द्रिका, वियोगिने = विरहिणे, तस्मै = पूर्वोक्ताय, नृपाय = नरेशाय, नलायेति भावः। मुदः= हर्षान् न अधत्त=न कृतवती, प्रत्युत उद्दीपनमेव चकारेति भाव. ॥ ९९ ॥

अनुवादः—उद्यानकी हवाओंसे ठण्डा किया गया, फूलोंके रसोंसे अमृतके समान किया गया, केतकी पुष्पोंके परागोंसे सफेद बनाया गया प्रकाश ही चाँदनीने वियोगी नलको हर्षप्रदान नहीं किया ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—वनाऽनिलैः = वनस्य अनिलाः, तैः (ष० त०)। हिमितं=हिमं कृतम्, "हिम" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर कर्ममें क्त प्रत्यय। पुष्परसैः = पुष्पाणां रसाः, तैः (ष० त०)। सुधीकृतम् = असुधा सुधा यथा संपद्यते तथा कृतम्, सुधा + च्वि + कृ + क्तः। केतकरेणुभिः =केतक्या विकाराः (पुष्पाणि) केतकानि, केतकी शब्दसे "तस्य विकारः" इससे अण् प्रत्यय और उसका "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे लुप्। केतकानां रेणवः, तैः (ष० त०) विनिर्मितं=वि+निर्+मा+क्तः। अहर्महः = अह्नः महः (ष०त०) "रोऽसुपि" इस सूत्रसे रेफ आदेश। अधत्त = धा+लङ्+त। इस पद्यमें अहर्महमें कौमुदीका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ९९ ॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांऽशुमाननम्।
पिकेन रोषाऽरुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

अन्वयः—वियोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननम् एव साक्षात् अमृतांऽशुं पश्यता (अत एव) रोषाऽरुणचक्षुषा पिकेन कुहूरुता चन्द्रवैरिणी मुहुः आहूयत ॥ १०० ॥

व्याख्या—वियोगभाजः अपि =वियोगिनः अपि, नृपस्य=राज्ञः, नलस्येत्यर्थः। तत्, आननम् एव=मुखम् एव, साक्षात्=प्रत्यक्षम्, अमृतांऽशुं=चन्द्रं, पश्यता = विलोकयता, अत एव रोषाऽरुणचक्षुषा = कोपरक्तनयनेन, वियोगेऽप्ययं चन्द्रतां न मुञ्चतीति रोषहेतुर्बोद्धव्यः। पिकेन = कोकिलेन, कुहूरुता = कुहूशब्देन, अमावास्यावाचकशब्देन वा, चन्द्रवैरिणी = कुहूः, अमावास्या इति भावः। मुहुः = वारं वारम्, आहूयत = आहूता (किम्) ॥ १०० ॥

अनुवादः—वियोगी होनेपर भी नलके मुखको ही प्रत्यक्ष चन्द्र देखते हुए

और क्रोधसे लाल नत्रोंवाले कोयलने कुहू (स्वाभाविक वा अमवास्यावाचक) शब्दसे चन्द्रकी वैरिणी अमावास्याको वारंवार बुलाया ।। १०० ।।

टिप्पणी—वियोगभाजः = वियोगं भजतीति वियोगभाक्, तस्य (वियोग + भज + ण्विः + ङस्) । साक्षात्="साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः" इत्यमरः । अमृतांऽशुम्= अमृतम् इव अंशुः यस्य सः, तम् (बहु०) । पश्यता = पश्यतीति पश्यन्, तेन, दृश् + (पश्य) + लट् (शतृ) + टा । रोषाऽरुणचक्षुषा = अरुणे चक्षुषी यस्य सः (बहु०) । रोषात् (इव) अरुणचक्षुः, तेन (ष० त०), कुहूरुता=कुहूश्चाऽसौ रुत् कुहूरुत् तया (क० धा०) । "कुहूः स्यात्कोकिलाऽऽलापनष्टेन्दुकलयोरपि ।" इति विश्वः । चन्द्रवैरिणी = चन्द्रस्य वैरिणी (ष० त०) । आहूयत = आङ् + ह्वेञ् + लङ् + त (कर्ममें) । इस पद्यमें रूपक और "आहूयत" यहाँपर उत्प्रेक्षा वाचक इव आदि शब्दों के न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, अतः दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ।। १०० ।।

अशोकमर्थाऽन्वितनामताऽऽशया गतान्शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ।
अमन्यताऽवन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ।। १०१ ।।

अन्वयः—एष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थाऽन्वितनामताशया शरण्यं गतान् गृहशोचिनः अध्वगान् अवन्तम् इव अमन्यत ।।१०१ ।।

व्याख्या—एषः = नलः, पल्लवैः = किसलयैः, प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकं = गृहीतमदनदीप्यमानायुधक्षारकम्, अशोकम् = अशोकवृक्षं वञ्जुलाऽपरनामधेयम्, अर्थाऽन्वितनामताऽऽशया = अन्वर्थाभिधानताऽभिलाषेण, अयमशोकः, अतएव शोकरहितोऽस्ति अतः अस्मानपि शोकरहितं करिष्यतीत्याशयेति भावः । शरण्यम् = शरणसाधुं, तम् अशोकमित्यर्थः । गतान् = प्राप्तान्, गृहशोचिनः= गृहम् (पत्नीम्) उद्दिश्य शोकं कुर्वतः, अध्वगान् = पान्थान्, अवन्तम् इव = रक्षन्तम् इव, शरणागतानां रक्षणे महाफलमरक्षणे च महादोषं भावयित्वेति शेषः । अमन्यत = ज्ञातवान् ।। १०१ ।।

अनुवादः—नलने पल्लवोंसे कामदेवके जलते हुए अस्त्रोंकी नयी कलियोंको लेनेवाले अशोक वृक्षको उसके नामकी अन्वर्थता (यह अशोक = शोकरहित है, अतः हम लोगोंको भी शोकरहित करेगा) ऐसी आशासे रक्षा करनेमें निपुण विचार कर गये हुए, पत्नीका शोक करनेवाले पथिकोंकी मानों रक्षा कर रहा है ऐसा समझा ।। १०१ ।।

टिप्पणी--प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकं = ज्वलन्ति च तानि अस्त्राणि ज्वलदस्त्राणि (क० धा०), तेषां जालकानि (ष० त०), "क्षारको जालकं क्लीबे" इत्यमरः। कामस्य ज्वलदस्त्रजालकानि (ष० त०)। प्रतीष्टानि कामज्वलदस्त्रजालकानि येन, तम् (बहु०)। अशोकम् = अविद्यमानः शोकः यस्य सः, तम् (नञ्बहु०)। "वञ्जुलोऽशोके" इत्यमरः। अर्थान्वितनामताऽऽशया = नाम्नो भावो नामता, नाम + तल् + टाप्। अर्थेन अन्विता (तृ० त०)। अर्थाऽन्विता चाऽसौ नामता (क० धा०), तस्या आशा तया (ष० त०)। शरण्यं = शरणे साधुः शरण्यः, तम्, "तत्र साधुः" इससे यत्। "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। गृहशोचिनः = गृहं शोचन्तीति गृहशोचिनः, तान्, गृह + शुच् + णिनि (उपपद०) + शस्। "गृहं गृहाश्च पुंभूम्नि कलत्रेऽपि च सद्मनि।" इति मेदिनी। अत एव--"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।" अर्थात् गृहको गृह नहीं कहते हैं, पत्नीको "गृह" कहते हैं ऐसी लोकोक्ति है। अध्वगान् = अध्वान गच्छन्तीति अध्वगाः; तान्, अध्वन्-उपपदपूर्वक 'गम्' धातुसे "अन्तात्यन्ताऽध्वदूरपारसर्वाऽनन्तेषु डः" इस सूत्रसे ड प्रत्यय (उपपद०)। "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि।" इत्यमरः। अवन्तम् = अवतीति अवन्, तम्--अव + लट् (शतृ) + अम्। अमन्यत = मन + लङ् + त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ १०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकाऽलिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं, क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः॥१०२॥

अन्वयः--विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकाऽलिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् वने अपि तं तौर्यत्रिकम् आरराध, भाग्यभाक् जनः क्व भोगम न आप्नोति॥१०२॥

व्याख्या--विलासवापीतटवीचिवादनात् = विहारदीर्घिकातीरतरङ्गनादात्, पिकाऽलिगीतेः = कोकिलभ्रमरगानात्, शिखिलास्यलाघवात्=मयूरनृत्यनैपुण्यात्, वने अपि = उपवने अपि, तं = नलम्, तौर्यत्रिकं = नृत्यगीतवाद्यत्रयम्, आरराध = आराधयामास, तथा हि--भाग्यभाक् = भाग्यवान्, जनः=लोकः, क्व = कुत्र, स्थाने गृहे वनेऽपि वा इति शेषः, भोगं = सुखं, न आप्नोति = न प्राप्नोति, सर्वत्रैव सुखं प्राप्नोतीति भावः॥ १०२॥

अनुवादः--विहारकी बावलीके किनारेमें तरङ्गोंके शब्दसे (वादनसे), कोयल और भौंरोंके गानेसे, मयूरोंके नृत्यकी निपुणतासे उपवनमें भी महाराज नलकी नृत्य, गीत और वाद्य इन तीनोंने सेवा की। भाग्यवान् जन कहाँ सुखको प्राप्त नहीं करते हैं?॥ १०२॥

टिप्पणी—विलासवापीतटवीचिवादनात् = विलासस्य वापी, "वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः। विलासवाप्याः तटम् (ष० त०), वीचीनां वादनम् (ष० त०)। विलासवापीतटे वीचिवादनं तस्मात् (स० त०), सर्वत्र हेतुमें पञ्चमी। पिकाऽलिगीतेः = पिकाश्च अलयश्च पिकालयः (द्वन्द्वः), तेषां गीतिः, तस्याः (ष० त०) शिखिलास्यलाघवात् = शिखिनां लास्यम् (ष० त०), "ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने।" इत्यमरः। शिखिलास्यस्य लाघवं, तस्मात् (ष० त०)। तौर्यत्रिकं = "तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्।" इत्यमरः। आरराध = आङ् + राध + लिट् + तिप्। भाग्यभाक् = भाग्यं भजतीति भाग्यभाक्, भाग्य + भज् + ण्विः (उप०)। भोगं = भुज्यते इति भोगः, तम्, भुज् + घञ् (कर्ममें) + अम्। आप्नोति = आप् + लट् + श्नु + तिप्। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्।
स्वराऽमृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तम् अस्तुवन्; तथैव (तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः) तत्पौरुषगायनीकृताः शारिकाः स्वराऽमृतेन उपजगुश्च ॥ १०३ ॥

व्याख्या—जनेन = सेवकजनेन, तदर्थं = नलप्रीत्यर्थम्, अध्याप्य = स्तुतिं पाठयित्वा, तद्वने = तस्मिन् उपवने, विमुक्ताः = विसृष्टाः, पटवः = व्यक्तगिरः, शुकाः = कीराः, तं = नलम्, अस्तुवन् = स्तुतवन्तः, तथैव = तेन प्रकारेणैव, शुकवत् एव (तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः) तत्पौरुषगायनीकृताः = नलपराक्रमगायनीकृताः, शारिकाः = शुकवध्वः, स्वराऽमृतेन=मधुरस्वरेणेति भावः। उपजगुश्च = उपगीतवत्यश्च, तुष्टुवुश्चेति भावः ॥ १०३ ॥

अनुवादः—सेवकजनसे नलकी प्रीतिके लिए उस वनमें छोड़े गये स्पष्ट शब्दवाले तोतोंने नलकी स्तुति की, उसी तरह नलके पराक्रमकी गायिका बनायी गयी शारिकाओं (मैनाओं) ने मीठी आवाजसे गान किया ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—तदर्थं = तस्मै इदम् (च० त०; क्रियाविशेषण)। अध्याप्य = अधि + आङ् + इङ् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। तद्वने = तच्च तद्वनं, तस्मिन् (क० धा०)। विमुक्ताः = वि + मुच् + क्त + (कर्ममें) टाप् + जस्। अस्तुवन् = "ष्टुञ् स्तुतौ" धातुसे लङ् + झि। तत्पौरुषगायनीकृताः; पुरुषस्य भावः

पौरुषम्, पुरुष + अण् । गायन्तीति गायनयः, "गै शब्दे" धातुसे "ण्युट् च" इससे ण्युट् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें टित्वात् "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। अगायनयः गायनयः यथा संपद्यन्ते तथा कृताः, गायनी + च्वि + कृ + क्त + टाप्। तत्पौरुषस्य गायनीकृताः (ष० त०) । शारिकाः = "सारिकाः" ऐसा भी रूप होता है । स्वराऽमृतेन = स्वरः अमृतम् इव स्वराऽमृतं, तेन "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इस सूत्रसे समास । उपजगुः = उप + गै + लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमें "स्वराऽमृतेन" यहाँपर उपमा अलंकार है ।। १०३ ।।

इतीष्टगन्धाऽऽढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दताऽऽमोदभरं बहिः परं विदर्भसुभ्रूविरहेण नाऽऽन्तरम् ।। १०४ ।।

अन्वयः— इति इष्टगन्धाऽऽढ्यं वनम् अटन् असौ पिकोपगीतः अपि शुकस्तुतः अपि च परं बहिः आमोदभरम् अविन्दत; विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरम् आमोदभरं न अविन्दत ।। १०४ ।।

व्याख्या—इति = इत्थम्, इष्टगन्धाऽऽढ्यम्=अभीष्टसौरभसम्पन्नं, वनम् = उपवनम्, अटन्=गच्छन्, असौ =नलः, पिकोपगीतः अपि=कोकिलगीतिविषयीकृतः अपि, शुकस्तुतः अपि च = कीरस्तुतिविषयीकृतः अपि च, परं = केवलं, बहिः = बाह्यम्, आमोदभरं = सौरभ्याऽतिरेकम्, अविन्दत = अलभत, विदर्भसुभ्रूविरहेण = दमयन्तीवियोगेन, आन्तरम् = अन्तश्चरं, मानसमिति भावः, आमोदभरम = आनन्दाऽतिरेकमिति भावः, न अविन्दत = न अलभत, प्रत्युत दुःखमेवाऽनुभूतवानिति भावः ।। १०४ ।।

अनुवादः—इस प्रकारसे अभीष्ट सौरभसे सम्पन्न उपवनमें भ्रमण करते हुए नलने कोयलके गानेसे और तोतेकी स्तुतिसे भी केवल बाहरी हर्षविशेषका अनुभव किया, परन्तु दमयन्तीके वियोगसे भीतरी हर्षविशेषका अनुभव नहीं किया ।। १०४ ।।

टिप्पणी—इष्टगन्धाऽऽढ्यम् = इष्टश्चाऽसौ गन्धः (क० धा०), तेन आढ्यं, तत् (तृ० त०) वनम् = अकर्मक "अट" धातुके योगमें "अकर्मक धातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्" इससे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया । अटन् = अटतीति, अट+लट् (शतृ) + सु । पिकोपगीतः = पिकैः उपगीतः (तृ० त०) । शुकस्तुतः = शुकैः स्तुतः (तृ० त०) । आमोदभरम् = आमोदस्य भरः, तम् (ष० त०) "आमोदो गन्धहर्षयोः" इति विश्वः । अविन्दत="विद्लृ लाभे" धातुसे लङ्+त । विदर्भसुभ्रूविरहेण = शोभने भ्रूवौ

यस्याः सा सुभ्रूः (बहु०) विदर्भाणां सुभ्रूः (ष० त०), तस्या विरहः, तेन (ष० त०)। "हेतौ" इस सूत्रसे तृतीया। आन्तरम् = अन्तरे भवः आन्तरः, तम्, अन्तर+अण्। इस पद्यमें आनन्द हेतु सुरभि वन आदिके होनेपर भी उसका फलरूप आनन्दके न होनेसे और "विदर्भसुभ्रूविरहेण" इस पदमें निमित्तकी उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।" सा० द० १०-६७ ॥१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया।

व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्राऽनुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—स निजकेतनं मीनं द्रुमाऽऽलवालाम्बुनिवेशशङ्कया करे दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुम् अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि ॥ १०५ ॥

व्याख्या—सः = नलः, निजकेतनं = स्वलाञ्छनं, मीनं = मत्स्यं, द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया = वृक्षाऽऽवापजलप्रवेशभीत्या, करेण = हस्तेन, दधत् = धारयन्, मत्स्यरेखाच्छलेन दधानं इति भावः। सर्वर्तुघने = सकलर्तुसङ्कुले, अत्र=अस्मिन्, वने=उपवने, मित्रं=सखायं, मधुं=वसन्तम्, अनुसरन्=अन्विष्यन्, स्मर इव = कामदेव इव, व्यतर्कि = वितर्कितः, लोकैरिति शेषः ॥ १०५ ॥

अनुवादः—नलको अपने चिह्न मत्स्यको वृक्षोंके आलवालके जलमें घुसनेके भयसे हाथसे धारण करते हुए, सब ऋतुओंसे परिपूर्ण इस उपवनमें अपने मित्र वसन्त ऋतुओंको ढूंढ़नेवाले कामदेवके समान लोगोंने तर्कना की ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—निजकेतनं = निजं च तत् केतनं तत् (क० धा०)। द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया = द्रुमाणाम् आलवालानि (ष० त०)। "स्यादालवालमावालमावापः" इत्यमरः। द्रुमालवालानाम् अम्बु (ष० त०), तस्मिन् निवेशः (स० त०)। तस्य शङ्का (ष० त०), तया, दधत्=दधातीति, 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश, "उभे अभ्यस्तम्" इससे अभ्यस्त संज्ञा होकर "नाऽभ्यस्ताच्छतुः" इससे नुम्का निषेध हुआ है। सर्वर्तुघने=सर्वे च ते ऋतवः (क० धा०), तैः घनं, तस्मिन् (तृ० त०)। अनुसरन्, अनुसरतीति, अनु+सृ+लट् (शतृ०)। व्यतर्कि = वि+तर्क+लुङ्+त (कर्ममें)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०५ ॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।

असेवताऽमुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनाऽनिलः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—लताऽबलालास्यकलागुरुः तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनाऽनिलः अमुम् असेवत ॥ १०६ ॥

व्याख्या—लताऽबलालास्यकलागुरुः = वल्लीवधूनृत्यविद्याशिक्षकः, एतेन मान्द्योक्तिः प्रतीयते । तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः = वृक्षपुष्पसौरभसमूहचोरः, एतेन सौरभ्यं प्रतीयते । एवं च मधुगन्धवारिणि=मकरन्दगन्धोदके, प्रणीतलीलाप्लवनः = कृतविलासाऽवगाहनः, अनेन शैत्यं व्यज्यते । तादृशः वनाऽनिलः= उपवनवातः, अमुं = नलम्, असेवत = सेवितवान् ॥ १०६ ॥

अनुवादः—लतारूप स्त्रियोंको नृत्यविद्या सिखानेवाला, वृक्षोंके फूलोंके सौरभको चुरानेवाला तथा मकरन्दके सौरभसे पूर्ण जलमें विलासके साथ तैरनेवाले वनके वायुने नलकी सेवा की ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—लताऽबलालास्यकलागुरुः = लता एव अबलाः (रूपक०)। लास्यस्य कलाः (ष० त०)। लताऽबलानां लास्यकलाः (ष० त०), तासु गुरुः (स० त०)। "लतारूप स्त्रियोंकी लास्य कलाओंमें गुरु" इस विशेषणसे वायुके मन्दतागुणकी प्रतीति होती है। तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः = तरूणां प्रसूनानि (ष त०), तेषां गन्धाः (ष० त०), तेषाम् उत्कराः (ष० त०)। पश्यतः हरः पश्यतोहरः, "षष्ठी चाऽनादरे" इस सूत्रसे षष्ठी और "वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु" इस वार्तिकसे अलुक् समास। "पश्यतो यो हरत्यर्थं स चोरः पश्यतोहरः।" इति हलायुधः। तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां पश्यतोहरः (ष० त०)। "वृक्षोंके फूलोंके सौरभको चुरानेवाला" इस विशेषणसे वायुके सौरभकी प्रतीति होती है। मधुगन्धवारिणि=गन्धपूर्णं वारि गन्धवारि (मध्यमपदलोपी स०)। मधु एव गन्धवारि, तस्मिन् (रूपक०)। प्रणीतलीलाप्लवनः=लीलया प्लवनं (तृ० त०), प्रणीतं लीलाप्लवनं येन सः (बहु०)। "मकरन्दके गन्धसे पूर्ण जलमें विलाससे अवगाहन करनेवाला" इस विशेषणसे वायुकी शीतलताकी प्रतीति होती है। वनाऽनिलः=वने अनिलः (स० त०)। असेवत = सेव+लङ्+त। इस पद्यमें कार्यसे और श्लिष्ट विशेषणसाम्यसे भी प्रस्तुत वनाऽनिलमें अप्रस्तुत युवकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है और रूपक अलङ्कार भी है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाऽधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितं चिरत्नरत्नाऽधिकं स्वम् आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपां निधिः इव तडागः अवनीभुजा ददृशे ॥

व्याख्या—अथ=वनाऽवलोकनाऽनन्तरं, मन्थनात्=मथनात्, भयेन=भीत्या, धनाऽयं पुनर्मथिष्यतीति भिया इति भावः। चिरात् = बहुकालात्, उच्चितं = सञ्चितं, चिरत्नरत्नाऽधिकं = चिरन्तनश्रेष्ठवस्तुप्रचुरं, स्वं = धनम्, आदाय = गृहीत्वा, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, वने = उपवने, निलीय = तिरोहितीभूय, निवसन् = वर्तमानः, अपांनिधिः = समुद्रः (इव), तडागः = पद्माकरः, सरोविशेष इति भावः, अवनीभुजा = राज्ञा, नलेनेत्यर्थः। ददृशे = दृष्टः ॥ १०७ ॥

अनुवादः—तब फिर मन्थन होनेके डरसे बहुत समयसे सञ्चित प्राचीन श्रेष्ठ वस्तुओंसे प्रचुर धन लेकर उस उपवनमें छिपकर रहते हुए समुद्रके समान तालाबको राजा नलने देखा ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—मन्थनात्=मन्थ + ल्युट + ङसि। "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी। उच्चितम्=उद + चिञ् + क्त + अम्। चिरत्न-रत्नाऽधिकं=चिरात् भवानि चिरत्नानि, 'चिर' शब्दसे "चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः" इस वार्तिकसे त्न प्रत्यय। चिरत्नानि च तानि रत्नानि (क० धा०), "रत्नं स्वजाति श्रेष्ठेऽपि" इत्यमरः। चिरत्नरत्नैः (ऐरावतादिभिः) अधिकः, तम् (तृ० त०)। आदाय = आङ् + दा + क्त्वा (ल्यप्)। निलीय = नि + ली + क्त्वा (ल्यप्), निवसत् = नि + वस + लट (शतृ) + सु। तडागः = "पद्माकरस्तडागो ऽस्त्री कासारः सरसी सरः।" इत्यमरः। अवनीभुजा = अवनीं भुनक्तीति अवनीभुक्, तेन, अवनी + भुज् + क्विप् (उपपद०) + टा। ददृशे = दृश् + लिट् (कर्ममें) + त। इस पद्यमें प्रस्तुत अपांनिधिमें अप्रस्तुत धनी पुरुषके व्यवहारका समारोप करनेसे समासोक्ति और "अपांनिधिः" यहाँपर "इव" आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ १०७ ॥

पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलाऽर्धरुद्धस्य तटाऽन्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार यः ॥१०८॥

अन्वयः—यः जलाऽर्धरुद्धस्य तटाऽन्तभूमिदः मृणालजालस्य निभात् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकावलीरदान् बभार ॥ १०८ ॥

व्याख्या—अथ श्लोकनवकेन तडागस्य पयोधिधर्मत्वं प्रतिपादयति–पयोनिलीनेत्यादिभिः। यः=तडागः, जलार्धरुद्धस्य=सलिलाऽर्धच्छन्नस्य, तटाऽन्तभूमिदः =

तीरान्तभूमिनिर्गतस्य, मृणाजालस्य = बिसवृन्दस्य, निभात् = व्याजात्, अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = शेषाऽहिलाङ्गूलतुल्यवर्णान्, शुक्लवर्णानिति भावः। पयोनिलीनाऽभ्रमुकाऽऽवलीरदान् = जलमग्नैरावतश्रेणीदन्तान्, बभार = धारयामास, समुद्रे त्वेक एवैरावतः, अत्र त्वसख्या एवैरावता इति भावः ।। १०८ ।।

अनुवाद:--जो तालाब जलसे अर्ध आच्छादित तीरके समीपकी जमीनसे निकले हुए मृणालसमूहके बहानेसे शेषनागके पुच्छके समान कान्तिवाले, जलमें छिपे हुए ऐरावतोंके दाँतोंको धारण करता था ।। १०८ ।।

टिप्पणी--जलार्धरुद्धस्य = अर्धं (यथा तथा) रुद्धम् (सुप्सुपा०) जलेन अर्धरुद्धं, तस्य (तृ० त०) । तटाऽन्तभूमिदः = तटस्य अन्तः (ष० त०), तस्मिन् भूः (स० त०), तां भिनत्तीति, तस्य, तटाऽन्त + भू + भिद् + क्विप् (उपपद०) । मृणालजालस्य = मृणालानां जालं, तस्य (ष० त०) । निभात् = "निभो व्याजसदृशयो" इति विश्वः अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = अनन्तश्चाऽसौ उरगः (क० धा०), 'शेषोऽनन्त' इत्यमरः । अनन्तोरगस्य पुच्छम् (ष० त०), समाना छविः येषा ते सच्छवयः (बहु०) "समानस्यच्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु "समानस्य" इसका योगविभाग होनेसे "समान" के स्थानमें "स" आदेश । अनन्तोरगपुच्छेन सच्छवयः, तान् (तृ० त०) । पयोनिलीनाऽभ्रमुकावलीरदान् = पयसि निलीनाः (स० त० । अभ्रमोः कामुकाः (ष० त० , "कमेरनिषेधः" इस वार्तिकसे "नलोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे विधीयमान षष्ठी का निषेध नहीं हुआ । तेषाम् आवल्यः (ष० त०) । "पयोनिलीनाश्च ता अभ्रमुकमुकावल्यः (क० धा०), तासां रदाः, तान् (ष० त०) । "ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाऽभ्रमुवल्लभाः।" इति ।

"करिण्योऽभ्रमुकपिलापिङ्गलाऽनुपमाः क्रमात् ।
ताम्रकर्णी शुभ्रदन्ती चाऽङ्गना चाऽञ्जनावती ।।" इति चाऽमरः ।

बभार = भृञ् + लिट् + तिप् । इस पद्यमें उपमा और कैतवाऽपह्नुति इन दोनों का अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ।। १०८ ।।

तटाऽन्तविश्रान्ततुरंगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशाऽन्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ।। १०९ ।।

अन्वयः—यः तटाऽन्तविश्रान्ततरंगमच्छटास्फटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशाऽन्तशातनैः चलत् उच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् इव बभौ ।। १०९ ।।

व्याख्या—यः = तडागः, तटाऽन्तविश्रान्ततुरगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदय-

चुम्बनेन=तीरप्रान्तस्थितनलाऽश्वश्रेणीप्रकटगतिबिम्बोत्पत्तिसम्बन्धेन, वीचिकशाऽन्तशातनैः = तरङ्गाऽश्वताडनीप्रान्तताडनैः, चलत् =स्फुरत्, उच्चैःश्रवसाम् = उच्चैःश्रवो नामकमहेन्द्राऽश्वानां, सहस्रं = दशशतीं, बाहुल्यमिति भावः। श्रयन् इव = प्राप्नुवन् इव, बभौ = शुशुभे । १०९ ॥

अनुवादः--जो तालाब तीरके प्रान्तमें विश्राम करते हुए घोड़ोंके प्रतिबिम्बोंके सम्बन्धसे तरङ्गरूप चाबुकोंके प्रहारोंसे चलते हुए हजारों उच्चैःश्रवाओं को धारण करते हुएके समान शोभित होता था ॥ १०९ ॥

टिप्पणी – तटाऽन्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन = तटस्य अन्तः (ष० त०) तस्मिन् विश्रान्ताः (स० त०)। तुरङ्गमाणां छटाः (ष० त०)। तटान्तविश्रान्ताश्च ताः तुरङ्गमच्छटाः (क० धा०), अनुबिम्बस्य उदयः (ष० त०)। तस्य चुम्बनम् (ष० त०)। स्फुटम् (यथा तथा) अनुबिम्बोदय, चुम्बनम् (सुप्सुपा०)। तटाऽन्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटायाः स्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनं, तेन (ष० त०)। वीचिकशाऽन्तशातनैः वीचय एव कशाः (रूपक०)। "अश्वादेस्ताडनी कशा" इत्यमरः। वीचिकशानाम् अन्ताः (ष० त०), तैः शातनानि, तैः (तृ० त०)। चलत् = चल + लट् + (शतृ)। श्रयन् = श्रयतीति "श्रिञ् सेवायाम्" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश। बभौ="भा दीप्तौ" धातुसे लिट् + त। इस पद्यमें "वीचिकशा" इस अंशमें रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, उत्प्रेक्षासे नलके घोड़ोंकी इन्द्रके अश्व उच्चैःश्रवासे समता व्यङ्ग्य होती है इस प्रकारसे अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ १०९ ॥

सिताऽम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।

तमः समच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांऽशोर्बहुलं वहन्बहु ॥ ११० ॥

अन्वयः यः अलिश्यामलितोदरश्रियां सिताऽम्बुजानां निवहस्य छलात् तमः समच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहुलं सुधांऽशोः कुलं वहन् बहु बभौ ॥ ११० ॥

व्याख्या--यः = तडागः, अलिश्यामलितोदरश्रियां = भ्रमरश्यामीकृतमध्यशोभानां, सिताऽम्बुजानां=श्वेतकमलानां, पुण्डरीकाणामित्यर्थः, निवहस्य=समूहस्य, छलात् = कैतवात्, तमः समच्छायकलङ्कसङ्कुलं = तिमिरवर्णलाञ्छनव्याप्तं, बहुलं = प्रचुरं, सुधांशोः=चन्द्रमसः, कुलं=समूहं, वहन् = धारयन् सन्, बहु = अधिकं बभौ=शुशुभे ॥ ११० ॥

अनुवादः--जो तालाब मध्यमें भौंरोंसे श्यामवर्णवाली शोभासे सम्पन्न श्वेत-

कमलोंके छलसे श्यामवर्णवाले कलङ्कोंसे व्याप्त बहुतसे चन्द्रोंको धारण करता हुआ अधिक शोभित था ।। ११० ।।

टिप्पणी—अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = श्यामला कृता श्यामलिता, अलिभिः श्यामलिता (तृ० त०) । उदरस्य श्रीः (ष० त०) । अलिश्यामलिता उदरश्रीः येषां तानि अलिश्यामलितोदरश्रीणि, तेषाम् (बहु०), "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य" इससे पुंवद्भाव । सिताऽम्बुजानां=सितानि च तानि अम्बुजानि, तेषाम् (क० धा०) । तमःसमच्छायकलङ्कसंकुलं = तमसा समा (तृ० त०), सा छाया (कान्तिः) येषां ते तमः समच्छायाः (बहु०), ते च ते कलङ्काः (क० धा०), तैः सङ्कुलं, तत् (तृ० त०) । सुधांऽशोः = सुधा (युक्ता) अंशवः यस्य स सुधांऽशुः, तस्य (बहु०) । वहन् = वह + लट् (शतृ) + सु । बहु = क्रियाविशेषण है बभौ=भा + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें उपमा ओर कैतवाऽपह्नुति इन दोनोंमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ।।११०।।

रथाऽङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाऽहिभुवाऽन्वयायि यः ।। १११ ।।

अन्वयः—रथाऽङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाऽहिभुवा शार्ङ्गिणा सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् यः (अपांनिधिः) यथा अन्वयायि (तथैव) रथाङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाऽहिभुवा सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् यः अन्वयायि ।। १११ ।।

व्याख्या—रथाङ्गभाजा = सुदर्शनचक्रधारिणा, कमलाऽनुषङ्गिणा = कमलासंसर्गवता, शिलीमुखस्तोमसखेन = भ्रमरसमूहसदृशेन, कृष्णवर्णेनेत्यर्थः । मृणालशेषाऽहिभुवा=बिससदृशशेषनागाऽऽधारेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = कमलिनीगुल्मसमूहच्छलात् कमलिनीगुल्मसमूहोऽपि शेषनागसदृशो भवतीति भावः । शार्ङ्गिणा = विष्णुना, यः=अपांनिधिः = समुद्रः, (यथा = येन प्रकारेण) अन्वयायि = अनुगतः । (तथैव) रथाऽङ्गभाजा = चक्रवाकयुक्तेन कमलाऽनुषङ्गिणा= कमलसंसर्गयुक्तेन, शिलीमुखस्तोमसखेन=अलिकुलसहचरेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात्=कमलिनीगुच्छसमूहच्छलात्, मृणालशेषाऽहिभुवा=शेषसदृशबिसाधारेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन = कमलिनीगुच्छसमूहेन, सरोजिनीस्तम्बकदम्बे एव मृणालानि भवन्तीति भावः । यः = अपांनिधिः, तडागः, अन्वयायि=अनुगतः ।।१११।।

अनुवादः—चक्र (सुदर्शन चक्र) को धारण करनेवाले, कमला (लक्ष्मी) के संसर्गसे युक्त, भ्रमरसमूहके सदृश (कृष्णवर्णवाले), मृणालसदृश (श्वेतवर्ण)

शेषनागके ऊपर शयन करनेवाले विष्णुसे जैसे समुद्र अधिष्ठित होता है, उसी तरह जो तालाब रथाङ्गों (चक्रवाकों) से युक्त, कमलोंके संसर्गसे युक्त, भ्रमरों के भ्रमणका स्थान, शेषनागके सदृश (सफेद) मृणालोंका आधारभूत कमलिनीगुच्छोंसे अनुगत था ॥ १११ ॥

टिप्पणी--रथाऽङ्गभाजा=रथस्य अङ्गं (ष० त०), चक्रमित्यर्थः । रथाऽङ्गं भजतीति रथाऽङ्गभाक् तेन, रथाऽङ्ग + भज् + ण्विः (उपपद०) । सुदर्शन चक्रको लेनेवाले यह तात्पर्य है, "शार्ङ्गिणा" इसका विशेषण । दूसरा अर्थ—रथाऽङ्ग पदका चक्ररूप अर्थ भी होता है "चक्रवाक" (चकवा) शब्द का एकदेश चक्र है "नामैकदेशे नामग्रहणम्" अर्थात् नामके एक देश (अवयव) में भी नामका ग्रहण होता है इस न्यायसे 'चक्र' का अर्थ चक्रवाक और उसका पर्याय "रथाङ्ग" भी चक्रवाक (चकवा) का वाचक हुआ है । "कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः ।" इत्यमरः । रथाङ्गान् भजतीति रथाङ्गभाक्, तेन, चक्रवाकसे युक्त यह अर्थ हुआ । यह "सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है । कमलाऽनुषङ्गिणा = अनुषङ्गः अस्य अस्तीति अनुषङ्गी, अनुषङ्ग + इनिः । कमलया अनुषङ्गी, तेन (तृ० त०) लक्ष्मीसे युक्त, यह पद "शार्ङ्गिणा" इसका विशेषण है । शिलीमुखस्तोमसखेन = शिलीमुखानां स्तोमः (ष० त०) तस्य सखा (सदृशः) तेन (ष० त०), इस प्रकार यह "शार्ङ्गिणा" इसका विशेषण है । दूसरे पक्षमें—कमलैः अनुषङ्गी, तेन, "सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है । मृणालशेषाऽहिभुवा = शेषश्चाऽसौ अहिः (क० धा०) । मृणालम् इव शेषाऽहिः "उपमानानि सामान्यवचनैः" इससे समासः । "मृणालशेषाऽहिः भूः (शयनाधारः) यस्य सः" तेन (बहु०) । मृणालके समान सफेद शेषनाग में सोनेवाले, इस अर्थमें "शार्ङ्गिणा" का विशेषण है । दूसरे पक्षमें--मृणालशेषाऽहिभुवा = मृणालंशेषाऽहिः इव "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । मृणालऽशेषाऽहेः भूः (आधारः), (ष० त०) तेन । इस पक्षमें यह 'सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है । सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = सरोजिनीनां स्तम्बाः (ष० त०) "अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ" इत्यमरः । सरोजिनीस्तम्बानां कदम्बं (ष० त०), तस्य कैतवं, तस्मात् (ष० त०) । तडागपक्षमें इसका सम्बन्ध करनेके लिए "सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" ऐसा विभक्तिविपरिणाम और पदहान करना चाहिए, तब दो पदोंका समष्टि अर्थ शेषसर्पके समान शुक्लवर्ण मृणालोंके आधारभूत कमलोंके गुच्छोंसे

जो तालाब अनुगत था ऐसा होता है। अन्वयायि = अनु उपसर्गपूर्वक "या" धातुसे लुङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति उपमा और श्लेष इन अलङ्कारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ १११ ॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गरेखा बिभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२ ॥

अन्वयः--यः अङ्कजुषः तरङ्गरेखाः (एव) स्ववल्लभाः तरङ्गिणीः बिभराम्बभूव। (किञ्च) यः दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयश्च (अस्ति) ॥ ११२ ॥

व्याख्या--यः तडागः, अपां निधिरिव इति शेषः। अङ्कजुषः=निकटवर्तिनीः, उत्सङ्गसङ्गिनश्च, तरङ्गरेखाः=भङ्गराजीः (एव, स्ववल्लभाः = निजप्रियाः, तरङ्गिणीः=नदीः बिभराम्बभूव=धारयामास। (किञ्च) यः=तड़ागः, दरोद्गतैः= ईषदुद्बुद्धैः, कोकनदौघकोरकैः = रक्तोत्पलसमूहकलिकाभिः, धृतप्रवालाऽङ्कुर-सञ्चयश्च = गृहीतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्च, अस्तीति शेषः ॥ ११२ ॥

अनुवादः—जैसे समुद्र गोदमें रहनेवाली अपनी प्रियाओं नदियोंको धारण करता है वैसे ही जो तालाब अपने पासमें रहनेवाली तरङ्गरेखारूप अपनी प्रियाओंको धारण कर रहा था। जैसे समुद्र विद्रुमों (मूगों) के समूहको धारण करता है वैसे ही जो तालाब कुछ खिली हुई लाल कमलोंकी कलियोंको धारण कर रहा था ॥ ११२ ॥

टिप्पणी अङ्कजुषः अङ्कं जुषन्त इति, ताः, अङ्क+जुष्+क्विप् (उपपद०)। तरङ्गरेखाः=तरङ्गाणां रेखाः, ताः (ष० त०), एव स्ववल्लभाः= स्वस्य वल्लभाः, ताः (ष० त०)। तरङ्गिणीः=नदीः, 'तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्लादिनी धुनी।" इत्यमरः। बिभराम्बभूव = "डुभृञ् धारणपोषणयोः" धातुसे लिट्में "भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च" इस सूत्रसे भृ धातुसे विकल्पसे आम् प्रत्यय, पक्षान्तरमें "बभार" ऐसा रूप भी बनता है। दरोद्गतैः = दरम् (यथा तथा उद्गताः, तैः (सुप्सुपा०), "कन्दरे तु दरीमाहुरीषदर्थे दरोऽव्ययम्।" इति विश्वः। कोकनदौघकोरकैः=कोकनदानाम् ओघाः (ष० त०), "रक्तोत्पलं। कोकनदम्" इत्यमरः। कोकनदौघानां कोरकाः तैः (ष० त०)। धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयः=प्रवालानाम् अङ्कुराः (ष० त०) तेषां सञ्चयः (ष० त० । धृतः प्रवालाऽङ्कुरसञ्चयः येन सः (बहु०)। इस पद्यमें तरङ्गरेखाओंमें तरङ्गिणीत्व के आरोपसे रूपक अलङ्कार है। ११२ ॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन्विधुकालकूटयोः ॥ ११३ ॥

अन्वयः यः महीयसः गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः त्विषं विमुञ्चन् (इव) नलेन मेने ॥ ११३ ॥

व्याख्या—यः = तडागः, महीयसः = महत्तरस्य, गौरस्य = श्वेतस्य, मेचकस्य च =नीलस्य च, पंकजमण्डलस्य = कमलसमूहस्य, शुक्लनीलकमलयोरिति भावः । छलेन = कैतवेन, सलिले = जले, निलीनयोः = निमग्नयोः, विधुकालकूटयोः = चन्द्रकालकूटविषयोः सिताऽसितयोः, त्विषं = कान्ति, विमुञ्चन् = विसृजन्, (इव) नलेन = नैषधेन, मेने = संभावितः ॥ ११३ ॥

अनुवादः—जिस तालाबको बड़ेसे सफेद और नीले कमलसमूहके बहानेसे जलमें डूबे हुए चन्द्रमा और कालकूट विषकी कान्तिको छोड़ते हुएके समान नलने सम्भावना की ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—महीयसः = अतिशयेन महत् महीयः, तस्य, महत् + ईयसुन् + ङस् । पंकजमण्डलस्य = पंकजानां मण्डलं, तस्य (ष० त०), निलीनयोः=नि + ली + क्त + ओस् । विधुकालकूटयोः = विधुश्च कालकूटं च, तयोः (द्वन्द्वः) । विमुञ्चन् = विमुञ्चतीति, वि + मुच् + लट् (शतृ) + सु । "शेमुचादीनाम्" इससे नुम् आगम । मेने = मन् + लिट् (कर्ममें) + त । इस पद्यमें कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे संकर अलङ्कार है ॥ ११३ ॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्गरिङ्गणैः चलीकृता अबालशैवाललतापरम्पराः वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां दधुः ध्रुवम् ॥ ११४ ॥

व्याख्या—यत्र = यस्मिन्, तडाग इति भावः । तरंगङ्गिणैः = भंगकम्पनैः, चलीकृताः = चञ्चलीकृताः, अबालशैवाललतापरम्पराः = कठोरजलनीलीवल्लीपङ्क्तयः, वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां = वडवाऽनलाऽवस्थानबहिः-प्रादुर्भवत्तमबाहुल्यधूमतां, दधुः = धारयामासुः, ध्रुवम् = इव, बहिरुत्थितधूमपटलवद्बभुः ॥ ११४ ॥

अनुवादः—जिस तालाबमें तरंगोंके कम्पनसे चञ्चल बनाई गयी कठोर

सेवारकी लताएँ नीचे वडवाग्निकी स्थितिसे प्रादुर्भूत होनेवाले धूमकी बहुलताको मानों धारण कर रहीं थीं ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—तरंगरिङ्गणै: = तरङ्गाणां रिङ्गणानि, तैः (ष० त०) चलाकृताः = अचलाः चलाः संपद्यन्ते तथा कृताः, चल + च्वि + कृ + क्त + टाप् + जस् । अबालशैवाललतापरम्पराः = न बालाः अबालाः (नञ् त०)। शैवालानां लताः (ष० त०)। "जलनीली तु शैवालं शेवलः" इत्यमरः। अबालाश्च ताः शैवाललताः (क० धा०), तासां परम्परा, (ष० त०)। वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां=हव्यं वहतीति हव्यवाड् (अग्निः), हव्य-उपपदपूर्वक 'वह' धातुसे "वहश्च" इस सूत्रसे ण्वि प्रत्यय (उपपद०)। वाडवश्चासौ हव्यवाट् (क० धा०), तस्य अवस्थितिः (ष० त०)। अतिशयेन प्ररोहन् प्ररोहत्तमः, प्ररोहत् + तमप् । बहोः भावः भूमा, 'बहु' शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इससे इमनिच् प्रत्यय और "बहोर्लोपो भू च बहोः" इससे बहु के स्थानमें भू आदेश । प्ररोहत्तमो भूमा येषां ते प्ररोहत्तमभूमानः (बहु०), ते च ते धूमाः (क० धा०) । वाडवहव्यवाडवस्थित्या प्ररोहत्तमभूमधूमाः (तृ० त०), तेषां भावस्तत्ता, ताम् वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूम + तल् + टाप् + अम् । दधुः = धा + लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ११४ ॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥ ११५ ॥

अन्वयः—आदित्यम् अवाप्य कण्टकैः प्रकामं करम्बिता, आमोदभरं विवृण्वती, दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा यत्प्रभवा सरोजिनी अप्सरायिता ॥ ११५ ॥

व्याख्या—आदित्यं=सूर्यम्, अप्सरःपक्षे—इन्द्रम्; अवाप्य = प्राप्य, कण्टकैः= नालगततीक्ष्णाऽवयवैः, अप्सरःपक्षे—रोमाञ्चैः, प्रकामम् = अत्यर्थं, करम्बिता = दन्तुरिता, अप्सरःपक्षे—युक्ता । आमोदभरं = परिमलसम्पदम्, अप्सरःपक्षे— आनन्दसम्पदं, विवृण्वती = प्रकटयन्ती, दिवा = दिवसे, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = गृहीतव्यक्तकमलस्वरूपा, अप्सरःपक्षे—दिवा = स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा= गृहीतशोभास्थानशरीरा, स्वर्गलोकवासिनीति भावः, एतादृशी यत्प्रभवा = यत् तडागोत्पन्ना, सरोजिनी=कमलिनी, अप्सरायिता=अप्सरोवत् आचरिता ॥ ११५ ॥

अनुवादः—जैसे स्वर्गलोकमें रहनेवाली अप्सरा इन्द्रको पाकर अत्यन्त रोमाञ्चोंसे युक्त होती है, अतिशय आनन्दको प्रकट करती है वैसे ही जिस तालाबसे

उत्पन्न कमलिनी सूर्यको पाकर नालमें स्थित कण्टकोंसे अत्यन्त युक्त होकर अतिशय सुगन्धको प्रकट कर तथा स्पष्ट रूपसे कमलरूप शरीरको धारण करती हुई अप्सराके समान आचरण करती है ॥ ११५ ॥

टिप्पणी—आदित्यम् = अदितेरपत्यं पुमान् आदित्यः तम् 'अदिति' शब्दसे "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" इससे ण्य प्रत्यय । अवाप्य = अव + आप् + क्त्वा (ल्यप्) । आमोदभरम् = आमोदस्य भरः, तम् (ष० त०) । "आमोदः सोऽतिनिर्हारी" इति "मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः ।" इति चाऽमरः । विवृण्वती = विवृणोतीति, वि = वृञ् + लट् (शतृ) + ङीप् + सु । दिवा = "दिवाऽह्नीति" इति "सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां, क्लीबे त्रिविष्टपम्" इति चामरः । धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = श्रियः गृहाणि (ष० त०) । स्फुटानि च तानि श्रीगृहाणि (क० धा०) । धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि (पद्मानि) यस्य सः (बहु०), धृतस्फुटश्रीगृहः विग्रहः (स्वरूपम्) यस्याः सा (बहु०) अप्सराके पक्षमें— दिवा = स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा=श्रियः (शोभायाः) गृहम् (ष० त०) । धृतं स्फुटं श्रीगृहं विग्रहः (शरीरम्) यस्याः सा (बहु०) उज्ज्वलशोभायुक्त शरीरवाली यह तात्पर्य है । यत्प्रभवा = प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः, प्र—उपसर्गपूर्वक 'भू' धातुसे "ऋदोरप्" इस सूत्रसे अप प्रत्यय । यः (तडागः) प्रभवः (कारणम्) यस्याः सा (बहु०) । अप्सरायिता = अप्सरोवत् आचरिता, अप्सरस् शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे "ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया" इस वार्तिकके सहकारसे क्यच् प्रत्यय, सकारका लोप और टाप् प्रत्यय । इस पद्यमें श्लेष और उपमा अलङ्कार है ॥ ११५ ॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान्धुवतः सपक्षताम् ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्ज्य सतः पक्षान् धुवतः मैनाकमहीभृतः सपक्षतां ततान ॥ ११६ ॥

व्याख्या—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयतिः = यज्जलप्रवाहप्रतिफलिताऽऽयामः, मरुत्तरङ्गैः=वायुचालितोर्मिभिः, तरलः = चञ्चलः, तटद्रुमः=तीरवृक्षः, निमज्ज्य- निमग्नीभूय, सतः = विद्यमानस्य, पक्षान् = पतत्त्राणि, धुवतः = कम्पयतः, मैनाकमहीभृतः = मैनाकपर्वतस्य, सपक्षतां=तुल्यतां, पक्षयुक्ततां च, ततान = विस्तारयामास ॥ ११६ ॥

अनुवादः—जिस तालाबके जलप्रवाहमें प्रतिबिम्बित विस्तारवाला, वायुसे

कम्पित तरङ्गोंसे चञ्चल किनारेका पेड़ डूबकर रहते हुए और पंखोंको हिलाते हुए मैनाक पर्वतके समानताका वा पक्षयुक्त-भावका विस्तार कर रहा था ॥११६॥

टिप्पणी—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बिताऽऽयतिः = अम्बुनः पूरः (ष० त०) यस्य (तडागस्य) अम्बुपूरः (ष० त०)। प्रतिबिम्बिता आयतिः यस्य सः बहु०)। यदम्बुपूरे प्रतिबिम्बिताऽऽयतिः (स० त०)। मरुत्तरङ्गः = मरुतः तरङ्गाः, तैः (ष० त०)। तटद्रुमः = तटे द्रुमः (स० त०)। निमज्ज्य = नि + मस्ज + क्त्वा (ल्यप्)। सतः = अस्तीति सत्, तस्य, अस् + लट् (शतृ) + ङस्। धुवतः = धुवतीति धुवन्, तस्य, "धू विधूनने" इस तुदादिस्थ धातुसे लट् शतृ + ङस् मैनाकमहीभृतः = मैनाकश्चाऽसौ महीभृत्, तस्य (क० धा०), सपक्षतां = समानः पक्षः यस्य सः सपक्षः (बहु०), "समानस्यच्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु" इस सूत्रमें "समानस्य" इसका योगविभाग होनेसे समानके स्थानमें "स" आदेश हुआ है। सपक्षस्य भावः सपक्षता, ताम्, सपक्ष + तल् + टाप् + अम्। मैनाक-पक्षमें—पक्षैः सह सपक्षः (तुल्ययोग बहु०), "वोपसर्जनस्य" इस सूत्रसे 'सह' के स्थानमें 'स' भाव। ततान = तनु + लिट् + तिप् (णल्)। इन्द्रने जब पर्वतों के पक्षोंको काटा तब मैनाक पर्वत डरकर समुद्रमें छिपा ऐसी पौराणिकी आख्या-यिका है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है॥ ११६ ॥

युग्मम्—

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः॥ ११७ ॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम्।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य ॥ ११८ ॥

अन्वयः—स नैषधः पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्र केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनाद-सादरं बालासु रतिक्षमासु च प्रियासु चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतम् अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसम् अबोधि ॥ ११७-११८ ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, नैषधः = नलः, पयोधिलक्ष्मीमुषि=समुद्रशोभाहरे, समुद्रसदृश इति भावः। तत्र = तस्मिन्, केलिपल्वले = क्रीडासरसि, रिरंसुहंसी-कलनादसाऽऽदरं = रमणेच्छुवरटामधुरशब्दसस्पृहं, बालासु = आसन्नयौवनासु, अरतिक्षमास्विति भावः। रतिक्षमासु च = रमणसमर्थासु, युवतीष्विति भावः। इत्थं द्विविधासु, प्रियासु = वल्लभासु, क्रमात्, चञ्च्वोः = त्रोटयोः चरणद्वयस्य

च = पादद्वितयस्य च, मिषेण = छलेन द्विपत्रितं = सञ्जातद्विपत्रं, चञ्च्वोः द्विखण्डत्वेन साम्यादियमुक्तिः, पल्लवितं च = सञ्जातपल्लवत्वं च, चरणयोः विसृमराऽङ्गुलित्वेन पल्लवसाम्यादियमुक्तिः स्मरार्जितं=कामोपार्जितं,स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादिदिति भावः। रागमहीरुहाऽङ्कुरं=अनुरागवृक्षनूतनोद्भिदं, बिभ्रतं = धारयन्तं, चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालागोचरगं, चरणमिषेण पल्लवितं युवतिविषये रागं च धारयन्तमिति भावः । अन्तिके=हंसीनिकटे, विचरन्तं=
युवतिविषये रागं च धारयन्तमिति भावः । अन्तिके = हंसीनिकटे, विचरन्तं=
गच्छन्तं, चित्रम् = अद्भुतं, हिरण्मयं = सुवर्णमयं, हंसं = चक्राङ्गम्, अबोधि = ज्ञातवान्, अद्राक्षीदिति भावः ।। ११७-११८ ।।

अनुवादः—महाराज नलने समुद्रकी शोभाका हरण करनेवाले, विहार-सरोवरमें रमणकी इच्छा करनेवाली हंसियोंके अव्यक्त मधुर शब्दोंमें अभिलाष करनेवाले, बाला और प्रौढ अपनी प्रियाओंमें दो चोंचों और दो चरणोंके बहानेसे दो पत्तोंसे तथा पल्लवसे युक्त कामदेवसे उपार्जित अनुरागरूप वृक्षके अङ्कुरको धारण करते हुए और हंसियोंके पास जाते हुए अनूठे सुनहरे हंसको देखा ।। ११७-११८ ।।

टिप्पणी—नैषधः = निषध + अण् । पयोधिलक्ष्मीमुषि = पयोधेः लक्ष्मीः (ष० त०)। तां मुष्णातीति पयोधिलक्ष्मीमुट्, तस्मिन्, पयोधिलक्ष्मी + मुष् + क्विप् + ङि (उपपद०)। केलिपल्वले = केलेः पल्वलं, तस्मिन् (ष० त०)। 'वेशन्तः पल्वलं चाऽल्पसरः" इत्यमरः। रिरंसुहंसीकलनादसादरं = रन्तुम् इच्छवः रिरंसवः, रम् + सन् + उः । ताश्च ता हंस्यः (क० धा०)। कलश्चासौ नादः (क० धा०), आदरेण सहितः सादरः (तुल्योगबहु०)। रिरंसुहंसीनां कलनादः (ष० त०), तस्मिन् सादरः, तम् (स० त०)। रतिक्षमासु = रतौ क्षमा, तासु (स० त०), चञ्च्वोः = "चञ्चुस्त्रोटिरुभे: स्त्रियाम्" इत्यमरः। चरणद्वयस्य = चरणयोः द्वय, तस्य ष० त०)। द्विपत्रितं = द्विसंख्यके पत्रे द्विपत्रे (मध्यमपदलोपी स०)। द्विपत्रे संजाते अस्य द्विपत्रितः, तम् "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच् प्रत्यय। पल्लवितं = पल्लवं संजातम् अस्य, तम्, पहलेके समान इतच्। स्मरार्जितं = स्मरेण अर्जितः, तम् (तृ० त०)। रागमहीरुहांऽङ्कुरं = राग एव महीरुहः (रूपक०) तस्य अङ्कुरः, तम् (ष० त०)। बिभ्रतं = भृ + लट् (शतृ) + अम् । विचरन्तं=वि + चर + लट् (शतृ) + अम्, हिरण्मयं=हिरण्यस्य विकारः, तम् "दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्य धैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि"

इस सूत्रसे यकारलोपका निपातन । हंसम् = यहाँपर "हंस" शब्दसे राजहंसको लेना चाहिए । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः ।" इत्यमरः । अबोधि= "बुध अवगमने" धातुसे लुङ्, (कर्तामें) "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्यो- ऽन्यतरस्याम्" इससे च्लिके स्थानमें चिण् । पूर्वपद्यमें पयोधिलक्ष्मीको केलि- पल्लव कैसे हरण करता है इस प्रकार वस्तुसम्बन्ध असम्भव होकर पयोधि- लक्ष्मीके सदृश लक्ष्मीका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है । दूसरे पद्यमें यथासंख्य, रूपक और कैतवाऽपह्नुतिका सङ्कर है । उसके साथ दो रोगोंके भेदमें अभेदलक्षणा अतिशयोक्तिसे उत्थापित चोंचों और चरणोंके व्याजसे भीतरके समान बाहर भी अङ्कुरितत्वकी उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है इस प्रकार अलङ्कारसे अलङ्कारध्वनि है ॥ ११७–११८ ॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥ ११९ ॥

अन्वयः— महीमहेन्द्रः स एकान्तमनोविनोदिनं तं शकुन्तं क्षणम् अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमनाः अभूत् ॥ ११९ ॥

व्याख्या— महीमहेन्द्रः = पृथिवीन्द्रः, सः = नलः, एकान्तमनोविनोदिनं= नितान्तचित्ताह्लादकं, तं = पूर्वोक्तं, शकुन्तं = पक्षिणं हंसमित्यर्थः । क्षणं= कञ्चित्कालम्, अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, प्रियावियोगात् = दयिताविरहात्, दमयन्ती- वियोगादित्यर्थः । निर्भरम् = अतिमात्रं, विधुरः अपि = विह्वलः अपि, मनाक्= ईषत्, कुतूहलाक्रान्तमनाः = कुतूहलाऽन्वितचित्तः, अभूत् = अभवत्, ग्रहीतुका- मोऽभूदिति भावः ॥ ११९ ॥

अनुवादः— राजा नल चित्तको अत्यन्त आनन्दित करनेवाले उस पक्षी- (हंस) को कुछ समयतक देखकर दमयन्तीके विरहसे अत्यन्त विह्वल होकर भी कुछ कुतूहलसे युक्त हो गये ॥ ११९ ॥

टिप्पणी— महीमहेन्द्रः = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), मह्यां महेन्द्रः (स० त०) । एकान्तमनोविनोदिनं = मनो विनोदयतीति मनोविनोदी, मनस् + वि + नुद + णिच् + णिनि (उपपद०) । एकान्तं (यथा तथा) मनोविनोदी, तम् (सुप्सुपा०) । "तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढबाढदृढानि च ।" इत्यमरः । क्षण= "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया । "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः ।" इत्यमरः । अवेक्ष्य = अव + इक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । प्रियावियोगात् = प्रियाया वियोगः, तस्मात् (ष० त०) । कुतूहलाक्रान्तमनाः=

आक्रान्तं मनो यस्य सः (बहु०), कुतूहलेन आक्रान्तमनाः (तृ० त०)। अभूत् = भू + लुङ् + तिप् ॥ ११९ ॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशाऽवशात्मना ॥ १२० ॥

अन्वयः—अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा वेधसः स्पृहा यया दिशा धावति तया भृशाऽवशात्मना जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या इव अनुगम्यते ॥ १२० ॥

व्याख्या—धीरोदात्तो नलः कथं हंसग्रहणात्मके चापल्ये प्रावर्तिष्टेत्याशङ्क्य समाधत्ते अवश्येति। अवश्यभव्येषु = नियमभवितव्येषु विषयेषु अनवग्रहग्रहा = अप्रतिबन्धनिर्बन्धा, निरङ्कुशाऽभिनिवेशेति भावः। वेधसः = ब्रह्मणः, स्पृहा = इच्छा, यया दिशा = येन मार्गेण, धावति = गच्छति, तया = दिशा, भृशा वशात्मना = अत्यर्थपरतन्त्रस्वभावेन, जनस्य = लोकस्य, चित्तेन = मानसेन, तृणेन = अर्जुनेन, वात्या इव = वातसमूह इव, अनुगम्यते = अनुस्रियते, वेधसः स्पृहा कर्म ॥ १२० ॥

अनुवादः—नियमसे भवितव्य विषयोंमें प्रतिबन्धसे रहित आग्रहवाली ब्रह्माकी इच्छा जिस दिशासे जाती है उसी दिशाको अत्यन्त परतन्त्र स्वभाववाले मनुष्यका चित्त अनुगमन करता है, जैसे कि तृण वायुसमूहका अनुगमन करता है ॥ १२० ॥

टिप्पणी—अवश्यभव्येषु = भवन्तीति भव्याः, "भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा" इस सूत्रसे निपात हुआ है। अवश्यं भव्याः तेषु (सुप्सुपा०)। "अवश्यम्" के मकारका "लुम्पेदवश्यमः कृत्ये" इससे लोप हुआ है अनवग्रहग्रहा = अविद्यमानः अवग्रहः यस्मिन् सः (नञ्बहु०), स ग्रहः यस्यां सा (बहु०) "ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे ॥" इति विश्वः भृशाऽवशात्मना = अवशः (अधीनः) आत्मा (स्वभावः) यस्य सः (बहु०)। भृशम् (यथा तथा) अवशात्मा, तेन (सुप्सुपा०) वात्या = वातानां समूहः, 'वात' शब्दसे "पाशादिभ्यो यः" इस सूत्रसे में प्रत्यय और टाप्। अनुगम्यते = अनुगम् + (कर्ममें) + त। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १२० ॥

अथाऽवलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।
स तिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमाऽलसः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अथ रतिक्लमाऽलसः खगः तदा एकपादिकाम् अवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः (सन्) पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं क्षण निदद्रौ ॥ १२१ ॥

व्याख्या—अथ = नलोत्कण्ठोत्पत्त्यनन्तरं, रतिक्लमाऽलसः = सुरतखेदालस्य-

युक्तः, सः = पूर्वोक्तः, खगः =पक्षी, हंस इत्यर्थः । तदा = तस्मिन् समये, एकपादिकाम्=एकपादाऽवस्थानक्रियाम्, अवलम्ब्य=आश्रित्य, तिर्यगावर्जितकन्धरः= तिर्यगावर्तितग्रीवः (सन्), पक्षेण = पतत्रेण, शिरः = मूर्धानं, पिधाय = आच्छाद्य, उपपल्वलं = क्रीडासरोवरनिकटे, क्षणं = कञ्चित्कालं, निदद्रौ = सुष्वाप ।। १२१ ।।

अनुवादः—नलको उत्कण्ठा होनेके अनन्तर रमणकी ग्लानिसे आलस्ययुक्त होकर वह पक्षी (हंस) उस समय एक पैरसे भूतलका अवलम्बन कर गरदनको टेढ़ा कर पंखेसे शिर ढककर तालावके पास कुछ समयतक सो गया ।। १२१ ।।

टिप्पणी—रतिक्लमाऽलसः=रतेः क्लमः (ष० त०), तेन अलसः (तृ० त०) । खगः = खे गच्छतीति, ख + गम् + डः । एकपादिकाम्=एकः पादः यस्याम् (क्रियायाम्) एकपादिका, ताम्, "तद्धिताऽर्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे तद्धितार्थविषयमें समास होकर "अत इनिठनौ" इस सूत्रसे ठन् प्रत्यय होकर "ठस्येकः" इससे उसके स्थानमें इक होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् । अनित्य होनेसे समासाऽन्त विधिका अभाव हुआ, अतएव पद् आदेशका प्रसंग नहीं । तिर्यगावर्जितकन्धरः = तिर्यक् आवर्जिता कन्धरा येन सः (बहु०) । पिधाय = अपि + धा + क्त्वा (ल्यप्), "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इसके अनुसार 'अपि' के अकारका लोप । "अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च ।" इत्यमरः । उपपल्वलं = पल्वलस्य समीपे, समीप अर्थमें अव्ययीभाव । निदद्रौ = नि + द्रा + लिट् + णल (औ) । इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"स्वभावोक्तिर्दुरूहाऽर्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।" सा० द० १०-१२१ ।। १२१ ।।

सनालमात्माऽऽननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ? ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरं च किम् ? ।।१२२।।

अन्वयः— स तम् आत्माऽऽननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं सनालं काञ्चनम् अम्बुजन्म किम् ? (तथा) विद्रुमदण्डमण्डितं पीतम् अम्भःप्रभुचामरं च किम् (इति) अबुद्ध ।। १२२ ।।

व्याख्या—सः = नलः, तं = हंसम्, आत्माऽऽननिर्जितप्रभं = स्वमुखपराजित कान्ति, अतएव ह्रियाः लज्जया, नतं = नम्रं, सनालं=नालसहितम्, एकचरणाऽवस्थानादिति शेषः । काञ्चनं = सौवर्णं, हंसस्य हिरण्मयत्वादिति शेषः । अम्बुजन्म = जलजं, कमलमित्यर्थः, किं = किमु, (तथा) विद्रुमदण्डमण्डितं =

प्रवालदण्डभूषितं, चरणस्य रक्तत्वादीति शेषः। पीतं=पीतवर्णं हिरण्मयत्वादिति शेषः। अम्भःप्रभुचामरं च = वरुणप्रकीर्णकं च, किं = किमु, इति अबुद्ध = बुद्धवान् उत्प्रेक्षितवानिति भावः॥ १२२॥

अनुवाद:--नलने हंसको अपने मुखसे पराजित कान्तिवाला अतएव लज्जासे झुका हुआ, नालसे युक्त सुनहला कमल है क्या? अथवा मूँगेके दण्डसे अलंकृत पीला वरुणदेवका चामर है क्या? ऐसा विचार किया॥ १२२॥

टिप्पणी--आत्माननिर्जितप्रभम् = निर्जिता प्रभा यस्य तत् (बहु०)। आत्मनः आननम् (ष० त०), तेन निर्जितप्रभम् (तृ० त०)। नतं=नम्+क्तः। सनालं = नालेन सहितम् (तुल्ययोग बहु०)। काञ्चनं=काञ्चनस्य विकारः, "अनुदात्तादेश्च" इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय। अम्बुजन्म = अम्बुनः जन्म यस्य तत् = (व्यधिकरण बहु०)। विद्रुमदण्डमण्डितं = विद्रुमस्य दण्डः (ष० त०), तेन मण्डितम् (तृ० त०)। अम्भ प्रभुचामरम् = अम्भसः प्रभुः (ष० त०), "प्रचेता वरुणः पाशी यादसां पतिरप्पतिः।" इत्यमरः। अम्भः प्रभोः चामरम् (ष० त०)। अबुद्धः = 'बुध अवगमने" धातुसे लुङ्+त, "झषस्तथोर्धोऽधः" इस सूत्रसे तकारके स्थानमें धकार। इस पद्यमें ह्री (लज्जा) के प्रति "निर्जितप्रभ" पदका अर्थ हेतु है अतः पदाऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो उत्प्रेक्षाएँ और "अबुद्ध" इस एक क्रियाके साथ "अम्बुज' और "चामर" की कर्मतासे सम्बन्ध होनसे तुल्ययोगिता अलंकार है, इस प्रकार इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ १२२॥

कृताऽवरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी?॥ १२३॥

अन्वयः---ततः हयात् कृताऽवरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयोः वनयोः प्रवालैः तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे (अतः) बद्धवर्मणी रेजतुः किमु?॥ १२३॥

व्याख्या---ततः = हंसदर्शनानन्तरं, हयात् = अश्वात्, कृताऽवरोहस्य = विहिताऽवतरणस्य, अस्य = नलस्य, उपानहौ = पादत्राणौ, वर्मरूपे इति भावः। बिभ्रती = धारयती, पदे = चरणे, तयोः = पूर्वोक्तयोः, वनयोः=विपिनसलिलयोः प्रवालैः = पल्लवैः, तथा = तेन प्रकारेण, अम्बुजैः = कमलैः, नियोद्धुकामे = युद्धकामे, अतः बद्धवर्मणी = सन्नद्धकवचे, रेजतुः = शुशुभाते, किमु॥ १२३॥

अनुवाद:—तब घोड़ेसे उतरनेवाले नलके जूतोंको पहननेवाले पाँव, उपवन

और जलके पल्लवों और कमलोंसे युद्ध करनेकी इच्छासे कवच पहने हुए हैं क्या ? इस प्रकार शोभित हुए ।। १२३ ।।

टिप्पणी—हयात् = अपादानमें पञ्चमी । कृतावरोहस्य = कृतः अवरोहः येन, तस्य (बहु०) । उपानहौ = उपनह्येते इति उपानहौ, ते, उप—उपसर्ग-पूर्वक 'णह् बन्धने', धातुसे "सम्पदादिभ्यः क्विप्" इस वार्तिकसे क्विप् प्रत्यय और "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इस सूत्रसे पूर्वपदका दीर्घ । बिभ्रती = भृ + लट् (शतृ) + औ । पदे = पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रि-वस्तुषु ।" इत्यमरः । वनयोः = वनं च वनं च वने, तयोः "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इससे एकशेष "वने सलिलकानने" इत्यमरः । प्रवालैः = "प्रवा-लोऽस्त्री किसलये वीणादण्डे च विद्रुमे ।" इति मेदिनी । नियोद्धुकामे = नियोद्धुं कामः ययोस्ते (बहु०) । "तुं काममनसोरपि" इससे तुमुन्के मकारका लोप । बद्धवर्मणी = बद्धं वर्म याभ्यां ते (बहु०) । रेजतुः = "राजृ दीप्तौ" धातुसे लिट् + तस् (अतुस्) । "फणां च सप्तानाम्" इस सूत्रसे एत्व और अभ्यास-लोप । इस पद्यमें श्लेष यथासंख्य और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर अलंकार है ।। १२३ ।।

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ।। १२४ ।।

अन्वयः—अयं नृपः स्वयं कपटेन वामनीं बलिध्वंसिविडम्बिनीं मूर्ति विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतंगं समधत्त ।। १२४ ।।

व्याख्या—अयम् = एषः, नृपः = राजा, नल इत्यर्थः । स्वयम् = आत्मना, नत्वनुचरेण, कपटेन = छलेन, वामनीं = ह्रस्वां, बलिध्वंसिविडम्बिनीं = भगवद्वा-मनाऽनुकारिणीं, मूर्ति = शरीरं, विधाय = कृत्वा, शरीरं सङ्कुचय्येति भावः । मौनिना = मौनयुक्तेन, निःशब्देनेत्यर्थः । चरणेन = पादेन, उपेतपार्श्वः = आसादित हंससामीप्यः सन्, पाणिना = करेण, पतंगं = पक्षिणं, हंसमिति भावः । समधत्त = जग्राहेत्यर्थः ।। १२४ ।।

अनुवाद—राजा नलने स्वयम् कपटसे बलिको छलनेवाले विष्णु (वामन) की नकल करनेवाला छोटा शरीर बनाकर शब्दसे रहित चरणसे (दबे पाँव) हंसके पास पहुँचकर हाथसे हंसको पकड़ लिया ।। १२४ ।।

टिप्पणी—वामनीं = वामनस्य इयं वामनी, वाम् वामन + अण् + ङीप् + अम । "टिड्ढाणञ्०" इस सूत्रसे ङीप् वा "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीप् ।

बलिध्वंसिविडम्बिनीं=बलिं ध्वंसयतीति बलिध्वंसी (वामनः), बलि + ध्वंस + णिच् + णिनिः (उपपद०) । बलिध्वंसिनं विडम्बयतीति बलिध्वंसिविडम्बिनी, ताम्, बलिध्वंसि + वि + डबि + णिनि + ङीप् + अम् । मूर्ति = 'मूर्तिः काठिन्य-काययोः" इत्यमरः । विधाय=वि + धा + क्त्वा (ल्यप्) । मौनिना=मुनेर्भावः मौनम्, 'मुनि' शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इससे अण् । मौनम् अस्याऽस्तीति मौनी, तेन, मौन + इनि + टा । उपेतपार्श्वम्=उपेतं पार्श्वं येन सः, तम् (बहु०) । पाणिना = साधकतमं करणम्, इससे करणसंज्ञा होकर तृतीया । समधत्त=सं + धा + लुङ् + त । इस पद्यमें स्वभावोक्ति और उपमाका संसृष्टि अलङ्कार है । पूर्वकालमें भगवान् नारायणने अदितिकी प्रार्थनासे वामन अवतार लेकर त्रिपादपरिमित भूमिकी प्रार्थना कर छलपूर्वक बलिको स्वर्गसे हटा दिया था यहाँ पर उसी बातका संकेत है ।। १२४ ।।

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात्पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ।। १२५ ।।

अन्वयः— स आत्मानं तदात्तम् अवेत्य संभ्रमात् उत्प्लवाय पुनःपुनः प्रायसत्; उड्डयने निराशतां गतः (सन्) विरुत्य निरोद्धुः करौ केवलं दशति स्म ।।१२५।।

व्याख्या— सः = हंसः, आत्मानं = स्वं, तदात्तं = नलगृहीतम्, अवेत्य = ज्ञात्वा, संभ्रमात् = त्वरायाः, उत्प्लवाय = उत्पतनाय, पुनः पुनः = भूयो भूयः, प्रायसत् = प्रयासम् अकार्षीत्, उड्डयने = उत्पतने, निराशतां = नैराश्यं, गतः= प्राप्तः सन्, विरुत्य=विक्रुश्य, निरोद्धुः=ग्रहीतुः, नलस्येति भावः । करौ=हस्तौ, केवलम् = एव, दशति स्म = दष्टवान् ।। १२५ ।।

अनुवादः—उस हंसने अपनेको नलसे पकड़ा गया जानकर घबड़ाहटसे उड़नेके लिए बारम्बार प्रयत्न किया, आखिर उड़नेमें निराश होकर चिल्लाकर नलके दोनों हाथोंको काटने लगा ।। १२५ ।।

टिप्पणी—तदात्तं तेन आत्तः, (तृ० त०) । अवेत्य = अव + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । संभ्रमात् = हेतुमें पञ्चमी । उत्प्लवाय = "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इस सूत्रसे चतुर्थी । प्रायसत् = प्र-उपसर्गपूर्वक "यसु प्रयत्ने" धातुसे लुङ्में "पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे च्लिके स्थानमें अङ्आदेश । निराशतां = निर्गता आशा यस्मात् सः (बहु०) । निराशस्य भावो निराशता, ताम्, निराश + तल् + टाप्, विरुत्य = वि-उपसर्गपूर्वक "रु शब्दे" धातुसे

क्त्वा (ल्यप्)। निरोद्धुः = निरुणद्धीति निरोद्धा, तस्य नि + रुध् + तृण + ङस्। इस पद्यमें भी स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ १२५ ॥

ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम्।
तदूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

अन्वयः—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पितां प्रपद्य तं नृपम् ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः इव पतगग्रहात् न्यवारयत् ॥ १२६ ॥

व्याख्या—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं = सत्वरोत्पतनशीलपक्षिसमूहव्याकुलं, सरः = तडागः, उत्कतया = उत्कण्ठितत्वेन, अनुकम्पितां = दयालुतां, प्रपद्य = प्राप्य, तं = पूर्वोक्तं, नृपं = राजानं, नलमिति भावः। ऊर्मिलोलैः = तरङ्गचञ्चलैः, वारिरुहैः = कमलैः, करैः इव = हस्तैः इव, पतगग्रहात् = पक्षिग्रहणात्, न्यवारयत् इव = निवारितवान् इव ॥ १२६ ॥

अनुवादः—घबड़ाहटके साथ उड़नेवाले पक्षियोंसे आकुल तालाब, उत्कण्ठित होनेसे दयालु होकर राजा नलको तरंगोंसे चञ्चल कमलसदृश हाथोंसे पक्षीको ग्रहण करनेमें मानों रोक रहा है ऐसा मालूम होता था ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं = पतन्तीति पतन्तः, पत् + लट् (शतृ)। "पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः।" इत्यमरः। पततां कुलम् (ष० त०)। संभ्रमेण सहितं (तुल्ययोगबहु०)। उत्पततीति उत्पाति, उद् + पत् + णिनिः। ससंभ्रमं यथा तथा उत्पाति (सुप्सुपा०)। ससंभ्रमोत्पाति च तत् पतत्कुलम् (क० धा०), तेन आकुलम् (तृ० त०)। उत्कतया = "उत्क उन्मनाः" इस सूत्रसे "उत्क" शब्दका निपात हुआ है। उत्कस्य भाव उत्कता, तया, उत्क + तल् + टाप् + टा। अथवा उद्गतं कं (जलम्) यस्मात् उत्कं (बहु०), तस्य भावः तत्ता तया। पक्षियोंके उड़नेसे जलके हिलनेसे यह तात्पर्य है। अनुकम्पिताम् = अनुकम्पते तच्छीलः अनुकम्पी, अनु = कपि + णिनिः। अनुकम्पिनः भावः अनुकम्पिता ताम्, अनुकम्पिन् + तल् + टाप् + अम्। प्रपद्य = प्र + पद् + क्त्वा (ल्यप्)। ऊर्मिलोलैः = ऊर्मिभिः लोलानि, तैः (तृ० त०)। वारिरुहैः = वारिणि रोहन्तीति वारिरुहाणि, तैः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय, वारि + रुह + कः। पतगग्रहात्—पतगस्य ग्रहः, तस्मात् (ष० त०)। न्यवारयत = नि + वृ + णिच् + तिप्। इस पद्यमें उपमा और "न्यवारयत्" यहांपर उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अगाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलंकार है ॥ १२६ ॥

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १२७ ॥

अन्वयः—रुचिरेण पतत्त्रिणा वञ्चितं तत् पल्वलं प्रविहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज ॥ १२७ ॥

व्याख्या- रुचिरेण = सुन्दरेण, पतत्त्रिणा = पक्षिणा, हंसेनेति भावः, वञ्चितं = विरहितं, तत् = पूर्वोक्तं, पल्वलं = तडागं, प्रविहाय = संत्यज्य, प्रयान्त्याः = गच्छन्त्याः, श्रियः = लक्ष्म्याः, चलत्पदाऽम्भोरुहनूपुरोपमा = गच्छच्चरणकमलपादाऽङ्गदसाम्ययुक्ता, कलहंसमण्डली = राजहंससंहतिः, कूले = तडागतटे, चुकूज = अव्यक्तशब्दं चकार ॥ १२७ ॥

अनुवादः— सुन्दर पक्षी (राजहंस) से रहित उस तालाबको छोड़कर जाती हुई लक्ष्मीके चलते हुए चरणकमलोंके नूपुरके सदृश राजहंससमूह किनारे में शोर मचाने लगा ॥ १२७ ॥

टिप्पणी—प्रविहाय = प्र + वि + हा + क्त्वा (ल्यप्) । प्रयान्त्याः = प्रयातीति प्रयान्ती, तस्याः, प्र + या + लट् + शतृ + ङीप् + ङस् । चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा = अम्भसि रोहत इति अम्भोरुहे. अम्भस् + रुह + कः । पदे अम्भोरुहे इव (उपमित०) । चलती च ते पदाम्भोरुहे (क० धा०), तयोः नूपुरौ (ष० त०), "पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः । चलत्पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा (सादृश्यम्) यस्याः सा (व्यधिकरणबहु०) । कलहंसमण्डली = कलवाचो हंसाः कलहंसाः (मध्यमपदलोपी स०) । 'कलहंसस्तु कादम्बे राजहंसे नृपोत्तमे ।" इति विश्वः । कलहंसानां मण्डली (ष० त०) । चुकूज = "कूज अव्यक्ते शब्दे" इस धातुसे लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें शोभा और लक्ष्मीके भेद होनेपर भी श्री शब्दके श्लेषसे अभेद अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति और उपमा इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १२७ ॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥ १२८ ॥

अन्वयः—इयं वसुधा वासयोग्या न, अंग ! यस्या उज्झितस्थितिः ईदृशः त्वं पतिः इति खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रिताः (सन्तः) तम् आरवैः आचुक्रुशुः खलु ॥ १२८ ॥

व्याख्या—इयम् = एषा, वसुधा = पृथिवी, वासयोग्या न = निवासाऽर्हा न, अंग = भो राजन्, यस्याः=वसुधायाः, उज्झितस्थितिः = त्यक्तमर्यादः, ईदृशः = एतादृशः, निरपराधपक्षिग्रहीतेति भावः। त्वं, पतिः = पालकः, असीति शेषः। इति = एवं, कथयित्वा इवेति शेषः। खगाः = पक्षिणः, क्षितिं = वसुधां, प्रहाय = परित्यज्य, नभः = अन्तरिक्षम्, आश्रिताः = प्राप्ताः सन्तः, तं = नलम्, आरवैः = उच्चध्वनिभिः, आचुक्रुशुः = निनिन्दुः (इव), खलु= निश्चयेन ॥ १२८ ॥

अनुवादः—"यह धरती रहने लायक नहीं है, हे राजन् ! मर्यादा छोड़नेवाले आप जैसे जिसके पालक हैं।" इस प्रकार पक्षिगण धरती को छोड़कर अन्त-रिक्षका आश्रय लेते हुए नलकी उच्च ध्वनियों से निन्दा कर रहे हैं ऐसा मालूम होता था॥ १२८ ॥

टिप्पणी—वासयोग्या = वासे योग्या (स० त०)। अङ्ग = "स्युः प्याट् पाडङ्ग है हे भोः" इत्यमरः। ये सब अव्यय हैं। उज्झितस्थितिः = उज्झिता स्थितिर्येन सः (बहु०)। "संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः" इत्यमरः। प्रहाय = प्र + हा + क्त्वा (ल्यप्)। आचुक्रुशः = आङ् + क्रुश + लिट् + झि (उस्)। इस पद्यमें "आचुक्रुशुः" इस क्रियापदमें उत्प्रेक्षाद्योतक इव आदि पदके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ १२८ ॥

"न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टे" यमिति स्तुवन्मुहुः।
अवादि तेनाऽथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा॥ १२९ ॥

अन्वयः—"इयं जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा" इति मुहुः स्तुवन् स जनाऽधिनाथः अथ करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि॥ १२९ ॥

व्याख्या—इयम् = ईदृक्, जातरूपच्छदजातरूपता=सुपर्णपक्षोत्पन्नसौन्दर्यता, द्विजस्य = पक्षिणः, न दृष्टा = न अवलोकिता, इति = इत्थं, मुहुः = वारंवारं, स्तुवन् = प्रशंसन्, सः = पूर्वोक्तः, जनाऽधिनाथः=नराऽधिपतिः, नल इति भावः। अथ = अनन्तरं, करपञ्जरस्पृशा = हस्तपिञ्जरस्पर्शकारिणा। तेन = पूर्वोक्तेन, मानसौकसा = मानसरोवरवासिना, हंसेनेत्यर्थः। अवादि = उक्तः॥ १२९ ॥

अनुवादः—'किसी भी पक्षीमें सुनहले पंखोंका ऐसा सौन्दर्य मैंने नहीं देखा था' इस प्रकार बारंबार तारीफ करनेवाले राजा नलको पिंजड़े सदृश उनके हाथमें विद्यमान उस हंसने कहा॥ १२९ ॥

टिप्पणी—जातरूपच्छदजातरूपता=जातं रूपं (सौन्दर्यम्) यस्य सः जातरूपः (बहु०), तस्य भावो जातरूपता, जातरूप+तल्+टाप्। जातरूपस्य छदाः (ष० त०), "चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने।" इत्यमरः। जातरूपच्छदैः जातरूपता (तृ० त०)। स्तुवन् = स्तौतीति, ष्टु+लट् (शतृ०) +सु । जनाऽधिनाथः = जनानाम् अधिनाथः (ष० त०)। करपञ्जरस्पृशा = करः पञ्जरम् इव (उपमित०)। 'पिजड़ेके समान हाथ' कहनेसे उसकी शिथिलतासे पीडाके अभावकी सूचना होती है। करपञ्जरं स्पृशतीति करपञ्जरस्पृक्, तेन, करपञ्जर-उपपदपूर्वक "स्पृश" धातुसे "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय। मानसौकसा = मानसम् ओकः (स्थानम्) यस्य स मनसौकाः तेन (बहु०)। "हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः।" इत्यमरः। अवादि=वद+लुङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें "करपञ्जरस्पृशा" इसमें उपमा अलङ्कार है और "जातरू ... ..." "..... ...जातरूप" यहाँपर यमक अलंकार है, उसका लक्षण है—

"सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥" सा० द० १०-१० ॥ १२९॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवाऽर्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ?॥ १३०॥

अन्वयः—हेमजन्मनः मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्मनः धिक् अस्तु, तुषारशीकरैः अर्णवस्य इव तव अमीभिः कियान् कमलोदयः भवेत् ?॥ १३०॥

व्याख्या—अथ हंसः पद्यचतुष्टयेन राजानमुपालभते—धिगिति। हेमजन्मनः = सौवर्णान्, मम = हंसस्य, पक्षान् = पतत्राणि, समीक्ष्य = दृष्ट्वा, तृष्णातरलं = लालसाचञ्चलं, भवन्मनः धिक् = त्वच्चित्तं, धिक्, भवन्मनसो निन्देत्यर्थः। अस्तु = भवतु, तुषारशीकरैः = हिमकणैः, अर्णवस्य इव = समुद्रस्य इव, तव = भवतः, अमीभिः = एभिः, हेमजन्मभिः पक्षैरिति भावः, कियान् = किंपरिमाणः, कमलोदयः—भवतः—कमलायाः = लक्ष्म्याः, समुद्रस्य—कमलस्य = जलस्य, उदयः = वृद्धिः, भवेत् = स्यात्, अतिस्वल्पः स्यादिति भावः। अगाधजलः समुद्रो यथा जलवृद्ध्यर्थं तुषारशीकरं नाद्रियते तथैव आढ्यतमेन भवताऽपि मत्पक्षसुवर्णं नादरणीयमिति भावः॥ १३०॥

अनुवादः—सुनहरे मेरे पंखोंको देखकर तृष्णासे चञ्चल आपके मनको

धिक्कार हो। हिमकणोंसे समुद्रको जैसे कितनी जलवृद्धि होगी ? वैसे ही मेरे इन सुनहले पंखोंसे आपको कितनी सम्पत्तिकी वृद्धि होगी ? ॥ १३० ॥

टिप्पणी—हेमजन्मनः = हेम्नः जन्म येषां ते हेमजन्मानः तान् (व्यधिकरण-बहु०)। समीक्ष्य = सम् + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। तृष्णातरलं = तृष्णया तरलं तत् (तृ० त०)। भवन्मनः = भवतः मनः, तत्, 'धिक्" के योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। धिक् = "धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः" इत्यमरः। अस्तु = अस् + लोट् + तिप्। तुषारशीकरैः = तुषाराणां शीकराः, तैः (ष० त०) कियान् = किं परिमाणम् अस्य, 'किम्' शब्दसे "किमिदम्भ्यां वो घः" इससे वतुप् (वत्) और 'व' के स्थानमें घ (इय) आदेश, "इदं किमोरीश् की" इससे 'किम्' के स्थानमें 'की' और "यस्येति च" इससे ईकारका लोप। कमलोदयः—राजपक्षमें-कमलायाः (लक्ष्म्याः), समुद्रपक्षमें—कमलस्य उदयः (ष० त०) "कमला श्रीर्हरिप्रिया" इति "सलिलं कमलं जलम्" इति चाऽमरः। इस पद्यमें उपमा और श्लेष अलंकार की संसृष्टि है ॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसिताऽन्तरात्मनः।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥ १३१ ॥

अन्वयः—(हे नृप !) त्वादीक्षणात् विश्वसिताऽन्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न। विश्वासजुषां द्विषाम् अपि निबर्हणं धर्मजनैः विशिष्य विगर्हितम् ॥ १३१ ॥

व्याख्या—(हे नृप !) त्वदीक्षणात् = भवन्मूर्तिदर्शनात्, विश्वसिताऽन्तरात्मनः = विस्रब्धचित्तस्य, मम = हंसस्य, वधः = व्यापादनं, केवलः प्राणिवधः = जन्तुव्यापादनमात्रं, न = न अस्ति। किन्तु विश्वासजुषां = विस्रम्भभाजां, द्विषाम् अपि = शत्रूणाम् अपि, निबर्हणं = वधः, धर्मधनैः = धर्मपरैः, मन्वादिभिरिति शेषः। विशिष्य = अतिरिच्य, विगर्हितम् = अत्यन्तनिन्दितम्। कस्याऽपि प्राणिनो वधो गर्हितः, तत्राऽपि निरपराधस्य, तत्र ऽपि [illegible] वान् धार्मिको राजा" इति मनसि कृत्य विश्वस्तस्य मम वधो धार्मिकैरत्यन्तं [illegible] तो भवेदिति भावः ॥ १३१ ॥

अनुवाद—आपको देखनेसे विश्वस्त [illegible] ले मेरी हिंसा खाली प्राणिहिंसा नहीं है। विश्वास करनेवाले शत्रुओंकी भी हत्याकी धर्मज्ञोंने अत्यन्त निन्दा की है ॥ १३१ ॥

टिप्पणी—त्वादीक्षणात् = तव ईक्षणं, तस्मात् (ष० त०)। विश्वसिताऽन्तरात्मनः = विश्वसितः अन्तरात्मा यस्य स विश्वसिताऽन्तरात्मा, तस्य (बहु०।

प्राणिवधः = प्राणिनः वधः (ष० त०)। विश्वासजुषां = विश्वासं जुषन्त इति विश्वासजुषः, तेषाम्, विश्वास + जुष् + क्विप् + आम् । द्विषां = द्विषन्ति ते द्विषः, तेषाम्, द्विष् + क्विप् + आम् । निबर्हणं = "प्रमापणं निबर्हणं निकारणं विशारणम् ।" इत्यमरः । विशिष्य = वि + शिष् + क्त्वा (ल्यप्) । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास और अर्थापत्तिका सङ्कर है ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ? ।

धिगीदृशं ते नृपते कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्त्रिणि ॥ १३२ ॥

अन्वयः – रणोद्भटाः भटाः पदे पदे सन्ति, एष हिंसारसः तेषु न पूर्यते ? नृपतेः ते ईदृशं कुविक्रमं धिक्; यः कृपाऽऽश्रये कृपणे पतत्त्रिणि (क्रियते) ।१३२।

व्याख्या – रणोद्भटाः = युद्धप्रचण्डाः, भटाः = योधाः, पदे पदे = प्रतिपदं, सन्ति = वर्तन्ते । एषः = अयं, हिंसारसः = वधरागः, तेषु = भटेषु, न पूर्यते = परिपूर्णो न भवति ? इति काकुः । नृपतेः = राज्ञः, ते = तव, ईदृशम = एतादृशम्, अवध्यवधरूपमिति भावः । कुविक्रमं = कुत्सितपराक्रमं, धिक्, कुविक्रमस्य निन्देत्यर्थः । यः कुविक्रमः, कृपाऽऽश्रये = करुणाविषये, कृपणे = दीने, पतत्त्रिणि = पक्षिणि, क्रियत इति शेषः ॥ १३२ ॥

अनुवादः—(हे राजन्) युद्धमें प्रचण्ड योद्धा पग-पगमें मौजूद हैं, यह हिंसाराग क्या उनमें पूर्ण नहीं होता है ? प्रजापालक आपके इस कुत्सित पराक्रम को धिक्कार है, जो कि करुणाके विषय दीन पक्षीमें किया जा रहा है ॥ १३२ ॥

टिप्पणी – रणोद्भटाः = रणेषु उद्भटाः (स० त०)। भटाः = "भटा योधाश्च योद्धारः" इत्यमरः । पदे पदे = वीप्सामें द्विरुक्ति । सन्ति = अस् + लट् + झि । हिंसारसः = हिंसाया रसः (ष० त०), "शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ।" इत्यमरः । पूर्यते = पूरी + लट् + श्यन् + त । नृपते = नृणां पतिः, तस्य (ष० त०) । कुविक्रमं = कुत्सितः विक्रमः, तम्, "कुगतिप्रादयः" इससे समास । "धिक्" के योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया । कृपाऽऽश्रये = कृपाया आश्रयः, तस्मिन् (ष० त०), पतत्त्रिणि = पतत्त्र + इनि + ङि ॥ १३२ ॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।

त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी ह्रणीयते ? ॥ १३३ ॥

अन्वयः यस्य मम मुनेः इव वारिभूरुहां फलेन मूलेन च इत्थं वृत्तयः, तस्मिन् अपि दण्डधारिणा पत्या त्वया अद्य धरणी कथं न ह्रणीयते ? ॥ १३२ ॥

व्याख्या यस्य, मम = हंसस्य, मुनेः इव = ऋषेः इव वारिभूरुहां = जल-

भूम्युत्पन्नानां, पद्मवृक्षादीनामित्यर्थः, फलेन=सस्येन, मूलेन च = कन्दादिना च इत्थम् = अनेन प्रकारेण, वृत्तयः = जीविकाः, सन्तीति शेषः । तस्मिन् अपि = मुनिसदृशे अपि, निर्दोषेऽपीति शेषः, दण्डधारिणा = निग्रहकारिणा, अदण्ड्य-दण्डकेनेत्यर्थः । पत्या = पालकेन, त्वया = भवता, राज्ञेत्यर्थः । अद्य=अस्मिन्दिने धरणी = धरित्रि, कथं = केन प्रकारेण, न हृणीयते = न लज्जते, दुर्वृत्ते भर्तरि वधूर्लज्जत इति भावः ॥ १३३ ॥

अनुवादः—जल और वृक्षोंसे उत्पन्न कन्द और फलसे मुनिके समान मेरी वृत्ति है वैसे मेरे पति दण्ड धारण करनेवाले पालक आपसे पृथ्वी क्यों नहीं लज्जा करती है ? ॥ १३३ ॥

टिप्पणी—वारिभूरुहां = वारि च भूश्च वारिभुवौ (द्वन्द्वः), वारिभुवोः रोहन्तीति वारिभूरुहः, तेषाम्. वारिभू + रुह + क्विप् (उपपद०) + आम् । वृत्तयः = "वृत्तिर्वर्तनजीवने" इत्यमरः । दण्डधारिणा = दण्डं धारयतीति तच्छीलः दण्डधारी, तेन दण्ड + धृञ् + णिच् + णिनि + टा (उप०) । हृणीयते = "हृणीङ् रोषणे लज्जायां च" इस कण्ड्वादि धातुसे ङित् होनेसे आत्मनेपद होकर लट् + त । इस पद्यमें उपमा अलंकार है ॥ १३३ ॥

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—स खगः इति तं नृपम् ईदृशैः वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसाऽऽपगाः गिरः अतिथीचकार ॥ १३४ ॥

व्याख्या—सः = पूर्वोक्तः, खगः = पक्षी, हंस इत्यर्थः, इति = इत्थं, तं = पूर्वोक्तं , नृपं = राजानं, नलमित्यर्थः । ईदृशैः = एतादृशैः, पूर्वोक्तैरिति भावः । वाङ्मयैः = वाग्विकारैः दोषोद्घाटकैरिति भावः । सचित्रवैलक्ष्यकृपम्=आश्चर्य-लज्जातिशयकरुणासहितं, विरचय्य = विधाय, दयासमुद्रे = करुणासागरे, तदा-शये=नलचित्ते, कारुण्यरसापगाः = करुणारसनदीस्वरूपाः, गिरः = वाणीः, अतिथीचकार=प्रवेशयामासेत्यर्थः । समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ॥ १३४॥

अनुवादः—उस पक्षी (हंस) ने इस प्रकार राजा नलको ऐसे वचनोंसे आश्चर्य, लज्जा और करुणासे युक्त बनाकर दयाके समुद्रके समान उनके चित्तमें करुणरसकी नदियोंके समान वाणियोंका प्रवेश कराया ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—वाङ्मयैः = वाचां विकारा वाङ्मयानि, तैः "एकाऽचो नित्यम्" इस वार्तिकसे मयट् प्रत्यय । सचित्रवैलक्ष्यकृपं = विलक्षस्य भावो वैलक्ष्यम्

विलक्ष + ष्यञ् । चित्रं च वैलक्ष्यं च कृपा च चित्रवैलक्ष्यकृपाः (द्वन्द्व), ताभिः सह सचित्रवैलक्ष्यकृपः, तम् (तुल्ययोग०)। "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमरः। विरचय्य = वि + रच + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) णिच्के स्थानमें "ल्यपि लघुपूर्वात्" इससे अय् आदेश । राजाको मनुष्यके समान भाषणसे चित्र (आश्चर्य), उनके दोषके उद्घाटनसे अतिलज्जा और अपनी दीनताके प्रदर्शन-से दया, इन भावोंसे युक्त बनाकर यह तात्पर्य है । दयासमुद्रे = दयायाः समुद्रः, तस्मिन् (ष० त०)। तदाशये = तस्य आशयः, तस्मिन् (ष० त०)। कारुण्यरसाऽऽपगाः = करुणा एवं कारुण्यं, करुणा + ष्यञ् (स्वार्थमें)। "कारुण्यम् एव रसः, (रूपक०), तस्य आपगा, ताः (ष० त०)। "कारुण्यं करुणा घृणा" इत्यमरः, अतिथीचकार = अनतिथयः अतिथयः यथा सम्पद्यन्ते तथा चकार, अतिथि + च्वि + कृ + लिट् । इस पद्यमें हंसकी वाणियोंमें नदीत्वका आरोप करनेके लिए नलके हृदयमें समुद्रत्वका आरोप निमित्त है और "रस" पद श्लिष्ट है इस कारणसे श्लिष्टपरम्परित रूपक अलङ्कार है । परम्परित रूपकका लक्षण है—

"यत्र कस्यचिदारोपः पराऽऽरोपणकारणम् ।
तत्परम्परितं, श्लिष्टाऽश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥" सा०द० १०–४३ ।

यहाँपर "रस" शब्द का प्रयोग होने पर भी उसका जलरूप अर्थ होनेसे रसदोष नहीं है ॥ १३४ ॥

'मदेकपुत्रा जननी जराऽऽतुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो ! विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो ? ॥ १३५ ॥

अन्वयः—जननी मदेकपुत्रा जराऽऽतुरा, वरटा नवप्रसूतिः तपस्विनी; एष जनः तयोः गतिः, तम् अर्दयन् हे विधे ! त्वां करुणा नो रुणद्धि ? अहो ! ॥ १३५ ॥

व्याख्या—साम्प्रतं हंसः कारुण्यरसपूरिता गिरो विस्तारयति मदेकपुत्रेति । तत्र प्राग्विधिमुपालभते—जननी = जनयित्री, मदीया मातेत्यर्थः । मदेकपुत्रा= मदेकतनया, मम नाशे न कोऽपि तस्या रक्षक इति भावः । तर्हि अन्योऽपि तनयो भविष्यतीति संभावनायाम्—जरातुरा = वार्धक्याकुला, प्रसवेऽसमर्थेति भावः । वरटा = मम भार्या, नवप्रसूतिः = अचिरप्रसवा, अतः, तपस्विनी = शोचनीया, एषः = अयं, जनः = पुरुषः, तयोः = जननीजाययोः, गतिः=शरणं, तं=तादृशं शरणभूतं जनं, मामिति भावः । अर्दयन् = मारयन् । हे विधे = हे विधातः ।

त्वां=भवन्तं, करुणा = दया, नो रुणद्धि = न निवारयति ? इति काकुः । अहो= आश्चर्यम्, विधिर्नृशंसतर इति भावः ॥ १३५ ॥

अनुवाद—मेरी माता, उसका मैं ही एक पुत्र हूँ, उसपर भी वह बुढ़ापासे आकुल है। मेरी भार्या (हंसी) नये प्रसववाली है, अतः शोचनीया है। उन दोनों का मैं ही एकमात्र रक्षक हूँ, उसकी हिंसा करते हुए हे ब्रह्मदेव ! क्या तुम्हें करुणा नहीं रोकती है ? आश्चर्य है ! ॥ १३५ ॥

टिप्पणी—मदेकपुत्रा = अहम् एव एकः पुत्रः यस्याः सा (बहु०), जराऽऽतुरा=जरया आतुरा (तृ० त०)। वरटा="हंसस्य योषिद्वरटा" इत्यमरः। नवप्रसूतिः=नवा (नूतना) प्रसूतिः (प्रसवः) यस्याः सा (बहु०)। तपस्विनी = "तपस्वी तापसे चाऽनुकम्प्ये" इति मेदिनी। अर्दयन्=“अर्द हिंसायाम्" इस चुरादि धातुसे अर्द + णिच् + लट् (शतृ) + सु। रुणद्धि=रुध + लट् + तिप्। इस पद्य में विशेषणोंके अभिप्रायगर्भित होनेसे परिकर अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"उक्तैर्विशेषणैः साऽभिप्रायैः परिकरो मतः।" सा० द० १०-७१।

करुण रस, प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति है ॥ १३५ ॥

मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—हे मातः ! मम सखायः दयासखायः भवनिन्दया मुहूर्तमात्रं स्रवदश्रवः (सन्तः) निवृत्तिम् एष्यन्ति, परं त्वया एव सुतशोकसागरः दुरुत्तरः ॥ १३६ ॥

व्याख्या—अथ मातरमुद्दिश्य शोचति—मुहूर्तेति। हे मातः = जननि ! मम, सखायः = सुहृदः, दयासखाः = करुणासहचराः, भवनिन्दया=संसारगर्हणेन मुहूर्तमात्रं, क्षणमात्रं, स्रवदश्रवः = गलितनयनजलाः सन्तः, "विनश्वरसम्बन्धभाजं संसारं धिक्" इत्यादिवचनजातेनेति शेषः। निवृत्तिं=शोकोपरतिम्, एष्यन्ति =यास्यन्ति, परं = किन्तु, त्वया एव = भवत्या एव, सुतशोकसागरः = तनयशुक्समुद्रः, दुरुत्तरः = दुस्तरः। १३६ ॥

अनुवाद—हे मातः ! मेरे मित्र सदय होकर ससार की निन्दासे कुछ क्षण तक आँसुओंको गिराते हुए शोकनिवृत्तिको प्राप्त होंगे, परन्तु आपसे ही पुत्रका शोकसमुद्र दुस्तर होगा ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—दयासखायः = दयया सखायः (तृ० त०) "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासान्त टच् प्रत्यय। भवनिन्दया = भवस्य निंदा, तया (तृ० त०)।

मुहूर्तमात्रं = मुहूर्तं एव, मुहूर्तमात्रं, तत् (रूपक०), "कालाऽध्वनोरत्यसंयोगे" इससे द्वितीया । स्रवदश्रवः = स्रवन्ति अश्रूणि येषां ते (बहु०) । एष्यन्ति=इण्+लृट्+झि । सुतशोकसागरः = सुतस्य शोकः (ष० त०), स एव सागरः (रूपक०) । दुरुत्तरः = दुःखेन उत्तरीतुं शक्यः, दुर+उद – उपसर्गपूर्वक "तृ प्लवनसंतरणयोः" इस धातुसे "ईषदुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्" इस सूत्रसे खल् प्रत्यय । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ।। १३६ ।।

"मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर" इति त्वयोदिते ।

विलोकयन्त्या रुदताऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ? ।।१३७।।

अन्वयः हे प्रिये ! "मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूरे" इति त्वया उदिते, अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्याः तव स क्षणः कीदृक् भविता ? ।।१३७।।

व्याख्या – साम्प्रतं प्रियामनूद्य शोचति – मदर्थेति । हे प्रिये = हे दयिते !, "मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः=मदर्थवाचिकबिसाऽलसः, प्रियः=वल्लभः, कियद्दूरे= किंपरिमाणविप्रकृष्टप्रदेशे, वर्तत इति शेषः । इति = एवं, त्वया=भवत्या, उदिते=उक्ते, पृष्टे सतीति भावः । अथ = प्रश्नाऽनन्तरं, रुदतः = अश्रूणि विमुञ्चतः, अनिष्टोच्चारणाऽसामर्थ्येनेति शेषः । पक्षिणः = विहङ्गान्, इतो गतानीति शेषः । विलोकयन्त्याः = पश्यन्त्याः, तव = भवत्याः, स = तादृशः, क्षणः = कालः, कीदृक् = कीदृशः, भविता = भविष्यति, वज्रपातसदृशः असहनीय इति भावः ।। १३७ ।।

अनुवादः--हे प्रिये ! "मेरे लिए सन्देश और मृणाल भेजनेमें विलम्ब करने वाले मेरे प्यारे कितने दूर हैं" ऐसा तुम्हारे पूछनेपर रोते हुए पक्षियोंको देखती हुई तुम्हारा वह क्षण कैसा होगा ? ।। ४३७ ।।

टिप्पणी—मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः=मह्यम् इमे मदर्थे, "चतुर्थी तदर्थाऽर्थ-बलिहितसुखरक्षितैः" इस सूत्रसे "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकके सहकारसे चतुर्थी तत्पुरुष । सन्देशश्च मृणालं च संदेशमृणाले (द्वन्द्वः) मदर्थे च ते सन्देशमृणाले (क० धा०), तयोः मन्थरः (स० त०) । कियद्दूरे = कियच्च तत् दूरं, तस्मिन् (क० धा०) । उदिते=वद+क्त+ङि । रुदतः = रुदन्तीति रुदन्तः, तान् रुद्+लट् (शतृ)+शस् । विलोकयन्त्याः= वि+लोक+णिच्+लट् (शतृ)+ङीप्+ङस् । भविता=भू+लुट्+तिप् । यहाँपर अद्यतन भविष्यदर्थमें लृट्का प्रयोग इष्ट था परन्तु अनद्यतनभविष्यत्—लुट्का प्रयोग होनेसे च्युतसंस्कृति दोषकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, शोकाऽ-

कुल हंसकी ऐसी उक्ति करुणरसके अनुकूल होनेसे गुणस्थानीय है। इस पद्यमें शोकका उदय होनेसे भावोदय अलङ्कार है ॥ १३७ ॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
"वियोक्ष्यसे वल्लभये"ति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा ? ॥१३८॥

अन्वयः—हे विधातः ! प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः, तव पाणिपङ्कजात् मयि "वल्लभया वियोक्ष्यसे" इति ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा लिपिः कथं निर्गता ? ।१३८।

व्याख्या—हे विधातः=हे विधे !, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः=वल्लभाशीतलत्वकोमलत्वनिर्मातुः, तव=भवतः, पाणिपङ्कजात्=करकमलात्, मयि = विषये, वल्लभया = प्रियया सह, वियोक्ष्यसे = वियुक्तो भविष्यसि, इति=एवं, ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा = भालतापिकठिनवर्णा, लिपिः =अक्षरविन्यास इत्यर्थः, कथं = केन प्रकारेण, निर्गता = निःसृता । मत्प्रियाशैत्यकोमलत्वनिर्मातुस्तव हस्तान्मङ्गल प्रियावियोजनसूचककठिनलिपिनिर्मितिः आश्चर्यद्योतिकेति भावः ॥ १३८ ॥

अनुवादः—हे ब्रह्मदेव ! मेरी प्रियाकी शीतलता और कोमलताका निर्माण करनेवाले तुम्हरे हाथसे मेरे विषयमें "तुम प्रियासे बिछुड़ जाओगे" इस तरह ललाटको ताप करनेवाली निष्ठुर अक्षरोंसे युक्त लिपि कैसे निकली ? ॥१३८॥

टिप्पणी— विधातः = विदधातीति विधाता, तत्सम्बुद्धौ, वि+धा+तृच्+सु । प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः=शीतस्य भावः शैत्यम् । शीत+ष्यञ् । मृदोर्भावः मृदुत्वम्, मृदु+त्व । शैत्यं च मृदुत्वं च (द्वन्द्वः) । शिल्पम् अस्याऽस्तीति शिल्पी, शिल्प+इनि । प्रियायाः शैत्यमृदुत्वे (ष० त०), तयोः शिल्पि, तस्मात (ष० त०) । पाणिपंकजात्=पाणिः पंकजम् इव, तस्मात् (उपमित०) । वियोक्ष्यसे = वि+युज्+लृट् (कर्ममें)+थास् (से) । ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा = ललाटं तपन्तीति ललाटन्तपानि, "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" इस सूत्रने खश् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम । ललाटन्तपानि निष्ठुराणि अक्षराणि यस्याः सा (बहु०) । निर्गता = निर्+गम्+क्त+टाप् । इस पद्यमें कारणसे विरुद्ध कार्यकी उत्पत्तिके कथनसे विषम अलंकार है । भेदप्रदर्शनपूर्वक उसका लक्षण है—

> "गुणौ क्रिये वा यत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
> यदारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ॥
> विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम् ।" सा०द०१०-९१॥१३८॥

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाऽद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता ।
मुखानि लोलाऽक्षि ! दिशामसंशयं दशाऽपि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥१३९॥

अन्वयः—अपि (च) अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम इमं वृत्तान्तम् उदिता (सती) हे लोलाक्षि ! दश अपि दिशां मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि असंशयं बत ! ॥ १३९ ॥

व्याख्या—अपि च = अन्यच्च, अद्य = अस्मिन् दिने, स्वयूथ्यैः=आत्मसङ्घभवैः, हंसैरित्यर्थः । अशनिक्षतोपमं = वज्रप्रहारसदृशं, मम = प्रियस्य, इमम् = एतं, वृत्तान्तम् = उदन्तं, नरहस्तपतनरूपमिति शेषः । उदिता = उक्ता सती, हे लोलाक्षि = हे चपलनयने !, दश=दशसंख्यकानि, दिशां=काष्ठानां, प्राच्यादीनामित्यर्थः । मुखानि=सम्मुखस्थानानि, शून्यानि=रिक्तानि, विलोकयिष्यसि=द्रक्ष्यसि, मद्वियोगादिति भावः । असंशयम्=अत्र सन्देहो न, बत=इति खेदे ॥ १३९ ।

अनुवादः—और भी, आज अपने वर्गके हंसोंके वज्रप्रहारके सदृश इस वृत्तान्तको कहनेपर हे चञ्चलनयने ! तुम दिशाओंके दशों संमुखवर्ती स्थानोंको शून्य देखोगी, इसमें सन्देह नहीं है, हाय ! ॥ १३९ ॥

टिप्पणी– अद्य = अस्मिन् दिने, "सद्यःपरुत्०" इत्यादि सूत्रसे निपात । स्वयूथ्यैः = यूथे भवा यूथ्याः, यूथ + यत् । स्वस्य यूथ्याः, तैः (ष० त०) । अशनिक्षतोपमम् = अशनिना क्षतम् (तृ० त०), तत् उपमा (सादृश्यम्) यस्य, तम् (बहु०) । वृत्तान्तम् = वद धातुके द्विकर्मक होनेसे मुख्य कर्ममें द्वितीया । उदिता = वद + क्त (कर्ममें) + टाप् । लोलाक्षि = लोले अक्षिणी यस्याः सा लोलाक्षी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इससे समासाऽन्त षच्, । षित् होनेसे स्त्रीत्वविवक्षामें "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । विलोकयिष्यसि = वि + लोक + णिच् + लृट् + सिप् । असंशयं = संशयस्य अभावः, "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादिसे अर्थाऽभावमें अव्ययीभाव समास । इस पद्यमें उपमा अलंकार है ॥ १३९ ॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा ! हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः पराऽसवः ॥१४०॥

अन्वयः– हे चित्राऽङ्गि ! मम शोकेन एव विदीर्णवक्षसा त्वया अपि विपद्यते यदि, तद् दैवेन हतः, स्फुटः हतः अस्मि, हा ! यतः ते शिशवः पराऽसवः॥१४०॥

व्याख्या– हे चित्राङ्गि = हे विचित्रगात्रे !, लोहितचञ्चुचरणत्वादिति भावः । मम = प्रियस्य, शोकेन=मन्युना, एव, विदीर्णवक्षसा = विदलितहृदयया

त्वया अपि = भवत्या अपि, प्रियया अपीति भाव: । विपद्यते यदि = म्रियते चेत्, तत् = तर्हि, दैवेन = भाग्येन, हत: = नाशित:, स्फुट = व्यक्तं, पुन: हत: = नाशित:, अस्मि = भवामि, हा = दैवपुनर्हतस्य मे शोच्यत इति भाव: । यत: = यस्मात्कारणात्, ते = तव, शिशव: = शावका:, परासव: = मृता:, भवेयुरिति शेष: । मच्छोकेन त्वमपि प्राणांस्त्यक्ष्यसि चेच्चरणयोर्मातापित्रोरभावेनाऽस्मच्छावका अपि मरिष्यन्तीति दैवहतोऽहं पुनर्हतो भविष्यामीति भाव: ।। १४० ।।

अनुवाद:—हे विचित्र अङ्गोंवाली प्रिये ! मेरे शोकसे ही विदीर्णहृदय होकर तुम भी मर जाओगी तो भाग्यसे मारा जाकर व्यक्त रूपसे फिर भी मारा जाऊँगा, क्योंकि, तब तो तुम्हारे बच्चे भी (हम लोगोंके अभावसे) मर जायेंगे ।।१४०।।

टिप्पणी—चित्राऽङ्गि = चित्राणि अङ्गानि यस्या: सा चित्राङ्गी, तत् सम्बुद्धौ (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे ङीप् । विदीर्णवक्षसा = विदीर्णं: वक्षो यस्या: सा विदीर्णवक्षा:, तया (बहु०), विपद्यते = वि + पद् + लट् (भावमें) + त । हत: = हन् + क्त:, हा = "हा विस्मयविषादयो:" इति विश्व: । शिशव: = "पोत: पाकोऽर्भको डिम्भ: पृथुक: शावक: शिशु: ।" इत्यमर: । पराऽसव: = परागता असव: (प्राणा:) येषां ते बहु०) । बच्चोंके मरनेकी भावनासे द्विगुण मरणका दुःख मैं पाऊँगा यह भावार्थ है । इस पद्यमें शोकके स्थायिभाव होनेसे करुण रस है ।। १४० ।।

तवाऽपि हा ! हा विरहात्क्षुधाकुला: कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गता: क्षणेनाऽस्फुटितेक्षणा मम ।।१४१।।

अन्वय:—(हे प्रिये !) बहुभि: मनोरथै: चिरेण लब्धा: अस्फुटितेक्षणा: मम ते अपि विरहात् क्षुधा आकुला: तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गता:, हा ! हा !! ।। १४१ ।।

व्याख्या—मन्मरणे कथं सुतानां मरणमिति प्रतिपादयति । (हे प्रिये !) बहुभि: = अधिकै:, मनोरथै: = अभिलाषै:, चिरेण = बहुकालेन, लब्धा: = प्राप्ता:, "अस्माकं सन्ततयो भवन्तु" इति बहुभिरभिलाषै: कष्टेन प्राप्ता इति भाव: । एवं च अस्फुटितेक्षणा: = अनुन्मीलितनयना:, अद्याऽपीति शेष: । मम = हंसस्य, ते = पूर्वोक्ता:, शिशव इति भाव: । तव अपि = न केवलं मम तव अपि इति भाव: । विरहात् = वियोगात्, क्षुधा = बुभुक्षया, आकुला: = पीडिता: सन्त:, तेषु = स्वसम्पादितेषु इति भाव:, कुलायकूलेषु = नीडसमीपभागेषु, विलुठ्य = परिवृत्य, क्षणेन = अल्पकालेनैव, गता: = याता:, मृता भविष्यन्ति, बहुभिर्मनोरथैर्बहुकालेन

प्राप्ताः अस्मच्छिशवः आवयोरभावेन अल्पकालेन मृता भविष्यन्तीति भावः। हा! हा! = त्वां मां च इति शेषः, वज्रपातोपमविपत्तेस्तव मम च शोच्यत इति भावः ॥ १४१ ॥

अनुवादः—(हे प्रिये) बहुत मनोरथोंसे बहुत समयमें पाये गये अस्फुटित नेत्रोंवाले मेरे और तुम्हारे वे बच्चे हमारे वियोगसे भूखसे पीड़ित होकर घोंसले-के समीप लोटकर थोड़े ही समयमें मर जायेंगे हाय! हाय! ॥ १४१ ॥

टिप्पणी लब्धाः = लभ् + क्त + जस्। अस्फुटितेक्षणाः = न स्फुटिते (नञ्०), अस्फुटिते इक्षणे येषां ते (बहु०)। विरहात् = हेतुमें पञ्चमी। कुलायकूलेषु = कुलायस्य कुलानि, तेषु (ष० त०)। कूलका अर्थ यहाँपर समीप स्थान है। "कुलायो नीडमस्त्रियाम्" इत्यमरः। विलुठ्य = वि + लुठ + क्त्वा (ल्यप्)। क्षणेन = "अपवर्गे तृतीया" इससे तृतीया। इस पद्यमें करुण रस है ॥ १४१ ॥

सुताः! कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति?।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाऽश्रुणः॥ १४२॥

अन्वयः—'हे सुताः! चूङ्कृतैः चिराय कम् आहूय कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वम्" इति प्रमील्य सः स्रुतस्य नृपाऽश्रुणः सेकात् सः बुबुधे ॥ १४२ ॥

व्याख्या—हंसः शिशूननूद्य भूयः परिदेवयते—सुता इति। हे सुताः = हे पुत्राः!, चूङ्कृतैः = चूङ्कारैः, "चूम्" इति पक्षिशावकरुतैरित्यर्थः। चिराय = बहुकालपर्यन्तम्, कं = कतरं जनम्, आहूय = आकार्य, कं प्रति = कतरं प्रति, उभयत्र जननीजनकयोरिति शेषः। मुखानि = आननानि, कम्प्राणि = कम्पनशीलानि, चञ्चलानीति भावः। विधाय = कृत्वा, कथासु = शब्द-मात्रेषु, शिष्यध्वम् = अवशिष्टा भवत, इति = एवम्, उक्त्वेति शेषः। प्रमील्य = मूर्च्छां प्राप्य, सः = हंसः स्रुतस्य = गलितस्य, नृपाऽश्रुणः = नल-नयनजलस्य, सेकात् = सेचनात्, बुबुधे = सञ्ज्ञां प्राप ॥ १४२ ॥

अनुवादः—"हे बच्चो! चूं चूं करके बहुत समय तक किसे बुलाकर और किसे लक्ष्य करके मुँहको चञ्चल बनाकर शब्द मात्रसे अवशिष्ट हो जाओगे" ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर वह हंस राजा के गिरे हुए आँसूके सेचनसे होशमें आ गया ॥ १४२ ॥

टिप्पणी चिराय = "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिराऽर्थकाः

इत्यमरः। आहूय = आङ्+ह्वेञ्+क्त्वा (ल्यप्), दोनों शब्द अव्यय हैं कम्प्राणि = कम्पनशीलानि, "कपि चलने" धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इस सूत्रसे र प्रत्यय। शिष्यध्वम् = "शिष असर्वोपयोगे" धातुसे "प्रैषाऽतिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च" इससे प्राप्तकालमें लोट्+ध्वम्। प्रमील्य =प्र+मील+क्त्वा (ल्यप्)। नृपाऽश्रुणः = नृपस्य अश्रु, तस्य (ष० त०)। सेकात् =सिच+घञ्+ङसि। बुबुधे=बुध+लिट्+त (एश)। यहाँपर "म्रियध्वम्" कहनेपर अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलदोष होता था अतः "कथासु शिष्यध्वम्" ऐसा प्राप्तकालमें लोटका प्रयोग किया गया है। स्वभावोक्ति अलंकार है॥ १४२॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय॥ १४३॥

अन्वयः—इत्थं विलपन्तम् अमुम् अवनिपालः दीनदयालुतया "रूपम् अदर्शि, यदर्थं धृतः असिः; अथ यथेच्छं गच्छ" इति अभिधाय अमुञ्चत्॥ १४३॥

व्याख्या—इत्थम् = अनेन प्रकारेण, "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादि रूपेणेति भावः। विलपन्तं = परिदेवमानम्, अमुं = हंसम्, अवनिपालः =भूपालः, नल इति भावः। दीनदयालुतया=आर्तकृपालुतया, रूपम् = आकृतिः, अदर्शि = अवलोकितम, अपूर्वत्वादिति शेषः। यदर्थं = रूपदर्शनाऽर्थं धृतः = गृहीतः, असि =वर्तसे, एतत्कथनेन "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादिश्लोकैः क्रियमाणा लुब्धत्वादरूपा आक्षेपाः परिहृताः। अथ = अनन्तरं, मत्कर्तृकत्वद्रूपदर्शनाऽनन्तरमितिभावः। यथेच्छं=यथेष्टं, गच्छ=व्रज, इति = एवम्, अभिधाय = उक्त्वा, अमुञ्चत् मुक्तवान्॥ १४३॥

अनुवादः—इस प्रकार विलाप करते हुए उस हंसको दीनोंमें दयालु होनेसे राजा नलने "रूप देख लिया जिसके लिए मैंने तुम्हें पकड़ा था, अब इच्छाके अनुसार जाओ" ऐसा कहकर छोड़ दिया॥ १४३॥

टिप्पणी—विलपन्तं = विलपतीति विलपन्, तम्, वि+लप+लट् (शतृ) +अम्। "विलापः परिदेवनम्" इत्यमरः। अवनिपालः = अवनिं पालयतीति, अवनि+पाल+अच्। दीनदयालुतया = दयत इति दयालुः, दय धातुसे "स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रसे आलुच् प्रत्यय। दयालोर्भावः, दयालु+तल्+टाप्। दीनेषु दयालुता, तया (स० त०)। हेतुमें तृतीया। अदर्शि = दृश्+लुङ् (कर्ममें)+त। यदर्थं+यस्मै इदम् (च० त०) यथा तथा, (क्रि० वि०) धृतः+धृञ्+क्तः (कर्ममें)। यथेच्छम्=इच्छाम् अनतिक्रम्य (अव्ययीभाव०)। गच्छ=गम्+लोट्+सिप्। अभिधाय = अभि+

धा + क्त्वा (ल्यप्) । अमुञ्चत् मुच् + लङ् + तिप् । महाकाव्यमें सर्गके अन्तमें छन्द बदलना चाहिए जैसे कि कहा है—

"एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।" सा० द० ६-८ ।

यह दोधक छन्द है उसका लक्षण है—'दोधकवृत्तमिदं भभभा गो" ॥१४३॥

आनन्दजाऽश्रुभिरनुस्रियमाण मार्गान्प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयः प्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम्॥१४४॥

अन्वयः—स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दजाऽश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे ॥ १४४ ॥

व्याख्या—स =हंसः, चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = मण्डलाकारभ्रमणमिषेण, नीराजनाम् = आर्रातिकां, जनयतां, कुर्वतां, निजबान्धवानां=स्वबन्धूनां, प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयः प्रवाहान्=पुराशुङ्नि.सरितबाष्पपूरान्, आनन्दजाऽश्रुभिः =हर्षजनयनसलिलैः, अनुस्रियमाणमार्गान्=अनुगम्यमानाऽध्वनः, चक्रे=कृतवान् । १४४॥

अनुवादः—उस हंसने मण्डलाकार भ्रमणके बहानेसे नीराजना करनेवाले अपने बान्धवोंके पहले शोकसे निकले हुए आँसुओंको आनन्दसे उत्पन्न आँसुओंसे अनुसरण किया जाने वाला बनाया ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = कुटिलं क्रमणं चङ्क्रमणं, क्रम धातुसे "नित्यं कौटिल्ये गतौ" इस सूत्रसे कुटिल गतिमें यङ् प्रत्यय और "यङोऽचि च" इससे लुक् और द्वित्व होकर भावमें ल्युट् । चक्रेण सदृशं चक्रनिभम् (तृ० त०), अस्वपदविग्रह होनेसे नित्य समास । चक्रनिभं च तच्चङ्क्रमणं (क० धा०) । तस्य छलं, तेन (ष० त०) । जनयतां=जनयन्तीति तेषाम्, जन् + णिच् + लट् (शतृ) + आम् । निजबान्धवानां=निजाश्च ते बान्धवाः; तेषाम् (क० धा०), प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयःप्रवाहान्=पयसां प्रवाहाः (ष० त०), नेत्रयोः पयः-प्रवाहाः (ष० त०) । प्राग्भवः शोकः प्राक्शोकः (मध्यमपद०) । प्राक्शोकेन निर्गमिताः (तृ० त०), ते च ते नेत्रपयःप्रवाहाः, तान् (क० धा०) । आनन्दजाऽश्रुभिः = आनन्दात् जातानि, आनन्द + जन् + डः । आनन्दजानि च तानि अश्रूणि, तैः (क० धा०) । अनुस्रियमाणमार्गान् = अनुस्रियन्ते इति अनुस्रियमाणाः, अनु + सृ + लट् (कर्ममें) + शानच् । ते मार्गा येषां ते, तान् (बहु०) । चक्रे = कृ + लिट् (कर्ताके अर्थमें) + य (एश्) । इस पद्यमें बन्धनसे छूटे हुए अपने यूथके पक्षीके चारों ओर पक्षिगण मण्डलाकार रूपसे

घूमते हैं इस बातको मनुष्योंके समान नीराजनाके रूपमें प्रदर्शित किया है । नलसे हंसके पकड़े जानेपर उसके यूथके पक्षिगण रोये, पीछे छोड़े जानेपर हर्षाश्रु गिराने लगे यह इसका तात्पर्य है । इस महाकाव्यमें सर्गके अन्तिम प्रत्येक पद्यमें "आनन्द" पदका प्रयोग किया है, अतः यह "आनन्दाऽङ्क" महाकाव्य है । इसमें कैतवाऽपह्नुति अलङ्कार है । वसन्ततिलका छन्द है, उसका लक्षण है—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।" ॥ १४४ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे । तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदिः सर्गः गतः ॥ १४५ ॥

व्याख्या—अथ महाकविः सर्गान्ते काव्य वर्णन सर्गसमाप्तिं च पद्यबन्धेन प्रदर्शयति— श्रीहर्षमिति । कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः=पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः श्रीहीरः = श्रीहीरनामकः, मामल्लदेवी च=मामल्लदेवीनाम्नी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहम् । यं श्रीहर्षं=श्रीहर्षनामकं सुतं=पुत्रं सुषुवे = जनयामास, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = तच्चिंतामणिनामकमन्त्रोपासनाफलरूपे, शृङ्गारभङ्ग्या=आदिरसविच्छित्त्या, चारुणि- मनोहरे, नैषधीयचरिते=नैषधीयचरितनामके, महाकाव्ये=बृहत्काव्ये = काव्यविशेष इति भावः । अयं=निकटस्थः, आदिः=प्रथमः, सर्गः=अध्यायः, गतः=समाप्त इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

अनुवादः श्रेष्ठ पण्डितों की श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने जिस श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया, उन (श्रीहर्ष) के चिन्तामणि नामक मन्त्रीकी उपासनाके फलस्वरूप शृङ्गारकी विचित्रतासे मनोहर नैषधीयचरितनामक महाकाव्यमें यह पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४५ ॥

टिप्पणी कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः = कवीनां राजानः कविराजाः (ष० त०), समासाऽन्त टच् प्रत्यय । "संख्यावान् पण्डितः कविः" इत्यमरः । कविराजानां राजिः (ष० त०), तस्या मुकुटानि (ष० त०), "अथ मुकुटं किरीटं पुंनपुंसकम्" इत्यमरः । तेषाम् अलङ्कारः (ष० त०) च चाऽसौ हीरः (क०

धा०) श्रीहीरः = श्रीसम्पन्नो हीरः (मध्यमपद०)। मामल्लदेवी = किसीने यहाँपर माम् + अल्लदेवी ऐसा पदच्छेद कर "अल्लदेवी च मां सुतं श्रीहर्षम् सुषुवे" ऐसा अन्वय किया है, उस पक्षमें श्रीहर्षकी माता का नाम "मामल्लदेवी" न होकर "अल्लदेवी" ऐसा प्रतीत होता है । जितेन्द्रियचयम् = इन्द्रियाणां चयः (ष० त०), जित इन्द्रियचयो येन, तम् (बहु०)। सुषुवे = "षूङ् प्राणिप्रसवे" इस धातुसे लिट् + त (एश्)। तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = "चिन्तामणि" पदके दो अर्थ है, एक मन्त्रविशेष और दूसरा मणिविशेष । दोनों ही चिन्तित पदार्थोंको देने वाले हैं। प्रकृतमें चिन्तामणिपदका अर्थ मन्त्रविशेष है जिसकी चर्चा इसी महाकाव्यमें—अवामावामार्द्धे० १४–८८ इत्यादि श्लोकमें की जायगी चिन्तापूरको मणिः चिन्तामणिः (मध्यमपद०)। मन्त्रके अर्थमें "चिन्तामणि" पद लाक्षणिक है। चिन्तामणिश्चाऽसौ मन्त्रः (क० धा०) तस्य चिन्तनं (ष० त०) तस्य फलं तस्मिन् (ष० त०)। शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गारस्य भङ्गिः, तया (ष० त०) नैषधीयचरिते = निषधानाम् अयं नैषधः, निषध + अण । नैषधस्य इदं नैषधीयम् नैषध + छ (ईयः)। नैषधीयं च तत् चरितम्, तस्मिन् (क० धा०), महाकाव्ये = कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्, कवि + ष्यञ् । महच्च तत् काव्यं, तस्मिन् (क० धा०) "सर्गबन्धो महाकाव्यम्" इत्यादि लक्षणोंसे युक्त बृहत् काव्यको "महाकाव्य" कहते हैं। इसमें आठसे अधिक सर्ग होने चाहिए इत्यादि नियम हैं। गतः = गम् + क्तः। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। उसका लक्षण है—"सूर्याऽश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४५ ॥

इति श्रीनैषधीयमहाकाव्यव्याख्यायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

काव्य और महाकाव्य के लक्षण

अब छात्रों की व्युत्पत्तिके लिए काव्यका लक्षण और उसके कुछ भेदकी चर्चा की जाती है। कौतीति कविः, "कु शब्दे" धातुसे "अच इः" इससे 'इ' प्रत्यय होकर 'कवि' शब्द की निष्पत्ति होती है। शब्द करनेवालेको "कवि" कहते हैं। 'कवि' शब्दके तीन अर्थ हैं—ईश्वर, विद्वान् और काव्यकी रचना करनेवाला। कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्। कविके भाव वा कर्मको "काव्य कहते हैं। 'कवि' शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्म च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय होकर "काव्य" पद निष्पन्न होता है।

मम्मटभट्टके काव्यप्रकाशके अनुसार काव्यका लक्षण है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि।"

अर्थात् दोषरहित, गुण सहित अलङ्कारसे अलङ्कृत शब्द और अर्थको "काव्य" कहते हैं, कहींपर अलङ्कारके न होनेपर भी "काव्य" पदका व्यवहार हो सकता है। सामान्यतः काव्य के दो भेद हैं दृश्य और श्रव्य। अभिनयसे दिखाये जानेवालेको "दृश्य" कहते हैं। इसे रूपक भी कहते हैं। इसके नाटक आदि अनेक भेद होते हैं। सुने जानेवाले काव्यको श्रव्य कहते हैं। इनके दो भेद होते हैं गद्य और पद्य। कथा और आख्यायिका गद्यके भेद हैं। काव्यके दो भेद होते हैं महाकाव्य और खण्डकाव्य। साहित्यदर्पणके अनुसार महाकाव्यका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणाऽन्वितः॥" ६—४० इत्यादि।

अर्थात् सर्गबन्धसे युक्त देवता अथवा उत्तमकुलप्रसूत क्षत्रिय धीरोदात्तगुणसे सम्पन्न नायकसे अङ्कृत और आठ सर्गोंसे अधिक सर्गयुक्त पञ्च सन्धिसे समन्वित ऋतुवर्णन आदि वर्णन से सम्पन्न काव्यको महाकाव्य कहते है। प्रस्तुत नैषधीय-चरित 'महाकाव्य' है, इसमें २२ सर्ग हैं।

— :o: —

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

द्वितीयः सर्गः

भक्ताऽभिलाषपरिपूरणसक्षणा या, रक्षापरार्ऽतिहरणाय धृतव्रता या।
विश्वेश्वरस्य रमणी करुणापरा सा दाक्षायणी मम कृतिं सफलां विधत्ताम् ॥

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ स द्विजः जगत्यधीश्वरात् पुरुषोत्तमात् ततः मुक्तिम् अधिगत्य यो वचसाम् अपि गोचरो न, तम् आनन्दम् अविन्दत ॥ १ ॥

व्याख्या—हंसमुखेन भैमीवर्णनाऽर्थं द्वितीयं सर्गमारभते—अथ=मोचनाऽनन्तरं, सः=पूर्वोक्तः, द्विजः=पक्षी विप्रश्च, जगत्यधीश्वरात्=भूपतेः, भुवनपतेश्च, पुरुषोत्तमात्=पुरुषश्रेष्ठात्, विष्णोश्च, ततः=नलात् प्रसिद्धाच्च, मुक्तिं=मोचनं निर्वाणं च, अधिगत्य=प्राप्य, यः=आनन्दः, वचसाम् अपि=वाक्यानाम् अपि, गोचरः=ग्राह्यः, न, वक्तुमशक्य इति भावः। तं=तादृशम्, आनन्दं=सुखं, परमानन्दं च मोक्षजन्यमिति भावः। अविन्दत=अलभत। यथा विप्रो भुवनपतेर्विष्णोर्मोक्षं प्राप्य अनिर्वचनीयमानन्दं प्राप्नोति तथैव स हंसोऽपि भूपतेः मोचनं प्राप्य वाचामविषयं सुखं प्राप्तवानिति भावः ॥ १ ॥

अनुवाद—तब वह हंस जैसे ब्राह्मण लोकपति भगवान् विष्णु से मोक्ष पाकर अनिर्वचनीय आनन्द पाता है, उसी तरह भूपति, पुरुषश्रेष्ठ नलसे छुटकारा पाकर अवर्णनीय आनन्दको प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

टिप्पणी—द्विजः=द्विर्जायते इति, द्वि+जन्+डः। "दन्तविप्राण्डजा द्विजाः" इत्यमरः। जगत्यधीश्वरात्=जगत्या अधीश्वरः, तस्मात् (ष० त०) "अथ जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्।" इत्यमरः। पुरुषोत्तमात्=पुरुषेषु उत्तमः तस्मात्, (स० त०), यद्यपि निर्द्धारणमें "यतश्च निर्द्धारणम्" इस सूत्रसे षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियाँ होती हैं, तथापि 'न निर्द्धारणे' इस सूत्रसे निर्द्धारणमें षष्ठीका समास नहीं होता। मुक्ति=मुच्+क्तिन्। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिको मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण या अपवर्ग कहते हैं। वेदान्तके अनुसार स्व(ब्रह्म)-स्वरूपके ज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति० २।४) "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादि प्रमाण हैं। अधिगत्य=अधि+गम्+क्त्वा (ल्यप्)। अविन्दत="विद्लृ लाभे" धातुसे क्रियाफल कर्तृगामी होनेसे आत्मनेपदमें लङ्, "शे मुचादीनाम्" इससे नुम् आगम। इस पद्यमें द्वितीय अर्थके प्रस्तुत न होनेसे श्लेष नहीं है, "द्विजो ब्राह्मण इव" द्विज ब्राह्मणके समान कहनेसे उपमा व्यङ्ग्य है। इस प्रकार शब्दार्थशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि है। इस सर्गमें सौ श्लोकों तक वियोगिनी नामक अर्द्धसमवृत्त है, उसका लक्षण है—

"विषमे ससजा गुरुः समे, सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी" ॥ १ ॥

> **अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्।**
> **करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥**

अन्वयः—स खगः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां तनुं नैकधा अधुनीत, करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलिखत् ॥ २ ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, खगः=पक्षी, हंस इत्यर्थः। उत्फुल्लतनूरुहीकृतां =सम्फुल्लपतत्त्रीकृतां, नलकरपीडनादिति भावः। तनुं=शरीरं, नैकधा= अनेकधा, अनेकप्रकारेणेत्यर्थः, अधुनीत=कम्पितवान्, करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे= नलहस्तपीडननिम्नोन्नतमध्यप्रदेशे, पक्षती=पक्षमूले, चञ्चुपुटेन=त्रोटिपुटेन, व्यलिखत्=विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवाद—उस पक्षी (हंस) ने राजाके हाथसे पकड़े जानेसे रोमाञ्चसे युक्त शरीरको अनेक प्रकारसे कम्पित किया और हाथसे पकड़नेसे ऊँच-नीच मध्यप्रदेशवाले पक्षमूलोंको चोंचकी नोंकसे सम बनाया ॥ २ ॥

टिप्पणी—उत्फुल्लतनूरुहीकृताम्=उत्फुल्लन्तीति उत्फुल्लानि, उद्-उपसर्ग-पूर्वक फुल्ल विकसने" धातुसे "उत्फुल्लसम्फुल्लयोरुपसङ्ख्यानम्" इस वार्तिकसे अच्प्रत्ययान्त निपातन। "प्रफुल्लोत्फुल्लसम्फुल्लव्याकोशविकचस्फुटाः।" इत्यमरः। तन्वां रोहन्तीति तनूरुहाणि, तनू+रुह्+कः (उपपद०)। उत्फुल्लानि तनूरुहाणि यस्यां सा (बहु०)। अनुत्फुल्लतनूरुहा उत्फुल्लतनूरुहा यथा सम्पद्यते तथाकृता, ताम्, उत्फुल्लतनूरुहा+च्वि+कृ+क्त (टाप्)+अम्। नैकधा= न एकधा नैकधा, "सुप्सुपा" समास। यहाँ नञ्समास नहीं हुआ, नञ् समास होता तो "न लोपो नञः" इससे 'न' का लोप होकर "अनेकधा" ऐसा रूप बनता। अधुनीत="धूञ् कम्पने" इस क्र्यादिगणस्थ धातुसे लङ्+त, "प्वादीनां ह्रस्वः" इससे ह्रस्व। करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे=करेण यन्त्रणम् (तृ० त०)। दन्तुरम् अन्तरं ययोस्ते (बहु०)। "दन्तुरं तून्नतानतम्" इत्यमरः। करयन्त्रणेन दन्तुराऽन्तरे (तृ० त०), ते। पक्षती=पक्षयोर्मूले, ते, पक्ष शब्दसे "पक्षात्तिः" इस सूत्रसे ति प्रत्यय। "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमरः। चञ्चुपुटेन=चञ्च्वोः पुटं, तेन (ष० त०)। व्यलिखत्=वि+लिख+लङ्=तिप्। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है॥ २॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम्॥ ३॥

अन्वयः—अयं स्खलनक्षण एव एकतमेन अङ्घ्रिणा पक्षतेः अधिमध्योर्ध्वगजङ्घं द्रुतकण्डूयितमौलिः (सन्) आलयं शिश्रिये॥ ३॥

व्याख्या—अयं=हंसः, स्खलनक्षण एव=मोचनसमय एव, एकतमेन= एकेन, अङ्घ्रिणा=चरणेन, पक्षतेः=पक्षमूलस्य, अधिमध्योर्ध्वगजङ्घम्= मध्योर्ध्वगामिप्रसृतं (यथा तथा), द्रुतकण्डूयितमौलिः=शीघ्रघर्षितमस्तकः सन्, आलयं=निजावासं, नीडमित्यर्थः, शिश्रिये=श्रितवान्॥ ३॥

अनुवाद—वह (हंस) छूटते ही एक पैरसे पक्षमूलके मध्यमें जाँघको ऊपर कर शीघ्र माथेको खुजलाता हुआ अपने घोंसलेमें जा पहुँचा॥ ३॥

टिप्पणी—स्खलनक्षणे=स्खलनस्य क्षणः तस्मिन् (ष० त०)। अधि-मध्योर्ध्वगजङ्घं=मध्ये इति अधिमध्यम्, विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव। ऊर्ध्वं गच्छतीति ऊर्ध्वगा, ऊर्ध्व+गम्+ड+टाप्। सा जङ्घा यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०)। अधिमध्यम् ऊर्ध्वगजङ्घम् (सुप्सुपा०) द्रुतकण्डूयितमौलिः=कण्डूयितो मौलिर्येन सः (बहु०)। द्रुतं (यथा तथा)

कण्डूयितमौलिः (सुप्सुपा०)। शिश्रिये = "श्रिञ् सेवायाम्" धातु से लिट् "लिटस्तझयोरेशिरेच्" इस सूत्र से 'त' के स्थान में एश्। स्वभावोक्ति अलङ्कार ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—पण्डितः स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशतः क्वचित् सतः कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः तनुकण्डु नुनुदे ॥ ४ ॥

व्याख्या—पण्डितः = निपुणः, कीटाद्यपनयनप्रवीण इति भावः। सः = हंसः, गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् = पक्षसमूहदुर्गमस्थानदुर्ग्राह्यान्, कटु = तीक्ष्णं, दशतः = तुदतः दन्तैरिति शेषः। क्वचित् = कुत्रचित्, सतः = वर्तमानान्, कीटान् = क्षुद्रजन्तून्, पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः = समर्थत्रोटयग्रघट्टनैः, तनुकण्डु = अल्पखर्जु यथा तथा, नुनुदे = निवारितवान् ॥ ४ ॥

अनुवाद—कीड़ोंको हटानेमें निपुण उस हंसने पक्षसमूहरूप किलेमें न पकड़े जानेवाले तीक्ष्ण रूपसे काटनेवाले ऐसे कहींपर रहे हुए कीड़ोंको मजबूत चोंचकी नोकके आघातोंसे खुजलीको कम कर हटाया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पण्डितः = सत् और असत्का विवेक करनेवाली बुद्धिको "पण्डा" कहते हैं। पण्डा सञ्जाता अस्य पण्डितः, 'पण्डा' शब्दसे "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इससे इतच् प्रत्यय। गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् = गरुतां वनम् (ष० त०) तदेव दुर्गम् (रूपक०)। दुःखेन ग्रहीतुं शक्या दुर्ग्रहाः, दुर् + ग्रह + खल् (उपपद०)। गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहाः, तान् (स० त०)। कटु = यह क्रियाविशेषण है। दशतः = दशन्तीति दशन्तः, तान् (दश + लट् + शतृ + शस्)। सतः = सन्तीति सन्तः, तान् (अस् + लट् + शतृ + शस्)। पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः = चञ्च्वोः पुटम् (ष० त०)। पटु च तत् चञ्चूपुटम् (क० धा०) तस्य कोटिः (अग्रभागः), (ष० त०), तया कुट्टनानि, तैः (तृ० त०)। तनुकण्डु = तनुः कण्डूः यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद्यथा तथा। "कण्डूः खर्जूश्च कण्डूया" इत्यमरः। नुनुदे = "णुद प्रेरणे" इति धातोर्लिट्। रूपक और स्वभावोक्तिकी संसृष्टि है ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यव्रियताऽथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अयं तडागनीडजैः लघु एत्य पर्यव्रियत । अथ अस्य करग्रहजात् वैकृतात् शङ्कितैः विकस्वरस्वरैः उदडीयत ॥ ५ ॥

व्याख्या—अयं = हंसः, तडागनीडजैः = पद्माकरकुलायोत्पन्नैः पक्षिभिः, लघु = शीघ्रम्, एत्य = आगत्य, पर्यव्रियत = परिवृतः । अथ = परिवेष्टनाऽनन्तरम्, अस्य = हंसस्य, करग्रहजात् = हस्तपीडनजनितात्, वैकृतात् = विकारात्, दन्तुरपक्षत्वरूपादिति भावः । शङ्कितैः = भीतैः, विकस्वरस्वरैः उच्चैर्घोषैः पक्षिभिः, उदडीयत = उड्डीनम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—उस हंसको तालाबके निकट स्थित घोसलोंमें उत्पन्न पक्षियोंने शीघ्र आकर घेर लिया । तब उस हंस के हाथ से ग्रहण करने से उत्पन्न दन्तुरत्व रूप विकारसे शङ्कित होकर ऊँची आवाज करते हुए सब पक्षी उड़ गये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—तडागनीडजैः = तडागे नीडाः (स० त०), समीप अर्थमें सप्तमी । तडागनीडे जातास्तडागनीडजाः, तैः, तडागनीड + जन् + ड + भिस् (उपपद०) । लघु — ''लघु क्षिप्रमरं द्रुतम् ।'' इत्यमरः । एत्य = आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । पर्यव्रियत = परि + वृञ् + लङ् (कर्ममें) + त । करग्रहजात् = ग्रहणं ग्रहः । ''ग्रह उपादाने'' धातुसे ''ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च'' इस सूत्रसे अप् प्रत्यय, करेण ग्रहः (तृ० त०), तस्माज्जातः करग्रहजः, तस्मात्, करग्रह + जन् + ड (उपपद०) + ङसि । वैकृतात् = विकृतम् एव वैकृतं, तस्मात्, विकृत् + अण् (स्वार्थमें) । विकस्वरस्वरैः = विकसन्तीति विकस्वराः, वि + उपसर्गपूर्वक कस धातुसे ''स्थेशभासपिसकसो वरच्'' इस सूत्रसे वरच् प्रत्यय । ''विकासी तु विकस्वरः'' इत्यमरः । विकस्वरः स्वरो येषां ते, तैः (बहु०) । उदडीयत = उद् + डीङ् + लङ् + त (भावमें) । इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

अन्वयः—स खगः बहुशैवलक्ष्मतां दधतः सरसः बहुशैवलक्ष्मतां दधतो नलस्य धृतरुद्राक्षमधुव्रतं करं कोकनदभ्रमात् इव पुनः ययौ ॥ ६ ॥

व्याख्या—सः = पूर्वोक्तः, खगः = पक्षी, हंस इत्यर्थः । बहुशैवलक्ष्मतां = भूरिशैवलभूमितां, दधतः = धारयतः, सरसः = पल्लवात् । बहुशैवलक्ष्मतां = अधिकशिवभक्तचिह्नतां, दधतः = धारयतः, नलस्य = नैषधस्य, धृतरुद्राक्ष-

मधुव्रतं=भ्रमरसदृशरुद्राक्षधारकं करं=हस्तं, कोकनदभ्रमात् इव=रक्तकमल-भ्रान्तेः इव, पुनः=भूयः, ययौ=जगाम, रक्तवर्णे नलहस्ते रक्तकमलभ्रान्तेरिव हंसः पुनर्जगामेति भावः ॥ ६ ॥

अनुवाद—वह हंस बहुत शैवलों (सेवारों) वाली भूमिको धारण करने-वाले तालाबसे बहुतसे शिवभक्तके चिह्नोंको धारण करनेवाले नलके भौरोंके समान रुद्राक्षोंको धारण करनेवाले हाथको मानों रक्तकमलकी भ्रान्तिसे फिर प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

टिप्पणी—बहुशैवलक्ष्मतां=बहूनि शैवलानि यस्यां सा बहुशैवला (बहु०)। "जलनीली तु शैवालं शैवलः" इत्यमरः । बहुशैवला क्ष्मा (भूमिः) यस्मिस्तत् बहुशैवलक्ष्मम् (बहु०) तस्य भावः तत्ता, ताम्, बहुशैवलक्ष्म + तल् + टाप् + अम् । दधतः=दधातीति दधत् तस्य, धा + लट् (शतृ) + ङस् । सरसः= "कासारः सरसीः सरः" इत्यमरः । नलके पक्षमें—बहुशैवलक्ष्मतां=शिवे भक्तिर्यस्य सः शैवः, "शिव" शब्दसे "भक्तिः" इस सूत्रसे अण्, "तद्धितेष्वचा-मादेः" इससे आदि अच्की वृद्धि । शैवस्य लक्ष्माणि (ष० त०) "चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमरः । बहूनि शैवलक्ष्माणि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा (बहु०), तस्य भावः तत्ता, ताम्, बहुशैवलक्ष्मम् + तल् + टाप् + अम् । भस्म, रुद्राक्ष आदि शैव (शिवजीके उपासकके) चिह्न हैं । प्रकृतमें शैव नलका चिह्न रुद्राक्ष अभिमत है । धृतरुद्राक्षमधुव्रतं=रुद्राक्षा मधुव्रता इव रुद्राक्षमधुव्रताः, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे उपमित-समास । धृता रुद्राक्षमधुव्रता येन, तम् (बहु०) । कोकनदभ्रमात्—कोकनदस्य भ्रमः, तस्मात् (ष० त०) । "रक्तोत्पलं कोकनदम्" इत्यमरः । ययौ=या + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें शब्दश्लेष, उपमा और उत्प्रेक्षा इन अलङ्कारों-का अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविस्रम्भमवापितो नु सः ।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अन्वयः—स पतगः चिरकाललालनात् अतिविस्रम्भम् अवापितो नु (किञ्च) एतस्य महीभुजः भुजं भजन् अतुलं कुतूहलं विदधे ॥ ७ ॥

व्याख्या—अथाऽस्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते पतग इति । सः=पूर्वोक्तः, पतगः=हंसः, चिरकाललालनात्=बहुसमयोपलालनात्, अतिविस्रम्भम्= अविश्वासम्, अवापितो नु=प्रापितः किम्, नोचेत्कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति

भावः । एतस्य=अस्य, महीभुजः=राज्ञः, नलस्येत्यर्थः । भुजं=करं, भजन्=सेवमानः, स्वयमाप्नुवन्निति भावः । अतुलम्=अनुपमं, कुतूहलं=कौतुकं, विदधे=चकार ॥ ७ ॥

अनुवाद—वह पक्षी (हंस) बहुत समयतक हाथमें लेनेसे मानों अत्यन्त विश्वस्त कराया गया । राजाके हाथमें स्वयम् प्राप्त होनेसे उसने अनुपम कौतुकको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—पतगः=पतैः (पक्षैः) गच्छतीति, पत-उपपदपूर्वक गम् धातुसे "पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण" इस सूत्रसे घ प्रत्यय । 'पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्ररथाऽण्डजाः ।" इत्यमरः । चिरकाललालनात्=चिरकालं लालनं, तस्मात् (सुप्सुपा०) । अतिविस्रम्भम्=अत्यन्तं विस्रम्भः, तम्, "कुगतिप्रादयः" इति समासः । "समौ विस्रम्भविश्वासौ" इत्यमरः । अवापितः=अव+आप्+णिच्+क्तः । महीभुजः=महीं भुनक्तीति महीभुक्, तस्य, मही+भुज्+क्विप् (उपपद०)+ङस् । भजन्=भजतीति, भज+लट् (शतृ)+सु । अतुलम्=अविद्यमाना तुला (उपमा) यस्य, तत् (नञ् बहु०) । विदधे=वि+धा=लिट्+त (एश्) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा और कुतूहलविधानके प्रति भुजभजनकी हेतुता होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है । इस प्रकार दोनोंकी संसृष्टि है ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकाऽमृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

अन्वयः-इष्टमानसः स कुतुकाऽमृतोर्मिषु निमज्जत् नृपमानसम् अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन् अवोचत ॥ ८ ॥

व्याख्या—इष्टमानसः=प्रियमानसः, सः=हंसः, कुतुकाऽमृतोर्मिषुः=कौतुकसुधातरङ्गेषु, निमज्जत्=ब्रुडत्, नृपमानसं=नलमनः, अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकम्=आलम्बितश्रोत्रशष्कुलीघटद्वयं, रचयन्=कुर्वन्, अवोचत=उक्तवान् जले निमज्जन्तं पुरुषं यथा कश्चित्तारणाय कलसप्रदानेन तमुद्धरति तथैव कौतुकतरङ्गेषु ब्रुडत् राजमानसमपि हंसः तत्कौतुकप्रशमनाय वक्ष्यमाणवाक्यं जगादेति भावः ॥ ८ ॥

अनुवाद—मानस सरोवरको पसंद करनेवाला वह हंस कौतुकरूप अमृतकी तरङ्गोंमें डूबते हुए राजाके मनमें कर्णशष्कुलीरूप कलसोंका अवलम्बन कराता हुआ बोला ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इष्टमानसः=इष्टं मानसं यस्य सः (बहु०) । कैलास पर्वतमें

ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न सरोवरको मानस सरोवर कहते हैं। जैसा कि वाल्मीकि-रामायणमें है—

"कैलासपर्वते राम ! मनसा निर्मितं परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल ! तेनेदं मानसं सरः ॥"

(आ० का० २४ सर्गः)

"मानसं सरसि स्वान्ते" इति विश्वः। कुतुकाऽमृतोर्मिषु=कुतुकम् एव अमृतम् (रूपक०)। "कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्।" इत्यमरः। कुतुकाऽमृतस्य ऊर्मयः, तेषु (ष० त०)। निमज्जत्=निमज्जतीति, नि+मस्ज+लट् (शतृ)+अम्। नृपमानसं=मन एव मानसम्, "प्रज्ञादिभ्यश्च" इससे स्वार्थमें, मनस्+अण्। नृपस्य मानसं, तत् (ष० त०)। अवलम्बित-कर्णशष्कुलीकलसीकम्=कर्णौ शष्कुल्यौ इव (उपमित०)। अवलम्बिते कर्ण-शष्कुल्यौ एव कलस्यौ येन, तत् (बहु०)। "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय। एक प्रकारकी मिठाई (जलेबी) को शष्कुली कहते हैं। जलमें डूबते हुए व्यक्तिको जैसे घड़ेका सहारा होता है वैसे ही कौतुकरूप अमृतमें डूबते हुए नलको कर्णरूप शष्कुलोंका सहारा देता हुआ हंस कहने लगा, यह तात्पर्य है। रचयन्=रचयतीति, रच+णिच्+लट् (शतृ)। अवोचत=वच+लुङ्+त। इस पद्यमें उपमा और रूपककी संसृष्टि है। यमक नामक शब्दालङ्कार भी है ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्माऽऽगममर्मपारगैः।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

अन्वयः—धर्माऽऽगममर्मपारगैः अपि नृपैः मृगया न विगीयते (तथाऽपि) हे स्मरसुन्दर ! मां यत् अत्यजः, स तव दयोदयोज्ज्वलः धर्मः ॥ ९ ॥

व्याख्या—धर्माऽऽगममर्मपारगैः अपि=धर्मशास्त्रतत्त्वपारगामिभिः अपि, नृपैः=राजभिः, मृगया=आखेटः, न विगीयते=न गर्ह्यते, तथाऽपि, हे स्मर-सुन्दर=हे काममनोरम !, मां=पक्षिणं, मृगयालक्ष्यभूतमिति भावः। यत्, अत्यजः=त्यक्तवान्, सः=त्यागः, तव=भवतः, दयोदयोज्ज्वलः=करुणाऽव-तारनिर्मलः, धर्मः=सुकृतम्, त्वं न केवलमाकारत उज्ज्वलः प्रत्युत दयारूप-धर्मेणाऽपीति भावः ॥ ९ ॥

अनुवाद—धर्मशास्त्रों के तत्त्वोंके पारदर्शी राजाओंसे भी मृगया (शिकार) की निन्दा नहीं की जाती है तो भी हे कामदेवके समान सुन्दर ! जो आपने पक्षी छोड़ दिया है, वह आपका दयाके उदयसे उज्ज्वल धर्म है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—धर्मस्य आगमाः (ष० त०), तेषां मर्माणि (ष० त०), पारं गच्छन्तीति, पार–उपपदपूर्वक गम् धातुसे "अन्तात्यन्ताऽध्वदूरपारसर्वाऽनन्तेषु डः" इस सूत्रसे ड प्रत्यय। धर्माऽऽगममर्मणां पारगाः, तैः (ष० त०), विगीयते=वि+गै+लट् (कर्ममें)+त। स्मरसुन्दर=स्मर इव सुन्दरः, तत्सम्बुद्धौ। "उपमानानि सामान्यवचनैः" इस सूत्रसे उपमानपूर्वपद (क०धा०)। अत्यजः=त्यज+लङ्+सिप्। यहाँ अद्यतन क्रिया विवक्षित होनेपर अनद्यतन अर्थमें लङ्का प्रयोग अनुचित है, अतः च्युतसंस्कृति दोष हो गया है। दयोदयोज्ज्वलः=दयाया उदयः (ष० त०), तेन उज्ज्वलः (तृ० त०)। इस पद्यमें त्यागके प्रति धर्मकी कारणता होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है॥ ९॥

अबलस्वकुलाऽशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान्।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान्मृगयाऽघाय न भूभृतां घ्नताम्॥ १०॥

अन्वयः-अबलस्वकुलाऽशिनो झषान् (घ्नताम्), निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् (घ्नताम्), अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् घ्नतां भूभृतां मृगया अघाय न॥ १०॥

व्याख्या—राज्ञां कृते मृगयाया विगानाऽभावं प्रतिपादयति—अबलेति। अबलस्वकुलाऽशिनः=निर्बलनिजवंशभक्षकान्, झषान्=मत्स्यान्, घ्नताम्, एवं परत्राऽपि। निजनीडद्रुमपीडिनः=स्वकुलायवृक्षपीडकान्, विष्ठात्यागफलभक्षणादिनेति भावः। खगान्=पक्षिणः, तथा अनवद्यतृणार्दिनः=निरपराधाऽर्जुनहिंसकान्, मृगान्=पशून्, घ्नतां=हिंसतां, भूभृतां=राज्ञां, मृगया=आखेटः, अघाय=पापाय, न=न भवति। तेषां झषखगपशूनां वधस्य दण्डरूपत्वाद्दण्डनाऽभाव एव दोष इति भावः॥ १०॥

अनुवाद—निर्बल अपने वंशको मारनेवाली मछलियोंको, अपने घोंसलेके पेड़ोंको पीड़ित करनेवाले पक्षियोंको तथा निरपराध तृणोंकी हिंसा करनेवाले मृगोंको मारनेवाले राजाओंको मृगया (शिकार) पापके लिए नहीं होती है।

टिप्पणी—अबलस्वकुलाऽशिनः=अविद्यमानं बलं यस्य तत् अबलं, (नञ्-बहु०), स्वस्य कुलम् (ष० त०), अबलं च तत् स्वकुलम् (क० धा०) अबलस्वकुलम्, अश्नन्तीति तच्छीलाः, तान्, अबलस्वकुल+अश+णिनि (उपपद०)+शस्। झषान्="पृथुरोमा झषा मत्स्यो मीनो वैसारिणोऽण्डजः।" इत्यमरः। प्रबल मत्स्य निर्बल मत्स्योंको खा जाते हैं, इसीसे "मात्स्यन्याय"

की प्रसिद्धि है। निजनीडद्रुमपीडिनः=नीडानां द्रुमाः (ष० त०), निजाश्च ते नीडद्रुमाः (क० धा०), तान् पीडयन्तीति तच्छीलाः, तान्, निजनीडद्रुम+पीड+णिनि+(उपपद०) शस्। पक्षी अपने घोंसलेवाले पेड़ोंको विष्ठात्याग और फलादिभक्षणसे पीडित करते हैं। अनवद्यतृणादिनः=न उद्यन्त इति अवद्यानि, नञ्-उपपदपूर्वक वद धातुसे "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्याऽनिरोधेषु" इस सूत्रसे गर्ह्य अर्थमें यत्प्रत्ययान्त निपातन। न अवद्यानि अनवद्यानि (नञ्०)। अनवद्यानि च तानि तृणानि (क० धा०); तानि अदन्तीति तच्छीला तान् अनवद्यतृण+अद+णिनि (उपपद०)+शस्। निरपराध तृणोंको मृग खा जाते हैं। तृणोंमें भी प्राण हैं। "अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः। (१-४९) मनुने ऐसा कहा है। घ्नतां=घ्नन्तीति घ्नन्तः, तेषाम्, हन्+लट् (शतृ)+आम्। भूभृतां=भुवं बिभ्रतीति, भूभृतः, तेषाम्, भू+भृ+क्विप् (उपपद०)+आम्। अघाय=तादर्थ्यमें चतुर्थी। अपराधी मत्स्योंको, पक्षियोंको और मृगोंको मारनेवाले राजाके लिए मृगया दण्डरूप होनेसे पाप उत्पन्न करनेवाली नहीं होती—यह तात्पर्य है। इस पद्यमें अप्रस्तुत सामान्य भूभृत्के कथनसे प्रस्तुत विशेष भूभृत् नलकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रशंसा और पापके अभावके प्रति पहलेके तीन पादोंके पदार्थोंकी हेतुतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है, इस प्रकार दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है॥ १०॥

यदवादिषमप्रियं तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत्।
कृतमातपसञ्ज्वरं तरोरभिवृष्याऽमृतमंशुमानिव॥ ११॥

अन्वयः—(हे राजन्!) तव यत् अप्रियम् अवादिषं, प्रियम् आधाय तत् तरोः कृतम् आतपसञ्ज्वरम् अमृतम् अभिवृष्य अंशुमान् इव नुनुत्सुः अस्मि॥११॥

व्याख्या—हंसः पुनः स्वागमनकारणं प्रतिपादयति-यदिति। (हे राजन्!) तव=भवतः, यत्, अप्रियम्=अप्रीतिजनकं वाक्यं, "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादिरूपमिति भावः। अवादिषम्=अवोचम्, प्रियं=प्रीतिजनकं वाक्यम्, आधाय=निधाय, कथयित्वेति भावः। तत्=अप्रियं, तरोः=वृक्षस्य, कृतं=स्वयं विहितम्, आतपसञ्ज्वरं=घोतकृतं सन्तापम्, अमृतं=जलम्, अभिवृष्य=वर्षित्वा, अंशुमान् इव=सूर्य इव, नुनुत्सुः=निवारयितुम् इच्छुः, अस्मि=भवामि॥ ११॥

अनुवाद—(हे राजन् !) जैसे सूर्य अपनेसे की गयी पेड़में धूपकी पीड़ाको जल की वृष्टिसे हटाते हैं उसी तरह मैंने जो आपको अप्रिय कहा है, प्रिय वचन कहकर उसे हटाता हूँ ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अप्रियं=न प्रियं, तत् (नञ्०)। अवादिषं=वद+लुङ्+मिप्। आधाय=आङ्+धा+क्त्वा (ल्यप्)। आतपसञ्ज्वरम्=आतपेन सञ्ज्वरः, तम् (तृ० त०)। अमृतं="पयः कीलालममृतम्" इत्यमरः। अभिवृष्य =अभि+वृष+क्त्वा (ल्यप्)। अंशुमान्=प्रशस्ता अंशवः सन्ति यस्य सः, अंशु+मतुप्। नुनुत्सुः=नोदितुम् इच्छुः, नुद्+सन्+उः। अस्मि=अस्+लट्+मिप्। इस पद्य में उपमा अलङ्कार है ॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवाऽपि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि हि प्रतिग्रहः ॥ १२ ॥

अन्वयः—अयाचितम् उपनम्रं हितं तव अपि परिहर्तुं न साम्प्रतम्। हि सः प्रतिग्रहः करकल्पजनान्तरात् शुचितः विधेः प्रापि ॥ १२ ॥

व्याख्या— त्वदीयोपकृतिर्न मया ग्राहयेति चेत्तत्राह—उपनम्रमिति। अयाचितम्=अप्रार्थितम्, उपनम्रम्=उपनतं, हितं=हितसम्पादकं, मदीयं प्रियवचनमिति भावः। तव अपि=भवतः अपि, परिहर्तुं=परित्यक्तुं, न साम्प्रतं =नो युक्तम्, "अयाचिताऽऽहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः" (या० स्मृ० १।२१५) इति स्मरणादिति भावः। तदपि मादृश्यास्तिर्यग्जातेः कथं ग्राह्यमिति चेत्तत्राह–करकल्पेति। हि=यस्मात्कारणात्। सः=पूर्वोक्तः, मयाऽभिहित इति भावः। प्रतिग्रहः=दत्तपदार्थः, करकल्पजनान्तरात्=हस्तस्थानीयाऽन्यलोकात्, शुचितः =शुद्धात्, विधेः=भाग्यात्, प्रापि=प्राप्तः, न तु मत्त इति भावः। अहं तु निमित्तमात्रं, दातृस्थानीयं तु भाग्यमेवेति अतो न ग्रहणलाघवमिति तात्पर्यम्।

अनुवाद—याचनाके बिना ही प्राप्त मेरे हित वचनको आपको छोड़ना नहीं चाहिए, क्योंकि वह हितवचनरूप प्रतिग्रह हाथके सदृश मेरे ऐसे व्यक्तिरूप शुद्ध भाग्यसे प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अयाचितं=न याचितम् (नञ्०)। उपनम्रम्=उपनमनशीलम्, उप-उपसर्गपूर्वक "णम प्रह्वत्वे शब्दे" इस धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इस सूत्रसे र प्रत्यय। परिहर्तुं=परि+हृञ्+तुमुन्। साम्प्रतं="युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरः। दुष्कर्म करनेवाले से भी बिना

याचना के प्राप्त पदार्थको लेना चाहिए ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है। अयाचित वृत्तिको भगवान् मनुने भी "अमृतं स्यादयाचितम्" (४।५) अमृत कहा है। "प्रत्याख्येयं न वारि च" ऐसा भी शास्त्रका वचन है, अर्थात् याचना-के बिना मिले हुए जलका भी प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिए। करकल्प-जनान्तरात्=ईषत् असमाप्तः करः करकल्पं हस्तसदृशमित्यर्थः। 'कर' शब्दसे "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" इस सूत्रसे कल्पप् प्रत्यय। 'करकल्प' शब्दका करसदृश ऐसा अर्थ होता है। अन्यो जनो जनान्तरम् (मयूरव्यंसकादि-समास)। करकल्पं च तत् जनान्तरं तस्मात् (क० धा०)। शुचितः=शुचेः इति शुचितः, "शुचि" शब्दसे "अपादाने चाऽहीयरुहोः" इस सूत्रसे तसि प्रत्यय। यह "विधेः" इस पदका विशेषण है। प्रापि=प्र-उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे कर्ममें लुङ्। इस पद्यमें हितपरिहारकी अयुक्तताके प्रति उत्तरार्ध-स्थित वाक्यकी हेतुतासे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है॥ १२॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते।
इति वेद्मि न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्तुमर्तयः॥ १३॥

अन्वयः—पतगेन मया जगत्पतेः तव उपकृत्यै किं प्रभूयते? इति वेद्मि, तदपि अर्तयः तु मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति॥ १३॥

व्याख्या—हंसः स्वगर्वं परिहरति—पतगेनेति। पतगेन=पक्षिणा, मया=हंसेन, तुच्छजन्तुना इति भावः। जगत्पतेः=सार्वभौमस्य, तव=भवतः, उपकृत्यै=उपकाराय, किं प्रभूयते=किं क्षम्यते? समर्थेन न भूयत इति भावः। इति=एवं, वेद्मि=जानामि, तदपि=तथाऽपि, अर्तयस्तु=प्रत्युपकाराऽर्थ-मुत्कण्ठारूपाः पीडास्तु, मां=पतगं, प्रत्युपकर्तुं=प्रयुपकारं कर्तुं, न त्यजन्ति=न मुञ्चन्ति, प्रत्युपकाराय प्रेरयन्तीत्यर्थः। पतगोऽप्यहं दयालोस्ते महोपकारं करवाणीति भावः॥ १३॥

अनुवाद—"अदना पक्षी मैं जगत्पति आपके उपकारके लिए कैसे समर्थ होऊँगा" यह जानता हूँ। तो भी प्रत्युपकारके लिए उत्कण्ठारूप पीडाएँ तो मुझे आपके उपकारका बदला देने के लिए नहीं छोड़ती हैं॥ १३॥

टिप्पणी—जगत्पतेः=जगतः पतिः, तस्य (ष० त०), उपकृत्यै=उप-करणम् उपकृतिः, तस्यै, उप-उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन्, तादर्थ्यमें चतुर्थी। प्रभूयते=प्र+भू+लट् (भावमें)+त। वेद्मि=

विद्+लट्+मिप् । अर्तयः="अर्तिः पीडाधनुष्कोटयोः" इत्यमरः । प्रत्युपकर्तुं=प्रति+उप=कृ+तुमुन् । त्यजन्ति=त्यज+लट्+झि । इस पद्यमें छेकाऽनुप्रास है ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्यमथाऽणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥ १४ ॥

अन्वयः—अथवा उपकर्तुः अचिरात् औपयिकीम् उपक्रियाम् आचरेत्, इत्थं सा पृथुः अथ अणुः अस्तु । विदुषाम् इह ग्रहो न ॥ १४ ॥

व्याख्या—स्वशक्त्यनुसारेण उपकारस्य प्रत्युपकारः शीघ्रं कर्तव्य इति प्रतिपादयति—अचिरादिति । अथ वा=पक्षान्तरे, उपकर्तुः=उपकारकस्य, अचिरात्=अविलम्बात्, औपयिकीं=स्वोपायसाध्याम्, उपक्रियाम्=उपकारम् आचरेत्=कुर्यात् जीवनस्य अनित्यत्वाच्छीघ्रं प्रत्युपकारं विदधीतेति भावः । इत्यम्=एवं सति, सा=उपक्रिया, पृथुः=अधिका, अथ=अथ वा, अणुः= अल्पा, अस्तु=भवतु, विदुषां=बुधानां, विवेकिनामिति भावः । इह=अस्मिन् विषये, ग्रहो न=आग्रहो न । गुणग्राहिणो विवेकिनः कृतज्ञतामेवाऽस्य पश्यन्ति नैयून्यादिजनितं दोषं नाऽन्विष्यन्तीति भावः ॥ १४ ॥

अनुवाद—अथवा उपकार करनेवालेका शीघ्र ही अपने उपायसे साध्य उपकार करे, इस प्रकार वह उपकार अधिक वा अल्प हो, विद्वानोंको इस विषयमें आग्रह नहीं है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—उपकर्तुः=उपकरोतीति उपकर्ता, तस्य, उप+कृ+तृच्+ङस् । औपयिकीम्=उपाय एव औपयिकः, उपाय शब्दसे "विनयादिभ्यष्ठक्" इस सूत्रसे "उपायो ह्रस्वत्वं च" इस वार्तिकके सहकारसे स्वार्थमें ठक्, 'ठ' के स्थानमें "ठस्येकः" इससे इक, ह्रस्वत्व "किति च" इस सूत्रसे आदिवृद्धि औपयिकात् आगता औपयिकी, ताम्, "तत आगतः" इससे अण् । "टिड्ढाणञ्०" से ङीप् । "युक्तमौपयिकं लभ्यं भजमानाऽभिनीतवत् । न्याय्यञ्च त्रिषु षट्" इत्यमरः । उपक्रियाम्=उप+कृ+श+टाप्+अम् । आचरेत्= आङ्+चर+विधिलिङ्+तिप् । विदुषां=विदन्तीति विद्वांसः, तेषाम्, विद्+लट्+शतृ (वसु)+आम् ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ॥ १५ ॥

अन्वयः—(हे नृप !) इदं मदीरितं विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रव्यम् । इयं खगवाक् इत्यतः अपि कीरगीः इव मुदं किं न दास्यति ॥ १५ ॥

व्याख्या—स्ववचः श्रवणे हेतुमुपपादयति—भवितेति । (हे नृप !) इदं= वक्ष्यमाणं, मदीरितं=मत्कथितं, वच इति भावः । विचारचारु=विमर्श-मनोहरं, न भविता चेत्=नो भविष्यति यदि, तदपि=तथाऽपि मदीरिते विचारचारुत्वाऽभावेऽपीति भावः । श्रव्यं=श्रोतव्यम्, इयम्=एषा, खगवाक्= पक्षिवाणी, इत्यतः अपि=अस्मात्कारणात् अपि, कीरगीः इव=शुकवाणी इव, मुदं=हर्षं, किं न दास्यति=किं न वितरिष्यति ? दास्यत्येवेति भावः । विचारचारुत्वाऽभावेऽपि कौतुकादपि मदीरितं वचः श्रोतव्यमिति भावः ॥१९॥

अनुवाद—(हे राजन् !) यह मेरा वचन विचार करनेपर मनोहर न हो तो भी सुनना चाहिए । यह पक्षीकी वाणी है इस कारणसे भी तोतेकी वाणी क्या हर्ष उत्पन्न नहीं करेगी ॥ १५ ॥

टिप्पणी—मदीरितं=मया ईरितम् (तृ० त०) "वचः" इस पदका अध्याहार करना चाहिए । विचारचारु=विचारे चारु (स० त०) भविता= भू+लुट्+तिप् । श्रव्यम्=श्रोतुम् अर्हम्, श्रु धातुसे "अचो यत्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय, "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इससे गुण "धातोस्तन्निमित्तस्यैव" इस सूत्रसे अव् आदेश । खगवाक्=खगस्य वाक् (ष० त०) । कीरगीः= कीरस्य गीः (ष० त०) । दास्यति=दा+लृट्+तिप् । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ॥
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—अरिसार्थसार्थकीकृतनामा स भीमभूपतिः जयति किल । यं प्रभुम् अवाप्य विदर्भभूः शक्रभर्तृकां द्याम् अपि हसति ॥ १६ ॥

व्याख्या—साम्प्रतं स्ववचो वक्तुमुपक्रमते—स जयतीति । अरिसार्थसार्थकी-कृतनामा=शत्रुसमूहाऽन्वर्थीकृताऽभिधानः, सः=प्रसिद्धः, भीमभूपतिः= भीमाऽऽख्यनृपः, जयति किल=सर्वोत्कर्षेण वर्तते खलु । यं=भीमभूपतिं, प्रभुं=भर्तारम्, अवाप्य=प्राप्य, विदर्भभूः=विदर्भभूमिः, शक्रभर्तृकाम्=इन्द्र-स्वामिकां, द्याम् अपि=दिवम् अपि, लक्ष्यीकृत्येति शेषः । हसति=उपहसति, किमुत अन्यभर्तृकदेशमिति शेषः । स्त्रियो हि भर्तृउत्कर्षादन्याः स्त्रीरुपहसन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अनुवाद—शत्रुसमूहसे अन्वर्थ नामवाले राजा भीम उत्कर्षपूर्वक बढ़ रहे हैं जिनको पतिके रूपमें पाकर विदर्भ देशकी भूमि इन्द्ररूप स्वामीवाली स्वर्ग-भूमिका भी उपहास कर रही है ।। १६ ।।

टिप्पणी—अरिसार्थसार्थकीकृतनामा=अर्थेन सहितं साऽर्थकम्, "तेन सहेति तुल्ययोगे" इस सूत्रसे तुल्ययोग बहु० । "वोपसर्जनस्य" इससे विकल्पसे "सह" के स्थानमें "स" आदेश । "शेषाद्विभाषा" इससे समासान्त कप् प्रत्यय । असार्थकं साऽर्थकं यथा सम्पद्यते तथा कृतम्, सार्थक + च्वि + कृ + क्तः । सार्थकीकृतं नाम यस्य सः (बहु०) । अरीणां सार्थः (ष० त०), तस्मिन् सार्थकीकृतनामा (स० त०) । "सङ्घसार्थौ तु जन्तुभिः" इत्यमरः । भीम-भूपतिः=भुवः पतिः (ष० त०) । भीमश्चाऽसौ भूपतिः (क० धा०) । बिभेति अस्मात् इति भीमः, "ञिभी भये" धातुसे "भीमादयोऽपादाने" इस सूत्रसे मक् प्रत्यय । जिससे शत्रु डरता है वह 'भीम' ऐसी व्युत्पत्तिसे साऽर्थक (अन्वर्थ) नामवाले राजा भीम हैं—यह तात्पर्य है । जयति=जि + लट् + तिप् । यहाँपर "जि" धातु अकर्मक है । प्रभुं="प्रभुः परिवृढोऽधिपः" इत्यमरः । अवाप्य=अव + आप + क्त्वा (ल्यप्) । विदर्भभूः=विदर्भाणां भूः (ष०त०) । शक्रभर्तृकां=शक्रः भर्ता यस्याः सा शक्रभर्तृका, ताम् (बहु०) । "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे कप् और टाप् । द्याम्='द्यो' शब्दसे द्वितीयाका एकवचन, "औतोऽम्शसोः" इस सूत्रसे ओकारके स्थानमें आकार आदेश । "सुरलोको द्योदिवौ द्वे" इत्यमरः । हसति="हसे हसने" धातुसे लट् + तिप् । यह अकर्मक है । अतः "द्यामपि" यहाँपर "लक्ष्यीकृत्य" इस पदका अध्याहार करना चाहिए । "भीमभूपतिः" इस अंशमें "निरुक्त" नामका लक्षण है । जैसा कि चन्द्रालोकमें है—

"निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथाऽनृतम् ।
ईदृशैश्चरितै राजन्सत्यं दोषाकरो भवान् ।।"

इस पद्यमें विदर्भभूमिका स्वर्गभूमिके हाससे सम्बन्ध न रहनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और "द्याम् अपि" यहाँपर स्वर्ग को भी हँसती है, और को क्या कहना इस प्रकार अर्थापत्ति है, इस प्रकार दो अल-ङ्कारोंकी संसृष्टि है ।। १६ ।।

**दमनादमनाक्प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयाम् ।। १७ ।।**

अन्वयः—सः अमनाक् प्रसेदुषः तथ्यगिरः दमनात् तपोधनात् दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयां तनयां वरम् आप ॥ १७ ॥

व्याख्या—हंसः साम्प्रतं दमयन्त्या उत्पत्तिं वर्णयति—दमनादिति। सः=भीमभूपतिः, अमनाक्=अत्यर्थं, प्रसेदुषः=प्रसन्नात्, निजोपासनयेति शेषः। तथ्यगिरः=सत्यवचसः, अमोघवचनादिति भावः। तादृशात् दमनात्=दमननामकात्, तपोधनात्=तपस्विनः, ऋषेरित्यर्थः। दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयां=काललोकत्रयाऽनितरसदृशसौन्दर्यादिगुणाविर्भावां, तनयां=पुत्रीं वरम्=अभीप्सितम्, आप=प्राप, वरत्वेन पुत्रीं लब्धवानिति भावः ॥ १७ ॥

अनुवादः—महाराज भीमने अत्यन्त प्रसन्न, सत्य वाणीवाले दमन नामके तपस्वीसे तीन कालों और तीन लोकोंमें असाधारण सौन्दर्य आदि गुणोंवाली पुत्रीरूप वरको प्राप्त किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—अमनाक् न मनाक् (नञ्०)। "किञ्चिदीषन्मनागल्पे" इत्यमरः। प्रसेदुषः=प्रससादेति प्रसेदिवान्, तस्य, प्र—उपसर्गपूर्वक सद् धातुसे "भाषायां सदवसश्रुवः" इस सूत्रसे भूतसामान्यमें लिट्के स्थानमें क्वसु आदेश, सम्प्रसारण। तथ्यगिरः=तथा (तत्प्रकारे) साधुः तथ्या, तथा शब्दसे "तत्र साधुः" इस सूत्रसे यत् और स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् प्रत्यय। "सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्" इत्यमरः। तथ्या गीर्यस्य स तथ्यगीः, तस्मात् (बहु०)। दमनात्=दमयतीति दमनः, तस्मात्, दम धातुसे "सहितपिदमःसञ्ज्ञायाम्" (ग० सू० २३) इससे ल्यु (अन) प्रत्यय। तपोधनात्=तप एव धनं यस्य, तस्मात् (बहु०)। दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयाम्=त्रयः अवयवा, ययोस्ते त्रितये, त्रि शब्दसे "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप्। अन्यस्यां सदृक् अन्यदृक् (स० त०)। "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इससे "अन्या" शब्दका पुंवद्भाव। न अन्यसदृक् (नञ्०)। गुणानाम् उदयः (ष० त०)। अनन्यसदृक् गुणोदयो यस्याः सा (बहु०)। दिष्टाश्च विष्टपानि दिष्टविष्टपानि "कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयोऽपि" इति, "अथ जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्" इति चामरः, दिष्टविष्टपानां त्रितये (ष० त०), तयोः अनन्यसदृग्गुणोदया, ताम्। (स० त०)। वरम्="देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिये" इत्यमरः। आप=आप्+लिट्+त। महाराज भीमने दमन ऋषिसे तीन कालों और तीन लोकों में असाधारणगुणों से सम्पन्न

कन्यारूप वर पाया यह तात्पर्य है। इस पद्यमें "दमनादमनाक्" यहाँपर यमक अलङ्कार है ॥ १७ ॥

> भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
> उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

अन्वयः—असौ यतः तनुश्रिया भुवनत्रयसुभ्रुवां कमनीयतामदं दमयन्ती उदियाय, ततः दमयन्तीति अभिधां दधौ ॥ १८ ॥

व्याख्या—अथाऽस्या नामधेयं तद्व्युत्पत्तिं च प्रदर्शयति—भुवनेति। असौ= तनया, यतः=यस्मात्कारणात्, तनुश्रिया=निजशरीरसौन्दर्येण, भुवनत्रय-सुभ्रुवां=लोकत्रितयसुन्दरीणां, कमनीयतामदं=सौन्दर्यगर्वं, दमयन्ती=अस्तं गमयन्ती सती, उदियाय=उदिता, उत्पन्नेति भावः। ततः=तस्मात्कारणात्, दमयन्ती इति=दमयन्तीत्यानुपूर्विकाम्, अभिधां=नाम, दधौ=बभार ॥१८॥

अनुवाद—वह (भीमकी पुत्री) जिस कारणसे अपने शरीरके सौन्दर्यसे तीन लोकोंकी सुन्दरियोंके सौन्दर्यगर्वका दमन करती हुई उत्पन्न हुई उस कारण से उन्होंने 'दमयन्ती' ऐसे नामको धारण किया ॥ १८ ॥

टिप्पणी—यतः=यद्+तसिल्। तनुश्रिया=तनोः श्रीः, तया (ष० त०)। भुवनत्रयसुभ्रुवां=त्रयः अवयवाः यस्य तत् त्रयम्, त्रि शब्दसे "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् प्रत्यय और "द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा" इस सूत्रसे उसके स्थानमें विकल्पसे अयच् आदेश। शोभने भ्रुवौ यासां ताः सुभ्रुवः (बहु०)। भुवनानां त्रयम् (ष० त०), तस्मिन् सुभ्रुवः (स० त०) तासाम्। कमनीयतामदं=कमनीयस्य भावः (कमनीय+तल्+टाप्), कमनीयताया मदः, तम् (ष० त०)। दमयन्ती=दमयन्तीति, णिजन्त दम धातुसे लट् (शतृ)+ङीप्, यहाँपर "न पादम्याङ्य०" इत्यादि सूत्रसे परस्मैपदका निषेध होनेपर भी "क्रियाफल कर्तृगामि न होनेसे "शेषात्परस्मैपदम्" इससे परस्मैपद हुआ है। उदियाय=उद्+इण्+लिट्+तिप् (णल्)। दधौ=धा+लिट्+तिप्। इस पद्यमें भुवनत्रयकी सुन्दरियोंकी अपेक्षा दमयन्तीके सौन्दर्यकी अधिकताका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥१८॥

> **श्रियमेव परं धराऽधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम्।**
> **व्यवधावपि वा विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ॥ १९ ॥**

अन्वयः—(हे राजन् !) तां गुणसिन्धोः धराऽधिपात् उदितां श्रियम् एव परम् अवेहि. वा व्यवधौ अपि मृडचूडानिलयां विधोः कलां को न वेद ॥१९॥

व्याख्या—अथ पद्यानामेकविंशत्या चिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति—श्रियमिति । (हे राजन् !) तां=दमयन्तीं, गुणसिन्धोः=दयादाक्षिण्यादिगुणसमुद्रात्, धराऽधिपात्=भीमनरेन्द्रात्, उदिताम्=उत्पन्नां, श्रियम् एव=लक्ष्मीम् एव, परं=ध्रुवम्, अवेहि=जानीहि । देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह— व्यवधावपीति । वा=अथवा, व्यवधौ अपि=व्यवधाने सत्यपि, मृडचूडानिलयां=शिवशिखाऽऽश्रयां, विधोः=चन्द्रमसः, कलां=षोडशं भागं, को न वेद=को न जानाति ? सर्वोऽपि वेदेत्यर्थः । यथा शिवशिरःस्थिताऽपि कला चन्द्रकलैव तथैव गुणसिन्धोर्भीमभूपालादुत्पन्नाऽपि एषा दमयन्ती श्रीरेवेति भावः ॥ १९ ॥

अनुवाद--हे राजन् ! दमयन्तीको गुणके समुद्र राजा भीमसे उत्पन्न लक्ष्मी ही जानिये, अथवा व्यवधानके रहनेपर भी शिवजीके शिरमें आश्रय लेनेवाली चन्द्रकलाको कौन नहीं जानता है ॥ १९ ॥

टिप्पणी—गुणसिन्धोः=गुणानां (दयादाक्षिण्यादीनाम्) सिन्धुः तस्मात् (ष० त०), धराऽधिपात्=धराया अधिपः, तस्मात् (ष० त०) । उदिताम्=उद्+इण्+क्त+टाप् । अवेहि=अव-आङ्–उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे लोट्के सिप्के स्थानमें 'हि' आदेश, गुण होकर अव+एहि । यहाँपर "एत्येधत्यूठसु" इससे प्राप्त वृद्धिको बाधित करके "ओमाङोश्च" इससे पररूप । व्यवधौ=व्यवधानं व्यवधिः, तस्मिन् वि–अव उपसर्गपूर्वक 'धा' धातुसे "उपसर्गे घोः किः" इस सूत्रसे कि प्रत्यय । व्यवधि शब्द पुंलिङ्गमें है, इसको नारायण पण्डितने स्त्रीलिङ्गी लिखा है, वह भ्रान्तिमूलक है । मृडचूडानिलयां=मृडस्य चूडा (ष० त०), "गिरीशो गिरिशो मृडः" इत्यमरः । मृडचूडा निलयो यस्याः सा, ताम् (बहु०) । वेद=विद धातुसे "विदो लटो वा" इस सूत्रसे लट्के तिप्के स्थानमें विकल्पसे णल् आदेश, एक पक्षमें 'वेत्ति' ऐसा रूप होता है । इस पद्यमें राजा भीममें सिन्धुत्वका आरोप दमयन्तीमें श्रीत्वके आरोपमें निमित्त है । इस कारण परम्परित रूपक और दृष्टान्त अलङ्कार हैं, दोनोंकी संसृष्टि है ॥ १९ ॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि सा बिभर्ति यान् ।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

अन्वयः—ते चिकुरप्रकरा जयन्ति, विदुषी सा यान् मूर्धनि बिभर्ति। पशुना अपि अपुरस्कृतेन चामरेण तत्तुलनां क इच्छतु ॥ २० ॥

व्याख्या—साम्प्रतं दमयन्त्याः केशादारभ्य वर्णनमुपक्रमते—चिकुरेति। ते=प्रसिद्धाः, चिकुरप्रकराः=केशकलापाः, जयन्ति=सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। विदुषी=पण्डिता, सा=दमयन्ती, यान्=चिकुरप्रकरान्, मूर्धनि=शिरसि, बिभर्ति=धारयति। पशुना अपि=चतुष्पदेन अपि, मूर्खेण चमरीमृगेणाऽपीति भावः। अपुरस्कृतेन=अनादृतेन, पृष्ठभागस्थापितेन वा, चामरेण=चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनां=चिकुरप्रकरसमीकरणं, कः=जनः, इच्छतु=वाञ्छतु, न कोऽपीति भावः ॥ २० ॥

अनुवाद—वे केशकलाप उत्कर्षपूर्वक बढ़ते रहते हैं, पण्डिता दमयन्ती जिन्हें शिरमें धारण करती है। पशु चमरी मृगसे भी अनादृत पूँछमें रक्खे गये चामरसे उनकी तुलना करनेकी कौन इच्छा करे ॥ २० ॥

टिप्पणी—चिकुरप्रकराः=चिकुराणां प्रकराः (ष० त०), विदुषी= वेत्तीति, विद् धातुसे लट्के शतृके स्थानमें "विदेः शतुर्वसुः" इससे वसु आदेश, "उगितश्च" इससे स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् "वसोः सम्प्रसारणम्" इससे सम्प्रसारण। मूर्धनि=मूर्धन् शब्दसे सप्तमीकी ङिविभक्तिमें "विभाषा ङिश्योः" इससे अल्लोपके अभावपक्षमें रूप। उक्त सूत्रसे अल्लोप होनेपर "मूर्ध्नि" ऐसा रूपभी बनता है। बिभर्ति=भृ+लट्+तिप्। अपुरस्कृतेन=न पुरस्कृतं, तेन (नञ्०) तत्तुलनां=तोलनं तोलनां, "तुल उन्माने" इस धातुसे "अतुलोपमाभ्याम्" ऐसे निपातनसे गुणका अभाव होकर णिजन्त तुल धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् (अन) होकर टाप्। तेषां तुलना, ताम्, (ष०त०)। इच्छतु=इष+लोट्+तिप्। "इषुगमियमां छः" इससे छत्व। इस पद्यमें उपमान चामरसे उपमेय दमयन्तीके चिकुरके उत्कर्षका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

अन्वयः—मृगाः तदखर्वेक्षणशोभया जितयोः भयात् उदयत्प्रमीलयोः स्वदृशोः खुरकण्डूयनकैतवात् सान्त्वनां जनयन्ति ॥ २१ ॥

व्याख्या—मृगाः=हरिणाः, तदखर्वेक्षणशोभया=दमयन्तीविशालनेत्रकान्त्या, जितयोः=पराभूतयोः, अतएव भयात्=भीतेः, उदयत्प्रमीलयोः=

उत्पद्यमाननिमीलनयोः, स्वदृशोः=निजनेत्रयोः, खुरकण्डूयनकैतवात्=शफघर्षणच्छलात्, सान्त्वनाम्=आश्वासनं, जनयन्ति=कुर्वन्ति, यथा लोके परपराजितान् भयान्निमीलितनयनान् जनान् स्वजना हस्तपरामर्शादिना सान्त्वयन्ति तथैव मृगा अपि दमयन्तीनेत्रपराजिते स्वनेत्रे खुरकण्डूयनच्छलादाश्वासयन्तीति भावः ॥ २१ ॥

अनुवाद—मृग दमयन्तीके विशाल नेत्रोंकी शोभासे जीते गये। अतएव भय से मूंदे गये अपने नेत्रोंको खुरसे खुजलानेके बहानेसे आश्वासन देते हैं ॥ २१ ॥

टिप्पणी—तदखर्वेक्षणशोभया=न खर्वे (नञ्०), अखर्वे च ते ईक्षणे (क० धा०), तस्या अखर्वेक्षणे (ष० त०) तयोः शोभा, तया (ष० त०) भयात्=हेतुमें पञ्चमी। उदयत्प्रमीलयोः=उदयन्ती प्रमीला ययोस्ते, तयोः (बहु०)। स्वदृशोः=स्वस्य दृशौ, तयोः (ष० त०)। खुरकण्डूयनकैतवात् =खुरैः कण्डूयनम् (तृ० त०), "शफं क्लीबे खुरः पुमान्" इत्यमरः। खुरकण्डूयनस्य कैतवं, तस्मात् (ष० त०)। जनयन्ति=जन+णिच्+लट्+झि। इस पद्यके कैतवाऽपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाकी संसृष्टि है ॥ २१ ॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे धरापते ! दमस्वसुः लोकयुगं श्रुतिगामितया सुतरां व्यतिभाते, दृशौ अपि (श्रुतिगामितया सुतरां व्यतिभाते), श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि (श्रुतिगामिनया सुतरां व्यतिभाते) ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे धरापते=हे भूपते ! दमस्वसुः=दमयन्त्याः, लोकयुगं= मातापितृकुलयुग्मं, श्रुतिगामितया=लोकश्रवणविषयत्वेन, जगत्प्रसिद्धत्वेनेति भावः। सुतराम्=अत्यर्थं, व्यतिभाते=परस्परोत्कर्षेण विनिमयेन वा भाति (शोभते), दृशौ अपि=नेत्रे अपि, दमस्वसुरिति अध्याहार्यम्। श्रुतिगामितया= कर्णान्तविश्रान्ततया, सुतराम्=अत्यर्थं, व्यतिभाते=परस्परोत्कर्षेण विनिमयेन वा भातः (शोभेते)। श्रुतदृष्टाः=आकर्णिताऽवलोकिताः, लोकतः श्रुताः स्वयं ज्ञाताश्चेति भावः। रमणीगुणा अपि=सौन्दर्यौदार्यादयः स्त्रीगुणा अपि, श्रुतिगामितया=लोकतः श्रवणविषयतया, सुतराम्=अत्यन्तं, व्यतिभाते= विनिमयेन भान्ति (शोभन्ते)। दमयन्त्या मातृपितृकुलयुग्मं नेत्रयुगलं स्त्रीगुणा अति प्रसिद्धिपथागतत्वेन सुतरां शोभन्त इति भावः ॥ २२ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! दमयन्ती के मातृकुल और पितृकुल दोनों ही लोकका श्रवण विषय होकर परस्परके उत्कर्षसे शोभित होते हैं, इसी तरह उनकी दोनों आँखें कान तक फैलनेसे परस्परके उत्कर्षसे शोभित होती हैं तथा सुने गये और देखे गये दमयन्तीके सौन्दर्य-औदार्य आदि स्त्रीगुण भी लोकसे श्रवणके विषय होनेसे परस्परमें अत्यन्त शोभित होते हैं ॥ २२ ॥

टिप्पणी—धरापते=धरायाः पतिः, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०) दमस्वसुः= दमस्य स्वसा दमस्वसा, तस्याः (ष० त०)। दमन ऋषिके वरसे महाराज भीमके दम नामका पुत्र और दमयन्ती नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी, महाकविने वर्णनीय होनेसे दमयन्तीकी उत्पत्तिका वर्णन लिखा, दमका नहीं। "न षट्-स्वस्रादिभ्यः' इससे "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इससे प्राप्त ङीप्का निषेध हुआ है। लोक-युगं=लोकयोर्युगम् (ष० त०), 'लोक' शब्द यहाँपर लक्षणासे कुलवाचक हुआ है। श्रुतिगामितया=श्रुत्योर्गच्छतीति श्रुतिगामि, श्रुति+गम्+णिनिः। श्रुति-गामिनो भावः, तया, श्रुतिगामि+तल्+टाप्+टा। सुतरां=तरप्प्रत्यान्त 'सु' उपसर्गसे "किमेत्तिङव्ययधादाम्बद्रव्यप्रकर्षे" इससे आमु प्रत्यय। व्यति-भाते=वि+अति-उपसर्गपूर्वक अदादिस्थ "भा दीप्तौ" इस धातुसे "कर्तरि कर्मव्यतिहारे" इससे आत्मनेपद हुआ है। कर्मव्यतिहारका अर्थ है कर्मका विनिमय और कैयटके मतमें परस्पर करणको भी कर्मव्यतिहार माना गया है। व्यतिभाते=वि+अति+भा+लट्+त। यहाँपर यह एकवचन है। दृशौ= "दृग्दृष्टी" इत्यमरः। श्रुतिगामितया=श्रुत्योर्गच्छतस्तच्छीले इति श्रुतिगा-मिन्यौ, श्रुति+गम्+णिनि+ङीप् (उपपद०)। श्रुतिगामिन्योर्भावः श्रुति-गामिता, तया, श्रुति+गामिनी+तल्+टाप्+टा। यहाँपर "त्वतलोर्गुण-वचनस्य" इस सूत्रसे पुंवद्भाव हुआ। व्यतिभाते=पहलेके सूत्रसे आत्मनेपद, वि+अति+भा+आताम्, यण् और सवर्णदीर्घ करके 'व्यतिभाताम्' ऐसा रूप होनेपर "टित आत्मनेपदानां टेरे" इससे 'टि'का एत्व होकर ऐसा रूप बनता है। श्रुतदृष्टाः=प्राक् श्रुताः पश्चाद् दृष्टाः, "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाऽधिकरणेन" इससे पूर्वकालसमास रमणीगुणाः=रमण्या गुणाः (ष० त०)। श्रुतिगामितयाः=श्रुत्योर्गच्छन्तीति श्रुतिगामिनः, श्रुति+गम् +णिनिः (उप०)। "श्रुतिः श्रोत्रे, तथाऽऽम्नाये, वार्तायां, श्रोत्रकर्मणी"ति विश्वः। श्रुतिगामिनां भावः तया, श्रुतिगामिन्=तल्+टाप्+टा। व्यति-भाते। वि+अति+भा+झ। पहलेके सूत्रसे आत्मनेपद और "आत्मने-

पदेऽवनत:'' इससे 'ज्ञ' के स्थान में अत् और पहलेके समान 'टि'का एत्व भी। इस पद्य में ''लोकयुगम्'' ''दृशौ'' ''रमणीगुणा:'' इन सब प्रस्तुत पदार्थोंका व्यतिभान रूप एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होनेसे तुल्योगिता और ''व्यतिभाते'' इसका एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होनेसे वचनश्लेष भी है। अतः इनका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर है ।। २२ ।।

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे ।
अपि खञ्जनमञ्जनाऽञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ।। २३ ।।

अन्वयः—नलिनं मलिनं विवृण्वती, पृषतीम् अस्पृशती तदीक्षणे अञ्जनाऽञ्चिते (सती) खञ्जनम् अपि रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते ।। २३ ।।

व्याख्या—नलिनं=कमलं, मलिनं=मलीमसम्, असुन्दरमिति भावः, विवृण्वती=कुर्वाणे, स्वसौन्दर्याऽतिशयेनेति भावः । पृषतीं=मृगीम्, अस्पृशती=स्पर्शम् अपि अकुर्वती, नेत्रसौन्दर्यस्पर्धायां मृगमपि दूरात्परिहरती इति भावः । तदीक्षणे=दमयन्तीनयने, अञ्चनाञ्चिते=कज्जलपरिष्कृते सती, खञ्जनम् अपि=खञ्जरीटं पक्षिणम् अपि, रुचिगर्वदुर्विधं=सौन्दर्याऽभिमानदरिद्रं, विदधाते=कुर्वाते, दमयन्त्या नेत्रे सर्वथाऽप्यनुपमेये इति भावः ।। २३ ।।

अनुवाद—कमलको मलिन बनाने वाले तथा (सौन्दर्यमें) मृगीका स्पर्श भी नहीं करते हुए दमयन्तीके नेत्र, कज्जलसे परिष्कृत होते हुए, खञ्जन पक्षी को भी सौन्दर्यसे अभिमानमें दरिद्र बना देते हैं ।। २३ ।।

टिप्पणी—विवृण्वती=विवृणुत इति, वि+वृण्+लट् (शतृ)+ङीप्+औ । पृषतीं=''हरिण्यां पृषती प्रोक्ता'' इति रन्तिदेवः । अस्पृशती=स्पृशत इति स्पृशती, स्पृश+लट् (शतृ)+औ । न स्पृशती (नञ्०) । तदीक्षणे=तस्या ईक्षणे (ष० त०) । अञ्जनाऽञ्चिते=अञ्जनेन अञ्चिते (तृ० त०) । खञ्जनं=''खञ्जरीटस्तु खञ्जनः'' इत्यमरः । रुचिगर्वदुर्विधं=रुचेः गर्वः (ष० त०) तस्मिन् दुर्विधः तम् (स० त०) ''निस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः'' इत्यमरः । विदधाते=वि+धा+लट्+आताम् । इस पद्यमें दमयन्तीके नेत्रोंके कमल आदिके मलिनीकरण आदिसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और उपमानभूत नलिन आदिसे उपमेयभूत दमयन्तीके नेत्रोंके आधिक्य वर्णनसे व्यतिरेक अलङ्कार, इस प्रकार दो अलङ्कारोंके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ।। २३ ।।

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

अन्वयः—अधरबिम्बम् इति अदः पदम् अस्या रदनच्छदं वदत् बिम्बनामकं फलम् अस्मात् अधरं खलु इति भव्यम् अन्वयं लभते ॥ २४ ॥

व्याख्या—अधरबिम्बम्=अधरबिम्बम् इत्यानुपूर्वीकम्, इति=एवम्, अतः=एतत्, पदं=शब्दः, अस्याः=दमयन्त्याः, रदनच्छदम्=ओष्ठं, वदत्=अभिदधत् प्रतिपादयदिति भावः । बिम्बनामकं=बिम्बाऽभिधेयं, फलं=सस्यम्, अस्मात्=दमयन्तीरदनच्छदात् अधरम्=अपकृष्टं, खलु=निश्चयेन, इति=अस्मात्कारणात्, भव्यम्=अबाधितम्, अन्वयं=पदार्थसंसर्गं, लभते=प्राप्नोति ॥ २४ ॥

अनुवाद—"अधरबिम्ब" यह पद दमयन्तीके ओष्ठका प्रतिपादन करता हुआ बिम्ब नामक फल दमयन्तीके ओष्ठसे अधर (निकृष्ट) है इस प्रकार अबाधित अन्वय (पदार्थसंसर्ग) को प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

टिप्पणी—रदनच्छदं=रदनानां छदः, तम् (ष० त०), "रदना दशना दन्ता रदाः" इति "ओष्ठाऽधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी" इति चाऽमरः । वदत्=वदतीति, वद+लट् (शतृ)+सु । बिम्बनामकं=बिम्बं नाम यस्य तत् (बहु०) । लभते=लभ+लट्+त । "अधरबिम्ब" यह पद दमयन्तीके ओष्ठका प्रतिपादन करनेके लिए अधरं बिम्बं (बिम्बफलम्) यस्मात्तत् इस प्रकार बहुव्रीहि समाससे अबाधित अन्वर्थ हो जाता है । अन्य स्त्रीके ओष्ठको कहनेके लिए 'अधरो बिम्बम् इव' इस प्रकार उपमितकर्मधारय समास करना चाहिए । आकारसे, रक्त वर्णसे और आस्वादसे उत्कृष्ट होनेसे दमयन्तीका ओष्ठ बिम्ब फलसे उत्कृष्ट है—यह तात्पर्य है । इस पद्यमें उपमानभूत बिम्ब फलसे उपमेयभूत दमयन्तीके ओष्ठके आधिक्यका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ २४ ॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

अन्वयः—इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा हृतसारम् इव कृतमध्यबिलं धृतगम्भीरखनीखनीलिम विलोक्यते ॥ २५ ॥

व्याख्या—इन्दुमण्डलं=चन्द्रबिम्बं, दमयन्तीवदनाय=दमयन्तीवदनं निर्मातुं, वेधसा=ब्रह्मणा, हृतसारम् इव=गृहीतश्रेष्ठभागम् इव, कृतमध्य-

बिलं=विहिताऽन्तरच्छिद्रं, सत्, धूमगम्भीरखनीखनीलिम=धृतगभीरनिम्न-गर्ताकाशनैल्यं, विलोक्यते=दृश्यते। ब्रह्मणा दमयन्त्या मुखं निर्मातुं चन्द्र-बिम्बात्सुन्दरभागो गृहीतः, अतो गृहीतसुन्दरभागे चन्द्रबिम्बे छिद्रं सञ्जातं तत्राऽऽकाशस्य नीलिमा पतितः स एव चन्द्रस्य कलङ्क इति भावः। चन्द्रः सकलङ्कः, दमयन्त्या मुखं निष्कलङ्कः। तस्माद्धेतोश्चन्द्रापेक्षया दमयन्तीवदनं मनोहरतरमिति भावः॥ २५॥

अनुवाद—ब्रह्माजीने दमयन्तीके मुखकी रचनाके लिए चन्द्रमण्डलसे श्रेष्ठ भागको हरण कर लिया। अतः उसमें (बीचमें) छेद पड़ गया। उसपर जो आकाशकी नीलिमा है वही कलङ्कके रूप में दिखाई दे रही है॥ २५॥

टिप्पणी—इन्दुमण्डलम्=इन्दोः मण्डलम् (ष० त०)। दमयन्तीवदनाय=दमयन्त्या वदनं, तस्मै (ष० त०), "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी। हृतसारं—हृतः सारो यस्मात् तत् (बहु०)। कृतमध्यबिलं=मध्ये बिलम् (स० त०), कृतं मध्यबिलं यस्य तत् (बहु०)। धृतगम्भीर-खनीखनीलिम=गम्भीरा चाऽसौ खनी (क० धा०), "खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्" इत्यमरः। "कृदिकारादक्तिनः' इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय होकर ईकारान्त भी खनी शब्द हो जाता है। यहाँपर खनीका प्रसिद्ध अर्थ खान न होकर गर्त होता है। नीलस्य भावो नीलिमा, नील+इमनिच्, खस्य नीलिमा (ष० त०), गम्भीरखन्यां खनीलिमा (स० त०), धृतो गम्भीरखनी-खनीलिमा येन तत् (बहु०)। ब्रह्माजीने चन्द्रबिम्बस्थ उत्कृष्ट भाग तो दमयन्ती का मुख बनानेके लिए निकाल लिया। तब उसके निम्न गर्तमें आका-शकी जो नीलिमा पड़ गई वही कलङ्कके रूपमें प्रसिद्ध है। चन्द्रमा में कलङ्क है दमयन्तीका मुख निष्कलङ्क होनेसे उससे उत्कृष्ट है यह तात्पर्य है। विलो-क्यते=वि+लोक+लट् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें कलङ्कका अपह्नव करके आकाशकी नीलिमाका आरोप करनेसे अपह्नुति, 'कृतमध्यबिल' यहाँपर पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग, 'हृतसारम् इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा, इस तरह अङ्गाङ्गि-भावसे सङ्कर। आकाश रूपरहित द्रव्य है। अतः उसमें महाकविने लोक-प्रसिद्धि के अनुसार नीलिमाका वर्णन किया है॥ २५॥

धृतलाञ्छनगोमयाऽञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानकम्॥ २६॥

अन्वयः—विधि धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डरं विधुं विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानकं भ्रमयति, उचितम् ॥ २६ ॥

व्याख्या—विधिः=ब्रह्मा, धृतलाञ्छनगोमयाऽञ्चनं=गृहीतमृगचिह्नगोमयसंश्लेषणम्, आलेपनपाण्डरं=पिष्टोदकशुक्लवर्णं, तत्सदृशनिजकान्तिसुधाधवलितं, विधुं=चन्द्रमसं, विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानकं=दमयन्तीमुखारातिक्र रावं, किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः। भ्रमयति=भ्रमणं कारयति, उचितं=योग्यम्, लोकोत्तरत्वादिति भावः। एवं नीराजयन्तीति देशाऽऽचारः ॥२६॥

अनुवाद—ब्रह्माजी गोमयके सदृश, कलङ्कसे युक्त और पिष्टजलके समान सफेद चन्द्रमाको दमयन्तीके मुखकी आरती उतारनेके लिए मृत्तिकापात्रके समान जो घुमाते हैं, वह उचित है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—धृतलाञ्छनगोमयाऽञ्चनं=गोः पुरीषं गोमयं, 'गो' शब्दसे 'गोश्च पुरीषे' इस सूत्र से मयट् प्रत्यय। गोमयेन अञ्चनम् (तृ० त०)। धृतं लाञ्छनम् एव गोमयाऽञ्चनं येन, तम् (बहु०)। आलेपनपाण्डरम्=आलेपनेन पाण्डरः, तम् (तृ० त०)। विधुं="विधुः सुधांऽशुः शुभ्रांऽशुः" इत्यमरः। विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानकं=विदर्भजाया आननम् (ष० त०), तस्य नीराजनं (ष० त०), तस्य वर्द्धमानकं, तत् (ष० त०)। "शरावो वर्द्धमानकः" इत्यमरः। भ्रमयति=भ्रम+णिच+लट्+तिप्। "मितां ह्रस्वः" इससे ह्रस्व हुआ है। जैसे लोकमें नीराजना करनेके लिए और दृष्टदोषको हटानेके लिए गोबर और पिष्टजलसे लेप करके वर्द्धमान (मिट्टीके पात्र) को घुमाते हैं; उसी तरह ब्रह्माजी दमयन्तीके मुखमें नीराजन करनेके लिए गोबरके समान कलङ्कसे युक्त और पिष्टजलके समान अपनी किरणसे सफेद चन्द्ररूप वर्धमान (मृतिकापात्र) को घुमाते हैं। चन्द्रमासे दमयन्तीका मुख सुन्दर है, यह तात्पर्य हैं। इस पद्यमें साङ्गरूपक और चन्द्रमाके भ्रमणका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णनकरनेसे अतिशयोक्ति है। इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ २६ ॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मभाजि तन्मुखात्।
अधुनाऽपि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मं तन्मुखात् अभाजि, (अत एव) अधुना अपि भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनं न उज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—सुषमाविषये=परमशोभाविषये, परीक्षणे=परीक्षायां, जल-

दिव्यशोधने कृते सतीति भावः। निखिलं=समस्तं, पद्मं=कमलं, तन्मुखात्=दमयन्त्याननात्, अभाजि=अभञ्जि, स्वयमेव भग्नमभूदित्यर्थः। अत एव अधुना अपि=साम्प्रतम् अपि, भङ्गलक्षण=पराजयचिह्नं, सलिलोन्मज्जनं=जलादूर्ध्वभवनं, न उज्झति=न जहाति, स्फुटम्=इव, जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयचिह्नत्वस्मरणादिति भावः ॥ २७ ॥

अनुवाद—परमशोभाकी परीक्षामें सम्पूर्ण कमल दमयन्तीके मुखसे हार गये. इसी कारणसे अब तक वे पराजयके चिह्नरूप जलसे उन्मज्जन नहीं छोड़ रहे हैं; ऐसा मालूम हो रहा है ॥ २७ ॥

टिप्पणी—सुषमाविषये=सुषमा विषयो यस्मिन् तत्, तस्मिन् (बहु०)। "सुषमा परमा शोभा" इत्यमरः। तन्मुखात्=तस्या मुखं, तस्मात् (ष०त०)। अभाजि="भञ्जो आमर्दने" इस धातुसे कर्मकर्तामें लुङ्, "चिण्भावकर्मणोः" इससे चिण्, "भञ्जेश्च चिणि" इससे विकल्पसे 'न' का लोप, अतः एक पक्षमें "अभञ्जि" ऐसा भी रूप बनता है। भङ्गलक्षणं=भङ्गो लक्षणं यस्य तत् (बहु०)। सलिलोन्मज्जनं=सलिलात् उन्मज्जनं, तत् (प० त०)। उज्झति="उज्झ उत्सर्गे" धातुसे लट्+तिप। दमयन्तीका मुख और कमलमें से किसमें अधिक शोभा है इसकी परीक्षाके लिए जल दिव्य किया गया। उसमें कमल जलमें न डूबकर ऊपर उठा हुआ है, अत एव उसका पराजय हुआ है, दमयन्तीके मुखके समान उसमें शोभा नहीं है, इसकी यहाँपर उत्प्रेक्षा की गई है। जलदिव्यके विषयमें योगीश्वर याज्ञवल्क्यने लिखा है—

> "समकालमिषुं मुक्तमानीयाऽन्यो जवी नरः।
> गते तस्मिन्निमग्नाऽङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥" २।१०९ ॥

इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, "स्फुटम्" यह पद उत्प्रेक्षाका वाचक है।

> **धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ।**
> **नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥**

अन्वयः—तद्भ्रुवौ विश्वजयाय उदिते रतिपञ्चबाणयोः धनुषी, तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः रतिपञ्चबाणयोः नलिके न ॥ २८ ॥

व्याख्या—तद्भ्रुवौ=दमयन्तीभ्रुवौ, विश्वजयाय=जगद्विजयाय, उदिते=उत्पन्ने, रतिपञ्चबाणयोः=रतिकामदेवयोः, धनुषी=चापौ, ध्रुवम्। एवं च तदुच्चनासिके=दमयन्त्युन्नतनासाच्छिद्रे, त्वयि=भवति, नालीकविमुक्ति-

कामयोः=बाणप्रहारार्थिनोः, रतिपञ्चबाणयोः=रतिकामदेवयोः, नलिके न= शराऽऽधारनलौ न ? अपि तु नलिके एवेति भावः। दमयन्त्या भ्रूनासिकं दृष्ट्वा सर्वोऽपि कामवशो भवतीति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥

अनुवाद—दमयन्तीकी भौंहें जगत्‌को जीतनेके लिए उत्पन्न रति और कामदेवके धनुष हैं क्या ? उसकी ऊँची नासिकाके दो छिद्र आपमें बाण छोड़नेकी इच्छा करने वाले रति और कामदेवकी नलियाँ तो नहीं है ॥ २८ ॥

टिप्पणी—तद्भ्रुवौ=तस्या भ्रुवौ (ष० त०)। विश्वजयाय=विश्वस्य जयः, तस्मै (ष० त०), "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी। उदिते= उद्+इण्+क्त+ङि। रतिपञ्चबाणयोः=पञ्च बाणा यस्य सः (बहु०)। पाँच बाण होनेके कारण कामदेवको "पञ्चबाण" वा "पञ्चशर" कहते हैं, पाँच बाण जैसे—

"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥"

अर्थात् कमल, अशोक पुष्प, आमका फूल, नवमल्लिका और नीलकमल—ये पाँच प्रकार के पुष्प कामदेव के बाण हैं। रतिश्च पञ्चबाणश्च रतिपञ्चबाणौ, तयोः (द्वन्द्व०)। तदुच्चनासिके=उच्चे च ते नासिके (क० धा०)। नासिकाके छिद्रोंके द्वित्वसे नासिकामें द्विवचन किया गया है। तस्या उच्चनासिके (ष० त०) त्वयि=विषयमें सप्तमी। नालीकविमुक्तिकामयोः=विमुक्तिं कामयेते इति विमुक्तिकामौ, विमुक्ति-उपपदपूर्वक "कमु कान्तौ" धातुसे "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" इस सूत्रसे ण प्रत्यय (उपपद०)। नालीकानां विमुक्तिकामौ, तयोः (ष० त०)। "नालीकं पद्मखण्डे स्त्री, नालीकः शरशल्ययोः।" इति विश्वः। यहाँपर भ्रूयुग्ममें धनुर्युग्मका आरोप होनेसे पूर्वार्द्धमें रूपक और उत्तरार्द्धमें नलिकामें नासिकात्वकी संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे शूर ! जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहां श्रियः करलीलया गृहयालुः स तव परं सदृशी ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे शूर=हे वीर !, जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा=सलिलदुर्गस्थबिसजयिबाहुः, सा=दमयन्ती, मित्रजुषाम् अपि=अर्कसेविनां, सुहृत्सहायसम्प-

न्नानाम् अपि, सरोरुहां=कमलानां, श्रियः=शोभाः, सम्पदश्च, करलीलया=हस्तविलासेन, बलिग्रहणेन च, गृहयालुः=ग्रहणशीला, सा=दमयन्ती, तव=भवतः, परम्=अत्यर्थं, सदृशी=तुल्या, दमयन्त्या भुजौ मृणालादपि कोमलौ, दमयन्त्याः पाणिः कमलादपि मनोहर इति भावः ॥ २९ ॥

अनुवाद—हे वीर ! जलरूप किलेमें रहनेवाले कमलको जीतनेवाली बाँहोंवाली वह (दमयन्ती) सूर्यकी सेवा करनेवाले वा मित्रसहायसे सम्पन्न कमलोंकी शोभा वा सम्पत्तियोंको हाथके विलाससे वा करग्रहणके रूपमें लेनेवाली, आपके लिए अत्यन्त योग्य है ॥ २९ ॥

टिप्पणी—शूरः="शूरो वीरश्च विक्रान्तः" इत्यमरः । जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा=जलम् एव दुर्गः (रूपक०); तस्मिन् तिष्ठन्तीति जलदुर्गस्थानि, जलदुर्ग+स्था+कः (उपपद०), तानि च तानि मृणालानि (क० धा०), तानि जयत इति जलदुर्गस्थमृणालजितौ, जलदुर्गस्थमृणाल+जि+क्विप् । तादृशौ भुजौ यस्याः सा (बहु०), मित्रजुषां=मित्रं जुषन्त इति मित्रजूंषि तेषाम्, मित्र+जुष्+क्विप् । मित्र पदका अर्थ यहाँपर सूर्य और सुहृद है। "मित्रं सुहृदि, मित्रोऽर्कः" इति विश्वः । सरोरुहां=सरसि रोहन्तीति सरोरुंहि, तेषां, सरस्+रुह्+क्विप् (उपपद०)+आम् । श्रियः="श्रीलक्ष्मीवेशसम्पत्सु भारतीशोभयोरपि" इति त्रिकाण्डशेषः । "गृहयालुः" इस कृदन्तपदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृतिः" इससे प्राप्त षष्ठीका "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे निषेध होनेसे कर्ममें द्वितीया । करलीलया=करयोः अथवा कराणां लीला, तया (ष० त०), "बलिहस्तांऽशवः कराः" इति "लीला विलासक्रिययोः" इति चामरः । गृहयालुः=गृहयते इति, "गृह ग्रहणे" इस चौरादिक धातुसे "स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रसे आलुच् प्रत्यय । "गृहयालुर्ग्रहीतरि" इत्यमरः । जो जलरूप किलेमें रहनेवाले मृणालोंको भी अपने बाहुसे जीतती हैं और जो सूर्यका अथवा मित्रका आश्रय लेनेवाले कमलोंकी शोभा वा सम्पत्तिको भी अपने हाथोंके विलाससे अथवा करके रूपमेंसे ग्रहण करती है— ऐसी वीर नारी आप जैसे वीरके लिए बहुत ही योग्य है—यह तात्पर्य है । इस पद्यमें दमयन्ती और नलरूप योग्य व्यक्तियोंकी अनुरूपतासे श्लाघा होनेसे "सम" अलङ्कार है, जैसे कि "समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः ।" सा० टि० १०–९२ । मित्र, कर, लीला और श्री का सूर्य, बलि, क्रिया और सम्पत्तिसे भेद होनेपर भी श्लेषसे अभेदका

अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है। अतएव इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाऽभिविधिं विधित्सुनी।
विधिनाऽपि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सुदृशि स्वाऽभिविधिं विधित्सुनी शिशुतातदुत्तरे वयसी विधिना रोमरेखया प्रविभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यतः ॥ ३० ॥

व्याख्या—सुदृशि = सुलोचनायां, सुन्दर्यां दमयन्त्यामिति भावः। स्वाऽभिविधिं = निजव्याप्तिं, विधित्सुनी = विधातुम्, इच्छती, शिशुतातदुत्तरे = बाल्ययौवने, वयसी = अवस्थे, विधिना = ब्रह्मणा, सीमाभिज्ञेनेति भावः। रोमरेखया = लोमपङ्क्त्या, सीमाचिह्नेनेति भावः। प्रविभज्य = प्रविभागं कृत्वा, रोमोत्पत्तेः पूर्वमत्र शैशवेन स्थातव्यं, ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वेति भावः। कृतसीम्नी अपि = विहितमर्यादे अपि = न रज्यत = न सन्तुष्यतः, रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः। एतेन वयःसन्धिरुक्तः ॥ ३० ॥

अनुवाद—सुन्दरी दमयन्तीमें अपनी प्रभुताको रखनेकी इच्छा करनेवाली बचपन और जवानी अवस्थाएँ ब्रह्माजीके रोमकी रेखासे विभाग करके मर्यादा करनेपर भी सन्तुष्ट नहीं होती हैं ॥ ३० ॥

टिप्पणी—सुदृशि = शोभने दृशौ यस्याः सा सुदृक्, तस्याम् (बहु०)। स्वाऽभिविधिं = स्वस्य अभिविधिः, तम् (ष० त०)। विधित्सुनी = विधातुमिच्छुनी, वि + धा + सन् + उ + औ। शिशुतातदुत्तरे = शिशोर्भावः शिशुता, शिशु + तल् + टाप्। तस्या उत्तरम् (ष० त०)। शिशुता च तदुत्तरं (यौवनम्) च (द्वन्द्वः), वयसी = "खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः। रोमरेखया = रोम्णां रेखा तया (ष० त०)। प्रविभज्य = प्र + वि + भज् + क्त्वा (ल्यप्)। कृतसीम्नी = कृता सीमा ययोस्ते (बहु०)। रज्यतः = "रञ्ज रागे" धातुसे लट् + तस्। "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इससे नकारका लोप। इस पद्यमें प्रस्तुत वयोविशेषके साम्यसे अप्रस्तुत विवादकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ ३१ ॥

अन्वयः—कान्तिझरैः अगाधतां गमिते तद्वपुषि प्रसर्पतोः स्मरयौवनयोः द्वयोः अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवतः खलु ॥ ३१ ॥

व्याख्या—श्लोकत्रयेण पयोधरौ वर्णयति-अपीति । कान्तिझरैः=लावण्यप्रवाहैः, अगाधताम्=अतलस्पर्शताम्, दुरवगाहतामिति, भावः । गमिते=प्रापिते, तद्वपुषि=दमयन्तीशरीरे, प्रसर्पतोः=प्रसर्पणं कुर्वतोः, प्लवमानयोरिति भावः । स्मरयौवनयोः=कामतारुण्ययोः, द्वयोरपि=उभयोरपि, उभौ=द्वौ, कुचौ=पयोधरौ, प्लवकुम्भौ=तरणकलशौ, भवतः=विद्येते, खलु=निश्चयेन, लोकेऽपि तरद्भिरनिमज्जनाय कुम्भादिकमाश्रीयते इति प्रसिद्धम् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—लावण्यके प्रवाहोंसे अतलस्पर्शी दमयन्तीके शरीरमें, तैरते हुए कामदेव और तारुण्य दोनोंको दमयन्तीके दोनों कुच तैरनेके लिए घड़े हो रहे हैं ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—कान्तिझरैः=कान्तीनां झरा, तैः (ष० त०) "वारिप्रवाहो निर्झरो झरः" इत्यमरः । गमिते=गम्+णिच्+क्त+ङि । तद्वपुषि=तस्या वपुः, तस्मिन् (ष० त०) । प्रसर्पतोः=प्रसर्पत इति प्रसर्पति, तयोः, प्र+सृप्+लट् (शतृ)+ओस् । स्मरयौवनयोः=स्मरश्च यौवनं च स्मरयौवने, तयोः (द्वन्द्वः) । प्लवकुम्भौ=प्लवस्य कुम्भौ (ष० त०) । इस पद्यसे दमयन्तीके शरीरमें कान्तिकी प्रचुरता, कामदेव और यौवनका प्रादुर्भाव और दमयन्तीके कुचोंका विस्तार ऐसे अर्थ सूचित होते हैं । दमयन्तीके कुचोंमें कामदेव और यौवनके प्लवनकुम्भत्वकी उत्प्रेक्षासे कुचोंकी अतिशय वृद्धि व्यङ्ग्य होती है । इस प्रकार अलङ्कार से वस्तुध्वनि है ॥ ३१ ॥

> **कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ।**
> **स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥**

अन्वयः—निजहेतुदण्डजः चक्रभ्रमकारितागुणः कलसे किमु ? यत् स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रमम् आतनोति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—निजहेतुदण्डजः=स्वकारणदण्डजन्यः, चक्रभ्रमकारितागुणः=कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वधर्मः, कलसे किमु=दण्डकार्यरूपे घटे किम्, इति शेषः । यत्=यस्मात् कारणात्, सः=कलसः, तदुच्चकुचौ=दमयन्त्युन्नतपयोधरौ भवन्=सन्, दमयन्तीकुचस्वरूपेण परिणतः सन्निति भावः । प्रभाझरचक्रभ्रमं=प्रभाझरे (लावण्यप्रवाहे) चक्रभ्रमम् (चक्रवाकभ्रान्ति, कुलालदण्डभ्रमणं च), आतनोति=प्रकरोति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—अपने कारण दण्डसे उत्पन्न चक्र भ्रमणकारकत्वस्वरूप गुण कलशरूप कार्यमें संक्रान्त हुआ है क्या ? जिस कारणसे कि वह (कलस) दमयन्तीके उच्च कुचोंके स्वरूपमें परिणत होता हुआ लावण्यके प्रवाहमें चक्रवाककी भ्रान्ति वा कुम्भकारके दण्डभ्रमणको कर रहा है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—निजहेतुदण्डजः=निजश्चासौ हेतुः (क० धा०) स चाऽसौ दण्डः (क० धा०), तस्माज्जातः, निजहेतुदण्ड+जन्+डः। चक्रभ्रमकारितागुणः=भ्रमणं भ्रमः, "भ्रमु अनवस्थाने" धातुसे "भावे" इस सूत्रसे भावमें घञ्, और "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" इस सूत्रसे वृद्धि का निषेध। "भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुविन्दभ्रमयोरपि" इति मेदनी। चक्रस्य भ्रमः (ष० त०) 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाऽङ्गयोः। ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्राऽस्त्रयोरपि" इति विश्वः। चक्रभ्रमं करोरीति तच्छीलः चक्रभ्रमकारी, चक्रभ्रम+कृ+णिनि+सु(उपपद०) चक्रभ्रमङ्कारिणो भावः चक्रभ्रमकारिता, चक्रभ्रमकारिन्+तल्+टाप्। सा एव गुणः (रूपक०) "गुणः प्रधाने रूपादौ" इत्यमरः। तदुच्चकुचौ=उच्चौ च तौ कुचौ (क० धा०)। तस्या उच्चकुचौ (ष० त०)। भवन्=भवतीति, भू+लट्+शतृ+सु। प्रभाझरचक्रभ्रमं=प्रभाणां झरः (ष० त०), चक्रस्य भ्रमः (ष० त०) प्रभाझरे चक्रभ्रमः, तम् (स० त०) चक्रवाकभ्रान्ति कुलालदण्डभ्रभणं च। आतनोति=आङ्+तनु+लट्+तिप्।

महाकविने इस पद्यमें न्यायशास्त्रमें अपनी अभिज्ञता दरसाई है। न्यायशास्त्र के अनुसार कारणके तीन भेद होते हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण। जिसमें समवाय सम्बन्धसे विद्यमान होकर कार्य उत्पन्न होता है उसे "समवायिकारण" कहते हैं, जैसे घटका कपाल समवायिकारण है, वेदान्ती इसे ही "उपादान कारण" कहते हैं। समवायिकारण द्रव्य ही होता है। घटका कपालद्वयसंयोग "असमवायिकारण" है। असमवायिकारण गुण वा कर्म होता है, द्रव्य नहीं। समवायिकारण और असमवायिकारणसे भिन्न कारणको निमित्तकारण कहते हैं, जैसे घटका कुलाल, दण्ड आदि निमित्त कारण हैं। "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" अर्थात् कारणके गुण कार्यके गुणोंको बनाते हैं। जैसे कि पटका तन्तु समवायिकारण है, शुक्ल तन्तु शुक्ल पटका और कृष्ण तन्तु कृष्ण पटका निर्माण करते हैं यह नियम मात्र समवायिकारणमें चरितार्थ होता है असमवायिकारण और निमित्तकारणमें

नहीं। परन्तु कलश (घट) दमयन्तीके कुचस्वरूपमें परिणत होकर लावण्य-प्रवाहमें जो कुलालचक्रका भ्रम उत्पन्न कर रहा है सो उस कलशमें उसके हेतु (निमित्तकारण) दण्डसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। दमयन्तीके कुचकलशमें चक्रवाककी भ्रान्ति होती है, यह दूसरा अर्थ भी होता है। इस प्रकार दमयन्तीके कुचकलशका निमित्तकारण कुलालचक्रका भ्रम कार्यभूत दमयन्तीके कुचकलशमें भी देखा जाता है; यह तात्पर्य है।

इस पद्यमें "तदुच्चकुचो भवन्" इस अंशमें रूपक, पूर्वार्द्धमें उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें उत्प्रेक्षा के वाचक 'इव' आदि शब्दोंके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और चक्रका कुलालभाण्ड और चक्रवाक, भ्रमका भ्रमण और भ्रान्ति इनमें भेद होने पर भी श्लेषकी महिमासे अभेद अध्यवसाय होनेसे दो अतिशयोक्तियाँ हैं, इस प्रकारसे सङ्कर हैं ॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दमस्वसुः चिकुरैः निर्मितबर्हगर्हणः शिखी षण्मुखं भजते खलु। दमस्वसुः कुचशोभया जितकुम्भः इभराट् अपि जम्भरिपुं भजते खलु ॥ ३३ ॥

व्याख्या—दमस्वसुः = दमभगिन्याः, दमयन्त्या इत्यर्थः। चिकुरैः = केशकलापैः, निर्मितबर्हगर्हणः = कृतपिच्छनिन्दः, शिखी = मयूरः, षण्मुखं = षडाननं, कार्तिकेयमित्यर्थः, भजते = आश्रयते, खलु = निश्चयेन। तथैव दमस्वसुः = दमयन्त्याः, कुचशोभया = पयोधरकान्त्या, जितकुम्भः = पराजितमस्तकपिण्डः, इभराट् अपि = ऐरावतः अपि, जम्भरिपुं = जम्भभेदिनम् इन्द्रमित्यर्थः, भजते = आश्रयते, खलु = निश्चयेन, उभयत्रापि भीत्या उत्कर्षप्राप्तीच्छया वेति बोद्धव्यम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—दमयन्तीके केशकलापोंसे पिच्छोंका तिरस्कार किये जानेसे मयूरने कार्तिकेयका आश्रय लिया है। उसी प्रकार दमयन्तीके कुचोंकी कान्तिसे मस्तकपिण्डोंके परास्त होनेसे ऐरावत हाथीने भी इन्द्रका आश्रय लिया है ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—दमस्वसुः = दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०)। निर्मितबर्हगर्हणः = बर्हाणां गर्हणा (ष० त०), "पिच्छबर्हे नपुंसके" इत्यमरः। निर्मिता बर्हगर्हणा यस्य सः (बहु०)। शिखी = शिखा (चूडा) अस्यास्तीति, शिखा-शब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि। "शिखावलः शिखी केकी" इत्यमरः।

षण्मुखं=षट् मुखानि यस्य सः, तम् (बहु०) "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इससे अनुनासिक ण आदेश, एक पक्षमें "षड्मुखम्"। "कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः" इत्यमरः। भजते="भज सेवायाम्" धातुसे लट्+त। कुचशोभया=कुचयोः शोभा, तया (ष० त०)। जितकुम्भः=जितौ कुम्भौ यस्य सः (बहु०)। इभराट्=राजति इति राट्, "राजृ दीप्तौ" धातुसे "सत्सूद्विष०" इत्यादि सूत्रसे क्विप् प्रत्यय। इभानां राट् (ष० त०)। जम्भरिपुं=जम्भस्य रिपुः, तम् (ष० त०), "जम्भभेदी हरिहयः स्वाराण् नमुचिसूदनः" इत्यमरः। इस पद्यमें "भजते" इस एक क्रियामें अप्रस्तुत शिखी और इभराट् इनका कर्तृत्वसे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता, षण्मुख और जम्भरिपुके भजनके प्रति निर्मितबर्हगर्हणत्व और जितकुम्भत्वकी हेतुतासे पदार्थहेतुक दो काव्यलिङ्ग तथा वैसे हेतुसे भजनद्वयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन करनेसे अतिशयोक्तियाँ हैं, इस प्रकार इन अलङ्कारोंं सङ्कर है ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—दमस्वसुः उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि कृतम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—दमस्वसुः=दमयन्त्या, उदरं=जठरं, नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन = निम्नमध्यप्रदेशपश्चाद्भागतास्फुटीभवदवृद्धाङ्गुलिन्यासस्थानेन, मुष्टिना=सम्पीण्डिताङ्गुलिपाणिना, चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि= अङ्गुलिचतुष्टयाऽन्तरालनिःसृतबलित्रयशोभि, कृतं=विहितं, कौतुकिना विधिनेति शेषः। मुष्टिग्राह्यमध्येयं दमयन्तीति भावः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—दमयन्तीका पेट, ब्रह्माजीने पीठका मध्यभाग नत होनेसे अंगूठेका स्थान व्यक्त होनेवाली मुट्ठीसे चार अंगुलियोंके बीचसे निकली हुई तीन उदररेखाओंसे शोभित बनाया है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—दमस्वसुः=दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०)। उदरं= "पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्" इत्यमरः। नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन= नतः मध्यः यस्य तत् (बहु०), "मध्यमं चाऽवलग्नं च मध्योऽस्त्री" इत्यमरः। नतमध्यं पृष्ठं यस्य (उदरस्य) तत् (बहु०), तस्य भावः तत्ता, (नतमध्यपृष्ठ+तल्+टाप्)। स्फुरत् अङ्गुष्ठपदं यस्य सः (बहु०)। नतमध्य-

पृष्ठतया स्फुरदङ्गुष्ठपदः, तेन (तृ० त०)। चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि =चतसृणाम् अङ्गुलीनां समाहारः चतुरङ्गुलम्, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इससे समास "सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः" इससे उसकी द्विगुसञ्ज्ञा, "स नपुंसकम्" इससे नपुंसकलिङ्गता और "तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः सङ्ख्याऽव्ययादेः" इस सूत्रसे समासाऽन्त अच् प्रत्यय। चतुरङ्गुलस्य मध्याः (ष० त०)। चतुरङ्गुलमध्येभ्यो निर्गतम् (ष० त०)। तिसृणां बलीनां समाहारः त्रिबलि, पहलेके समान द्विगुसमास आदि कार्य। चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतं च तत् त्रिबलि (क० धा०) तेन भ्राजते तच्छीलं, चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिबलि + भ्राज् + णिनि + सु (उपपद०)। कृतं = कृ + क्त (कर्ममें)। दमयन्तीकी कमर मुट्ठीसे ग्रहण करने योग्य (पतली) है। मुट्ठीसे ग्रहण करनेसे अंगूठेसे प्रेरणा करनेसे पीठके बीच में नम्रता और पेटमें चार अंगुलियोंसे प्रेरणा करनेसे तीन उदररेखाओंके आविर्भावकी उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द 'इव' आदिके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

उदरं परिमातु मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ?
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्बलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—कः अपि कुतुकी दमस्वसुः उदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? यत् सहेमकाञ्चिभिः बलिभिः धृततच्चतुरङ्गुलि इव भाति ॥ ३५ ॥

व्याख्या—प्रकारान्तरेण उदरमेव वर्णयति—उदरमिति। कः अपि= अज्ञातनामधेयो जनः कुतुकी=कुतूहली सन्, दमस्वसुः=दमयन्त्याः। उदरं= जठरं, मुष्टिना=सम्पीण्डिताऽङ्गुलिपाणिना, परिमाति किमु=परिच्छिनत्ति किम् ?, यत्=यस्मात्कारणात्, सहेमकाञ्चिभिः=सुवर्णमेखलासहिताभिः, बलिभिः=तिसृभिः उदररेखाभिः, धृततच्चतुरङ्गुलि इव=धृतपरिमात्रङ्गुली-चतुष्टयम् इव, भाति=शोभते ॥ ३५ ॥

अनुवाद—कोई पुरुष कुतूहलसे युक्त होकर दमयन्ती के पेटको मुट्ठीसे मापता है क्या ? जो कि सुवर्णमेखला के साथ तीन उदररेखाओंसे दमयन्तीका पेट, नापनेवाले की चार अंगुलियोंके निशानसे युक्तके समान मालूम पड़ता है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—कुतुकी=कुतुकम् अस्याऽस्तीति, कुतुक+इनि। "कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्" इत्यमरः। परिमाति=परि—उपसर्गपूर्वक 'माङ् माने" धातुसे लट्। किमु=यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। सहेम-

काञ्चिभिः=हेम्नः काञ्चिः (ष० त०)। तया सहिताः सहेमकाञ्चयः, ताभिः (तुल्ययोगबहु०)। धृततच्चतुरङ्गुलि=चतुःसङ्ख्यका अङ्गुल्यः चतुरङ्गुल्यः (मध्यमपदलोपी स०), तस्य (परिमातुः) चतुरङ्गुल्यः (ष० त०) धृताः तच्चतुरङ्गुल्यो येन तत् (बहु०)। तीन उदररेखाएँ और चौथी हेमकाञ्ची (सुवर्णमेखला) इस प्रकार मापनेवालेकी मुट्ठीकी चार अङ्गुलियोंके समान प्रतीति होती हैं, यह तात्पर्य है। पहलेके पद्यमें तीन उदररेखाओंकी चार अङ्गुलियोंके मध्यसे निकलनेकी उत्प्रेक्षा की गई है, इसमें काञ्चीसे युक्त उन्हीं उदररेखाओंकी अङ्गुलिचतुष्टयरूपमें उत्प्रेक्षा की गई है, यह भेद है। इस पद्य में दो उत्प्रेक्षाओंका सङ्कर है ॥ ३५ ॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेककचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत् विधिः मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया एकक-चक्रचारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ॥ ३६ ॥

व्याख्या–पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत्=विशालवृत्तदमयन्तीकटिपश्चाद्भागनिर्माता, विधिः=ब्रह्मा, मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया=रविरथनिर्माणाऽभ्यासपाटवेन, एककचक्रचारिणम्=एकाकिरथाऽङ्गचरणशीलं, मान्मथं=मन्मथसम्बन्धिनं, रथं=स्यन्दनं, निर्मित्सति किमु=निर्मातुम् इच्छति किम्?, ब्रह्मा सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किम्? इति भावः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—विशाल और गोल दमयन्तीके नितम्बको बनानेवाले ब्रह्माजी सूर्यके रथके निर्माणकी अभ्यासपटुतासे एक ही चक्रसे चलनेवाले कामदेवके रथको बनाना चाहते हैं क्या ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत्="पृथुश्चाऽसौ वर्तुलः" (क० धा०), "विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालम्" इति "वर्तुलं निस्तलं वृत्तम्" इत्यप्यमरः। तस्या नितम्बः (ष० त०), "पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः" इत्यमरः। पृथुवर्तुल-श्चाऽसौ तन्नितम्बः (क० धा०), तं करोतीति, पृथुवर्तुलतन्नितम्ब+कृ+क्विप्+सु (उपपद०)। मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया=मिहिरस्य स्यन्दनः (ष० त०), तस्य शिल्पं (ष० त०), तस्य शिक्षा, तया (ष० त०)। एककचक्रचारिणम्=एकम् एव एककम् 'एक' शब्दसे 'एकादाकिनिच्चाऽसहाये' इस सूत्रसे कन् प्रत्यय, 'एकाकी त्वेक एककः' इत्यमरः। एककं च तत् चक्रं (क० धा०), तेन चरतीति तच्छीलः, तम्, एककचक्र+चर+णिनि+

अम् (उपपद०)। मान्मथं = मन्मथस्य अयं मान्मथः, तम्, मन्मथ शब्दसे 'तस्येदम्' इस सूत्रसे अण् और 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्रसे आदिवृद्धि। निर्मित्सति = निर्-उपसर्गपूर्वक-माङ् धातुसे सन् + लट् + तिप्। 'सनि मीमाधुरभलभशकपतपदामच इस्' इससे इस् आदेश 'सः स्यार्धधातुके' इससे सकारके स्थानमें तकार आदेश और 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इस सूत्रसे अभ्यासका लोप होता है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेण सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम्।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सुन्दरी परिणाहिना ऊरुयुगेण रम्भां तरुं परं जिष्णुः किमु? धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीं तां तरुणीम् अपि जिष्णुः एव ॥ ३७ ॥

व्याख्या—सुन्दरी = रुचिराङ्गी, दमयन्तीत्यर्थः। परिणाहिना = विपुलेन, ऊरुयुगेण = सक्थियुग्मेन, रम्भां = रम्भां नाम, तरुं = वृक्षं, परं = केवलं, जिष्णुः = जयशीला इति, किमु = किं वक्तव्यम्, अपि तु धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीं—कुबेरपुत्रतपःफलभूतकुचां, तां = प्रसिद्धां रम्भां, तरुणीम् अपि = युवतीम् अपि, जिष्णुः एव = जयशीला एव। दमयन्ती ऊरुसौन्दर्येण न रम्भां नाम तरुमेव रम्भां नामाऽप्सरोविशेषमपि जितवतीति भावः ॥ ३७ ॥

अनुवाद—सुन्दरी दमयन्तीने विशाल दोनों ऊरुओंसे रम्भा (केला) नामके पेड़को जीत लिया यह क्या कहना है? कुबेरके पुत्र नलकूबरकी तपस्याके फलभूत स्तनोंवाली रम्भा नामकी तरुणीको भी जीत ही लिया है ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—सुन्दरी = सुन्दर शब्द से स्त्रीत्वविवक्षामें 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्रसे ङीप्। परिणाहिना = परिणाहः अस्याऽस्तीति परिणाहि, तेन, परिणाह + इनि + टा। 'परिणाहो विशलता' इत्यमरः। ऊरुयुगेण = ऊर्वोर्युगं, तेन (ष० त०), 'कुमति च' इससे नकारके स्थानमें णत्व। 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः। रम्भां = 'रम्भा कदल्यप्सरसोः' इति विश्वः। 'रम्भा' शब्दसे 'जिष्णुः' पदके योगमें 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठीकी प्राप्ति थी, 'न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इससे उसका निषेध होनेसे कर्ममें द्वितीया। जिष्णुः = जयशीला, 'जि' धातुसे 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इस सूत्रसे ग्स्नु प्रत्यय। धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीं = धनं ददातीति धनदः, धन + दा + कः (उपपद०)। 'मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाऽधिपः" इत्यमरः धनदस्य अपत्यं (ष०त०) तस्य तपः (ष० त०)। फले इव स्तनौ यस्याः सा फलस्तनी (बहु०)।

धनदाऽपत्यतपसः फलस्तनी, ताम् (ष० त०)। रम्भे इव अथवा रम्भाया इव ऊरू यस्याः सा, बहुव्रीहि अथवा व्यधिकरणबहुव्रीहि दोनों समासोंसे दमयन्ती "रम्भोरु" है अर्थात् दमयन्तीके ऊरु कदलीस्तम्भोंके वा रम्भा अप्सरा के समान हैं। अतः वह 'रम्भोरु' पदसे वाच्य है—यह तात्पर्य है। इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें अर्थापत्ति और उत्तरार्द्धमें दमयन्तीके ऊरुओंसे रम्भा (कदली) और रम्भा अप्सराके जयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है। इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्त्रदम्पती ॥ ३८ ॥

अन्वयः—ये जलजे रविसेवया इव एतत्पदतां पदम् अवापतुः, ते विधिपत्त्र-दम्पती एत्य रुतः सहंसकीकुरुतः ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—पद्यद्वयेन दमयन्तीचरणौ वर्णयति—जलजे इति। ये जलजे=द्वे पद्मे, रविसेवया इव=सूर्योपासनया इव, एतत्पदतां=दमयन्तीचरणताम् एव, पदं=स्थानम् प्रतिष्ठामिति भावः। अवापतुः=प्रापतुः। ते=द्वे पद्मे, विधिपत्त्रदम्पती=ब्रह्मवाहनजम्पती, ब्रह्मवाहनभूतौ हंसीहंसाविति भावः। एत्य=आगत्य, रुतः=रवात्, कूजनादित्यर्थः। अथवा रुतः=कूजतः। सहंसकीकुरुतः=पादकटकयुक्ते हंसयुक्ते च कुरुतः, ध्रुवम्=इव। द्वे कमले सूर्यसेवया इव दमयन्तीचरणरूपां प्रतिष्ठां प्रापतुः। दमयन्त्याश्चरणौ कमलसदृशा-विति भावः। यत्र कमलं तत्र हंस आगच्छति इति उभयोः सहस्थित्या कमल-सदृशौ दमयन्तीचरणौ "सहंसकीकुरुतः" इति शब्देन पादकटकयुक्तौ अथवा हंसयुक्तौ च कुरुत इव ॥ ३८ ॥

अनुवाद—दो कमलोंने मानों सूर्यकी उपासनासे दमयन्तीके चरणरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लिया। इन दो कमलोंको ब्रह्माके वाहन हंसी और हंस आकर शब्दसे मानों सहंसक पादकटकों से वा हंसोंसे युक्त बनाते हैं ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—जलजे=जले जाते, जल+जन्+ड+औ (उपपद०), रवि-सेवया=रवेः सेवा, तया (ष० त०)। एतत्पदताम्=पदयोर्भावः पदता, पद+तल्+टाप्। 'पदं व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। एतस्याः पदता, ताम् (ष० त०)। अवापतुः=अव+आप्+लिट्+तस् (अतुस्)। ते=यह "जलजे" का सर्वनाम कर्म है। विधिपत्त्रदम्पती=

विधे पत्त्रं (ष० त०), "सर्वं स्याद्वाहनं यानं युग्मं पत्त्रं च धारणम्" इत्यमरः। जाया च पतिश्च दम्पती (द्वन्द्व,), 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्रसे 'जाया' शब्दका 'दम्' भावका निपातन, "दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ" इत्यमरः। विधिपत्त्रे च ते दम्पती (क० धा०)। एत्य=आङ्+इण् +क्त्वा (ल्यप्)। रुतः=रवणं रुत्, तस्याः "रु शब्दे" धातुसे "सम्पदादिभ्यः क्विप्" इस वार्तिकसे क्विप् प्रत्यय और "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इस सूत्रसे तुक् आगम। सहंसकीकुरुतः=हंसौ इव हंसके, 'हंस' शब्दसे "इवे प्रतिकृतौ" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय। हंसकाभ्यां (पादकटकाभ्याम्) सहिते सहंसके (तुल्ययोग-बहु०), "हंसकः पादकटकः" इत्यमरः। असहंसके सहंसके यथा सम्पद्येते तथा कुरुतः, सहंसक+च्वि+कृ+लट्+तस्। ब्रह्माके वाहन हंसी और हंस आकर दो कमलों (दमयन्तीके चरणों) को शब्द करके मानों पादकटकों (नूपुरों) से युक्त बनाते हैं; यह तात्पर्य है। रुतः=शब्द करते हैं, इस पक्षमें 'रु शब्दे' धातुसे लट्+तस्। सहंसकी कुरुतः=हंसाभ्यां सहिते सहंसके (तुल्ययोगबहु०), 'शेषाद्विभाषा' इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय। च्विप्रत्यय पहलेके समान। ब्रह्माके वाहन हंसी और हंस आकर शब्द करते हैं और दमयन्तीके चरण-कमलोंको हंसयुक्त बनाते हैं। ध्रुवम्=यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। दमयन्तीके चरण कमलसरीखे हैं और वे नूपुरयुक्त होकर शब्द करते हैं; यह अभिप्राय है। इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें कमल और हंस की सहस्थिति होनेसे दिव्य कमलोंकी दमयन्तीके चरणत्वमें गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें दिव्यहसोंके सहंसकत्व करनेसे क्रियोत्प्रेक्षा और हंस और हंसक (पादकटक) में भेद होनेपर भी श्लेषसे अभेद-का अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, इस प्रकार इनकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है॥ ३८॥

श्रितपुण्यसरःसरित् कथं न समाधिक्षपिताऽखिलक्षपम्।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि॥ ३९॥

अन्वयः—श्रितपुण्यसरःसरित् समाधिक्षपिताऽखिलक्षपं जलजं दमयन्ती-पदनाम्नि जन्मनि मञ्जुला गतिं कथं न एतु॥ ३९॥

व्याख्या—श्रितपुण्यसरःसरित्=सेवितपवित्रकासारनदीकं, समाधिक्षपिता-ऽखिलक्षपं=ध्यानयापितसमस्तरजनीकं, जलजं=कमलं, दमयन्तीपदनाम्नि= दमयन्तीचरणनामधेये, जन्मनि=जनने, जन्मान्तर इति भावः। मञ्जुलां=

रमणीयाम्, उत्तमामिति भावः। गतिम्=अवस्थां, कथं=केन प्रकारेण, न एतु=न प्राप्नोतु, एत्वेवेति भावः ॥ ३९ ॥

अनुवाद—पवित्र मानस आदि सरोवर और गङ्गा आदि नदियोंकी सेवा करनेवाला और समाधि (ध्यान वा मुद्रण) से समूची रातको बितानेवाला (इस प्रकार तीर्थसेवा और साधन करनेवाला) कमल, दमयन्तीके चरण ऐसे नामवाले जन्मान्तरमें उत्तम गतिको कैसे नहीं प्राप्त करेगा ? (करेगा ही) ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—श्रितपुण्यसरःसरित्=सरांसि च सरितश्च सरःसरितः (द्वन्द्वः)। "कासारः सरसी सरः" इति "अथ नदी सरित्" इत्युभयत्राऽप्यमरः। श्रिताः पुण्याः सरःसरितो येन तत् (बहु०)। समाधिक्षपिताऽखिलक्षपं=समाधिना (ध्यानेन मुकुलीभावेन वा) क्षपिताः (तृ० त०)। "क्षै क्षये" धातुसे णिच् और पुक् आगम होकर क्त प्रत्यय होने से 'क्षपित' पद बनता है, मित् होनेसे 'मितां ह्रस्वः" इससे ह्रस्व। अखिलाश्च ताः क्षपाः (क० धा०)। समाधिक्षपिता अखिलाः क्षपाः येन तत् (बहु०)। जलजं=जले जातम्, जल+जन्+ड (उपपद०)। दमयन्तीपदनाम्नि=दमयन्त्याः पदं (ष०त०) तत् नाम यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०), गतिं="गतिर्मार्गे दशायां च" इति विश्वः। एतु=इण् धातुसे संभावनामें लोट्+तिप्। मानस आदि सरोवर और गंगा आदि नदियोंकी सेवा करनेवाला और समाधिसे समूची रातको बितानेवाला पुरुष जैसे दूसरे जन्ममें उत्तम गतिको प्राप्त करता है, उसी प्रकार सरोवर और नदियोंकी सेवा करने वाला और सूर्यके अदर्शनसे रातभर मुकुलितत्व रूप समाधि करनेवाला कमल जन्मान्तरमें दमयन्तीके चरणत्वकी प्राप्ति कैसे नहीं करेगा ? यह भाव है। इस पद्यमें श्लिष्ट विशेषणों-के साम्यसे कमलमें सरोवर और नदियोंकी सेवा करनेवाले तथा समाधि करनेवाले तपस्वीके व्यवहारका समारोपसे समासोक्ति अलङ्कार है तथा "कथं न एतु" यहाँ पर अर्थापत्ति है। इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

अन्वयः—सरसीः परिशीलितुं गमिकर्मीकृतनैकनीवृता मया सदसत्संशय-गोचरोदरी सा दृशोः अतिथित्वम् अनायि ॥ ४० ॥

व्याख्या—तादृशी दमयन्ती त्वया कथं दृष्टेत्यत आह—सरसीरिति। सरसीः =सरांसि, उपलक्षणमेतत् सरितश्चेति। परिशीलितं=परिचेतुं, विहर्तुमिति भावः। गमिकर्मीकृतनैकनीवृता=गमनफलाश्रयीकृताऽनेकजनपदेन, मया=हंसेन, सदसत्संशयगोचरोदरी=भावाऽभावसन्देहास्पदोदरी, कृशोदरीति भावः, तादृशी सा=दमयन्ती, दृशोः=नेत्रयोः, अतिथित्वं=प्राघुणिकत्वं, ग्राह्यत्वम्। अनायि प्रापिता, अवलोकितेति भावः॥४०॥

अनुवाद—जलाशयोंमें विहार करनेके लिए अनेक देशोंको गमनका कर्म बनानेवाले (भ्रमण करनेवाले) मैंने, है कि नहीं है, ऐसे संशयके विषयभूत उदरवाली दमयन्तीको देखा॥४०॥

टिप्पणी—सरसीः="षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे गौरादिगणमें पाठसे ङीष्। परिशीलितुं=परि+शील+तुमुन्। गमिकर्मीकृतनैकनीवृता=गम् धातुसे धातृका निर्देश करनेके लिए "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इस वार्तिकसे इक् प्रत्यय होकर "गमि" पद बनता है, उसका अर्थ हुआ गम् धातु। गमेः (गम् धातोः) कर्म गमिकर्म (ष० त०)। अगमिकर्म गमिकर्म यथा सम्पद्यते तथा कृताः गमिकर्मीकृताः, गमिकर्म+च्वि+कृ+क्तः। न एके नैके, "सहसुपा" इससे समास। नितरां वर्तन्ते जना येषु ते नीवृतः, नि उपसर्गपूर्वक "वृतु वर्तने" धातुसे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय और "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इसके पूर्वपदका दीर्घ। "नीवृज्जनपदः" इत्यमरः। गमिकर्मीकृता नैके नीवृतो येन सः, तेन (बहु०), सदसत्संशयगोचरोदरी= सच्च असच्च सदसत् (क० धा०), सदसति संशयः (स० त०), तस्य गोचरः (ष० त०)। सदसत्संशयगोचरः उदरं यस्याः सा (बहु०), "नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्तकर्णश्रृङ्गाच्च" इस सूत्रसे स्त्रीत्वविवक्षामें ङीष्। दमयन्ती कृशोदरी है यह तात्पर्य है। सा=मुख्य कर्म, "अनायि" इससे उक्त होनेसे प्रथमा। अतिथित्वम्=अतिथेर्भावः, तत्त्वम् अतिथि+त्वं, गौणकर्म होनेसे द्वितीया। अनायि="णीञ् प्रापणे" धातुसे कर्ममें लुङ्+त। इस पद्यमें दमयन्तीके उदरमें भाव और अभावके संशयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्ध की उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है॥४०॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाऽधीतवतीमिमामहम्।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम्॥४१॥

अन्वयः—अहम् इमां दिवः यौवतैः अपि सह न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातुः आशये अस्याः पतिः कतमः तु वसति इति अचिन्तयम् ।। ४१ ।।

व्याख्या—अहं=हंसः, इमाम्=एतां, दमयन्तीमित्यर्थः । दिवः=स्वर्गस्य सम्बन्धिभिः, यौवतैः अपि=युवतीसमूहैः अपि, सह=समं, न अधीतवतीं=न अध्ययनकर्त्रीं, स्वर्गस्थयुवतीसमूहादपि अधिकसुन्दरीमिति भावः । वधृत्य= निश्चित्य, विधातुः=ब्रह्मणः, आशये=हृदि, अस्याः=दमयन्त्याः, पतिः= भर्ता, कतमः=कः, तु=नु, वसति=तिष्ठति, इति=एवम्. अचिन्तयं= चिन्तितवान् । अहं देवाङ्गनाऽभ्योऽपि सुन्दर्या अस्याः पतिर्ब्रह्मणा को निश्चित इति विमृष्टवानिति भावः ।। ४१ ।।

अनुवाद—मैंने दमयन्तीको स्वर्गके युवतीसमूहके साथ भी अध्ययन न करनेवाली, अर्थात् उनसे भी अधिक सुन्दरी निश्चय करके ब्रह्माजीने किसको इसका पति बनाने का निश्चय किया है ? ऐसा विचार किया ।। ४१ ।।

टिप्पणी—दिवः=''सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियाम्'' इत्यमरः । यौवतैः= युवतीनां समूहा यौवतानि, तैः, शतृ प्रत्ययान्त होकर ङीप्प्रत्ययान्त युवती-शब्दसे ''अनुदात्तादेरञ्'' इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय । ''भिक्षादिभ्योऽण्'' इस सूत्रमें भिक्षाऽऽदिगणमें 'युवति' शब्दके पाठका भाष्य और कैयटने प्रत्याख्यान किया है । इसलिए उक्त सूत्रसे अण् प्रत्ययका और 'भस्याढे तद्धिते'' इससे पुंवद्भावकी कल्पनाका अवलम्बन करना मल्लिनाथजी और नारायण पण्डितका अनुचित है । अधीतवतीम्=अधि-उपसर्गपूर्वक 'इङ् अध्ययने' धातुसे क्तवतु और स्त्रीत्वविवक्षामें 'उगितश्च' इससे ङीप् । अवधृत्य=अव+धृङ्+क्त्वा (ल्यप्) । कतमः='कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' ऐसे वचनके सामर्थ्यसे स्वार्थ में भी डतमच् प्रत्यय । अचिन्तयम्=चिन्त+णिच्+लङ्+मिप् । इस पद्यमें उपमानभूत स्वर्गके युवतीसमूहसे भी उपमेयभूत दमयन्तीके आधिक्यका वर्णन करनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ।। ४१ ।।

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ।। ४२ ।।

अन्वयः—अथ अनुरूपम् इमं निरूपयन् सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपक्षतां व्यपनेतुम् अक्षमः (सन्) त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ।। ४२ ।।

व्याख्या—अथ=चिन्ताऽनन्तरम्, अनुरूपं=योग्यं, दमयन्त्या इति शेषः । इमं=पतिं, निरूपयन्=आलोचयन्, सर्वेषु अपि=सकलेषु अपि, युवसु=

तरुणेषु, पूर्वपक्षतां = दूष्यकोटितां, व्यपनेतुं = निवारयितुम्, अक्षमः = असमर्थः सन्, त्वयि = भवति विषये, सिद्धान्तधियं = सिद्धान्तबुद्धि, न्यवेशयं = निवेशितवान्, अन्यान् यूनो दमयन्त्या अयोग्यान्विचार्य भवानेन तस्या अनुरूपपतिरिति निरचैषमिति भावः ॥ ४२ ॥

अनुवाद—चिन्ताके अनन्तर दमयन्तीके अनुरूप पतिकी आलोचना कर मैंने अन्य सभी युवकोंमें पूर्वपक्षता (दूष्यकोटिता) हटानेमें असमर्थ होकर आपमें सिद्धान्त-बुद्धि (दमयन्तीके योग्य पति हैं ऐसी बुद्धि) का स्थापन किया ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—अनुरूपं = रूपस्य योग्यं योग्यता वा; सादृश्यके; अर्थमें अव्ययीभाव । निरूपयन् = नि + रूप + णिच् + लट् (शतृ) + सु । युवसु = 'वयःस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः । पूर्वपक्षतां = पूर्वश्चाऽसौ पक्षः, (क० धा०) तस्य भावस्तत्ता, ताम्, पूर्वपक्ष + तल् + टाप् + अम् । व्यपनेतुं = वि + अप + नी + तुमुन् । अक्षमः = न क्षमः (नञ्०) । त्वयि = विषय में सप्तमी । सिद्धान्तधियं = सिद्धान्तस्य धीः, ताम् (ष० त०) न्यवेशयम् = नि-उपसर्गपूर्वक 'विश' धातुसे लङ् + मिप् । शास्त्रार्थमें पूर्वपक्ष जैसे दूष्य और उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धान्तपक्ष स्थापनीय होता है, उसी तरह दमयन्तीके योग्य पतिकी आलोचनामें और सब युवक पूर्वपक्षस्थानीय और नल सिद्धान्तपक्षस्थानीय हैं; ऐसा मैंने निश्चय किया है । यही ब्रह्माका आशय है; यह तात्पर्य है । इस पद्यमें सम अलङ्कार है—

'समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः ।' सा० १०-९२ ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

अन्वयः—चिरम् अवलोकिता अपि सा शुचिस्मिता अद्य अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे स्मृतिम् आरूढवती ॥ ४३ ॥

व्याख्या—चिरं = बहुपूर्वकाम्, अवलोकिता अपि = दृष्टा अपि, सा = पूर्वोक्ता, शुचिस्मिता = शुक्लहास्या, सुन्दरी दमयन्तीति भावः । अद्य = अस्मिन् दिने, अनया = सन्निकृष्टस्थया, तव = भवतः, रूपसीमया = सौन्दर्यकाष्ठया, कृतसंस्कारविबोधनस्य = उद्बुद्धभावनाऽऽख्यसंस्कारस्य, मे = मम, हंसस्य, स्मृतिं = संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं, स्मरणमित्यर्थः । आरूढवती = आरूढा, एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवतीति भावः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—बहुत पहले देखी गयी वह सुन्दरी (दमयन्ती) आज आपके सौन्दर्यकी सीमासे उद्‌बुद्ध संस्कारवाले मेरे स्मरणमार्गमें आरूढ हो गयी ॥४३॥

टिप्पणी—अवलोकिता = अव + लोक + क्त (कर्ममें) + टाप् । शुचिस्मिता = शुचि स्मितं यस्याः सा (बहु०) । रूपसीमया = रूपस्य सीमा तया (ष० त०) । सीमन् शब्दसे 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इस सूत्रसे विकल्पसे डाप् और टा विभक्ति । डाप्‌के अभावमें रूपसीम्ना । कृतसंस्कारविबोधनस्य = संस्कारस्य विबोधनम् (ष० त०) । संस्कारके तीन भेद होते हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक । यहाँपर 'भावना' नामक संस्कार उद्दिष्ट है । भावनाका लक्षण है—"अनुभवजन्यः, स्मृतिहेतुर्गुणविशेषः" अनुभवसे उत्पन्न स्मरणके कारणभूत गुणविशेषको 'भावना' कहते हैं । यह आत्माका विशेष गुण है । कृतं संस्कारविबोधनं यस्य सः, तस्य (बहु०) । स्मृतिम् = स्मरणं स्मृतिः, ताम्, स्मृ + क्तिन् । बुद्धिके दो भेद होते हैं—अनुभव और स्मृति । स्मृतिका लक्षण है—'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् भावना नामक संस्कारमात्रसे उत्पन्न ज्ञानको 'स्मृति' कहते हैं । आरूढवती = आङ् + रुह + क्तवतु + ङीप् । सदृशवस्तुका दर्शन दूसरी वस्तुका स्मारक होता है, अतिशय सुन्दर आपको देखने से अत्यन्त सुन्दरी दमयन्तीका मुझे स्मरण हुआ, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें स्मरण अलङ्कार है—

"सदृशाऽनुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥" सा० द० १०–४० ॥

बिना सादृश्यके भी वस्तुके स्मरणसे राघवानन्दके मतके अनुसार यह अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे वीर ! दमयन्तीकिलकिञ्चितं त्वयि परं विराजते किल । मणिहारावलिरामणीयकं तरुणीस्तन एव दीप्यते ॥ ४४ ॥

व्याख्या—हे वीर = हे शूर !, दमयन्तीकिलकिञ्चितं = दमयन्तीशृङ्गारचेष्टाविशेषः, त्वयि = भवति, परम् = एव, विराजते = शोभते, किल = खलु । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयते—तरुणीति । मणिहारावलिरामणीयकं = मुक्ताहारपङ्क्तिसौन्दर्यं, तरुणीस्तन एव = युवतिपयोधर एव, दीप्यते = शोभते ॥ ४४ ॥

अनुवाद—हे वीर ! दमयन्तीकी श्रृङ्गारचेष्टाएँ आपमें ही शोभित होती हैं। मोतीकी मालाओंका सौन्दर्य तरुणीके स्तन पर ही शोभित होता है ॥४४॥

टिप्पणी—वीर=वीरयतीति वीरः, तत्सम्बुद्धौ, 'वीर विक्रान्तौ' धातुसे अच् प्रत्यय। 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः। दमयन्तीकिलकिञ्चितं= दमयन्त्याः किलकिञ्चितम् (ष० त०)। किलकिञ्चितका लक्षण है—

"स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् ।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात् ॥"

(सा० द० ३-११०।)

अर्थात् प्रियतमके संगम आदिसे उत्पन्न हर्षसे स्त्रियोंके मन्दहास्य, शुष्क रोदन, हास्य, क्रोध और श्रम आदिके सम्मिश्रणको 'किलकिञ्चित' कहते हैं। मणिहारावलिरामणीयकं=हाराणाम् आवलिः (ष० त०), मणिखचिता हारावलिः (मध्यमपदलोपी०)। रमणीयस्य भावः, 'रमणीय' शब्दसे योपधाद गुरुपोत्तमाद् वुञ्' इस सूत्रसे वुञ्, "युवोरनाकौ" इससे वुञ्के स्थानमें 'अक' आदेश और आदिवृद्धि। तरुणीस्तने=तरुण्याः स्तनः तस्मिन् (ष० त०), जातिमें एकवचन। दीप्यते='दीपी दीप्तौ' धातुसे लट्+त (कर्तामें)। इस पद्यमें उपमान और उपमेय हार और किलकिञ्चितका दो वाक्योंमें बिम्ब और प्रतिबिम्बके भावसे स्तन और नृपमें तुल्यधर्मतासे उक्ति होनेसे दृष्टान्त अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।" १०-६९ ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवाऽवकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी स्ववनी सम्प्रवदत्पिकाऽपि का ॥ ४५ ॥

अन्वयः—(हे वीर !) तव इदं रूपं तया विना अवकेशिनः पुष्पम् इव विफलम्। ऋद्धधना इयम् अवनी वृथा, सम्प्रवदत्पिका स्ववनी अपि का ॥४५॥

व्याख्या—(हे वीर !) तव=भवतः, इदं=दृश्यमानं, रूपं=सौन्दर्यम्, अनुपममिति शेषः। तया विना=दमयन्त्या विना, अवकेशिनः=बन्ध्यवृक्षस्य, पुष्पम् इव=कुसुमम् इव, विफलं=निष्फलं, निरर्थकमिति भावः। एवं च ऋद्धधना=वृद्धवित्ता, इयं=दृश्यमाना, अवनी=भूमिः, वृथा=व्यर्थप्राया, तया (दमयन्त्या) विनेति शेषः। तथैव सम्प्रवदत्पिका=कूजत्कोकिला, स्ववनी अपि=निजोद्यानम् अपि, का=तुच्छा, निरर्थकेत्यर्थः, दमयन्त्या

विनेति शेषः। दमयन्तीयोगे तु भवद्रूपं भूमिः उद्यानं च सर्वं सफलमिति भावः ॥ ४५ ॥

अनुवाद—(हे वीर !) आपका यह सौन्दर्य, दमयन्तीके न होनेपर बन्ध्य (निष्फल) वृक्षके फूलके समान निरर्थक है। धनसे पूर्ण यह पृथिवी व्यर्थप्राय है, उसी प्रकार कोकिलके आलापसे सम्पन्न आपका उद्यान भी निरर्थक है ॥४५॥

टिप्पणी—तया = "विना" पदके योगमें "पृथग्विनानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे तृतीया, एक पक्षमें पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति भी होती है। अवकेशिनः = 'बन्ध्योऽफलोऽवकेशी च" इत्यमरः। विफलं = विगतं फलं यस्मात् तत् (बहु०)। ऋद्धधना = ऋद्धं धनं यस्यां सा (बहु०)। अवनी = "कृदिकारादक्तिनः" इससे 'अवनि' शब्दसे ङीप्। वृथा = यह अव्यय है। सम्प्रवदत्पिका = सम्प्रवदन्तः पिका यस्यां सा (बहु०)। स्ववनी = अल्पं वनं वनी, 'वन' शब्दसे अवयवके अपचयकी विवक्षामें 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्रसे गौर आदि गणमें पढ़े जानेसे ङीष् स्वस्य वनी (ष० त०)। का = "किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दाऽपराधयोः" इति विश्वः। इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें पूर्णोपमा अलङ्कार है, तृतीय और चतुर्थ चरणमें दमयन्तीके बिना अवनी और स्ववनीकी असुन्दरताका प्रतिपादन होनेसे दो विनोक्तियाँ, इस प्रकार इन अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे संसृष्टि है। विनोक्तिका लक्षण है—

"विनोक्तिर्यद्विनाऽन्येन नाऽसाध्वन्यदसाधु वा।" १०—७३ ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अमरकाम्यमानया अनया सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया-निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेन इव त्वया न सुलभः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—अथ स्वाऽपेक्षां दर्शयितुं दमयन्त्या दौर्लभ्यं द्योतयति—अनयेति। अमरकाम्यमानया = देवाऽभिलष्यमाणया, अनया सह = दमयन्त्या समं, योगः = सम्बन्धः, अम्बुदागमे = मेघागमे, वर्षाकाल इति भावः। घनसंवृतता = मेघाच्छन्नया, निशाकरत्विषा सह = चन्द्रकान्त्या समं, योगः = सम्बन्धः, कुमुदेन इव = कैरवेण इव, त्वया = भवता, न सुलभः = न सुप्रापः, दुर्लभ इति भावः। अतोऽहं भैमीसकाशं गत्वा वाक्कौशलेनाऽनुरागमुत्पाद्य तया सह भवतो योगं जनयिष्यामीति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

अनुवाद—इन्द्र आदि देवताओंसे चाही जानेवाली दमयन्तीके साथ आपका सम्बन्ध वर्षाकालमें मेघसे आवृत चन्द्रकान्तिके साथ कुमुदसम्बन्धके समान सुलभ नहीं है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अमरकाम्यमानया=अमरैः काम्यमाना, तया (तृ० त०); अनया="सह" के योगमें तृतीया। अम्बुदागमे=अम्बुदस्य आगमः, तस्मिन् (ष० त०)। घनसंवृतया=घनैः संवृता, तया (तृ० त०), 'घनजीमूतमुदिरजलभुग्धूमयोनयः" इत्यमरः। निशाकरत्विषा=निशां करोतीति निशाकरः, निशा—उपपदपूर्वक "कृ" धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय (उपपद०)। निशाकरस्य त्विट्, तया (ष० त०)। सुलभः=सुखेन लब्धुं शक्यः, सु+लभ्+खल् (उपपद०)। इस पद्यमें दमयन्तीके संयोगकी दुर्लभतामें अमरकाम्यमान पदार्थकी हेतुतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग और उपमा अलङ्कार है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तत् अहं दमयन्त्याः सविधे तथा तथा तव स्तवं विदधे, यथा तया हृदये निहितो भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अथ दमयन्तीप्राप्त्युपायं प्रकाशयति—तदिति। तत्=तस्मात्कारणात्, दमयन्तीयोगस्य दौर्लभ्यादिति भावः। अहं=हंसः, दमयन्त्याः=भैम्याः, सविधे=समीपे, तथा तथा=तेन तेन प्रकारेण, तव=भवतः, स्तवं=स्तोत्रं, प्रशंसामिति भावः। विदधे=विधास्ये, करिष्यामि। यथा=येन प्रकारेण तया=दमयन्त्या, हृदये=मनसि, निहितः=स्थापितः, पतित्वेनेति शेषः। भवान्, इन्द्रेण अपि=मघोना अपि, न अपनीयते=नो दूरीक्रियते, मनुष्येण तु का वार्तेति भावः। इन्द्रादिभिः प्रलोभिताऽपि भैमी यथा भवत्येव गाढाऽनुरागा स्यात्तथा प्रयतिष्य इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—इस कारणसे मैं दमयन्तीके समीप आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा कि दमयन्तीके हृदयमें स्थित आपको इन्द्र भी नहीं हटा सकेंगे ॥४७॥

टिप्पणी—तत्=यह अव्यय है। सविधे='सदेशाऽभ्याससविधसमर्यादसवेशवत्' इत्यमरः। तथा=तेन प्रकारेण, तद्+थाल्, अव्यय है। विदधे=

वि—उपसर्गपूर्वक 'धा' धातुसे "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे वर्तमानके समीप भविष्यत्कालमें लट्। अथवा "आशसायां भूतवच्च" इससे आशंसामें भविष्यत्कालमें लट्। निहितः=नि+धा+क्तः, "दधातेर्हिः" इससे 'धा' के स्थानमें हि आदेश। अपनीयते=अप+नी+लट् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें 'इन्द्रेण अपि न अपनीयते' यहाँ पर किमुत अन्येन ऐसे अन्य अर्थके आ पड़नेसे अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम्।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अत्र केवलां तव सम्मतिम् अधिगन्तुम् इदं निवेदितं धिक्। हि साधवो निजोपयोगितां फलेन ब्रुवते, कण्ठेन न ब्रुवते ॥ ४८ ॥

व्याख्या—तर्हि तथैव क्रियतां, किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति। अत्र=अस्मिन् कार्ये, केवलाम्=एकां, तव=भवतः, सम्मतिं=अङ्गीकारम् अधिगन्तुं=ज्ञातुम्, इदं=पुरः प्रतिपाद्यमानं, निवेदितं=निवेदनं. धिक्=निवेदितस्य निन्देत्यर्थः। उक्तमर्थमर्थान्तरेण समर्थयते—ब्रुवत इति। हि=यस्मात् कारणात्, साधवः=सज्जनाः, निजोपयोगितां=स्वोपकारित्वं, फलेन=कार्येण, ब्रुवते=बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन=वाग्व्यापारेण, न ब्रुवते=नो बोधयन्ति, निजोपयोगितामिति शेषः ॥ ४८ ॥

अनुवाद—इस कार्यमें केवल आपकी सम्मति को जाननेके लिए किये गये इस निवेदनको धिक्कार है, क्योंकि सज्जन लोग अपनी उपयोगिताको कार्यसे दिखाते हैं, कण्ठसे नहीं बतलाते ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—अत्र=अस्मिन्निति, इदम्+त्रल्। अधिगन्तुम्=अधि+गम्+तुमुन्। निवेदितं="धिक्" के योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। हि="हि हेताववधारणे" इत्यमरः। निजोपयोगितां=निजस्य उपयोगिता, ताम् (ष० त०)। ब्रुवते='ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' धातुसे लट्+झ। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होने 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाऽभ्युदितं द्विजाऽधिपात्।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिवं स्मितं सितम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—स द्विजाऽधिपात् अभ्युदितं विशदं तत् इदं वचोऽमृतं परिपीय अतितृप्ततया तदुद्गारम् इव सितं स्मितं विनिर्ममे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—सः=नलः, द्विजाऽधिपात्=पक्षिस्वामिनः, हंसादिति भावः।

पक्षान्तरे—ब्राह्मणप्रभोः चन्द्रादिति भावः। अभ्युदितम्=आभिर्भूतं, विशदं=प्रसन्नम् उज्ज्वलं च, तत्=पूर्वोक्तम्, इदम्=अनुभूयमानं, वचोऽमृतं=वाक्यपीयूषं, परिपीय=सादरमाकर्ण्य, पीत्वा च, अतितृप्ततया=अतिसौहित्येन, तदुद्गारम् इव=तदुद्गमनम् इव, सितं=शुक्लं, स्मितं=मन्दहास्यं, विनिर्ममे=विनिर्मितवान्, पीतस्य शुक्लवचोमृतस्य उद्गारसदृशं स्मितमपि शुक्लं भवतीति भावः ॥ ४९ ॥

अनुवाद—नलने पक्षिराज हंससे उत्पन्न प्रसादयुक्त अथवा सफेद, वचनरूप अमृतका पानकर अत्यन्त तृप्त होनेसे उसके डकारके सदृश श्वेत (निर्मल) मन्दहास्यका निर्माण किया ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—द्विजाऽधिपात्=द्विजानाम् अधिपः, तस्मात् (ष० त०), "दन्तविप्राण्डजा द्विजाः" इस अमरवचनके अनुसार यहाँपर द्विजपदका अर्थ अण्डज (पक्षी) और विप्र (ब्राह्मण) दोनों ही होते हैं। अतः द्विजाऽधिपः=पक्षी (हंस) अथवा चन्द्रमा। "द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः।" इत्यमरः। अभ्युदितम्=अभि+उद्+इण्+क्त+सु। वचोऽमृतं=वच एव अमृतं, तत् (रूपक०)। परिपीय=परि+पी+क्त्वा (ल्यप्)। अतितृप्ततया=अत्यन्तं तृप्तः (गति०), अतितृप्तस्य भावः अतितृप्तता, तया। अतितृप्+तल्+टाप्+टा। तदुद्गारम्=तदुद्गारणम् उद्गारः, उद्-उपसर्गपूर्वक 'गृ निगरणे" धातुसे "उन्न्योर्ग्रः" इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय। तस्य उद्गारः तम् (ष० त०)। विनिर्ममे—वि-निर्-उपसर्गपूर्वज माङ् धातुसे कर्तामें लिट्+त। श्वेत (निर्मल) वचनरूप अमृतका उद्गारस्वरूप मन्दहास्य भी श्वेत ही होता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें वचनमें अमृतत्वका आरोप हंसमें चन्द्रत्व के आरोपके प्रति कारण है और 'द्विजाऽधिप' पद श्लिष्ट है, श्लिष्टपरम्परितरूपक अलङ्कार और उत्प्रेक्षा भी है। अतः दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाऽग्रजन्मना पतगं कोकनदेन नैषधः।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

अन्वयः—नैषधः भुजाऽग्रजन्मना कोकनदेन पतगं परिमृज्य तस्य मुदे प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः गिरः मृदु अगिरत् ॥ ५० ॥

व्याख्या—नैषधः=नलः, भुजाऽग्रजन्मना=बाह्वग्रोत्पन्नेन, कोकनदेन=रक्तोत्पलेन, रक्तोत्पलसदृशेन पाणिना इति भावः। पतगं=पक्षिणं, हंस-

मित्यर्थः। परिमृज्य=संस्पृश्येत्यर्थः। तस्य=हंसस्य, मुदे=हर्षाय, प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठजाः=इष्टवाक्यपीयूषोदपानवागिन्द्रियजाः, गिरः=वाणीः, मृदु=कोमलं यथा तथा, अगिरत्=उक्तवान् ॥ ५० ॥

अनुवाद—नल बाहुके अग्रभाग से उत्पन्न पाणिरूप रक्तकमलसे हंसका स्पर्श करके उसको हर्ष उत्पन्न करनेके लिए प्रियवचनरूप अमृतके कुँएके समान कण्ठसे उत्पन्न वचनोंको कोमलतापूर्वक कहने लगे ॥ ५० ॥

टिप्पणी—नैषधः=निषधेषु भवः, निष+अण्। भुजाग्रजन्मना=भुजस्य अग्रम् (ष० त०), "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः। भुजाग्रे जन्म यस्य तेन (व्यधिकरणबहु०)। इस पदसे पाणि लक्षित होता है। कोकनदेन="रक्तोत्पलं कोकनदम्" इत्यमरः। परिमृज्य=परि+मृज्+क्त्वा (ल्यप्)। प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठजाः=प्रियस्य वादाः (ष० त०), त एव अमृतानि (रूपक०)। तेषां कूपः (ष० त०), स चाऽसौ कण्ठः (क० धा०), तस्माज्जाताः, ताः प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठ+जन्+डः (उपपद०)। मृदु=यह क्रियाविशेषण है। अगिरत्="गॄ निगरणे" धातुसे लङ्+तिप्। इस पद्यमें भुजाग्रजन्मा (पाणि) में कोकनदत्वका आरोप होनेसे रूपक, प्रियवादमें अमृतत्वका आरोप कण्ठमें कूपत्वके आरोपके प्रति निमित्त है। अतः परम्परितरूपक है। इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ५० ॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) तव आकृतिः तुलाविषये न, ते सुशीलता वचोवर्त्मनि न। (अत एव) आकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा त्वदुदाहरणा ॥५१॥

व्याख्या—(हे हंस !) तव=भवतः, आकृतिः=आकारः, तुलाविषये न=सादृश्यभूमौ न, त्वदीयाऽऽकृतिरसाधारणीति भावः। एवं च—ते=तव, सुशीलता=सच्चरित्रता, वचोवर्त्मनि न=वाक्यमार्गे न, ते सुशीलता वक्तुमशक्येति भावः। अत एव—आकृतौ=आकारे, गुणाः=दयादाक्षिण्यादयः, इति=एवम्भूता, सामुद्रिकसारमुद्रणा=सामुद्रिकशास्त्रकारसिद्धान्तप्रतिपादनं, त्वदुदाहरणा=भवद्दृष्टान्तभूता, अस्तीति शेषः। "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" इति सामुद्रिकशास्त्रकारोक्तेरुदाहरणस्थानीयो भवानेवेति भावः ॥ ५१ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) तुम्हारा आकार सादृश्य भूमिमें नहीं है; तुम्हारे

सुशीलता वचनके मार्गमें नहीं है, अतएव उत्तम आकारमें गुण होते हैं—ऐसा सामुद्रिकोंके सिद्धान्तप्रतिपादनके तुम ही उदाहरणस्वरूप हो ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—तुलाविषये=तोलनं तुला, 'तुल उन्माने' धातुसे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय होकर टाप्। 'तुला सादृश्यमानयोः' इति विश्वः। तुलाया विषयः, तस्मिन् (ष० त०)। ते=युष्मद् शब्दके तव' के स्थानमें "तेमयावेकवचनस्य" इस सूत्रसे 'ते' आदेश। सुशीलता=शोभनं शीलं यस्य सः (बहु०), तस्य भावः तत्ता, सुशील+तल्+टाप्। "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः। वचोवर्त्मनि=वचसो वर्त्म, तस्मिन् (ष० त०)। सामुद्रिकसारमुद्रणा=समुद्रेण प्रोक्तं 'सामुद्रिकं', 'समुद्र शब्दसे' 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्रसे ठञ् (इक), आदिवृद्धि। समुद्रने स्त्री और पुरुषके हाथ और पैरकी रेखा आदिके शुभ-अशुभ लक्षणोंका ज्ञापक शास्त्र बनाया, उसे 'सामुद्रिक' कहते हैं। सामुद्रिकस्य सारः, 'सारो बले स्थिरांऽशे च' इत्यमरः। तस्य मुद्रणा (ष० त०)। त्वदुदाहरणा=त्वम् एव उदाहरणं यस्याः सा (बहु०)। इस पद्यमें आकृतिके तुलाविषयमें और सुशीलताके वचोवर्त्ममें सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्धकी उक्ति होनेसे दो अतिशयोक्तियाँ और परार्द्धके प्रति पूर्वार्द्धकी हेतुतासे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग, इस प्रकार तीन अलङ्कारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ननु ! तावकी तनुः परं सुवर्णमयी न, किं (तु) वाक् अपि तथा (सुवर्णमयी), तथा अनवलम्बे पथि परं पक्षपातिता न, (अनवलम्बे) मादृशे अपि सा पक्षपातिता न किमु (अस्ति एव) ॥ ५२ ॥

व्याख्या—ननु=हे हंस !, तावकी=त्वदीया, तनुः=मूर्तिः, परम्=एव, सुवर्णमयी न=स्वर्णमयी न, किं (तु) तावकी, वाक् अपि=वाणी अपि, तथा=तेन प्रकारेण, सुवर्णमयी=शोभनाऽक्षरमयीत्यर्थः, त्वदीया मूर्तिर्यथा सुवर्णमयी तथैव वाणी अपि सुवर्णमयी=सुन्दरवर्णमयीति भावः। तथा अनवलम्बे=अवलम्बरहिते, पथि=मार्गे, आकाशे इति भावः। परम्=एव, पक्षपातिता न=पक्षपतनशीलता न, अनवलम्बे=निराधारे, मादृशे अपि=मत्सदृशे अपि, पक्षपातिता=पक्षवर्तिता, न किमु ?=नाऽस्ति किम् ? अस्त्येवेति भावः। तव अनवलम्बे पथि (आकाशे) एव पक्षपातिता (पक्षपतनशीलता)

न, प्रत्युत मादृशे अनवलम्बे (अवलम्बरहिते) अपि पक्षपातिता पक्षवर्तिता न किमु ? अस्त्येवेति भावः ॥ ५२ ॥

अनुवाद—हे हंस ! तुम्हारी केवल मूर्ति ही सुवर्णमयी नहीं है, वाणी भी सुवर्णमयी (सुन्दर अक्षरोंवाली) है । उसी प्रकार अवलम्बरहित मार्ग (आकाश) में मात्र तुम्हारी पक्षपातिता (पक्षपतनशीलता) नहीं है, प्रत्युत अवलम्ब (आधार) से रहित मेरे जैसे व्यक्तिमें भी वह पक्षपातिता (पक्षमें रहनेका गुण) नहीं है क्या ? अर्थात् है ही ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—ननु = "प्रश्नाऽवधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु" इत्यमरः । यहाँपर "ननु" पद आमन्त्रण अर्थ में है। तावकी = तव इयम्, 'युष्मद्' शब्दसे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इस सूत्रमें चकार पाठके सामर्थ्यसे अण् प्रत्यय होकर 'तवकममकावेकवचने' इस सूत्रसे तवक आदेश, आदिवृद्धि और स्त्रीत्व-विवक्षामें ङीप् प्रत्यय । सुवर्णमयी = सुवर्णस्य विकारः, सुवर्ण + मयट् + ङीप् । यह 'तनु' के पक्षमें व्युत्पत्ति है। वाक्पक्षमें शोभना वर्णाः सुवर्णाः, (गति०) । प्रचुराः सुवर्णा यस्यां सा सुवर्णमयी, सुवर्ण शब्दसे 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इससे प्रचुर अर्थमें मयट् + ङीप् । प्रचुर सुन्दर वर्णोंवाली तुम्हारी वाक् (वाणी) है, यह तात्पर्य है । अनवलम्बे = अविद्यमानः अवलम्बः (आधारः) यस्य सः, तस्मिन् (नञ् बहु०) । अनवलम्बे पथि = इसका तात्पर्य आधाररहित मार्ग अर्थात् आकाशमें ऐसा होता है । पक्षपातिता = पक्षाभ्यां पततीति तच्छीलः पक्षपाती, पक्ष + पत् + णिनि + सु, पक्षपातिनो भावः, पक्षपातिन् + तल् + टाप् । आधाररहित मार्ग आकाशमें मात्र पक्षपातिता = पंखोंसे चलने (उड़ने) का भाव नहीं है, अनवलम्बे मादृशेऽपि = अवलम्बसे रहित मेरे ऐसेमें भी पक्षपातिता = पक्षे पततीति तच्छीलः पक्षपाती, तस्य भावः । पक्षमें पड़नेका भाव । अर्थात् मेरे ऐसे आधाररहितमें भी पक्षपातीका भाव । इस पद्यमें "सुवर्णमयी" और "पक्षपातिता" इन दोनों पदोंमें दो पदश्लेषोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान् मरुदासादि तुषारसारवान् ।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) भृशतापभृता मया भवान् तुषारसारवान् मरुद् आसादि । धनिनाम् इतरः सन्निधिः पुनः सतां गुणवत्सन्निधिः एव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) भृशतापभृता = अतिशयसन्तप्तेन, मया = नलेन, भवान् = त्वं, तुषारसारवान् = हिमश्रेष्ठांऽशसम्पन्नः, मरुत् = वायुः, आसादि = प्राप्तः, सन्तापहरत्वादिति भावः। तथा हि धनिनाम् = आढचानां, कुबेरादीनामिति भावः। इतरः = अन्यः, पद्मशङ्खादिः, सन्निधिः = उत्तमशेवधिः, पुनः = भूयः, सतां = विदुषां, गुणवत्सन्निधिः एव = गुणिजनसामीप्यम् एव, सन्निधिः = महानिधिः। हे हंस ! मत्कृते त्वमेव शीतलमारुतः, अन्यस्तु दहनप्राय इति भावः ॥ ५३ ॥

अनुवाद—हे हंस ! अत्यन्त सन्तप्त मैंने हिमके श्रेष्ठ अंशसे सम्पन्न वायुके समान तुम्हें प्राप्त कर लिया है। कुबेर आदि धनियोंको पद्म, शङ्ख आदि निधि उत्तम निधि हैं; परन्तु विद्वान् पुरुषोंको गुणी पुरुषोंका सामीप्य ही श्रेष्ठ निधि है ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—भृशतापभृता = तापं बिभर्तीति तापभृत्, ताप + भृ + क्विप् (उपपद०)। भृशं तापभृत्, तेन (सुप्सुपा०)। तुषारसारवान् = तुषाराणां साराः (ष० त०), ते सन्ति यस्य सः, तुषारसार + मतुप् + सु। आसादि = आङ् + सद् + णिच् + लुङ् (कर्मणि) + त। धनिनां = धन + इनि + आम्। "इभ्य आढचो धनी स्वामी" इत्यमरः। सन्निधिः = संश्चाऽसौ निधिः "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" इससे समास। "निधिर्ना शेवधिर्भेदाः पद्मशङ्खादयो निधे" इत्यमरः। निधिके नौ भेद हैं—

"महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥"

जैसे—महापद्म, पद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व सतां = सन्तीति सन्तस्तेषाम्, अस् + लट् (शतृ) + आम्। "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्" इत्यमरः। गुणवत्सन्निधिः = गुणाः सन्ति येषां ते गुणवन्तः, गुण + मतुप्। गुणवतां सन्निधिः (ष० त०), "सन्निधिः सन्निकर्षणम्" इत्यमरः। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें रूपक अलङ्कार है। दो रूपकोंकी संसृष्टि है ॥ ५३ ॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाऽधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—त्रिजगन्मोहमहौषधिः सा शतशो मम श्रुतिम् आगता एव। अधुना तव शंसितेन तु तां स्वदृशा एव अधिगताम् अवैमि ॥ ५४ ॥

व्याख्या—त्रिजगन्मोहमहौषधिः = त्रैलोक्यसम्मोहनमहौषधं, सा=दमयन्ती, शतशः = बहुवारं, मम = नलस्य, श्रुतिम् = कर्णम्, आगता एव=आयाता एव। परम्, अधुना = इदानीं, तव = भवतः, शंसितेन तु = कथनेन तु, स्वदृशा एव = आत्मदृष्टया एव, अधिगतां = ज्ञातां, दृष्टामिति भावः। अवैमि = जानामि, आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भावः॥ ५४॥

अनुवाद—त्रैलोक्यके संमोहनमें महौषधिके समान वे दमयन्ती मेरे कर्ण-मार्गमें आयी ही हैं। इस समय तुम्हारे कथनसे तो उनको अपनी आँखोंसे ही देखी गयी जानता हूँ॥ ५४॥

टिप्पणी—त्रिजगन्मोहमहौषधिः = त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् (द्विगु०)। त्रिजगतो मोहः (ष० त०)। महती चाऽसौ ओषधिः (क०धा०)। त्रिजगन्मोहे महौषधिः (स० त०)। शतशः = 'शतं' शब्दसे 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्'' इससे शस् प्रत्यय। श्रुतिं = श्रु + क्तिन् + अम्। शंसितेन = शंस + क्त (भावमें)। स्वदृशा = स्वस्य दृक्, तया (ष० त०), गोलकमें ही द्वित्व है, इन्द्रियके एकत्वसे एकवचन। अवैमि = अव + इण् + लट् + मिप्। इस पद्यके पूर्वार्द्धमें रूपक, उत्तरार्धमें भविष्यत्कालमें होनेवाले दमयन्तीके अधिगमके साक्षाद्दर्शनका वर्णन होनेसे भाविक अलङ्कार है। इसका लक्षण है—

> 'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याऽथ भविष्यतः।
> यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्॥' १०-१२२ (सा० द०)

इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है॥ ५४॥

> **अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।**
> **सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनाऽलङ्कृतिमात्रमक्षिणी॥ ५५॥**

अन्वयः—सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् अनाविलं पश्यतां विदुषां सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी, अक्षिणी वदनाऽलङ्कृतिमात्रम्॥ ५५॥

व्याख्या—स्वदृष्टेराप्तदृष्टेर्गरीयस्त्वं प्रतिपादयति—अखिलमिति। सुहृदा = मित्रेण, आप्तेनेति भावः। स्वहृदा च = निजाऽन्तःकरणेन च, अखिलं = समस्तं पदार्थम्, अनाविलम् = अकलुषम्, असन्दिग्धं यथा तथा, पश्यतां = विलोकयतां, जानतामिति भावः। तादृशानां विदुषां = बुधानां, विवेकिनामिति भावः। सविधे अपि = समीपे अपि, न सूक्ष्मसाक्षिणी = सूक्ष्मपदार्थस्य अद्रष्टृणी,

अक्षिणी=नेत्रे, वदनाऽलङ्कृतिमात्रं,=मुखाऽलङ्कारमात्रं, न तु दूरसूक्ष्मपदार्थदर्शनोपयोगिनी इति भावः ॥ ५५ ॥

अनुवाद—प्राप्तभूत मित्रसे और अपने अन्तःकरणसे समस्त पदार्थको असन्दिग्ध रूपसे देखनेवाले विवेकियोंके लिए समीपमें भी सूक्ष्म पदार्थको न देखने वाले नेत्र मुखमण्डलके अलङ्कारमात्र हैं ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—सुहृदा=शोभनं हृदयं यस्य स सुहृत् (बहु०), तेन। "सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः" इस सूत्रसे हृदयके स्थानमें हृद आदेश, "अथ मित्रं सखा सुहृत्" इत्यमरः। स्वहृदा=स्वस्य हृत् स्वहृत्, तेन (ष० त०), "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः। अनाविलं=न आविलं तद्यथा तथा (नञ् त०)। यह क्रियाविशेषण है। "कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः। पश्यतां=पश्यन्तीति पश्यन्तः, तेषाम्, दृश्+लट् (शतृ)+आम्। विदुषां=विद्+लट् (शतृ)+वसु+आम्। 'सन्देह और विपर्यासके बिना शब्द और अनुमान आदि प्रमाणोंसे पदार्थोंको देखने (जानने) वालोंके' यह तात्पर्य है। सविधे= "सदेशाऽभ्याससविधसमर्यादसवेशवत्" इत्यमरः। न सूक्ष्मसाक्षिणी=साक्षाद् द्रष्टृणी साक्षिणी, साक्षात् शब्दसे "साक्षाद् द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्" इस सूत्रसे निपातन। सूक्ष्माणां साक्षिणी (ष० त०), न सूक्ष्मसाक्षिणी (सुप्सुपा०)। अक्षिणी="ईक्षणं चक्षुरक्षिणी" इत्यमरः। वदनाऽलङ्कृतिमात्रं=वदनस्य अलङ्कृतिः (ष० त०), सा एव (मयूरव्यंसकादिसमास)। "मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे" इत्यमरः। यहाँपर 'मात्र' शब्द अवधारण अर्थमें है। समीपमें भी नेत्रमें स्थित कज्जल और रक्तत्वको न देखनेवाला नेत्र तो केवल मुखका अलङ्कार है यह तात्पर्य है।

इस पद्यमें नेत्रोंमें वदनाऽलङ्कृतिमात्रत्वका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणिकीकृता जनैः।
मदनाऽनलबोधनेऽभवत्खग ! धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे खग ! जनैः मम श्रवणप्राघुणिकीकृता अमितं मधु तत्कथा अधैर्यधारिणो मम मदनाऽनलबोधने धाय्या अभवत्। धिक् ! ॥ ५६ ॥

व्याख्या—हे खग=हे विहग, हंस इत्यर्थः। जनैः=लोकैः, मम=नलस्य, श्रवणप्राघुणिकीकृता=कर्णाऽतिथीकृता, श्रवणविषयीकृतेति भावः। अमितम्= अपरिमितं, मधु=क्षौद्रम्, अपरिमितमधुसमाना अतिमधुरेति भावः। तत्कथा=

दमयन्तीगुणवर्णना, अधैर्यधारिणः=अत्यन्ताऽधीरस्य, मम=नलस्य, मदनाऽनलबोधने=कामाग्निप्रज्वलने, धाय्या=सामिधेनी, अग्निसमिन्धनसमर्था ऋगिति भावः। अभवत्=अभूत, धिक्=अधैर्यधारिणमिति शेषः। अधैर्यधारिणो मम निन्देति भावः ॥ ५६ ॥

अनुवाद—हे हंस ! लोगोंसे मेरे कानोंमें अतिथि बनायी गयी (पहुँचायी गयी) अपरिमित मधु (शहद) के समान दमयन्तीकी कथा अधीर होनेवाले मेरे कामाऽग्निको प्रज्वलित करनेमें सामिधेनी (अग्निको प्रदीप्त करनेवाली ऋचा)-सी हुई है। मुझ अधीरको धिक्कार ! ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—श्रवणप्राघुणिकीकृता=अप्राघुणिका प्राघुणिका यथा सम्पद्यते तथा कृता प्राघुणिकीकृता, प्राघुणिक+च्वि+कृ+क्त+टाप्। "आवेशिक प्राघुणिक आगन्तुरतिथिस्तथा" इति हलायुधः। श्रवणयोः प्राघुणिकीकृता (स० त०)। अमितं=न मितम् (नञ०)। तत्कथा=तस्याः कथा (ष० त०)। अधैर्यधारिणः=धैर्यं धारयतीति तच्छीलः धैर्यधारी, धैर्य+धृ+णिच्+णिनिः (उपपद०)। न धैर्यधारी, तस्य (नञ्०)। मदनाऽनलबोधने=मदन एव अनलः (रूपक), तस्य बोधनं, तस्मिन् (ष० त०)। धाय्या=धीयते अनया समित् इति धाय्या (ऋक्) "पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्यामानहविर्निवाससामिधेनीषु" इस सूत्रसे "धा" धातुसे करणमें ण्यत् होकर आय् आदेशका निपातन और टाप् प्रत्यय। "ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने" इत्यमरः। अर्थात् जिस ऋक्का उच्चारण कर आग जलाते हैं, उसे "सामिधेनी" और "धाय्या" भी कहते हैं। ऋक्का लक्षण है—"अथ व्यवस्थितपादा ऋचः" अर्थात् छन्दोविशेषसे जहाँपर पादव्यवस्था होती है, उसे "ऋक्" कहते हैं। इस पद्यमें प्रथम चरणमें रूपक, मदनमें अनलत्वका आरोप कथामें मन्त्रत्वके आरोप में निमित्त होनेसे अश्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित रूपक है। इस प्रकार इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाऽहिमण्डली विषफूत्कारमयो मयोहितः।
बत ! कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहाऽनलैधसा ॥ ५७ ॥

अन्वयः—विषमः कालकलत्रदिग्भवः पवनः तद्विरहाऽनलैधसा मया मलयाऽहिमण्डलीविषफूत्कारमय ऊहितः बत ! ॥ ५७ ॥

व्याख्या—विषमः=प्रतिकूलः, कालकलत्रदिग्भवः=यमदिशाभवः, दाक्षि-

गात्यः, प्राणहर इति भाव । पवनः = वायुः, तद्विरहाऽनलैधसा = दमयन्ती-वियोगाऽग्निकाष्ठरूपेण, मया = नलेन, मलयाऽहिमण्डलीविषफूत्कारमयः = मलयपर्वतसर्पसङ्घगरलफूत्कारस्वरूपः, ऊहितः = तर्कितः । बत = खेदे ॥५७॥

अनुवाद—यमराजकी दिशा (दक्षिण) में उत्पन्न प्रतिकूल वायुको दमयन्ती के वियोगाऽग्निके काष्ठरूप मैंने "यह मलयपर्वतके सर्पसमूहके विषका फूत्कार-स्वरूप है" ऐसी तर्कना की, खेद है ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—कालकलत्रदिग्भवः = कालस्य कलत्रं (ष० त०), "कालो दण्ड-धरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः" इति । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इति चाऽमरः । कालकलत्रं चाऽसौ दिक् (क० धा०) तस्यां भवः (स० त०) । तद्विरहानलै-धसा = तस्या विरहः (ष० त०), स एव अनलः (रूपक०), तस्य एधः, तेन (ष० त०) । मलयाऽहिमण्डलीविषफूत्कारमयः = अहीनां मण्डली (ष० त०), मलये अहिमण्डली (स० त०), तस्या विषं (ष० त०), प्रचुरः फूत्कार अस्ति तस्मिन् स फूत्कारमयः । फूत्कार शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय । मलयाऽहिमण्डलीविषस्य फूत्कारमयः (ष० त०) । ऊहितः—'ऊह वितर्के' धातुसे क्त प्रत्यय । इस पद्यमें विरहमें अनलत्वका आरोप, अपनेमें काष्ठत्वके आरोपमें निमित्त है । अतः परम्परित रूपक और उत्प्रेक्षा भी है । इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाऽधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे खग ! असौ निशाकरः प्रतिमासं यत् दिनाऽधिपं सङ्गच्छति, ततः स तीव्रतरैः धैर्यतस्करैः करैः मम दाहाय सङ्गच्छति किमु ? ॥ ५८ ॥

व्याख्या—हे खग != हे हंस !, असौ = अयं, निशाकरः = चन्द्रः, प्रतिमासं = मासे मासे, प्रतिदर्शमिति भावः । यत्, दिनाऽधिपं = सूर्यं, सङ्गच्छति = प्राप्नोति । ततः = सूर्यसङ्गात्, सः = चन्द्रः, तीव्रतरैः = अतितीक्ष्णैः, धैर्य-तस्करैः = धीरतापहारिभिः, करैः = किरणैः, मम = नलस्य, कान्तावियोगिन इति भावः । दाहाय = सन्तापाय, सङ्गच्छति = प्राप्नोति, किमु = उत्प्रेक्षायाम् । सूर्यसङ्गादेव चन्द्रकरेषु तीक्ष्णता, अन्यथा कथं स्यादिति भावः ॥ ५८ ॥

अनुवाद—हे हंस ! यह चन्द्रमा प्रतिमास जो सूर्यसे मिलता है, वे उससे

अत्यन्त तीक्ष्ण और धैर्यको चुरानेवाली किरणोंसे मुझे जलाने के लिए मिलता है क्या ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—निशाकरः=निशां करोतीति, निशा-उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय। कहीं-कहीं "निशापतिः" ऐसा पाठान्तर है, अर्थ समान है। प्रतिमासं=मासं मासम्, वीप्सामें अव्ययीभाव। दिनाऽधिपं=दिनानाम् अधिपः, तम् (ष० त०)। सङ्गच्छति=सं+गम्+लट्+तिप्। सकर्मक होनेसे "समोगम्यृच्छिभ्याम्" इससे आत्मनेपद नहीं हुआ। तीव्रतरैः=अतिशयेन तीव्राः, तैः, तीव्र+तरप्+भिस्। धैर्यतस्करैः =धैर्यस्य तस्कराः, तैः (ष० त०)। दाहाय="तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इससे चतुर्थी। इस पद्यमें "किमु" शब्दके उत्प्रेक्षावाचक होनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत्।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—स्मरेषवः कुसुमानि यदि, न तु वज्रं, तत् विषवल्लिजानि। यत् अमूः मम हृदयम् अमूमुहन् यत् अतितमाम् अतीतपन् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—स्मरेषवः=कामबाणाः, कुसुमानि यदि=पुष्पाणि चेत्, न तु वज्रं=न तु अशनिः, तत्क्षणमरणाऽभावादिति भावः। तत्=तर्हि, विषवल्लिजानि=गरललतोत्पन्नानि। यत्=यस्मात्कारणात्, अमूः=स्मरेषवः, मम=नलस्य, हृदयं=मनः, अमूमुहन्=अमूर्च्छयन्, यत्=यस्मात्, अतितमाम्=अतिमात्रम्, अतीतपन्=तापितवत्यः ॥ ५९ ॥

अनुवाद—कामदेवके बाण यदि पुष्प हैं, वज्र नहीं तो वे विषकी लताओं से उत्पन्न हैं; जो कि इन्होंने (कामदेवके बाणभूत पुष्पोंने) मेरे हृदयको मूर्च्छित और अत्यन्त सन्तप्त किया ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—स्मरेषवः=स्मरस्य इषवः (ष० त०), "पत्री रोप इषुर्द्वयोः" इस कोशके अनुसार 'इषु' शब्द पुलिलङ्ग और स्त्रीलिङ्गमें है, यहाँपर उत्तरवाक्य में "अमूः" ऐसे सर्वनाम शब्दसे स्त्रीलिङ्गी है। विषवल्लिजानि=विषस्य वल्लयः (ष० त०)। "वल्ली तु व्रततिर्लता" इत्यमरः। विषवल्लिभ्यो जातानि, विषवल्लि+जन्+ड+जस्। अमूमुहन्="मुह वैचित्ये" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ्+झि, च्लिके स्थानमें चङ्। अतितमाम्=अति—

उपसर्गसे तमप् होकर "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इस सूत्रसे आमु प्रत्यय । अतीतपन् = "तप सन्तापे" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ्+झि, च्लि के स्थानमें चङ् । इस पद्यमें स्मरेषुओंमें विषवल्लिजत्वकी संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५९ ॥

तदिहाऽनवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराऽऽधिनोरधौ ।
भव पोत इवाऽवलम्बनं विधिनाऽऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

अन्वयः—तत् इह अनवधौ कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ निमज्जतो मम विधिना आकस्मिकसृष्टसन्निधिः (सन्), पोत इव अवलम्बनं भव ॥ ६० ॥

व्याख्या—तत् = तत्कारणात्, इह = अस्मिन्, अनवधौ = अवधिशून्ये, अपार इति भावः । कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ = कामबाणमनोव्यथासमुद्रे, निमज्जतः = अन्तर्गतस्य, मम = नलस्य, विधिना = भाग्येन, आकस्मिकसृष्ट-सन्निधिः = अकस्मादुत्पादितसामीप्यः, मत्सौभाग्यादागत इति भावः । त्वमिति शेषः । पोत इव = यानपात्रम् इव, अवलम्बनम् = आलम्बनं, भव = एधि, दम-यन्तीसंयोजनेन त्वं मम कामबाणमनोव्यथासमुद्रोत्तरणहेतुर्भव इति भावः ।६०।

अनुवाद—(हे हंस !) इस कारणसे कामबाणरूप मनोव्यथाके इस अपार समुद्रमें डूबते हुए मेरे लिए भाग्यसे अकस्मात् सामीप्यसे सम्बद्ध तुम, नौका-के समान अवलम्बन बनो ॥ ६० ॥

टिप्पणी—अनवधौ = अविद्यमानः अवधिर्यस्य सः, तस्मिन् (नञ् बहु०) । कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ = कन्दर्पस्य शराः (ष० त०), तैः आधिः (तृ० त०), "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" इत्यमरः । कन्दर्पशराऽऽधिः एव नीरधिः, तस्मिन् (रूपक०) । निमज्जतः = नि + मस्ज + लट् (शतृ) + ङस् । आकस्मिक-सृष्टसन्निधिः = अकस्मात् भवम् आकस्मिकम्, "अकस्मात्" इस अव्ययसे "अध्यात्मादिभ्यश्च" इससे ठक् प्रत्यय और "अव्ययानां भमात्रे टिलोपः" इससे टिलोप । सृष्टः सन्निधिः यस्य सः (बहु०) । आकस्मिकं (यथा तथा) सृष्टसन्निधिः (सुप्सुपा०) । पोतः = "यानपात्रे शिशौ पोतः" इत्यमरः । भव = भू + लोट् + सिप् । प्रार्थनामें लोट्, इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें रूपक और उत्तरार्द्धमें उपमा इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे संसृष्टि है ॥ ६० ॥

अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

अन्वयः-अथवा इयं नः भवतः प्रवर्तना कथं पिष्टं न पिनष्टि, हि ग्रहणानां यथार्थता यथा सतां परार्थता स्वतः एव ॥ ६१ ॥

व्याख्या—अथवा=पक्षान्तरे, इयम्=एषा, "भव पोत इवाऽवलम्बनम्" इत्यादिवाक्यघटिता, नः=अस्माकं, भवतः=तव, प्रवर्तना=प्रेरणा, कथं=केन प्रकारेण, पिष्टं=चूर्णितमन्नादिकं, न पिनष्टि=न पुनश्चूर्णयति, भवतः स्वतः कर्तुत्वान्मदीया प्रेरणा पिष्टपेषणरूपेति भावः। उक्तमर्थं समर्थयते—स्वत इति। हि=यस्मात्कारणात्, ग्रहणानां=ज्ञानानां, यथार्थता=याथार्थ्यं, प्रामाण्यमिति भावः। यथा=इव, सतां=सज्जनानां, परार्थता=परार्थ-प्रवृत्तिः, स्वत एव=स्वभावत एव, यथा ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वतस्तथैव सज्ज-नानां परार्थप्रवृत्तिः स्वभावत एव न तत्र प्रवर्तनाया अपेक्षेति भावः ॥६१॥

अनुवाद—अथवा आपको यह हमारी प्रेरणा पिष्टपेषणके समान क्यों नहीं होगी? क्योंकि जैसे ज्ञानोंका प्रामाण्य स्वतः होता है, वैसे ही दूसरों के हितके लिए सज्जनोंकी प्रवृत्ति भी स्वभावतः होती है ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—नः="अस्मदो द्वयोश्च" इस सूत्रसे एकत्वकी उक्तिमें भी अस्मद् शब्दसे षष्ठीमें बहुवचन। "प्रवर्तना" इस कृदन्तपदके योगमें "उभय-प्राप्तौ कर्मणि" इस नियमसे "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कारकषष्ठीका निषेध होनेसे यह षष्ठी विभक्ति "षष्ठी शेषे" इस सूत्रसे हुई है। प्रवर्तना=प्रवर्तनम्, णिच् प्रत्ययान्त "वृतु वर्तने" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इस सूत्रसे युच् (अन) प्रत्यय होकर टाप्। पिनष्टि="पिष्लृ सञ्चूर्णने" धातुसे लट्+तिप्। यथार्थता=यथार्थस्य भावः। यथार्थ+तल्+टाप्। परार्थता=परेषु अर्थः (प्रयोजनम्) येषां ते (व्यधिकरणबहु०), तेषां भावः, परार्थ+तल्+टाप्। स्वतः=स्वस्मात् इति, स्व शब्दसे "अपादाने चाऽहीयरुहोः" इस सूत्रसे तसि प्रत्यय, यह अव्यय है। यहाँपर मीमांसकोंके सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानका स्वतः प्रामाण्य माना गया है। नैयायिक ज्ञानका परतः प्रामाण्य मानते हैं। इस पद्यमें उपमा और अर्थान्तरन्यास दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं, पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपिसाधय साधयेप्सितं, स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे वयः! तव वर्त्मनि शिवं वर्तताम्। त्वरितं पुनः समागमः अस्तु। अपिसाधय। ईप्सितम् साधय। समये वयं स्मरणीयाः ॥ ६२ ॥

व्याख्या—हे वयः=हे हंस!, तव=भवतः, वर्त्मनि=मार्गे, शिवं=मङ्गलं,

वर्ततां=भवतु । त्वरितं=शीघ्रम् एव, पुनः=भूयः, समागमः=सङ्गमः, मया सहेति शेषः । अस्तु=भवतु, कृतकार्यस्य तवेति शेषः । अपिसाधय=गच्छ । ईप्सितम्=अभीष्टं, दमयन्त्या समं मत्संयोजनरूपमिति शेषः । साधय=सम्पादय । समये=कार्यकाले, वयं, स्मरणीयाः=स्मर्तव्याः ॥ ६२ ॥

अनुवाद—हे हंस ! तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो । शीघ्र फिर तुम्हारे साथ हमारा समागम हो । जाओ; मेरे अभीष्ट कार्यका सम्पादन करो । उचित समयमें तुम मेरा स्मरण करना ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—हे वयः—"खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः । वर्ततां="वृतु वर्तने" धातुसे प्रार्थनामें लोट्+त । अस्तु="अस भुवि" धातुसे लोट्+तिप् । अपिसाधय=अपि+साध्+णिच्+लोट्+सिप् । ईप्सितम्=आप्तुम् इष्टं, तत् सन्नन्त "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे क्त प्रत्यय और "आप्ज्ञप्यृधामीत्" इस सूत्रसे आप्का ईत्व । वयम्="अस्मदो द्वयोश्च" इस सूत्रके अनुसार एकवचनमें भी बहुवचन । स्मरणीयाः=स्मर्तुं योग्याः, स्मृ+अनीयर्+जस् । इस पद्य में छेक अलङ्कार है और ओज नामक काव्यलक्षण है, जैसे कि "ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य सङ्क्षेपो वाऽति भूयसः ।" अर्थात् जहाँपर प्रौढि वा अधिक अर्थोंका संक्षेप होता है, उसे "ओज" कहते हैं ॥ ६२ ॥

इति तं स विसृज्य धैर्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—धैर्यवान् सूनृतवाग्बृहस्पतिः स नृपतिः इति तं विसृज्य श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः विस्मितः (सन्) वनवेश्म अविशत् ॥ ६३ ॥

व्याख्या—धैर्यवान्=धैर्ययुक्तः, उपायलाभादिति शेषः । सूनृतवाग्बृहस्पतिः =सत्यप्रियवादेषु वाचस्पतिः, प्रगल्भ इति भावः । सः=पूर्वोक्तः, नृपतिः= राजा, नल इत्यर्थः । इति=इत्थं, तं=हंसं, विसृज्य=प्रस्थाप्य, श्रुतिलग्नैः= कर्णप्रविष्टैः, कलहंसशंसितैः=हंसभाषितैः, विस्मितः=आश्चर्ययुक्तः सन्, वनवेश्म=उपवनभवनम्, अविशत्=प्रविष्टः ॥ ६३ ॥

अनुवाद—धैर्यसम्पन्न, सत्य और प्रियवचन बोलनेमें बृहस्पतिके समान राजा नलने उस (हंस) को विदा करके कानमें घुसे हुए हंसके भाषणोंसे आश्चर्ययुक्त होकर उपवनके भवनमें प्रवेश किया ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—धैर्यवान्=धैर्यम् अस्ति यस्य सः, धैर्य+मतुप् । सूनृतवाग्बृहस्पतिः=सूनृताश्च ता वाचः (क० धा०), "अथ सूनृते । सत्ये प्रिये"

इत्यमरः । सूनृतवाक्षु बृहस्पतिः (स० त०), नृपतिः=नृणां पतिः (ष० त०), विसृज्य=वि+सृज्+क्त्वा (ल्यप्) । कलहंसशंसितैः=कलहंसस्य शंसितानि, तैः (ष० त०), "कादम्बः कलहंसः स्यात्" इत्यमरः । वनवेश्म=वनस्य वेश्म, तत् (ष० त०) । अविशत्="विश प्रवेशने" धातुसे लङ्+तिप् । "सूनृतवाग्बृहस्पतिः" इस पदमें लुप्तोपमा अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुताऽवलोकनैः सफलं कर्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अथ सः अण्डजः तत् अहः एव भीमसुताऽवलोकनैः सफलं कर्तुं क्षितिजमण्डलमण्डनायितं कुण्डिनं नगरं ययौ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—अथ=यात्राऽर्थ राजाऽनुज्ञाऽनन्तरं, सः=पूर्वोक्तः, अण्डजः=पक्षी, हंस इत्यर्थः । तद् अहः एव=तद् दिनम् एव, भीमसुताऽवलोकनैः=भैमीदर्शनैः, सफलं=साऽर्थकं, कर्तुं=विधातुं, तस्मिन्नेव दिने दमयन्ती द्रष्टुमिति भावः । क्षितिमण्डलमण्डनायितं=भूमण्डलाऽलङ्कारभूतं, कुण्डिनं=कुण्डिननामकं, नगरं=पुरं, ययौ=जगाम ॥ ६४ ॥

अनुवाद—तब वह पक्षी (राजहंस) उसी दिन दमयन्तीके दर्शनोंसे सफल करनेके लिए भूमण्डलके अलङ्कारभूत कुण्डिन नगरको गया ॥ ६४ ॥

टिप्पणी—अण्डजः=अण्डे जातः, अण्ड+जन्+डः (उपपद०), "अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः" इत्यमरः । भीमसुताऽवलोकनैः=भीमस्य सुता (ष० त०), तस्या अवलोकनानि, तैः (ष० त०) । सफलं=फलेन सहितं, तत् (तुल्ययोगबहु०) । कर्तुं=कृ+तुमुन् । क्षितिमण्डलमण्डनायितं=क्षितेः मण्डलं (ष० त०) । मण्डनवत् आचरितं मण्डनायितम्, मण्डन+क्यङ्+क्तः । ययौ=या+लिट्+तिप् । इस पद्यमें "मण्डनायितम्" उपमा अलङ्कार है ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनाऽतिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसम्भृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सः कलहंसः प्रथमं पथि लोचनाऽतिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं जलसम्भृत कलसं पुरः कलयाम्बभूव ॥ ६५ ॥

व्याख्या—अथ श्लोकत्रयेण शुभशकुनान्याह—प्रथममित्यादिना । सः=पूर्वोक्तः, कलहंसः=राजहंसः, प्रथमम्=आदौ, पथि=मार्गे, लोचनाऽतिथिं=

नेत्राऽऽगन्तुकभूतं, पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं=पान्थेष्टार्थसाफल्यसूचकं, जलसम्भृतं=सलिलपूर्णं, कलसं=कुम्भं, पुरः=अग्रे, कलयाम्बभूव=ददर्श, यात्रासमये आकस्मिकरूपेण नेत्रगोचरः पूर्णघटः शकुनसूचको भवतीति भावः ॥ ६५ ॥

अनुवाद—उस राजहंसने पहले मार्गमें पथिकोंके अभीष्टकी सफलताके सूचक जलपूर्ण कलशको देख लिया ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—लोचनाऽतिथिं=लोचनयोः अतिथिः, तम् (ष० त०)। पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं=पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः 'पथिन्' शब्दसे "पथः ष्कन्" इस सूत्रसे ष्कन् प्रत्यय और "षः प्रत्ययस्य" इस सूत्रसे 'ष' की इत्सञ्ज्ञा। "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि" इत्यमरः। पथिकानां प्रार्थितं (ष० त०), तस्य सिद्धिः (ष० त०), पथिकप्रार्थितसिद्धिं शंसतीति पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसी, तम्, पथिकप्रार्थितसिद्धि+शंस+णिनि (उपपद०)+अम्। जलसम्भृतं=जलेन सम्भृतः जलसम्भृतः, तम् (तृ० त०) कलयाम्बभूव="कल सङ्ख्याने" धातुसे णिच् होकर लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें वृत्त्यनुप्रास 'लसं' 'लसम्' इस अंशमें छेकानुप्रास, इस प्रकार उनका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्यरसाऽलसं गतम्।
स विलासवनेऽवनीभुजः फलमैक्षिष्ट रसालसङ्गतम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—स दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् आश्चर्यरसाऽलसं गतम् अवलम्ब्य अवनीभुजो विलासवने रसालसङ्गतं फलम् ऐक्षिष्ट ॥ ६६ ॥

व्याख्या—सः=हंसः, दिदृक्षया=दर्शनेच्छया, स्वगन्तव्यमार्गस्येति शेषः। अम्बरे=आकाशे, क्षणं=कञ्चित्कालं यावत्, आश्चर्यरसालसं=विस्मयरसेन मन्दं, गतं=गतिम्, अवलम्ब्य=आश्रित्य, अवनीभुजः=राज्ञः, नलस्येत्यर्थः। विलासवने=क्रीडोपवने, रसालसङ्गतं=चूतवृक्षसम्बद्धं, फलम्=आम्रफलम्, ऐक्षिष्ट=दृष्टवान्, प्रस्थाने आम्रफलदर्शनमपि शुभशकुनरूपमिति भावः ॥६६॥

अनुवाद—उस हंसने मार्गदर्शनकी इच्छासे आकाशमें कुछ समयतक आश्चर्यरससे मन्द गतिका अवलम्बन कर राजाके क्रीडावनमें आमके पेड़में विद्यमान आम्रफलको देखा ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—दिदृक्षया=द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा, तया, दृश्+सन्+अ+टाप्+टा। क्षणं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया। आश्चर्यरसाऽलसम्=आश्चर्यस्य रसः (ष० त०), तेन अलसम् (तृ० त०), तद्।

गतं=गम्+क्त+अम्। अवनीभुज:=अवनीं भुनक्तीति अवनीभुक्, तस्य अवनी+भुज्+क्विप् (उपपद०)+ङस्। "अवनीभृत:" इस पाठमें अवनीं बिभर्तीति अवनीभृत्, तस्य, अवनी+भृ+क्विप्+ङस्। विलासवने=विलासस्य वनं, तस्मिन् (ष० त०)। रसालसङ्गतं=रसाले सङ्गतं, तत् (ष० त०)। "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ" इत्यमर:। ऐक्षिष्ट=ईक्ष+लुङ्+त। इस पद्यमें प्रथम और चतुर्थ चरणमें अन्त्ययमक है, अत: दो शब्दाऽलङ्कारोंकी संसृष्टि है।

नभस: कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम्।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपं नगम्॥ ६७॥

अन्वय:—पतङ्गपुङ्गव: स: नभस: कलभै: जलदै: उपासितं भूरितरक्षुपन्नगं विटपच्छन्नतरक्षुपं नगं ददर्श॥ ६७॥

व्याख्या—पतङ्गपुङ्गव:=पक्षिश्रेष्ठ:, स:=हंस:, नभस:=आकाशस्य, कलभै:=हस्तिशावकरूपै:, जलदै:=मेघै:, उपासितं=व्याप्तं, भूरितरक्षुपन्नगं=बहुमृगादनसर्पम्, एवं च विटपच्छन्नतरक्षुपं=शाखाऽतिशयच्छादितह्रस्वशाखवृक्षं, नगं=पर्वतं, ददर्श=दृष्टवान्, पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थानां क्षेमकरमिति शकुनज्ञा:॥ ६७॥

अनुवाद—पक्षियोंमें श्रेष्ठ उस हंसने आकाशके हाथीके बच्चोंके समान मेघोंसे व्याप्त और शाखाओंसे छिपे हुए चीते और सर्पोंसे युक्त पर्वतको देखा॥ ६७॥

टिप्पणी—पतङ्गपुङ्गव:=पुमांश्चाऽसौ गौ: पुङ्गव: (क० धा०), "गोरतद्धितलुकि" इससे समासाऽन्त टच् प्रत्यय। "स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जरा:। सिंहशार्दूलनागाद्या: पुंसि श्रेष्ठाऽर्थगोचरा:" इत्यमर:। पतङ्गश्चाऽसौ पुङ्गव: (क० धा०)। कलभै:="कलभ: करिशावक:" इत्यमर:। जलदै:=जलं ददतीति जलदा:, तै: जल-उपपदपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "आतोऽनुपसर्गे क:" इस सूत्रसे क प्रत्यय (उपपद०)+भिस्। भूरितरक्षुपन्नगम्=भूरय: तरक्षव: पन्नगा: यस्मिन्, तम् (बहु०)। "तरक्षुस्तु मृगाऽदन:" इत्यमर:। विटपच्छन्नतरक्षुपं—अतिशयेन छन्ना: छन्नतरा:, छन्न+तरप्+जस्। विटपै: छन्नतरा (तृ० त०)। "विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्" इत्यमर:। विटपच्छन्नतरा: क्षुपा यस्मिन्, तम् (बहु०) "ह्रस्वशाखाशिफ: क्षुप:" इत्यमर:। नगं=न गच्छतीति नग:, तम्, नञ्+गम्+ड+अम्।

"नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे नञ्का विकल्पसे प्रकृतिभाव। अतः एक पक्षमें "अगः" ऐसा रूप भी होता है। "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः। ददर्श = दृश् + लिट् + तिप्। इस पद्यमें "कलभैः" "जलदैः" यहाँपर रूपक और द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें अन्त्ययमक है ॥ ६७ ॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—स क्षणं धुतपक्षतिः, क्षणम् ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः विततीकृत-निश्चलच्छदः क्षणम् आलोककदत्तकौतुकः (सन्) ययौ ॥ ६८ ॥

व्याख्या—सः = हंसः, क्षणं = कञ्चित्कालं यावत्, धुतपक्षतिः = कम्पित-पक्षमूलः, क्षणं = कञ्चित्कालं यावत्, ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः = उपरिगमनदुर्लक्षः, विततीकृतनिश्चलच्छदः = विस्तारितनिष्कम्पपक्षः, तथा क्षणं = कञ्चित्कालं यावत्, आलोककदत्तकौतुकः=दर्शकवितीर्णकुतूहलः सन्, ययौ = जगाम ॥६८॥

अनुवाद—वह हंस कुछ समयतक पक्षमूलोंको हिलाता हुआ और कुछ समयतक ऊपर जानेसे दुःखसे देखा जानेवाला तथा कम्परहित पँखोंको फैलाता हुआ, इस प्रकार कुछ समयतक देखनेवालोंको कौतुक देता हुआ गया ॥६८॥

टिप्पणी—क्षणं = "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। धुतपक्षतिः = पक्षयोर्मूले पक्षती, "पक्षात्तिः" इस सूत्रसे ति प्रत्ययः। "स्त्री पक्षतिः पक्ष-मूलम्" इत्यमरः। धुते पक्षती येन सः (बहु०)। ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः = ऊर्ध्वं च तत् अयनं (क० धा०)। दुर्लभं विभावनं यस्य सः (बहु०)। ऊर्ध्वाऽयनेन दुर्विभावनः (तृ० त०)। विततीकृतनिश्चलच्छदः = अविततौ विततौ यथा सम्पद्यते तथा कृतौ विततीकृतौ, वितत + च्वि + कृ + क्त + औ। विततीकृतौ निश्चलौ छदौ येन सः (बहु०)। आलोककदत्तकौतुकः=आलोक-यन्तीति आलोककाः, आङ् + लोक + णिच् + ण्वुल्। दत्तं कौतुकं येन सः (बहु०), आलोककानां दत्तकौतुकः (ष० त०)। ययौ = या + लिट् + तिप्। "आत औ णलः" इस सूत्रसे णल्के स्थानमें औकार आदेश। इस पद्यमें स्वभा-वोक्ति अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिधारया रयाद् गतया लोकविलोकनामसौ।
छदहेम कषन्निवाऽलसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥ ६९ ॥

अन्वयः—असौ रयात् लोकविलोकनां गतया तनुदीधितिधारया कषपाषाण-निभे नभस्तले छदहेम कषन् इव अलसत् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—असौ = हंसः, रयात् = वेगात् हेतोः, लोकविलोकनां = जननयनगोचरं, गतया = प्राप्तया, तनुदीधितिधारया = शरीरकिरणरेखया, कषपाषाणनिभे = निकषोपलसदृशे, नभस्तले = आकाशे, छदहेम = निजपक्षसुवर्णं, कषन् इव = घर्षन् इव, अलसत् = अशोभत ॥ ६९ ॥

अनुवाद—वह (हंस) वेगसे लोगोंके दर्शन-पथको प्राप्त शरीरके किरणकी रेखासे कसौटीके सदृश आकाशमें अपने पंखके सुवर्णको घिसते हुएके समान शोभित हुआ ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—रयात् = हेतुमें पञ्चमी । लोकविलोकनां = लोकानां विलोकना, ताम् (ष० त०), "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः । तनुदीधितिधारया=तनोः दीधितिः (ष० त०), तस्या धारा, तया (ष० त०) । हंसके सुनहले शरीरकी किरणकी रेखासे यह अभिप्राय है । इस पदकी मल्लिनाथने दूसरी व्याख्या भी की है—तनुश्चाऽसौ दीधितिधारा, तया (क० धा०) अर्थात् हंसकी सूक्ष्म किरणकी रेखासे यह तात्पर्य है । "स्तोकाऽल्पक्षुल्लकाः सूक्ष्मं श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु" इत्यमरः । कषपाषाणनिभे = कषश्चाऽसौ पाषाणः (क० धा०), तेन सदृशं कषपाषाणनिभं, तस्मिन् (तृ० त०) । "निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः" इत्यमरः । छदहेम = छदयोः हेम, तत् (ष० त०) । कषन् = कषतीति, कष + लट् (शतृ) + सु । अलसत् = "लस दीप्तौ" धातुसे लङ् + तिप् । इस पद्यमें 'कषपाषाणनिभे' यहाँपर उपमा और 'कषन् इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६९ ॥

विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः ।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धतिः ॥ ७० ॥

अन्वयः—स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धतिः स श्येननिपातशङ्किभिः विनमद्भिः अधःस्थितैः खगैः झटिति एकया दृशा उपरि निरैक्षि ॥ ७० ॥

व्याख्या—स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धतिः = स्यदेन (वेगेन) साङ्कारिणी ('साम्' इति शब्दं कुर्वाणा) पतत्त्रिपद्धतिः (पक्षिसरणिः) यस्य सः, तादृशः सः = हंसः, श्येननिपातशङ्किभिः = पतत्रिनिपतनशङ्कनशीलैः, अत एव विनमद्भिः = नम्रीभूतैः, अधःस्थितैः = अधोभागे विद्यमानैः, खगैः = पक्षिभिः, झटिति = शीघ्रम्, एकया = एकसंख्यया, दृशा = दृष्टया, उपरि = ऊर्ध्वं, निरैक्षि = निरीक्षितः ॥ ७० ॥

'. ते . नि

अनुवाद—वेगसे 'साम्' ऐसा शब्द करनेवाले पक्षियोंके मार्गमें स्थित उस हंसको बाजके आक्रमणकी शङ्का करनेवाले अतएव झुकते हुए नीचे रहनेवाले पक्षियोंने शीघ्रतासे एक ही नेत्रसे ऊपर देखा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—स्यदसाङ्कारिपतत्रिपद्धतिः = सां करोतीति साङ्कारिणी, सां + कृ + णिनि + ङीप् + सु । पतत्त्रिणां पद्धतिः (ष० त०), साङ्कारिणी पतत्त्रिपद्धतिः यस्य सः (बहु०) । स्यदेन साङ्कारिपतत्त्रिपद्धतिः (तृ० त०)। श्येननिपातशङ्किभिः = श्येनस्य निपातः (ष० त०), 'पत्त्री श्येन' इत्यमरः। श्येननिपातं शङ्कन्ते तच्छीलाः, तैः, श्येननिपात + शकि + णिनि (उपपद०) + भिस् । विनमद्भिः = विनमन्तीति विनमन्तः, तैः. वि + नम + लट् (शतृ) + भिस् । निरैक्षि = निर् + ईश + लुङ् (कर्ममें), इस पद्यमें पक्षिस्वभावका वर्णन होनेसे स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ७० ॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यन् असौ भुवि तच्छायम् अवेक्ष्य तत्क्षणात् दिवि दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा जनेन पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः (सन्) न ददृशे ॥ ७१ ॥

व्याख्या—यन् = गच्छन्, असौ = हंसः, भुवि = भूमौ, तच्छायं = तस्य छायाम् (प्रतिबिम्बम्), अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, तत्क्षणात् = तस्मिन्नेव क्षणे, दिवि = आकाशे, दिक्षु = दिशासु, च वितीर्णचक्षुषा = दत्तदृष्टिना, जनेन = लोकेन, भूतलस्थितेनेति शेषः । पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः = महाजवशीघ्रत्यक्तदृष्टिमार्गः सन्, न ददृशे = नो दृष्टः, अल्पक्षणेनैव हंसो नेत्रमार्गमतिक्रान्त इति भावः ॥ ७१ ॥

अनुवाद—जाते हुए हंसके जमीनपर उसकी छायाको देखकर, उसी क्षणमें आकाशमें और दिशाओंमें दृष्टिपात करनेवाले मनुष्यने बड़े वेगसे नेत्र-मार्गको पार करनेसे उसे नहीं देखा ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—यन् = एतीति, "इण् गतौ" धातुसे लट् (शतृ) + सु । तच्छायं = तस्य छाया तच्छायं, तत् (ष० त०) "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इसमें नपुंसकलिङ्ग हुआ है । अवेक्ष्य = अव + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । तत्क्षणात् = स चाऽसौ क्षणः, तस्मात् (क० धा०) । वितीर्णचक्षुषा = वितीर्णे चक्षुषी येन सः, तेन (बहु०) । पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः = पृथुश्चाऽसौ वेगः (क० धा), द्रुतं मुक्तः (सुप्सुपा०), दृशोः पन्था दृक्पथः (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" इससे समासान्त अप्रत्यय । द्रुतमुक्तो दृक्पथो येन सः

(बहु०)। पृथुवेगेन द्रुतमुक्तदृक्पथः (तृ० त०)। ददृशे=दृश् + लिट् + त (कर्ममें)। इस पद्यमें दर्शनाऽभावके प्रति पृथु आदि पदके अर्थकी हेतुतासे पदाऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचारुतम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—गतिवेगप्रसरद्रुचा अमुना पथि क्वचित् अपि उच्चतरद्रुचारुतं वनं न शिश्रिये, सगोत्रजं रुतं वा न अन्ववादि ॥ ७२ ॥

व्याख्या—गतिवेगप्रसरद्रुचा=गमनजवप्रसर्पत्कान्तिना, अमुना=हंसेन, पथि=मार्गे, क्वचित् अपि=कुत्रचित् अपि, उच्चतरद्रुचारुतम्=उन्नततर-वृक्षसौन्दर्यं, वनं=काननं, न शिश्रिये=न आश्रितम्। तथा सगोत्रजं=बन्धुजन्यं, रुतं वा=कूजितं वा, न अन्ववादि=न अनूदितं, नलेन राजकार्यं त्वरया मध्येमार्गं श्रमाऽपनयनाऽर्थं वनं नाश्रितं, तथैव बन्धुसम्भाषणादिकं च नो विहितमिति भावः ॥ ७२ ॥

अनुवाद—गमनके वेगसे फैलनेवाली कान्तिवाले हंसने मार्गमें कहीं भी वृक्षोंके उन्नत सौन्दर्यसे सम्पन्न किसी वनका आश्रय नहीं लिया और न अपने बन्धु हंसोंके कूजितका उत्तर ही दिया ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—गतिवेगप्रसरद्रुचा=गतेर्वेगः (ष० त०)। प्रसरन्ती रुक् यस्य स 'प्रसरद्रुक्' (बहु०)। गतिवेगेन प्रसरद्रुक्, तेन (तृ० त०)। उच्चतर-द्रुचारुतम्=अतिशयेन उच्चा उच्चतरा, उच्च+तरप्+जस्। उच्चतराश्च ते द्रवः (क० धा०), चारोर्भावः चारुता, चारु+तल्+टाप्। उच्चतरद्रूणां चारुता यस्मिंस्तत् (व्यधिकरणबहु०)। "पलाशी द्रुद्रुमाऽगमाः" इत्यमरः। शिश्रिये="श्रिञ् सेवायाम्" धातुसे कर्ममें लिट्+त। सगोत्रजं=समानं गोत्रं (कुलं) येषां ते सगोत्राः (बहु०), "ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप-स्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु" इस सूत्रसे 'समान' के स्थानमें "स" भाव। "गोत्रं नाम्न्यचले कुले" इति कोशः। "सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः" इत्यमरः। सगोत्रेभ्यो जातं, सगोत्र+जन्+ड+सु। रुतं="तिरश्चां वाशितं रुतम्" इत्यमरः। अन्ववादि=अनु-उपसर्गपूर्वक 'वद'-धातुसे लुङ् (कर्ममें)। नलके कार्यको शीघ्र सम्पन्न करनेके लिए हंसने मार्गमें श्रम हटानेके लिए न किसी वनमें मुकाम किया और न अपने बन्धुओंके साथ संभाषण

आदि ही किया, यह भाव है । इस पद्यमें द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें अन्त्ययमक अलङ्कार है ।। ७२ ।।

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हिमशैलोपमसौधराजिता ।। ७३ ।।

अन्वयः—अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हिमशैलोपमसौधराजिता मञ्जुः असौ नगरी पतगस्य दृक्पथं जगाम ।। ७३ ।।

व्याख्या—अथ=प्रस्थानाऽनन्तरं, धराजिता=भूमिजयिना, भीमभुजेन=भीमभूपबाहुना, पालिता=रक्षिता, हिमशैलोपमसौधराजिता=हिमालयसदृश-राजभवनशोभिता, मञ्जुः=मनोहरा, असौ=इयं, नगरी=पुरी, कुण्डिनपुरीति भावः । पतगस्य=पक्षिणः, हंसस्य । दृक्पथं=नेत्रमार्गं, जगाम=ययौ, हंसः=कुण्डिनपुरीं ददर्शेति भावः ।। ७३ ।।

अनुवाद—तब पृथ्वीको जीतनेवाले महाराज भीमके बाहुसे रक्षित हिमालय पर्वतके समान (सफेद) राजभवनोंसे शोभित, मनोहर वह कुण्डिन-पुरी पक्षी (हंस) के दृष्टिमार्गमें प्राप्त हुई ।। ७३ ।।

टिप्पणी—धराजिता=धरां जयतीति धराजित्, तेन, धरा+जि+क्विप् (उपपद०)+टा । भीमभुजेन=बिभेति अस्मात् इति भीमः, "भीमादयोऽपादाने" इस सूत्रसे निपातन । भीमस्य भुजः, तेन (ष० त०) । हिमशैलोपम-सौधराजिता=हिमानां शैलः (ष० त०), तस्य इव उपमा (सादृश्यम्), येषां तानि (व्यधि० बहु०) । तानि च तानि सौधानि (क० धा०), "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः । तैः राजिता (तृ० त०) । दृक्पथं=दृशोः पन्थाः दृक्पथः, [तम् (ष० त०), समासाऽन्त अप्रत्यय । जगाम=गम्+लिट्+तिप् । इस पद्यमें "मञ्जुरसौ धराजिता" इस द्वितीय चरणमें 'असौ-धराजिता' और चतुर्थचरणमें 'सौधराजिता' होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है । 'हिमशैलोपमसौधराजिता' यहाँपर उपमा है, पूर्वार्द्धमें अन्त्याऽनुप्रास और द्वितीय और चतुर्थ चरणमें यमक है, इस प्रकार संसृष्टि है ।। ७३ ।।

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः ।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कुभित्तयः ।। ७४ ।।

अन्वयः—यत्र स्फटिकोपलविग्रहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कुभित्तयः गृहा दयितं प्रति सन्ततं भुवः रतिहासा इव रेजिरे ।। ७४ ।।

व्याख्या—अथ द्वात्रिंशत्संख्यकैः पद्यैः कुण्डिनपुरीं वर्णयति । यत्र=कुण्डिनपुर्यां, स्फटिकोपलविग्रहाः=स्फटिकमणिमयशरीराः,शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः=चन्द्रखण्डनिष्कलङ्ककुडयाः, गृहा=भवनानि, दयितं प्रति=प्रियं प्रति, भीमभूपं प्रतीति भावः । सन्ततम्=निरन्तरं, भुवः=भूमेः, नायिकास्वरूपाया इति भावः । रतिहासा इव=केलिहास्यानि इव, कविसमये हासस्य शुक्लवर्णत्वादिति भावः । रेजिरे=शुशुभिरे ॥ ७४ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमें स्फटिक मणि से बने हुए चन्द्रखण्डोंके समान निष्कलङ्क दीवारोंवाले भवन, पति महाराज भीमके प्रति पृथ्वीरूप नायिकाके निरन्तर क्रीडाके हास्योंके समान शोभित होते थे ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—स्फटिकोपलविग्रहाः=स्फटिकाश्च त उपलाः (क० धा०), त एव विग्रहाः येषां ते (बहु०) 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः=शशं बिभर्तीति शशभृत्, शश+भृ+क्विप् (उप०) । तस्य भित्तानि (ष० त०), "भित्तं शकलखण्डे वा पुंसि" इत्यमरः । निर्गतः अङ्क (कलङ्कः) याभ्यस्ताः निरङ्काः (बहु०), शशभृद्भित्तानि इव निरङ्का भित्तयो येषां ते (बहु०) । "भित्तिः स्त्री कुडचमेडूकम्" इत्यमरः । गृहाः='गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः" इत्यमरः । दयितं='प्रति' इसके योगसे 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इस वार्तिकसे द्वितीया विभक्ति । रतिहासाः=रतेर्हासाः (ष० त०) । रेजिरे='राजृ दीप्तौ' धातुसे लिट्+झ । 'फणां च सप्तानाम्' इस सूत्रसे एत्व और अभ्यासका लोप । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें उपमा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ७४ ॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः ।
शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—यत्र तमः भास्वतः भयेन नृपनीलमणीगृहत्विषाम् उपधेः शरणाप्तं वासरे अपि असदावृत्ति उदयत्तमम् (सत्) उवास ॥ ७५ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्यां, कुण्डिननगर्यामित्यर्थः । तमः=अन्धकारं, भास्वतः=सूर्यात्, भयेन=भीत्या, नृपनीलमणीगृहत्विषां=भूपेन्द्रनीलरत्नगृहकान्तीनाम्, उपधेः=छलात्, शरणाप्तं=गृहप्राप्तं, वासरे अपि=दिवसे अपि, असदावृत्तिः=पुनरावृत्तिरहितम्, अत उदयत्तमम्=उद्यत्तमं सत्, अतिनिबिडमिति भावः । उवास=वसति स्म ॥ ७५ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीमें अन्धकार, सूर्यके भयसे राजा भीमके इन्द्र-नील मणियोंसे बने हुए भवनोंके बहानेसे भवनके भीतर रहकर दिनमें भी नहीं लौटता हुआ गाढ होकर रहता था ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—भास्वतः=भासः सन्ति यस्य स भास्वान्, तस्मात्, 'भास' शब्दसे 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्रसे 'मतुप्' और 'तसौ मत्वर्थे' इस सूत्रसे भसंज्ञा होनेसे पदकार्य रुत्वका अभाव। "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादानसंज्ञा होनेसे पञ्चमी। नृपनीलमणीगृहत्विषां=नीलाश्च ता मणयः (क० धा०)। 'रत्नं मणिर्द्वयोः' इत्यमरः। 'मणि' शब्दसे 'कृदिकारादक्तिनः' इससे ङीष् होकर 'मणी' शब्द बनता है। नीलमणीनां गृहाः (ष० त०)। नृपस्य नीलमणीगृहाः (ष० त०), तेषां त्विषः, तासाम् (ष० त०)। उपधेः='कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। शरणाप्तं= शरणम् (गृहं रक्षितारं वा) आप्तम्, 'द्वितीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्त-प्राप्तापन्नैः' इससे द्वि० त०। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। असदावृत्तिः=न सती असती (नञ्०), असती आवृत्तिर्यस्य तत् (बहु०)। उदयत्तमम्= उदेतीति उदयत्, उद्+इण्+लट् (शतृ)। अतिशयेन उदयत् उदयत्तमम्, उदयत्+तमप्। उवास=वस्+लिट्+तिप्। "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्" इससे अभ्यासका संप्रसारण। इस पद्यमें अन्धकारमें कार्यके द्वारा शरणार्थी-जनके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति और उदात्त अलङ्कार है, दोनोंकी संसृष्टि है ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते हसदङ्करोदसि यदगारे निशि निखिलान् तिथीन् एकिका पूर्णिमा तिथिः अतिथिः (सती) उपतस्थे ॥ ७६ ॥

व्याख्या—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते=शुक्लदीपनशीलरत्ननिर्मिते, हसदङ्क-रोदसि=प्रकाशमाननिकटद्यावापृथिविके, यदगारे=कुण्डिनगृहे, निशि=रात्रौ, निखिलान्=समस्तान्, तिथीन्=प्रतिपत्प्रभृतीन्, एकिका=एकाकिनी, एकैवेति भावः। पूर्णिमा=पौर्णमासी, तिथिः=राकेति भावः, अतिथिः=आगन्तुका सती, उपतस्थे=उपस्थिता, सङ्गतेति भावः। स्फटिकरत्ननिर्मितकुण्डिनभव-नानां शुक्लवर्णैर्द्यावापृथिव्यौ रात्रावपि प्रकाशमाने आस्ताम्, ततश्च सर्वा अपि तिथयः पूर्णिमातुल्या जाता इति तात्पर्यम् ॥ ७६ ॥

अनुवाद—सफेद प्रकाशमान रत्नों (स्फटिकों) से बने हुए, जिनके निकट आकाश और पृथिवी प्रकाशमान हैं, कुण्डिनपुरीके ऐसे गृहोंमें रातमें सब तिथियों के पास एकमात्र पूर्णिमा तिथि अतिथि होती हुई उपस्थित होती थी ॥ ७६॥

टिप्पणी—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते=दीपनशीला दीप्राः "दीपी दीप्तौ" धातु से "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इस सूत्रसे र प्रत्यय। सिताश्च ते दीप्राः (क० धा०), सितदीप्राश्च ते मणयः (क० धा०), तैः प्रकल्पितम् (तृ० त०), तस्मिन्। "यदगारे" इस पदका विशेषण। हसदङ्करोदसि=हसन् अङ्कः (मध्यभागः) ययोस्ते (बहु०), हसदङ्के रोदस्यौ (द्यावापृथिव्यौ) यस्य तत् हसदङ्करोदः, तस्मिन् (बहु०), यदगारे=यस्याः (कुण्डिनपुर्याः) अगारं, तस्मिन् (ष० त०)। "अगारे" यह जातिमें एकवचन है। तिथीन्= "तिथयोर्द्वयोः" इत्यमरः। एकिका=एका एव, "एक" शब्दसे "एकदाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रसे स्वार्थमें कप्रत्यय। अतिथिः="स्युरावेशिकरागन्तुरतिथिर्ना गृहागते" इत्यमरः। उपतस्थे=उप-उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातुसे "उपाद् देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्" इससे सङ्गतिकरणमें आत्मनेपद होकर लिट्+त। इस पद्यमें कुण्डिनपुरीमें स्फटिकके भवनों की कान्तिसे नित्य चन्द्रमाका योग होनेसे सभी रात्रियाँ पूर्णिमाके समान थीं, इस प्रकार भेद होनेपर भी अभेदकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताऽऽशया।
न निशाऽखिलयाऽपि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

अन्वयः—यत्र सुदतीजनमज्जनार्पितैः घुसृणैः कषायिताऽऽशया वापिका ग्रहिला मानिनी इव अखिलया निशा अपि न प्रससाद ॥ ७७ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्यां नगर्यां, सुदतीजनमज्जनार्पितैः=सुन्दरीलोकस्नानवितीर्णैः, घुसृणैः=कुङ्कुमैः, कषायिताऽऽशया=सुगन्धिताऽभ्यन्तरभागा, कलुषिताऽन्तःकरणा च, वापिका=दीर्घिका, ग्रहिला=निर्बन्धयुक्ता, मानिनी इव=मानवती नायिका इव, अखिलया=सकलया, निशा अपि=रात्र्या अपि, रात्र्याः सर्वभागेषु व्यतीतेष्वपीति भावः। न प्रससाद=प्रसन्ना नाऽभूत्। कुण्डिनपुर्यां सुन्दरीणां स्नानेन तत्कुचार्पितकुङ्कुमरञ्जिता वापिका सपत्नीकुचकुङ्कुमसम्पर्कयुक्तं नायकं दृष्ट्वा निर्बन्धवती नायिका इव रात्रौ व्यतीतायामपि न प्रससाद, वापि निर्मला नाभूत् नायिका च प्रसन्नमानसा नाऽभूदिति भावः ॥ ७७ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीमें सुन्दरियोंके स्नानसे फैले हुए कुङ्कुमोंसे भीतर सुगन्धित होनेवाली बावली सपत्नीके कुङ्कुमके सम्पर्कयुक्त पतिको देखकर हठ करनेवाली अभिमानिनी नायिकाके समान रातके बीतने पर भी प्रसन्न (बावलीके पक्षमें निर्मल, नायिकाके पक्षमें प्रसादयुक्त) नहीं हुई ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—सुदतीजनमज्जनार्पितैः=शोभना दन्ता यासां ता सुदत्यः(बहु०), "वयसि दन्तस्य दतृ" इस सूत्रसे दन्तके स्थानमें "दतृ" आदेश और स्त्रीत्व-विवक्षामें "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप्। सुदत्यश्च ते जनाः (क० धा०), तेषां मज्जनं (ष० त०), तेन अर्पितानि, तैः (तृ० त०)। कषायिताऽऽशया= कषायित आशयः (अभ्यन्तरभागः, अन्तःकरणं वा) यस्याः सा। वापिका= "वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः। ग्रहिला=ग्रहः अस्ति यस्याः सा, 'ग्रह' शब्दसे "लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः" इस सूत्रसे इलच् और स्त्रीत्वविवक्षा-में टाप्। मानिनी=प्रशस्तो मानः अस्या अस्तीति, माने + इनि=ङीप्। "स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।" प्रियके अन्य स्त्रीके संसर्गसे स्त्रियोंको जो ईर्ष्यासे उत्पन्न कोप है, उसे "मान" कहते हैं। निशा='निशा' शब्दका "पद्दन्नोमास् हृन्निशन्०" इत्यादि सूत्रसे निश् आदेश, टा विभक्ति। प्रससाद=प्र + सद् + लिट् + तिप्। इस पद्यमें पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

अन्वयः—निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यया मणिवेश्ममयं निर्मलम् अबाह्यं ज्योतिः ईक्ष्यते ॥ ७८ ॥

व्याख्या—निशि=रात्रौ, अर्धरात्र इति भावः। क्षणनीरवया=अल्पकालं निःशब्दया, नगरीपक्षे जनानां सुप्तत्वात्, योगिनीपक्षे ध्याननिश्चलत्वादिति तात्पर्यम्। श्रितवप्रावलियोगपट्टया=आश्रितयोगवस्त्रसदृशप्राकारपङ्क्तया, यया=नगर्या, मणिवेश्ममयं=स्फटिकभवनस्वरूपं, निर्मलं=शुभ्रम्, अविद्यादि-दोषरहितं च, अबाह्यम्=अन्तर्वर्ति, किमपि=अवाङ्मनसगोचरं, ज्योतिः =तेजः, आत्मप्रकाशश्च, ईक्ष्यते स्म=दृश्यते स्म, "इज्यते स्म" इति पाठे पूज्यते स्मेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अनुवाद—आधीरात में कुछ समय निःशब्द होकर योगवस्त्रके समान प्राकारपङ्क्तिको धारण कर जो कुण्डिनपुरी, योगिनीके समान स्फटिकमणियोंके

गृहस्वरूप निर्मल (शुक्ल) अभ्यन्तरस्मित अनिर्वाच्य प्रकाशका दर्शन करती थी ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—क्षणनीरवया=निर्गतो रवो यस्याः सा नीरवा (बहु०), क्षणं नीरवा (सुप्सुपा०) तया । श्रितवप्राऽऽवलियोगपट्टया=वप्राणाम् आवलिः (ष० त०), "प्राकारो वरणो वप्रः" इत्यमरः । योगस्य पट्टः (ष० त०) वप्राऽऽवलिः, योगपट्ट इव, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे उपमितकर्मधारय । श्रितो वप्राऽऽवलियोगपट्टो यया, तया (बहु) । यह नगरी पक्षमें है । योगिनीपक्ष में—वप्राऽऽवलिः इव योगपट्टः "उपमानानि सामान्य-वचनैः" इससे समास । श्रितो वप्रावलियोगपट्टो यया, तया (बहु०) । मणि-वेश्ममयं=मणीनां वेश्म (ष० त०), तत् स्वरूपं यस्य तत् (मणिवेश्म+मयट्) निर्मलं=निर्गतं मलं यस्मात्तत् (बहु०) । ज्योतिः=प्रभा (नगरीपक्षमें), आत्मज्योतिः (योगिनीपक्षमें) । ईक्ष्यते स्म=ईक्ष+लट् (कर्ममें) त । "इज्यते स्म" ऐसे पाठान्तरमें यज+लट् (कर्ममें) । इस पद्यमें प्रस्तुत नगरी विशेषणके साम्यसे अप्रस्तुत योगिनीकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ७८ ॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बाऽनवलम्बिताऽम्बुनि ॥ ७९ ॥

अन्वयः—या परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बाऽनवलम्बिताऽम्बुनि क्वचन जलाशयोदरे अनुबिम्बिता द्यौः इव विललास ॥ ७९ ॥

व्याख्या—या=नगरी, परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बऽनवलम्बिताऽम्बुनि =खेयच्छलव्यक्तस्खलत्प्रतिमाऽसम्बद्धजले, क्वचन=कुत्रचन, जलाशयोदरे= ह्रदमध्ये, अनुबिम्बिता=प्रतिबिम्बिता, द्यौः इव=अमरावती इव, विललास =शुशुभे ॥ ७९ ॥

अनुवाद—जो (नगरी) खाईके बहानेसे स्पष्ट चलनेवाले प्रतिबिम्बसे जहाँ बीचका जल नहीं दिखाई देता है, ऐसे किसी सरोवरके बीचमें प्रतिबिम्बित अमरावतीकी तरह शोभित होती थी ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—परिखाकपटेत्यादिः०-परितः खन्यते इति परिखा, परि-उपसर्ग पूर्वक "खनु अवदारणे" इस धातुसे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इससे ड प्रत्यय । "खेयं तु परिखा" इत्यमरः । परिखायाः कपटः (ष० त०), स्फुरच्च तत् प्रतिबिम्बम्

(क० धा०), स्फुटं स्फुरत्प्रतिबिम्बम् (सुप्सुपा०) । परिखाकपटेन स्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बम् (तृ० त०) । न अवलम्बितम् (नञ्०), अनवलम्बितम् (मध्ये अगृह्यमाणम्) अम्बु यस्मिन् (बहु०) । प्रतिबिम्बमें पड़ा हुआ जल प्रतिबिम्बदेशमें प्रतीत नहीं होता है, चारों ओर प्रतीत होता है । परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बेन अनवलम्बिताम्बु, तस्मिन् (तृ० त०) । जलाशयोदरे=जलानाम् आशयः (ष० त०), तस्य उदरं, तस्मिन् (ष० त०) । अनुबिम्बिता=अनुबिम्बं सञ्जातं यस्याः सा, अनुबिम्ब+इतच्+टाप् । द्यौः="सुरलोको द्योर्दिवौ द्वे" इत्यमरः । विललास=वि+लस+लिट् । इस पद्यमें कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनों की संसृष्टि है ॥ ७९ ॥

व्रजते दिवि यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडनाः ।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयाऽऽलिकालनाम् ॥ ८० ॥

अन्वयः–यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः दिवि व्रजते हेलिहयाऽऽलिकालनां सृजते अरुणाय विश्रमं व्यतरन् ॥ ८० ॥

व्याख्या—यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडनाः=कुण्डिनभवनपङ्क्तिचञ्चलपताकाऽग्रप्रतोदाघाताः, दिवि=आकाशे, व्रजते=गच्छते, हेलिहयाऽऽलिकालनां=सूर्याऽश्वपङ्क्तिप्रेरणां, सृजते=कुर्वते, अरुणाय=सूर्यसारथये, विश्रमं=विश्रान्ति, व्यतरन्=अददुः ॥ ८० ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीके भवनोंमें चञ्चल पताकाके अग्रभागके दण्डोंके आघात आकाशमें जाते हुए और सूर्यके घोड़ोंकी प्रेरणा करनेवाले अरुणको विश्राम देते थे ॥ ८० ॥

टिप्पणी—यद्गृहावलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडनाः=गृहाणाम् आवल्यः (ष० त०), यस्यां गृहावल्यः (स० त०), चेलानाम् अञ्चलाः (ष० त०), "वस्त्रमाच्छादनं वासश्चेलं वसनमंशुकम्" इत्यमरः । चलाश्च ते चेलाऽञ्चलाः (क० धा०), चलचेलाऽञ्चला एव दण्डाः (रूपक०), चलचेलाऽञ्चलदण्डैः ताडनाः (तृ० त०) । यद्गृहाऽऽवलीषु चलचेलाऽञ्चलदण्डताडना (स० त०), वह कर्तृपद है । व्रजते=व्रज+लट् (शतृ)+ङे । हेलिहयाऽऽलिकालनाम्=हेलेर्हयाः (ष० त०), "हेलिरालिङ्गने रवौ" इति यादवः । हेलिहयानाम् आलिः (ष० त०), तस्याः कालना, ताम् (ष० त०) । सृजते=सृज+लट् (शतृ)+ङे । विश्रमं=विश्रमणं विश्रमः, तम्, वि–उपसर्गपूर्वक–श्रम धातुसे घञ्, "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" वृद्धिका निषेध । व्यतरन्=

वि-उपसर्गपूर्वक "तॄ प्लवनसन्तरणयोः" इस धातुसे लङ्+झि। इस पद्यमें सूर्यके घोड़ोंके दण्डसे ताडनका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, उससे कुण्डिनपुरी के गृहोंकी सूर्यमण्डलतक ऊँचाई व्यक्त होती है, इस प्रकार अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराऽधराऽऽलयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्।
जगतां खलु याऽखिलाऽद्‌भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तलमध्योपरिपूरिणां जगतां पृथक् निजचिह्नधारिभिः सारैः क्षितिगर्भधराऽम्बराऽऽलयैः या अखिला अद्‌भुता अजनि खलु ॥ ८१ ॥

व्याख्या—तलमध्योपरिपूरिणां=अधोमध्योर्ध्वपूरकाणां, पातालभूमिस्वर्गाणामित्यर्थः। जगतां=लोकानां, पृथक्=असङ्कीर्णा, निजचिह्नधारिभिः=स्वलक्षणधारकैः, सारैः=उत्कृष्टैः, अंशैः क्षितिगर्भधराम्बराऽऽलयैः=पातालभूम्याकाशगृहैः, या=कुण्डिनपुरी, अखिला=समस्ता, अद्‌भुता=चित्रा, अजनि=जाता ॥ ८१ ॥

अनुवाद—अधोभाग, मध्यभाग और ऊर्ध्वभागको पूर्ण करनेवाले पाताल, भूमि और स्वर्ग इन तीनों लोकोंके भिन्न-भिन्न अपने चिह्नोंको धारण करनेवाले उत्कृष्ट पाताल, भूमि और आकाशमें स्थित भवनोंसे जो (कुण्डिनपुरी) पूर्णरूपसे अद्‌भुत (अनूठी) हो गई ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—तलमध्योपरिपूरिणां=तलं च मध्यं च उपरि च (द्वन्द्वः), तलमध्योपरि पूरयन्तीति तच्छीलानि तलमध्योपरिपूरीणि, तेषाम्, तलमध्योपरि+पूर+णिनि (उपपद०)+आम्। निजचिह्नधारिभिः=निजं च तद् चिह्नं (क० धा०), तद् धारयन्तीति तच्छीलाः निजचिह्नधारिणः, तैः, निजचिह्न+धृ+णिनि (उपपद०)+भिस्। पाताल यानी भूगर्भ (तहखाना), उसका चिह्न—निधि (खजाना) आदि। धरा=पृथिवी, उसका चिह्न—धान्य आदि, आकाश—ऊर्ध्वलोक-ऊँची मञ्जिलवाले भवन, उनके चिह्न-फूल चन्दन आदि भोगके उपकरण। इनको धारण करनेवाले यह तात्पर्य है। क्षितिगर्भधराऽम्बराऽऽलयैः=क्षितेर्गर्भः (ष० त०), क्षितिगर्भ कहनेसे पाताल यानी तहखाना। क्षितिगर्भश्च धरा च अम्बरं च (द्वन्द्वः), तेषु आलयैः (स० त०)। तिमञ्जिले गृहोंसे युक्त जो कुण्डिनपुरी आश्चर्यमयी थी, यह तात्पर्य है। अजनि="जनी प्रादुर्भावे" धातुसे लुङ्+त, "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे च्लिके स्थानमें चिण्, "चिणो लुक्" इस

सूत्रसे उसका लुक्। इस पद्यमें अन्य नगरियोंसे कुण्डिननगरीके आधिक्यके वर्णनसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यत्र अम्बुदनीलकण्ठतां दधत् अत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः वहत् क्षितिभृन्मन्दिरम्, इन्दुमौलितां कथं नाम न ऋच्छतु ? ॥ ८२ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्यां कुण्डिनपुर्याम्, अम्बुदनीलकण्ठतां=मेघैर्नील-कण्ठता, दधत्=धारयत्, अत्यच्छसुधोज्ज्वलम्=अतिनिर्मललेपनद्रव्यनिर्मलं, वपुः=शरीरं, वहत्=बिभ्रत्, क्षितिभृन्मन्दिरं=राजभवनम्, इन्दुमौलितां=चन्द्रमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं चन्द्रशेखरतां वा, कथं नाम=केन प्रकारेण, न ऋच्छतु=नो प्राप्नोतु ॥ ८२ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीमें मेघोंसे श्याम कण्ठवाला अत्यन्त निर्मल चूनेसे उज्ज्वल शरीर धारण करनेवाला राजाका प्रसाद, शिरपर चन्द्रको धारण करनेवाले चन्द्रशेखर (शिव) के भावको क्यों नहीं प्राप्त करेगा ? ॥८२॥

टिप्पणी—अम्बुदनीलकण्ठताम्=अम्बु ददतीति अम्बुदाः, अम्बु+दा+क (उपपद०)। नीलः कण्ठो यस्य सः (बहु०)। नीलकण्ठस्य भावो नील-कण्ठता, नीलकण्ठ+तल्+टाप्। अम्बुदैः नीलकण्ठता, ताम् (तृ० त०)। दधत्=दधातीति, धा+लट्+शतृ+सु, "उभे अभ्यस्तम्" इससे अभ्यस्तसंज्ञा होनेसे "नाऽभ्यस्ताच्छतुः" इससे नुम् आगमका निषेध। राजप्रासादकी चोटीके समीपमें मेघकी उपस्थितिसे नीलकण्ठके समान प्रासाद यह तात्पर्य है। अत्यच्छसुधोज्ज्वलम्=अत्यन्तम् अच्छा (सुप्सुपा०), सा चाऽसौ सुधा (क० धा०), "सुधालेपोऽमृतं सुधा" इत्यमरः। अत्यच्छसुधया उज्ज्वलम् (तृ० त०) अत्यन्त निर्मल चूनेके लेपसे उज्ज्वल भवन। इन्दुमौलि-(शिव) के पक्षमें अत्यन्त निर्मल अमृतके समान उज्ज्वल यह तात्पर्य है। वहन्=वहतीति, वह+लट्+शतृ। क्षितिभृन्मन्दिरं=क्षितिं बिभर्तीति क्षितिभृत्, क्षिति+भृ+क्विप् (उपपद०)। क्षितिभृतः मन्दिरम् (ष० त०)। इन्दुमौलिताम्=इन्दुः मौलौ यस्य (व्यधिकरणबहु०), तस्य भावः तत्ता, ताम्, इन्दुमौलि+तल्+टाप्+अम्। ऋच्छतु=ऋच्छ+लोट्+तिप्। इस पद्य से राजभवनकी मेघमण्डलपर्यन्त ऊँचाई व्यक्त होती है। इस पद्यमें राज-

भवनका इन्दुमौलित्वके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धके कथन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः ।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

अन्वयः—यदनेककसौधकन्धराहरिभिः बहुरूपशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

व्याख्या—यदनेककसौधकन्धराहरिभिः=कुण्डिनपुरीबहुप्रासादमध्यभागस्थसिंहैः, बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु=अधिकसौन्दर्यपाञ्चालिकाऽऽननसोमेषु, स्थिता इति शेषः । कलङ्करङ्कवः=लाञ्छनमृगाः, कुक्षिगतीकृता इव=भक्षिता इव, प्रतीयन्त इति शेषः ॥ ८३ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरी के प्रचुर प्रासादोंके मध्यभागमें निर्मित सिंहोंने अधिक सौन्दर्यवाली पुतलियोंके मुखचन्द्रोंमें स्थित कलङ्करूप मृगोंको मानो खा लिया है ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—यदनेककसौधकन्धराहरिभिः=अनेककानि च तानि सौधानि (क० धा०), यस्या अनेककसौधानि (ष० त०), तेषां कन्धराः (ष० त०), यहाँ "कन्धरा" पदसे मध्यभाग लक्षित होता है । यदनेककसौधकन्धरासु हरयः, तैः (स० त०) । "सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चाऽऽस्यो हर्यक्षः केसरी हरिः" इत्यमरः । बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु=बहु रूपं (सौन्दर्यम्) यासां ता बहुरूपकाः (बहु०), "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय । बहुरूपकाश्च ताः शालभञ्जिकाः (क० धा०), मुखानि एव चन्द्राः (रूपक०), बहुरूपकशालभञ्जिकानां मुखचन्द्राः, तेषु (ष० त०) । कलङ्करङ्कवः=कलङ्का एव रङ्कवः (रूपक०) । "कृष्णसाररुरुन्यङ्कुशम्बररौहिषाः" इत्यमरः । कुक्षिगतीकृताः=कुक्षि गताः (द्वि० त०), "पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्" इत्यमरः । अकुक्षिगताः कुक्षिगता यथा सम्पद्यन्ते तथा कृताः कुक्षिगतीकृताः, कुक्षिगत+च्वि+कृ+क्त+जस् । पुतलियोंके मुख चन्द्रके समान थे, चन्द्रमें कलङ्क होता है, उन लोगोंके मुखचन्द्रमें कलङ्करूप जो मृग थे, उनको भवनोंमें निर्मित सिंहोंने खा लिया, इसीलिए नहीं दिखाई पड़ते हैं। पुतलियों के मुखचन्द्र निष्कलङ्क थे, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें "मुखचन्द्रेषु" इस पदमें रूपक और "कुक्षिगतीकृता इव" इस पदमें उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार इनकी निरपेक्षरूपसे स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ ८३ ॥

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माऽऽह दिवोऽपि नारदः ।
अधराऽथ कृता ययेव सा विपरीताऽजनि भूविभूषया ॥ ८४ ॥

अन्वयः—स तथ्यवाक् नारदः बलिसद्मदिवं दिवः अपि उपरि आह स्म । अथ भूविभूषया यया अधरा कृता इव सा विपरीता अजनि ॥ ८४ ॥

व्याख्या—सः=प्रसिद्धः, तथ्यवाक्=सत्यवचनः, नारदः=ब्रह्मपुत्रः, देवर्षिविशेषः । बलिसद्मदिवं=पातालस्वर्गं, दिवः अपि=स्वर्गात् अपि, उपरि=ऊर्ध्वंस्थिताम्, उत्कृष्टां च, आह स्म=उक्तवान् । अथ=इदानीं, भूविभूषया=भूम्यलङ्कारभूतया, यया=कुण्डिननगर्या, अधरा=न्यूना, अधस्ताच्च, कृता इव=विहिता इव, सा=बलिसद्मद्यौः, विपरीता=अन्यादृशी, नारदोक्तेरिति शेषः । हीना इति भावः । अजनि=जाता, सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधःस्थितिर्वैपरीत्यमिति भावः ॥ ८४ ॥

अनुवाद—प्रसिद्ध सत्यभाषी नारद ऋषिने पातालरूप स्वर्गको स्वर्गसे भी ऊपर (उत्कृष्ट) कहा था । इस समय पृथिवीकी अलङ्कारभूत जिस कुण्डिननगरीने अपने सौन्दर्यसे पातालको अधर (नीचा)-सा कर दिया, इस कारण से वह (पातालरूप स्वर्ग) विपरीत (नीचा) हो गया ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—तथ्यवाक्=तथ्या वाक् यस्य सः (बहु०) । बलिसद्मदिवं=बलेः सद्म (ष० त०), "अधोभुवनपातालं बलिसद्म रसातलम्" इत्यमरः । बलिसद्म एव द्यौः, ताम् (रूपक०) । आह स्म=ब्रू धातुके स्थानमें "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" इस सूत्रसे "आह" आदेश, "स्म" के योगमें भूतकालमें लट् । नारदने विष्णुपुराणमें "स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि" अर्थात् "पाताल स्वर्गसे भी अत्यन्त रमणीय है" ऐसा कहा है । भूविभूषया=भुवो विभूषा, तया (ष० त०) । अजनि=जन+लुङ् (कर्तामें)+त । स्वर्ग और पातालसे भी कुण्डिनपुरी रमणीय है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें "बलिसद्मदिवम्" यहाँपर रूपक और "कृता इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितानधुनाऽप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् यदुत्थितात् कलहात् घर्घरस्वरः अधुना अपि घनान् न उज्झति ॥ ८५ ॥

व्याख्या—पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे=पान्थाह्वायकसक्तुसुगन्धे, प्रतिहट्टपथे =प्रत्यापणमार्गे, घरट्टजात्=गोधूमादिचूर्णपाषाणजन्यात्, यदुत्थितात्=कुण्डिन-नगर्युत्पन्नात्, कलहात्=विवादात्, जात इति शेषः, घर्घरस्वरः=निर्झरस्वरः, अधुना अपि=साम्प्रतम् अपि, घनान्=मेघान्, न उज्झति=न त्यजति। सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं कुर्वन्तीति भावः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—पथिकोंको बुलानेवाले (आकर्षण करनेवाले) सत्तूके सौरभसे युक्त बाजारके मार्गमें चक्कियोंसे उत्पन्न जिस कुण्डिनपुरसे उठे हुए कलहसे घर्घर शब्द अब तक मेघको नहीं छोड़ रहा है ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे=पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः, पथिन् शब्दसे "पथः ष्कन्" इससे ष्कन् प्रत्यय। पथिकानाम् आह्वानम् (ष० त०), तत् ददातीति पथिकाह्वानदम्, पथिकाह्वान+दा+कः (उपपद०)। सक्तूनां सौरभम् (ष० त०)। पथिकाह्वानदं सक्तुसौरभं यस्मिन्, तस्मिन् (बहु०)। प्रतिहट्टपथे=हट्टस्य पन्थाः हट्टपथः (ष० त०), समासान्त अ प्रत्यय। हट्टपथं हट्टपथं प्रति प्रतिहट्टपथं, तस्मिन् (यथा शब्दके वीप्सा अर्थमें अव्ययीभाव) "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" इस सूत्रसे सप्तमीमें बाहुल्येन अम्का अभाव। घरट्ट-जात्=घरट्टात् जातः घरट्टजः, तस्मात्, घरट्ट+जन्+ड (उपपद०)+ङसि। यदुत्थितात्=यस्या उत्थितः, तस्मात् (ष० त०)। घर्घरस्वरः= घर्घरश्चासौ स्वरः (क० धा०)। "घर्घर" यह अव्यक्ताऽनुकरण शब्द है। उज्झति="उज्झी विवासे" धातुसे लट्+तिप्। कुण्डिनपुरमें सब हाटोंमें चक्कियाँ मेघके समान शब्द करती रहती हैं, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमें मेघों का चक्कियोंसे कलहका सम्बन्ध न होनेपर भी कलह-सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और घर्घर शब्दका कलहके हेतुके तौर उत्प्रेक्षणसे इवादि शब्दके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारों का सङ्कर है ॥ ८५ ॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराऽद्रिरागताम्।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्याऽनुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—कनकस्य वरणः अमराऽद्रिः यां मानिनीम् अङ्कात् आगतां दिवं घनरत्नकवाटपक्षतिः (सन्) परिरभ्य अनुनयन् उवास ॥ ८६ ॥

व्याख्या—कनकस्य=सुवर्णस्य, वरणः=प्राकार एव, अमराऽद्रिः=सुर-पर्वतः, सुमेरुरित्यर्थः, यां=नगरीम् एव, मानिनीं=कोपयुक्ताम्, अत एव अङ्कात्=निजोत्सङ्गात्, आगताम्=आयातां, भूलोकमिति शेषः। दिवं=

स्वर्गम्, अमरावतीमित्यर्थः, घनरत्नकवाटपक्षतिः = निबिडमणिकपाटपक्षमूलः सन् । परिरभ्य = आलिङ्गच, अनुनयन् = अनुनय कुर्वन्, अनुसरन्नित्यर्थः, उवास = उषितवान्, कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः ॥८६॥

अनुवाद—सुवर्णप्राकाररूप सुमेरुपर्वत जिस कुण्डिनपुरीरूप मानिनी और गोद से आई हुई अमरावतीको गाढ रत्नोंवाले कपाटरूप पक्षमूलोंसे युक्त होकर आलिङ्गन कर अनुनय करता हुआ रहता था ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—वरणः = "प्राकारो वरणो वप्रः" इत्यमरः । अमराऽद्रिः = अमरस्य अद्रिः (ष० त०) । मानिनीं = मानः अस्ति अस्याः सा मानिनी, ताम्, मान् + इनि + ङीप् + अम् । घनरत्नकवाटपक्षतिः = रत्नानां कवाटे (ष० त०), "कवाटमररं तुल्ये" इत्यमरः । घने रत्नकवाटे एव पक्षती यस्य सः (बहु०) । "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमरः । परिरभ्य = परि + रभ् + क्त्वा (ल्यप्) । अनुनयन् = अनुनयतीति, अनु + नी + लट् (शतृ) + सु । उवास = वस + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यसे विदर्भ देशमें सुवर्णका प्राकार सुमेरु पर्वतके समान है, कुण्डिननगरी अमरावतीकी सदृश है, रत्नोंके किवाड़ सुमेरुपर्वतके पक्षमूलोंके तुल्य हैं, ऐसी प्रतीति होती है । इस पद्यमें सुवर्ण-प्राकारमें सुमेरुपर्वतका और कपाटमें पक्षतिका और कुण्डिननगरीमें अमरावती का आरोप होनेसे समस्तवस्तुविषय साङ्गरूपक और लिङ्गसाम्यसे सुमेरुपर्वत और स्वर्गपुरी में नायक और नायिकाके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्घ्यताम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—या रवेः उदयं लयम् अन्तरा ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः अनलैः परिवेषम् एत्य बाणपुरीपरार्घ्यताम् अवहत् ॥ ८७ ॥

व्याख्या—या = कुण्डिननगरी, रवेः = सूर्यस्य, उदयम् = उद्गमं, लयम् = अस्तमयं च, अन्तरा = मध्ये, सूर्यस्योदयाऽस्तकालयोर्मध्यकाल इति भावः । ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः = दीप्यमानसूर्यकान्तप्राकारोत्पन्नैः, सूर्यकिरणसम्पर्का-दिति शेषः । अनलैः = अग्निभिः, परिवेषं = परिवेष्टनम्, एत्य = प्राप्य, बाणपुरीपरार्घ्यतां = बाणाऽसुरनगरीश्रेष्ठताम्, अग्निपरिवेष्टिततामिति भावः । अवहत् = धृतवान् ॥ ८७ ॥

अनुवाद—जो कुण्डिननगरी सूर्यकिरणके उदय और अस्तकालके मध्य समयमें सूर्यकिरणके सम्पर्कसे जलनेवाले सूर्यकान्तके प्राकारसे उत्पन्न अग्नियों-से घिरी जाती हुई बाणासुरकी नगरीकी श्रेष्ठताको धारण करती थी ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—उदयं, लयम् = "अन्तरा" पदके योगमें "अन्तराऽन्तरेण युक्ते" इस सूत्रसे द्वितीया । ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः = अर्कस्य उपलाः (ष० त०), ज्वलन्तश्च ते अर्कोपलाः (क० धा०), तेषां वप्रः (ष० त०), ज्वलदर्कोपल-वप्रात् जन्म येषां ते ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मानः, तैः (व्यधिकरणबहु०) । बाणपुरी-परार्ध्यतां = बाणस्य पुरी (ष० त०), परार्ध्यस्य भावः परार्ध्यता, परार्ध्य + तल् + टाप् । "पराध्याऽग्रप्रागहरप्राग्त्याऽग्रचाग्रीयमग्रियम्" इत्यमरः । बाणपुर्याः परार्ध्यता, ताम् (ष० त०) । अवहत् = वह + लङ् + तिप् । शिवभक्त बाणा-सुरकी नगरी शिवजीके अनुग्रहसे अग्निसे परिवेष्टित थी, ऐसी पुराणकी प्रसिद्धि है । इस पद्यमें एककी परार्ध्यता दूसरी कैसे धारण करेगी, इस कारण वस्तु-सम्बन्धके सादृश्यका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमबालुकयाऽच्छबालुकः पटु दध्वान यदापणाऽर्णवः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—बहुकम्बुमणिः वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्करः हिमबालुकया अच्छबालुको यदापणाऽर्णवः पटु दध्वान ॥ ८८ ॥

व्याख्या—बहुकम्बुमणिः = अधिकशङ्खरत्नयुक्तः, वराटिकागणनाऽटत्कर-कर्कटोत्करः = कपर्दिकासंख्यानप्रचरत्पाणिकुलीरसमूहसम्पन्नः, एवं च हिमबालु-कया = कर्पूरेण, अच्छबालुकः = निर्मलसिकतः, यदापणाऽर्णवः = कुण्डिननगरी-निषद्यासमुद्रः, पटु = गम्भीरं यथा स्यात्तथा, दध्वान = ननाद ॥ ८८ ॥

अनुवाद—बहुतसे शङ्खों और रत्नोंसे युक्त, कौड़ियोंके गिननेमें चलनेवाले हस्तरूप कर्कटोंसे सम्पन्न और कर्पूरसे निर्मल बालुवाला जिस कुण्डिननगरीका बाजाररूपी समुद्र गम्भीर शब्द करता था ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—बहुकम्बुमणिः = बहवः कम्बवो मणयो यस्मिन् सः (बहु०) । वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्करः = वराटिकानां गणना (ष० त०), कर्कटानाम् उत्कराः (ष० त०), करा एव कर्कटोत्कराः (रूपक०), अटन्तश्च ते करकर्कटोत्कराः (क० धा०), वराटिकागणनायाम् अटत्करकर्कटोत्कराः (स० त०) । हिमबालुकया = "घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताऽभ्रो हिमबालुका" इत्यमरः । अच्छबालुकः = अच्छा बालुका यस्मिन् सः (बहु०) । यदापणाऽर्णवः =

आपण एव अर्णव. (रूपक०), यस्या आपणाऽर्णवः (ष० त०) । पटु=यह क्रियाविशेषण है । दध्वान=''ध्वन शब्दे'' धातुसे लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें समस्तवस्तुविषय साऽङ्गरूपक अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गया प्रतिचन्द्रोदयं पतिव्रतौचिती न मुमुचे ॥ ८९ ॥

व्याख्या—यदगारेत्यादिः० = कुण्डिननगरीगृहपङ्क्तिक्षौमनिबद्धभूमिस्यन्दमानचन्द्रकान्तमणीप्रवृद्धजलया, अभ्रगङ्गया=मन्दाकिन्या, प्रतिचन्द्रोदयं=चन्द्रोदये चन्द्रोदये, पतिव्रतौचिती=सत्या औचित्यं, न मुमुचे=न परित्यक्ता ॥ ८९ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीके भवनोंकी अटारियोंकी निबद्धभूमियोंमें पिघलनेवाले चन्द्रकान्त मणियोंसे बढ़े हुए जलसे युक्त आकाशगङ्गाने प्रत्येक चन्द्रोदयके अवसरमें पतिव्रताका औचित्य नहीं छोड़ा ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—यदगारेत्यादिः०=अगाराणां घटाः (ष० त०), यस्याम् अगारघटाः (स० त०), यदगारघटासु अट्टाः (स० त०), ''स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्'' इत्यमरः । तेषां कुट्टिमाः ''कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः'' इत्यमरः । इन्दोः उपलाः (ष० त०), स्रवन्तश्च ते इन्दूपलाः (क० धा०) । यदगारघटाऽट्टकुट्टिमेषु स्रवदिन्दूपलाः (स० त०) । तुन्दिला आपः यस्याः सा तुन्दिलाऽपाः, ''ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे'' इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय । ''पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्'' इत्यमरः । तुन्दम् अस्याऽस्तीति तुन्दिलः, ''तुन्द'' शब्दसे ''तुन्दादिभ्य इलच्च'' इस सूत्रसे इलच् प्रत्यय होता है । यद्यपि ''तुन्द'' शब्दका अर्थ है उदर, बढे हुए उदरवाले (तोंदवाले) को तुन्दिल कहते हैं, तथापि यहाँपर ''तुन्दिल'' शब्दका लाक्षणिक अर्थ है बढ़ा हुआ । यदगारघटाऽट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलैः तुन्दिलापा, तया (तृ० त०) । अभ्रगङ्गया=अभ्रे गङ्गा, तया (स० त०) । ''द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योमपुष्करमम्बरम्'' इत्यमरः । प्रतिचन्द्रोदयं=चन्द्रस्य उदयः (ष० त०), चन्द्रोदये चन्द्रोदये इति, वीप्सामें अव्ययीभाव । पतिव्रतौचिती=पत्यौ व्रतं (नियमः) यस्याः सा पतिव्रता (व्यधि०बहु०), ''सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता'' इत्यमरः । उचितस्य भाव औचिती, ''उचित'' शब्दसे ''गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च'' इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय । ''षः प्रत्ययस्य'' इससे 'ष' का और ''हलस्तद्धितस्य'' इससे 'य' का लोप तथा षित् होनेसे

"षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । पतिव्रताया औचिती (ष० त०) । पतिव्रता का लक्षण है—"आर्ताऽऽर्ते, मुदिते हृष्टा, प्रोषिते मलिना कृशा । मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ।" (या० स्मृ०) । मुमुचे="मुच्लृ मोक्षणे" धातुसे कर्ममें लुङ्+त । इस पद्यमें कुण्डिनपुरमें बड़े-बड़े भवन हैं, उनमें अटारियाँ आकाशके समान ऊँची हैं, वहाँपर फर्शमें चन्द्रकान्त मणि जड़े हुए हैं, चन्द्रके उगनेपर उनकी किरणोंके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तके पिघलनेसे पानी निकलता है, वही आकाशगङ्गा है । चन्द्रोदय होनेपर जैसे आकाशगङ्गाके पति समुद्रके जलकी वृद्धि होती है, वैसे ही पत्नी आकाशगङ्गामें भी पतिव्रताधर्मके पालनके कारण जलकी वृद्धि होती है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें चन्द्रकान्तसे पिघले हुए जलसे आकाशगङ्गामें जलवृद्धिका सम्बन्ध न होनेपर भी उसकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और समृद्धिविशिष्ट वस्तुका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार है, उन दोनोंके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है और अतिशयोक्तिसे कुण्डिननगरी के गृहोंका औन्नत्य व्यक्त होता है । इस प्रकार अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभुर्विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

अन्वयः—यत्र अनुसायं विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः अस्तम् इतस्य भास्वतः स्खलिताः निरालया रुचयः अभुः खलु ॥ ९० ॥

व्याख्या—यत्र = कुण्डिननगर्याम्, अनुसायं=प्रतिसन्ध्याकालं, विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः—विलेपनापणेषु = सुगन्धद्रव्यनिषद्यासु, कश्मीरजपण्यवीथयः=कुङ्कुमरूपविक्रेयवस्तुश्रेणयः, अस्तम्=अस्तपर्वतम्, इतस्य=गतस्य, भास्वतः=सूर्यस्य, स्खलिताः=च्युताः, अत एव निरालयाः=निराश्रयाः, रुचयः=प्रभाः, अभुः=भान्ति स्म, खलु=निश्चयेन ॥ ९० ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमें प्रति सायङ्कालको सुगन्धद्रव्योंकी दूकानों पर केशररूप विक्रेयपदार्थोंकी राशियाँ अस्ताचलको गये हुए सूर्यकी च्युत तथा आश्रयहीन प्रभाओंके समान शोभित होती थी ॥ ९० ॥

टिप्पणी—अनुसायं=सायं सायम् (वीप्सामें अव्ययीभाव) । विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः=विलेपनानाम् आपणाः (ष० त०), "आपणस्तु निषद्यायाम्" इत्यमरः । कश्मीरेषु जातानि कश्मीरजानि, कश्मीर+जन्+ डः । पणितुं योग्यानि पण्यानि, "पण व्यवहारे स्तुतौ च" धातुसे "अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इस सूत्रसे यत्प्रत्ययान्त निपातन । कश्मीरजानि

च तानि पण्यानि (क० धा०), तेषां वीथयः (ष० त०), विलेपनाऽऽपणेषु कश्मीरजपण्यवीथयः (स० त०)। निरालयाः=निर्गत आलयो याभ्यस्ताः (बहु०)। अभुः="भा दीप्तौ" धातुसे लुङ्+झि। इस पद्यमें इव आदि शब्दोंके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और सूर्यकी रुचियोंका निरालयत्व कहनेसे विशेष अलङ्कार भी है। इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है। उसका यहांपर लक्षण है—"यदाधेयमनाधारम्।" १०—७३ ॥ ९० ॥

विततं वणिजाऽऽपणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिलं जगतीवस्तु पुरा हरेः उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—यत्र=कुण्डिननगर्यां, वणिजा=पण्याजीवेन, पणितुं=व्यवहर्तुम्, आपणे=निषद्यायां, विततं=प्रसारितम्, अखिलं=समस्तं, जगतीवस्तु=लोकपदार्थः, पुरा=पूर्वकाले, हरेः=विष्णोः, उदरे=जठरे, मृकण्डुसूनुना=मार्कण्डेयेन, मुनिना इव=ऋषिणा इव, जनेन=लोकेन, वीक्ष्यते=अवलोक्यते।

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमें व्यापारीसे बेचनेके लिए दुकानमें फैलाये गये सम्पूर्ण लोकोंका पदार्थ, पूर्वकालमें विष्णुके उदरमें मार्कण्डेय ऋषिके समान लोग देखा करते हैं ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—वणिजा="वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक्" इत्यमरः। पणितुं=पण+तुमुन्। जगतीवस्तु=जगत्यां वस्तु (स० त०)। मृकण्डुसूनुना=मृकण्डोः सूनुः, तेन (ष० त०)। वीक्ष्यते=वि+ईश+लट् (कर्ममें)+त। जैसे पूर्वकालमें मार्कण्डेय मुनिने भगवान् विष्णुके उदरमें लोकका समस्त पदार्थ देखा था, उसी तरह जिस कुण्डिननगरीकी दूकानमें लोग लोकके समस्त पदार्थ देखते हैं, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ९१ ॥

सममेणमदैर्यदापणे तुलयन्सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनाऽऽरवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यदापणे सौरभलोभनिश्चलं मलीमसम् अलिम् एणमदैः समं तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनाऽऽरवैः न अवैत् ॥ ९२ ॥

व्याख्या—यदापणे=कुण्डिननगरीनिषद्यायां, सौरभलोभनिश्चलं=सौगन्ध्यलोलुपत्वस्थिरं, मलीमसं=मलिनं, कस्तूरीसवर्णमिति भावः। अलिं=भ्रमरम्,

एणमदैः=कस्तूरीभिः, समं=सह, तुलयन्=तोलयन्, पणिता=विक्रेता, कूजन्तम् अपि=गुञ्जन्तम् अपि, जनाऽऽरवैः=लोकशब्दैः, कलकलैरित्यर्थः। न अवैत्=न ज्ञातवान्, शब्दोऽस्तीति शेषः ॥ ९२ ॥

अनुवाद—कुण्डिनपुरके बाजारमें सुगन्धके लोभसे निश्चल कृष्णवर्णवाले भ्रमरको कस्तूरियोंके साथ तौलता हुआ बिक्री करता हुआ व्यापारी शब्दके करनेपर भी लोगोंके शोरगुलोंसे नहीं जानता था ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—यदापणे=यस्या आपणः, तस्मिन् (ष० त०)। सौरभलोभ-निश्चलं=सुरभेर्भावः सौरभं, सुरभि+अण्। सौरभस्य लोभः (ष० त०), तेन निश्चलः, तम् (तृ० त०)। मलीमसं='मल' शब्दके "ज्योत्स्नातमिस्रा०" इत्यादि सूत्रसे ईमसच्प्रत्ययाऽन्त निपातन, "मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मल-दूषितम्" इत्यमरः। एणमदैः=एणस्य मदाः, तैः (ष० त०), "समम्" इस पदके योगमें तृतीया। तुलयन्="तुल उन्माने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लट्के स्थानमें शतृ आदेश। संज्ञापूर्वक विधिसे लघूपधगुण नहीं हुआ। पणिता=पणत इति, पण+तृच्+सु। कूजन्तं=कूज+लट् (शतृ)+अम्। जनाऽऽरवैः=जनानाम् आरवाः, तैः (ष० त०)। अवैत्=अव+इण्+लङ्+तिप्। इस पद्यमें प्रकृत भ्रमरको कृष्णवर्ण गुणसे अप्रकृत कस्तूरीसे तादात्म्यप्रतीति होनेसे "सामान्य" अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"सामान्यं प्रकृतस्याऽन्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः।" सा० द० १०-११६॥९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाऽहं ज्वलनाऽऽहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥ ९३ ॥

अन्वयः—यत्र सकलाऽहं ज्वलनाऽऽहितोष्मणा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छतां चरणौ शिशिरे निशि हिमं पुरा नो दुनोति ॥ ९३ ॥

व्याख्या—यत्र=कुण्डिननगर्यां, सकलाऽहं=सम्पूर्णं दिवं (व्याप्य), ज्वलनाऽऽहितोष्मणा=अग्निजनिततापेन, रविकान्तमयेन=सूर्यकान्तमणिस्वरूपेण, सेतुना=आलिसदृशमार्गेण, सूर्यकान्तकुट्टिमाऽध्वनेति भावः। गच्छतां=सञ्चरतां जनानां, चरणौ=पादौ। शिशिरे=शिशिरर्तौ, निशि=रात्रौ, हिमं=तुहिनं, पुरा नो दुनोति=न अपीडयत् ॥ ९३ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमें दिनभर अग्निसे उत्पन्न तापवाले सूर्य-कान्तमणिसे निबद्ध भूमिके मार्गसे चलनेवाले जनोंके चरणोंको शिशिर ऋतुमें भी रातको जाड़ा पीड़ित नहीं करता था ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—सकलाऽह्नम्=सकलं च तत् अहः, तम् (क० धा०), "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासान्त टच् प्रत्यय, "रात्राऽह्नाहाः पुंसि" इस सूत्रसे पुंल्लिङ्गता "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया । ज्वलनाऽऽहितोष्मणा=आहिता उष्मा (उष्णता) येन स आहितोष्मा (बहु०), ज्वलनेन आहितोष्मा, तेन (तृ० त०), रविकान्तमयेन=प्रचुरः रविकान्तो यस्मिन् सः, तेन, "रविकान्त" शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय । गच्छतां=गम+लट् (शतृ)+आम् । पुरा नो दुनोति="पुरा" के योगमें "टुदु उपतापे" इस धातुसे "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भूतकाल में लट् । कुण्डिननगरीमें सूर्यकान्तमणिकी कुट्टिम भूमिमें दिनभर सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे उत्पन्न आगकी गर्मीकी शिशिरऋतुमें रातमें चलनेवाले मनुष्योंके चरणोंको जाड़ा नहीं सताता था, यह इस पद्यका तात्पर्य है । इस पद्यमें हिमरूप कारणके रहनेपर भी उसका कार्य पीडाकी उत्पत्ति न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है, वह ऊष्मा (उष्णता) की उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता है और समृद्धिविशिष्ट वस्तुका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार भी है, इस प्रकार दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपाऽऽगमे कलितीव्रस्तपति स्म नाऽऽतपः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—विधुदीधितिजेन पयसा नैषधशीलशीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं तपाऽऽगमे कलितीव्रः आतपः न तपति स्म ॥ ९४ ॥

व्याख्या—विधुदीधितिजेन=चन्द्रकिरणसम्पर्कोत्पन्नेन, पयसा=जलेन, नैषधशीलशीतलं=नलस्वभावसदृशशीतं, शशिकान्तमयं=चन्द्रकान्तमणिनिर्मितं, यत्पथं कुण्डिननगरीमार्गं, कलितीव्रः=कलिसदृशतीक्ष्णः, आतपः=सूर्यतापः, न तपति स्म=न अतपत् ॥ ९४ ॥

अनुवाद—चन्द्रकिरणोंके सम्पर्कसे उत्पन्न जलसे नलके स्वभावके समान शीतल चन्द्रकान्त मणिसे बने हुए जिस कुण्डिनपुरीके मार्गको कलिके समान तीक्ष्ण धूप ताप नहीं करती थी ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—विधुदीधितिजेन=विधोः (ष० त०), तस्या जातं विधुदीधितिजं, तेन, विधुदीधिति+जन्+ड+टा । नैषधशीलशीतलं=निषधानाम् अयं नैषधः, निषध+अण् । नैषधस्य शीलं (ष० त०) । "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः । नैषधशीलम् इव शीतलम्, "उपमानानि सामान्य-

वचनैः" इससे समास । शशिकान्तमयं=प्रचुराः शशिकान्ता यस्मिन्, तम्, शशिकान्त+मयट् । यत्पथं=यस्याः पन्थाः, तम् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूः-पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय । तपाऽऽगमे=तपस्य आगमः, तस्मिन् (ष० त०)। "निदाघ उष्णोपगम उष्ण उष्मागमस्तपः" इत्यमरः । कलितीव्रः=कलिरिव तीव्रः, (उपमानपूर्वपदकर्म०) । तपति स्म='तप सन्तापे' धातुसे "स्म" उत्तरपदके रहते हुए भूतकालमें लट् । चन्द्रकान्तमणिसे निर्मित जिस कुण्डिनपुरीके मार्गको चन्द्रकी किरणोंके सम्पर्कसे उत्पन्न जलके कारण ठण्डा होनेसे ग्रीष्म ऋतुके आगमनमें भी धूप ताप नहीं करती थी, यह अभिप्राय है । इस पद्यमें भी ग्रीष्मके आगमन रूप कारणके रहने पर उसके कार्य तापकी उत्पत्ति न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है, उसमें चन्द्रकिरणके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तके पिघलनेसे जलकी उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता है,'कलितीव्रः' और 'नैषधशीलशीतलम्' दोनों उपमा अलङ्कार है. इस प्रकार उनकी संसृष्टि है।

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

अन्वयः—परिखावलयच्छलेन कुण्डलनाम् अवापिता परेषां ग्रहणस्य न गोचरा या विषमा फणिभाषितभाष्यफक्किका ॥ ९५ ॥

व्याख्या—परिखावलयच्छलेन=खेयमण्डलव्याजेन, कुण्डलनाम्=मण्डलाकाररेखाम्, अवापिता=प्रापिता, अत एव, परेषां=शत्रूणाम्, अन्येषां च, ग्रहणस्य=आक्रमणस्य च । न गोचरा=अविषया, या=कुण्डिननगरी, विषमा=दुर्बोधा, फणिभाषितभाष्यफक्किका=पतञ्जलिकथितमहाभाष्यकुण्डलावृतग्रन्थः, कुण्डिनपुरी पातञ्जलमहाभाष्यविनष्टग्रन्थभागसदृशी विषमा इति भावः ॥९५॥

अनुवाद—खाईके मण्डलके बहानेसे मण्डलाकार रेखाको प्राप्त करायी गयी शत्रुओंके आक्रमणके बाहर, जो कुण्डिननगरी दूसरेके ज्ञानका अविषय दुर्बोध, शेषनागसे कथित भाष्यकी फक्किका (विनष्ट ग्रन्थभाग) के सदृश थी ॥९५॥

टिप्पणी—परिखावलयच्छलेन=परितः खाताः परिखाः, परि-उपसर्गपूर्वक "खनु अवदारणे" इस धातुसे "अन्येष्वपि दृश्यते" इस सूत्रसे ड प्रत्यय और टाप् "खेयं तु परिखा" इत्यमरः । परिखाणां वलयः (ष० त०), तस्य छलं, तेन (ष० त०) । अवापिता=अव+आप्+णिच्+क्त+टाप् । फणिभाषितभाष्यफक्किका=फणा अस्याऽस्तीति फणी, "फणा" शब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च"

इस सूत्रसे इनि; "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवा काकोदरः फणी" इत्यमरः। फणा होनेसे सर्पको "फणी" कहते हैं। यहाँपर "फणी" कहनेसे पाणिनिकी अष्टाध्यायीके महाभाष्यकार शेषनागके अवतार पतञ्जलि मुनि विवक्षित हैं। फणिना भाषितम् (तृ० त०), फणिभाषितं च तत् भाष्यम् (क० धा०), सूत्रकी व्याख्याको "भाष्य" कहते हैं। उसका लक्षण है—

"सूत्राऽर्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्राऽनुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

अर्थात् जहाँ पर सूत्रके अनुसरण करनेवाले पदोंसे सूत्रार्थका और उसी प्रसङ्गमें प्रतिपादित स्वपदोंका भी वर्णन होता है, उसे "भाष्य" कहते हैं। काव्यमीमांसामें राजशेखरने "आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्" ऐसा लक्षण किया है। जहाँपर आक्षेपपूर्वक सूत्रार्थका वर्णन किया जाता है, उसे भाष्य कहते हैं। फणिभाषितभाष्यस्य फक्किका (ष० त०)। कहा जाता है कि अष्टाध्यायीके सूत्रोंका महाभाष्य पेड़के पत्तोंपर लिखकर कोई विद्वान् ले आ रहे थे, वे मध्याह्नमें पेड़के नीचे सो रहे थे, इतनेमें कुछ सूत्रोंके व्याख्या-भाग भाष्यके पत्रोंको बकरीने खा लिया, अतः उतने भागमें कुण्डलाकार चिह्न अङ्कित है। जैसे वे सूत्रांऽश भाष्यकी अनुपलब्धिसे दुर्ज्ञेय है, उसी तरह खाईसे कुण्डलाकार घिरी हुई कुण्डिननगरी शत्रुओंसे आक्रमणकी विषयभूत नहीं है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें कैतवाऽपह्नुति और नगरीका कुण्डलिग्रन्थत्वसे उत्प्रेक्षा, वह व्यञ्जक शब्दोंके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर हैं॥ ९५॥

मुखपाणिपदाऽक्षिण पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम्॥ ९६॥

अन्वयः—यत्र मुखपाणिपदाऽक्षिण पङ्कजैः, अपरेषु अङ्गेषु चम्पकैः रचिता भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं स्वयम् आदित॥ ९६॥

व्याख्या—यत्र = कुण्डिननगर्यां, मुखपाणिपदाऽक्षिण = वदनकरचरणनेत्रे, पङ्कजैः = कमलैः, रचिता, अपरेषु = अन्येषु, मुखपाणिपदाक्षिव्यतिरिक्तेष्विति भावः। अङ्गेषु = अवयवेषु, चम्पकैः = चम्पकपुष्पैः, रचिता = निर्मिता, सर्वत्र सादृश्याद् व्यपदेशः, तादृशी, भीमजाः = दमयन्ती, स्मरपूजाकुसुमस्रजः = कामाऽर्चनपुष्पमालायाः, श्रियं = शोभां, स्वयम् = आत्मनैव, आदित = आत्तवती, गृहीतवती॥ ९६॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमें मुख, हाथों, चरणों और नेत्रोंमें कमलोंसे और मुख आदिसे अतिरिक्त और अङ्गोंमें चम्पक पुष्पोंसे बनायी गयी दमयन्ती, कामदेवकी पूजाके फूलोंकी मालाको स्वयं (खुद) ग्रहण करती थीं ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—मुखपाणिपदाक्षिण = मुखं च पाणी च पदे च अक्षिणी च मुखपाणिपदाऽक्षि, तस्मिन् । "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इस सू । समाहार द्वन्द्व । "पदाऽङ्गाऽधिकारे तस्य च तदन्तस्य च" इससे तदन्तविधिकी अनुज्ञासे "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः" इससे अनङ् और "अल्लोपोऽनः" इससे अल्लोप । भीमजा = भीमाज्जाता, भीम + जन् + ड + टाप् (उपपद०) । स्मरपूजाकुसुमस्रजः = स्मरस्य पूजा (ष० त०), तस्यां कुसुमानि (स० त०), तेषां स्रक्, तस्याः (ष० त०) । आदित = आङ्-उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "आङो दोऽनास्यविहरणे" इससे आत्मनेपद होकर लुङ् + त, "स्थाघ्वोरिच्च" इससे इत्व और "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप । जिस कुण्डिननगरीमें मुखमें श्वेत कमलसे, हाथोंमें और चरणोंमें रक्त कमलोंसे तथा नेत्रोंमें नीलकमलोंसे एवं मुख आदिसे भिन्न अङ्गोंमें चम्पक पुष्पोंसे बनायी गयी दमयन्ती, कामदेवकी पूजामें फूलोंकी मालाकी शोभा प्राप्त करती थी अर्थात् दमयन्तीके मुख, हाथ, चरण और नेत्र कमलके समान तथा उनसे भिन्न अङ्ग चम्पक पुष्पोंके समान थे, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें कमलों और चम्पकपुष्पोंसे दमयन्तीके मुखादि अङ्गोंकी रचनाके असम्बन्धमें भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और एककी शोभाका दूसरेसे ग्रहणके असंभव होनेसे सादृश्यका आक्षेप होकर निदर्शना, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ।

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः ।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—जघनस्तनभारगौरवात् वियत् आलम्ब्य विहर्तुम् अक्षमाः शतम् अप्सरसः अवतीर्य तत्सखीजनः याम् अध्यासत ध्रुवम् ॥ ९७ ॥

व्याख्या—जघनस्तनभारगौरवात् = नितम्बकुचभरगुरुत्वात् हेतोः, वियत् = आकाशम्, आलम्ब्य = आश्रित्य, विहर्तुं = क्रीडितुम्, अक्षमाः = असमर्थाः, शतं = बहुसंख्यकाः, अप्सरसः = स्ववेंश्या उर्वश्यादय इति भावः । अवतीर्य = अवरुह्य, स्वर्गादागत्येति भावः । तत्सखीजनः = दमयन्तीवयस्यागणः, दमयन्तीसख्यः सत्यः, यां = कुण्डिननगरीम्, अध्यासत = अध्यतिष्ठन्, ध्रुवं = सम्भावनायाम् । अप्सरःसदृश्यो दमयन्तीसख्यो दमयन्तीमुपासत इति भावः ॥ ९७ ॥

अनुवाद—नितम्ब और कुचोंके भारकी गुरुतासे आकाशको अवलम्बन कर क्रीडा करनेके लिए असमर्थ बहुत-सी अप्सराएँ स्वर्गसे आकर दमयन्तीकी सखियाँ होकर जिस कुण्डिननगरीमें रहती हैं क्या ? ऐसा मालूम होता था ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—जघनस्तनभारगौरवात् = जघनं च स्तनं च जघनस्तनं, 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्' इस सूत्रसे प्राण्यङ्ग होनेसे समाहार द्वन्द्व। जघनस्तनस्य भारः (ष० त०), गुरोर्भावः गौरवं, गुरु + अण्। जघनस्तनभारस्य गौरवं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। आलम्ब्य = आङ् + लबि + क्त्वा (ल्यप्)। विहर्तुम् = वि + हृञ् + तुमुन्। अक्षमाः = न क्षमा (नञ्०)। शतं = "विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोः" इत्यमरः। अवतीर्य = अव + तृ + क्त्वा (ल्यप्)। तत्सखीजनः = सखी चाऽसौ जनः (क० धा०), "जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" इससे जातिमें एकवचन, याम् = "अध्यासत" अधि-उपसर्गपूर्वक आस धातुके योगमें "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे आधारकी कर्मता होनेसे द्वितीया। अध्यासत = अधि + शीङ् + आस + लङ् + झ। अप्सराओंके सदृश दमयन्तीकी सखियाँ उनकी सेवा करती थी, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है. "ध्रुवम्" यह पद उसका वाचक है ॥ ९७ ॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु वा कथं कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा न वा ॥ ९८ ॥

अन्वयः—चित्रमयी या स्थितिशालिसमस्तवर्णतां कथं न बिभर्तु ? कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा या स्वरभेदं कथं वा न उपैतु ॥ ९८ ॥

व्याख्या—चित्रमयी=आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, या = कुण्डिननगरी, स्थितिशालिसमस्तवर्णतां=मर्यादाशोभिसकलब्राह्मणादिवर्णताम् (आश्चर्यप्रचुरापक्षे), मर्यादाशोभिसकलशुक्लादिवर्णताम् (आलेख्यप्रचुरापक्षे), कथं = केन प्रकारेण, न बिभर्तु = नो धारयतु, धारयत्येवेति भावः। एवं च कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा = प्राप्तबहुमुखशब्दा प्राप्तचतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखशब्दा च, या=पुरी, स्वरभेदं = ध्वनिनानात्वं (प्राप्तबहुमुखशब्दापक्षे), स्वर्गात् अभेदं (प्राप्तचतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखशब्दापक्षे), कथं वा = केन प्रकारेण वा, न उपैतु = न प्राप्नोतु, उपैत्येवेति भावः ॥ ९८ ॥

अनुवाद—प्रचुर आश्चर्यवाली और प्रचुर चित्रवाली जो कुण्डिननगरी मर्यादावाले ब्राह्मण आदि वर्णोंसे युक्त और ठीक स्थानमें रहनेवाले शुक्ल-कृष्ण

आदि वर्णोंसे युक्त क्यों न हो ? मनुष्य आदिके अनेक मुखोंसे शब्दोंको प्राप्त करनेवाली जो नगरी स्वरके भेदको क्यों नहीं प्राप्त करेगी ? और बहुमुखवालों (चतुर्मुख=ब्रह्मा, पञ्चमुख=महादेव और षण्मुख=कार्तिकेय) शब्दको प्राप्त करनेवाली जो कुण्डिननगरी स्वर्गसे अभेदको क्यों नहीं प्राप्त करेगी ? ॥९८॥

टिप्पणी—चित्रमयी=प्रचुरं चित्रमस्ति यस्याः सा, चित्र+मयट्+ङीप् "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमरः। स्थितिशालिसमस्तवर्णतां=स्थित्या-शाड-(ल)न्ते तच्छीलाः इति स्थितिशालिनः, स्थिति+शाड्+णिनि। "ड" और "ल" के अभेदसे "स्थितिशालिनः" ऐसा पद हुआ है। "स्थितिः स्त्रियामवस्थाने मर्यादायां च सीमनि" इत्यमरः। समस्ताश्च ते वर्णाः (क० धा०), "वर्णो द्विजाऽऽदौ शुक्लादौ स्तुतौ, वर्णं तु वाऽक्षरे" इत्यमरः। स्थितिशालिनः समस्तवर्णा यस्याः सा (बहु०), तस्याः भावः स्थितिशालि-समस्तवर्णता, ताम्, स्थितिशालिसमस्तवर्णा+तल्+टाप्+अम्। "सामान्ये नपुंसकम्" इससे नपुंसकलिङ्गता। बिभर्तु=डुभृञ्+लोट्+तिप्। आश्चर्य-मयी इस नगरीमें ब्राह्मण आदि संपूर्ण वर्ण अपनी मर्यादामें थे, प्रचुर चित्रों-वाली इस नगरीमें चित्रोंमें शुक्ल, नील आदि समस्त वर्ण (रङ्ग) ठीक स्थानमें थे। मनुष्य आदिके मुखोंके शब्दोंवाली जो नगरी स्वरोंके भेदको प्राप्त करती थी तथा बहुत मुखोंवालों (चतुर्मुख=ब्रह्मा, पञ्चमुख=महादेव और षण्मुख=कार्तिकेय) के शब्दोंको प्राप्त करनेवाली जो नगरी (स्वः अभेदम्) स्वर्गसे अभेदको प्राप्त करती थी अर्थात् जैसे स्वर्गमें चतुर्मुख, पञ्चमुख और षण्मुखके शब्द हैं, वैसे ही यहाँपर बहुत मुखोंके शब्द हैं, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध-में अर्थापत्ति, शब्दश्लेष और प्रकृतिश्लेषका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर और उत्तरार्द्धमें भी वैसा ही सङ्कर है। समुदायमें संसृष्टि अलङ्कार है॥ ९८॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशिमाणिक्यमया यदालयाः॥ ९९॥

अन्वयः—माणिक्यमया यदालयाः दिनं समीयुषा अर्केण उत्तृषः (सन्तः) निशि स्वरुचा अरुणया पताकया सुधाकरं बहुधा लिलिहुः॥ ९९॥

व्याख्या—माणिक्यमयाः=पद्मरागरत्ननिर्मिताः यदालयाः=कुण्डिन-नगरीगृहाः, दिनं=दिवसं व्याप्य, समीयुषा=सङ्गतेन, अर्केण=सूर्येण हेतुना, उत्तृषः=उत्पन्नपिपासाः सन्तः, सूर्यकिरणसम्पर्कादिति शेषः। निशि=रात्रौ, स्वरुचा=आलयप्रभया, अरुणया=रक्तवर्णया, पताकया=वैजयन्त्या,

रसनायमानयेति भावः । सुधाकरम्=अमृतनिधिं, चन्द्रमित्यर्थः, बहुधा=अनेकप्रकारैः, लिलिहुः=आस्वादयामासुः । दिवसे सन्तप्ता रात्रौ शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः ॥ ९९ ॥

अनुवाद—पद्मराग रत्नोंसे बने हुए जिस कुण्डिननगरीके भवन, दिनभर मिले हुए सूर्यके कारण प्यासे होकर रातमें भवनकी कान्तिसे लाल रसना-(जीभ) के सदृश पताकासे चन्द्रमाको अनेक प्रकारसे आस्वादन करते थे।

टिप्पणी—माणिक्यमयाः=माणिक्यानां विकाराः, माणिक्य+मयट्। यदालयाः=यस्याम् आलयाः (स० त०)। दिनं='कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इस सूत्रसे कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया । समीयुषा=सम्–उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इस सूत्रमें 'उद्' इस उपसर्गके अविवक्षित होनेसे उपसर्गरहित वा अन्य उपसर्गसे युक्त इण् धातुसे क्वसु प्रत्ययान्त निपातन । सम्+इण्+क्वसु+टा । उत्तृषः=उद्गता तृट् येषां ते (बहु०), स्वरुचा=स्वस्य रुक्, तया (ष० त०) । सुधाकरं=सुधाया आकरः, तम् (ष० त०) । बहुधा=बहुभिः प्रकारैः, 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इस सूत्रसे संख्यासंज्ञा होनेसे "बहु" शब्दसे "संख्याया विधार्थे धा" इस सूत्रसे धा प्रत्यय । लिलिहुः="लिह आस्वादने" धातुसे लिट्+झि । इस पद्यमें पताकाओंके अपने शुक्लगुणका परित्याग कर माणिक्यमें स्थित अरुण गुणका ग्रहण करनेसे तद्गुण और कुण्डिनके आलयोंका चन्द्रलेहनकी उत्प्रेक्षा करनेमें इव आदि वाचक शब्दोंके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्माऽमलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—अमलपद्मरागजं यन्नृपसद्म अर्ककरैः श्रितं पिपासुः (सत्) स्वरुचा जिह्वानिभया पताकया निशि सुधाकरं लिलिहे ॥ १०० ॥

व्याख्या—पूर्वोक्तमेवाऽर्थं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति–लिलिह इति । अमलपद्मरागजं=निर्मलपुष्परागरत्ननिर्मितं, यन्नृपसद्म=कुण्डिननगरीराजभवनम्, अर्ककरैः=सूर्यकिरणैः, श्रितम्=अभिव्याप्तम्, अतिसामीप्यादिति शेषः । अत एव पिपासुः=तृषितं सत्, स्वरुचा=स्वसदृशकान्तियुक्तया, जिह्वानिभया=रसनासदृश्या, पताकया=वैजयन्त्या, निशि=रात्रौ, सुधाकरं=चन्द्रमसं, लिलिहे=आस्वादयामास ॥ १०० ॥

अनुवाद—निर्मल पुष्परागरत्नोंसे निर्मित कुण्डिननगरीका राजप्रासाद, सूर्यकिरणोंसे अभिव्याप्त अतएव प्यासा होकर अपनी कान्तिवाली जीभके समान पताकाके चन्द्रमाका आस्वादन करता था ।। १०० ।।

टिप्पणी—अमलपद्मरागजम् =पद्मरागेभ्यो जातं पद्मरागजम्, पद्मराग+जन्+डः । अमलं च तत् पद्मरागजम् (क० धा०) । यन्नृपसद्म=नृपस्य सद्म (ष० त०), यस्या नृपसद्म (ष० त०) । अर्ककरैः=अर्कस्य कराः, तैः (ष० त०) । श्रितं=श्रि+क्तः (कर्ममें) । पिपासु=पातुम् इच्छुः, पा+सन्+उः । स्वरुचा=स्वा रुक् यस्यां सा स्वरुक्, तया (बहु०) । जिह्वानिभया =जिह्वया सदृशी जिह्वानिभा, तया (तृ० त०) । लिलिहे="लिह आस्वादने" धातुसे कर्तामें लिट्+त । इस पद्यमें पहलेके समान तद्गुण, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उपमा—इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है ।। १०० ।।

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनः सखितामादित पीतवाससः ।। १०१ ।।

अन्वयः—पीतया यद्वलभीपताकया मिलितम् अमृतद्युतिलक्ष्म वलयायितशेषशायिनः पीतवाससः सखिताम् आदित ।। १०१ ।।

व्याख्या—पीतया=पीतवर्णया, यद्वलभीपताकया=कुण्डिननगरीवैजयन्त्या, मिलितं=सङ्गतं, सामीप्यादिति शेषः । अमृतद्युतिलक्ष्म=चन्द्रलाञ्छनं, वलयायितशेषशायिनः=मण्डलीभूताऽनन्तनागे शयनशालिनः, पीतवाससः=पीताम्बरस्य, विष्णोरित्यर्थः । सखितां=सादृश्यम्, आदित=अग्रहीत ।। १०१ ।।

अनुवाद—पीतवर्णवाली जिस कुण्डिननगरीके ऊँचे गृहकी पताकासे संगत चन्द्रमाका कलङ्क, मण्डलाकार शेषनागमें सोनेवाले पीताम्बर (विष्णु) के सादृश्यको ग्रहण करता था ।। १०१ ।।

टिप्पणी—पीतया="पीतो गौरो हरिद्राऽऽभ" इत्यमरः । यद्वलभीपताकया=यस्यां वलभी (स० त०) । "वलभी चन्द्रशालायां गृहे सौधोर्ध्ववेश्मनि" इति रभसः । यद्वलभ्यां पताका, तया (स० त०) । अमृतद्युतिलक्ष्म=अमृतं द्युतिर्यस्य सः (बहु०) । अमृतद्युतेर्लक्ष्म (ष० त०) । वलयायितशेषशायिनः=वलयवत् आचरितः वलयायितः, "वलय" शब्दके "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ् प्रत्यय होकर कर्तामें क्त प्रत्यय । वलयायितश्चाऽसौ शेषः (क० धा०) । वलयायितशेषे शेते तच्छीलः वलयायितशेषशायी, तस्य, वलयायितशेष+शीङ्+णिनि (उपपद०)+ङस् । पीतवाससः=पीतं वासो यस्य स पीतवासाः, तस्य (बहु०) । सखिताम्=सख्युर्भावः

सखिता, ताम्, सखि+तल्+टाप्+अम् । आदित=आङ्-उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे कर्तामें लुङ्+त । इस पद्यमें चन्द्रमाका शेषनागके साथ, उनके कलङ्कका विष्णुके साथ और पीली पताकाका पीतवस्त्रके साथ सादृश्य है । इस पद्यमें वलभीपताकाके चन्द्रकलङ्कके साथ मिलनका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन करनेसे अतिशयोक्ति और उपमा अलङ्कार है । इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवा-
ऽजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलाऽऽन्दोलैरखेलद्दिवि ॥१०२॥

अन्वयः—यत्प्रासाददुकूलवल्लिः अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवाऽजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना, गाधिसुतेन पूर्वं सामिघटिता मुक्ता मन्दाकिनी नु अनिलान्दोलैः दिवि अखेलत् ॥ १०२ ॥

व्याख्या—यत्प्रासाददुकूलवल्लिः=कुण्डिननगरीराजभवनपताकालता, अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवाऽजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना =निरन्तरवेदपाठपवित्रजिह्वाप्रादुर्भूतप्रचुरस्तोत्राऽकुण्ठपितामहाऽऽननप्रत्यूहितनूतनसुरलोकरचनाविलासेन, गाधिसुतेन=विश्वामित्रेण, पूर्वं=प्रथमं, ब्रह्मप्रार्थनादिति शेषः सामिघटिता=अर्धसृष्टा, प्रागिति शेषः, मुक्ता=त्यक्ता, पश्चादिति शेषः । मन्दाकिनी नु=आकाशगङ्गा किम्, अनिलान्दोलैः=वायुचलनैः, दिवि=आकाशे, अखेलत्=अक्रीडत् ॥ १०२ ॥

अनुवाद—कुण्डिनपुरीके राजभवनकी पताका, लगातार वेदपाठ करनेसे पवित्र जीभसे प्रादुर्भूत प्रचुरस्तोत्रमें कुण्ठित न होनेवाले ब्रह्माजीके मुखोंसे नये स्वर्गलोककी रचनामें विघ्नवाले विश्वामित्रसे ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पहले आधी बनायी गयी और पीछेसे छोड़ी गयी आकाशगङ्गा, वायुके आन्दोलनोंसे आकाशमें मानों खेल रही थी ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—यत्प्रासाददुकूलवल्लिः=यस्याः प्रासादः (ष० त०), दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः (उपमितकर्म०), यत्प्रासादे दुकूलवल्लिः (स० त०), अश्रान्तश्रुतिपाठ०=न श्रान्तः अश्रान्तः (नञ्०), श्रुतेः पाठः (ष० त०), अश्रान्तश्चाऽसौ श्रुतिपाठः (क० धा०), तेन पूताः (तृ० त०), अश्रान्तश्रुतिपाठपूताश्च ता रसनाः (क० धा०), ताभ्य आविर्भूताः (पं० त०) ।

भूरयश्च ते स्तवाः (क० धा०)। अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूताश्च ते भूरिस्तवाः (क० धा०), न जिह्मः अजिह्मः (नञ्०)। ब्रह्मणो मुखानि (ष० त०), तेषाम् ओघः (ष० त०)। अजिह्मश्चाऽसौ ब्रह्ममुखौघः (क० धा०)। विघ्नः सञ्जातः अस्याः सा विघ्निता, विघ्न + इतच् + टाप्। नवश्चाऽसौ स्वर्गः (क० धा०)। तस्य क्रिया (ष०त०)। अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवेषु अजिह्मः (स० त०), स चाऽसौ ब्रह्ममुखौघः (क० धा०), तेन विघ्निता (तृ० त०)। सा चाऽसौ नवस्वर्गक्रिया एव केलिः यस्य, तेन (बहु०)। गाधिसुतेन=गाधेः सुतः, तेन (ष० त०)। सामिघटिता, 'सामि' इस सूत्रसे समास। "सामि त्वर्धे जुगुप्सिते" इत्यमरः। मुक्ता=मुच्लृ+क्त+टाप्। अनिलान्दोलैः=अनिलस्य आन्दोलाः, तैः (ष० त०)। अखेलत्="खेलृ चलने" इस धातुसे लङ्+तिप्। सशरीर स्वर्ग जानेके लिए यज्ञका अनुष्ठान चाहनेवाले इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न त्रिशङ्कु नामके राजाको वशिष्ठके प्रत्याख्यान करनेपर विश्वामित्रने यज्ञ कराया और उनको स्वर्गमें भिजवाया, तब इन्द्रने उनको नीचे गिरा दिया। तब क्रुद्ध होकर विश्वामित्रने नये स्वर्गकी सृष्टिका आरम्भ किया। तब ब्रह्माजीने उनकी स्तुति (प्रशंसा) कर उनको उस कर्मसे विरत किया, वाल्मीकिरामायणके इस कथानकके अनुसार यह वर्णन है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार, ओज गुण और गौडी रीति तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१०२॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाः शुचिवस्त्रवल्लिः।

अलभत शमनस्वसुः शिशुत्वं दिवसकराऽङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

अन्वयः—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाः शुचिवस्त्रवल्लिः दिवसकराऽङ्कतले चला लुठन्ती शमनस्वसुः शिशुत्वम् अलभत ॥ १०३ ॥

व्याख्या—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाः=कुण्डिननगर्यतिनिर्मलेन्द्रनीलनिकेतनकिरणभ्रमरसदृशकान्तिः, शुचिवस्त्रवल्लिः=शुक्लवसनलता, शुक्लवस्त्रपताकेति भावः। दिवसकराऽङ्कतले=सूर्योत्सङ्गप्रदेशे, चला=चञ्चला, लुठन्ती=परिवर्तमाना सती, शमनस्वसुः=यमभगिन्याः यमुनायाः। शिशुत्वं=शैशवम्, अलभत=प्राप्तवती, बालयमुनेव शुशुभ इति भावः। बालिकाश्च पितुरुत्सङ्गे लुठन्तीति भावः॥ १०३ ॥

अनुवाद - जिस कुण्डिननगरीके अत्यन्त निर्मल नीलमके भवनोंकी किरणोंसे भ्रमरके समान नीली कान्तिवाली सफेद वस्त्रकी पताकाने (अपने पिता)

सूर्यकी गोदमें चञ्चल होकर लोट-पोट करती हुई यमुनाकी बाल्यावस्थाको प्राप्त किया ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—यदतिविमल०=नीलं च तत् वेश्म (क० धा०) । नीलवेश्मनो रश्मयः (ष० त०), अत्यन्तं विमलाः (सुप्सुपा०), अतिविमलाश्च ते नील-वेश्मरश्मयः (क० धा०), यस्याम् अतिविमलनीलवेश्मरश्मयः (स० त०)। भ्रमरः सञ्जातः अस्यां सा भ्रमरिता, भ्रमर+इतच्+टाप् । भ्रमरिता भाः यस्याः सा (बहु०) । यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभिः भ्रमरितभाः (तृ० त०)। शुचिवस्त्रवल्लिः=वस्त्रम् एव वल्लिः (रूपक०), शुचिश्चाऽसौ वस्त्रवल्लिः (क० धा०) । दिवसकराङ्कतले=दिवसं करोतीति तद्धेतुः दिवसकरः, "कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु" इस सूत्रसे दिवस-उपसर्गपूर्वक "कृ" धातुसे ट प्रत्यय (उपपद०) । अङ्कस्य तलम् (ष० त०) । दिवसकरस्य अङ्कतलं, तस्मिन् (ष० त०) । चला=चलतीति, चल+अच्+टाप् । लुठन्ती=लुठ+लट् (शतृ०)+ङीप् । शमनस्वसुः=शमनस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०) । "कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा" इत्यमरः । शिशुत्वम्=शिशु+त्व+अम् । अलभत=लभ+लङ्+त । इस पद्यमें सफेद पताकाके नीलमणि भवनोंसे नीलगुण ग्रहण करनेसे तद्गुण अलङ्कार "भ्रमरितभाः" यहाँपर उपमा, यमुना की शिशुताको पताका कैसे प्राप्त करेगी, इस प्रकार सादृश्यका आक्षेप होनेसे निदर्शनाका पूर्वोक्त तद्गुण रूपक और उपमासे अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है, पुष्पिताग्रा छन्द है । उसका लक्षण है—"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाऽभव-
द्यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

अन्वयः—यत्कामिनी विमानकलितव्योमानः साक्षात् अप्सरस एव अभवत् यत् निजकेलिसौधशिखरात् स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय उत्सुकं पाथोदम् आरुह्य रसात् यान्ती अध्वनि अभ्रतरसा निमेषं न प्राप ॥ १०४ ॥

व्याख्या—यत्कामिनी=कुण्डिननगरीरमणी, विमानकलितव्योमानः= व्योमयानक्रान्तगगनाः, साक्षात्=प्रत्यक्षरूपाः, अप्सरस एव=दिव्याऽङ्गना एव, अभवत्=अवर्तत, यत्=यस्मात्कारणात्, निजकेलिसौधशिखरात्= स्वक्रीडागृहशृङ्गात्, स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय=निजवल्लभक्रीडा-

सौधमध्यभागप्राघुणिकत्वस्वीकाराय, तत्र विश्रामार्थमिति भावः। उत्सुकम् = उत्कण्ठितं, पाथोदं = मेघम्, आरुह्य = आरोहणं कृत्वा, रसात् = अनुरागात्, यान्ती = गच्छन्ती सती, अध्वनि = मार्गे, अभ्रतरसा = मेघवेगेन, निमेषं = निमेषपातविलम्बं नेत्रसङ्कोचं च, न प्राप = न प्राप्तवती, स्वाभाविकसौन्दर्येण विमानतुल्यमेघारोहणेन आकाशगमनेन निमेषाऽप्राप्तेश्च कुण्डिननगरीरमणी अप्सरःसमाना सञ्जातेति भावः।। १०४ ।।

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीकी रमणी अटारीसे आकाशका अवलम्बन कर साक्षात् अप्सरा ही हो गयी, जो कि अपने क्रीड़ाभवनके ऊर्ध्वभागसे अपने प्रियतमके क्रीडाभवनसे आतिथ्यग्रहणके लिए उत्कण्ठित मेघपर आरोहण कर अनुरागसे जाती हुई मार्गमें मेघके वेगसे उसने निमेषको भी प्राप्त नहीं किया (पलक भी नहीं झुकायी) ।। १०४ ।।

टिप्पणी—यत्कामिनी = यस्यां कामिनी (स० त०) । विमानकलितव्योमानः = कलितं व्योम याभिस्ताः कलितव्योमानः (बहु०), यहाँपर "अन बहुव्रीहेः" इस सूत्रसे ङीप्का निषेध हुआ है । विमानेन कलितव्योमानः (तृ० त०) । "अप्सरसः" इसका विशेषण होनेसे बहुवचन हुआ है । अभवत् = भू + लङ् + तिप् । उद्देश्यवाचक "यत्कामिनी" इस पदके एकवचनाऽन्त होनेसे एकवचन । निजकेलिसौधशिखरात् = केलेः सौधम् (ष० त०), तस्य शिखरम् (ष० त०) । निजं च तत् केलिसौधशिखरं, तस्मात् (क० धा०) । (अपादानमें पञ्चमी) । स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय = प्राणानाम् ईश्वरः (ष० त०) । स्वश्चासौ प्राणेश्वरः (धा०), नर्मणो हर्म्यम् (ष० त०), स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यम् (ष० त०), तस्य कटकः (ष० त०), "कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः" इत्यमरः। अतिथय इदम् आतिथ्यम्, "अतिथि" शब्दसे "अतिथेर्ञ्यः" इस सूत्रसे तादर्थ्यमें ञ्य प्रत्यय, आदिवृद्धि । आतिथ्यस्य ग्रहः (ष० त०) । स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकात् आतिथ्यग्रहः, तस्मै (ष० त०) । पाथोदं = पाथो ददातीति पाथोदः, तम्, पाथस् + दा + कः (उपपद०) । आरुह्य = आङ् + रुह + क्त्वा (ल्यप्) । रसात् = हेतुमें पञ्चमी । यान्ती = यातीति, या + लट् (शतृ) + ङीप् । अभ्रतरसा = अभ्रस्य तरः, तेन (ष० त०, हेतुमें तृतीया) यहाँपर कुण्डिननगरकी स्त्री अपने स्वाभाविक सौन्दर्यसे प्रियतमके पास जानेके लिए अपनी अटारीसे विमानके समान मेघपर चढ़नेसे आकाशमें गमन-सा करनेसे प्रियतमके पास जाने की उत्कण्ठासे पलक भी न मारनेसे अप्सरा-

सी हो गयी, इस बातको प्रकाशित किया है। इस पद्यमें कुण्डिननगरीकी स्त्री और अप्सराका भेद होनेपर भी अभेदका अध्यवसाय होनेसे तथा निमेषपात-विलम्ब और नेत्रसङ्कोचका भेद होनेपर भी 'निमेष' पदके श्लेषसे अभेदका अध्यवसाय होनेसे दो अतिशयोक्ति अलङ्कारोंकी संसृष्टि है, एवं कटक और शिखर दो पदोंसे नर्महर्म्योंकी और सौधोंकी अत्यन्त ऊँचाई व्यङ्ग्य होती है, इस प्रकार शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
ब्रह्माण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताऽग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥१०५॥

अन्वय.—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितैः ब्रह्माऽण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः दिवि उत्तानगायाः कस्याः सुरसुरभेः आस्यदेशं गताऽग्रैः अंशुदर्भैः यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म।

व्याख्या—वैदर्भीकेलिशैले = दमयन्तीक्रीडापर्वते, मरकतशिखरात् = गारुत्मतरत्नशृङ्गात्, उत्थितैः = ऊर्ध्वगामिभिः, अथ ब्रह्माण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया = ब्रह्माण्डसङ्घट्टनविनाशितवेगगर्वत्वेन, ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः = लज्जाकृताऽधोमुखत्वैः, अत एव, दिवि = आकाशे, उत्तानगायाः = उत्तानगामिन्याः, ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः। कस्याः, सुरसुरभेः = देवधेनोः, आस्यदेशं = मुखप्रदेशं, गताऽग्रैः = प्राप्ताऽग्रैः, अंशुदर्भैः = किरणरूपकुशैः यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतं = कुण्डिननगरीधेनुग्रासवितरणनियमपुण्यम्, अविश्रान्तं = निरन्तरम्, उज्जृम्भते स्म = वर्धते स्म ॥ १०४ ॥

अनुवाद—दमयन्तीके क्रीडापर्वतमें पन्नेकी चोटियोंसे उठे हुए, ब्रह्माण्डसे आघात होनेसे वेगका घमण्ड टूटनेसे लज्जासे अधोमुख, आकाशमें ऊँचा मुख करनेवाली किस देवताकी गायके मुखप्रदेशमें अग्रभागको जानेवाले किरणरूप कुशोंसे जिस कुण्डिननगरीका गोग्रास देनेके नियमका पुण्य लगातार बढ़ता था।

टिप्पणी—वैदर्भीकेलिशैले = विदर्भेषु भवा वैदर्भी, विदर्भ + अण् + ङीप्। केलेः शैलः (ष० त०)। वैदर्भ्याः केलिशैलः, तस्मिन् (ष० त०), मरकतशिखरात् = मरकतानां शिखरं, तस्मात् (ष० त०)। "गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इत्यमरः। उत्थितैः = उद् + स्था + क्त + भिस्। ब्रह्माऽण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया = ब्रह्मणः अण्डं (ष० त०), ब्रह्माण्डेन आघातः (तृ०

त०), तेन भग्नः (तृ० त०)। स्यदात् जातः स्यदजः, स्य + जन् + डः। स चाऽसौ मदः (क० धा०)। ब्रह्माऽण्डाघातभग्नः स्यदजमदो येषां ते (बहु०), तेषां भावः तत्ता, तया। ब्रह्माऽण्डाघातभग्नस्यदज + मद + तल् + टाप् + टा। ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः = ह्रिया धृतम् (तृ० त०)। अवाक् मुखं येषां ते अवाङ्मुखाः (बहु०)। तेषां भावः अवाङ्मुखत्वम्, अवाङ्मुख + त्व। ह्रीधृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्ते, तैः (बहु०)। उत्तानगायाः = उत्तानं गच्छतीति उत्तानगाः, तस्याः, उत्तान + गम् + ड + टाप् + ङस्। "उत्ताना वै देवगवा वहन्ति" वेदके इस वचनके अनुसार यह उक्ति है। सुरसुरभेः = सुरस्य सुरभिः, तस्या (ष० त०)। आस्यदेशम् = आस्यस्य देशः, तम् (ष० त०)। गताऽग्रैः = गता अग्रा येषां ते, तैः (बहु०)। अंशुदर्भैः = अंशव एव दर्भाः, तैः (रूपक०)। यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतं = गोः ग्रासः (ष० त०), तस्य प्रदानं (ष० त०), तदेव व्रतम् (रूपक०), तस्य सुकृतं (ष० त०), "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" इत्यमरः। यस्या गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् (ष० त०)। अवि-श्रान्तं = न विश्रान्तम् (नञ०)। अविश्रान्तं यथा तथा, यह क्रियाविशेषण है। उज्जृम्भते स्म = उद्—उपसर्गपूर्वक "जृभि" धातुसे "स्म" के योगमें भूतकालमें लट् + त। बहुतसे मरकत (पन्ना) रत्नोंसे बना हुआ दमयन्तीका क्रीडापर्वत है, उससे उत्पन्न किरणें ब्रह्माऽण्डतक पहुँचीं, ऊपर न जानेसे मानो लज्जासे लौट रही थी, उसी समय ऊपर मुख करनेवाली देवताओंकी गायोंके मुखमें पड़ीं, वे कुशोंके समान हरे वर्णवाली थी, इसीको लेकर वैदर्भीके क्रीडा-पर्वतमें गोग्रास देनेके पुण्यका वर्णन किया गया है। इस पद्यमें "अंशुदर्भैः" यहाँपर रूपक है। अंशुदर्भोंका ब्रह्माण्डसे आघात आदिका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति. "लज्जासे अधोमुख" इस अर्थमें वाचक शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और लोकाऽतिशयसम्पत्तिका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार, इस प्रकार इन अलङ्कारोंकी संसृष्टि है। स्रग्धरा छन्द है, उसका लक्षण है—

"म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।" ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तत्र शशिदृषदुपक्लृप्तैः (अत एव) विधुकरपरिरम्भात् आत्तनिष्यन्दपूर्णैः तरूणाम् आलवालैः विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भैमीवनेन स हृतचित्तो व्यरचि ॥ १०६ ॥

व्याख्या—तत्र=तस्यां, कुण्डिननगर्याम् । शशिदृषदुपक्लृप्तैः=चन्द्रकान्तशिलानिर्मितैः, अत एव, विधुकरपरिरम्भात्=चन्द्रकिरणसम्पर्कात्, आत्तनिष्यन्दपूर्णैः=गृहीतजलप्रस्रवणपूरितैः, तरूणां=वृक्षाणाम्, आलवालैः=आवापैः, विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण=व्यर्थीकृतसलिलसेचनप्रकारभारेण, भैमीवनेन=दमयन्त्युपवनेन, सः=हंसः, हृतचितः=आकृष्टमनाः, व्यरचि=विरचितः ।१०६।

अनुवाद—उस कुण्डिननगरीमें चन्द्रकान्त मणियोंसे बनी हुई अतएव चन्द्रकिरणके संपर्कसे गृहीत जलसे पूर्ण पेड़ोंकी क्यारियोंसे जलसेचनकी आवश्यकतासे रहित दमयन्तीके उपवनने हंसके चित्तको आकृष्ट किया ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—शशिदृषदुपक्लृप्तैः=शशिनो दृषत् (ष० त०), तया उपक्लृप्तानि, तैः (तृ० त०) । विधुकरपरिरम्भात्=विधोः कराः (ष० त०), तेषां परिरम्भः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी । "परिरम्भः" पदका अर्थ "परिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनम्" अमरकी ऐसी उक्तिसे "परिरम्भ" पदका अर्थ आलिङ्गन है, यहाँपर लक्षणासे सम्पर्क अर्थ किया गया है । आत्तनिष्यन्दपूर्णैः=आत्ताश्च ते निष्यन्दाः (क० धा०) । "आत्म०" ऐसे पाठमें आत्मनः=स्वस्य, निष्यन्दाः (ष० त०) । ऐसा अर्थ करना चाहिए । आत्तनिष्यन्दैः पूर्णानि, तैः (तृ० त०) । विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण=विफलं कृतं विफलितम्, विफल + णिच् + क्तः । जलस्य सेकः (ष० त०), तस्य प्रक्रिया (ष० त०), तस्या गौरवम् (ष० त०) । विफलितं जलसेकप्रक्रियागौरवं यस्य तत्, तेन (बहु०) । भैमीवनेन=भैम्या वनं, तेन (ष० त०) । हृतचित्तः=हृतं चित्तं यस्य सः (बहु०) । व्यरचि=वि + रच्=लुङ् + त (कर्ममें) । इस पद्यमें आलवालोंका चन्द्रकान्त मणिसे पिघले जलसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है । यहाँसे चार पद्योंतक मालिनी छन्द है, उसका लक्षण है—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" ॥ १०६ ॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांऽशुलेखा-
ऽनुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ कनकपतत्रः तत्र सदृशभासां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीम् उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांऽशुलेखाऽनुकरणपटुलक्ष्मीं तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

व्याख्या—अथ=भैमीवनदर्शनाऽनन्तरं, कनकपतत्रः=सुवर्णमयपक्षः, राजहंस इत्यर्थः। तत्र=भैमीवने, सदृशभासां=स्वसदृशसौन्दर्याणां, सखीनां=वयस्यानां, सदसि=सभायां, विस्फुरन्तीं=विद्योतमानाम्, उडुपरिषदि=तारकासभायां, मध्यस्थायिशीतांऽशुलेखाऽनुकरणपटुलक्ष्मीम्=अन्तरस्थचन्द्रकलाऽनुकारसमर्थशोभां, तां=पूर्वोक्तां, राजपुत्रीं=भीमभूपदुहितरम्, अक्षिलक्षीचकार=नयनगोचरीचकार, ददर्शेत्यर्थः ॥ १०७ ॥

अनुवाद—दमयन्तीका उपवन देखनेके अनन्तर सुनहरे पंखोंवाले (उस हंस) ने उस उपवनमें तुल्यकान्तिवाली सखियोंकी सभामें शोभित होनेवाली, ताराओंकी सभामें बीचमें रहनेवाली चन्द्रकलाके अनुकरण (नकल) में समर्थ शोभावाली उस राजकुमारी (दमयन्ती) को देखा ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—कनकपतत्रः=कनकस्य विकारौ कनके, ते पतत्रे यस्य सः (बहु०)। सदृशभासां=सदृशी भा यासां सदृशभासः, तासाम् (बहु०), "भाश्छविद्युतिदीप्तयः" इत्यमरः। विस्फुरन्तीं=विस्फुरतीति विस्फुरन्ती, तां, वि+स्फुर्+लट्(शतृ०)+ङीप्+अम्। उडुपरिषदि=उडूनां परिषत्, तस्याम् (ष० त०)। "नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्" इत्यमरः। मध्यस्थायिशीतांऽशुलेखाऽनुकरणपटुलक्ष्मीं=मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थायिनी, मध्यउपपदपूर्वक स्था धातुसे णिनि प्रत्यय, "आतो युक् चिण्कृतोः" इस सूत्रसे युक् आगम और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप्। शीता अंशवो यस्य स शीतांऽशुः (बहु०), तस्य लेखा (ष० त०), मध्यस्थायिनी चाऽसौ शीतांऽशुलेखा (क० धा०), तस्या अनुकरणं (ष० त०)। पटुः लक्ष्मीः यस्या सा पटुलक्ष्मीः (बहु०), समासाऽन्तविधिके अनित्य होनेसे ' नद्यृतश्च" इससे समासाऽन्त कप् प्रत्यय नहीं हुआ। शीतांऽशुलेखाऽनुकरणे पटुलक्ष्मीः, ताम् (स० त०)। राजपुत्रीं=पुतः (तन्नामनरकात्) त्रायत इति पुत्री, पुत्+त्रै (त्रा)+क+ङीन्। "शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्" इससे ङीन्। "सुता तु दुहिता पुत्री" इति त्रिकाण्डशेषः। राज्ञः पुत्री, ताम् (ष० त०)। अक्षिलक्षीचकार=लक्ष्यत इति लक्षं, लक्ष+घञ्। "लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च" इत्यमरः। अक्ष्णोर्लक्षम् (ष० त०)। अनक्षिलक्षम् अक्षिलक्षं यथा सम्पद्यते तथा चकार अक्षिलक्षीचकार, अक्षिलक्ष+च्वि+कृ+लिट्+तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार और मालिनी छन्द है ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

अन्वयः-अधो भूतले क्वचन पतनयोग्यं देशम् अन्विष्यता भ्रमणरयविकीर्ण-र्णभासा तेन खगेन अदसीयं मुखविधुं सेवितुं लम्बमानः शशिपरिधिः इव च्चैः मण्डलः तेने ॥ १०८ ॥

व्याख्या—अधः = निम्नभागे, भूतले = भूमितले, क्वचन = कुत्रचित्, पतनयोग्यम् = अवतरणार्हं, देशं = स्थानम्, अन्विष्यता = गवेषमाणेन, भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा = भ्रमिवेगविक्षिप्तसुवर्णकान्तिना, तेन = पूर्वोक्तेन, खगेन = पक्षिणा, हंसेनेत्यर्थः । अदसीयं = दमयन्तीसम्बन्धिनं, मुखविधुं = वदनचन्द्रं, सेवितुं = सेवनं कर्तुं, द्रष्टुमिति भावः । लम्बमानः = स्रंसमानः, शशिपरिधिः इव = चन्द्रपरिवेष इव, उच्चैः = उपरि, मण्डलः = वलयः, तेने = वितेने ॥ १०८ ॥

अनुवाद—नीचे जमीनपर कहीं उतरनेके लिए उपयुक्त स्थान ढूंढनेवाले और भ्रमणके वेगसे सुनहरी कान्तिको फैलानेवाले उस पक्षी (हंस) ने दमयन्ती-के मुखचन्द्रकी सेवा करनेके लिए लटककर चन्द्रमाके परिवेश के समान ऊपर मण्डल (चक्कर) फैलाया ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—भूतले = भुवः तलं, तस्मिन् (ष० त०) । पतनयोग्यं = पतने योग्यः, तम् (स० त०) । अन्विष्यता = अन्विष्यतीति अन्विष्यन्, तेन, अनु + इष + लट्(शतृ) + टा । भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा=भ्रमणस्य रयः (ष०त०), तेन विकीर्णा (तृ० त०) । स्वर्णस्य भाः (ष० त०), भ्रमणरयविकीर्णा स्वर्णभा येन, तेन (बहु०) । अदसीयम् = अमुष्या अयम् अदसीयः, तम् । अदस् शब्दसे "त्यदादीनि च" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छः" = सेव + तुमुन् । लम्बमानः = लबि + लट् (शानच्) + सु । शशिपरिधिः = शशिनः परिधिः (ष० त०), मण्डलः = 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु" इत्यमरः । तेने = "तनु विस्तारे" धातुसे कर्ममें लिट् + त । इस पद्यमें स्वभावोक्ति, 'मुखविधुम्' यहाँपर रूपक 'शशिपरिधिः इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा, इन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है । मालिनी छन्द है ॥ १०८ ॥

"अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः।"
इति मतिरुदयासीत् पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिः सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—विपिनभुवि सखीभिः सार्धम् आबद्धखेलां भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः "सा शची घृताचीमुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थम् उच्चैः नन्दनाऽऽनन्दं च अनुभवति" इति मतिः उदयासीत् ॥ १०९ ॥

व्याख्या—विपिनभुवि = काननभूमौ, सखीभिः = सहचरीभिः, सार्धं = सह, आबद्धखेलाम् = अनुबद्धक्रीडां, भैमीं = दमयन्तीं, प्रेक्ष्य = दृष्ट्वा, पक्षिणः = हंसस्य, सा = प्रसिद्धा, शची = इन्द्राणी, घृताचीमुखाभिः = घृताचीप्रभृतिभिः, सहचरीभिः सह = सखीभिः सार्धम्, इत्थम् = अनेन प्रकारेण, उच्चैः = उत्कृष्टं, नन्दनाऽऽनन्दं = नन्दनोपवनसुखं, न अनुभवति = नो निर्विशति, इति = एतादृशी, मतिः = बुद्धिः, उदयासीत् = उत्थिता ॥ १०९ ॥

अनुवाद—उपवन-भूमिमें सखियोंके साथ क्रीडा करती हुई दमयन्तीको देखकर हंसको "वे (प्रसिद्ध) इन्द्राणी भी घृताची आदि सखियोंके साथ इस प्रकारसे नन्दन वनमें भी उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव नहीं करती हैं" ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—विपिनभुवि = विपिनस्य भूः, तस्याम् (ष० त०)। सखीभिः = "सार्द्धम्" पदके योगमें तृतीया। आबद्धखेलाम् = आबद्धा खेला यया सा, ताम् (बहु०)। "क्रीडा खेला च कूर्दनम्" इत्यमरः। प्रेक्ष्य = प्र + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। सा = यहाँपर यद् शब्द (या) के न होनेपर भी प्रसिद्ध अर्थ होनेसे अविमृष्टविधेयांऽश दोष नहीं होता है। शची "पुलोमजा शचीन्द्राणी" इत्यमरः। घृताचीमुखाभिः = घृताची (आप्सरोविशेषः) मुखं यासां ता घृताचीमुखाः, ताभिः (बहु०)। यहाँ "मुख" शब्द अङ्गवाचक न होनेसे ङीप् प्रत्यय नहीं हुआ है। सहचरीभिः = सह चरन्तीति सहचर्यः, ताभिः सह + चर + ट + ङीप् + भिस्। पचादिगणमें "चरट्" ऐसा पाठ होनेसे टित् होनेसे "टिड्ढाणञ्" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। नन्दनाऽऽनन्दं = नन्दन आनन्दः, तम् (स० त०)। उदयासीत् = उद-उपसर्गपूर्वक "या प्रापणे" धातुसे लुङ्, "यमरमनमातां सक् च' इस सूत्रसे सक् और सिच्का इट्। "प्रेक्ष्य मतिः" यहाँपर मनन क्रियाकी अपेक्षासे समानकर्तृक होनेसे और पूर्वकाल होनेसे भी

"प्रेक्ष्य" इसमें क्त्वा निर्देशकी उपपत्ति है। इस पद्यमें शचीरूप उपमानसे उपमेयभूत दमयन्तीके आधिक्यकी उक्तिसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११०॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। तस्य प्रबन्धे चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयं द्वैतीयीकतया मितः निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगमत् ॥ ११० ॥

व्याख्या—व्याख्यातपूर्वः श्लोकः संक्षेपेण पुनर्व्याख्यायते। कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः=पण्डितश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः, श्रीहीरः, मामल्लदेवी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहं, यं श्रीहर्षं, सुतं=पुत्रं, सुषुवे=जनयामास। तस्य=श्रीहर्षस्य, प्रबन्धे=रचनायां, चारुणि=मनोहरे, नैषधीयचरिते=तदाख्ये महाकाव्ये, अयं=सन्निकृष्टस्थः, द्वैतीयीकतया=द्वितीयत्वेन, मितः=गणितः, निसर्गोज्ज्वलः=स्वभावसुन्दरः, सर्गः=अध्यायः, अगमत्=गतः, समाप्त इति भावः ॥ ११० ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष पुत्रको उत्पन्न किया, उनकी रचनामें सुन्दर नैषधीयचरित महाकाव्यमें यह द्वितीय रूपसे परिमित स्वभावसे मनोहर सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११० ॥

टिप्पणी—द्वैतीयीकतया=द्वयोः पूरणो द्वितीयः, 'द्वि' शब्दसे "द्वेस्तीयः" इससे पूरणाऽर्थक तीय प्रत्यय। द्वितीय एव द्वैतीयकः, "द्वितीय" शब्दसे "तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः" इससे ईकक् प्रत्यय। कित् होनेसे "किति च" इससे आदिवृद्धि। द्वैतीयीकस्य भावो द्वैतीयीकता, तया द्वैतीयीक+तल्+टाप्+टा। मितः=माङ्+क्तः। निसर्गोज्ज्वलः=निसर्गेण उज्ज्वलः (तृ० त०)। अगमत्=गम्+लुङ्+तिप्। च्लिके स्थानमें अङ् ॥ ११० ॥

इति चन्द्रकलाऽभिख्यायां नैषधीयचरितव्याख्यायां
द्वितीयः सर्गः।

श्लोकानुक्रमणिका

(द्वितीयः सर्गः)

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ हंसः आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां नभोविभागात् तरसा अवतीर्य निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः उपभैमि भूमौ पपात ॥ १ ॥

व्याख्या—अथ = मण्डलीकरणाऽनन्तरं, हंसः=राजहंसः, आकुञ्चिताभ्यां= सङ्कुचिताभ्यां, पक्षतिभ्यां=पक्षमूलाभ्यां, नभोविभागात्=आकाशदेशात्, तरसा = वेगेन, अवतीर्य=अवरुह्य, निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः=उपनिवेशस्थान-विस्तारितकम्पितपतत्रः सन्, उपभैमि=दमयन्त्याः समीपे, भूमौ=भुवि, पपात=आपतितः ॥ १ ॥

अनुवाद—मण्डलीकरणके अनन्तर हंस सङ्कुचित पक्षमूलोंसे आकाशदेशसे वेगसे उतरकर बैठनेके स्थान पर पंखोंको फैलाकर और कम्पित कर दमयन्तीके समीप उतरा ॥ १ ॥

टिप्पणी—हसतीति हंसः, "हस" धातुसे अच् प्रत्यय और "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इसके अनुसार नुम् वर्णका आगम हुआ है । "भवेद्वर्णाऽऽगमा-द्धंसः" । पक्षतिभ्यां="स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमरः । नभोविभागात्= नभसो विभागः, तस्मात् (ष० त०) । अवतीर्य=अव+तॄ+क्त्वा (ल्यप्) । निवेशदेशाऽऽततधूतपक्ष =निवेशस्य देशः (ष० त०), समन्तात् ततौ आततौ "कुगतिप्रादयः" इससे गतिसमास । आततौ धूतौ येन सः (बहु०) ।

निवेशदेशे आततधूतपक्षः (स० त०)। उपभैमि=भैम्याः समीपे, समीप अर्थमें अव्ययीभाव। पपात=पात+लिट्+तिप्। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है। प्रथम चरणमें इन्द्रवज्रा और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणमें उपेन्द्रवज्रा, इस प्रकार उपजाति छन्द है। जैसे कि—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः'' ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः सम्भ्रान्तमन्तःकरणं चकार ॥ २ ॥

अन्वयः—तदा पक्षपुटाहतायाः क्षितेः आकस्मिकः यः स्वनः उच्चचार। सः अन्यविन्यस्तदृशः तस्याः अन्तःकरणं द्राक् सम्भ्रान्तं चकार ॥ २ ॥

व्याख्या—तदा=पतनसमये, पक्षपुटाहतायाः=पतत्रपुटताडितायाः, क्षितेः =पृथिव्याः, सकाशात् आकस्मिकः=अकस्माद्भवः अहेतुक इत्यर्थः। यः स्वनः=ध्वनिः, उच्चचार=उत्थितः सः=ध्वनिः, अन्यविन्यस्तदृशः =विषयान्तरनिविष्टनयनायाः, तस्याः=दमयन्त्याः, अन्तःकरणं=मनः, द्राक्=झटिति, सम्भ्रान्तं=ससम्भ्रमं, चकार=कृतवान्, आकस्मिकशब्दश्रवणाद् भैमी सभया साश्चर्या च जातेति भावः ॥ २ ॥

अनुवाद—हंसके पतनके समयमें उसके पंखोंसे ताडित पृथिवीसे अकस्मात् जो शब्द उत्पन्न हुआ, उसने दूसरे विषय में चित्त देनेवाली दमयन्ती के अन्तःकरणको संभ्रमयुक्त बनाया ॥ २ ॥

टिप्पणी—पक्षपुटाहतायाः=पक्षयोः पुटं (ष० त०), तेन आहता, तस्याः (तृ० त०)। क्षितेः=अपादानमें पञ्चमी। आकस्मिकः=अकस्मात् भवः "तत्र भवः" इसके ठक् प्रत्यय। उच्चचार=उद्+चर+लिट्+तिप्। अकर्मक होनेसे "उदश्चरः सकर्मकात्" इससे आत्मनेपद नहीं हुआ। अन्य-विन्यस्तदृशः=विन्यस्ते दृशौ यया सा (बहु०), अन्यस्मिन् विन्यस्तदृक्, तस्याः (स० त०)। सम्भ्रान्तं=सम्+भ्रम+क्त+अम्। चकार=कृ+ लिट्+तिप्। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—वैदर्भसुतासखीनां नेत्राणि विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि (सन्ति) एकं निरुपाख्यरूपं तं हंसं यतव्रतानां चेतांसि ब्रह्म इव प्रापुः ॥ ३ ॥

व्याख्या—वैदर्भसुतासखीनां=भैमीवयस्यानां, नेत्राणि=नयनानि, विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि=परित्यक्ततत्तच्छब्दादिविषयग्रहणानि सन्ति, पदमिदं "चेतांसि" इत्यत्राऽपि योजनीयम् । एकम्=एकचरं, ब्रह्मपक्षे—अद्वितीयं, निरुपाख्यरूपम् = अनिर्वाच्याकारं, ब्रह्मपक्षे—अनिर्वचनीयस्वरूपं, तं=पुरोवर्तिनं, हंसं=राजहंसं, ब्रह्मपक्षे—तत्पदार्थभूतं यतव्रतानां=योगिनां, चेतांसि=अन्तःकरणानि, ब्रह्म इव=परात्मानम् इव, प्रापुः=आसादयामासुः, अत्यादरेण अद्राक्षुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवाद—दमयन्तीकी सखियोंके नेत्रोंने उन-उन विषयोंकी आसक्तिको छोड़कर अकेले चलनेवाले, अनिर्वाच्य आकारवाले, उस हंसको, जैसे योगियोंके चित्त अद्वितीय, अनिर्वचनीय स्वरूपवाले और तत् पदके अर्थस्वरूप ब्रह्मको ग्रहण करते हैं, उसी तरह ग्रहण किया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—वैदर्भसुतासखीनां=विदर्भाणां राजा वैदर्भः, विदर्भ शब्दसे "जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय । विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि=ते च ते च तत्ते (क० धा०), तत्ते च ते विषयाः तत्तद्विषयाः (क० धा०), तत्तद्विषयाणां ग्रहाः (ष० त०). विमुक्ताः तत्तद्विषयग्रहा यैस्तानि (बहु०) । निरुपाख्यरूपं=निर्गता उपाख्या यस्मात्तत् निरुपाख्यं (बहु०), तत् रूपं यस्य, तम् (हंसपक्षे), तत् (ब्रह्मपक्षे) (बहु०), यतव्रतानां=यतं व्रतं येषां ते यतव्रताः, तेषाम् (बहु०) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ३ ॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

अन्वयः—असौ मुनेः मनोवृत्तिः इव स्विकायां तनौ सन्निहितं चरन्तं हंसम् अदरिणा शयेन (आदरिणा आशयेन वा) ग्रहीतुकामा (सती) यत्नात् निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

व्याख्या—असौ=दमयन्ती, मुनेः=योगिनः, मनोवृत्तिः इव=चित्तवृत्तिः इव, स्विकायां=स्वकीयायां, तनौ=शरीरसमीपे, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—तन्वभ्यन्तरे, सन्निहितं=निकटस्थम्, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—आविर्भूतं, चरन्तं=सञ्चरन्तं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—वर्तमानं, हंसं=मरालं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—परमात्मानं च, अदरिणा=निर्भयेन, शयेन=पाणिना, मुनमनोवृत्तिपक्षे—आदरिणा=आदरयुक्तेन, आशयेन=चित्तेन, ग्रहीतुकामा=आदातु-

कामा, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—साक्षात्कर्तुकामा च सती, यत्नात्=प्रयत्नात्, निश्चलतां=निश्चलाऽङ्गत्वं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—स्थिरतां, जगाहे=जगाम ॥ ४ ॥

अनुवाद—जैसे मुनिकी मनोवृत्ति अपने शरीरके भीतर आविर्भूत होकर स्थित परमात्माको आदरयुक्त चित्तसे साक्षात्कार करने की इच्छा कर यत्न-पूर्वक स्थिर होती है, वैसे ही दमयन्ती भी अपने शरीरके समीप स्थित और चलते हुए हंसको निर्भय हाथसे ग्रहण करनेकी इच्छा कर यत्नपूर्वक निश्चल हुई ॥ ४ ॥

टिप्पणी—मनोवृत्तिः=मनसो वृत्तिः (ष० त०) । स्विकायां=स्वा एव स्विका, तस्यां, स्वा शब्दसे स्वार्थिक कन्, "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याऽत इदाप्यसुपः" इससे इत्व । सन्निहितं=सम्+नि+धा+क्त+अम् । चरन्तं=चरतीति चरन्, तं, चर+लट्+शतृ+अम्, हंसं="हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सरे" इति विश्वः । अदरिणा=दरः अस्याऽस्तीति दरी, दर+इनिः । न दरी अदरी (नञ्०), तेन, "दरस्त्रसो भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः । शयेन="पञ्चशाखः शयः पाणिः" इत्यमरः । आदरिणा=आदरः अस्याऽस्तीति आदरी, तेन, आदर+इनि+टा । आशयेन="अभिप्रायश्छन्द आशयः" इत्यमरः । ग्रहीतुकामा=ग्रहीतुं कामः यस्याः सा (बहु०) । ग्रहीतुं=ग्रह+तुमुन् । "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इससे दीर्घ । "तुं काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । निश्चलतां=निश्चलस्य भावो निश्चलता, ताम्, निश्चल+तल्+टाप्+अम् । जगाहे="गाहू विलोडने" धातुसे लिट् । इस पद्यमें श्लेष और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४ ॥

ताभिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न भैम्या वियदुत्पपात ।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

अन्वयः—अयं तां भैम्या मायाम् इङ्गितैः अनुमाय अपि धैर्यात् वियद् न उत्पपात । आत्मोपरिपातुकं तत्पाणिं तु प्लुतिलाघवेन मोघं वितेने ॥ ५ ॥

व्याख्या—अयं=हंसः, तां=पूर्वोक्तां, भैम्याः=दमयन्त्याः, मायां=कपटं, स्वग्रहणार्थमिति शेषः । इङ्गितैः=चेष्टितैः, अनुमाय अपि=ज्ञात्वा अपि, धैर्यात्=स्थैर्यम् आस्थाय, वियत्=आकाशं प्रति, न उत्पपात=न उड्डीनः, आत्मोपरिपातुकं=स्वोपरिपतयालुं, तत्पाणिं तु=दमयन्तीहस्तं तु, प्लुतिलाघवेन=उत्पतनकौशलेन, मोघं=निष्फलं, वितेने=कृतवान्, आशामजी-जनत् परं पाणिगतो नाऽभूदिति भावः ॥ ५ ॥

अनुवाद—हंस दमयन्तीके उस कपटको, पकड़नेकी उनकी चेष्टाओंसे जानकर भी धैर्यपूर्वक आकाश में नहीं उड़ा। उसने अपने ऊपर पड़नेवाले उनके हाथको उड़नेकी निपुणता से निष्फल बना डाला ॥ ५ ॥

टिप्पणी--अनुमाय=अनु+माङ्+क्त्वा (ल्यप्), "न ल्यपि" इस सूत्रसे ईत्वका निषेध हुआ है। धैर्यात्=धीर+ष्यञ्, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इससे ल्यप्के लोपमें पञ्चमी। उत्पपात=उद्+पत्+लिट्+तिप्। आत्मोपरिपातुकं=पतनशीलः पातुकः, "पत्लृ पतने" धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्" इससे उकञ् प्रत्यय। उपरि पातुकः (सहसुपा०), आत्मन उपरिपातुकः, तम् (ष० त०)। तत्पाणिं=तस्याः पाणिः, तम् (ष० त०)। प्लुतिलाघवेन=प्लुतेर्लाघवं, तेन (ष० त०)। वितेने=वि+तनु+लिट्+त ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृतं पत्त्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यताऽलम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—अस्या व्यवसायं तेन पत्त्ररथेन तथा व्यर्थीकृतम् अवसाय तत्कालं परस्पराम् अर्पितहस्ततालम् आलीभिः अलम् अहस्यत ॥ ६ ॥

व्याख्या—अस्या=दमयन्त्याः, व्यवसायम्=उद्योगं हंसग्रहणस्येति शेषः। तेन=पूर्वोक्तेन, पत्त्ररथेन=पक्षिणा, हंसेन। तथा=तेन प्रकारेण, उत्पतनेनेति भावः। व्यर्थीकृतं=निष्फलीकृतम्, अवसाय=ज्ञात्वा, तत्कालं=तस्मिन् काले, परस्परां=परस्परस्यामित्यर्थः, अर्पितहस्ततालं=दत्तकरताडनं यथा तथा, आलीभिः=सखीभिः, अलम्=अत्यर्थम्, अहस्यत=हसितम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—दमयन्तीके पकड़नेके उद्योगको उस हंससे निष्फल किया गया जानकर, उस समय परस्परमें ताली पीटकर उनकी सखियाँ बहुत हँसी ॥६॥

टिप्पणी—पत्त्ररथेन=पत्त्रम् एव रथः (यानम्) यस्य स पत्त्ररथस्तेन (बहु०), "पतत्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः" इत्यमरः। व्यर्थीकृतं=विगतः अर्थः यस्मात् सः (बहु०), अव्यर्थो व्यर्थो यथा सम्पद्यते तथा कृतः व्यर्थीकृतः, तम्, व्यर्थ+च्वि+कृ+क्त+अम्। तत्कालं=तं च तं कालम्, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया "अत्यन्तसंयोगे च" इससे समास। परस्परां=परा पररयाम्, यहाँपर 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्" इस वार्तिकसे "द्वित्व और बहुल" का ग्रहण करनेसे समासवद्भावके न होनेसे पूर्वपदके प्रथमाके एकवचनमें कस्कादिगणमें पढ़े जानेसे

समास और उत्तरपदमें एकवचनमें "स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वा वक्तव्यः" इस वार्तिकसे आम् आदेश हुआ है। अर्पितहस्ततालम्=हस्ताभ्यां तालः (तृ० त०), अर्पितो हस्ततालो यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद् यथा तथा (क्रि० वि०)। अहस्यत=हस + लङ् (भावमें) + त ॥ ६ ॥

"उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रे"त्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्गः ॥ ७ ॥

अन्वयः—"(हे सख्यः !) भवतीभिः एषः करतालिकानां दानात् उच्चाटनीयः ? अत्र या माम् अन्वेति सा मह्यम् एव द्रुह्यति" इति तया आलिवर्गः उपालम्भि ॥ ७ ॥

व्याख्या—(हे सख्यः !) भवतीभिः=युष्माभिः, एषः=हंसः, करतालिकानां=हस्ततालानां, दानात्=वितरणात्, वादनादिति भावः। उच्चाटनीयः=निष्कासनीयः किम्, इति प्रश्नकाकुः, न उच्चाटनीय इत्यर्थः। अत्र=आसु भवतीषु मध्य इति भावः। या=काचित्, मां=भैमीम्, अन्वेति=अनुसरति, अनुसरिष्यतीति भावः। सा=सखी, मह्यम् एव=सख्यै एव, द्रुह्यति=जिघांसति, ममैव द्रोहं करिष्यतीति भावः। इति=इत्थं, तया=दमयन्त्या, आलिवर्गः=सखीसङ्घः, उपालम्भि=उपालब्धः, उपालम्भेन निवारित इति भावः ॥ ७ ॥

अनुवाद—"(हे सखियो !) तुम लोग ताली पीटकर इस हंसको उड़ा दोगी क्या ? तुम लोगोंमें जो कोई मेरा पीछा करेगी, वह मेरा ही द्रोह करेगी" ऐसा कहकर दमयन्तीने सखियोंको उलाहना दिया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—करतालिकानां=करयोस्तालिकाः, तासाम् (ष० त०)। उच्चाटनीयः=उद् + चट् + णिच् + अनीयर् + सु। यहाँपर "भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।" इस लक्षणके अनुसार प्रश्नार्थक काकु है, अन्वेति=अनु + इण् + लट् + तिप्। द्रुह्यति=द्रुह् + लट् + तिप्। दोनों क्रियापदोंमें "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमें लट्। मह्यम्="द्रुह्यति" द्रुह धातुके योगमें "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः" इससे सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी। "मह्यम्" यहाँपर अन्वादेशके होनेपर भी "एव" शब्दका योग होनेसे "न च वाहाहैवयुक्ते" इससे "मे" आदेश नहीं हुआ है। आलिवर्गः=आलीनां वर्गः (ष० त०)। उपालम्भि=उप + आङ् + लभ + लुङ् (कर्ममें) ॥ ७ ॥

धृताऽल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाऽथ हंसस्य कराऽनवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

अन्वयः—अथ सखीनां हसिते धृताऽल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातुः छाया इव श्यामा कराऽनवाप्तेः मन्दाक्षलक्ष्या (सती) हंसस्य पश्चात् लगति स्म ॥ ८ ॥

व्याख्या—अथ=अनन्तरं, सखीनिवारणादिति शेषः। सखीनां=वयस्यानां, हसिते=हास्यविषये, धृताऽल्पकोपा=कृतमन्दक्रोधा, भास्वन्तं=सूर्यम्, अभिप्रयातुः=सम्मुखं गच्छतः, जनस्येत्यर्थः। छाया इव=अनातपरेखा इव, श्यामा=नीलवर्णा, अन्यत्र—यौवनमध्यस्था। कराऽनवाप्तेः=हस्तेन अप्राप्तेः, पक्षान्तरे—किरणानामप्राप्तेः, मन्दाक्षलक्ष्या=अपटुनयनग्राह्या (सती), मन्दाऽक्षैः (अपटुनयनैः) छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भावः। पक्षान्तरे—सलज्जा सती। हंसस्य=पक्षिणः, सूर्यस्य वा। पश्चात्=पृष्ठभागे, लगति स्म=लग्नाऽभूत्, ग्रहणाऽऽशया हंसमनुससारेति भावः ॥ ८ ॥

अनुवाद—सखियोंको उलाहना देनेके अनन्तर उनकी हसीमें कुछ कोप करनेवाली सूर्यके सम्मुख जानेवालेकी श्याम छायाके समान श्यामा (युवती) दमयन्ती हाथसे हंसको न पानेसे लज्जायुक्त होती हुई हंसके पीछे लगी ॥ ८ ॥

टिप्पणी—हसिते=हस+क्त+ङि। धृताऽल्पकोपा=धृतः अल्पः कोपो यया सा (बहु०)। भास्वन्तं=भास्+मतुप्+अम्। अभिप्रयातुः=अभि+प्र+या+तृच्+ङस्। श्यामा="श्यामा यौवनमध्यस्था" इत्युत्पलमाला। कराऽनवाप्तेः=न अवाप्तिः अनवाप्तिः (नञ्०), करेण अनवाप्तिः, तस्याः (तृ० त०), अथवा कराणाम् (किरणानाम्) अनवाप्तिः, तस्याः (ष० त०), दोनों पक्षोंमें हेतुमें पञ्चमी। "बलिहस्तांऽशवः कराः" इत्यमरः। मन्दाक्षलक्ष्या=मन्दे (अपटुनी) अक्षिणी (नेत्रे) येषां ते मन्दाक्षाः (बहु०), "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्" इससे समासान्त षच् प्रत्यय। मन्दाऽक्षैः लक्ष्या (तृ० त०)। मन्द नेत्रोंवालोंसे छाया ही देखी जाती है, प्रकाश नहीं। दूसरे पक्षमें—मन्दाऽक्षेण लक्ष्या (तृ० त०) "मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा" इत्यमरः। लज्जित होती हुई, यह तात्पर्य है। हंसस्य="पश्चात्" इस पदके योगमें "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" इससे षष्ठी। "रविश्वेतच्छदौ हंसौ" इत्यमरः। लगति स्म="लगे सङ्गे" धातुसे "स्म" धातुके योगमें लट्+तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ८ ॥

"शस्ता न हंसाऽभिमुखी तवेयं यात्रे"ति ताभिश्छलहस्यमाना।
साऽऽह स्म "नैवाऽशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एव हंसः" ॥ ९ ॥

अन्वयः—"तव इयं हंसाऽभिमुखी यात्रा शस्ता न" इति ताभिः छलहस्यमाना (सती) सा "भाविप्रियावेदक एप हंसो मे न अशकुनीभवेत् एव" इति आह स्म ॥ ९ ॥

व्याख्या—"(हे भैमि !) तव = भवत्याः, इयम् = एषा, हंसाऽभिमुखी = राजहंससम्मुखी सूर्यसम्मुखी च, यात्रा = गमनं, शस्ता न = प्रशस्ता न, राजहंसपक्षे—श्रमकारकत्वात्, सूर्यपक्षे-सन्तापकरत्वरूपदृष्टदोषात् शास्त्रविरुद्धत्वाच्च श्रेयस्करी नेति भावः। इति = इत्थं, ताभिः = सखीभिः, छलहस्यमाना—छलेन = व्याजोक्त्या, हस्यमाना = उपहस्यमाना सती, सा = दमयन्ती, भाविप्रियावेदकः = भविष्यत्प्रियसूचकः, मङ्गलमूर्तित्वादिति शेषः। एषः = समीपतरवर्ती, हंसः = राजहंसः। मे = मम, दमयन्त्याः। न अशकुनीभवेत् एव = न अपशकुनरूपो भवेत् एव, अथवा न अपक्षी भवेत् एव, इति = इत्थम्, आह स्म = उक्तवती। एतेन यात्रानिषेधपक्षे दोषः परिहृतः ॥ ९ ॥

अनुवाद—"(हे दमयन्ती !) आपका यह हंसके वा सूर्यके सम्मुख गमन कल्याणकारक नहीं है" ऐसा कहकर सखियोंके छलसे उपहास करने पर दमयन्तीने "आगामी प्रियका सूचक यह हंस मेरे लिए अपशकुन वा अपक्षी नहीं ही होगा" ऐसा कहा ॥ ९ ॥

टिप्पणी—हंसाऽभिमुखी = हंसस्य अभिमुखी (ष० त०), छलहस्यमाना = हस्यते इति हस्यमाना, हस + लट् (कर्ममें) + यक् + शानच् + टाप्। छलेन हस्यमाना (तृ० त०)। भाविप्रियावेदकः = भावि च तत्प्रियम् (क० धा०), तस्य आवेदकः (ष० त०), मे = "मम" के स्थान में "ते मयावेकवचनस्य" इससे "मे" आदेश। अशकुनीभवेत् = अशकुन + च्वि + भू + लिङ् (विधिमें)। "अस्य च्वौ" इससे अवर्णके स्थानमें ईकार आदेश। "शकुनं तु शुभाशंसा निमित्ते शकुनः पुमान्" इति विश्वः। आह स्म = 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि" धातुके स्थानमें "आह" आदेश होकर "स्म" के योगमें भूतकालमें लट्। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेः सुदत्या पुरः पुरश्चारु चलन्बभासे।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

अन्वयः—असौ हंसः अपि हंसगतेः सुदत्याः पुरः पुरः अग्रे चारु चलन् वैलक्ष्यहेतोः एतदीयां गतिम् अनुकृत्य उच्चैः उपहसन् इव बभासे ॥ १० ॥

व्याख्या—दमयन्तीचेष्टामभिधाय हंसव्यापारं प्रतिपादयति—हंसोऽपीति। असौ=पूर्वप्रतिपादितः, हंसः अपि=राजहंसः अपि, सुदत्याः=सुन्दरदशनायाः, दमयन्त्या इत्यर्थः। पुरः-पुरः=पुरतः-पुरतः, अग्रे=समन्तात्, चारु=रम्यं, चलन्=गच्छन्, वैलक्ष्यहेतोः=आश्चर्योत्पादनाऽर्थम्, एतदीयां=दमयन्तीसम्बन्धिनीं, गतिं=गमनम्, अनुकृत्य=अभिनीय, उच्चैः=अतिशयेन, उपहसन् इव=उपहासं कुर्वन् इव, बभासे=बभौ, लोकेऽपि परिहासकास्तत्तच्चेष्टाऽनुकरणेन जनानां विस्मयं जनयन्ति ॥ १० ॥

अनुवाद—वह हंस भी हंसके समान चलनेवाली दमयन्तीके आगे मनोहर ढंगसे चलता हुआ आश्चर्य उत्पन्न करनेके लिए उनकी गतिकी नकल कर मानों उपहास करता हुआ शोभित हुआ ॥ १० ॥

टिप्पणी—हंसगतेः=हंसस्य इव गतिर्यस्याः सा हंसगतिः, तस्याः (व्यधिकरण०)। सुदत्याः=शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती, तस्याः (बहु०)। "पुरः" इस पदके योगमें "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" इस सूत्रसे षष्ठी। चलन्=चल+लट् (शतृ)। वैलक्ष्यहेतोः=वैलक्ष्यस्य हेतुः, तस्य (ष० त०), "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इससे षष्ठी, "विलक्षो लज्जयाऽन्विते" इत्यमरः। एतदीयाम्=एतस्या इयं एतदीया, ताम्, "त्यदादीनि च" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय। उपहसन्=उप+हस+लट् (शतृ)। बभासे="भासृ दीप्तौ" धातुसे लिट्+त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाऽऽचकृषे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

अन्वयः—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे-पदे तं यथा करप्राप्यं नूनम् अवैति तथा सखेलं चलता तेन प्रतार्य लतासु आचकृषे ॥ ११ ॥

व्याख्या—भाविनी=हंसग्रहणभावयुक्ता अथवा प्रशस्ताऽभिप्राया, कृशाङ्गी=दमयन्ती, भाविनि=भविष्यति अनन्तरे इत्यर्थः, पदे-पदे=प्रतिपदं, तं=येन हंसं, यथा प्रकारेण, करप्राप्यं=हस्तग्राह्यं, नूनं=निश्चितम्, अवैति=जानाति, तथा=तेन प्रकारेण, सखेलं=सक्रीडं, चलता=गच्छता, तेन=हंसेन, प्रतार्य=वञ्चयित्वा, लतासु=वल्लीसमीपे, आचकृषे=आकृष्टा, एकान्तं नीतेति भावः ॥ ११ ॥

अनुवाद—हंसको पकड़नेकी इच्छा करनेवाली दमयन्ती निकटवर्ती पग-पगमें हंसको जैसे हाथसे पकड़े जानेवाला निश्चित रूपसे जानती है, वैसे क्रीडासे चलनेवाले हंसने प्रतारण कर दमयन्तीको लताओंके समीप पहुँचाया ॥ ११ ॥

टिप्पणी—भाविनी=भावयतीति, भू + णिच् + णिनि + ङीप् । कृशाङ्गी=कृशानि अङ्गानि यस्याः सा (बहु०); "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इससे ङीप् । भाविनि=भविष्यतीति भावि, तस्मिन्; भू धातुसे "भविष्यति गम्यादयः" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमें णिनि प्रत्यय । पदे-पदे=वीप्सामें द्विरुक्ति । कर-प्राप्यं=करेण प्राप्यः, तम् (तृ० त०) । अवैति=अव + इण् + लट् + तिप् । सखेलं=खेलया सहितं यथा तथा (तुल्ययोगबहु०) । चलता=चल + लट् + (शतृ) + टा । आचकृषे=आङ् + कृष + लिट् (कर्ममें) + त ॥११॥

रुषा निषिद्धाऽऽलिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ।
तदा श्रमाऽम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

अन्वयः—रुषा निषिद्धाऽऽलिजनाम् एनां यदा छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार तदा श्रमाऽम्भःकणभूषिताऽङ्गीं तां स कीरवत् मानुषवाक् (सन्) अवादीत् ।

व्याख्या—रुषा=क्रोधेन हेतुना, निषिद्धाऽऽलिजनां=निवारितसखीजनां, एनां=दमयन्तीं, यदा=यस्मिन्समये, छायाद्वितीयां=प्रतिबिम्बमात्र-सहचरीम्, एकाकिनीमिति भावः । कलयाञ्चकार=ज्ञातवान् तदा=तस्मिन् समये, श्रमाऽम्भःकणभूषिताङ्गीं=स्वेदजलकणाऽलङ्कृताऽङ्गीं, तां=भैमीं, स=सः, कीरवत्=शुकवत्, मानुषवाक=मानववाणीयुक्तः सन्, अवादीत्=उक्तवान् ॥ १२ ॥

अनुवाद—क्रोधसे सखियोंको निवारण करनेवाली दमयन्तीको जब केवल छायासे युक्त (अकेली) जान लिया, तब पसीनेके जलकी कणोंसे अलङ्कृत शरीरवाली उनसे उस हंसने तोतेके समान मनुष्यवाणीसे भाषण किया ॥१२॥

टिप्पणी—निषिद्धाऽऽलिजनां=निषिद्धा आलिजना यया सा, (बहु०) । छायाद्वितीयां=छाया एव द्वितीया यस्याः सा, ताम् अथवा छायया (कान्त्या) हेतुना अद्वितीया, ताम् (तृ० त०), कान्तिसे अद्वितीय, अतिशय सुन्दरी, यह तात्पर्य है । श्रमाऽम्भःकणभूषिताङ्गी=श्रमेण अम्भःकणाः (तृ० त०), भूषितानि अङ्गानि यस्याः सा, (बहु०) । श्रमाऽम्भः-कणैः भूषिताङ्गी, ताम् (तृ० त०) । कीरवत्=कीरेण तुल्यम्, कीर + वतिः ।

मानुषवाक्=मानुषस्य वाक् इव वाक् यस्य सः (व्यधिकरणबहु०)। अवादीत्=वद + लुङ् + तिप् ॥ १२ ॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं ? परिश्राम्यसि वा किमर्थम् ?
उदेति ते भीरपि किन्नु बाले ! विलोकयन्त्या न घना वनाऽऽलीः ? ॥१३॥

अन्वयः—अये बाले ! व्यर्थं कियत् दूरं यावत् उपैषि ? वा किमर्थं परिश्राम्यसि ? घना वनालीः विलोकयन्त्याः ते भीः अपि न उदेति किन्नु ? ॥१३॥

व्याख्या—अये बाले !=हे तरुणि ! व्यर्थं=निरर्थं, कियत्=किंपरिमाणं, दूरं यावत्=विप्रकृष्टं पर्यन्तम्, उपैषि=उपैष्यसि ? वा=अथवा, किमर्थं=केन प्रयोजनेन, परिश्राम्यसि=परिश्रान्ता भवसि। घनाः=निबिडाः, वनालीः=विपिनपङ्क्तीः, विलोकयन्त्याः=पश्यन्त्याः, ते=तव, भीः अपि=भयम् अपि, न उदेति किन्नु ?=न उत्पद्यते किम् ? ॥ १३ ॥

अनुवाद—हे बाले ! व्यर्थ कितनी दूरतक आ रही है ? अथवा किस लिए आप परिश्रान्त होती हैं ? गाढ वनपङ्क्तियोंको देखनेवाली आपको भय भी उत्पन्न नही होता है क्या ? ॥ १३ ॥

टिप्पणी—कियत्=किं परिमाणं, किम् + वतुप्। उपैषि=उप + इण्-धातुसे "यावत्" पदके योगमें "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भविष्यत्-कालमें लट्। किमर्थं=कस्मै इदम् (चतुर्थीतत्पुरुष)। वनालीः=वनानाम् आलयः, ताः (ष० त०)। विलोकयन्त्याः=वि + लोक् + णिच् + लट् + (शतृ) ङीप् + ङस् ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाऽऽलिः ॥ १४ ॥

अन्वयः—वृथा अपथे पदम् अर्पयन्ती त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च इयं वनालिः आली इव प्रतिषेधति, पश्य ॥ १४ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) वृथा=व्यर्थमेव, अपथे=दुर्मार्गे, अकृत्ये च, पदं=पादं, व्यवसायं च, अर्पयन्तीम्=कुर्वतीं (त्वाम्), मरुल्ललत्पल्लवपाणि-कम्पैः=वायुचलत्किसलयकरवेपथुभिः, कपोतहुङ्कारगिरा=पारावतहुङ्करणवाचा च, इयम्=एषा, वनाऽऽलिः=विपिनपङ्क्तिः, आली इव=सखी इव, प्रतिषेधति=निवारयति, पश्य=विलोकय, (वाक्याऽर्थः कर्म)। यथा लोके कुमार्ग-प्रवृत्तं जनं सुहृत् पाणिना वाचा च निवारयति, तथैव इयं वनालिः प्रतिषेधति इति भावः ॥ १४ ॥

अनुवाद— व्यर्थ ही दुर्मार्गमें अकृत्यमें भी पैर रखनेवाली आपको वायुसे चञ्चल पल्लवरूप हाथोंके कम्पनोंसे और कबूतरकी हुङ्कारवाणीसे भी यह वनपङ्क्ति सखीके समान निवारण कर रही है, देखिए ॥ १४ ॥

टिप्पणी—अपथे=न पन्था अपथम् (नञ्०), तस्मिन् "ऋक्पूरब्धू:पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय । "अपथं नपुंसकम्" इससे नपुंसकलिङ्गता । पदं="पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु " इत्यमरः। मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः=पल्लव एव पाणि: (रूपक०), ललंश्चाऽसौ पल्लवपाणि: (क० धा०), मरुता ललत्पल्लवपाणि: (तृ० त०), तस्य कम्पाः, तैः (ष० त०) । कपोतहुङ्कारगिरा = हुङ्कार एव गी: (रूपक०), कपोतानां हुङ्कारगी:, तया (ष० त०) । वनालि: = वनानाम् आलि: (ष० त०) । प्रतिषेधति = प्रति + षिध् + लट् + तिप् । इस पद्यमें रूपक और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १४ ॥

धार्यः कथङ्कारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ? ।
अहो ! शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

अन्वयः— वसुधैकगत्या भवत्या वियद्विहारी अहं कथङ्कारं धार्यः ? स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्वं खण्डितं न, अहो ! ॥ १५ ॥

व्याख्या— (हे राजकुमारि !) वसुधैकगत्या = भूमात्रचारिण्या, भवत्या= त्वया, वियद्विहारी=आकाशचारी, अहं = पक्षी, कथङ्कारं=केन प्रकारेण, धार्यः = ग्रहीतुं शक्यः । स्मरस्य = कामस्य, सख्या = मित्रेण, अनेन = एतेन, वयसा अपि=अवस्थया अपि, तारुण्येनापीति भावः । तव=भवत्याः, शिशुत्वं=शैशवम्, अज्ञत्वमित्यर्थः, खण्डितं न = निवर्तितं न, अहो ! = आश्चर्यम् ॥ १५ ॥

अनुवाद— भूमिमात्रमें गतिवाली आपसे आकाशमें विचरण करनेवाला मैं कैसे पकड़ा जाऊँगा ? कामदेवके मित्र इस अवस्था (तारुण्य) से भी आपका बालभाव नहीं हटा है, आश्चर्य है ! ॥ १५ ॥

टिप्पणी — वसुधैकगत्या = एका गतिर्यस्याः सा एकगति: (बहु०) । वसुधायाम् एकगति:, तया (स० त०) । वियद्विहारी = विहरतीति तच्छीलो विहारी, वि + हृञ् + णिनिः । वियति विहारी (स० त०) । कथङ्कारम् = 'कथम्' उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्" इस सूत्रसे णमुल् प्रत्यय । धार्यः = धर्तुं शक्यः 'धृ' धातुसे "शकि लिङ् च" इस

सूत्रमें 'च' का पाठ होनेसे शक्य अर्थमें ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय। इस पद्यमें अधार्यत्वमें वसुधागति और विजयद्विहाररूप पदार्थहेतुक एक काव्यलिङ्ग और शैशवके अखण्डनमें पूर्ववाक्यार्थके हेतु होनेसे दूसरा काव्यलिङ्ग, इनका सजातीय सङ्कर है ॥ १५ ॥

सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य पत्त्राणि पतत्रिणः स्मः ।
अस्मादृशां चाटुरसाऽमृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

अन्वयः—पाठाऽनुसारी ॥ १६ ॥

व्याख्या—हंसः स्वपरिचयं प्रस्तौति—सहस्रेति। सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य = ब्रह्मवाहनहंसकुलस्य, पत्त्राणि = वाहनानि, पतत्रिणः = पक्षिणः, स्मः = भवामः। वयमिति शेषः। अहं ब्रह्मवाहनहंसकुलोत्पन्नोऽस्मीति भावः। अस्मादृशाम् = अस्मत्सदृशानां, चाटुरसाऽमृतानि = सुभाषितशृङ्गारादिरसपीयूषाणि, स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि = देवभिन्न-(मनुष्य) दुष्प्राप्याणि, सन्तीति शेषः ॥ १६ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारि !) हम ब्रह्माजीके वाहन हंसोंके कुलमें उत्पन्न वाहन पक्षी हैं। हमारे सरीखे लोगोंके सुभाषितरसरूप अमृत, देवभिन्न मनुष्योंके लिए दुर्लभ हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणी—सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य = सहस्रं पत्त्राणि यस्य तत् सहस्रपत्त्रं (बहु०), "सहस्रपत्त्रं कमलम्" इत्यमरः। सहस्रपत्त्रम् आसनं यस्य स सहस्रपत्त्रासनः, "विरञ्चिः कमलाऽऽसनः" इत्यमरः। पत्त्राणि च ते हंसाः (क० धा०)। सहस्रपत्त्रासनस्य पत्त्रहंसाः (ष० त०), तेषां वंशः, तस्य (ष० त०)। पत्त्राणि = "वंशो वेणौ कुले वर्गे" "पत्त्रं स्याद्वाहने पर्णे" इति च विश्वः। अस्मादृशाम् = अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशः, तेषाम्, उपपदपूर्वक 'दृश' धातुसे "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय। चाटुरसाऽमृतानि = चाटुषु रसाः (स० त०), ते एव अमृतानि (रूपक०), स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि=स्वश्चाऽसौ लोकः स्वर्लोकः (क० धा०)। स्वर्लोके लोकाः (देवजनाः), (स० त०)। स्वर्लोकलोकेभ्यः इतरे (अन्ये, मनुष्या इत्यर्थः) (प० त०)। स्वर्लोकलोकेतरैः दुर्लभानि (तृ० त०)। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १६ ॥

स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाऽग्रभुजो भजामः ।
अन्नाऽनुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

अन्वय:—स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाऽग्रभुज: अन्नाऽनुरूपां तनुरूपर्द्धिं भजाम:, हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते ॥ १७ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां=मन्दाकिनीसुवर्णकमलिनीनां, नालामृणालाऽग्रभुज:=काण्डबिसाग्रभोजिन:, वयमिति शेष:। अन्नाऽनुरूपाम्=आहारसदृशीं, तनुरूपर्द्धिं=शरीरवर्णसमृद्धिं, भजाम:=प्राप्ता: स्म इति भाव:। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—कार्यमिति। हि=यस्मात् कारणात्, कार्यं=जन्यं द्रव्यं, निदानात्=उपादानकारणात्, गुणान्=रूपादिविशेषगुणान्, अधीते=प्राप्नोतीति भाव: ॥ १७ ॥

अनुवाद—स्वर्गकी नदी (मन्दाकिनी) की सुवर्णकमलिनियोंके काण्ड और मृणालके अग्रभागको खानेवाले हमलोग आहारके समान शरीरके वर्णकी समृद्धिको प्राप्त किये हुए हैं, क्योंकि कार्य, कारणसे रूप आदि विशेष गुणोंको प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां=स्वर्गे अपगा (स० त०), हेम्नो मृणालिन्य: (ष० त०), स्वर्गापगाया हेममृणालिन्य:, तासाम् (ष० त०)। नालामृणालाऽग्रभुज:=मृणालानामग्राणि (ष० त०)। नालाश्च मृणालाऽग्राणि च (द्वन्द्व:), तानि भुञ्जत इति (नालामृणालाऽग्र + भुज् + क्विप् + जस्)। अन्नाऽनुरूपाम्=अन्नस्य अनुरूपा, ताम् (ष० त०)। तनुरूपर्द्धिं=रूपस्य ऋद्धि: (ष० त०), 'ऋत्यक:' इससे प्रकृतिभाव होनेसे अर्‌गुण नहीं हुआ। तनो रूपऋद्धि:, ताम् (ष० त०)। निदानात्="आख्यातोपयोगे" इस सूत्रसे अपादानसंज्ञा होनेसे पञ्चमी। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासर: सेवितुमागतेषु।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्क: ॥ १८ ॥

अन्वय:—धातु: नियोगात् इह नैषधीयं लीलासर: सेवितुम् आगतेषु हैमेषु हंसेषु अहम् एक एव भूलोकविलोकनोत्क: (सन्) भ्रमामि ॥ १८ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) धातु:=ब्रह्मण:, नियोगात्=आदेशात्, इह=अस्मिन् भूलोक इति भाव:। नैषधीयं=नलीयं, लीलासर:=विलासकासारं, सेवितुम्=आलोडयितुम्, विहर्तुमिति भाव:। आगतेषु=आयातेषु, हैमेषु=सौवर्णेषु, हंसेषु=चक्राङ्गेषु, अहम्, एक एव=एकाकी एव, भूलोकविलोकनोत्क:=भूमिलोकदर्शनोत्कण्ठित: सन्, भ्रमामि=पर्यटामि ॥ १८ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी की आज्ञासे इस भूलोकमें नलके विलासके तालाबमें विहार करनेके लिए आये हुए सुनहरे हंसों में अकेला ही भूलोक देखने में उत्कण्ठित होता हुआ मैं पर्यटन कर रहा हूँ ॥ १८ ॥

टिप्पणी—नैषधीयं=निषधानामयं नैषधः, निषध+अण्। नैषधस्य इदम् "वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छः" इससे छ (ईय) प्रत्यय। हैमेषु=हेम्नो विकारः, तेषु, हेमन्+अण्+सुप्। "नस्तद्धिते" इससे टिका लोप। भूलोकविलोकनोत्कः=भूश्चाऽसौ लोकः (क० धा०)। तस्य विलोकनं (ष० त०), तस्मिन् उत्कः (स त०)। "उत्क" इसमें "उत्क उन्मनाः" इस सूत्रसे उद् उपसर्ग से कन्प्रत्ययान्त निपात। भ्रमामि=भ्रम+लट्+मिप् ॥ १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमाऽऽतुरेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाऽविश्रमविश्वगोऽपि ॥ १९ ॥

अन्वयः—कदाचित् विधेः भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः स्कन्धस्य विश्रान्तिम् अदां तदादि अविश्रमविश्वगः अपि न श्राम्यामि ॥ १९ ॥

व्याख्या—कदाचित्=जातुचित्, विधेः=ब्रह्मणः, भ्रमणीविलासे=भुवन-भ्रमणविनोदे, श्रमाऽऽतुरेभ्यः=परिश्रमाऽऽकुलेभ्यः, भारवहनादिति शेषः। स्वमहत्तरेभ्यः=निजवंशवृद्धेभ्यः, स्कन्धस्य=अंसस्य, विश्रान्ति=विश्रमम्, अदां=दत्तवान्, स्वमहत्तरेषु श्रान्तेषु तद्भारमहं गृहीतवानिति भावः। तदादि=तत्कालादारभ्य, अविश्रमविश्वगः अपि=निरन्तरसर्वलोकगामी अपि, न श्राम्यामि=श्रान्तो न भवामि, न खिद्ये इति भावः ॥ १९ ॥

अनुवाद—किसी समय ब्रह्माजीके भ्रमणके विनोदमें परिश्रमसे आतुर अपने पूर्वजोंको मैंने कन्धेका विश्राम दिया। इस कारणसे मैं उस समय से लेकर लगातार विश्वमें भ्रमण करने पर भी परिश्रान्त नहीं होता हूँ ॥ १९ ॥

टिप्पणी—भ्रमणीविलासे=भ्रमण्या विलासः, तस्मिन् (ष० त०)। श्रमातुरेभ्यः=श्रमेण आतुराः, तेभ्यः (तृ० त०)। स्वमहत्तरेभ्यः=अतिशयेन महान्तो महत्तराः, महत्+तरप्। स्वस्मात् महत्तराः, तेभ्यः (ष० त०), "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" इससे "सम्प्रदान" संज्ञा होकर चतुर्थी। स्कन्धस्य="स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री" इत्यमरः। अदाम्="डुदाञ् दाने" धातुसे लुङ्+मिप्। "गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु" इससे सिच्का लुक्। तदादि=सः (कालः) आदिः यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद् यथा

तथा (क्रि० वि०)। अविश्रमविश्वगः=अविद्यमानः विश्रमः यस्मिन् कर्मणि (नञ्बहु०), विश्वं गच्छतीति विश्वगः, विश्व-उपपदपूर्वक गम् धातुसे "अन्यत्राऽपि दृश्यते" इससे ड प्रत्यय। अविश्रमं (यथा तथा) विश्वगः (सुप्सुपा०)। श्राम्यामि="श्रमु तपसि खेदे च" इस धातुसे लट्+मिप्। "शमामष्टानां दीर्घः श्यनि" इससे दीर्घ। इस पद्यमें काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ १९ ॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥ २० ॥

अन्वयः—मादृशि दिव्ये तिरश्चि विरलोदयस्य नरस्य एकं स्वर्भोगभाग्यं विना कश्चित् पाशादिः बन्धाय आसादितपौरुषो न स्यात् ॥ २० ॥

व्याख्या—मादृशि=मत्सदृशे, दिव्ये=सुरलोकभवे, तिरश्चि=पक्षिणि विषये, विरलोदयस्य=दुर्लभजन्मनः, नरस्य=मनुष्यस्य, अथवा विरलोदयस्य=रेफस्थाने लकारयुक्तस्य, नरस्य=नलस्येति भावः। एकं=मुख्यं, स्वर्भोगभाग्यं विना=स्वर्गसुखभागधेयं विना, कश्चित्=कश्चन, पाशादिः=पाशाद्युपायः, बन्धाय=बन्धनाऽर्थम्, आसादितपौरुषः=प्राप्तपुरुषार्थः, न स्यात्=न भवेत्, स्वर्भोगभाग्यशालिनं नरं (नलम्) विना मां ग्रहीतुं न कोऽपि समर्थ इति भावः ॥ २० ॥

अनुवाद—मेरे सरीखे दिव्य पक्षीके विषयमें दुर्लभ जन्मवाले नरके वा 'र' के स्थानमें 'ल' से युक्त नर अर्थात् नलके मुख्य स्वर्गभोगके भाग्यको छोड़कर कुछ पाश आदि उपाय बन्धनके लिए समर्थ नहीं होगा अर्थात् नल के सिवाय मैं किसी से ग्राह्य नहीं हूँगा ॥ २० ॥

टिप्पणी—विरलोदयस्य=विरल उदयो यस्य स विरलोदयः, तस्य (बहु०)। अथवा—विगतः रः यस्मात् सः विरः (बहु०)। लस्य उदयो यस्मिन् स लोदयः (व्यधिकरणबहु०)। विरश्चाऽसौ लोदयः विरलोदयः (क० धा०)। विरलोदयस्य नरस्य='र' के स्थानमें 'ल' के उदयवाले नर अर्थात् नल का, यह तात्पर्य है। स्वर्भोगभाग्यं=स्वः भोगः स्वर्भोगः (ष० त०)। तस्य भाग्यं, तत् (ष० त०), "विना" इस पदके योगमें द्वितीया। पाशादिः=पाश आदिर्यस्य सः (बहु०) बन्धाय="तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी। आसादितपौरुषः=आसादितं पौरुषं येन सः (बहु०)। स्यात्=अस्+विधिलिङ्+तिप् ॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्राऽपि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

अन्वयः—इष्टेन पूर्तेन वश्याः अमर्त्याः नलस्य अत्र अपि स्वर्भोगं सृजन्ति । महीरुहो दोहदसेकशक्तेः आकालिकं कोरकम् उद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

व्याख्या—नलस्य स्वर्भोगभाग्यं प्रतिपादयति—इष्टेनेति । इष्टेन=यागेन, पूर्तेन=खाताऽऽदिकर्मणा, वश्याः=वशं गताः, अमर्त्याः=देवाः, नलस्य=नैषधस्य, अत्र अपि=भूलोके अपि, स्वर्भोगं=स्वर्गसुखं, सृजन्ति=सम्पादयन्ति । अत्राऽर्थे दृष्टान्तमुपन्यस्यति—महीरुह इति । महीरुहः=वृक्षाः, दोहदसेकशक्तेः=धूपादिदोहदसेचनसामर्थ्यात्, आकालिकम्=असमयभवं, कोरकं=कलिकाम्, उद्गिरन्ति=उत्पादयन्ति । दोहदसेचनादिभ्यो वृक्षा इव ईष्टपूर्तादिकर्मभ्यो देवा अपि देशकालावनपेक्ष्याऽपि फलं ददतीति भावः ॥ २१ ॥

अनुवाद—याग और खात आदि कर्मसे वशीभूत होकर देवगण नलके लिए भूलोकमें भी स्वर्गसुखका सम्पादन करते हैं । वृक्ष, धूप आदि दोहद और सेचनकी शक्तिसे असमयमें भी कलिकाको उत्पन्न करते हैं ॥ २१ ॥

टिप्पणी—इष्टेन पूर्तेन=यज्+क्त+टा । पृ+क्त+टा । "अथ क्रतुकर्मेष्टं, पूर्तं खातादिकर्मणि" इत्यमरः । "पूर्तं" यहाँ पर "न ध्याख्यापृमूर्च्छिमदाम्" इस सूत्रसे तकारका नकार नहीं हुआ । वश्याः=वशं गताः, "वशं गत" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय । अमर्त्याः="अमर्त्या अमृतान्धस" इत्यमरः । दोहदसेकशक्तेः=दोहदं च सेकश्च दोहदसेकौ (द्वन्द्वः), तयोः शक्तिः, तस्या (ष० त०) । आकालिकम्=न कालः अकालः (नञ्०) अकाले भवः आकालिकः, तम् । 'अकाल' शब्दसे अध्यात्मादिगणके आकृतिगण होनेसे "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इससे ठञ् प्रत्यय । उद्गिरन्ति=उद्+गॄ+लट्+झि । इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णैः ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥ २२ ॥

अन्वयः—सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्य स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णैः चामरबद्धसख्यैः पक्षैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः ॥ २२ ॥

व्याख्या—नलस्य स्वर्गभोगं प्रतिपादयति—सुवर्णशैलादिति । सुवर्णशैलात्=सुमेरोः, तूर्णं=शीघ्रम्, अवतीर्य=अवरुह्य, स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवकीर्णैः=मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः, चामरबद्धसख्यैः=प्रकीर्णककृतमैत्रीकैः, चामरसदृशै-

रिति भावः । पक्षैः = पतत्रैः, स्मरकेलिकाले = रतिक्रीडासमये, तं = पूर्वोक्तं, नृपं = राजानं नलं, वीजयामः = वातं सृजाम इति भाव । राज्ञः सुरतश्रमं निवारयाम इति भावः ॥ २२ ॥

अनुवाद— सुमेरुपर्वतसे शीघ्र उतर कर मन्दाकिनीके जलके बिन्दुओंके सम्पर्कयुक्त चामरके समान पङ्खोंसे रतिक्रीडाके समयमें नलको हम पङ्खा झलते हैं ॥ २२ ॥

टिप्पणी— सुवर्णशैलात् = सुवर्णस्य शैलः, तस्मात् (ष० त०) । अवतीर्य = अव + तॄ + क्त्वा (ल्यप्) । स्ववाहिनीवारिकणाऽवकीर्णैः = वारिणः कणाः (ष० त०), स्ववाहिन्या वारिकणाः (ष० त०), तैः अवकीर्णाः, तैः (तृ० त०)। चामरबद्धसख्यैः = बद्धं सख्यं यैस्ते (बहु०) चामरेषु बद्धसख्याः, तैः (स० त०) स्मरकेलिकाले = स्मरस्य केलिः (ष० त०), तस्य कालः, तस्मिन् (ष० त०) ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता, व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात् ॥ २३॥

अन्वयः—साधुविभक्तिचिन्ता क्रियेत चेत्, सा व्यक्तिः प्रथमा अभिधेया । या स्वौजसां विलासैः तावत् बहु अनामपदम्, (पक्षान्तरे — नामपदं) साधयितुं क्षमा स्यात् ॥ २३ ॥

व्याख्या— साधुविभक्तिचिन्ता = सज्जनविभागविचारः, क्रियेत चेत् = विधीयेत यदि, सा = नलनामधेया, व्यक्तिः = मूर्तिः, प्रथमाऽभिधेया = प्रथमं परिगणनीया । याः = नलनामधेया व्यक्तिः, स्वौजसां = निजतेजसां, विलासैः = विभवैः, बहु = प्रचुरम्, अनामपदं = परराष्ट्रं, साधयितुं = स्वायत्तीकर्तुम्, क्षमा = समर्था, स्यात् = भवेत् ॥ २३ ॥

पक्षान्तरे — साधुविभक्तिचिन्ता = सप्तविभक्तिविचारः, क्रियेत चेत् = विधीयेत यदि, सा = प्रसिद्धा, प्रथमा = प्रथमाऽऽख्या, व्यक्तिः = विभक्तिः, अभिधेया = कथनीया, या = प्रथमा विभक्तिः, स्वौजसां = सु-औ-जस् इत्येतेषां प्रत्ययानां, विलासैः = विस्तारैः, तावत्, बहु = अनेकं, नामपदं = सुबन्तपदं, राम इत्यादिकं पदमिति भावः । साधयितुं = निष्पादयितुं, क्षमा = समर्था ॥ २३ ॥

अनुवाद— सज्जनोंके विभागका विचार किया जायेगा तो "नल" नामवाले व्यक्तिको पहले परिगणन करना चाहिए । जो अपने प्रतापके विभवोंसे प्रचुर शत्रुओंके राष्ट्रको वशमें करनेके लिए समर्थ होगा ॥ २३ ॥

दूसरे पक्षमें—सात विभक्तियोंका विचार किया जायेगा तो उस प्रथमा विभक्तिको पहले कहना चाहिए, जो (प्रथमा विभक्ति) सु औ अस् इन प्रत्ययोंके विस्तारोंसे बहुतसे सुबन्तपदोंको सिद्ध करनेके लिए समर्थ होगी ॥ २३ ॥

टिप्पणी—साधुविभक्तिचिन्ता = साधूनां विभक्तिः (विभागः) (ष० त०), तस्याश्चिन्ता (ष० त०)। विभक्तिपक्षमें—विभक्तीनां चिन्ता (ष० त०), साधु (यथा तथा) विभक्तिचिन्ता (सुप्सुपा०)। क्रियेत = कृ + लिङ् (कर्ममें) + त। प्रथमाऽभिधेया = प्रथमम् (यथा तथा) अभिधेया (सुप्सुपा०)। विभक्तिपक्षमें—प्रथमा = "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" इससे होनेवाली प्रथमा विभक्ति। स्वौजसां = स्वस्य ओजांसि (तेजांसि), तेषाम् (ष० त०)। विभक्तिपक्षमें—सुश्च औश्च जश्च स्वौजसः, तेषाम् (द्वन्द्वः)। अनामपदम् = नमनं नामः, 'नम्' धातुसे भावमें घञ्। अविद्यमानः नामः येषां ते अनामाः (नञ्बहु०), न झुकनेवाले अर्थात् शत्रु। अनामानां पदं (ष० त०) तत्। विभक्तिपक्षमें—नामपदं = नाम च तत्पदं, तत् (क० धा०), निरुक्तके मतके अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार प्रकारके पदोंमें 'सत्त्वप्रधानानि नामानि" अर्थात् जिनमें सत्त्व (द्रव्य) प्रधान होते हैं उन्हें "नाम" कहते हैं, अर्थात् सुबन्त पद। छः कारकोंमें "व्यापाराश्रयः कर्ता" व्यापारका आश्रय कर्ता होता है। अतः वही प्रधान होता है, उसमें प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है, इसलिए अन्य विभक्तियोंमें उसीकी प्रधानता और प्राथम्य होता है यह तात्पर्य है। इस पद्यमें प्रस्तुत अर्थ नल व्यक्तिका बोधन कर अभिधावृत्तिका विराम होनेके अनन्तर अन्वयकी अनुपपत्ति न होनेसे लक्षणाकी अप्रसक्तिसे तात्पर्यवृत्तिके पदार्थाऽन्वयका बोधन कर निवृत्ति होनेपर अप्रस्तुत प्रथमा विभक्तिकी प्रतीति उपमाध्वनिसे हो जाती है ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराऽऽज्योपमयेव राज्यम्।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो! शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—यज्वा श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः स राजा अध्वराज्योपमया इव राज्यं विबुधव्रजत्रा कृत्वा पूर्वं शेषम्, अन्त्यं तु अशेषं भुङ्क्ते अहो ॥ २४ ॥

व्याख्या—यज्वा = विधिना इष्टवान्, श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः = आश्रितच्छान्दसाधीनकृतसम्पत्तिः, सः = पूर्वोक्तः, राजा = भूपतिः, नल इत्यर्थः। अध्वराज्योपमया इव = यज्ञघृतसादृश्येन इव, राज्यं = राष्ट्रं, विबुधव्रजत्रा =

देवविद्वदधीनं कृत्वा=विधाय, पूर्वं=पूर्वनिर्दिष्टम् अध्वराज्यं, शेषं=हुतशेषं भुङ्क्ते, अन्त्यं तु=पश्चान्निर्दिष्टं राज्यं तु, अशेषम्=अखण्डं, भुङ्क्ते=उपभुङ्क्ते, अहो=आश्चर्यम् ॥ २४ ॥

अनुवाद—विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले और आश्रित वैदिकोंको सम्पत्ति देनेवाले वे राजा (नल) यज्ञके घृतके समान ही राज्यको देवता और विद्वानोंके अधीन कर पूर्वोक्त यज्ञके घृतका शेष भाग (हवनके अनन्तर अवशिष्ट भाग) का उपभोग करते हैं। पीछे कहे गये राज्यके अशेष (अखण्ड) भागका उपभोग करते हैं, आश्चर्य है ॥ २४ ॥

टिप्पणी—यज्वा=यज्+ङ्वनिप्। श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः=छन्दोऽधीयत इति श्रोत्रियाः, "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते" इससे निपात। "जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते"। इस उक्तिके अनुसार, जिसमें जन्म, संस्कार, विद्याका जुटाव होता है, उसे "श्रोत्रिय" कहते हैं। श्रिताश्च ते श्रोत्रियाः (क० धा०), श्रितश्रोत्रियाऽधीनीकृता श्रितश्रोत्रियसात्कृता "तदधीनवचने" इस सूत्रसे "कृ" के योगमें सातिप्रत्यय। श्रितश्रोत्रियसात्कृता श्रीर्येन सः (बहु०)। "सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमरः। अध्वराज्योपमया=अध्वरेषु राज्यम् (स० त०)। अध्वराज्यस्य उपमा, तया (ष० त०), विबुधव्रजत्रा=विबुधानां व्रजः (ष० त०)। विबुधव्रजाधीनं देयं कृत्वा ऐसा विग्रह कर "देये त्रा च" इससे विबुधव्रजसे त्रा प्रत्यय। "तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः" इससे अव्ययभाव। अशेषं=न शेषम्, तत् (नञ्०)। भुङ्क्ते="भुज पालनाऽभ्यवहारयो." इस धातुसे "भुजोऽनवने" इस सूत्रसे आत्मनेपद, लट्+त। इस पद्यमें विरोधाऽभास अलङ्कार है ॥ २४ ॥

> दारिद्र्यदारिद्र्यविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे।
> सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—दारिद्र्यदारिद्र्यविणौघवर्षैः अर्थिसार्थे अमोघमेघव्रतं सन्तुष्टम् इष्टदेवं लोकनाथं तं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ॥ २५ ॥

व्याख्या—दारिद्र्यदारिद्र्यविणौघवर्षैः=दैन्यनिवर्तकधनराशिवृष्टिभिः, अर्थिसार्थे=याचकसमूहे विषये, अमोघमेघव्रतम्=सफलबलाहकव्रतं, सन्तुष्टं=दानहृष्टम्, इष्टदेवं=यज्ञाराधितसुरं, लोकनाथं=राजानं, तं=नलं, के नाम=जनाः, इष्टानि=अभीष्टवस्तूनि, न नाथन्ति=नो याचन्ते, सर्वेऽपि याचन्त एवेति भावः ॥ २५ ॥

अनुवाद—दरिद्रताको नष्ट करनेवाले धनसमूहकी वृष्टियोंसे याचकसमूहमें सफल मेघके समान व्रत करनेवाले सन्तुष्ट और यज्ञसे देवताओंकी आराधना करने वाले महाराज नलसे कौन जन अभीष्ट पदार्थोंकी याचना नहीं करते हैं ॥२५॥

टिप्पणी—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः=दारिद्र्यं दारयतीति दारिद्र्यदारी दारिद्र्य + दृ + णिच् + णिनिः। द्रविणानाम् ओघः (ष० त०)। दारिद्र्यदारी, चाऽसौ द्रविणौघः (क० धा०)। तस्य वर्षाणि, तैः (ष० त०)। अर्थिसार्थे= अर्थिनां सार्थः, तस्मिन् (ष० त०)। अमोघमेघव्रतम्=न मोघम् अमोघम् (नञ्०)। मेघस्य व्रतम् (ष० त०)। अमोघं मेघव्रतं यस्य सः, तम् (बहु०)। इष्टदेवम्=इष्टा देवा येन सः, तम् (बहु०)। लोकनाथं=लोकानां नाथः, तम् (ष० त०)। नाथन्ति=नाथृ (नाधु) याच्ओपतापैश्वर्याशीःषु" इस धातुसे लट् + झि। याचनाऽर्थक नाथ् धातु दुहादिगणमें पढ़े जानेसे द्विकर्मक है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य।
तत्राऽनुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

अन्वयः—सा रम्भा नलस्य अतुलां भाम् अस्मत् चिरं श्रोत्रसुधां विधाय तत्र अनुरक्ता (सती) तम् अनाप्य तन्नामगन्धात् नलकूबरं भेजे ॥ २६ ॥

व्याख्या—सा=प्रसिद्धा, रम्भा=देवाङ्गना, नलस्य=नैषधस्य, अतुलाम्=अनुपमां, भां=सौन्दर्यम्, अस्मत्=मत्तः चिरं=बहुकालपर्यन्तं, श्रोत्रसुधां=कर्णाऽमृतं, विधाय=कृत्वा, अनुरागात् श्रुत्वेति भावः। तत्र= तस्मिन् नले, अनुरक्ता=अनुरागयुक्ता (सती), तम्=नलम्, अनाप्य= अप्राप्य, तन्नामगन्धात्=नलसञ्ज्ञाऽक्षरलेशात्, नलकूबरं=कुबेरपुत्रं, भेजे= सिषेवे ॥ २६ ॥

अनुवाद—रम्भा नामकी अप्सराने नलके अनुपम सौन्दर्यको मुझसे बहुत समयतक कानोंकें अमृत बनाकर (रससे सुनकर) उनमें अनुराग कर उन्हें न पानेसे नलके नामके लेश (एक खण्ड) से कुबेरके पुत्र नलकूबरका आश्रय लिया ॥ २६ ॥

टिप्पणी—सा=यहाँ तद् शब्दके प्रसिद्ध अर्थ में होने से यद् शब्द के न रहनेपर भी विधेयाऽविमर्श दोष नहीं हुआ। अतुलाम्=अविद्यमाना तुला (उपमा) यस्याः सा अतुला, ताम् (नञ्बहु०)। अस्मत्=अस्मद् + भ्यस्। श्रोत्रसुधां=श्रोत्रयोः सुधा, ताम् (ष० त०)। यह पद "भाम्" इस पद का

विधेय है। विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। अनुरक्ता=अनु+रञ्ज+क्त+टाप्। अनाप्य=न आप्य (नञ्०), 'आप्य' यहाँ पर आङ्-उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे क्त्वा उसके स्थानमें ल्यप्। तन्नामगन्धात्=तस्य नाम (ष० त०) तस्य गन्धः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः" इति विश्वः। भेजे=भज+लिट्+त॥ २६॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हा! हेति गायन्यदशोचि तेन नाम्नैव हा हा! हरिगायनोऽभूत्॥२७॥

अन्वयः-केलीषु तद्गानगुणान् निपीय इतः स्वर्लोकं प्रयातैः अस्माभिः हरिगायनः गायन् यत् "हा! हा" इति अशोचि, ततः नाम्ना हाहा अभूत्॥२७॥

व्याख्या-केलीषु=विनोदगोष्ठीषु, तद्गानगुणान्=नलगीतमाधुर्यादिगुणान्, निपीय=नितरां पीत्वा, सादरं श्रुत्वेति भावः। इतः=अस्माल्लोकात्, भूलोकादित्यर्थः। स्वर्लोकं=सुरलोकं प्रयातैः=प्राप्तैः, अस्माभिः=हंसैः (कर्तृभिः), हरिगायनः=इन्द्रगायकः, गायन्=गानं कुर्वन् सन्, यत्=यस्मात् कारणत्, हा हा इति अशोचि=हा हा इति शोकविषयीकृतः, नलगानाऽपेक्षया निकृष्टगानत्वारिति शेषः। ततः=तस्मात्कारणात्, नाम्ना=सञ्ज्ञया, हाहा=हाहा इत्याकारकः, अभूत=अभवत्॥ २७॥

अनुवाद—विनोदगोष्ठियोंमें नलके गानके गुणोंको आदरपूर्वक सुनकर भूलोकसे स्वर्गमें गये हुये हम लोगोंने गाते हुए इन्द्रके गवैयेके प्रति 'हा! हा!!' कहकर जो शोक किया उससे वे 'हाहा' नामवाले हो गये॥ २७॥

टिप्पणी—तद्गानगुणान्=तस्य गानं (ष० त०), "गीत गानमिमे समे" इत्यमरः। तद्गानस्य गुणाः, तान् (ष० त०), निपीय=नि+पी+क्त्वा (ल्यप्)। हरिगायनः=गायतीति गायनः "गै शब्दे" धातुसे "ण्युट् च" इस सूत्रसे ण्युट् प्रत्यय। हरेर्गायनः (ष० त०)। गायन्=गायतीति, गै+लट् (शतृ)+सु। अशोचि="शुच शोके" इस धातुसे लुङ् (कर्ममें)+त। नाम्ना="प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्" इससे तृतीया। हाहा="हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्" इत्यमरः। इस पद्यमें "हा हा" पदका निर्वचन होनेसे पीयूषवर्ष जयदेवके चन्द्रालोकके अनुसार "निरुक्त" नामका काव्यलक्षण है जैसे कि—

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथाऽनृतम्।"

इस पद्यमें इन्द्रके गर्वैयेके शोकनिमित्तका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, उससे गन्धर्वके गानसे भी नलके गानका उत्कर्षरूप वस्तुकी ध्वनि है ॥ २७ ॥

शृण्वन्सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः ।
पुण्येन नालोकत नाकपालः प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमालः ॥ २८ ॥

अन्वयः—नाकपालः सदारः तदुदारभावं शृण्वन् प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः (सन्) पुलोमजायाः मुहुः हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकत ॥ २८ ॥

व्याख्या—नाकपालः=स्वर्गाऽधिपः, इन्द्र इत्यर्थः । सदार=सपत्नीकः तदुदारभावं=नलौदार्यं शृण्वन्=आकर्णयन्,प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमालः=आनन्दबाष्पाच्छादितनयनसमूहः सन्, पुलोमजायाः=इन्द्राण्याः, मुहुः=वारं वारं हृष्यत्=उल्लसत् नलाऽनुरागादिति शेषः । लोम=रोम, रोमाञ्चमिति भावः । पुण्येन=सुकृतेन, इन्द्राण्या भाग्येनेति भावः । न आलोकत=न अपश्यत, अन्यथा शच्या मानसव्यभिचारं जानीयादिति भावः ॥ २८ ॥

अनुवाद—देवराज इन्द्रने पत्नीके साथ नलकी उदारताको सुनकर हर्षकी आँसुओंसे नेत्रोंकी पङ्क्ति आच्छादित होनेसे इन्द्राणी के बारबार होनेवाले रोमाञ्चको इन्द्राणी के पुण्यसे नहीं देखा ॥ २८ ॥

टिप्पणी—नाकपालः=नाकं पालयतीति, नाक+पाल+अच् । सदारः=दारैः सहितः (तुल्ययोग०) । तदुदारभावम्=उदारश्चाऽसौ भावः (क० धा०), तस्य उदारभावः, तम् (ष० त०) । शृण्वन्=शृणोतीति श्रु+लट् (शतृ)+सु । प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमालः=प्रमोदस्य बाष्पाणि (ष० त०) तैः वृता (तृ० त०) नेत्राणां माला (ष० त०) । इन्द्रके हजार नेत्र थे, इसलिए "माला" कहना ठीक है । प्रमोदबाष्पाऽऽवृता नेत्रमाला यस्य सः (बहु०) । पुलोमजायाः=पुलोम्नो जाता, तस्याः (ष० त०) पुलोमन्+जन्+ड+टाप्+ङस् । आलोकत=आङ्+लोक+लङ्+त । इस पद्य में भावोदय अलङ्कार है । ॥ २८ ॥

साऽऽश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः ।
अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ॥ २९ ॥

अन्वयः—ईश्वरे प्रसह्य चेतः हरतः तद्गुणौघान् शृण्वति (सति) सा अर्धशम्भुः अपर्णा कदा कण्डूयनकैतवेन अङ्गुलिरुद्धकर्णा न अभूत् ॥ २९ ॥

व्याख्या—ईश्वरे=शङ्करे, प्रसह्य=बलात्कारेण, चेतः=चित्तं, हरतः=

आकर्षतः, तद्गुणौघान् = नलगुणसमूहान्, शृण्वति = आकर्णयति सति, सा = प्रसिद्धा, अर्धशम्भु = शम्भोरर्धाङ्गभूता, अपर्णा = पार्वती, कदा = कस्मिन्काले, कण्डूयनकैतवेन = कण्डूनिवारणच्छलेन, अङ्गुलिरुद्धकर्णा = करशाखापिहितश्रवणा, न अभूत् = न अभवत्, अभूदेवेत्यर्थः । अन्यथा चित्तचलनादिति भावः ॥ २९ ॥

अनुवाद—बलपूर्वक चित्तको आकृष्ट करनेवाले नलके गुणोंको महादेवजीके सुनने पर शम्भुकी अर्धाङ्गिनी पार्वतीने कब खुजलीके बहाने उँगलीसे कानको बन्द नहीं किया ? ॥ २९ ॥

टिप्पणी—हरतः=हरन्तीति हरन्तः, तान्, हृञ् + लट् + (शतृ) + शस् । तद्गुणौघान्=गुणानाम् ओघाः (ष० त०) । तस्य गुणौघाः, तान् (ष० त०) अर्धशम्भुः = अर्धं (शरीरार्ऽर्धम्) शम्भोः (एकदेशि०), अपर्णा=अविद्यमानं पर्णं यस्याः सा (नञ्बहु०) । ऋषि मुनियोंने तपस्यामें वृक्षका पर्ण (पत्ता) खाया था, पार्वतीने उसे भी छोड़कर अनशन कर तपस्या की थी, अतएव उनका नाम 'अपर्णा' पड़ गया । इस बातको कविकुलगुरु कालिदासने कुमारसम्भवमें कैसे व्यक्त किया है—

"स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः" ॥ ५-२८ ॥

कण्डूयनकैतवेन = कण्डूयनस्य कैतवं, तेन (ष० त०) अङ्गुलिरुद्धकर्णा= रुद्धौ कर्णौ यया सा (बहु०), अङ्गुलिभ्यां रुद्धकर्णा (तृ० त०) । इस पद्यमें व्याजोक्ति अलङ्कार है ॥ २९ ॥

अलं सजन्धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—विधाता धर्मविधौ अलं सजन् वाणीं मौनस्य मिषेण रुणद्धि । (किन्तु) वेदजडः स ताम् तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य तृप्तां वक्रां न वेद ॥ ३० ॥

व्याख्या—विधाता = ब्रह्मा, धर्मविधौ = धर्माचरणे, अलम् = अत्यन्तं, सजन् = आसक्तो भवन्, वाणीं = स्वपत्नीं सरस्वतीं, वर्णात्मिकां वाचं च, मौनस्य = वाग्यमनव्रतस्य, मिषेण = कैतवेन, रुणद्धि = निवारयति, नलकथाप्रसङ्गादिति शेषः, तस्या उभय्या अपि नलाऽऽसक्तिभयादिति भावः । (किन्तु) वेदजडः=श्रुतिजडः, वेदपाठमात्रनिरतत्वाद्विचारहीन इति भावः । सः=विधाता, तां = वाणीं, स्वपत्नीं वाचं चेत्युभयीमपि, तत्कण्ठं = नलगलम्, आलिङ्ग्य =

आश्लिष्य, रसस्य तृप्तां=अनुरागसन्तुष्टां शृङ्गारादिरससन्तुष्टां च। अत एव वक्रां=प्रतिकूलां, वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्तां च, न वेद=न जानाति। स्त्रीणां रक्षा दुःशकेति भावः ॥ ३० ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी धर्मके आचरणमें अत्यन्त आसक्त होते हुए वाणी-(अपनी पत्नी सरस्वती अथवा वाणी) को मौनके बहानेसे (नलके कथा-प्रसङ्गसे) रोकते हैं। किन्तु वेदपाठमात्र करते रहनेसे जड़ वे (ब्रह्माजी) अपनी पत्नी सरस्वतीको और वाणीको नलके कण्ठको आलिङ्गन कर अनुरागसे अथवा शृङ्गार आदि रससे सन्तुष्ट अतएव वक्रा (प्रतिकूल अथवा वक्रोक्ति अलङ्कारसे युक्त) नहीं जानते हैं ॥ ३० ॥

टिप्पणी—धर्मविधौ=धर्मस्य विधिः, तस्मिन् (ष० त०)। सजन्=सजतीति "षञ्ज सङ्गे" धातुसे लट् (शतृ)+सु। रुणद्धि=रुध्+लट्+तिप्। वेदजडः=वेदेन जडः (तृ० त०)। तत्कण्ठं=तस्य कण्ठः, तम् (ष० त०)। आलिङ्ग्य=आङ्+लिगि+क्त्वा (ल्यप्)। रसस्य=करणत्वकी विवक्षा न करके सम्बन्धविवक्षामें षष्ठी। वेद=विद+लट्+तिप्। इस पद्यमें प्रस्तुत वाणी देवी (सरस्वती) के कथनसे अप्रस्तुत वर्णात्मक वाणीकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरिर्ष्याकलुषाऽणुनापि ॥ ३१ ॥

अन्वयः—पतिव्रतायाः श्रियः तद्भर्तुः समस्तभूतात्मतया तदालिङ्गनभूः काऽपि व्रतक्षतिः न अभूत्। (अत एव) तद्भर्तुः ईर्ष्याकलुषाऽणुना अपि न भूतम् ॥ ३१ ॥

व्याख्या—पतिव्रतायाः=सत्याः, श्रियः=लक्ष्म्याः, तद्भर्तुः=लक्ष्मीपतेः, विष्णोरित्यर्थः। समस्तभूतात्मतया=सर्वभूतस्वरूपत्वेन, तदालिङ्गनभूः=नलाऽऽश्लेषभवा, काऽपि=काचिदपि, व्रतक्षतिः=पातिव्रत्यभङ्गः, न अभूत्=न अजायत, नलस्याऽपि विष्णुरूपत्वेनेति भावः। अत एव तद्भर्तुः=लक्ष्मीपतेः विष्णोः, ईर्ष्याकलुषाऽणुना अपि=असहिष्णुताकालुष्यलेशेन अपि, न भूतम्=न अभावि ॥ ३१ ॥

अनुवाद—पतिव्रता लक्ष्मीका, उनके पति विष्णुके समस्त प्राणियोंके स्वरूपहोनेसे नलके आलिङ्गनसे होनेवाला कुछ भी पातिव्रत्यभङ्ग नहीं हुआ, इसीसे उनके पति विष्णुको ईर्ष्याके कालुष्यका लेश भी नहीं हुआ ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—पतिव्रतायाः=पत्यौ व्रतं यस्याः सा पतिव्रता, तस्याः (व्यधि० बहु०)। तद्भर्तुः=तस्या भर्ता, तस्य (ष० त०)। "याजकादिभिश्च" इससे समास। समस्तभूतात्मतया=समस्ताश्च ते भूताः (क० धा०)। आत्मनो भाव आत्मता, आत्मन्+तल्+टाप्। समस्तभूतानाम् आत्मता, तया (ष० त०), तदालिङ्गनभूः=तस्य (नलस्य) आलिङ्गनम् (ष० त०), तदालिङ्गनात् भवतीति, तदालिङ्गन+भू+क्विप् (उपपद०)+सु। व्रतक्षतिः=व्रतस्य क्षतिः (ष० त०), तद्भर्तुः=तस्या भर्ता तस्य, यहाँ पर पत्यर्थक भर्तृ शब्द होनेसे 'याजकादिभिश्च' इस सूत्रसे षष्ठी समास। ईर्ष्या-कलुषाऽणुना=ईर्ष्यया कलुषं (प० त०) तस्य अणुः, तेन (ष० त०)। भूतं=भू धातुसे "नपुंसके भावे क्तः" इससे क्त प्रत्यय। यहाँ पर २८-३१ पद्यों तक पुलोमजा आदियोंके चित्तचाञ्चल्यकी उक्तिका नलके सौन्दर्यमें तात्पर्य होनेसे औचित्यभङ्ग नहीं समझना चाहिए। इस पद्यमें पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

धिक् ! तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृताऽर्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—स्मृततन्मुखश्रीः (अपि) पर्वणि यः पूर्णम् इन्दुं निर्माति, तम् अजातलज्जं विधेः पाणिं धिक् ! यो भवमूर्ध्नि कृताऽर्धम् तम् औज्झत् सः विज्ञः (इति) मन्ये ॥ ३२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) स्मृततन्मुखश्रीः (अपि)=चिन्तितनलाननशोभः (अपि), पर्वणि=पूर्णिमायां, यः=विधिपाणिः पूर्णं=षोडशकलोपेतम्, इन्दुं=चन्द्रमसं, निर्माति=रचयति, तं=तादृशम्, अजातलज्जं=निर्लज्जं, विधेः=ब्रह्मणः, पाणिं=करं, धिक्=तस्य निन्देति भावः। यः=विधि-पाणिः, भवमूर्ध्नि=शिवशिरसि कृताऽर्धं=रचितैकदेशं, तं=चन्द्रमसम्, औज्झत्=त्यक्तवान्, सः=विधिपाणिः, विज्ञः=अभिज्ञः इति, मन्ये=चिन्तयामि, चन्द्रान्मनोहरतरं नलमुखमिति भावः ॥ ३२ ॥

अनुवाद—नलकी मुखशोभाका स्मरण करके भी पूर्णिमामें जो (ब्रह्माका हाथ) पूर्ण चन्द्रका निर्माण करता है उस निर्लज्ज हाथको धिक्कार है, जिसने (ब्रह्माजीके हाथ ने) शिवजीके शिरमें आधा बनाये गये चन्द्रमाको छोड़ दिया। वह बुद्धिमान् है, मैं ऐसा मानता हूँ ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—स्मृततन्मुखश्रीः=तस्य मुखं (ष० त०), तस्य श्रीः (ष० त०)

स्मृता तन्मुखश्रीर्येन सः (बहु०)। अजातलज्जं=न जाता अजाता (नञ्०)। अजाता लज्जा यस्य सः, अजातलज्जस्तम् (बहु०)। धागिम्="धिक्" पदके योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। भवमूर्ध्नि=भवस्य मूर्धा, तस्मिन् (ष० त०), कृतार्धं=कृतः अर्धः यस्य स कृताऽर्धः, तम् (बहु०)। "भित्तं शकलभण्डे वा पुंस्यर्धः" इत्यमरः। औज्झत्=उज्झ+लङ्+त "आडजादीनाम्" इससे आट् आगम और "आटश्च" इससे वृद्धि। चन्द्रमासे नलका मुख अतीव सुन्दर है, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमें "प्रतीप" अलङ्कार है ॥ ३२ ॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदाऽपि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ ३३ ॥

अन्वयः—विधुः स्वजैत्रं तस्य मुखं नः मुखात् श्रुत्वा ह्रीविधुरः (सन्) कदापि सूरे कदापि समुद्रस्य पूरे कदाचित् अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे निलीयते ॥ ३३ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) विधुः=चन्द्रमा, स्वजैत्रम्=निजजेतृ, तस्य= नलस्य, मुखं=वदनं, नः=अस्माकं, मुखात्=वदनात्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, ह्रीविधुरः=लज्जाविकलः (सन्), कदाऽपि=कदाचित्, सूरे=सूर्ये, दर्शे इति भावः। कदाऽपि=कदाचित्, समुद्रस्य=सागरस्य, पूरे=प्रवाहे, अस्तकाल इति भावः। कदाचित्=जातुचित्, अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे=आकाशसञ्चरमाणमेघाऽभ्यन्तरे निलीयते=अन्तर्धत्ते, कदाऽपि अग्रतः स्थातुं न उत्सहत इति भावः ॥३३॥

अनुवाद—चन्द्रमा अपनेको जीतनेवाले नलके मुखको हमारे मुखसे सुनकर लज्जासे पीड़ित होकर कभी सूर्यमें (अमावास्यामें), कभी समुद्रके प्रवाहमें (अस्तसमयमें) और कभी आकाशमें घूमते हुए मेघके भीतर छिप जाता है ॥३३॥

टिप्पणी—स्वजैत्रं=जयतीति जेतृ, जि+तृच्। जेतृ एव जैत्रम्, "प्रज्ञादिभ्यश्च" इस सूत्रमें जेतृ शब्दसे स्वार्थमें अण्। स्वस्य जैत्रं, तत् (ष० त०)। ह्रीविधुरः=ह्रिया विधुरः (तृ० त०)। अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे=भ्रमच्च तत्, अभ्रम् (क० धा०), "अभ्रं मेघो वारिवाहः" इत्यमरः। अभ्रे भ्रमदभ्रम् (स० त०), "द्यौदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्" इत्यमरः। अभ्रभ्रमदभ्रस्य गर्भः तस्मिन् (ष० त०)। निलीयते=नि+लीङ्+लट्+त। इस पद्यमें चन्द्रमाके स्वाभाविक सूर्य आदिमें प्रवेशमें पराजयके कारण लज्जासे छिपनेकी उत्प्रेक्षा होनेसे वाचक शब्दके अभावमें प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

सञ्ज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्याऽरिरत्यब्जनलास्यनुत्यै ।
तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः— दैत्याऽरिः स्वध्वजभृत्यवर्गान् नः अत्यब्जनलास्यनुत्यै सञ्ज्ञाप्य तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात् धातुः विलज्जं रमायां रमते ॥ ३४ ॥

व्याख्या— दैत्याऽरिः = विष्णुः, स्वध्वजभृत्यवर्गान् = गरुडाऽनुचरसमूहान्, नः=अस्मान्, अत्यब्जनलाऽऽस्यनुत्यै=कमलजेतृनलमुखस्तुत्यै, सञ्ज्ञाप्य=सञ्ज्ञया आज्ञाप्य, तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात्=नलस्तुतिनिमीलन्नाभिकमलतिरोहितात्, धातुः = ब्रह्मणः, विलज्जं = लज्जाराहित्यं यथा तथा, रमायां = लक्ष्म्यां, रमते = क्रीडति ॥ ३४ ॥

अनुवाद— भगवान् विष्णु अपने वाहन गरुडके अनुचर हम लोगोंको सिकुड़े हुए नाभिकमलमें ब्रह्माजीके अदृश्य होनेसे लज्जारहित होकर लक्ष्मीमें रमण करते हैं ॥३४॥

टिप्पणी— दैत्याऽरिः = दैत्यानाम् अरिः (ष० त०) । स्वध्वजभृत्यवर्गान् = स्वस्य ध्वजः (ष० त०), गरुड इत्यर्थः । भृत्यानां वर्गाः (ष० त०) । स्वध्वजस्य भृत्यवर्गाः, तान् (ष० त०) । अत्यब्जनलाऽऽस्यनुत्यै = अब्जम् अतिक्रान्तम् अत्यब्जम् "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इससे समास हुआ है । नलस्य आस्यम् (ष० त०) । अत्यब्जं च तत् नलास्यम् (क० धा०) । तस्य नुतिः, तस्यै (ष० त०) । "स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः." इत्यमरः । सञ्ज्ञाप्य=सम् + ज्ञा + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात्= नाभौ सरोजं (स० त०) । सङ्कुचच्च तत् नाभिसरोजम् (क० धा०) । तया (नुत्या) सङ्कुचन्नाभिसरोजं (तृ० त०) तेन पीतः, तस्मात् (तृ० त०) । पीतका "तिरोहित" अर्थ लक्षणासे हुआ है । धातुः = अपादानमें पञ्चमी । विलज्जं = विगता लज्जा यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), यथा तथा (क्रि० वि०) रमते=रम + लट् + त । इस पद्यमें विष्णुकी रमामें उस प्रकारसे रमण-का सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

रेखाभिरास्ये गणनादिवाऽस्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः ।
चतुर्दशाऽष्टादश चाऽत्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अस्य आस्ये दन्तमयीभिः द्वात्रिंशता रेखाभिः गणनात् चतुर्दश अष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र सन्ति इति वेधाः शशंस इव ॥ ३५ ॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, आस्ये = मुखे, दन्तमयीभिः = दशनरूपाभिः, द्वात्रिंशता = द्वात्रिंशत्सङ्ख्याभिः, रेखाभिः = लेखाभिः, गणनात् = सङ्ख्यानात्, चतुर्दश=चतुर्दशसङ्ख्यकाः, अष्टादश=अष्टादशसङ्ख्यकाः, विद्याः=वेदादिविद्याः सन्ति = वर्तन्ते, इति = इत्थं, शशंस इव = कथयति स्म इव ॥ ३५ ॥

अनुवाद—नलके मुखमें दन्तस्वरूप बत्तीस रेखाओंसे गिनती करनेसे चौदह और अठारह विद्याएँ दो प्रकारोंसे इनमें हैं, ऐसा ब्राह्मजी मानों सूचना करते हैं ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—दन्तमयीभिः = दन्त + मयट् (स्वरूप अर्थमें) + ङीप् + भिस् । द्वात्रिंशता = द्वयधिका त्रिंशत् द्वात्रिंशत्, तया (मध्यमपद०) । "द्वयष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः" इससे आत्व । "रेखाभिः" इसका विशेषण होने पर भी "विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः सङ्ख्येयसङ्ख्ययोः ।" इस नियमके अनुसार एकवचन । चतुर्दश = चतस्रश्च दश च (द्वन्द्व), अष्टादश = अष्टौ च दश च (द्वन्द्वः), पूर्व सूत्रसे आत्व ।

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राऽङ्गमिश्रिताः ।
वेदा स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश" ॥ १-१-३ ।

याज्ञावल्क्यस्मृतिके इस वचनके अनुसार पुराण (ब्राह्म आदि) न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र (मानव आदि), बेदाङ्ग ६, (जैसे-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष) तथा ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद—४ वेद कुल चौदह विद्याएँ हुईं । इनमें—

"आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
अर्थशास्त्र चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥"

विष्णुपुराणकी इस उक्तिके अनुसार आयुर्वेद, धनुर्वेद गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इन चार उपवेदोंका सङ्कलन करनेसे अठारह विद्याएँ हो गईं । मत-भेद दिखाया गया है । द्वेधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, द्वि शब्दसे "एधाच्च" इससे एधाच् प्रत्यय । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्माराऽमरेन्द्रावपि न स्मरामः ।
वासने सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

अन्वयः—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ निरीक्ष्य स्मरामरेन्द्रौ अपि न स्मरामः । तस्मिन् क्षमयोः सम्यक् वासेन शेषबुद्धौ न दध्मः खलु ॥ ३६ ॥

व्याख्या—तस्य=पूर्वोक्तस्य, नरेन्द्रस्य=राज्ञो नलस्य, श्रियौ=सौन्दर्य-सम्पत्ती, निरीक्ष्य=दृष्ट्वा स्मरामरेन्द्रौ अपि=कामशक्रौ अपि, न स्मरामः=न चिन्तयामः, स्मरे सौन्दर्यमेव न सम्पत्तिः, इन्द्रे सम्पत्तिरेव न पुनः सौन्दर्यं नले च द्विविधे अपि श्रियौ वर्तेते अतस्तस्य आधिक्यमिति भावः । एवं च तस्मिन्=नले, क्षमयोः=क्षितिक्षन्त्योः, सम्यक्=सुष्ठु, वासेन=स्थित्या, बुद्धौ=स्वमतौ, शेषबुद्धौ=अनन्तसुगतौ, न दध्मः=न धारयामः, खलु=निश्चयेन । शेषः पृथिवीमेव धारयति न क्षान्तिं, बुद्धः क्षान्तिमेव धारयति न पुनः क्षितिम् । नलस्तु उभे अपि धारयति अतस्तस्य प्रकर्षाऽतिशय इति भावः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—नलकी दोनों श्रियों (सौन्दर्य और सम्पत्ति) को देखकरकाम-देव और इन्द्रका भी हम स्मरण नहीं करते । उसी प्रकार उन (नल) में दोनों क्षमाओं (पृथ्वी और सहनशीलता) की अच्छी तरह स्थिति होने से शेष और बुद्धको हम अपने मन में धारण नहीं करते ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—नरेन्द्रस्य=नराणाम् इन्द्रः, तस्य (ष० त०) । श्रियौ=श्रीश्च श्रीश्च श्रियौ, ते, "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इससे एकशेष समास । "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीः" इति शाश्वतः । स्मरामरेन्द्रौ=अमराणाम् इन्द्रः (ष० त०) । स्मरश्च अमरेन्द्रश्च, तौ (द्वन्द्वः) । क्षमयोः=क्षमा च क्षमा क्षमे, तयोः, पूर्वसूत्रसे एकशेष । "क्षितिक्षान्त्योः क्षमा" इत्यमरः । शेष बुद्धौ=शेषश्च बुद्धश्च, तौ (द्वन्द्वः) । दध्मः=धा+लट्+मस् । इस पद्य में दोनों श्रियों और क्षमाओंका प्रकृत (प्रस्तुत) होनेसे केवल प्रकृतश्लेष है और सौन्दर्य आदि गुणोंसे स्मर आदियोंसे नलका आधिक्य होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है । यथासंख्यके साथ इनका सङ्कर है ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैः, समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पतत्रं विना विनतातनूजैः, ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैः, अनणु-प्रमाणैः मनोभिः, तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिता आसीत् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—पतत्रं=पक्षं, विना=अन्तरेण, विनतातनूजैः=गरुडैः, तद-श्वैरित्यत्र सम्बन्धः, एवमन्यत्राऽपि । ईक्षणलक्षणीयैः=नयनदर्शनीयैः, समी-रणैः=वायुभिः (तदश्वैः), अनणुप्रमाणैः=अणुपरिमाणरहितैः, महा-परिमाणैरिति भावः । मनोभिः=अन्तःकरणैः, कतमा=का, दिक्=काष्ठा,

न लङ्घिता=न अतिक्रान्ता, आसीत्=अभवत्, सर्वाऽपि दिक् लङ्घितैवासीदिति भावः ।। ३७ ।।

अनुवाद—पङ्खके बिना गरुड, नेत्रसे देखे जानेवाले वायु और अणु-परिमाणसे रहित अर्थात् महापरिमाणवाले नलके घोड़ोंने कौन-सी दिशाका लङ्घन नहीं किया ।। ३७ ।।

टिप्पणी—विनतातनूजैः=विनतायास्तनूजाः, तैः (ष० त०) । ईक्षण-लक्षणीयैः=ईक्षणाभ्यां लक्षणीयाः, तैः (तृ० त०) । अनणुप्रमाणैः=अणुः प्रमाणं येषां तानि (बहु०), न अणुप्रमाणानि, तैः (नञ्०) । तदश्वैः=तस्य अश्वाः, तैः (ष० त०) । कतमा=का एव, किम् शब्दसे "कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने" इस सूत्रसे डतमच्+टाप् । वेगवाले पदार्थोंमें गरुड, वायु और मन—ये तीन प्रसिद्ध हैं, परन्तु नलके घोड़े बिना पङ्खके गरुड हैं । वायुका रूप नहीं है, इसलिए केवल स्पर्शसे उसका प्रत्यक्ष होता है । परन्तु नलके घोड़े आँखों से देखे जानेवाले वायु हैं । इसी तरह मन अणुप्रमाण है, परन्तु नलके घोड़े अणुप्रमाणसे भिन्न महाप्रमाणवाले मन हैं, इस प्रकार नल के घोड़ोंकी वेग-शालिता का वर्णन किया गया है । नलके घोड़ोंमें गरुड वायु और मन का आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है । उसमें भी गरुडमें पतत्ररहितत्व, वायुमें ईक्षण-लक्षणीयत्व और मनमें अणुप्रमाणरहितत्व अधिक विशेषण होनेसे अधिकारूढ-वैशिष्ट्यरूपक अलङ्कार है । जैसे कि—"अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत् ।" सा० द० १०।५० ।। ३७ ।।

सङ्ग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।
तद्बाणधारापवनाऽशनानां राजव्रजीयैरसुभिः सुभिक्षम् ।। ३८ ।।

अन्वयः—अरीणाम् अस्रैः नदीमातृकतां गतासु सङ्ग्रामभूमीषु तद्बाणधारा-पवनाऽशनानां राजव्रजीयैः असुभिः सुभिक्षं भवति ।। ३८ ।।

व्याख्या—अरीणां=शत्रूणां, नलस्येति शेषः । अस्रैः=रुधिरैः, नदीमातृ-कतां=नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यतां, गतासु=प्राप्तासु, सङ्ग्रामभूमीषु=युद्धभूमिषु, तद्बाणधारापवनाशनानां=नलशरपरम्परासर्पाणां, राजव्रजीयैः=नृपसमूहसम्ब-न्धिभिः, असुभिः=प्राणैः, सुभिक्षं=भिक्षाणां समृद्धिः, भवति=विद्यते ।।३८।।

अनुवाद—शत्रुओंके रुधिरसे नदीके जलसे शस्यसम्पन्न भावको प्राप्त युद्ध-भूमियोंमें नलके बाणधारारूप सर्पोंको राजाओंके प्राणोंसे सुभिक्ष हो जाता है ।

टिप्पणी—नदीमातृकतां=नदी एव माता यासां ता नदीमातृकाः (बहु०),

"नद्यृतश्च" इससे समासाऽन्त कप् प्रत्यय। नदीमातृकाणां भावो नदीमातृकता, ताम्, नदीमातृका + तल् + टाप् + अम्। "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इससे पुंवद्भाव।

"देशो नद्यम्बुवृष्टयम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्" इत्यमरः। सङ्ग्रामभूमीषु=सङ्ग्रामस्य भूम्यः, तासु (ष० त०)। तद्बाणधारापवनाऽशनानां = बाणानां धाराः (ष० त०), तस्य बाणधाराः (ष० त०), ता एव पवनाऽशनाः, तेषाम् (रूपक०)। राजव्रजीयैः = राज्ञां व्रजाः (ष० त०), राजव्रजानाम् इमे राजव्रजीयाः, तैः "वृद्धाच्छः" इससे छ (ईय) प्रत्यय। सुभिक्षं = भिक्षाणां समृद्धिः, "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे समृद्धिमें अव्ययीभाव। नदीके जलसे खेती किये जानेवाले देश या भूमिको "नदीमातृक" और वृष्टिके जलसे खेती किये जाने वाले देश या भूमिको "देव-मातृक" कहते हैं। नलके शत्रु राजाओंके रुधिरसे संग्रामभूमियोंके नदीमातृक होनेपर नलके बाणधारारूप सर्पोंको नलके शत्रु राजाओंकी प्राणवायुसे सुभिक्ष होता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

यशो यदस्याऽजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलङ्कषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—संयुगेषु कण्डूलभावं भजता अस्य भुजेन यत् यशः अजनि, तदीय दिगापगालीकूलङ्कषत्वं व्यसनं हेतोः गुणात् एव ॥ ३९ ॥

व्याख्या—संयुगेषु = युद्धेषु, कण्डूलभावं = खर्जू, भजता = प्राप्नुवता, अस्य = नलस्य, भुजेन = बाहुना यत्, यशः = कीर्तिः, अजनि = जनितं तदीयं = तद्यशःसम्बन्धि, दिगापगालीकूलङ्कषत्वं = काष्टानदीराजितटवर्षकत्वं, व्यस-नम् = आसक्तिः, हेतोः = कारणस्य, भुजस्य। गुणात् एव = कण्डूलत्वात् एव, आगतमिति शेषः ॥ ३९ ॥

अनुवाद—युद्धोंमें खुजलीको प्राप्त करनेवाली नलकी बाहुने जो यश पैदा किया, उस यशका दिशारूप नदियोंके तटको खुजलानेका व्यसन अपने कारण बाहुके गुणसे ही आ गया है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—कण्डूलभावं=कण्डूरस्याऽस्तीति कण्डूलः, शब्दसे "सिध्मादिभ्यश्च" इस सूत्रसे लच् प्रत्यय अथवा कण्डूं लाति (आदत्ते) इति कण्डूलः, "आतो-ऽनुपसर्गे कः" इससे कप्रत्यय। "कण्डूः खर्जूश्च कण्डूया" इत्यमरः। कण्डूलस्य भावः, तम् (ष० त०)। अजनि = जन् + णिच् + लुङ् + त (कर्ममें), तदीयं = तस्य इदम्, तद् + छ (ईय)। दिगापगालीकूलङ्कषत्वं = दिश एव

आपगाः (रूपक०), तासाम् आली (ष० त०)। कूलं कषतीति कूलङ्कषं, कूल-उपपदपूर्वक 'कष' धातुसे "सर्वकूलाऽभ्रकरीषेषु कषः" इस सूत्रसे खच् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम (उपपद०)। कूलङ्कषस्य भावः कूलङ्कषत्वं, कूलङ्कष + त्व। दिगापगाल्याः कूलङ्कषत्वम् (ष० त०)। नलका यश सब दिशाओंमें फैला हुआ है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ३९॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्याद्।
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद्, गणेयनिःशेषगुणोऽपि सः स्यात्॥ ४०॥

अन्वयः—त्रिलोकी गणनापरा स्यात् यदि, तस्या आयुषः समाप्तिः न स्यात् यदि, पारेपरार्धं गणितं स्यात् यदि (तदा) सः अपि गणेयनिःशेषगुणः स्यात्॥ ४०॥

व्याख्या—त्रिलोकी = त्रिभुवनं, गणनापरा = नलगुणसङ्ख्यानतत्परा, स्यात् यदि = भवेत् चेत्। एवं च तस्याः = त्रिलोक्याः, आयुषः = जीवनकालस्य, समाप्तिः = समापनं, न स्यात् यदि = न भवेत् चेत्, पारेपरार्धं = परार्धात् परं, गणितं = सङ्ख्यातं, स्यात् यदि = भवेत् चेत्, (तदा = तर्हि) सः अपि = नलः अपि, गणेयनिःशेषगुणः = गणनीयसमस्तगुणः, स्यात् = भवेत्, न तु एवं, ततो नलगुणगणना कर्तुं नैव शक्येति भावः॥ ४०॥

अनुवाद—यदि तीनों लोक नलके गुणोंको गिननेमें तत्पर हों, यदि उनकी आयुकी समाप्ति भी न हो और यदि परार्धसे ऊपर भी गणना हो सके तो नलके सब गुणोंकी गणना हो सकेगी॥ ४०॥

टिप्पणी—त्रिलोकी = त्रयाणां लोकानां समाहारः, "तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" इससे समास, उसकी "संख्यापूर्वो द्विगुः" इस सूत्रसे द्विगुसंज्ञा, "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इस नियमसे "द्विगोः" इस सूत्रसे ङीप्। गणनापरा = गणनायां परा (स० त०)। पारेपरार्धं = परार्द्धस्य पारे "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इससे अव्ययीभाव, निपातनसे एकारान्तत्व हुआ है। गणेयनिःशेषगुणः = गणयितुं योग्या गणेयाः, "गण सङ्ख्याने" धातुसे "गणेरेयः" इस उणादिसूत्रसे एय प्रत्यय। स्यात् = क्रियाऽतिपत्तिकी विवक्षा न होनेसे लृङ् नहीं हुआ, अतः संभावनामें लिङ्। इस पद्यमें गुणोंके गणेयत्वके सम्बन्धमें भी असम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है। चन्द्रालोककार जयदेवके मतके अनुसार 'संभावन' अलङ्कार है॥ ४०॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तिरश्चाम् अवारितद्वारतया तस्य राज्ञः अन्तःपुरे निविश्य परमाणुमध्याः रम्येषु गतेषु अधिकं विशेषम् अध्यापयामः ॥ ४१ ॥

व्याख्या—अथ नलस्याऽन्तःपुरे हंसः स्वगतिं द्योतयति—अवारितेति। तिरश्चाम्=पक्षिणाम्, अवारितद्वारतया= अनिवारितप्रतीहारतया, अनिषिद्धप्रवेशत्वेनेति भावः। तस्य=पूर्वोक्तस्य, राज्ञः= नृपस्य, अन्तःपुरे=अवरोधे, निविश्य=प्रविश्य, परमाणुमध्याः=अतिकृशोदरीः, नलाङ्गना इति भावः। रम्येषु=मनोहरेषु, गतेषु=गमनेषु विषये, अधिकम्=अपूर्वं, विशेषं=भेदम् अध्यापयामः=अभ्यासयामः, वयमिति शेषः ॥ ४१ ॥

अनुवाद—पक्षियोंके प्रवेशमें रुकावट न होनेसे राजा नलके अन्तःपुरमें प्रवेश कर परमाणुसदृश (सूक्ष्म) कमरवाली उनकी स्त्रियोंको मनोहर गतियोंमें अपूर्व भेदको हम सिखाते हैं ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—अवारितद्वारतया=न वारितम् अवारितम् (नञ्०)। अवारितं द्वारं येषां ते अवारितद्वाराः (बहु०), तेषां भावः तत्ता, तया, अवारितद्वार+तल्+टाप्+टा। निविश्य=नि+विश्+क्त्वा (ल्यप्)। परमाणुमध्याः=परमश्चाऽसौ अणुः (क० धा०), परमाणुरिव मध्यो यासां ताः (बहु०)। पदार्थोंमें सबसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु है, यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है। यहाँ सूक्ष्म अर्थमें तात्पर्य है। अध्यापयामः=अधि-उपसर्गपूर्वक "इङ् अध्ययने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लट्+मस्। दुहादिगणमें पढ़े जानेसे द्विकर्मक ॥४१॥

पीयूषधाराऽनधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः ।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽदृताभिः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पीयूषधाराऽनधराभिः काव्यं सृजता काव्येन आदृताभिः रम्भाऽऽदिसौभाग्यरहःकथाभिः तासाम् अन्तः रसोदन्वति मज्जयामः ॥ ४२ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) पीयूषधाराऽनधराभिः=अमृतधारान्यूनाभिः, अमृतसमानाभिरित्यर्थः। काव्यं=प्रबन्धविशेषं, सृजता=रचयित्रा काव्येन=शुक्रेण, आदृताभिः=मानिताभिः, काव्ये प्रतिपादिताभिरिति भावः रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः=रम्भाऽऽदिवाल्लभ्यरहस्यवर्णनाभिः, तासां= नलाऽन्तःपुरस्त्रीणाम्, अन्तः=अन्तःकरणं, रसोदन्वति=शृङ्गाररससमुद्रे मज्जयामः=अवगाहयामः ॥ ४२ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारी ! अमृतधाराके समान, काव्यकी रचना करनेवाले काव्य (शुक्र) से प्रतिपादित रम्भा आदि अप्सराओंके सौभाग्यकी रहस्यकथाओंसे नलके अन्तःपुरकी स्त्रियोंके अन्तःकरणको शृङ्गाररसके समुद्रमें हमलोग स्नान करा देते हैं ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—पीयूषधाराऽनधराभिः=न अधरा अनधराः (नञ्०)। पीयूषस्य धाराः (ष० त०), ताभ्यः अनधराः, ताभिः (ष० त०)। काव्यं=कवेर्भावः कर्म वा तत्, कवि शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्म च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय। सृजता=सृजतीति सृजन्, तेन, सृज+लट् (शतृ)+टा। काव्येन= कवेरपत्यं पुमान् काव्यः, तेन, कवि शब्दसे "कुर्वादिभ्यो ण्यः" इससे ण्य प्रत्यय, "शुक्रो दैत्यगुरुः काव्यः" इत्यमरः। आदृताभिः=आङ्+दृञ्+ क्त+भिस्। रम्भाऽऽदिसौभाग्यरहःकथाभिः=रम्भा आदिर्यासां ता रम्भादयः (बहु०), तासां सौभाग्यम् (पतिवाल्लभ्यम्) (ष० त०), तस्य रहःकथा, (ष० त०) ताभिः। रसोदन्वति=रसस्य उदन्वान्, तस्मिन् (ष० त०)। मज्जयामः=(टु) मस्जो+णिच्+लट्+मस्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

काभिर्न तत्राऽभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् क्रियेऽहम्।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्, कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥ ४३ ॥

अन्वयः—यत् तिर्यक् कुतः अपि न जिह्रेति एव। तिरश्चः अपि कश्चित् न त्रपते, तेन तत्र काभिः अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् न क्रिये ॥४३॥

व्याख्या—यत्=यस्मात्कारणात्, तिर्यक्=पक्षी, कुतः अपि=कस्मात् अपि जनात्, न जिह्रेति एव=न लज्जते एव। तिरश्चः अपि=पक्षिणः अपि, कश्चित्=कोऽपि जनः, न त्रपते=न लज्जते। तेन=कारणेन, तत्र=अन्तः-पुरे, काभिः=स्त्रीभिः, अहं=तिर्यक्, हंसः। अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेप-वणिक्=अपूर्वरतिरहस्यवृत्तान्तविश्रम्भन्यासवाणिजकः, न क्रिये=न कृतः, अपि तु क्रिये एव। अहं नलस्य अन्तःपुरवर्तिनीनां सर्वासां रमणीनां विश्वास-कथापात्रमस्मीति भावः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—जिस कारणसे कि पक्षी किसीसे भी नहीं ही लजाता है, और पक्षीसे भी कोई भी नहीं लजाता है; इस कारणसे नलके अन्तःपुरमें कौन स्त्रियाँ मुझे अपूर्व रतिरहस्यके वृत्तान्तके विश्वासका धरोहर रखनेमें वणिक् नहीं बनाती हैं ? ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—तिर्यक्=तिरः अञ्चतीति, तिरस् + अञ्च + क्विन् + सु, "तिरसस्तिर्यलोपे" इससे तिरस्के स्थानमें तिरि आदेश। कुतः=कस्मात् इति, किम् (कु) + ङसि (तस्), "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे पञ्चमी। जिह्रेति=ह्री + लट् + तिप्। त्रपते=त्रपूष् + लट् + त। अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्=स्मरस्य आज्ञा (ष० त०), अभिनवा चाऽसौ स्मराज्ञा (क० धा०), विश्वासस्य निक्षेपः (ष० त०), अभिनवस्मराज्ञाया विश्वासः (ष० त०), तस्य निक्षेपः (ष० त०)। तस्य वणिक् (ष० त०)। क्रिये=कृ + लट् + इट् (कर्ममें)। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

> **वार्ता च साऽसत्यपि नाऽन्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे।**
> **विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥**

अन्वयः—विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः (अहम्) योगात् अरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे, सा वार्ता असती अपि अन्यं न एति ॥ ४४ ॥

व्याख्या—अथ हंसः स्वस्य विश्वासभाजनत्वं प्रतिपादयति—वार्तेति। विरिञ्चीत्यादिः=ब्रह्माऽनेकवदनव्याख्यानशोधितयोगशास्त्रश्रवणपूरितश्रोत्रः, अहं योगात्=उपायात्, अरन्ध्रे=छिद्ररहिते, हृदि=हृदये, यां=वार्ता, निरुन्धे=नितराम् आवृणोमि, सा=तादृशी, वार्ता=लोकवार्ता, किमुत रहस्यवार्ता इति शेषः। असती अपि=अतथाभूता अपि, विनोदाऽर्थं कथिता अपि, किमुत सतीति भावः। अन्यम्=अपरं, बोद्धव्याद्भिन्नं पुरुषमपीति भावः, न एति=गच्छति, अतोऽहमन्तःपुरस्त्रीणां परमविश्वसनीय इति भावः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजीके अनेक मुखोंके व्याख्यानसे शुद्ध किये गये योगशास्त्रके श्रवणसे पूर्ण कर्णोंवाला मैं, छिद्ररहित हृदयमें जिस वृत्तान्तको उपायसे रोक लेता हूँ, वह वृत्तान्त भले ही झूठा क्यों न हो, दूसरेके पास नहीं पहुँचता ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—विरिञ्चिनानाननेति=विरिञ्चेः नानाऽऽननानि (ष० त०) तैः वादः (तृ० त०), तेन धौतम् (तृ० त०), तच्च तत् समाधिशास्त्रम् (क० धा०), तस्य श्रुतिः (ष० त०)। पूर्णौ कर्णौ यस्य सः (बहु०) विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुत्या पूर्णकर्णः (तृ० त०) अरन्ध्रे=अविद्यमानं रन्ध्रं यस्य तत्, तस्मिन् (नञ्बहु०)। निरुन्धे=

रुध् + लट् + इट। असती = न सती (नञ्०)। इस पद्यमें वार्तानिरोधमें त्रिरिध्वि इत्यादि पदार्थोंकी हेतुतासे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवाऽनवाप्यं लभते बताऽन्या।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्या ॥ ४५ ॥

अन्वयः—तव अनवाप्यं त्रिदिवोपभोगम् अम्बुजिन्या दुर्लभं ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुद्वती इव नलाश्रयेण अन्या लभते बत ! ४५ ॥

व्याख्या—अथ पद्यद्वयेन दमयन्त्या नलाऽनुरागमुद्दीपयति—नलाश्रयेणेति। (हे राजकुमारि !) तव = भवत्याः, अनवाप्यम् = अप्राप्यं, नलस्वीकाराऽभावादिति भावः। त्रिदिवोपभोगं = स्वर्गोपभोगं, नलस्य इन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भावः। अम्बुजिन्याः = कमलिन्याः, दुर्लभं = दुष्प्राप्यं, ज्योत्स्नोत्सवं = चन्द्रिकाभोगम्, इन्दुपरिग्रहेण = चन्द्राऽङ्गीकारेण, कुमुद्वती इव = कुमुदिनि इव, नलाश्रयेण = नलस्वीकरणेन, अन्या = भवत्या भिन्ना काचित् ललना, लभते=प्राप्नोति, बत = खेदस्य विषयोऽयमिति भावः ॥ ४५ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) आपसे अप्राप्य स्वर्गका उपभोग, कमलिनीसे दुष्प्राप्य चाँदनीका भोग चन्द्रमाके अङ्गीकार करनेसे कुमुदिनीके समान नलके आश्रयसे दूसरी स्त्री प्राप्त करती है। खेद है ! ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—तव = "अनवाप्यम्" इसके योगसे "कृत्यानां कर्तरि वा" इस सूत्रसे तृतीयाके अर्थमें षष्ठी। त्रिदिवोपभोगं = त्रिदिवस्य उपभोगः, तम् (ष० त०)। दुर्लभं = दुर् + लभ् + खल् + अम्। ज्योत्स्नोत्सवं=ज्योत्स्नाया उत्सवः, तम् (ष० त०)। इन्दुपरिग्रहेण = इन्दोः परिग्रहः, तेन (ष० त०)। कुमुद्वती = कुमुदानि सन्ति यस्यां सा, कुमुद शब्दसे "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्" इस सूत्रसे ड्मतुप् प्रत्यय। "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इससे मकारके स्थानमें वकार। "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप्। नलाश्रयेण = नलस्य आश्रयः, तेन (ष० त०)। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है। ४५ ॥

तन्नैषधाऽनूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म।
रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्म त्वया अप्राप्तवसन्तया रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यम् इव नैषधाऽनूढतया दुरापम् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—तत् = प्रसिद्धम्, अस्मत्कृतचाटुजन्म = मत्प्रयुक्तप्रियवाक्योत्पन्नं, शर्म = सुखं, त्वया = भवत्या, अप्राप्तवसन्तया = वसन्तानधिष्ठितया, रसाल-

वल्ल्या=आम्रश्रेण्या, मधुपाऽनुविद्धं=भ्रमरकृतं, सौभाग्यम् इव=सौन्दर्यम् इव, नैषधाऽनूढतया=नलेन अपरिणीततया, दुरापं=दुष्प्राप्यम्, नलपरिग्रहाय भवत्या यत्नः कार्यं इति भावः ॥ ४६ ॥

अनुवाद—मुझसे कहे गये प्रियवाक्योंसे उत्पन्न सुख, आपसे वसन्त ऋतुको अप्राप्त आम्रोंकी श्रेणीसे भौंरेसे किये गये सौन्दर्यकी तरह नलके साथ विवाह न होनेसे दुष्प्राप्य है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अस्मत्कृतचाटुजन्म=अस्माभिः कृतानि (तृ० त०), अस्मत्कृतानि च तानि चाटूनि (क० धा०), तेभ्यो जन्म यस्य तत् (व्यधिकरण-बहु०)। अप्राप्तवसन्तया=न प्राप्तः अप्राप्तः (नञ्०)। अप्राप्तो वसन्तो यया सा अप्राप्तवसन्ता, तया (बहु०)। रसालवल्ल्या=रसालानां वल्ली, तया (ष० त०)। मधुपाऽनुविद्धं=मधु पिबन्तीति मधुपाः, मधु+पा+कः। मधुपैः अनुविद्धम् (तृ० त०)। नैषधाऽनूढतया=निषधानामयं नैषधः, निषध+अण्। अनूढया भावः अनूढता, अनूढा+तल्+टाप्। "सामान्ये नपुंसकम्" इससे नपुंसकता। नैषधेन अनूढता, तया (तृ० त०)। दुरापं=दुःखेन आप्तुं शक्यम्; दुर्+आप्+खल्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य ।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च ॥ ४७ ॥

अन्वयः—वा तस्य एव हस्तं किं न यास्यसि ? केन विधेः मन एव प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहणा असि, रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च (असि) ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अथ हंसो भैम्याः पुनर्नलप्राप्त्याशां जनयति—तस्यैवेति। वा= अथवा, तस्य एव=नलस्य एव, हस्तं=पाणिं, किं, न यास्यसि=न प्राप्स्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थः। केन=जनेन, विधेः=ब्रह्मणः, मन एव=चित्तम् एव, प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा, दृष्टम्=अवलोकितम्, विध्यनुकूलताऽपि सम्भावितेति भावः। यतः—अजातपाणिग्रहणा=अकृतविवाहा, असि=वर्तसे, रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च=सौन्दर्यशीलप्रकर्षाऽऽधारश्च, असि=विद्यसे, योग्यगुणाश्रयत्वाच्च नलहस्तमेव गमिष्यतीति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—आप नलके ही हाथोंमें क्यों नहीं पड़ेंगी ? (पड़ेंगी ही) किसने ब्रह्माके हृदयमें प्रवेश कर देखा है ? क्योंकि आपका विवाह भी नहीं हुआ है और आप सौन्दर्य और शीलके प्रकर्षकी आधार भी हैं ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—यास्यसि=या+लृट्+सिप्। अजातपाणिग्रहणा=न जात

अजातम् (नञ्०) । पाणेर्ग्रहणम् (ष० त०) । अजातं पाणिग्रहणं यस्याः सा (बहु०) । रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयः=रूपं च स्वरूपं च रूपस्वरूपे (द्वन्द्व०) । तयोः अतिशयः (ष० त०), तस्य आश्रयः (ष० त०) ॥ ४७ ॥

निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं, श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

अन्वयः—निशा शशाङ्कं, शिवया गिरीशं, श्रिया हरिं योजयतः विधेः प्रयासोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय एव स्वारसिकः प्रतीतः ॥ ४८ ॥

व्याख्या—निशा=रात्र्या, शशाङ्कं=चन्द्रमसं, शिवया=पार्वत्या, गिरीशं=शिवं, श्रिया=लक्ष्म्या, हरिं=विष्णुं, योजयतः=संयोगं प्रापयतः, विधेः=ब्रह्मणः, प्रयासः अपि=यत्नः अपि, परस्परम्=अन्योन्यं, योग्यसमागमाय एव=अर्हसङ्घट्टनाय एव, स्वारसिकः=स्वानुरागप्रवृत्तः, प्रतीतः=प्रसिद्धः, निशाशशाङ्कादिदृष्टान्तादपि विधिसङ्कल्पः सुज्ञेय इति भावः ।

अनुवाद—रात्रिके साथ चन्द्रमाको, पार्वतीसे शिवजीको, लक्ष्मीसे नारायणको मिलानेवाले ब्रह्माजीका प्रयत्न भी परस्परमें योग्योंके समागके लिए ही अपने अनुरागसे प्रवृत्त है -ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—निशा="पद्न्नोमासहृन्निशसन्०" इस सूत्रसे शस् आदि विभक्तियोंके परे रहते निशाके स्थानमें निश् आदेश । शशाङ्कं=शशः अङ्कः यस्य सः, तम् (बहु०) । गिरीशं=गिरेरीशः, तम् (ष० त०) । योजयतः=योजयतीति योजयन्, तस्य, युज्+णिच्+लट् (शतृ)+ङस् । योग्यसमागमाय=योग्या च योग्यश्च योग्यौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष । योग्ययोः समागमः, तस्मै (ष० त०) । स्वारसिकः=स्वस्य रसः (ष० त०), "शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः" इत्यमरः । स्वरसेन चरतीति, स्वरस शब्दसे "चरति" इस सूत्रसे ठक् प्रत्यय । प्रतीतः="प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः" इत्यमरः । इस पद्यमें सम अलङ्कार है, उसका लक्षण है–

"समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः ।"
(सा० द० १०-९२) ॥ ४८ ॥

वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

अन्वयः—वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी (त्वम्) नलेतरेण योगयोग्या न असि । (तथाहि) मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न सन्दर्भ्यते ॥४९॥

व्याख्या—नलादितरेण भैम्याः सम्बन्धस्यानौचित्यं वैधर्म्यमूलकदृष्टान्ताऽलङ्कारेण प्रतिपादयन्ति—वेलाऽतिगेति । (हे भैमि !) वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी = निःसीमस्त्रीगुणसमुद्रप्रवाहरूपा त्वं, नलेतरेण—नलात् = नैषधात्, इतरेण = अन्येन जनेन, योगयोग्या = सम्बन्धाऽर्हा, न असि = नो वर्तसे । यतः, मृद्वी = कोमला, मल्लीमाला = भूपदीपुष्पस्रक्, भृशकर्कशेन = अतिशयकठोरेण, दर्भगुणेन = कुशतन्तुना, न सन्दर्भ्यते = न ग्रथ्यते ॥ ४९ ॥

अनुवाद—(हे दमयन्ती !) निःसीम (असंख्य) स्त्रियोंके गुणरूप समुद्रकी प्रवाह सरीखी आप, नलसे भिन्न पुरुषसे सम्बन्धके योग्य नहीं हैं । जैसे—कोमल बेलीकी माला अत्यन्त कठोर कुशकी रस्सीसे नहीं गूँथी जाती है ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी = वेलाम् अतिक्रम्य गच्छन्तीति वेलाऽतिगाः, वेला + अति + गम् + ड + जस् । स्त्रीणाम् इमे स्त्रैणाः, स्त्री शब्दसे "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इस सूत्रसे नञ् प्रत्यय । स्त्रैणाश्च ते गुणाः (क० धा०), ते एव अब्धिः (रूपक०), तस्य वेणी (ष० त०) । "वेलाऽब्धि, जलबन्धने काले सीम्नि च" इति 'वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति च वैजयन्ती । नलेतरेण=नलात् इतरः, तेन, नल शब्दसे 'इतर' पदके योगमें 'अन्याराదितरर्तेदिक्शब्दाऽञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इस सूत्रसे पञ्चमी विभक्ति (प० त०) । योगयोग्या = योगस्य योग्या (ष० त०), 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । मृद्वी = मृदु शब्दसे 'वोतो गुणवचनात्' इस सूत्रसे ङीप् । मल्लीमाला = मल्लीनां माला (ष० त०) । 'तृणशून्यं तु मल्लिका, 'भूपदीशीतभीरुश्चे'त्यमरः । भृशकर्कशेन = भृशं (यथा तथा) कर्कशः, तेन (सुप्सुपा) । दर्भगुणेन = दर्भस्य गुणः, तेन (ष० त०), 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रम्' इत्यमरः । सन्दर्भ्यते='सम्' उपसर्गपूर्वक 'दृभ ग्रन्थे' इस धातुसे कर्ममें लट् + त । इस पद्यमें वैधर्म्यसे दृष्टान्त अलङ्कार है, उसका लक्षण—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।" (सा० द० १०-६९) ॥४९॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य सङ्क्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

अन्वयः—विधिं तद्यानयुग्यः (सन्) नलकेलियोग्यां वधूसृष्टिम् अपृच्छम् एव । मया अस्य चक्रचक्रे सङ्क्रीडति (सति) त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीताः ॥५०॥

व्याख्या—विधिं=ब्रह्माणं, तद्यानयुग्यः = ब्रह्मरथवोढा सन्, अहमिति

शेषः। नलकेलियोग्यां = नैषधक्रीडाऽर्हां, वधूसृष्टिं = स्त्रीनिर्माणम्, अपृच्छम् एव = पृष्टवान् एव। ततः, मया = हंसेन विधिवाहनेन, अस्य = विधेः, चक्रचक्रे = रथाऽङ्गसमूहे, सङ्क्रीडति = कूजति सति, तन्नामवर्णाः = भवदाख्याऽक्षराः इव, कर्णपीताः = श्रोत्रेन्द्रियगृहीता ॥ ५० ॥

अनुवाद—ब्रह्माजीसे उनके रथको ढोते हुए मैंने नलकी क्री..के योग्य कौन सी स्त्री आपने रची है—ऐसा पूछ ही लिया। तब मैंने ब्रह्माजीके रथके पहियोंकी आवाज करनेपर आपके नामके अक्षरोंको सुना हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ ५० ॥

टिप्पणी—विधिम् = प्रच्छ धातुके द्विकर्मक होनेसे यह गौणकर्म है। तद्यानयुग्यः = युगं वहतीति युग्यः, युग शब्दसे "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। तस्य यानम् (ष० त०), तस्य युग्यः (ष० त०)। नलकेलियोग्यां = नलस्य केलिः (ष० त०), तस्य योग्या, ताम् (ष० त०)। वधूसृष्टिं = वध्वाः सृष्टिः, ताम् (ष० त०)। यह मुख्यकर्म है। अपृच्छम् = प्रच्छ + लङ् + मिप्, चक्रचक्रे = चक्राणां चक्रं (समूहः), तस्मिन् (ष० त०), सङ्क्रीडति = सम् + क्रीड + लट् (शतृ) + ङि, यहाँपर 'समोऽकूजने" इस वार्त्तिकसे कूजन होनेसे आत्मनेपद नहीं हुआ। त्वन्नामवर्णाः = तव नाम (ष० त०), तस्य वर्णाः (ष० त०)। कर्णपीताः = कर्णाभ्यां पीताः (तृ० त०)। पहियोंकी आवाजसे ब्रह्माजीके वाक्यको अच्छी तरहसे नहीं सुना, यह तात्पर्य है ॥ ५० ॥

अनेन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा।
जनाऽपवादाऽर्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरीः स्यात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—वा अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः विधातुः जनाऽपवादाऽर्णवम् उत्तरीतुं कतमा विधा तरीः स्यात् ॥ ५१ ॥

व्याख्या—वा = अथवा, अन्येन = अपरेण, नलेतरेणेति भावः। पत्या = भर्त्रा, त्वयि = भवत्या, योजितायां = घटितायां सत्यां, विज्ञत्वकीर्त्या = अभिज्ञत्वख्यात्या एव, गतजन्मनः = यापिताऽऽयुषः, विधातुः = ब्रह्मणः, जनाऽपवादाऽर्णवं = लोकनिर्वादसमुद्रम्, उत्तरीतुं = निस्तरीतुं, कतमा विधा = कः प्रकारः, तरीः = नौका, स्यात् = भवेत्, न काऽपीत्यर्थः। अतो लोकापवादभीतेरपि ब्रह्मणा त्वं नलेनैव योजनीयेति भावः ॥ ५१ ॥

अनुवाद—अथवा दूसरे (नलसे भिन्न) पतिके साथ आपका योग करनेपर

"ये अभिज्ञ (जानकार) हैं" प्रसिद्धिसे ही आयुको बितानेवाले ब्रह्माजीके लिए लोकापवादस्वरूप समुद्रको पार करनेके लिए कौन-सा उपाय नौकाका काम देगा ? ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—विज्ञत्वकीर्त्या=विज्ञस्य भावो विज्ञत्वम्, विज्ञ+त्व। विज्ञत्वस्य कीर्तिः, तया (ष० त०)। गतजन्मनः='गतं जन्म यस्य स गतजन्मा' तस्य (बहु०)। जनाऽपवादाऽर्णवं=जनानाम् अपवादः (ष० त०), "अवर्णाऽऽक्षेपनिर्वादपरीवादाऽपवादवत्" इत्यमरः। जनाऽपवाद एव अर्णवः, तम् (रूपक०)। उत्तरीतुम्=उद्+तॄ+तुमुन्। "वॄतो वा" इससे दीर्घ। तरीः=तरन्त्यनया इति, तॄ धातुसे "अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः" इस औणादिक सूत्रसे ई प्रत्यय। "स्त्रियां नौस्तरणिस्तरीः" इत्यमरः ॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं, मयाऽसि तन्वि ! श्रमिताऽतिवेलम्।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तत् आस्ताम्, अप्रस्तुतचिन्तया अलम्। हे तन्वि ! मया अतिवेलं श्रमिता असि। तत् आगः परिमार्ष्टुकामः सोऽहं किं तव ईप्सितं विदधे ? अभिधेहि ॥ ५२ ॥

व्याख्या—दमयन्त्या अभिप्रायं ज्ञातुमुपसंहरति—आस्तामिति। (हे भैमि!) तत्=पूर्वोक्तं, नलवर्णनमित्यर्थः, आस्तां=तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया=अप्रकृतविचारेण, अलं=पर्याप्तम्, अप्रस्तुतचिन्तया साध्यं नाऽस्तीति भावः। हे तन्वि=हे कृशाङ्गि ! मया=हंसेन, अतिवेलं=भृशं, श्रमिता=खेदिता, असि=वर्तसे, त्वमिति शेषः। तत्=श्रमणरूपम्, आगः=अपराधं, परिमार्ष्टुकामः=परिहर्तुकामः, सः=तादृशः, अहम्=अपराद्धा, किं, तव=भवत्याः, ईप्सितम्=अभीष्टं, मनोरथमिति भावः। विदधे=कुर्वे। अभिधेहि=ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अनुवाद—वह वर्णन इतना ही हो। अप्रस्तुत विषयकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। हे कृशोदरि ! आप मुझसे बहुत ही परिश्रान्त बनाई गई हैं। उस अपराधको हटानेकी इच्छा करनेवाला मैं आपका कौन-सा मनोरथ पूरा करूँ ? कहिए ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—आस्ताम्="आस उपवेशने" धातुसे लोट्+त। अप्रस्तुतचिन्तया=न प्रस्तुतः अप्रस्तुतः (नञ्०)। तस्य चिन्ता, तया (ष० त०)। "अलम्" इस पदसे गम्यमान साधन क्रियाकी अपेक्षासे करण होनेसे तृतीया।

श्रमिता=श्रम्+णिच्+क्त (कर्ममें)+टाप् । आगः="आगोऽपराधो मन्तुश्च" इत्यमरः । परिमार्ष्टुकामः=परिमार्ष्टुं कामो यस्य सः (बहु०), "तुं काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । ईप्सितम्=आप्+सन्+क्त । विदधे=वि+धाञ्+लट्+इट् । अभिधेहि=अभि+धा+लोट्+सिप् ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्त्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चाऽवगाढे शंसन्ति कार्याऽवतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—स पत्त्री इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः विरराम । हि सन्तः गभीरे हृदि ह्रदे च अवगाढे (सति) कार्याऽवतरं शंसन्ति ॥ ५३ ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, पत्त्री=पक्षी, हंसः, इति=पूर्वोक्तं वाक्यम्, ईरयित्वा=उक्त्वा, राजपुत्रीहृदयं=दमयन्तीचित्तं, बुभुत्सुः=जिज्ञासुः, भैमी नले साऽनुरागाऽस्ति नो वेति जिज्ञासुः सन्निति भावः । विरराम=तूष्णीं बभूव । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति–ह्रद इति । हि=यस्मात्कारणात्, सन्तः=सज्जनाः, कार्यज्ञा इति भावः । गभीरे=अगाधे, हृदि=चित्ते, ह्रदे च=जलाशये च, अवगाढे=प्रविश्य दृष्टे सति, कार्याऽवतरं—कार्यस्य=स्नानादेः, रहस्योक्तश्च=अवतरं, तीर्थं प्रस्तावं च, शंसन्ति=कथयन्ति, अवगाहनाऽभावे सति अनर्थः स्यादिति भावः ॥ ५३ ॥

अनुवाद—वह पक्षी (हंस) ऐसा कहकर राजपुत्री (दमयन्ती) के अभिप्राय को जाननेकी इच्छा करता हुआ चुप हो गया, क्योंकि विद्वान् लोग जैसे गम्भीर जलाशय में प्रवेश कर देखने पर उतरने का प्रस्ताव करते हैं वैसे ही गम्भीर हृदयको टटोलनेपर ही रहस्य कहते हैं ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—ईरयित्वा=ईर+णिच्+क्त्वा । राजपुत्रीहृदयं=राज्ञः पुत्री (ष० त०), तस्या हृदयं, तत् (ष० त०) । "बुभुत्सु" इस उ प्रत्ययाऽन्तपदके योगमें "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे षष्ठी विभक्तिका निषेध, बुभुत्सुः=बुध्+सन्+उः । विरराम="व्याङ्परिभ्यो रमः" इससे परस्मैपद । वि+रम्+लिट्+तिप् । अवगाढे=अव+गाह+क्त+ङि । कार्याऽवतरं=कार्यस्य अवतरः, तम् (ष० त०) । शंसन्ति=शंस+लट्+झि । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाच्यं मनसा मुहूर्त्तम् ।
पतत्त्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥ ५४ ॥

अन्वयः— किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः सा पृथिवीन्द्रपुत्री मुहूर्तं मनसा वाच्यं विचिन्त्य पतत्रिणं जगाद ।। ५४ ।।

व्याख्या—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः=स्तोकतिर्यक्कृतचञ्चलकेशबन्धा वक्त्रेण=मुखेन, तृणीकृतेन्दुः=अधःकृतचन्द्रा, सा=पूर्वोक्ता, पृथिवीन्द्रपुत्री=राजकुमारी, दमयन्ती, मुहूर्तं=कञ्चित्कालं, मनसा=चित्तेन, वाच्यं=वक्तव्यं वचनं, विचिन्त्य=विचार्य, पतत्रिणं=पक्षिणं हंसं, जगाद=उवाच ।। ५४ ।।

अनुवाद—चञ्चल केशबन्धको कुछ तिरछा करती हुई और मुखसे चन्द्रमाको मात करती हुई उस राजकुमारी (दमयन्ती) ने कुछ समय तक मनसे वक्तव्य वचनका विचार कर हंसको कहा ।। ५४ ।।

टिप्पणी—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः=किञ्चित्तिरश्चीना विलोला मौलिर्यस्याः सा (बहु), "चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः" इत्यमरः । तृणीकृतेन्दुः=अतृणं तृणं यथा सम्पद्यते तथा कृतस्तृणीकृतः, तृण+च्वि+कृ+क्तः । तृणीकृत इन्दुः यया सा (बहु०) । पृथिवीन्द्रपुत्री=पृथिव्या इन्द्रः (ष० त०), तस्य पुत्री (ष० त०) । मुहूर्तं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया । जगाद=गद्+लिट्+तिप् । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ।। ५४ ।।

> **धिक् चापले वत्सिमवत्सलत्वं, यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।**
> **समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ।। ५५ ।।**

अन्वयः—चापले वत्सिमवत्सलत्वं धिक् ! यत्प्रेरणात् उत्तरलीभवन्त्या मया समीरसङ्गात् (उत्तरलीभवन्त्या) नीरभङ्ग्या इव तटस्थः त्वम् उपद्रुतः असि ।। ५५ ।।

व्याख्या=चापले=चपलकर्मणि, वत्सिमवत्सलत्वं=बाल्यप्रयुक्तचापलमित्यर्थः, धिक्, यत्प्रेरणात्=चापलप्रेरणात्, उत्तरलीभवन्त्या=चपलायमानया, मया=भैम्या, समीरसङ्गात्=वाताऽऽघातात्, उत्तरलीभवन्त्या=चपलायमानया, नीरभङ्ग्या इव=जलतरङ्गेण इव, तटस्थः=उदासीनः, तीरं गतश्च, त्वं=हंसः, उपद्रुतः=पीडितः, असि=वर्तसे, मदीयं बालचापलं त्वया सोढव्यमिति भावः ।। ५५ ।।

अनुवाद—चञ्चल कर्ममें बालभावसे होनेवाली आसक्तिको धिक्कार है, जिसकी प्रेरणासे चञ्चल होनेवाली मुझसे वायुके आघातसे चञ्चल होनेवाली

जलकी तरङ्गसे उदासीन आप किनारेमें रहे हुए (व्यक्ति) के समान पीडित हो गये है ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—चापले=चपल+अण् । वत्सिमवत्सलत्वं=वत्सस्य भावो वत्सिमा, वत्स+इमनिच् । वत्सलस्य भावो वत्सलत्वम् । वत्सल+त्व । वत्सिम्नि वत्सलत्वं, तत् (स० त०), 'धिक्' के योगमें द्वितीया । यत्प्रेरणात्=यस्य प्रेरणं, तस्मात् (ष० त०) । उत्तरलीभवन्त्या=उत्तरल+च्वि+भू+लट्+शतृ+ङीप्+टा । समीरसङ्गात्=समीरस्य सङ्गः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी । नीरभङ्ग्या=नीरस्य भङ्गी, तया (ष० त०) । तटस्थः=तट+स्था+कः । उपद्रुतः=उप+द्रु+क्तः । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि, सतां स तावत्खलु दर्शनीयः ।

आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ॥ ५६ ॥

अन्वयः—स्वच्छतया आदर्शतां प्रयासि । यस्य ते सागसं मां पुरस्कुर्वति आत्मनि इदम् आगः प्रतिबिम्बितम् । स सतां तावत् दर्शनीयः ॥ ५६ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) स्वच्छतया=निर्मलत्वेन, आदर्शतां=दर्पणत्वं, प्रयासि=प्राप्नोषि । यस्य=स्वच्छस्य, ते=तव, साऽऽगसं=साऽपराधां, मां=भैमीं, पुरस्कुर्वति=पूजयति, "किमीप्सितं विदधेऽभिधेहि" (३-५२), इत्यादि कथनेनेति भावः, अग्रे कुर्वाणे च, आत्मनि=बुद्धौ, स्वरूपे च, इदं=मदीयम्, भवद्ग्रहणोद्योगरूपमिति भावः । आगः=अपराधः, प्रतिबिम्बितं=प्रतिफलितं, पुरोवर्तिधर्माणामात्मनि सङ्क्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः । ततः किम् ? इत्यत आह—सः आदर्शः, सतां=सज्जनानां, तावत्=प्रथमं, दर्शनीयः=अवलोकनीयः, पूज्यश्च ॥ ५६ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) तुम निर्मल होनेसे दर्पणके भावको प्राप्त कर रहे हो, अपराधिनी मुझे सत्कार करनेसे अथवा सामने रखनेसे स्वच्छ तुम्हारी बुद्धि वा स्वरूपमें मेरा अपराध प्रतिबिम्बित हुआ है, वैसा आदर्श सज्जनोंको दर्शनीय और पूजनीय है ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—स्वच्छतया=स्वच्छ+तल्+टाप्+टा । आदर्शताम्=आदर्श+तल्+टाप्+अम् । प्रयासि=प्र+या+लट्+सिप् । सागसं=आगसा सहिता साऽऽगाः, ताम् (तुल्ययोगबहु०) । पुरस्कुर्वति=पुरस्करोतीति पुरस्कुर्वन्, तस्मिन्, पुरस्+कृ+लट् (शतृ)+ङि । "पुरस्कृतः पूजिते

स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते" इत्यमरः। आत्मनि="आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च" इत्यमरः। आदर्श (दर्पण) की दर्शनीयतामें प्रमाण है- "रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः" ॥ ५६ ॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत्।
हंसोऽपि देवांऽशतयाऽसि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे सौम्य ! भवान् कुमार्या मम अनार्यम् अपि आचरितं तावत् क्षाम्यतु। हंसोऽपि (त्वम्) देवांऽशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा इव वन्द्यः असि ॥ ५७ ॥

व्याख्या—हे सौम्य!=हे सज्जन ! भवान्, कुमार्याः=शिशोः, मम, अनार्यम् अपि=अनुचितम् अपि, आचरितं=आचरणं, त्वद्ग्रहणव्यवसायरूपमिति भावः। तावत्=प्रथमं, क्षाम्यतु=सहताम्, हंसस्य वन्द्यतां प्रतिपादयति—हंसोऽपि=मरालोऽपि, तिर्यगपि, त्वमिति शेषः, देवांऽशतया=सुरांऽशत्वेन, मत्स्यमूर्तिः=मीनाऽवतारधारी, श्रीवत्सलक्ष्मा इव=विष्णुः इव, वन्द्यः=अभिवादनीयः, असि ॥ ५७ ॥

अनुवाद—हे सज्जन ! आप, कुमारी मेरे अनुचित आचरणको सहें। हंस होते हुए भी आप देवताके अंश होनेसे मत्स्यमूर्ति भगवान् विष्णुके समान अभिवादनके योग्य हैं ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—हे सौम्य=सोमो देवताऽस्येति सौम्यः, तत्सम्बुद्धौ "सोमाट्ट्यण्" इस सूत्रसे सोम शब्दसे ट्यण् प्रत्यय "सौम्यं तु सुन्दरे सोमदैवते" इत्यमरः। अनार्यम्=न आर्यम् (नञ्०)। क्षाम्यतु=क्षमूष् + लोट् + तिप्। देवांऽशतया= देवस्य अंशः (ष० त०), तस्य भावः देवांशता, तया देवांश + तल् + टाप्। मत्स्यमूर्तिः=मत्स्यस्य इव मूर्तिर्यस्य सः (व्यधिकरणबहु०)। श्रीवत्सलक्ष्मा= श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य सः (बहु०) ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां ? त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम्।
निजाऽमृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) कां मत्प्रीतिम् आधित्ससि ? या मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदम् अतिशेताम्। इन्दु प्रजानां निजाऽमृतैः लोचनसेचनात् पृथक् किं वा सृजति ? ॥ ५८ ॥

व्याख्या—"तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि" इति हंसवाक्यस्य उत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति (हे हंस !) । कां=कीदृशीं, मत्प्रीतिं=मत्सुखम्, आधित्ससि=आधातुम् (कर्तुम्) इच्छसि, या=प्रीतिः, मदक्ष्णोः=मन्नयनयोः, त्वदीक्षामुदं=भवदीक्षणप्रीतिम्, अतिशेताम्=अतिक्रामतु । दृष्टान्तालङ्कारेणोक्तमर्थं समर्थयते—निजाऽमृतैरिति । इन्दुः=चन्द्रः, प्रजानां=जनानां, निजाऽमृतैः=स्वीयपीयूषैः, पीयूषतुल्यैः, स्वकिरणैरिति भावः । लोचनसेचनात्=नयनसेकात्, पृथक्=अन्यत्, किं वा सृजति=किं करोति ? न किञ्चित्करोतीति भावः ॥५८॥

अनुवाद—(हे हंस !) तुम कौन-सी मेरी प्रीति करनेकी इच्छा करते हो ? जो (प्रीति) मेरी आँखोंकी तुम्हारे दर्शनसे होनेवाली प्रीतिको भी मात करेगी । जैसे—चन्द्रमा अपनी अमृततुल्य किरणोंसे नेत्रोंको सेचन करनेसे अतिरिक्त और क्या करता है ? ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—मत्प्रीतिं=मम प्रीतिः, ताम् (ष० त०) । आधित्ससि=आङ्+धाञ्+सन्+लट्+सिप् । मदक्ष्णोः=मम अक्षिणी, तयोः (ष० त०) । त्वदीक्षामुदं=तव ईक्षा त्वदीक्षा (ष० त०), तस्या मुत्, ताम् (ष० त०) । अतिशेताम्=अति+शीङ्+लोट्+त । निजाऽमृतैः=निजस्य अमृतानि, तैः (ष० त०) । लोचनसेचनात्=लोचनयोः सेचनं, तस्मात् (स० त०), "पृथक्" के योग में "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इससे पञ्चमी । सृजति=सृज+लट्+तिप् । इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु, यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ? ।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषं कथयेदभिज्ञा ? ॥ ५९ ॥

अन्वयः—मनः यं जातु न उज्झति, स मनोरथः कण्ठपथं कथं यातु ? अभिज्ञा का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेत् ? अथवा—हे द्विज ! अभिज्ञा का नाम बाला राजपाणिग्रहाऽभिलाषं कथयेत् ? ॥ ५९ ॥

व्याख्या—मनः=मम चित्तं, यं=मनोरथं, जातु=कदाऽपि, न उज्झति=न जहाति, सः=तादृशः, मनोरथः=अभिलाषः, कण्ठपथं=गलमार्गं, वाग्विषयम्, उपकण्ठदेशं च, कथं=केन प्रकारेण, यातु=प्राप्नोतु । मनसा प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथं कण्ठपथे सञ्चरणमिति भावः । यतः—अभिज्ञा=विवेकिनी, का नाम बाला=का नाम स्त्री, द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषं-द्विजराजस्य=चन्द्रमसः, पाणिना=करेण, ग्रहे=ग्रहणे, अभिलाषं=मनोरथम्, कथयेत्=ब्रूयात् । अथवा हे द्विज !=हे पक्षिन् ! का नाम बाला, राजपाणिग्रहाऽभिलाषं=

नलपाणिग्रहणेच्छां, कथयेत्=ब्रूयात् । तथा च दुष्प्राप्यजनाऽभिलापश्चन्द्रपाणिग्रहणसदृशः उपहासस्थानभूतः (सन्) लज्जावत्या कुमार्या कथं वक्तुं शक्य इति भावः ॥ ५९ ॥

अनुवाद—मेरा चित्त जिस (मनोरथ) को कभी भी नहीं छोड़ता है, वह मनोरथ कैसे कण्ठमार्ग (वचनविषय) को प्राप्त होगा ? विवेकवाली कौन-सी स्त्री चन्द्रमाके पाणिग्रहणके अभिलाषको कहेगी ? (अथवा) हे हंस ! विवेकवाली कौन-सी स्त्री राजा (नल) के पाणिग्रहणके अभिलापको कहेगी ? ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—कण्ठपथं=कण्ठस्य पन्थाः कण्ठपथः, तम् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासान्त अ प्रत्यय । द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषं=द्विजानां राजा द्विजराजः (ष० त०), तस्य पाणिः (ष० त०), तेन ग्रहः (तृ० त०), तस्मिन् अभिलापः, तम् (स० त०) । अथवा राजपाणिग्रहाऽभिलाषं =राज्ञः पाणिग्रहः (ष० त०), तस्मिन् अभिलापः, तम् (स० त०) । कथयेत् =कथ + णिच् + विधिलिङ् + तिप् । इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ५९ ॥

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे, घृणां च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

अन्वयः—स हंसः मृद्वीकया तुल्यरसां मृद्वीं तदीयां वाचं परिपीय परपुष्टघुष्टे, तोषं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां वितेने ॥ ६० ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, हंसः=मरालः, मृद्वीकया=द्राक्षया, तुल्यरसां =समानस्वादां, मधुराऽर्थामिति भावः । मृद्वीं=कोमलां, तदीयां=दमयन्तीसम्बन्धिनीं, वाचं=वाणीं, परिपीय=अत्यादरात् आकर्ण्य, परपुष्टघुष्टे= कोकिलकूजिते, तोषं=प्रीतिं, तत्याज=त्यक्तवान्, वीणाक्वणिते च=वल्लकीनिनादे च, घृणां=जुगुप्सां, वितेने=चकार ॥ ६० ॥

अनुवाद—उस हंसने अंगूरके समान मधुर और कोमल दमयन्तीकी वाणीको अत्यन्त आदरसे सुनकर कोयलके कूजितमें प्रीति छोड़ दी और बीनके शब्दमें भी घृणा की ॥ ६० ॥

टिप्पणी—मृद्वीकया="मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा" इत्यमरः । तुल्यरसां= तुल्यो रसो यस्याः सा, ताम् (बहु०) । मृद्वीं=मृदु शब्दसे "वोतो गुणवचनात्" इससे ङीप् । तदीयां=तस्य इयं तदीया, ताम् तद्+छ (ईय)+ टाप्+अम् । परिपीय=परि+पीङ्+क्त्वा (ल्यप्) । परपुष्टघुष्टे=परेण पुष्टः (तृ० त०) । "वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि" इत्यमरः ।

परपुष्टेन घुष्टं, तस्मिन् (तृ० त०) । तत्याज=त्यज+लिट्+तिप् । वीणाक्वणिते=वीणायाः क्वणितं, तस्मिन् (ष० त०) । घृणः="घृणा जुगुप्साकृपयोः" इति विश्वः । वितेने=वि+तन्+लिट्+त । इस पद्यमें प्रतीप अलङ्कार है ॥ ६० ॥

मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाऽम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अयं हंसो मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि (सत्याम्) तच्छंसिते किञ्चन संशयालुः मुखाम्भोजं गिरा युयोज ॥ ६१ ॥

व्याख्या—मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्रं=लज्जास्वल्पवर्णविन्यासम् (यथा तथा) उक्त्वा=अभिधाय, तस्यां=दमयन्त्यां, समाकुञ्चितवाचि=नियमितवचनायां सत्याम्, तच्छंसिते=दमयन्तीभाषिते, किञ्चन=किञ्चित्, संशयालुः=सन्दिहानः सन्, मुखाऽम्भोजं=वदनकमलं, गिरा=वाण्या, युयोज=युक्तवान्, मुखेन वाणीमुवाचेति भावः ॥ ६१ ॥

अनुवाद—लज्जासे वर्णविन्यासको मन्द करके भाषण कर दमयन्तीके चुप रह जानेपर उनके वचनमें कुछ सन्देह करते हुए उस हंसने मुखकमलको वाणी-से युक्त किया अर्थात् कहा ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रं=मन्दाक्षेण मन्दा (तृ० त०), अक्षराणां मुद्रा (ष० त०), मन्दाक्षमन्दा अक्षरमुद्रा यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०) । उक्त्वा=ब्रूञ् (वच्)+क्त्वा । समाकुञ्चितवाचि=समाकुञ्चिता वाक् यया सा, तस्याम् (बहु०) । तच्छंसिते=तस्याः शंसितं, तस्मिन् (ष० त०) । संशयालुः=संशेते इति संशयालुः, सम्-उपसर्गपूर्वक "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "स्पृहि गृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रमें "शीङो वाच्यः" इस वार्तिकसे आलुच् प्रत्यय । मुखाऽम्भोजं=मुखम् अम्भोजम् इव तत, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । युयोज=युज+लिट्+तिप् (णल्) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाऽधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवाऽन्तिमः किम् ? ॥ ६२ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) करेण विधुं विधर्तुं वाञ्छा इव यम् अर्थम् इत्थम् आदरिणी (सती) आत्थ, तम् अर्थम् अन्तिमो वर्णः श्रुतेः वर्णम् इव श्रुतिभ्यां पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ? ॥ ६२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) करेण=हस्तेन, विधुं=चन्द्रमसं, विधर्तुं=ग्रहीतुं, वाञ्छा इव=इच्छा इव यम्, अर्थम्=अभिधेयम् "द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषम्" इत्याद्युक्तप्रकारमित्यर्थः। आदरिणी=आदरयुक्ता सती, आत्थ=ब्रवीषि, तं=तादृशम्, अर्थम्=अभिधेयम्, अन्तिमः=चरमः, वर्णः=शूद्र इत्यर्थः। श्रुतेः=वेदस्य, वर्णम् इव=अक्षरम् इव, श्रुतिभ्यां=कर्णाभ्यां, पातुम् अपि=पानं कर्तुम् अपि, श्रोतुम् अपीति भावः। न अधिकुर्वे किम् ?=न अधिकारी भवामि किम् ? अधिकारी अस्म्येवेत्यर्थः। सोऽर्थो वक्तव्य इति भावः ॥ ६२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) हाथसे चन्द्रमाको ग्रहण करनेकी इच्छाके समान जिस अर्थको इस प्रकार आदरयुक्त होकर आप कहती हैं, उस अर्थको अन्तिम वर्ण (शूद्र) जैसे वेदके वर्णको सुननेके लिए अधिकारी नहीं है, वैसे मैं भी कानोंसे सुननेका भी अधिकारी नहीं हूँ क्या ? ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—विधर्तुं=वि+धृञ्+तुमुन्। आदरिणी=आदर+इनि+ङीप्। नारायण पण्डितने "आदरिणी" ऐसा पाठ भी माना है, उस पक्षमें निर्भया यह अर्थ है, अदर+इनि+ङीप्। आत्थ=ब्रू (आह)+लट्+सिप्। अन्तिमः=अन्ते भवः, 'अन्त' शब्दसे "अन्ताच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे इमच् प्रत्यय। "स्त्रीशूद्रौ नाऽधीयेताम्" इस उक्तिके अनुसार स्त्री और शूद्रको वेदके अध्ययनमें अधिकार न होनेसे सुननेमें भी अधिकार नहीं है, यह तात्पर्य है, इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या ? चित्तैकपद्यामपि वर्तते यः।
यत्राऽन्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते ? यः चित्तैकपद्याम् अपि वर्तते। यत्र चेतसोऽपि अन्धकारः, तद् ब्रह्म अपि जिह्मेतरैः अवाप्यं खलु ॥ ६३ ॥

व्याख्या—ननु अत्यन्तदुर्लभत्वात्तमर्थं वक्तुं जिह्मेमीत्याशङ्क्याह-अर्थाप्यत इति। (हे भैमि !) भवत्या=त्वया, किंवा, इयत्=एतावत्, यथा तथा, अर्थाप्यते=द्विजराजपाणिग्रहवत् अतिदुर्लभत्वेन आख्यायते। यः=अर्थः, चित्तैकपद्याम् अपि=मनोमार्गे अपि, वर्तते=विद्यते, अतः स कथं दुर्लभ इति भावः। तथा हि, यत्र=यस्मिन् ब्रह्माणि, चेतसोऽपि=मनसोऽपि, अन्धकारः=अग्राह्यत्वादप्रतिबन्धः, "अवाङ्मनसगोचरम्" "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतित इति भावः। तत्=तादृशं, दुर्लभमिति भावः। ब्रह्म

अपि=शुद्धचैतन्यरूपं वस्त्वपि, जिह्मेतरैः=अकुटिलैः, कुशलबुद्धिभिरिति भावः। अवाप्यं=प्राप्यं, खलु=निश्चयेन, कुशलधीभिरमनोगोचरं ब्रह्माऽपि प्राप्यते, मनोगतं वस्तु प्राप्यत् इति किं वक्तव्यमिति भावः ॥ ६३ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) जो आपके चित्तरूप मार्गमें है, उसे क्यों आप दुर्लभरूप कह रही हैं, जहाँ चित्तका भी अन्धकार (प्रतिबन्ध) है, वह ब्रह्म भी कुशल बुद्धिवाले पुरुषसे प्राप्य है ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—अर्थ्यते=अर्थः क्रियते, 'अर्थ' शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर "अर्थवेदयोरप्यापुग्वक्तव्यः" इससे आपुक् होकर कर्ममें लट्। चित्तैकपद्याम्=एकः पादो यस्यां सा एकपदी (बहु०) "कुम्भपदीषु च" इससे निपातन, "सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च" इत्यमरः। चित्तम् एव एकपदी, तस्याम् (रूपक०)। जिह्मेतरैः=जिह्मात् इतरे, तैः (पं० त०)। अवाप्यम्=अवाप्तुं योग्यम्, अव+आप्+यत्। इस पद्यमें अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।

तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये अज्ञं तिर्यञ्चम् (माम्) अपि मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च ॥ ६४ ॥

व्याख्या—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये !=हे ईश्वराऽणुत्वविभूतिरूपान्तराऽवलग्ने ! हे कृशोदरि ! इति भावः। लोकेशलोकेशयलोकमध्ये=ब्रह्मलोकवासिजनमध्ये, अज्ञम्=अनभिज्ञं, मूढमित्यर्थः। तिर्यञ्चम् अपि=पक्षिणमपि च, मामिति शेषः। मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम्=अनृताऽनभिज्ञरसनताऽऽद्यज्ञानयशस्विनम्, अञ्च=विद्धि, मां सत्यवादिनं जानीहीति भावः ॥ ६४ ॥

अनुवाद—हे ईश्वरके अणिमा ऐश्वर्यके समान सूक्ष्म कमरवाली, ब्रह्माजीके लोकमें रहनेवाले प्राणियोंके मध्यमें अनभिज्ञ और पक्षी भी मुझको झूठमें अनभिज्ञ जानकारीरूप आदिज्ञान होनेसे यशवाले अर्थात् सत्यवादी जानिए।

टिप्पणी—ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये=अणोर्भावः अणिमा, अणु+इमनिच्। ईशस्य अणिमा (ष० त०), स च तत् ऐश्वर्यम् (क० धा०); तस्य विवर्तः, तत्त्वतः अन्यथाभावः (ष० त०), ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तो मध्यो यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। ईश्वरकी आठ योगसिद्धियाँ, जिन्हें ऐश्वर्य कहते हैं, वे ये हैं—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाऽष्टसिद्धयः ॥

अर्थात् अणिमा (बहुत सूक्ष्म होना), महिमा (बहुत बड़ा होना), गरिमा (अत्यन्त गुरुता), लघिमा (अत्यन्त लघुता), प्राप्ति (पदार्थको पानेकी शक्ति), प्राकाम्य (सब अभिलाषोंको पानेकी शक्ति), ईशित्व (उत्कृष्ट सामर्थ्य) और वशित्व (उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य) । लोकेशलोकेशयलोकमध्ये=लोकानाम् ईशः (ष० त०), "हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः" इत्यमरः । लोकेशस्य लोकः (ष० त०), लोकेशलोके शेरते इति लोकेशलोकेशयाः, लोकेशलोक-उपपदपूर्वक "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "अधिकरणे शेतेः" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय और "शयवासवासिष्वकालात्" इस सूत्रसे अलुक् समास । लोकेशलोकेशयाश्च ते लोकाः (क० धा०), "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः । लोकेशलोकेशयलोकानां मध्यं, तस्मिन् (ष० त०) । मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञं="मृषा" यह अव्यय है । मृषा अनभिज्ञा (ष० त०), मृषाऽनभिज्ञा रसज्ञा यस्य सः (बहु०), "रसज्ञा रसना जिह्वा" इत्यमरः । मृषाऽनभिज्ञ रसज्ञस्य भावः, मृषाऽनभिज्ञ + रसज्ञ + तल् + टाप् । उपज्ञायते इति उपज्ञा, उप-उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातुसे "आतश्चोपसर्गे" इससे अङ् प्रत्यय और टाप् प्रत्यय । "उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्" इत्यमरः । मृषाऽनभिज्ञताया उपज्ञा मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञम् (ष० त०), "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्" इससे नपुंसकलिङ्गता । समैर्ज्ञायते इति समज्ञा, सम + ज्ञा + अङ् + टाप्, पूर्वसूत्रसे अङ् प्रत्यय । "यशः कीर्तिः समज्ञा च" इत्यमरः । मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञं समज्ञा यस्य सः, तम् (बहु०) । अञ्च=अञ्च + लोट् + सिप् ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः ।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

अन्वयः—प्रतिवेशिनीनां श्रुतीनां मध्ये वासवती इयं नः मुखे सरस्वती संसर्गगुणेन बद्धा (सती) ताभ्यः ह्रिया इव अद्धापथात् न चलति ॥ ६५ ॥

व्याख्या—प्रतिवेशिनीनां=निकटगृहवासिनीनां, श्रुतीनां=वेदानां, ब्रह्ममुखस्थानामिति शेषः । मध्ये=अन्तरे, वासवती=निवसन्ती, इयं=निकटवर्तिनी, नः=अस्माकं, मुखे=वदने, सरस्वती=वाणी, संसर्गगुणेन=सङ्गतिगुणेन, बद्धा=नद्धा (सती), ताभ्यः=श्रुतिभ्यः, ह्रिया इव=

लज्जया इव, अद्धापथात्=सत्यमार्गात्, न चलति=न गच्छति, "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इति न्यायादिति भावः ॥ ६५ ॥

अनुवाद—पड़ोसिन श्रुतियोंके बीचमें रहनेवाली यह हमलोगोंकी वाणी संगतिरूप गुणसे बद्ध होती हुई उन श्रुतियोंसे मानों लज्जा कर सत्यमार्गसे विचलित नहीं होती है ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—प्रतिवेशिनीनां=प्रतिविशन्तीति प्रतिवेशिन्यः, तासाम्, प्रति+विश्+णिनि+ङीप्+आम् (उपपद०)। वासवती=वास+मतुप्+ङीप्+सु। सरस्वती="गीर्वाग्वाणी सरस्वती" इत्यमरः। संसर्गगुणेन=संसर्ग एव गुणः (धर्मः तन्तुश्च), तेन (रूपक०)। बद्धा=बन्ध+क्त+टाप्+सु। अद्धापथात्=अद्धा पन्थाः अद्धापथः, तस्मात् (ष० त०)। "तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्" इत्यमरः। "अद्धा" यह अव्यय है। "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" इससे समासान्त अ प्रत्यय। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्राऽपि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालुः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—कुत्र अपि वस्तुनि अभिलाषि ते चितं पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीम् अपि प्रयाति चेत्, तत् अपि स्वशये शयालुः अवेहि ॥ ६६ ॥

व्याख्या—कुत्र अपि=कस्मिन् अपि, द्वीपान्तरस्थेऽपीति भावः। वस्तुनि=पदार्थे, अभिलाषि=साऽभिलाषं, ते=तव, चित्तं=मनः (कर्तृ), पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्कां=मञ्चत्वप्राप्तसमुद्रचिह्नां, लङ्कापुरीम् अपि=सिंहलद्वीपनगरीम् अपि, प्रयाति चेत्=गच्छति यदि, तत्=वस्तु अपि, स्वशये=निजहस्ते, शयालुः=स्थितम्, अवेहि=जानीहि ॥ ६६ ॥

अनुवाद—किसी भी वस्तुमें अभिलाष करनेवाला आपका चित्त, पलंगके समान समुद्ररूप चिह्नवाली लङ्कापुरीमें भी जाता है तो उस (वस्तु) को भी आप अपने हाथमें मौजूद समझिए ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—अभिलाषि=अभि+लष+णिनिः। पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्कां=पर्यङ्कस्य भावः पर्यङ्कता, पर्यङ्क+तल्+टाप्। पर्यङ्कताम् आपन्नः, "द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः" इस सूत्रसे द्वि० त०। पर्यङ्कतापन्नः सरस्वान् अङ्को यस्याः सा, ताम् (बहु०)। लङ्कापुरीं=लङ्का चाऽसौ पुरी, ताम् (क० धा०)। स्वशये=स्वस्य शयः, तस्मिन् (ष० त०)। "पञ्चशाखः शयः पाणिः" इत्यमरः। शयालुः=शेत इति, शीङ्+आलुच् ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
"चेतो नलङ्कामयते मदीयं, नाऽन्यत्र कुत्रापि च साऽभिलाषम्" ॥ ६७ ॥

अन्वयः--तेन पत्त्ररथेन इति ईरिता भैमी ह्रीणा हृष्टा च (सती) बभाण—"मदीयं चेतो लङ्कां न अयते (पक्षान्तरे श्लेषेण—मदीयं चेतो नलं कामयते)। अन्यत्र कुत्र अपि साऽभिलाषं न" ॥ ६७ ॥

व्याख्या—तेन=पूर्वोक्तेन, पत्त्ररथेन=हंसेन, इति=इत्थम्, ईरिता=उक्ता, भैमी=दमयन्ती, ह्रीणा=लज्जिता, स्वाऽभिप्रायकथनसङ्कोचादिति शेषः। हृष्टा च=प्रसन्ना च, उपायलाभादिति शेषः। बभाण=जगाद। मदीयं=मामकीनं, चेतः=चित्तं, लङ्कां=सिंहलद्वीपपुरीं, न अयते=नो गच्छति। (पक्षान्तरे श्लेषेण—) किन्तु नलं=नैषधं, कामयते=इच्छति। अन्यत्र=अन्यस्मिन्, कुत्र अपि=कस्मिन् अपि, वस्तुनीति शेषः। साऽभिलाषम्=इच्छुकं न=नो वर्तते ॥ ६७ ॥

अनुवाद—उस हंसके ऐसा कहने पर दमयन्तीने लज्जित और प्रसन्न होकर कहा—"मेरा चित्त लङ्का नहीं जाता है" (पक्षान्तरमें श्लेषसे) "मेरा चित्त नलको चाहता है, और किसी भी वस्तुमें अभिलाष नहीं करता है ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—पत्त्ररथेन=पत्त्रं (पक्षः) रथो यस्य सः, तेन (बहु०), "पतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः" इत्यमरः। ह्रीणा=ह्री+क्त+टाप्, "नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे निष्ठा तकारके स्थानमें विकल्पसे नकार। हृष्टा=हृष+क्त+टाप्। बभाण=भण+लिट्+तिप् (णल्)। अयते=अय+लट्+त। कामयते=कम्+णिङ्+लट्+त। साऽभिलाषम्=अभिलाषेण सहितम् (तुल्ययोगबहु०)। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
जगाद विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—विस्पष्टम् अभाषमाणाम् एनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रो बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं विचिन्त्य जगाद ॥ ६८ ॥

व्याख्या—विस्पष्टम्=सुव्यक्तम्, अभाषमाणाम्=न वदन्तीं, श्लेषोक्त्या सन्दिग्धमेव भाषमाणामिति भावः। एनां=दमयन्तीं, सः=पूर्वोक्तः, चक्राङ्गपतङ्गशक्रः=हंसपक्षिश्रेष्ठः, बालाजनशीलशैलं=मुग्धाऽङ्गनास्वभावपर्वतं, लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं=त्रपासरिद्ब्रुडत्कामगजं, विचिन्त्य=विचार्य, जगाद=

उवाच, लज्जापरित्यागाऽर्थं वक्ष्यमाणवाक्यमुवाचेति भावः । प्रकाशव्याख्यायाम् "आचष्टे"ति पाठः तस्य उक्तवानित्यर्थः ॥ ६८ ॥

अनुवाद—स्पष्ट रूपसे भाषण न करनेवाली दमयन्तीको उस हंसश्रेष्ठने मुग्धा स्त्रीके स्वभावरूप पर्वतमें लज्जारूप नदीमें कामदेवरूप हाथी डूब रहा है, ऐसा विचार कर कहा ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—विस्पष्टम् = यह भाषण क्रियाका विशेषण है । अभाषमाणां = भाषत इति भाषमाणा, भाष + लट् + शानच् + टाप् । न भाषमाणा, ताम् (नञ्०). चक्राङ्गपतङ्गशक्रः = चक्राङ्गश्च ते पतङ्गाः (क० धा०) । "हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः" इति "पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च" इत्यप्यमरः । चक्राङ्गपतङ्गानां शक्रः (ष० त०) । बालाजनशीलशैलं = बाला चाऽसौ जनः (क० धा०), बालाजनस्य शीलम् (ष० त०), तदेव शैलः, तम् (रूपक०) । लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं = लज्जा एव नदी (रूपक०), अनङ्ग एव नागः (रूपक०), मज्जन् अनङ्गनागो यस्य सः (बहु०), लज्जानद्यां मज्जदनङ्गनागः, तम् (स० त०) । विचिन्त्य = वि + चिन्त + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । जगाद = गद + लिट् + तिप् । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति ।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयाऽर्थः सुधिया मया किम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—श्लेषकवेः भवत्याः नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नलं कामयते इति श्लोकद्वयाऽर्थः सुधिया मया न आश्लेषि किम् ? (आश्लेषि एव) ॥ ६९ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) श्लेषकवेः = श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्याः श्लिष्ट-शब्दप्रयोक्त्र्या इति भावः । भवत्याः = तव, नृपेण = राज्ञा, नलेन कर्त्रा, पाणिग्रहणे = करपीडने, स्पृहा = अभिलाषः, इति = एवं, "का नाम बाला०" (३–५९), "चेतो नलं कामयते" (३–६७), श्लोकद्वयाऽर्थः = पद्यद्वितया-ऽभिधेयः, सुधिया = विदुषा, मया = हंसेन, न आश्लेषि किं = न अग्राहि किम् ? गृहीत एवेति भावः ॥ ६९ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारी ! श्लेषसे कविता बनानेवाली आपकी नृप (राजा) नलके साथ पाणिग्रहणमें स्पृहा (अभिलाषा) है (३–५९) और

मेरा मन नलकी कामना करता है (३-६७) ऐसा दो श्लोकोंका अर्थ क्या मैंने नहीं जाना ? (जाना है) ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—श्लेषकवे: = श्लेषेण कवे: (तृ० त०)। पाणिग्रहणे = पाणे: ग्रहणं, तस्मिन् (शेषषष्ठी तत्पु०)। कामयते = कमु + णिङ् + लट् + त। श्लोकद्वयाऽर्थ: = श्लोकयो: द्वयं (ष० त०), तस्य अर्थ: (ष० त०)। सुधिया= सुष्ठु ध्यायतीति सुधी:, तेन, सु-उपसर्गपूर्वक "ध्यै चिन्तायाम्" इस धातुसे क्विप् प्रत्यय और सम्प्रसारण (उपपद०)। आश्लेषि = आङ् + श्लिष + लुङ् (कर्ममें) + त ॥ ६९ ॥

त्वच्चेतस: स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दराऽपराद्धेषुरपि स्मर: स्यात् ॥ ७० ॥

अन्वय:—तु त्वच्चेतस: स्थैर्यविपर्ययं सम्भाव्य तदज्ञ एव भावी अस्मि हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मर: अपि दराऽपराद्धेषु: स्यात् ॥ ७० ॥

व्याख्या—तु=किन्तु, 'नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा'', "मम मनो नलं कामयते' इति ज्ञानेऽपीति भाव:। त्वच्चेतस: = भवन्मनस:, स्थैर्यविपर्ययम् = अस्थिरत्वं, सम्भाव्य = आशङ्क्य, तदज्ञ एव = श्लोकद्वयाऽर्थाऽनभिज्ञ एव, भावी=भविष्यन्, अस्मि = भवामि। हि = यत:, लोलशीले = चञ्चलस्वभावे, बालाहृदि=तरुणी-चित्ते, लक्ष्ये = शरव्ये, वेध्ये विषय इति भाव:। स्मरोऽपि = कामदेवोऽपि, देवर्ष्यादिविजेता अपीति तात्पर्यम्। दराऽपराद्धेषु: = ईषच्च्युतसायक:, स्यात्= भवेद्, स्मरसदृश: कुशलधानुष्कोऽपि चञ्चललक्ष्ये अपराद्धपृषत्क: स्यादिति सम्भाव्यत इति भाव: ॥ ७० ॥

अनुवाद—परन्तु "राजाके साथ पाणिग्रहणमें स्पृहा", "मेरा चित्त नलकी कामना करता है" ऐसे दो श्लोकोंका अर्थ जाननेपर भी आपके चित्तकी अस्थिरताकी आशङ्का करके मैं उस अर्थमें अनजान ही होनेवाला हूँ। क्योंकि चञ्चल स्वभाववाली तरुणीके चित्तरूप लक्ष्यमें कामदेव भी कुछ निशाना चूकने-वाला होगा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—त्वच्चेतस: = तव चेत:, तस्य (ष० त०), स्थैर्यविपर्ययं= स्थैर्यस्य विपर्यय:, तम् (ष० त०)। सम्भाव्य = सम् + भू + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। तदज्ञ: = तस्मिन् अज्ञ: (स० त०)। भावी = भविष्यतीति, "भविष्यति गम्यादय:" इससे साधु:, भू + णिनि + सु। लोलशीले = लोलं शीलं यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०)। बालाहृदि = बालाया हृत्, तस्मिन् (ष०

त०)। लक्ष्ये="लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च" इत्यमरः। दराऽपराद्धेषुः=अपराद्धः इषुः यस्य सः (बहु०), दरम् अपराद्धेषुः (सुप्सुपा०)। इस पद्यमें अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ।
प्रयोजनं सांशयिकं प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तत् महीमहेन्द्रः स नैषधेन्दुः इह ईदृक् सांशयिकं प्रयोजनं प्रति मद्विधेन पृथग्जनेन इव इत्थम् एव कथं बोधनीयः खलु ॥ ७१ ॥

व्याख्या—तत्=तस्मात्कारणात्, महीमहेन्द्रः=भूदेवेन्द्रः, सः=प्रसिद्धः, नैषधेन्दुः=नलचन्द्रः, इह=अस्मिन्विषये, ईदृक्=एतादृशं, सांशयिकं=संशय-प्राप्तं, प्रयोजनं प्रति=कार्यं प्रति, मद्विधेन=मत्सदृशेन, प्रामाणिकजनेनेति भावः। पृथग्जनेन इव=मूर्खजनेन इव, इत्थम् एव=एतादृशम् एव, युक्ताऽ-युक्तविचारमकृत्वैवेति भावः। कथं=केन प्रकारेण, बोधनीयः=ज्ञापनीयः, खलु=निश्चयेन ॥ ७१ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) उस कारणसे पृथिवीके इन्द्र, प्रसिद्ध चन्द्र-के सदृश नल इस विषयमें ऐसे सन्दिग्ध कार्यके प्रति मेरे ऐसे प्रामाणिक जनसे मूर्ख मनुष्यके समान बिना विचारके कैसे निवेदन किया जाये ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—महीमहेन्द्रः=महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), मह्यां महेन्द्रः (स० त०)। नैषधेन्दुः=नैषध इन्दुरिव, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्या-ऽप्रयोगे" इससे समास। सांशयिकं=संशयम् आपन्नम्, "संशय" शब्दसे "संशय-मापन्नः" इस सूत्रसे ठक् (इक्) प्रत्यय और "किति च" इससे आदिवृद्धि। "सांशयिकः संशयाऽऽपन्नमानसः" इत्यमरः। मद्विधेन=मम इव विधा (प्रकारः) यस्य, तेन (व्यधिकरणबहु०)। पृथग्जनेन="पृथग्जनः स्मृतो नीचे मूर्खे च" इति विश्वः। बोधनीयः=बोधयितुं योग्यः, बुध+णिच्+अनीयर्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ् मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ? ॥ ७२ ॥

अन्वयः—पितुः नियोगेन वा निजेच्छया अन्यं युवानं वृणीषे यदि, तदा निषधेश्वरस्य मयि त्वदर्थम् अर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृक् स्यात् ? ॥ ७२ ॥

व्याख्या—अविचार्य बोधने दोषं प्रतिपादयति—पितुरिति। (हे राजकुमारि !) पितुः=जनकस्य, भीमभूपतेः, नियोगेन=आज्ञया, वा=अथवा, निजेच्छया=

स्वेच्छया, अन्यम्=अपरं, नलाद्भिन्नमित्यर्थः। युवानं=तरुणं, वृणीषे यदि=वृणोषि चेत्, तदा=तर्हि, निषधेश्वरस्य=नलस्य, मयि=हंसे विषये, त्वदर्थं=भवत्याः कृते इति भावः, अर्थित्वकृतिप्रतीतिः=याचकत्वप्रयत्नविश्वासः, याचनाविश्वास इति भावः। कीदृक्=कीदृशी, स्यात्=भवेत्। तस्मादसन्दिग्धं वाच्यमिति भावः ॥ ७२ ॥

अनुवाद--(हे राजकुमारि !) पिताकी आज्ञासे वा अपनी इच्छासे आप दूसरे (नलसे भिन्न) जवानको वरण करेंगी तो महाराज नलका मेरे विषयमें आपके लिए याचनाका विश्वास (भरोसा) कैसा होगा ? ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—निजेच्छया= निजस्य इच्छा, तया (ष० त०)। युवानं= "वयःस्थस्तरुणो युवा" इत्यमरः। वृणीषे=वृञ्+लट्+थास्। निषधेश्वरस्य= निषधानाम् ईश्वरः, तस्य (ष० त०)। मयि=विषयमें सप्तमी। त्वदर्थं= तुभ्यम् इदम् (च० त०)। अर्थित्वकृतिप्रतीतिः=अर्थिनो भावः, अर्थिन्+त्व। अर्थित्वस्य कृतिः (ष० त०)। तस्यां प्रतीतिः (स० त०)। स्यात्=अस्+ विधिलिङ्+तिप् ॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत् कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः--हे उर्वीपतिपुत्रि ! वा त्वया अपि किं विधातुं शङ्कितविक्रिये अस्मिन् विषये अहम् अधिक्रिये ? इतः पृथक् यत् प्रार्थयसे तत् सर्वं कुर्वे ॥७३॥

व्याख्या—हे उर्वीपतिपुत्रि !=हे राजकुमारि ! वा=अथवा, त्वया अपि=भवत्या अपि, किं, विधातुं=कर्तुं, शङ्कितविक्रिये=संशयितविकारे, अस्मिन्=इह, विषये=वैवाहिकविषये, अहं=हंसः, अधिक्रिये=विनियुज्ये, अहमस्मिन् सन्दिग्धे वैवाहिकविषये न नियोज्य इति भावः। इतः=अस्मात्, विवाहसम्पादनकार्यात्, पृथक्=अन्यत्, यत्=कार्यं, प्रार्थयसे=उपयाचसे तत्, सर्वं=सकलं, कार्यमिति शेषः, कुर्वे=करोमि ॥ ७३ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आप भी विकारके संशयवाले इस वैवाहिक कार्यमें क्या करनेके लिए मुझे नियुक्त करती हैं ? इससे भिन्न जिस जिस कार्यको करनेके लिए आप प्रार्थना करेंगी, उन सबको मैं करूँगा ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—उर्वीपतिपुत्रि=उर्व्याः पतिः (ष० त०), तस्य पुत्री, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०), शङ्कितविक्रिये=शङ्किता विक्रिया यस्मिन् सः, तस्मिन् (बहु०)।

अधिक्रियेे=अधि+कृ+लट् (कर्ममें)+त। प्रार्थयसे=प्र+अर्थ+णिच्+लट्+थास् ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना।
ऊचे ह्रिया विश्लथिताऽनुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

अन्वयः—धरित्रीपुरुहूतपुत्री श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरः वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना विधूय ह्रिया विश्लथिताऽनुरोधा (सती) पुनः ऊचे ॥ ७४ ॥

व्याख्या–धरित्रीपुरुहूतपुत्री=भूमहेन्द्रकुमारी, भैमीति भावः। श्रवःप्रविष्टा इव=कृतकर्णप्रवेशा इव, न तु सम्यक् प्रविष्टा इति भावः। तद्गिरः=हंस-वाचः, वैमत्यधुतेन=असम्मतिकम्पितेन, मूर्ध्ना=शिरसा, विधूय=निरस्य, प्रतिषिध्येत्यर्थः। ह्रिया=लज्जया कर्त्र्या, विश्लथिताऽनुरोधा=शिथिलिताऽनु-सरणा, त्यक्तलज्जा सतीति भावः। पुनः=भूयः, ऊचे=उवाच ॥ ७४ ॥

अनुवाद—राजकुमारी दमयन्ती कानोंमें प्रवेश हुएके समान हंसके वचनोंको असम्मति (नामंजूरी) से कम्पित शिरसे निवारण कर लज्जाको छोड़कर फिर कहने लगीं ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—धरित्रीपुरुहूतपुत्री=धरित्र्याः पुरुहूतः (ष० त०), तस्य पुत्री (ष० त०), श्रवःप्रविष्टाः=श्रवसी प्रविष्टाः, ताः (द्वि० त०)। तद्गिरः= तस्य गिरः, ताः (ष० त०), वैमत्यधुतेन=विरुद्धा मतिर्विमतिः (गति०)। विमतेर्भावो वैमत्यम्, विमति+ष्यञ्। वैमत्येन धुतः, तेन (तृ० त०)। विधूय=वि+धूञ्+क्त्वा (ल्यप्)। ह्रिया=कर्तृपद। विश्लथिताऽनुरोधा= विश्लथितः अनुरोधः यस्याः सा (बहु०)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) मदन्यदानं प्रति एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदः तावत्। निशः अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य ओङ्कारम् अग्रेसरं कुर्याः ॥ ७५ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) मदन्यदानं प्रति=मदपरसमर्पणं प्रति, या, एषा= इयं, कल्पना=तर्कः, "पितुर्नियोगेन" इत्यादि रूप इति भावः। वेदः=श्रुतिः तावत् एव। (तर्हि) निशः अपि=रात्रेः अपि, सोमेतरकान्तशङ्कां=चन्द्र-भिन्नवल्लभकल्पनाम्, अस्य=पूर्वोक्तस्य वेदस्य, ओङ्कारं=प्रणवम्, अग्रेसरम्= आद्यं, कुर्याः=कुरु, पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा मत्कर्तृकं नलेतरवरणं त्वं

वेदरूपं (सत्यम्) मन्यसे यदि तर्हि रात्रेरपि चन्द्रेतरवल्लभकल्पनं, तस्य पूर्वोक्तस्य वेदस्य पुरोवर्तिनमोङ्कारं भावय, वेदस्य ओङ्कारपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशायाश्चन्द्रेतरो वल्लभो न तथैव ममाऽपि नलेतरवरणं न भविष्यति हृदयम् ॥ ७५ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) नलको छोड़कर किसी दूसरेको मेरा दान होगा, ऐसी कल्पना तुम्हारे हृदयमें वेद (सत्य) ही है, तो रात्रिका भी चन्द्रसे भिन्न कान्त है, ऐसी शङ्काको उस वेदका आदिवर्ती प्रणव (ओङ्कार) बना डालो ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—मदन्यदानं=अन्यस्मै दानम् अन्यदानम् (च० त०), मम अन्यदानं, तत् (ष० त०), "प्रतिके" योगमें द्वितीया। त्वदीये=तव इदं त्वदीयं=तस्मिन्, युष्मद् (त्वत्)+छ (ईयः)। तावत्="यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे" इत्यमरः। निशः="निशा" शब्दका "पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्०" इत्यादि सूत्रसे निश् आदेश+ङस्। सोमेतरकान्तशङ्कां= सोमात् इतरः (प० त०), स चाऽसौ कान्तः (क० धा०), तस्य शङ्का, ताम् (ष० त०)। ओङ्कारम्="ओङ्कारप्रणवौ समौ" इत्यमरः। अग्रेसरम्=अग्रे सरतीति अग्रेसरः, तम्, अग्रे उपपदपूर्वक 'सृ' धातुसे "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः" इस सूत्रसे "अग्रे" इस एदन्तत्वका निपातन होकर ट प्रत्यय (उपपद०)। जैसे रात्रिका चन्द्रसे भिन्न कान्त नहीं है, वैसे ही मेरे भी नलसे अन्य कान्त नहीं है, यह भाव है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो ! महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः अनर्कसम्पर्कम् अतर्कयित्वा तव इयं मदन्यपाणिग्रहशङ्किता महीयः साहसिक्यम् अहो ! ॥ ७६ ॥

व्याख्या—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः=कमलिनीमनोऽनुरागस्थितेः, कमलिन्यभ्यन्तराऽरुणताप्रवृत्तेश्च, अनर्कसम्पर्कं=सूर्येतरकान्तसम्बन्धम्, अतर्कयित्वा=अनूहित्वा, तव=भवतः, इयम्=एषा, मदन्यपाणिग्रहशङ्किता=मम नलेतरपाणिपीडनसांशयिकता, महीयः=महत्तरं, साहसिक्यं=साहसिकत्वम्, अहो=आश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) कमलिनीके मनकी अनुरागस्थितिका अथवा कमलिनीके भीतरकी अरुणता-स्थिति का सूर्यसे भिन्न प्रियके सम्बन्धकी तर्कना न

करके तुम्हारा यह मेरा नलसे भिन्न पुरुषके पाणिग्रहणकी शङ्का करना बहुत ही साहसका कार्य है, आश्चर्य है ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः=मनसि भवो मानसः, मनस् + अण् । मानसश्चाऽसौ रागः (क० धा०)। तस्य वृत्तिः (ष० त०)। सरोजिन्या मानसरागवृत्तिः, तस्याः (ष० त०)। अनर्कसम्पर्कम् = न अर्कः अनर्कः (नञ्०), अनर्केण सम्पर्कः, तम् (तृ० त०)। अतर्कयित्वा = न तर्कयित्वा (नञ्०)। मदन्यपाणिग्रहशङ्किता = पाणेः ग्रहः (ष० त०), अन्यस्य पाणिग्रहः, पाणिग्रह + शकि + णिनिः (उपपद०)। अन्यपाणिग्रहशङ्किनो भावः, अन्यपाणि-ग्रहशङ्किन् + तल् + टाप् । मम अन्यपाणिग्रहशङ्किता (ष० त०)। महीयः = अतिशयेन महत्, महत् + ईयसुन् । साहसिक्यम्=सहसा वर्तत इति साहसिकः, सहस् शब्दसे "ओजःसहोऽम्भसा वर्तते" इस सूत्रसे ठक् (इक्) प्रत्यय । साहसि-कस्य भावः कर्म वा, साहसिक + ष्यञ् । जैसे कमलिनीकी अनुरागवृत्ति सूर्यसे भिन्न नहीं हो सकती, वैसे ही मेरा भी नलके सिवाय किसी दूसरेसे पाणिग्रहण नहीं होगा, यह भाव है ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेकमेव स्वेनाऽनलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—स्वेन अनलं संश्रयिष्ये (इति) यत् त्वया अतर्कि तत् एकम् एव साधु अतर्कि । तु अमुना विना स्वात्मनि प्रहर्तुम् (अनलं संश्रयिष्ये), नृपतौ त्वां मृषागिरं कर्तुम् अनलं न संश्रयिष्ये ॥ ७७ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) स्वेन = आत्मना, स्वेच्छयेति भावः। अनलं = नलादन्यं, "निजेच्छया वे"त्याकारकत्वद्वचनाऽनुसारादिति भावः । संश्रयिष्ये= आश्रयिष्ये, प्राप्स्यामीति भावः । इति, यत्, त्वया = भवता, अतर्कि = ऊहितं, तत्, एकम् एव, साधु = समीचीनम्, अतर्कि = तर्कितं, तु = परन्तु, अमुना विना = नलेन विना, नलाऽलाभे इति भावः । स्वात्मनि=निजशरीरे, प्रहर्तुं = हिंसितुम्, अनलम् = अग्निं, संश्रयिष्ये=आश्रयिष्ये, नृपतौ = राज्ञि, नले विषये, त्वां = भवन्तम् । (उद्देश्यवाचकपदम्), मृषागिरम् = असत्यवाचं, कर्तुं = विधातुम्, अनलं = नलेतरं, न संश्रयिष्ये = न आश्रयिष्ये, नलाऽभावे प्राणांस्त्य-क्ष्यामीति भावः ॥ ७७ ॥

अनुवाद—(हे हंस) "स्वेच्छासे अनल (नलसे भिन्न पुरुष) का आश्रय

करूँगी" ऐसी जो तुमने तर्कना की, वह एक ठीक तर्कना की। परन्तु नलके अलाभमें अपने शरीरको नष्ट करनेके लिए अनल (अग्नि) को प्राप्त करूँगी। राजा नलके विषयमें तुमको झूठा बनानेके लिए अनल (नल से भिन्न पुरुष) का आश्रय नहीं लूँगी ॥ ७७ ॥

टिप्पणी--अनलं=न नलः, तम् (नञ्०)। संश्रयिष्ये=सम् + श्रि + लृट् + इट्। अतर्कि=तर्क + लुङ् (कर्ममें) + त। अमुना="विना" पदके योगमें तृतीया। स्वात्मनि=स्वस्य आत्मा, तस्मिन् (ष० त०), कर्मके अधिकरणत्वकी विवक्षामें सप्तमी। प्रहर्तुम्=प्र + हृञ् + तुमुन्। अनलं="कृशानुः पावकोऽनलः" इत्यमरः। नृपतौ=नृणां पतिः तस्मिन् (ष० त०), मृषागिरं=मृषा गीर्यस्य स मृषागीः, तम् (बहु०)। कर्तुम्=कृ+तुमुन् ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कः स किं तत्फलवाचि मूकः ?।
अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

अन्वयः—(किञ्च) यः तर्कः मद्विप्रलभ्यं त्वाम् आह स तत्फलवाचि मूकः किम् ? अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुः वाणी वेदा न यदि (तर्हि), के तु (वेदाः) ? ॥ ७८ ॥

व्याख्या—यः, तर्कः=ऊहः, मद्विप्रलभ्यं=मया प्रतारणीयं, त्वाम्, आह=बोधयति, सः=तर्कः, तत्फलवाचि=तद्विप्रलम्भप्रयोजनकथने, मूकः किम्=अवाक् किम्, असमर्थः किमिति भावः। अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुः=शङ्काऽशक्यविप्रलिप्सालक्षणा, वाणीः=वाक्, वेदा न यदि=प्रमाणं न चेत्। तर्हि के तु वेदाः सन्तु=न केऽपीति भावः। वेदवाचोऽसत्यत्वं यदि मद्वाण्यपि तथा स्यादन्यथा नेति भावः ॥ ७८ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) जो तर्क मुझसे तुम्हारे ठगे जानेकी बात कहता है, वह तर्क ठगनेसे होनेवाले प्रयोजन कहनेमें असमर्थ है क्या ? व्यभिचारके कारणकी शङ्का नहीं की जा सकनेवाली वाणी यदि वेदरूप प्रामाणिक नहीं है तो वेद क्या है ? ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—तर्कः='अध्याहारस्तर्क ऊहः" इत्यमरः। मद्विप्रलभ्यं=मया विप्रलभ्यं, तत् (तृ० त०)। विप्रलब्धुं योग्यं विप्रलभ्यम्। वि+प्र-उपसर्गपूर्वक "लभ" धातुसे "पोरदुपधात्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। तत्फलवाचि=तस्य फलं (ष० त०), तस्य वाक्, तस्याम् (ष० त०)। अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुः=न शक्या (नञ्०)। अशक्या शङ्का यस्य सः (बहु०)। व्यभिचारस्य हेतुः

(ष० त०)। अशक्यशङ्को व्यभिचारहेतुर्यस्याः सा (बहु०), यह पद "वाणी"-का विशेषण है ॥ ७८ ॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम्।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथाऽपि मत्प्राणनाथस्तु नलः स एव ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तातः माम् अनैषधाय एव जुहोति ? (तदा) शरीरशेषां (माम्) (तत्राऽपि) कृशानौ न जुहोति किम् ? स तनूजन्मतनोः ईष्टे, मत्प्राणनाथस्तु नल एव ॥ ७९ ॥

व्याख्या—अथ "पितुर्नियोगेने"ति हंसप्रतिपादितमाशङ्कां निरस्यति—अनैषधायैवेति। तातः=मम जनकः, मां=पुत्रीम्. अनैषधाय एव=नल-भिन्नाय एव, अनलाय सम्प्रदानभूताय एव, जुहोति=ददाति ? (काकुः), (तदा) शरीरशेषां=देहमात्राऽवशिष्टां, मृतामित्यर्थः तादृशीं मां, न जुहोति किम् ?=हवनं न करोति किम् ? तदङ्गीकार्यमेवेति भावः। (कुतः) सः=जनकः, तनूजन्मतनोः=आत्मजाशरीरस्य, ईष्टे=ईशः (स्वामी), भवतीति भावः। परं, मत्प्राणनाथस्तु=मज्जीवनस्वामी तु, नल एव=नैषध एव, मत्प्राणानामजनकत्वात् न जनकः, मम शरीरमात्रं पित्रधीनं, जीवनं तु नलाऽधी-नमिति भावः। अतो मयि अविश्वासं मां कार्षीरिति तात्पर्यम् ॥ ७९ ॥

अनुवाद—पिताजी मुझे अनैषध (नलसे भिन्न व्यक्ति, अनल) को ही देते हैं ? तब तो देहमात्रसे अवशिष्ट मरी हुई मुझको अग्निमें हवन नहीं करते हैं क्या ? क्योंकि वे (मेरे पिता) अपनी पुत्रीके शरीरके स्वामी हैं, परन्तु मेरे प्राणके स्वामी तो नल ही हैं ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—तातः="तातस्तु जनकः पिता" इत्यमरः। अनैषधाय=न नैषधः, तस्मै, तदन्य अर्थमें नञ्समास। जुहोति="हु दानादानयोः" इस धातुसे लट्+तिप्। शरीरशेषां=शरीरम् एव शेषो यस्याः सा, ताम् (बहु०)। कृशानौ='कृशानुः पावकोऽनलः' इत्यमरः। तनूजन्मतनोः=तन्वा जन्म यस्याः सा तनूजन्मा (बहु०), तस्याः तनुः, तस्याः (ष० त०), "अधीगर्थदयेषां कर्मणि" इस सूत्रसे 'ईश' धातुके योगमें षष्ठी। ईष्टे="ईश ऐश्वर्ये' धातुसे लट्+त। मत्प्राणनाथः=मम प्राणाः (ष० त०), तेषां नाथः (ष० त०) ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधिस्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाऽऽकरेणाऽपि सुधाकरेण ? ॥ ८० ॥

अन्वयः—(हे हंस !) तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु। नलिनी सुधाऽऽकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ? ॥ ८० ॥

व्याख्या—(हे हंस !) तदेकदासीत्वपदात्=नलैकसेविकात्वाऽधिकारात्, उदग्रे=उन्नते, अधिक इति भावः। मदीप्सिते=मदभीष्टे, नलपत्नीत्वरूप इति भावः। तव=भवतः, विधित्सुता=चिकीर्षुता, साधु=उचितम्। दृष्टान्ते स्वोक्तिं समर्थयते=अहेलिनेति। नलिनी=कमलिनी, सुधाऽऽकरेण अपि=अमृताधारेण अपि, अहेलिना=हेलीतरेण, सूर्यभिन्नेनेति भावः। सुधाकरेण=चन्द्रमसा, किं विधत्ते=किं करोति, यथा नलिन्याश्चन्द्रमसा तथैव ममाऽपि नलभिन्नेन यूना न प्रयोजनमिति भावः॥ ८० ॥

अनुवाद—(हे हंस !) नलके एकदासीत्वरूप अधिकारसे अधिक मेरे अभीष्ट (पत्नीत्वरूप) विषयमें तुम्हारी कार्यसम्पादकता उचित है। जैसे कि कमलिनी अमृतके आधार होनेपर भी सूर्यसे भिन्न चन्द्रसे क्या करती है ? ॥८०॥

टिप्पणी—तदेकदासीत्वपदात्=एका चाऽसौ दासी (क० धा०), तस्य एकदासी (ष० त०), तस्या भावः तदेकदासीत्वम्, तदेकदासी+त्व। तदेव पदं, तस्मात् (रूपक०)। मदीप्सिते=मम ईप्सितं, तस्मिन् (ष० त०)। विधित्सुता=विधातुमिच्छुः विधित्सुः, वि+धा+सन्+उः। विधित्सोर्भावः, विधित्सु+तल्+टाप्। सुधाकरेण=सुधाया आकरः, तेन (ष० त०)। अहेलिना=न हेलिः अहेलिः, तेन (नञ्०), यहाँपर तदन्यत्व रूप अर्थमें नञ् हैं। "भगस्त्वष्टार्यमाहंसौ हेलिस्तेजोनिधिर्हरिः।" इति भविष्यपुराणे। सूर्य-नामानि यहाँपर पहला "सुधाकर" शब्द यौगिक और दूसरा अयौगिक है, इस-लिए पुनरुक्ति नहीं है। इस पद्यमें 'दृष्टान्त' अलङ्कार है॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
वित्ते ममैकः स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखः स एव ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलुब्धे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिम् अपि लब्धुं चिन्ता न अस्ति। (तथा) वित्ते अपि मम स नलः त्रिलोकीसारः पद्ममुखः एकः एव ॥ ८१ ॥

व्याख्या—तदेकलुब्धे=नलैकलोलुपे, मे=मम, हृदि=हृदये, अनर्घम्=अमूल्यं, चिन्तामणिम् अपि=चिन्तामणिनामकं रत्नम् अपि, लब्धुं=प्राप्तुं, चिन्ता=विचारः, न अस्ति=नो वर्तते। तथा वित्ते अपि=धने अपि, मम=दमयन्त्याः, सः=पूर्वोक्तः, प्रसिद्धो वा। नलः=नैषधः, त्रिलोकीसारः=त्रैलोक्य

श्रेष्ठः, पद्ममुखः=पद्मानन:, पद्मनिधिश्च, एकः=प्रमुखः, एव, नलादन्यत्र कुत्रापि ममाऽभिलाषो नाऽस्ति, किमुत युवान्तर इति भावः ॥ ८१ ॥

अनुवाद—नलमें एकमात्र लुब्ध मेरे हृदयमें अमूल्य चिन्तामणि रत्नको भी पानेकी चिन्ता नहीं है। उसी तरह धनके विषयमें भी मेरे वे नल, त्रैलोक्यमें श्रेष्ठ कमलतुल्य मुखवाले पद्मनिधिके समान एकमात्र हैं ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—तदेकलुब्धे=एकं च तत् लुब्धम् (क० धा०)। तस्मिन् एकलुब्धं, तस्मिन् (स० त०)। अनर्घम्=अविद्यमानः अर्घः यस्य, तम् (नञ् बहु०)। "मूल्ये पूजाविधावर्घः" इत्यमरः। लब्धुं=लभ्+तुमुन्। त्रिलोकीसारः= त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी (द्विगु०), त्रिलोक्याः सारः (ष० त०)। पद्ममुखः=पद्मम् इव मुखं यस्य सः (बहु०)। अथवा पद्मः (निधिः), मुखम् (आदिः) यस्य सः (बहु०)। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाऽद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवाऽऽस्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—(सः) श्रुतः मोहात् हरित्सु दृष्टः नीरन्ध्रितबुद्धिधारं ध्यातश्च। अद्य मम तत्प्राप्तिः असुव्ययो वा द्वयम् एव शेषः तव हस्ते आस्ते ॥ ८२ ॥

व्याख्या—(सः=नलः) श्रुतः=आकर्णितः, दूतद्विजादिमुखादिति शेषः। मोहात्=भ्रान्तेः, हरित्सु=प्राच्यादिदिक्षु, दृष्टः=अवलोकितः, नीरन्ध्रितबुद्धिधारं=निरन्तरीकृतनलविषयकबुद्धिप्रवाहं यथा तथा, ध्यातश्च=ध्यानगोचरीकृतः, चिन्तित इति भावः। अथ अद्य=अस्मिन् दिने, मम=भैम्याः, तत्प्राप्तिः=नलासादनम्, असुव्ययो वा=प्राणत्यागो वा, द्वयम् एव=द्वितयम् एव, द्वयोरन्यतर एवेति भावः। शेषः=कार्यशेषः, तव=भवतः, हस्ते=करे, आस्ते=तिष्ठति, त्वदधीन इति भावः ॥ ८२ ॥

अनुवाद—महाराज नलको मैंने दूत, ब्राह्मण आदिके मुखसे सुन लिया है और भ्रान्तिसे दशों दिशाओंमें देख भी लिया है तथा नलके विषयमें बुद्धिके प्रवाहको निरन्तर लगाकर ध्यान भी किया है। आज उनकी प्राप्ति वा प्राणत्याग दोनोंमेंसे एक कार्य तुम्हारे हाथमें है ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—मोहात्=हेतुमें पञ्चमी। नीरन्ध्रितबुद्धिधारं=बुद्धेर्धारा (ष० त०)। नीरन्ध्रिता बुद्धिधारा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा (बहु०, क्रि० वि०)। ध्यातः=ध्यै+क्तः। तत्प्राप्तिः=तस्य प्राप्तिः (ष० त०)। असुव्ययः= असुनां व्ययः (ष० त०)। द्वयम्=द्वि+तयप् (अयच्)। इस पद्यमें

अभिधाके प्रस्तुत अर्थके नियन्त्रणसे तत्पदार्थ (ब्रह्म) के श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे सम्पन्न पुरुषका ब्रह्मप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिरूप लक्षणवाला मोक्ष गुरुके अधीन ही है, ऐसे अर्थान्तरकी प्रतीतिरूप ध्वनि ही है ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम् ।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का, भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ॥८३॥

अन्वयः—(हे हंस !) आश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यं सञ्चीयताम् । हे आर्य ! वृथा विशङ्का निवार्यताम् । अये ! भद्रे अपि भृशं का इयं मुद्रा ? ॥ ८३ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) आश्रुतपालनोत्थम्=अङ्गीकृतार्थाऽनुष्ठानजनितं, मत्प्राणविश्राणनजं च=मदसुदानजनितं च, नलेन सह मत्सङ्घटनादिति शेषः । पुण्यं=सुकृतं, सञ्चीयतां=सङ्गृह्यताम् । हे आर्य !=हे श्रेष्ठ ! वृथा=व्यर्थप्राया, विशङ्का=सन्देहः, "पितुर्नियोगेने"ति पद्यप्रतिपादितेति शेषः । निवार्यतां=दूरतस्त्यज्यताम् । अये !=अङ्ग, भद्रे अपि=कल्याणरूपे विषये अपि, भृशम्=अत्यर्थं, का=कीदृशी, इयम्=एषा, मुद्रा=औदासीन्यम् । श्रेयसि विषये नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) अङ्गीकृत विषयके संपादनसे और मुझे प्राणदान कर उत्पन्न पुण्यका संचय करो । हे आर्य ! व्यर्थ सन्देहको छोड़ दो । कल्याण-विषयमें भी यह कैसी उदासीन मुद्रा है ? ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—आश्रुतपालनोत्थम्=आश्रुतस्य पालनम् (ष० त०), "अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम्" इत्यमरः । आश्रुतपालनात् उत्तिष्ठतीति, आश्रुतपालन+उद्+स्था+कः (उपपद०) । सञ्चीयतां—सम्+चि+लोट्+यक्+त (कर्ममें) । विशङ्का=विरुद्धा शङ्का (गति०) । निवार्यतां=नि+वृ+णिच्+लोट्+यक्+त (कर्ममें) ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय ! विज्ञ ! याच्ञां कृत्वाऽपि वाम्यं विविधं विधेये ।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥८४॥

अन्वयः—हे प्रिय ! हे विज्ञ ! याच्ञां विलङ्घ्य अलम् । विधेये विविधं वाम्यं कृत्वा अपि अलम् । आश्रवतापदोत्थात् अस्तखलोक्तिखेलात् यशःपथात् स्खलित्वा खलु ॥ ८४ ॥

व्याख्या—हे प्रिय !=हे प्रियङ्कर ! हे विज्ञ !=हे विशेषज्ञ ! याच्ञां=प्रार्थनां, विलङ्घ्य=अतिक्रम्य, अलं=पर्याप्तं, प्रार्थना-भङ्गो न कार्यं इति

भावः । विधेये=विनीतजने, विविधम्=अनेकप्रकारं, वाम्यं=वक्रतां, कृत्वा अपि=विधाय अपि, अलं=पर्याप्तं, वाम्यं न कार्यमिति भावः । आश्रवतापदोत्थात्=वचनस्थितत्वस्थानोत्पन्नात्, अस्तखलोक्तिखेलात्=निरस्तदुर्जनवादविनोदात्, यशःपथात्=कीर्तिमार्गात्, स्खलित्वा खलु=न स्खलितव्यमिति भावः, नो चेद्धानिः स्यादिति भावः ॥ ८४ ॥

अनुवाद—हे प्रिय ! हे विशेषज्ञ ! मेरी प्रार्थनाका लङ्घन मत करो । विनीतजनमें अनेक प्रकारकी कुटिलता भी मत करो । आज्ञाकारित्वपदसे उत्पन्न, दुर्जनका उक्तिरूप विनोदसे रहित कीर्तिमार्गसे तुम्हें स्खलित नहीं होना चाहिए ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—प्रियः=प्रीणातीति प्रियः, तत्सम्बुद्धौ, प्री+कः । विज्ञ=विशेषेण जानातीति विज्ञस्तत्सम्बुद्धौ, वि+ज्ञा+कः । याच्ञां=याच्+अङ्+टाप् । विधेये="विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रवः" इत्यमरः । वाम्यं=वामस्य भावो वाम्यं, तत्, वाम+ष्यञ् । आश्रवतापदोत्थात्=आश्रवस्य भावः आश्रवता, आश्रव+तल्+टाप् । आश्रवता एव पदम् (रूपक०) । आश्रवतापदात् उत्तिष्ठतीति आश्रवतापदोत्थः, आश्रवतापद+उद्+स्था+कः, तस्मात् । अस्तखलोक्तिखेलात्=खलस्य उक्तिः (ष० त०) । खलोक्तेः खेला (ष०त०), "क्रीडा च कूर्दनम्" इत्यमरः । अस्ता खलोक्तिखेला येन सः, तस्मात् (बहु०) । यशःपथात्=यशसः पन्था यशःपथः, तस्मात् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय । स्खलित्वा=प्रतिषेधाऽर्थक "खलु" पदके योगमें स्खल धातुसे "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इससे क्त्वा प्रत्यय, इसी तरह "कृत्वा" इस पदमें भी "अलम्" पदके योगमें क्त्वा प्रत्यय हुआ है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।
मह्यं मदीयान् यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥ ८५ ॥

अन्वयः— ईदृशबद्धमुष्टेः तव आर्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्यः त्रपा न ? यत् मदीयान् एव असून् मह्यम् अदित्सोः तव कीर्तिधौतो धर्मः करात् भ्रश्यति ॥ ८५ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) ईदृशबद्धमुष्टेः=ईदृङ्नद्धमुष्टिकस्य, कृपणस्येति भावः । तव=भवतः, आर्तमुदे=दीनहर्षाय, याचकाऽभिलाषपूर्त्यै इति भावः । स्वजीवम्=आत्मजीवनम् अपि, ददद्भ्यः=वितरद्भ्यः, स्वप्राणव्ययेन परं रक्षद्भ्य इति भावः, जीमूतवाहनादिभ्य इति शेषः । त्रपा न=लज्जा न ? इति काकुः ।

यत्=यस्मात् कारणात्, मदीयान् एव = मामकान् एव, असून् = प्राणान्, मह्यं= सम्प्रदानभूतायै मह्यं, अदित्सोः=दातुम् अनिच्छोः, तव=भवतः, कीर्तिधौतः= यशोधवलः, धर्मः = पुण्यं, करात्=हस्तात्, भ्रश्यति = नश्यति, तव धर्मो यशश्च नश्यति एतन्न तवाऽर्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—ऐसे बद्धमुष्टि (कृपण) तुम्हें दीन पुरुषकी प्रीतिके लिए अपना जीवन भी देनेवाले शिवि आदियोंसे लज्जा नहीं होती है ? क्योंकि मेरे ही प्राणोंको मुझे देनेकी इच्छा नहीं करनेवाले तुम्हारा यशसे उज्ज्वल धर्म हाथसे भ्रष्ट होता है ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—ईदृशबद्धमुष्टेः = बद्धा मुष्टिर्येन सः (बहु०), ईदृशश्चाऽसौ बद्धमुष्टिः, तस्य (क० धा०)। आर्तमुदे=आर्तानां मुत्, तस्यै (ष० त०)। स्वजीवं= स्वस्य जीवः, तम् (ष० त०)। ददद्भ्यः = दा + लट् (शतृ) + भ्यस्। दीनोंकी रक्षाके लिए अपना जीवन देनेवाले जैसे—

"कर्णस्त्वचं, शिविर्मांसं, जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि, किमदेयं महात्मनाम् ॥" (बृहच्छार्ङ्गधर०)

अर्थात् कर्णने सूर्यको अपना चर्म (चमड़ा), शिविने कबूतरको बचानेके लिए अपना मांस, जीमूतवाहनने शङ्खचूड़ नामक नागको बचानेके लिए अपना जीवन और दधीचिने वज्रके लिए देवताओंको अपना अस्थिसमूह दे दिया। महात्माओंके लिए क्या अदेय है ? मदीयान् = अस्मत् + छ (ईयः) + शस्। अदित्सोः = दातुमिच्छुः दित्सुः, दा + सन् + उः । न दित्सुः, तस्य, (नञ्)। कीर्तिधौतः = कीर्त्या धौतः (तृ० त०)। भ्रश्यति = "भ्रंशु अधःपतने" इस धातुसे लट् + तिप् ॥ ८५ ॥

दत्त्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि, जीवाऽधिकदे तु केन ? ।
विधेहि तन्मां त्वदृणेष्वशोद्धुममुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) जीवदे त्वयि आत्मजीवं दत्त्वा अपि शुध्यामि, जीवाऽधिकदे तु (त्वयि) केन शुध्यामि ? तत् मां त्वदृणेषु अशोद्धुम् अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नां विधेहि ॥ ८६ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) जीवदे = प्राणदे, त्वयि = भवति, आत्मजीवं = स्वप्राणान्, दत्त्वा अपि = वितीर्य अपि, शुध्यामि = शुद्धा भवामि, अनृणा भवामीति भावः । परं जीवाऽधिकदे तु = प्राणाऽधिक-(नल)-दातरि तु, त्वयि = भवति विषये, केन = पदार्थेन, शुध्यामि = शुद्धा भवामि, अनृणा भवामि।

तत् = तस्मात्कारणात्, आनृण्यार्थं देयपदार्थाऽभावादिति भावः । मां = भैमीं, त्वदृणेषु = भवत्पर्युदञ्चनेषु विषये । अशोद्धुं = न अपाकर्तुम्, अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् — अपरिमितदैन्यसागरत्रुडितां, विधेहि = कुरु, नलसङ्घट्टनेन मामृणग्रस्तां कुर्विति भावः ॥ ८६ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) प्राण देनेवाले तुम्हारे विषयमें अपने प्राणोंको देकर शुद्ध (अनृण) हूँगी, परन्तु प्राणोंसे अधिक (नल) को देनेवाले तुम्हारे विषयमें मैं किस पदार्थसे शुद्ध (अनृण) हूँगी । इस कारणसे मुझे तुम्हारे ऋणोंमें शुद्ध (अनृण) न करने के लिए अपरिमित दारिद्र्यरूप समुद्रमें मग्न कर दो ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—जीवदे = जीव + दा + क (उपपद) + ङि । आत्मजीवम् = आत्मनो जीवः, तम् (ष० त०) । दत्त्वा = दा + क्त्वा । शुद्ध्यामि = शुध् + लट् + मिप् । त्वदृणेषु = तव ऋणानि, तेषु (ष० त०) अशोद्धुं = न शोद्धुम् (नञ्०) । अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् = अविद्यमाना मुद्रा (मर्यादा) यस्य सः (नञ्बहु०), दारिद्र्यम् एव समुद्रः (रूपक०) । अमुद्रश्चाऽसौ दारिद्र्यसमुद्रः (क० धा०), तस्मिन् मग्ना, ताम् (स० त०) । विधेहि = वि + धा + लोट् + सिप् । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यत्र चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम् ।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हे जीवेशदातः ! मज्जीवितम् एव पण्यं क्रीणीष्व, अन्यत् वस्तु न चेत् (तर्हि) पुण्यम् अस्तु ते दातुं न प्रभवामि (चेत्) तावत् यशः अपि गातुं प्रभवामि ॥ ८७ ॥

व्याख्या – हे जीवेशदातः ! = हे प्राणेश्वरः ! मज्जीवितम् एव = मज्जीवनम् एव, पण्यं = क्रेयं वस्तु, क्रीणीष्व = जीवेशमूल्यरूपेण विनिमयं कुरु । अन्यत् = अपरम्, एतन्मूल्याऽनुरूपं, वस्तु = पदार्थः, न चेत् = न भवेद्यदि, तर्हि, पुण्यं = धर्मः, अस्तु = भवतु, ते = तुभ्यं, दातुं = वितरीतुं, न प्रभवामि = न शक्नोमि यदि, तावत् = तर्हि, यशः अपि = कीर्तिम् अपि, गातुं = गानं कर्तुं, प्रभवामि = शक्नोमि, प्रसिद्धिपुण्यार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अनुवाद—हे प्राणेश्वर (नल) को देनेवाले ! मेरे जीवनरूप क्रेय वस्तुको खरीद लो और वस्तु न होगी तो पुण्य ही हो । तुम्हें देनेके लिए समर्थ नहीं हूँ तो तुम्हारे यशको तो गानेके लिए समर्थ हूँगी ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—जीवेशदात:=जीवस्य ईश: (ष० त०), तस्य दाता, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। मज्जीवितं=मम जीवितं, तत् (ष० त०), क्रीणीष्व="डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये" इस धातुके लोट्के थास्का रूप। दातुं=दा+तुमुन्। प्रभवामि-प्र+भू+लट्+मिप्॥ ८७॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्या: कृतज्ञानथवाऽऽद्रियन्ते।
प्राणै: पणै: स्वं निपुणं भणन्त: क्रीणन्ति तानेव तु हन्त ! सन्त:॥८८॥

अन्वय:—वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्या: न आद्रियन्ते। सन्त: तु स्वं निपुणं भणन्त: तान् एव प्राणै: पणै: क्रीणन्ति॥ ८८॥

व्याख्या—(हे हंस !) वराटिकोपक्रियया अपि=कपर्दिकोपकारेण अपि, कपर्दिकादानेन अपि इति भाव:। लभ्यान्=सुलभान्, कृतज्ञान्=उपकारज्ञान्। तावदेव बहु मन्यमानानिति भाव:। इभ्या:=धनिका:, न आद्रियन्ते=न सत्कुर्वन्ति, न उपकुर्वन्तीति भाव:। एतद्वैपरीत्येन, सन्तस्तु=सज्जनास्तु, विवेकिनस्तु इति भाव:। स्वम्=आत्मानं, निपुणं=कुशलं, भणन्त:=कथयन्त:, "एते वयं त्वदधीना" इति साधु वदन्त इति भाव:। तान् एव=कृतज्ञान् एव, प्राणै:=असुभि: एव, पणै:=मूल्यै:, क्रीणन्ति=विनिमयं कुर्वन्ति, आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत धनैरिति भाव:। अतस्त्वयाऽपि सज्जनेन कृतज्ञोऽहमुपकर्तव्येति भाव:। हन्त=हर्षद्योतकमव्ययम्॥ ८८॥

अनुवाद—(हे हंस !) कौड़ी देकर भी पाये जा सकनेवाले कृतज्ञों-(अहसानमन्दों) को धनी लोग आदर (उपकार) नहीं करते हैं। सज्जन-लोग तो "हम आपके अधीन हैं" ऐसा कहते हुए उन्हीं कृतज्ञोंको प्राणरूप मूल्योंसे खरीद लेते हैं॥ ८८॥

टिप्पणी—वराटिकोपक्रियया=वराटिकाया उपक्रिया, तया (ष० त०)। लभ्यान्—लभ्+यत्+शस्। कृतज्ञान्=कृतं जानन्तीति कृतज्ञा:, तान्। कृत+ज्ञा+क (उपपद०)+शस्। इभ्या:=इभम् अर्हन्तीति, 'इभ" शब्दसे 'दण्डादिभ्यो य:" इस सूत्रसे य प्रत्यय। "इभ्य आढ्यो धनी स्वामी"त्यमर:। आद्रियन्ते—आङ्+दृङ्+लट्+झ। सन्त:=अस्+लट् (शतृ)+जस्। भणन्त:=भण+लट् (शतृ)+जस्। पणै:=करणमें तृतीया। क्रीणन्ति=क्रीञ्+लट्+झि। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है॥ ८८॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे यदेकाऽग्रधियः प्रसेदे ।
न हीतरस्माद् घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाऽभूः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स भूभृत् अष्टौ अपि लोकपालाः । तदेकाऽग्रधियो मे तैः प्रसेदे । इतरस्मात् स्वयम् एत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः अभूः यत्, तत् न घटते हि ॥ ८९ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) सः=पूर्वोक्तः, भूभृत्=राजा, नल इत्यर्थः । अष्टौ अपि=अष्टसंख्यका अपि, लोकपालाः=इन्द्रादय इत्यर्थः, नल इन्द्राद्यष्टलोकपालात्मक इति भावः । अत एव तदेकाऽग्रधियः=नलैकतानबुद्धेः, मे=मम, तैः=अष्टाभिर्लोकपालैः । प्रसेदे=प्रसन्नम् । देवता ध्यायतो जनस्य प्रसीदन्तीति भावः । कुतः इतरस्मात्=इतरथा, लोकपालप्रसादं विना, स्वयम्=आत्मना, एत्य=आगत्य, मम=भैम्याः, तदाप्तिप्रतिभूः=नलप्राप्तिलग्नकः, अभूः=भूतवान् असि, यत्, तत्, न घटते=न प्रवर्तते, हि=निश्चयेन । लोकपालाऽनुग्रहाऽभावे कुतो ममेदं श्रेय इति भावः ॥ ८९ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) वे राजा (नल) आठ लोकपालस्वरूप हैं । नलमें मेरी एकाग्रबुद्धि रहनेसे लोकपाल प्रसन्न हुए हैं । नहीं तो स्वयं आकर मेरे नलकी प्राप्तिके लिए जो तुम जामिन हो गये हो वह नहीं होता था ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—भूभृत्=भुवं बिभर्तीति, भू+भृ+क्विप् (उप०) । लोकपालाः=लोकं पालयन्तीति लोक+पाल+अच् (उपपद०) । "अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः ।" (मनु० ७-५) इस उक्तिके अनुसार इन्द्र आदि लोकपालोंके आठ अंशोंसे राजा होते हैं, इस कारण नल आठ लोकपालस्वरूप हैं, यह अभिप्राय है । तदेकाग्रधियः=एकाऽग्रा धीर्यस्याः सा (बहु०), तस्मिन् एकाऽग्रधीः, तस्याः (स० त०) । प्रसेदे=प्र+सद्+लिट्+त (भाववाच्य प्रयोग) । तदाप्तिप्रतिभूः=प्रतिभवतीति प्रतिभूः, प्रति-उपसर्गपूर्वक भू धातुसे "भुवः संज्ञाऽन्तरयोः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय । "स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः" इत्यमरः । तस्य आप्तिः (ष० त०) । तदाप्तौ प्रतिभूः (स० त०) । अभूः=भू+लुङ्+सिप् । घटते="घट चेष्टायाम्" इस धातुसे लट्+त । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवार्ऽजितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ? ॥९०॥

अन्वयः—(हे हंस !) विः भवान् अकाण्डम् एव आत्मभुवा मयि अर्जि-

तस्य रणस्य मूलं भूत्वा अपि अकाण्डम् आत्मभुवा अर्जितस्य वीरणस्य मूलं भूत्वा नलदत्वम् एत्य हृदः चन्दनलेपकृत्यं न कर्ता ? ॥ ९० ॥

व्याख्या—(हे हंस !) विः=पक्षी, भवान्=त्वम्, अकाण्डम् एव= अनवसर एव, आत्मभुवा=कामेन, मयि=मद्विषये, अर्जितस्य=कृतस्य, रणस्य=गाढप्रहारलक्षणस्य युद्धस्य, अथवा रणस्य=शब्दस्य, रहस्यकथनरूपस्येति भावः। मूलं=कारणं, हंसस्योद्दीपनत्वेनेति शेषः। भूत्वा अपि, अकाण्डं= दण्डरहितं यथा तथा, आत्मभुवा=ब्रह्मणा, अर्जितस्य=सृष्टस्य, वीरणस्य= वीरतृणस्य, मूलं=मूलाऽवयवः भूत्वा, अत एव नलदत्वं=नैषधदातृत्वं, पक्षान्तरे=उशीरत्वम्, एत्य=प्राप्य, हृदः=हृदयस्य, सन्तप्तस्येति शेषः। चन्दनलेपकृत्यं=श्रीखण्डलेपनकार्यं शैत्योत्पादनमिति भावः। न कर्ता=न करिष्यति ? कर्ता एवेति भावः ॥ ९० ॥

अनुवाद—(हे हंस !) जैसे ब्रह्माजीने दण्डके बिना निर्मित वीरतृणका मूल उशीर होकर हृदयको चन्दनके सदृश होकर ठण्डा करता है, वैसे ही पक्षी तुम (हंस) अनवसरमें ही कामदेवसे मुझमें किये गये गाढ प्रहाररूप युद्धके कारण होकर भी नलको देनेके भावको प्राप्त कर कामसन्तप्त हृदयको चन्दनके लेपके समान होकर ठण्डा नहीं करोगे ? ॥ ९० ॥

टिप्पणी—विः="नगौकोवाजिविकिरविविष्करपतत्त्रयः" इत्यमरः। अकाण्डं=काण्डस्य अभावः (अव्ययी०) तद्यथा तथा। "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। दूसरे पक्षमें अविद्यमानः काण्डो यस्य तत् (नञ् बहु०) "मूलम्" इसका विशेषण। "काण्डोऽस्त्री दण्डबाणाऽर्ववर्गाऽवसरवारिषु" इत्यमरः। आत्मभुवा=आत्मना भवतीति आत्मभूः, तेन, आत्मन्-उपपदपूर्वक भू धातुसे "भुवः संज्ञाऽन्तरयोः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय (उपपद०) "आत्मभूर्ना विधौ कामे" इति मेदिनी। वीरणस्य="स्याद्वीरणं वीरतृणं मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम्" इत्यमरः। वीरणस्य=विर्+रणस्य, "रो रि" इससे रेफका लोप और "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इससे दीर्घ होकर वीरणस्य। नलदत्वं=नलं ददातीति नलदः, नल—उपपदपूर्वक 'दा' धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इससे क प्रत्यय (उपपद०)। नलस्य भावो नलदत्वं, तत्, नलद+त्व। एत्य=आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्) चन्दनलेपकृत्यं=चन्दनस्य लेपः (ष० त०), तस्य कृत्यम् (ष० त०)। कर्ता=कृ+लुट्+तिप्। इस पद्यमें "वीरणस्य" यहाँपर शब्दश्लेष है, अन्यत्र अर्थश्लेष। "नलदत्वम् एत्य"

यहाँपर प्रकृत और अप्रकृतके अभेदाऽध्यवसायसे हंसमें आरोप्यमाण उशीरका प्रकृतिके साथ तादात्म्यसे चन्दनकृत्यस्वरूप प्रकृत कार्यमें उपयोग होनेसे परिणाम अलङ्कार है, इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९० ॥

अलं विलम्ब्य, त्वरितुं हि वेला, कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) विलम्ब्य अलं, हि त्वरितुं वेला। स्थैर्यसहे कार्ये विचारः किल। हि तीक्ष्णा प्रतिभा गुरूपदेशम् इव अर्तिः जातु कालं न प्रतीक्षते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) विलम्ब्य=विलम्बं कृत्वा, अलं=पर्याप्तं, न विलम्बः कर्तव्य इति भावः। हि=यस्मात्कारणात्, त्वरितुं=त्वरां कर्तुं, वेला=कालः, अयं त्वरायाः काल इति भावः। स्थैर्यसहे=विलम्बसहे, कार्ये=कर्मणि, विचारः=विमर्शः, किल=निश्चयेन। अर्थान्तरन्यासेनोक्तमर्थं द्रढयति—गुरूपदेशमिति। हि=यस्मात्कारणात्, तीक्ष्णा=तीव्रा, शीघ्रग्राहिणीति भावः। प्रतिभा=प्रज्ञा, गुरूपदेशम् इव=आचार्योपदेशम् इव, अर्तिः=पीडा, जातु=कदाऽपि, कालं=समयं, न प्रतीक्षते=न प्रतीक्षां करोति, पीडा कालक्षेपं न सहत इति भावः ॥ ९१ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) विलम्ब नहीं करना चाहिए, शीघ्रता करनेका यह समय है। विलम्ब सहनेवाले कर्ममें विचार किया जाता है, क्योंकि तीक्ष्ण बुद्धि जैसे गुरुके उपदेशकी प्रतीक्षा नहीं करती हैं, वैसे ही पीडा कालकी प्रतीक्षा नहीं करती है ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—विलम्ब्य=वि+लबि+क्त्वा (ल्यप्), यहाँपर "अलम्" इस पदके योगमें "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय होकर ल्यप् आदेश हुआ है। त्वरितुं—त्वरा+तुमुन्, यहाँपर "वेला" पदके योगमें "कालसमयवेलासु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय हुआ। स्थैर्यसहे=स्थैर्यं सहत इति स्थैर्यसहं, तस्मिन्, स्थैर्य+सह+अच् (उपपद०)। गुरूपदेशं=गुरोरुपदेशः, तम् (ष० त०)। अर्तिः="अर्तिः पीडाधनुष्कोट्योः" इत्यमरः। प्रतीक्षते=प्रति+ईक्ष+लट्+तिप्। इस पद्यमें उपमा और अर्थान्तरन्यासकी संसृष्टि है ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयः स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्।
प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) गतेन त्वया स राजा शुद्धान्तगतः (सन्) मदर्थं, न अभ्यर्थनीयः। हि तदा प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृतः अन्यवधूनिषेधः उदयेत् ॥९२॥

व्याख्या—अथाऽनन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति श्लोकपञ्चकेन—अभ्यर्थनीय इति। (हे हंस !) गतेन = यातेन, इत इति शेषः। त्वया = भवता, सः = पूर्वोक्तः, राजा = नृपः, नल इत्यर्थः शुद्धान्तगतः = अन्तःपुरस्थितः सन्, मदर्थं = मत्प्रयोजनं, न अभ्यर्थनीयः = न प्रार्थनीयः। हि = यस्मात्कारणात्। तदा = तस्मिन् समये, राज्ञोऽन्तःपुरस्थिताविति भावः। प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्य-बलात्कृतः = वल्लभामुखच्छन्दाऽनुवर्तिताप्रसभीकृतः, अन्यवधूनिषेधः = अपर-रमणीप्रतिषेधः, उदयेत = उत्पद्येत ॥ ९२ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) यहाँसे गये हुए तुम्हें अन्तःपुर (रनिवास) में रहे हुए राजा (नल) से मेरे लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उस समय प्यारी स्त्रियोंके सामने उनके मनके अनुसार चलनेके विचारसे जबर्दस्ती-से किया गया दूसरी स्त्रीका निषेध उत्पन्न होगा ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—शुद्धान्तगतः = शुद्धाऽन्तं गतः (द्वि० त०), "शुद्धान्तश्चावरो-धश्च" इत्यमरः। मदर्थं = मह्यम् इदं यथा तथा (च० त०)। अभ्यर्थनीयः = अभि + अर्थ + णिच् + अनीयर्। प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृतः = प्रियाणाम् आस्यानि (ष० त०), तेषां दाक्षिण्यं (ष० त०), तेन बलात्कृतः (तृ० त०)। अन्यवधूनिषेधः = अन्या चाऽसौ वधूः (क० धा०), तस्या निषेधः (ष० त०)। उदयेत् = उद् + इ + विधिलिङ् + ति ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥ ९३ ॥

अन्वयः—(हे हंस) शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यम्। अपां तृप्ताय स्वादुः सुगन्धिः तुषारा वारिधारा न स्वदते हि ॥९३॥

व्याख्या—(हे हंस) शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते = अन्तःपुरस्त्रीरमणाऽ-तिशयसन्तुष्टे, नैषधे = नले, इदम् = एतत्, कार्यं = कर्म, मत्प्रार्थनारूपमिति शेषः। न निगाद्यं = नो वक्तव्यम्। तथा हि—अपां तृप्ताय = जलेन सन्तुष्टाय जनाय, स्वादुः = मधुरा, सुगन्धिः = शोभनगन्धा, कर्पूरादिनेति शेषः। तुषारा = शीतला, वारिधारा = जलधारा, न स्वदते हि = नो रोचते हि ॥ ९३ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) अन्तःपुरकी स्त्रीके समागमसे अतिशय तृप्त नलको

यह कार्य (मेरे विषयमें प्रार्थनारूप) तुम्हें नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जलसे तृप्त पुरुषको मधुर, खुशबूदार तथा ठण्डी जलधारा भी पसन्द नहीं होती है।

टिप्पणी—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते = शुद्धान्तस्य सम्भोगः (ष० त०), यहाँ शुद्धान्तपदका शुद्धान्तकी स्त्रीमें लक्षणा करना चाहिए। नितान्तं यथा तथा तृप्ता (सुप्सुपा०), शुद्धान्तसम्भोगेन नितान्ततृप्तः, तस्मिन् (तृ० त०)। निगाद्यम् = निगदितुं योग्यम्, नि + गद + ण्यत्। अपां "पूरणगुणसुहितार्थ-सदव्ययतव्यसमानाधिकरणे" इस सूत्रमें सुहितार्थक (तृप्त्यर्थक) शब्दसे षष्ठी-समासका निषेधरूप ज्ञापकसे षष्ठी हुई है। तृप्ताय = 'स्वद' धातु रुच्यर्थक होनेसे "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इस सूत्रसे सम्प्रदान संज्ञा होनेसे चतुर्थी। सुगन्धिः = शोभनो गन्धो यस्यां सा (बहु०), यहाँपर एकान्त नियमका कविने निरादर कर "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इस सूत्रसे समासान्त इ प्रत्यय किया है। स्वदते = स्वद + लट् + त। इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है॥ ९३॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलाऽवतंस !॥ ९४॥

अन्वयः—हे हंसकुलाऽवतंस ! नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे (सति) मदर्था गिरो न विज्ञापनीयाः। पित्तेन दूने रसने सिता अपि तिक्तायते॥ ९४॥

व्याख्या—हे हंसकुलाऽवतंस ! = हे मरालवंशभूषण ! नैषधस्य = नलस्य, हृदि = हृदये, क्रुधा = कोपेन, कदुष्णे = ईषत्तप्ते सति, मदर्थाः = मत्प्रयोजनाः, गिरः = वाचः, न विज्ञापनीयाः = नो वेदनीयाः। तथाहि पित्तेन = मायुना, पित्तदोषेणेत्यर्थः। रसने = रसनेन्द्रिये, दूने = उपतप्ते, दूषिते सतीति भावः। सिता अपि = शर्करा अपि, तिक्तायते = तिक्ता भवति॥ ९४॥

अनुवाद—हे हंसवंशके भूषणस्वरूप ! नलका हृदय क्रोधसे कुछ तप्त होनेपर मेरे लिए प्रार्थना-वचनका निवेदन मत करो, क्योंकि पित्तके दोषसे रसना इन्द्रियके दूषित होनेपर चीनी भी कड़ुवी हो जाती है॥ ९४॥

टिप्पणी—हंसकुलाऽवतंस = हंसानां कुलं (ष० त०), तस्य अवतंसः, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। कदुष्णे = ईषत् उष्णं, तस्मिन्, (गति०), "कवं चोष्णे" इस सूत्रमें चकारके पाठसे 'कु' के स्थानमें "कत्" आदेश हुआ है। मदर्थाः = मह्यम् इमाः (च० त०)। विज्ञापनीयाः = वि + ज्ञा + णिच् + अनीयर् + टाप् + जस्। दूने = दु + क्त + ङि। तिक्तायते = तिक्ता भवति, तिक्ता शब्दसे "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" इससे क्यष् प्रत्यय और "वा

क्यष:'' इस सूत्रसे क्यषन्तसे आत्मनेपद, लट्+त। इस पद्यमें भी दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्याऽन्तरचुम्बिचित्ते।
तदाऽर्थितस्याऽनवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाऽऽचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

अन्वय:—(हे हंस !) धरातुरासाहि कार्याऽन्तरचुम्बिचित्ते सति मदर्थयाच्ञा न कार्या। (तथा हि) तदा अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाऽऽचरणस्य मुद्रां बिभर्ति ॥ ९५ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) धरातुरासाहि=महीन्द्रे, नले, कार्यान्तरचुम्बिचित्ते=कर्मान्तरव्यासक्तमानसे सति, मदर्थयाच्ञा=मत्प्रयोजनप्रार्थना, न कार्या=नो विधेया, (तथा हि) तदा=तस्मिन् समये, कार्यान्तरव्यासङ्गकाल इति भाव:। अर्थितस्य=प्रार्थितस्य जनस्य, अनवबोधनिद्रा=अज्ञानरूपस्वाप:, प्रार्थिताऽर्थज्ञानाऽभाव: इति भाव:। अवज्ञाऽऽचरणस्य=अनादरकरणस्य, मुद्रां=चिह्नं, बिभर्ति=धारयति, अनादरप्रतीतिं करोतीति भाव: ॥ ९५ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) पृथ्वीके इन्द्र-(नल) के दूसरे कार्यमें आसक्त होनेके अवसरमें मेरे लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उस समय प्रार्थना किये गये पुरुषका प्रार्थित विषयका अज्ञान, अनादर करनेके चिह्नको धारण करता है ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—धरातुरासाहि=तुनोर्तीति तुर:, ''तुर त्वरणे'' धातुसे क प्रत्यय। तुरं (वेगवन्तम्) साहयति (अभिभवति) इति तुराषाट्, तुर-उपपदपूर्वक णिजन्त सह धातुसे क्विप्, ''नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ'' इससे पूर्वपदका दीर्घ, ''सहे: साड: स:'' इससे मूर्धन्य षकार। ''तुराषाण्मेघवाहन:'' इत्यमर:। धराया: तुराषाट्, तस्मिन् (ष० त०)। ङि विभक्तिमें साड् रूपके न रहनेसे षका अभाव। कार्यान्तरचुम्बिचित्ते=अन्यत् कार्यं कार्यान्तरम् (रूपक०), तत् चुम्बतीति कार्यान्तरचुम्बि, कार्यान्तर+चुबि+णिनि: (उपपद)। तत् चित्तं यस्य स: कार्यान्तरचुम्बिचित्त:, तस्मिन् (बहु०)। मदर्थयाच्ञा=मह्यम् इयं मदर्था (च० त०)। सा चाऽसौ याच्ञा (क० धा०)। कार्या=कृ+ण्यत्=टाप्। अर्थितस्य=अर्थ+णिच्+क्त+ङस्। अनवबोधनिद्रा=न अवबोध (नञ्०), स एव निद्रा (रूपक०)। अवज्ञाऽऽचरणस्य=अवज्ञाया आचरणं, तस्य (ष० त०)। बिभर्ति=भृ+लट्+तिप् ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन्समयं समीक्ष्य।
आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्ध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ?॥९६॥

अन्वयः—(हे हंस !) तस्मात् विज्ञेन त्वया समयं समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरेन्द्रे विज्ञाप्यम्। कार्यस्य आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्ध्योः आर्यस्य का शुभा विभाति ? ॥ ९६ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) तस्मात्=कारणात्, विज्ञेन=विशेषाऽभिज्ञेन, विवेकिना इति भावः। त्वया=भवता, समयम्=अवसरं, समीक्ष्य=दृष्ट्वा, इदम्=एतत्कार्यं, मत्प्रार्थनारूपम् इति भावः। अस्मिन्=एतस्मिन्, नरेन्द्रे=राजनि नले, विज्ञाप्यं=विज्ञापनीयम्। समयप्रतीक्षायां विलम्बमाशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। कार्यस्य=कर्मणः, आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्ध्योः=सर्वथाऽसिद्धिदूरसिद्ध्योर्मध्ये, आर्यस्य=सभ्यस्य, विदुष इति भावः। का=कतरा, विभाति=प्रतिभाति, अप्रसङ्गविज्ञापने कार्यस्य असाफल्याद्वरं विलम्बेनाऽपि कार्यसाफल्यमिति भावः ॥ ९६ ॥

अनुवाद—(हे हंस) ! इस कारणसे विवेकी तुम्हें अवसर देखकर इस कार्यको राजासे निवेदन करना चाहिए। कार्यकी ऐकान्तिक असफलता और विलम्बसे सफलता इनमेंसे विद्वान् तुम्हें कौन-सी उत्तम प्रतीत होती है ॥९६॥

टिप्पणी—विज्ञेन=वि+ज्ञा+क+टा। समीक्ष्य=सम्+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। नरेन्द्रे=नराणाम् इन्द्रः, तस्मिन् (ष० त०), विज्ञाप्यं=वि+ज्ञा+णिच्+क्त्वा (यत्)। आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योः=न सिद्धिः असिद्धिः (नञ्०)। आत्यन्तिकी चाऽसौ असिद्धिः (क० धा०), "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इस सूत्रसे पूर्वपदका पुंवद्भाव। विलम्बेन सिद्धिः (तृ० त०)। आत्यन्तिकाऽसिद्धिश्च विलम्बसिद्धिश्च आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्धी, तयोः (द्वन्द्व०)। आर्यस्य=ऋ+ण्यत्+ङस्। विभाति=वि+भा+लट्+तिप् ॥ ९६ ॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा, साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—इति उक्तवत्या (तया) यत् लज्जा अलोपि, सा अनौचिती नः चेतसि चकास्तु, तु तददोषतायां स्मरः साक्षी। यः ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत् ॥ ९७ ॥

व्याख्या—इति=इत्थम्, उक्तवत्या=कथितवत्या, भैम्येति शेषः, यत्

लज्जा = व्रीडा, अलोपि = त्यक्ता, सा = तादृशी, अनौचिती = अनौचित्यं, नः = अस्माकं, शृण्वतामिति शेषः। चेतसि = चित्ते, चकास्तु = प्रकाशताम्। तु = किन्तु, तददोषतायां = भैमीनिर्दोषितायां, लज्जात्यागस्येति शेषः। स्मरः = कामः, साक्षी = साक्षाद्द्रष्टा, प्रमाणमिति भावः। यः = स्मरः, तां = दमयन्तीम्, उन्माद्य = उन्मत्तां कृत्वा, तत् तत् = अनुचितं वचनम्, अवीवदत् = वादितवान्। लज्जात्यागः प्रकृतिस्थाया एव कुमार्या दोषो न तु कामोपहतचित्ताया इति भावः॥ ९७॥

अनुवाद—ऐसा कहनेवाली दमयन्तीने जो लज्जाका त्याग किया, वह भले ही हमारे चित्तमें अनौचित्य प्रकाशित हो, परन्तु दमयन्तीकी निर्दोषितामें कामदेव साक्षी है, जिसने उनको उन्मत्त बनाकर ऐसा भाषण कराया॥९७॥

टिप्पणी—उक्तवत्या = ब्रू (वच्) क्तवतु + ङीप् + टा। अलोपि = लुप् + लुङ् + त (कर्ममें)। अनौचिती = उचितस्य भाव औचिती, उचित + ष्यञ्, "हलस्तद्धितस्य" इससे यकारका लोप और "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीप्। एक पक्षमें 'औचित्यम्' ऐसा रूप भी होता है। न औचिती (नञ्०)। चकास्तु = चकासृ + लोट् + तिप्। तददोषतायाम् = अविद्यमाना दोषो यस्य सः अदोषः (नञ् बहु०), अदोषस्य भावः अदोषता, अदोष + तल् + टाप्। तस्य (लज्जात्यागस्य) अदोषता, तस्याम् (ष० त०)। ताम् = वद् धातुके पूर्व कर्तृपदका णिच् होनेपर कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया। उन्माद्य = उद् + मद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। अवीवदत् = वद् + णिच् + चङ् + लुङ् + तिप्॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते।
पूर्वः स्मरस्पर्द्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाऽऽधिदूनम्॥ ९८॥

अन्वयः—पूर्वः हरः स्मरस्पर्द्धितया उन्मत्तं प्रसूनं, द्वितीयः स्मरश्च विरहाऽऽधिदूनम् उन्मत्तम् आसाद्य (इत्थम्) द्वौ अपि असीमां मुदम् उद्वहेते॥ ९८॥

व्याख्या—स्मरेण सा किमर्थमुन्मादितेति प्रश्नस्य सदृष्टान्तमुत्तरमाह—उन्मत्तमिति। पूर्वः = प्रथमः, अभ्यर्हित इति भावः। हरः = महेश्वरः, स्मरस्पर्द्धितया = कामसङ्घर्षित्वेन, उन्मत्तम् = उन्मत्तनामकं, प्रसूनं = पुष्पं, धत्तूरमिति भावः, द्वितीयः = अपरः, स्मरश्च = कामश्च, विरहाऽऽधिदूनं = वियोगमनोव्यथोपतप्तम्, उन्मत्तम् = उन्मादयुक्तं जनम्, आसाद्य = प्राप्य, इत्थं च द्वौ अपि = उभौ अपि, हरस्मरावपीति भावः। असीमां = सीमारहिताम्, अपरिमितामिति भावः, मुदं = हर्षम्, उद्वहेते = धारयतः॥ ९८॥

अनुवाद—प्रथम महेश्वर, कामदेवसे स्पर्धा करनेसे उन्मत्त नामक फूल-(धतूर) को और दूसरा कामदेव भी विरहकी मनोव्यथासे सन्तप्त उन्मत्त (उन्मादयुक्त, पागल) को पाकर, इस तरह दोनों ही असीम हर्षको धारण करते हैं ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—हरः = हृ + अच् । स्मरस्पर्धितया = स्मरं स्पर्धते तच्छीलः स्मरस्पर्धी, स्मर + स्पर्ध + णिनिः (उपपद०) । स्मरस्पर्धिनो भावः स्मर-स्पर्धिता, तया, स्मरस्पर्धि + तल् + टाप् + टा । उन्मत्तम् = उद् + मद् + क्त + अम् । "उन्मत्त उन्मादवति धुस्तूरमुचुकुन्दयोः" इति विश्वः । द्वितीयः = द्वि + तीय + सु । विरहाऽऽधिदूनं = विरहेण आधिः (तृ० त०), तेन दूनः, तम् (तृ० त०) । आसाद्य = आङ् + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । असीमाम् = अविद्यमाना सीमा यस्याः सा असीमा, ताम् (नञ्-बहु०) । उद्वहेते = उद् + वह + लट् + आताम् । स्वरितकी इत्संज्ञा होनेसे वह धातु आत्मनेपदी भी है । इस पद्यमें शब्दश्लेष और अर्थश्लेष भी है और उनसे उपमा व्यङ्ग्य होती है ॥ ९८ ॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—अथ तथा अभिधात्रीं तां राजपुत्रीं नैषधबद्धरागां निर्णीय तेन विहायसा विहस्य भूयः चञ्चूपुटमौनमुद्रा अमोचि ॥ ९९ ॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, तथा = तेन प्रकारेण, अभिधात्रीं = भाषमाणां, "श्रुतः स दृष्टश्च ३-८३" इत्यादिरूपेणेति भावः । तां = पूर्वोक्तां, राजपुत्रीं = नृपकुमारीं दमयन्तीम् । नैषधबद्धरागां = नले कृतप्रणयां, निर्णीय = निश्चित्य, तेन = पूर्वोक्तेन, विहायसा = पक्षिणा, हंसेन । विहस्य = हास्यं विधाय, भूयः = पुनरपि, चञ्चूपुटमौनमुद्रा = त्रोटिपुटतूष्णीकत्वचिह्नं, वचनाऽभाव इति भावः । अमोचि = मुक्ता, पुनरपि हंसोऽवादीदिति भावः ॥ ९९ ॥

अनुवाद—तब वैसा करनेवाली उन राजपुत्री-(दमयन्ती) को नलमें प्रेम करनेवाली निश्चय करके उस पक्षी-(हंस) ने हँसकर फिर मौनको भङ्ग किया (बोलने लगा) ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—अभिधात्रीम् = अभिदधातीति अभिधात्री, ताम्, अभि + धा + तृच् + ङीप् + अम् । राजपुत्रीं = राज्ञः पुत्री, ताम् (ष० त०), नैषधबद्धरागां = बद्धो रागो यया सा बद्धरागा (बहु०) । नैषधे बद्धरागा, ताम् (स० त०) ।

निर्णीय = निर् + णीञ् + क्त्वा (ल्यप्) । विहायसा = "विहायाः शकुने पुंसि गगने पुंनपुंसकम्" इति कोशः । विहस्य = वि + हस् + क्त्वा (ल्यप्)। चञ्चूपुटमौनमुद्रा = चञ्च्वोः पुटम् (ष० त०), मौनस्य मुद्रा (ष० त०)। चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा (ष० त०) । अमोचि = मुच् + लुङ् + त (कर्ममें)। इस पद्यमें "उक्तम्" इस पदार्थके लिए "अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा" ऐसे वाक्यार्थकी रचना होनेसे 'ओज' नामका गुण और छेक अनुप्रास है ॥ ९९ ॥

इत्थं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृपं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इदं तत्त्वं यदि, तत् अस्मिन् स्वविधेयं न पश्यामि । त्वां नृपं च उच्चकैः तापयता पञ्चेषुणा एव इयं योजना अजनि ॥ १०० ॥

व्याख्या—हे क्ष्मापतिपुत्रि ! = हे राजकुमारि ! इदं=त्वदुक्तं वचनं, तत्त्वं यदि = सत्यं चेत्, तत् = तर्हि, अस्मिन् = इह विषये । स्वविधेयं = आत्मकृत्यं, न पश्यामि = नो विलोकयामि । तर्हि कार्यं कथं भविष्यतीत्यत्राह–त्वामिति । त्वां = भवतीं, नृपं च = नैषधं च, उच्चकैः = अत्यन्तं, तापयता = सन्तापं जनयता, पञ्चेषुणा एव = मन्मथेन एव, इयम् = एषा, योजना = घटना, अजनि = उत्पादिता, अत एव, मद्व्यापारोऽत्र नाऽवशिष्यत इति भावः ॥ १०० ॥

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आपका वचन सत्य हो तो इस विषयमें मैं अपना कार्य नहीं देख रहा हूँ, क्योंकि आपको और नलको अत्यन्त सन्तप्त करनेवाले कामदेवने ही इस योजनाको उत्पन्न किया है ॥ १०० ॥

टिप्पणी—हे क्ष्मापतिपुत्रि = क्ष्मायाः पतिः (ष० त०), तस्य पुत्री, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०) । स्वविधेयं=स्वस्य विधेयं, तत् (ष० त०) । उच्चकैः = उच्चैरेव, उच्चैस् + अकच् । तापयता = तप् + णिच् + लट् (शतृ) + टा । पञ्चेषुणा = पञ्च इषवो यस्य स पञ्चेषुः, तेन (बहु०) । अजनि = जन् + लुङ् + च्लि (चिण्) + त (कर्ममें) ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) त्वद्बद्धबुद्धेः तस्य उपवासव्रतिनां तपोभिः अद्य त्वां लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं देवभूयं चरितार्थम् अस्तु ॥ १०१ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) त्वद्बद्धबुद्धेः=भवन्निबद्धमतेः, त्वामेव ध्यायत इति भावः । तस्य=नलस्य, उपावासव्रतिनाम्=अनुपभोगव्रतयुक्तानां, विषयान्तरव्यावृत्तानामिति भावः । तपोभिः=उक्तोपवासव्रतरूपैः पुण्यैः, अद्य= अस्मिन्दिने, त्वां=भवतीं, लब्ध्वा=प्राप्य, अमृततृप्तिभाजां=पीयूषसौहित्ययुक्तानां, बहिरिन्द्रियाणां=चक्षुरादीनां, स्वं=स्वीयं, देवभूयं=देवत्वम्, इन्द्रियत्वं सुरत्वं च, चरितार्थं=कृतकार्यं, सफलमिति भावः । अस्तु=भवतु, अमृतपानैकफलत्वाद् देवभावो भवेदिति भावः ।। १०१ ।।

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आपका भी ध्यान करनेवाले नलके उपवास व्रत करनेवाले तथा तपस्याओंसे आज आपको प्राप्त करके अमृतपानसे मिलनेवाली तृप्तिको प्राप्त करनेवाले नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंका अपना देवत्व सफल हो ।। १०१ ।।

टिप्पणी—त्वद्बद्धबुद्धेः=बद्धा बुद्धिर्येन स बद्धबुद्धिः (बहु०), त्वयि बद्धबुद्धिः, तस्य (स० त०) । उपवासव्रतिनाम्=उपवासेन व्रतिनः, तेषाम् (तृ० त०) । लब्ध्वा=लभ्+क्त्वा । अमृततृप्तिभाजाम्=अमृतेन तृप्तिः (तृ० त०), तां भजन्तीति अमृततृप्तिभाञ्जि, तेषाम्, अमृततृप्ति+भज्+ण्वि+आम् (उपपद०) । बहिरिन्द्रियाणां=बहिः स्थितानि इन्द्रियाणि, तेषाम् (मध्यमपद०) । देवभूयं=देवस्य भावः, "भुवो भावे" इस सूत्रसे क्यप्, देव+भू+क्यप् । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐत० २।४) इस श्रुतिवाक्यसे अर्थात् सूर्यने चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया । इसके अनुसार यह उक्ति है । चरितार्थम्=चरितः अर्थः यस्य तत् (बहु०) । अस्तु=अस्+लोट्+तिप् ।। १०१ ।।

तुल्याऽऽवयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ।। १०२ ।।

अन्वयः—आवयोः मूर्तिः तुल्या अभूत्, परं मदीया दग्धाः, अस्य सा न ताप्यतेऽपि, इति असूयन् इव अतनुः त्वद्विरहात् तस्य देहतापं विधत्ते ।। १०२ ।।

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) आवयोः=नलस्य मम च, मूर्तिः=तनुः, तुल्या=सदृशी, समानरूपा इति भावः । अभूत्=जाता, परं=किन्तु, मदीया= मामकीना मूर्तिः, दग्धा =भस्मीकृता, हरतृतीयनयनेनेति शेषः । अस्य=नलस्य, सा=मूर्तिः, न ताप्यतेऽपि=तापम् अपि न प्राप्यते, दाहस्य का कथेति शेषः । इति=अस्मात् कारणात्, असूयन् इव=ईर्ष्यन् इव, अतनुः=अनङ्गः कामः ।

त्वद्विरहात् = भवत्या वियोगात्, तस्य=नलस्य, देहतापं = शरीरसन्तापं, विधत्ते = करोति ॥ १०२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) हम दोनोंके (नलके और मेरे) शरीर समान थे, परन्तु मेरा शरीर जलाया गया, नलका शरीर तापको भी प्राप्त नहीं कर रहा है, इस कारणसे मानो ईर्ष्या करता हुआ अनङ्ग (कामदेव) आपके वियोगसे नलके शरीरमें ताप कर रहा है ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—अवायोः = अहं च नलश्च आवां, तयोः "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इस सूत्रसे एकशेष । मूर्तिः = "मूर्तिः काठिन्यकाययोः" इत्यमरः । तुल्या=तुलया सम्मिता, "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत्, तुला + यत् + टाप् । मदीया= मम इयम्, अस्मद् (मत्) + छ (ईय) + टाप् । दग्धा = दह् + क्त + टाप् । ताप्यते = तप + णिच् + लट् (कर्ममें) + यक् + त । अभ्यसूयन् = अभ्यसूयतीति, अभिपूर्वक "असूञ् उपतापे" इस कण्ड्वादि धातुसे "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इस सूत्रसे यक्, अभि + असूञ् + यक् + लट् (शतृ) + सु । अतनुः = अविद्यमाना तनुः यस्य सः (नञ् बहु०) । त्वद्विरहात् = तव विरहः, तस्मात् (ष० त०) । देहतापं = देहस्य तापः, तम् (ष० त०) । विधत्ते = वि + धा + लट् + त । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्जलैरार्जितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु ? ॥१०३॥

अन्वयः—(हे भैमि !) स नृपः भित्तिविभूषणं लिपिं त्वां दृशा आदरनिर्निमेषं पिबन् चक्षुर्जलैः आर्जितं त्वया नु रचितम् आत्मचक्षूरागं धत्ते ॥१०३॥

व्याख्या—अथ कामस्य दशाऽवस्था वर्णयन् पद्यद्वयेन नयनप्रीतिं वर्णयति— (हे भैमि !) सः पूर्वोक्तः, नृपः = राजा नलः, भित्तिविभूषणं = कुड्याऽलङ्कारभूतां, लिपिं = चित्रमयीं, त्वां = भवतीं, दृशा=नेत्रेण, आदरनिर्निमेषम्= आस्थया निमेषव्यापाररहितं यथा तथा, पिबन् = पानं कुर्वन्, प्रणयाऽतिशयेन पश्यन्निति भावः । चक्षुर्जलैः = नयनसलिलैः, अश्रुभिरिति भावः । आर्जितम् = उपार्जितं, त्वया नु = भवत्या वा, रचितं = निर्मितम्, आत्मचक्षूरागं=स्वनयनलौहित्यं निजनेत्रप्रणयं च, धत्ते = धारयति ॥ १०३ ॥

अनुवाद—(हे भैमि !) वे राजा (नल) दीवालकी अलङ्कारस्वरूप चित्रमयी आपको नेत्रोंसे आदरपूर्वक पलक भी न झुकाकर देखते हुए आँसूसे

उपार्जित वा आपसे रचित अपने नेत्रोंकी अरुणता (लाली) और प्रेमको धारण करते हैं ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—अब हंस नलकी कामसे उत्पन्न दश अवस्थाओंका वर्णन करता है। दश अवस्थाएँ ये हैं—

> "नयनप्रीतिः प्रथमं, चित्ताऽऽसङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः।
> निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः॥
> उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः।"

अर्थात् नेत्रप्रीति, चित्तकी आसक्ति, संकल्प, निद्राका नाश, कृशता, विषयोंकी निवृत्ति, लज्जाका नाश, उन्माद (पागलपन), मूर्च्छा और मरण—ये दश कामकृत अवस्थाएँ हैं। पहले दो श्लोकोंसे नेत्रप्रीतिका वर्णन करता है। भित्तिविभूषणं=भित्तेः विभूषणं, तत् (ष० त०)। आदरनिर्निमेषं=निर्गता निमेषाः (निमेषव्यापाराः) यत्र, (बहु०)। आदरेण निर्निमेषम् (तृ० त०, क्रि० वि०)। पिबन्=पा+लट् (शतृ)+सु। चक्षुर्जलैः=चक्षुषोर्जलानि, तैः (ष० त०)। आत्मचक्षूरागम्=आत्मनः चक्षुः (ष० त०), तस्य रागः, तम् (ष० त०)। "राग" पदके यहाँपर दो अर्थ हैं—एक अरुणता (लाली), दूसरा अनुराग (प्रेम)। धत्ते=धा+लट्+त। इस पद्यमें राजाके नेत्रका राग निर्निमेष दृष्टिसे देखनेसे हुआ है अथवा आपसे रचित है, ऐसा सन्देह होनेसे "सन्देह" अलङ्कार है॥ १०३॥

> **पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति।**
> **ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः॥१०४॥**

अन्वयः—(हे राजकुमारि !) अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयीं त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेः निमेषच्छिदया अश्रुणि विवादः अस्ति।

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) अस्तनिमीलया=निमेषरहितया, दृशा=नेत्रेण, आलेख्यमयीं=चित्रस्थितां, त्वां=भवतीम्, आदरात्=प्रणयात्, पातुः=पानकर्तुः, द्रष्टुरिति भावः। तादृशस्य नृपस्य=राज्ञः नलस्य, नेत्रवृत्तेः=नयनवर्तिन्याः, प्रीतेः=प्रणयस्य, नेत्रप्रणयस्य, निमेषच्छिदया=निमेषच्छेदेन सह, अश्रुणि=नेत्रजले विषये, विवादः=कलहः, अस्ति=वर्तते॥ १०४॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) पलक न मारनेवाले नेत्रसे चित्रमें स्थित आपको आदरसे देखनेवाले राजाके नेत्रोंमें रहनेवाली प्रीतिका नेत्रोंमें रहनेवाले निमेषविच्छेदके साथ आँसूके विषयमें कलह होता है॥ १०४॥

टिप्पणी—पूर्व पद्यमें वर्णित विषयको दूसरे रूपसे कहते हैं। अस्तनिमीलया=अस्तो निमीलो यस्याः सा अस्तनिमीला, तया (बहु०)। आलेख्यमयीम्=आलेख्य+मयट् (स्वरूप अर्थमें)+ङीप्+अम्। पातुः=पिबतीति पाता, तस्य, पा+तृच्+ङस्। नेत्रवृत्तेः=नेत्रयोः वृत्तिः यस्याः सा नेत्रवृत्तिः, तस्याः (व्यधिकरण बहु०)। प्रीतेः=प्री+क्तिन्+ङस्। निमेषच्छिदया=छेदनं छिदा, "छिदिर् द्वैधीकरणे" धातुसे भिदादिगणमें पाठ होनेसे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय, टाप्। निमेषस्य छिदा, तया (ष० त०)। विवादः=विरुद्धो वादः (गति०)। इस पद्यका तात्पर्य यह है कि हे राजकुमारि ! निर्निमेष दृष्टिसे आपके चित्रको देखनेपर राजाको जो आँसू आ गया, उसके विषयमें नेत्रप्रीति और नेत्रविच्छेदका परस्पर मेरे कारण आँसू आया है, ऐसा कहकर विवाद होता है। यह नेत्रप्रीतिरूप कामदशाका वर्णन है ॥१०४॥

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयास्यगत्या।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥१०५॥

अन्वयः—हे भैमि ! त्वं बहिर्गता अपि हृद्गता। कया गत्या अस्य प्राणायिता न असि। (किन्तु) तत्र चित्रं चित्तं न आक्रामति। यत् एतन्मनो भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

व्याख्या—अथ मनःसङ्गमाह—हे भैमि !=हे दमयन्ति ! त्वं=भवती, बहिर्गता अपि=बाह्यदेशयाता अपि, हृद्गता=अन्तर्गता, कया गत्या=केन प्रकारेण, अस्य=नलस्य, प्राणायिता=प्राणसमा, न असि=न भवसि, भवस्येवेत्यर्थः। अतः प्राणोऽपि नासिकया=नासिकाद्वारेण, आस्यगत्या=मुखद्वारेण उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण बहिर्गतोऽपि अन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। (किन्तु) तत्र=तस्मिन्, प्राणायितत्वे इति भावः। चित्रम्=आश्चर्यरसः, चित्तं=मनः, न आक्रामति=न उत्क्रम्य गच्छति, अत्र न किञ्चिच्चित्रमिति भावः। कुतः ? यत्=यस्मात् कारणात्, एतन्मनः=नलचित्तं, भवदेकवृत्ति=त्वदेकाऽवस्थानम् ॥ १०५ ॥

अनुवाद—हे भैमि। आप बाहर रहनेपर भी नलके चित्तके भीतर गयी हुई हैं। कैसे आप नलके प्राणके समान नहीं हैं ? उनमें प्राणके समान होनेपर आश्चर्यरस चित्तको नहीं छोड़ता है। जिस कारणसे कि नलका मन आपमें ही अवस्थित है ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—हे भैमि=भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, तत्सम्बुद्धौ, भीम+

अण् + ङीप् । हृद्गता = हृत् गता (द्वि० त०), "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः । प्राणायिता=प्राणवदाचरिता, 'प्राण' शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ् होकर क्त + टा । आस्यगत्या = आस्यस्य गतिः, तया (ष० त०) । एतन्मनः=एतस्य मनः (ष० त०) । भवदेकवृत्ति = एका वृत्तिर्यस्मिस्तत् (बहु०) । भवत्याम् एकवृत्ति (स० त०) । 'भवती' शब्दका "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इससे पुंवद्भाव । इस पद्यमें विरोधाभास, शब्दश्लेष और उपमाका सङ्कर है ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानतर्ति तदीयाम् ।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥ १०६ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) दूरदीर्घां तदीयां सङ्कल्पसोपानततिम् (त्वम्) अजस्रं आरोहसि । यत् पुनः स नलः तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिकं श्वासान् वर्षति ॥ १०६ ॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—(हे भैमि !) दूरदीर्घाम् = अत्यन्तायतां, तदीयां = नलसम्बन्धिनीं, सङ्कल्पसोपानततिं = मनोरथारोहणपङ्क्तिं, त्वम्, अजस्रं = निरन्तरम्, आरोहसि = अधितिष्ठसि, "कथं भैमीं प्राप्नुयां प्राप्तायां तस्यामहमेवं करिष्यामीत्यादिकं नलो विचारयतीति" भावः । यत् पुनः = भूयः, सः = पूर्वोक्तः, नलः = नैषधः, तव = भवत्याः, ध्यानात् = चिन्तनात्, तदा = चिन्तनसमये, त्वन्मयतां = त्वदात्मकत्वम्, अवाप्य = प्राप्य, अधिकं = प्रचुरं, यथा तथा, श्वासान् = निःश्वासान्, वर्षति=मुञ्चति ॥ १०६ ॥

अनुवाद—(हे भैमि !) नलके अत्यन्त दीर्घ मनोरथोंकी सीढ़ियोंमें आप निरन्तर चढ़ती रहती हैं । फिर वे नल आपके चिन्तनसे उस समय आपके स्वरूपको प्राप्त कर लम्बे श्वासोंको छोड़ते हैं ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—दूरदीर्घां = दूरं दीर्घा, ताम् (सुप्सुपा०) । तदीयां = तस्येयं, ताम्. तद् + छ (ईय) + टाप् + अम् । सङ्कल्पसोपानततिं = सङ्कल्पा एव सोपानानि (रूपक०) । "सङ्कल्पः कर्म मानसम्" इति "आरोहणं स्यात्सोपानम्" इति चाऽमरः । सङ्कल्पसोपानानां ततिः, ताम् (ष० त०) । आरोहसि = आङ् + रुह + लट् + सिप् । त्वन्मयतां = त्वमेव स्वरूपं यस्य स त्वन्मयः, युष्मद् (त्वद्) + मयट् (स्वार्थमें) । त्वन्मयस्य भावस्त्वन्मयता, ताम्, त्वन्मय + तल् + टाप् + अम् । आप्य = आङ् + आप् + क्त्वा (ल्यप्) । वर्षति = वृष + लट् + तिप् । इस पद्यमें सङ्कल्पसोपानमें आरोहणरूप कारणता दमयन्तीमें है

और श्वासवर्षणरूप कार्यता नलमें है, अतः दोनों विषयोंमें भिन्न-भिन्न अधिकरण होनेसे असङ्गति अलङ्कार है और तादात्म्यमें उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका सङ्कर है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

अन्वयः—तस्य हृद् यां त्वां रहो मन्त्रयते, तां त्वां मुखं व्यक्तम् आमन्त्रयते । सा तन्मुखस्य तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती खलु ॥ १०७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) तस्य = नलस्य, हृत् = हृदयं, यां, त्वां = भवतीं, रहः = एकान्ते, मन्त्रयते = सम्भाषते । तां = तादृशीं, त्वां = भवतीं, मुखं = नलस्य आननं, व्यक्तं = प्रकाशम्, आमन्त्रयते = उच्चारयति, "हे प्रिये ! कुत्र गच्छसि, त्वां चिन्तयन्तं मां पश्ये"ति कथयतीति भावः । सा = तद्रहस्यप्रकाशनक्रिया, तन्मुखस्य = नलमुखस्य, तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती = नलशत्रुमदनसुहृदिन्दुमैत्र्यौचित्यम्, खलु = निश्चयेन ॥ १०७ ॥

अनुवाद—नलका हृदय जिन आपसे एकान्तमें मन्त्रणा करता है, उन आपसे नलका मुख स्पष्टरूप-(प्रकाशरूप) से भाषण करता है, वह रहस्यप्रकाशनकी क्रिया नलके शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रसे मित्रताके औचित्यके अनुसार है ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—रहः = "रहश्चोपांशु चाऽलिङ्गे" इत्यमरः । मन्त्रयते = "मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे" धातुसे णिच् होकर लट् + त । सा = विधेय "तद्वैरि···सख्यौचिती" की प्रधानतासे यह स्त्रीलिङ्गता है । तन्मुखस्य = तस्य मुखं, तस्य (ष० त०) । तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती = तस्य वैरी (ष० त०) । पुष्पाणि आयुधानि यस्य सः (बहु०) । तद्वैरी चाऽसौ पुष्पायुधः (क० धा०) । तस्य मित्रं (ष० त०), तेन सख्यम् (तृ० त०) । तस्य औचिती (ष० त०) । हृदयसे की गयी गुप्त मन्त्रणाको मुखके प्रकाश करनेका यह भाव है कि नलके वैरी कामदेवके मित्र चन्द्र हैं, उनके साथ नलके मुखकी मैत्री होनेसे (सादृश्यके कारण) मित्रके शत्रुका भेद-प्रकाश करना उचित ही है, यह भाव है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०७ ॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती ।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥१०८॥

अन्वयः—रात्री शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मनो मोहे निमज्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वत् ऋते अङ्गना वा अधुना न ॥

व्याख्या - अर्थैकेन पद्येन निद्राच्छेदं विषयनिवृत्तिं चाह—स्थितस्येति। रात्रौ=निशायां, शय्यां=पर्यङ्कम्, अधिशय्य=शयित्वा, स्थितस्य=विद्यमानस्य, तस्य=नलस्य, मनः=मानसं, मोहे=वैचित्त्ये, सुखपारवश्य इति भावः। निमज्जयन्ती=प्रापयन्ती सती, या, आलिङ्ग्य=आश्लिष्य, लोचने=नेत्रे, चुम्बति=तत्र सम्बन्धं करोति, सा=तादृशी, निद्रा=स्वापक्रिया, त्वत् =भवत्याः, ऋते=विना, अङ्गना वा=नायिका वा, अधुना=इदानीं, न=नास्ति, रात्रौ नलस्य निद्रा त्वां विना काऽपि नायिका च न वर्तत इति भावः। अत्र निद्रानिषेधाज्जागरः, अन्यस्या अङ्गनाया निषेधाद्विषयनिवृत्तिश्चोक्ता॥

अनुवाद – (हे राजकुमारी !) रातमें पलंगपर लेटनेवाले नलके मनको मोहमें डालती हुई जो आलिङ्गन कर नेत्रोंको चूमती है, वह निद्रा अथवा आपके सिवाय कोई स्त्री अभी नहीं है ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—शय्याम्="अधिशय्या" अधि-पूर्वक शीङ् धातुके योगमें "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। अधिशय्य=अधि+शीङ्+क्त्वा (ल्यप्)। निमज्जयन्ती=नि+मस्ज+णिच्+लट् (शतृ)+ ङीप्+सु। चुम्बति=चुबि+लट्+तिप्। त्वत्="ऋते" इस पदके योगमें "अन्यारादितरर्ते०" इस सूत्रसे पञ्चमी। इस पद्यमें प्रस्तुत निद्रा और अङ्गनाका चुम्बन आदि धर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है ॥ १०८ ॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) अयं स्मरेण बाणैः निस्तक्ष्य वृथा एव लावण्यशेषां कृशताम् अनायि। (अयम्) अनङ्गताम् आप्यमानोऽपि तेन सार्धं स्पर्धां न विजहाति ॥ १०९ ॥

व्याख्या—अत्र नलस्य तनुताम् (कार्श्याऽवस्थाम्) आह—स्मरेणेति। (हे भैमि !) अयं=नलः, स्मरेण=कामदेवेन, बाणैः=शरैः, निस्तक्ष्य=निशात्य, वृथा एव=व्यर्थम् एव, लावण्यशेषां=सौन्दर्याऽवशेषां, कृशतां=तनुताम्, अनायि=प्रापितः। वृथात्वं व्यनक्ति—अनङ्गतामिति। अनङ्गतां=

कृशाऽङ्गताम्, आप्यमानोऽपि=नीयमानोऽपि, तेन=स्मरेण, सार्धं=समं, स्पर्धां=सङ्घर्षं, शाम्यमिति भावः। न विजहाति=न परित्यजति। अङ्गस्य कार्श्येऽपि स्पर्धाबीजलावण्यस्य कार्श्याऽभावादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः॥ १०९॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी!) नलको कामदेवने बाणोंसे भेदन कर सौन्दर्यमात्र शेष रखकर कृश बना डाला। (परन्तु) वे (नल) अनङ्ग (कृश) होकर भी उन-(कामदेव) के साथ (लावण्यमें) सङ्घर्षको नहीं छोड़ रहे हैं॥ १०९॥

टिप्पणी—इस पद्यमें नलकी तनुता (कृश अवस्था) का वर्णन है। निस्तक्ष्य=निस्-उपसर्गपूर्वक "तक्ष त्वचने" धातुसे क्त्वाके स्थानमें ल्यप्। लावण्यशेषां=लावण्यम् एव शेषो यस्याः सा, ताम् (बहु०)। कान्तिविशेषको "लावण्य" कहते हैं, उसका लक्षण है—

"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥"

अर्थात् जैसे मोतीमें तरलता दिखाई पड़ती है, वैसे ही अङ्गोंमें जो तरलता प्रतीत होती है, उसे "लावण्य" कहते हैं। कृशतां=कृश+तल्+टाप्+अम्। अनायि=नी+लुङ्(कर्ममें)+त। अनङ्गताम्=अविद्यमानम् अङ्गं यस्य सः (नञ्बहु०), तस्य भावः तत्ता, ताम्। अनङ्ग+तल्+टाप्+अम्। यहाँपर नञ् अल्पाऽर्थक है। आप्यमानः=आप्+लट् (कर्ममें) (शानच्) यक्+सु। तेन="सार्धम्"के योगमें तृतीया। विजहाति=वि+हा+लट्+तिप्। कामदेवने नलके सौन्दर्यसे क्रुद्ध होकर उन्हें बाणोंसे भेदन कर अत्यन्त कृश बना डाला, तो भी सौन्दर्यमात्र शेष होकर भी नल कामदेवके साथ स्पर्धा नहीं छोड़ रहे हैं, यह इस पद्यका भावार्थ है। इस पद्यमें विशेषोक्ति अलङ्कार है॥ १०९॥

त्वत्प्रापकात् त्रस्यति नैनसोऽपि, त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य?॥ ११०॥

अन्वयः—(हे भैमि!) स्मरेण तीक्ष्णैः बाणैः अतितक्ष्य अस्य स्वभावोऽपि कियान् अपि लूनः किम्? यत् त्वत्प्रापकात् एनसः अपि न त्रस्यति, त्वयि दास्ये अपि न लज्जते एव॥ ११०॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्यां पद्याभ्यां लज्जात्यागमाह—(हे भैमि!) स्मरेण=कामदेवेन, तीक्ष्णैः=निशितैः, बाणैः=शरैः, अतितक्ष्य=भृशं तनूकृत्य, शरीर-

मिति शेषः । अस्य=नलस्य, स्वभावोऽपि=पापभीरुत्वादिरूपा प्रकृतिरपि, कियान् अपि=अल्पः अपि, लूनः किं=छिन्नः किम् ? यत्=यस्मात् कारणात्, त्वत्प्रापकात्=त्वत्प्राप्तिसाधनात् । एनसः अपि=पापात् अपि, न त्रस्यति=नो बिभेति, एवं च—त्वयि=भवत्यां, दास्ये अपि=दासकर्मणि अपि, न लज्जते एव=नो जिह्रेति एव, स इति शेषः ॥ ११० ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) कामदेवने तीखे बाणोंसे अत्यन्त भेदन कर नलके स्वभावको भी कुछ छिन्न कर दिया है क्या ? जो कि नल आपको पानेके साधनभूत पापसे भी नहीं डरते हैं और आपके दासभावमें भी लज्जित नहीं हो रहे हैं ॥ ११० ॥

टिप्पणी – लूनाः=लूञ्+क्त+सु । त्वत्प्रापकात्=तव प्रापकं, तस्मात् (ष० त०) । एनसः=त्रसी धातुके योगमें "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादानसंज्ञक होकर पञ्चमी । त्रस्यति="त्रसी उद्वेगे" धातुसे "वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः" इससे विकल्पसे श्यन्, लट्+तिप् ॥ ११० ॥

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोः सिद्धाऽगदङ्कारचये चिकित्सौ ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥ १११ ॥

अन्वयः—घोरं स्मारं ज्वरं चिकित्सौ सिद्धाऽगदङ्कारचये निदानमौनात् अपत्रपिष्णोः तस्य विशाला लज्जा साङ्क्रामिकी रुजा इव अविशत् ॥ १११ ॥

व्याख्या—घोरं=दारुणं, स्मारं=स्मरसम्बन्धिनं, ज्वरं=रोगविशेषं, कामसन्तापमित्यर्थः । चिकित्सौ=रोगप्रतिकर्तरि, सिद्धाऽगदङ्कारचये=समर्थवैद्यसमूहे, निदानमौनात्=रोगकारणाऽनभिधानात्, अपत्रपिष्णोः=लज्जाशीलस्य, तस्य=नलस्य, विशाला=महती, लज्जा=व्रीडा, साङ्क्रामिकी=संसर्गजनिता, रुजा इव=रोग इव, अविशत्=प्रविष्टा ॥ १११ ॥

अनुवाद—दारुण कामसन्तापका प्रतिकार करनेवाले समर्थ वैद्यसमूहमें रोगके कारणको नहीं कहनेसे लज्जाशील नलकी बड़ी लज्जा संसर्गसे उत्पन्न रोगके समान प्रविष्ट हुई ॥ १११ ॥

टिप्पणी—स्मारं=स्मरस्य अयं स्मारः, तम्, स्मर+अण्+अम् । चिकित्सौ=केतितुम् इच्छुः चिकित्सुः, तस्मिन्, "कित निवासे रोगाऽपनयने च" इस धातुसे "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इससे सन् होकर "सनाशंसभिक्ष उः" इससे उ प्रत्यय । सिद्धाऽगदङ्कारचये=अगदं कुर्वन्तीति अगदङ्काराः, अगद—उपपदपूर्वक कृ धातुसे "कर्मण्यण्" इससे अण् प्रत्यय । "कारे सत्याऽगदस्य" इससे

मुम् आगम । सिद्धाश्च ते अगदङ्कारा: (क० धा०), तेषां चयः, तस्मिन् (ष० त०) । निदानमौनात् = निदानस्य मौनं तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी । अपत्रपिष्णो:=अपत्रपते तच्छील: अपत्रपिष्णुः, तस्य, अप + त्रपूष् + इष्णुच् । "लज्जाशीलोऽपत्रपिष्णुः" इत्यमर: । साङ्क्रामिकी = सङ्क्रमात् आगता, संक्रम शब्दसे "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इससे ठञ् (इक्) प्रत्यय और "अनुशतिकादीनां च" इससे उभयपदवृद्धि । रुजा="स्त्रीरुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामया:" इत्यमर: । संसर्गसे उत्पन्न रोगको "सांक्रामिक" कहते हैं, जैसे कि—

"अक्षिरोगो ज्वर: कुष्ठं तथाऽपस्मार एव च ।
सहभुक्त्यादिसम्बन्धात्सङ्क्रामन्ति नरान्नरम् ॥"

अर्थात् नेत्ररोग, ज्वर (बुखार), कुष्ठ (कोढ़), अपस्मार (मिरगी) ये रोग सहभोज आदि सम्बन्धसे एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यके पास संक्रान्त होते हैं। अविशत् = विश + लङ् + तिप् ॥ १११ ॥

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे ।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥ ११२ ॥

अन्वय:—स: अकस्मात् रुष्टा असि इति बिभेति, अकाण्डे उपेत्य किल हसति, अहेतो: यान्तीम् इव त्वम् अनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं प्रतिवक्ति ॥ ११२ ॥

व्याख्या—अथ उन्मादाऽवस्थामाह—बिभेतीति । (हे भैमि !) स: = नल:, अकस्मात् = अकाण्डे, रुष्टा = कुपिता, असि = भवसि, त्वमिति शेष: । इति = सम्भाव्य, बिभेति = त्रस्यति । अकाण्डे = अनवसरे, उपेत्य = प्राप्य, किल = इव, त्वामिति शेष: । हसति = हास्यं करोति । अहेतो: = अकारणात्, यान्तीम् इव = गच्छन्तीम् इव, त्वां = भवतीम्, अनुयाति = अनुसरति, त्वया= भवत्या उक्त इव = सम्भावित इव, मोघं = निष्फलं, प्रतिवक्ति = प्रत्युत्तरयति । अयं सर्वोऽप्युन्मादाऽनुभाव: ॥ ११२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) वे (नल) अकस्मात् आप कुपित हैं, ऐसा समझकर डर जाते हैं । अनवसरमें ही आप प्राप्त हो गयी है, ऐसा विचार कर हँसते हैं । बिना कारणके ही आप जा रहीं हैं, ऐसा समझकर अनुसरण करते हैं और वे (नल) आपसे भाषित-से होकर उत्तर देते हैं ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—रुष्टा = रुष् + क्त + टाप् + सु । बिभेति = भी + लट् + तिप् ।

अकाण्डे=न काण्डः (नञ्०), तस्मिन् । उपेत्य=उप+आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्) । हसति=हस्+लट्+तिप् । अहेतोः=न हेतुः, तस्मात् (नञ्०) । यान्ती=या+लट् (शतृ)+ङीप्+अम् । प्रतिवक्ति=प्रति+वच्+तिप् । यह सब उन्मादका कार्य है ॥ ११२ ॥

भवद्वियोगाद् भिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निःशरण्यः ।
मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के हा ! हा ! महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥११३॥

अन्वयः—(हे भैमि !) भवद्वियोगात् भिदुरार्तिधारायमस्वसुः मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के अयं महीभृद्भटकुञ्जरः निःशरण्यः (सन्) मज्जति । हा ! हा ! ॥ ११३ ॥

व्याख्या—अथ मूर्च्छाऽवस्थामाह—भवदिति । भवद्वियोगात्=त्वद्विरहात् हेतोः, भिदुराऽऽर्तिधारायमस्वसुः=अविच्छिन्नदुःखपरम्परायमुनायाः, मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के=मूर्च्छारूपजलमध्यस्थानमहामोहकर्दमे, अयम्=एषः, महीभृद्भटकुञ्जरः=राजवीरकरी, निःशरण्यः=निरवलम्बः सन्, मज्जति=ब्रुडति । हा ! हा ! इति खेदाऽतिशयः ॥ ११३ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) आपके वियोगसे अविच्छिन्नदुःखधारारूप यमुनाके मूर्च्छारूप द्वीपके महामोहरूप कीचड़में पड़कर ये वीर राजा नल, हाथीके समान अवलम्बनहीन होकर डूब रहे हैं, हाय ! हाय ! ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—भवद्वियोगात्=भवत्या वियोगः, तस्मात् (ष० त०), "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इस नियमसे पुंवद्भाव, हेतुमें पञ्चमी । भिदुरार्तिधारायमस्वसुः—आर्तेर्धारा (ष० त०)। नारायणी टीकामें "भिदुरा" के स्थानमें "छिदुरा" ऐसा पाठ है, ("अच्छिदुरा" का अर्थ हुआ निरन्तर ।) भिदुरा चाऽसौ आर्तिधारा (क० धा०)। यमस्य स्वसा (ष० त०)। भिदुराऽऽर्तिधारा एव यमस्वसा, तस्याः (रूपक०) । मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के=मूर्च्छा एव मूर्च्छामयम्, मूर्च्छा+मयट् (स्वरूप अर्थमें) । मूर्च्छामयं च तद् द्वीपम् (क० धा०)। अन्धस्य भावः आन्ध्यम् (अन्ध+ष्यञ्) । महच्च तत् आन्ध्यम् (क० धा०) । मूर्च्छामयद्वीपे महाऽऽन्ध्यं (स० त०), तदेव पङ्कं, तस्मिन् (रूपक०) । महीभृद्भटकुञ्जरः=महीं बिभर्तीति महीभृत्, मही+भृ+क्विप् (उपपद०) । स चाऽसौ भटः (क० धा०) । स एव कुञ्जरः (रूपक०) । निःशरण्यः=निर्गतः शरण्यो यस्मात् सः (बहु०) । मज्जति=

(टु) मस्जो+लट्+तिप् । इस पद्यमें आर्तिधारामें यमस्वसाका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ११३ ॥

सव्याऽपसव्यत्यजनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु ।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण ॥ ११४ ॥

अन्वयः—सव्याऽपसव्यत्यजनात् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथक् अर्जितासु दशासु शेषा या तद्दशा तया कोरकेण नभः पुष्प्यतु ॥ ११४ ॥

व्याख्या—दशमी कामदशा तु कदाऽपि मा भूदिति आह—सव्येति । (हे भैमि !) सव्याऽपसव्यत्यजनात्=वामदक्षिणहस्तमोचनात्, द्विः=द्विवारम्, उक्तैः=प्रतिपादितैः, द्विगुणीकृतैः, पञ्चेषुबाणैः=कामशरैः, दशभिरिति भावः । पृथक्=प्रत्येकम्, अर्जितासु=उत्पादितासु, दशासु=अवस्थासु, शेषा=अवशिष्टा, या तद्दशा=दशमावस्था, तया=दशमाऽवस्थया, कोरकेण=कलिकया, नभः=आकाशं, पुष्प्यतु=पुष्पितम् अस्तु, नलस्य सा दशमी (मरणरूपा) अवस्था नभःपुष्पकल्पा अस्तु, कदापि मा भूदिति भावः । त्वत्प्राप्तेरिति शेषः ॥ ११४ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) बायें और दाहिने हाथोंसे छोड़नेसे कामदेवके दुगुने (दश) बाणोंसे अलग-अलग उत्पन्न अवस्थाओंमें अवशिष्ट जो दशवीं अवस्था (मरणरूपवाली) है, उस अवस्थारूप कलीसे आकाश पुष्पित हो, अर्थात् कदाऽपि न हो ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—सव्याऽपसव्यत्यजनात्=सव्यश्च अपसव्यश्च सव्याऽपसव्यौ (द्वन्द्वः), ताभ्यां त्यजनं, तस्मात् (तृ० त०) । द्विः=द्वि शब्दसे 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्'' इस सूत्रसे सुच् प्रत्यय । पञ्चेषुबाणैः=पञ्च इषवो यस्य सः (बहु०), पञ्चेषोः बाणाः, तैः (ष० त०) । तद्दशा=सा चाऽसौ दशाः (क० धा०), मरणरूप दशा अशुभ होनेसे उसका यद् और तद् शब्दसे निर्देश किया गया है । तया कोरकेण=उस दशमी अवस्थामें कोरकका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है । ''कलिका कोरकः पुमान्'' इत्यमरः । पुष्प्यतु=''पुष्प विकसने'' धातुसे लोट्+तिप् ॥ ११४ ॥

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ ११५ ॥

अन्वयः–हे वैदर्भि ! धन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैषधोऽपि समाकृष्यत । चन्द्रिकायाः यत् अब्धिम् अपि उत्तरलीकरोति, इतः का स्तुतिः खलु ॥११५॥

व्याख्या—हे वैदर्भि !=हे दमयन्ति ! हे वैदर्भिरीते ! इत्यपि गम्यते । धन्या=पुण्यवती, असि=वर्तसे, यया=त्वया, उदारैः=उत्कृष्टैः, गुणैः=लावण्य-विनयादिभिः, अन्यत्र श्लेषप्रसादादिभिः गुणैः, नैषधोऽपि=नलोऽपि, तादृशो धीरोऽपि, समाकृष्यत=सम्यक् आकृष्टः, वशीकृत इति भावः । चन्द्रिकायाः=कौमुद्याः, यत्=यस्माद्धेतोः, अब्धिम् अपि=समुद्रम् अपि, गभीरमपीति भावः, उत्तरलीकरोति=क्षोभयति, इतः=अस्मात्, का स्तुतिः खलु=का वर्णना खलु । न काऽपीति भावः ॥ ११५ ॥

अनुवाद—हे विदर्भदेशकी राजकुमारी ! आप धन्य हैं, जिन आपने नलको भी आकृष्ट कर दिया है । जो चन्द्रिका समुद्रको भी क्षुब्ध कर देती हैं, इससे अधिक उसका क्या वर्णन किया जा सकता है ? ॥ ११५ ॥

टिप्पणी—वैदर्भि=विदर्भ+अण्+ङीप्+सु (सम्बुद्धिमें) । एक पक्षमें वैदर्भीरीति । धन्या=धनं लब्ध्री, धन शब्दसे "धनगणं लब्धा" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् । गुणैः=वैदर्भीरीतिके पक्षमें श्लेष, प्रसाद आदि गुण लिये जाते हैं । समाकृष्यत=सम्+आङ्+कृष+लङ् (कर्ममें)+त । उत्तरलीकरोति=उत्तरल+च्वि+कृ+लट्+तिप् । इस पद्यमें प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है । जैसे कि साहित्यदर्पणमें उसका लक्षण है—

"प्रतिवस्तूपमा साम्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥" १०-६८ ।

इसमें समाकर्षण और उत्तरलीकरण क्रिया एक ही है । पुनरुक्ति हटानेके लिए भिन्नवाचक शब्दसे निर्देश किया गया है ॥ ११५ ॥

त्वयि स्मराधेः सतताऽस्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्यभूतः सफलो भवत्याः भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—त्वयि स्मराधेः सतताऽस्मितेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितः अस्मि । (अथ) आगत्य गुणलोभवत्याः भवत्याः भावप्रतीत्या सफलो भूतः ॥ ११६ ॥

व्याख्या—त्वयि=भवत्यां विषये । स्मराधेः=मदनजनितायाः मनोव्यथायाः हेतोः । सतताऽस्मितेन—सततम्=निरन्तरं यथा तथा, अस्मितेन=मन्दहास्यरहितेन, तेन=पूर्वोक्तेन, भूमिभृता=भूपेन, नलेनेति भावः । प्रस्थापितः=प्रस्थानं कारितः । अस्मि=भवामि । अथ, आगत्य=आगमनं कृत्वा, गुणलोभवत्याः—गुणेषु=शौर्यौदार्यसौन्दर्यादिषु, लोभवत्याः=लोलु-

पाया:, भवत्या:=तव, भावप्रतीत्या=आशयज्ञानेन, सफल:=फलसहित:, भूत:=सम्पन्न:, सिद्धप्रयोजनोऽस्मीति भाव: ॥ ११६ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारी ! कामजनित मनोवेदनासे निरन्तर स्मित (मन्दहास्य) से रहित उन राजा (नल) से मैं भेजा गया हूँ। आकर गुणोंमें लोभ करनेवाली आपके अभिप्रायके ज्ञानसे सफल हो गया हूँ ॥ ११६ ॥

टिप्पणी—त्वयि=विषयमें सप्तमी। स्मराधे:=स्मरजनितं आधि: स्मराधि:, तस्मात् (मध्यमपदलोपी समास), हेतुमें पञ्चमी। सतताऽस्मितेन= अविद्यमानं स्मितं यस्य स: अस्मित: (नञ्बहुव्रीहि:), सततम् अस्मितेन (सुप्सुपासमास)। भूमिभृता=भूमिं बिभर्तीति भूमिभृत्, तेन (उपपदसमास:) भूमि+भृ+क्विप्+टा। प्रस्थापित:=प्र+स्था+णिच्+क्त:। आगत्य= आङ्+गम्+क्त्वा (ल्यप्)। गुणलोभवत्या:=लोभ: अस्ति अस्या: लोभवती, लोभ+मतुप्+ङीप्, गुणे लोभवती (स० त०), तस्या:। भावप्रतीत्या= भावस्य प्रतीति:, (ष० त०), हेतुमें तृतीया। सफल:=फलेन सहित: (तुल्ययोगबहुव्रीहि) ॥ ११६ ॥

नलेन भाया: शशिना निशेव, त्वया स भायान्निशया शशीव।
पुन: पुनस्तद्युगयुग् विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षु: ॥ ११७ ॥

अन्वय:—शशिना निशा इव (त्वम्) नलेन भाया:। स: (अपि) निशया शशी इव त्वया भायात्। पुन: पुन: तद्युगयुक् विधाता युवां युयुक्षु: स्वभ्यासम् आस्ते नु ? ॥ ११७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) शशिना=चन्द्रमसा, निशा इव=रात्रि: इव, (त्वं=भवती), नलेन=नैषधेन, भाया:=शोभस्व। स:=नल: अपि, निशया=रात्र्या, शशी इव=चन्द्रमा इव, त्वया=भवत्या, भायात्=शोभताम्। पुन: पुन:=वारं वारं, प्रतिमासमिति भाव:। तद्युगयुक्=निशाशशि-युगलयोजक:, विधाता=ब्रह्मा, युवां=नलं त्वां च, युयुक्षु:=योजनेच्छु: सन्। स्वभ्यासं=निरन्तराऽभ्यासे। आस्ते नु=तिष्ठति किम् ? ॥ ११७ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) चन्द्रके साथ रात्रिके समान आप नलसे शोभित हों। नल भी रात्रिके साथ चन्द्रके समान आपसे शोभित हों। इस प्रकार बारंबार रात्रि और चन्द्रकी जोड़ीको मिलानेवाले ब्रह्माजी आप दोनोंको भी मिलानेकी इच्छा करते हुए निरन्तर अभ्यास बढ़ानेमें तत्पर रहते हैं क्या ? ॥ ११७ ॥

टिप्पणी—भाया:="भा दीप्तौ" धातुसे आशीर्लिङ्में सिप् । तद्युगयुक्= तयोर्युगं (ष० त०), तद् युनक्तीति, तद्युग्+युज्+क्विप् (उपपद०) । युवां= नलं च त्वां च युवा, तौ "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इससे एकशेष । युयुक्षुः= योक्तुमिच्छुः, युज्+सन्+उः । स्वभ्यासम्=अभ्यासस्य समृद्धी, समृद्धिके अर्थ-में "अव्ययं विभक्तिसमृद्धि०" इत्यादि सूत्रसे अव्ययीभाव समास और "तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्" इस सूत्रसे सप्तमी विभक्तिका विकल्पसे अम्भाव । "योग्या-मुपास्ते" इस पाठान्तरमें योग्याम्=अभ्यासम् । उपास्ते=करोति, यह अर्थ है । "योग्याऽभ्यासाऽर्थयोषितोः" इति विश्वः । आस्ते=आस्+लट्+त । इस पद्यमें अन्योन्य अलङ्कार, दो उपमाएँ और उत्प्रेक्षा इनका सङ्कर है ॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि ! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्त्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

अन्वयः—हे तन्वि ! नैषधस्य अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्त्रावलीनां रचना समाप्तिं प्राप्स्यति यदि (तर्हि) पृथौ तव एव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति ॥ ११८ ॥

व्याख्या—हे तन्वि !=हे कृशाङ्गि ! नैषधस्य=नलस्य, अनल्पवैदग्ध्य-विवर्धिनीनां=महानैपुण्योज्जृम्भणीनां, पत्त्रावलीनां=पत्त्रपङ्क्तीनां, रचना= निर्मितिः, समाप्तिं=सम्पूर्णतां, प्राप्स्यति यदि=आसादयिष्यति चेत्, तर्हि, पृथौ=विशाले, तव एव=भवत्या एव, स्तनद्वये=कुचद्वितये, परम्=उत्कर्षं यथा तथा, प्राप्स्यति=आसादयिष्यति, अन्यस्या अयोगत्वादिति भावः ॥११८॥

अनुवाद—हे कृशाङ्गि ! नलकी बड़ी निपुणतासे बढ़ायी गयी पत्त्रावलियों-की रचना समाप्तिको प्राप्त करेगी तो आपके ही विशाल पयोधरोंमें उत्कर्षपूर्वक प्राप्त करेगी ॥ ११८ ॥

टिप्पणी—अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनाम्=अनल्पं च तत् वैदग्ध्यम् (क० धा०), तेन विवर्धिन्यः, तासाम् (तृ० त०) । पत्त्राऽऽवलीनां=पत्त्राणामा-वल्यः, तासाम् (ष० त०) । प्राप्स्यति=प्र+आप्+लृट्+तिप् । पृथौ= पृथु शब्दके भाषितपुंस्क होनेसे "तृतीयाऽऽदिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" इस सूत्रसे पुंवद्भाव । स्तनद्वये=स्तनयोर्द्वयं, तस्मिन् (ष० त०) । इस पद्यमें 'सम' अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः ।" ६-९२ ॥ ११८ ॥

एकः सुधांऽशुर्न कथञ्चन स्यात्तुलिक्षमस्तन्नयनद्वयस्य ।
त्वल्लोचनाऽऽसेचनकस्तदस्तु नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—एकः सुधांऽशुः त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिक्षमो न स्यात्, तद् नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः (सन्) त्वल्लोचनाऽऽसेचनकः अस्तु ॥ ११९ ॥

व्याख्या—एकः=एकाकी, सुधांशुः=चन्द्रः, त्वन्नयनद्वयस्य=भवन्नेत्रद्वितयस्य, कथञ्चन=केनाऽपि प्रकारेण, तृप्तिक्षमः=प्रीणनसमर्थः, न स्यात्=नो भवेत्, तत्=तस्मात्कारणात्, नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः—नलास्यशीतद्युतिना=नलमुखचन्द्रेण, सद्वितीयः=द्वितीययुक्तः सन्, त्वल्लोचनाऽऽसेचनकः—त्वल्लोचनयोः=भवन्नयनयोः, आसेचनकः=अत्यन्ततृप्तिकरः, अस्तु=भवतु ॥ ११९ ॥

अनुवाद—एक चन्द्र आपके दोनों नेत्रोंको किसी प्रकारसे तृप्त करनेमें समर्थ नहीं होंगे, इस कारणसे वे (चन्द्र) नलके मुखचन्द्रके साथ दूसरे होते हुए आपके दोनों नेत्रोंको अत्यन्त तृप्ति करनेवाले हों ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—सुधांऽशुः=सुधा अंशुः यस्य सः (बहु०)। त्वन्नयनद्वयस्य=नयनयोर्द्वयम् (ष० त०), तव नयनद्वयं, तस्य (ष० त०)। तृप्तिक्षमः=तृप्तौ क्षमः (स० त०)। नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः=नलस्य आस्यम् (ष० त०)। शीता द्युतिर्यस्य सः (बहु०)। नलाऽऽस्यम् एव शीतद्युतिः (रूपक०)। द्वितीयेन सहितः सद्वितीयः (तुल्ययोग बहु०)। नलाऽऽस्यशीतद्युतिना सद्वितीयः (तृ० त०)। त्वल्लोचनाऽऽसेचनकः=तव लोचने (ष० त०), तयोः आसेचनकः (ष० त०)। "तदासेचनकं तृप्तेर्नाऽस्त्यन्तो यस्य दर्शनात्" इत्यमरः ॥११९॥

> **अहो ! तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः ।**
> **त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्त्री तवाऽधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥ १२० ॥**
> **यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवाऽऽस्ते ।**
> **अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥१२१॥**

अन्वयः—(हे राजकुमारि !) नलीयः तपःकल्पतरुः अहो ! (यः) त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः यस्य त्वद्भ्रूयुगं द्विपत्त्री, तव अधरो यत्कलम्बो रज्यति ॥ १२० ॥ यः ते कराभ्यां नवः पल्लवितः, यः तव स्मितेन कोरकितः आस्ते । यः तव अङ्गम्रदिम्ना पुष्पितः, यः तव एव स्तनश्रिया फलितः ॥१२१॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्यां पद्याभ्यां नलस्य तपःसाफल्यमाह—अहो इत्यादिना । (हे भैमि !) नलीयः=नलसम्बन्धी, तपःकल्पतरुः=तपस्याकल्पवृक्षः, अहो=आश्चर्यस्वरूपः । (यः=कल्पतरुः), त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः—त्वत्पाणि-

जाग्रैः=त्वत्कराऽग्रैः, स्फुरदङ्कुरश्रीः=प्रकाशमानाऽङ्कुरशोभः, यस्य=कल्पतरोः, त्वद्भ्रूयुगं=भवद्भ्रूयुग्मं, द्विपत्री=पत्रद्वयं, प्रथमोत्पन्नमिति शेषः। तव=भवत्याः, अधरः=ओष्ठः, यत्कलम्बः=कल्पतरुनालं, रज्यति=रक्तो भवति, स्वयमेवेति शेषः ॥ १२० ॥

यः=नलीयः कल्पतरुः, ते=तव, कराभ्यां=हस्ताभ्यां, नवः=नूतनः, पल्लवितः=सञ्जातपल्लवः। यः=कल्पतरुः, तव=भवत्याः, स्मितेन=मन्दहास्येन, कोरकितः=सञ्जातकोरकः सन्, आस्ते=तिष्ठति। यः=कल्पतरुः, तव=भवत्याः, अङ्गम्रदिम्ना=शरीरमार्दवेन, पुष्पितः=सञ्जातपुष्पः। यः=कल्पतरुः, तव एव=भवत्या एव, स्तनश्रिया=पयोधरशोभया, फलितः=सञ्जातफलः आस्ते ॥ १२१ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) नलका तपस्यारूप कल्पवृक्ष आश्चर्यस्वरूप है, जो कि आपके नाखूनोंके अग्रभागोंमें इसके अङ्कुरोंकी शोभा प्रकाशित हो रही है। जिस (कल्पवृक्ष) के आपकी भौंहे दो पत्ते हैं। आपका ओष्ठ जिसका लाल नाल हो रहा है ॥ १२० ॥

जो (नलका तपःसम्बन्धी कल्पवृक्ष) आपके दो हाथोंसे नया पल्लववाला है। जो आपके मन्दहास्यसे कलीसे युक्त है। जो आपके शरीरकी कोमलतासे पुष्पयुक्त है। जो नलका तपस्यारूप कल्पवृक्ष आपकी ही पयोधर-शोभासे फलसम्पन्न है ॥ १२१ ॥

टिप्पणी—नलीयः=नलस्य अयम्, "वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या" इससे वृद्धसंज्ञक होकर नल-शब्दसे "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय। तपःकल्पतरुः=तप एव कल्पतरुः (रूपक०), त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः=पाणिभ्यां जाताः पाणिजाः (नखाः), पाणि+जन्+डः (उपपद०)। पाणिजानाम् अग्राणि (ष० त०)। तव पाणिजाग्राणि (ष० त०)। अङ्कुराणां श्रीः (ष० त०)। स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य (बहु०)। त्वत्पाणिजाऽग्रैः स्फुरदङ्कुरश्रीः (तृ० त०)। त्वद्भ्रूयुगं=भ्रुवोर्युगम् (ष० त०), तव भ्रूयुगम् (ष० त०)। द्विपत्री=द्वयोः समाहारः (द्विगु०)। यत्कलम्बः=यस्य कलम्बः (ष० त०) "अस्य तु नालिका कलम्बश्च" इत्यमरः। रज्यति="रञ्ज रागे" धातुसे "कुषिरञ्जोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च" इस सूत्रसे कर्मकर्त्तामें श्यन् और परस्मैपदित्व ॥ १२० ॥

पल्लवितः=पल्लवानि सञ्जातानि अस्य सः, पल्लव+इतच्। कोरकितः=

कोरकाः सञ्जाता अस्य सः, कोरक+इतच्। अङ्गम्रदिम्ना=मृदोर्भावो म्रदिमा, "मृदु" शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच्प्रत्यय और "र ऋतोर्हलादेर्लघोः" इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमें 'र' आदेश। अङ्गानां म्रदिमा, तेन (ष० त०)। पुष्पितः=पुष्पाणि सञ्जातानि अस्य सः, पुष्प+इतच्। स्तनश्रिया=स्तनयोः श्रीः, तया, (ष० त०)। फलितः=फले सञ्जाते अस्य सः, फल+इतच्। सर्वत्र "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्प्रत्यय। यहाँपर दो श्लोकोंमें तपमें कल्पतरुत्वका और दमयन्तीके नख आदिमें अवयवत्वका आरोप करनेसे साऽवयवरूपक, तथा अवयवी परस्पर कार्यकारणभूत कल्पतरुका और अवयव नखाऽङ्कुर आदिका भिन्न देशमें रहनेसे असङ्गति अलङ्कारसे मिश्रित है, इस प्रकार सङ्कर है। असङ्गतिका लक्षण है—

"कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः।" (सा० द० १०-९०) ॥१२१॥

कंसीकृताऽऽसीत् खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥१२२॥

अन्वयः—(हे भैमि!) स्मरेण वां मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ संसक्तरश्मिप्रकरा इन्दोः मण्डली कंसीकृता आसीत्। निजा नाराचलता एव तुला (कृता आसीत्) ॥ १२२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि!) स्मरेण=कामदेवेन कर्त्रा, वां=युवयोः, मिथोऽनुरागस्य=अन्योऽन्यप्रणयस्य, समीकृतौ=समीकरणे निमित्ते, संसक्तरश्मिप्रकरा=संयोजितकिरणसमूहा, संयोजितसूत्रसमूहा च, इन्दोः=चन्द्रमसः, मण्डली=बिम्बं, कंसीकृता=लोहपात्रीकृता, आसीत्=अभवत्। निजा=स्वकीया, नाराचलता एव=बाणवल्ली एव, तुला=तुलादण्डः कृता आसीदिति शेषः ॥ १२२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी!) कामदेवने आप दोनोंके (नल और आपके) परस्परके अनुरागको बराबर करने के लिए चन्द्रमण्डलको तराजूका पलड़ा बनाया, चन्द्रकिरणोंको रस्सी बनाया और अपनी बाणलताको तराजूका दण्ड बना डाला ॥ १२२ ॥

टिप्पणी—संसक्तरश्मिप्रकरा=रश्मीनां प्रकरः (ष० त०)। "किरणप्रग्रही रश्मी" इत्यमरः। संसक्तो रश्मिप्रकरो यस्यां सा (बहु०)। कंसीकृता=अकंसः कंसो यथा सम्पद्यते तथा कृता, कंस+च्वि+कृता। "कंसोऽस्त्री लोहभाजनम्" इति शाब्दिकमण्डनम्। नाराचलता=नाराच एव लता (रूपक०)।

इस पद्यमें इन्दुदण्ड आदिमें कंस आदिका रूपण शाब्द और रश्मिसे सूत्रका आरोप आर्थ होनेसे एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार है, जैसे कि—

"यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।" (सा० द० १०–४६) ॥१२२॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्त्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—मदनोत्सवेषु सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिताः तन्निर्गताः त्वत्कुचपत्त्ररेखाः भूयः तत् प्रविशन्तु ॥ १२३ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) मदनोत्सवेषु=रतिक्रीडासु, सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे=मनोविकारजनितघर्मोदकरूपमधूच्छिष्टनिबिडे, तत्पाणिपद्मे=नलकरकमले, लग्नोत्थिताः=सङ्क्रान्तविश्लिष्टाः, तन्निर्गता=नलपाणिकमललिखिताः, त्वत्कुचपत्त्ररेखाः=भवत्पयोधरपत्त्रावलयः, भूयः=पुनः, तत्=नलपाणिपद्मं, प्रविशन्तु=प्रवेशं कुर्वन्तु, कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागमोऽस्तु इत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) रतिक्रीडाओंमें मनोविकारसे उत्पन्न स्वेदरूप मोमसे गाढ नलके करकमलमें लगकर आपके कुच-तटसे विश्लिष्ट नलके करकमलसे उत्पन्न आपके पयोधरोंको पत्त्रावलियाँ फिर नलके करकमलमें प्रवेश करें ॥ १२३ ॥

टिप्पणी—मदनोत्सवेषु=मदनस्य उत्सवाः, तेषु (ष० त०) । सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे=सत्त्वेन स्रुतः (तृ० त०), स चाऽसौ स्वेदः (क० धा०) । मधुन उत्तिष्ठतीति मधूत्थम्, मधु+उद्+स्था+कः (उपपद०) । सत्त्वस्रुतस्वेद एव मधूत्थम् (रूपक०) । तेन सान्द्रस्तस्मिन् (तृ० त०) । तत्पाणिपद्मे=पाणिः पद्मम् इव (उपमेयपूर्वपद-कर्म०) । तस्य पाणिपद्मं, तस्मिन् (ष० त०) । लग्नोत्थिताः=पूर्वं लग्नाः पश्चात् उत्थिताः, "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाऽधिकरणेन" इससे समास । तन्निर्गताः=तेन निर्गताः (तृ० त०) । त्वत्कुचपत्त्ररेखाः=तव कुचौ (ष० त०) । तयोः पत्त्ररेखाः (ष० त०) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १२३ ॥

बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः ।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

अन्वयः—हे भैमि ! बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः पुनरुक्तमुक्तां प्रसूनवृष्टिं युवानौ युवां प्रतीच्छतम् ॥ १२४ ॥

व्याख्या—हे भैमि != हे दमयन्ति ! बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः =उत्तानाद्यासनसम्पूर्णविविधसूरतमल्लसमरसन्तोषितैः, केलिवने=क्रीडोपवने, मरुद्भिः=वायुभिर्देवैश्च, पुनरुक्तयुक्तां=सान्द्रविसृष्टां, प्रसूनवृष्टिं = पुष्पवर्षं, युवानौ=तरुणौ, युवां=भवन्तौ, नलस्त्वं चेति भावः। प्रतीच्छतं=स्वीकुरुतम्। समरवीरा जना अमरैः प्रसूनवृष्ट्या सत्क्रियन्त इति भावः ॥ १२४ ॥

अनुवाद—हे दमयन्ती ! क्रीडाके उपवनमें आसनोंसे समृद्ध अनेक रतिक्रीडारूप मल्लयुद्धोंसे प्रसन्न बनाये गये वायुवर्ग और देवताओंसे बारंबार छोड़ी गयी पुष्पवृष्टिको तरुण और तरुणी आप दोनों (नल और आप) स्वीकार करें ॥ १२४ ॥

टिप्पणी—बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः=बन्धैः आढ्यं (तृ० त०), तच्च तत् नानारतम् (क० धा०), तदेव मल्लयुद्धं (रूपक)। तेन प्रमोदिताः, तैः (तृ० त०)। केलिवने=केलेर्वनं, तस्मिन् (ष० त०)। मरुद्भिः ="मरुतौ पवनाऽमरौ" इत्यमरः। पुनरुक्तमुक्तां=पुनरुक्तं (यथा तथा) मुक्ता, ताम् (सुप्सुपा०)। प्रसूनवृष्टिं=प्रसूनानां वृष्टिः, ताम् (ष० त०)। युवानौ=युवतिश्च युवा च "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्रसे एकशेष। प्रतीच्छतं= प्रति+इष्+लोट्+थस्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १२४ ॥

अन्योऽन्यसङ्गमवशादधुना विभातां, तस्याऽपि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनु प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम् ॥१२५॥

अन्वयः—(हे भैमि !) अधुना अन्योऽन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे तस्य अपि ते अपि मनसी मनसिजस्य तनुं पुनः स्रष्टुं प्रवृत्तम् आदौ द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम् इव विभाताम् ॥ १२५ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) अधुना=इदानीम्, उभयसन्धाऽनन्तरमिति भावः। अन्योऽन्यसङ्गमवशात्=परस्परसंयोगवशात्, विकसद्विलासे=वर्धमानोल्लासे, तस्य अपि=नलस्य अपि, ते अपि=भवत्या अपि, मनसी=मानसे, मनसिजस्य=कामस्य, तनुं=शरीरं, पुनः=भूयः, स्रष्टुम्=आरब्धुं, प्रवृत्तम्= उद्यतम्, आदौ=पूर्वकाले, द्व्यणुककृत्=द्व्यणुकाऽऽरम्भकं, परमाणुयुग्मं=परमाणुयुगलम् इव, विभातां=शोभेताम् ॥ १२५ ॥

अनुवाद—(हे दमयन्ती !) इस समय परस्परमें संयोग होनेसे विकसित विलासवाले नलके और आपके मन आरम्भमें द्व्यणुकको बनाने वाले दो परमाणुओंके समान कामदेवके शरीरको फिर उत्पन्न कर शोभित हों ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—अन्योऽन्यसङ्गमवशात्=अन्योऽन्ययोः सङ्गमः (ष० त०), तस्य

वशः, तस्मात् (ष०त०)। विकसद्विलासे=विकसन् विलासो ययोस्ते (बहु०)। मनसिजस्य=मनसि जायते इति मनसिजः, तस्य, जन धातुसे "सप्तम्यां जनेर्डः" इस सूत्रसे ड प्रत्यय, "हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्" इससे अलुक् समास। "शम्बरारिर्मनसिजः कुसुमेषुरनन्यजः" इत्यमरः। स्रष्टुं=सृज+तुमुन्। द्वयणुककृत्=द्वयणुकं करोतीति, द्वयणुक+कृ+क्विप् (उपपद०)। परमाणुयुग्मं=परमाण्वोर्युग्मम् (ष० त०)। विभातां=वि+भा+लोट्+तस (ताम्)। न्यायशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार जैसे सक्रिय दो परमाणुओंसे द्वयणुक उत्पन्न होता है, उसी तरह आप दोनोंके मन भी मिलकर विलासपूर्ण होकर कामदेवके शरीरको उत्पन्न करें, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार और वसन्ततिलका वृत्त है ॥ १२५ ॥

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ।
ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६ ॥

अन्वयः—असौ कामः कौसुमचापदुर्जयम् अमुं नृपं जेतुम् अव्रणवंशजाम् अधिगुणां निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया कषरेखया इव पृष्ठे कियल्लम्बया ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया भ्राजिष्णुं त्वाम् एव धनुर्वल्लीम् आसाद्य माद्यति ॥ १२६ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) असौ=अयं, नलजिगीषुरिति भावः। कामः=मदनः, कौसुमचापदुर्जयं=पुष्पधनुरजय्यम्, अमुम्=इमं, नृपं=राजानं नलं, जेतुं=वशीकर्तुम्, अव्रणवंशजां=सत्कुलप्रसूतां, दृढवेणुजन्यां च, अधिगुणाम्=अधिकसौन्दर्यादिगुणाम्, अधिज्यां च, निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया=अनुवर्तमानसिन्दूरसमशोभायुक्तया, कषरेखया=कृतघर्षणरेखया इव, पृष्ठे=ग्रीवापश्चाद्भागे, कियल्लम्बया=कियद्दीर्घया, ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया=शिरोधिभूषणकौशेयतन्तुवल्ल्या, भ्राजिष्णुं=शोभमानां, त्वाम् एव=भवतीम् एव, धनुर्वल्लीं=चापलताम्, आसाद्य=प्राप्य, माद्यति=हृष्यति ॥ १२६ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) वह कामदेव, फूलोंके धनुषसे नहीं जीते जानेवाले राजा नलको जीतनेके लिए उत्तम कुलमें उत्पन्न, सौन्दर्य आदि अधिक गुणोंवाली, सिन्दूरके सौन्दर्यसे युक्त घर्षणकी रेखाके समान, पीठपर कुछ लटकनेवाले ग्रीवाके भूषण रेशमी वस्त्रकी सूत्रलतासे चमकनेवाली आपको ही धनुष् के रूपमें प्राप्त कर प्रसन्न हो रहा है ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—कौसुमचापदुर्जयं=कुसुमानामयं कौसुमः, कुसुम+अण्। कौसुमश्चाऽसौ चापः (क० धा०)। तेन दुर्जयः, तम् (तृ० त०)। जितेन्द्रिय होनेसे कामदेवके फूलोंके बाणसे नहीं जीते जानेवाले राजा नलको, यह तात्पर्य है। जेतुं=जि+तुमुन्। अव्रणवंशजाम्=अविद्यमानः व्रणः (छिद्रं दोषो वा) यस्मिन् सः अव्रणः (नञ्-बहु०)। स चाऽसौ वंशः (क० धा०), तस्मिन् जाता, ताम्। अव्रणवंश+जन्+ड (उपपद०)+टाप्+अम्। दमयन्ती-केपक्षमें निर्दोष कुलमें उत्पन्न, धनुर्वल्लीपक्षमें निश्छिद्र अर्थात् दृढ़ वंशमें उत्पन्न "द्वौ वंशौ कुलमस्करौ" इत्यमरः। अधिगुणाम्=अधिकाः गुणाः यस्यां सा, ताम् (बहु०)। दमयन्तीके पक्षमें लावण्य आदि अधिक गुणोंवाली। धनुर्वल्ली-पक्षमें—गुणे इति अधिगुणा, ताम् (विभक्त्यर्थमें अव्ययीभाव), प्रत्यञ्चासे युक्त धनुर्वल्ली। निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया=सिन्दूरस्य सौन्दर्यम् (ष० त०), निवसत् सिन्दूरसौन्दर्यं यस्याः सा (बहु०)। कषरेखया=कषस्य रेखा, तया (ष० त०), "शाणस्तु निकषः कषः" इत्यमरः। धनुष् लायक बाँसकी परीक्षा उसपर डाला गया सिन्दूर रगड़नेपर सिन्दूरका वर्ण मिटे तो वह परिपक्व होनेसे उत्तम माना जाता है। कियल्लम्बया=कियत् (यथा तथा) लम्बा, तया (सुप्सुपा०)। ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया=ग्रीवाया अलङ्कृतिः (ष० त०), पट्टस्य सूत्रं (ष० त०)। पट्टसूत्रम् एव लता (रूपक०)। ग्रीवाऽलङ्कृतिश्चाऽसौ पट्टसूत्रलता (क० धा०), तया। भ्राजिष्णुं=भ्राजते तच्छीला भ्राजिष्णुः, ताम् "भ्राजृ दीप्तौ" धातुसे "भुवश्च" इस सूत्रसे "च"-के पाठसे इष्णुच् प्रत्यय। धनुर्वल्ली=धनुरेव वल्ली, ताम् (रूपक०)। आसाद्य=आङ्+सद्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। माद्यति="मदी हर्षे" धातुसे लट्+तिप्। इस पद्यमें श्लेष और रूपकका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १२६ ॥

त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि घुटिकास्तं राजहंसं विभो-
र्वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमाऽऽलिरालम्बते ॥ १२७ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) विभोः मनोभुवः त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि घुटिकाः, तं राजहंसं वेध्यं, स्वम् अपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीं विद्धि। यन्नित्या-

ऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानम् अखिलं विलासं लसन्नाभीमध्यबिला रोमाऽऽलिः आलम्बते ।। १२७ ।।

व्याख्या—(हे भैमि !) विभोः=प्रभोः, मनोभुवः=कामस्य, पक्षिवेद्घुरिति शेषः । त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि=भवद्धारविशेषमुक्ताः, घुटिकाः=गुलिकाः, तं=पूर्वोक्तं, राजहंसं=राजश्रेष्ठं नलं, कलहंसम् (अत्र श्लिष्टरूपकम्), वेध्यं=लक्ष्यं, स्वम् अपि=आत्मानम् अपि, तां=वक्ष्यमाणप्रकारां, मञ्जुं=मनोहरां, धनुर्मञ्जरीं=चापवल्लरीं, विद्धि=जानीहि । यन्नित्याऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं=यत्सततोत्सङ्गवासाऽत्याहतमौर्व्यनुभूयमानम्, अखिलं=समस्तं, विलासं=शोभां, ज्याारूढतामित्यर्थः । लसन्नाभीमध्यबिला=दीप्यन्नाभीगुलिकास्थाना, रोमालिः=त्वल्लोमपङ्क्तिः, आलम्बते=भजति ।।१२७।।

अनुवाद—(हे राजकुमारि !) आपकी हारपङ्क्तियोंके मोतियोंको कामदेवकी गोलियाँ जानिए, उस राजहंस नलको लक्ष्य (निशाना) समझिए, और अपनेको कामदेवकी सुन्दर धनुर्लता जानिए, जिसकी गोद (मध्यभाग)-में नित्य निवास करनेसे अत्यन्त आदृत प्रत्यञ्चासे अनुभव की जानेवाली सम्पूर्ण शोभाको प्रकाशित नाभिरूप मध्यच्छिद्र (गोली रखनेका स्थान) से युक्त रोमपङ्क्ति आश्रय कर रही है ।। १२७ ।।

टिप्पणी—त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि=गुच्छानाम् आवलिः, (ष० त०), "हारभेदा यष्टिभेदा गुच्छगुच्छार्धगोस्तनाः" इत्यमरः । तव गुच्छाऽऽवलिः (ष० त०), तस्याः मौक्तिकानि (ष० त०) । मुक्ता एव मौक्तिकानि । मुक्ता+ठक् । स्वाऽर्थमें ठक् (इक) प्रत्यय । राजहंसं=राजा हंस इव, तम् (उपमितकर्म०) । तमेव राजहंसम्=हंसानां राजा, तम् (ष० त०) "राजदन्तादिषु परम्" इससे राजपदका पूर्वप्रयोग । श्लिष्टरूपक है । "राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयोः" इति विश्वः । वेध्यं=वेधितुं योग्यः, तम् । "विध विधाने" धातुसे "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्रसे ण्यत्, "धातूपसर्गाणामनेकाऽर्थाः" इस न्यायसे विध धातुका यहाँ ताडन अर्थमें प्रयोग किया गया है। स्व="स्वो ज्ञातावात्मनि स्वयम्" इत्यमरः । धनुर्मञ्जरीं=धनुषो मञ्जरी, ताम् (ष० त०) । विद्धि=विद्+लोट्+सिप् । यन्नित्याऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानम्=अंके निवासः (स० त०) । नित्यम् अङ्कनिवासः (सुप्सुपा०) । यस्या नित्याऽङ्कनिवासः (ष० त०) । अत्यर्थं लालिता लालिततमा, लालित+तमप्+टाप् । लालिततमा चाऽसौ ज्या (क० धा०) । यन्नित्याऽङ्कनिवासेन लालिततमज्या (तृ०

त०), तया भुज्यमानः, तम् (तृ० त०)। लसन्नाभीमध्यबिला = मध्यं च तत् बिलम् (क० धा०)। नाभी एव मध्यबिलम् (रूपक०), लसत् नाभीमध्यबिलं यस्याः सा (बहु०)। रोमाऽऽलिः = रोम्णाम् आलिः (ष० त०)। आलम्बते = आङ् + लबि + लट् + त। इस पद्यमें मौक्तिक आदिमें गुटिकादि अवयवका शब्द आरोप और अवयवी काममें वेदधृत्वका अर्थ आरोप होनेसे एकदेशविवर्ति साऽवयव रूपक अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२७॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे।
निर्विद्याऽऽश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाऽधुना
पत्त्राऽऽलिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥ १२८॥

अन्वयः — यः पुष्पेषुः यज्जितः निर्विद्य ते चिकुरेषु स्वं शरचयं, भालमूले धनुः, रौद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्ट्रं तनुं चिक्षिपे। स वितनुः (सन्) अधुना तज्जयाय त्वाम् आश्रमम् आश्रयत्। (अत एव) त्वदुरोजशैलनिलया पत्त्रालिः तत्पर्णशालायते।

व्याख्या-(हे भैमि !) यः, पुष्पेषुः = कामः, यज्जितः = नलपराभूतः, अत एव, निर्विद्य = निर्वेदमनुभूय, ईर्ष्या जीवननैष्फल्यं ज्ञात्वेति भावः। ते = तव, चिकुरेषु = केशेषु, स्वं = स्वकीयं, शरचयं = बाणसमूहं, त्वद्धृतपुष्पच्छलादिति भावः। भालमूले = त्वल्ललाटभागे, धनुः = कार्मुकं, भ्रूव्याजादिति भावः। रौद्रे = रुद्रसम्बन्धिनि, चक्षुषि = नेत्रे, तस्मिन्नेव अनुभ्राष्ट्रे = भर्जनपात्रे, तनुं च = स्वशरीरं च, चिक्षिपे = क्षिप्तवान्। पूर्वमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः। इत्थं च सः = कामः, वितनुः = अनङ्गः सन्, अधुना = इदानीं, तज्जयाय = नलविजयार्थं, त्वां = भवतीम् एव, आश्रमं = तपोवनम्, आश्रयत् = आश्रितवान्, तपश्चर्यार्थमिति भावः। अन्यथा तं कथं जेष्यतीति तात्पर्यम्। अत एव त्वदुरोजशैलनिलया = भवत्स्तनपर्वतस्थिता, पत्त्रालिः = पत्त्ररचना, पर्णसमूहश्च, तत्पर्णशालायते = कामस्य पर्णशालावत् आचरति ॥ १२८ ॥

अनुवाद — (हे राजकुमारी !) जिस कामदेवने नलसे पराजित होनेसे विरक्त होकर आपके केशोंमें अपने बाणोंको आपके ललाट-भागमें (भौंहोंके बहानेसे) धनुषको और रुद्रके नेत्ररूप भट्टीमें अपने शरीरको डाल दिया है। इस प्रकार उस कामदेवने अनङ्ग (शरीररहित) होकर इस समय नलको जीतनेके लिए आश्रमके समान आपका आश्रय लिया है, इसी कारणसे आपके

पर्वतरूप पयोधरोंमें रहनेवाली पत्ररचना वा पर्णसमूह कामदेवकी पर्णशालाके समान आचरण कर रहा है ॥ १२८ ॥

टिप्पणी—पुष्पेषुः = पुष्पाणि इषवः अस्य सः (बहु०)। यज्जितः = येन जितः (तृ० त०)। निर्विद्य = निर् + विद् + क्त्वा (ल्यप्)। निर्वेदका लक्षण है—"तत्त्वज्ञानाऽऽपदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्" (सा० द० ३-१४९) अर्थात् तत्त्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्यादिसे अपना अपमान करना 'निर्वेद" कहलाता है। शरचयं = शराणां चयः, तम् (ष० त०)। भालमूले = भालस्य मूलं, तस्मिन् (ष० त०)। रौद्रे = रुद्र + अण् + ङि। अनुभ्राष्ट्रं = भ्राष्ट्रे इति, विभक्तिके अर्थमें "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे अव्ययीभाव समास। क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना" इत्यमरः। चिक्षिपे = क्षिप् + लिट् + त। वितनुः = विगता तनुर्यस्य सः (बहु०)। तज्जयाय = तस्य जयः, तस्मै (ष० त०)। आश्रयत् = आङ् + श्रिञ् + लङ् + तिप्। त्वदुरोजशैलनिलया = उरसि जातौ उरोजौ, उरस् + जन् + डः + औ। उरोजौ एव शैलो (रूपक०)। तव उरोजशैलो (ष० त०), त्वदुरोजशैलौ निलयः यस्याः सा (बहु०)। पत्रालिः = पत्राणामालिः (ष० त०)। तत्पर्णशालायते = पर्णानां शाला (ष० त०), तस्य पर्णशाला (ष० त०)। तत्पर्णशाला इव आचरति, तत्पर्ण-शाला + क्यङ् + लट् + त। इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें शर और चाप आदिका पूर्वोक्त पुष्प आदि विषयका निगरण (अप्रतिपादन) से उनके साथ अभेदका अध्यवसाय होनेसे अभेदलक्षण अतिशयोक्ति, "तत्पर्णशालायते" कहनेसे उपमा और "त्वाम् आश्रमम्" कहनेसे रूपकसे सङ्कीर्ण, उत्प्रेक्षावाचक इव आदिका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इनका सङ्कर और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १२८ ॥

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं
सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः।
शर्माऽस्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य
वेगाज्जगाम निषधाऽधिपराजधानीम् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—तत्र पतत्रिणि भैमीम् इति आलपति (सति) अथ चिरात् तदनुसन्धिपराः सख्यः परीयुः। सोऽपि ते शर्म अस्तु, मां विसृज इति उदीर्य वेगात् निषधाऽधिपराजधानीं जगाम ॥ १२९ ॥

व्याख्या—तत्र = तस्मिन्, पतत्रिणि = पक्षिणि, हंसे। इति = इत्थम्, आलपति = आभाषमाणे सति, अथ = अस्मिन् अवसरे, चिरात् = बहुकालात्, तदनुसन्धिपराः = दमयन्त्यन्वेषणपराः, सख्यः = वयस्याः, परीयुः = परिवव्रुः। सोऽपि = हंसोऽपि, ते = तव, शर्म = सुखम्, अस्तु = भवतु, मां = हंसं, विसृज =

प्रेषय, नलसमीप इति भावः। इति=एवम्, उदीर्य=उक्त्वा, वेगात्=जवात्, निषधाऽधिपराजधानीं=नलनगरीं, जगाम=वव्राज ॥ १२९ ॥

अनुवाद—हंसके दमयन्तीको ऐसा कहनेपर उस अवसरमें बहुत समयसे दमयन्तीको ढूंढती हुई सखियोंने उसको घेर लिया। हंसने भी "आपको सुख मिले, मुझे रुखसत दीजिए" ऐसा कहकर वेगपूर्वक नलकी राजधानीमें प्रस्थान किया ॥ १२९ ॥

टिप्पणी—पतत्रिणि=पतत्र + इनि + ङि। आलपति=आङ् + लप + शतृ + ङि। तदनुसन्धिपराः=तस्या अनुसन्धिः (ष० त०), तस्मिन् पराः (स० त०)। परीयुः=परि + इण् + लिट् + झि। विसृज=वि + सृज + लोट् + सिप्। उदीर्य=उद् + ईर + क्त्वा (ल्यप्)। निषधाऽधिपराजधानीं= निषधानाम् अधिपः (ष० त०)। राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी, राजन् + धा + ल्युट् + ङीप् (उपपद०)। निषधाऽधिपस्य राजधानी, ताम् (ष० त०)। इस पद्यमें ओजगुण और वसन्ततिलका छन्द है ॥ १२९ ॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रयत्
प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात्।
स्वादं स्वादमसीम मृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

अन्वयः—सा चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः व्यामिश्रताम् आश्रयत्, असीम मृष्टसुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् स्वादं स्वादं तृप्तिं प्राप्ता अपि अन्तः नितान्तं तापं न प्राप, अतुलां मूर्च्छाम् अपि न आनर्च्छ ॥ १३० ॥

व्याख्या—सा=दमयन्ती, चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः=कामबाणभूतपुष्परसैः क्षौद्रैश्च, व्यामिश्रतां=मेलनम्, आश्रयत्=प्राप्नुवत्, मिश्रं सदिति भावः। असीम=सीमारहितम्, अपरिमितमिति भावः। मृष्टसुरभि=शुद्धसुरभि, प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं=नलसन्देशहरराजहंसवाणीघृतं, रसात्=अनुरागात्, स्वादं स्वादं=पुनः पुनरास्वाद्य, तृप्तिं=सौहित्यं, प्राप्ता अपि= प्राप्तवत्यपि, अन्तः=अन्तःकरणे, नितान्तम्=अविरतं, तापं=सन्तापं, न प्राप =न प्राप्तवती, अतुलाम्=अनुपमां, मूर्च्छाम् अपि=मोहम् अपि, न आनर्च्छ =न प्राप ॥ १३० ॥

अनुवाद—दमयन्तीने कामदेवके बाणभूत फूलोंके रससे वा शहदसे मिश्रणको प्राप्त करते हुए अपरिमित शुद्ध और सुगन्धित, प्रियतम नलके दूत पक्षि-

श्रेष्ठ हंसकी वाणीरूप मक्खनको अनुरागसे आस्वादन कर तृप्तिको पाकर भी अन्तःकरणमें अत्यन्त तापको नहीं पाया और अनुपम मूर्च्छाको भी नहीं पाया।

टिप्पणी—चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः=चेतसो जन्म यस्य स चेतोजन्मा, वामनाचार्यके "अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः" इस नियमके अनुसार व्यधिकरण-बहु०। शरा एव प्रसूनानि (रूपक०), चेतोजन्मनः शरप्रसूनानि (ष० त०), तेषां मधूनि, तैः (ष० त०)। मधुका अर्थ यहाँपर पुष्प-रस और शहद है। "मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" इत्यमरः। आश्रयत्=आङ्+श्रिञ्+लट् (शतृ)+सु। असीम=अविद्यमाना सीमा यस्य, तत् (नञ् बहु०)। मृष्टसुरभिः=मृष्टं च तत् सुरभि (क० धा०), तत्। प्रेयो-दूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं=प्रेयसो दूतः (ष० त०), स चाऽसौ पतङ्गः (क० धा०)। पुमांश्चाऽसौ गौः पुङ्गवः (क० धा०), "गोरतद्धितलुकि" इससे समासाऽन्त टच् प्रत्यय। प्रेयोदूतपतङ्गश्चाऽसौ पुङ्गवः (क० धा०), तस्य गौः (वाणी), प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवी (ष० त०), पूर्वसूत्रसे टच् और "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनं "हैयङ्ग-वीनं संज्ञायाम्" इस सूत्रसे निपात। "तत्तु हैयङ्गवीनं यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्" इत्यमरः। प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवी एव हैयङ्गवीनं, तत् (रूपक०)। स्वादं स्वादं="स्वद आस्वादने" धातुसे आभीक्ष्ण्य द्योत्य होनेपर "नित्य-वीप्सयोः" इससे द्विर्वचन और "आभीक्ष्ण्ये णमुल् च" इससे णमुल्। चकार पाठसे एक पक्षमें क्त्वा प्रत्यय भी होता है। तृप्ति=तृप्+क्तिन्+अम्। अतु-लाम्=अविद्यमाना तुला यस्याः सा अतुला, ताम् (नञ् बहु०)। आनर्च्छ=ऋच्छ+लिट्+तिप्। इस पद्यमें "पतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनम्" इसमें रूपक और मधुसे मिश्रित घृत विष होता है, उसका पान करनेसे भी तापका अभाव कहनेसे विरोध अलङ्कार है, इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥ १३०॥

तस्या दृशो वियति बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः॥१३१॥

अन्वयः—वियति बन्धुम् अनुव्रजन्त्याः तस्या दृशः तद्बाष्पवारि चिरात् न अवधिः बभूव। तत् अनेन दृष्टेः पार्श्वे अपि विप्रचकृषे, चित्तवृत्तेस्तु आरात् अपि न व्यवदधे॥ १३१॥

व्याख्या—वियति=आकाशे, बन्धुं=बान्धवभूतं हंसमित्यर्थः। अनु-

व्रजन्त्याः=अनुगच्छन्त्याः, तस्याः=भैम्याः, दृशः=दृष्टेः, तद्बाष्पवारि=तन्नयनजलं, चिरात्=बहुकालं यावत्, न अवधिर्बभूव=न सीमारूपं बभूव, "ओदकान्तमनुव्रजेत्" इति शास्त्रात् अग्रे गन्तुं न ददौ इति भावः। तत्=तस्मात्कारणात्, अनेन=हंसेन, पार्श्वे अपि=समीपे अपि, विप्रचकृषे=विप्रकृष्टेन बभूवे। चित्तवृत्तेस्तु=मनोवृत्तेस्तु, आरात् अपि=दूरे अपि, न व्यवदधे=व्यवहितेन न बभूवे ॥ १३१ ॥

अनुवाद—आकाशमें बन्धु हंसका दृष्टिसे अनुगमन करनेवाली दमयन्तीके नेत्रोंके जल बहुत समयतक अवधिभूत नहीं हुए। इस कारणसे दमयन्तीके नेत्रोंके निकटमें भी हंस दूर हुआ और दूर होनेपर भी व्यवहित नहीं हुआ ॥१३१॥

टिप्पणी—अनुव्रजन्त्याः=अनु+व्रज+लट (शतृ)+ङीप्+ङस्। तद्बाष्पवारि=तस्या बाष्पम् (ष० त०), तस्य वारि (ष० त०)। आकाशमें अपने बन्धुको देखनेवाली दमयन्तीकी आँखोंसे वियोगके दुःखसे उत्पन्न आँसू बहुत समयतक उनकी दृष्टिके सीमाभूत नहीं हुए अर्थात् अपने बन्धुका कुछ दूर तक अनुगमनमें "ओदकान्तमनुव्रजेत्" अर्थात् जलाशयतक अनुगमन करे, ऐसी शास्त्राज्ञा है। दमयन्तीकी आँखोंमें आँसू आ जानेसे वह हंसका अनुगमन न कर सकी, यह अभिप्राय है। विप्रचकृषे=वि+प्र+कृ+लिट् (भावमें)+त। चित्तवृत्तेः=चित्तस्य वृत्तिः, तस्याः (ष० त०)। आरात्="आराद् दूरसमीपयोः" इत्यमरः। व्यवदधे=वि+अव+धा+लिट् (भावमें)+त। हंसके जानेपर दमयन्तीकी आँखोंमें आँसू आ जानेसे हंस निकट होनेपर भी ओझल हुआ परन्तु दूर होनेपर भी चित्तवृत्तिसे ओझल नहीं हुआ, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें निकटस्थकी दूरता और दूरस्थकी निकटस्थताका वर्णन होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है ॥ १३१ ॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन्पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे।
कान्तारे निर्गताऽसि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किं नु मुग्धे !
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—अथ एकः पक्षयोः कम्पभेदैः कार्यसिद्धेः अस्तित्वं स्फुटं कथयन् एतत् सर्वं वृत्तं निषधनरपतौ आख्यातुं प्रतस्थे। अन्यां वयस्याः "हे प्रियसखि ! हे मुग्धे ! कान्तारे निर्गता असि, पदवी विस्मृता किं नु ? मा रोदीः। एहि यामः" इति उपहृतवचसः (सत्यः) (एनाम्) निन्युः ॥ १३२ ॥

व्याख्या—अथ=अनन्तरम्, एकः=अन्यतरः अनयोरिति शेषः, हंस इत्यर्थः। पक्षयोः=पतत्रयोः, कम्पभेदैः=वेपथुरूपचेष्टाविशेषैः, कार्यसिद्धेः=कृत्यासाफल्यस्य, अस्तित्वं=सत्तां, स्फुटं=व्यक्तं, कथयन्=सूचयन्, एतत्=इदं, सर्वं=सकलं, वृत्तं=व्यतीतं, दमयन्त्या सह संलापादिकमिति भावः। निषधनरपतौ=नले विषये, आख्यातुं=कथयितुं, प्रतस्थे=प्रस्थितः। अन्याम्=अपराम्, अनयोरिति शेषः। दमयन्तीमित्यर्थः। वयस्याः=सख्यः, "हे प्रियसखि!=हे वल्लभवयस्ये! हे मुग्धे!=हे मूढचित्ते! कान्तारे=दुर्गमे वर्त्मनि, निर्गता=निष्क्रान्ता, असि=वर्तसे, पदवी=मार्गः, विस्मृता किं नु=प्रस्मृता किं नु, त्वयेति शेषः। मा रोदीः=रोदनं मा कुरु। एहि=आगच्छ। यामः=गच्छामः, सर्वा मिलित्वेति शेषः, इति=इत्थम्, उपहृतवचसः=दत्तवचनाः सख्यः, निन्युः=प्रापयामासुः, राजप्रासादमिति शेषः॥ १३२॥

अनुवाद—तब उन दोनोंमें एक (हंस) ने पंखोंकी कम्परूप चेष्टाओंसे कार्य-साफल्यकी सत्ताको स्पष्ट रूपसे जताकर यह सब व्यतीत संभाषणरूप वृत्तान्तको महाराज नलको कहनेके लिए प्रस्थान किया। दमयन्तीको उनकी सखियाँ "हे प्रियसखि! हे मूढचित्तवाली! आप दुर्गम मार्गमें निकली हैं, राहको भूल गयी हैं क्या? मत रोइए। आइए, हम सब चलें" इस प्रकारके वचनोंको कहती हुई दमयन्तीको राजप्रासादमें ले गयीं॥ १३२॥

टिप्पणी—कम्पभेदैः=कम्पस्य भेदाः, तैः (ष० त०), कार्यसिद्धेः=कार्यस्य सिद्धिः, तस्याः (ष० त०)। अस्तित्वम्=विद्यमानका समानार्थक "अस्ति" अव्ययसे त्वप्रत्यय। कथयन्=कथ+णिच्+लट् (शतृ)+सु। निषधनरपतौ=नराणां पतिः (ष० त०), निषधानां नरपतिः, तस्मिन् (ष० त०), विषयमें सप्तमी। आख्यातुम्=आङ्+ख्या+तुमुन्। प्रतस्थे=प्र-उपसर्गपूर्वक स्था धातुसे "समवप्रविभ्यः स्थः" इस सूत्रसे आत्मनेपदमें लिट्+त। वयस्याः=वयसा तुल्याः, वयस् शब्दसे "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत् प्रत्यय और टाप्। प्रियसखि=प्रिया चाऽसौ सखी (क० धा०), तत्सम्बुद्धौ। कान्तारे="कान्तारं वर्त्म दुर्गमम्" इत्यमरः। विस्मृता=वि+स्मृ+क्त+टाप्+सु। मा रोदीः—माङ्के योगमें "रुदिर् अश्रुविमोचने" धातुसे अट्के अभावपक्षमें "माङि लुङ्" इससे लुङ्+सिप्। "न माङ्योगे" इससे अट्का अभाव। यामः=या+लट्+मस्। उपहृतवचसः=उपहृतं वचो याभिस्ताः (बहु०)। निन्युः=नी+लिट्+झि॥ १३२॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकाऽनोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पम्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले: ॥ १३३ ॥

अन्वयः—स यत्र सरसि नृपम् अपश्यत्, तत्तीरभाजः ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले: अशोकाऽनोकहस्य उपमूलं किसलयदलतल्पम्लापिनं तं प्राप।

व्याख्या—सः=हंसः, यत्र=यस्मिन्, सरसि=कासारसमीपे, नृपं=राजानं नलम्, अपश्यत्=दृष्टवान्, तत्तीरभाजः=तत्तटरुहस्य, ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले:=दीप्यमानकामबाणसङ्घर्षिकुसुमसमृद्धिशिखरस्य, अशोकाऽनोकहस्य=अशोकवृक्षस्य, उपमूलं=मूलं समीपे, स्मरतरलं=कामचञ्चलं, किसलयदलतल्पम्लापिनं=पल्लवपत्रशयनम्लानिकारकं, तं=नृपं नलं, प्राप==प्राप्तवान् ॥१३३ ॥

अनुवाद—उस हंसने जिस तालाबके समीपमें राजा नलको देखा था, उसके तीरमें उत्पन्न और चमकते हुए कामबाणोंसे स्पर्धा करनेवाले फूलोंसे युक्त चोटीवाले अशोक वृक्षके नीचे कामदेवसे चञ्चल, पल्लवोंके पत्तेकी सेजको म्लान करने वाले राजाको प्राप्त किया ॥ १३३ ॥

टिप्पणी—अपश्यत्=दृश्+लङ्+तिप् । तत्तीरभाजः=तस्य तीरं (ष० त०), तत् भजतीति तत्तीरभाक्, तस्य, तत्तीर+भज्+ण्वि+(उपपद०)+ङस् । ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले:=न समाः (नञ्०)। असमाः शरा यस्य सः (बहु०), तस्य इषवः (ष० त०)। ज्वलन्तश्च ते असमशरेषवः (क० धा०)। तान् स्पर्धत इति ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिनी, ज्वलदसमशरेषु+स्पर्ध+णिनि+ङीप् (उपपद०), पुष्पाणाम् ऋद्धिः (ष० त०)। ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिनी चाऽसौ पुष्पर्द्धिः (क० धा०), सा मौलौ यस्य सः (व्यधिकरणबहु०), तस्य । अशोकाऽनोकहस्य=अशोकश्चाऽसौ अनोकहः, तस्य (क० धा०)। उपमूलं=मूलस्य समीपे, "अव्ययं विभक्तिसमीप०" इत्यादि सूत्रसे समीप अर्थमें अव्ययीभाव । स्मरतरलं=स्मरेण तरलः, तम् (तृ० त०)। किसलयदलतल्पम्लापिनं=किसलयानां दलानि (ष० त०), तेषां तल्पं (ष० त०), तत्, म्लापयतीति तच्छील:, तम्, किसलयदलतल्प+म्लै+णिच्+पुक्+णिनिः (उपपद०)+अम् । प्राप=प्र+आप्+लिट्+तिप् । मालिनी छन्द है ॥ १३३ ॥

"परवति दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं मामाह सा ? शंस हंस ! "।
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—'परवति हे दमयन्ति ! त्वां किञ्चित् न वदामि'। 'हे हंस ! द्रुतम्, उपनम सा मां किम् आह ? शंस"। इति वदति नले असौ उपनम्रः (सन्) तत् शशंस। हि सुकृतां प्रियम् अनु स्वस्पृहाया (एव) विलम्बः ॥ १३४ ॥

व्याख्या—परवति=हे पराऽधीने ! हे दमयन्ति !=हे भैमि ! त्वां=भवतीं, किञ्चित्=किमपि, न वदामि=न कथयामि, मत्सविधे शीघ्र प्रणयसन्देशः किमर्थं न प्रहित इति कृत्वा नोपालभ इति भावः। हे हंस !=हे राजहंस ! द्रुतं=शीघ्रम्, उपनम=समीपम् आगच्छ। सा=दमयन्ती, मां=नलं, किम्, आह=वदति, शंस=कथय, तदिति शेषः। इति=एवं, वदति=भाषमाणे, नले=नैषधे, असौ=हंसः, उपनम्रः=समीपमागतः सन्, तत्=वृत्तान्तजातं, शशंस=कथयामास। हि=यतः, सुकृतां=पुण्यात्मनां, प्रियम् अनु=इष्टाऽर्थं प्रति, स्वस्पृहायाः=निजेच्छाया एव, विलम्बः=समयाधिक्यम्, न तु इच्छाऽनन्तरं तत्सिद्धेर्विलम्ब इति भावः ॥ १३४ ॥

अनुवाद—"हे पराऽधीने दमयन्ति ! मैं तुम्हें कुछ भी नहीं कहता हूँ"। "हे हंस ! तुम शीघ्र मेरे पास आओ। दमयन्तीने मुझे क्या कहा ? कहो।" नलके ऐसा कहनेपर उस हंसने राजाके समीप आकर सब वृत्तान्त बतलाया, क्योंकि पुण्यात्माओंको अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए अपनी इच्छा मात्रका विलम्ब होता है (इच्छाके अनन्तर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता है)।

टिप्पणी—परवति=पर+मतुप्+ङीप् (सम्बुद्धिमें), "परतन्त्रः पराऽधीनः परवान्नाथवानपि" इत्यमरः। वदामि=वद+लट्+मिप्। उपनम=उप+नम्+लोट्+सिप्। शंस=शंस्+लोट्+सिप्। वदति=वद+लट् (शतृ)+ङि। शशंस=शंस+लिट्+तिप्। सुकृतां=शोभनं कृतवन्त इति सुकृतः, तेषाम्, सु—उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे "सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय। प्रियम्="अनु" इस पद की "अनुर्लक्षणे" इस सूत्रसे कर्मप्रवचनीय संज्ञा होनेसे उसके योगमें "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इससे द्वितीया। स्वस्पृहायाः=स्वस्य स्पृहा, तस्याः (ष० त०)। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। मालिनी छन्द है ॥१३४॥

कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

अन्वयः—स नरेन्द्रः कथितम् अपि प्रियाया भाषितं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास। (किञ्च) अतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः (सन्) अधिगतं तत् स्वयम् अपि शतकृत्वः अन्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

व्याख्या—सः = पूर्वोक्तः, नरेन्द्रः = राजा नलः, कथितम् अपि = उक्तम् अपि, प्रियायाः = दयितायाः, दमयन्त्या इत्यर्थः। भाषितं = वचनं, किमिति किमिति = कीदृक् कीदृक् इति, पृच्छन् = अनुयुञ्जानः सन्, हंसं = राजहंसं, शंसयामास = पुनः आख्यापयामास। (किञ्च) अतिवेलाऽऽनन्दमार्द्वीकमत्तः = अत्यन्तप्रमोदद्राक्षामदयुक्तः (सन्), अधिगतं=सम्यग्गृहीतं, तत्=हंसप्रतिपादितं दमयन्तीभाषितं, स्वयम् अपि=आत्मना अपि, शतकृत्वः=शतवारम्, अन्वाचचक्षे= अनूदितवान्, मत्तोऽपि उक्तमेव वचनं भूयो भूयो वक्तीति भावः ॥ १३५ ॥

अनुवाद—राजा नलके हंससे कहे गये भी दमयन्तीके वचनको कैसा ? कैसा ? ऐसा पूछकर हंससे फिर कहलवाया। अत्यन्त आनन्दस्वरूप द्राक्षामद्यसे मत्त होकर सुने गये, हंससे प्रतिपादित दमयन्तीके वचनका स्वयं भी सैकड़ों बार अनुवाद किया ॥ १३५ ॥

टिप्पणी—नरेन्द्रः=नराणाम् इन्द्रः (ष० त०)। पृच्छन्=प्रच्छ+लट् (शतृ)+सु। हंसम्=शंस धातुके शब्दकर्मक होनेसे णिच्के न होनेपर कर्तृसंज्ञक हंससे णिच् होनेपर "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इससे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया। शंसयामास=शंस+णिच्+लिट्+तिप्। अतिवेलाऽऽनन्दमार्द्वीकमत्तः=अतिवेलश्चासौ आनन्दः (क० धा०)। मृद्वीकायाः (द्राक्षायाः) विकारो मार्द्वीकम्, मृद्वीका शब्दसे "तस्य विकारः" इससे अण्, आदिवृद्धि। अतिवेलाऽऽनन्द एव मार्द्वीकं (रूपक०), तेन मत्तः (तृ० त०)। शतकृत्वः=शतवारम्, शत शब्दसे "संख्यायाः क्रियाऽऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्" इस सूत्रसे कृत्वसुच् प्रत्यय। अन्वाचचक्षे=अनु+आङ्+चक्षिङ्+लिट्+त। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार और मालिनी छन्द है। १३५।

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे । तस्य प्रबन्धे चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयं तार्तीयीकतया मितः निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगमत् ॥ १३६ ॥

व्याख्या—व्याख्यातपूर्वः श्लोकः संक्षेपेण पुनर्व्याख्यायते । कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः=पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः श्रीहीरः, मामल्लदेवी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहं, यं श्रीहर्षं, सुतं=पुत्रं, सुषुवे=जनयामास । तस्य=श्रीहर्षस्य, प्रबन्धे=रचनायां, चारुणि=सुन्दरे, नैषधीयचरिते=तदाख्ये महाकाव्ये, अयं=सन्निकृस्थः, तार्तीयीकतया=तृतीयत्वेन, मितः=परिमितः, निसर्गोज्ज्वलः=स्वभावसुन्दरः, सर्गः=अध्यायः, अगमत्=गतः, समाप्त इति भाव ॥ १३६ ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके हीरकस्वरूप श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष पुत्रको उत्पन्न किया, उनकी रचनामें सुन्दर, नैषधीयचरित महाकाव्यमें यह तृतीयरूपसे परिमित, स्वभावसे सुन्दर सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—तार्तीयीकतया=त्रयाणां पूरणः तृतीयः, 'त्रि' शब्दसे "त्रेः सम्प्रसारणं च" इससे तीय प्रत्यय और सम्प्रसारण । तृतीय एव तार्तीयीकः, 'तृतीय' शब्दसे "तृतीयादीकक् स्वाऽर्थे वा वाच्यः" इस वार्तिकसे स्वार्थमें विकल्पसे ईकक् प्रत्यय और कित् होनेसे "किति च" इस सूत्रसे आदिवृद्धि । तार्तीयीकस्य भावः तार्तीयीकता, तया, तार्तीयीक+तल्+टाप्+टा । शेष भाग पहलेके समान ॥ १२६ ॥

इति श्रीचन्द्रकलाऽभिख्यायां नैषधीयचरितव्याख्यायां तृतीयः सर्गः ।

छात्रप्रबोधकरणाऽर्थमयं प्रयास-
ष्टीकाकृतोऽत्र नहि कोऽपि मतिप्रकाशः ।
स्यात्सम्भ्रमभ्रमकृतं मम दूषणं चेत्
क्षाम्यन्तु तद्बुधवराः सुकृतः प्रतीक्ष्याः ॥

श्लोकानुक्रमणिका

(तृतीयः सर्गः)

श्लोकानुक्रमणिका

(तृतीयः सर्गः)

नैषधीयचरितस्यातिलघूत्तरीयाणि लघूत्तरीयाणि च प्रश्नोत्तराणि

अतिलघूत्तरीयाणि प्रश्नोत्तराणि

(१) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य रचयिता कः ?
उत्तरम्—नैषधीयचरितस्य रचयिता **महाकविः श्रीहर्षः**।

(२) प्रश्नः—बृहत्त्रय्यां के के ग्रन्थाः सन्ति ?
उत्तरम्—बृहत्त्रय्यां **किरातार्जुनीयं शिशुपालवधं नैषधीयचरितञ्च** त्रीणि महाकाव्यानि गण्यन्ते।

(३) प्रश्नः—कदा क्व माघः क्व च भारविः ?
उत्तरम्—**उदिते नैषधे भानौ** क्व माघः क्व च भारविः।

(४) प्रश्नः—महाकवेः श्रीहर्षस्य पितुः किं नामासीत् ?
उत्तरम्—महाकवेः श्रीहर्षस्य पितुः नाम **श्रीहीरः** आसीत्।

(५) प्रश्नः—श्रीहर्षस्य मातुः नाम किमासीत् ?
उत्तरम्—श्रीहर्षस्य मातुः नाम मामल्लदेवी आसीत्।

(६) प्रश्नः—श्रीहर्षः कस्य मन्त्रस्य जपेन असाधारणीं प्रतिभामवाप ?
उत्तरम्—श्रीहर्षः **चितामणिमन्त्रस्य** जपेनासाधारणीं प्रतिभामवाप।

(७) प्रश्नः—श्रीहर्षः व.स्मिन् राज्ये सभापण्डितः आसीत् ?
उत्तरम्—श्रीहर्षः **कान्यकुब्जे** राज्ये सभापण्डितः आसीत्।

(८) प्रश्नः—श्रीहर्षः कस्य राज्ये सभापण्डितः आसीत् ?
उत्तरम्—श्रीहर्षः **विजयचन्द्रजयचन्द्रयोः** राज्ये सभापण्डितः आसीत्।

(९) प्रश्नः—श्रीहर्षः कान्यकुब्जेस्वरात् किं लभते ?
उत्तरम्—श्रीहर्षः कान्यकुब्जेश्वरात् ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते।

(१०) प्रश्नः—नैषधीयचरिते कति सर्गाः सन्ति ?
उत्तरम्—नैषधीयचरिते **द्वाविंशतिः** सर्गाः सन्ति।

(११) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य कः उपजीव्यमस्ति ?
उत्तरम्–नैषधीयचरितस्योपजीव्यं महाभारतीयस्य वनपर्वणः नलोपाख्यानमस्ति।

नैषधीयचरितस्यातिलघूत्तरीयाणि लघूत्तरीयाणि च प्रश्नोत्तराणि

अतिलघूत्तरीयाणि प्रश्नोत्तराणि

(१) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य रचयिता कः ?

उत्तरम्—नैषधीयचरितस्य रचयिता **महाकविः श्रीहर्षः**।

(२) प्रश्नः—बृहत्त्रय्यां के के ग्रन्थाः सन्ति ?

उत्तरम्—बृहत्त्रय्यां **किरातार्जुनीयं शिशुपालवधं नैषधीयचरितञ्च** त्रीणि महाकाव्यानि गण्यन्ते।

(३) प्रश्नः—कदा क्व माघः क्व च भारविः ?

उत्तरम्—**उदिते नैषधे भानौ** क्व माघः क्व च भारविः।

(४) प्रश्नः—महाकवेः श्रीहर्षस्य पितुः किं नामासीत् ?

उत्तरम्—महाकवेः श्रीहर्षस्य पितुः नाम **श्रीहीरः** आसीत्।

(५) प्रश्नः—श्रीहर्षस्य मातुः नाम किमासीत् ?

उत्तरम्—श्रीहर्षस्य मातुः नाम मामल्लदेवी आसीत्।

(६) प्रश्नः—श्रीहर्षः कस्य मन्त्रस्य जपेन असाधारणीं प्रतिभामवाप ?

उत्तरम्—श्रीहर्षः **चितामणिमन्त्रस्य** जपेनासाधारणीं प्रतिभामवाप।

(७) प्रश्नः—श्रीहर्षः कस्मिन् राज्ये सभापण्डितः आसीत् ?

उत्तरम्—श्रीहर्षः **कान्यकुब्जे राज्ये** सभापण्डितः आसीत्।

(८) प्रश्नः—श्रीहर्षः कस्य राज्ये सभापण्डितः आसीत् ?

उत्तरम्—श्रीहर्षः **विजयचन्द्रजयचन्द्रयोः** राज्ये सभापण्डितः आसीत्।

(९) प्रश्नः—श्रीहर्षः कान्यकुब्जेस्वरात् किं लभते ?

उत्तरम्—श्रीहर्षः कान्यकुब्जेश्वरात् ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते।

(१०) प्रश्नः—नैषधीयचरिते कति सर्गाः सन्ति ?

उत्तरम्—नैषधीयचरिते **द्वाविंशतिः** सर्गाः सन्ति।

(११) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य कः उपजीव्यमस्ति ?

उत्तरम्-नैषधीयचरितस्योपजीव्यं महाभारतीयस्य वनपर्वणः नलोपाख्यानमस्ति।

(१२) प्रश्नः—नैषधीयचरिते कस्य गुणगानस्य वर्णनमस्ति ?
उत्तरम्–नैषधीयचरिते नलस्य गुणगानस्य वर्णनमस्ति।

(१३) प्रश्नः—नैषधीयचरिते का नायिका ?
उत्तरम्–नैषधीयचरिते नायिका दमयन्ती अस्ति।

(१४) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य नायकः कः ?
उत्तरम्–नैषधीयचरितस्य नायकः नलोऽस्ति।

(१५) प्रश्नः—नलः कीदृशः नायकोऽस्ति ?
उत्तरम्–**नलः** धीरोदात्तः **नायकोऽस्ति**।

(१६) प्रश्नः—नैषधीयचरिते प्रधानः रसः कोऽस्ति ?
उत्तरम्—नैषधीयचरिते प्रधानः रस, शृङ्गारोऽस्ति।

(१७) प्रश्नः—दमयन्ती कीदृशी नायिका ?
उत्तरम्–दमयन्ती प्रथमे **परकीया** नायिका, विवाहानन्तरं स्वकीया।

(१८) प्रश्नः—किं विद्वदौषधम् ?
उत्तरम्—नैषधं विद्वदौषधम्।

(१९) प्रश्नः—निर्माय इत्यत्र प्रकृतिप्रत्ययं निर्दिशत ?
उत्तरम्—नि + पीङ् + ल्यप् = निपीय।

(२०) प्रश्नः—का रसक्षालनयेव जगत् पवित्रमातनुते ?
उत्तरम्—यस्य नलस्य कथा रसक्षालनयेव जगत् पवित्रमातनुते।

(२१) प्रश्नः—चतुर्दशसु विद्यासु कैः चतस्रः दशाः प्रणीतवान् ?
उत्तरम्—चतुदर्शसु विद्यासु अधीतबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणीतवान्।

(२२) प्रश्नः—कस्य विद्या रसनाग्रनर्तकी ?
उत्तरम्—अमुष्य नलस्य विद्या रसनाग्रनर्तकी।

(२३) प्रश्नः—नलः कीदृशीं द्वयाधिकां दृशं बभार ?
उत्तरम्—नलः शास्त्राणि कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्त्वबोधिकां द्वयाधिकां दृशं बभार।

(२४) प्रश्नः—अधर्मोऽपि कथं तपस्वितां दधौ ?

उत्तरम्—अधर्मोऽपि **अङ्घ्रिकनिष्ठया भुवं स्पृशन् कृशः** (सन्) तपस्वितां दधौ।

(२५) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य प्रथमसर्गे किं छन्दः प्रयुक्तम् ?

उत्तरम्—नैषधीयचरितस्य प्रथमसर्गे वंशस्थछन्दः प्रयुक्तम्। तल्लक्षणम्, यथा—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

(२६) प्रश्नः—स राजघः कया रराज ?

उत्तरम्—स राजघः नीराजनया रराज।

(२७) प्रश्नः—अतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः किं न तत्यजुः ?

उत्तरम्—अतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपाल मृगीदृशां दृशं न तत्यजुः।

(२८) प्रश्नः—विधिः कथं भानोः विधोरपि कुण्डलनां तनोति ?

उत्तरम्—विधिः परिवेशषकैतवात् भानोः विधोरपि कुण्डलनां तनोति।

(२९) प्रश्नः—नलः अर्थिजनस्य ललाटे वैधसीं लिपिं कथं मृषा न चक्रे ?

उत्तरम्—नलः अर्थिजनस्य ललाटे 'अयं दरिद्रो भविता' इति जाग्रतीं वैधसीं लिपिं दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय मृषा न चक्रे।

(३०) प्रश्नः—तेन नलेन द्विफालबद्धाः चिकुराः किं अमानि ?

उत्तरम्—नलेन द्विफालबद्धा चिकुराः शिरः स्थितं निजयशोयुगममानि।

(३१) प्रश्नः—नलस्य वपुः किमालिङ्गत् ?

उत्तरम्—नलस्य वपुः यौवनमालिङ्गत्।

(३२) प्रश्नः—नलस्य दास्येऽपि कोऽधिकारितां न गतः ?

उत्तरम्—नलस्य दास्येऽपि शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः अधिकारितां न गतः।

(३३) प्रश्नः—भीमनरेन्द्रनन्दना का ?

उत्तरम्—भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती अस्ति।

(३४) प्रश्नः—सुप्तिः कथं किं जनदर्शनातिथिं करोति ?

उत्तरम्—सुप्तिः अदृष्टवैभवात् अदृष्टमपि अर्थं जनदर्शनातिथिं करोति।

(३५) प्रश्नः—स्मरः कया नैषधं विनिर्जेतुम् इयेष ?

उत्तरम्—स्मरः मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया दमयन्त्या नैषधं विनिर्जेतुमियेष।

(३६) प्रश्नः—तन्वी दमयन्ती किं कृत्वा नलस्य हृदयं विवेश ?

उत्तरम्—तन्वी दमयन्ती त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं विवेश।

(३७) प्रश्नः—स्मरः रत्यां कं सृजति ?

उत्तरम्—स्मरः रत्यामनिरुद्धमेव सृजति।

(३८) प्रश्नः—नलः कस्मात् निर्जनं देशं निषेवितुमियेष ?

उत्तरम्—नलः आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुमियेष।

(३९) प्रश्नः—हंसः उड्डयने निराशतां गतः किमकरोत् ?

उत्तरम्—हंसः उड्डयने निराशतां गतः सन् विरुत्य निरोद्धु करौ केवलं दशति स्म।

(४०) प्रश्नः—जनाधिनाथः नलः मानसौकसा तेन हंसेन किमवादि ?

उत्तरम्—'इयं जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा' इति जनाधिनाथः नलः मानसौकसा तेन हंसेनावादि।

(४१) प्रश्नः—पदे पदे के सन्ति ?

उत्तरम्—पदे पदे भटा रणोद्भटाः सन्ति।

(४२) प्रश्नः—केषां वृत्तयः मुनेरिवास्ति ?

उत्तरम्—यस्य हंसस्य मुनेरिव जलभूम्युत्पन्नानां फलेन मूलेन वृत्तयः जीविकाः सन्ति।

(४३) प्रश्नः—हंसः मुक्तिमधिगत्य कीदृशमानन्दमविन्दत ?

उत्तरम्—हंसः जगत्यधीश्वरात् मुक्तिमधिगत्य वचसामगोचरमानन्दमविन्दत्।

(४४) प्रश्नः—भीमभूपतिः कस्मात् पुत्रीं लब्धवान् ?

उत्तरम्—भीमभूपतिः दमननामकात् तपोधनात् पुत्रीं वरत्वेन लब्धवान्।

(४५) प्रश्नः—ऐरावतः कथं जम्भरिपुमिन्द्रं भजते ?

उत्तरम्—दमयन्त्याः पयोधरकान्त्या पराजितमस्तकपिण्डः ऐरावतः जम्भरिपुमिन्द्रं भजते।

(४६) प्रश्नः—तरुणीस्तने किं शोभते ?

उत्तरम्—तरुणीस्तने **मणिहारावलिरामणीयकं** शोभते।

(४७) प्रश्नः—तव वर्त्मनि किं वर्तताम् ?

उत्तरम्—तव वर्त्मनि शिवः वर्तताम्।

(४८) प्रश्नः—भीमनृपतेः नगरस्य किं नामासीत् ?

उत्तरम्—भीमनृपतेः नगरस्य नाम कुण्डिनपुरमासीत्।

(४९) प्रश्नः—हंसः कीदृशं कुण्डिनपुरं ययौ ?

उत्तरम्—हंसः क्षितिमण्डलमण्डनायितं कुण्डिनपुरं ययौ।

(५०) प्रश्नः—वनालिः दमयन्तीं कथं प्रतिषेधति ?

उत्तरम्—वनालिः कपोतहुङ्कारगिरा आली इव प्रतिषेधति।

(५१) प्रश्नः—अर्तिः किं न प्रतीक्षते ?

उत्तरम्—गुरुपदेशः प्रतिमेव तीक्ष्णा
प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः ॥

(५२) प्रश्नः—आत्मभूः स्मरः दमयन्तीं कथं जिगाय ?

उत्तरम्—आत्मभूः स्मरः नलस्य गुणं गुणं, सुरभि तस्य यशः कुसुमधनुः सुमनस्तया श्रुतिपथोपगतं तं नलं इषुं विधाय तां दमयन्तीमाशु जिगाय।

(५३) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य द्वितीयसर्गे प्रधानरूपेण किं वृत्तं प्रयुक्तम् ?

उत्तरम्—नैषधीयचरितस्य द्वितीये सर्गे प्रायः प्रधानरूपेण वियोगिनीनामकं अर्द्धसमवृत्तं प्रयुक्तम्, तल्लक्षणं, यथा—

विषमे सुसजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी।

(५४) प्रश्नः—नैषधीयचरितः तृतीये सर्गे प्रधानरूपेण किं वृत्तं प्रयुक्तम् ?

उत्तरम्—नैषधीयचरितस्य तृतीयसर्गे इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सम्मेलनेनोपजातिवृत्तं प्रयुक्तम्, तल्लक्षणम्, यथा—

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।

(५५) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य चतुर्थे सर्गे किं छन्दः प्रयुक्तम् ?

उत्तरम्—नैषधीयचरितस्य चतुर्थे सर्गे द्रुतविलम्बितं छन्दः प्रयुक्तम्। तल्लक्षणं यथा—

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

(५६) प्रश्नः—नारदः किमर्थं त्रिदशधाम जगाम ?

उत्तरम्—नारदः इन्द्रदिदृक्षुः त्रिदशधाम जगाम।

(५७) प्रश्नः—'योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः' सुक्तिरियं व्याख्येया ?

उत्तरम्—मार्गे विमानं विना गच्छता तेन मुनिना नारदेन व्योम विजगाहे,

उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—यस्मात्कारणात् उपाये नियमः। अन्यजनानां कृते अस्ति। तपोयोगयुक्तानां योगिनां तपसा अखिलकार्यसिद्धिः। तस्मान्नारदसदृशानां योगिनां विमानेन किम्।

(५८) प्रश्नः—नैषधीयचरितस्य पञ्चमे सर्गे किं छन्दः प्रयुक्तम्?

उत्तरम्—नैषधीयचरितस्य पञ्चमे सर्गे स्वागता छन्दः प्रयुक्तम्, तल्लक्षणम्, यथा—स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति।

●

लघूत्तरीयाणि प्रश्नोत्तराणि

(१) प्रश्नः—श्रीहर्षस्य के के ग्रन्थाः सन्ति?

उत्तरम्—श्रीहर्षस्य निम्नलिखिताः ग्रन्थाः सन्ति।

१. स्थैर्यविचारप्रकरणम्, २. विजयप्रशस्तिः, ३. खण्डनखण्डखाद्यम्, ४. गौडोर्वीशकुल-प्रशस्तिः, ५. अर्णववर्णनम्, ६. छिन्दप्रशस्तिः, ७. शिवशक्तिसिद्धिः, ८. नवसाहसाङ्कचरितचम्पू, ९. नैषधीयचरितम्।

(२) प्रश्नः—धीरोदात्तस्य किं लक्षणम्?

उत्तरम्—धीरोदात्तस्य लक्षणमुक्तं साहित्यदर्पणे—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

(३) प्रश्नः—कस्य कथां निपीय बुधाः सुधामपि न आद्रियन्ते?

उत्तरम्—यस्य नलस्य क्षितिरक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधामपि तथा न आद्रियन्ते।

(४) प्रश्नः—कः महसां राशिः महोज्ज्वलः आसीत्?

उत्तरम्—नलः महसां राशिः महोज्ज्वलः आसीत्।

(५) प्रश्नः—का चतुर्दशः विद्या?

उत्तरम्—चतुर्दशानां विद्यानां गणना विष्णुपुराणे कृतम्। तद्यथा—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

(६) प्रश्नः—नलस्याष्टादशविद्याऽभिज्ञतां श्लोकेनैकेन प्रतिपादयत?

उत्तरम्—महाकवि: श्रीहर्ष: नलस्याष्टादशविद्याऽभिज्ञतां प्रतिपादयति—

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताऽष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥

(७) प्रश्न:—नलस्य देवांशत्वं श्लोकेनैकेन प्रतिपादयत ?

उत्तरम्—महाकवि: श्रीहर्ष: नलस्य देवांशत्वं प्रतिपादयति—

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता
दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां
निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥

(८) प्रश्न:—नलस्य प्रताप: कथं भूमण्डलव्यापकोऽभूत् ?

उत्तरम्—राजघ: स: अनल्पदग्धारिपुराऽनलोज्ज्वलै: निजप्रतापै: ज्वलद् भूमे: मण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज अर्थात् नलस्य प्रतापो भूमण्डलव्यापकोऽभूत्।

(९) प्रश्न:—का: इतय: ?

उत्तरम्—तेन नलेन समस्ते भूतले निरीतिभावं प्रापितम्। ता ईतय: सन्ति—

अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका: शलभा: खगा:।
अत्यासन्नाश्च राजान: षडेता ईतय: स्मृता: ॥

(१०) प्रश्न:—"सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणै:" श्लोकं प्रपूर्य अलङ्कारं निर्धार्यताम् ?

उत्तरम्—सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणै-
र्महाऽसिवेम्न: सहकृत्वरी बहुम्।
दिगाङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे
यश: पटं तद्भटचातुरी तुरी ॥

अस्मिन् श्लोके 'सितांशुवर्णै:' इत्यत्रोपमा, पटवयनरूपं साङ्ग रूपकं च, तयोरङ्गाङ्गिभावेन विद्यमानत्वात् सङ्करालङ्कारोऽपि वर्तते।

(११) प्रश्न:—यद्विचारदृक् स: चारदृक् कथम् ?

उत्तरम्—स: नल: विचारदृक् चारदृग् भिन्न: परं चारदृक् चारदृष्टिरस्ति, अत्र यो विचारदृक् स कथं चारदृक् इति विरोध: प्रतीयते, तत्परिहारस्तु विचारदृक् विचारपूर्वकं द्रष्टा, चारदृक् गुप्तचरनेत्र: 'राजानश्चारचक्षुष:' इति श्रवणादिति भाव:।

(१२) प्रश्न:—नलस्य प्रतापयशसो: वर्णनं श्लोकेनैकेन कुरुत ?

उत्तरम्—महाकवि: श्रीहर्ष: नलस्य प्रतापयशसो: मनोहरं वर्णनं प्रस्तौति श्लोकेऽस्मिन्—

तदौजसस्तद्यशस: स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानो: परिवेषकैतवात्
तदा विधि: कुण्डलनां विधोरपि ॥

(१३) प्रश्न:—राज्ञो नलस्य दातृत्वगुणं वर्णयत ?

उत्तरम्—अल्पीकृतकल्पवृक्ष: राजा नल: याचकजनस्य ललाटे 'अयं जन: दरिद्र: भविता' इत्थं सदा स्थितां ब्रह्मसम्बन्धिनीं लिपिं दारिद्र्यस्य दरिद्रतां प्रणीय मृषा न चक्रे'। एतेन याचितपदार्थस्य दातु: कल्पपादपान्नलस्योत्कर्षातिशयो द्योत्यते।

(१४) प्रश्न:—तस्य दृशा किं तर्जितम् ?

उत्तरम्—तस्य नलस्य दृशा सरोरुहं तर्जितम्।

(१५) प्रश्न:—नृपे नले कासां द्विधा मन्मथविभ्रमोऽभवत् ?

उत्तरम्—नृपे नले जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमोऽभवत्।

(१६) प्रश्न:—दमयन्ती कथं यून: स्तुवता जनेन तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ?

उत्तरम्—मृतात् अत एव निमेषरहितनेत्रात् देवात् कामात् बिभेमि। अत: तद्भिन्नं जनमुदाहर इति दमयन्ती यून: स्तुवता जनेन स्मरस्थाने दृष्टान्तभूतं नैषधं नलमभ्यषेचयत्।

(१७) प्रश्न:—'अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनाऽतिथिम्' सूक्तिं साधु व्याख्येया ?

उत्तरम्—स्वपती दमयन्ती मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म, सर्वस्यां रात्रावपि ददर्श। स्वप्न: अदृष्टवैभवात् धर्माधर्मप्रभावात् अनवलोकितमपि पदार्थं लोकविलोचनगोचरं करोति स्वप्नरूपेण दर्शयतीति भाव:।

(१८) प्रश्न:—नलस्य अयाचितगुणान् श्लोकेनैकेन वर्णयत ?

उत्तरम्—दमयन्त्या: विरहेण सन्तप्तस्य नलस्य अयाचितव्रतं वर्णयति कवि:—

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभु-
विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसून् शर्म च मानिनो वरं
त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥

(१९) प्रश्नः—नलः किं कथयित्वा पाण्डुतामपललाप ?

उत्तरम्—नलः विलेपनस्याधिककर्पूरांशज्ञापनात् पाण्डुतामपललाप।

(२०) प्रश्नः—विवेकादयो गुणा नलचापलं निवारयितुं कथं न समर्था जाता ?

उत्तरम्—अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन्
गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्
सृजत्ययं सर्गनिसर्ग इदृशः ॥

(२१) प्रश्नः—नलः किमर्थं यानाय निदेशकारिणः आदिदेश ?

उत्तरम्—नलः स्वशरीरकान्त्या तिरस्कृतकामः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकण्ठोपवनमिक्षिता सन् यानाय निदेशकारिणः आदिदेश।

(२२) प्रश्नः—राजा नलः कीदृशं काननरामणीयकं व्यलोकयत् ?

उत्तरम्—ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले
स सम्मुखस्थाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना
व्यलोकयत्काननरामणीयकम् ॥

(२३) प्रश्नः—राजा नलः कीदृशं केतकं ददर्श ?

उत्तरम्—कौतुकी राजा नलः विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् शिवपरिहारोपार्जितं दिशासु सञ्चरणशीलं अपकीर्तिं दधानं केतकं ददर्श।

(२४) प्रश्नः—कीदृशी नवा लता नृपेण दृशा पपे इति श्लोकेनैकेन वर्णयत् ?

उत्तरम्—नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता
करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला
दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥

(२५) प्रश्नः—नलः कीदृशीं स्थलपद्मिनीं ददर्श ?

उत्तरम्—उपतप्तः नलः उपवने श्रोतरि कोकिलात् भ्रमरहुङ्कारं वियोगिनां दशां उद्यत्कृपं विकासद् वृक्षविशेषं शृण्वति श्रोतुमनिच्छया पुष्परूपहस्तप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीं ददर्श।

(२६) प्रश्नः—नलेन कीदृशः रसालसालः समदृश्यत श्लोकेनैकेन वर्णयत ?

उत्तरम्—रसालसालः समदृश्यतामुना
　　स्फुरद्द्विरेफारवघोषहुङ्कृतिः ।
　　समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने
　　जनाय दित्सन्निव तर्जनामियम् ॥

(२७) प्रश्नः—नलः कीदृशं मालूरफलं ददर्श ?

उत्तरम्—नलः मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वारनारी-कुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श ।

(२८) प्रश्नः—राजा नलः कथं पतङ्गं समधत्त ?

उत्तरम्—राजा नलः स्वयं कपटेन वामनीं मूर्तिं विधाय मौनिना चरणेन उपेत-पार्श्वः सन् पाणिना पतङ्गं समधत्त ।

(२९) प्रश्नः—विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीमिति सम्पूर्णं श्लोकं लिखत ?

उत्तरम्—विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं
　　स्वयं बलिध्वंसि विडम्बिनीमयम् ।
　　उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना
　　नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥

(३०) प्रश्नः—कीदृशी कलहंसमण्डली चुकुज ?

उत्तरम्—सुन्दरेण पक्षिणा हंसेन पल्वलं प्रविहाय गच्छन्त्याः लक्ष्म्याः चलत्पदाम्भोरुह नूपुरोपमा कलहंसमण्डली तडागतटे चुकूज ।

(३१) प्रश्नः—इयं वसुधा कथं न वासयोग्येति पद्येनैकेन कथयत ?

उत्तरम्—न वासयोग्या वसुधेयमीदृशी
　　स्त्वमङ्ग यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
　　इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः
　　खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥

(३२) प्रश्नः—हेमजन्मभिः पक्षैः कियान् कमलोदयो भवेदित्युक्तिः समीक्ष्यताम् ?

उत्तरम्—हंसः राजानं नलमुपालभन् कथयति—

हेमजन्मनः मम हंसस्य पक्षान् दृष्ट्वा तृष्णातरलं भवन्मनः धिक् । तुषारसीकरैः अर्णवस्य इव तव एभिः हेमजन्मभिः पक्षै कियान् भवतः कमलायाः लक्ष्म्याः उदयः

वृद्धिः भवेत् अगाधजलः समुद्रो यथा जलवृद्ध्यर्थं तुषारसिकरं नाद्रियते तथैव आढ्यतमेन भवताऽपि मत्पक्षसुवर्णं नादरणीयम् ।

(३३) प्रश्नः—न केवलं प्राणिवधो वधो ममेति पदं सम्पूर्णं लिखत ?

उत्तरम्—न केवलं प्राणिवधो वधो मम

त्वदीक्षणा द्विश्वसिताऽन्तरात्मनः ।

विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं

विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥

(३४) प्रश्नः—कीदृशं कुविक्रमं धिक् ?

उत्तरम्—नृपतेः राज्ञः नलस्यैतादृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक्, यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियते प्रयुज्यते ।

(३५) प्रश्नः—नलेन हंसे गृहीते तन्मुखेनोक्तं करुणरसपूर्णं श्लोकमेकं लिखत ?

उत्तरम्—नलेन हंसे गृहीते सः कारुण्यरसपूरिता गिरः विस्तारयति—

मदेक पुत्रा जननी जरातुरा

नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी

गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्

अहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नः ॥

(३६) प्रश्नः—प्रियां प्रति हंसः किं शोचति ?

उत्तरम्—हे प्रिये मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूरे इति त्वया उदिते अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्या तव स क्षणः कीदृग् भविता इति प्रियां प्रति शोचति हंसः ।

(३७) प्रश्नः—किं कथयित्वा राजा हंसममुञ्चत् ?

उत्तरम्—अवनिपालः नलः "रूपमदर्शि यदर्थं धृतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छ" इति अभिधाय विलपन्तं हंसममुञ्चत् ।

(३८) प्रश्नः—महाकाव्यस्य लक्षणं लिख ?

उत्तरम्—महाकाव्यस्य लक्षणमुक्तं साहित्यदर्पणे—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तो गुणान्वितः ॥

(३९) प्रश्नः—हंसः दमयन्त्याः उत्पत्तिं कथं वर्णयति ?

उत्तरम्—हंसः दमयन्त्या उत्पत्तिं वर्णयति—

भीमभूपतिः अमनाक् प्रसन्नात्, सत्यवचसः दमनात् दमननामकात् तपोधनात् दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयां तनयां वरं प्राप, दमननामकात् तपोधनात् वरत्वेन पुत्रीं लब्धवान् ॥

(४०) प्रश्नः—विदर्भभूः द्यां कथं हसति ?

उत्तरम्—विदर्भभूः भीमभूपतिं प्रभुमवाप्य शक्रभर्तृकां द्यामपि हसति।

(४१) प्रश्नः—दमयन्तीति नाम कथं दधौ ?

उत्तरम्—असौ तनया तनुश्रिया लोकत्रितयसुन्दरीणां सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती अस्तं गमयन्ती सती उदियाय, अतः दमयन्ती इति नाम बभार।

(४२) प्रश्नः—दमयन्त्याः नेत्रं श्लोकेनैकेन वर्णयत ?

उत्तरम्—दमयन्त्या; नेत्रे सर्वथाप्यनुपमेये इति वर्णयति—

नलिनं मलिनं विविण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥

(४३) प्रश्नः—'ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्' इति सूक्तिः व्याख्येया ?

उत्तरम्—हंसः नलेन कथयति—अस्मिन् दमयन्त्या मिलनकार्ये केवलां भवतः सम्मतिं ज्ञातुमिदं निवेदनं धिक्। उक्तमर्थमर्थान्तरेण समर्थयते—हि यस्मात् कारणात् साधवः सज्जनाः निजोपयोगितां स्वोपकारित्वं फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन न बोधयन्ति निजोपयोगितामिति।

(४४) प्रश्नः—हंसस्य प्रस्थानवेलायां शुभशकुनं किमभूदिति श्लोकेनैकेन वर्णयत ?

उत्तरम्—अथ शुभशकुनं वर्णयति कविः—

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिक प्रार्थितसिद्धिशंसिनम्।
कलशं जलसम्भृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥

(४५) प्रश्नः—हंसः किं कृत्वा उपभैमि भूमौ पपात ?

उत्तरम्—हंसः आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्याम् आकाशदेशात् वेगेन अवतीर्य निवेशदेशाततधूतपक्षः उपभैमि भूमी पपात।

(४६) प्रश्नः—हंसः भैम्याः पाणिं कथं मोघं वितेने ?

उत्तरम्—हंसः भैम्याः (दमयन्त्याः) आत्मोपरिपातुकं तत्पाणिं प्लुतिलाघवेन मोघं वितेने।

(४७) प्रश्नः—दमयन्त्या आलिवर्गः कथ मुपालम्भि ?

उत्तरम्—'या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति' इति दमयन्त्या आलिवर्गः उपालम्भि।

(४८) प्रश्नः—'पदे पदे भाविनि भाविनी तम्' इति सम्पूर्णं पद्यं लिखत ?

उत्तरम्—पदे पदे भाविनी भाविनी तं
यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।
तथा सखेलं चलता लतासु
प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी॥

(४९) प्रश्नः—हंसः दमयन्त्या कथं न धार्यः ?

उत्तरम्—वियद्विहारी हंसः वसुधैकगत्या दमयन्त्या न धार्यः।

(५०) प्रश्नः—हंसः स्वकीयभ्रमणस्य किं कारणं निवेदयति ?

उत्तरम्—धातुर्नियोगात् अस्मिन् भूलोके नैषधीयं लीलासरः सेवितुमागतेषु हैमेषु हंसेषु अहं एकाकी एव भूलोकविलोकनोत्कः भ्रमामीति निवेदयति।

(५१) प्रश्नः—नलः कथं गणेयनिःशेषगुणः स्यात् ?

उत्तरम्—यदि त्रिलोकी गणना परा स्या-
त्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेसमुद्रं गणितं यदि स्यात्
गणेय निःशेषगुणोऽपि सः स्यात्॥

(५२) प्रश्नः—'विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय' सूक्तिरियं साधु व्याख्येया ?

उत्तरम्—हंसः दमयन्तीं नलेन संयोक्तुं कथयति—

निशा रात्र्या शशाङ्कं शिवया पार्वत्या गिरीशं श्रिया लक्ष्म्या हरिं योजयतः विधेः ब्रह्मणः प्रयासः अपि परस्परं योग्यं समागमाय एव स्वारसिकः प्रयासः भवति। निशाशशाङ्कादिदृष्टान्तादपि विधिसङ्कल्पः सुज्ञेयः।

(५३) प्रश्नः—'ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः' इति श्लोकार्थं लिखत ?

उत्तरम्—इतीरयित्वा विरराम पत्री
स राजपुत्री हृदयं बुभुत्सुः।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे
शंसन्ति कार्यावसरं हि सन्तः॥

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

चतुर्थः सर्गः

योगादिनाऽप्यसुलभो दृढयत्नभाजा-
मास्ते तथाऽपि विदितो निजभक्तिवश्यः ।
धर्माऽवनिप्रणतरक्षणसक्षणो यो
दूरीकरोतु दुरितं सततं स ईशः ॥

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशःकुसुमं धनुः ।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ आत्मभूः नलस्य गुणं गुणं, सुरभि तस्य यशःकुसुमं धनुः, सुमनस्तया श्रुतिपथोपगतं तम् इषुं विधाय ताम् आशु जिगाय ।

व्याख्या—अथ राज्ञः स्वयंवराऽर्थमुपोद्घातत्वेन भैम्या मदनाऽवस्थां वर्णयितुमारभते—अथेति । अथ=भैम्या नलसन्देशश्रवणाऽनन्तरम्, आत्मभूः=कामः, नलस्य=नैषधस्य, गुणं=शौर्यसौन्दर्यादिकं धर्मं, गुणं=मौर्वीं, विधाय=कृत्वा, सुरभि=सुगन्धि मनोहरं च, तस्य=नलस्य, यशःकुसुमं=कीर्तिपुष्पं, धनुः=कार्मुकं, विधाय, सुमनस्तया=सुमनस्कत्वेन, पुष्पत्वेन च, श्रुतिपथोपगतं=वारं वारं भैम्या श्रुतमित्यर्थः, कर्णपर्यन्तमाकृष्टं च, तं=नलम् एव, इषुं=बाणं, विधाय, तां=भैमीम्, आशु=शीघ्रं, जिगाय=जितवान्, भैमीं नलैकासक्तचित्तां चकारेति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीसे नलका सन्देश सुननेके बाद कामदेवने नलके शौर्य और सौन्दर्य आदि गुणको प्रत्यञ्चा, उनके खुशबूदार और मनोहर कीर्तिरूप

पुष्पको धनुष् और उत्तम मन होनेसे और फूल होनेसे दमयन्तीके कर्णमार्गमें प्राप्त अथवा कानतक खींचे गये नलको बाण बनाकर दमयन्तीको शीघ्र जीत लिया (दमयन्तीको नलमें आसक्त बनाया)।

टिप्पणी—सुरभि='सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः। यशःकुसुमं=यश एव कुसुमं, तत (रूपक०)। सुमनस्तया=शोभनं मनो यस्य स सुमनः (बहु०), सुमनसो भावः सुमनस्ता, तया, सुमनस्+तल्+टाप्+टा। दूसरे पक्षमें—सुमनसो भावः, "स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्" इत्यमरः। श्रुतिपथोपगतं=श्रुत्योः पन्थाः श्रुतिपथः, (ष० त०), समासान्त अप्रत्यय श्रुतिपथम् उपगतः, तम् (द्वि० त०)। विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। जिगाय=जि+लिट्+तिप्। 'सन्लिटोर्जेः' इससे कुत्व। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है। द्रुतविलम्बित छन्द है, उसका लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ'॥ १॥

यदतनुज्वरभाक् तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्।
सपदि तस्य चिराऽन्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत॥ २॥

अन्वयः—सा अतनुज्वरभाक् (सती) यत् प्रियकथासरसीरसमज्जनं तनुते स्म। (तदा) तस्य सपदि चिराऽन्तरतापिनी विषमा परिणतिः समपद्यत।

व्याख्या—सा=दमयन्ती, अतनुज्वरभाक्=कामज्वरयुक्ता, अधिकज्वरयुक्ता (सती), यत् प्रियकथासरसीरसमज्जनं=नलकथाकासारजलस्नानं, तनुते स्म=चकार। ((तदा) तस्य=मज्जनस्य, सपदि=तत्क्षणं, चिराऽन्तरतापिनी=दीर्घसमयाऽभ्यन्तरतापकारिणी, विषमा=उद्दीपनस्वरूपा, परिणतिः=परिपाकः, समपद्यत=सञ्जाता।

अनुवाद—दमयन्तीने कामज्वरसे युक्त होकर जो प्रिय(नल)के कथा रूप तालाबमें स्नान किया, उस समय उस स्नानका उसी क्षण बहुत समयतक मनको सन्तप्त करनेवाला विषम परिणाम उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—अतनुज्वरभाक्=अविद्यमाना तनुः (शरीरम्) यस्य सः अतनुः (नञ्-बहु०), अतनु अर्थात् अनङ्ग, कामदेव। अतनोः ज्वरः (ष० त०)। तम् भजतीति, अतनुज्वर+भज्+ण्विः (उपपद०)। दूसरे पक्षमें—न तनुः अतनुः (नञ्०), तनु=थोड़ा, अतनुश्चाऽसौ ज्वरः (क० धा०)। प्रियकथासरसीरसमज्जनं=प्रियस्य कथा (ष० त०), सा एव सरसी (रूपक०), तस्य रसः, तस्मिन् मज्जनं, तत् (स० त०)। चिराऽन्तरतापिनी=अन्तरं तापयतीति अन्तर-

तापिनी, अन्तर + तप् + णिच् + ङीप् + सु (उप०), समपद्यत = सम् + पद + लङ् + त । जैसे ज्वरवाले मनुष्यको स्नान करनेसे विषम ज्वर होता है, उसी तरह कामज्वरवाली दमयन्तीको प्रिय नलके कथारूप तालाबमें स्नान करनेसे विषम परिणाम हुआ, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें ज्वरको हटानेके लिए जलमें स्नान करनेसे और भी ज्वरके वृद्धिरूप अनर्थकी संघटनासे विषम अलङ्कार हुआ है। जैसे कि उसका लक्षण है—

"गुणौ क्रिये वा यत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यदारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः॥
विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम्। (सा० द० १०-९१)

बारह प्रकारकी कामदशाओंके पक्षमें यह नवमी संज्वरावस्था है। बारह कामदशाएँ जैसे कि—

"चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोऽथ प्रलापिता।
जागरः कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ सञ्ज्वरः॥
उन्मादो मूर्च्छनं चैव मरणं चरमं विदुः॥ २॥

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी, तदुदितः स हि यो यदनन्तरः॥ ३॥

अन्वयः—द्व्यणुकोदरी इयं स्थितिविरोधकरीम् अधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः अधीतवती। हि यो यदनन्तरः स तदुदितः।

व्याख्या—द्व्यणुकोदरी = अतिकृशोदरी, इयं = दमयन्ती, स्थितिविरोधकरीं = स्त्रीमर्यादाविरोधहेतुम्, अवस्थानविरोधकारणं च, अधीरतां = चपलताम्, एकस्थानाऽनवस्थानं च, दयितदूतपतद्गतिवेगतः = प्रियदूतपक्षिगमनवेगात्, अधीतवती = गृहीतवती, प्राप्तवतीति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते— तदुदित इति। हि = यतः, यः = जनः, यदनन्तरः = यत्सन्निहितः, सः = जनः, तदुदितः = तदुत्पन्नः, ध्रुवं = किमु।

अनुवाद—अत्यन्त कृश उदरवाली यह (दमयन्ती) मर्यादा वा स्थितिका विरोध करनेवाले चञ्चल भाव (अस्थिरता) को प्रिय नलके दूत पक्षी- (हंस)के गतिवेगसे प्राप्त हुई, क्योंकि जो (भाव) जिसके निकट रहता है, वह उससे उत्पन्न हुआ है क्या ? ऐसा जाना जाता है।

टिप्पणी—द्व्यणुकोदरी = द्व्यणुकम् (इव) उदरं यस्याः सा (बहु०)। स्थितिविरोधकरीं = स्थितेर्विरोधः (ष० त०), "संस्था तु मर्यादा धारणा

स्थितिः" इत्यमरः । स्थितिविरोधं करोतीति तद्धेतुः, ताम् । स्थितिविरोध + कृ + ट + ङीप् + अम् (उपपद०) । अधीरतां = न धीरा अधीरा (नञ्०), तस्या भावः तत्ता, ताम्, अधीर + तल् + टाप् + अम् । दयितदूतपतद्गति-वेगतः = दयितस्य दूतः (ष० त०), स चाऽसौ पतत् (क० धा०), "पतत्पत्र-रथाऽण्डजाः" इत्यमरः । दयितदूतपततः गतिः (ष० त०), तस्या वेगः (ष० त०), तस्मात् । दयितदूतपतद्गतिवेग + तसिः । अधीतवती = अधि + इङ् + क्तवतु + ङीप् । यदनन्तरः = यस्य अनन्तरः (ष० त०) । तदुदितः = तस्मात् उदितः (प० त०) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यासका अङ्गाङ्गि-भावसे सङ्कर है ॥ ३ ॥

अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम् ।
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः ॥ ४ ॥

अन्वयः—तदाननं स्मितलवस्मरणेऽपि अतितमां जडाशयं समपादि । तदीक्षणखञ्जनः अपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकणे अपि पङ्गुः अजनि ।

व्याख्या—तदाननं = दमयन्तीमुखं, स्मितलवस्मरणेऽपि = मन्दहासलेशस्मृतावपि, अतितमाम् = अतिमात्रं, जडाशयं = मूढाऽभिप्रायं, समपादि = सम्पन्नं, हासलेशप्रकाशनेऽप्यनभिज्ञं जातमिति भावः । तथा च तदीक्षणखञ्जनः = दमयन्तीनेत्रखञ्जरीटः, अपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकणेऽपि = नेत्रप्रान्तस्वचत्वर-भ्रमणलेशेऽपि, पङ्गुः = असमर्थः, अजनि = जातः । कामज्वरवेगाद्दमयन्त्याः स्मितकटाक्षनिरीक्षणे लुप्तप्राये सञ्जाते इति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीका मुख मन्दहास्यके लेशमात्रके स्मरणमें भी अत्यन्त जड आशयवाला हो गया और उनके नेत्ररूप खञ्जनपक्षी अपाङ्गरूप अपने आँगनमें भ्रमणके लेशमें भी असमर्थ हो गये ।

टिप्पणी—तदाननं = तस्या आननम् (ष० त०) । स्मितलवस्मरणे = स्मितस्य लवः (ष० त०), तस्य स्मरणं, तस्मिन् (ष० त०) । जडाशयं = जड आशयो यस्य तत् (बहु०) । दमयन्तीका मुख थोड़ेसे मन्दहास्यके स्मरणमें भी जड हो गया, करनेमें फिर क्या कहना ? यह अभिप्राय है । समपादि = सं + पद + लुङ् + त (कर्तामें) । तदीक्षण-खञ्जनः = ईक्षणम् एव खञ्जनः (रूपक०), "खञ्जरीटस्तु खञ्जनः"

इत्यमरः । तस्या ईक्षणखञ्जनः (ष० त०) । अपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकणे=निजं च तत् अङ्गणम् (क० धा०) । "अङ्गणं चत्वराऽजिरे" इत्यमरः । अपाङ्ग एव निजाऽङ्गणम् (रूपक०) । तस्मिन् भ्रमिः (स० त०), तस्याः कणः, तस्मिन् (ष० त०) । अजनि=अज+लुङ्+त (कर्तामें) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ४ ॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विशतःस्म विगाहितुम् ।
तदभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ ? ॥ ५ ॥

अन्वयः—तदभिकेन मखभुजाम् अधिपेन ताम् आशु चिकित्सितुं नियोजितौ उभौ दिवः भिषजौ स्मरनलौ (सन्तौ) विगाहितुं तदन्तः विशतःस्म किमु ?

व्याख्या—तदभिकेन=दमयन्तीकामुकेन, मखभुजां=देवानाम्, अधिपेन =स्वामिना, देवेन्द्रेणेत्यर्थः । तां=दमयन्तीम्, आशु=शीघ्रं, चिकित्सितुं=भेषजीकर्तुं, नियोजितौ=आज्ञप्तौ, प्रेषिताविति भावः । उभौ=द्वौ, दिवः=स्वर्गस्य, भिषजौ=चिकित्सकौ, अश्विनीकुमाराविति भावः । स्मरनलौ=कामनैषधौ सन्तौ, विगाहितुं=प्रवेष्टुं, रोगनिदानं निश्चेतुमिति भावः । तदन्तः =दमयन्त्यन्तःकरणं, विशतःस्म किमु=प्रविष्टौ किमु । एतेन नलस्य कामदेवाऽश्विनीकुमारसदृशसौन्दर्यं व्यज्यते ।

अनुवाद—दमयन्तीके कामुक इन्द्रसे दमयन्तीको शीघ्र चिकित्सा करनेके लिए भेजे गये दोनों स्वर्गके वैद्य अश्विनीकुमारोंने कामदेव और नल होकर, रोगनिदानका निश्चय करनेके लिए दमयन्तीके अन्तःकरणमें प्रवेश किया है क्या ?

टिप्पणी—तदभिकेन=तस्या अभिकः, तेन (ष० त०), अभिक शब्द "अनुकाऽभिकाऽभीकः कमिता" इस सूत्रसे निपातित हुआ है । चिकित्सितुं=कित+सन्+तुमुन् । स्मरनलौ=स्मरश्च नलश्च (द्वन्द्वः) । विगाहितुं=वि+गाह+तुमुन् । तदन्तः=तस्या अन्तः, तत् (ष० त०) । इस पद्यमें चिन्ता-नामक व्यभिचारी भाव है । उसका लक्षण है—"ध्यानं चिन्तेप्सिताऽनाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।—सा० द० ३-१८० ॥ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५ ॥

कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्षयत तन्मुखम् ।
अहरहर्बहदभ्रधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—कुसुमचापजतापसमाकुलम् अहरहः अभ्यधिकाऽधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोः विधां वहत् कमलकोमलं तन्मुखम् ऐक्ष्यत ।

व्याख्या—अथ चिन्ताऽनुभावं सन्तापं वर्णयति—कुसुमेत्यादि । कुसुमचापजतापसमाकुलं=कामजन्यसन्तापविह्वलम्, (अतएव) अहरहः=प्रतिदिनम्, अभ्यधिकाऽधिकाम्=अत्यन्ताऽधिकां, रविरुचिग्लपितस्य=सूर्यकिरणम्लापितस्य, विधोः=चन्द्रमसः, विधां=प्रकारं, तादृशीमवस्थामिति भावः । वहत्=प्राप्नुवत्, कमलकोमलं=पद्मसममृदुलं, तन्मुखं=दमयन्त्याननम्, ऐक्ष्यत=दृष्टं, सखीजनेनेति शेषः ।

अनुवाद—कामजन्यसन्तापसे विह्वल, अतएव प्रतिदिन अत्यन्त अधिक सूर्यके तेजसे मुरझाये हुए चन्द्रमाकी अवस्थाको प्राप्त करता हुआ दमयन्तीका मुख दिखाई पड़ता था ।

टिप्पणी—कुसुमचापजतापसमाकुलं=कुसुमानि चापो यस्य सः (बहु०), कुसुमचापाज्जातः कुसुमचापजः, कुसुमचाप+जन्+डः (उपपद०)। स चाऽसौ तापः (क० धा०), तेन समाकुलम् (तृ० त०)। अहरहः=वीप्सामें द्विरुक्ति, अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया, "रोऽसुपि" इस सूत्रसे नकारके स्थानमें रेफ आदेश । अभ्यधिकाऽधिकाम्=अभ्यधिकाया अधिका, ताम् (प० त०)। रविरुचिग्लपितस्य=रवेः रुचिः (ष० त०), तया ग्लपितः, तस्य (तृ० त०)। विधां="विधा विधौ प्रकारे च"त्यमरः । वहत्=वह+लट् (शतृ)+सु । कमलकोमलं=कमलम् इव कोमलम् (उपमानकर्म०) । तन्मुखं=तस्य मुखम् (ष० त०)। ऐक्ष्यत=ईक्ष+लङ् (कर्ममें) +त । इस पद्यमें "कमलकोमलम्" यहाँपर उपमा और एककी विधाको दूसरा कैसे प्राप्त करेगा, ऐसे आक्षेपसे निदर्शना, इस प्रकारसे अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६ ॥

तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तथा ।
अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम् ? ॥ ७ ॥

अन्वयः—तत्कुचकुम्भयुगं तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम कुसुमचापकुलालविलासजम् अनलसङ्गतितापं नो उपैतु ?

व्याख्या—तत्कुचकुम्भयुगं=दमयन्तीस्तनकलशयुग्मं, तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम=तारुण्यातपकृतदृढत्वं, कुसुमचापकुलालविलासजम्=मदनकुम्भ-

कारव्यापारजन्यम्, अनलसङ्गतितापं=नलसङ्गत्यभावसन्तापं, वह्निसङ्गम-सन्तापं, नो उपैतु=न प्राप्नोतु, प्राप्नोत्येवेति भावः।

अनुवाद—दमयन्तीके दो स्तनकलश, तारुण्यरूप सूर्यतापसे दृढ बनाये गये, कामदेवरूप कुम्भकारके कर्मसे उत्पन्न नलकी सङ्गतिके अभावरूप अग्निसंगतिसे तापको प्राप्त नहीं करेंगे ? (करेंगे ही)।

टिप्पणी—तत्कुचकुम्भयुगं=कुचौ एव कुम्भौ (रूपक०), तस्याः कुच-कुम्भौ (ष० त०), तयोर्युगम् (ष० त०)। तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम=दृढस्य भावो द्रढिमा, दृढ शब्दसे "वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय और "र ऋतो हलादेर्लघोः" इससे ऋकारके स्थानमें "र" आदेश। तरुणस्य भावस्तरुणता, तरुण+तल्+टाप्। तपनस्य द्युतिः (ष० त०)। तरुणता एव तपनद्युतिः (रूपक०), निर्मितो द्रढिमा यस्य तत् (बहु०)। तरुणतातपनद्युत्या निर्मितद्रढिम (तृ० त०)। कुसुमचापकुलालविलासजं=कुसुमानि चापो यस्य सः (बहु०), कुसुमचाप एव कुलालः (रूपक०), तस्य विलासः (ष० त०), कुसुमचापकुलालविलासात् जातः, तम्। कुसुमचाप-विलास+जन्+ड (उपपद०) अम्। अनलसंगतितापं=नलस्य संगतिः (ष० त०), न नलसंगतिः (नञ्०), अनलसंगतिः (नलसंगत्यभावः) एव अनल-संगतिः (अग्निसंगतिः), इस प्रकारसे यहाँ श्लिष्टरूपक अलङ्कार है। नो उपैतु ?=यहाँपर काकु है, उपैतु एव। जैसे कुम्भकार (कुम्हार) कच्चे घड़े-को दृढ बनानेके लिए पहले घाममें सन्तप्त कर पीछे अग्निमें तपाता है। वैसे ही कामदेव भी यौवनके तापसे दृढ बनाये गये दमयन्तीके कुचोंकी नलकी संगति न होनेसे अग्नितापके तुल्य और अधिक सन्तप्त नहीं करेगा ? करेगा ही, यह तात्पर्य है ॥ ७ ॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जितं मनसिजेन तदूरुयुगं तदा।
स्पृशति तत्कदनं कदलीतरुर्यदि मरुज्ज्वलदूषरदूषितः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तदा यत् तदूरुयुगं मनसिजेन विरहोष्मणि मज्जितम् अधृत। कदलीतरुः मरुज्ज्वलदूषरदूषितः यदि, तत्कदनं स्पृशति।

व्याख्या—तदा=तस्मिन् समये, यत् तदूरुयुगं=दमयन्तीसक्थियुग्मं, मनसिजेन=कामदेवेन, विरहोष्मणि=वियोगदाहे, मज्जितं=स्थापितं सत्, अधृत=अवस्थितम्। कदलीतरुः=रम्भावृक्षः, मरुज्ज्वलदूषरदूषितः=धन्व-प्रदेशतप्यमानोषरक्षेत्रविकारितः, यदि=चेत्, तत्कदनम्=ऊरुयुगकलहम् तदूरुयुगसाम्यमिति भावः। स्पृशति=प्राप्नोति।

अनुवाद—उस समय जो दमयन्तीके ऊरुओंको कामदेवने विरहके सन्ताप-में डाल दिया, केलेका स्तम्भ मरुदेशके जलते हुए ऊषरक्षेत्रसे दूषित हो तो उन ऊरुओंसे समता प्राप्त करेगा ।

टिप्पणी—तदूरुयुगम्=ऊर्वोर्युगम् (ष० त०), तस्या ऊरुयुगम् (ष० त०) । मनसिजेन=मनसि जातः, तेन, मनस्+जन्+डः (उपपद०), "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" इससे अलुक् । विरहोष्मणि=विरहस्य ऊष्मा, तस्मिन् (ष० त०) । अधृत=धृङ्+लुङ्+त, "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्-का लोप । कदलीतरुः=कदली चाऽसौ तरुः (क० धा०) । मरुज्वलदूषर-दूषितः=ज्वलच्च तत् ऊषरम् (क० धा०), मरौ ज्वलदूषरं (स० त०), तेन दूषितः (तृ० त०) । तत्कदनं=तेन कदनं, तत् (तृ० त०) । स्पृशति=स्पृश+लट्+तिप् । इस पद्यमें प्रसिद्ध उपमान कदलीतरुको उपमेय बनानेसे प्रतीप अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाऽभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते" ।।सा० द० १०-१०३।।

स्मरशराहतिनिर्मितसञ्ज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः ।
अनपिधानपतत्तपनाऽऽतपं तपनिपीतसरःसरसीरुहम् ।। ९ ।।

अन्वयः—स्मरशराहतिनिर्मितसञ्ज्वरं दमस्वसुः करयुगम् अनपिधान-पतत्तपनाऽऽतपं तपनिपीतसरःसरसीरुहं हसति स्म ।

व्याख्या—स्मरशराहतिनिर्मितसञ्ज्वरं = कामबाणाघातजनितसन्तापं, दमस्वसुः=दमयन्त्याः, करयुगं=हस्तयुगलम्, अनपिधानपतत्तपनाऽऽतपम्=अनावरणप्रविशत्सूर्यद्योतं, तपनिपीतसरःसरसीरुहं=ग्रीष्मशोषितकासारकमलं, हसति स्म=हसितवत्, तत्सदृशमभूदिति भावः ।

अनुवाद—कामबाणोंके आघातसे सन्तापयुक्त दमयन्तीके दोनों हाथ, आव-रणके न होनेसे सूर्यके तापसे युक्त ग्रीष्मऋतुसे सुखाये गये कमलका उपहास करते थे ।

टिप्पणी—स्मरशराहतिनिर्मितसंज्वरं=स्मरस्य शराः (ष० त०), तेषाम् आहतिः (ष० त०), निर्मितः संज्वरो यस्य तत् (बहु०), स्मरशराहत्या निर्मितसंज्वरम् (तृ० त०) । दमस्वसुः=दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०) । करयुगं=करयोर्युगम् (ष० त०) । अनपिधानपतत्तपनातपम्=न अपिधानं (नञ्०), तपनस्य आतपः (ष० त०), पतत् तपनातपः यस्मिंस्तत् (बहु०) ।

अनपिधानात् पतत्तपनातपं, तत् (प० त०)। तपनिपीतसरःसरसीरुहं= तपेन निपीतम् (तृ० त०), "निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः"। इत्यमरः। तपनिपीतं च तत् सरः (क० धा०), तस्मिन् सरसीरुहम् (स० त०), इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ९ ॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः ।
निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमधात्प्रतिबध्नती ॥ १० ॥

अन्वयः—दमनस्वसुः हृदा मदनतापभरेण विदीर्य यत् नो उदपाति। तम् अपराधं प्रतिबध्नती निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा अधात्।

व्याख्या—दमनस्वसुः=दमयन्त्याः, हृदा=हृदयेन, मदनतापभरेण= कामज्वरबाहुल्येन, विदीर्य=स्फुटित्वा, यत्, नो उदपाति=न उत्पतितम्। तं=तादृशम्, अपराधम्=आगः, अनुत्पतनरूपमिति भावः। प्रतिबध्नती= निरुन्धती, निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा=घनपीवरस्तनद्वितयबन्धः, अधात्= धृतवती।

अनुवाद——दमयन्तीका हृदय कामसन्तापके आधिक्यसे विदीर्ण होकर जो नहीं उड़ा, उस अपराधको रोकनेवाला गाढ और पुष्ट दो कुचोंके बन्धनने धारण किया।

टिप्पणी—दमनस्वसुः=दमनस्य स्वसा, तस्याः, (ष० त०)। मदन-तापभरेण=मदनस्य तापः, (ष० त०), तस्य भरः, तेन (ष० त०)। विदीर्य=वि+दृ+क्त्वा (ल्यप्)। उदपाति=उद्+पत्+लुङ् (भाव-में)+त। प्रतिबध्नती=प्रति+बन्ध+श्ना+लट् (शतृ)+ङीप्+सु। निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा=कुचयोर्द्वयम् (ष० त०), निबिडं च तत् पीनं (क० धा०), निबिडपीनं च तत् कुचद्वयं (क० धा०), तस्य यन्त्रणा (ष० त०)। अधात्=धाञ्+लुङ्+तिप्। इस पद्यमें अत्यन्त दाह होनेपर भी हृदयका जो विदीर्ण न होना है, उसमें आयुके शेष होनेसे कुचके प्रतिबन्धन-की उत्प्रेक्षा की गई है। व्यञ्जक "इव" आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानो-त्प्रेक्षा है ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ? ॥ ११ ॥

अन्वयः—शूकशिखा पदे निविशते यदि, सा कियतीम् इव व्यथां न सृजति। तु अवनिभृत् हृदि निविश्य स्थितः (सन्) मृदुतनोः तां कथं न वितनोतु।

व्याख्या— शूकशिखा = कण्टकाऽग्रं, पदे = चरणे, निविशते यदि = प्रविशति चेत्, सा = प्रविष्टा शूकशिखा, कियतीम् इव = किं परिमाणाम् इव, व्यथां = व्यथां, पीडामित्यर्थः। न सृजति = न उत्पादयति, महतीं व्यथां सृजतीति भावः। तु = परन्तु। अवनिभृत् = राजा (नलः) पर्वतश्च, हृदि = हृदये, दमयन्त्या इति शेषः। निविश्य = प्रविश्य, स्थितः = वर्तमानः (सन्), मृदुतनोः = कोमलाङ्ग्याः, दमयन्त्या इत्यर्थः, तां = तथाविधां, व्यथामिति भावः, कथं = केन प्रकारेण, न वितनोतु = न सृजतु, वितनोत्वेवेति भावः।

अनुवाद—काँटेकी नोक भी पैरमें घुस जाती है तो वह कैसी पीडा नहीं करती है (करती है)। परन्तु राजा (एक पक्षमें पर्वत) हृदयमें घुसकर अवस्थित होते हुए कोमल शरीरवाली दमयन्तीको वैसी पीडा क्यों नहीं करेंगे ?

टिप्पणी— शूकशिखा = शूकस्य शिखा (ष० त०)। "शूकोऽस्त्री श्लक्ष्णतीक्ष्णाऽग्रे" इत्यमरः। निविशते = नि + विश् + लट् + त, "नेर्विशः" इस सूत्रसे आत्मनेपद हुआ है। इव = यह पद वाक्यालङ्कारमें है। अवनिभृत् = अवनिं बिभर्तीति, अवनि + भृ + क्विप् (उपपद०) + सु। निविश्य = नि + विश् + क्त्वा (ल्यप्)। मृदुतनोः = मृदुः तनुः यस्याः सा, तस्याः (बहु०)। वितनोतु = वि + तनु + लोट् + तिप्। इस पद्यमें पैरमें सूक्ष्म कण्टकके घुसनेमें भी दुःख दुःसह होता है तो कोमलाङ्गी दमयन्तीके हृदयमें महाकाय राजा नलके प्रवेश करनेसे क्या कहना है ? इस प्रकारसे कैमुत्यन्यायसे अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ११ ॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयाऽन्तरुपेतयोः।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

अन्वयः—मनसि सन्तं प्रियम् ईक्षितुं स्पृहया अन्तः उपेतयोः इव इदमीययोः नयनयोः सम्मुखवास्तुनि अपि वस्तुनि ग्रहणशक्तिः न अभूत्।

व्याख्या—मनसि = हृदये, सन्तं = वर्तमानं, प्रियं = वल्लभं नलम्, ईक्षितुं = द्रष्टुं, स्पृहया = इच्छया, अन्तः = अभ्यन्तरं, हृदयदेशमित्यर्थः, उपेतयोः इव = प्रविष्टयोः इव, इदमीययोः = अस्याः (दमयन्त्याः) सम्बन्धिनोः, नयनयोः = नेत्रयोः, सम्मुखवास्तुनि अपि = पुरोवर्तिनि अपि, वस्तुनि = पदार्थे, ग्रहणशक्तिः = साक्षात्कारसामर्थ्यं, न अभूत् = न अभवत्, भैमी नलव्यासङ्गात्र किञ्चिदन्यदद्राक्षीदिति भावः।

अनुवाद—मनमें स्थित प्रिय नलको देखनेके लिए इच्छासे हृदयके भीतर प्रविष्टके समान दमयन्ती नेत्रोंके समीपमें विद्यमान पदार्थमें भी साक्षात्कार करनेको सामर्थ्य नहीं हुई।

टिप्पणी—ईक्षितुम्=ईक्ष+तुमुन्। उपेतयोः=उप+इण्+क्त+ओस्। इदमीययोः=अस्या इमे इदमीये, तयोः इदम्+छ (ईयः)+ओस्। सम्मुखवास्तुनि=सम्मुखं वास्तु (स्थानम्) यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०)। ग्रहणशक्तिः=ग्रहणस्य शक्तिः (ष० त०)। अभूत्=भू+लुङ्+तिप्। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। चिन्ता व्यभिचारी भाव है॥ १२॥

हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखाऽऽनतेः।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलाऽऽगमितं मुखम्॥ १३॥

अन्वयः—विरहात्तमुखाऽऽनतेः दमस्वसुः मुखम् अश्रुझरप्लुते हृदि प्रतिफलत् (सत्) हृदयभाजं नलं चुम्बितुम् उपेत्य आगमितं किल अराजत।

व्याख्या—विरहाऽऽत्तमुखाऽऽनतेः=विरहप्राप्तवदननमनायाः, विरहेण नम्रमुखाया इति भावः। दमस्वसुः=दमयन्त्याः, मुखं=वदनम्, अश्रुझरप्लुते=नयनजलप्रवाहसिक्ते, हृदि=हृदये, प्रतिफलत्=प्रतिबिम्बितं सत्, हृदयभाजं=हृत्स्थितं, नलं=नैषधं, चुम्बितुं=चुम्बनं कर्तुम्, उपेत्य=गत्वा, आगमितं किल=सञ्जातागमनं किल, प्रत्यागतम्। अराजत=रराज, विरहेण भैम्या मुखं नम्रं जातमश्रु च निर्गतमिति भावः।

अनुवाद=वियोगसे नम्र मुखवाली दमयन्तीका मुख आँसुओंके प्रवाहसे सिक्त हृदयमें प्रतिबिम्बित होता हुआ हृदयसे वर्तमान नलको चुम्बन करनेके लिए जाकर लौटे हुएके समान शोभित हुआ।

टिप्पणी—विरहाऽऽत्तमुखाऽऽनतेः=विरहेण आत्ता (तृ० त०), मुखस्य आनतिः (ष० त०), विरहात्ता मुखानतिर्यया सा, तस्याः (बहु०)। अश्रुझरप्लुते=अश्रूणां झरः (ष० त०), तेन प्लुतं, तस्मिन् (तृ० त०)। प्रतिफलत्=प्रति+फल+लट् (शतृ)+सु। हृदयभाजं+हृदयं भजतीति हृदयभाक्, तम्। हृदय+भज+ण्वि (उपपद०)+अम्। आगमितम्=आगमः सञ्जातः अस्य, तत् (आगम+इतच्)। किल="वार्तासम्भाव्ययोः किल" इत्यमरः। अराजत=राज+लङ्+त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ १३॥

सुहृदमग्निमुदन्वयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता॥ १४॥

अन्वयः—गन्धवहेन सुहृदं मृगीदृशो मनसि स्मरम् अग्निम् उदञ्चयितुं निःश्वसितेन विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता अकलि (नूनम्)।

व्याख्या—गन्धवहेन=वायुना, बाह्येनेति शेषः। सुहृदं=सखायं, मृगीदृशः=हरिणाक्ष्याः, भैम्या इति भावः। मनसि=हृदये, स्थितमिति शेषः। स्मरम्=कामम् एव, अग्निम्=अनलम्, उदञ्चयितुम्=उद्दीपयितुं, निःश्वसितेन=निःश्वासवायुच्छलेन, विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता= बहिर्निःसारणाऽनुमितिविषयीकृतप्रागज्ञातान्तःप्रवेशमायावित्वम्, अकलि=प्राप्तं, नूनमिति शेषः।

अनुवाद—(बाहरके) वायुने सुन्दरी दमयन्तीके मनमें स्थित मित्र कामदेवरूप अग्निको उद्दीप्त करनेके लिए निःश्वास वायुके छलसे बाहर निकलनेसे अनुमति गुप्त प्रवेशमें मायावीका भाव प्राप्त कर लिया है क्या? ऐसा मालूम होता है।

टिप्पणी—मृगीदृशः=मृग्या इव दृशौ यस्याः सा मृगीदृक्, तस्याः (व्यधिकरणबहु०)। उदञ्चयितुम्=उद्+अञ्च+णिच्+तुमुन्। विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता=विनिर्गमेन अनुमितम् (तृ० त०), निह्नुतं च तद् वेशनम् (क० धा०), माया अस्याऽस्तीति मायी, माया शब्दसे 'व्रीह्यादिभ्यश्च'' इस सूत्रसे इनि प्रत्यय, मायिनो भावः, मायिन्+तल्+टाप्। विनिर्गमाऽनुमितं च निह्नुतवेशनं (क० धा०), तस्मिन् मायिता (स० त०)। अकलि=कल+लुङ् (कर्ममें)+त। जैसे किसीके घरमें आग लगानेवाला गुप्त रूपसे प्रवेश करके प्रकाश रूपसे बाहर निकलता है, उसी प्रकार वायु भी निःश्वासके बहानेसे वैसा करके निकला। इस प्रकारसे यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः ।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तद्दृक् लिपिकरी विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः दश दिशः (भित्तीः) नलरूपकचित्रिताः अकल्पयत् खलु।

व्याख्या—तद्दृक्=दमयन्तीदृष्टिः (एव), लिपिकरी=चित्रकरी, विरहपाण्डिम-राग-तमोमषीशितिम-तन्निजपीतिमवर्णकैः = वियोगशरीरश्वैत्याऽनुरागरक्तिम-मोहमषीनीलिम-भैमीस्वकनकवर्णकैः (चित्रसाधनैः), दश=दश-

संख्यकाः, दिशः = काष्ठाः (एव भित्तीः), नलरूपकचित्रिताः = नैषधप्रतिकृतिसञ्जातचित्राः, अकल्पयत् = असृजत्, खलु ।

अनुवाद— दमयन्तीकी दृष्टिरूप चित्रकारीने विरहसे शरीरके शैत्य, अनुरागरूप रक्तता, मोहरूप मसी (स्याही) की नीलता और दमयन्तीके अपनी पीततारूप चित्रके साधनोंसे दश दिशाओं (भित्तियों) को नलकी प्रतिकृतियोंसे चित्रित कर दिया ।

टिप्पणी—तद्दृक् = तस्या दृक् (ष० त०) । लिपिकरी = लिपिं करोतीति, लिपि-शब्द पूर्वक कृ धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय, "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् । विरहपाण्डिमरागेत्यादिः = विरहेण पाण्डिमा (तृ० त०), राग एव रागः (श्लिष्टरूपकम्), तम एव मषी (रूपक०), तस्याः शितिमा (ष० त०), निजश्चाऽसौ पीतिमा (क० धा०), तस्या निजपीतिमा (ष० त०), विरहपाण्डिमा च रागश्च तमोमषीशितिमा च तन्निजपीतिमा च (द्वन्द्वः), पीतिमानः, ते एव वर्णकाः, तैः (रूपक०) । दिशः = यह कर्म पद है । नलरूपकचित्रिताः = नलस्य रूपकाणि (ष० त०), तैः चित्रिताः (तृ० त०) । अकल्पयत् = कृप् + णिच् + लङ् + तिप् । दमयन्तीने निरन्तर नलकी चिन्तासे उत्पन्न भ्रान्तिसे प्रत्येक दिशामें मिथ्या नलको देख लिया, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥१५॥

स्मरकृतिं हृदयस्य मुहुर्दशां बहु वदन्निव निःश्वसिताऽनिलः ।
व्यधित वाससि कम्पमदःश्रिते, त्रसति कः सति नाऽऽश्रयबाधने ? ॥१६॥

अन्वयः—निःश्वसिताऽनलः स्मरकृतिं हृदयस्य दशां बहु वदन् इव अदःश्रिते वाससि कम्पं मुहुः व्यधित । आश्रयबाधने सति को न त्रसति ?

व्याख्या—निःश्वसिताऽनिलः = निःश्वासवायुः, दमयन्त्या इति शेषः । स्मरकृतिं = कामसृष्टिरूपां, हृदयस्य = हृत्पिण्डस्य, दमयन्त्या इति शेषः । दशाम् = अवस्थां, बहु = अधिकं, बहुवारमित्यर्थः । वदन् इव = "एवं कम्पते" इति कथयन् इव, अदःश्रिते = हृदयाऽऽश्रिते । वाससि = वसने, कम्पं = चलनं, तत्कारणं त्रासं च, मुहुः = वारं वारं, व्यधित = विहितवान्, उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—त्रसतीति । आश्रयबाधने सति = आधारबाधायां सत्यां, कः = जनः, न त्रसति = नो बिभेति ? सर्वोऽपि त्रसत्येवेति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीके निःश्वास वायुने कामदेवकी रचनारूप हृदयकी अवस्थाको बहुत बार कहते हुए के समान हृदयको आश्रित वस्त्रमें कम्प और

उसके कारण त्रासको भी बारम्बार किया, क्योंकि आधारकी बाधा होनेपर कौन त्रस्त नहीं होता है ? (सभी त्रस्त होते हैं)।

टिप्पणी—निःश्वसिताऽनिलः=निःश्वसितस्य अनिलः (ष० त०)। स्मर-कृतिं=स्मरस्य कृतिः, ताम् (ष० त०)। "स्मरकृताम्" यह नारायण-पण्डितका पाठ है, उस पक्षमें स्मरेण कृता, ताम् (तृ० त०)। अदःश्रिते=अदः श्रितं, तस्मिन् (द्वि० त०)। अथवा "अदः" यह व्यस्त पद है। व्यधित= वि+धा+लुङ्+त। 'स्थाघ्वोरिच्च" इससे इकार और "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १६ ॥

करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे।
रविमहो बहु पीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसृज्यत ॥ १७ ॥

अन्वयः—करपदाऽऽननलोचननामभिः शतदलैः चिरात् पीतचरं बहु रवि-महः सुतनोः विरहज्वरे अनिशतापमिषात् उदसृज्यत (नूनम्)।

व्याख्या—करपदाऽऽननलोचननामभिः=हस्तपादमुखनयनसंज्ञकैः, शत-दलैः=कमलैः, चिरात्=बहुकालात् प्रभृति, पीतचरं=रसवशात् पूर्वपीतं, बहु=भूरि, रविमहः=सूर्यतेजः, सुतनोः=सुन्दर्या दमयन्त्याः, विरहज्वरे= वियोगज्वराऽवस्थायाम्, अनिशतापमिषात्=निरन्तरोष्मच्छलात्, उदसृज्यत= उत्सृष्टम् (नूनम्)।

अनुवाद—हाथ, पैर, मुख और नेत्र नामवाले कमलोंने चिरकालसे पहले पीये गये अधिक सूर्यके तेजको दमयन्तीके वियोगज्वरकी अवस्थामें निरन्तर तापके बहानेसे छोड़ दिया है क्या ? ऐसा प्रतीत होता है।

टिप्पणी—करपदाऽऽननलोचननामभिः=करौ च पदे च आननं च लोचने च करपदाऽऽननलोचनं, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इस सूत्रसे प्राण्यङ्ग होनेसे समाहारमें द्वन्द्वसमास, करपदाऽऽननलोचनं नामानि येषां तानि, तैः (बहु०)। शतदलैः=शतं दलानि येषां तानि, तैः (बहु०)। यहाँपर शत पद बहुत्वका उपलक्षक है। "सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्" इत्यमरः। पीतचरं=पूर्वं पीतम्, पीत शब्दसे "भूतपूर्वे चरट्" इस सूत्रसे चरट् प्रत्यय। रविमहः=रवेर्महः (ष० त०)। सुतनोः=शोभना तनुर्यस्याः सा सुतनुः, तस्याः (बहु०)। विरहज्वरे=विरहस्य ज्वरः, तस्मिन् (ष० त०)। अनिश-तापमिषात्=अनिशं (यथा तथा) तापः (सुप्सुपा०), तस्य मिषं, तस्मात् (ष० त०)। उदसृज्यत=उद्+सृज+लङ् (कर्ममें)। इस पद्यमें कमलोंका

दमयन्तीके कर-चरण आदिसे नाममात्रका भेद है, रूपभेद नहीं है—इस प्रकारसे अभेदकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है, अतिशयोक्तिमूल पूर्वपीत सूर्यतेजके वमनकी उत्प्रेक्षा है, वह तापके बहानेसे कहनेसे अपह्नुति है। इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है ॥ १७ ॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत्।
अनुमितोऽपि च बाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः ॥१८॥

अन्वयः—आलिभिः तत्र धरणिभृद्भुवि विमृश्य बाष्पनिरीक्षणात् अनुमितः अपि तापकरः नलः (अनलो वा) यत् न व्यभिचचार तत् अद्भुतम् उदयति स्म।

व्याख्या—आलिभिः=सखीभिः, तत्र=तस्यां, धरणिभृद्भुवि=राजपुत्र्यां भैम्यां, पर्वतभूमौ च, विमृश्य=विचार्य, व्याप्तिमनुसन्धायेति भावः। बाष्प-निरीक्षणात्=अश्रुलिङ्गदर्शनात् धूमदर्शनात् च, अनुमितः अपि=तर्कितः अपि, लिङ्गाऽवधारितः अपि, तापकरः=सन्तापजनकः, नलः=नैषधः, पक्षा-न्तरे अनलः (अग्निः), यत्, न व्यभिचचार=न अन्यथा बभूव, निश्चयज्ञानं बभूवेति भावः। तत्, अद्भुतम्=आश्चर्यम्, उदयति स्म=उत्पन्नम्।

अनुवाद—जैसे पर्वतकी भूमिमें व्याप्तिका अनुसन्धान करके धूमको देखनेसे अनुमित, ताप करनेवाले अग्निका निश्चय किया जाता है, वैसे ही सखियोंने राजकुमारी दमयन्तीमें विचार करके आँसूको देखनेसे तर्कित, सन्ताप करनेवाले नलका निश्चय कर लिया, यह आश्चर्य हुआ है।

टिप्पणी—धरणिभृद्भुवि=धरणिं बिभर्तीति धरणिभृत्, धरणि+भृ+क्विप् (उपपद०), पर्वत वा राजा भीम। धरणिभृतो भवतीति धरणीभृद्भूः, तस्याम्, धरणिभृत्+भू+क्विप् (उपपद०)+ङि। पर्वतभूमिमें वा राज-कुमारी दमयन्तीमें। विमृश्य=वि+मृश+क्त्वा (ल्यप्)। बाष्पनिरी-क्षणात्=बाष्पस्य (धूमस्य, अश्रुणः वा) निरीक्षणं, तस्मात् (ष० त०)। धूआँको देखनेसे वा आँसूको देखनेसे। अनुमितः=अनु+मा+क्तः। तापकरः=तापं करोतीति तद्धेतुः, ताप+कृ+टः, "कृञो हेतुताच्छील्याऽऽ-नुलोम्येषु" इससे ट प्रत्यय। व्यभिचचार=वि+अभि+चर+लिट्+तिप्। उदयति स्म=उद्-उपसर्गपूर्वक "अय गतौ" धातुसे 'स्म' के योगमें भूत अर्थमें लट्। "अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्" इस परिभाषाको आश्रय करके परस्मैपद हुआ है, यह महामहोपाध्याय मल्लिनाथका मत है। नारायण पण्डित

के मतमें "इट किट कटी गतौ" यहाँपर कटि + ई ऐसा न्यास कर 'इ' धातुसे परस्मैपदमें लट् । यह मत भट्टोजिदीक्षितसे भी सम्मत है । दमयन्तीका यह सन्ताप नलकी चिन्तासे उत्पन्न है, यह बात उनके आँसूको देखनेसे सखियोंने भांप लिया, यह अभिप्राय है । धूमरूप लिङ्गको देखनेसे अनल (अग्नि) का ज्ञान होता है, वह अव्यभिचारी (अविसंवादी) है, ऐसे विरोधका अश्रुरूप लिङ्गसे सन्ताप करनेवाले नलका निश्चय किया, ऐसा आभास होनेसे विरोधाऽऽभास अलङ्कार है । वह श्लेषसे अनुप्राणित है । "तापकरो नलः" यह शब्दश्लेष है । अन्यत्र अर्थश्लेष है । अपि विरोधका द्योतक है ॥ १८ ॥

हृदि विदर्भभुवं प्रहरञ्शरैः रतिपतिर्निषधाऽधिपतेः कृते ।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु ॥ १९ ॥

अन्वयः—निषधाऽधिपतेः कृते विदर्भभुवं हृदि शरैः प्रहरन् रतिपतिः कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिः अलम् अमूर्च्छत् खलु ।

व्याख्या—निषधाऽधिपतेः=नलस्य, कृते=निमित्ते, विदर्भभुवं=वैदर्भीं, दमयन्तीम्, हृदि=हृदये, शरैः प्रहरन्=प्रहारं कुर्वन्, रतिपतिः=कामः, कृततदन्तरगस्वदृढव्यथाः=विहितभैमीहृद्गताऽऽत्मगाढदुःखः, अत एव फलदनीतिः=उत्पद्यमानदुर्नीतिः सन्, अलम्=अत्यन्तम्, अमूर्च्छत्=अवर्द्धत, मूर्च्छितश्च, खलु=निश्चयेन ।

अनुवाद—नलको प्रहार करनेके लिए दमयन्तीको हृदयमें प्रहार करता हुआ कामदेव दमयन्तीके हृदयमें स्थित अपनेको भी दृढ व्यथा उत्पन्न कर दुर्नीति प्रकट होनेसे अत्यन्त बढ़ गया, (मूर्च्छित) हुआ ।

टिप्पणी—निषधाऽधिपतेः=निषधानाम् अधिपतिः, तस्य (ष० त०) । कृते="अर्थे कृते च शब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ ।" विदर्भभुवं=विदर्भात् भवतीति विदर्भभूः, ताम्, विदर्भ + भू + क्विप् + अम् (उपपद०) । प्रहरन्= प्र + हृ + लट् (शतृ) । रतिपतिः=रतेः पतिः (ष० त०) । कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः=तस्या अन्तरम् (ष० त०), तस्मिन् गच्छतीति तदन्तरगः, तदन्तर + गम् + डः (उप०), तदन्तरगश्चासौ स्वः (क० धा०), दृढा चाऽसौ व्यथा (क० धा०), तदन्तरगस्वस्य दृढव्यथा (ष० त०), कृता तदन्तरगस्वदृढव्यथा येन सः (बहु०) । फलदनीतिः=न नीतिः अनीतिः (नञ्०), फलन्ती अनीतिर्यस्य सः (बहु०) । अमूर्च्छत्="मुर्च्छा मोहसमुच्छाययोः" इस

धातु से लङ् + त । इस पद्यमें श्लेष और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभाव-से सङ्कर है ॥ १९ ॥

विधुरमानि तया यदि भानुमान्, कथमहो ! स तु तद्धृदयं तथा ।
अपि वियोगभराऽस्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वमजिज्वलदंशुभिः ॥ २० ॥

अन्वयः— तया विधुः भानुमान् अमानि यदि । तु सः वियोगभराऽस्फुटन-स्फुटीकृतदृषत्त्वं तद्धृदयम् अपि कथं तथा अंशुभिः अजिज्वलत् अहो !

व्याख्या—तया = दमयन्त्या, विधुः = चन्द्रः, भानुमान् = सूर्यः, अमानि यदि = यतश्चेत्, विरहिण्यास्तन्न चित्रम् । तु = किन्तु, सः = विधुः, दमयन्त्या सूर्यत्वाऽभिमत इति भावः । वियोगभराऽस्फुटनस्फुटीकृतदृशत्त्वं=विरहभाराविशरणव्यक्तीकृतसूर्यकान्तत्वं, तद्धृदयं = दमयन्तीहृत्, तद्रूपं सूर्यकान्तमपीत्यर्थः । कथं = केन प्रकारेण, तथा = तेन प्रकारेण, सूर्यवदित्यर्थः । अंशुभिः = स्वतेजोभिः, अजिज्वलत् = ज्वलितवान्, अहो = आश्चर्यम् !

अनुवाद—दमयन्तीने चन्द्रमाको सूर्य मान लिया है, परन्तु उन चन्द्रमाने वियोगके भारसे विदीर्ण न होनेसे स्पष्ट रूपसे सूर्यकान्त मणिरूप दमयन्तीके हृदयको भी कैसे सूर्यके समान अपने तेजोंसे जला दिया है ? आश्चर्य है !

टिप्पणी— भानुमान् = प्रशस्ता भानवः सन्ति यस्य सः, भानु + मतुप् + सु । "भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्" इत्यमरः । अमानि= मन् + लुङ् (कर्ममें) + त । वियोगभराऽस्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वं = वियोगस्य भरः (ष० त०), तेन अस्फुटनम् (तृ० त०), अस्फुटं स्फुटं यथा सम्पद्यते तथा कृतं स्फुटीकृतं, स्फुट + च्वि + कृ + क्तः । दृशदो भावो दृषत्त्वम्, दृषद् + त्व । स्फुटीकृतं दृषत्त्वं यस्य तत् (बहु०), वियोगभराऽस्फुटनेन स्फुटकृतदृषत्वं (तृ० त०), तत् । तद्धृदयं = तस्या हृदयम् (ष० त०) । अजिज्वलत् = ज्वल + णिच् + लुङ् + तिप् । चन्द्रमा विरहियोंको उद्दीपक होनेसे भले ही सूर्यके समान ताप करे, परन्तु सूर्यकान्त मणिके समान दमयन्तीके हृदयको तपाना आश्चर्यकी बात है, यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया ।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चिताऽर्चिषि ? ॥ २१ ॥

अन्वयः— वियोगनिमग्नया हृदयदत्तसरोरुहया तया सदृक् क्व अस्तु ? (यद्वा) रतिः हृदा प्रियधनुः परिरभ्य अनुमर्तुं चिताऽर्चिषि अशेत किम् ?

व्याख्या—वियोगनिमग्नया=विरहाऽग्निमग्नया, अत एव हृदयदत्त-सरोरुहया=वक्षोनिक्षिप्तपद्मया, तया=दमयन्त्या, सदृक्=सदृशी स्त्री, क्व=कुत्र, अस्तु=भवतु, न क्वापीति भावः। यद्वा रतिः=कामपत्नी, हृदा=वक्षसा, प्रियधनुः=दयितपुष्पं, कमलमिति भावः, परिरभ्य=आलिङ्ग्य, अनुमर्तुम्=अनुमरणं कर्तुं, चितार्चिषि=चिताऽनले, अशेत किम्=शयिता किम्? मृतं पतिमनुगतुं चिताऽग्नौ शयाना साक्षाद्रतिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा। काम-ज्वराऽनलस्तया प्रज्वलतीति भावः।

अनुवाद—नलके विरहमें निमग्न अत एव हृदयमें कमलको रखनेवाली दमयन्तीके सदृश कहाँ होगी? अथवा यह रति ही हृदयसे प्रियके धनु (कमल)-को आलिङ्गन कर प्रिय(कामदेव)का अनुगमन करनेके लिए चिताकी आगमें सोई थी क्या?

टिप्पणी—वियोगनिमग्नया=वियोगे निमग्ना, तया (स० त०)। हृदया-दत्तसरोरुहया=हृदये दत्तम् (स० त०), हृदयदत्तं सरोरुहं यया सा, तया (बहु०)। सदृक्=समाना दृश्यते इति, समान उपपद-पूर्वक दृश् धातुसे "समानान्ययोश्चेति वाच्यम्" इस वार्तिकसे क्विन् प्रत्यय और "दृग्दृशवतुषु" इससे समान शब्दके स्थानमें "स" भाव। प्रियधनु=प्रियस्य धनुः, तत् (ष० त)। परिरभ्य=परि+रभ्+क्त्वा (ल्यप्)। अनुमर्तुम्=अनु+मृङ्+तुमुन्। चितार्चिषि=चितायाः अर्चि, तस्मिन् (ष० त०)। अशेत=शीङ्+लङ्+त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ २१॥

> अनलभावमियं स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुद्धयत।
> प्रशमनाय विधाय तृणान्यसूञ्ज्वलति तत्र यदुज्झितुमैहत॥ २२॥

अनुवाद—इयं स्वनिवासिनो विरहस्य रहस्यम् अनलभावं न अबुद्धयत। यत् तत्र ज्वलति (सति) प्रशमनाय असून् तृणानि विधाय उज्झितुम् ऐहत।

व्याख्या—इयं=दमयन्ती, स्वनिवासिनः=आत्मनिष्ठस्य, विरहस्य=नलवियोगस्य, रहस्यं=निगूढं, शमीवह्निवदिति शेषः। अनलभावम्=अग्नित्वं, नलरहितत्वं च, न अबुद्धयत=न अजानत्। यत्=यस्मात्कारणात्, तत्र=तस्मिन् विरहे, ज्वलति=दीप्यमाने सति, प्रशमनाय=निर्वापनाय, प्रज्वलनप्रतिकाराऽर्थमिति भावः। असून्=निजप्राणान्, तृणानि विधाय=तृणप्रायान्कृत्वा। उज्झितुं=त्यक्तुं प्रक्षिप्तुं च। ऐहत=ऐच्छत्। विरहस्य

अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छान्तये तत्र तृणप्रक्षेप इति भावः। विरहदुःखान्मर्तुमैच्छदिति तात्पर्यार्थः।

अनुवाद—दमयन्तीने अपनेमें विद्यमान वियोगके गुप्त वह्निभावको अथवा नलरहित तत्त्वको नहीं जाना, क्योंकि वियोगरूप अग्निके जलनेपर उसको बुझानेके लिए अपने प्राणोंको तृणप्राय बनाकर छोड़नेके वा झोंकनेके लिए इच्छा की।

टिप्पणी—स्वनिवासिनः=स्वे निवसतीति स्वनिवासी, तस्य, स्व+नि+वस+णिनि+ङस् (उपपद०)। रहस्यं=रहसि भवः, तम्, रहस्+यत्+अम्। अनलभावम्=अनलस्य भावः, तम् (ष० त०), अथवा नलस्य भावः (ष० त०), न नलभावः, तम् (नञ्०)। अबुध्यत=बुध+लङ्+त। ज्वलति=ज्वल+लट् (शतृ)+ङि। विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। ऐहत=ईह+लङ्+त। दमयन्ती नलके विरहको अग्नि जानती तो क्यों उसमें अपने प्राणरूप तृणको डाल देती? दमयन्तीने विरहके दुःखसे मरनेकी इच्छा की, यह तात्पर्य है॥ २२॥

प्रकृतिरेतु गुणः स न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत्?
तदिषुभिः कुसुमैरपि धुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा॥ २३॥

अन्वयः—योषितां हृदयं मृदु नाम (इति) यत् स प्रकृतिः गुणः इमां कथं न एतु? तत् कुसुमैः अपि धुन्वता विबुधेन मनोभुवा सुविवृतम्।

व्याख्या—योषितां=स्त्रीणां, हृदयम्=अन्तःकरणं, मृदु=कोमलं, नाम=प्रसिद्धौ, इति यत्, सः, प्रकृतिः=प्रकृतिसिद्धः, गुणः=मार्दवगुणः, इमां=दमयन्तीं, कथं=केन प्रकारेण, न एतु=न प्राप्नोतु, प्राप्नोत्वेवेत्यर्थः। कुतः? तत्=मृदुत्वं, कुसुमैः अपि=पुष्पैरपि बाणैः, धुन्वता=कम्पयता, "दुन्वता" इति पाठे पीडयता इत्यर्थः। विबुधेन=देवेन विदुषा च, मनोभुवा=कामेन, सुविवृतं=सम्यग्व्याख्यातम्।

अनुवाद—स्त्रियों का हृदय कोमल होता है, ऐसी जो प्रसिद्धि है, वह प्रकृतिसिद्ध मार्दवरूप गुण दमयन्तीको क्यों नहीं प्राप्त करेगा? (प्राप्त ही करेगा) उस कोमलताको फूलरूप बाणोंसे भी कम्पित करनेवाले देवता वा विद्वान् कामदेवने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया।

टिप्पणी—सः=यहाँपर विधेय गुणका प्रधानतासे पुंल्लिङ्गता है। एतु=इण्+लोट्+तिप्। धुन्वता=धुनोतीति धुन्वन्, तेन, धूञ्+लट् (शतृ)+

टा। "दुन्वता" ऐसे पाठमें दुनोतीति दुन्वन्, तेन, (टु) दु + लट् (शतृ)+ टा। सुविवृतम्=सु+वि+वृ+क्त। दमयन्तीका हृदय फूलसे भी सुकुमार है, यह इस पद्यका तात्पर्य है ॥ २३ ॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम्।
इतरथाऽऽत्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराऽविशत् ॥ २४ ॥

अन्वयः—रिपुतरा विधुरुचिः भवनात् अविनिर्यतीं तां ज्वलयितुम् इतरथा आत्मनिवारणशङ्कया बिसवेषधरा (सती) गृहजालबिलैः अविशत् नु ?

व्याख्या---रिपुतरा=शत्रुतरा, अतिद्वेषिणीति भावः। विधुरुचिः=चन्द्रप्रभा, भवनात्=निकेतनात्, अविनिर्यतीम्=अनिर्गच्छन्तीं, तां=दमयन्तीं, ज्वलयितुं=सन्तापयितुम्, इतरथा=निजरूपेण प्रवेशे, आत्मनिवारणशङ्कया=स्वप्रवेशनिषेधभीत्या, बिसवेषधरा=मृणालनेपथ्यधारिणी सती, गृहजालबिलैः=गवाक्षच्छिद्रैः, अविशत् नु=प्रविष्टा किम् ?

अनुवाद—दमयन्तीका अत्यन्त द्वेष करनेवाली चन्द्रकान्ति अपने रूपसे प्रवेश करनेपर अपने निवारणकी आशङ्कासे मृणालका वेश धारण करके भवनसे बाहर न निकलनेवाली दमयन्तीको सन्ताप करनेके लिए भवनकी खिड़कीके छेदसे प्रविष्ट है क्या ? ऐसा मालूम होता है।

टिप्पणी—रिपुतरा=रिपु+तरप्+टाप्। विधुरुचिः=विधोः रुचिः (ष० त०)। भवनात्=अपादानमें पञ्चमी। अविनिर्यतीं=न विनिर्यती, ताम् (नञ्०)। ज्वलयितुं=ज्वल+णिच्+तुमुन्। इतरथा=इतर+थाल्। आत्मनिवारणशङ्कया=आत्मनो निवारणं (ष० त०), तस्य शङ्का, तया (ष० त०)। बिसवेषधरा=बिसस्य वेषः (ष० त०), तस्य धरा (ष० त०)। गृहजालबिलैः=गृहस्य जालं (ष० त०), तस्य बिलानि, तैः (ष० त०)। अविशत्=विश+लङ्+तिप्। मदन-तापको हटानेके लिए शीतोपचारके कारणभूत मृणालके अङ्कुर भवनके भीतर रही हुई दमयन्तीको पीड़ित करनेके लिए गुप्त रूपसे प्रविष्ट चन्द्रकिरणों के समान प्रतीत होते थे, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २४ ॥

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम्।
मुखदृगोष्ठमरोपि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिलाः शराः ॥ २५ ॥

अन्वयः—विदर्भभुवो विनमदास्यतया अश्रुभृति हृदि स्फुटं प्रतिबिम्बितं मुखदृगोष्ठं मनोभुवा तदुपमाकुसुमानि अखिलाः शराः अरोपि।

व्याख्या—विदर्भभुवः=वैदर्भ्याः, दमयन्त्याः। विनमदास्यतया=नम्राननत्वेन हेतुना, अश्रुभृति=नयनजलधारिणि, अश्रुसिक्त इति भावः। हृदि=उरःस्थले, स्फुटं=व्यक्तं, प्रतिबिम्बितं=प्रतिफलितं, वैमल्यादिति शेषः। मुखदृगोष्ठं=वदननयनाऽधरं, मनोभुवा=कामेन, तदुपमाकुसुमानि=तदौपम्यपुष्पाणि, कमलं, नीलकमले, बन्धूकपुष्पे च, पञ्चधा स्थितानीति भावः। अखिलाः=समस्ताः, पञ्चाऽपीति भावः। शराः=बाणाः, अरोपि=रोपितम्।

अनुवाद—दमयन्तीके नम्रमुख होनेसे आँसुओंसे सिक्त हृदयमें व्यक्त रूपसे प्रतिबिम्बित मुख, नेत्र और ओष्ठको कामदेवने उनके उपमाके फूलोंको (कमलको दो नीलकमलोंको और दो बन्धुक पुष्पोंको) पाँचों बाणोंके रूपमें आरोपित कर दिया।

टिप्पणी—विदर्भभुवः=विदर्भ+भू+क्विप्+ङस्। विनमदास्यतया=विनमत् आस्यं यस्याः सा विनमदास्या (बहु०), तस्या भावस्तत्ता, तया विनमदास्या+तल्+टाप्+टा। अश्रुभृति=अश्रु बिभर्तीति, तस्मिन्, अश्रु+भृ+क्विप्+ङि। मुखदृगोष्ठं=मुख च दृशौ च ओष्ठौ च, प्राण्यङ्ग होनेसे "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इस सूत्रसे समाहारमें द्वन्द्व। तदुपमाकुसुमानि=उपमायाः कुसुमानि (ष० त०), तस्य उपमाकुसुमानि (ष० त०)। अरोपि=रुह्+णिच्+लुङ्+त (कर्ममें)। दमयन्तीके अश्रुसिक्त वक्षःस्थलमें प्रतिबिम्बित मुख, दो नेत्र और दो ओष्ठ—ये पांच अवयव कामदेवके आरोपित पांच बाणोंके समान देखे गये, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ २५॥

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्व्यधित भीमभुवः प्रतिबिम्बितः।
अनुपलक्ष्यसिताऽशुतया मुखं निजसखं सुखमङ्कमृगार्पणात्॥ २६॥

अन्वयः—विधुः भीमभुवो विरहपाण्डुकपोलतले प्रतिबिम्बितः अनुपलक्ष्यसिताऽशुतया सुखम् अङ्कमृगाऽर्पणात् मुखं निजसखं व्यधित।

व्याख्या—विधुः=चन्द्रः, भीमभुवः=दमयन्त्याः, विरहपाण्डुकपोलतले=वियोगपाण्डुरगण्डफलके, प्रतिबिम्बितः=प्रतिफलितः सन्, अनुपलक्ष्यसिताऽशुतया=दुर्लक्ष्यशुभ्रकिरणतया, सुखम्=अनायासम्, अङ्कमृगाऽर्पणात्=कलङ्कहरिणसमर्पणात्, मुखं=दमयन्तीवदनं, निजसखं=स्वमित्रं, स्वसदृशं कलङ्कि, व्यधित=विहितवान्।

अनुवाद—चन्द्रमाने वियोगसे पाण्डुवर्णवाले दमयन्तीके कपोलमें प्रति- बिम्बित होकर समानवर्ण होनेसे सफेद किरणोंके नहीं देखे जानेसे अनायास- पूर्वक अपने कलङ्करूप मृगको अर्पण कर दमयन्तीके मुखको अपना मित्र (स्व- सदृश कलङ्कयुक्त) बनाया ।

टिप्पणी—भीमभुवः = भीमाद्भवतीति भीमभूः, तस्याः भीम + भू + क्विप् (उपपद०) + ङस् । विरहपाण्डुकपोलतले = विरहेण पाण्डु (तृ० त०), कपोलस्य तलम् (ष० त०), विरहपाण्डु च तत् कपोलतलं, तस्मिन् (क० धा०)। अनुपलक्ष्यसितांऽशुतया = न उपलक्ष्याः (नञ्०), अनुपलक्ष्याः सिता अंशवो यस्य सः अनुपलक्ष्यसितांऽशुः (बहु०), तस्य भावस्तत्ता, तया, अनुपलक्ष्यसितांऽशु + तल् + टाप् + टा । सुखं (. क्रि० वि०) । अङ्कमृगाऽर्पणात् = अङ्कश्चाऽसौ मृगः (क० धा०), तस्य अर्पणं, तस्मात् (ष० त०)। निजसखं = निजस्य सखि, तद् (ष० त०)। व्यधित=वि + धा + लुङ् + त। दोषी लोग अपने संसर्गी निर्दोषको भी अपने दोषको संक्रान्त करके अपने समान बनाते हैं, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें चन्द्रमाकी दमयन्तीके कपोलकी सदृशतासे सामान्य अलङ्कार है। जैसे कि "सामान्यं प्रकृतस्याऽन्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ।" १० + ११६ (सा० द०) ॥ २६ ॥

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि साऽर्पितपाण्डिमण्डना ।
विषधराऽऽभबिसाऽऽभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम् ॥२७॥

अन्वयः—सा विरहतापिनि वपुषि चन्दनपांसुभिः अर्पितपाण्डिममण्डना विषधराऽऽभबिसाऽऽभरणा (सती) रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकां दधे ।

व्याख्या – सा = दमयन्ती, विरहतापिनि = वियोगसन्तप्ते, वपुषि = स्वशरीरे, चन्दनपांसुभिः = श्रीखण्डरजोभिः, अर्पितपाण्डिममण्डना = सम्पादित- पाण्डुत्वाऽलङ्कारा, विषधराऽऽभबिसाऽभरणा = सर्पतुल्यमृणालाऽलङ्कारा सती, रतिपतिं प्रति = कामदेवं प्रति, शम्भुविभीषिकां = शम्भुरेवेयमिति भयोत्पादनं, दधे = दधार, नूनमिति शेषः ।

अनुवाद—दमयन्तीने वियोगसे सन्तप्त अपने शरीरमें चन्दनके चूर्णोंसे पाण्डुत्वरूप अलङ्कारको सम्पादित कर सर्पके सदृश मृणालको आभरण बनाती हुई कामदेवके प्रति "यह शम्भु ही है" इस प्रकार मानों भयको उत्पन्न किया।

टिप्पणी—विरहतापिनि = विरहेण तपतीति तच्छीलं विरहतापि, तस्मिन्, विरह + तप + णिनि (उपपद०) + ङि । चन्दनपांसुभिः = चन्दनस्य पांसवः,

तः (ष० त०)। अर्पितपाण्डिममण्डना=पाण्डोर्भावः पाण्डिमा, पाण्डु शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय। अर्पितः पाण्डिमा एव मण्डनं यस्याः सा (बहु०)। विषधराऽऽभबिसाऽऽभरणा=धरतीति धरः, धृञ्+अच्, विषस्य धरः (ष० त०), विषधरस्येव आभा यस्य तत् (व्यधिकरण बहु०), विषधराऽऽभं विसम् एव आभरणं यस्याः सा (बहु०)। रतिपतिं=रतेः पतिः, तम् (ष० त०), "प्रति"के योगमें द्वितीया। शम्भु-विभीषिकां=शम्भोर्विभीषिका, ताम् (ष० त०)। दधे=धा+लिट्+त। इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है॥ २७॥

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तया भृतबुद्बुदमाबभौ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाऽङ्कगतोडुपरिग्रहः॥ २८॥

अन्वयः—तया परितापिनि हृदये विनिहितं भृतबुद्बुदं चन्दनं सुहृदं हृदयेशयम् उपनमन् अङ्कगतोडुपरिग्रहः विधुः इव आबभौ।

व्याख्या—तया=दमयन्त्या, परितापिनि=विरहसन्तप्ते, हृदये=स्व-वक्षसि, विनिहितं=निक्षिप्तं, भृतबुद्बुदम्=अतिक्वाथजलं, चन्दनं=श्रीखण्डद्रवं, सुहृदं=मित्रं, हृदयेशयं=कामदेवम्, उपनमन्=उपसर्पन्। अङ्कगतोडुपरिग्रहः=निकटस्थतारकापरिकरः, विधुः इव=चन्द्र इव, आबभौ=शुशुभे।

अनुवाद—दमयन्तीने विरहसे सन्तप्त अपने हृदयमें रक्खा गया बुलबुला वाला चन्दनका द्रव अपने मित्र कामदेवके पास जाता हुआ निकटस्थ ताराओंसे युक्त चन्द्रमाके समान शोभित हुआ।

टिप्पणी—परितापिनि=परि+तप+णिनि+ङि। भृतबुद्बुदं=भृतो बुद्बुदो येन तत् (बहु०)। हृदयेशयम्=हृदये शेत इति हृदयेशयः, तम्। हृदय उपपदपूर्वक "शीङ् स्वपने" धातुसे "अधिकरणे शेतेः" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय (उपपद०)+अम्। "शयवासवासिष्वकालात्" इससे अलुक्। उपनमन्=उप+नम्+लट् (शतृ०)+सु। अङ्कगतोडुपरिग्रहः=अङ्कं गतः (द्वि० त०), अङ्कगत उडूनि एव परिग्रहः यस्य सः (बहु०)। आबभौ=आङ्+भा+लिट्+तिप्। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ २८॥

स्मरहुताऽशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम्॥ २९॥

अन्वयः—स्मरहुताऽशनदीपितया तया बहु सरसं सरसीरुहं मुहुः श्रयितुम् अर्धपथे कृतम् अन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरम् उज्झितम् ।

व्याख्या—स्मरहुताऽशनदीपितया = कामाऽग्नितप्तया, तया = दमयन्त्या, बहु = अधिकं, सरसम् = आर्द्रं, सरसीरुहं = कमलं, मुहुः = वारं वारं, श्रयितुं = सेवितुं, शैत्यायेति शेषः । अर्धपथे = अर्धमार्गे, कृतम् = आनीतं सत्, अन्तरा = मध्ये, श्वसितनिर्मितमर्मरं = दमयन्तीनिःश्वासकृतमर्मरशब्दं सत्, उज्झितं = त्यक्तं, वैरस्यादिति शेषः । तथोष्णो दमयन्त्या निःश्वास इति भावः ।

अनुवाद—कामाऽग्निसे संतप्त दमयन्तीसे अधिक आर्द्र कमलको बारंबार शैत्यके लिए सेवा करनेके लिए आधे मार्गमें लाये जानेपर मध्यमें उनके लम्बे श्वाससे सूखकर मर्मर शब्दवाले उसको उन्होंने छोड़ दिया ।

टिप्पणी—स्मरहुताऽशनदीपितया = स्मर एव हुताशनः (रूपक०), तेन दीपिता, तया (तृ० त०) । श्रयितुं = श्रिञ् + तुमुन् । अर्धपथे = पथ अर्धम् अर्धपथम्, तस्मिन्, "अर्धं नपुंसकम्" इस सूत्रसे समास, "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासाऽन्त अप्रत्यय । श्वसितनिर्मितमर्मरं = श्वसितेन निर्मितः (तृ० त०), श्वसित निर्मितः मर्मरो यस्य तत् (बहु०), "अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्" इत्यमरः । उज्झितम् = उज्झ + क्तः (कर्ममें) । इस पद्यमें दमयन्तीके गर्म निःश्वाससे सूखकर कमलका मर्मर शब्दयुक्त होनेके असम्बन्धमें भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्यति किन्त्विति ।
जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—हृदि निहिते नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीं "तव स्तनयुगम् एवं प्रियकरग्रहम् अवाप्स्यति किं तु ताम्यति" इति जगदतुः (नूनम्) ।

व्याख्या—हृदि = वक्षसि, निहिते = न्यस्ते, दमयन्त्येति शेषः । नीरजे = कमले, दवथुकुड्मलनेन = परितापमुकुलनेन, पृथुस्तनीं = विशालकुचां, दमयन्तीमिति भावः । तव = भवत्याः, स्तनयुगं = कुचयुग्मम् (कर्तृपदम्), एवम् = अनेन प्रकारेण, प्रियकरग्रहं = नलपाणिसम्बन्धम्, अवाप्स्यति = प्राप्स्यति, किं तु = किमर्थं, ताम्यति = ग्लायति, इति, जगदतुः = कथयामासतुः, नूनमिति शेषः ।

अनुवाद—दमयन्तीके वक्षःस्थलमें रक्खे गये दो कमलोंने सन्तापसे सिकुड़कर दमयन्तीको "तुम्हारे दो पयोधर इसी प्रकारसे प्रियके हाथके ग्रहणको प्राप्त करेंगे, क्यों ग्लानियुक्त हो रहे हैं ?" मानो ऐसा वचन कहा।

टिप्पणी—नीरजे=नीर+जन्+ड (उपपद०)+औ। दवथुकुड्मलनेन=दवनं दवथु, "(टु) दु उपतापे" इस धातुसे टित् होनेसे "ट्वितोऽथुच्" इस सूत्रसे अथुच् प्रत्यय। दवथुना कुड्मलनं, तेन (तृ० त०)। पृथुस्तनीं=पृथू स्तनौ यस्याः सा, ताम् (बहु०). पृथुस्तन+ङीप्। स्तनयुगं=स्तनयोर्युगम् (ष० त०)। प्रियकरग्रहं=प्रियस्य करः (ष० त०), तेन ग्रहः, तम् (तृ० त०)। अवाप्स्यति=अव+आप्+लृट्+तिप्। ताम्यति=तम+लट्+तिप्। इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३० ॥

त्वदितरो न हृदाऽपि मया धृतः पतिरितीव नलं हृदयेशयम्।
स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—सा हृदयेशयं नलं "त्वदितरः पतिः मया हृदा अपि न धृतः" इति इव निजशुद्धतां विरहपाण्डुतया स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म।

व्याख्या—सा=दमयन्ती, हृदयेशयं=चित्तस्थितं, नलं=नैषधं, त्वदितरः=भवद्भिन्नः, पतिः=स्वामी, मया=दमयन्त्या, हृदा अपि=चित्तेन अपि, किमुत बाह्येन्द्रियेणेति भावः, न धृतः=न चिन्तितः, इति=इत्थम्, इव निजशुद्धतां=स्वनिर्दोषतां पाण्डुत्वं च, विरहपाण्डुतया=वियोगपाण्डुरत्वव्याजेन, स्मरहविर्भुजि=कामाऽनले, बोधयति स्म=बोधितवती, मदनाऽनलनिमग्ना भैमी अग्निदिव्येन सीता राममिव नलं स्वशुद्धिं बोधयामासेवेति भावः।

अनुवाद—दमयन्तीने अपने हृदयमें स्थित नलको "आपसे भिन्न पतिको मैंने मनसे भी चिन्तन नहीं किया" इस प्रकार अपनी निर्दोषता वा पाण्डुरता-(पीलापन)को वियोगसे पाण्डुभाव होनेसे कामरूप अग्निमें जताया।

टिप्पणी—हृदयेशयं=हृदये शेते इति हृदयेशयः, तम् (हृदय+शीङ्+खश्+अम्)। त्वदितरः=त्वत् इतरः (प० त०)। निजशुद्धतां=शुद्धस्य भावः। शुद्ध+तल्+टाप्। निजस्य शुद्धता, ताम् (ष० त०)। विरहपाण्डुतया=पाण्डोर्भावः, पाण्डु+तल्+टाप्, विरहेण पाण्डुता, तया (तृ० त०)। स्मरहविर्भुजि=स्मर एव हविर्भुक्, तस्मिन् (रूपक०)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा और रूपककी संसृष्टि है ॥ ३१ ॥

विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः ।
किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्दवथुं पृथुम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः— विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः पृथुं तद्दवथुम् अपनेतुम् अचेष्टत किम् ? पराभवितुम् ऐहत किम् ?

व्याख्या— विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता = वियोगसन्तप्तदमयन्तीशरीरनिहिता, कमलिनी = पद्मलता, निमिषद्दलमुष्टिभिः = आनमत्पत्त्रमुष्टिबन्धैः (करणैः), पृथुं = महान्तं, तद्दवथुं = दमयन्तीसन्तापम्, अपनेतुं = दूरीकर्तुम्, अचेष्टत किम् = उद्योगं चकार किम् ? पराभवितुं = तिरस्कर्तुम्, ऐहत किम् = अचेष्टत किम् ? वस्तुतस्तु न किञ्चित्कर्तुं शशाक, प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थः ।

अनुवाद— वियोगसे सन्तप्त दमयन्तीके शरीरमें रक्खी गई कमलिनीने सङ्कुचितपत्त्ररूप मुक्केसे बढ़े हुए उनके सन्तापको हटानेकी वा तिरस्कार करनेकी इच्छा की ?

टिप्पणी— विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता = विरहेण तप्तम् (तृ० त०), तस्या अङ्गम् (ष० त०), विरहतप्तं च तदङ्गम् (क० धा०), तस्मिन् निवेशिता (स० त०) । निमिषद्दलमुष्टिभिः = निमिषन्ति च तानि दलानि (क० धा०), निमिषद्दलानि एव मुष्टयः, तैः (रूपक०) । तद्दवथुं = तस्या दवथुः, तम् (ष० त०) । अपनेतुम् = अप + नी + तुमुन् । अचेष्टत = चेष्ट + लङ् + त । पराभवितुं = परा + भू + तुमुन् । ऐहत = ईह + लङ् + त । इस पद्यमें विषय और उत्प्रेक्षा अलङ्कारका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३२ ॥

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषाऽवशा ।
शशिकलेव खरांऽशुकरार्ऽदिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ? ॥ ३३ ॥

अन्वयः— इयम् अनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषाऽवशा खरांऽशुकरार्ऽदिता शशिकला इव कं करुणनीरनिधौ न निदधौ ?

व्याख्या— इयं = दमयन्ती, अनङ्गशराऽऽवलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषाऽवशा = कामबाणपङ्क्तिसर्पदंशनव्यापिविरहगरलविह्वला सती, खरांऽशुकरार्ऽदिता = सूर्यकिरणपीडिता, शशिकला इव = चन्द्रकला इव, कं = जनं, करुणनीरनिधौ = शोकसमुद्रे, न निदधौ = नो निहितवती, सर्वमपि निदधावेवेति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीने कामदेवकी बाणपङ्क्तिरूप सर्पके दंशनसे फैलनेवाले वियोगरूप विषसे विह्वल होकर सूर्यकी किरणोंसे पीडित चन्द्रकलाकी तरह किस पुरुषको शोक-समुद्रमें नहीं डाला ?

टिप्पणी—अनङ्गेत्यादि: = अनङ्गस्य शरा: (ष० त०), तेषाम् आवलि: (ष० त०), सा एव पन्नगा: (रूपक०), तेषां क्षतं (ष० त०), तेन विसारि (तृ० त०)। वियोग एव विषम् (रूपक०), अनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारि च तत् वियोगविषम् (क० धा०), तेन अवशा (तृ० त०)। खरांऽशुकरार्दिता = खरा: (तीक्ष्णा:) अंशवो यस्य स: (बहु०)। तस्य करा: (ष० त०), तै० अर्दिता (तृ० त०)। शशिकला = शशिन: कला (ष० त०)। करुणनीरनिधौ = नीराणां निधि: (ष० त०), करुण एव नीरनिधि:, तस्मिन् (रूपक०)। निदधौ = नि + धा + लिट् + त। इस पद्यमें रूपक और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललताऽर्पिता।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद् भुजयोर्भृशम् ॥ ३४ ॥

अन्वय:—तया मन्मथवेदनया ज्वलति निजे हृदि अर्पिता आर्द्रमृणाललता स्वजयिनो: सविधस्थयो: भुजयो: त्रपया भृशं मलिनताम् अभजत् ।

व्याख्या—तया = दमयन्त्या, मन्मथवेदनया = मदनज्वरदु:खेन, ज्वलति = सन्तप्ते, निजे = स्वकीये, हृदि = वक्षसि, अर्पिता = निहिता, आर्द्रमृणाललता = सरसबिसवल्ली, स्वजयिनो: = आत्मजेत्रो:, सविधस्थयो: = समीपस्थितयो:, भुजयो: = दमयन्तीबाह्वो:, त्रपया = लज्जया इव, भृशम् = अत्यर्थं, मलिनतां = मलीमसतां, विवर्णतामिति भाव:। अभजत् = प्राप्तवती ।

अनुवाद—कामज्वरके सन्तापसे जलती हुई अपनी छातीमें दमयन्तीसे रक्खी गई सरस कमललताने अपनेको जीतनेवाले समीपमें स्थित दमयन्तीके दोनों बाहोंकी मानों लज्जासे अत्यन्त विवर्णताको धारण किया ।

टिप्पणी—मन्मथवेदनया = मन्मथस्य वेदना, तया (ष० त०)। ज्वलति = ज्वल + लट् (शतृ) + ङि। आर्द्रमृणाललता = मृणालस्य लता (ष० त०), आर्द्रा चाऽसौ मृणाललता (क० धा०)। स्वजयिनो: = स्वां जयत इति स्वजयिनौ, तयो:, स्व + जि + इनि + ओस्। सविधस्थयो: = सविधे तिष्ठत इति सविधस्थौ, तयो:, सविध + स्था + क + ओस् (उपपद०)। मलिनतां = मलिनस्य भाव:, तत्ता, ताम्, मलिन + तल् + अम्। अभजत् = भज + लङ् +

तिप् । दमयन्तीके बाँहोंने मृणाललताको जीत लिया था, इसलिए उन्होंने शीतलताके लिए उनसे छातीमें रक्खी गई मृणाललता लज्जासे मानों विवर्ण हो गई, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद् बभौ ।
सततद्गतहृच्छयकेतुना हतमिव स्वतनूघनघर्षिणा ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तया पिकरुतश्रुतिकम्पिनि हृदि निहितं विचलत् शैवलं स्वतनूघनघर्षिणा सततद्गतहृच्छयकेतुना हतम् इव बभौ ।

व्याख्या—तया = दमयन्त्या, पिकरुतश्रुतिकम्पिनि = कोकिलकूजितश्रवणकम्पमाने, विरहत्वादिति शेषः । हृदि = वक्षसि, निहितं = निक्षिप्तं, शैत्याऽर्थमिति शेषः । विचलत् = कम्पमानं सत्, आधारचलनादिति भावः । शैवलं = शेवलः, स्वतनूघनघर्षिणा = शैवलशरीरभृशसङ्घर्षिणा, शैवलमत्स्ययोर्द्वयोरपि जलचरत्वादिति भावः । सततद्गतहृच्छयकेतुना = निरन्तरभैमीहृदयस्थकामध्वजेन, मत्स्येनेति भावः, हतम् इव = ताडितम् इव, मत्स्यो हि शैवले घर्षणं करोतीति भावः । बभौ = शुशुभे ।

अनुवाद—कोयलका कूजित सुननेसे कम्पित अपनी छातीमें दमयन्तीसे रक्खा गया शैवल (सेवार), आधारभूत दमयन्तीकी छातीके कम्पित होनेसे कम्पित होता हुआ अपने शरीरको अत्यन्त रगड़नेवाली, निरन्तर दमयन्तीके हृदयमें स्थित कामदेवके ध्वजभूत मछलीसे मानों ताडित होकर शोभित हुआ ।

टिप्पणी—पिकरुतश्रुतिकम्पिनि = पिकस्य रुतं (ष० त०), तस्य श्रुतिः (ष० त०), तया कम्पते तच्छीलं, तस्मिन्, पिकरुतश्रुति + कपि + णिनि + टा (उपपद०) । विचलत् = वि + चल + लट् + शतृ + सु । स्वतनूघनघर्षिणा = स्वस्य तनूः (ष० त०), घनं घर्षतीति तच्छीलः घनघर्षी, घन + घृष + णिनि + सु (उपपद०), स्वतन्वा घनघर्षी, तेन (तृ० त०) । सततद्गतहृच्छयकेतुना = तद् गतः (द्वि० त०), सततं तद्गतः (सुप्सुपा०), हृदि शेते इति हृच्छयः, हृद् + शीङ् + खश् (उपपद०), सततद्गतश्चाऽसौ हृच्छयः (क० धा०), तस्य केतुः, तेन (ष० त०) । हतं = हन् + क्त + सु । बभौ = भा + लिट् + तिप् । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

न खलु मोहवशेन तदाननं नलमनः शशिकान्तमबोधि तत् ।
इतरथाऽम्बुवये शशिनस्ततः कथमसुस्रुवदश्रुमयं पयः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—नलमनः मोहवशेन तदाननं शशिकान्तं न अबोधि खलु? इतरथा शशिनः अभ्युदये ततः अश्रुमयं पयः कथम् असुस्रुवत्?

व्याख्या—नलमनः=नलचित्तं, मोहवशेन=अज्ञानवशेन, विरहप्रयुक्तेनेति शेषः। तदाननं=दमयन्तीमुखं (कर्म), शशिकान्तम्=इन्दुसुन्दरं चन्द्रकान्तमणिं च, न अबोधि खलु=न अबुद्ध किम्? अबुध्यत एवेति भावः। इतरथा=अस्य असत्यत्वे, शशिनः=चन्द्रमसः, अभ्युदये=उदये सति, ततः=दमयन्तीमुखात्, अश्रुमयम्=बाष्परूपं, पयः=जलं, कथं=केन प्रकारेण, असुस्रुवत्=स्रवति स्म।

अनुवाद—नलके मनने विरहके कारण मोहवश दमयन्तीके मुखको चन्द्रकान्त (चन्द्रमाके समान सुन्दर और चन्द्रकान्तमणि) नहीं समझा क्या? अर्थात् समझा ही। नहीं तो चन्द्रमाके उदयमें दमयन्तीके मुखसे आँसूस्वरूप जल कैसे टपका?

टिप्पणी—नलमनः=नलस्य मनः (ष० त०), यह कर्तृपद है। मोहवशेन=मोहस्य वशः, तेन (ष० त०)। तदाननं=तस्या आननं, तत् (ष० त०)। अबोधि=बुध+लुङ्+त। इतरथा=इतर+थाल्, अश्रुमयम्=अश्रु+मयट्+सु। असुस्रुवत्=स्रु+लुङ्+च्लि (चङ्)+तिप्। चन्द्रमाके उदयमें दमयन्तीके मुखमण्डलसे जल निकलनेसे दमयन्तीका मुख चन्द्रकान्त मणि है, यह सत्य है। चन्द्रोदयमें कामतापकी अधिकतासे दमयन्ती रोयी, यह तात्पर्य है॥ ३६॥

रतिपतेर्विजयाऽस्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुताऽपि तथैव सा।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहत योजयितुं स ताम्॥ ३७॥

अन्वयः—रतिपतेः यथा इषुः विजयाऽस्त्रं जयति, तथा एव सा भीमसुता अपि (विजयाऽस्त्रं स सती जयति)। ततः स्वविशिखान् इव तां पञ्चतया योजयितुम् ऐहत नियतम्।

व्याख्या—रतिपतेः=कामस्य, यथा=येन प्रकारेण, इषुः=बाणः, पुष्परूप इति भावः। विजयाऽस्त्रं=विजयाऽऽयुधं, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तते, तथा एव=तेन प्रकारेण एव, सा=पूर्वोक्ता, प्रसिद्धा वा, भीमसुता अपि=दमयन्ती अपि, विजयाऽस्त्रं सती जयतीति शेषः। ततः=तस्मात्कारणात्, सः=रतिपतिः कामः। स्वविशिखान् इव=आत्मबाणान् इव, तां=दमयन्तीं,

पञ्चतया = पञ्चसंख्यत्वेन, मरणेन च, योजयितुं = संयोजयितुम्, ऐहत = अचेष्टत, नियतं = सत्यम् ।

अनुवाद—कामदेवका बाण (पुष्प) जैसे विजयका साधनभूत अस्त्र होकर उत्कर्षपूर्वक रहता है, वैसे ही वे दमयन्ती भी कामदेवके विजयका साधनभूत अस्त्र होकर उत्कर्षपूर्वक रहती हैं । इस कारणसे कामदेवने अपने बाणोंकी तरह उनको भी पाँच संख्याओंके तौरपर वा मरणसे संयुक्त करनेके लिए मानों चेष्टा की है ।

टिप्पणी—रतिपतेः = रतेः पतिः, तस्य (ष० त०) । विजयाऽस्त्रं = विजयस्य अस्त्रम् (ष० त०) । भीमसुता = भीमस्य सुता (ष० त०) । स्वविशिखान् = स्वस्य विशिखाः, तान् (ष० त०) । पञ्चतया = पञ्चानां भावः पञ्चता, तया, पञ्चन् + तल् + टाप् + टा । "पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता मरणेऽपि च" इति विश्वः । योजयितुं = युज + णिच् + तुमुन् । ऐहत = ईह + लङ् + त । नियतम् = यह उत्प्रेक्षाका वाचक शब्द है । इस पद्यमें उपमा और उत्प्रेक्षाका सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

शशिमयं दहनाऽस्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी ।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३८ ॥

अन्वयः—वियोगिनी असौ उदित्वरं शशिमयं मनसिजस्य दहनाऽस्त्रं विमृश्य झटिति अश्रुमिषात् वारुणं तदुचितं प्रतिशस्त्रम् उपाददे ।

व्याख्या—वियोगिनी = विरहिणी, असौ = दमयन्ती, उदित्वरम् = उद्यत् शशिमयं = चन्द्ररूपं, मनसिजस्य = कामदेवस्य, दहनास्त्रम् = आग्नेयाऽस्त्रं, विमृश्य = आलोच्य, झटिति = सत्वरम्, अश्रुमिषात् = बाष्पच्छलात्, वारुणं = वरुण दैवतं, तदुचितम् = आग्नेयास्त्रप्रतिकारयोग्यं, प्रतिशस्त्रं = प्रतिकूलमायुधम्, उपाददे = उपगृहीतवती, प्रयुक्तवतीति भावः । चन्द्रोदयस्य असह्यत्वात्केवलमरोदीदिति भावः ।

अनुवाद—विरहिणी दमयन्तीने उदित चन्द्ररूप कामदेवके आग्नेय अस्त्रको विचार करके झटपट आँसूके बहानेसे वरुण देवतावाले आग्नेय अस्त्रको हटानेमें समर्थ प्रतिकूल शस्त्रका ग्रहण किया ।

टिप्पणी—वियोगिनी = वियोग + इनि + ङीप् + सु । उदित्वरम् = उद्-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे "इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्" इस सूत्रसे क्वरप् प्रत्यय । शशिमयं = शशी एव, तत्, शशिन् + मयट् (स्वरूप अर्थमें) + सु ।

मनसिजस्य=मनसि जायत इति मनसिजः, तस्य, मनस्+जन्+ड (उपपद०) +ङस्। अलुक् समास। दहनाऽस्त्रं=दहनस्य अस्त्रं, तत् (ष० त०)। विमृश्य=वि+मृश्+क्त्वा (ल्यप्) अश्रुमिषात्=अश्रुणा मिषं, तस्मात् (ष० त०)। वारुणं=वरुणो देवता अस्य, तत्, वरुण शब्दसे "साऽस्य देवता" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय। तदुचितं=तस्य उचितं, तत् (ष० त०)। प्रति-शस्त्रं=प्रतिकूलं शस्त्रं, तत् (गति०)। उपाददे=उप+आङ्+दा+लिट्+त। इस पद्यमें अपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा।
उचितमायतनिःश्वसितच्छलाच्छ्वसनमस्त्रममुञ्चदमुं प्रति ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सा सुतनुः नवम् अम्बुदम् (एव) अतनुना उदस्तम् आम्बुदम् अस्त्रम् अवेक्ष्य आयतनिःश्वसितच्छलात् अमुं प्रति उचितं श्वसनम् अस्त्रम् अमुञ्चत्।

व्याख्या—सा=प्रसिद्धा, सुतनुः=सुन्दरी भैमी। नवं=नूतनम्, अम्बुदं=मेघम् एव, अतनुना=अनङ्गेन, कामदेवेन, उदस्तम्=उत्क्षिप्तम्, आम्बुदं=मेघदैवतम्, अस्त्रम्=आयुधं, पर्जन्याऽस्त्रमिति भावः। अवेक्ष्य=दृष्ट्वा, आयतनिःश्वसितच्छलात्=दीर्घनिःश्वासमिषात्। अमुं प्रति=अम्बुदं प्रति, उचितं=योग्यं, प्रतीकारसमर्थमिति भावः। श्वसनं=वायुस्वरूपम्, अस्त्रम्=आयुधम्, अमुञ्चत्=अत्यजत्, प्रयुक्तवतीति भावः। मेघदर्शनात्प्रदीप्तमदनज्वरा सा दीर्घमुष्णं च निःश्वसितवतीति भावः।

अनुवाद—सुन्दरी दमयन्तीने कामदेवसे प्रेरित मेघरूप पर्जन्य अस्त्रको देखकर लम्बे निःश्वासके छलसे मानो उस (पर्जन्य अस्त्र) के प्रति उचित वायव्य अस्त्रको छोड़ा।

टिप्पणी—सुतनुः=शोभना तनुः यस्याः सा (बहु०)। अम्बुदम्=अम्बु+दा+क+अम् (उपपद०)। अतनुना=अविद्यमाना तनुः यस्य सः, तेन (नञ्बहु०)। उदस्तम्=उद्+असु+क्त+अम्। आम्बुदम्=अम्बुद+अण्+अम्। अवेक्ष्य=अव+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। आयतनिःश्वसितच्छ-लात्=आयतं च तत् निःश्वसितम् (क० धा०)। तस्य छलं, तस्मात् (ष० त०)। अमुञ्चत्=मुच्लृ+लङ्+तिप्। इस पद्यमें अपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाका सङ्कर है ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयाऽनिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमियं भुजगाऽस्त्रमिवाऽदित ॥ ४० ॥

अन्वय:—सुदती इयं मलयाऽनिले रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां प्रतियती तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिकामयं भुजगाऽस्त्रम् आदित इव ।

व्याख्या—सुदती=सुन्दरदन्तयुक्ता सुन्दरी, इयं=दमयन्ती, मलयाऽनिले=दक्षिणपवने विषये, रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां=कामप्रेरितवायव्याऽस्त्रतां, प्रतियती=जानती, तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिकामयं=वायव्यास्त्रबहुसन्तापभीतिगृहीतबिसलतास्वरूपं, भुजगाऽस्त्रं=पन्नगाऽस्त्रम् आदित इव=गृहीतवती किम् ?

अनुवाद—सुन्दर दन्तोंवाली दमयन्तीने मलय पर्वतकी हवाको कामदेवसे प्रेरित वायव्यास्त्र जानकर उस अस्त्रके बहुत सन्तापके भयसे पद्मलतारूप सर्पाऽस्त्रको मानों ले लिया ।

टिप्पणी—सुदती=शोभना दन्ता यस्या सा (बहु०), "वयसि दन्तस्य दतृ" इस सूत्रसे दन्तके स्थानमें दतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् । मलयाऽनिले=मलयस्य अनिल:, तस्मिन् (ष० त०), विषयमे सप्तमी । रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां=रते: पति: (ष० त०), अनिलस्य हेति: (ष० त), "हेति: शस्त्रं प्रहरणं ह्यायुधं चाऽस्त्रमेव च" इति हलायुध: । रतिपतिना प्रहिता (तृ० त०), रतिपतिप्रहिता चाऽसौ अनिलहेति: (क० धा०), तस्या भाव: तत्ता, ताम्, रतिपतिप्रहिताऽनिलहेति+तल्+टाप्+अम् । प्रतियती=प्रत्येतीति, प्रति+इण्+लट् (शतृ)+ङीप्+सु । तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिकामयम्=उरुश्चाऽसौ ताप: (क० धा०), तस्या: (अनिलहेते:), उरुताप: (ष० त०), तस्मात् भयं (प० त०), तेन आत्ता (तृ० त०), सा चाऽसौ मृणालिका (क० धा०), तदेव, तत्, तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिका+मयट् (स्वार्थमें)+अम् । भुजगास्त्रं=भुजगस्य अस्त्रं, (ष० त०) । आदित=आङ्-उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे लुङ्+त, "स्थाघ्वोरिच्च" इससे इकार और "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप । दमयन्तीने मलयकी हवाको कामदेवसे छोड़ा गया वायव्यास्त्र जानकर उसको हटानेके लिए कमललतारूप सर्पाऽस्त्रको ले लिया । सर्प हवाको पीता है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाका सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४० ॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वयं विरहितां च तथाऽपि च जीवितम् ।
किमथ तत्र निहत्य निखातवान् रतिपतिः स्तनबिल्वयुगेन तत् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—रतिपतिः तद्धृदि विरहितां तथा अपि जीवितं च (इति) द्वयं शल्यम् इव न्यधित । अथ तत् स्तनबिल्वयुगेन तत्र निहत्य निखातवान् किम् ?

व्याख्या—रतिपतिः = कामदेवः, तद्धृदि = दमयन्तीहृदये, विरहितां = वियगितां, तथाऽपि = विरहितायां सत्याम् अपि, जीवितं च = जीवनं च, (इति) द्वयं = द्वितयं, शल्यम् इव = शङ्कुम् इव, न्यधित = निखातवान् । अथ = निखननाऽनन्तरं, तत् = शल्यद्वयं, स्तनबिल्वयुगेन = कुचश्रीफलयुग्मेन, तत्र = दमयन्तीहृदये, निहत्य = आहत्य, निखातवान् किम् ? = न्यधित किमु ? यथा लोके निखातं शङ्कुं दार्ढ्याय पाषाणेन घ्नन्ति तद्वदिति भावः ।

अनुवाद—कामदेवने दमयन्तीके हृदयमें वियोगिभाव और जीवन—इन दोनोंको कीलके समान रख दिया । तब उन दोनोंको स्तनरूप दो बेलके फलों-से दमयन्तीके हृदयमें ठोंककर स्थिर कर दिया है क्या ?

टिप्पणी—रतिपतिः = रतेः पतिः (ष० त०) । तद्धृदि = तस्या हृत्, तस्मिन् (ष० त०) । विरहितां = विरहिण्या भावो विरहिता, ताम्, विरहिणी + तल् + टाप् + अम् । द्वयं = द्वि + तयप् (अच्) + अम् । न्यधित = नि + धा + लुङ् + त । "स्थाघ्वोरिच्च" इससे इकार, "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्‌का लोप । स्तनबिल्वयुगेन = स्तनौ एव बिल्वे (रूपक०), तयोर्युगं, तेन (ष० त०) । निहत्य = नि + हन् + क्त्वा (ल्यप्) । निखातवान् = नि + खन् + क्तवतु + सु । इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो उत्प्रेक्षाएँ और रूपक—इनका संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन तां निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगाऽर्पणा ॥ ४२ ॥

अन्वयः—ताम् अतिशरव्ययता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् फलानि अपि मुञ्चता मदनेन तदुरसि स्तनतालयुगाऽर्पणा अकारि स्फुटम् ।

व्याख्या—तां = दमयन्तीम्, अतिशरव्ययता = अतितरां लक्ष्यं कुर्वता, (अत एव) निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् = सकलकुसुमरूपनिजबाणक्षयात्, फलानि अपि = सस्यानि अपि, मुञ्चता = क्षिपता, मदनेन = कामेन, तदु-रसि = दमयन्तीवक्षसि, स्तनतालयुगाऽर्पणा = कुचरूपतालफलयुग्माऽर्पणम्,

अकारि = कृता, स्फुटम् = इव, धानुष्का = शरसमाप्तौ पाषाणादिनाऽपि वैरिणं प्रहरन्तीति भावः।

अनुवाद—दमयन्तीको अत्यन्त निशाना बनानेवाले और सम्पूर्ण पुष्परूप अपने बाणोंके समाप्त होनेसे फलोंको भी छोड़ते हुए कामदेवने दमयन्तीकी छातीमें मानों कुचरूप दो ताड़के फलोंका अर्पण भी कर दिया है।

टिप्पणी—अतिशरव्ययता = अतिशरव्ययं करोतीति अतिशरव्ययम्, तेन, अति-उपपदपूर्वक शरव्य शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्रसे णिच् + लट् (शतृ) + टा। निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् = पुष्पाणि एव पुष्पमयाः, पुष्प + मयट् (स्वार्थमें) + जस्। स्वस्य शराः (ष० त०), पुष्पमयाश्च ते स्वशराः (क० धा०), निखिलाश्च ते पुष्पमयस्वशराः (क० धा०), तेषां व्ययः, तस्मात् (ष० त०)। मुञ्चता = मुच्लृ + लट् (शतृ०) + टा। तदुरसि = तस्या उरः, तस्मिन् (ष० त०)। स्तनतालयुगाऽर्पणा = स्तनौ एव तले (रूपक०), तयोः युगम् (ष० त०), तस्य अर्पणा (ष० त०)। अकारि = कृ + लुङ् (कर्ममें) + त। स्फुटम् = यह उत्प्रेक्षाका द्योतक शब्द है। इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ४२॥

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी॥ ४३॥

अन्वयः—अथ स्मरतापमये गदे पतितया (अत एव) मुहुः बहुनिन्दितचन्द्रया मुहुः स्तुतविधुन्तुदया च तया अश्रुविमिश्रमुखी सखी निजगदे।

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, स्मरतापमये = कामज्वररूपे, गदे = रोगे, पतितया = निमग्नया, अत एव, मुहुः = वारं वारं, बहुनिन्दितचन्द्रया = अधिकगर्हितसोमया, मुहुः = वारं वारं, स्तुतविधुन्तुदया च = प्रशंसितसैंहिकेयया च, तया = दमयन्त्या अश्रुविमिश्रमुखी = नयनजलमिश्रतानना, सखी = स्वकीया वयस्या, निजगदे = निगदिता।

अनुवाद—तब कामज्वररूप रोगमें निमग्न अत एव वारंवार चन्द्रमाकी निन्दा करनेवाली और वारंवार राहुकी तारीफ करनेवाली दमयन्तीने आँसुओंसे मिश्रित मुखवाली (रोती हुई) अपनी सखीको कहा।

टिप्पणी—स्मरतापमये = स्मरस्य तापः (ष० त०), स्मरताप एव स्मरतापमयः, तस्मिन्, स्मरताप + मयट् (स्वार्थमें) + ङि। गदे = "रोगव्याधिगदाऽऽमयाः" इत्यमरः। पतितया = पत + क्त (कर्तामें) + टाप् + टा। बहु-

निन्दितचन्द्रया=निन्दितः चन्द्रः यया सा (बहु०), बहु (यथा तथा) निन्दित-चन्द्रा, तया (सुप्सुपा०) । स्तुतविधुन्तुदया=विधुं तुदतीति विधुन्तुदः, विधु-उपपदपूर्वक तुद धातुसे "विध्वरुषोस्तुदः" इस सूत्रसे खश् प्रत्यय, 'अरुर्द्विषद-जन्तस्य मुम्" इस सूत्रसे मुम् आगम (उपपद०), स्तुतो विधुन्तुदो यया सा, तया (बहु०) । अश्रुविमिश्रमुखी=अश्रुभिर्विमिश्रम् (तृ० त०), तत् मुखं यस्याः सा (बहु०) । निजगदे=नि + गद + लिट् (कर्ममें) + त ॥४३॥

नरसुराऽब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा ।
विरहिणामपि तद्रतवद्युवक्षणमितं न कथं गणिताऽऽगमे ? ॥ ४४ ॥

अन्वयः—नरसुराऽब्जभुवाम् इव यावता अनेहसा यस्य यत् युगं भवति, गणिताऽऽगमे, विरहिणां तत् कथं रतवद्युवक्षणमितं न ?

व्याख्या—नरसुराऽब्जभुवाम् इव=मनुष्य-देव-ब्रह्मणाम् इव, यावता=यत्परिमाणेन, अनेहसा=कालेन, यस्य=प्राणिनः, यत्, युगं=निर्दिष्टकालः, भवति, गणितागमे=गणितशास्त्रे, तत्सर्वं वक्तव्यमिति शेषः । विरहिणां=वियोगिनां, तद्=युगं, कथं=किमिति, रतवद्युवक्षणमितम्=अवियुक्ततरुण-कालगणितं, न=न वर्तते ?

अनुवाद—मनुष्य, देवता और ब्रह्माजीके समान जितने कालसे जिस प्राणीका युग होता है, गणितशास्त्रमें वियोगियोंके युगकी क्यों न बिछुड़े हुए तरुणोंके कालसे गणना की गयी ?

टिप्पणी—नरसुराब्जभुवाम्=अब्जात् भवतीति अब्जभूः, अब्ज + भू + क्विप् (उपपद०), नराश्च सुराश्च अब्जभूश्च नरसुराब्जभुवः, तेषाम् (द्वन्द्वः) । गणिताऽऽगमे=गणितस्य आगमः, तस्मिन् (ष० त०) । विरहिणां= विरह + इन् + आम् । रतवद्युवक्षणमितं=युवतयश्च युवानश्च युवानः, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष । रतम् (सुरतम्) अस्ति येषां ते रतवन्तः, रत + मतुप्, रतवन्तश्च ते युवानः (क० धा०), तेषां क्षणः (ष० त०), तेन मितम् (तृ० त०) । जैसे मनुष्योंके एक वर्षमें देवताओंका एक दिन होता है। बारह हजार दिव्य वर्षोंकी एक चौकड़ी होती है । वैसी एक हजार चौकड़ीमें ब्रह्माका एक दिन होता है और वैसी ही चौकड़ीमें एक रात होती है, यह सब परिगणन किया है, परन्तु वियोगियोंका वह युग, संयुक्त दम्पतियोंके कालके समान क्यों परिगणित नहीं हुआ । वियोगियोंको एक क्षण भी वियोगके कारण

युगके समान होता है, संयोगियोंको एक युग भी संयोगके कारण एक क्षणके समान प्रतीत होता है, यह तात्पर्य है ॥ ४४ ॥

जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता ।
ज्वलति फालतले लिखितः सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सती स्मरतापिता (सती) हिमवतो जनुः अधत्त, तन्महिमादृता तु न अधत्त । हरस्य फालतले लिखितः सतीविरह एव ज्वलति लोचनं न (ज्वलति) ।

व्याख्या—सती=दक्षपुत्री, स्मरतापिता=कामसन्तापिता, विरहाऽग्नितप्ता सतीति भावः । हिमवतः=हिमालयात्, जनुः=जन्म, अधत्त=धृतवती, अङ्गीकृतवतीति भावः । तन्महिमादृता=हिमालयमहत्त्वेन सञ्जाताऽऽदरा सती तु, न अधत्त=जन्म नो धृतवतीति भावः । एवं च हरस्य=शिवस्य, फालतले =भालतले, लिखितः=विन्यस्तः, सतीविरह एव=दाक्षायणीवियोग एव, ज्वलति=दीप्यते, लोचनं=नेत्रम्, अग्निरूपं तृतीयं नेत्रमिति भावः, न=नो ज्वलति ।

अनुवाद—सतीने कामदेवसे सन्तप्त होकर (तापशान्तिके लिए) हिमालयसे जन्म लिया, न कि हिमालयके महत्त्वमें आदर कर (जन्म लिया) । इसी तरह महादेवके ललाटमें लिखा गया सतीका विरह ही जल रहा है, न कि अग्निरूप तृतीय नेत्र (जल रहा है) ।

टिप्पणी—स्मरतापिता=स्मरेण तापिता (तृ० त०), हिमवतः= हि+मतुप्+ङस् । जनुः="जनुर्जननजन्मानि" इत्यमरः । अधत्त= धाञ्+लङ्+त । तन्महिमादृता=तस्य महिमा (ष० त०), तस्मिन् आदृता (स० त०) । हरस्य=हृञ्+अच्+ङस् । फालतले=फालस्य तलं, तस्मिन् (ष० त०) । सतीविरहः=सत्या विरहः (ष० त०) । ज्वलति= ज्वल+लट्+तिप् । इस पद्यमें अपह्नुति अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा, विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दहनजा दवथुव्यथा पृथुः न, (किन्तु) विरहजा एव पृथुः । ईदृशं न यदि, स्त्रियः अपासु प्रियम् उपासितुम् उद्धुराः (सत्यः) कथम् आशु दहनं विशन्ति ?

व्याख्या—दहनजा=अग्निजन्या, अग्निदाहजन्येति भावः। दवथुव्यथा= तापदुःखं, पृथुः=अधिका, न, (किन्तु) विरहजा एव=वियोगजन्या एव, दवथुव्यथेति शेषः। पृथुः=अधिका। ईदृशं न यदि=इदम् इत्थं न चेत्, स्त्रियः=नार्यः, अपासुं=मृतं, प्रियं=भर्तारम्, उपासितुं=सेवितुं, प्राप्तुमिति भावः। उद्धुराः=निष्प्रतिबन्धाः सत्यः। कथं=किमर्थम्, आशु=शीघ्रं, दहनम्=अग्नि, विशन्ति=प्रविशन्ति।

अनुवाद—अग्निसे उत्पन्न तापका दुःख अधिक नहीं है, किन्तु वियोगसे उत्पन्न तापका दुःख ही अधिक है, ऐसा नहीं होता तो स्त्रियाँ मरे हुए पतिको प्राप्त करनेके लिए बिना रुकावटके ही कैसे शीघ्र अग्निमें प्रवेश करती।

टिप्पणी—दहनजा=दहनाज्जाता, दहन+जन्+ड+टाप्+सु। दव-थुव्यथा=दवथोर्व्यथा (ष० त०)। विरहजा=विरह+जन्+ड+टाप्+सु। अपासुम्=अपगता असवो यस्य सः, तम् (बहु०)। उपासितुम्=उप+आस्+तुमुन्। उद्धुराः=उद्गता धूः यासां ता (बहु०). "ऋक्पूरब्धूःपथा-मानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अकार। इस पद्यमें कार्यसे कारणका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृताः, सखि ! विलोकय दुर्विनयं विधोः ॥४७॥

अन्वयः—विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः अमूः कलाः हृदि नितरां लुठन्ति। कुमुदसख्यकृतस्तु कलाः बहिष्कृताः। हे सखि ! विधोः दुर्विनयं विलोकय।

व्याख्या—विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः=वियोगिनीहिंसापापसञ्जातकलङ्काः, अमूः=दृश्यमानाः, कलाः=षोडशभागाः, हृदि=हृदये, अभ्यन्तर इति भावः। नितरां=सुतरां, लुठन्ति=वर्तन्ते। परं कुमदसख्यकृतस्तु=कैरवमैत्रीकारि-ण्यस्तु, विशुद्धा इति भावः। कलाः=षोडशभागाः, बहिष्कृताः=दूरत एव धृताः। हे सखि=हे वयस्ये ! विधोः=चन्द्रमसः, दुर्विनयं=दौर्जन्यं, विलोकय= पश्य, दुर्जनाः पापान् समीपे स्थापयन्ति सुकृतिनो बहिष्कुर्वन्तीति भावः।

अनुवाद—वियोगिनियोंकी हत्याके पापसे कलङ्कित चन्द्रमाकी ये कलाएँ हृदयमें रहती हैं, परन्तु कुमुदोंके साथ मित्रता करनेवाली कलाओंको उसने बाहर कर दिया है। हे सखि ! चन्द्रमाकी दुर्जनताको देखो।

टिप्पणी—विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः = विरहिणीनां वधः (ष० त०), तेन पङ्कः (तृ० त०), तेन कलङ्किताः (तृ० त०)। कुमुदसख्यकृतः = कुमुदैः सख्यं (तृ० त०), तत् कुर्वन्तीति, कुमुदसख्य + कृ + क्विप् (उपपद०) + जस्। विलोकय = वि + लोकृ + णिच् + लोट् + सिप्। दुर्जन-लोग पापियोंको भीतर रखते हैं, सज्जनोंका बहिष्कार करते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ४७ ॥

अयि ! विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ?
ग्लपितशम्भुगलाद् गरलात् त्वया किमुदधौ जड ! वा वडवाऽनलात् ? ॥४८॥

अन्वयः—अयि ! विधुं परिपृच्छ। "हे जड ! त्वया दाहवदान्यता किं ग्लपितशम्भुगलात् गरलात् वा उदधौ वडवाऽनलात् कुतो गुरोः स्फुटम् अशिक्ष्यत ?

व्याख्या—अयि = हे सखि ! विधुं = चन्द्रमसं, परिपृच्छ = अनुयुङ्क्ष्व, हे जड = हे मूढ ! त्वया = भवता, दाहवदान्यता = सन्तापदायकत्वं, दाहकत्वमिति भावः। किं, ग्लपितशम्भुगलात् = ग्लापितशिवकण्ठात्, गरलात् = विषात्, कालकूटादिति भावः। वा = अथवा, उदधौ = समुद्रे, वडवाऽनलात् = वडवाऽग्नेः, कुतः = कस्मात्, गुरोः = शिक्षकात्, स्फुटं = व्यक्तं, यथा तथा, अशिक्ष्यत = शिक्षिता, अभ्यस्तेति भावः।

अनुवाद—हे सखि ! चन्द्रमासे पूछो—"हे मूढ ! तुमने यह दाहकत्व क्या शिवजीके गलेको जलानेवाले विष(कालकूट)से अथवा समुद्रमें वडवाऽग्निसे किस गुरुसे स्पष्ट रूपसे सीख लिया ?

टिप्पणी—दाहवदान्यता = दाहस्य वदान्यता (ष० त०)। ग्लपित-शम्भुगलात् = शम्भोर्गलः (ष० त०), ग्लपितः शम्भुगलो येन तत्, तस्मात् (बहु०)। वडवाऽनलात् = वडवामुखोऽनलो वडवाऽनलः, तस्मात् (मध्यम-पदलोपी०)। गुरोः = "आख्यातोपयोगे" इससे अपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी। अशिक्ष्यत = "शिक्ष विद्योपादाने" धातुसे लङ् + त (कर्ममें) ॥ ४८ ॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः ॥४९॥

अन्वयः—अयम् अयोगिवधूवधपातकैः भ्रमिम् अवाप्य शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः (सन्) दिवः, पात्यते खलु।

व्याख्या—अयं = विधुः, अयोगिवधूवधपातकैः = वियोगिस्त्रीहिंसापापैः (करणैः), भ्रमिं = भ्रमणम्, अवाप्य = प्रापय्य, शितिनिशादृषदि = कृष्णपक्षरात्रिरूपशिलायां, स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः = विदलदुच्छलल्लेशसमूहप्रचुरतारकवत्कृताकाशः सन्, दिवः = अन्तरिक्षात्, पात्यते = निपात्यते, खलु = निश्चयेन ।

अनुवाद—यह चन्द्रमा वियोगिनी स्त्रियोंकी हिंसाके पापोंसे घुमाया जाकर कृष्णपक्षकी रात्रिरूप शिलामें फूटकर ऊपर उछलते हुए खण्डोंसे आकाशको अधिक तारायुक्त करता हुआ आकाशसे पटका जाता है ।

टिप्पणी—अयोगिवधूवधपातकैः = न योगः अयोगः (नञ् ०), सोऽस्ति यासां ता अयोगिन्यः, अयोग + इनि + ङीप्, अयोगिन्यश्च ता वध्वः (क० धा०), तासां वधः (ष० त०), तस्य पातकानि, तैः (ष० त०) । अवाप्य = अव–उपसर्गपूर्वक णिजन्त 'आप्लृ' धातुसे क्त्वा (ल्यप्) "विभाषाऽपः" इससे विकल्प होनेसे एक पक्षमें अय् आदेश नहीं हुआ । शितिनिशादृषदि = शितिश्चाऽसौ निशा (क० धा०), "शिती धवलमेचकौ" इत्यमरः । शितिनिशा एव दृषत्, तस्याम् (रूपक०) । स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः = कणानां गणाः (ष० त०), स्फुटन्तश्च ते उत्पतन्तः (क० धा०), ते च ते कणगणाः (क० धा०), तारकितम् अम्बरं यस्मात् सः (बहु०), अधिकं (यथा तथा) तारकिताऽम्बरः (सुप्सुपा०), स्फुटदुत्पतत्कणगणैः अधिकतारकिताऽम्बरः (तृ० त०) । दिवः = अपादानमें पञ्चमी । पात्यते = पत् + णिच् + लट् + त (कर्ममें) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है । उत्कट पाप करनेवाले लोग शहरमें घुमाकर पत्थरपर पटककर मारे जाते हैं, यह भाव है ।। ४९ ।।

त्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया ।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ, हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता ? ।। ५० ।।

अन्वयः—हे सखि ? त्वं मद्गिरा विधुम् अभिधेहि—"त्वया इदम् ईदृक् किम् अधिक्रियते ? पयोनिधौ जन्म न गणितं यदि, हरशिरःस्थितिभूः अपि विस्मृता ?

व्याख्या—हे सखि = हे वयस्ये ! त्वं, मद्गिरा = मद्वचनेन, विधुं = चन्द्रमसम्, अभिधेहि = वद, उपालभस्वेति भावः ? त्वया = भवता, महाकुलप्रसूतेनेति भावः । इदम् = एतत्, ईदृक् = एतादृशं, स्त्रीवधस्वरूपं कर्मेति भावः ।

किं=किमर्थम्, अधिक्रियते=अनुष्ठीयते। पयोनिधौ=क्षीरसागरे, जन्म=जननं, न गणितं यदि=नो विचारितं चेत्, हरशिरःस्थितिभूः अपि=शिवमस्तकनिवासभूमिः अपि, विस्मृता=प्रस्मृता ? महाकुलोत्पत्तिः सत्सङ्गतिश्चेति द्वयमपि त्वया कथं विस्मृतमिति भावः।

अनुवाद—हे सखि ! तुम मेरे वचनसे चन्द्रमाको कहो—आप यह ऐसा (स्त्रीहत्यारूप कर्म) क्यों कर रहे हैं ? आप क्षीरसागरमें अपने जन्मका भले ही विचार न करें, पर शिवजीके शिरमें अपनी स्थितिको भी भूल गये हैं क्या ?

टिप्पणी--मद्गिरा=मम गीः, तया (ष० त०)। अभिधेहि=अभि+धा+लोट्+सिप्। अधिक्रियते=अधि+कृ+लट्+त (कर्ममें)। पयोनिधौ=पयसां निधिः, तस्मिन् (ष० त०)। हरशिरःस्थितिभूः=हरस्य शिरः (ष० त०), स्थितेः भूः (ष० त०), हरशिर एव स्थितिभूः (रूपक०)। विस्मृता=वि+स्मृ+क्त (कर्ममें)+टाप् ॥ ५० ॥

निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन ! चूर्णितः।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत ! गतोऽसि न पीतपयोनिधे. ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे शशलाञ्छन ! त्वम् उदधौ निपतता मन्दरभूभृता अपि न चूर्णितः पीतपयोनिधेः मुनेः जठरार्चिषि अपि जीर्णतां न गतः असि, बत !

व्याख्या—हे शशलाञ्छन=हे शशाङ्क ! हे सकलङ्केत्यर्थः। त्वं=भवान्, उदधौ=समुद्रे, निपतता=निपतनं कुर्वता, मन्थनसमय इति शेषः। मन्दरभूभृता अपि=मन्दरपर्वत अपि, न चूर्णितः=न चूर्णीकृतः, पीतपयोनिधेः=आचान्तसमुद्रस्य, मुनेः=ऋषेः अगस्त्यस्येति भावः। जठरार्चिषि अपि=उदराऽनले अपि, जीर्णतां=नाशं, न गतः असि=न प्राप्तः असि, बत=खेदः। मद्भाग्यविपर्यय एवेति भावः।

अनुवाद—हे शशाङ्क (कलङ्कयुक्त चन्द्र) ! तुम समुद्रमें गिरते हुए मन्दर पर्वतसे भी चकनाचूर नहीं हुए, समुद्रको पीनेवाले मुनि(अगस्त्य)के उदरकी आगमें भी जीर्ण नहीं हुए ? हाय !

टिप्पणी—शशलाञ्छन=शशो लाञ्छनं यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। निपतता=नि+पत+लट् (शतृ)+टा। मन्दरभूभृता=मन्दरश्चाऽसौ भूभृत्, तेन (क० धा०)। पीतपयोनिधेः=पयसां निधिः (ष० त०),

पीतः पयोनिधिर्येन, तस्य (बहु०) । जठरार्ऽचिषि=जठरस्य अर्चिः, तस्मिन् (ष० त०) । जीर्णतां=जीर्ण+तल्+टाप्+अम् ॥ ५१ ॥

किमसुभिर्गलितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ? ।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधस्मरः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे जड ! गलितैः असुभिः भीमसुतामनो मयि निमज्जतु (इति) मन्यसे किम् ? विबुधस्मरः तदर्थिकां श्रुतिं नलमुखेन्दुपरां मम आह ।

व्याख्या—हे जड=हे मूढ (चन्द्र) ! गलितैः=गतैः, असुभिः=प्राणैः, स्वभारणेनेति भावः । भीमसुतामनः=दमयन्तीमनः, मयि=चन्द्रे, निमज्जतु= निमज्जेत्, (इति) मन्यसे किं=जानासि किम् ? विबुधस्मरः=सुरकामः, तदर्थिकां=“मृतमनश्चन्द्रम् एति” इत्यभिधेयां, श्रुतिं=वेदवाक्यं, नलमुखेन्दु-परां=नैषधवदनचन्द्रपरां, न सामान्यचन्द्रपरामिति भावः । मम=मामि-त्यर्थः । आह किल=ब्रूते खलु । विबुधोक्तोऽर्थ एव ग्राह्य इत्यर्थः । परलोकेऽपि मे भर्ता नल एव नाऽन्य इति भावः ।

अनुवाद—हे मूढ (चन्द्र) ! मरनेपर दमयन्तीका मन मुझमें लीन होगा, ऐसा समझते हो क्या ? देवता अथवा विद्वान् कामदेवने मुझे “मरे हुए व्यक्ति-का मन चन्द्रको प्राप्त होता है” ऐसे अर्थवाले वेदवाक्यको नलके मुखचन्द्रका प्रतिपादन करनेवाला कहा है ।

टिप्पणी—भीमसुतामनः=भीमस्य सुता (ष० त०), तस्या मनः (ष० त०) । निमज्जतु=नि+मस्ज+लोट्+तिप्, संभावनामें लोट् । विबुधस्मरः=विबुधश्चाऽसौ स्मरः (क० धा०) । तदर्थिकां=सोऽर्थो यस्यां सा तदर्थिका, ताम् (बहु०) । “शेषाद्विभाषा” इस सूत्रसे समासाऽन्त कप् और “प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याऽत इदाप्यसुपः” इससे इत्व । नलमुखेन्दुपरां=मुखम् एव इन्दुः (रूपक०) । नलस्य मुखेन्दुः (ष० त०), तस्मिन् परा, ताम् (स० त०) । यह पद “श्रुतिम्” का विधेय विशेषण है । हे मूढ चन्द्र ! वेदके ‘ यत्राऽस्य पुरुषस्याऽग्निं वाक्०’’ इत्यादि मन्त्रके अनुसार मरनेपर जीवके तत् तत् इन्द्रियोंके तत्तद् देवोंमें प्राप्त होनेके प्रसङ्गमें “मन चन्द्रको प्राप्त होता है” ऐसा कहा है, इसी कारण दमयन्तीका मन मुझे प्राप्त होगा, ऐसा समझते हो क्या ? परन्तु उस वाक्यका नलके मुखचन्द्रमें तात्पर्य है, अतः मरनेपर दूसरे जन्ममें मेरा मन नलके मुखचन्द्रको प्राप्त करेगा, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाऽधुना।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं, हरिणलाञ्छन ! मुञ्च कदर्थनाम् ।। ५३ ।।

अन्वयः—हे हरिणलाञ्छन ! यशोनवडिण्डिमं मुखरयस्व, अधुना जलनिधेः कुलम् उज्ज्वलय, वधूवधपौरुषम् अपि गृहाण, कदर्थनां मुञ्च ।

व्याख्या—हे हरिणलाञ्छन=हे मृगाऽङ्क ! यशोनवडिण्डिमं=कीर्तिप्रकाशकं नूतनवाद्यविशेषं, मुखरयस्व=मुखरं कुरु। अधुना=इदानीं, जलनिधेः=समुद्रस्य, कुलं=वंशम्, उज्ज्वलय=प्रकाशय। किं बहुना वधूवधपौरुषम् अपि=स्त्रीहननशौर्यम् अपि, गृहाण=स्वीकुरु। किन्तु कदर्थनां=पीडां, मुञ्च=त्यज, मां शीघ्र जहि, न तु पीडयेति भावः ।

अनुवाद—हे मृगलाञ्छन ! कीर्तिप्रकाशक नये डिण्डिमवाद्यको बजाओ, इस समय समुद्रके वंशको उज्ज्वल करो और स्त्रीहत्याके पुरुषार्थको भी स्वीकार करो, परन्तु पीड़ा मत दो ।

टिप्पणी—हरिणलाञ्छन=हरिणो लाञ्छनं यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। यशोनवडिण्डिमं=नवश्चाऽसौ डिण्डिमः (क० धा०), यशसो नवडिण्डिमः, तम् (ष० त०)। मुखरयस्व=मुखरं कुरु, मुखर+क्यङ्+लोट्+थास्। जलनिधेः=जलानां निधिः, तस्य (ष० त०)। उज्ज्वलय=उज्ज्वल+णिच्+लोट्+सिप्। वधूवधपौरुषं=वध्वाः वधः (ष० त०), स एव पौरुषं, तत् (रूपक०), गृहाण=ग्रह+लोट्+सिप्। कदर्थनां = कुत्सितोऽर्थः कदर्थः (गति०), "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इस सूत्रसे 'कु'के स्थानमें कत् आदेश। कदर्थीकरणं कदर्थना, कदर्थ शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर युच्+टाप्+अम। मुञ्च=मुच्+लोट्+सिप्। इस पद्यमें आक्षेप अलङ्कार है ॥ ५३ ॥

निशि शशिन् ! भज कैतवभानुतामसति भास्वति तापय पाप ! माम् ।
अहमहन्यवलोकयिताऽस्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे शशिन् ! हे पाप ! निशि भास्वति असति कैतवभानुतां भज, मां तापय। (किन्तु) अहम् अहनि ते अहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् अवलोकयिताऽस्मि ।

व्याख्या—हे शशिन्=हे चन्द्र ! हे पाप=हे क्रूर ! निशि=रात्रौ, भास्वति=सूर्ये, असति=अविद्यमाने, कैतवभानुतां=कपटसूर्यत्वं, भज=

अङ्गीकुरु, मां=दमयन्तीं, तापय=ज्वालय। (किन्तु) अहं=दमयन्ती, अहनि=दिवसे, ते=तव, अहर्पतिनिर्धुतदर्पतां=सूर्यनिवारितगर्वताम्, अवलोकयितास्मि=द्रष्टास्मि। पापिष्ठाः आसन्न स्वनाशमपश्यन्तः परान्हिसन्तीति भावः।

अनुवाद—हे चन्द्र! हे क्रूर! रातमें सूर्यके न होनेपर कपटसे सूर्य बनो और मुझे सन्तप्त बना डालो, किन्तु मैं दिनमें सूर्यसे तोड़े गये तुम्हारे गर्वको देख लूँगी।

टिप्पणी—शशिन्=शश+इनि+सु (सम्बुद्धिमें)। पाप="नृशंसो घातुकः क्रूरः पाप" इत्यमरः। भास्वति=भास्+मतुप्+ङि। कैतवभानुतां=भानोर्भावो भानुता, भानु+तल्+टाप्। कैतवेन भानुता, ताम् (तृ० त०)। तापय=तप+णिच्+लोट्+सिप्। अहर्पतिनिर्धुतदर्पताम्=अह्नः पतिः अहर्पतिः (ष० त०), "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इससे विकल्पसे रेफ आदेश, पक्षान्तरमें "अहःपति" और "अहपतिः" ऐसे रूप भी होते हैं। निर्धुतो दर्पो यस्य सः (बहु०), तस्य भावः, निर्धुतदर्प+तल्+टाप्। अहर्पतिना निर्धुतदर्पता, ताम् (तृ० त०)। अवलोकयितास्मि=अव+लोक्+णिच्+लुट्+मिप्। पापी लोग निकटमें होनेवाले अपने नाशको नहीं देखते हुए दूसरोंकी हिंसा करते हैं, यह भाव है॥ ५४॥

शशकलङ्क! भयङ्कर! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः।
तदमृतस्य तवेदृशभूतताऽद्भुतकरी परमूर्धविधूननी॥ ५५॥

अन्वयः—हे शशकलङ्क! मादृशां हे भयङ्कर! यत् भूतपतिं श्रितः (सन्) निशि ज्वलसि। तत् अमृतस्य तव परमूर्धविधूननी ईदृशभूतता अद्भुतकरी।

व्याख्या—हे शशकलङ्क=हे शशाऽङ्क, मादृशां=मत्सदृशीनां, वियोगिनीनामिति भावः। हे भयङ्कर=हे भीतिजनक! यत्=यस्मात्कारणात्, भूतपतिं=शिवं, पिशाचपतिं च, श्रितः=आश्रितः (सन्), निशि=रात्रौ, ज्वलसि=प्रदीप्यसे। तत्=तस्मात्कारणात्, अमृतस्य=अमृतमयस्य, मृतेतरस्य च, तव=भवतः, परमूर्धविधूननी=एकत्र आश्चर्यात् अन्यत्र आवेशाच्च शिरःकम्पकरी, ईदृशभूतता=इत्थम्भूतता, ईदृशपिशाचता च, अद्भुतकरी=विस्मयकारिणी, अस्तीति शेषः।

अनुवाद—हे शशकलङ्क (शशरूप लाञ्छनवाले)! मुझ जैसी विरहिणियोंको भय करनेवाले! जिस कारणसे कि शिवजीका अथवा पिशाचस्वामीका

आश्रय लेते हुए रातमें तुम जलते हो, उस कारणसे अमृतमय और मृतसे इतर (जीते हुए) तुम्हारी आश्चर्यसे और आवेशसे शिरको कम्पित करनेवाली ऐसी स्थिति वा ऐसी पिशाचता आश्चर्य पैदा करनेवाली है ।

टिप्पणी—शशकलङ्क=शश एव कलङ्कः (चिह्नम्) यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । भयङ्कर=भयं करोतीति, तत्सम्बुद्धौ, भय-उपपदपूर्वक कृञ् धातुसे "मेघर्तिभयेषु कृञः" इससे खच् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम । भूतपतिं=भूतानां पतिः, तम् (ष० त०) । अमृतस्य= अविद्यमानं मृतं (मरणम्) यस्मात् तत्, तस्य (नञ्बहु०) । दूसरे पक्षमें न मृतः, तस्य (नञ्०) । परमूर्धविधूननी=परेषां मूर्धानः (ष० त०), तान् विधूनयतीति, परमूर्धन् + वि + धूञ् + णिच् + णिनि + ङीप् (उपपद०) + सु । ईदृशभूतता=भूतस्य भावः, भूत + तल् + टाप् । ईदृशी चाऽसौ भूतता (क० धा०) । अद्भुतकरी=अद्भुतं करोतीति तद्धेतुः, अद्भुत-उपपदपूर्वक कृ धातु-से "कृञो हेतुताच्छील्याऽनुलोम्येषु" इससे ट प्रत्यय और "टिड्ढाणञ्०" इस सूत्रसे ङीप् । हे चन्द्र ! शिवजीका आश्रय लेते हुए तुम जो रातको (पिशाचकी नाईं) जलते हो । पिशाच तो आविष्ट होकर मनुष्यके सिरको कम्पित करता है, परन्तु पिशाचपतिका आश्रय लेकर तुम्हारा जीवित अवस्थामें ही दूसरेके मस्तकको कम्पित कराना आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है, यह तात्पर्य है । शिव-जीके शिरके मणिस्वरूप अमृतमय तुम्हारा प्रज्ज्वलनस्वरूप होना आश्चर्य-जनक है, यह वाक्यार्थ है । जीवित अवस्थामें ही तुम्हारा यह जलनेवाले पिशाचका भाव आश्चर्यजनक है, यह व्यङ्ग्यार्थ है ॥ ५५ ॥

श्रवणपूरतमालदलाऽङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप ।
किमपि तुन्दिलितः स्थगयत्वमुं सपदि तेन तवुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे सखि ! श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे निक्षिप । तेन सपदि किमपि तुन्दिलितः (सन्) अमुं स्थगयतु, तत् क्षणम् उच्छ्वसिमि ।

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं=कर्णाऽवतंस-तापिच्छपल्लवं, शशिकुरङ्गमुखे=चन्द्रमृगवक्त्रे, निक्षिप=अर्पय । तेन= दलाङ्कुरेण, सपदि=सद्यः, किमपि=कियदपि, तुन्दिलितः=तुन्दिलीकृतः, स्थूलीकृतः सन्निति भावः । अमुं=शशिनं, स्थगयतु=आच्छादयतु, तत्= तस्माद्धेतोः, क्षणं=कञ्चित्कालम्, उच्छ्वसिमि=प्राणिमि ।

अनुवाद--हे सखि ! कर्णभूषण तमालके पल्लवको चन्द्रमाके मृगके मुखमें रख दो, उससे कुछ स्थूल होकर चन्द्रमाको आच्छादित करेगा तो कुछ समय तक श्वास लूँ।

टिप्पणी—श्रवणपूरतमालदलाऽङ्कुरं=श्रवणयोः पूरः (ष० त०), तमालस्य दलं (ष० त०), स एव अङ्कुरः (रूपक०), श्रवणपूरश्चाऽसौ तमालदलाऽङ्कुरः, तम् (क० धा०)। शशिकुरङ्गमुखे=शशः अस्याऽस्तीति शशी, शश+इनि, शशिनः कुरङ्गः (ष० त०), तस्य मुखं, तस्मिन् (ष० त०)। निक्षिप=नि+क्षिप+लोट्+सिप्। तुन्दिलितः=तुन्दिलः कृतः, तुन्दिल शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर क्त प्रत्यय। स्थगयतु=स्थग+णिच्+लोट्+तिप्। उच्छ्वसिमि=उद्+श्वस्+लट्+मिप्। "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" इससे इट् आगम ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कुहूः।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि ! मुखं न विधोः पुनरीक्ष्यते ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे सखि ! असमये मतिः उन्मिषति ध्रुवम्। यत् इयं कुहूः करगता एव गता। पुनः उपैति चेत्, निरुध्य निवास्यते, विधोः मुखं पुनः न ईक्ष्यते।

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! असमये=अकाले, मतिः=बुद्धिः, कार्यबुद्धिरित्यर्थः। उन्मिषति=उदेति, न तु योग्यकाल इति भावः। ध्रुवं=निश्चितम्। यत्=यस्मात्कारणात्, इयम्=एषा, कुहूः=नष्टचन्द्रकला अमावास्या, करगता एव=स्वाऽधीना एव, हस्तनक्षत्रगता च, गता=याता। पुनः=भूयः, उपैति चेत्=आगच्छति चेत्। निरुध्य=निवार्य, गमनव्यापारादिति शेषः। निवास्यते=स्थाप्यते। तस्य फलमाह—विधोः=चन्द्रमसः, मुखम्=आननं, पुनः=भूयः, न ईक्ष्यते=न अवलोक्यते, कुह्वाश्चन्द्रनाशकत्वादिति भावः, पापिष्ठस्य तस्याऽदर्शनमेव फलमित्यर्थः।

अनुवाद—हे सखि ! असमयमें कार्यकी बुद्धि प्रकट होती है, यह निश्चित है। जो कि यह कुहू (जिसमें चन्द्रकला नहीं होती है, वैसी अमावस्या) हाथमें आती हुई ही अथवा हस्त नक्षत्रमें आयी हुई ही चली गई। फिर आयेगी तो रोककर रक्खूँगी, जिससे कि चन्द्रमाका मुख नहीं देखा जायेगा।

टिप्पणी—असमये=न समयः, तस्मिन् (नञ्)। कुहूः="सा नष्टेन्दुकला कुहूः" इत्यमरः। करगता=करं (हस्तं हस्तनक्षत्रं वा) गता (द्वि० त०)।

निरुध्य = नि + रुध् + क्त्वा (ल्यप्)। निवास्यते = नि + वस् + णिच् + लट् + त (कर्ममें)। ईक्ष्यते = ईक्ष + लट् (कर्ममें) + त ॥ ५७ ॥

अयि ! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ?
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः ? ॥५८॥

अन्वयः—अयि ! एष मम चकोरशिशुः सिन्धुपिबस्य मुनेः शिष्यतां न व्रजति ? अब्धिम् अशितुम् अधतीवतः पिबतः अस्य शशिकराः कति वा शीकराः ?

व्याख्या—अयि = हे सखि ! एषः = समीपतरवर्ती, मम = दमयन्त्याः। चकोरशिशुः = बालचकोरः, सिन्धुपिबस्य = समुद्रपायिनः। मुनेः = ऋषेः अगस्त्यस्य, शिष्यतां = छात्रतां, न व्रजति = न गच्छति, काकुः व्रजतीत्यर्थः। अब्धिम् = समुद्रम्, अशितुं = भक्षयितुं, पातुमिति भावः। अधीतवतः = अभ्यस्तवतः, अत एव पिबतः = धयतः, अब्धिपानप्रवृत्तस्येत्यर्थः। अस्य = चकोरशिशोः, कति वा शीकराः = कियन्तो वा अम्बुकणाः ?

अनुवाद—हे सखि ! यह मेरा चकोरबालक समुद्र पीनेवाले मुनि- (अगस्त्य)का शिष्य नहीं होगा ? समुद्रको पीनेके लिए अभ्यास करनेवाले पीते हुए इसके लिए चन्द्रमाकी किरणें कितने अम्बुकण होंगे ?

टिप्पणी—चकोरशिशुः = चकोरस्य शिशुः (ष० त०), विषकी परीक्षाके लिए राजभवनमें चकोरशिशुको रखते हैं। विषको देखनेसे चकोरके नेत्र लाल होते हैं, ऐसा कामन्दकने कहा है। सिन्धुपिबस्य = पिबतीति पिबः, पा धातुसे "पाघ्राध्माधेड्दृशः शः" इस सूत्रसे श प्रत्यय, सिन्धोः पिबः, तस्य (ष० त०)। अशितुम् = अश् + तुमुन्। अधीतवतः = अधि + इङ् + क्तवतु + ङस्। पिबतः = पा + लच् + शतृ + ङस्। शशिकराः = शशिनः कराः (ष० त०)। इस पद्यमें अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं बहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे।
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा सखि ! सुखादहितं धहि तं द्रुतम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे सखि ! एकं गुरुम् अयोघनं करे कुरु, इतो बहिः मे मुकुरं च कुरुष्व। तत्र यदा विधुः विशति (तदा एव) सुखात् अहितं तं द्रुतं जहि।

व्याख्या—हे सखि = हे वयस्ये ! एकं गुरुं = महान्तम्, अयोघनं = मुद्गरं, करे = हस्ते, कुरु = विधेहि, विभृहीत्यर्थः। इतः = अस्मात्, मत्प्रकोष्ठात् इति भावः। बहिः = बहिर्भागे, मे = मम, मुकुरं च = दर्पणं च, कुरुष्व = विधेहि।

तत्र = तस्मिन् मुकुरे, यदा = यस्मिन् समये, विधुः = चन्द्रः, विशति = प्रविशति। तदा एव सुखात् = अनायासात्, अहितम् = अहितकारकं शत्रुमित्यर्थः। तं = विधुं, द्रुतं = शीघ्रं, जहि = मारय।

अनुवाद—हे सखि ! एक बड़े लोहेके हथौड़ेको हाथमें ले लो, मेरे प्रकोष्ठसे बाहर मेरे दर्पणको रक्खो। उसमें जब चन्द्र प्रवेश करता है, उसी समय अनायास ही शत्रु रूप उस चन्द्रको शीघ्र मार डालो।

टिप्पणी—अयोघनम् = अयो हन्यते अनेन इति अयोघनः, तम्, अयस्-उपपदपूर्वक हन् धातुसे "करणेऽयोविद्रुषु" इससे अप् प्रत्यय और घन आदेश। इतः = इदम् + तसिल्। अहितम् = अविद्यमान हितं यस्य, तम् (नञ्बहु०)। जहि = हन् + लोट् + सिप्, "हन्तेर्जः" इससे ज आदेश॥ ५९॥

उदर एव धृतः किमुदन्वता न विषमो वडवाऽनलवद्विधुः ?
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः ? ॥ ६० ॥

अन्वयः—विषमो विधुः उदन्वता वडवाऽनलवत् उदरे एव किं न धृतः ? (अथवा) अमुना उज्झितम् अपि अमुं विभुः स्मरहरः विषवत् किं न बुभुजे ?

व्याख्या—विषमः = क्रूरः, विधुः = चन्द्रमाः, उदन्वता = समुद्रेण, वडवाऽनलवत् = वडवाऽग्निना तुल्यम्, उदरे एव = कुक्षौ एव, किं न धृतः = किं न धारितः ? अथवा, अमुना = उदन्वता, उज्झितम् अपि = त्यक्तम् अपि, अमुं = विधुं, विभुः = समर्थः, स्मरहरः = महादेवः, विषवत् = कालकूटेन तुल्यं, किं न बुभुजे = किं न भुक्तवान्, उभयथाऽपि वयं विरहिण्यो जीवेमेति भावः।

अनुवाद—क्रूर चन्द्रमाको समुद्रने वडवाऽग्निके समान अपने गर्भमें ही क्यों नहीं धारण किया ? (अथवा) समुद्रसे छोड़े गये उस चन्द्रमाको समर्थ महादेवने कालकूटके समान क्यों नहीं खाया ?

टिप्पणी—उदन्वता = उदकम् अस्ति यस्य स उदन्वान्, तेन "उदन्वानुदधौ च" इस सूत्रसे निपातन। वडवाऽनलवत् = वडवाऽनल + वति। स्मरहरः = स्मरं हरतीति, स्मर + हृञ् + अक् (उपपद०) + सु। बुभुजे = भुज + लिट् + त। "भुजोऽनवने" इससे आत्मनेपद॥ ६०॥

असितमेकसुराऽशितमप्यभून्न पुनरेष पुनर्विशदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवनार्णवम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—आर्णवम् असितं विषम् एकसुराऽशितम् अपि पुनः न अभूत्। एष आर्णवं विशदं विषं (तु) सुरैः निपीय जनितक्षयम् अपि स्वयं नवं पुनः उदेति ।

व्याख्या—आर्णवं = सामुद्रं, समुद्रोत्पन्नम् इत्यर्थः, असितं = कृष्णं, विषं = गरलं, कालकूटाख्यमित्यर्थः, एकसुराऽशितम् अपि = एकदेवभक्षितम् अपि, एकेन महादेवेन भक्षितम् अपीति भावः । पुनः = भूयः, न अभूत् = न अजनि । एषः = चन्द्रो नाम, आर्णवं = सामुद्रं, समुद्रादुत्पन्नमिति भावः । विशदं = शुक्लं, विषं = गरलं तु, सुरैः = देवैः, वह्न्यादिभिरिति भावः । निपीय = पीत्वा, जनितक्षयम् अपि = कृतनाशम् अपि, स्वयम् = आत्मना, नवं = नूतनं सत्, पुनः = भूयः, उदेति = आगच्छति ।

अनुवाद—समुद्रसे उत्पन्न काला विष (कालकूट) तो एक देव (महादेव) से खाये जानेपर फिर उत्पन्न नहीं हुआ । यह चन्द्रनामक समुद्रसे उत्पन्न विष तो अग्नि आदि देवताओंसे पान कर नष्ट होकर भी स्वयं नया होकर फिर उत्पन्न होता है ।

टिप्पणी—आर्णवम् = अर्णवे जातं, तत् "तत्र जातः" इससे अण् प्रत्यय । असितं = न सितम् (नञ्०) । एकसुराऽशितम् = एकश्चाऽसौ सुरः (क० धा०), तेन अशितम् (तृ० त०) । निपीय = नि + पीङ् + क्त्वा (ल्यप्) । 'प्रथमं पिबते वह्निः" इत्यादि श्लोकके अनुसार प्रथम कलाको वह्नि (अग्नि) पान करते हैं, इत्यादि क्रमसे दिवसोंसे पान करके भी यह तात्पर्य है । जनितक्षयं = जनितः क्षयो यस्य तत् (बहु०) । उदेति = उद् + इण् + लट् + तिप् । इस पद्यमें व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं, ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ? ॥ ६२ ॥

अन्वयः—(हे सखि !) विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुलम् अशेषकलं विधुं पापं कलय, सुरनिपीतसुधाकं विधुम् अपापकं कलय । ग्रहविदः कथं विपरीतकथाः ?

व्याख्या—(हे सखि !) विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुलम् = वियोगिसमूहहननाऽऽसक्तिव्यग्रम्, अशेषकलं = परिपूर्णकलं, विधुं = चन्द्रं, पापं = पापग्रहं, कलय = विद्धि । सुरनिपीतसुधाकम् = अग्न्यादिदेवपीतकलं, क्षीणमिति भावः । विधुं = चन्द्रम्, अपापकं = पुण्यवन्तं, सौम्यमिति भावः, कलय = विद्धि ।

किन्तु ग्रहविद =ज्योतिर्विदः, कथं=केन प्रकारेण, विपरीतकथाः=विरुद्धवाचः ? सन्तीति शेषः ।

अनुवाद—(हे सखि !) वियोगियोंकी हत्याकी आसक्तिसे आकुल, पूर्ण कलाओंसे युक्त चन्द्रमाको तुम पापग्रह जानो । किन्तु देवताओंने क्रमसे जिसके कलारूप अमृतका पान कर लिया है, ऐसे चन्द्रमाको पापरहित अर्थात् शुभग्रह जानो, किन्तु ज्योतिषीलोग कैसे उलटा कथन करनेवाले हैं ?

टिप्पणी—विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुलं=विरहिणां वर्गः (ष० त०), तस्य वधः (ष० त०), तस्मिन् व्यसनं (स० त०), तेन आकुलः, तम् (तृ० त०) । अशेषकलम्=अशेषाः कला यस्य, तम् (बहु०) । कलय=कल+णिच्+लोट्+सिप् । सुरनिपीतसुधाकं=सुरैर्निपीता (तृ० त०), सुरनिपीता सुधा यस्य सः, तम् (बहु०) । "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासाऽन्त कप् प्रत्यय । "आपोऽन्यतरस्याम्" इससे वैकल्पिक ह्रस्वका अभाव । अपापकम्=न पापकः, तम् (नञ्०) । विरहियोंको दुःख देनेसे पूर्ण चन्द्र ही पापग्रह है, क्षीण चन्द्र नहीं । परन्तु "क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्राः पापाः" इत्यादि वचन कहनेवाले ज्योतिषी पूर्ण चन्द्रको शुभग्रह और क्षीण चन्द्रको पापग्रह कहते हैं, वे लोग उलटा ही वचन कहते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाऽजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममा कृता ? ॥ ६३ ॥

अन्वयः—यः पक्षो विरहिभिः बहुमानम् अवापि, स पक्ष इह बहुलः अजनि खलु । यत्र तैः सकलैः अपि तदमितिः व्यरचि, सा तिथिश्च अमा कृता किम् ?

व्याख्या—(हे सखि !) यः, पक्षः=मासार्द्धभागः । विरहिभिः=वियोगिभिः, बहुमानम्=अधिकसत्कारम्, अवापि=प्रापितः, चन्द्रस्य क्षीयमाणत्वादिति भावः । विरहिभिः=वियोगिभिः, सः=पूर्वोक्तः, पक्षः=कृष्णपक्षः, इह=अस्मिन् लोके, बहुलः=वियोगिबहुसम्मानग्राहकत्वात् बहुल इति भावः । अजनि=जातः, खलु=इव । किञ्च यत्र=यस्यां तिथौ, तैः=पूर्वोक्तैः, सकलैः अपि=समस्तैर्विरहिभिः अपि, तदमितिः=मानाऽपरिमितिः, व्यरचि=विरचिता, कृतेति भावः । सा=तादृशी, तिथिश्च=तिथी च, अमा कृता किम्=अमानाम्नी निहिता किम् ?

अनुवाद—जिस पक्षने वियोगियोंसे बहुत मान (सम्मान) पाया, वह पक्ष इस लोकमें "बहुल पक्ष" हुआ। जिस तिथिमें उन सम्पूर्ण वियोगियोंने सम्मानकी अपरिमिति (अपरिमितता) पायी, उस तिथिको अमा बनाया है क्या ?

टिप्पणी—विरहिभिः = विरह + इनि + भिस्। बहुमानं = बहुश्चाऽसौ मानः, तम् (क० धा०)। अवापि=अव + आप् + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त। बहुलः = बहु (अधिकं) यथा तथा लाति = आदत्ते इति, बहु + ला + कः (उपपद०)। अजनि = जन् + लुङ् + त। विरहियोंसे अधिक मान-(सम्मान)को लेनेसे "बहु लाति" इस व्युत्पत्तिसे कृष्णपक्ष "बहुल" हो गया है क्या ? यह तात्पर्य है, यत्र = यस्याम् इति, यद् + त्रल्। तदमितिः = न मितिः अमितिः (नञ्०), तस्य (बहुमानस्य) अमितिः (ष० त०)। व्यरचि=वि + रच् + णिच् + लुङ् + त। अमा = अविद्यमाना (मानस्य) मा (मितिः) यस्यां सा अमा (नञ्बहु०), जिस तिथिमें उन सब विरहियोंने मानकी अमिति (अपरिमितता) की, उस तिथिको "अविद्यमाना मा यस्यां सा" इस व्युत्पत्तिसे "अमा" नामवाली बनाया है क्या ? सूर्य और चन्द्रके अमा(सहभाव)से "अमा" नाम नहीं हुआ है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है और निरुक्त नामका लक्षण है॥ ६३॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्किमु विधुं ग्रसते न विधुन्तुदः ?।
निपतितं वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभं निजमुज्झति ?॥ ६४॥

अन्वयः—विधुन्तुदः विधुं स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् न ग्रसते किमु ? अन्यथा वदने निपतितं निजं बलिकरम्भनिभं कथम् उज्झति ?

व्याख्या—विधुन्तुदः = राहुः, विधुं = चन्द्रमसं, स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शन-विभ्रमात् = निजशत्रुनिशितचक्रभ्रान्तेः, न ग्रसते किमु = नो भक्षयति किम् ? तालुच्छेदभयादिति भावः। अन्यथा = भयाऽभावे सति, वदने = मुखे, निपतितम् = अन्तर्गतं, निजं = स्वकीयं, बलिकरम्भनिभम् = उपहारदधिसक्तुसदृशं, कथं = केन प्रकारेण, उज्झति = उद्गिरति।

अनुवाद—राहु चन्द्रमाको अपने शत्रु विष्णुके तीक्ष्ण सुदर्शनचक्रकी भ्रान्ति होनेसे ग्रास नहीं करता है क्या ? नहीं तो मुखमें पड़े हुए उपहाररूप दहीसे उपसिक्त सत्तूके गोलेके सदृश उसको कैसे छोड़ देता है ?

टिप्पणी—स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् = स्वस्य रिपुः (ष० त०), तीक्ष्णं च तत् सुदर्शनम् (क० धा०), स्वरिपोः (विष्णोः) तीक्ष्णसुदर्शनम् (ष० त०), तस्य विभ्रमः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। बलिकरम्भनिभं = बलेः करम्भः (ष० त०), "करोपहारयोः पुंसि बलिः पाण्यङ्गजे स्त्रियाम्।" इति "करम्भा दधिसक्तवः" इत्यप्यमरः। बलिकरम्भेण सदृशः, तम् (तृ० त०)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगतं न निजेच्छया शशिनमुज्झति राहुरसंशयम्।
अशित एव गलत्ययमत्ययं सखि ! विना गलनालबिलाऽध्वना ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे सखि ! (यद्वा) राहुः वदनगर्भगतं शशिनं निजेच्छया न उज्झति, असंशयम्। (किन्तु) अयम् अशित एव अत्ययं विना गलनालबिलाऽध्वना गलति।

व्याख्या—हे सखि = हे वयस्ये ! (यद्वा = अथ वा) राहुः = विधुन्तुदः, वदनगर्भगतं = मुखाऽभ्यन्तरप्रविष्टं, शशिनं = चन्द्रमसं, निजेच्छया = स्वेच्छया, न उज्झति = न त्यजति, असंशयं = संशयो नाऽस्तीति भावः। (किन्तु) अयं = शशी, अशित एव = गिलित एव, अत्ययं विना = नाशं विना, गलनालबिलाऽध्वना = कण्ठनालविवरमार्गेण, गलति = निःसरति। राहोः शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालविवरमार्गेणोदरसंयोगाऽभावेन दुःखप्रदस्य शशिनो भूयोऽभ्युदय इति भावः।

अनुवाद—हे सखि ! अथवा राहु, मुखके भीतर पड़े हुए चन्द्रमाको अपनी इच्छासे नहीं छोड़ता है, इसमें संशय नहीं है। किन्तु चन्द्रमा राहुके निगलनेके साथ ही बिना कष्टके (पेटके न होनेसे) कण्ठनालके छिद्रके मार्गसे निकल जाता है।

टिप्पणी—वदनगर्भगतं = वदनस्य गर्भः (ष० त०), तं गतः, तम् (द्वि० त०)। निजेच्छया = निजस्येच्छा, तया (ष० त०)। असंशयं = संशयस्याऽभावः, अर्थाऽभावमें अव्ययीभाव। अशितः = अश् + क्तः। गलनालबिलाऽध्वना = गलस्य नालः (ष० त०), तस्य बिलं (ष० त०), तस्य अध्वा, तेन (ष० त०)। गलति = गल + लट् + तिप्। इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ६५ ॥

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं बिल राहुशिरश्छिदम्।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न ! क्व नु शशी यदि तज्जठराऽनलः ? ॥ ६६ ॥

अन्वयः—ऋजुदृशः पुराविदो मधुभिदं राहुशिरश्छिदं कथयन्ति किल। विरहिमूर्धभिदं न निगदन्ति, तज्जठराऽनलो यदि, शशी क्व नु ?

व्याख्या—ऋजुदृशः=सरलदृष्टयः यथादृष्टग्रहिण इति भावः। पुराविदः=पुराणज्ञाः, मधुभिदं=मधुदैत्यभेदकं, विष्णुमिति भावः। राहुशिरश्छिदं=राहुमस्तकच्छेदकं, कथयन्ति=वदन्ति, किल=इति वार्ता। विरहिमूर्धभिदं=वियोगिशिरश्छिदं, न निगदन्ति=न कथयन्ति, वस्तुतस्तथैव कथनीयमिति भावः। तदेव प्रतिपादयति—क्वेति। तज्जठराऽनल.=राहूदराऽग्निः, यदि=चेत्, अस्तीति शेषः, शशिः=चन्द्रः, क्व नु=कुत्र नु, राहुजठराऽनलजीर्णत्वात्कुत्राऽपि न स्यादिति भावः।

अनुवाद—सरल दृष्टिवाले पुराणोंके जानकार, मधुको भेदन करनेवाले विष्णुको "राहुके शिरको काटनेवाला" कहते हैं, वियोगियोंके शिरको काटनेवाला नहीं कहते हैं। यदि राहुका उदराऽग्नि होता तो चन्द्रमा कहाँ रहते ? (कहीं भी नहीं)।

टिप्पणी—ऋजुदृशः=ऋजुं पश्यन्तीति, ऋजु+दृश्+क्विप् (उपपद०) +जस्। मधुभिदं=मधुं भिनत्तीति मधुभिद्, तम्, मधु+भिद्+क्विप् (उपपद०)+अम्। राहुशिरश्छिदं=राहोः शिरः (ष० त०), तत् छिनत्तीति राहुशिरश्छित्, तम्, राहुशिरस्+छिद्+क्विप् (उपपद०)+अम्। विरहिमूर्धभिदं=विरहिणां मूर्धानः (ष० त०), तान् भिनत्तीति विरहिमूर्धभित्, तम्, विरहिमूर्धन्+भिद्+क्विप् (उपपद०)+अम्। तज्जठराऽनलः=जठरे अनलः (स० त०), तस्य जठराऽनलः (ष० त०), विष्णुके राहुशिरको छेदन करनेसे उसका उदराऽग्नि नहीं रहा, अतः वियोगियोंको मारनेवाले चन्द्रको उज्जीवित करनेवाले विष्णुको "वियोगियोंके शिरको काटनेवाला" कहना चाहिए, राहुके शिरको काटनेवाले नहीं कहना चाहिए, यह अभिप्राय है॥ ६६॥

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः।
सपदि सन्दधतुर्भिषजौ दिवः, सखि ! तथा तमसोऽपि करोतु कः ? ॥ ६७॥

अन्वयः—हे सखि ! रुचिभिः स्मरसखौ दिवो भिषजौ स्मरवैरिणा दलितं मखमृगस्य शिरः यथा सपदि सन्दधतुः, (किन्तु) कः तमसोऽपि तथा करोतु ?

व्याख्या—हे सखि = हे वयस्ये ! रुचिभिः=कान्तिभिः, कायस्येति शेषः । स्मरसखौ = कामसदृशौ, काममित्रे, दिवः = स्वर्गस्य, भिषजौ = वैद्यौ, अश्विनीकुमारावित्यर्थः । स्मरवैरिणा = कामशत्रुणा, हरेणेत्यर्थः । दलितं = भिन्नं, मखमृगस्य = यज्ञहरिणस्य, मृगरूपधारिणो मखस्येत्यर्थः । शिरः = मस्तकं, यथा = येन प्रकारेण, सपदि = तत्क्षणे, सन्दधतुः = संयोजयामासतुः । (किन्तु), कः = जनः, तमसोऽपि = राहोरपि, तथा = शिरःसंयोजनं, करोतु = विदधातु, न कोऽपीत्यर्थः ।

अनुवाद—हे सखि ! शरीरकी कान्तियोंसे कामदेवके सदृश और उनके मित्र स्वर्गके वैद्य अश्विनीकुमारोंने कामदेवके शत्रु महादेवसे काटे गये मृगरूप लेनेवाले यज्ञके शिरको जैसे शीघ्र जोड़ दिया, किन्तु कौन राहुके शिरको भी उस तरह जोड़ देगा ?

टिप्पणी—स्मरसखौ = स्मरस्य सखायौ (ष० त०) । स्मरवैरिणा = स्मरस्य वैरी, तेन (ष० त०) । मखमृगस्य = मख एव मृगः, तस्य (रूपक०), सन्दधतुः=सम् + धा + लिट् + तस् । महादेवके यज्ञमृगके शिर काटनेके विषयमें पुराण प्रमाण है, उसी तरह अश्विनीकुमारोंने उसके शिरको जोड़ दिया, इस विषयमें "ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्" यह श्रुति प्रमाण है ।। ६७ ।।

नलविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कबन्धगलेन वा ।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्तदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—वा रणे नलविमस्तकितस्य (तथाऽपि) मृतिभिया भृशम् उत्पततः रिपोः कबन्धगलेन (सह) तमोग्रहशिरः तदसृग्दृढबन्धनं (सत्) किं न मिलति ?

व्याख्या—वा = अथवा, रणे = युद्धे, नलविमस्तकितस्य = नलेन च्छिन्नमस्तकस्य, तथाऽपि मृतिभिया = मरणभयेन, भृशम् = अत्यर्थम्, उत्पततः = उद्गच्छतः, रिपोः = शत्रोः, कबन्धगलेन = अपमूर्धकलेवरकण्ठेन सह, तमोग्रहशिरः = राहुशीर्षं, तदसृग्दृढबन्धनं = कबन्धगलरक्तनिबिडसंयोगं सत्, किं न मिलति = किं न सङ्गच्छते ?

अनुवाद—अथवा युद्धमें नलसे काटे गये शिरवाले तो भी मरणके भयसे अतिशय ऊपर उछलते हुए शत्रुके शिरोहीन कण्ठके साथ राहुका शिर, कबन्धके लहू से दृढ़ बन्धनवाला होता हुआ क्यों नहीं मिल जाता है ?

टिप्पणी—नलविमस्तकितस्य=विगतो मस्तको यस्मात् स विमस्तकः (बहु०), विमस्तकः कृतो विमस्तकितः, विमस्तक + णिच् + क्तः । नलेन विमस्तकितः, तस्य (तृ० त०) । मृतिभिया=मृतेर्भीः मृतिभीः, तया (प० त०) । उत्पततः=उद् + पत् + लट् (शतृ०) + ङस् । कबन्धगलेन= कबन्धस्य गलः, तेन (ष० त०) । तमोग्रहशिरः=तमश्चाऽसौ ग्रहः (क० धा०), तस्य शिरः (ष० त०) । तदसृग्दृढबन्धनं=तस्य असृक् (ष० त०), दृढं बन्धनं यस्य तत् (बहु०), तदसृजा दृढबन्धनम् (तृ० त०) । कबन्धके गलेके खूनसे राहुका शिर कबन्धके धड़से जुड़ जाता तो उसके उदराग्निसे चन्द्र जीर्ण हो जाता, यह तात्पर्य है ॥ ६८ ॥

सखि ! जरां परिपृच्छ तमःशिरः सममसौ दधताऽपि कबन्धताम् ।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥ ६९ ॥

अन्वयः—हे सखि ! जरां परिपृच्छ । असौ कबन्धतां दधता केतुना समं तमःशिरः अपि मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतीसीव्यति ?

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! जरां=जरानाम्नीं राक्षसीं, परिपृच्छ= अनुयुङ्क्ष्व, त्वमिति शेषः । असौ जरा, कबन्धताम्=शिरोरहितशरीरतां, दधता=धारयता, केतुना समं=केतुग्रहेण सह, तमःशिरः अपि=राहु- मस्तकम् अपि, मगधराजवपुर्दलयुग्मवत्=जरासन्धशरीराऽर्धभागयुगलम् इव, किमिति=केन कारणेन, न प्रतिसीव्यति=न सन्धत्ते ।

अनुवाद—हे सखि ! तुम जरा राक्षसीसे पूछो । वह (जरा) शिरसे हीन शरीरको धारण करते हुए केतु ग्रहके साथ राहुके शिरको भी जरासन्धके शरीरके दो भागोंके समान क्यों नहीं मिला देती है ?

टिप्पणी—कबन्धतां=कबन्धस्य भावः कबन्धता, ताम्, कबन्ध + तल् + टाप् + अम् । दधता=धा + लट् (शतृ) + टा । तमःशिरः=तमसः शिरः, तत् (ष० त०) । "तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः" इत्यमरः । मगधराजवपुर्दलयुग्मवत्=मगधानां राजा मगधराजः, वपुषः दले (ष० त०), मगधराजस्य वपुर्दले (ष० त०), तयोर्युग्मं (ष० त०), तेन तुल्यं, मगधराजवपुर्दलयुग्म + वतिः । प्रतिसीव्यति=प्रति + षिवु + लट् + तिप् । शिरका भागमात्र राहु और शरीर (धड़) मात्र केतु, उनको जोड़ देनेसे पहलेके समान स्थित उदराऽग्निसे चन्द्रमा जीर्ण हो जाता, यह तात्पर्य है ।

जरा नामकी राक्षसीने जरासन्धके शरीरके दो भागोंको जोड़ दिया, ऐसी कथा महाभारतमें है ॥ ६९ ॥

वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् ?
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—हे आलि ! मदीरितैः विधुन्तुदं वद । रिपुं द्विजराजधिया त्यजसि किम् ? यत् एषः वारुणीं निषेव्य ईदृशः पतितः पुनः दिवम् एति किमु ?

व्याख्या—हे आलि = हे सखि ! मदीरितैः = मद्वचनैः, विधुन्तुदं = राहुं, वद = ब्रूहि, रिपुं = शत्रुं, चन्द्रमित्यर्थः । द्विजराजधिया = चन्द्रबुद्ध्या, ब्राह्मण-श्रेष्ठबुद्ध्या वा, त्यजसि किं = मुञ्चसि किमु ? यत् = यस्मात्कारणात्, एषः = चन्द्रः, वारुणीं = प्रतीचीं (दिशम्) सुरां च, निषेव्य = गत्वा, पीत्वा च । ईदृशः = एतादृशः, पतितः = च्युतः महापातकयुक्तश्च, पुनः = भूयः, दिवम् = अन्तरिक्षं स्वर्गं च, एति किमु = आगच्छति किम् ?

अनुवाद—हे सखि ! मेरे वचनोंसे तुम राहुको कहो—तुम शत्रु चन्द्रको चन्द्रबुद्धिसे वा "यह श्रेष्ठ ब्राह्मण है" ऐसी बुद्धिसे छोड़ते हो क्या ? जिस कारण से कि यह चन्द्र वारुणी पश्चिम दिशाको जाकर और मदिराको पीकर ऐसा पतित (च्युत) और महापातकवाला होकर फिर आकाश और स्वर्गको आता है क्या ?

टिप्पणी—मदीरितैः = मम ईरितानि (ष० त०) । द्विजराजधिया = द्विजानां राजा द्विजराजः (ष० त०), तस्य धीस्तया (ष० त०) । वारुणीं = वरुणस्येयं वारुणी, ताम्, वरुण + ङीप् + अम् । "वारुणी गन्धदूर्वायां प्रतीची-सुरयोरपि" इति विश्वः । निषेव्य = नि + सेव् + क्त्वा (ल्यप्) । यह चन्द्र पश्चिम दिशाको जाकर वा मदिराको पीकर पतित हो गया, ऐसा पुरुष क्या फिर स्वर्गको आता है ? पतितको न ऊर्ध्वगति न स्वर्गगति ही प्राप्त होती है, इसलिए ऐसे पतितको मारनेमें दोष कैसे होगा ? यह भाव है । पञ्च महा-पातकोंमें एक महापातक ब्राह्मणका सुरापान भी है ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवासनयोज्झितः ? ।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ? ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे विधुन्तुद ! अयं द्विजवासनया गरुडवत् ते कण्ठं दहति खलु । तेन उज्झितः किम् ? अस्य विप्रता का ? वद । (तथा हि) अस्य प्रकृतिः निरागसि मयि दाहिका ।

व्याख्या—हे विधुन्तुद = हे राहो ! अयं = विधुः, द्विजवासनया = ब्राह्मणबुद्धया, गरुडवत् = गरुडस्य इव, ते = तव, राहोः, कण्ठं = गलं, दहति = तापयति, खलु = निश्चयेन, तेन = दाहेन कारणेन, उज्झितः किं = त्यक्तः किम् ? अस्य = विधोः, विप्रता का = ब्राह्मणता का ? न काऽपीति भावः । वद = ब्रूहि, तथा हि—अस्य = विधोः, प्रकृतिः = स्वभावः, निरागसि = निरपराधायां, मयि, दाहिका = दग्ध्री, न तु ब्राह्मी शक्तिरिति भावः ।

अनुवाद—हे राहो ! यह (चन्द्र) ब्राह्मणकी वासनासे गरुडके समान तुम्हारे कण्ठको जलाता है, उस(दाह)से छोड़ देते हो क्या ? इसकी ब्राह्मणता क्या है ? कहो । इसका स्वभाव ही निरपराध (बेकसूर) मुझमें दाह करनेवाला है ।

टिप्पणी—द्विजवासनया = द्विजस्य वासना, तया (ष० त०) । यह ब्राह्मण है, ऐसी वासनासे, व्यक्तिके पतित होनेपर भी उसमें जाति रहती ही है, यह तात्पर्य है । गरुडवत् = गरुडस्य इव, "तत्र तस्येव" इस सूत्रसे वति प्रत्यय । पूर्व कालमे गरुडजी भूखसे पिता कश्यपकी आज्ञासे निषादोंको खाने लगे, उनमें निषादके साथ संसर्ग करनेवाला एक ब्राह्मण भी उनके गलेके भीतर पड़कर जलाने लगा, तब गरुडने उसको उगल दिया । महाभारतकी इस कथाके अनुसार यह उक्ति है । विप्रता = विप्र + तल् + टाप् । निरागसि = निर्गतम् आगो यस्याः सा, तस्याम् (बहु०) । दाहिका = दहतीति, दह + ण्वुल् + टाप् । चन्द्र स्वभावसे ही दाहक है, ब्राह्मणत्वसे नहीं । निरपराध स्त्री मुझको जलानेवाले इसमें ब्राह्मणता ही नहीं है, यह अभिप्राय है ॥ ७१ ॥

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः ।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—विधुः सकलया कलया (एव) दंष्ट्रया यमाय समवधाय विरहिणीगणचर्वणसाधनं विनिर्मितः किल । अतः "द्विजराजः" इति श्रुतः ।

व्याख्या—विधुः = चन्द्रः, सकलया = सम्पूर्णया, कलया = भागेन (एव), दंष्ट्रया = दशनविशेषेण, यमाय = अन्तकाऽर्थं, समवधाय = सम्यक् अवधानं कृत्वा, विरहिणीगणचर्वणसाधनं = वियोगिनीसमूहभक्षणकारणं, विनिर्मितः = रचितः, ब्रह्मणेति शेषः । किल = निश्चयेन, अतः = अस्मात् कारणात्, दंष्ट्राविशेषवत्त्वादिति भावः । द्विजराजः = द्विजराजसंज्ञकः, इति = इत्थं,

श्रुतः=आकर्णितः। चन्द्रः ब्राह्मणराजत्वान्न, दंष्ट्राविशेषवत्त्वात् "द्विजराज" इति संज्ञां प्राप्तवानिति भावः।

अनुवाद—चन्द्र सम्पूर्ण कलाएँ ही, दंष्ट्रा(दाढ़ों)से यमराजके लिए एकाग्रचित्त होकर ब्रह्माजीसे विरहिणियोंके भक्षणका कारणस्वरूप बनाया गया है। इसलिए इसका "द्विजराज" (दन्तराज) ऐसा नाम सुना गया है।

टिप्पणी—सकलया कलया=सकलाभिः कलाभिः, दंष्ट्रया=दंष्ट्राभिः, जातिमें एकवचन। समवधाय=सम्+अव+धा+क्त्वा (ल्यप्)। विरहिणीगणचर्वणसाधनं=विरहिणीनां गणः (ष० त०), तस्य चर्वणं (ष० त०), तस्य साधनम् (ष० त०)। विनिर्मितः=वि+निर्+मा+क्तः। द्विजराजः=द्विजानां राजा (ष० त०), "दन्तविप्राऽण्डजा द्विजाः" इत्यमरः। इस पद्यमें निरुक्त नामका काव्यलक्षण है ॥ ७२ ॥

> **स्मरमुखं हरनेत्रहुताऽशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृषे विधुः।**
> **बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाऽङ्कितः ॥ ७३ ॥**

अन्वयः—अथ विधुः इदं स्मरमुखं ज्वलत् (एव) विधिना हरनेत्रहुताऽशनात् चकृषे। (अथवा) बहुविधेन वियोगिवधैनसा कालिकया शशिमिषात् अङ्कितः।

व्याख्या—अथ=अथवा, विधुः=चन्द्रः, इदं=पुरोवर्ति, स्मरमुखं=कामवदनं, ज्वलत्=प्रज्वलत् एव, विधिना=ब्रह्मणा, हरनेत्रहुताऽशनात्=रुद्रनयनाऽग्नेः, चकृषे=आकृष्टः। अथवा बहुविधेन=अनेकप्रकारेण, वियोगिवधैनसा=विरहिमारणपापेन, कालिकया=श्यामिकया, शशमिषात्=मृगव्याजात्, अङ्कितः=चिह्नितः। चन्द्रमसि दाहस्य वा पापस्य कालिमा मृगच्छलाद् दृश्यत इति भावः।

अनुवाद—अथवा यह चन्द्रमा, कामदेवका मुख है। जलते हुए इसको ब्रह्माजीने रुद्रके नेत्राऽग्निसे खींच लिया है। अथवा यह अनेक प्रकारके वियोगियोंकी हत्याके पापसे, शशके छलसे कालिमासे चिह्नित हो गया है।

टिप्पणी—स्मरमुखं=स्मरस्य मुखम् (ष० त०)। ज्वलत्=ज्वल+लट् (शतृ)+सु। हरनेत्रहुताऽशनात्=हरस्य नेत्रं (ष० त०), तदेव हुताऽशनः, तस्मात् (रूपक०)। चकृषे=कृष+लिट् (कर्ममें)+त। बहुविधेन=बहुः विधा (प्रकारः) यस्य तत्, तेन (बहु०)। वियोगिवधैनसा=वियोगिनां वधः (ष० त०), तेन एनः, तेन (तृ० त०)। शशमिषात्=शशस्य मिषं,

तस्मात् (प० त०)। इस पद्यमें दो प्रतीयमान उत्प्रेक्षाएँ और अपह्नुतिका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ७३ ॥

द्विजपतिग्रसनाऽऽहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया स्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥ १ ॥

अन्वयः—द्विजपतिग्रसनाऽऽहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः अयं राहुः विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया स्फुरति निशाकरः न ।

व्याख्या—प्रक्षिप्तमिदं पद्यं मल्लिनाथेन न व्याख्यातं, परं तिलक-सुखाऽवबोधव्याख्ययोर्दृश्यमानत्वात्संक्षेपेण व्याख्यायते ।

द्विजपति० = चन्द्ररूपब्राह्मणग्रासप्राप्तपापोत्पन्नकुष्ठशुक्लीकृतशरीरः, अयं= पुरोवर्ती, राहुः = सैंहिकेयः, विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया = वियोगिनीमुखचन्द्र-भक्षणेच्छया, स्फुरति = उदेति, निशाकरो न = चन्द्रो न ।

अनुवाद—हे सखि ! चन्द्ररूप ब्राह्मणको ग्रास करनेसे प्राप्त पातकसे उत्पन्न कुष्ठ (कोढ) रोगसे सफेद शरीरवाला यह राहु वियोगिनीके मुख-चन्द्रको खानेकी इच्छासे चमक रहा है, चन्द्रमा नहीं ।

टिप्पणी—इस पद्यमें अपह्नुति अलङ्कार है ॥ १ ॥

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा ।
अतितरां दधती विरहज्वरं, हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अतितरां विरहज्वरं दधती सा इति व्यवहितस्य विधोः विविधोक्तिविगर्हणं वृथा इति विमृश्य हृदयभाजं स्मरम् उपालभत ।

व्याख्या—अतितराम् = अतिमात्रं, विरहज्वरं = वियोगसन्तापं, दधती = धारयन्ती, सा = दमयन्ती, इति = इत्थं, पूर्वोक्तप्रकारेणेति भावः । व्यवहि-तस्य = दूरस्थस्य, विधोः = चन्द्रमसः, विविधोक्तिविगर्हणम् = विविधोक्तिभिः (बहुप्रकारवचनैः) विगर्हणं (निन्दा), वृथा = व्यर्थप्रायम्, इति = एवं, विमृश्य = विचार्य, हृदयभाजं = मनःस्थितं, सन्निहितमिति भावः । स्मरं = कामम्, उपालभत = उपालब्धवती, निनिन्देत्यर्थः ।

अनुवाद—अत्यन्त वियोगसन्तापको धारण करती हुई दमयन्ती इस प्रकारसे दूरस्थित चन्द्रमाकी अनेक प्रकारके वचनोंसे निन्दा करना व्यर्थ है, ऐसा विचार कर हृदयमें स्थित (निकटवर्ती) कामदेवकी निन्दा करने लगीं ।

टिप्पणी—अतितराम्=अति+तरप्+आमुः। विरहज्वरं=विरहस्य ज्वरः, तम् (ष० त०)। विविधोक्तिविगर्हणं=विविधाश्च ता उक्तयः (क० धा०), ताभिः विगर्हणम् (तृ० त०)। हृदयभाजं=हृदय+भाज्+ण्वि+अम् (उपपद०)। उपालभत=उप+आङ्+लभ+लङ्+त ॥७४॥

हृदयमाश्रयसे बत ! मामकं, ज्वलयसीत्थमनङ्ग ! तदेव किम् ?
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क्व भवितासि ? हताश ! हुताऽशवत् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—हे अनङ्ग ! मामकं हृदयम् आश्रयसे, तदेव इत्थं किं ज्वलयसि ? बत ! हे हताश ! स्वयं हुताऽशवत् क्षणदग्धनिजेन्धनः (सन्) क्व भवितासि ?

व्याख्या—हे अनङ्ग=हे काम ! मामकं=मदीयं, हृदयं=हृद्, आश्रयसे=आश्रित्य वर्तसे, तत् एव=मद्धृदयम् एव, इत्थम्=अनेन प्रकारेण, किं ज्वलयसि=किं दहसि ? हे हताश=हे नष्टाऽभिलाप ! दुर्बुद्धे इति भावः। स्वयं त्वम्, हुताऽशवत्=अग्निवत्, क्षणदग्धनिजेन्धनः=अल्पक्षणभस्मीकृत-स्वाश्रयः सन्, क्व=कुत्र, भवितासि=भविष्यसि ?

अनुवाद—हे काम ! मेरे हृदयका आश्रय लेते हो, उसीको इस प्रकार क्यों जलाते हो ? हाय ! हे दुर्बुद्धे ! तुम अग्निके समान क्षणभरमें अपने आश्रय(मुझ)को जलाकर कहाँ रहोगे ?

टिप्पणी—मामकं—मम इदं, तव्, अस्मद् शब्दके स्थानमें "तवकममका-वेकवचने" इस सूत्रसे ममक आदेश। हताश=हता आशा यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। हुताऽशवत्=हुतम् अश्नातीति हुताशः, हुत + अश + अण् (उपपद०)। हुताऽशेन तुल्यं, हुताश+वतिः। क्षणदग्धनिजेन्धनः=निजं च तत् इन्धनम् (क० धा०), क्षणं दग्धम् (सुप्सुपा०), क्षणदग्धं निजेन्धनं येन सः (बहु०)। भवितासि=भू+लुट्+सिप्। हे कामदेव ! दूसरेकी हिंसा करनेके व्यसनसे तुम अपने नाशको नहीं देखते हो, इस आशयसे "हताश" ऐसे सम्बुद्धिपदका प्रयोग किया गया है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥७५॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया।
स्मर ! निरैक्ष्यत कस्यचनाऽपि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः ?॥७६॥

अन्वयः—हे स्मर ! त्वम् (अक्षिगतः) पुरभिदा त्रिनयनत्वपरिप्लुति-शङ्कया अदृश्यतां गमितः। (किन्तु) कस्यचन अपि अक्षिगते त्वयि त्रिभिः नयनैः किं न निरैक्ष्यत ?

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! त्वं=भवान्, अक्षिगत इति शेषः। पुरभिदा=हरेण, त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया=तृतीयलोचनवैयर्थ्यभयेन, अदृश्यताम्=अदर्शनीयतां, गमितः=प्रापितः, नाशं प्रापित इति भावः। किन्तु कस्यचन अपि=यस्य कस्यचिदपि जनस्य, अक्षिगते=दृग्गोचरे, द्वेष्ये च, त्रिभिः=त्रिसंख्यकैः, नयनैः=नेत्रैः, किं न निरैक्ष्यत=किमिति न निरीक्षितम् ? कोपस्य तृतीयनेत्रस्थानीयत्वात्त्वयि द्वेष्ये सति सर्वोऽपि जनस्त्रिनयनो जात इति भावः।

अनुवाद—हे कामदेव ! तुम द्वेष्य होकर रुद्रसे तृतीय नेत्र(अग्नि)के व्यर्थ होनेके भयमें नाशको प्राप्त कराये गये हो। किन्तु जिस किसी भी जनके तुम्हारे नेत्रमें पड़ने पर (वा द्वेष्य होने पर) तीन नेत्रोंसे (क्रोधके साथ दोनों नेत्रोंसे) क्या नहीं देखा ?

टिप्पणी—पुरभिदा=पुरं भिनत्तीति पुरभित्, तेन, पुर+भिद्+क्विप्+टा (उपपद०)। त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया=त्रीणि नयनानि यस्य सः (बहु०), तस्य भावः, त्रिनयन+त्व, तस्य परिप्लुतिः (ष० त०), तस्याः शङ्का, तया (ष० त०)। अदृश्यताम्=अदृश्य+तल्+टाप्+अम्, गमितः=गम्+णिच्+क्तः। अक्षिगते=अक्षि गतः, तस्मिन् (द्वि० त०)। निरैक्ष्यत=निर्+ईक्ष+लङ् (भावमें)+त। धातुके सकर्मक होने पर भी यहाँ पर कर्मकी विवक्षा "प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया।" इस वचनके अनुसार नहीं हुई है ॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः ?
अथ न सम्प्रति सङ्गतिरस्ति वामनुमृता न भवन्तमियं किल ॥ ७७ ॥

अन्वयः—(हे स्मर !) "रतेः सहचरोऽसि" इति विश्रुतिः। त्वयि वसति अपि मे कुतो रतिर्न ? अथ सम्प्रति वां सङ्गतिर्न अस्ति, इयं भवन्तं न अनुमृता किल।

व्याख्या—(हे स्मर !) रतेः = रतिदेव्याः सन्तुष्टेश्च। सहचरः= सहचारी, असि=वर्तसे, इति=एवं, विश्रुतिः=प्रसिद्धिः। परं त्वयि= भवति, वसति अपि=वासं कुर्वति अपि, हृदयस्थे सत्यपीति भावः। मे=मम, कुतः=कस्मात्कारणात्, रतिः न=प्रीतिः न, अथ=अथवा, सम्प्रति= अधुना, वां=युवयोः। सङ्गतिः=सहचरता, न अस्ति=नो वर्तते, कुतः ?

इयं=रतिः, भवन्तं=त्वां, न अनुमृता=अनुमरणं न कृतवती, किल=इयं वार्ता, अनुचरणाऽभावादसङ्गतिर्युक्तेति भावः ।

अनुवाद—(हे कामदेव ?) तुम रतिदेवीके वा सन्तुष्टिके सहचर हो, ऐसी प्रसिद्धि है, पर मेरे हृदयमें तुम्हारे रहनेपर भी मुझे किस कारणसे रति (प्रीति) नहीं है । अथवा इस समय तुम दोनोंकी सङ्गति नहीं है; इस(रति)ने तुम्हारे मरनेपर साथ नहीं दिया ।

टिप्पणी—रतेः="रतिः कामप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च" इति विश्वः । सहचरः=सह चरतीति, सह+चर+अच् । वसति=वस+लट् (शतृ)+ङि । अनुमृता=अनु+मृङ्+क्त (कर्तामें)+टाप्+सु । इस पद्यमें प्रीतिरूप रतिका कामप्रियाके साथ अभेद अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ ! किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ? ।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ? ॥ ७८ ॥

अन्वयः—हे अनात्मपरज्ञ ! माम् इव रतिवियुक्तं स्वम् अपि त्वं तापितवान् असि किम् ? इतरथा अतापभृतः इव सङ्गमात् मम हृदयं कथं दह्यते ?

व्याख्या—हे अनात्मपरज्ञ=हे स्वपराऽनभिज्ञ ! सर्वघातुक मारेति भावः । माम् इव=भैमीम् इव, रतिवियुक्तं=रतिविरहितं, स्वम् अपि=आत्मानम् अपि, तापितवान् असि किम्=दग्धवान् असि किम् ? इतरथा=नो चेत्, स्वाऽसन्तापन इति भावः । अतापभृतः=तापरहितस्य, तव=भवतः, सङ्गमात् =सम्पर्कात्, मम=भैम्याः, हृदयं=हृत्, कथं=केन प्रकारेण, दह्यते= सन्ताप्यते, तप्तस्पर्शात्तापो नाऽतप्तस्पर्शादिति भावः ।

अनुवाद—अपनेको और दूसरेको नहीं जाननेवाले हे कामदेव ! मेरे समान रतिसे रहित अपनेको भी तुमने सन्तप्त किया है क्या ? नहीं तो ताप-रहित तुम्हारे सम्पर्कसे मेरा हृदय कैसे जल रहा है ?

टिप्पणी—अनात्मपरज्ञ=आत्मा च परश्च आत्मपरौ (द्वन्द्व), तौ जानातीति आत्मपरज्ञः, तत्सम्बुद्धौ, आत्मपर+ज्ञ+कः (उपपद०) । रतिवियुक्तं= रत्या वियुक्तः, तम् (तृ० त०) । तापितवान्=तप+णिच्+क्तवतु+सु । इतरथा=इतरेण प्रकारेण, इतर+थाल् । अतापभृतः=तापं बिभर्तीति तापभृत्, ताप+भृ+क्विप् (उपपद०) । न तापभृत्, तस्य (नञ्०) । दह्यते= दह+लट्+त (कर्मकर्त्तामें) ॥ ७८ ॥

अनुममार न मार ! कथं नु सा रतिरितिप्रथिताऽपि पतिव्रता ? ।
इयदनाथवधूवधपातकी दयितयाऽपि तयाऽसि किमुज्झितः ? ॥ ७६ ॥

अन्वयः—हे मार ! पतिव्रता इति प्रथिता अपि सा रतिः कथं न अनुममार ? (अथवा) इयदनाथवधूवधपातकी (त्वम्) दयितया अपि तया उज्झितः असि किम् ?

व्याख्या—हे मार=हे मारक, काम इत्यर्थः । पतिव्रता=सती, इति, प्रथिता अपि=प्रख्याता अपि, सा=प्रसिद्धा, रतिः=तव प्रिया, कथं=केन प्रकारेण, न अनुममार=न अनुमृता, त्वामिति शेषः । अथवा, इयदनाथवधूवधपातकी=एतावद्वियोगिस्त्रीहिंसापापी, त्वमिति शेषः । दयितया अपि=प्रियया अपि, तया=रत्या, उज्झितः=त्यक्तः, असि किं=वर्तसे किम् ? "आ शुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ।" इति स्मरणादिति भावः, (या० स्मृ० आचार० ७७) ।

अनुवाद—हे हत्यारे कामदेव ! पतिव्रता ऐसी प्रसिद्धिवाली रतिने भी कैसे तुम्हारा अनुमरण नहीं किया ? अथ वा इतनी वियोगिनी स्त्रियोंके वधके पातकी तुम्हें उन्होंने छोड़ दिया है क्या ?

टिप्पणी—पतिव्रता=पत्यौ व्रतं यस्याः सा (व्यधि० बहु०) । अनुममार =अनु+मृङ्+लिट्+तिप् । "म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च" इस नियमसे आत्मनेपदका अभाव । इयदनाथवधूवधपातकी=इदं परिमाणमस्ति यासां ता इयत्यः, इदम्+वतुप् (घः)+ङीप्, अविद्यमानो नाथो यासां ता अनाथाः (नञ्-बहु०), अनाथाश्च ता वध्वः (क० धा०), इयत्यश्च ता अनाथवध्वः (क० धा०), तासां वधः (ष० त०), तेन पातकी (तृ० त०) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इतनी वियोगिनी स्त्रियोंके वधके पातकी कामदेवको रतिने छोड़ दिया है क्या ? यह भाव है ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत् ।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः ॥ ८० ॥

अन्वयः—जितेन्द्रियः सुगतः एव विजित्य तव उरुकीर्तितनुं यत् अनाशयत् । ततः अवशिष्टवतीं भूतमयीं तव तनूं समिति हरः अहरत् ।

व्याख्या—(हे काम !) जितेन्द्रियः=वशी, सुगत एव=बुद्ध एव, विजित्य=विजयं कृत्वा, तव=भवतः, उरुकीर्तितनुं=महायशः शरीरं, यत्=यस्मात् कारणात्, अनाशयत्=नाशितवान् । ततः=तस्मात्कारणात्, अव-

शिष्टवतीम् = अवशिष्टां, भूतमयीं = पाञ्चभौतिकीं, तव = भवतः, तनूं = शरीरं; समिति = युद्धे, हरः = रुद्रः, अहरत् = हृतवान्, भस्मीचकारेति भावः ।

अनुवाद—जितेन्द्रिय बुद्धने ही जीतकर तुम्हारे महान् कीर्तिरूप शरीरको जो नष्ट कर दिया, उस कारणसे अवशिष्ट पाञ्चभौतिक तुम्हारे शरीरको युद्धमें महादेवने भस्म कर डाला ।

टिप्पणी—जितेन्द्रियः=जितानि इन्द्रियाणि येन सः (बहु०) । विजित्य= वि + जि + क्त्वा (ल्यप्) । उरुकीर्तितनुम् = कीर्तिरेव तनुः (रूपक०), उरुश्चासौ कीर्तितनुः, ताम् (क० धा०) । अनाशयत् = ण (न) श + णिच् + लङ् + तिप् । अवशिष्टवतीम् = अव + शिष् + क्तवतु + ङीप् + अम् । भूतमयीं = भूत + मयट् + ङीप् + अम् । अहरत्=हृञ् + लङ् + तिप् ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! निगृह्णता ।
अहह ! नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥ ८१ ॥

अन्वयः—हे अनङ्ग ! विषमनेत्रं कुसुमैः निगृह्णता त्वया यत् फलम् अलभ्यत । ततः अवाप्तभया नीतिः कुसुमैः अपि विग्रहं न इच्छति, अहह !

व्याख्या—हे अनङ्ग = हे काम ! विषमनेत्रं = त्रिनयनं, रुद्रमित्यर्थः । कुसुमैः = पुष्पैः, निगृह्णता = निरुन्धता, प्रहरता इति भावः, त्वया = भवता, यत्, फलम् = मरणरूपः परिणामः, अलभ्यत = लब्धम् । ततः = तस्मात्फलात्, अवाप्तभया = प्राप्तभीतिः, नीतिः = नयः, कुसुमैः अपि = पुष्पैः अपि, किमुत अस्त्रैरिति भावः । विग्रहं = युद्धं, न इच्छति = नो वाञ्छति, अहह = खेदोऽयमिति भावः ।

अनुवाद—हे कामदेव ! महादेवको फूलोंसे प्रहार करनेवाले तुमने जो फल (मरणरूप) पा लिया । उसी फलके कारण भयको प्राप्त करनेवाली नीति फूलोंसे भी युद्ध नहीं करती है ।

टिप्पणी—विषमनेत्रं = विषमाणि नेत्राणि यस्य सः, तम् (बहु०) । कुसुमैः = करणमें तृतीया । निगृह्णता=नि + ग्रह + लट् (शतृ) + टा । अलभ्यत = लभ + लङ् + त (कर्ममें) । अवाप्तभया=अवाप्तं भयं यया सा (बहु०) ॥८१॥

अपि धयन्नितराऽमरवत्सुधां त्रिनयनात्कथमापिथ तां दशाम् ?
भण रतेरधरस्य रसाऽऽदरादमृतमात्तघृणः खलु नाऽपिबः ? ॥ ८२ ॥

अन्वय:—(हे काम !) इतराऽमरवत् सुधां धयन् अपि त्रिनयनात् कथं तां दशाम् आपिथ ? भण । (अथवा) रते: अधरस्य रसाऽऽदरात् आत्तघृण: (सन्) अमृतं न अपिब: खलु ?

व्याख्या—(हे काम !) इतराऽमरवत्=अन्यसुरवत्, सुधाम्=अमृतं, धयन् अपि=पिबन् अपि, त्रिनयनात्=हरात्, कथं=केन प्रकारेण, तां=तादृशीं, दशाम्=अवस्थां, मरणरूपामिति भाव: । आपिथ=प्राप्तोऽभू:, भण=वद । (अथवा) रते:=स्वप्रियाया:, अधरस्य=ओष्ठस्य, रसाऽऽदरात्=आस्वादसम्मानात्, आत्तघृण:=गृहीतजुगुप्स: सन्, अमृत इति शेष: । अमृतं=सुधां, न अपिब:,=न पीतवान्, खलु=निश्चयेन । अमृतपाने कथमन्येष्वमरेषु त्वमेको मृत इति भाव: ।

अनुवाद—(हे कामदेव !) और देवताओंके समान अमृतको पीते हुए भी तुमने महादेवसे कैसे वैसी अवस्था(मृत्यु)को प्राप्त किया ? कहो । अथवा अपनी पत्नी रतिके अधरके आस्वादके सम्मानसे अमृतमें घृणा करते हुए तुमने अमृत नहीं पीया क्या ?

टिप्पणी—इतराऽमरवत्=इतरे च ते अमरा: (क० धा०), तैस्तुल्यम्, इतराऽमर+वति । धयन्="धेट् पाने" धातुसे लट् (शतृ)+सु । त्रिनयनात्=त्रीणि नयनानि यस्य स:, तस्मात् (बहु०) । आपिथ=आप्+लिट्+थल्, क्रादिनियमसे इट् । रसादरात्=रसे आदर:, तस्मात् (स० त०) । आत्तघृण:=आत्ता घृणा येन स: (बहु०) । "घृणा जुगुप्साकृपयो:" इति वैजयन्ती । अपिब:="पा पाने" धातुसे लङ्+सिप् ॥ ८२ ॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत ! बभूव पिशाचता ? ।
यदधुना विरहाऽऽधिमलीमसामभिभवन्भ्रमसि स्मर ? मद्विधाम् ॥ ८३ ॥

अन्वय:—हे परेत ! तव भुवनमोहनजेन एनसा पिशाचता बभूव किम् ? हे स्मर ! यत् अधुना विरहाऽऽधिमलीमसां मद्विधाम् अभिभवन् भ्रमसि ।

व्याख्या—हे परेत=हे प्रेत ! तव=भवत:, भुवनमोहनजेन=लोकाचेतनीकरणजन्येन, एनसा = पापेन, पिशाचता = पिशाचभाव:, बभूव किं=जाता किम् ? कुत:—हे स्मर=हे कामदेव ! यत्=यस्मात्कारणात्, अधुना=सम्प्रति, विरहाऽऽधिमलीमसां=वियोगव्याधिमलिनां, मद्विधां=मादृशीम् अबलाम्, अभिभवन्=पीडयन्, भ्रमसि=भ्रमणं करोषि ।

अनुवाद—हे प्रेत ! तुम लोकको मोहित करनेसे उत्पन्न पापसे पिशाच हो गये हो क्या ? हे कामदेव ! जो कि अभी विरहकी व्यथासे मलिन मुझ जैसी स्त्रीको पीडित करते हुए घूम रहे हो ।

टिप्पणी—परेत=परस्मिन् (लोके) इतः (गतः) इति परेतस्तत्सम्बुद्धौ (स० त०) । भुवनमोहनजेन=भुवनानां मोहनं (ष० त०), तस्माज्जातेन, भुवनमोहन+जन्+ड+टा । विरहाधिमलीमसां=विरहेण आधिः (तृ० त०), तेन मलीमसा, ताम् (तृ० त०), मद्विधां=मम इव विधा (प्रकारः) यस्याः सा, ताम् (व्यधिकरणबहु०) । पापिष्ठ लोग पिशाचभावको प्राप्त कर दुर्बल स्त्री और बालकोंको पीडित करते रहते हैं, तुम भी वैसे ही कोई पिशाच हो क्या ? यह भाव है । इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

बत ! ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति ते कृपया न धनुः करात् ।
अथ मृतोऽसि मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्धनः ॥८४॥

अन्वयः—हे स्मर ! मृत्युम् अपि न ददासि । (अथवा) कृपया ते करात् धनुः न स्खलति । अथ मृतः असि ? मृतेन च उरीकृतबन्धनः मुष्टिः न मुच्यते किल बत !

व्याख्या—हे स्मर=हे कामदेव ! मृत्युम् अपि=मरणम् अपि, न ददासि=नो वितरसि, तेन दुःखाऽन्तो भवेदिति भावः । अथवा, कृपया=करुणया, ते=तव, करात्=हस्तात् धनुः=कार्मुकं, न स्खलति=नो भ्रश्यति । अथ=अथवा, मृतः असि=गतजीवितो वर्तसे, मृतेन च=प्राप्तमरणेन च, उरीकृतबन्धनः=अङ्गीकृतबन्धनः, मुष्टिः=सम्पिण्डितपाणिः, न मुच्यते=न त्यज्यते, किल=खलु । बत=खेदोऽयम् !

अनुवाद—हे कामदेव ! तुम मृत्यु भी नहीं देते हो । अथवा दयासे तुम्हारे हाथसे धनु भी नहीं गिरता है । अथवा मर गये हो ? मरे हुए पुरुषकी बँधी हुई मुट्ठी भी नहीं खुलती है । हाय !

टिप्पणी—उरीकृतबन्धनः=उरीकृतं बन्धनं येन सः (बहु०), हे कामदेव ! तुम यमराजसे भी क्रूर हो, यह पद्यका तात्पर्य है ॥ ८४ ॥

दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयतेऽपरनिर्जरसेविता ।
अतिशयाऽऽन्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासितुः ॥८५॥

अन्वयः—हे स्मर ! अपरनिर्जरसेविता दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते । भवन्तम् उपासितुः अतिशयाऽऽन्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः भवन्ति ।

व्याख्या—हे स्मर=हे कामदेव ! अपरनिर्जरसेविता=अन्यदेवतासेवको जनः, दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः=अन्धताऽकालमरणकुरूपताः, शमयते= निवर्तयति । भवन्तं=त्वाम्, उपासितुः=उपासकस्य जनस्य तु, अतिशयाऽऽन्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः=अत्यर्थाऽन्धत्वशरीरविपत्तिवैवर्ण्यानि, भवन्ति=जायन्ते ।

अनुवाद--हे कामदेव ! अन्य देवोंकी सेवा करनेवाले अन्धापन, अकाल-मरण और कुरूपताको दूर करते हैं । तुम्हारी सेवा करनेवालोंको तो अतिशय अन्धता, शरीरकी विपत्ति और विवर्णता होती है ।

टिप्पणी—अपरनिर्जरसेविता=अपरे च ते निर्जराः (क० धा०), तेषां सेविता (ष० त०) । दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः=दृशोः उपहतिः (ष० त०), विरूपस्य भावः, विरूप+तल्+टाप्, दृगुपहतिश्च अपमृत्युश्च विरूपता च (द्वन्द्वः), ताः । शमयते="शमु उपशमे" धातुसे "णिचश्च" इस सूत्रसे आत्मनेपद लट्+त, "मितां ह्रस्वः" इससे ह्रस्व । भवन्तम्="उपासितुः" इस तृन्नन्त पदके योगमें कर्ममें प्राप्त षष्ठीका "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे निषेध । उपासितुः=उपास्त इति उपासिता, तस्य उप+आस्+तृन्+ङस् । अतिशयाऽऽन्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः=अन्धस्य भावः आन्ध्यम्, अन्ध+ ष्यञ्, अतिशयं यथा तथा आन्ध्यम् (सुप्सुपा०), वपुषः क्षतिः (ष० त०), पाण्डोर्भावः, पाण्डु+तल्+टाप्, अतिशयाऽऽन्ध्यं च वपुःक्षतिश्च पाण्डुता च (द्वन्द्व), ताः । और देवताओंकी उपासनासे कहाँ तो अन्धता आदि दूर होती है, तुम्हारी सेवा करनेवालोंकी कहाँ अत्यन्त अन्धता आदि होती हैं, इस प्रकार विरूप पदार्थोंकी संघटना होनेसे विषम अलङ्कार है ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।
यदि धनुर्दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद् व्रजेत् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—हे स्मर ! त्वं नृशंसतमः अतः विधिः सुमनसः भवदायुधं कृतवान् । तव दृढं धनुः, आयसम् आशुगं च सृजेत् यदि त्रिजगत् प्रलयं व्रजेत् ।

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! त्वं=भवान्, नृशसतमः=घातुकतमः, अतः=अस्मात् कारणात्, विधिः=ब्रह्मदेवः, सुमनसः=पुष्पाणि, भवदायुधं=

त्वच्छस्त्रं, कृतवान् = विहितवान् । एतद्वैपरीत्येन विधिः, तव = भवतः, दृढं = कठोरं, धनुः = कार्मुकम्, आयसम् = अयोमयम्, आशुगं च = बाणं च, सृजेत् यदि = जनयेच्चेत्, तर्हि त्रिजगत् = लोकत्रयं, प्रलयं = विनाशं, व्रजेत् = गच्छेत् । तव घातुकतां दृष्ट्वा ब्रह्मदेवेन सम्यक् कृतमिति भावः ।

अनुवाद—हे काम ! तुम अतिशय हत्यारे हो, इस कारण ब्रह्माजीने फूलोंको तुम्हारा हथियार बनाया । तुम्हारा मजबूत धनु और लोहेका बाण बनाते तो तीनों लोकोंका विनाश हो जाता ।

टिप्पणी—नृशंसतमः = अतिशयेन नृशंसः, नृशंस + तमप् । भवदायुधं = भवत आयुधं, तत् (ष० त०) । कृतवान् = कृ + क्तवतु + सु । आयसम् = अयसः अयं, तम्, अयस् + अण् + अम् । सृजेत् = सृज + लिङ् + तिप् । त्रिजगत् = त्रयाणां जगतां समाहारः (द्विगु०) । व्रजेत् = व्रज + विधिलिङ् + तिप् ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा त्रयम् ।
इति विधुस्त्वदिषून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिच्चदनिर्वृतः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—(हे काम !) स्मररिपोः रोपशिखी पुरां त्रयम् इव ते रोपशिखी जगतां त्रयं मा दहतु इति (मत्वा) विधिः अनिर्वृतः त्वदिषून् कुसुमानि मधुभिः अन्तः असिच्चत् किम् ?

व्याख्या—(हे काम !) स्मररिपोः = त्वच्छत्रोः, हरस्येत्यर्थः । रोपशिखी = बाणाऽग्निः, पुरां = नगराणां, त्रयम् इव = त्रितयम् इव, त्रिपुरमिवेति भावः । ते = तव कामस्य, रोपशिखी = बाणाऽग्निः, जगतां = लोकानां, त्रयं = त्रितयं, लोकत्रयमिति भावः । मा दहतु = नो भस्मीकरोतु, इति = एवं, मत्वेति शेषः । विधिः = ब्रह्मदेवः, अनिर्वृतः = अपरितुष्टः सन्, त्वां पुष्पबाणं कृत्वाऽपीति शेषः । त्वदिषून् = त्वद्बाणान्, कुसुमानि = पुष्पाणि, मधुभिः = पुष्परसैः, अन्तः = अभ्यन्तरे, असिच्चत् किम् = औक्षत् किमु ? अग्निशान्त्यर्थमिति शेषः । विधिरेवं नाऽकरिष्यच्चेत् घातुकतमस्य ते को वारयिताऽभविष्यदिति भावः ।

अनुवाद—(हे काम !) जैसे तुम्हारे शत्रु रुद्रके बाणाऽग्निने त्रिपुरको जलाया था, उसी तरह तुम्हारा बाणाऽग्नि भी तीनों लोकोंको मत जलावे, ऐसा विचार कर ब्रह्माजीने तुम्हें पुष्परूप बाणोंको देनेसे ही सन्तुष्ट न होकर तुम्हारे बाण फूलोंके भीतर पुष्परससे अभिषिक्त कर दिया ।

टिप्पणी—स्मररिपोः=स्मरस्य रिपुः, तस्य (ष० त०)। रोपशिखी=रोप एव शिखी (रूपक०)। "पत्नी रोपं इषुर्द्वयोः" इत्यमरः। अनिर्वृतः=न निर्वृतः (नञ्०)। त्वदिषून्=तव इषवः, तान् (ष० त०)। इस पद्यमें उपमा और रूपककी परस्पर अपेक्षा न करनेकी स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

विधिरनङ्गनभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत्।
अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि ॥ ८८ ॥

अन्वयः—(हे काम !) विधिः अनङ्गम् अभेद्यम् अवेक्ष्य जनमनः ते लक्ष्यम् अकल्पयत्। स वज्रम् अदास्यत चेत्, तदा त्वदिषुभिः असौ अपि व्यदलिष्यत्।

व्याख्या—(हे काम !) विधिः=ब्रह्मदेवः, अनङ्गम्=अवयवरहितम्, "अनंशम्" इति पाठेऽपि अयमेवार्थः। अत एव अभेद्यं=भेत्तुमशक्यम्, अवेक्ष्य=विचार्य, जनमनः=लोकचित्तं, ते=तव, लक्ष्यं=वेध्यम्, अकल्पयत्=व्यरचयत्। एतद्वैपरीत्येन—सः=विधिः, वज्रं=कुलिशं, हीरकं वा, तव लक्ष्यरूप इति शेषः। अदास्यत चेत्=व्यतरिष्यत् यदि, तदा=तर्हि, त्वदिषुभिः=त्वद्बाणरूपैः पुष्पैः, असौ अपि=वज्रः अपि, व्यदलिष्यत्=विशीर्णोऽभविष्यत्। अत उचितरूपं विधिविधानमिति भावः।

अनुवाद—(हे काम !) ब्रह्माजीने अनङ्ग (अवयवरहित) अत एव अभेदनीय ऐसा विचारकर लोकोंके मनको तुम्हारा लक्ष्य (निशाना) बना डाला। ऐसा न करके वे (ब्रह्माजी) वज्रको भी तुम्हारा लक्ष्य बना देते तो तुम्हारे बाणोंसे वह भी विदीर्ण हो जाता।

टिप्पणी—अनङ्गम्=अविद्यमानम् अङ्गम् (अवयवः) यस्य तत् (नञ्-तत्पु०)। अभेद्यं=न भेद्यं, तत् (नञ्०)। अवेक्ष्य=अव + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। जनमनः=जनस्य मनः, तत् (ष० त०)। नैयायिकोंने मनको निरवयव द्रव्य माना है। अकल्पयत् = क्लृप् + णिच् + लङ् + तिप्। अदास्यत=दा + लृङ् + त। व्यदलिष्यत् = वि + दल + णिच् + लृङ् + तिप्। दोनों ही स्थलमें "लिङ् निमित्ते लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ" इस सूत्रसे क्रियातिपत्तिमें लृङ्। त्वदिषुभिः=तव इषवः, तैः (ष० त०) ॥ ८८ ॥

अपि विधिः कुसुमानि तवाऽऽशुगान् स्मर ! विधाय न निर्वृतिमाप्तवान्।
अदित पञ्च हि ते स नियम्य तान् तदपि तैर्बत ! जर्जरितं जगत् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—हे स्मर ! विधिः कुसुमानि (एव) तव आशुगान् विधाय अपि निर्वृतिं न आप्तवान् । हि सः तान् नियम्य ते पञ्च एव अदित, तदपि तैः (एव) जगत् जर्झरितं बत !

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! विधिः=ब्रह्मदेवः, कुसुमानि=पुष्पाणि (एव), तव=भवतः, आशुगान्=बाणान्, विधाय अपि=कृत्वा अपि, निर्वृतिं=सुखं, कृतकृत्योऽस्मीति परितोषमिति भावः। न आप्तवान्=न प्राप्तवान् । हि=यस्मात्कारणात्, सः=अनिर्वृतः विधिः । तान्=पुष्परूपान् आशुगान्, नियम्य=नियमं कृत्वा, इयन्त एव, आशुगा इति शेषः । ते=तुभ्यं, पञ्च एव=पञ्चसंख्यकान् एव, अदित = दत्तवान् । तदपि= तथाऽपि, तैः=पञ्चसंख्यकैः एव आशुगैः । जगत्=लोकः, जर्झरितं=जर्जरीकृतम् । बत=खेदोऽयम् । विश्वनियामको विधिरपि एवं विफलयत्नः, कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भावः ।

अनुवाद—हे काम ! ब्रह्माजी फूलोंको ही तुम्हारा बाण बनाकर भी कृतकृत्य नहीं हुए । क्योंकि उन्होंने उन फूलोंको भी इतने ही होने चाहिए, ऐसा नियम कर तुम्हें (अरविन्द आदि) पाँच ही फूलोंको दे दिया, तो भी उतनों-ही से जगत् जर्जर बनाया गया ।

टिप्पणी—विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्) । निर्वृतिं=निर्+वृञ्+क्तिन्+अम् । आप्तवान्—आप्लृ+क्तवतु । "इव" आदि वाचक शब्दके न होनेसे यहाँपर प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है । नियम्य=नि+यम्+क्त्वा (ल्यप्) । पञ्च="अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।" इस श्लोकके अनुसार कमल, अशोक, आम्र-पुष्प, नवमल्लिका और नीलकमल—ये पाँच फूल कामदेवके बाण हैं । अदित=दा+लुङ्+त । जर्झरितं=जर्झर+णिच्+क्त ॥ ८९ ॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वणः सुमनसः कति पञ्च सुरद्रुमाः ? ।
तव तु हीनतया पृथगेकिकां धिगियताऽपि न तेऽङ्ग विदारणम् ॥ ९० ॥

अन्वयः—(हे स्मर !) पञ्च सुरद्रुमाः कस्य सुपर्वणः कति सुनमसः न उपहरन्ति ? तव तु हीनतया पृथक् एकिकाम् (उपहरन्ति), इयता अपि ते अङ्गविदारणं न । धिक् !

व्याख्या—(हे स्मर !) पञ्च=पञ्चसंख्यकाः, सुरद्रुमाः=देववृक्षाः, मन्दारादय इति भावः । कस्य, सुपर्वणः=देवस्य, कति=कियत्संख्यकाः,

सुमनसः=पुष्पाणि, न उपहरन्ति=न उपायनीकुर्वन्ति, सर्वस्याऽपि सुपर्वणोऽपरिमितमुपहरन्तीति भावः। एतद्वैपरीत्येन तव तु=भवतः स्मरस्य तु, हीनतया=नीचतया, पृथक्=प्रत्येकम्, एकिकाम्=एकाकिनीं, सुमनोव्यक्तिम्, उपहरन्ति=उपायनीकुर्वन्ति, अत एव तव पञ्चबाणत्वमिति भावः। इयता=एतावता, अपमानेनेति शेषः, अपि। ते=तव, अङ्गविदारणं न=शरीरस्फोटो न अस्ति, धिक्=त्वमिति शेषः। अवमतस्य जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः।

अनुवाद—हे काम ! मन्दार आदि पाँच देववृक्ष, किस देवताको कितने फूलोंका उपहार नहीं करते हैं ? तुम्हारी तो नीचताके कारण अलग-अलग एक-एक फूल तुम्हें उपहार देते हैं। इतने अपमानसे भी तुम्हारा अङ्ग विदीर्ण नहीं होता है। तुम्हें धिक्कार है !

टिप्पणी—सुरद्रुमाः=सुराणां द्रुमाः (ष० त०)। देवताओंके पाँच वृक्ष हैं, जैसे कि—पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।

"सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥" (अमर०)

अर्थात् मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—ये पाँच देववृक्ष हैं। सुमनसः="स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्" इत्यमरः। पुष्पवाचक सुमनः शब्द स्त्रीलिङ्गमें नित्य बहुवचनाऽन्त है। उपहरन्ति=उप+हृ+लट्+झि। "उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा" इत्यमरः। हीनतया=हीन+तल्+टाप्+टा। एकिकाम्=एका एव एकिका, ताम्। एका शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय और पूर्व वर्णका इत्व। इयता=इदम्+वतुप्+टा। अङ्गविदारणम्=अङ्गस्य विदारणम् (ष० त०)। "अङ्ग ! विगर्हणा" यह नारायणपण्डित-सम्मत पाठान्तर है। उसमें अङ्ग=हे कामदेव ! विगर्हणा=घृणा, यह अर्थ है ॥ ९० ॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत्।
किमकृतैष यदेकतदास्पदे द्वयमभूदधुनाऽपि नलभ्रुवोः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—विधिः कुसुमम् अपि अतिदुर्नयकारि धनुः ते वितीर्य अग्रहीत् किमु ? किन्तु एष किम् अकृत ? यत् एकतदास्पदे अधुना नलभ्रुवोः द्वयम् अभूत्।

व्याख्या—विधिः=ब्रह्मदेवः, कुसुमम् अपि=पुष्पम् अपि, दुर्बलमपीति शेषः। अतिदुर्नयकारि=अत्यनर्थकारकं, धनुः=चापं, ते=तुभ्यं,

वितीर्य=दत्वा, अग्रहीत् किमु=पुनर्जहार किम्? किं तु एषः=विधिः, किम् अकृत=किं कृतवान्?' अकार्यमेव कृतवानिति भावः। यत्=यस्मात्, एकतदास्पदे=एकधनुःस्थाने, अधुना = सम्प्रति, नलभ्रुवोः = नैषधाक्षिलोम्नोः, द्वयं=द्वितयम्, अभूत्=अभवत्।

अनुवाद—(हे काम!) ब्रह्माजीने फूल, तथाऽपि अत्यन्त अनर्थकारक धनु तुम्हें देकर फिर ले लिया क्या? किन्तु ब्रह्माजीने क्या किया? जो कि एक धनुके स्थानमें इस समय नलके भ्रूरूप दो धनु हो गये।

टिप्पणी—अतिदुर्नयकारि=दुष्टो नयः (गति०), अत्यन्तं दुर्नयः (गति०), अतिदुर्नयं करोतीति तच्छीलं, तत्, अतिदुर्नय+कृ+णिनि+सु (उपपद०)। वितीर्य=वि+तॄ+क्त्वा (ल्यप्)। अग्रहीद्=ग्रह+लुङ्+तिप्। अकृत=कृ+लुङ्+त। एकतदास्पदे=एकं च तत् (क० धा०), तस्य आस्पदं, तस्मिन् (ष० त०)। नलभ्रुवोः=नलस्य भ्रुवौ, तयोः (ष० त०)। ब्रह्माजीने उसी धनुसे नलकी दो भौंहोंकी सृष्टि कर कण्टकको निकालकर शल्य-(कील)का आरोपण किया, यह एकको न सहनेवालेको नलकी दो भौंहें होनेसे और असह्य बना डाला, यह तात्पर्य है॥ ९१॥

षडृतवः कृपया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः।
ददति षड् भवते कुरुते भवान् धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च तैः॥ ९२॥

अन्वयः—अक्रमनन्दितनन्दनाः षट् ऋतवः कृपया स्वकम् एककं कुसुमं भवते ददति। तैः एकं धनुः इव, पञ्च इषून् इव भवान् कुरुते।

व्याख्या—अक्रमनन्दितनन्दनाः = यौगपद्यप्रकाशितसुरोद्यानाः, षट्=षट्संख्यकाः, ऋतवः=वसन्तादयः, कृपया=करुणया, न तु प्रीत्येति शेषः। स्वकं=स्वसम्बन्धि, एककम्=एकैकम् एव, कुसुमं=पुष्पम्, षट्संख्यकमिति भावः। भवते=तुभ्यं, ददति=वितरन्ति। तैः=षड्भिः, एकं=एकसंख्यं पुष्पं, धनुः इव=चापम् इव, पञ्च=पञ्चसंख्यकानि पुष्पाणि, इषून् इव=बाणान् इव, भवान्, कुरुते=विदधाति। अहो=आश्चर्यम्, एतादृशेऽपमानेऽपि निर्लज्जस्य ते परहिंसाव्यसनमिति भावः।

अनुवाद—बिना क्रमके (एक ही बार) इन्द्रके नन्दन वनको प्रकाशित करनेवाले वसन्त आदि छः ऋतु, कृपासे अपने एक-एक फूल आपको देते हैं। उन छः फूलोंमें से एकको धनुके समान और पाँचोंको बाणोंके समान आप बना डालते हैं।

टिप्पणी—अक्रमनन्दितनन्दना:=क्रमस्याऽभाव: अक्रमम् (अभावके अर्थमें अव्ययीभाव), नन्दितं नन्दनं यैस्ते (बहु०), अक्रमेण नन्दितनन्दना: (तृ० त०), ऋतव:=ऋतु छ: हैं, जैसे कि हेमन्त शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरत्। एककम्=एकम् एव, एक शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रसे असहायमें कन् प्रत्यय, 'एकाकी त्वेक एकक:" इत्यमर:। अत्यन्त दरिद्र पुरुष भिक्षामें प्राप्त अल्प वस्तुको भी विभाग करके 'इससे यह करूँगा, इससे यह करूँगा' ऐसा मनोरथ करता है, उसी तरह काम भी छ: ऋतुओंसे प्राप्त एक-एक फूलोंमें से एकसे धनु और पाँचों फूलोंसे बाण बनाता है, इस बातको दो "इव" शब्द सूचित करते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ९२ ॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क्व स मुनिस्तव य: सहते क्षती: ?
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे ॥ ९३ ॥

अन्वय:—(हे स्मर !) त्वं अतनु: (इति) यत्, इदं जगते हितम्। (तथा हि) विशिखम् अविचलद्भुजम् आश्रवणं परिपूर्य उज्झितुम् ईशिषे चेत्, य: तव क्षती: सहते स मुनि: क्व ?

व्याख्या—(हे स्मर !) त्वं=भवान्, अतनु:=अशरीरी, इति, यत् इदम्=तव अतनुत्वं, जगते=लोकाय, हितं=कल्याणम्। विशिखं=बाणम्, अविचलद्भुजम्=अकम्पहस्तम्, आश्रवणम्=कर्णपर्यन्तम्, परिपूर्य=आकृष्य, उज्झितुं=मोक्तुम्, ईशिषे=शक्नोषि, चेत्=यदि, य:=जन, तव=भवत:, क्षती:=प्रहारान्, "हती:" इति पाठे आघातान् इत्यर्थ:। सहते=मृष्यति, स:=तादृश:, मुनि:=ऋषि: अपि, मनुष्यस्य का कथा ? क्व=कुत्र ?

अनुवाद—(हे काम !) तुम जो अनङ्ग (अशरीर) हो, यह जगत्के लिए हितकारक है। शरीरयुक्त होकर हाथको कम्पित न कर बाणको कान-तक खींचकर छोड़नेको समर्थ होते तो जो तुम्हारे प्रहारोंको सहन करें, वैसे मुनि भी कहाँ हैं ?

टिप्पणी—अतनु:=अविद्यमाना तनु: यस्य स: (नञ्‌बहु०)। जगते= "हितम्" पदके योगमें "हितयोगे च" इससे चतुर्थी। अविचलद्भुजम्=अविचलन्तौ भुजौ यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०)। आश्रवणं=श्रवणात् आ (प० त०)। परिपूर्य=परि+पृ+क्त्वा (ल्यप्)। ईशिषे="ईश ऐश्वर्ये" धातुसे लट्+थास्। "ईश: से" इससे इट्। क्षती:=क्षण+क्तिन्+शस्।

सहते=सह+लट्+त। अनङ्ग होनेपर भी जगत्का द्रोह करनेवाले तुम अन्य धनुर्धरोंके समान शरीरवाले होते तो जितेन्द्रिय व्यक्तिकी चर्चा ही नष्ट हो जाती, इसलिए तुम्हारा अनङ्ग होना ही जगत्के लिए हितकारक है, यह तात्पर्य है ॥ ९३ ॥

सह तया स्मर ! भस्म झटित्यभूः पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः ।

ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—हे स्मर ! पशुपतिं प्रति याम् इषुम् अग्रहीः, तया सह झटिति भस्म अभूः । अधुना वितनोः तव पिकस्वर एव पञ्चमः अभूत् ।

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! पशुपतिं प्रति=हरं प्रति, याम्, इषुं=बाणम्, अग्रहीः=गृहीतवान्, तया सह=इष्वा सह, झटिति=सहसा, भस्म अभूः=भस्मप्रायः अभूः, दग्धः अभूः इति भावः। अधुना=इदानीं, वितनोः=अनङ्गस्य, तव=भवतः, पिकस्वर एव=कोकिलशब्द एव, पञ्चमः=पञ्चसंख्यापूरणः शरः, अभूत्=अभवत् ।

अनुवाद—हे काम ! रुद्रको प्रहार करनेके लिए तुमने जिस बाणको लिया था, उसीके साथ तुम सहसा भस्म हो गये। इस समय शरीररहित तुम्हारा, कोयलका स्वर ही पञ्चम बाण हो गया।

टिप्पणी—पशुपतिं=पशूनां पतिः, तम् (ष० त०) "पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तो भवेत्पतिः ।" इस उक्तिके अनुसार अविद्यापाशसे बद्ध जीवमात्र "पशु" और अविद्यापाशसे मुक्त "पति" ऐसा अर्थ विवक्षित है। वितनोः=विगता तनुः यस्याः सा, तस्याः (बहु०)। पिकस्वरः=पिकस्य स्वरः (ष० त०)। पञ्चमः=पञ्चानां पूरणः, "पञ्चन्" शब्दसे "तस्य पूरणे डट्" इससे डट् और तदन्तसे "नाऽन्तादसंख्यादेर्मट्" इससे मट् प्रत्यय। "पिकः जितकू पञ्चमम्" इत्यादिमें कोकिलके स्वरमें "पञ्चम" ऐसे नामकी प्रवृत्ति हुई, यह भाव है। "पञ्चमो रागभेदे स्यात्पञ्चानामपि पूरणे" इति विश्वः। इस पद्यमें शरका कार्य करनेसे पिकस्वरमें शरत्वकी उत्प्रेक्षा होनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

स्मर ! समं दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः ।

सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

अन्वयः—हे स्मर ! भगवतः अपि भवद्दहनश्रमः दुरितैः समम् अफलीकृतः । सुरहिताय हुताऽऽत्मतनुः (सन्) तत्क्षणं दिवि पुनः जनुः आपिथ ननु ।

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! भगवतः अपि=हरस्य अपि, भवद्दहनश्रमः =त्वद्भस्मीकरणपरिश्रमः, दुरितैः समं=भवत्पापैः सह, अफलीकृतः=निष्फलीकृतः। अफलीकरणं प्रतिपादयति—सुरहितायेति। सुरहिताय=देवकल्याणाय, हुताऽऽत्मतनुः=आहुतीकृतस्वशरीरः, त्वमिति शेषः। तत्क्षणं=तस्मिन्नेव काले, दिवि=स्वर्गे, पुनः=भूयः, जनुः=जन्म, आपिथ=प्राप्तवान्, ननु=खलु।

अनुवाद—हे काम ! भगवान् महादेव भी तुम्हें जलानेमें परिश्रम, तुम्हारे पापोंके साथ निष्फल किया गया, जो कि देवताओंके हितके लिए अपने शरीरकी आहुति देते हुए तुमने उसी क्षण स्वर्गमें फिर जन्म पा लिया।

टिप्पणी—भवद्दहनश्रमः=भवतो दहनं (ष० त०), तस्मिन् श्रमः (स० त०), अफलीकृतः=अविद्यमानं फलं यस्य सः अफलः (नञ्बहु), अफलम् अफलं यथा सम्पद्यते तथा कृतः, अफल+च्वि+कृ+क्त। सुरहिताय=सुरेभ्यो हितं, तस्मै (च० त०)। हुताऽऽत्मतनुः=आत्मनस्तनुः (ष० त०), हुता आत्मतनुर्येन सः (बहु०)। तत्क्षणं=तं च तं क्षणं, "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष। आपिथ=आप्लृ+लिट्+सिप् (थल्)। हमारे अभाग्यसे देवताओंसे प्रार्थित महादेवसे भस्मीभूत होकर तुमने शीघ्र ही स्वर्गमें फिर जन्म पा लिया, यह तात्पर्य है ॥ ९५ ॥

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः।
सुमनसो नमयन्नटनी धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—(हे शूर !) तव असौ बाहुः विधूदये सुमनसः धनुः अटनी नमयन् दक्षिणः स्यात् यदि (तदा) विमुखस्य विरहिणः सः शमनदिक्पवनः दक्षिणः न।

व्याख्या—(हे शूर !) तव=भवतः, असौ=अयं, बाहुः=भुजः, विधूदये=चन्द्रोदये, सहायलाभे सतीति शेषः। सुमनसः=पुष्पम् एव, धनुः=चापम्, अटनी=कोटी, नमयन्=नम्रीकुर्वन्, दक्षिणः=कुशलः, प्रहार इति शेषः। स्यात् यदि=भवेच्चेत्, सव्येतरश्चेति ध्वनिः। तदा विरहिजनविमुखस्य=पराङ्मुखस्य, चन्द्रोदयाद्विह्वलमुखस्येति भावः। विरहिणः=वियोगिजनस्य, सः=प्रसिद्धः, दक्षिणत्वेनेति शेषः। शमनदिक्पवनः=यमदिशा-

वायुः, दक्षिणो न=दाक्षिण्यवान् सव्येतरश्च न; किन्तु सोऽपि त्वत्सहकारित्वान्निर्दयप्रहर्ता एवेति भावः।

अनुवाद—(हे शूर !) तुम्हारा यह बाहु चन्द्रमाके उदयमें पुष्परूप धनुकी कोटिपर झुकाता हुआ दक्षिण (विरहियोंके ऊपर प्रहार करनेमें कुशल) होगा तो चन्द्रोदयमें पराङ्मुख वियोगी जनके लिए दक्षिण दिशाका वायु दाक्षिण्यवाला वा दक्षिण नहीं होगा (वह भी तुम्हारा सहकारी होनेसे प्रहारकर्ता ही होगा)।

टिप्पणी—विधूदये=विधोः उदयः, तस्मिन् (ष० त०)। अटनौ= "कोटिरस्याऽटनिर्गोधा" इत्यमरः। नमयन्=नम+णिच्+लट् (शतृ)+सु। विमुखस्य=विरुद्धं मुखं यस्य सः, तस्य (बहु०)। विरहिणः=विरह+इनि+ङस्। शमनदिक्पवनः=शमनस्य (यमस्य) दिक् (अवाची) (ष० त०), तस्याः पवनः (ष० त०)। पश्चिमकी ओर मुख करनेवालेके दक्षिण भी वाम होता है, ऐसी ध्वनि होती है। दक्षिण दिशाका वायु भी दक्षिण नहीं, ऐसे अर्थका स्फुरण होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है॥ ९६॥

किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदाऽन्धमयोगिजनाऽन्तकम्।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान्मदनाऽन्धकमृत्युजित्॥ ९७॥

अन्वयः—हे मदन ! उमापतिः मदमुदान्धम् अयोगि नान्तकम् एककं भवन्तम् एव अजयत् इति (यत्) तत एव सा भगवान् मदनाऽन्धकमृत्युजित् न गीयते ? (गीयत एव)।

व्याख्या—हे मदन !=हे मन्मथ ! उमापतिः=हरः, मदमुदान्धं=गर्वहर्षाऽन्धम्, अयोगिजनाऽन्तकं=विरहिजनमृत्युरूपम्, एककम्=एकाकिनं, भवन्तम् एव=त्वाम् एव, अजयत्=जितवान्, इति यत्, तत् एव=तस्मात्कारणात् एव, सः=प्रसिद्धः, भगवान्=उमापतिः, मदनाऽन्धकमृत्युजित्=मदनजित् अन्धकजित् मृत्युजित् इति भावः। न गीयते=नो गीयते किमु, अपि तु गीयत एव। मदनवत् अन्धकमृत्यू अपि त्वदतिरिक्तौ न स्त इति भावः।

अनुवाद—हे मदन ! महादेवने गर्व और हर्षसे अन्धेके समान और वियोगी जनोंको अन्तक (मृत्यु) रूप अकेले तुम्हें ही जो जीत लिया, उस कारणसे ही वे भगवान् (उमापति) मदनजित् (कामदेवको जीतनेवाले),

अन्धकजित् (अन्धेको वा अन्धकाऽसुरको जीतनेवाले) और (मृत्युजित् मृत्युको जीतनेवाले) नहीं कहे जाते हैं ? (कहे जाते ही हैं) ।

टिप्पणी—उमापतिः=उमायाः पतिः (ष० त०)। मदमुदाऽन्धं=मदश्च मुच्च मदमुत् (समाहारद्वन्द्वः), मदमुदा अन्धः, तम् (तृ० त०)। अयोगिजनाऽन्तकं=न योगः (नञ्०), अयोगः अस्ति एषां ते अयोगिनः, अयोग+इनि+जस् । तेषाम् अन्तकः, तम् (ष० त०)। एककम्=एक+कन्+अम् । अजयत्=जि+लङ्+तिप् । भगवान्=भग+मतुप्+सुः । मदनाऽन्धकमृत्युजित्=मदनश्च अन्धकश्च मृत्युश्च (द्वन्द्वः), तान् जयतीति=मदनाऽन्धकमृत्यु+जि+क्विप्+सु (उपपद०)। गीयते=गै+लट्+तिप् (कर्ममें)। हे काम ! मदनके समान अन्धक (अन्धा बनानेवाला) और मृत्यु भी तुमसे अतिरिक्त नहीं हैं ? इस पद्यमें मदन आदिका परस्परमें भेद होनेपर भी अभेदकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ९७ ॥

त्वमिव कोऽपि पराऽपकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ ! शुश्रुवे ।
स्वमदहद्दहनाज्ज्वलताऽऽत्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः ॥९८॥

अन्वयः—हे मन्मथ ! त्वम् इव पराऽपकृतौ कृती कोऽपि न ददृशे, न च शुश्रुवे । यः दहनात् ज्वलता आत्मना जगन्ति परिरभ्य ज्वलयितुं स्वम् अदहत् ।

व्याख्या—हे मन्मथ=हे मदन ! त्वम् इव=भवान् इव, पराऽपकृतौ=पराऽपकारे, कृती=कुशलः, कोऽपि=कश्चिदपि जनः, न ददृशे=नो दृष्टः, न च शुश्रुवे=न च श्रुतः, यः=अपकर्ता, दहनात्=अग्नेः, अग्निसंयोगादिति भावः। ज्वलता=प्रज्वलता, आत्मना=स्वाऽङ्गेन, जगन्ति=लोकान्, परिरभ्य= आलिङ्ग्य, ज्वलयितुं = दग्धुं, स्वम् = आत्मानम्, अदहत् = अधाक्षीत् ।

अनुवाद—हे मदन ! तुम्हारे समान पराऽपकारमें कुशल कोई भी व्यक्ति न देखा गया, न सुना ही गया है । जिस(पराऽपकारी)ने आगसे जलते हुए अपने अङ्गसे लोगोंको आलिङ्गन कर जलानेके लिए अपनेको भी जला डाला ।

टिप्पणी—पराऽपकृतौ=परेषाम् अपकृतिः, तस्याम् (ष० त०)। कृती=कृतम् अस्ति अनेन इति, कृत+इनि+सु । "वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि" इत्यमरः। ददृशे=दृश+लिट् (कर्ममें)+त । शुश्रुवे=श्रु+

लिट् (कर्ममें) + त ।। ज्वलता = ज्वल + लट् (शतृ) + टा । परिरभ्य = परि + रभ + क्त्वा (ल्यप्) । ज्वलयितुम् = ज्वल + णिच् + तुमुन् । अदहत् = दह + लङ् + तिप् । दूसरेके शरीरको जलानेके लिए अपने शरीरको जला देना तुम्हारा कैसा दुर्व्यसन है, यह भाव है ।। ९८ ।।

त्वमुचितं नयनार्ऽचिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः ।
तव वयस्यमपास्य मधुं मधुं हतवता हरिणा बत ! किं कृतम् ? ।। ९९ ।।

अन्वयः—(हे वीर !) शम्भुना नयनार्ऽचिषि त्वं भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः, उचितम् । तव वयस्यं मधुम् अपास्य मधुं हतवता हरिणा किं कृतम् ? बत !

व्याख्या—(हे वीर !) शम्भुना = शङ्करेण, नयनार्ऽचिषि = नेत्राऽग्निज्वालायां, त्वं = कामः, भुवनशान्तिकहोमहविः = लोकशान्तिप्रयोजकाऽऽहुतिः, कृतः = विहितः । उचितं = योग्यं, वध्यस्य वधादिति भावः । परं तव = भवतः, वयस्यं = सखायं, मधुं = वसन्तम्, अपास्य = त्यक्त्वा, उपेक्ष्येति भावः । मधुं = मधुनामकं दैत्यं, हतवता = मारितवता, हरिणा = जनार्दनेन, किं कृतम् = किं विहितं, न किमपीति भावः । अतिपीडाकारिणं वसन्तमुपेक्ष्य मधुनामकं दैत्यं निषूदितवता हरिणा विरहिलोकस्य दुःखं न हृतमिति भावः । बत = कष्टम् । वध्यस्य तव वधाद्धरः साधुकारी, वध्यस्य वसन्तस्योपेक्षणाद्धरिरसाधुकारीति तात्पर्यम् ।

अनुवाद—(हे वीर !) महादेवने अपने नेत्राऽग्निकी ज्वालामें तुम्हें लोककी शान्तिके लिए आहुति बना डाला, यह उचित किया । परन्तु तुम्हारे मित्र वसन्तको छोड़कर मधु नामक दैत्यको मारनेवाले हरिने क्या किया ? खेद है ।

टिप्पणी—नयनार्ऽचिषि = नयनस्य अर्चिः, तस्याम् (ष० त०) । भुवनशान्तिकहोमहविः = शान्तिः प्रयोजनमस्य तत् शान्तिकम्, "शान्ति" शब्दसे "प्रयोजनम्" इस सूत्रसे ठक् (इक) प्रत्यय । भुवनानां शान्तिकम् (ष० त०), तस्मिन् होमः (स० त०), तस्य हविः (ष० त०) । वयसा तुल्यः, तम्, वयस् + यत् + अम् । मधुम् = "मधु क्षौद्रे जले मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवकोशे मधुद्रुमे ।" इति विश्वः । अपास्य = अप + अस् + क्त्वा (ल्यप्) । हतवता = हन् + क्तवतु + टा । मित्र वसन्तके साथ कामदेवको

मारना उचित था, यह भाव है। इस पद्यमें "मधुं मधुम्" यहाँ पर लाटाऽनुप्रास है॥ ९९॥

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाऽधरविपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेरिव॥ १००॥

अन्वयः—प्रियाऽधरपिपासु तत् तदाननम् इति कियद्वचसा एव अप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेः इव आशु भृशं पांसुलम् अजनि।

व्याख्या—प्रियाऽधरपिपासु = नलोष्ठपानेच्छु, तत् = प्रसिद्धं, तदाननं = दमयन्तीवदनम्। इति = इत्थं, कियद्वचसा एव = अल्पवचनेन एव, अप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेः इव = निष्ठुरोक्तिक्रुध्यन्मन्मथशोषणशरप्रहारात् इव, आशु = शीघ्रं, भृशम् = अत्यर्थं, पांसुलम् = अत्यर्थं शुष्कम्, अजनि = जातम्।

अनुवाद—प्रिय नलके अधरपानका इच्छुक, प्रसिद्ध दमयन्तीका मुख, इस प्रकार थोड़े वचनसे ही मानो अप्रिय वचनसे क्रुद्ध कामदेवके शोषण नामके बाणके प्रहारसे शीघ्र ही अत्यन्त शुष्क हो गया।

टिप्पणी—प्रियाऽधरपिपासु = प्रियस्य अधरः (ष० त०), प्रियाऽधरं पिपासु (द्वि० त०)। यहाँपर "मधुपिपासुप्रभृतीनां गम्यादिपाठात् समासः" वामनकी (का० सू० २-५-१३) इस उक्तिके अनुसार समास हुआ है। तदाननं = तस्या आननम् (ष० त०)। कियद्वचसा = कियच्च तद् वचः, तेन (क० धा०)। अप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेः = न प्रियाः (नञ्०), अप्रियाश्च ता वाचः (क० धा०), ज्वलंश्चाऽसौ मदनः (क० धा०), अप्रियवाग्भिः ज्वलन्मदनः (ष० त०), शोषणश्चाऽसौ बाणः (क० धा०), अप्रियवाग्ज्वलन्मदनस्य शोषणबाणः (ष०त०), तस्य हतिः, तस्याः (ष० त०)। हेतुमें पञ्चमी। पांसुलम् = पांसवः सन्ति यस्मिंस्तत्, पांसु शब्दसे "सिध्मादिभ्यश्च" इस सूत्रसे लच् प्रत्यय। इस पद्यमें हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ १००॥

प्रियसखीनिवहेन सहाऽथ सा व्यरचयद् गिरमर्धसमस्यया।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा॥ १०१॥

अन्वयः—अथ सा मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि क्षततमा (अत एव) बहु भाषितुम् अक्षमा (सती) प्रियसखीनिवहेन सह अर्धसमस्यया गिरं व्यरचयत्।

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, सा = दमयन्ती, मन्मथसायकैः = मदनबाणैः, हृदयमर्मणि = वक्षःस्थलमर्मस्थाने, क्षततमा = गाढं प्रहृता, अत एव, बहु = अधिकं, भाषितुं = वक्तुम्, अक्षमा = असमर्था सती, प्रियसखीनिवहेन = अभीष्टवयस्यासङ्घेन, सह = समम्, अर्धसमस्यया = अर्धरूपया संग्रहकारिकया, गिरं = वाणीं, व्यरचयत् = विरचितवती, पूर्वार्द्धं सखीजनसमस्या, तदुत्तरत्वेनोत्तरार्द्धं स्वयं रचितवतीति भावः।

अनुवाद—अनन्तर दमयन्ती कामदेवके बाणोंसे हृदयके मर्मस्थलमें अत्यन्त विद्ध होनेसे बहुत भाषण करनेके लिए असमर्थ होकर प्रिय सखियोंके समुदायके साथ आधी समस्यासे बोलने लगीं।

टिप्पणी—मन्मथसायकैः = मन्मथस्य सायकाः, तैः (ष० त०)। हृदयमर्मणि = हृदयस्य मर्म, तस्मिन् (ष० त०)। क्षततमा = अतिशयेन क्षता, क्षत + तमप् + टाप्। भाषितुम् = भाष + तुमुन्। अक्षमा = न क्षमा (नञ्०)। प्रियसखीनिवहेन = प्रियाश्च ताः सख्यः (क० धा०), तासां निवहः, तेन (ष० त०)। अर्धसमस्यया = समस्यते (संक्षिप्यते) अर्थः अनया इति समस्या, सम्-पूर्वक अस् धातुसे "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्रसे ण्यत् और टाप्, संज्ञापूर्वक होनेसे वृद्धि नहीं हुई। "समस्या तु समासाऽर्था" इत्यमरः। अर्धरूपा समस्या अर्धसमस्या, तया (मध्यमपदलोपी स०)। व्यरचयत् = वि + रच + णिच् + लङ् + तिप्। दमयन्ती कामबाणसे विद्ध होकर बहुत बोलनेमें असमर्थ हुई, अतः पूर्वार्द्ध सखियोंकी समस्या, उसके उत्तरके तौरपर उत्तरार्द्धकी स्वयम् रचना करने लगीं, यह तात्पर्य है ॥ १०१ ॥

"अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽत्मनः।"
"असव एव ममाद्य विरोधिनः, कथमरीन् सखि ! रक्षितुमात्थ माम् ?" ॥१०२॥

अन्वयः—(हे भैमि !) आपदि सहजया धीरतया अकरुणात् सूनशरात् आत्मनः असून् अव (सख्या उक्तिः)। हे सखि ! अद्य असव एव मम विरोधिनः। मां कथम् अरीन् रक्षितुम् आत्थ ? (दमयन्त्या उक्तिः)

व्याख्या—(हे भैमि !) आपदि = विपदि, सहजया = स्वाभाविक्या, धीरतया = धैर्येण, अकरुणात् = निर्दयात्, सूनशरात् = कुसुमेषोः, कामादिति भावः। आत्मनः = स्वस्य, असून् = प्राणान्, अव = रक्ष, इति सखीवचनम्। हे सखि = हे वयस्ये ! अद्य = इदानीम्, असव एव = प्राणा एव, मम = दमयन्त्याः, विरोधिनः = शत्रवः, दुःखज्ञानस्य प्राणमूलकत्वादिति भावः। अतः,

मां=सखीं, कथं=केन प्रकारेण, अरीन्=शत्रून्, रक्षितुं=त्रातुम्, आत्थ=ब्रवीषि ? इति दमयन्तीवचनम् ।

अनुवाद—"(हे दमयन्ति !) विपत्तिमें स्वाभाविक धैर्यका ग्रहण कर निर्दय कामदेवसे आप अपने प्राणोंकी रक्षा करें ।" "हे सखि ! इस समय प्राण ही मेरे शत्रु हैं, तुम मुझे कैसे शत्रुओंकी रक्षा करनेके लिए कहती हो ?"

टिप्पणी—धीरतया=धीर+तल्+टाप्+टा । अकरुणात्=अविद्यमाना करुणा यस्य सः, तस्मात् (नञ्बहु०) । सूनशरात्=सूनानि शरा यस्य सः, तस्मात् (बहु०), "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी । अव=अव+लोट्+सिप् । विरोधिनः=विरोध+इनि+जस् । रक्षितुम्=रक्ष+तुमुन् । आत्थ=ब्रू+लट्+सिप्, "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" इस सूत्रसे "ब्रू" धातुके स्थानमें 'आह' आदेश, सिप्के स्थानमें थल् आदेश । "आहस्थः" इस सूत्रसे आहके स्थानमें थत्व और चर् ॥ १०२ ॥

"हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे ! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः" ।
"सखि ! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवितम्" ॥१०३॥

अन्वयः—"हे आश्रवे ? प्रसभम् अपि आत्मनो जीवितम् अव । हितगिरं किं न शृणोषि ?" "हे सखि ! या त्वं मदरिं मम जीवितम् इच्छसि, यदि ईदृशी मे हिता भवसि ?

व्याख्या—हे आश्रवे=हे वचनस्थिते ! प्रसभम् अपि=बलात् अपि, आत्मनः=स्वस्य, जीवितं=जीवनम्, अव=रक्ष । हितगिरं=हितवाणीम्, आप्तवाक्यमिति भावः । किं न शृणोषि=किमर्थं न आकर्णयसि ? दमयन्ती कथयति—हे सखि=हे वयस्ये, या, त्वं, मदरिं=मच्छत्रुभूतं, मम, जीवितं=जीवनम्, इच्छसि यदि=काङ्क्षसि चेत्, तर्हि, ईदृशी=एतादृशी, शत्रुवृद्धिमीहमानाऽपीति भावः । मे=मम, हिता=हितकारिणी, भवसि ! =नो भवसीति भावः । अतस्त्वद्वाक्यं न शृणोमीति भावः ।

अनुवाद—सखी—"हे वचनको माननेवाली । आप बल करके भी अपने जीवनकी रक्षा करें । आप हितवचन क्यों नहीं सुनती हैं ?"

दमयन्ती—"हे सखि ! जो तुम मेरे शत्रुभूत मेरे जीवनकी उपेक्षा करती हो तो ऐसी तुम मेरा हित करनेवाली होगी ? (नहीं)

टिप्पणी—आश्रवे=आशृणोति वाक्यमिति आश्रवा, तत्सम्बुद्धौ । आङ्+श्रु+पचाद्यच्+टाप्+सु । "विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः ।"

इत्यमरः । हितगिरं = हितस्य गीः, ताम् (ष० त०) । शृणोषि = श्रु + लट् + सिप् । मदरिं = मम अरिः, तम् (ष० त०) ॥१०३॥

"अमृतदीधितिरेष विदर्भजे ! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ?" ।
"यदि भवन्ति मृताः सखि ! चन्द्रिकाः शशभृतः क्व तदा परितप्यते ?" ॥१०४॥

अन्वयः—"हे विदर्भजे ! एषः अमृतदीधितिः । अमुष्य अंशुभिः किं तापं भजसि ?" । "हे सखि ! शशभृतः चन्द्रिका मृता भवन्ति यदि, तदा क्व परितप्यते ?"

व्याख्या—हे विदर्भजे = हे दमयन्ति ! एषः = पुरोवर्ती, अमृतदीधितिः = सुधांऽशुः, चन्द्र इति भावः, न तीक्ष्णदीधितिः सूर्य इति निगूढोऽभिप्रायः । अमुष्य = अमृतदीधितेः, चन्द्रस्य, अंशुभिः = किरणैः, किं = किमर्थं, तापं = सन्तापं, भजसि = आश्रयसि, अनुभवसीति भावः । दमयन्ती—हे सखि = हे वयस्ये ! शशभृतः = शशिनः, चन्द्रिकाः = ज्योत्स्नाः, मृताः = नष्टाः, भवन्ति यदि = सन्ति चेत्, कृष्णपक्षवदिति शेषः । तदा = तर्हि, क्व = कुत्र, परितप्यते = सन्तप्यते ? न क्वाऽपि परितप्यत इति भावः ।

अनुवाद—"हे दमयन्ति ! ये अमृतकिरणवाले (चन्द्र) हैं, इनकी किरणोंसे आप सन्तप्त होती हैं ?"

दमयन्ती—"हे सखि ! चन्द्रमाकी किरणें मृत (नष्ट) हों तो कहाँ सन्ताप किया जाता ?"

टिप्पणी—विदर्भजे = विदर्भाज्जाता, तत्सम्बुद्धौ, विदर्भ + जन् + ड + टाप् + सु । अमृतदीधितिः = अमृतं दीधितिः अस्य सः (बहु०) । शशभृतः = शशं बिभर्तीति शशभृत्, तस्य, शश + भृ + क्विप् (उपपद०) + ङस् । चन्द्रमाके अमृतदीधिति (अमृत किरणवाले) होनेसे ही यह दुःख हो रहा है, चन्द्रमा मृतदीधिति (नष्ट किरणवाले) होते तो सब अनिष्टोंकी शान्ति होती, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें सुधाकी विवक्षासे विवक्षित "अमृत" पदकी मृतसे इतर (भिन्न) ऐसे अर्थकी योजना करनेसे वक्रोक्ति अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"अन्यस्याऽन्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥" सा० द० १०–११ ।

यह श्लेषवक्रोक्ति है ॥ १०४ ॥

"व्रज धृतिं, त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति" ।
"ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभवं वचसा सखि ! लुम्पसि" ॥ १०५ ॥

अन्वयः—"(हे मुग्धे !) धृतिं व्रज, अहेतुकां भीतिं त्यज; अयम् अचण्ड-मरीचिः उदञ्चति"। "आतपमुर्मुरैः स्फुटं ज्वलयति। हे सखि ! अनुभवं वचसा लुम्पसि"।

व्याख्या—(हे मुग्धे !) धृतिं=धैर्यं, व्रज=गच्छ, भजेति भावः। अहेतुकां=निष्कारणां, भीतिं=भयं, त्यज=मुञ्च। अयं=पुरोवर्ती, अचण्ड-मरीचिः=शीतांऽशुः, चन्द्रः, उदञ्चति=उदेति, नाऽयं चण्डांऽशुः सूर्य इति भावः, इति सख्युक्तिः। आतपमुर्मुरैः=द्योततुषाऽनलैः, स्फुटं=प्रत्यक्षं यथा तथा, ज्वलयति=दहति। हे सखि !=हे वयस्ये ! अनुभवं=प्रत्यक्षज्ञानं, वचसा=वचनेन, आगमनरूपेणेति भावः। लुम्पसि=बाधसे, इयं दमयन्त्या उक्तिः।

अनुवाद—"(सखी) हे मुग्धे ! धैर्य धारण करो, निष्कारण भय छोड़ो। ये चन्द्रमा उदित हो रहे हैं।" दमयन्ती—'-दमरूप तुषाऽनलोंसे यह (सूर्य) प्रत्यक्ष ही जला रहा है। हे सखि ! अनुभवको वचन(शब्द)से बाधित कर रही हो"।

टिप्पणी—व्रज=व्रज+लोट्+सिप्। अहेतुकाम्=अविद्यमानः हेतुः यस्यां सा, ताम् (नञ्बहु०)। त्यज=त्यज+लोट्+सिप्। अचण्डमरीचिः=न चण्डी (नञ्०), सा मरीचिः यस्य सः (बहु०)। उदञ्चति=उद्+अञ्च+लट्+तिप्। आतपमुर्मुरैः=आतपा एव मुर्मुराः, तैः (रूपक०)। "मुर्मुरस्तु तुषाऽनलः" इति वैजयन्ती। ज्वलयति=ज्वल+णिच्+लट्+तिप्। लुम्पसि=लुप्लृ+लट्+सिप्। हे सखि ! प्रत्यक्ष ज्ञानको शब्द प्रमाण-से "पत्थर तैर रहा है" इत्यादि वाक्यके समान बाधित कर रही हो, जो कि अप्रमाण है, यह दमयन्तीका अभिप्राय है। इस पद्यमें अचण्डमरीचि (शीत किरणवाले चन्द्र)में चण्डमरीचि(उष्ण किरणवाले सूर्य)की भ्रान्ति होनेसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥ १०५ ॥

"अयि ! शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः"।
"रुचिफलं सखि ! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून्॥ १०६ ॥

अन्वयः—"अयि ! विधोः रुचेः गोचरः न असि यदि ? तत् तव एव हृदयाय शपे"। "सखि ! रुचिफलम् एव दृश्यते, यत् त्वचं ज्वलयति, असून् उल्ललयति।"

व्याख्या—अयि=हे सखि दमयन्ति ! विधोः=चन्द्रस्य, रुचेः=प्रभायाः, गोचरः=विषयः, असि=नो वर्तसे, यदि=चेत्, त्वदङ्गसम्पृक्ता रुचिश्च-

न्द्रस्य न चेदिति भावः। तत्=तर्हि, तव एव=भवत्या एव, हृदयाय= हृदे, शपे =आक्रोशामि, त्वज्जीविताय द्रुह्यामीति भावः। दमयन्ती प्रत्युत्तरयति—हे सखि=हे वयस्ये ! रुचिफलम् एव=तेजोमात्रकार्यम् एव, दृश्यते= अवलोक्यते, अनुभूयत इति भावः। यत्=यस्मात्, त्वचं=चर्म, ज्वलयति= दहति, असून्=प्राणान्, उल्ललयति=उन्मूलयति।

अनुवाद—सखी—"हे सखि दमयन्ति ! तुम चन्द्रमाकी प्रभाका विषय नहीं हो तो मैं तुम्हारे हृदयकी कसम खाती हूँ"। दमयन्ती—"हे सखि ! तेज मात्रका कार्य ही अनुभूत हो रहा है, जो कि चमड़ेको जला रहा है और प्राणोंको उन्मूलित कर रहा है"

टिप्पणी—हृदयाय="शपे" इसके योगमें "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्समानः" इस सूत्रसे सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी। रुचिफलं=रुचेः फलम् (ष० त०)। उल्ललयति=उद्+लल+णिच्+लट्+तिप्। सब तेज उष्ण होनेसे दाहक ही होता है दूसरे पदार्थसे अभिभूत होनेसे कहीं-कहींपर दाहक नहीं होता है, पदार्थतत्त्ववादी ऐसा कहते हैं ॥ १०६ ॥

"विधुविरोधितिथेरभिधायिनीमयि ! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम् ?"
"सखि ! किमर्थगवेषणया ? गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि" ॥१०७॥

अन्वयः—"अयि ! विधुविरोधितिथेः अभिधायिनीं कोकिलां पुनः किं न इच्छसि ?"। "हे सखि ! अर्थगवेषणया किं ? सा इयं मयि अनर्थमयीं गिरं किरति"।

व्याख्या—अयि=हे सखि दमयन्ति ! विधुविरोधितिथेः=चन्द्रशत्रुतिथेः, कुह्वाख्याया अमावास्यायास्तिथेरिति भावः। अभिधायिनीं=कुहूकुह्विति नामग्राहं तदाह्वायिनीमित्यर्थः। कोकिलां=पिकीं, पुनः=भूयः, किं न इच्छसि =किं न वाञ्छसि ? इति सख्या उक्तिः। हे सखि=हे वयस्ये ! अर्थगवेषणया= वाच्याऽन्वेषणेन, कुहूशब्दस्य नष्टचन्द्रा तिथिरर्थः इति विचारेणेति भावः। किं =तत्साध्यं न किमपीति भावः। कुतः—सा=तादृशी, कुहूशब्दोच्चारिणी, इयं=कोकिला। मयि=विषये, अनर्थमयीम्=अनर्थशून्याम्। वज्रघोषवत् आपद्रूपां च, गिरं=ध्वनिं, किरति=विक्षिपति।

अनुवाद—सखी—"हे दमयन्ति ! आप चन्द्रमाकी शत्रुभूत तिथि 'कुहू' को उच्चारण करनेवाली कोयलको फिर क्यों नहीं चाहती हैं ? दमयन्ती—"हे सखि ! अर्थके अन्वेषणसे क्या होता है ? वह कोयल मेरे विषयमें अर्थशून्य अथवा आपत्तिरूप ध्वनिको फैला रही है।"

टिप्पणी—विधुविरोधितिथे:=विरोधिनी चाऽसौ तिथि: (क० धा०), विधो: विरोधितिथि:, तस्या: (ष० त०)। अभिधायिनीम्=अभि+धा+णिनि:+ङीप्+अम्। अर्थगवेषणया=अर्थस्य गवेषणा, तया (ष० त०)। अनर्थमयीम्=न अर्थ: (नञ्०)। अनर्थ+मयट्+ङीप्+अम्। किरति=कॄ+लट्+तिप्॥ १०७॥

"हृदय एव तवाऽस्ति स वल्लभस्तदपि किं दमयन्ति! विषीदसि?"
हृदि परं न बहि: खलु वर्तते सखि! यतस्तत एव विषद्यते"॥१०८॥

अन्वय:—"हे दमयन्ति! स तव वल्लभो हृदय एव अस्ति तदपि किं विषीदसि?"। "हे सखि! यतो हृदि परं वर्तते, बहि: न वर्तते खलु, तत एव विषद्यते।"

व्याख्या—हे दमयन्ति=हे वैदर्भि! स:=प्रसिद्ध:, तव=भवत्या:, वल्लभ:=प्रिय:, नल इति भाव:। हृदय एव=हृदि एव, अस्ति=विद्यते, तदपि=तथाऽपि, किं=किमर्थं, विषीदसि=विषादं कुरुषे, सख्या उक्तिरियम्। हे सखि=हे वयस्ये! यत:=यस्मात्कारणात्, हृदि परं=हृदय एव, वर्तते=विद्यते, बहि:=बाह्यदेशे, न वर्तते=नो विद्यते, खलु=निश्चयेन, तत एव=तस्मात्कारणात् एव, विषद्यते='खिद्यते' यतो हृदि वर्तमानत्वात्स्मर्यत एव न तु दृश्यते, अतो मे विषाद इति भाव:।

अनुवाद—सखी—"हे दमयन्ति! वे आपके प्रिय (नल) आपके हृदयमें ही हैं तो भी आप क्यों विषाद करती हैं?" दमयन्ती—"हे सखि! जो कि हृदयमें ही हैं बाहर नहीं हैं (दिखाई नहीं देते हैं), इसी कारणसे विषाद करती हूँ।"

टिप्पणी—विषीदसि=वि+सद्+लट्+सिप्। "सदिरप्रते:" इससे मूर्धन्य षकार। विषद्यते=वि+सद्+लट् (भावमें)+त। पूर्वसूत्रसे षत्व॥ १०८॥

"स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते"।
"सखि! हताऽस्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतम: स मम व्यवधापित:"॥१०९॥

अन्वय:—"(हे भैमि!) मदनोष्मणा हारमणौ स्फुटति (सति) अद्य ते हृदयम् अपि अनलङ्कृतम्"। "हे सखि! स प्रियतम: मम हृदि अपि व्यवधापितो यदि, तदा हता अस्मि"।

व्याख्या—(हे भैमि!) मदनोष्मणा=कामज्वरेण, हारमणौ=मौक्तिकमाल्यरत्ने, स्फुटति=विदलति सति, अद्य=अस्मिन्दिने, ते=तव, हृदयम्

अपि = वक्षःस्थलम् अपि, अनलङ्कृतम् = अभूषितं जातम् । इति सख्या उक्तिः । दमयन्ती "हृदयम् अनलङ्कृतम्" इत्यत्र हृदयं = वक्षः, "अनलं = नलरहितं, कृतं = विहितम्" इति अर्थान्तरं मत्त्वा उत्तरयति—सखीति । हे सखि = हे वयस्ये ! सः = प्रसिद्धः, प्रियतमः = दयिततमः, नल इति भावः । मम = प्रणयिन्या दमयन्त्याः, हृदि अपि = हृदये अपि, व्यवधापितः = व्यवधानं प्रापितः, यदि = चेत्, तदा = तर्हि, हता = नष्टप्राया, अस्मि = भवामि ।

अनुवाद—सखी—"दमयन्ति ! कामज्वरसे हारमणिके फूटनेपर आज आपका हृदय भी अनलङ्कृत (अलङ्काररहित) हो गया ।" दमयन्ती "हृदयम् अनलङ्कृतम्" इन पदोंका हृदय नलरहित किया गया, ऐसा अर्थ जानकर उत्तर देती हैं—"हे सखि ! वे प्रियतम (नल) मेरे हृदयमें भी व्यवहित (दूर) किये गये हैं तो मैं नष्ट हो गई ।"

टिप्पणी—मदनोष्मणा = मदनस्य ऊष्मा, तेन (ष० त०) । हारमणौ = हारश्चाऽसौ मणिः, तस्मिन् (क० धा०) । स्फुटति = स्फुट + लट् (शतृ) + ङि । अनलङ्कृतं = न अलङ्कृतम् (नञ्०) । दमयन्ती—"हृदयम् अनलं कृतम्" इस तरह पदच्छेद समझती हैं । अनलम् = अविद्यमानो नलो यस्मिंस्तत् (नञ्बहु०) । प्रियतमः = प्रिय + तमप् । व्यवधापितः = वि + अव + धा + णिच् + क्तः (कर्ममें) । "अर्तिह्रीब्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ" इससे पुक् आगम । इस पद्यमें वक्रोक्ति अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका ।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता ॥ ११० ॥

अन्वयः—सा इदम् उदीर्य तदा एव मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका (सती) मुमूर्च्छ । तथाहि—दुःखिता (सा) अनुपपत्तिमतीम् अपि अवलम्बलवच्छिदां क्व सहताम् ?

व्याख्या—सा = दमयन्ती, इदम् = एतम्, पूर्वोक्तं "सखि ! हताऽस्मीति" वाक्यमिति भावः । उदीर्य = उच्चार्य, तदा एव = तस्मिन् समय एव, मनसि = चित्ते, मूर्च्छितमन्मथपावका = प्रवृद्धकामाऽग्निः सती, मुमूर्च्छ = मुमोह । उक्त-मर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—क्व सहतामिति । तथाहि—दुःखिता = सञ्जा-तदुःखा, सा, अनुपपत्तिमतीम् अपि = अनुपपन्नाम् अपि, "अनलङ्कृतम्" इति श्लेषशब्दश्रवणजन्यभ्रान्तिविषयत्वादिति शेषः । अवलम्बलवच्छिदाम् = हृदि नलरूपाऽऽलम्बनलेशच्छेदनं, क्व = कुत्र, सहतां = मृष्यताम् ।

अनुवाद—दमयन्ती ऐसा कहकर उसी समय मनमें कामाग्निके बढ़नेसे मूर्च्छित हो गई। जैसे कि दुःखिता वह, अनुपपन्न होनेपर भी हृदयमें विद्यमान नलरूप अवलम्बलेशके छेदनका कैसे सहन करें।

टिप्पणी—उदीर्य=उद्+ईर+क्त्वा (ल्यप्)। मूर्च्छितमन्मथपावका=मूर्च्छितो मन्मथ एव पावको यस्याः सा (बहु०)। मुमूर्च्छ="मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः" इस धातुसे लिट्+तिप् (णल्)। दुःखिता=दुःख+इतच्+टाप्। अनुपपत्तिमतीम्=न उपपत्तिः(नञ्०)। अनुपपत्ति+मतुप्+ङीप्+अम्। अवलम्बलवच्छिदाम्=अवलम्बस्य लवः (ष० त०), तस्य च्छिदा, ताम् (ष० त०)। सहतां=षह+लोट+त। दुःखसे उद्विग्न जनको भ्रान्तिसे वा बिना भ्रान्तिसे अनिष्टकी प्रतीतिको सहना अत्यन्त दुष्कर है, इसलिए जो भैमीको मूर्च्छा हुई, यह स्वाभाविक है, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ११० ॥

अधित काऽपि मुखे सलिलं सखी, प्यधित काऽपि सरोजदलैः स्तनौ।
व्यधित काऽपि हृदि व्यजनाऽनिलं, न्यधित काऽपि हिमं सुतनोस्तनौ ॥१११॥

अन्वयः—काऽपि सखी सुतनोः मुखे सलिलम् अधित। काऽपि (सखी) स्तनौ सरोजदलैः प्यधित। काऽपि हृदि व्यजनाऽनिलं व्यधित। काऽपि तनौ हिमं न्यधित।

व्याख्या—काऽपि = काचित्, सखी = वयस्या, सुतनोः = सुन्दर्याः दमयन्त्याः, मुखे=वदने, सलिलं=जलम्, अधित=आहितवतीति भावः। काऽपि=काचित् सखी, स्तनौ=कुचौ, मदनसन्तापादनावृताविति शेषः। सरोजदलैः=कमलपत्रैः, प्यधित=आच्छादितवती। काऽपि=सखी, हृदि=हृदये, व्यजनाऽनिलं=तालवृन्तवातं, व्यधित=विहितवती, तालवृन्तेन बीजयामासेति भावः। एवं च काऽपि=सखी, तनौ=शरीरे, हिमं=चन्दनं, तुहिनं वा। न्यधित=निहितवती।

अनुवाद—किसी सखीने सुन्दरी दमयन्तीके मुखमें जल डाल दिया। किसीने उनके स्तनोंको कमलके पत्तोंसे ढँक दिया। किसीने उनके हृदयमें पङ्खेकी हवा की और किसी सखीने दमयन्तीके शरीरपर चन्दन वा बरफका लेप किया।

टिप्पणी—सुतनोः=शोभना तनुर्यस्याः सा, तस्याः (बहु०)। अधित=धा+लुङ्+त। सरोजदलैः=सरोजानां दलानि, तैः (ष० त०)। प्यधित=

अपि + धा + लुङ् + त । "वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।" इस नियमके अनुसार "अपि" उपसर्गके अकारका लोप । व्यजनाऽनिलं = व्यजनस्य अनिलः, तम् (ष० त०) । व्यधित = वि + धा + लुङ् + त । हिमं = "चन्दनेऽपि हिमं विदुः" इति विश्वः । न्यधित = नि + धा + लुङ् + त ॥१११॥

उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलाऽऽदिभिः ।

प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥ ११२ ॥

अन्वयः—स प्रियसखीनिवहः मृदुशीतलैः जलजजालमृणालजलाऽऽदिभिः क्रमात् चिरं तथा उपचचार, यथा इयं लघु चेतनाम् अवाप ।

व्याख्या—सः = पूर्वोक्तः, प्रियसखीनिवहः = अभीष्टवयस्यासमूहः, मृदुशीतलैः = कोमलशीतैः, जलजजालमृणालजलाऽऽदिभिः = पद्मसमूहबिससलिलादिभिः, आदिशब्दात्तालवृन्तादिसाधनविशेषैश्च, क्रमात् = परिपाटयाः, चिरं = बहुकालं यावत् । उपचचार = उपचरितवान्, यथा = येन प्रकारेण, इयम् = एषा, दमयन्तीति भावः । लघु = शीघ्रं, चेतनां = संज्ञाम्, अवाप = प्राप्तवती ।

अनुवाद—दमयन्तीकी प्रिय सखियोंने कोमल और शीतल कमलसमूह, मृणालदण्ड और जल आदमियोंसे क्रमसे बहुत समयतक उस प्रकारसे उपचार किया, जैसे कि वे शीघ्र होशमें आ गयीं ।

टिप्पणी—प्रियसखीनिवहः = प्रियाश्च ताः सख्यः (क० धा०), तासां निवहः (ष० त०) । मृदुशीतलैः = मृदूनि च तानि शीतलानि, तैः (क० धा०) । जलजजालमृणालजलादिभिः = जलजानां जालानि (ष० त०), जलजालानि मृणालानि जलानि च (द्वन्द्वः), तानि आदयो येषां, तैः (बहु०) । उपचचार = उप + चर + लिट् + तिप् (णल्) । लघु = 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । अवाप = अव + आप् + लिट् + तिप् (णल्) ॥ ११२ ॥

अथ कले ! कलय श्वसिति स्फुटं चलति पक्ष्म चले ! परिभावय ।

अधरकम्पनमुन्नय मेनके ! किमपि जल्पति कल्पलते ! शृणु ॥ ११३ ॥

रचय चारुमते ! स्तनयोर्वृतिं, गणय केशिनि ! केश्यमसंयतम् ।

अवगृहाण तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझराविति शुश्रुविरे गिरः ॥ ११४ ॥

(युग्मम्) ।

अन्वयः—अथ "हे कले ! स्फुटं श्वसिति, कलय" । "हे चले ! पक्ष्म चलति, परिभावय" । "हे मेनके ! अधरकम्पनम् उन्नय" । "हे कल्पलते ! किमपि जल्पति, शृणु ।

"हे चारुमते ! स्तनयोः वृतिं रचय"। हे केशिनि ! असंयतं कैश्यं गणय। "हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोः जलझरी अवगृहाण" इति गिरः शुश्रुविरे।

(युग्मम्)।

व्याख्या—अथ दमयन्त्यास्तद्दशापरीक्षाऽऽकुलानां कल्यादीनां सप्तसंख्यकानां सखीनां मिथः कलकलं पद्यद्वयेनाह—अथ=अनन्तरं, हे कले, स्फुटं=व्यक्तं, श्वसिति=प्राणिति, दमयन्तीति शेषः। कलय=विचारय। हे चले ! पक्ष्म=नेत्रलोम, चलति=स्फुरति, चक्षुरुन्मिषतीति भावः। परिभावय=विचारय। हे मेनके ! अधरकम्पनम्=ओष्ठचलनम्, उन्नय=तर्कय। हे कल्पलते ! किमपि=किञ्चिदपि, जल्पति=वदति, दमयन्तीति शेषः। शृणु=आकर्णय, दमयन्तीजल्पनमिति शेषः।

हे चारुमते ! स्तनयोः=कुचयोः, दमयन्त्या इति शेषः। वृतिम्=आवरणं, रचय=कुरु। हे केशिनि ! असंयतं=विस्रस्तं, कैश्यं=केशसमूहं, दमयन्त्या इति शेषः। गणय=चिन्तय, बधानेति भावः। हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोः=नयनयोः, दमयन्त्या इति शेषः, जलझरी=अश्रुप्रवाहौ, अवगृहाण=अपाकुरु, इति=एतादृश्यः, गिरः=वाण्यः, शुश्रुविरे=श्रुताः। (युग्मम्)

अनुवाद—तब "हे कले ! स्पष्टरूपसे ये (दमयन्ती) श्वास ले रही हैं, विचार करो"। "हे चले ! इनका पलक चल रहा है, गौर करो"। "हे मेनके ! इनके ओष्ठकम्पकी तर्कना करो"। "हे कल्पलते ! ये कुछ बोल रही हैं, सुन लो"।

"हे चारुमते ! इनके स्तनोंको ढँक दो"। "हे केशिनि ! इनके बिखरे हुए केशोंको बाँध दो"। "हे तरङ्गिणि ! "दमयन्तीके नेत्रोंके अश्रुप्रवाहोंको पोंछ दो" ऐसे वचन सुने गये।

टिप्पणी—श्वसिति=श्वस+लट्+तिप्। परिभावय = परि+भू+णिच्+लोट्+सिप्। अधरकम्पनम्=अधरस्य कम्पनं, तत् (ष० त०)। उन्नय=उद्+नी+लोट्+सिप्। जल्पति=जल्प+लट्+तिप्। शृणु=श्रु+लोट्+सिप्॥ ११३॥

वृतिं=वृ+क्तिन्+अम्। रचय=रच+णिच्+लोट्+सिप्। असंयतं=न संयतं, तत् (नञ्०)। कैश्यं=केशानां समूहः कैश्यं, तत्, केश शब्दसे "केशाऽश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे यञ् प्रत्यय। गणय=गण+णिच्+लोट्+सिप्। जलझरी=जलस्य झरी, तौ (ष० त०)। अव-

गृहाण=अव+ग्रह्+लोट्+सिप्। शुश्रुविरे=श्रु+लिट् (कर्ममें)+झ: ॥ ११४ ॥

कलकलः स तदाऽऽलिजनाऽऽननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितैः ।
यमधिगम्य सुताऽऽलयमेतवान् द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तदा आलिजनाऽऽननात् त्वरितेरितैः विपुलः स कलकलः उदलसत् । यम् अधिगम्य स विदर्भपुरन्दरः द्रुततरः सुताऽऽलयम् एतवान् ।

व्याख्या—तदा=तस्मिन्समये, आलिजनाऽऽननात्=सखीजनमुखात्, त्वरितेरितैः=सम्भ्रमोक्तिभिः, विपुलः=महान्, सः=पूर्वोक्तः, कलकलः=कोलाहलः, उदलसत्=उत्थितः । यं=कलकलम्, अधिगम्य=प्राप्य, आकर्ण्येति भावः, सः=प्रसिद्धः, विदर्भपुरन्दरः=भीमभूपतिः, द्रुततरः=अतित्वरितः सन्, सुताऽऽलयं=पुत्रीभवनं, कन्याऽन्तःपुरमिति भावः । एतवान्=प्राप्तवान् ।

अनुवाद—उस समय दमयन्तीकी सखियोंके मुखसे संभ्रमकी उक्तियोंसे वैसा महान् कोलाहल हुआ, जिसको सुनकर विदर्भपति भीम अतिशीघ्रतापूर्वक अपनी कन्याके अन्तःपुरमें प्राप्त हुए ।

टिप्पणी—आलिजनाऽऽननात्=आलयश्च ते जनाः (क० धा०), तेषाम् आननं, तस्मात् (ष० त०)। त्वरितेरितैः=त्वरितानि च तानि ईरितानि, तैः (क० धा०)। उदलसत्=उद्+लस्+लङ्+तिप्। अधिगम्य=अधि+गम्+क्त्वा (ल्यप्)। विदर्भपुरन्दरः=विदर्भाणां पुरन्दरः (ष० त०)। द्रुततरः=द्रुत+तरप्+सुः। सुताऽऽलयं=सुताया आलयः, तम् (ष० त०)। एतवान्=आङ्+इण्+क्तवतुः। "ईयिवान्" ऐसे पाठमें इण्+क्वसुः+सुः ।११५।

कन्याऽन्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः ।
देवाऽऽकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—कन्याऽन्तःपुरबोधनाय यदधीकारात् दोषा न, मन्त्रिप्रवरः अगदङ्कारश्च द्वौ नृपं तुल्यम् ऊचतुः । "देव ! आकर्णय, सुश्रुतेन चरकस्य उक्तेन अखिलं जाने । अस्याः तापस्य दलने नलदं विना कोऽपि क्षमो न स्यात्" ।

व्याख्या—कन्याऽन्तःपुरबोधनाय = कुमारीशुद्धान्तयोगक्षेमाऽनुसन्धानाय, यदधीकारात्=मन्त्रिवैद्यनियोगात्, दोषाः=दूषणानि, परपुरुषप्रवेशादीनि (मन्त्रिपक्षे), वातादीनि च (वैद्यपक्षे)। न=सन्तीति शेषः। मन्त्रि-

प्रवरः=अमात्यमुख्यः, अगदङ्कारश्च=वैद्यश्च, द्वौ=उभौ, नृपं=राजानं भीमं, तुल्यम्=एकवाक्यम्, ऊचतुः=कथयामासतुः। किं कथयामासतुरिति देवेति। देव=हे महाराज! आकर्णय=शृणु; सुश्रुतेन=सम्यगाकर्णितेन, चरकस्य=गूढचारस्य, उक्तेन=वाक्येन, अयमर्थो मन्त्रिप्रवरपक्षे। सुश्रुतेन=सुश्रुतमुनिग्रन्थेन, सम्यगाकर्णितेन वा। चरकस्य=चरकमुनेः, उक्तेन=ग्रन्थेन च। अखिलं=समस्तं, तापनिदानमिति शेषः। जाने=वेद्मि। किं तदित्याह स्यादिति। अस्याः=दमयन्त्याः, तापस्य=ज्वरस्य, दलने=निवर्तने, नलदं विना=नैषधनलसङ्घटकं विना (मन्त्रिप्रवर-पक्षे)। नलदं विना=उशीरं विना (अगदङ्कारपक्षे), कोऽपि=उपायः, क्षमः=समर्थः, न स्यात्=नो भवेत्।

अनुवाद—राजकन्याके अन्तःपुरके योगक्षेमके अनुसन्धानके लिए जिन-(मन्त्री और वैद्य)के नियोगसे परपुरुषप्रवेश आदि अथवा वातपित्त आदि दोष नहीं होते हैं, वैसे मन्त्रिश्रेष्ठ और वैद्यराज दोनोंने ही राजाको एक ही वाक्य कहा—"महाराज! सुनिए, अच्छी तरहसे सुने गये गुप्तचरके कथनसे (मन्त्रिपक्षमें)। अच्छी तरहसे सुने गये वा सुश्रुत ग्रन्थसे चरक मुनिके ग्रन्थसे भी सब जानता हूं। राजकुमारीके ज्वरको हटानेमें नलका संयोग किये बिना (मन्त्रिपक्षमें), उशीर(खश)के बिना (वैद्यपक्षमें) कोई भी उपाय समर्थ नहीं होगा।

टिप्पणी—कन्याऽन्तःपुरबोधनाय=कन्याया अन्तःपुरं (ष० त०), तस्य बोधनं, तस्मै (ष० त०)। यदधीकारात्=अधिकरणम् अधीकारः, अधि+कृञ्+घञ्, "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इससे बाहुल्यमें दीर्घ। ययोः अधिकारः, तस्मात् (ष० त०)। मन्त्रिप्रवरः=मन्त्रिषु प्रवरः (स० त०)। अगदङ्कारः=अविद्यमानो गदो यस्य सः अगदः (नञ्बहु०)। "स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदाऽऽमयाः" इत्यमरः। अगदं करोतीति अगदङ्कारः, अगद शब्दसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय और "कारे सत्यागदस्य" इससे मुम् आगम (उपपद०)। "रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यश्चिकित्सकः" इत्यमरः। ऊचतुः=ब्रू (वच्)+लिट्+तस् (अतुस्)। सुश्रुतेन=सम्यक् श्रुतं, तेन (गति०)। चरकस्य=चर एव चरकः, तस्य, स्वार्थमें कन्। "चरकस्य उक्तेन" इसका अर्थ है गुप्तचरके कथनसे (मन्त्रिपक्षमें)। चरक आचार्यके ग्रन्थसे (वैद्यपक्षमें)। नलदं विना=नलं ददातीति, तम्। नलका

संघटन करनेवाले उपायके विना (मन्त्रिपक्षमें)। नलदं विना=उशीरके विना (वैद्यपक्षमें)। "मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम्" इत्यमरः। स्यात्="शकि लिङ् च" इससे शक्य अर्थमें अस्+लिङ्+तिप्। इस पद्यमें नलद (नलको देनेवाला उपाय), नलद (उशीर) उन दोनों अर्थोंके प्रकृत होनेसे केवलप्रकृतश्लेष अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं भेदव्ययाऽऽकृति मिथःप्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद् भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाऽऽकुलस्य ॥ ११७ ॥

अन्वयः—ताभ्यां भेदव्ययाऽऽकृति अपि युगपत् अभिधीयमानं मिथः प्रतिघातम् एव अभूत्। भैम्याम् अनिष्टशतशङ्कितया आकुलस्य तस्य नृपतेः श्रोत्रे तु किञ्चित् न पपतुः।

व्याख्या—ताभ्यां=मन्त्रिवैद्याभ्यां, भेदव्ययाऽऽकृति=अभिन्नस्वरूपम् अपि, युगपत्=एकदा, अभिधीयमानम्=उच्चार्यमाणं, नलदादिवाक्यमिति शेषः। मिथः प्रतिघातम् एव=परस्परभिन्नम् एव, अभूत्=अभवत्, एकरूपमपि वाक्यं भिन्नाऽर्थमासीदिति भावः। परं राज्ञो न तत्र दृष्टिरिति प्रतिपादयति—श्रोत्रे त्विति। भैम्यां=दमयन्त्यां विषये, अनिष्टशतशङ्कितया=अनर्थबाहुल्यशङ्कावत्त्वेन, आकुलस्य=विह्वलस्य, तस्य=पूर्वोक्तस्य, नृपतेः=राज्ञः, भीमस्य। श्रोत्रे तु=कर्णौ तु, न पपतुः=न पीतवती, न कञ्चिदर्थं जगृहतुरिति भावः। विह्वलचित्तत्वेन वाक्याऽर्थं न ज्ञातवानिति भावः।

अनुवाद—मन्त्री और वैद्यसे अभिन्नस्वरूप होकर भी एक ही बार कहा गया वह वाक्य, परस्पर भिन्नस्वरूप ही हुआ। दमयन्तीमें सैकड़ों अनिष्टोंकी शङ्का करनेसे आकुल राजाके कानोंने किसी भी अर्थका ग्रहण नहीं किया।

टिप्पणी—भेदव्ययाकृति=भेदस्य व्ययः (अभेदः) (ष० त०), भेदव्यय एव आकृतिः यस्य, तत् यथा तथा (बहु०)। अभिधीयमानम्=अभि+धा+लट् (कर्ममें) (शानच्)+सुः। मिथः प्रतिघातः (विरोधः) यस्य तत् (बहु०)। एक ही बार कहे जानेसे एक ही शब्द होनेसे अभिन्न अर्थवाले एक वाक्यके समान प्रतीत होनेपर भी वे भिन्न अर्थवाले दो वाक्य ही हो गये, यह तात्पर्य है। अनिष्टशतशङ्कितया=अनिष्टानां शतं (ष० त०), तत् शङ्कते तच्छीलः अनिष्टशतशङ्की, अनिष्टशत+शकि+णिनिः (उपपद०), तस्य भावस्तत्ता, तया। अनिष्टशतशङ्किन्+तल्+टाप्+टा। नृपतेः=नृणां पतिः, तस्य (ष० त०)। पपतुः=पा+लिट्+तस् (अतुस्)। वसन्ततिलका छन्द है ॥ ११७ ॥

द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम् ।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नां, झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नाम् अपि पदप्रणम्रां तनयाम् असमाऽऽशुगाऽऽधिमग्नाम् अकलयत् हि विज्ञाः झटिति पराशयवेदिनः ।

व्याख्या—नृपतिः = राजा, भीमः । द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नाम् अपि = शीघ्राऽपसारितशिशिरोपचारचिह्नाम् अपि, पदप्रणम्रां = चरणनिपतितां, तनयां = पुत्रीं, दमयन्तीम्, असमाशुगाधिमग्नां = मदनव्यथामग्नाम्, अकलयत् = ज्ञातवान् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—हि = यस्मात् कारणात्, विज्ञाः = प्रवीणाः, झटिति = शीघ्रं, पराशयवेदिनः = अन्याऽभिप्रायज्ञातारः, भवन्तीति शेषः, प्रकाशकचिह्नं विनाऽऽकारमात्रेण पराऽभिप्रायं निश्चिन्वन्तीति भावः ।

अनुवाद—राजा भीमने झटपट वियोगके चिह्न उशीर आदिके हटाये जानेपर भी पैरोंमें झुकी हुई पुत्री दमयन्तीको "यह कामपीडामें मग्न है" ऐसा जान लिया, क्योंकि प्रवीण जन झटपट दूसरेके आशयको जाननेवाले होते हैं ।

टिप्पणी—नृपतिः = नृणां पतिः (ष० त०) । द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नां = द्रुतं विगमितं (सुप्सुपा०), विप्रयोगस्य चिह्नम् (ष० त०), द्रुतविगमितं विप्रयोगचिह्नं यस्याः सा, ताम् (बहु०) । पदप्रणम्रां = पदयोः प्रणम्रा, ताम् (स० त०) । "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" इससे णत्व । असमाऽऽशुगाऽऽधिमग्नाम् = न समाः (नञ्०), असमा आशुगा यस्य सः (बहु०), असमाशुगेन आधिः (तृ० त०), तस्मिन् मग्ना, ताम् (स० त०) । अकलयत् = कल + णिच् + लङ् + तिप् । पराऽऽशयवेदिनः = आशयं विदन्तीति आशयवेदिनः, आशय + विद् + णिनिः (उप०) । परेषाम् आशयवेदिनः (ष० त०) । इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ ११८ ॥

व्यतरदथ पिताऽऽशिषं सुतायै नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम् ।
"दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः" ॥११९॥

अन्वयः—अथ पिता नतशिरसे सुतायै मुहुः मौलिम् उन्नमय्य "(हे वत्से !) कियद्भिः वासरैः स्वयंवरे त्वं गुणामयम् अभिमतं दयितम् आप्नुहि" (इति) आशिषं व्यतरत् ।

व्याख्या—अथ = प्रणामानन्तरं, पिता = जनकः, भीमः । नतशिरसे = आनतमस्तकायै, सुतायै = दुहित्रे, दमयन्त्यै, मुहुः = वारं वारं, मौलि =

मस्तकम्, उन्नमय्य = उन्नतं कृत्वा, हे वत्से ! कियद्भिः = कतिपयैः, वासरैः = दिनैः, स्वयंवरे = स्वयंवरस्थाने, त्वं, गुणमयं = शौर्यसौन्दर्यादिगुणसम्पन्नम्, अभिमतम् = अभीष्टं, दयितं = प्रियं वरम्, आप्नुहि = लभस्व, इति, आशिषम् = आशीर्वचनं, व्यतरत् = वितीर्णवान् ।

अनुवाद—तब पिता भीमभूपालने शिर झुकानेवाली पुत्रीको बारंबार मस्तकको ऊँचा कर "हे वत्से ! कुछ ही दिनोंमें तुम स्वयंवरमें गुणसम्पन्न अभीष्ट वरको प्राप्त करो" ऐसे आशीर्वादका वितरण किया ।

टिप्पणी—नतशिरसे = नतं शिरो यस्याः सा नतशिराः, तस्यै (बहु०) । उन्नमय्य = उत् + नम + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । वासरैः = "अपवर्गे तृतीया" इससे कालके अत्यन्तसंयोगमें तृतीया । गुणमयं = गुण + मयट् (प्राचुर्य अर्थमें) + अम् । आप्नुहि = आप् + लोट् + सिप् । पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशानाम् ।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥ १२० ॥

अन्वयः—तदनु स तनुजासखीः अवादीत्—"हि तुहिनऋतौ गत एव ईदृशीनां शरीरे कुसुमम् अपि शरायते, तत् अस्याम् उचितम् उपचारम् आचरत ।

व्याख्या—तदनु = आशीर्वादानन्तरं, सः = राजा भीमः, तनुजासखीः = सुतावयस्याः, अवादीत् = उक्तवान् । हि = यस्मात्कारणात् । तुहिनऋतौ = शिशिरकाले, गत एव = निर्गत एव । ईदृशीनाम् = एतादृशीनां, कोमलाङ्गीनां, शरीरे = देहे, कुसुमम् अपि = पुष्पम् अपि, शरायते = शरवत् आचरति । तत् = तस्मात्कारणात्, अस्याम् = एतस्यां, कोमलाङ्ग्यां दमयन्त्याम्, उचितं = योग्यम्, उपचारं = प्रतीकारम्, आचरत = कुरुत ।

अनुवाद—आशीर्वाद देकर राजा भीमने पुत्री(दमयन्ती)की सखियोंको कहा—"जो कि शिशिर ऋतुके जाने पर ही ऐसी (दमयन्ती-सी) कोमल अङ्ग वालियोंके शरीरमें फूल भी बाणके सदृश हो जाता है, इसलिए इसमें योग्य उपचार करो ।

टिप्पणी—तनुजासखीः = तनुजायाः सख्यः, ताः (ष० त०) । अवादीत् = वद + लुङ् + तिप् । तुहिनऋतौ = तुहिनश्चासौ ऋतुः, तस्मिन् (क० धा०), "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर् गुण नहीं हुआ । शरायते = शरवत् आचरति, शर शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ् + लट् + त । आचरत = आङ् + चर + लोट् + थ । इस पद्यमें उपमा अलंकार है और पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान् ।
कृशिमशमनयाऽनया तदाप्तुं रुचिरुचिताऽथ भवद्विधाऽभिधाभिः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—(हे भैमीसख्यः) कतिपयदिवसैः वो वयस्यया वरीयान् स्वयम् अभिलष्य वरिष्यते । तत् अथ अनया भवद्विधाऽभिधाभिः कृशिमशमनया रुचिः आप्तुम् उचिता ।

व्याख्या—(हे भैमीसख्यः), कतिपयदिवसैः=अल्पदिनैरेव, वः= युष्माकं, वयस्यया=सख्या दमयन्त्या, वरीयान्=श्रेष्ठः पुरुषः, स्वयम्=आत्मना एव, अभिलष्य = कामयित्वा, वरिष्यते = स्वीकरिष्यते । यं कामयते तं वरिष्यतीति भावः । तत्=तस्मात्कारणात्, अथ=इदानीम्, अनया=दमयन्त्या, भवद्विधाऽभिधाभिः=भवादृशसख्युक्तिभिः, कृशिमश-मनया=कार्श्यनिवर्तनया उपायभूतया, रुचिः=कान्तिः प्रीतिश्च, आप्तुं= प्राप्तुम्, उचिता=योग्या, रुचिराप्तव्येति भावः । स्वयंवरपर्यन्तं भवादृश-सखीसान्त्वनवचनैः खेदं विहाय दमयन्त्या प्रसन्ना सन्तुष्टया च सत्या स्थात-व्यमिति भावः ।

अनुवाद—(हे दमयन्तीकी सखियों !) थोड़े ही दिनोंमें तुम लोगोंकी सखी दमयन्ती, श्रेष्ठ पुरुषको स्वयं ही अभिलाष कर वरण करेगी । उस कारणसे इस समय तुम सखियोंके सान्त्वनापूर्वक वचनोंके कृशताको हटानेके उपाय होनेसे इनको कान्ति और प्रीति प्राप्त करना उचित है ।

टिप्पणी—कतिपयदिवसैः=कतिपये च ते दिवसाः, तैः (क० धा०), "अपवर्गे तृतीया" इससे तृतीया । वयस्यया=वयस्+यत्+टाप्+टा । वरीयान्=अतिशयेन वरः, शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इससे ईयसुन् प्रत्यय और "प्रिय० स्थिर०" इत्यादि सूत्रसे "वर"के स्थानमें "वर्" आदेश । अभिलष्य=अभि+लष+क्त्वा (ल्यप्) । भवद्विधाऽभि-धाभिः=भवतीनाम् इव विधा (प्रकारः) यासां ताः (व्यधिकरणबहु०), "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इससे पुंवद्भाव । भवद्विधानाम् अभिधाः, ताभिः (ष० त०) । कृशिमशमनया=कृशस्य भावः कृशिमा, कृश+ इमनिच् । "ऋतो हलादेर्लघोः" इससे "ऋ"के स्थानमें "र" आदेश । कृशिम्नः शमना, तया (ष० त०) । आप्तुम्=आप्+तुमुन् । स्वयंवर तक तुम लोगोंकी सान्त्वनाओंसे खेद छोड़ कर दमयन्तीको प्रसन्न और सन्तुष्ट होना चाहिए, यह राजाका अभिप्राय है । पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १२१ ॥

एवं यद्वदता नृपेण तनया नाऽपृच्छिलज्जाऽऽपदं,
यन्मोहः स्मरभूरकल्पि वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः ।
यच्चाशीःकपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना,
तन्मत्वाऽऽलिजनो मनोऽब्धिमतनोदानन्दमन्दाक्षयोः ॥ १२२ ॥

अन्वयः—एवं वदता नृपेण तनया लज्जापदं यत् न अपृच्छि । मोहः वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः यत् स्मरभूः अकल्पि । तत्र सदृशी या सान्त्वना स्यात्, यत् आशीःकपटात् अवादि । तत् मत्त्वा आलिवर्गः मनः आनन्दमन्दाक्षयोः अब्धिम् अतनोत् ।

व्याख्या—एवम्=इत्थं, वदता=कथयता, नृपेण=राज्ञा भीमेन, तनया=पुत्री दमयन्ती, लज्जापदं=व्रीडाहेतुं, "लज्जाऽऽस्पदम्" इति पाठान्तरे व्रीडास्थानमित्यर्थः । यत्, न अपृच्छि=न पृष्टा । ज्ञातांऽशे प्रश्नाऽयोगादिति भावः । मोहः=मूर्च्छा च, वपुषः=शरीरस्य, पाण्डुत्वतापादिभिः=पाण्डुरत्वसन्तापादिभिः, यत्, कामजः=स्मरजन्यः, अकल्पि=कल्पितः, तत्र=तस्यां, तनयायां दमयन्त्याम् । सदृशी=अनुरूपा, या सान्त्वना=लालनोक्तिः, स्यात्=भवेत् । यत् आशीःकपटात्=आशीर्वादव्याजात्, "दयितमभिमतम्" इत्यादिरूपादिति भावः । अवादि=उक्तम् । तत्=सकलं, मत्त्वा=आलोच्य, आलिवर्गः=सखीसमूहः, मनः=स्वचित्तम्, आनन्दमन्दाक्षयोः=हर्षलज्जयोः, अब्धि=समुद्रम्, अतनोत्=कृतवान्, स्वचित्तं लज्जाऽऽनन्दसागरं विहितवानिति भावः । स्वेष्टसिद्धेरानन्दः, स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जेति रहस्यम् ।

अनुवाद—ऐसा कहनेवाले राजाने पुत्री दमयन्तीसे जो लज्जाका कारण नहीं पूछा और मूर्च्छाको शरीरकी पाण्डुता और ताप आदिसे जो कामजन्य समझ लिया । पुत्रीमें अनुरूप जो सान्त्वना हो जाय और जो आशीर्वादके बहानेसे कहा । उन सबको जानकर दमयन्तीकी सखियोंने अपने मनको आनन्द और लज्जाका समुद्र बना डाला ।

टिप्पणी—वदता=वद+लट् (शतृ)+टा । लज्जापदं=लज्जायाः पदम् (ष० त०) । अपृच्छि=प्रच्छ धातुके दुहादिगणमें पढ़े जानेसे अप्रधान कर्ममें लुङ् । पाण्डुत्वतापादिभिः=पाण्डु+त्व । पाण्डुत्वं च तापश्च (द्वन्द्वः) । तौ आदी येषां ते, तैः (बहु०) । स्मरभूः=स्मर+भू+क्विप् (उपपद०) । अकल्पि=कृप्+लुङ् (कर्ममें)+त । आशीःकपटात्=आशिषः कपटः, तस्मात् (ष० त०) । अवादि=वद+लुङ् (कर्ममें)+त । आलिवर्गः=आलीनां वर्गः (ष० त०) । आनन्दमन्दाक्षयोः=

आनन्दश्च मन्दाक्षं च, तयोः (द्वन्द्व०)। सखियोंको अभीष्टकी सिद्धिसे आनन्द और रहस्यके प्रकाशनसे लज्जा हुई, यह तात्पर्य है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १२३ ॥

॥ इति नैषधीयचरिते महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥

अन्वयः— कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षसुतं सुषुवे। स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातरि नलस्य चरिते अत्र तन्महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलः अयं तुर्यः सर्गः व्यगलत्।

व्याख्या—प्रायो व्याख्यातपूर्वत्वात् संक्षेपेण व्याख्यायते। पूर्वार्द्धं पूर्ववद्व्याख्येयम्। स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातरि=स्थैर्यविचारणप्रकरणसोदरे, नलस्य =नैषधस्य, चरिते=चरित्रे, अत्र=अस्मिन्, तन्महाकाव्ये=श्रीहर्षमहाकाव्ये, निसर्गोज्ज्वलः=स्वभावनिर्मलः, अयं=पुरःस्थितः, तुर्यः=चतुर्थः, सर्गः= अध्यायः, व्यगलत्=समाप्तः।

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया। "स्थैर्यविचारण" नामक प्रकरणका सहोदर, नलके चरित्ररूप श्रीहर्षके इस महाकाव्यमें स्वभावसे उज्ज्वल यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

टिप्पणी—स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातरि=स्थैर्यस्य विचारणं (ष० त०), तच्च तत् प्रकरणम् (क० धा०)। कविराज राजशेखरने "शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम्" अर्थात् शास्त्रके एकदेशकी प्रक्रियाका "प्रकरण" ऐसा लक्षण किया है। स्थैर्यविचारणप्रकरणस्य भ्राता, तस्मिन् (ष० त०)। स्थैर्यविचारण और नैषधीयचरित दोनोंको श्रीहर्षने बनाया, इसलिए वे दोनों ग्रन्थ भ्राता हुए, यह तात्पर्य है। तन्महाकाव्ये=तस्य महाकाव्यं, तस्मिन् (ष० त०)। निसर्गोज्ज्वलः=निसर्गेण उज्ज्वलः (तृ० त०)। तुर्यः=चतुर्णां पूरणः, चतुर् शब्दसे "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इस वार्तिकसे यत् प्रत्यय और प्रथम अक्षर (च) का लोप। व्यगलत्=वि+गल+लङ्+तिप्। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

॥ इति श्रीनैषधीयचरितमहाकाव्यव्याख्यायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां चतुर्थः सर्गः ॥

॥ शुभमस्तु ॥

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

—:०:—

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः ।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

अमन्दमानन्दकदम्बबिम्बं सच्चित्स्वरूपं वसुदेवसूनुम् ।
भवत्यैकगम्यं करुणासनाथं गोविन्दसंज्ञं प्रभमानतोऽस्मि ॥

अन्वयः—अथ स महीन्द्रः स्वयंवरमहाय नरेन्द्रान् यावत् आगमयते, तावत् एव ऋषिः नारदः इन्द्रदिदृक्षुः (सन्) त्रिदशधाम जगाम ।

अथ भैमीस्वयंवरे इन्द्राद्यागमनं वक्तुं तदुपयोगितया नारदस्य इन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति ।

व्याख्या—अथ=भैमीसमाश्वासनाऽनन्तरं, सः=प्रसिद्धः, महीन्द्रः=भूपतिः, भीमः । स्वयंवरमहाय=स्वयंवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्=राज्ञः, यावत्=यत्कालपर्यन्तम्, आगमयते=प्रतीक्षते आनाययते वा । तावत् एव=तत्कालम् एव, ऋषिः=सत्यवचनः, देवर्षिः, नारदः=ब्रह्मपुत्रः, इन्द्रदिदृक्षुः=शक्रदर्शनेच्छुः सन्, त्रिदशधाम=सुरलोकं प्रति, जगाम=गतः ।

अनुवाद—भैमीको आश्वासन देनेके अनन्तर महाराज भीम स्वयंवरके उत्सवके लिए जबतक राजाओंकी प्रतीक्षा करते थे, तबतक ही देवर्षि नारद इन्द्रके दर्शनकी इच्छा करते हुए स्वर्ग लोकमें गये ।

टिप्पणी—महीन्द्रः=मह्या इन्द्रः (ष० त०) । स्वयंवरमहाय=स्वयंवर एव महः, तस्मै (रूपक०) । नरेन्द्रान्=नराणाम् इन्द्राः, तान् (ष० त०) ।

आगमयते=आङ्+गम्+णिच्+लट्+त। "आगमेः क्षमायाम्" इस वार्तिकसे आत्मनेपद। काशिकाकारने क्षमाका उपेक्षा कालहरण, ऐसा अर्थ किया है। ऋषिः="ऋषयः सत्यवचसः" इत्यमरः। वेदमन्त्रका साक्षात्कार करनेवालेको "ऋषि" कहते हैं। नारद देवताओंके ऋषि होनेसे "देवर्षि" कहे जाते हैं। "एव ऋषिः" यहाँपर "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे सन्धिका अभाव। इन्द्रदिदृक्षुः=इन्द्रस्य दिदृक्षुः (ष० त०)। यहाँपर कारक-षष्ठी नहीं है, शेषषष्ठी है। त्रिदशधाम=त्रिदशानां धाम, तत् (ष० त०)। जगाम=गम्+लिट्+तिप्। इस सर्गमें स्वागता छन्द है, उसका लक्षण है—

"स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम्।" इति ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु तं प्रययौ यत् पर्वतः खलु तस्य सपक्षः।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गगनं विललङ्घे ॥ २ ॥

अन्वयः—पर्वतः तम् अनु यत् प्रययौ, अत्र चित्रं न। स तस्य सपक्षः खलु। (किन्तु) जगतः उच्चैः गुरुः नारदस्तु यत् गगनं विललङ्घे (तत्) विस्मयाय।

व्याख्या—अथ षड्भिः पद्यैर्नारदस्य गमनप्रकारं वर्णयति–नाऽत्रेति। पर्वतः=नारदसखो मुनिः, शैलश्च। तं=नारदम्, अनु=पश्चात्, प्रययौ=जगाम, अत्र=अस्मिन् विषये, चित्रं न=आश्चर्यं न। कुतः इत्याह—सः=पर्वतः, तस्य=नारदस्य, सपक्षः=सखा, पक्षवांश्च। खलु=निश्चयेन, पर्वतस्य नारदमित्रत्वाच्छैलत्वाच्च नारदाऽनुयाने आश्चर्यं नेति भावः। किं तु—जगतः=लोकस्य, उच्चैः=उन्नतः, गुरुः=आचार्यः, तस्मादलघुश्च तादृशो नारदस्तु, यत् गगनम्=आकाशं, विललङ्घे=लङ्घयामास, तत्=लङ्घनं, विस्मयाय=आश्चर्याय, भवतीत्यर्थः।

अनुवाद—पर्वत ऋषि, नारदके पिछे जो गये, इसमें आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वे उन (नारद) के सपक्ष मित्र अथवा पंखवाले हैं। किन्तु लोकके महान् आचार्य नारदजीने जो आकाशको लङ्घन किया, वह आश्चर्यके लिए है।

टिप्पणी—पर्वतः="पर्वतः शैलदेवर्ष्योः" इति विश्वः। सपक्षः=पक्षेण सहितः (तुल्ययोगबहु०)। विस्मयाय="तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इससे चतुर्थी, अथवा "क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी। पतनके योग्य

नारदरूप गुरुद्रव्यका उत्पतन (उड़ना) विरुद्ध है, ऐसे श्लेषसे उत्थापित विरोध अलङ्कार है ॥ २ ॥

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे ।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां, योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः ॥ ३ ॥

अन्वयः—पथि विमानं विना एव गच्छता तेन मुनिना व्योम विजगाहे । हि साधने नियमः अन्यजनानां, योगिनां तु तपसा अखिलसिद्धिः ।

व्याख्या—पथि = मार्गे, विमानं विना एव=व्योमयानं विना एव, गच्छता =व्रजता, तेन=पूर्वोक्तेन, मुनिना=नारदेन, व्योम=आकाशं, विजगाहे= प्रविष्टम्, उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—साधन इति । हि=यस्मात्कारणात्, साधने=उपाये, नियमः=अवश्यम्भावः । अन्यजनानाम्=अपरजनानाम्, अस्मदादीनामिति भावः । योगिनां तु=तपोयोगयुक्तानां तु, तपसा=तपो-धर्मेण, अखिलसिद्धिः=सर्वकार्यसिद्धिः । तस्मान्नारदसदृशानां योगिनां किं विमानेनेति भावः ।

अनुवाद—मार्गमें विमानके बिना ही जाते हुए नारद मुनिने आकाशमें प्रवेश किया, क्योंकि उपायमें और लोगोंकी आवश्यकता है, योगियोंको तो तपस्यासे ही सब कार्योंमें सिद्धि होती है ।

टिप्पणी—विजगाहे=वि + गाह + लिट् (कर्ममें) + त । अन्यजनानाम्= अन्ये च ते जनाः, तेषाम् (क० धा०) । योगिनां=युज् + घिनुण् + आम् । अखिलसिद्धिः=अखिलानां सिद्धिः (ष० त०) । इस पद्यमें सामान्यसे विशेष-का समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाल्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान् ।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरङ्घ्रिविनम्रैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—एष मुनिः खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान् विमानान् लङ्घते स्म । अङ्घ्रिविनम्रैः तत्पतिभिः अर्थितः अपि अतिथितां नैव अनुमेने ।

व्याख्या—एषः=नारदः, खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान्=निरस्तपुरन्दर-सदनाद्यहङ्कारान्, विमानान्=देवगृहान्, लङ्घते स्म=अतिचक्राम । किं बहुना—अङ्घ्रिविनम्रैः=चरणनिपतितैः, तत्पतिभिः=विमानाऽध्युषितैर्देवैः, अर्थितः अपि=प्रार्थितः अपि, अतिथिताम्=आतिथ्यं, नैव अनुमेने= नैव स्वीचकार, एतन्मात्रविलम्बं च न सोढवानिति भावः ।

अनुवाद—नारदजीने इन्द्रभवन आदिके अहङ्कारको दूर करनेवाले देवगृहोंको लङ्घन किया। चरणमें झुकनेवाले उन भवनोंके स्वामियोंके प्रार्थना करनेपर भी उन्होंने उनके आतिथ्यको स्वीकार नहीं किया।

टिप्पणी—खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान्=इन्द्रस्य भवनम् (ष० त०), इन्द्रभवनम् आदिर्येषां ते (बहु०), तेषाम् अभिमानः (ष० त०), खण्डित इन्द्रभवनाद्यभिमानो यैस्ते, तान् (बहु०)। अङ्घ्रिविनम्रैः=अङ्घ्र्योः विनम्राः, तैः (स० त०)। तत्पतिभिः=तेषां पतयः, तैः (ष० त०)। अतिथिताम्=अतिथि+तल्+टाप्+अम्। अनुमेने=अनु+मन+लिट्+त ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपनः स्वं तावदेव समकोचयदर्चिः।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागतप्यत न तन्महसैव ॥ ५ ॥

अन्वयः—तपनः तस्य तापनभिया स्वम् अर्चिः तावत् एव समकोचयत्। यावत् एष दिवसेन शशी इव तन्महसा एव द्राक् न अतप्यत।

व्याख्या—तपनः=सूर्यः, तस्य=मुनेः, नारदस्य। तापनभिया=सन्तापनभयेन, स्वम्=आत्मीयम्, अर्चिः=तेजः, तावत् एव=तत्परिमाणम् एव, समकोचयत्=सङ्कोचितवान्। यावत्=यत्परिमाणम्, एषः=तपनः, दिवसेन=दिनेन, दिनतेजसेत्यर्थः, शशी इव=चन्द्र इव, तन्महसा एव=मुनितेजसा एव, द्राक्=सपदि, न अतप्यत=सन्तप्तोऽभूत्।

अनुवाद—सूर्यने नारद मुनिके तापके भयसे अपने तेजको उस परिमाणतक संकुचित कर डाला, जिस परिमाणसे सूर्य दिनसे चन्द्रमाके समान मुनिके तेजसे ही शीघ्र सन्तप्त नहीं हुए।

टिप्पणी—तापनभिया=तापनात् भीः, तया (प० त०)। समकोचयत्=सं+कुच+णिच्+लङ्+त। तन्महसा=तस्य महः, तेन (ष० त०)। मुनिको संतप्त करानेसे अपने तेजको संकुचित करना अच्छा है, ऐसा समझकर सूर्य मन्द प्रकाशवाले हो गये, यह अर्थ है। सूर्यसे भी मुनि तेजस्वी हैं, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ५ ॥

पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह! तेन तदा तम्।
पर्यभूत खलु करैर्द्विजराजः, कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ॥ ६ ॥

अन्वयः—दिनमणिः द्विजराजं करैः यत् पर्यभूत्। तेन तदा तं द्विजराजः करैः पर्यभूत्। अहह! तथाहि—अत्र कः स्वकृतं कर्म न भुङ्क्ते?

व्याख्या—दिनमणिः=सूर्यः, द्विजराजं=चन्द्रं ब्राह्मणोत्तमं च, करैः=किरणैः, हस्तैश्च, यत् पर्यभूत्=परिभूतवान् । अहह !=अद्भुतम् ! तथा हि—अत्र=संसारे, कः=जनः, स्वकृतम्=निजविहितं, कर्म=क्रियां, न भुङ्क्ते ?=न अनुभवति ?

अनुवाद—सूर्यने द्विजराज=चन्द्र वा श्रेष्ठ ब्राह्मणको किरणोंसे अथवा हाथोंसे जो परिभूत किया, उस कारणसे उस समय उन(सूर्य)को द्विजराज श्रेष्ठ ब्राह्मण और चन्द्रमाने करों(किरणों वा हाथों)से परिभूत किया। इस संसारमें कौन अपने किये गये कर्मका फल नहीं भोगता है ?

टिप्पणी—दिनमणिः=दिनस्य मणिः (ष० त०)। द्विजराजं=द्विजानां राजा, तम् (ष० त०)। करैः="बलिहस्तांऽशवः करा" इत्यमरः। पर्यभूत्=परि+भू+लुङ्+तिप्। अहह="अहहेत्यद्भुते खेदे" इत्यमरः। स्वकृतं=स्वेन कृतं, तत् (तृ० त०)। सब कोई अपने किये गये कर्मका फल भोगता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ६ ॥

विष्टरं तटकुशाऽऽलिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभिः ।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदिताऽतिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ स्वर्गसिन्धुः अतिथये अस्मै तटकुशाऽऽलिभिः विष्टरम्, अद्भिः पाद्यं, कच्छरुहाभिः अर्घ्यं, पद्मवृन्दमधुभिः मधुपर्कं च अदित।

व्याख्या—अथ=अनन्तरं, स्वर्गसिन्धुः=मन्दाकिनी, अतिथये=आगन्तवे, अस्मै=नारदाय, तटकुशाऽऽलिभिः=तीरदर्भाऽऽवलिभिः, विष्टरम्=आसनम्, अद्भिः=जलेन, पाद्यं=पादाऽर्थं जलं, कच्छरुहाभिः=जलप्रायभूम्युत्पन्नाभिर्लताभिः, अर्घ्यं=पूजार्थं पुष्पफलादिः, पद्मवृन्दमधुभिः=कमलसमूहमकरन्दैः, मधुपर्कं च=दधिमधुघृतं च, अदित=दत्तवती।

अनुवाद—तब मन्दाकिनीने अतिथि नारदको तीरके कुशोंसे आसन, जलसे पाद्य (पैर धोनेके लिए जल), जलप्राय देशमें उत्पन्न होनेवाली लताओंसे अर्घ्य (पूजाके लिए पुष्प और फल आदि) और कमलोंके मधुओं(मकरन्दों)-से मधुपर्क दे दिया।

टिप्पणी—स्वर्गसिन्धुः=स्वर्गस्य सिन्धुः (ष० त०)। तटकुशाऽऽलिभिः=तटे कुशानि (स० त०), तेषाम् आलयः, ताभिः (ष० त०)। विष्टरं=विस्तीर्यते इति विष्टरः, तम्, वि+स्तृञ्+अप्। "वृक्षाऽऽसनयोर्विष्टरः" इस सूत्रसे षत्वनिपात। "विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्" इत्यमरः।

पाद्यं=पादाऽर्थमुदकं, "पादाऽर्घाभ्यां च" इस सूत्रसे पाद+यत्। कच्छरुहाभिः=कच्छे रोहन्तीति कच्छरुहाः, ताभिः, कच्छ+रुह+क+टाप्+भिस् (उपपद०)। अर्घ्यम्=अर्घाऽर्थमुदकम्, पूर्वसूत्रसे अर्घ+यत्। पद्मवृन्दमधुभिः=पद्मानां वृन्दं (ष० त०), तस्य मधूनि, तैः (ष० त०)। मधुपर्कम्=दही, शहद और गायके घीको "मधुपर्क" कहते हैं। मन्दाकिनीने अतिथिसत्कारके तौरपर नारदमुनिको मधुपर्कके स्थानमें कमलोंके मकरन्दको अर्पण किया, यह भाव है। अदित=(डु) दाञ्+लुङ्+त। इस पद्यमें दीपक अलङ्कार है ॥ ७ ॥

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥ ८ ॥

अन्वयः—सः अगाधं वियदन्तः व्यतीत्य यती अनादिं भवसिन्धुं सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु ब्रह्म इव नाकनायकनिकेतनम् आप।

व्याख्या——सः=नारदः, अगाधं=विशालं, वियदन्तः=आकाशाऽभ्यन्तरं, व्यतीत्य=अतिक्रम्य, यती=योगी, अनादिम्=आदिरहितं, प्रवाहनित्यमिति भावः। भवसिन्धुं=संसारसमुद्रं, सम्प्रतीर्य=सम्यक् तीर्त्वा, शर्मभरचारु=परमानन्दसुन्दरं, ब्रह्म इव=परमात्मानम् इव, नाकनायकनिकेतनं=इन्द्रभवनं, वैजयन्तमिति भावः। आप=प्राप्तवान्।

अनुवाद—नारदने विशाल आकाशके अभ्यन्तर भागको पार कर जैसे योगी आदि-अन्तसे रहित संसारसमुद्रको पार कर परम आनन्दसे सुन्दर ब्रह्म-(परमात्मा)को प्राप्त करता है, उसी तरह इन्द्रके भवन(वैजयन्त)को प्राप्त किया।

टिप्पणी—वियदन्तः=वियतः अन्तः, तत् (ष० त०)। व्यतीत्य=वि+अति+इण्+क्त्वा (ल्यप्)। अनादिम्=अविद्यमानः आदिः यस्य सः, तम् (नञ्बहु०)। भवसिन्धुं=भव एव सिन्धुः, तम् (रूपक०)। सम्प्रतीर्य=सं+प्र+तॄ+क्त्वा (ल्यप्)। शर्मभरचारु=शर्मणः भरः (ष० त०), तेन चारु, तत् (तृ० त०)। नाकनायकनिकेतनं=नाकस्य (स्वर्गस्य) नायकः (ष० त०), तस्य निकेतनं, तत् (ष० त०)। आप=आप्+लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृताऽतिथिमिन्द्रः।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये, न गुणाय ॥ ९ ॥

अन्वयः—इन्द्रः तम् अतिथिम् उचितोच्चतराभिः अर्चनाभिः चारु सदकृत। यावदर्हकरणं साधोः प्रत्यवायधुतये, गुणाय न किल।

व्याख्या—इन्द्रः=शक्रः, तं=पूर्वोक्तम्, अतिथिम्=आगन्तुं, नारदमिति भावः। उचितोच्चतराभिः=उचितात् (विहितात्) उच्चतराभिः (अधिकाभिः), अर्चनाभिः=पूजाभिः, चारु=शोभनं यथा तथा, सदकृत=सत्कृतवान्, नारदस्य अधिकं सत्कारं कृतवानिति भावः। अधिकाऽऽचरणे कारणमाह–यावदर्हकरणमिति। यावदर्हस्य (यावदुक्तस्य), करणम् (आचरणम्), साधोः=शिष्टस्य, प्रत्यवायधुतये = अकरणदोषनिवारणाय एव, गुणाय=उत्कर्षाय, न=नो वर्तते, किल=निश्चयेन।

अनुवाद—इन्द्रने अतिथि नारदका उचितसे भी अधिक पूजाओंसे अच्छी तरहसे सत्कार किया, क्योंकि जितना चाहिए उतना ही करना शिष्टोंको केवल प्रत्यवाय हटानेके लिए होता है, उत्कर्षके लिए नहीं।

टिप्पणी—उचितोच्चतराभिः=अतिशयेन उच्चा उच्चतराः (उच्च+तरप्+टाप्), उचितात् उच्चतराः, ताभिः (प० त०)। सदकृत=सत्+कृ+लुङ्+त (कर्तामें), "आदराऽनादरयोः सदसती" इससे निपातन होनेसे "सत्" शब्दका पूर्वप्रयोग हुआ है। यावदर्हकरणं=यावान् अर्हो यावदर्हं, 'यावदवधारणे" इस सूत्रसे अव्ययीभाव। यावदर्हस्य करणम् (ष० त०)। प्रत्यवायधुतये=प्रत्यवायस्य धुतिः, तस्यै (ष० त०)। अतिथिकी पूजा आदिसे जितना सम्मान करना चाहिए, उतना करनेसे, केवल न करनेसे होनेवाले प्रत्यवाय (प्रायश्चित्तीयता) का परिहार होता है, उत्कर्षके लिए नहीं होता है, अतः इन्द्रने उचितसे भी अधिक नारदकी पूजा की, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥ ९॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिरथाद्रियत द्राक्।
पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विजः स विबुधाऽधिपलम्भी॥ १०॥

अन्वयः—अथ अद्रिभित् अद्रेः नामधेयसमतासखं मुनिं द्राक् आद्रियत। पर्वतोऽपि स द्विजः विबुधाऽधिपलम्भी (सन्) कथम् अर्चां न लभताम्?

व्याख्या—अथ=नारदसत्काराऽनन्तरम्, अद्रिभित्=इन्द्रः, अद्रेः=पर्वतस्य, नामधेयसमतासखं=नामसाम्यमित्रं, मुनिं=पर्वतं, द्राक्=शीघ्रम्, आद्रियत=सत्कृतवान्। पर्वतः पर्वताऽरेः (इन्द्रस्य) कथं सत्कारं प्राप्तवानित्याह–पर्वतोऽपीति। पर्वतोऽपि = पर्वतनामधेयोऽपि, सः = पूर्वोक्तः, द्विजः = ब्राह्मणः,

विबुधाऽधिपलम्भी=देवेन्द्रप्रापी सन्, कथं=केन प्रकारेण, अर्चां=पूजां, न लभतां=नो प्राप्नोतु, लभतामेवेति भावः।

अनुवाद—नारदका सत्कार करनेके अनन्तर इन्द्रने पर्वतके समान नामवाले पर्वत मुनिका शीघ्र सत्कार किया। पर्वत नामवाले होकर भी वे ब्राह्मण इन्द्रको प्राप्त करनेपर क्यों सत्कारको प्राप्त न करें? (करेंगे ही)।

टिप्पणी—अद्रिभित्=अद्रिं भिनत्तीति, अद्रि+भिद्+क्विप्+सुः। नामधेयसमतासखं=नाम एव नामधेयम्, नाम शब्दसे "वा भागरूपनामभ्यो धेयः" इससे स्वार्थ(प्रकृत्यर्थ)में धेयप्रत्यय। समस्य भावः समता, सम+तल्+टाप्, नामधेयेन समता सखा नामधेयसमतासखः (तृ० त०)। तस्याः (ष० त०), "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासान्त टच्। आद्रियत=आङ्+दृङ्+लङ्+त। विबुधाऽधिपलम्भी=विबुधानाम् अधिपः (ष०त०), "विबुधः पण्डिते देवे" इति विश्वः। विबुधाऽधिपं लभते इति, विबुधाऽधिप+लभ+णिनि (उपपद०)+सु। लभतां = लभ+लोट्+त। अभ्यागत "ब्राह्मण विवेकी शत्रुसे भी पूजाको प्राप्त करते हैं, यह भाव है॥ १०॥

तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद् द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः।
स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान्॥ ११॥

अन्वयः—मुनीन्द्रः तान् द्योद्रुमान् अपि अतिवितीर्णसपर्यात् तद्भुजात् (गुरोः) स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया दानपारमितया एव वदान्यान् विवेद।

व्याख्या—मुनीन्द्रः= नारदः, तान्=प्रसिद्धान्, द्योद्रुमान् अपि=कल्पवृक्षान् अपि, अतिवितीर्णसपर्यात्=अतिशयदत्तपूजनात्, तद्भुजात्=इन्द्रहस्ताद् एव (गुरोः), स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया=स्वर्गसहवासस्वभ्यस्तया, दानपारमितया एव="दानपारमिता"ऽऽख्यग्रन्थविशेषेण एव, कारणेन, वदान्यान्=बहुप्रदान् विवेद=ज्ञातवान्।

अनुवाद—नारदने प्रसिद्ध कल्पवृक्षोंको भी, अत्यन्त पूजा करनेवाले इन्द्रके बाहुरूप गुरुसे स्वर्गमें साथ-साथ रहनेसे सुशिक्षित 'दानपारमिता" नामक ग्रन्थसे ही अधिक दान करनेवाला जाना।

टिप्पणी—मुनीन्द्रः=मुनीनाम् इन्द्रः (ष० त०)। द्योद्रुमान्=द्योः द्रुमाः, तान् (ष० त०)। अतिवितीर्णसपर्यात्=अत्यन्तं वितीर्णा (सुप्सुपा०), अतिवितीर्णा सपर्या येन अतिवितीर्णसपर्यः, तस्मात् (बहु०)। स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया = स्वः सहस्थितिः (स० त०), तया सुशिक्षिता, तया

(तृ० त०)। वदान्यान्="स्युर्वदान्यस्थूललक्षदानशौण्डा बहुप्रदे" इत्यमरः। विवेद=विद्+लिट्+तिप् (णल्)। नारदने इन्द्रके हाथको "यह कल्पवृक्षों-को भी दानविद्याका उपदेश करनेवाला है" ऐसा जान लिया। "इन्द्रकी उदारता कल्पवृक्षको भी मात करनेवाली है" यह भाव है ॥ ११ ॥

मुद्रिताऽन्यजनसङ्कथनः सन्नारदं बलरिपुः समवादीत्।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः ॥ १२ ॥

अन्वयः—बलरिपुः मुद्रिताऽन्यजनसङ्कथनः सन् नारदं समवादीत्, हि प्रायशः सुहृदोः सहवासः स्वपरभूरिकथानाम् आकरः।

व्याख्या—बलरिपुः=बलाऽरातिः, इन्द्र इत्यर्थः। मुद्रिताऽन्यजनसङ्कथनः सन्=निवारितेतरलोकाऽऽलापः सन्, नारदं=देवर्षि, समवादीत्=समवोचत्। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—आकर इति। हि=यस्मात्कारणात्, प्रायशः=बाहुल्येन, सुहृदोः=मित्रयोः, सहवासः=सङ्गमः, स्वपरभूरिकथा-नाम्=आत्मीयाऽन्यबहुवार्तानाम्, आकरः=खनिः।

अनुवाद—इन्द्रने अन्य व्यक्तिसे बातचीत रोककर नारदजीसे वार्तालाप किया, क्योंकि अकसर दो मित्रोंका संगम अपने और दूसरोंके बहुतसे वृत्तान्तों-का खान होता है।

टिप्पणी—बलरिपुः=बलस्य रिपुः (ष० त०), "बलाऽरातिः शचीपतिः" इत्यमरः। मुद्रिताऽन्यजनसंकथनः=अन्यश्चाऽसौ जनः (क० धा०), तेन संकथनम् (तृ० त०), मुद्रितम् अन्यजनसंकथनं येन सः (बहु०)। समवा-दीत्=सम्+वद+लुङ्+तिप। प्रायशः=प्राय+शस्। सुहृदयोः=शोभनं हृदयं ययोस्तौ, तयोः (बहु०)। सहवासः=सह+वस्+घञ्। स्वपरभूरि-कथानां=भूरयश्च ताः कथाः (क० धा०), स्वे च परे च (द्वन्द्वः), स्वपरेषां भूरिकथाः, तासाम् (ष० त०)। आकरः="खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्" इत्यमरः। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १२ ॥

तं कथाऽनुकथनप्रसृतायां दूरमालपनकौतुकितायाम्।
भूभृतां चिरमनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्युः ॥ १३ ॥

अन्वयः—शतमन्युः आलपनकौतुकितायां दूरं कथाऽनुकथनप्रसृतायां (सत्याम्) चिरं भूभृताम् अनागमहेतुं ज्ञातुम् इच्छुः (सन्) तम् अवदत्।

व्याख्या—शतमन्युः = इन्द्रः, आलपनकौतुकितायाम् = आभाषणोत्कण्ठायां, दूरं = विप्रकृष्टं, कथाऽनुकथनप्रसृतायाम् = वचनाऽनुवचनविस्तृतायां सत्याम्, चिरं = बहुकालात्प्रभृति, भूभृतां = राज्ञाम्, अनागमहेतुम् = अनागमनकारणं, ज्ञातुं = वेत्तुम्, इच्छुः = अभिलाषुकः सन्, तं = नारदम्, अवदत् = उक्तवान्, अपृच्छदिति भावः ।

अनुवाद—इन्द्रने आभाषण(बातचीत)की उत्कण्ठाकी उक्ति और प्रत्युक्तिसे दूरतक बढ़नेपर बहुत कालसे राजाओंके न आनेके कारणको जानने-की इच्छा करते हुए उन(नारद)से कहा ।

टिप्पणी—शतमन्युः = शतं मन्यवः (यज्ञाः) यस्य सः (बहु०)। "मन्युर्दैन्ये क्रतौ युधि" इत्यमरः । आलपनकौतुकितायाम् = कौतुकम् अस्याऽस्तीति कौतुकी, कौतुक + इनिः, कौतुकिनो भावः, कौतुकिन् + तल् + टाप्, आलपनस्य कौतुकिता, तस्याम् (ष० त०) । कथाऽनुकथनप्रसृतायां = कथा च अनुकथनं च (द्वन्द्वः), कथाऽनुकथनाभ्यां प्रसृता, तस्याम् (तृ० त०) । भूभृतां = भुवं बिभ्रति भूभृतः, तेषाम्, भू + भृ + क्विप् + आम् (उपपद०) । अनागमहेतुम् = न आगमः (नञ्०), तस्य हेतुः, तम् (ष० त०) । अवदत् = वद + लङ् + तिप् ॥ १३ ॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशाः किं नु सम्प्रति न वीरकरीरान् ?
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षताः क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

अन्वयः—नृपवंशाः प्राक् इव सम्प्रति वीरकरीरान् किं न प्रसुवते नु ? ये परिणामे परप्रहरणैः विक्षताः (सन्तः) क्षितितले निपतन्ति ।

व्याख्या—नृपवंशाः = राजकुलानि, नृपरूपा वंशाश्च, प्राक् इव = पूर्वम् इव, सम्प्रति = इदानीं, वीरकरीरान् = वीराङ्कुरान्, किं न प्रसुवते नु ? = किं नो जनयन्ति नु ? ये = वीरकरीराः, परिणामे = वृद्धाऽवस्थायां, परप्रहरणैः = शत्रुशस्त्रैः, अन्यदात्रादिभिश्च, विक्षताः = हताः, आहताश्च सन्तः, क्षिति-तले = भूतले, निपतन्ति = निपतिता भवन्ति, न तु रोगादिनेति भावः ।

अनुवाद—राजाओंके कुल वा श्रेष्ठ वंश, पहलेके समान आजकल वीरोंके अङ्कुरों(पुत्रों)को वा श्रेष्ठ अङ्कुरों(कोंपलों)को क्या उत्पन्न नहीं करते हैं ? जो वीरोंके अङ्कुर (सन्तान) वा श्रेष्ठ वंशोंके अङ्कुर (कोंपल) परिपक्व अवस्था(वृद्धावस्था वा जीर्ण अवस्था)में शत्रुओंके हथियारोंसे वा अन्योंकी कुल्हाड़ी आदिसे ताडित होकर भूतलमें गिर पड़ते हैं ।

टिप्पणी—नृपवंशाः=नृपाणां वंशाः (ष० त०)। वंशके पक्षमें नृपा एव वंशाः (रूपक०)। "द्वौ वंशौ कुलमस्करौ" इत्यमरः। वीरकरीरान्=वीरा एव करीराः, तान् (रूपक०), "वंशाऽङ्कुरे करीरोऽस्त्री" इत्यमरः। प्रसुवते= प्र+षूङ्+लट्+झ। परप्रहरणैः=परेषां प्रहरणानि, तैः (ष० त०)। विक्षताः=वि + क्षण + क्त + जस्। क्षितितले=क्षितेस्तलं, तस्मिन् (ष० त०), निपतन्ति=नि+पत्+लट्+झि। इस पद्यमें रूपक और श्लेषका सङ्कर है ॥ १४ ॥

पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि।
गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—वीराः पार्थिवं गौरवात् ऊर्ध्वगमनस्य दूरं विरोधि निजं वपुः आजिषु अपास्य मत्कृताम् अतिथिगौरवऋद्धिं भजन्ते हि।

व्याख्या—वीराः=शूराः, पूर्वोक्ता रणपातिन इति भावः। पार्थिवं= पृथ्वीविकारम्, अत एव गौरवात्=गुरुत्वगुणयोगित्वात्, ऊर्ध्वगमनस्य= उत्पतनकर्मणः पार्थिवत्वात् ऊर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरम्=अत्यन्तं, विरोधि=प्रति- बन्धकं, निजं=स्वकीयं, वपुः=शरीरम्, आजिषु=युद्धेषु, अपास्य=त्यक्त्वा, मत्कृतां=मद्विहिताम्, अतिथिगौरवऋद्धिम्=आगन्तुकसत्कारसमृद्धिं, भजन्ते= प्राप्नुवन्ति, तादृशवीराऽप्राप्तौ ममाऽतिथिलाभो न स्यादिति भावः।

अनुवाद—वीर राजा लोग पृथिवीके विकारभूत अतएव गुरु (वजनदार) होनेसे ऊपर जानेमें वा ऊर्ध्वलोकमें जानेमें अत्यन्त प्रतिबन्धक अपने शरीरको संग्राममें छोड़कर मुझसे किये गये अतिथिसत्कारकी समृद्धिको प्राप्त कर लेते हैं।

टिप्पणी—पार्थिवं=पृथिव्या विकारः, तत्, पृथिवी+अण्+अम्। गौर- वात्=गुरु + अण् + ङसि। ऊर्ध्वगमनस्य=ऊर्ध्वं च तत् गमनं, तस्य (क० धा०)। विरोधि = वि + रुध्+णिनि+अम्। अपास्य=अप+ अस्+क्त्वा (ल्यप्)। मत्कृतां= मया कृता, ताम् (तृ० त०)। अतिथि- गौरवऋद्धिम्=अतिथेः गौरवं (ष० त०), तस्य ऋद्धिः, ताम् (ष० त०), "गौरव+ऋद्धि" यहाँपर "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर् गुण नहीं हुआ। भजन्ते=भज+लट्+झ। पृथिवीका विकारभूत शरीर गुरु होनेसे ऊपर (स्वर्गमें) जानेमें असमर्थ है, इसलिए राजालोग संग्राममें (आहत

होकर मरनेसे) उसे छोड़कर (स्वर्गमें आकर) मेरे आतिथ्यसत्कारकी समृद्धिको प्राप्त करते हैं। कहा भी है—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च, रणे चाऽभिमुखो हतः॥"

अर्थात् योगाभ्यास करनेवाला संन्यासी और सम्मुख युद्धमें जो मारा जाता है, ये दो, लोकमें सूर्यमण्डलका भेदन करनेवाले हैं अर्थात् स्वर्गको प्राप्त होते हैं, यह इस पद्यका तात्पर्य है॥ १५॥

**"साऽभिशापमिव नाऽतिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति।
तेन न श्रियमिमां बहु मन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम्॥ १६॥**

अन्वयः—हे भगवन्! ते अतिथयः साऽभिशापम् इव माम् अद्य यत् न उपयान्ति, तेन स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् इमां श्रियं न बहु मन्ये।

व्याख्या—हे भगवन्=हे मुने! ते=वीराः, अभिमुखयुद्धे प्राणत्यागिन इति शेषः। साऽभिशापम् इव=मिथ्याऽभिशस्तम् इव, मां=देवेन्द्रम्, अद्य=इदानीं, यत्, न उपयान्ति=न प्राप्नुवन्ति। तेन=कारणेन, स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्यां=निजजठरमात्रपोषणकृत्यकृपणाम्, इमाम्=एतां, श्रियं=सम्पत्ति, न बहु मन्ये=न अधिकं विमृशामि, अतिथिसत्काररहितस्य समृद्धस्य समृद्धिनिष्फलता एव क्षतिरिति भावः।

अनुवाद—हे देवर्षे! संग्राममें प्राण छोड़नेवाले वैसे वीर अतिथि, पातक आदिके मिथ्या अभिशापसे युक्तके समान मेरे पास इन दिनों जो नहीं आते हैं, इस कारणसे अपने उदरमात्रके पोषण कार्यसे कृपण इस सम्पत्तिका मैं अधिक सम्मान नहीं करता हूँ।

टिप्पणी—भगवन्=भग+मतुप्+सु (सम्बुद्धिमें)। साऽभिशापम्=अभिशापेन सहितः, तम् (तुल्ययोगबहु०), "अथ मिथ्याऽभिशंसनम्। अभिशापः" इत्यमरः। पातक आदिके झूठे अपवादको "अभिशाप" कहते हैं। उपयान्ति=उप+या+लट्+झिः। स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्यां=स्वस्य उदरम् (ष० त०), एका चाऽसौ भृतिः (क० धा०), स्वोदरस्य एकभृतिः (ष० त०), सा एव कार्यम् (रूपक०), अर्तुं योग्यः अर्यः, "ऋ गतौ" धातुसे "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" इससे स्वामी और वैश्य अर्थमें ण्यत्का अपवाद यत् प्रत्यय। कुत्सितः अर्यः कदर्यः (गति०)। "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इससे 'कु'के स्थानमें "कत्" आदेश। कदर्यका लक्षण है—"आत्मानं धर्मकृत्यं च

पुत्रदारांश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरो भ्रातॄन् स कदर्य इति स्मृतः ।" अर्थात् जो लोभसे अपनेको, धर्मकृत्यको, पुत्र, पत्नी, माता, पिता और भाइयोंको पीडित करे, उसे "कदर्य" कहते हैं। "कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः" इत्यमरः । स्वोदरैकभृतिकार्येण कदर्या, ताम्, (तृ० त०) ॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विपद एव विमृष्टाः ।
पात्रपाणिकमलाऽर्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः ॥ १७ ॥

अन्वयः—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विमृष्टा विपदः एव । तासु आसां पात्रपाणिकमलाऽर्पणम् एव विधिदृष्टः शान्तिकविधिः ।

व्याख्या—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः=पुरातनसुकृतसम्पद्विनियोगप्राप्ताः । सम्पदः=सम्पत्तयः, विमृष्टाः=विचारिताः, विपद एव=विपत्तय एव । तासु=सम्पद्रूपासु विपत्सु, आसां=सम्पदां, पात्रपाणिकमलाऽर्पणम् एव= विद्यादिसम्पन्नकरकमलदानम् एव, विधिदृष्टः=शास्त्राऽवलोकितः, शान्तिक-विधिः=शान्तिकर्माऽनुष्ठानम् ।

अनुवाद—पहलेकी पुण्यसम्पत्तिके व्ययसे प्राप्त सम्पत्तियाँ विचार करने-पर विपत्तियाँ ही हैं। उन सम्पत्तियोंमें उनको सत्पात्रोंके करकमलमें दान करना ही शास्त्रोंमें देखा गया शान्तिकर्मका अनुष्ठान है।

टिप्पणी—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः=पूर्वं च तत्पुण्यम् (क० धा०), तस्य विभवः (ष० त०), तस्य व्ययः (ष० त०), तेन लब्धाः (तृ० त०) । सम्पदः=सम्+पद्+क्विप्+जस् । विमृष्टाः=वि+मृश्+क्त+टाप्+ जस् । विपदः=वि+पद्+क्विप्+जस् । अपने उदयसे पहलेकी पुण्यसम्पत्ति-की नाशक होनेसे सम्पत्तियाँ विपत्तिरूप हैं, यह तात्पर्य है। पात्रपाणि-कमलाऽर्पणं=पाणय एव कमलानि (रूपक०), पात्राणां पाणिकमलानि, (ष० त०), तेषु अर्पणम् (स० त०) । विधिदृष्टः=विधिषु दृष्टः (स० त०) । शान्तिकविधिः=शान्तिकस्य विधिः (ष० त०) । पात्रका लक्षण योगीश्वर याज्ञवल्क्यने किया है—

"न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्" (आचार० २००)

अर्थात् केवल विद्यासे अथवा तपस्यासे पात्रता नहीं होती है, तपस्या और विद्याके साथ जहाँपर सच्चरित्रता भी विद्यमान है, उसे "पात्र" कहते हैं। ऐसे पात्रको पूर्वपुण्यसे प्राप्त सम्पत्तिका वितरण करनेसे उसकी शान्तिविधिका

अनुष्ठान होता है। इससे बीजाङ्कुरन्याय कहा गया। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १७ ॥

तद्विमृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाऽघम्।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः ॥ १८ ॥

अन्वयः—तत् अत्र विषये मम संशयशिल्पि स्फीतम् अघं सहसा विमृज्य भगवतो वाग्भिः श्रुतिसारैः अघमर्षणऋग्भिः भूयताम्।

व्याख्या—तत्=तस्मात्कारणात्, अत्र=अस्मिन्, विषये=अर्थे, मम=इन्द्रस्य, संशयशिल्पि=सन्देहजनकं, स्फीतं=प्रभूतम्, अघं=पापं, मिथ्याज्ञानस्य अघमूलत्वादिति भावः। सहसा=शीघ्रं, विमृज्य=निवर्त्य, भगवतः=देवर्षेर्भवतः, वाग्भिः=वाणीभिः, श्रुतिसारैः=वेदसारैः, कर्णाऽमृतैश्च, अघमर्षणऋग्भिः=अघमर्षणीभिः ऋग्भिः, पापनाशकच्छन्दोमन्त्रैरिति भावः। भूयतां=भूयेत। साम्प्रतं मत्समीपे राज्ञामनागमनकारणं ब्रूहीति भावः।

अनुवाद—उस कारणसे इस विषयमें मेरे सन्देहको उत्पन्न करनेवाले बढ़े हुए पापको शीघ्र हटाकर भगवान् आपकी वाणियाँ, वेदकी सारभूत अथवा कर्णोंको अमृतरूप अघमर्षण ऋचाएँ हो जाये।

टिप्पणी—संशयशिल्पि=शिल्पम् अस्याऽस्तीति शिल्प, शिल्प+इनिः। संशयस्य शिल्पि, तत् (ष० त०), संशयरूप शिल्पको उत्पन्न करनेवाला, यह तात्पर्य है। स्फीतं=स्फायी+क्त+सु। अघं="दुःखैनोव्यसनेष्वघम्" इति वैजयन्ती। विमृज्य=वि+मृज्+क्त्वा (ल्यप्)। श्रुतिसारैः=श्रुतेः साराः, तैः (ष० त०)। अघमर्षणऋग्भिः=अघं (पापम् मर्षयन्तीति अघमर्षण्यः, अघ+मृष्+णिच्+ल्युः (अन)+ङीप् (उपपद०), अघमर्षण्यश्च ता ऋचः (क० धा०), ताभिः, यहाँपर कर्मधारय समास होनेसे "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इस सूत्रसे "पुंवद्भाव" महोपाध्याय मल्लिनाथजीने "स्त्रियाः पुंवत्०" इत्यादिसे जो पुंवद्भाव लिखा है, वह ठीक नहीं है, उक्त सूत्र तो बहुव्रीहि समासमें पुंवद्भाव करता है। "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर्गुण नहीं हुआ। "ऋतं च सत्यं च०" "आयं गो०" "द्रुपदादिव०" इत्यादि ऋचाएँ "अघमर्षणऋचा"के नामसे प्रसिद्ध हैं। आपकी वाणियाँ वेदकी सारभूत अघमर्षण ऋचाओंके समान हों, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें मुनिवचनोंमें आरोप्यमाण अघमर्षणत्वका

प्रस्तुत अघ(पाप)के हरणमें उपयोग होनेसे परिणाम अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"विषयात्मतयाऽऽरोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।
परिणामो भवेत्तुल्याऽतुल्याऽधिकरणो द्विधा ॥" १०-५१ ॥ १८ ॥

इत्युदीर्य मघवा विनयर्द्धि वर्धयन्नवहितत्वभरेण ।
चक्षुषां दशशतीमनिमेषां तस्थिवान्मुनिमुखे प्रणिधाय ॥ १९ ॥

अन्वयः—मघवा इति उदीर्य अवहितत्वभरेण विनयर्द्धि वर्धयन् अनिमेषां चक्षुषां दशशतीं मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् ।

व्याख्या—मघवा=इन्द्रः, इति=पूर्वोक्तम्, उदीर्य=उक्त्वा, अवहितत्वभरेण=एकाग्रताऽतिशयेन, विनयर्द्धि=नम्रताऽतिशयं, वर्धयन्=समर्धयन्, अनिमेषां=निमेषरहितां, चक्षुषां=नेत्राणां, दशशतीं=सहस्रं, मुनिमुखे=नारदवदने, प्रणिधाय=संस्थाप्य, तस्थिवान्=स्थितः ।

अनुवाद—इन्द्र ऐसा कहकर अत्यन्त एकाग्रतासे नम्रताकी समृद्धिको बढाते हुए निर्निमेष हजार नेत्रोंको नारद ऋषिके मुखमें लगाकर स्थित हुए ।

टिप्पणी—उदीर्य=उद्+ईर्+क्त्वा (ल्यप्) । अवहितत्वभरेण=अवहितस्य भावः, अवहित+त्व । अवहितत्वस्य भरः, तेन (ष० त०) । विनयर्द्धि=विनयस्य ऋद्धिः, ताम् (ष० त०) । वर्धयन्=वृध्+णिच्+लट् (शतृ)+सुः । अनिमेषाम्=अविद्यमाना निमेषा यस्यां सा, ताम् (नञ्बहु०) । दशशतीं=दशानां शतानां समाहारो दशशती, ताम् । "तद्धितार्थोत्तरपदे समाहारे च" इस सूत्रसे समास, उसकी "संख्यापूर्वो द्विगुः" इस सूत्रसे द्विगुसंज्ञा । "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इससे स्त्रीत्वकी इष्टिसे "द्विगोः" इससे ङीप् । मुनिमुखे=मुनेः मुखं, तस्मिन् (ष० त०) । प्रणिधाय=प्र+नि+धा+क्त्वा (ल्यप्) । तस्थिवान्=स्था+लिट् (क्वसुः)+सु ॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाकं पाकशासनपदं स्पृशतोऽपि ।
नारदः प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरःसरमाख्यत् ॥ २० ॥

अन्वयः—नारदः पाकशासनपदं स्पृशतः अपि तस्य विनये परिपाकं वीक्ष्य विस्मितः (सन्) प्रमदगद्गदया उक्त्या स्मितपुरःसरम् आख्यत् ।

व्याख्या—नारदः=देवर्षिविशेषः, पाकशासनपदम्=इन्द्रत्वं, स्पृशतः अपि=अधितिष्ठतः अपि, तस्य=इन्द्रस्य, विनये=नम्रतायां, परिपाकं=प्रकर्षं, वीक्ष्य=दृष्ट्वा, विस्मितः=आश्चर्ययुक्तः सन्, प्रमदगद्गदया=हर्षविस्वस्या,

उक्त्या = वाचा, स्मितपुरःसरं = मन्दहास्यपूर्वकम्, आख्यत् = आख्यातवान्
"ऊचे" इति पाठान्तरे जगादेत्यर्थः ।

अनुवाद—नारद, इन्द्रपदमें अधिष्ठित होनेपर भी इन्द्रकी नम्रताके उत्कर्षको देखकर आश्चर्ययुक्त होते हुए हर्षसे गद्गद वचनसे मन्दहास्यपूर्वक बोले ।

टिप्पणी—पाकशासनपदं = पाकानां (दितिगर्भाणाम्) पाकस्य (दैत्यविशेषस्य) वा शासनः (ष० त०), पाकशासनस्य पदं, तत् (ष० त०) । स्पृशतः = स्पृशतीति स्पृशन्, तस्य, स्पृश + लट् (शतृ) + ङस् । वीक्ष्य = वि + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । विस्मितः = वि + स्मिङ् + क्तः (कर्तामें) + सुः । प्रमदगद्गदया = प्रमदेन गद्गदा, तया (तृ० त०) । उक्त्या = ब्रू (वच्) + क्तिन् + टा । स्मितपुरःसरं = स्मितं पुरःसरं यस्मिन्, तद्यथा तथा (बहु०) । आख्यत् = आङ् + ख्या + लुङ् + तिप् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे 'च्लि'के स्थानमें अङ् आदेश । "ऊचे" ऐसे पाठमें ब्रूञ् (वच्) + लिट् + त ॥ २० ॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकाऽऽदरदं तु ॥ २१ ॥

अन्वयः—शतमखी यत् सुकृतं भिक्षिता, तत्फले स्वविभूतौ हेला यदि, तत्परिश्रमविदः तव परं, क्लेशलब्धं तु अधिकाऽऽदरदम् ।

व्याख्या—(हे इन्द्र !) शतमखी = शतयज्ञी, यत् सुकृतं = पुण्यं, भिक्षिता = याचिता । तत्फले = तत्सुकृतफले, स्वविभूतौ = निजैश्वर्ये, हेला यदि = अवज्ञा चेत्, तत्परिश्रमविदः = याच्ञाक्लेशाऽभिज्ञस्य, तव परं = भवत एव, नाऽन्यस्येति भावः । याचक एव याचकदुःखं जानातीति भावः । ननु धनिनां दातृत्वे किं चित्रम् ? तत्राह—क्लेशलब्धमिति । क्लेशलब्धं तु = प्रयासप्राप्तं वस्तु तु, अधिकादरदम् = बहुसम्मानकारकं, भवतीति शेषः ।

अनुवाद—आपने सौ यज्ञरूप जो पुण्यकी याचना की है, उसके फलस्वरूप अपने ऐश्वर्यमें अनादर है तो वह याचनाके क्लेशके अभिज्ञ आपका ही है, क्लेशसे प्राप्त वस्तु तो अधिक सम्मान करनेवाला होता है ।

टिप्पणी—शतमखी = शतानां मखानां समाहारः (द्विगुः) । भिक्षिता = भिक्ष + क्त + टाप् । भिक्ष धातुके दुहादि गणमें पढ़े जानेसे अप्रधान कर्ममें क्त प्रत्यय । तत्फले—तस्य फलं, तस्मिन् (ष० त०) । स्वविभूतौ = स्वस्य विभूतिः

तस्याम् (ष० त०)। हेला="हेलाऽवज्ञा विलासयोः" इति विश्वः। तत्परिश्रम-विदः=तस्याः (भिक्षायाः) परिश्रमः (ष० त०), तं वेत्तीति तत्परिश्रमविद्, तस्य, तत्परिश्रम+विद्+क्विप्+ङस् (उपपद०)। परं="परं स्या-दुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवले" इति विश्वः। याचक ही याचकका दुःख जानता है, यह भाव है। क्लेशलब्धं=क्लेशेन लब्धम् (तृ० त०)। अधिकादरदम्= अधिकश्चाऽसौ आदरः (क० धा०). तं ददातीति, अधिकादर+दा+कः (उपपद०)। क्लेशसे प्राप्त वस्तु तो अधिक सम्मानकी जनक होती है, परन्तु आपने सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके जो इन्द्र पद पाया है, उसमें जो आप अनास्था दिखलाते हैं, वह आपके सिवाय कोई नहीं दिखाता है, यह भाव है। इस पद्यमें काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ २१ ॥

सम्पदस्तव गिरामपि दूरा यन्न नाम विनयं विनयन्ते।
श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभवः परमाप्तः ? ॥ २२ ॥

अन्वयः—तव सम्पदो गिराम् अपि दूराः, यत् विनयं न विनयन्ते नाम। (किन्तु) इह परमाप्तः साक्षात् अनुभवः न आह चेत्, कः इव श्रद्-धाति ?

व्याख्या—तव=भवतः, सम्पदः=सम्पत्तयः, गिराम् अपि=वाचाम् अपि, दूराः=विप्रकृष्टवर्तिन्यः, अगोचराः। भवत्सम्पदो वाग्भिर्वर्णयितुं न शक्या इति भावः। यत्=यस्मात्कारणात्, विनयं=नम्रतां, न विनयन्ते=नो लुम्पन्ति, नाम=खलु। किन्तु इह=अस्मिन् विषये, भवद्विनयस्य उत्कृष्टत्व इति भावः। परमाप्तः=श्रेष्ठप्रमाणभूतः, साक्षात्=प्रत्यक्षरूपः, अनुभवः=अनुभूतिः, न आह चेत्=न ब्रूते यदि, तर्हि क इव=को वा, श्रद्दधाति=विश्वसिति।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र !) आपकी सम्पत्तियाँ वाणियोंसे भी दूर हैं (वर्णनकी विषयभूत नहीं हैं), जो कि नम्रताको नहीं हटा रही हैं। इस विषयमें परम प्रमाणभूत प्रत्यक्ष अनुभव नहीं जताता तो कौन विश्वास करता ? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—सम्पदः=सम्+पद्+क्विप्+जस्। विनयन्ते=वि+नीञ्+लट्+झ। "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" इससे आत्मनेपद। परमाप्तः =परमश्चाऽसौ आप्तः (क० धा०)। श्रद्दधाति=श्रद्+धा+लट्+तिप्, इस पद्यमें सम्पत्तियोंके वचनगोचर होनेपर भी अगोचरत्वकी उक्ति होनेसे असम्बन्धरूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ २२ ॥

"श्रीभरानतिथिसात्करवाणि, स्वोपभोगपरता न हिते"ति ।
पश्यतो बहिरिवाऽन्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव काऽपि ॥ २३ ॥

अन्वयः—"श्रीभरान् अतिथिसात् करवाणि। स्वोपभोगपरता न हिता" इति पश्यतः तव बहिः इव अन्तः अपि काऽपि इयं दृष्टिसृष्टिः अधिका ।

व्याख्या—श्रीभरान्=सम्पत्तिसमूहान्, अतिथिसात्=दानेन अतिथ्यधीनं, करवाणि=कुर्याम्, स्वोपभोगपरता=निजमात्रोपभोगतत्परता, आत्मम्भरित्ता इति भावः। न हिता=न श्रेयस्करी, इति=एवं, पश्यतः=विलोकयतः जानतश्च, तव=भवतः, बहिः इव=बाह्य इव, देह इव, अन्तः अपि=अन्तरात्मनि अपि, काऽपि=अनिर्वचनीया, इयम्=एषा, दृष्टिसृष्टिः=ज्ञान-सृष्टिः अक्षिसृष्टिश्च, अधिका=असाधारणी ।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र !) सम्पत्तियोंको दानसे अतिथियोंके अधीन करूँगा, केवल अपने उपभोगमें तत्परता हितकारक नहीं है, इस प्रकार देखते हुए और जानते हुए आपकी जैसे शरीरमें वैसे अन्तरात्मामें भी अनिर्वचनीय यह नेत्रोंकी और ज्ञानकी सृष्टि (उत्पत्ति) असाधारण है ।

टिप्पणी—श्रीभरान्=श्रियो भराः, तान् (ष० त०)। अतिथिसात्=अतिथ्यधीनान् श्रीभरान् देयान् करवाणि, "दे ये त्रा च" इस सूत्रसे चकार-पाठके सामर्थ्यसे साति प्रत्यय। करवाणि=(डु) कृञ् + लोट् + मिप्। स्वोपभोगपरता=परस्य भावः परता, पर + तल् + टाप्, स्वस्य उपभोगः (ष० त०), तस्मिन् परता (स० त०)। पश्यतः=पश्यतीति, तस्य, दृश् (पश्य) + लट् (शतृ) + ङस्। यहाँ पर दृश् धातु ज्ञान अर्थमें भी है। दृष्टि-सृष्टिः=दृष्टेः (नेत्रस्य, ज्ञानस्य वा) सृष्टिः (ष० त०)। "दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षि-दर्शने" इत्यमरः। इन्द्रके हजार नेत्र थे, अतः उनके नेत्रोंकी सृष्टि यहाँपर विवक्षित है। इस पद्यमें श्लिष्ट शब्दसे गृहीत दोनों दृष्टियोंके अभेद अध्यव-सायसे "बहिरिव" ऐसे कथनसे उपमा अलङ्कार है ॥ २३ ॥

आः ! स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्यां प्रशाधि गलिताऽवधिकालं साधु साधु विजयस्व बिडौजः ! ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे बिडौजः ! स्वभावमधुरैः तावकैः अनुभावैः अतितरां तरलाः स्मः। आः ! गलिताऽवधिकालं द्यां साधु प्रशाधि। साधु विजयस्व ।

व्याख्या—हे बिडौजः=हे इन्द्रः ! स्वभावमधुरैः=निसर्गसुन्दरैः, तावकैः=त्वदीयैः, अनुभावैः=ऐश्वर्यैः, अतितराम्=अत्यन्तं, तरलाः=चञ्चलाः,

स्मः=भवामः। आः=अयमानन्दास्वादाऽनुकारः। गलिताऽधिकालम्= अनन्तसमयपर्यन्तं, द्यां=स्वर्गं, साधु=सम्यक्, प्रशाधि=प्रशासनं कुरु। साधु=सम्यक्, विजयस्व=सर्वोत्कृष्टो भव।

अनुवाद—हे इन्द्र! स्वभावसे मनोहर आपके ऐश्वर्योंसे हम अत्यन्त चञ्चल हो गये हैं। ओः! आप अनन्त समयतक स्वर्गका अच्छी तरहसे प्रशासन करें। आप अच्छी तरहसे सबमें उत्कृष्ट हों।

टिप्पणी—विडौजः=विडतीति विडं, "विड भेदने" धातुसे क प्रत्यय। विडम् ओजो यस्य स विडौजा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। स्वभावमधुरैः=स्वभावेन मधुराः, तैः (तृ० त०)। तावकैः=तव इमे, तैः, युष्मद्+अण्, "तवकमम-कावेकवचने" इस सूत्रसे तवक आदेश। अनुभावैः=अनुगता भावाः, तैः (गति०)। अतितराम्=अति+तरप्+आमुः। गलिताऽवधिकालम्=गलितः अवधिः यस्य सः (बहु०)। गलितावधिः कालो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा (बहु०)। प्रशाधि=प्र+शास्+लोट्+सिप्। "शा हौ" इस सूत्रसे शा आदेश। विजयस्व=वि+जि+लोट्+थास्। "विपराभ्यां जेः" इस सूत्रसे आत्मनेपद। इस पद्यमें आशीः अलङ्कार है॥ २४॥

संख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताऽखिलनिजाऽघलघूनाम्।
यस्त्विहाऽनुपगमः शृणु राज्ञां तज्जगद्युवमुदं तमुदन्तम्॥ २५॥

अन्वयः—संख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताऽखिलनिजाऽघलघूनां राज्ञां यत् इह अनुपगमः तत् जगद्युवमुदं तम् उदन्तं शृणु।

व्याख्या—नारद इन्द्रप्रश्नस्योत्तरमाह—संख्येति। संख्यविक्षत०=युद्ध-निहतशरीरनिःसरद्रुधिरप्रक्षालितसमस्तस्वपापभाररहितानां, राज्ञां=नृपाणां, यत्=यस्मात्कारणात्, इह=अत्र, स्वर्गे, अनुपगमः=अनागमनं, तत्= कारणभूतं, जगद्युवमुदं=लोकतरुणानन्दकारणं, तं=प्रसिद्धम्, उदन्तं= वृत्तान्तं, शृणु=आकर्णय।

अनुवाद—युद्धमें निहत शरीरसे बहते हुए रुधिर (लोहू) से अपने समस्त पापका क्षालन होनेसे हल्के होनेवाले राजाओंका जो यहाँ आगमन नहीं होता है उसके कारणभूत, लोकके तरुण राजाओंका आनन्दकारण उस वृत्तान्तको सुनिए।

टिप्पणी—संख्यविक्षत०=संख्ये विक्षताः (स० त०), ताश्च तास्तनवः (क० धा०), स्रवन्ति च तानि अस्राणि (रुधिराणि) (क० धा०),

संख्यविक्षत तनुभ्यः स्रवदस्राणि (प० त०), तैः क्षालितानि (तृ० त०), निजानि च तानि अघानि (क० धा०), अखिलानि च तानि निजाघानि (क० धा०), संख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालितानि अखिलनिजाऽघानि येषां ते (बहु०), ते च ते लघवः, तेषाम् (क० धा०)। अनुपगमः=न उपगमः (नञ्०), जगद्युवमुदं=जगत्सु युवानः (स० त०), तेषां मुत्, ताम् (ष० त०)। उदन्तं="वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्" इत्यमरः। शृणु=श्रु+लोट्+सिप्। इस पद्यमें क्षालिताऽघपदार्थकी विशेषण गतिसे लघुत्वका हेतु होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम, या मदनशस्त्रममोघम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भुवः भूषणं किमपि अनर्घं रत्नं कुमारी सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र जयति। या अमोघं मदनशस्त्रम्।

व्याख्या—भुवः=भूमेः, भूषणम्=अलङ्काररूपं, किमपि=अनिर्वाच्यम्, रत्नं=मणिस्थानीया, असाधारणं स्त्रीरत्नमिति भावः। कुमारी=कन्या, अनूढेति भावः। सा=प्रसिद्धा, दमयन्ती नाम=नाम्ना दमयन्ती, भीमभूपतनया=भीमनृपदुहिता, तत्र=भुवि, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तते, या दमयन्ती, अमोघम्=अनिष्फलं, सफलमित्यर्थः, मदनशस्त्रं=कामायुधम्।

अनुवाद—भूमिके अलङ्काररूप अनिर्वाच्य अमूल्य रत्नस्वरूप दमयन्ती नामकी कुमारी, राजा भीमकी पुत्री उत्कर्षके साथ रहती है, जो कि कामदेव के सफल शस्त्रके समान है।

टिप्पणी—अनर्घम्=अविद्यमानः अर्घः (मूल्यम्) यस्य तत् (नञ्-बहु०)। भीमभूपतनया=भीमश्चाऽसौ भूपः (क० धा०), तस्य तनया (ष० त०)। अमोघम्=न मोघम् (नञ्०), "मोघं निरर्थकम्" इत्यमरः। इस पद्यमें नारदने दमयन्तीके कुल, नाम, सौन्दर्य, सौभाग्य और विवाहकी योग्यता इन सब विषयोंका वर्णन किया है ॥ २६ ॥

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा काऽपि यौवनजवेन भवन्ती।
आशिखं सुकृतसारभृते सा क्वाऽपि यूनि भजते किल भावम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सम्प्रति सा यौवनजवेन प्रतिमुहूर्तं काऽपि अपूर्वा भवन्ती आशिखं सुकृतसारभृते क्वाऽपि यूनि भावं भजते किल।

व्याख्या—सम्प्रति=इदानीं, सा=दमयन्ती, यौवनजवेन=तारुण्योत्पन्न-वेगेन, प्रतिमुहूर्तं=प्रतिक्षणं, काऽपि=अनिर्वचनीया, अपूर्वा=अपरा इव, भवन्ती=सती, आशिखं=चूडापर्यन्तं, नखादारभ्येति शेषः। सुकृतसारभृते=पुण्योत्कर्षपूर्णे, क्वाऽपि=कस्मिन्नपि, यूनि=तरुणे, भावम्=अनुरागं, भजते=करोतीति भावः, किल=इति प्रसिद्धिः।

अनुवाद—इस समय वह तारुण्यसे उत्पन्न वेगसे प्रतिक्षण अनिर्वाच्य और अनोखी-सी होती हुई नखसे शिखतक पुण्यके उत्कर्षसे पूर्ण किसी युवा पुरुषमें अनुराग करती है, ऐसा सुना जाता है।

टिप्पणी—यौवनजवेन=यौवनस्य जवः, तेन (ष० त०)। प्रतिमुहूर्तम् (अव्ययीभावः)। आशिखं=शिखाया आ, "आङ् मर्यादाऽभिविध्योः" इससे अव्ययीभाव। सुकृतसारभृते=सुकृतस्य सारः (ष० त०), तेन भृतः, तस्मिन् (तृ० त०)॥ २७॥

कथ्यते न कतमः स इति त्वं मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठः ?
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां, निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥ २८॥

अन्वयः—चलदोष्ठः त्वं स कतमः इति मां विवक्षुः असि किम् ? (तर्हि) अर्धवर्त्मनि पृच्छां न रुणत्सि ? एनां निर्गमेण न परिश्रमय।

व्याख्या—(हे देवेन्द्र !) चलदोष्ठः=चञ्चलाऽधरः, त्वं, सः=युवा, कतमः=कः, इति=एवं, मां=नारदं, विवक्षुः=वक्तुमिच्छुः, असि किं=वर्तसे किम् ? (तर्हि) अर्धवर्त्मनि=अर्धमार्गे, अर्धोक्त इति भावः। पृच्छां=प्रश्नं, न रुणत्सि=न निवारयसि ?, रुणत्सि एव, एनां=पृच्छां, निर्गमेण=निःसारणेन, उच्चारणेनेति भावः, न परिश्रमय=मा खेदय।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र !) हिलते हुए ओष्ठवाले आप "वह कौन है ?" ऐसा मुझे पूछनेकी इच्छा करते हैं क्या ? तब तो आधे मार्गमें प्रश्नको नहीं रोकते हैं ? इस(प्रश्न)को उच्चारणसे परिश्रान्त मत कीजिए।

टिप्पणी—चलदोष्ठः=चलन् ओष्ठो यस्य सः (बहु०)। कतमः=किं+डतमच्। विवक्षुः=वच्+सन्+उः। अर्धवर्त्मनि=अर्धं च तद् वर्त्म, तस्मिन् (क० धा०)। पृच्छां=प्रच्छनं पृच्छा, ताम्, प्रच्छ धातुसे "षिद्भि-दादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ्+टाप्+अम्। ङित् होनेसे "ग्रहिज्यावयिव्यधि-वष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च" इससे सम्प्रसारण। रुणत्सि=रुधिर्+लट्+सिप्। परिश्रमय=परि+श्रम+णिच्+लोट्+सिप् ॥२८॥

यत्पथाऽवधिरणुः परमः, सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात् ।
बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—परमः अणुः यत्पथाऽवधिः, सा, योगिधीः अपि बालया निजमनः-परमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतम् एनं यस्मात् न पश्यति (तस्मादेनां निर्गमेण न परिश्रमय)।

व्याख्या—तदकथने हेतुमाह—यत्पथाऽवधिरिति । परमः=उत्कृष्टः, सूक्ष्म इति भावः, अणुः=कणः, परमाणुरित्यर्थः । यत्पथाऽवधिः=यद्योगिधीसीमा, सा=तादृशी, योगिधीः अपि=योगिबुद्धिः अपि, बालया=तरुण्या, दमयन्त्या । निजमनःपरमाणौ=स्वचित्तपरमाणौ, ह्रीदरीशयहरीकृतं=लज्जागुहागतसिंही-कृतम्, एनं=युवानं, यस्मात्=कारणात्, न पश्यति=नो विलोकयति, तस्मान्न कथ्यत इति भावः ।

अनुवाद—परमाणु, जिस योगिबुद्धिके मार्गकी सीमा (हद) है, तरुणी दमयन्तीसे अपने मनरूप परमाणुमें लज्जारूप गुहामें रहनेवाले सिंहरूप बनाये गये जिस युवकको पूर्वोक्त योगिबुद्धि भी नहीं देखती है (इसलिए मैं नहीं कहता हूँ) ।

टिप्पणी—परमः अणुः=सबसे सूक्ष्म पदार्थको "परमाणु" कहते हैं । यत्पथाऽवधिः=यस्याः (योगिधियः) पन्था यत्पथः (ष० त०), यत्पथस्य अवधिः (ष० त०) । योगिधीः=योगिनो धीः (ष० त०) । निजमनः-परमाणौ=परमश्चाऽसौ अणुः (क० धा०), निजं च तन्मनः (क० धा०), निजमन एव परमाणुः, तस्मिन् (रूपक०) । नैयायिकोंके मतोंमें मन अणु-परिमाणवाला माना गया है । ह्रीदरीशयहरीकृतं=ह्रीः एव दरी (रूपक०), ह्रीदर्यां शेते ह्रीदरीशयः, ह्रीदरी-उपपदपूर्वक शीङ् धातुसे "अधिकरणे शेतेः" इस सूत्रसे खश् प्रत्यय । ह्रीदरीशयश्चाऽसौ हरिः (क० धा०), अह्रीदरीशय-हरिः ह्रीदरीशयहरिः यथा सम्पद्यते तथा कृतः, तम्, ह्रीदरीशयहरि+च्वि+कृ+क्त+अम् । योगीकी बुद्धि भी परमाणुके स्वरूपको ही ग्रहण करती है परन्तु अन्तःकरणमें प्रवेश करनेकी शक्ति उसमें नहीं है, अतः ज्ञान न होनेसे नहीं कहता हूँ, कपटसे नहीं; यह अभिप्राय है ॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवाचिभिरङ्गैः ।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—सा विरहवाचिभिः, अङ्गैः कुसुमस्य शरस्य शरव्यं सूचिता तातचित्तम् अपि स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायम् अधत्त ।

व्याख्या—सा = दमयन्ती, विरहवाचिभिः = वियोगव्यञ्जकैः, अङ्गैः = अवयवैः, कृशतापाण्डुताऽऽदिपरिक्लिष्टैरिति शेषः । कुसुमस्य शरस्य = पुष्परूपस्य बाणस्य, कामस्येति शेषः । शरव्यं = लक्ष्यं, सूचिता = ज्ञापिता । अतः, तातचित्तम् अपि = जनकमानसम् अपि, स्वस्वयंवरमहाय = निजस्वयंवरोत्सवाय, धातुः = ब्रह्मणः, सहायं = सहकारि, अधत्त = अकरोत् ।

अनुवाद—उस(दमयन्ती)ने वियोगकी सूचना करनेवाले अङ्गोंसे कामदेवके पुष्परूप बाणके लक्ष्य (निशाना) बनकर अपने पिता भीमके चित्तको भी अपने स्वयंवर उत्सवके लिए ब्रह्माजीका सहायक बनाया है ।

टिप्पणी—विरहवाचिभिः=विरहं ब्रुवन्तीति विरहवाचीनि, तैः, विरह + ब्रू (वच्) + णिनि + भिस् (उपपद०) । कुसुमस्य शरस्य=यह व्यस्त रूपक है । सूचिता = सूच + क्त + टाप् + सु । तातचित्तं = तातस्य चित्तं, तत् (ष० त०) । स्वस्वयंवरमहाय = स्वस्य स्वयंवरः (ष० त०), स एव महः, तस्मै (रूपक०) । धातुः = धा + तृच् + ङस् । अधत्त = धाञ् + लङ् + त । दमयन्तीके पिता राजा भीमने भी ब्रह्माजीकी प्रेरणासे दमयन्तीकी विरहवेदना हटानेके लिए उनके स्वयंवरको ही उपाय समझा, यह अभिप्राय है ॥ ३० ॥

मन्मथाय यदथाऽदित राज्ञां हूतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाऽऽकलयन्ति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अथ विधिः राज्ञां हूतिदूत्यविधये यत् मन्मथाय आज्ञाम् अदित, तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरम् इव आकलयन्ति ।

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, विधिः = ब्रह्मा, राज्ञां=नृपाणां, हूतिदूत्यविधये = स्वयंवराह्वानदूतकर्मविधानाय, यत्, मन्मथाय = कामदेवाय, आज्ञाम् = आदेशम्, अदित = दत्तवान्, तेन = आज्ञादानेन, तत्परवशाः = कामाऽधीनाः, पृथिवीशाः = राजानः, सङ्गरं = युद्धं, गरम् इव = विषम् इव, आकलयन्ति = मन्यन्ते, अतो राज्ञामिहाऽनागमनमिति भावः ।

अनुवाद—तब ब्रह्माजीने राजाओंको स्वयंवरके लिए आह्वानरूप दूतकर्मके लिए जो कामदेवको आज्ञा दी है, उस आज्ञासे कामदेवके अधीन राजालोग युद्धको विषके समान जानते हैं ।

टिप्पणी—दूतिदूत्यविधये=दूतस्य भावः कर्म वा दूत्यम्, दूत शब्दसे "दूतवणिग्भ्यां च" इससे य प्रत्यय। दूतिरेव दूत्यम् (रूपक०), तस्य विधिः, तस्मै (ष० त०)। मन्मथाय=सम्प्रदानमें चतुर्थी। अदित=(डु) दाञ्+लुङ्+त। तत्परवशाः=तस्य परवशाः (ष० त०)। पृथिवीशाः=पृथिव्या ईशाः (ष० त०)। गरं="विषं स्याद् गरलं गरः" इति हलायुधः। आकलयन्ति=आङ्+कल+णिच्+लट्+झि ॥ ३१ ॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वाऽपि गुणेषु।
तत्र तत्र कलयाऽपि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—दमयन्ती येषु येषु भूषणेषु यदि वा गुणेषु अपि सरसा, तत्र तत्र कलया अपि यो विशेषः क्षितिभृतां स हि पुरुषार्थः।

व्याख्या—दमयन्ती=भैमी, येषु येषु=यत्र यत्र, भूषणेषु=अलङ्कारेषु, हारादिष्विति भावः। यदि वा=अथवा, गुणेषु अपि=औदार्यादिषु अपि, सरसा=साऽभिलाषा, तत्र तत्र=तेषु तेषु भूषणेषु, औदार्याऽऽदिगुणेषु वा, कलया अपि=लेशेन अपि, यः, विशेषः=आधिक्यं, क्षितिभृतां=राज्ञां, स हि=स एव, पुरुषार्थः=धर्माऽऽदिरूपं प्रयोजनम्, न तु क्षत्रधर्मः सङ्गर इति भावः।

अनुवाद—दमयन्ती जिन-जिन हार आदि अलङ्कारोंमें अथवा औदार्य आदि गुणोंमें भी अभिलाष करती है, उन-उन अलङ्कारोमें अथवा औदार्य आदिमें जो थोड़ा-सा भी आधिक्य है, राजाओंको वही पुरुषार्थ है (युद्ध नहीं)।

टिप्पणी—सरसा=रसेन सहिता (तुल्ययोगबहु०)। क्षितिभृतां=क्षितिं बिभ्रति इति क्षितिभृतः, तेषाम्, क्षिति+भृ+क्विप्+आम् (उपपद०)। पुरुषार्थः=पुरुषस्य अर्थः (ष० त०)। राजाओंको किसी भी प्रकारसे दमयन्तीका मनोरञ्जन करना ही पुरुषार्थ हो रहा है, क्षत्रियोंका धर्मयुद्ध नहीं, यह तात्पर्य है ॥ ३२ ॥

शैशवव्ययदिनाऽवधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे।
आदरादहरहः कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाऽभिनिवेशः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—कुसुमेषोः यौवनोदयिनि राजसमाजे तस्याः शैशवव्ययदिनाऽवधि अहरहः आदरात् मृगयाऽभिनिवेशः उल्ललास।

व्याख्या—कुसुमेषोः=कामस्य, यौवनोदयिनि=तारुण्ययुक्ते, राज-

समाजि=नृपसमूहे, तस्याः=दमयन्त्याः, शैशवव्ययदिनाऽवधि=बाल्याऽपगमदिनमारभ्य, अहरहः=प्रतिदिनम्, आदरात्=आदरपूर्वकं, मृगयाऽभिनिवेशः=आखेटाऽऽग्रहः, उल्ललास=ववृधे ।

अनुवाद—कामदेवका युवक राजसमूहमें, दमयन्तीका बचपन बीतनेके दिनसे लेकर प्रतिदिन आदरपूर्वक शिकार खेलनेका आग्रह बढ रहा है ।

टिप्पणी—कुसुमेषोः=कुसुमानि इषवो यस्य स कुसुमेषुः, तस्य (बहु०) । यौवनोदयिनि=यौवनस्य उदयः (ष० त०), सः अस्याऽस्तीति यौवनोदयी, तस्मिन्, यौवनोदय+इनि+ङि । राजसमाजे=राज्ञां समाजः, तस्मिन् (ष० त०) । शैशवव्ययदिनाऽवधिः=शैशवस्य व्ययः (ष० त०), तस्य दिनम् (ष० त०), शैशवव्ययदिनम् अवधिः (सीमा) यस्मिन्, तद्यथा तथा (बहु०) । क्रि० वि० । अहरहः=वीप्सामें द्विरुक्ति । "रोऽसुपि" इस सूत्रसे अहन् शब्दका रेफ आदेश । मृगयाऽभिनिवेशः=मृगयायाम् अभिनिवेशः (स० त०) । उल्ललास=उद्+लस्+लिट्+तिप् (णल्) । सब युवक राजाओंको दमयन्तीके यौवनके आविर्भावकालसे कामव्यसन ही है, समरव्यसन नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथीभवितुं न ।
भीमभूसुरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो ! नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—इति अमी वसुमतीकमितारः त्वदतिथीभवितुं सादरा न । नृपतीनां भीमभूसुरभुवोः अभिलाषे दूरम् अन्तरम् । अहो !

व्याख्या—इति=इत्थम्, अमी=एते, नृपतयः, वसुमतीकमितारः=पृथिवीं प्रति वाञ्छाशीलाः सन्तः, पृथिव्यामेव भैम्या विद्यमानत्वादिति शेषः । त्वदतिथीभवितुं=भवदातिथ्यं स्वीकर्तुं, सम्मुखयुद्धे प्राणत्यागेनेति शेषः । सादरा न=साऽभिलाषा न, तथाहि—नृपतीनां=राज्ञां, भीमभूसुरभुवोः=दमयन्तीस्वर्गलोकयोः, अभिलाषे=अनुरागे विषये, दूरं=महत्, अन्तरं=भेदः ।

अनुवाद—इस प्रकार वे राजालोग पृथ्वीको ही चाहते हुए आपके अतिथि होनेके लिए अभिलाष नहीं करते हैं, राजाओंको दमयन्ती और स्वर्गके अनुरागमें बहुत ही तारतम्य है ।

टिप्पणी—वसुमतीकमितारः=कामयन्त इति कमितारः, कम्+तृच्, वसुमत्याः कमितारः (ष० त०) । त्वदतिथीभवितुं=तव अतिथयः (ष० त०), अत्वदतिथयः त्वदतिथयो यथा सम्पद्यन्ते तथा भवितुम्, त्वद-

तिथि + च्वि + भू + तुमुन् । सादराः=आदरेण सहिताः (तुल्ययोगबहु०)। नृपतीनां=नृणां पतयः, तेषाम् (ष० त०)। भीमभूसुरभुवोः=भीमात् भवतीति भीमभूः, भीम + भू + क्विप् (उपपद०), सुराणां भूः (ष० त०), भीमभूश्च सुरभूश्च भीमभूसुरभुवौ, तयोः (द्वन्द्व०)। अहो=राजाओंको स्वर्गमें भी रुचि नहीं है, इस आश्चर्यका द्योतन करनेके लिए इस निपातका प्रयोग किया गया है। इस प्रकार सुराऽङ्गनाओंको भी मात करनेवाला दमयन्तीका सौन्दर्य है, यह व्यङ्ग्य होता है। भीमका देश और सुरोंका देश इन दोनोंमें बहुत दूरता है, ऐसे अर्थकी भी प्रतीति होती है। इस पद्यमें उत्तरार्द्धके वाक्याऽर्थसे स्वर्गकी अरुचिसे पूर्वार्द्ध वाक्यका अर्थ आतिथ्यके अनादरका समर्थन होनेसे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां सङ्ख्यसौख्यमनुसर्तुमनु त्वाम् ।
यन्मृधं क्षितिभृतां न विलोके तन्निमग्नमनसां भुवि लोके ॥ ३५ ॥

अन्वयः—यत् भुवि लोके तन्निमग्नमनसां क्षितिभृतां मृधं न विलोके, तेन जाग्रदधृतिः सङ्ख्यसौख्यम् अनुसर्तुं त्वाम् अनु दिवम् आगाम् ।

व्याख्या—नारदः स्वाऽऽगमने कारणमाह—तेनेति । यत्=यस्मात् कारणात्, भुवि लोके=भूलोके, तन्निमग्नमनसां=भैम्यासक्तचित्तानां, क्षितिभृतां=राज्ञां, मृधं=युद्धं, न विलोके=न पश्यामि, तेन=कारणेन, युद्धाऽलाभेनेति भावः । जाग्रदधृतिः=वर्धमानाऽसन्तोषः सन्, सङ्ख्यसौख्यं=युद्धसुखम्, अनुसर्तुम्=अनुभवितुम्, त्वाम् अनु=भवन्तम् उद्दिश्य, दिवं=स्वर्गम्, आगाम्=आगतः ।

अनुवाद—जिस कारणसे कि भूलोकमें दमयन्तीमें आसक्त चित्तवाले राजाओंका युद्ध नहीं देख रहा हूँ, उससे असन्तोषकी वृद्धिसे युद्धसुखका अनुभव करनेके लिए आपको उद्देश्य करके स्वर्गलोकमें आया हूँ ।

टिप्पणी—तन्निमग्नमनसां=निमग्नं मनो येषां ते (बहु०), तस्यां निमग्नमनसः, तेषाम् (स० त०)। क्षितिभृतां=क्षितिं बिभ्रति इति क्षितिभृतः, तेषाम् । क्षिति + भृ + क्विप् (उपपद०) + आम् । मृधं="मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यम्" इत्यमरः । विलोके=वि + लोक + लट् + इट् । जाग्रदधृतिः=न धृतिः (नञ्०), जाग्रती अधृतिः यस्य सः (बहु०)। संख्यसौख्यं=संख्यस्य सौख्यं, तत् (ष० त०)। अनुसर्तुम्=अनु + सृ + तुमुन् । आगाम्=

आङ् + उपसर्गपूर्वक इण् धातुके लुङ्में "इणो गा लुङि" इस सूत्रसे गा आदेश हुआ है ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्तं हन्त ! हन्त्रकरुणं विरुणद्धि ।

पृच्छयसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हन्त्रकरुणं भवन्तं कोऽपि न विरुणद्धि, वेद यद्यपि, तदपि पृच्छयसे हन्त ! येन विषये रससेकः विवेकप्रोञ्छनाय ।

व्याख्या—हन्त्रकरुणं=घातुकनिष्कृपं, भवन्तं=देवेन्द्रं, कोऽपि=कश्चिच्छत्रुः, न विरुणद्धि=नो विगृह्णाति, वेद यद्यपि=एतावत् वेद्म्येव, हन्त=हर्षद्योतकमव्ययमिदम् । तदपि=तथाऽपि, ज्ञाने सत्यपीति भावः, पृच्छयसे=अनुयुज्यसे, अत्र युद्धमस्ति नो वेतीति शेषः । येन=कारणेन, विषये=अभिलषणीये वस्तुनि, रससेकः=रागाऽनुबन्धः, विवेकप्रोञ्छनाय=ज्ञानाऽभावाय, भवतीति शेषः । अनुरागवशाज्ज्ञातमपि वस्तु अज्ञातवत्पृच्छामीति भावः ।

अनुवाद—आक्रमण करनेवालोंमें निर्दय आपसे कोई भी विरोध नहीं करता है, यद्यपि मैं यह जानता हूँ तो भी पूछता हूँ (यहाँ युद्ध है कि नहीं), जो कि अभिलाषाके योग्य वस्तुमें अनुरागका सम्बन्ध, ज्ञानके अभावके लिए हो जाता है ।

टिप्पणी—हन्त्रकरुणं=घ्नन्तीति हन्तारः, हन्=तृच्, अविद्यमाना करुणा यस्य सः अकरुणः (नञ्-बहु०), हन्तृषु अकरुणः, तम् (स० त०) । विरुणद्धि=वि + रुध् + लट् + तिप् । वेद=विद् धातुके "विदो लटो वा" इस सूत्रसे मिप्के स्थानमें विकल्पसे णल् आदेश । पृच्छयसे=प्रच्छ + लट् + (कर्म) + थास् । रससेकः=रसस्य सेकः (ष० त०) । विवेकप्रोञ्छनाय=विवेकस्य प्रोञ्छनं, तस्मै (ष० त०) । युद्धमें मेरा ज्यादा अनुराग होनेसे यहाँ युद्ध नहीं है, ऐसा जानकर भी न जानता हुआ-सा होकर मैं आपसे पूछ रहा हूँ, यह तात्पर्य है ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।

उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—देवऋषीन्द्रे एवम् उक्तवति मघवाननमुद्रा द्राक् अभेदि; हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः उत्तरोत्तरशुभः ।

व्याख्या—देवऋषीन्द्रे = नारदे, एवम् = इत्थम्, उक्तवति = भाषितवति सति, मघवाननमुद्रा = इन्द्रमुखमौनं, द्राक् = शीघ्रम्, अभेदि = स्वयमेव भिद्यते स्म, इन्द्रोऽभाषिष्टेति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—उत्तरोत्तरशुभ इति। हि = यस्मात्कारणात्, विभूनां = प्रभूणां, कोऽपि = अनिर्वाच्यः, मञ्जुलतमः = मनोहरतमः, क्रमवादः = प्रश्नोत्तरक्रमोक्तिः, उत्तरोत्तरशुभः = उपर्युपरिप्रियः, भवतीति शेषः।

अनुवाद—नारदके ऐसा कहनेपर देवेन्द्रके मुखका मौन शीघ्र ही भग्न हुआ, क्योंकि प्रभुओंके अनिर्वाच्य और अति मनोहर प्रश्नोत्तरक्रमकी उक्ति उत्तरोत्तर प्रिय होती है।

टिप्पणी—देवऋषीन्द्रे = देवानाम् ऋषयः (ष० त०), "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर्-गुण नहीं हुआ, देवऋषीणाम् इन्द्रः, तस्मिन् (ष० त०)। मघवाननमुद्रा = मघोन आननं (ष० त०), तस्य मुद्रा (ष० त०)। अभेदि = भिद् धातुसे "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" इस सूत्रसे कर्ताका कर्मवद्भाव होकर लुङ् + त। मञ्जुलतमः = अतिशयेन मञ्जुलः, मञ्जुल + तमप् + सु। क्रमवादः = क्रमेण वादः (तृ० त०)। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

काऽनुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ?।
यद्भुजाऽङ्कमुपधाय जयाऽङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—(हे देवर्षे !) निजे अनुजे दनुजारौ स्वशरणे जाग्रति (सति) मम रणचर्चा का? जयाऽङ्कं यद्भुजाङ्कम् उपधाय वीतविशङ्कः (सन्) शर्मणा स्वपिमि।

व्याख्या—(हे देवर्षे !) निजे = स्वकीये, अनुजे = अवरजे, दनुजारौ = उपेन्द्रे, विष्णौ, स्वशरणे = निजरक्षके, जाग्रति = जागरूके सति, मम = इन्द्रस्य, रणचर्चा = युद्धचिन्ता, का = न काऽपीत्यर्थः। जयाऽङ्कं = विजयचिह्नं, यद्भुजाऽङ्कं = यद्बाहूत्सङ्गम्, उपधाय = उपधानं विधाय, वीतविशङ्कः = निरातङ्कः सन्, शर्मणा = सुखेन, स्वपिमि = निद्रामि, निद्रावश्निश्चिन्तो भवामीति भावः।

अनुवाद—(हे देवर्षे !) अपने भाई उपेन्द्र (विष्णु)के अपने रक्षक होकर विद्यमान रहते हुए मुझे युद्धकी चिन्ता क्या है? विजयचिह्नवाले जिनके

बाहुरूप गोदको तकिया बनाकर आतङ्करहित होता हुआ सुखसे सोता हूँ (निश्चिन्त होता हूँ)।

टिप्पणी—दनुजारौ=दनुजानाम् अरिः, तस्मिन् (ष० त०)। स्वशरणे= स्वस्य शरणं, तस्मिन् (ष० त०), "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। जाग्रति= जागर्तीति जाग्रत्, तस्मिन् "जागृ निद्राक्षये" धातुसे लट् (शतृ)+ङि। रणचर्चा=रणस्य चर्चा (ष० त०)। जयाङ्कं=जयः अङ्कः यस्य सः, तम् (बहु०)। यद्भुजाङ्कं=भुज एव अङ्कः (रूपक०), यस्य भुजाऽङ्कः, तम् (ष० त०)। उपधाय—उप+धा+क्त्वा (ल्यप्), "उपधानं तूपबर्हः" इत्यमरः। वीतविशङ्कः=विविधा चाऽसौ शङ्का (गति०), विशेषेण इता वीता (सुप्सुपा०), वीता विशङ्का यस्य सः (बहु०)। स्वपिमि=(नि) ष्वप्+लट्+मिप्। देवतालोग अस्वप्न अर्थात् स्वप्नसे रहित हैं, वे लोग नहीं सोते हैं, इसीलिए उनका "अस्वप्न" नाम है, ऐसी प्रसिद्धि होनेसे यहाँपर "स्वपिमि" का निश्चिन्त होता हूँ, यह लाक्षणिक अर्थ है ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनि स निनाय ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे देवर्षे !) तस्य विश्वरूपकलनात् जैमिनिमुनित्वम् उदीये उपपन्नम्। स मखभुजां विग्रहम् असहिष्णुः मदशनि व्यर्थतां निनाय।

व्याख्या—(हे देवर्षे !) तस्य=उपेन्द्रस्य, विश्वरूपकलनात्=सर्वस्वरूप-स्वीकारात्, जैमिनिमुनित्वं=मीमांसकजैमिनिमुनिभावः, उदीये=उत्पन्नम्। उपपन्नं=युक्तम्। यतः सः=उपेन्द्रः, मखभुजां=क्रतुभुजां, देवानाम्। विग्रहं=विरोधम्, विष्णोर्जैमिनिरूपकलनपक्षे—शरीरम्, असहिष्णुः=असह-मानः सन्, मदशनि=मद्वज्रं, व्यर्थतां=निष्प्रयोजनतां, निनाय=प्रापितवान्। उपेन्द्रो देवानां युद्धमसहिष्णुः सन् सुदर्शनचक्रेणाऽस्मद्वैरिणो हत्वाऽस्मद्वज्रं निष्प्रयोजनं कृतवान्। विष्णोर्जैमिनिरूपकलनपक्षे विश्वरूपसूत्रप्रणयनेन मन्त्रा एव देवा इति प्रतिपाद्य "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इति वाक्यं निष्प्रयोजनं कृतवा-निति भावः।

अनुवाद—(हे देवर्षे !) उपेन्द्र(विष्णु)के सब रूपोंको धारण करनेसे जैमिनिमुनिका भाव उत्पन्न हुआ, यह युक्तिसंगत है, क्योंकि उपेन्द्र(विष्णु)ने देवताओंके विग्रह(युद्ध)को सहन न करते हुए (अपने सुदर्शन चक्रसे)

मेरे वज्रको व्यर्थ बना दिया। अथवा उपेन्द्रने जैमिनि मुनिका रूप लेकर विश्वरूप सूत्रोंकी रचना करके देवताओंके विग्रह(शरीर)को सहन न कर "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि वाक्यका खण्डन कर मेरे वज्रको व्यर्थ बना डाला।

टिप्पणी—विश्वरूपकलनात्=विश्वेषां रूपाणि (ष० त०), तेषां कलनं, तस्मात् (ष० त०)। "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इस ब्रह्माण्डपुराणके वाक्यके अनुसार विश्वरूपको धारण करनेसे। विष्णुके जैमिनि मुनिका रूप लेनेके पक्षमें, विश्वरूप सूत्रोंकी रचना करनेसे। जैमिनिमुनित्वं=जैमिनिश्चाऽसौ मुनिः (क० धा०), तस्य भावः, जैमिनिमुनि+त्व। उदीये=उद्+इण्+लिट् (कर्ममें)+त। उपपन्नम्=उप+पद्+क्त+सु। मखभुजां=मखं भञ्जन्तीति मखभुजः, तेषाम्, मख+भुज्+क्विप्+आम् (उपपद०)। विग्रहं= "विग्रहो युधि विस्तारे प्रविभागशरीरयोः" इति हैमः। असहिष्णुः=न सहिष्णु (नञ्०)। मदशनि=मम अशनिः, ताम् (ष० त०)। व्यर्थतां= विगतोऽर्थो यस्याः सा व्यर्था (बहु०), तस्या भावस्तत्ता, ताम्, व्यर्था+तल्+ टाप्+अम्। निनाय=णीञ्+लिट्+तिप् (णल्)। उपेन्द्र(विष्णु)ने देवताओंके विग्रह(युद्ध)को सहन न कर अपने सुदर्शन चक्रसे दैत्योंका संहार कर मेरे अस्त्र वज्रको व्यर्थ बना डाला, यह प्रकृत है। उपेन्द्र विश्वरूप धारण करनेसे जैमिनि मुनि भी हुए, जैमिनिने विश्वरूप सूत्रोंकी रचना कर "मन्त्र ही देवता है" ऐसा प्रतिपादन कर "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि वाक्योंका खण्डन करके मेरे वज्रको व्यर्थ बना दिया, यह अप्रकृत अर्थ है। इस प्रकारसे यह श्लेष अलङ्कार है॥ ३९॥

ईदृशानि मुनये विनयाऽब्धिस्तस्थिवान्स वचनान्युपहृत्य।
प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजाः॥ ४०॥

अन्वयः—विनयाऽब्धिः मुनय ईदृशानि वचनानि उपहृत्य तस्थिवान्। (अथ) नारदस्य प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी निरोजा वाक् निरियाय।

व्याख्या—विनयाऽब्धिः=नम्रतासमुद्रः, इन्द्र इति भावः। मुनये=नारदाय, ईदृशानि=एतादृशानि, युद्धाशारहितानीति भावः। वचनानि=वचांसि, उपहृत्य=उपहारीकृत्य, समर्प्येति भावः। तस्थिवान्=तूष्णीं स्थितः। अथ नारदस्य=देवर्षेः, प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी=दीर्घनिःश्वासपश्चाद्गामिनी,

दीर्घनिःश्वासपूर्तिकेति भावः। निरोजाः=तेजोरहिताः, दीनेति भावः। वाक्=वाणी, निरियाय=निर्जगाम।

अनुवाद - नम्रताके समुद्र इन्द्र, मुनि(नारद)को ऐसे वचनोंका उपहार देकर चुप हो गये। ऊँचे निःश्वास लेनेके अनन्तर नारदजीकी दीन वाणी निकली।

टिप्पणी—विनयाऽब्धिः=विनयस्य अब्धिः (ष० त०)। उपहृत्य= उप+हृञ्+क्त्वा (ल्यप्)। तस्थिवान् = स्था + लिट् + (क्वसुः)। प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी = पृष्ठे चरतीति पृष्ठचरी, पृष्ठ + चर+ट+ङीप् (उपपद०), प्रांशु च तत् निःश्वसितम् (क० धा०), प्रांशुनिःश्वसितस्य पृष्ठचरी (ष० त०)। निरोजाः=निर्गतम् ओजो यस्याः सा (बहु०)। निरियाय=निर्+इण्+लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें रूपक अलंकार है ॥ ४० ॥

स्वारसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम्।
द्यां गतस्य हृदि मे दुरुदर्कः क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—(हे देवेन्द्र !) वसुमत्यां वसन् स्वारसातलभवाहवशङ्की (सन्) न निर्वृणोमि। द्यां गतस्य मे हृदि क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः दुरुदर्कः।

व्याख्या—(हे देवेन्द्र !) वसुमत्यां=भुवि, वसन्=वासं कुर्वन्, अहमिति शेषः। स्वारसातलभवाहवशङ्की=स्वर्गपातालजातयुद्धशङ्कितः सन्, न निर्वृणोमि=न सन्तुष्यामि। एवं च द्यां=स्वर्गं, गतस्य=प्राप्तस्य, मे=नारदस्य, हृदि=चित्ते, क्ष्मातलद्वयभटाऽऽजिवितर्कः = भूपातालद्वितयोधयुद्धशङ्का, दुरुदर्कः=दुष्टोत्तरकालः, भवतीति शेषः।

अनुवाद—हे इन्द्र ! भूमिमें रहता हुआ मैं स्वर्ग और पातालमें होनेवाले युद्धकी शङ्का करता हुआ सुखी नहीं रहता हूँ। (इसी तरह) स्वर्गमें आये हुए मेरे हृदयमें भूमि और पातालमें योद्धाओंके युद्धकी शङ्का दुष्ट परिणामवाली होती है।

टिप्पणी—वसन्=वस+लट्+शतृ+सु। स्वारसातलभवाहवशङ्की= स्वश्च रसातलं च (द्वन्द्वः), तयोर्द्वयम् रसायाः (भूमेः) तलम् (ष० त०), स चाऽसौ आहवः (क० धा), तं (ष० त०), तस्मिन् भवः (स० त०), स चाऽसौ आहवः (क० धा), तं शङ्कते तच्छीलः, स्वारसातलभवाऽऽहव+शकि+णिनि+सु (उपपद०)। निर्वृणोमि=निर्+वृञ्+लट्+मिप्। क्ष्मातलद्वयभटाऽऽजिवितर्कः=क्ष्मा

च तलं च क्ष्मातले (भूपाताले) (द्वन्द्व०), क्ष्मातलयोर्द्वयम् (ष० त०), तस्मिन् भटाः (स० त०), "अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्" इत्यमरः । आजेर्वितर्कः (ष० त०), क्ष्मातलद्वयभटानाम् आजिवितर्कः (ष० त०) । दुरुदर्कः = दुष्ट उदर्को यस्य सः (बहु०), "उदर्कः फलमुत्तरम्" इत्यमरः ॥ ४१ ॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तुं तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।
किं भुवः परिवृढा न विवोढुं तत्र तामुपगता विवदन्ते ? ॥ ४२ ॥

अन्वयः—(हे देवेन्द्र !) त्वं वीक्षितोऽसि । तत् अथ मां मनुष्यजगते गन्तुम् अनुमनुष्व । तत्र तां विवोढुम् उपगता भुवः परिवृढाः न विवदन्ते किम् ?

व्याख्या—(हे देवेन्द्र !) त्वं, वीक्षितः = दृष्टः, असि = वर्तसे । तत् = तस्मात्कारणात्, अन्यफलाऽभावादिति भावः । अथ = अनन्तरं, मां, मनुष्यजगते गन्तुं = मर्त्यलोकं गन्तुमिति भावः । अनुमनुष्व = अनुजानीहि । तत्र = मनुष्यजगति, भूलोक इति भावः । तां = दमयन्तीं, विवोढं = परिणेतुम्, उपगताः = समागताः, भुवः = भूमेः, परिवृढाः = प्रभवः, भूपतय इत्यर्थः । न विवदन्ते किं = न कलहायिष्यन्ते किम् ? अपि तु सर्व एव विवदिष्यन्त एवेति भावः ।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र !) आपका दर्शन कर लिया । इस कारणसे अब मुझे भूलोकमें जानेके लिए आज्ञा दीजिए । भूलोकमें दमयन्तीसे विवाह करनेके लिए आये हुए राजालोग युद्ध तो नहीं कर रहे हैं ।

टिप्पणी—वीक्षितः = वि + ईक्ष + क्तः (कर्ममें) । मनुष्यजगते गन्तुं = मनुष्याणां जगत्, तस्मै, "गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि" इससे चतुर्थी । गन्तुं = गम् + तुमुन् । विवोढुं = वि + वह + तुमुन् । परिवृढाः = "प्रभुः परिवृढोऽधिपः" इत्यमरः । विवदन्ते = वि + वद् + लट् + झ, "भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः" इस सूत्रसे विमतिमें आत्मनेपद । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमें लट् । दमयन्तीसे विवाह करनेके लिए राजाओंका "मैं ही इनका योग्य हूँ" इस प्रकारसे विवाद होगा, यह भाव है ॥ ४२ ॥

इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन ।
वारितोऽप्यनुजगाम स यान्तं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४३ ॥

अन्वयः—सः मुनिः इति उदीर्य स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन उर्वीं ययौ। स वारितोऽपि यान्तं तम् अपि कियन्ति पदानि अनुजगाम।

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, मुनिः=नारदः, इति=एवं, पूर्वोक्तमिति भावः। उदीर्य=उक्त्वा, स्वर्पतिं=स्वर्गस्वामिनम्, इन्द्रम्। प्रतिनिवर्त्य=परावर्त्य, जवेन=वेगेन, उर्वीं=भूलोकं, ययौ=जगाम, सः=स्वर्पतिः, इन्द्रः। वारितोऽपि=निवर्तितोऽपि, यान्तं=गच्छन्तं, तं=नारदम्, अपराणि अपि=अन्यानि अपि, कियन्ति=कतिचन, पदानि=स्थानानि, असीममिति भावः। अनुजगाम=अनुययौ।

अनुवाद—मुनि नारद ऐसा कहकर इन्द्रको लौटाकर वेगसे मर्त्यलोककी ओर रवाना हुए। रोके जानेपर भी इन्द्रने जाते हुए नारदजीको पहुँचानेके लिए और कुछ पगोंतक उनका अनुगमन किया।

टिप्पणी—स्वर्पतिं=स्वः पतिः, तम् (ष० त०), "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इस वार्तिकसे विकल्पसे रेफ आदेश। प्रतिनिवर्त्य=प्रति+नि+वृत्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। ययौ=या+लिट्+तिप् (णल्)। वारितः=वृञ्+णिच्+क्तः। यान्तं=यातीति यान्, तम्, या+लट् (शतृ)+अम्। पदानि="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। अनुजगाम=अनु+गम्+लिट्॥ ४३॥

पर्वतेन परिपीय गभीरं नारदीयमुदितं प्रतिनेदे।
स्वस्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्षः॥ ४४॥

अन्वयः—पर्वतेन गभीरं नारदीयम् उदितं परिपीय प्रतिनेदे। पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वस्य कश्चित् अपि पक्षः स्वयं न अदर्शि।

व्याख्या—पर्वतेन=तदाख्येन मुनिना पर्वतेन च, गभीरं=गम्भीरं, नारदीयं=नारदसम्बधी, उदितम्=उक्तं, नारदवाक्यमिति भावः, परिपीय=पीत्वा, श्रुत्वेति भावः। प्रतिनेदे=प्रतिध्वने, अप्रतिषेधेन तदेव अनुकृतमिति भावः। पर्वते सन्निकृष्टे प्रतिनाद उचित इति तात्पर्यम्। स्वयं किञ्चिन्नोक्तवानित्याह—स्वस्येति। पर्वतपक्षच्छेदिनि=अद्रिपक्षच्छेदके, इन्द्र इत्यर्थः। स्वस्य=आत्मनः। कश्चित् अपि=कोऽपि, पक्षः=साध्यं गरुच्च, न अदर्शि=न दर्शितः, पर्वतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याऽग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनिः।

अनुवाद—पर्वत(मुनि)ने गम्भीर नारदके वाक्यको आदरसे सुनकर प्रतिध्वनि की (उसीका अनुमोदन किया)। पर्वतके पक्षको काटनेवाले इन्द्रमें पक्ष स्वयं नहीं दिखलाया।

टिप्पणी—नारदीयं=नारदस्य इदं, तत्, नारद+छ (ईय)+अम्। उदितं=वद्+क्त+अम्। परिपीय=परि+पीङ्+क्त्वा (ल्यप्)। प्रतिनेदे =प्रति+नद्+लिट् (कर्ममें)+त। पर्वतपक्षच्छेदिनि=पर्वतानां पक्षाः (ष० त०), तान् छिनत्तीति तच्छीलः पर्वतपक्षच्छेदी, तस्मिन्, पर्वतपक्ष+छिद +णिनि (उपपद०)+ङि। पक्षः="पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु" इति वैजयन्ती। अदर्शि=दृश्+णिच्+लुङ् (कर्ममें)+त। पर्वतके पंखोंको काटनेवाले इन्द्रमें पर्वत मुनिने अपना कुछ साध्य और पंख नहीं दिखलाया, यह तात्पर्य है॥ ४४॥

> **पाणये बलरिपोरथ भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हम्।**
> **भेषजं चिरचिताऽशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः॥ ४५॥**

अन्वयः—अथ रतीशः बलरिपोः पाणये चिरचिताऽशनिवासव्यापदां भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हं भेषजम् उपदिदेश।

व्याख्या—इन्द्रस्य भैम्यामनुरागं प्रतिपादयति—पाणय इति। अथ= नारदनिर्गमनाऽनन्तरं, रतीशः=कामः, बलरिपोः = बलाऽरातेः, इन्द्रस्येत्यर्थः। पाणये=कराय, चिरचिताऽशनिवासव्यापदां=बहुसमयसञ्चितवज्रवासदाहविपत्तीनां, भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हं=दमयन्तीशीतलमृदुलपाणिग्रहणयोग्यं, भेषजम्=औषधम्, उपदिदेश=उपदिष्टवान्।

अनुवाद—नारदजीके जानेके अनन्तर कामदेवने इन्द्रके हाथके लिए बहुत समयतक वज्रके निवाससे सञ्चित दाहरूप आपत्तियोंका दमयन्तीके शीतल और कोमल करके ग्रहणरूप योग्य औषधका उपदेश किया।

टिप्पणी—रतीशः=रतेरीशः (ष० त०)। बलरिपोः=बलस्य रिपुः, तस्य (ष० त०)। चिरचिताऽशनिवासव्यापदां=चिरं चिताः (सुप्सुपा०), अशनेर्वासः (ष० त०), तेन व्यापदः (तृ० त०), चिरचिताश्च ता अशनिवासव्यापदः, तासाम् (क० धा०)। भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हं= शीतश्चाऽसौ कोमलः (क० धा०), शीतकोमलश्चाऽसौ करः (क० धा०), भैम्याः शीतकोमलकरः (ष० त०), तस्य ग्रहणं (ष० त०), तदेन अर्हम्

(रूपक०), तत् । उपदिदेश = उप + दिश् + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ४५ ॥

नाकलोकभिषजोः सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव ।
वेद्मि तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्यः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—नाकलोकभिषजोः या सुषमा, सा एव पुष्पचापं चुम्बति । असौ तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्यः (अत एव) तादृक् (सन्) अभिषज्यत् (इति) वेद्मि ।

व्याख्या—ननु कामदेवस्य कुतो वैद्यविद्येति प्रतिपादयति—नाकलोकभिषजोरिति । नाकलोकभिषजोः=स्वर्गवैद्ययोः, अश्विनीकुमारयोरित्यर्थः । या, सुषमा=परमशोभा, सा एव=सुषमा एव, पुष्पचापम् अपि=कामदेवम् अपि, चुम्बति=स्पृशति । असौ=पुष्पचापः, कामदेवः । तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्यः=सुषमाद्वारसङ्क्रमितभैषज्यः, अत एव तादृक्=नाकलोकभिषक्, स्ववैद्यः सन्नित्यर्थः । अभिषज्यत्=चिकित्सितवान्, इति वेद्मि=जानामि, वाक्यार्थः कर्म ।

अनुवाद—स्वर्गके वैद्य दो अश्विनीकुमारोंकी जो उत्तम शोभा है, वही शोभा कामदेवको भी स्पर्श करती है । उसी उत्तम शोभाके द्वारसे संक्रान्त आयुर्वेदविद्याको प्राप्त कर स्वर्गके वैद्यके सदृश होते हुए कामदेवने इन्द्रकी चिकित्सा की, मैं ऐसा जानता हूँ ।

टिप्पणी—नाकलोकभिषजोः=नाकश्चाऽसौ लोकः (क० धा०), तस्य भिषजौ, तयोः (ष० त०) । पुष्पचापं=पुष्पाणि चापो यस्य सः, तम् (बहु०) । चुम्बति=चुबि + लट् + तिप् । तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्यः= सा एव द्वारं (रूपक०), तेन सङ्क्रमिता (तृ० त०) । वैद्यस्य कर्म वैद्यकम्, "वैद्य" शब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय, वैद्यकम् एव विद्या (रूपक०), तद्द्वारसङ्क्रमिता वैद्यकविद्या यस्मिन् सः (बहु०) । अभिषज्यत्="भिषज् चिकित्सायाम्" इस कण्ड्वादि धातुसे "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इससे यक् प्रत्यय होकर लङ् + तिप् । वेद्मि=विद् + लट् + मिप् । यह पद उत्प्रेक्षाद्योतक है ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी ।
खण्डितं निजमसूचयदुच्चैर्मानमाननसरोरुहनत्या ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ मघोनी पत्यौ खर्वभावम् अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति (सति) आननसरोरुहनत्या उच्चैः निजं मानं खण्डितम् असूचयत् ।

व्याख्या—अथ = इन्द्रस्य भैमीरागाऽनन्तरं, मघोनी = इन्द्राणी, पत्यौ = स्वामिनि, इन्द्रे । खर्वभावं = नीचत्वम्, अवलम्ब्य = स्वीकृत्य, मानुषीं = मानुषस्त्रियं, भैमीम् । अनुसरति = अनुवर्तमाने सति । आननसरोरुहनत्या = मुखकमलनमनेन, चिन्तयेति शेषः । उच्चैः = उन्नतं, निजं = स्वकीयं, मानम् = अहङ्कारं, खण्डितं = भग्नम्, असूचयत् = सूचितवती ।

अनुवाद—तब नीचभावका आश्रय कर पतिके मानुषी दमयन्तीका अनुसरण करनेपर इन्द्राणीने मुखकमलको झुकाकर उन्नत अपने अहङ्कारके खण्डित होनेकी सूचना की

टिप्पणी—मघोनी = मघोनः स्त्री, मघवन् शब्दसे "पुंयोगादाख्यायाम्" इस सूत्रसे ङीप् और "श्वयुवमघोनामतद्धिते" इससे सम्प्रसारण (उ) होकर गुण । खर्वभावं = खर्वस्य भावः, तम् (ष० त०) । मानुषीं = मानुष शब्दसे "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" इससे जातिवाचक होनेसे ङीप् । अनुसरति = अनु + सृ + लट् (शतृ) + ङि । आननसरोरुहनत्या = आननम् एव सरोरुहं (रूपक०), तस्य नतिः, तया (ष० त०) । असूचयत् = सूच + णिच् + लङ् + तिप् । इन्द्राणीने मुखको झुकानेसे ही अपनी विरक्तिकी सूचना दी । गम्भीर नायिका होनेसे वचनसे कुछ नहीं कहा, यह भाव है, रूपक अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमाऽलमलम्भि ।
वर्ण एव स खलूज्ज्वलमस्याः शान्तमन्तरमभाषत भङ्ग्या ॥ ४८ ॥

अन्वयः—मघोनि दिवम् उच्चरमाणे (सति) रम्भया यो मलिनिमा अलम् अलम्भि स वर्ण एव अस्या अन्तरम् उज्ज्वलं सत् भङ्ग्या शान्तम् अभाषत खलु ।

व्याख्या—अन्यासामपि कासाञ्चिदप्सरसामीर्ष्याऽनुभावानाह—यो मघोनीति । मघोनि = इन्द्रे, दिवम् = आकाशम्, उच्चरमाणे = उत्पतति सति, रम्भया = कयाचिदप्सरसा, यः, मलिनिमा = मलिनत्वम्, अलम् = अत्यन्तम्, अलम्भि = प्राप्तः, सः = पूर्वोक्तः, वर्ण एव = मलिनिमा एव, अस्याः = रम्भायाः । अन्तरम् = अन्तःकरणम्, उज्ज्वलं = रोषात्प्रज्वलितं

सत्, भङ्ग्या=कयाचिद्रीत्या, भवितव्यताप्राबल्यधियेत्यर्थः। शान्तं=शमितं, निर्वाणमिति भावः, अभाषत=भाषितवान्, असूचयदिति भावः, खलु= निश्चयेन।

अनुवाद—इन्द्रके स्वर्गको छोड़कर जानेपर रम्भाने जो मालिन्यको अत्यन्त ही प्राप्त किया, उस(मालिन्य)ने ही उनका अन्तःकरण क्रोधसे प्रज्वलित होकर किसी रीतिसे बुत गया है, ऐसी सूचना दी।

टिप्पणी—उच्चरमाणे=उच्चरते इति उच्चरमाणः, तस्मिन्, उद्+चर+लट् (शानच्)+ङि, "उदश्चरः सकर्मकात्" इस सूत्रसे आत्मनेपद। मलिनिमा=मलिनस्य, भावः, मलिन शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय। अलम्भि=लभ+लुङ् (कर्ममें)+त, "विभाषा चिण्णमुलोः" इस सूत्रसे विकल्पसे नुम् आगम, नुम्के न होनेपर "अलाभि" ऐसा रूप बनता है। शान्तं=शम्+क्त+सु "वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः" इससे वैकल्पिक निपातन, दूसरे पक्षमें 'शमितम्" ऐसा रूप बनता है। अभाषत= भाष+लङ्+त। मालिन्यने रम्भाके अन्तःकरणको बुते हुए अलातके समान मलिन जताया, यह तात्पर्य है। बाहरकी विवर्णताका मूल अन्तःकरणकी विवर्णता है, यह भाव है। इस पद्यमें भावोदय अलङ्कार है॥ ४८॥

जीवितेन कृतमप्सरसां तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तिमती नः।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन॥ ४९॥

अन्वयः—"अप्सरसां नः जीवितेन कृतं, तत् इह प्राणमुक्तिः, युक्तिमती" इति घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन अनक्षरम् अवाचि।

व्याख्या—अप्सरसां=स्वर्गाऽङ्गनानां, नः=अस्माकं, जीवितेन= जीवनेन, कृतम्=अलम्, जीवितेन साध्यं नाऽस्तीति भावः। तत्=तस्मात्कारणात्, इह=अस्मिन्समये, प्राणमुक्तिः=प्राणत्याग एव, युक्तिमती=युक्ता, इति=एवम्, घृताच्या=तदाख्यया कयाचिदप्सरसा, दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन =दीर्घनिःश्वासनिष्क्रमणेन; अनक्षरम्=अशब्दप्रयोगं यथा तथा, अवाचि= उक्तम् इव।

अनुवाद—"हम अप्सराओंको जीवनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, इससे यहाँपर प्राण छोड़ना ही उचित है" इस बातको घृताची नामकी अप्सराने दीर्घनिःश्वास छोड़नेसे शब्दप्रयोगके बिना ही मानों सूचित किया।

टिप्पणी—जीवितेन="कृतम्"के योग में "गम्यमानाऽपि क्रिया कारक-

विभक्तौ प्रयोजिका'' इस नियमसे तृतीया। प्राणमुक्तिः=प्राणानां मुक्तिः (ष० त०)। युक्तिमती=युक्ति+मतुप्+ङीप्+सु। दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन=दीर्घं च निःश्वसितं (क० धा०), तस्य निर्गमनं, तेन (ष० त०)। अनक्षरम्=अविद्यमाना अक्षरा यस्मिन् (कर्मणि तद्यथा तथा) (नञ्बहु०)। अवाचि=वच्+लुङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें व्यञ्जक इव आदि शब्दका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ४९ ॥

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयाऽपि।
चामरस्य पतनेन कराऽब्जात्तद्विलोलनवलद्भुजनालात् ॥ ५० ॥

अन्वयः—तिलोत्तमया अपि तद्विलोलनवलद्भुजनालात् कराऽब्जात् चामरस्य पतनेन, एवं नः अपि इतः पतनम् एव साधु, स्यात् इति अभण्यत (इव)।

व्याख्या—तिलोत्तमया अपि=तदाख्यया कयाचिदप्सरसा अपि, तद्विलोलनवलद्भुजनालात्=चमरान्दोलनचलद्बाहुनालात्, कराऽब्जात्=पाणिकमलात्, चामरस्य=प्रकीर्णकस्य, पतनेन=पातेन, एवम्=इत्थं, चामरवदेवेति भावः। नः अपि=अस्माकम् अपि, इतः=अस्मात्, स्वर्गादित्यर्थः। पतनम् एव=पात एव, साधु=समीचीनं, स्यात्=भवेत्, इति=एवम्, अभण्यत=भणितम् (इव)।

अनुवाद—तिलोत्तमाने भी चामरके आन्दोलनसे चञ्चल बाहुनालवाले पाणिकमलसे चामरके गिरनेसे "इसी तरह हम लोगोंका भी स्वर्गसे पतन ही अच्छा होगा'' मानों इस बातको सूचित किया।

टिप्पणी—तद्विलोलनवलद्भुजनालात्=तस्य (चामरस्य) विलोलनम् (ष० त०), वलन् भुज एव नालो यस्य तत् (बहु०), तद्विलोलनेन वलद्भुजनालं, तस्मात् (तृ० त०)। कराऽब्जात्=कर एव अब्जं, तस्मात् (रूपक०)। अभण्यत=भण+लङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें भी व्यञ्जक शब्दके अभावसे पूर्व पद्यके समान प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ५० ॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्थाम्।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्क्लिसिमसृजद् बहिरुत्थाम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—मेनका मनसि उदीतं तापं पिधित्सुः (सती) यत् अवहित्थाम् अकरोत् तत् (एव) निजहृदः पुटपाके बहिः उत्थां पङ्क्लिसिं स्फुटम् असृजत्।

व्याख्या—मेनका=तदाख्या काचिदप्सराः, मनसि=हृदये, उदीतम्=उत्पन्नं, तापं=सन्तापम्, आधिमिति भावः। पिधित्सुः=पिधातुमिच्छुः सती, यत् अवहित्थाम्=आकारगुप्तिम्, अकरोत्=कृतवती, तद्=आकारगोपनम् इव। निजहृदः=स्वमनसः, पुटपाके=गूढापाके, बहिः=बहिर्भागे, उत्थाम्=उत्थितां, बाह्यमित्यर्थः। पङ्कलिप्ति=कर्दमलेपं, स्फुटं=व्यक्तम्, असृजत्=अकरोत्।

अनुवाद—मेनका नामकी अप्सराने मनमें उत्पन्न ताप(आधि)को आवरण करनेकी इच्छा करती हुई जो आकारगोपन किया, उसीको मानों अपने हृदयके पुटपाक(गूढपाक)में बाहर पङ्कलेप कर दिया।

टिप्पणी—पिधित्सुः=अपिधातुम् इच्छुः, अपि+धा+सन्+उ। भागुरिके मतसे 'अ'का लोप। निजहृदः=निजं च तत् हृत्, तस्य (क० धा०)। पुटपाके=पुटे (लोहादिमयौषधपाकपात्रे) पाकः (पचनम्), तस्मिन् (स० त०)। लोहा या मिट्टीके पात्रमें औषध रखकर उसका मुँह बन्द कर आगमें डाल दिया जाता है, उसे "पुटपाक" कहते हैं। उत्थाम्=उत्तिष्ठतीति उत्था, ताम्, उद्+स्था+कः (कर्तामें)+टाप्+अम्। पङ्कलिप्ति=पङ्केन लिप्तिः; ताम् (तृ० त०)। असृजत्=सृज+लङ्+तिप्। पुटपाकमें बाहर पङ्कका लेप और भीतर पकाये गये द्रव्यके समान जबर्दस्तीसे किया गया आकार-गोपन, गोपनीय भीतरी तापका व्यञ्जक हुआ, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलंकार है॥ ५१॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुषद्वपुषैव॥ ५२॥

अन्वयः—गुणवशीकृतविश्वा उर्वशी तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन वपुषा एव शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यम् अपुषत्।

व्याख्या—गुणवशीकृतविश्वा=सौन्दर्यादिरञ्जितलोका, उर्वशी=तदाख्या देवाऽङ्गना, तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन=तत्समयनिश्चलत्वव्याजेन, वपुषा एव=शरीरेण एव, शक्रसौहृदसमापनसीम्नि=इन्द्रसौहार्दसमाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं=जाड्यकृत्यं, स्थूणाकृत्यं च, अपुषत्=पुष्टवती, ज्ञापितवतीति भावः।

अनुवाद—सौन्दर्य आदि गुणोंसे लोकको वशमें करनेवाली उर्वशी नामकी अप्सराने उस समय निश्चलत्वके बहाने शरीरसे ही इन्द्रके सौहार्दकी

समाप्तिकी सीमामें स्तम्भ(निश्चलता वा खम्बा)के कार्यका ज्ञापन किया।

टिप्पणी—गुणवशीकृतविश्वा = वशीकृतं विश्वं यया सा (बहु०), गुणैः वशीकृतविश्वा (तृ० त०)। तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन=स चाऽसौ क्षणः (क० धा०), स्तिमितश्चाऽसौ भावः (क० धा०), तत्क्षणं स्तिमितभाव, "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष। "स्तिमितभाव" कहनेसे अङ्गोंकी निष्क्रियता, स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव जाना जाता है। तत्क्षणस्तिमितभावस्य निभः, तेन (ष० त०)। "मिषं निभं च निर्दिष्टम्" इति हलायुधः। शक्रसौहृदसमापनसीम्नि=शोभनं हृदयं यस्य स सुहृदयः (बहु०), सुहृदयस्य भावः सौहृदं, सुहृदय शब्दसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होनेपर "हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु" इससे हृदयको 'हृद्' आदेश और आदिवृद्धि। "सुहृद्" शब्दसे अण् प्रत्यय होनेपर "हृद्भगसिन्ध्वन्ते०" इत्यादिसे उभयपद वृद्धि होकर 'सौहार्द" ऐसा रूप बनता है। अत एव आचार्य वामनने लिखा है—"सौहृददौर्हृदशब्दावणि हृद्भावात्"। शक्रस्य सौहृदं (ष० त०), समापनस्य सीमा (ष० त०), शक्रसौहृदस्य समापनसीमा, तस्याम् (ष० त०)। स्तम्भकार्यं=स्तम्भस्य कार्यं, तत् (ष० त०)। "स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः" इति विश्वः। अपुषत्=पुष+लुङ्+च्लि (अङ्)+तिप्॥ ५२॥

काऽपि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित्।
"एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः शतयज्ञः"॥ ५३॥

अन्वयः—काऽपि बुभुत्सुं काम् अपि त्रिदशभर्तरि शृण्वति (सति) "कश्यपसुतः शतयज्ञ एषः कश्यपसुताम् अभिगन्ता पश्य" इति किञ्चित् बभाण।

व्याख्या—अथ कस्याश्चिद्देवाऽङ्गनाया वाक्यमाह—काऽपीति। काऽपि=देवाऽङ्गना, बुभुत्सुं=जिज्ञासुम्, इन्द्रजिगमिषितदेशमिति शेषः, काम् अपि=देवाऽङ्गनां, त्रिदशभर्तरि=देवप्रभौ, इन्द्र इत्यर्थः। शृण्वति=आकर्णयति सति, कश्यपसुतः=कश्यपपुत्रः, शतयज्ञः=शतयज्ञाऽनुष्ठाता, एषः=इन्द्रः, कश्यपसुतां=काश्यपीं क्षितिम्, अभिगन्ता=अभिगमिष्यति, पश्य=विलोकय, स्वर्गं विहाय मर्त्यलोकं गच्छतीति आश्चर्यं विलोकयेत्यर्थः, स्वयं

कश्यपसुतः कश्यपसुतां भगिनीमेव गच्छतीत्याश्चर्यं व्यज्यते । इति=इत्थं, किञ्चित्=किमपि, वाक्यमित्यर्थः, बभाण=जगाद ।

अनुवाद—किसी अप्सराने इन्द्रके जानेके लिए अभीष्ट देशको जाननेकी इच्छा करनेवाली किसी अप्सरासे इन्द्रको सुनाकर—"कश्यपके पुत्र सौ यज्ञोंको करनेवाले ये (इन्द्र) कश्यपकी पुत्री(पृथ्वी अथवा अपनी बहिन)का अभिगमन करनेवाले हैं देखो !" ऐसा कुछ वाक्य कहा ।

टिप्पणी—बुभुत्सुं=बोद्धुम् इच्छुः बुभुत्सुः, ताम्, बुध+सन्+उ+अम् । त्रिदशभर्तरि=त्रिदशानां भर्ता, तस्मिन् (ष० त०), शृण्वति=श्रु+लट् (शतृ)+ङि । कश्यपसुतः=कश्यपस्य सुतः (ष० त०) । शतयज्ञः=शतं यज्ञा यस्य सः (बहु०) । "शतमन्युः" ऐसे पाठान्तरमें भी शतं मन्यवो यस्य सः (बहु०) । "मन्युः क्रोधे क्रतौ दैन्ये" इति विश्वः । कश्यपसुतां=कश्यपस्य सुता, ताम् (ष० त०) । अभिगन्ता=अभि+गम्+लुट्+तिप् । ये इन्द्र स्वयम् कश्यपसुत होकर कश्यपसुता भगिनीमें गमन करते हैं, ऐसा अर्थ व्यङ्ग्य होता है ॥ ५३ ॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा काऽपि शृण्वति मघोनि बभाषे ।
"वीक्षणेऽपि सघृणाऽपि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन ?" ॥५४॥

अन्वयः—आत्मसुभगत्वसगर्वा काऽपि मघोनि शृण्वति (सति एव) आलिं बभाष—"नृणां वीक्षणे अपि सघृणा असि त्वम् अपि सार्थगुणेन न यासि किम् ?

व्याख्या—आत्मसुभगत्वसगर्वा = स्वसौभाग्यगर्ववती, सुभगमानिनीति भावः । काऽपि=काचिद्देवाऽङ्गना, मघोनि=इन्द्रे, शृण्वति=आकर्णयति सत्येव, आलिं=काञ्चित्सखीं, बभाषे = जगाद, नृणां = मनुष्याणां, वीक्षणे अपि=दर्शने अपि, सङ्गतौ किमुतेति शेषः । सघृणा=जुगुप्सायुक्ता, असि=विद्यसे, सा त्वम् अपि, सार्थगुणेन=सङ्घधर्मेण, न यासि किं=न गच्छसि किम् ? गताऽनुगतिकन्यायेनेति भावः ।

अनुवाद—अपने सौभाग्यसे गर्व करनेवाली किसी अप्सराने इन्द्रको सुनाकर अपनी सखीको कहा—"तुम मनुष्योंको देखनेमें भी घृणा करती हो, वैसी तुम भी समूहके धर्मसे (भेड़ियाधसानके न्यायसे) नहीं जाओगी क्या ?

टिप्पणी—आत्मसुभगत्वसगर्वा=सुभगस्य भावः, सुभग+त्व, गर्वेण सहिता सगर्वा (तुल्ययोगबहु०), आत्मनः सुभगत्वं (ष० त०), तेन सगर्वा

(तृ० त०) । मघोनि शृण्वति = "षष्ठी चाऽनादरे" इस सूत्रमें 'च'के पाठसे अनादरमें सप्तमी । बभाषे = भाष + लिट् + त । सघृणा = घृणया सहिता (तुल्ययोगबहु०) । सार्थगुणेन = सार्थस्य गुणः, तेन (ष० त०) । "सङ्घसार्थौ तु जन्तुभिः" इत्यमरः ॥ ५४ ॥

अन्वयुर्द्युतिपयःपितृनाथास्तं मुदाऽथ हरितां कमितारः ।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गताऽनुगतिको महाऽर्घः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—अथ हरितां कमितारः द्युतिपयःपितृनाथाः, तं मुदा अन्वयुः । (तथाहि) एकः परं पुरो वर्त्म कर्षतु, तद्गताऽनुगतिको महाऽर्घो न ।

व्याख्या—अथ = इन्द्रप्रयाणाऽनन्तरं, हरितां = दिशां, कमितारः = कामुकाः, दिक्पाला इति भावः । द्युतिपयःपितृनाथाः = अग्निवरुणयमाः, तम् = इन्द्रं, मुदा = हर्षेण, भैमीदर्शनाऽभिलाषजनितेनेति शेषः । अन्वयुः = अनुयाताः । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति —वर्त्मेति । तथा हि, एकःपरम् = एकजन एव, पुरः = प्रथमतः, वर्त्म = मार्गं, कर्षतु = करोतु, तद्गताऽनुगतिकः = तद्गमनाऽनुगमकारी, महाऽर्घः = महामूल्यः, दुर्लभ इति भावः, न = नो भवतु, अग्रग एव दुर्लभस्तदनुसारिणः सुलभा इति भावः ।

अनुवाद—इन्द्रकी यात्राके अनन्तर दिक्पाल, अग्नि, वरुण और यम इन-लोगोंने उन(इन्द्र)का हर्षसे अनुगमन किया, क्योंकि एक व्यक्ति पहले मार्ग बना दे तो उसके पीछे चलनेवाले दुर्लभ नहीं होते हैं ।

टिप्पणी—हरितां = "दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः" इत्यमरः । कमितारः = कम् + तृच् + जस् । द्युतिपयःपितृनाथाः = द्युतिश्च पयश्च पितरश्च (द्वन्द्वः), तेषां नाथाः (ष० त०), द्युतिनाथ = तेजके स्वामी अग्नि, पयोनाथ = जलके स्वामी वरुण और पितृनाथ = पितरोंके स्वामी यम, यह तात्पर्य है । अन्वयुः = अनु + या + लङ् + झि, "लङः शाकटायनस्यैव" इस सूत्रसे 'झि'के स्थानमें जुस् आदेश । तद्गताऽनुगतिकः = तस्य (मार्गकर्तुः) गतं (गमनम्) (ष० त०), तद्गते अनुगतिर्यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) । "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् । महाऽर्घः = महान् अर्घः (मूल्यम्) यस्य सः (बहु०) । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

प्रेषिताः पृथगथो दमयन्त्यै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यः ।
तद्गुरुं प्रति च तैरुपहाराः सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अथो तैः चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यो दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिताः, तद्गुरुं च प्रति सख्यसौख्यकपटेन निगूढा उपहारा. प्रेषिताः ।

व्याख्या—अथो=अनन्तरं, तैः=इन्द्रादिभिर्देवैः, चित्तचौर्यचतुराः=चित्ताऽऽकर्षणनिपुणाः, दमयन्त्या इति शेषः । निजदूत्यः=स्वसन्देशहराः स्त्रियः, दमयन्त्यै=भैम्यर्थं, पृथक्=प्रत्येकं, प्रेषिताः=प्रहिताः, तद्गुरुं च प्रति=दमयन्तीपितरं (भीमम्) च प्रति, सख्यसौख्यकपटेन=मैत्रीसुखव्याजेन, निगूढाः=गुप्ताः, उपहाराः=उपायनानि, प्रेषिताः=प्रहिताः ।

अनुवाद—अनन्तर इन्द्र आदि देवताओंने चित्तको आकर्षण करनेमें निपुण अपनी दूतियोंको दमयन्तीके लिए और उनके पिता महाराज भीमको मित्रताके सुखके बहानेसे गुप्त उपहारोंको पृथक्-पृथक् भेजा ।

टिप्पणी—चित्तचौर्यचतुराः=चित्तस्य चौर्यं (ष० त०), तस्मिन् चतुराः (स० त०) । निजदूत्यः=निजस्य दूत्यः (ष० त०) । दमयन्त्यै=क्रियाग्रहणमें चतुर्थी । प्रेषिताः=प्र+इष+क्त (कर्ममें)+जस् । तद्गुरुं=तस्या गुरुः, तम् (ष० त०) । सख्यसौख्यकपटेन=सख्यस्य सौख्यं (ष० त०), तस्य कपटं, तेन (ष० त०) । "संख्य०" ऐसे पाठमें संख्यस्य=युद्धस्य । युद्धमें वीरतासे सुख होनेके बहानेसे यह अर्थ है । निगूढाः=नि+गुह्+क्त+जस् ॥ ५६ ॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वर्विहाय बत ? भूरनुसस्रे ।
द्यौर्न काचिदथवाऽस्ति निरूढा, सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—विबुधैः अपि तैः यत् स्वः विहाय भूः अनुसस्रे, बत ! अत्र चित्रम् ? अथवा सा द्यौः काचित् निरूढा न अस्ति । यत्र चित्तं चरति सा एव द्यौः हि ।

व्याख्या—विबुधैः अपि=दैवैः, विद्वद्भिः अपि, तैः=इन्द्रादिभिः, यत् स्वः=स्वर्गं, विहाय=त्यक्त्वा, भूः=भूलोकः, अनुसस्रे=अनुसृता, बत=खेदे ! अत्र=अस्मिन् विषये, चित्रम्=आश्चर्यम् ? न चित्रमिति भावः, अथवा=यद्वा, सा=प्रसिद्धा, द्यौः=स्वर्गः, काचित्=काऽपि, निरूढा=प्रख्याता, न अस्ति=नो विद्यते, किन्तु यत्र=यस्यां, चित्तं=चेतः, चरति=रमते, सा एव, द्यौः=स्वर्गः, हि=निश्चयेन ।

अनुवाद—देवता अथवा विद्वान् होकर भी इन्द्र आदि दिक्पालोंने जो स्वर्गको छोडकर भूलोकका अनुसरण किया, खेद है ! इसमें क्या आश्चर्य है ?

(नहीं), अथवा वह स्वर्ग कोई प्रख्यात पदार्थ नहीं है, जहाँ पर चित्त रम जाय, वही स्वर्ग है ।

टिप्पणी—स्वः=यह अव्यय है । विहाय=वि+हा+क्त्वा (ल्यप्) । अनुसस्रे=अनु+सृ+लिट् (कर्ममें)+त । निरूढा=नि+रुह+क्त+टाप् ॥ ५७ ॥

शीघ्रलङ्घितपथैं रथवाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः ।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—शीघ्रलङ्घितपथैः रथवाहैः भुवं लम्भिता अमी सुरसाराः वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः (सन्तः) अध्वनि दूरं ध्वनितं शुश्रुवुः ।

व्याख्या—शीघ्रलङ्घितपथैः=सत्वराऽतिक्रान्तमार्गैः, रथवाहैः=स्यन्दनाऽश्वैः, भुवं=भूलोकं, लम्भिताः=प्रापिताः, अमी=एते, सुरसाराः=देवश्रेष्ठाः, इन्द्रादय इति भावः । वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धः=वक्रीकृतोर्ध्वीकृतग्रीवकायसंस्थानविशेषाः (सन्तः), अध्वनि=मार्गे, दूरं=विप्रकृष्टदेशोद्भवं, ध्वनितं=ध्वनिं, शुश्रुवुः=श्रुतवन्तः ।

अनुवाद—शीघ्र मार्गको लङ्घन करनेवाले रथके घोड़ोंसे धरतीमें पहुँचाये गये इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंने ग्रीवाको टेढ़ा और ऊँचा करके मार्गमें दूर प्रदेशसे उत्पन्न शब्दको सुना ।

टिप्पणी—शीघ्रलङ्घितपथैः=लङ्घितः पन्था यैस्तैः लङ्घितपथाः (बहु०), शीघ्रलङ्घितपथाः, तैः (सुप्सुपा०) । रथवाहैः=रथस्य वाहाः, तैः (ष० त०) । लम्भिताः=लभ्+णिच्+क्त+जस् । सुरसाराः=सुराणां साराः (ष० त०) । वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः=वक्रिता चाऽसौ उन्नमिता (क० धा०), सा कन्धरा, यस्मिन् (बहु०) । वक्रितोन्नमितकन्धरः बन्धः (शरीरसंस्थानविशेषः) येषां ते (बहु०) । शुश्रुवुः=श्रु+लिट्+झि (उस्) ॥ ५८ ॥

किं घनस्य जलधेरथवैवं नैव संशयितुमप्यलभन्त ।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतिसहोपनतं ते ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ते किं घनस्य ध्वनितम् ? अथवा जलधेः ध्वनितम् ? एवं संशयितुम् अपि नैव अलभन्त, (किन्तु) निःस्वनश्रुतिसहोपनतम् अदूरं स्यन्दनं परम् अपश्यन् ।

व्याख्या—ते=देवाः, किं, घनस्य=मेघस्य, ध्वनितं=ध्वनिः, अथवा=यद्वा, किं, जलधेः=समुद्रस्य, ध्वनितं=ध्वनिः, एवम्=इत्थं, संशयितुम्

अपि = सन्देहं कर्तुम् अपि, नैव, अलभन्त = प्राप्तवन्तः, किं पुनर्निश्चेतुमिति शेषः, किन्तु निःस्वनश्रुतिसहोपनतं = शब्दश्रवणकालप्राप्तम्, अदूरम् = आसन्नं, स्यन्दनं परं = रथम् एव, अपश्यन् = दृष्टवन्तः। एतेन रथवेगः सूच्यते।

अनुवाद—देवताओंने 'क्या यह मेघका शब्द है? वा समुद्रका शब्द है?' ऐसी शङ्का भी नहीं कर पाई थी, किन्तु शब्द सुननेके साथ ही प्राप्त निकटवर्ती रथको ही देख लिया।

टिप्पणी—जलधेः = जल + धा + कि + ङस्। अलभन्त = (डु) लभष् + लङ् + झ। निःस्वनश्रुतिसहोपनतं = निःस्वनस्य श्रुतिः (ष० त०), तया सहोपनतः, तम् (तृ० त०)। अपश्यन् = दृश् + लङ् + झि। इस पद्यमें सन्देह और सहोक्ति दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभावं भावबोधचतुरं तुरगाणाम्।
तत्र नेत्रजनुषः फलमेते नैषधं बुबुधिरे विबुधेन्द्राः ॥ ६० ॥

अन्वयः—एते विबुधेन्द्राः तत्र सूतविश्रमदकौतुकिभावं तुरगाणां भावबोधचतुरं नेत्रजनुषः फल नैषधं बुबुधिरे।

व्याख्या—एते = इमे, विबुधेन्द्राः = देवश्रेष्ठाः, इन्द्रादय इत्यर्थः। तत्र = तस्मिन् रथे। सूतविश्रमदकौतुकिभावं = सारथिविश्रान्तिप्रदविनोदित्वं, तुरगाणाम् = अश्वानां, भावबोधचतुरम् = अभिप्रायज्ञाननिपुणं, नेत्रजनुषः = नयनजन्मनः, फलं = फलरूपं, नैषधं = नलं, बुबुधिरे = ज्ञातवन्तः।

अनुवाद—इन श्रेष्ठ देवोंने उस रथमें सारथिको विश्राम देनेवाले कौतुकसे युक्त, घोड़ोंके अभिप्रायको जाननेमें निपुण और नेत्रोंकी उत्पत्तिके फलरूप नलको जाना (देख लिया)।

टिप्पणी—विबुधेन्द्राः = विबुधानाम् इन्द्राः (ष० त०)। सूतविश्रमदकौतुकिभावं = विश्रमं ददातीति विश्रमदः, विश्रम + दा + क (उपपद०), सूतस्य विश्रमदः (ष० त०), कौतुकम् अस्याऽस्तीति कौतुकी, (कौतुक + इनि + सु), कौतुकिनो भावः (ष० त०), सूतविश्रमदः कौतुकिभावो यस्य सः, तम् (बहु०)। विनोदसे रथको स्वयं हाँकनेवाले, यह तात्पर्य है। भावबोधचतुरं = भावस्य बोधः (ष० त०), तस्मिन् चतुरः, तम् (स० त०)। नेत्रजनुषः = नेत्रयोर्जनुः, तस्य (ष० त०)। नैषधं = निषधानाम् अयं, तम् निषध + अण् + अम्। बुबुधिरे = बुध + लिट् + झ ॥ ६० ॥

वीक्ष्य तस्य वरुणस्तरुणत्वं यद् बभार निबिडं जडभूयम्।
नौचिती जडपतेः किमु साऽस्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वरुणः तस्य तरुणत्वं वीक्ष्य यत् निबिडं जडभूयं बभार, प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य जडपतेः सा औचिती न किमु ?

व्याख्या—वरुणः = पश्चिमदिक्पालः, तस्य = नलस्य, तरुणत्वं = यौवनं, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, यत्, निबिडं = घनं, जडभूयं = जडत्वं, स्तम्भाख्यं सात्त्विकभावमिति भावः। बभार = धृतवान्, प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य = प्रचुराश्चर्यरसनिश्चलस्य, जडपतेः = जलपतेः स्तब्धपतेश्च, सा = जडभूय, विधेयाया औचित्याः प्राधान्यात् सर्वनाम्नः स्त्रीलिङ्गता। औचिती न किमु = औचित्यं न किम् ? औचित्यमेवेत्यर्थः।

अनुवाद—वरुणने नलके तारुण्यको देखकर जिस निबिड जडभाव-(स्तब्धभाव)को धारण किया, प्रचुर आश्चर्य रससे निश्चल जडपति (स्तब्धपति) वा जलपति उनका वह जड़भाव वा जलभाव क्या उचित कर्म नहीं है ?

टिप्पणी—तरुणत्वं = तरुणस्य भावः तरुणत्वं, तत् (तरुण + त्व)। जडभूयं = जडस्य भावो जडभूयं, तत्, जड शब्दसे "भुवो भावे" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय। "जडभूयम्" यहाँपर जड शब्दमें "ड" और "ल"का यमक और श्लेष आदिमें अभेद होनेसे "जलभूयम्" ऐसा पद भी होता है। यौवनसे भूषित नलके रूपको देखकर "दमयन्ती नलको ही वरण करेगी" ऐसा विचार कर वरुण खेदसे स्तब्ध हो गये अथवा जलरूप हो गये, ऐसा भी अर्थ होता है। बभार = भृ + लिट् + तिप् (णल्)। प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य = विस्मयश्चाऽसौ रसः (क० धा०), प्राज्यश्चाऽसौ विस्मयरसः (क० धा०), तेन स्तिमितः, तस्य (तृ० त०)। जडपतेः = जड(ल)स्य पतिः, तस्य (ष० त०)। यहाँपर भी 'ड' और 'ल'के अभेदसे जडपति(स्तब्धपति)का अथवा जलपति(जलके स्वामी)का, ऐसा अर्थ होता है। सा = विधेय "औचिती"की प्रधानतासे तद् शब्दका स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग किया गया है। औचिती = उचितस्य कर्म, उचित + ष्यञ् + ङीप्। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथाऽतिम्लानिमाप रविवंशवतंसः।
कीर्त्यते यदधुनाऽपि स देवः काल एव सकलेन जनेन ॥ ६२ ॥

अन्वयः—रविवंशवतंसः अस्य रूपं विनिरूप्य तथा अतिम्लानिम् आप, यत् अधुना अपि स देवः सकलेन जनेन काल एव कीर्त्यते।

व्याख्या—रविवंशवतंसः = सूर्यकुलभूषणं, यम इत्यर्थः। अस्य = नलस्य, रूपं = सौन्दर्यं, विनिरूप्य = विलोक्य, तथा = तेन प्रकारेण, अतिम्लानिम् = अतिवैवर्ण्यम्, अतिकालिमानमिति भावः। आप = प्राप। यत् = यथा, अधुना अपि = सम्प्रति अपि, सः = पूर्वोक्तः, देवः = सुरः, यम इति भावः। सकलेन = समस्तेन, जनेन = लोकेन, काल एव = कालः (कृष्णवर्णः), अथवा कालनामकः (यमः), एव, कीर्त्यते = कथ्यते।

अनुवाद—सूर्यवंशके भूषण यमने, नलके सौन्दर्यको देखकर उस प्रकारसे अत्यन्त विवर्णता अथवा कालिमाको प्राप्त किया, जो कि अभी भी वे देव (यम) सब जनोंसे काल (काला या यम) कहे जाते हैं।

टिप्पणी—रविवंशवतंसः = रवेः वंशः (ष० त०), तस्य अवतंसः (ष० त०), भागुरिके मतसे 'अवतंस'के अकारका लोप। विनिरूप्य = वि + नि + रूप + क्त्वा (ल्यप्)। अतिम्लानिम् = अत्यन्तं म्लानिः, ताम् (सुप्सुपा०)। आप = आप्लृ + लिट् + तिप् (णल्)। कालः = "कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः" इति। "कृष्णे नीलाऽसितश्यामकालश्यामलमेचकाः" इत्यप्यमरः। कीर्त्यते = "कृत संशब्दने" धातुसे णिच् + लट् (कर्ममें) + त। नलका लोकोत्तर सौन्दर्य देखकर यम ईर्ष्यासे इस तरह विवर्ण (काला रूपवाले) हो गये, जो कि वे अभीतक "काल" कृष्णवर्णवाले कहे जाते हैं, यह अभिप्राय है। यहाँपर "काल"का काला वा यमराज ऐसा अर्थ होनेसे पदश्लेष अलङ्कार है॥ ६२॥

यद् बभार दहनः खलु तापं रूपधेयभरमस्य विमृश्य।
तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतुः॥ ६३॥

अन्वयः—दहनः अस्य रूपधेयभरं विमृश्य यत् तापं बभार खलु, तत्र अनलता जनिकर्त्री मा भूत्; तु तदपि अनलता एव हेतुः।

व्याख्या—दहनः = अग्निः, अस्य = नलस्य, रूपधेयभरं = सौन्दर्यसमृद्धिं, विमृश्य = विचार्य, यत् = यथा, तापं = सन्तापं, बभार = भृतवान्, खलु = निश्चयेन, तत्र = तस्मिन् तापभरणे, अनलता = अग्निता, जनिकर्त्री = जन्मकरी, उत्पादिकेत्यर्थः। मा भूत् = नो भवति, तु = किन्तु, तदपि = तथाऽपि, अनलता एव = नलाऽभावता एव, हेतुः = कारणम्, अस्तीति शेषः।

अनुवाद—अग्निने नलकी सौन्दर्य-सम्पत्तिका विचार करके जिस प्रकार सन्तापको धारण किया, उसमें अग्निता उत्पादिका नहीं है, किन्तु अनलता (नलका न होना) कारण है।

टिप्पणी—रूपधेयभरं=रूपम् एव रूपधेयम्, रूप शब्दसे "भागरूपनामभ्यो धेयः" इससे स्वार्थ(प्रकृत्यर्थ)में धेय प्रत्यय। विमृश्य=वि+मृश्+क्त्वा (ल्यप्)। बभार=भृ+लिट्+तिप् (णल्)। अनलता=अनलस्य भावः, अनल+तल्+टाप्। जनिकर्त्री=जनेः कर्त्री (ष० त०)। मा भूत्=भू+लुङ्+तिप्, माङ्का योग होनेसे "न माङ्योगे" इससे अट् आगमका अभाव। अनलता=न नलः अनलः (नञ्०), अनलस्य भावः, अनल+तल्+टाप्। इस पद्यमें नलकी सौन्दर्य-सम्पत्तिको देखनेसे अग्निको ताप होनेसे अनलता कारण नहीं है किन्तु अनलता ही हेतु है, इस उक्तिमें विरोधाभास अलङ्कार है, अग्निको ताप होनेमें अनलता (अग्निता) हेतु नहीं है, किन्तु अनलता (उनमें नलत्वका अभाव) ही हेतु है, यह परिहार है ॥ ६३ ॥

कामनीयकमधःकृतकामं काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम्।
कौशिकः स्वमखिलं परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥६४॥

अन्वयः—कौशिकः, अधःकृतकामं तदीयं कामनीयकं कामम् अक्षिभिः अवेक्ष्य अथ स्वम् अखिलं परिपश्यन् कौशिकम् एव मन्यते स्म खलु।

व्याख्या—कौशिकः=इन्द्रः, अधःकृतकामं=तिरस्कृतमदनं, तदीयं=नलीयं, कामनीयकं=कमनीयत्वं, सौन्दर्यम्। कामं=प्रकामम्, अक्षिभिः=नेत्रैः, सहस्रसंख्यकैरिति भावः। अवेक्ष्य=दृष्ट्वा, अथ=अनन्तरं, स्वम्=आत्मानम्, अखिलम्=अशेषं यथा तथा, परिपश्यन्=विलोकयन्, कौशिकम् एव=उलूकम् एव, मन्यते स्म=अमन्यत, खलु=निश्चयेन।

अनुवाद—कौशिकि(इन्द्र)ने कामदेवको मात करनेवाले नलके सौन्दर्यको पर्याप्त रूपसे नेत्रोंसे देखकर अनन्तर अपनेको पूर्णरूपसे देखते हुए कौशिक (उल्लू) ही मान लिया।

टिप्पणी—कौशिकः="महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः" इत्यमरः। अधःकृतकामम्=अधःकृतः कामो येन, तत् (बहु०)। तदीयं=तस्य इदं, तत्, तद्+छ (ईय)+अम्। कामनीयकं=कमनीयस्य भावः कामनीयकं, तत्, कमनीय शब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय। अक्षिभिः=इन्द्रके हजार नेत्र थे, अतः बहुवचनम्। अवेक्ष्य=अव+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। परिपश्यन्=परिपश्यतीति, परि+दृश्+लट् (शतृ)+सु। मन्यते स्म=मन्+लट्+त, 'स्म'के योगमें भूतकालमें लट्। नलका निःसीम सौन्दर्य देखकर इन्द्र उनके मुकाबलेमें अपनेको उल्लूके समान विचार कर दमयन्तीकी प्राप्तिमें निराश हो गये, यह तात्पर्य है ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाऽद्वयवादं मूर्तमुत्थितममुं परिभाव्य।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुराः प्रबभूवुः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सुरा अमुं मूर्तम् उत्थितं रामणीयकगुणाऽद्वयवादं परिभाव्य हृदयानि विस्मयाय वितेरुः, तेन तेषु न प्रबभूवुः ।

व्याख्या—सुराः=देवाः, इन्द्रादयः। अमुं=नलं, मूर्तं=मूर्तिमन्तम्, उत्थितम्=उत्पन्नं, रामणीयकगुणाऽद्वयवादं=सौन्दर्यगुणाऽद्वैतवादम्। परिभाव्य=विचार्य, लोकत्रयैकसुन्दरं मत्त्वेति भावः। हृदयानि=चित्तानि, कर्मभूतानि, विस्मयाय=आश्चर्याय, सम्प्रदानभूताय, वितेरुः=ददुः, तेन=दानेन, तेषु=हृदयेषु विषये, न प्रबभूवुः=प्रभवः न अभवन्।

अनुवाद—इन्द्र आदि देवताओंने नलको मूर्तिमान् उत्पन्न सौन्दर्य गुणके अद्वैतवादरूप विचार कर अपने चित्तोंको आश्चर्यको दे दिया, उस दानसे अपने हृदयोंमें उनका प्रभुत्व नहीं रहा।

टिप्पणी—रामणीयकगुणाऽद्वयवादं=रमणीयस्य भावो रामणीयकम्, रमणीय+वुञ् (अक), रामणीयकम् एव गुणः (रूपक०), न द्वयम् (नञ्), अद्वयं चाऽसौ वादः (क० धा०), रामणीयकगुणस्य अद्वयवादः, तम् (ष० त०)। परिभाव्य=परि+भू+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। वितेरुः=वि+तॄ+लिट्+झि (उस्)। देवताओंने नलको तीन लोकोंमें एकमात्र सुन्दर विचार कर अपने चित्तको विस्मयरसको दे दिया, किसीको दी गयी वस्तुमें अपना अधिकार न रहनेसे उन चित्तोंके वे स्वामी नहीं हुए अर्थात् वे लोग आश्चर्यसे आकृष्ट चित्तवाले हुए, यह भावार्थ है ॥ ६५ ॥

प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः संवदद्भिरमराः श्रुतपूर्वैः।
एष एव स नलः किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अमराः श्रुतपूर्वैः संवदद्भिः प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः "स नल एष एव किम् ?" इति इदं मन्दमन्दम् इतरेतरम् ऊचुः।

व्याख्या—अमराः=देवाः, इन्द्रादयः। श्रुतपूर्वैः=पूर्वं श्रुतैः, सम्प्रति संवदद्भिः=प्रत्यक्षसंवादं कुर्वद्भिः, प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः=सौन्दर्याऽतिशयोऽवस्थानैः, सः=श्रुतपूर्वः, नलः=नैषधः, एष एव किं=समीपतरवर्ती एव किम् ? इति=एवम्, इदं=वाक्यम्, मन्दमन्दं=मन्दप्रकारम्, इतरेतरम्=परस्परम्, ऊचुः=जगदुः।

अनुवाद—इन्द्र आदि देवताओंने पहले सुने गये और अभी मिलान खानेवाले सौन्दर्यके तत्तद् अवयवोंमें चिह्नोंसे "वे (सुने गये) नल यही है क्या ?" इस प्रकार धीरे-धीरे परस्परमें कहा।

टिप्पणी—श्रुतपूर्वैः=पूर्वं श्रुताः, तैः (सुप्सुपा०)। संवदद्भिः=सं+वद+लट् (शतृ)+भिस्। प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः=प्रियं रूपं यस्य सः (बहु०), प्रियरूपस्य भावः प्रैयरूपकम्, प्रियरूप शब्दसे "द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय। प्रैयरूपकस्य विशेषाः (ष० त०)। "विशेषोऽवयवे व्यक्त" इत्युत्पलमालायाम्। प्रैयरूपकविशेषेषु निवेशाः, तैः (स० त०)। मन्दमन्दं=मन्दप्रकारम्, "प्रकारे गुणवचनस्य" इससे द्विर्वचन। इतरेतरं="कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्" इससे द्विर्वचन और समासवद्भाव। ऊचुः=ब्रूञ् (वच्)+लिट्+झि (उस्)॥ ६६॥

तेषु तद्विधवधूवरणाऽर्हं भूषणं, स समयः स रथाऽध्वा।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः॥ ६७॥

अन्वयः—तस्य तद्विधवधूवरणाऽर्हं भूषणं, स समयः, कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् स रथाऽध्वा च (एते) भूपतेः व्यवसितानि तेषु शशंसुः।

व्याख्या—तस्य=नलस्य, तद्विधवधूवरणाऽर्हं=दमयन्तीसदृशवधूवरणयोग्यं, भूषणम्=अलङ्कारः, सः=लोकप्रसिद्धः, समयः=स्वयंवरकालः, कुण्डिनपुरं=विदर्भनगरं, प्रतिसर्पन्=प्रतिगच्छन्, सः=तादृशः, रथाऽध्वा च=स्यन्दनमार्गश्च (एते=पदार्थाः)। भूपतेः=राज्ञो नलस्य, व्यवसितानि=व्यवसायान्, उद्योगान्, तेषु=इन्द्रादिलोकपालेषु, शशंसुः=सूचयामासुः।

अनुवाद—उन(नल)के दमयन्तीसदृश वधूके वरणके योग्य अलङ्कार, वह स्वयंवरका काल, कुण्डिनपुरको जानेवाला रथका मार्ग (इन सब पदार्थोंने) इन्द्र आदि देवताओंको नलके उद्योगकी सूचना की।

टिप्पणी—तद्विधवधूवरणाऽर्हं=सा विधा (प्रकारः, सौन्दर्याद्यसाधारणधर्मः) यस्याः सा तद्विधा (बहु०), सा चाऽसौ वधूः (क० धा०), तस्या वरणं (ष० त०), तस्मिन् अर्हम् (स० त०)। प्रतिसर्पन्=प्रति+सृप्+लट् (शतृ)+सु। रथाध्वा=रथस्य अध्वा (ष० त०)। भूपतेः=भुवः पतिः, तस्य (ष० त०)। शशंसुः=शंस+लिट्+झि (उस्)॥ ६७॥

धर्मराजसलिलेशहुताऽशैः प्राणतां श्रितमगुं जगतस्तैः।
प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैश्चेतसा निभृतमेतदचिन्ति॥ ६८॥

अन्वयः—जगतः प्राणतां श्रितम् अमुं प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैः धर्मराज-सलिलेशहुताऽशैः चेतसा निभृतम् एतत् अचिन्ति ।

व्याख्या—जगतः=लोकस्य, प्राणतां=प्राणत्वं, जगज्जीवनत्वं जगत्प्रियत्वं वा, श्रितम्=आश्रितम्, अमुं=नलं, प्राप्य=आसाद्य, हृष्टचलविस्तृत-तापैः=सन्तुष्टचञ्चलविततविरहसन्तापैः । धर्मराजसलिलेशहुताऽशैः=यमराज-वरुणाऽग्निभिः, चेतसा=चित्तेन, निभृतं=निगूढम्, एतत्=इदम्, अनन्तर-श्लोकत्रये वक्ष्यमाणमिति भावः । अचिन्ति=चिन्तितम् ।

अनुवाद—लोकके प्राणभूत नलको प्राप्त करके सन्तुष्ट, चञ्चल और विस्तृत तापवाले यम, वरुण और अग्निने चित्तसे गुप्तरूपसे ऐसी (पीछे कही जानेवाली) चिन्ता की ।

टिप्पणी—प्राणतां=प्राण+तल्+टाप्+अम् । प्राप्य=प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्) । हृष्टचलविस्तृततापैः=विस्तृतः तापः येषां ते (बहु०), हृष्टाश्च ते चलाः (क० धा०), ते च ते विस्तृततापाः, तैः (क० धा०) । जगत्के प्राणभूत नलके दर्शनसे हृष्ट (सन्तुष्ट), नलके सौन्दर्यको देखनेसे दमयन्तीमें निराश होनेसे चल (चञ्चल) और विस्तृततap (विस्तृत विरहके तापवाले) इन्द्र आदि देवताओंने, यह अभिप्राय है । कुछ टीकाकारोंने इन तीन विशेषणोंको यथाक्रम धर्मराज, वरुण और अग्नि इन तीन देवताओंमें लगाया है, परन्तु महोपाध्याय मल्लिनाथने युक्तिपूर्वक इस मतका खण्डन कर तीनों देवताओंमें समष्टि रूपसे लगाया है । धर्मराजसलिलेशहुताशैः=धर्मस्य राजा धर्मराजः (ष० त०), सलिलस्य ईशः सलिलेशः (ष० त०), हुतम् अश्नातीति हुताशः । हुत+अश्+अण् (उपपद०), धर्मराजश्च सलिलेशश्च हुताशश्च, तैः (द्वन्द्व) । अचिन्ति=चिन्त + णिच् + लुङ्+त ॥ ६८ ॥

नैव नः प्रियतमोभयथाऽसौ यद्यमुं न वृणुते वृणुते वा ।
एकतो हि धिगमूमगुणज्ञामन्यतः कथमदःप्रतिलम्भः ? ॥ ६९ ॥

अन्वयः—असौ अमुं यदि न वृणुते, वृणुते वा, उभयथा (अपि) नः प्रियतमा न । हि एकतः अगुणज्ञाम् अमूं धिक् । अन्यतः कथम् अदः-प्रतिलम्भः ?

व्याख्या—पद्यत्रितयेन देवत्रयस्य चिन्ताप्रकारमाह नैवेति । असौ=दमयन्ती, अमुं=नलं, यदि=चेत्, न वृणुते=न स्वीकरोति, वृणुते वा=

स्वीकरोति वा । उभयथा=पक्षद्वयेन (अपि), नलस्य वरणे अवरणेऽपि इति भावः । नः=अस्माकं, प्रियतमा न=दयिततमा न । उभयथाऽपि दमयन्त्याः प्रियतमत्वाऽभावे हेतू उपन्यस्यति--एकत इति । हि=यतः, एकतः=प्रथम-पक्षे, दमयन्त्या 'नलस्य अवरण इति भावः । अगुणज्ञां=गुणज्ञानरहिताम्, अमूं=दमयन्तीं, धिक्, दमयन्त्या निन्दा इत्यर्थः । अन्यतः=अन्यपक्षे, दम-यन्त्या नलस्य वरण इति भावः । कथं=केन प्रकारेण, अदःप्रतिलम्भः=अमुष्या (दमयन्त्याः) प्राप्तिः, नलपत्नीत्वादिति भावः ।

अनुवाद—यह (दमयन्ती) यदि नलका वरण नहीं करती है वा करती है, दोनों पक्षोंमें हमारी प्रियतमा नहीं होगी । क्योंकि प्रथमपक्षमें (नलका वरण नहीं करनेपर), गुणकी परख न करनेवाली उसको धिक्कार है । अन्य-पक्षमें (नलका वरण करनेपर) कैसे हमें दमयन्तीकी प्राप्ति होगी ?

टिप्पणी—वृणुते=वृञ्+लट्+त । उभयथा=उभाभ्यां प्रकाराभ्याम्, उभ+तयप्, (आवृत्तिमें)+थाल् । नः=अस्मद् शब्दकी षष्ठीमें एकत्वकी विवक्षामें "अस्मदो द्वयोश्च" इससे बहुवचन । प्रियतमा=अतिशयेन प्रिया, प्रिय+तमप्+टाप् । एकतः=एक+तसिल् । अगुणज्ञां=गुणं जानातीति गुणज्ञा, गुण+ज्ञा+क+टाप् (उपपद०), न गुणज्ञा, ताम् (नञ्०) । अमूम्="धिक्" पदके योगमें "धिगुपर्यादिषु" इससे द्वितीया । अन्यतः=अन्य+तसिल् । अदःप्रतिलम्भः=अमुष्याः प्रतिलम्भः (ष० त०) ॥ ६९ ॥

मामुपैष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम् ।
ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ? ॥ ७० ॥

अन्वयः—इयम् इयत् अस्य मत्तः महत्त्वं न वेद यदि, तदा माम् उपैष्यति । ईदृशी नृपपुत्री अपरात् मद्विशेषं च कथम् आकलयित्री ?

व्याख्या—इयं=दमयन्ती, इयत्=एतावत्, अस्य=नलस्य, मत्तः=मत्सकाशात्, महत्त्वम्=आधिक्यं, न वेद यदि=नो जानाति चेत्, तदा=तर्हि, मां=धर्मराजं, सलिलेशं हुताशं वा, उपैष्यति=प्राप्स्यति, "वरिष्यति" इति पाठे स्वीकरिष्यतीत्यर्थः । ईदृशी=एतादृशी, नृपपुत्री=राजपुत्री, दम-यन्ती । अपरात्=अपरस्मात्, नलादित्यर्थः । मद्विशेषं च=मदीयोत्कर्षं च, कथं=केन प्रकारेण, आकलयित्री=ज्ञात्री भविष्यतीति शेषः ।

अनुवाद—यह दमयन्ती नलको मुझसे इतने महत्त्वको नहीं जानेगी

तो मुझे स्वीकार करेगी, किन्तु ऐसी राजकुमारी दमयन्ती दूसरेसे (नलसे) मेरे उत्कर्षको कैसी जानेगी ?

टिप्पणी–इयत् = इदम् + वतुप् । मत्तः=अस्मद् + तसिल् । महत्त्वम् = महत् + त्व + अम् । वेद=विद + लट् + तिप् । उपैष्यति = उप + आङ् + इण् + लुट् + तिप् । नृपपुत्री = नृपस्य पुत्री (ष० त०) । अपरात् = वैकल्पिक होनेसे "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" इस सूत्रसे ङसिके स्थानमें "स्मात्" आदेश नहीं हुआ । मद्विशेषं = मम विशेषः, तम् (ष० त०) । आकलयित्री= आङ् + कल + णिच् + तृन् + ङीप् + सु ॥ ७० ॥

> नैषधे बत ! वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि बहिर्भविताऽस्मि ।
> स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७१ ॥

अन्वयः—दमयन्त्या नैषधे वृते (सति) व्रीडितः (सन्) बहिः न भवितास्मि । बत ! गृहेऽपि स्वां वनितां ह्रीनिमीलि आस्यं कथं दर्शयिताहे खलु ।

व्याख्या—दमयन्त्या = भैम्या, नैषधे = नले, वृते = स्वीकृते सति, व्रीडितः = लज्जितः सन्, बहिः = गृहाद् बहिर्भागे, न भवितास्मि = नो भविष्यामि । बतेति खेदे । तर्हि गृह एव उष्यतामित्यत्राह—स्वामिति । गृहेऽपि = स्वभवनेऽपि, स्वां=स्वकीयां, वनितां=महिलां, पत्नीमित्यर्थः ह्रीनिमीलि = लज्जासङ्कुचितम्, आस्यं = मुखं, कथं = केन प्रकारेण, दर्शयिताहे = दर्शयिष्यामि, खलु = निश्चयेन । सोऽयमुभयतः पाशारज्जुरापतिष्यतीति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीसे नलका वरण करनेपर लज्जित होता हुआ घरके बाहर स्थित नहीं हो सकूँगा । खेद है ! घरमें भी अपनी स्त्री(पत्नी)को लज्जासे संकुचित मुख कैसे दिखाऊँगा ?

टिप्पणी—व्रीडितः=व्रीडा + इतच् । भवितास्मि = भू + लुट् + मिप् । वनिताम् = णिच् न होनेपर कर्तृभूत "वनिता" पदसे "दर्शयिताहे" इस ण्यन्तपदके योगमें 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्" इस वार्तिकसे विकल्पसे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया । एक पक्षमें "वनितया" ऐसा रूप भी है । ह्रीनिमीलि=ह्रिया निमीलति (संकुचति) इति, ह्री + नि + मील + णिनि + सु (उपपद०) । दर्शयिताहे = दृश् + णिच् + लुट् (कर्तरि) + इट । "णिचश्च" इससे आत्मनेपद ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मनसाऽऽत्मविधेयं किञ्चन त्रिविबुधी बुबुधे न ।
नाकनायकमपास्य तमेकं सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥ ७२ ॥

अनुवाद—त्रिविबुधी इति मनसा अवेत्य किञ्चन आत्मविधेयं न बुबुधे । सा तम् एकं नाकनायकम् अपास्य परस्परम् आस्यं पश्यति स्म ।

व्याख्या—त्रिविबुधी = देवत्रयी, इति = एवं, पूर्वपद्यत्रयोक्तप्रकारेणेति भावः । मनसा = चित्तेन, अवेत्य = आलोच्य, किञ्चन = किमपि, आत्मविधेयं = स्वकर्तव्यं, न बुबुधे = नो विवेद । किञ्च सा = पूर्वोक्ता, त्रिविबुधीति भावः । तं=पूर्वोक्तम्, एकं, नाकनायकं=स्वर्गपतिम्, इन्द्रमित्यर्थः । अपास्य = त्यक्त्वा, परस्परम्=अन्योऽन्यम्, आस्यं = मुखं, पश्यति स्म = अपश्यत् ।

अनुवाद—यम, वरुण और अग्नि, ये तीन देवता मनसे ऐसा विचार कर कुछ भी अपना कर्तव्य नहीं जान सके । तीनोंने एक इन्द्रको छोड़कर परस्पर एकने दूसरेका मुख ताका ।

टिप्पणी—त्रिविबुधी = त्रयाणां विबुधानां समाहारः (द्विगु०) । अवेत्य= अव + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । आत्मविधेयम् = आत्मनो विधेयं, तत् (ष० त०) । बुबुधे = बुध + लिट् + त । नाकनायकं = नाकस्य नायकः, तम् (ष० त०) । अपास्य = अप + अस् + क्त्वा (ल्यप्) ॥ ७२ ॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्धं स्वाऽनुगाऽऽननमवेक्ष्य ऋभुक्षाः ।
शंसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य ॥ ७३ ॥

अन्वयः—कपटे पटुः ऋभुक्षाः अधुना किं विधेयम् इति विमुग्धं स्वाऽनुगाऽऽननम् अवेक्ष्य नलस्य वञ्चनं समभिलष्य उच्चैः शंसति स्म ।

व्याख्या—कपटे = परवञ्चने, पटुः=कुशलः, ऋभुक्षाः=इन्द्रः, अधुना= सम्प्रति, किं विधेयं=किं कर्तव्यम्, इति=अनिश्चयात्, विमूढं=विशेषमोहयुक्तं, स्वाऽनुगाऽऽननम्=आत्माऽनुयायिवदनम्, अवेक्ष्य=दृष्ट्वा, नलस्य= नैषधस्य, वञ्चनं = प्रतारणं, समभिलष्य = अभिसन्धाय, उच्चैः = तारस्वरेण, शंसति स्म = जगाद ।

अनुवाद—कपटमें कुशल इन्द्रने "अभी क्या करना चाहिए" इस विषयमें मोहयुक्त अपने अनुयायी यम आदिका मुख देखकर नलकी प्रतारणाका अभिलाष कर ऊँचे स्वरसे कहा ।

टिप्पणी—विधेयं = वि + धा + यत् । विमुग्धं=वि + मुह् + क्त + अम् । स्वाऽनुगाऽऽननं = स्वस्य अनुगाः (ष० त०), स्वाऽनुगानाम् आननं, तत्

(ष० त०) । अवेक्ष्य=अव+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्) । समभिलष्य=सम्+अभि+लष्+क्त्वा (ल्यप्) ॥ ७३ ॥

"सर्वतः कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा नः ।
स्वाऽऽसनार्धसुहृदस्तव रेखां वीरसेननृपतेरिव विद्मः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—सर्वतः कुशलभाक् असि कच्चित् ? त्वं स नैषध इति नः प्रतिभा, तव रेखां स्वाऽऽसनाऽर्धसुहृदः वीरसेननृपतेः इव विद्मः ।

व्याख्या—सर्वतः=विश्वतः, स्वाम्यमात्यादिषु सप्तस्वङ्गेष्विति भावः । कुशलभाक्=क्षेमसम्पन्नः, असि=विद्यसे, कच्चित्=किम् । त्वं=भवान्, सः=प्रसिद्धः, नैषधः=नलः, इति=एवं, नः=अस्माकं, प्रतिभा=प्रतीतिः । तत्र हेतुं प्रदर्शयति—स्वाऽऽसनार्धसुहृद इति । तव=भवतः, रेखाम्=आकृतिं, स्वाऽऽसनाऽर्धसुहृदः=आत्माऽर्धासनमित्रस्य, वीरसेननृपतेः इव=वीरसेनाऽऽख्यनृपस्य इव, विद्मः=जानीमः ।

अनुवाद—सर्वत्र, स्वामी अमात्य आदि सातों अङ्गोंमें आप कुशलसम्पन्न है, क्या ? आप वे ही नल हैं, ऐसी मुझे प्रतीति हो रही है, क्योंकि आपकी आकृति अपने आधे आसनके मित्र वीरसेन नामके राजाके समान हम लोग जान रहे हैं ।

टिप्पणी—कुशलभाक्=कुशलं भजतीति, कुशल+भज्+ण्वि (उपपद०) +सु । कच्चित्="कच्चित्कामप्रवेदने" इत्यमरः । स्वाऽऽसनार्धसुहृदः=स्वस्य आसनं (ष० त०), तस्य अर्धं (ष० त०), तस्मिन् सुहृत्, तस्य (स० त०) । वीरसेननृपतेः=नृणां पतिः (ष० त०), वीरसेनश्चाऽसौ नृपतिः, तस्य (क० धा०) । विद्मः=विद्+लट्+मस् । राजा वीरसेनके आकारका सादृश्य आपमें देखनेसे आप राजा वीरसेनके पुत्र हैं, हम लोग ऐसा जान रहे हैं, यह तात्पर्य है ।। ७४ ॥

क्व प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयाऽत्र शुभयाऽजनि यन्नः ।
तत्तयैव फलसत्वरया त्वं नाऽध्वनोऽर्द्धमिदमागमितः किम् ? ॥ ७५ ॥

अन्वयः—"हे नल ! क्व प्रयास्यसि ?" इति उक्त्वा अलम् । यत् नः अत्र यात्रया शुभगा अजनि । तत् फलसत्वरया तया एव त्वम् इदम् अध्वनः अर्धम् आगमितो न किम् ?

व्याख्या—हे नल—हे नैषध ! क्व=कुत्र, प्रयास्यसि=गमिष्यसि ? इति=एवम्, उक्त्वा=कथयित्वा, पृष्ट्वेत्यर्थः । अलं=पर्याप्तम्, न प्रष्टव्य-

मिति भावः। यत्=यस्मात्कारणात्, नः=अस्माकम्, अत्र=इह, यात्रया= प्रयाणेन, शुभया=कल्याण्या, सफलयेति भावः। अजनि=जातम्। तत्= तस्मात्कारणात्, फलसत्वरया=फले (शुभपरिणामे) सत्वरया (शीघ्रया), फलार्थिन्येति भावः। तया एव=यात्राया एव कर्त्र्या, त्वम्, इदम्=एतत्, अध्वनः अर्धम्=अर्धमार्गम्, आगमितो न किम्=प्रापितो न किम् ? अस्म-दर्थमेव इदं तवागमनमिति भावः।

अनुवाद—"हे नल ! आप कहाँ जायेंगे" ऐसा नहीं कहना चाहिए। जिससे कि हम लोगोंका यहाँ आगमन सफल हुआ, उस कारणसे फलका अभिलाष करनेवाले उस आगमनसे ही आप इस आधे मार्गमें प्राप्त नहीं किये गये हैं क्या ?

टिप्पणी—प्रयास्यसि=प्र+या लृट्+सिप्। उक्त्वा=ब्रूञ् (वच्) +क्त्वा, "अलम्" इस पदके योगमें "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय। अजनि=जन्+लुङ् (भावमें)+च्लि (चिण्)+त। फलसत्वरया=त्वरया सहित सत्वरा (तुल्ययोगबहु०), फले सत्वरा, तया (स० त०)। आगमितः=आङ्+गम्+णिच्+क्त। हम लोगोंके लिए ही आपका यह आगमन है, यह अभिप्राय है ॥ ७५ ॥

एष नैषध ! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिलः स हुताशः।
यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—हे नैषध ! एष स दण्डभृत्। एष ज्वालजालजटिलः स हुताऽशः। एष च स यादसां पतिः। शेषं (माम्) सुराणां शासितारम् अवगच्छ।

व्याख्या—हे नैषध=हे नल ! एषः=पुरोवर्ती, स=प्रसिद्धः, दण्डभृत् =यमः। एषः=पुरोवर्ती, ज्वालजालजटिलः=अर्चिःसमूहव्याप्तः, सः = प्रसिद्धः, हुताऽशः=अग्निः। एष च=पुरोवर्ती च, सः=प्रसिद्धः, यादसां= जलजन्तूनां, पतिः=स्वामी, वरुण इति भावः, अस्तीति शेषः। शेषं=शिष्टं, मामिति शेषः। सुराणां=देवानां, शासितारं=शासनकर्तारं, देवेन्द्रमिति भावः। अवगच्छ=जानीहि।

अनुवाद—हे नल ! ये प्रसिद्ध यमराज हैं। वे ज्वालाओंके समूहसे व्याप्त प्रसिद्ध अग्नि हैं। ये जलजन्तुओंके स्वामी प्रसिद्ध वरुण हैं। अवशिष्ट मुझको आप देवताओंके शासक इन्द्र जानिए।

टिप्पणी—दण्डभृत्=दडं बिभर्तीति, दण्ड+भृ+क्विप् (उपपद०)+सु । ज्वालजालजटिलः=ज्वालानां जालम् (ष० त०), जटाः सन्ति यस्मिन् स जटिलः, जटा शब्दके पिच्छादिगणमें पढ़े जानेसे "लोमाऽऽदिपामाऽऽदिपिच्छाऽऽदिभ्यः शनेलचः" इस सूत्रसे इलच् प्रत्यय । ज्वालजालेन जटिलः (तृ० त०) । "वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ" इत्यमरः । सुराणाम्="शासितारम्" इस पदके योगमें कर्ममें षष्ठी । शासितारं=शास्तीति शासिता, तम् । शास्+तृच्+अम् । अवगच्छ=अव+गम्+लोट्+सिप् ॥ ७६ ॥

अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां किलेति फलिताऽर्थमवेहि ।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—(हे नल !) अमी वयम् अर्थिनः (सन्तः) त्वां समुपेमः किल, इति फलितार्थम् अवेहि । क्षणम् अध्वनः खेदम् अपास्य भवति कार्यनिवेदं कुर्महे ।

व्याख्या—(हे नल !) अमी=एते, वयम्=इन्द्रादिदेवाः, अर्थिनः=याचकाः सन्तः, त्वां=भवन्तं, समुपेमः=प्राप्नुमः, किल=खलु । इति=एवं, फलिताऽर्थः=तात्पर्यम्, अवेहि=जानीहि । अतः क्षणं=कञ्चित्कालम्, अध्वनः=मार्गस्य, खेदं=परिश्रमम्, अपास्य=यापयित्वा, भवति=त्वयि विषये, कार्यनिवेदं=कृत्यनिवेदनं, कुर्महे=विदध्मः ।

अनुवाद—(हे नल !) ये हम लोग (इन्द्र आदि देव) याचक होते हुए आपके पास आये हैं, आप इस फलित अर्थको जान लें । कुछ कालतक मार्गके परिश्रमको मिटाकर आपको अपने कार्यका निवेदन करते हैं ।

टिप्पणी —अर्थिनः असन्निहितः अर्थः येषां ते, तस्य, अर्थ शब्दसे "अर्थाच्चाऽसन्निहिते" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय । "मार्गणो याचकाऽर्थिनौ" इत्यमरः । समुपेमः=सम्+उप+इण्+लट्+मस् । फलिताऽर्थम्=फलितश्चाऽसौ अर्थः, तम् (क० धा०) । अवेहि=अव+इण्+लोट्+सिप् (हि) । क्षणम्=अत्यन्त संयोगमें द्वितीया । अपास्य=अप+अस्+क्त्वा (ल्यप्) । कार्यनिवेदं=कार्यस्य निवेदः, तम् (ष० त०) । कुर्महे=(डु) कृञ्+लट्+महिङ् ॥ ७७ ॥

ईदृशीं गिरमुदीर्य बिडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे ।
नाऽत्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवाऽवधि गुरुर्गुरुरस्य ॥ ७८ ॥

अन्वयः— बिडौजाः ईदृशीं गिरम् उदीर्य जोषम् आप, विशिष्य न बभाषे । अत्र अभिधाकुशलत्वे चित्रं न, अस्य शैशवाऽवधि गुरुः गुरुः ।

व्याख्या—विडौजाः=इन्द्रः, ईदृशीम्=एतादृशीं, पूर्वोक्तां, सामान्यनिर्दिष्टामिति भावः। गिरं=वाणीम्, उदीर्य=उक्त्वा, जोषं=मौनम्, आप=प्राप, तूष्णीं बभूवेति भावः। विशिष्य=विशेषमाश्रित्य, विविच्येति भावः। न बभाषे=नो जगाद। अत्र=अस्मिन्, अभिधाकुशलत्वे=वचनकौशले, चित्रं न=आश्चर्यं न, अस्य=इन्द्रस्य, शैशवाऽवधि=बाल्यादारभ्येत्यर्थः। गुरुः=आचार्यः, गुरुः=बृहस्पतिः, बृहस्पतिशिष्यस्येन्द्रस्य वचनकौशले किमाश्चर्यमिति भावः।

अनुवाद—इन्द्र ऐसा वचन कहकर चुप हुए, उन्होंने विशेष रूपसे कुछ नहीं कहा। इन्द्रके वचन कौशलमें कुछ आश्चर्य नहीं है, जिनके बचपनसे ही आचार्य बृहस्पति हैं।

टिप्पणी—उदीर्य=उद्+ईर+क्त्वा (ल्यप्)। जोषं="तूष्णीं जोषं भवेन्मौनम्" इति हलायुधः। आप=आप्लृ+लिट्+तिप् (णल्)। बभाषे=भाष+लिट्+त (एश्)। अभिधाकुशलत्वे=अभिधायाः कुशलत्वं, तस्मिन् (ष० त०)। शैशवाऽवधि=शैशवम् अवधिः यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०), क्रि० वि०। गुरुः="गुरुर्गीःपतिपित्राद्यौ" इति वैजयन्ती। इस पद्यमें "गुरुर्गुरुः" यहाँपर लाटाऽनुप्रास है ॥ ७८ ॥

अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम्।
अर्चनाऽर्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा सः, नृपः स्वं तच्चरणानाम् अर्चनाऽर्थं स्फुटकदम्बकदम्बम् इव प्रणामकरणात् उपनिन्ये।

व्याख्या—अथ सरलप्रकृतेर्वदान्यस्य नलस्य धीरोदात्ततां पञ्चदशभिः पद्यैराह—अर्थिनामित्यादिना। अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा=याचकाऽख्यारोमाञ्चितशरीरः, स नृपः=राजा नलः, स्वम्=आत्मानं, तच्चरणानाम्=इन्द्रादिदेवपादानाम्, अर्चनाऽर्थं=पूजनाऽर्थं, स्फुटकदम्बकदम्बम् इव=विकसितनीपपुष्पवृन्दम् इव, प्रणामकरणात्=अभिवादनव्याजात्, उपनिन्ये=समर्पयामास।

अनुवाद—याचकोंके नामके श्रवणसे रोमाञ्चित शरीरवाले राजा नलने अपनेको देवताओंके चरणोंकी पूजाके लिए विकसित कदम्बपुष्पोंके समूहके समान प्रणाम करनेसे समर्पण किया।

टिप्पणी—अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा=अर्थी चाऽसौ नाम (क० धा०), हृष+क्त+जस्=हृषितानि, "हृषेर्लोमसु" इस सूत्रसे वैकल्पिक इट् आगम। हृषितानि अखिलानि लोमानि यस्य सः (बहु०), अर्थिनाम्ना हृषिताऽखिल-लोम (तृ० त०)। तच्चरणानां=तेषां चरणाः, तेषाम् (ष० त०), प्रणाम-करणात्=प्रणामस्य करणं, तस्मात् (ष० त०)। उपनिन्ये=उप+णीञ्+लिट्+त (एश्)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७९ ॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो ! मदधीनम्।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय ॥ ८० ॥

अन्वयः—दिगधिपैः अमीभिः दुर्लभं किं ? तादृशं कथं मदधीनम् ? अहो ! इदृशं विरोधं मनसिकृत्य नैषधेन चिराय समशायि।

व्याख्या—दिगधिपैः=दिक्पालैः, अमीभिः=एतैः, इन्द्रादिभिरित्यर्थः। दुर्लभं=दुष्प्राप्यं, किम् ? तादृशं=दुर्लभं वस्तु, कथं=केन प्रकारेण, मदधीनं=मदायत्तम् ? ईदृशम्=एतादृशं, विरोधं=विरुद्धप्रकारं, मनसि-कृत्य=निधाय, नैषधेन=नलेन, चिराय=बहुकालपर्यन्तं, समशायि=संशयितं, विचारितमित्यर्थः।

अनुवाद—इन्द्र आदि दिक्पालोंको दुर्लभ क्या है ? वैसा दुर्लभ पदार्थ कैसे मेरे अधीन है ? ऐसे विरोधको विचार कर नलने बहुत कालतक संशय किया।

टिप्पणी—दिगधिपैः=दिशाम् अधिपाः, तैः (ष० त०)। मदधीनं=मयि अधीनम् (स० त०)। मनसिकृत्य="मनसि" इस पदको "अनत्याधान उरसिमनसी" इस सूत्रसे गतिसंज्ञा होकर "कुगतिप्रादयः" इससे समास होनेसे क्त्वाके स्थानमें ल्यप्। समशायि=सम्+शीङ्+लुङ् (भावमें)+त ॥८०॥

जीविताऽवधि वनीपकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत्।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य परितुष्यतु चेतः ? ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अखिलैः वनीपकमात्रैः जीविताऽवधि याच्यमानं यत् सुलभं, सुराणां परिवृढाय अर्थिने किं वितीर्य चेतः परितुष्यतु ?

व्याख्या—नलस्य संशयप्रकारमाह द्वादशभिः पद्यैः—जीविताऽवधीति। अखिलैः=समस्तैरपि, वनीपकमात्रैः=याचकमात्रैः, यैः कश्चिद्याचकैरिति भावः। जीविताऽवधि=प्राणपर्यन्तं, याच्यमानं=प्रार्थ्यमानं, यत्=वस्तु, सुलभं=सुप्रापं, सुराणां=देवानां, परिवृढाय=प्रभवे, इन्द्रायेति भावः।

अर्थिने=याचकाय, किं=वस्तु, वितीर्य=दत्त्वा, चेत:=चित्तं, परितुष्यतु= सन्तुष्येत् ?

अनुवाद—सम्पूर्ण याचकमात्रोंसे प्राणपर्यन्त माँगा गया जो पदार्थ सुलभ है, देवताओंके प्रभु इन्द्ररूप याचकको कौन-सा पदार्थ देकर चित्त सन्तुष्ट हो जाय ?

टिप्पणी—वनीपकमात्रैः=वनीपका एव वनीपकमात्राणि, तैः (रूपक०), "वनीपको याचनको मार्गणो याचकाऽर्थिनौ" इत्यमरः। जीविताऽवधिः= जीवितम् अवधिः यस्य तत् (बहु०)। याच्यमानं=याच्यते इति, याच+ लट् (कर्ममें)+यक्+शानच्+सु। सुलभं = सु+लभ्+खल्+सु। परितुष्यतु=परि+तुष्+लोट्+तिप्। प्राणपर्यन्त वस्तु याचकमात्रको साधारण है, उससे अधिक कौन वस्तु इन्द्रको देनेके लिए है ? नलने ऐसा विचार किया, यह अभिप्राय है ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी।
न स्वमेव मम साऽर्हति यस्याः षोडशीमपि कलां किल नोर्वी॥ ८२॥

अन्वयः—उर्वी यस्याः षोडशीम् अपि कलां न अर्हति, (अत एव) धनात् अपि जीवितात् अपि गुर्वी, सा भीमजा मे हृदि परम् आस्ते; मम स्वम् एव न।

व्याख्या—ननु लोकोत्तरं वस्तु भैम्यस्ति सा दीयतामित्यत आह— भीमजेति। उर्वी=भूमिः, यस्याः=भीमजायाः, षोडशीम् अपि कलां=षोडशांऽशसाम्यम् अपि, न अर्हति=न प्राप्नोति। अत एव धनात् अपि=द्रव्यात् अपि, किं बहुना-जीवितात् अपि=जीवनात् अपि, गुर्वी=अधिका, सा= तादृशी, भीमजा=भैमी, मे=मम, हृदि=हृदये, परं=सम्यक्, आस्ते= विद्यते, किन्तु (सा=दमयन्ती), मम=नलस्य, स्वम् एव न=स्वीयं वस्तु एव न, कन्यात्वादिति भावः।

अनुवाद—भूमि भी जिस दमयन्तीके सोलहवें भागको भी पानेके योग्य नहीं है, अत एव धनसे और मेरे जीवनसे भी अधिक वैसी दमयन्ती मेरे हृदयमें अच्छी तरह मौजूद है, किन्तु वह मेरी अपनी वस्तु नहीं है।

टिप्पणी—षोडशीं=षट् च दश च षोडश (द्वन्द्व०), षोडशानां पूरणी षोडशी, ताम्, षोडशन्+डट् (मट्)+ङीप्+अम्। गुर्वी=गुरु+ङीप् "वोतो गुणवचनात्" इससे ङीप्। भीमजा=भीमाज्जाता, भीम+जन्+ड

(उपपद०) + टाप् + सु । कन्याके परकीया होनेसे दमयन्ती मेरी वस्तु नहीं है. उनमे स्वत्व होने पर भी "देयं दारसुतादृते" पत्नी और सन्तानको छोड़कर और वस्तु देनी चाहिए, ऐसा वचन है, यह अभिप्राय है ॥ ८२ ॥

मीयतां कथमभीप्सितमेषां, दीयतां द्रुतमयाचितमेव ।

तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—एषाम् अभीप्सितं कथं मीयताम् ? अयाचितम् एव द्रुतं कथं दीयताम् ? यः वाञ्छां कलयन् अपि अर्थिवागवसरं सहते, तं धिक् अस्तु ।

व्याख्या—एषां=देवानाम्, अभीप्सितम्=अभीष्टं वस्तु, कथं=केन प्रकारेण, मीयतां=ज्ञायेत । अयाचितम् एव=अप्रार्थितं यथा तथा एव, द्रुतं=शीघ्रं, कथं=केन प्रकारेण, दीयतां=वितीर्यतां, यः=दाता जनः । वाञ्छां=याचकस्य इच्छां, कलयन् अपि=जानन् अपि, अर्थिवागवसरं=याचकवाणीप्रसङ्गं, याच्ञाकालमित्यर्थः । सहते=मृष्यति, प्रतीक्षत इत्यर्थः । तं=दातारं, धिक् अस्तु=स गर्ह्य इत्यर्थः ।

अनुवाद—देवताओंका अभीष्ट (माँगी जानेवाली वस्तु) कैसे जाना जाय ? माँगे बिना ही कैसे दिया जाय ? जो (दाता) याचककी इच्छाको जानता हुआ भी याचकके वाक्यके अवसरकी प्रतीक्षा करता है, उसे धिक्कार हो ।

टिप्पणी—अभीप्सितम्=अभि + आप् + सन् + क्त + सु । मीयतां=माङ् + लोट् + त (कर्ममें) । अयाचितं=न याचितं यथा तथा (नञ्०) । दीयताम्=दा + लोट् (कर्ममें) + त । कलयन्=कल + णिच् + लट् (शतृ) + सु । अर्थिवागवसरम्=अर्थिनो वाक् (ष० त०), तस्या अवसरः, तम् (ष० त०) । सहते=सह + लट् + त । तम्="धिक्"के योगमें द्वितीया । नारायण पण्डितने दानके फलोंका तारतम्य निम्नलिखित श्लोकमें दिखाया है—

"गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम् ।
सहस्रगुणमाहूय, तु याचिते तदर्धकम् ॥"

अर्थात् याचकके पास जाकर जो दान किया जाता है, उसका फल अनन्त है । याचकको बुलाकर जो दान किया जाता है, उसका फल सहस्रगुण (हजार गुना) है, माँगनेपर किये जानेवाले दानका फल उसका आधा समझा जाता है ॥ ८३ ॥

प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—चटुकाकुविडम्बं प्रापितेन बहुयाचनलज्जां लम्भितेन अर्थिना दाता यत् अघम् अर्जति, विलम्ब्य ददानः तत् न लुम्पति ।

व्याख्या—चटुकाकुविडम्बं=चटुकाकुभ्यां (प्रियवाक्यदीनवाक्याभ्याम्) विडम्बं (हास्यत्वम्), प्रापितेन=नीतेन, दात्रेति शेषः । एवं च बहुयाचनलज्जाम्=बहुयाचनेन (अधिकप्रार्थनेन) लज्जाम् (व्रीडाम्), लम्भितेन=प्रापितेन, दात्रेति शेषः । तादृशेन अर्थिना=याचकेन, कारणरूपेण । दाता=दानकर्ता जनः, यत्, अघं=पापम्, अर्जति=सम्पादयति, विलम्ब्य=विलम्बं कृत्वा, ददानः=दाता, तत्=अघं, न लुम्पति=नो विहन्ति, तस्य पापस्य प्रायश्चित्तमपि नाऽस्तीत्यर्थः ।

अनुवाद—प्रिय वाक्य और दीन वाक्यसे हास्यपात्र बनाये गये तथा अनेक बार याचनासे लज्जाको प्राप्त कराये गये याचकसे दाता (देनेवाला) जिस पापको अर्जन करता है, विलम्बसे देनेवाला (दाता) उस पापको नष्ट नहीं करता है (उस पापका प्रायश्चित्त ही नहीं है) ।

टिप्पणी—चटुकाकुविडम्बं=चटुश्च काकुश्च (द्वन्द्व), ताभ्यां विडम्बः, ताम् (तृ० त०) । प्रापितेन=प्र+आप्+णिच्+क्त+टा । बहुयाचनलज्जां=बहु (यथा तथा) याचनम् (सुप्सुपा०), बहुयाचनेन लज्जा, ताम् (तृ० त०) । लम्भितेन=लभ्+णिच्+क्त (कर्ममें)+टा । अर्थिना=अर्थ+इनि+टा । "मार्गणो याचकार्ऽथिनौ" इत्यमरः । दाता=ददातीति, दा+तृच् । अर्जति=अर्ज+लट्+तिप् । विलम्ब्य=वि+लबि+क्त्वा (ल्यप्) । ददानः=दा+लट् (शानच्)+सु । लुम्पति="लुप्लृ छेदने" धातुसे लट्+तिप्, "शे मुचादीनाम्" इस सूत्रसे नुम् ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—वदान्यैः प्रदेयम् उपनीय अर्थिजनाय यत् सलिलं दीयते, एतत् याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितम् ।

व्याख्या—वदान्यैः=दातृभिः, प्रदेयं=दातव्यद्रव्यम्, उपनीय=समीपे संस्थाप्य, अर्थिजनाय=याचकजनाय, यत् सलिलं=जलं, दीयते=वितीर्यते, एतत्=सलिलदानं, याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितं=

प्रार्थनावचनवैफल्यसन्देहभीतिमूर्च्छितत्वभेषजम्, एतत् नो यदि ? तर्हि किं प्रयोजनं सलिलदानमिति भावः ।

अनुवाद—दाता देय द्रव्यको निकट रखकर याचकको जो जल देता है, यह (जलदान), माँगनेके वचनके वैफल्यकी शङ्कासे उत्पन्न भयसे होनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा है ।

टिप्पणी—प्रदेयं=प्रदातुं योग्यम्, प्र+दा+यत्+सु । उपनीय=उप+नी+क्त्वा (ल्यप्) । अर्थिजनाय=अर्थी चाऽसौ जनः, तस्मै (क० धा०) । दीयते=दा+लट्+(कर्ममें)+त । याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितम्=याचनस्य उक्तिः (ष० त०), विगतं फलं यस्याः सा विफला (बहु०), तस्या भावः, विफला+त्व । याचनोक्तेः विफलत्वम् (ष० त०), तस्य विशङ्का (ष० त०), तया त्रासः (तृ० त०), तेन मूर्च्छनं (तृ० त०), तस्य चिकित्सितम् (ष० त०) । इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।।८५।।

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ।। ८६ ।।

अन्वयः—कुशवज्जलदायी उक्तिविदग्धः द्रव्यदानविधिः अर्थिने धनमात्रं तृणवत् न प्रतिपाद्यं, किन्तु जीवनम् अपि (तृणवत् प्रतिपाद्यम्) एवम् आह ।

व्याख्या—कुशवज्जलदायी=सकुशजलदानप्रतिपादकः, उक्तिविदग्धः=वचनचतुरः, द्रव्यदानविधिः=धनवितरणविधानं, पदार्थदानप्रतिपादकशास्त्रमिति भावः । अर्थिने=याचकाय, धनमात्रं=द्रव्यमात्रं, तृणवत्=तृणम् इव, न प्रतिपाद्यं=नो देयं, किन्तु, जीवनम् अपि=जीवितम् अपि, तृणवत् प्रतिपाद्यम्, एवम्=इत्थम्, आह=ब्रूते ।

अनुवाद—कुशके साथ जलदानका प्रतिपादक, वचनमें चतुर, पदार्थदानका प्रतिपादक शास्त्र "याचकके लिए धनको ही तृणके समान नहीं देना चाहिए बल्कि जीवनको भी तृणके समान देना चाहिए" ऐसा कहता है ।

टिप्पणी—कुशवज्जलदायी=कुशम् अस्ति यस्मिंस्तत् कुशवत् (कुश+मतुप्), तच्च तत् जलम् (क० धा०), दानं दायः, दा+घञ्, "आतो युक् चिण्कृतोः" इससे युक् आगम, कुशवज्जलस्य दायः (ष० त०), सोऽस्याऽस्तीति, कुशवज्जलदाय+इनि+सु । "कुशवज्जलदायी" यह नारायणपण्डित सम्मत पाठ है । इसमें कुशवज्जल दापयतीति ऐसा विग्रह, कुशवज्जल+दा+

णिच्+णिनि+सु। उक्तिविदग्धः=उक्तौ विदग्धः (स० त०)। द्रव्यदान-विधिः=द्रव्यस्य दानं (ष० त०), तस्य विधिः (ष० त०) ॥ ८६ ॥

पङ्कसङ्करविगर्हितमर्हं न श्रियः कमलमाश्रयणाय।
अर्थिपाणिकमलं विमलं तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥ ८७ ॥

अन्वयः—पङ्कसङ्करविगर्हितं कमलं श्रियः आश्रयणाय न अर्हम्। तत् सुधीः विमलम् अर्थिपाणिकमलं तद्वासवेश्म विदधीत।

व्याख्या—पङ्कसङ्करविगर्हितं=पापसम्बन्धनिन्दितं, कर्दमसम्बन्धनिन्दितं च, कमलं=पद्मं, श्रियः=लक्ष्म्याः, आश्रयणाय=सेवनाय, निवासायेति भावः। न अर्हं=नो योग्यम्। तत्=तस्मात्कारणात्। सुधीः=विद्वान्, विमलं=निर्मलं, निष्पङ्कमिति भावः। अर्थिपाणिकमलं=याचककरपद्मं, तद्वासवेश्म=लक्ष्मीनिवासस्थानं, विदधीत=कुर्यात्, धनं सर्वथा पात्रपाणिष्वेव निक्षेपणीयं, न तु भूमाविति भावः।

अनुवाद—पाप वा कीचड़के सम्पर्कसे निन्दित कमल, लक्ष्मीके निवासके लिए योग्य नहीं है। इस कारणसे विद्वान् पुरुष निर्मल (पङ्करहित) पात्रके करकमलको लक्ष्मीका निवासस्थान बनावे।

टिप्पणी—पङ्कसङ्करविगर्हितं=पङ्कस्य सङ्करः (ष० त०), "पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसोः" इति वैजयन्ती। पङ्कसङ्करेण विगर्हितम् (तृ० त०)। विमलं=विगतं मलं यस्मात्, तत् (बहु०)। अर्थिपाणिकमलं=पाणिः कमलम् इव (उपमिति०)। अर्थिनः पाणिकमलं, तत् (ष० त०)। तद्वासवेश्म=वासस्य वेश्म (ष० त०), तस्या वासवेश्म, तत् (ष० त०)। विदधीत=वि+धा+लिङ्+(विधिमें)+त। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत ! जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—यस्य जन्म याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय न, बत ! तेन इयं भूमिः अतिभारवती, न द्रुमैः न गिरिभिः न समुद्रैः (अतिभारवती)।

व्याख्या—यस्य=धनिनः पुरुषस्य, जन्म=उत्पत्तिः, याचमानजनमानसवृत्तेः=अर्थिजनमनोवृत्तेः, अर्थिजनमनोरथस्येति भावः। पूरणाय=सफलीकरणाय, न=नो भवति, बत=खेदोऽयमिति भावः। तेन=तादृशेन पुरुषेण, इयम्=एषा, भूमिः=भूः, अतिभारवती=अतिभारयुक्ता, न द्रुमैः=न वृक्षैः,

न गिरिभिः=न पर्वतैः, न समुद्रैः=न सागरैश्च, इयं भूमिः अतिभारवती इत्यर्थः। द्रुमगिरिसमुद्रेभ्यः प्रजानां बहूपकारलाभादिति भावः।

अनुवाद– जिस धनी पुरुषका जन्म याचक जनके अभिलाषको पूर्ण करनेके लिए नहीं है, उस पुरुषसे यह धरती अत्यन्त भार (बोझ) वाली है, न पेड़ोंसे, न पर्वतोंसे और न समुद्रोंसे ही यह धरती भारवाली है।

टिप्पणी –याचमानजनमानसवृत्तेः=याचन्त इति याचमानाः, याच+लट् (शानच्)+जस्, ते च ते जनाः (क० धा०), मानसस्य वृत्तिः (ष० त०), याचमानजनानां मानसवृत्तिः, तस्याः (ष० त०)। अतिभारवती=अत्यन्तं (यथा तथा) भारः (सुप्सुपा०)। सोऽस्ति यस्याः सा, अतिभार+मतुप्+ङीप्। यह पृथ्वी कृपणोंसे बोझवाली है, पेड़ों, पर्वतों और समुद्रोंसे बोझवाली नहीं है, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें परिसंख्या अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

मा धनानि कृपणः खलु जीवंस्तृष्णयाऽर्पयतु जातु परस्मै।
तत्र नैष कुरुते मम चित्रं, यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९ ॥

अन्वयः—कृपणः जीवन् तृष्णया जातु परस्मै धनानि मा अर्पयतु, एष तत्र मम चित्रं न कुरुते (किन्तु) मृतः अपि न अर्पयति (नार्पाणि कुरुते)।

व्याख्या कृपणः=कदर्यः, जीवन्=प्राणन्, तृष्णया=अतिलोभेन, जातु=कदाऽपि, परस्मै=अन्यस्मै, याचमानायेति भावः। धनानि=द्रव्याणि, मा अर्पयतु=नो ददातु, एषः=कृपणः, तत्र=तस्मिन्, जीवनाऽवसराऽनर्पणे, मम चित्रम्=आश्चर्यं, न कुरुते=नो विदधाति, किन्तु मृतः अपि=पञ्चत्व गतः अपि, न अर्पयति=नो ददाति, नार्पयति=धनानि नृपसम्बन्धीनि कुरुते तत्र चित्रं करोति।

अनुवाद—कञ्जूस, जीता हुआ तृष्णासे कभी भी दूसरेको धन भले ही न दे, वह उसमें मुझे आश्चर्य नहीं पैदा करता है, किन्तु मरनेपर भी नहीं देता है, मरनेपर धनको राजाके अधीन करता है, उसमें आश्चर्य उत्पन्न करता है।

टिप्पणी –जीवन्=जीव+लट् (शतृ)+सु। अर्पयतु=ऋ+णिच्+लोट्+तिप्। नार्पयति=नृपस्य इमानि नार्पाणि, नृप+अण्+जस्। नार्पाणि कुरुते=नार्प+णिच्+लट्+तिप्। इस पद्यमें विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ८९ ॥

सामभीभिरिह याचितवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम् ।
यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्क्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीयः ॥ ९० ॥

अन्वयः—जगत्यां दातृजातम् अवमत्य मां याचितवद्भिः अमीभिः यत् यशो मयि निवेशितम् । एतन्निष्क्रयस्तु कतमः अस्तु ।

व्याख्या—जगत्यां = भुवने, दातृजातं = दायकसमूहम्, अवमत्य = अवधीर्य, मां = नलं, याचितवद्भिः = प्रार्थितवद्भिः, अमीभिः = एभिः देवैः, यत्, यशः = कीर्तिः, मयि = नले, स्थापितं = निहितम्, एतन्निष्क्रयस्तु = एतत्प्रतिनिधिभूतस्तु, कतमः = कः पदार्थः, अस्तु = भवतु ?

अनुवाद—लोकमें अन्य दाताओंका अनादर करके मुझसे याचना करनेवाले इन इन्द्र आदि देवताओंने जो यश मुझमें स्थापित कर दिया, उसके एवजमें कौन-सा पदार्थ हो ?

टिप्पणी—दातृजातं = दातॄणां जातं, तत् (ष० त०) । अवमत्य = अव + मन् + क्त्वा (ल्यप्) । याचितवद्भिः = याच् + क्तवतु + भिस् । निवेशितं = नि + विश + णिच् + क्त + सु । एतन्निष्क्रयः = एतस्य निष्क्रयः (ष० त०) ॥ ९० ॥

लोक एष परलोकमुपेता हा ! विहाय निधने धनमेकः ।
इत्यमुं खलु तदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—एष लोको निधने धनं विहाय एकः परलोकम् उपेता । हा ! इति उदयद्दयचित्तः अर्थिबन्धुः अस्य तत् अमुं निनीषति खलु ।

व्याख्या—एषः = अयं, लोकः = जनः, निधने = अन्त्यकाले, धनं = द्रव्यं, विहाय = त्यक्त्वा, एकः = एकाकी, सहायरहितः सन्निति भावः । परलोकं = लोकान्तरम्, उपेता = उपैष्यति, हा ! = कष्टम् ! इति = अस्मात्कारणात्, उदयद्दयचित्तः = सदयमानसः, अर्थिबन्धुः = याचकबन्धुः, अस्य = लोकस्य, तत् = धनम्, अमुं = परलोकं, निनीषति = नेतुमिच्छति । खलु = निश्चयेन ।

अनुवाद—यह मनुष्य अन्तकालमें धन छोड़कर अकेले ही परलोकको जायेगा, हाय ! इस कारणसे दयालु चित्तवाला याचकरूप बन्धु उस(मनुष्य)-के उस धनको परलोकमें पहुँचाना चाहता है ।

टिप्पणी—विहाय = वि + हा + क्त्वा (ल्यप्) । परलोकं = परश्चासौ लोकः, तम् (क० धा०) । उपेता = उप + इण् + लुट् + तिप् । उदयद्दयचित्तः =

उदयन्ती दया यस्मिंस्तत् (बहु०), उदयद्दयं चित्तं यस्य सः (बहु०) । अर्थि-बन्धुः=अर्थी एव बन्धुः (रूपक०) । निनीषति=नेतुम् इच्छति, नी+सन्+लट्+तिप् । अन्य बन्धु धनीका सर्वस्व स्वयं ही लेते हैं, धनको धनीके पास नहीं पहुँचाते हैं, इस कारणसे आपत्तिका बन्धु याचक, संग्रहके योग्य है, यह तात्पर्य है ॥ ९१ ॥

दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि, कोटिगुणित दिवि दायि ।
साधुरेति सुकृतैर्यदि कर्तुं पारलौकिककुसीदमसीदत् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—साधुः इह एकग्राहि, दिवि कोटिगुणितं दायि दानपात्रम् (एव) अधमर्णं सुकृतः एति यदि (तदा) असीदत् पारलौकिकं कुसीदं कर्तुम् (अलम्) ।

व्याख्या—साधुः=सज्जनो 'वार्धुषिकश्च' इह=अस्मिन् लोके, एकग्राहि=एकग्राहकं, दिवि=स्वर्गे, परलोक इत्यर्थः, कोटिगुणितं=कोटिश आवृत्त, दायि=दातृ, एतादृशं दानपात्रम्=वितरणभाजनं, याचकमित्यर्थः, तदेव अधमर्णं=धनग्राहि, सुकृतैः=पुण्यैः, एति यदि=प्राप्नोति चेत्, तदा, असीदत्=अविनश्यत्, पारलौकिकं=लोकान्तरभवं, कुसीदं=वृद्धिजीवनं, कर्तुं=विधातुम्, अलम् इति शेषः, पर्याप्तम् इति भावः ।

अनुवाद—सज्जन और वृद्धिजीवी (सूदखोर) इस लोकमें एक लेता है और परलोकमें करोड़ गुना देनेवाले दानपात्ररूप ऋणी(कर्जदार)को पुण्यों-से प्राप्त करता है तो नष्ट नहीं होनेवाले परलोकमें मिलनेवाले वृद्धिजीवनको करनेके लिए पर्याप्त है ।

टिप्पणी—साधुः="साधुस्त्रिषु हिते रम्ये, वार्धुषौ सज्जने पुमान् ।" इति वैजयन्ती । एकग्राहि=एकं गृह्णातीति, एक+ग्रह+णिनि (उपपद०)+अम् । कोटिगुणितं=कोट्या गुणितं, तत् (तृ० त०) । दायि=ददातीति, तत्, दा धातुसे "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः" इस सूत्रसे आधमर्ण्यमें णिनि प्रत्यय । इस पदके योगमें "कोटिगुणित" शब्दसे "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इस सूत्रसे षष्ठीके निषेधसे द्वितीया । "वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा मता ।" इस शास्त्रवचनके अनुसार वस्त्रमें चौगुनी, धान्यमें तिगुनी और सोनेमें दुगुनी वृद्धि-(मुनाफा)का परिमाण लोकमें कहा गया है, परन्तु यह (दानपात्र) तो अपरिमित वृद्धिको देनेवाला है, यह तात्पर्य है । दानपात्रं=दानस्य पात्रं, तत् (ष० त०) । अधमर्णम्=अधमम् ऋणं यस्य सः, तत् (बहु०) । "दान-

पात्रम् अधमर्णम्" यहाँपर व्यस्तरूपक है । "उत्तमर्णाऽधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमात्" इत्यमरः । एति=इण्+लट्+तिप् । असीदत्=न सीदत् (नञ्०) । पारलौकिकं=परलोके भवम्, "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इस वार्तिकसे अध्यात्मादिके आकृतिगण होनेसे परलोक शब्दसे ठञ् प्रत्यय और "अनुशतिकादीनां च" इस सूत्रसे उभयपदवृद्धि । कुसीदं="कुसीदं वृद्धिजीविका" इत्यमरः । "नाऽदत्तमुपतिष्ठते" इस शास्त्रोक्तिके अनुसार बिना दानके कुछ भी उपस्थित नहीं होता है, अतः याचकको दान करना चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ ९२ ॥

एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम् ।
अर्थिदुर्लभमवाप्य च हर्षाद्याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि ॥ ९३ ॥

अन्वयः—स निषधानां पतिः एवमादि मुहूर्तं विचिन्त्य अर्थिदुर्लभं हर्षात् उल्लसितश्रि याच्यमानमुखं च अवाप्य तान् अवोचत ।

व्याख्या—सः=प्रसिद्धः, निषधानां=निषधदेशानां, पतिः=पालकः, नल इति भावः । एवमादि=एवम्प्रभृति, "जीविताऽवधि० ५–८१" इत्यादिकं वाक्यमिति भावः । मुहूर्तम्=अल्पकालं, विचिन्त्य=विचार्य, अर्थिदुर्लभं=याचकदुष्प्राप्यं, हर्षात्=प्रमोदात् हेतोः, उल्लसितश्रि=वर्धमानश्रीकं, प्रसन्नमिति भावः । याच्यमानमुखं च=दातृमुखं च, अवाप्य=प्राप्य, तान्=इन्द्रादीन् देवान्, अवोचत=उक्तवान्, वक्ष्यमाणानि वाक्यानीति शेषः ।

अनुवाद—निषधेश्वर नल, पहले कहे गये वाक्योंका कुछ समयतक विचार कर याचकोंसे दुष्प्राप्य, हर्षसे समृद्ध शोभावाले (प्रसन्न) दाताके मुखको प्राप्त कर देवताओंको कहने लगे ।

टिप्पणी—एवमादि=एवम् आदिः यस्य, तत् (बहु०) । अर्थिदुर्लभम्=अर्थिभिः दुर्लभं, तत् (तृ० त०) । उल्लसितश्रि=उल्लसिता श्रीः यस्मिन्, तत् (बहु०) । समासान्तविधिके अनित्य होनेसे "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे कप्‌का अभाव और "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" इस सूत्रसे "श्री"का ह्रस्वत्व । याच्यमानमुखं=याच्यत इति याच्यमानं, याच्+लट् (कर्ममें)+शानच्+सु । याच्यमानस्य (दातुः) मुखं, तत् (ष० त०) । अवाप्य=अव+आपु+क्त्वा (ल्यप्) । अवोचत=वच+लुङ्+त ॥ ९३ ॥

नाऽस्ति जन्यजनकव्यतिभेदः, सत्यमन्नजनितो जनदेहः ।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृताऽदां दृङ् निमज्जनमुपैति सुधायाम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—(हे देवाः !) जन्यजनकव्यतिभेदो न अस्ति । जनदेहः अन्न-जनितः सत्यम् । अमृताऽदां वः तनूं वीक्ष्य दृक् सुधायां निमज्जनम् उपैति खलु ।

व्याख्या—(हे देवाः !) जन्यजनकव्यतिभेदः = कार्यकारणविशेषभेदः, न अस्ति = नो वर्तते, कार्यं स्वकारणादभिन्नमिति भावः । जनदेहः= मानवशरीरम्, अन्नजनितः = भक्ष्यपदार्थोत्पन्नः, इति, सत्यं = तथ्यम् । अमृतादां=पीयूषभुजां, वः=युष्माकं, तनूं=शरीरं, वीक्ष्य=दृष्ट्वा, दृक्= मदीयं लोचनं, सुधायाम्=अमृते, निमज्जनं=ब्रुडनम्, उपैति = प्राप्नोति, खलु=निश्चयेन ।

अनुवाद—(हे देवगण !) कार्य और कारणमें विशेष भेद नहीं है । मनुष्यका शरीर अन्नसे उत्पन्न होता है, यह सत्य है । अमृत खानेवाले आप-लोगोंका शरीर देखकर मेरे नेत्र अमृतमें निमग्न हो जाते हैं ।

टिप्पणी—जन्यजनकव्यतिभेदः = जन्यश्च जनकश्च (द्वन्द्व०), जन्य-जनकयोः व्यतिभेदः (ष० त०) । जनदेहः=जनस्य देहः (ष० त०) । अन्न-जनितः=अन्नेन जनितः (तृ० त०) । अमृतादाम् = अमृतम् अदन्तीति अमृताऽदः, तेषाम्. "अदोऽनन्ने" इस सूत्रसे विट् प्रत्यय, अमृत+अद्+विट्+ (उपपद०)+आम् । उपैति=उप+इण्+लट्+तिप् । "एत्येधत्यूठ्सु" इससे वृद्धि । कार्य और कारणका विशेष भेद न होनेसे अमृतभक्षण करनेवाले आप लोगोंका शरीर देखकर मेरे नेत्र अमृतमें निमज्जनके सुखका अनुभव करते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ९४ ॥

मत्तपः क्व नु तनु ? क्व फलं वा यूयमीक्षणपथं व्रजथेति ? ।
ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्नः पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

अन्वयः—तनु मत्तपः क्व ? यूयम् ईक्षणपथं व्रजथ इति फलं वा क्व ? ईदृशानि अपि दधन्ति नः पूर्वपूरुषतपांसि पुनः जयन्ति ।

व्याख्या—(हे देवाः !) तनु=अल्पं, मत्तपः=मन्नियमाचरणं, क्व= कुत्र, यूयं=भवन्तो देवाः. ईक्षणपथं=नयनगोचरं, व्रजथ=गच्छथ, इति= एतादृशं, फलं वा=भवद्दर्शनरूपं महाफलं वा, क्व=कुत्र, उभयोर्वैरूप्यादिति भावः । ईदृशानि अपि=एतादृङ्महाफलानि अपि, दधन्ति=पुष्णन्ति,

नः = अस्माकं, पूर्वपूरुषतपांसि = पूर्वजनियमाचरणानि, पुनः=भूयः, जयन्ति=सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, तानीदानीमपि फलन्तीति भावः ।

अनुवाद—थोड़ी-सी मेरी तपस्या कहाँ और आपलोग जो मेरे दर्शनमार्गमें प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा महत् फल कहाँ ? ऐसे महाफलोंको पुष्ट करनेवाले हमारे पूर्वजोंकी तपस्याएँ फिर अत्यन्त उत्कर्षसे बढ़ रही हैं ।

टिप्पणी—मत्तपः = मम तपः (ष० त०) । ईक्षणपथम् = ईक्षणस्य पन्थाः ईक्षणपथः, तम् (ष० त०) । व्रजथ = व्रज + लट् + थ । दधन्ति= धा + लट् (शतृ) + जस् । "वा नपुंसकस्य" इससे नुम् आगम । पूर्वपूरुषतपांसि=पूर्वे च ते पुरुषाः (क० धा०), तेषां तपांसि (ष० त०) । जयन्ति = जि + लट् + झि । इस पद्यमें विरूपोंका संघटनरूप विषम अलङ्कार है ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिलां खलु देवीं कर्म सर्वसहनव्रतजन्म ।
यूयमप्यहह ! पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—इलां देवीं सर्वसहनव्रतजन्म कर्म प्रत्यतिष्ठिपत् खलु । यत् यूयम् अपि निजैः पादपयोजैः अस्याः पूजनं सृजथ, अहह !

व्याख्या—(हे देवाः) इलां=पृथिवीं, देवीं=देवतां, सर्वसहनव्रतजन्म= विश्वमर्षणव्रतजन्यं, कर्म=क्रिया, सुकृतमिति भावः । प्रत्यतिष्ठिपत्=प्रतिष्ठापयामास, खलु = निश्चयेन । तत्कर्म प्रतिपादयति—यूयमिति । यत्= यस्मात्कारणात्, यूयम् अपि=भवन्तोऽपि, देवा अपि इति भावः । निजैः= स्वकीयैः, पादपयोजैः=चरणकमलैः, अस्याः=इलायाः, पूजनं=पूजां, सृजथ =कुरुथ । अहह !=अद्भुतम् !

अनुवाद—पृथ्वी देवीको सब भारके सहनरूप व्रतसे उत्पन्न पुण्य कर्मने प्रतिष्ठित कर दिया है । जो कि आप लोगोंके समान देवता भी अपने चरणकमलोंसे इनकी पूजा कर रहे हैं । आश्चर्य है !

टिप्पणी—इलां="गोरिला कुम्भिनी क्षमा" इत्यमरः । सर्वसहनव्रतजन्म=सर्वेषां (भारादीनाम्) सहनम् (ष० त०), तदेव व्रतम् (रूपक०), तस्मात् जन्म यस्य तत् (व्यधिकरणबहु०) । प्रत्यतिष्ठिपत् = प्रति + स्था + णिच् + लुङ् + तिप् । "तिष्ठतेरित्" इस सूत्रसे उपधाका इत्व । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ९६ ॥

जीविताऽवधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात् ।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ।। ९७ ।।

अन्वयः—इतो नरडिम्भात् जीविताऽवधि, ततः अधिकं वा किमपि मनीषितं यत्, वस्तु, सोऽयं तेन वः चरणम् अर्चतु, ईदृक् पुनः किम् अस्तु ? ब्रूत ।

व्याख्या—(हे देवाः) इतः = अस्मात्, नरडिम्भात् = मानुषशिशोः, जीविताऽवधि = जीवनपर्यन्तं, ततः = जीवितात्, अधिकम् = अतिरिक्तं वा, किमपि = किञ्चिदपि, मनीषितम् = अभीप्सितं, यत्, वस्तु = पदार्थः, सः = तादृशः, अयम् = एषः, नरडिम्भ इति भावः, तेन = वस्तुना, वः = युष्माकं, चरणं = पादम्, अर्चतु—पूजयतु, ईदृक् = एतादृशं, पुनः किम् = वस्तु, अस्तु = स्यात् ? ब्रूत = कथयत ।

अनुवाद—इस मनुष्य बालकसे जीवनपर्यन्त अथवा उससे भी अधिक कोई अभीष्ट जो वस्तु हो वह (मैं) उससे आपके चरणकी पूजा करूँ, ऐसी वस्तु क्या है ? कहिए ।

टिप्पणी - इतः = इदम् + ङसि (तसिल्) । नरडिम्भात् = नरस्य डिम्भः, तस्मात् (ष० त०) । जीविताऽवधि = जीवितम् अवधिः (सीमा) यस्य तद् (बहु०) । ततः = तद् + ङसि (तसिल्) । मनीषितं = मनीषा + इतच् + सु । अर्चतु = अर्च + लोट् + तिप् । ब्रूत = ब्रू + लोट् + थ ।। ९७ ।।

एवमुक्तवति मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन ।
वक्रभावविषमामथ शक्रः कार्यकैतवगुरुर्गिरमूचे ।। ९८ ।।

अन्वयः—एवं वीरसेनतनये विनयेन मुक्तविशङ्के उक्तवति (सति) अथ कार्यकैतवगुरुः शक्रः वक्रभावविषमां गिरम् ऊचे ।

व्याख्या—एवम् = इत्थं, वीरसेनतनये = वीरसेनपुत्रे नले, विनयेन = नम्रतया, अकपटेनेति भावः । मुक्तविशङ्के = शङ्कारहिते, उक्तवति = कथितवति सति, अथ = नलभाषणाऽनन्तरं, कार्यकैतवगुरुः = कर्तव्यप्रयोजनकपटोपदेशकः, शक्रः = इन्द्रः, वक्रभावविषमां = कुटिलत्वप्रतिकूलां, गिरं = वाणीम्, ऊचे = उवाच ।

अनुवाद—इस प्रकार वीरसेनके पुत्र नलके नम्रतापूर्वक शङ्कारहित होकर कहनेपर कार्योंमें कपटके उपदेशक इन्द्रने कुटिलतासे प्रतिकूल वचन कहा ।

टिप्पणी—वीरसेनतनये=वीरसेनस्य तनयः, तस्मिन् (ष० त०)। मुक्त-विशङ्के=मुक्ता विशङ्का येन, तस्मिन् (बहु०)। कार्यकैतवगुरुः=कार्येषु कैतवानि (स० त०), तेषां गुरुः (ष० त०)। वक्रभावविषमां=वक्रश्चासौ भावः (क० धा०), तेन विषमा, ताम् (तृ० त०)। ऊचे=ब्रूञ् (वच्)+लिट्+त ॥ ९८ ॥

पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांऽशो !।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य ॥ ९९ ॥

अन्वयः—हे महीमिहिकांऽशो ! (वयम्) दमयन्त्याः पाणिपीडनमहं कामयेमहि। हे निर्जितस्मर ! स्मरभीतिं चिरस्य निरस्य अत्र नो दूत्यं कुरु।

व्याख्या—हे महीमिहिकांऽशो = भूतलचन्द्र ! दमयन्त्याः = भैम्याः, पाणिपीडनमहं=विवाहोत्सवं, कामयेमहि=अभिलषामः, वयमिति शेषः। हे निर्जितस्मर=हे वशीकृतकाम ! स्मरभीतिं=कामभयं, चिरस्य=चिरकाल-पर्यन्तं, निरस्य=निवार्य, अत्र=पाणिपीडनकृत्ये, नः=अस्माकं, दूत्यं=दूत-कर्म, कुरु=विधेहि।

अनुवाद—हे भूतलचन्द्र ! हम लोग दमयन्तीके विवाहके उत्सवकी कामना करते हैं। हे कामदेवको जीतनेवाले (नल) ! कामदेवके भयको चिरकालपर्यन्त निवारण कर इस विवाहके कार्यमें आप हम लोगोंके दूतका कार्य करें।

टिप्पणी—महीमिहिकांऽशो=मिहिका अंशुर्यस्य सः (बहु०) "प्रालेयो मिहिका" इत्यमरः। मह्यां मिहिकांशुः (स० त०), तत्सम्बुद्धौ। पाणिपीडन-महं=पाणेः पीडनम् (ष० त०)। "तथा परिणयोद्वाहोपयामाः पाणिपीडनम्" इत्यमरः। पाणिपीडनम् एव महः, तम् (रूपक०)। कामयेमहि=कम्+णिङ्+विधिलिङ्+महिङ्। निर्जितस्मर=निर्जितः स्मरो येन, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। स्मरभीतिं=स्मरात् भीतिः, ताम् (प० त०)। चिरस्य="चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः" इत्यमरः। निरस्य=निर्+अस्+क्त्वा (ल्यप्)। दूत्यं=दूतस्य कर्म, दूत शब्दसे "दूतस्य भावकर्मणी" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। कुरु=कृ+लोट्+सिप् ॥ ९९ ॥

आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते ? भास्वतस्तु कतमस्तुलयाऽऽस्ते ? ॥१००॥

अन्वयः—(हे नल !) अधिक्षिति शतं भूपा आसते। त्वं तोयराशिः असि;

ते कूपाः खलु । ते ते ग्रहा दिवि न जाग्रति ? तु कतमो भास्वतः तुलया आस्ते ?

व्याख्या—(हे नल !) अधिक्षिति=पृथिव्यां, शतं=बहुसंख्यकाः, भूपाः=राजानः, आसते=सन्ति । तत्र त्वं, तोयराशिः=समुद्रः, असि=विद्यसे, ते=भूपाः, कूपाः=उदपानानि, खलु, दृष्टान्तेनाऽमुमर्थं साधयति—किं ग्रहा इति । दिवि=आकाशे, ते ते ग्रहाः=चन्द्रादयः, न जाग्रति ?=न प्रकाशन्ते किम् ? तु=किन्तु, कतमः=कः, ग्रहः=चन्द्रादिः, भास्वतः=सूर्यस्य, तुलया=साम्येन, आस्ते=विद्यते । न कोऽपीति भावः ।

अनुवाद—(हे नल !) पृथिवीपर सैकड़ों राजा हैं, परन्तु आप समुद्र हैं और वे (अन्य राजा लोग) कुएँ हैं । चन्द्र आदि अनेक ग्रह आकाशमें प्रकाशित नहीं हैं क्या ? किन्तु कौन-सा ग्रह सूर्यके समान है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—अधिक्षिति=क्षितौ इति "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव । आसते=आस+लट्+झ । तोयराशिः=तोयानां राशिः (ष० त०) । जाग्रति=जागृ+लट्+झि । कतमः=किम्+डतमच्+सु । भास्वतः=भास्+मतुप्+ङस् । अन्य राजाओं और आपमें समुद्र और कुएँके समान बहुत अन्तर (फर्क) है । जैसे आकाशमें सूर्यके समान कोई ग्रह नहीं है, वैसे ही भूतलमें आपके सदृश कोई भी राजा नहीं है, यह इस पद्यका तात्पर्य है । इसमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ १०० ॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेमः ।
त्वामिहैव विनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे ? ॥ १०१ ॥

अन्वयः—(हे नल !) विश्वदृश्वनयना एते वयम् अगाधं त्वद्गुणाम्बुधिम् अवेमः । हि इह रहस्ये त्वाम् एव विनिवेश्य सर्वे (वयम्) निर्वृतिं न लभेमहि ?

व्याख्या—(हे नल !) विश्वदृश्वनयनाः=सर्वदर्शिनेत्राः, एते=समीपतरवर्तिनः, वयम्=इन्द्रादयो देवाः, अगाधं=गम्भीरम्, अतलस्पर्शमिति भावः, त्वद्गुणाम्बुधिं=दयादाक्षिण्यादित्वद्गुणसमुद्रम्, अवेमः=अवगच्छामः । हि=यस्मात्कारणात्, इह=अस्मिन्, रहस्ये=गोपनीयकृत्ये, त्वाम् एव=भवन्तम् एव, विनिवेश्य=नियोज्य, सर्वे=सकलाः, वयम्=इन्द्रादयो देवाः, निर्वृतिं=सुखं, न लभेमहि=न प्राप्नुमः ? लभेमहि एवेति भावः ।

अनुवाद—संसारको देखनेवाले नेत्रोंसे युक्त हमलोग आपके गुणरूप समुद्रको अगाध जानते हैं। इस रहस्यमें आपको ही नियुक्त करके हम सभी, सुख न पायेंगे क्या ? (पायेंगे ही)।

टिप्पणी—विश्वदृश्वनयनाः=विश्वं दृष्टवन्ति इति विश्वदृश्वानि, विश्व + दृश् + क्वनिप् + जस्, "दृशेः क्वनिप्" इस सूत्रसे क्वनिप्। विश्वदृश्वानि नयनानि येषां ते (बहु०)। त्वद्गुणाम्बुधि=तव गुणाः (ष० त०), त्वद्गुणा एव अम्बुधिः, तम् (रूपक०)। अवेमः=अव + इण् + लट् + मस्। हमलोग आपके दया, दाक्षिण्य, जितेन्द्रियत्व और सत्यप्रतिज्ञत्व आदि गुणरूप समुद्रको अगाध (गम्भीर) जानते हैं, यह तात्पर्य है। विनिवेश्य=वि + नि + विश् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। लभेमहि=लभ + विधिलिङ् + महिङ्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है॥ १०१॥

शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि शक्रः।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्षं सायकं धनुरिवाऽजनि वक्रः॥ १०२॥

अन्वयः—शुद्धवंशजनितः अपि गुणस्य स्थानताम् अनुभवन् अपि शक्रः ऋजुं सपक्षम् एनं सायकं धनुः इव आशु क्षिप्नुः (सन्) वक्रः अजनि।

व्याख्या—शुद्धवंशजनितः अपि=पवित्रकुलप्रसूतः अपि (इन्द्रपक्षे), अव्रणवेणूत्पन्नोऽपि (धनुःपक्षे), गुणस्य=शौर्यादेः, मौर्व्याश्च। स्थानताम्=आश्रयत्वम्, अनुभवन् अपि=निर्विशन् अपि, शक्रः=इन्द्रः, ऋजुम्=अकुटिलबुद्धिम्, अवक्रं च, सपक्षं=सुहृदं, कङ्कपत्रसहितं च, एनं=नलं, सायकं=बाणं धनुः इव=कार्मुकम् इव, आशु=शीघ्रं, क्षिप्नुः=क्षेप्ता सन्, वक्रः=कुटिलः, अजनि=जातः।

अनुवाद—जैसे छिद्रसे रहित बाँससे उत्पन्न, प्रत्यञ्चाके स्थानको प्राप्त किया गया धनु, सरल और कङ्क पक्षीके पंखवाले बाणको छोड़ता हुआ टेढ़ा होता है, वैसे ही पवित्र कुलमें उत्पन्न होकर भी दया-दाक्षिण्य आदि गुणके आश्रय होते हुए भी इन्द्र सरल बुद्धिवाले मित्र नलको दूतकर्ममें लगाते हुए कुटिल हो गये।

टिप्पणी—शुद्धवंशजनितः=शुद्धश्चाऽसौ वंशः (क० धा०)। "वंशो वेणौ कुले वर्गे" इति विश्वः। शुद्धवंशे जनितः (स० त०)। गुणस्य="मौर्व्यां द्रव्याऽऽश्रिते सत्त्व-शौर्य-सन्ध्याऽऽदिके गुणः" इत्यमरः। स्थानतां=स्थान + तल् + टाप् + अम्। अनुभवन्=अनु + भू + लट् (शतृ) + सु। धनूः=

"अथास्त्रियम्। धनुश्चापौ" इत्यमरः। क्षिप्नुः=क्षिपतीति, क्षिप धातुसे "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इस सूत्रसे क्नु प्रत्यय। इस पद्यमें श्लेष और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है॥ १०२॥

तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः॥ १०३॥

अन्वयः—उच्चैः पटुः स तेन वचसा एव मघोनः कपटं वेद स्म। अथ तदुचितां वाणीम् आचरत्, हि कुटिलेषु आर्जवं नीतिः न।

व्याख्या—उच्चैः = अतितरां, पटुः = कुशलः, सः = नलः, तेन तेन वचसा="पाणिपीडनमहं (५-९९)" "त्वामिहैवमनिवेश्य (५-१०१)" इत्यादिरूपेण वचनेन, एव, मघोनः=इन्द्रस्य, कपटं=कैतवं, वेद स्म=ज्ञातवान्। अथ=इन्द्रकपटवेदनाऽनन्तरं, तदुचिताम्=इन्द्रकपटाऽनुरूपां, वाणीं=वाचम्, आचरत्=आचरितवान्, स्वयमपि कपटोक्तिमकरोदिति भावः। हि=यतः, कुटिलेषु=वक्रेषु जनेषु, आर्जवम्=सरलता, अकौटिल्यमिति भावः। नीतिः=नयः, न=नो विद्यते, कुटिलेषु कुटिलेनैव भाव्यमिति भावः।

अनुवाद—अत्यन्त कुशल महाराज नलने इन्द्रके उन-उन वाक्यसे कपटको जान लिया। अनन्तर उन्होंने वैसे ही कपटके अनुरूप वचनका प्रयोग किया; क्योंकि कुटिलोंमें सरलताका प्रदर्शन नीति नहीं है।

टिप्पणी—तदुचितां=तस्य उचिता, ताम् (ष० त०)। आचरत्=आङ्+चर+लङ्+तिप्। आर्जवम्=ऋजोर्भावः, ऋजु+अण्+सु। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥ १०३॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम्।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम्॥ १०४॥

अन्वयः—सा इयम् अन्यजन्मनि मया एव कृतानां दुरितानाम् उच्चतरता। या कथापथपारं युष्मदीयम् अपि महिमानं जेतुम् इच्छति।

व्याख्या—सा=तादृशी, इयम्=एषा, अन्यजन्मनि=अपरजनने, जन्मान्तरे। मया एव, कृतानां=विहितानां, दुरितानां=पापानाम्, उच्चतरता=महत्ता, या=पापमहत्ता, कथापथपारं=वर्णनाऽगोचरं, युष्मदीयम् अपि=भवदीयमपि, महिमानं=महत्त्वम्, आज्ञारूपं प्रभावमित्यर्थः। जेतुम्=उल्लङ्घयितुम्, इच्छति=वाञ्छति। पापाधिक्याद्भवदीयाया आज्ञाया उल्लङ्घन-

कर्तुमिच्छामीति विनयोक्तिः। सर्वथा भवदादेशो नाऽनुष्ठीयत इति भावः।

अनुवाद—(हे देवगण !) यह दूसरे जन्ममें मुझसे ही किये गये पापोंकी महत्ता है, जो कि वचनके अगोचर आप लोगोंके महत्त्वको भी जीतनेकी इच्छा करती है।

टिप्पणी—अन्यजन्मनि=अन्यच्च तत् जन्म, तस्मिन् (क० धा०)। उच्चतरता=अतिशयेन उच्चम् उच्चतरम्, उच्च+तरप्, उच्चतरस्य भावः, उच्चतर+टाप्+सु। कथापथपारं=कथायाः पन्थाः कथापथः (ष० त०), तस्य पारम् (ष० त०)। युष्मदीयं = युष्मद् + छ (ईय) + अम्। महिमानं=महत्+इमनिच्+अम्॥ १०४॥

वित्त चित्तमखिलस्य, न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम्।
ह्रीर्गिराऽस्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता॥ १०५॥

अन्वयः—(हे देवाः !) अखिलस्य चित्तं वित्त। धुर्यकार्यपरिपन्थि मौनं तु न कुर्याम्। गिरा ह्रीः अस्तु वरम्, परवाक् अपरास्ता (सती) स्वीकृता एव पुनः मा अस्तु।

व्याख्या—ननु कुटिलोक्तेर्वरं मौनमत आह—वित्तेति। (हे देवाः !) अखिलस्य=समस्तस्य, जनस्य=मानवस्य, चित्तं=हृदयं, वित्त=जानीथ। अतः धुर्यकार्यपरिपन्थि=इष्टसाधनसमर्थकृत्यविरोधि, मौनं तु=तूष्णीकत्वं तु, न कुर्यां=नो विदधीय, किन्तु गिरा=परिहारोक्त्या, ह्रीः=लज्जा, अस्तु=भवतु, वरं=मनाक् प्रियम्। तर्हि मौनादेव अस्वीकारे किं निषेधपाटव्येण ? तत्राह—परवाक्=अन्यवाणी, प्रार्थनोक्तिरिति भावः। अपरास्ता=अनिषिद्धा सती, स्वीकृता एव=अभ्युपगता एव, पुनः, मा अस्तु=न भवतु।

अनुवाद—(हे देवगण !) आपलोग सबके हृदयको जान लें। इस कारणसे अभीष्ट साधनमें समर्थ कार्यका विरोधी मौन तो नहीं लूँगा। वचनसे अस्वीकार करनेसे भले ही लज्जा हो परन्तु दूसरेके प्रार्थनावचनको निषेध न करने पर स्वीकृत नहीं हो।

टिप्पणी—वित्त=विद+लोट्+थ। धुर्यकार्यपरिपन्थि=धुर्यं च तत् कार्यम् (क० धा०), तस्य परिपन्थि, तत् (ष० त०)। मौनं=मुनि+अण्+अम्। कुर्याम् = कृ + विधिलिङ् + मिप्। अपरास्ता = न परास्ता

(नञ्०) । "परमतमप्रतिषिद्धमभ्युपगतम् एव" अर्थात् दूसरेके मतका निषेध न करनेपर स्वीकृत ही समझा जाता है, इस उक्तिके अनुसार आप लोगोंके आदिष्ट कार्यको मैं मौनका अवलम्बन न कर वचनसे ही अस्वीकार करता हूँ, यह तात्पर्य है ॥ १०५ ॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम् ।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥१०६॥

अन्वयः—यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम् अखिलं तत्त्वं सम्मुखस्थं खलु । ते अपि (यूयम्) ईदृशम् आज्ञां किं वितरथ ? या यस्य (मे) वितरीतुं सदृशी न ।

व्याख्या—यन्मतौ=येषां (युष्माकम्) मतौ (बुद्धौ) एव, विमलदर्पणिकायां=निर्मलादर्शरूपायाम्, अखिलं=समस्तं, तत्त्वं=वस्तु, सम्मुखस्थं=प्रत्यक्षं, खलु=निश्चयेन । तेऽपि=सर्वज्ञा अपि, यूयम् । ईदृशम्=ईदृशीम्, आज्ञाम्=अनुज्ञाम्, दमयन्तीसमक्षे देवदूत्यकरणरूपामिति भावः । किं=किमर्थं, वितरथ=दत्थ ? या=आज्ञा, यस्य=मे, वितरीतुं=दातुं, सदृशी न=योग्या न, दमयन्तीप्रणयप्रार्थिनो मम स्वदूत्ये नियोजनं श्रीमतां नितान्तमेवाऽनुचितं कर्मेति भावः ।

अनुवाद—जिन आप लोगोंके बुद्धिरूप निर्मल दर्पणमें समस्त वस्तु प्रत्यक्ष है । वैसे सर्वज्ञ होकर भी आप लोग मुझे क्यों ऐसी आज्ञा देते हैं ? जो जिसे देनेके लिए योग्य नहीं है ।

टिप्पणी—यन्मतौ=येषां मतिः, तस्याम् (ष० त०) । विमलदर्पणिकायां=विमला चाऽसौ दर्पणिका, तस्याम् (क० धा०) । सम्मुखस्थं=सम्मुखे तिष्ठतीति, सम्मुख+स्था+क+सु (उपपद०) । ईदृशम्=इदम्+दृश+कञ्+सु । "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे कञ् प्रत्यय । वितरथ=वि+तॄ+लट्+थ । वितरीतुं=वि+तॄ+तुमुन् । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो ! तद्दूततां तु करवाणि कथं वः ।
ईदृशां न महतां बत ! जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणाऽपि ॥ १०७ ॥

अन्वयः—इह यां वरीतुं यामि, वः तद्दूततां तु कथं करवाणि ? अहो ! ईदृशां महतां (वः) तृणस्य मम वञ्चने घृणा अपि न जाता, बत !

व्याख्या—अथ नलः पद्याऽष्टकेन स्वस्य दूत्याऽयोग्यतां प्रतिपादयति—यामीति । (हे देवाः !) इह=अस्मिन् समये, यां=दमयन्तीं, वरीतुं=स्वीकर्तुं, यामि=गच्छामि, वः=युष्माकं, तद्‌दूततां तु=तस्यां (दमयन्त्याम्) दूततां (दूत्यम्) तु, कथं=केन प्रकारेण, वः=युष्माकं, करवाणि=कुर्यां, न कुर्यामिति भावः । अहो !=आश्चर्यम् ! ईदृशाम्=एतादृशानां, महतां=पूजायोग्यानां, युष्माकं, तृणस्य=तृणकल्पस्य, मम=मानवस्य, वञ्चने=प्रतारणे, घृणा अपि=दया अपि, जुगुप्सा अपि वा, न जाता=न उत्पन्ना । बत !=खेदः !

अनुवाद—यहाँ जिस दमयन्तीको वरण करनेके लिए मैं जा रहा हूँ, उन-(दमयन्ती)में आपलोगोंका दूतकर्म तो मैं कैसे करूँगा ? आश्चर्य है ! ऐसे महापुरुष आप लोगोंको तृणके समान मुझको प्रतारण करनेमें दया वा जुगुप्सा भी नहीं हुई, हाय !

टिप्पणी—वरीतुं=वृञ्+तुमुन्, "वृतो वा" इससे इट्का दीर्घ । यामि=या+लट्+मिप् । तद्‌दूततां=तस्यां दूतता, ताम् (स० त०) । करवाणि=कृ+लोट्+मिप् ॥ १०७ ॥

> **उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः ।**
> **ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ॥ १०८ ॥**

अन्वयः—यः अहम् अस्या विरहात् मुहुः उद्भ्रमामि, मुहूर्तं मोहं च एमि; ईदृगवस्थः सः अहं वः रहस्यं रक्षितुं कथं प्रभवितास्मि ? ब्रूत ।

व्याख्या—यः अहम्, अस्याः=दमयन्त्याः, विरहात्=वियोगात् हेतोः, मुहुः=वारं वारम्, उद्भ्रमामि=उन्मत्तो भवामि, मुहूर्तं=क्षणमात्रं, मोहं च=मूर्च्छां च, एमि=प्राप्नोमि, ईदृगवस्थः=एतादृग्दशायुक्तः, सः=तादृशः, अहं=नलः, वः=युष्माकं देवानां, रहस्यं=गोपनीयं, दूत्यमिति भावः । रक्षितुं=गोप्तुं, कथं=केन प्रकारेण, प्रभवितास्मि=समर्थो भवितास्मि, न शक्ष्यामीति भावः । ब्रूत=कथयत ।

अनुवाद—जो मैं दमयन्तीके वियोगसे, वारंवार पागल होता हूँ और कुछ क्षणतक मूर्च्छित भी हो जाता हूँ; ऐसी अवस्थावाला मैं आप लोगोंके रहस्यको छिपानेके लिए कैसे समर्थ हूँगा ? बतलाइए ।

टिप्पणी—उद्भ्रमामि=उद्+भ्रम्+लट्+मिप् । मुहूर्तं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया । एमि=इण्+

लट् + मिप् । ईदृगवस्थः=ईदृक् अवस्था यस्य सः (बहु०) । रक्षितुं=रक्ष + तुमुन् । प्रभवितास्मि=प्र + भू + लुट् + मिप् । ब्रूत=ब्रूञ् + लोट् + थ ॥१०८॥

यां मनोरथमयीं हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे ।

भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे ? दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि ॥ १०९ ॥

अन्वयः - यः (अहम्) मनोरथमयीं यां हृदि कृत्वा श्वसिमि । अथ सः (अहम्) तदग्रे भावगुप्तिम् अवलम्बितुं कथम् ईशे ? हि विदुषा अपि विषयाः दुर्जयाः ।

व्याख्या—यः = अहं, मनोरथमयीं=सङ्कल्परूपां, यां=दमयन्तीं, हृदि= हृदये, कृत्वा=विधाय, स्थापयित्वेति भावः । श्वसिमि=प्राणिमि । अथ= अनन्तरं, सः=तादृशः अहं, तदग्रे=दमयन्त्याः पुरः, भावगुप्तिं=कामविकार-गोपनम्, अवलम्बितुम्=आश्रयितुं, कथं=केन प्रकारेण, ईशे=शक्नोमि । हि=यतः, विदुषा अपि=विपश्चिता अपि, विषयाः=शब्दादयः, दुर्जयाः= जेतुम् अशक्याः ।

अनुवाद—जो (मैं) सङ्कल्परूप जिस(दमयन्ती)को हृदय(चित्त)-में रखकर प्राण धारण कर रहा हूँ, अभी वैसा (मैं) दमयन्तीके सामने कामविकार छिपानेके लिए कैसे समर्थ हूँगा ? क्योंकि विद्वान्‌को भी विषयोंको जीतना कठिन है ।

टिप्पणी—मनोरथमयीं=मनोरथ + मयट् + ङीप् + अम् । श्वसिमि= श्वस + लट् + मिप् । तदग्रे=तस्या अग्रं, तस्मिन् (ष० त०) । भावगुप्तिं= भावानां गुप्तिः, ताम् (ष० त०) । ईशे=इश + लट् + इट् । दुर्जयाः= दुःखेन जेतुं शक्याः, दुर् + जि + अच् + जस् । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः ? ।

रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी ? ॥ ११० ॥

अन्वयः—च (किञ्च) मादृक् कः यामिकान् अनुपमृद्य तां निरीक्षितुम् अपि क्षमते ? रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे कुत्र पुंसि कुमारी विश्वसिति ?

व्याख्या—च=किञ्च, मादृक्=मत्सदृशः, क्षत्रिय इत्यर्थः । कः=पुरुषः, यामिकान्=प्रहररक्षकान् पुरुषान्, अनुपमृद्य=अहत्वा, तां=दमयन्तीं, निरीक्षितुम् अपि=द्रष्टुम् अपि, किं पुनराभाषितुमिति भावः । क्षमते=समर्थो भवति । यामिका हन्यन्ताम् इत्यत्राह-रक्षीति । रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे=

लक्षसंख्यकरक्षकमर्दनक्रूरकर्मणि, कुत्र = कस्मिन्, पुंसि = पुरुषे, कुमारी = राजकन्या दमयन्ती, विश्वसिति = विश्वासं करोति, क्वोद्वाहं प्रसङ्गः कुत्र त्राऽन्तःपुरमर्दनमिति भावः।

अनुवाद—और भी–मेरे ऐसा कौन-सा क्षत्रिय पहरेदारोंको मारे बिना दमयन्तीको देखनेमें भी समर्थ होगा ? लाखों पहरेदारोंको मारनेसे क्रूर कर्मवाले किस पुरुषमें कुमारी दमयन्ती विश्वास करेगी ?

टिप्पणी—यामिकान् = यामान् रक्षन्तीति यामिकाः, तान्। याम शब्दसे "रक्षति" इस सूत्रसे ठक् (इक) प्रत्यय। अनुपमृद्य = न + उप + मृद् + क्त्वा (ल्यप्)। निरीक्षितुं = निर् + ईक्ष + तुमुन्। क्षमते = क्षमूष् + लट् + त। रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे = रक्षिणां लक्षं (ष० त०), तस्य जयः (ष० त०), चण्डं चरित्रं यस्य सः (बहु०), रक्षिलक्षजयेन चण्डचरित्रः, तस्मिन् (तृ० त०)। विश्वसिति = वि + श्वस् + लट् + तिप् ॥ ११० ॥

आदधीचि किल दातृकृताऽर्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत्।
याददे कथमहं प्रियया तत्प्राणतः शतगुणेन पणेन ॥ १११ ॥

अन्वयः—प्राणमात्रपणसीम आदधीचि दातृकृताऽर्घं यत् यशः, तत् प्राणत शतगुणेन प्रियया पणेन अहं कथम् आददे ?

व्याख्या—प्राणमात्रपणसीम=जीवनमात्रमूल्यावधि, आदधीचि = दधीचि-पर्यन्तं, दातृकृताऽर्घं = वदान्यनिश्चितमूल्यं, यत्, यशः = कीर्तिः, तत् = यशः, प्राणतः = प्राणेभ्यः, शतगुणेन = शतगुणाऽधिकेन, प्रियया पणेन = दयितया (दमयन्त्या) एव मूल्येन, अहं = नलः, कथं = केन प्रकारेण, आददे = गृह्णामि।

अनुवाद—प्राणमात्र मूल्यकी सीमा रखकर दधीचिपर्यन्त दाताओंने जिसका मूल्य निश्चित किया है ऐसा जो यश है, उसको प्राणसे भी सौगुना मूल्यवाली दमयन्तीरूप मूल्यसे मैं कैसे ले लूं ?

टिप्पणी—प्राणमात्रपणसीम = प्राणा एव प्राणमात्रम् (रूपक०), पणस्य सीमा (ष० त०), "पणो मूल्ये ग्लहे माने" इति वैजयन्ती। प्राण-मात्रं पणसीमा यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद्यथा तथा। आदधीचि = दधीचेः आ, "आङ् मर्यादाऽभिविध्योः" इससे अभिविधिमें अव्ययीभाव। दातृ-कृताऽर्घं = कृतः अर्घः यस्य तत् (बहु०)। मूल्ये पूजाविधावर्घः" इत्यमरः।

दातृभिः कृतार्थम् (तृ० त०)। प्राणतः = प्राणेभ्य इति, प्राण + तसि। शत-गुणेन = शतं गुणा यस्य स, तेन (बहु०)। आददे = आङ् + दद + लट् + इट्।
देवकार्यके लिए दधीचि ऋषिने अपने प्राण दिये, उनकी हड्डीसे वज्र अस्त्र बना, उससे इन्द्रने अपने शत्रु वृत्रासुरका वध किया, ऐसी पौराणिक कथा है। जिस यशके लिए दधीचि ऋषिने प्राण दिये, परन्तु प्राणोंसे भी सौगुना मूल्य-वाली दमयन्तीको देकर मैं कैसे यशको ले लूँ? अधिक मूल्यवाली वस्तु देकर अल्प मूल्यवाली वस्तु कैसे लूँ? यहाँपर परिवृत्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—"परिवृत्तिर्विनिमयः समन्युनाऽधिकैर्भवेत्" ॥ सा० १०-८० ॥ १११ ॥

अर्थना मयि भवद्भिरिवाऽस्यै कर्तुमर्हति मयाऽपि भवत्सु।
भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूयमेव गुरवः करणीयाः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—अस्यै मयि भवद्भिः इव मया अपि भवत्सु अर्थना कर्तुम् अर्हति। भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूयम् एव गुरवः करणीयाः।

व्याख्या—अस्यै = दमयन्त्यै, मयि = नले विषये, भवद्भिः इव = इन्द्रादि-दिक्पालैः इव मया अपि, = नलेन अपि, भवत्सु = श्रीमत्सु विषये, अर्थना = प्रार्थना, कर्तुं = विधातुम्, अर्हति = योग्या भवति, कर्तव्येति भावः। कथं कामुक-मुखात्कामिनीलिप्सा? इति चेत्तत्राऽऽह—भीमजार्थेति। भीमजार्थपरयाचन-चाटौ = दमयन्तीनिमित्ताऽन्यप्रार्थनाप्रियोक्तौ, यूयम् एव = भवन्तो देवा एव गुरवः = उपदेष्टारः, करणीयाः = विधातव्याः, करोमि चेति भावः।

अनुवाद—(हे देवगण!) दमयन्तीके लिए मुझसे जैसे आप लोगोंने प्रार्थना की है, वैसे मुझे भी आप लोगोंसे प्रार्थना करनी चाहिए। दमयन्तीके लिए दूसरेसे प्रार्थनारूप प्रिय उक्तिमें मुझे आप लोगोंको ही गुरु बनाना चाहिए।

टिप्पणी—अस्यै = "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इस वार्तिकसे तादर्थ्यमें चतुर्थी। भीमजार्थपरयाचनचाटौ = भीमाज्जाता भीमजा, भीम + जन् + ड + टाप् (उपपद०), भीमजायै इदं भीमजार्थम् (च० त०), परस्मिन् याचनम् (स० त०), तस्मिन् चाटु (स० त०), भीमजार्थं च तत् परयाचनचाटु, तस्मिन् (क० धा०)। करणीयाः = कर्तुं योग्याः, कृ + अनी-यर् + जस् ॥ ११२ ॥

अर्थिताः प्रथमतो दमयन्तीं यूयमन्वहमुपास्य मया यत्।
ह्रीर्न चेद् व्यतियतामपि तद्वः सा ममाऽपि सुतरां न तदस्तु ॥ ११३ ॥

अन्वयः—मया अन्वहं यूयम् उपास्य प्रथमतो दमयन्तीं यत् अर्थिताः, तद् व्यतियतां वः ह्री न चेत् तत् सा मम अपि सुतरां न अस्तु ।

व्याख्या—अथ प्रथमप्रार्थकत्वाऽभिमानस्तर्हि ममैव प्रथमप्रार्थकत्वमिति प्रतिपादयति—अर्थिता इति । (हे देवाः !) मया = प्रार्थकेन नलेन, अन्वहम्= अनुदिनं, यूयं = भवन्तो देवाः, उपास्य = उपासनां कृत्वा, प्रथमतः = आदौ एव, भवत्प्रार्थनायाः पूर्वमेवेति भावः । दमयन्तीं=भैमीम्, अर्थिताः = प्रार्थिताः । तत् = प्रथमप्रार्थनं, व्यतियतां = व्यतिक्रमताम् अपि, वः = युष्माकं, ह्रीः = लज्जा, न चेत् = नाऽस्ति यदि, तत् = तर्हि, सा = ह्रीः, मम अपि, सुतराम् = अतितरां, न अस्तु = मा भूत् ।

अनुवाद—(हे देवगण !) मैंने प्रतिदिन आप लोगोंकी उपासना कर पहलेसे ही दमयन्तीके लिए जो प्रार्थना की थी, उस(प्रथम प्रार्थना)को उल्लङ्घन करनेवाले आप लोगोंको लज्जा नहीं है तो वह लज्जा मुझे भी नहीं हो ।

टिप्पणी—अन्वहम् = अह्नि अह्नि, वीप्सामें अव्ययीभाव, "अनश्च" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् । यूयम्="अर्थिताः" इस पदके योगमें गौण कर्ममें प्रथमा । उपास्य = उप + आस + क्त्वा (ल्यप्) । दमयन्तीम् = मुख्य कर्ममें द्वितीया । व्यतियतां = वि + अति + इण् + लट् (शतृ०) + आम् । "न गतिहिंसाऽर्थेभ्यः" इस सूत्रसे आत्मनेपदका निषेध । अस्तु = अस् + लोट् + तिप् ॥ ११३ ॥

> कुण्डिनेन्द्रसुतया किल पूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते ।
> व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान् ॥११४॥

अन्वयः—(हे देवाः !) कुण्डिनेन्द्रसुतया पूर्वं मां वरीतुम् उररीकृतम् आस्ते किल । (ततः) मयि दृष्टे परं व्रीडम् एष्यति । सा युष्मान् न स्वीकरिष्यति खलु ।

व्याख्या—(हे देवाः !) कुण्डिनेन्द्रसुतया = दमयन्त्या, पूर्वं = प्रथमम् एव, मां = नलं, वरीतुं = वरणं कर्तुम्, उररीकृतम् = अङ्गीकृतम्, आस्ते = अस्ति, किलेति वार्तायाम् । ततः, मयि = नले, दृष्टे = अवलोकिते सति, परं= केवलं, व्रीडं = लज्जाम्, एष्यति = प्राप्स्यति । एवं च सा = दमयन्ती, युष्मान् = भवतः, देवान्, न स्वीकरिष्यति = न अङ्गीकरिष्यति, खलु = निश्चयेन ।

अनुवाद—(हे देवगण !) दमयन्तीने पहले ही मुझे वरण करनेके लिए स्वीकार किया है। इसलिए मुझे देखनेपर वे लज्जित ही हो जायेंगी, आप लोगोंको निश्चय ही स्वीकार नहीं करेंगी।

टिप्पणी—कुण्डिनेन्द्रसुतया = कुण्डिनानाम् इन्द्रः (ष० त०), तस्य सुता, तया (ष० त०)। वरीतुं = वृञ् + तुमुन्। आस्ते = आस + लट् + त। व्रीडं = व्रीड + घञ् + अम् ॥ ११४ ॥

तत्प्रसीदत, विधत्त न खेदं, दूत्यमत्यसदृशं हि ममेदम्।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन ॥ ११५ ॥

अन्वयः—(हे देवाः !) तत् प्रसीदत, खेदं न विधत्त। मम इदं दूत्यम् अत्यसदृशं हि। अनौपयिकेन तद् विधित्सुभिः हास्यता एव सुलभा, साध्यं तु न (सुलभम्)।

व्याख्या—(हे देवाः !) तत् = तस्मात्कारणात्, प्रसीदत = प्रसन्ना भवत, खेदं = क्लेशं, न विधत्त = न कुरुत। मम = नलस्य, इदं = भवदारोपितं, दूत्यं = दूतकर्म, अत्यसदृशम् = अत्यन्ताऽयोग्यं, हि = निश्चयेन। अत्र हेतुं प्रदर्शयति--हास्यतेति। अनौपयिकेन = अनुपायेन, तद् = दूत्यं, विधित्सुभिः = चिकीर्षुभिः, हास्यता एव = उपहसनीयता एव, सुलभा = सुप्रापा, साध्यं तु = प्रयोजनं तु, दमयन्तीप्राप्तिरूपं तु इति शेषः। न = न सुलभम्।

अनुवाद—(हे देवगण !) इस कारण आप लोग प्रसन्न हों, खेद न मानें। मेरा यह दूतकर्म निश्चय ही अत्यन्त अयोग्य है। उपायके बिना जो प्रयोजनकी सिद्धि करना चाहते हैं, उनको उपहासपात्रता ही सुलभ होती है, प्रयोजन नहीं (सुलभ) होता है।

टिप्पणी—प्रसीदत = प्र + सद + लोट् + थ। विधत्त = वि + धा + लोट् + थ। अत्यसदृशम् = न सदृशम् (नञ्०), अत्यन्तम् असदृशम् (गति०)। अनौपयिकेन = उपाय एव औपयिकः, उपाय शब्दसे "विनयादिभ्यष्ठक्" इस सूत्रमें पठित "उपायो ह्रस्वत्वं च" इस वार्तिकसे स्वार्थिक ठक् (इक) प्रत्यय, ह्रस्वत्व। न औपयिकः, तेन (नञ्०)। विधित्सुभिः = वि + धा + सन् + उ + भिस्। अनुचित कर्मका आरम्भ अनर्थके लिए होता है, फलके लिए नहीं, यह भाव है ॥ ११५ ॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलाऽरिः।
शंसति स्म किमपि स्मयमानः स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—स बलाऽरिः तदानीं नलस्य ईदृशानि गदितानि आकलय्य स्मयमानः स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः (सन्) किमपि शंसति स्म ।

व्याख्या—सः=प्रसिद्धः, बलाऽरिः=बलाऽरातिः, इन्द्र इत्यर्थः । तदानीं=तस्मिन् समये, नलस्य = नैषधस्य, ईदृशानि = एतादृशानि, गदितानि=उक्तानि, वाक्यानीति भावः । आकलय्य=आकर्ण्य, स्मयमानः=मन्दं हसन्, स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः=निजाऽनुचरमुखनिरीक्षणचञ्चलः सन्, किमपि=किञ्चिद्वाक्यं, वक्ष्यमाणप्रकारमिति शेषः । शंसति स्म=बभाषे ।

अनुवाद—प्रसिद्ध देवराज इन्द्र उस समय नलके ऐसे वाक्योंको सुनकर मन्दहास्य कर अपने अनुचर यम आदि देवताओंके मुखोंको देखनेमें चञ्चल होते हुए बोले ।

टिप्पणी—बलाऽरिः=बलस्य अरिः (ष० त०) । स्मयमानः=स्मयत इति, स्मिङ्+लट् (शानच्)+सु । स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः=स्वस्य अनुगाः (ष० त०), तेषाम् आननानि (ष० त०), तेषां विलोकनं (ष० त०), तस्मिन् लोलः (स० त०) ॥ ११६ ॥

नाऽभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभवेन ।
लज्जते न रसना तव वाम्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ? ॥ ११७ ॥

अन्वयः—हे नृपते ! रोहिणीरमणवंशभवेन भवता इदं न अभ्यधायि । अर्थिषु स्वयम् उरीकृतकाम्या तव रसना वाम्यात् न लज्जते ?

व्याख्या—हे नृपते=हे राजन् ! रोहिणीरमणवंशभवेन=चन्द्रकुलोत्पन्नेन, भवता=त्वया, इदम्=एतत्, "सेयमुच्चतरता" (५-१०४) इत्यत आरभ्य "कुण्डिनेन्द्रसुतया" (५-११४) इत्यादिश्लोकपर्यन्तं निषेधवाक्यकदम्बमिति भावः । न अभ्यधायि=न अभिहितं, किन्तु चन्द्रवंशाऽनुत्पन्नेन अभिहितमिति भावः । अत्र हेतुमाह—लज्जत इति । अर्थिषु=याचकेषु, अस्मासु विषये, स्वयम्=आत्मना एव, उरीकृतकाम्या=अङ्गीकृतेच्छा, तव=भवतः, रसना=जिह्वा, वाम्यात्=प्रातिकूल्यात्, न लज्जते=नो जिह्रेति ? ततस्त्वं न चन्द्रवंशोत्पन्न इव प्रतिभासीति भावः ।

अनुवाद—हे राजन् ! चन्द्रवंशमें उत्पन्न आपने यह नहीं कहा है । याचना करनेवालोंमें स्वयं उनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए स्वीकार करनेवाले आपकी जिह्वा प्रतिकूलतासे लज्जित नहीं होती है ?

टिप्पणी—नृपते=नृणां पतिः (ष० त०), तत्सम्बुद्धौ। रोहिणीरमण-वंशभवेन=रोहिण्या रमणः (ष० त०), तस्य वंशः (ष० त०), तस्मिन् भवः, तेन (स० त०)। अभ्यधायि=अभि+धा+लुङ् (कर्ममें) +त। अर्थिषु=अर्थ+इनि+सुप्, विषयमें सप्तमी। उरीकृतकाम्या=उरीकृतं काम्यं यया सा (बहु०)। वाम्यात्=वामस्य भावो वाम्यं, तस्मात्, वाम+ष्यञ्+ङसि। लज्जते= 'ओलस्जी व्रीडायाम्' धातुसे लट्+त ॥ ११७ ॥

भङ्गुरं च वितथं न कथं वा जीवलोकमवलोकयसीमम्।
येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो! चलति धीर! तवाऽपि ॥ ११८ ॥

अन्वयः—हे धीर! इमं जीवलोकं भङ्गुरं वितथं च कथं वा न अवलोकयसि? येन तव अपि धीः धर्मयशसी परिहातुं चलति।

व्याख्या—हे धीर=हे विद्वन्! इमम्=एतं, जीवलोकं=प्राणिसमूहं, भङ्गुरं=विनश्वरं, वितथं च=विफलं च, दुःखमयत्वादिति भावः। कथं वा=केन प्रकारेण वा, न अवलोकयसि=न पश्यसि, न जानासीति भावः। येन=अज्ञानेन हेतुना, तव अपि=भवतः अपि, विदुषः अपीति भावः। धीः=बुद्धिः, धर्मयशसी=पुण्यकीर्ती, अभङ्गुराऽवितथे अपीति भावः। परिहातुं=त्यक्तुं, चलति=चञ्चला भवति। अस्थिरविषयाऽऽसक्तेः स्थिरसुकृतयशः-परित्यागो भवादृशां विदुषामयुक्त इति भावः।

अनुवाद—हे विद्वन्! आप इस प्राणिसमूहको विनश्वर और विफल क्यों नहीं देख रहे हैं? जिस(अज्ञान)से आपकी बुद्धि भी धर्म और यशको छोड़नेके लिए चञ्चल हो रही है।

टिप्पणी—जीवलोकं=जीवानां लोकः, तम् (ष० त०)। भङ्गुरं=भञ्जधातुसे "भञ्जभासमिदो घुरच्" इस सूत्रसे घुरच् प्रत्यय। अवलोकयसि=अव+लोक+णिच्+लट्+सिप्। धर्मयशसी=धर्मश्च यशश्च, ते (द्वन्द्व०)। परिहातुं=परि+हा+तुमुन्। अस्थिर विषयकी लोलुपतासे स्थिर धर्म और यशका परित्याग आप-जैसे विद्वानोंके लिए उचित नहीं है, यह अभिप्राय है ॥ ११८ ॥

कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन? ।
इन्दुराविरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र स भवानपि मा भूत् ॥ ११९ ॥

अन्वयः—(हे राजन्) जगन्मुकुटे वः कुले येन प्रार्थकेप्सितं न अपूरि

(सः) कः अजनि ? आदिः इन्दुः कलङ्की अजनिष्ट । कष्टम् ! अत्र भवान् स मा भूत् ।

व्याख्या—(हे राजन् !) जगन्मुकुटे=लोकभूषणे, वः=युष्माकं, कुले=वंशे, येन=जनेन, प्रार्थकेप्सितं=याचकमनोरथः, न अपूरि=न पूरितम्, (सः=तादृशः) कः=जनः, अजनि=जातः ? आदिः=प्रथमः, युष्माकं कूटस्थः पुरुष इति भावः । इन्दुः=चन्द्रः, कलङ्की=कलङ्कयुक्तः, मृगलाञ्छन इति भावः । अजनिष्ट=जातः, कष्टं=खेदः । अत्र=अस्मिन् कुले, भवान् अपि, सः=कलङ्की, अर्थिवाञ्छाया अपूरणेनेति भावः । मा भूत्=नो भवतु, भवानपयशो न वितनोत्विति भावः ।

अनुवाद—(हे राजन् !) लोकके अलङ्काररूप आपके वंशमें जिसने याचककी इच्छाको पूर्ण नहीं किया है, ऐसा कौन-सा पुरुष पैदा हुआ ? हाँ ! आप लोगोंके आदिपुरुष चन्द्र कलङ्की उत्पन्न हुए थे, कष्ट है ! आप भी वैसे (कलङ्कयुक्त) मत हों ।

टिप्पणी—जगन्मुकुटे=जगतां मुकुटः, तस्मिन् (ष० त०) । प्रार्थकेप्सितं =प्रार्थकस्य ईप्सितम् (ष० त०) । अपूरि=पूर+लुङ् (कर्ममें)+त । अजनि=जन्+लुङ् (कर्तामें)+त । कलङ्की=कलङ्क+इनि+सु । अजनिष्ट =जन+लुङ्+त (कर्तामें) । मा भूत्="मा"के योगमें 'माङि लुङ्" इससे लुङ्, "न माङ्योगे" इस सूत्रसे अट्का निषेध । भू+लुङ्+तिप् ॥ ११९ ॥

याऽपदृष्टिरपि या मुखमुद्रा, याचमानमनु या च न तुष्टिः ।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः, शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥ १२० ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) त्वादृशस्य याचमानम् अनु या अपि अपदृष्टिः, या च मुखमुद्रा, या च न तुष्टिः, सः सकलः कलङ्कः, शीतभासि शशकः परम् अङ्कः ।

व्याख्या—(हे राजन् !) त्वादृशस्य=भवत्सदृशस्य दातुः, याचमानम् अनु=याचकं प्रति, या अपि, अपदृष्टिः=कुदृष्टिः, या च, मुखमुद्रा=मौनं, या च, न तुष्टिः=असन्तोषः, सः=पूर्वोक्तः, सकलः=समस्तः, विकार इति शेषः, कलङ्कः=अपयशः, एतद्वैपरीत्येन, शीतभासि=चन्द्रे, शशकः=अल्पः शशः, परं=केवलम्, अङ्कः=चिह्नं, श्रीवत्सादिवत्, न कलङ्क इति भावः ।

अनुवाद-(हे राजन् !) आप-जैसे दाता की याचकको लक्ष्य करके जो कुदृष्टि है और जो मौन है तथा जो असन्तोष है, वह सब विकार ही कलङ्क है; चन्द्रमें जो शश (खरगोश) है, वह केवल चिह्न है, कलङ्क नहीं है।

टिप्पणी—याचमानं=याचत इति याचमानः, तम्, याच+लट् (शानच्)+अम्। मुखमुद्रा=मुखस्य मुद्रा (ष० त०)। तुष्टिः=तुष्+क्तिन्+सु। शीतभासि=शीता भा यस्य स शीतभाः, तस्मिन् (बहु०)। शशकः=अल्पः शशः, शश शब्दसे "अल्पे" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय ॥ १२० ॥

नाऽक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि।

इत्यमर्थिजनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) अक्षराणि पठता (भवता) नकारः न अपाठि किम्? अथवा पठितः अपि प्रस्मृतः। इत्थं नकारः अर्थिजनसंशयदोलाखेलनं चकार खलु।

व्याख्या—(हे राजन् !) अक्षराणि=वर्णान्, पठता=अभ्यस्यता भवता, शैशव इति शेषः। नकारः=निषेधवाचको न शब्दः, न अपाठि किम्?=न पठितः किम्? अथवा, पठितः अपि=कृतपाठः अपि, प्रस्मृतः=विस्मृतः, इत्थम्=अनेन प्रकारेण, नकारः=निषेधवाची नवर्णः, अर्थिजनसंशयदोला-खेलनं=याचकजनसन्देहकोटिद्वयक्रीडां, चकार=कृतवान्, खलु=निश्चयेन।

अनुवाद—(हे राजन् !) अक्षरोंको पढ़ते हुए आपने 'न' वर्ण नहीं पढ़ा क्या? अथवा पढ़कर भी आप भूल गये? इस तरह 'न' वर्णने याचकजनके सन्देहरूप दोला (झुला)में क्रीडा की।

टिप्पणी—पठता=पठतीति पठन्, तेन, पठ+लट् (शतृ)+टा। नकारः='न' वर्णसे "वर्णात्कारः" इससे कार प्रत्यय। अपाठि=पठ+लुङ् (कर्ममें) +त। प्रस्मृतः=प्र+स्मृ+क्त+सु। अर्थिजनसंशयदोलाखेलनम्=अर्थिनश्च ते जनाः (क० धा०), तेषां संशयः (ष० त०), स एव दोला (रूपक०), तस्यां खेलनं, तत् (स० त०)। चकार=कृ+लिट्+तिप्। इस पद्यमें सन्देह और अर्थियोंका ऐसे संशयमें सम्बन्धके न होनेपर भी उसकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है, उन दोनोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १२१ ॥

अब्रवीत्तमनलः "नव नलेवं लब्धमुज्झसि यशः शशिकल्पम्।

कल्पवृक्षपतिमर्थिनमेनं नाऽऽप कोऽपि शतमन्युरिहाऽन्यः ॥ १२२ ॥

अन्वय:—अनल: तम् अब्रवीत्—"हे नल ! इदं लब्धं शशिकल्पं यश: क्व उज्झसि ? इह अन्य: कोऽपि कल्पवृक्षपतिम् एनं शतमन्युम् अर्थिनं न आप ।

व्याख्या—अनल:=अग्नि:, तं=नलम्, अब्रवीत्=अवदत्, हे नल=हे नैषध ! इदम्=एतत्, लब्धं=प्राप्तं, शशिकल्पं=चन्द्रसदृशं, यश:=कीर्ति:, क्व=कुत्र, उज्झसि=त्यजसि ? इह=अस्मिन् लोके, अन्य:=त्वदतिरिक्तो जन:, क: अपि, कल्पवृक्षपतिं=कल्पतरुस्वामिनम्, अनन्यार्थिनमिति भाव: । एनं, शतमन्युम्=इन्द्रम्, अर्थिनं=याचकं, न आप=न लेभे, तदेतादृशं यशो मा त्याक्षीरिति भाव: ।

अनुवाद—अग्निने नलको कहा—"हे नल ! पाये गये चन्द्रसदृश इस यशको कहाँ छोड रहे हैं ? इस लोकमें और किसीने भी कल्पवृक्षके स्वामी इन्द्रको याचकके रूपमें नहीं पाया है ।

टिप्पणी—अब्रवीत्=ब्रूञ्+लङ्+तिप् । लब्धं=लभ+क्त+सु । शशिकल्पम्=ईषत् असमाप्त: शशी शशिकल्पं, तत्, "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयर:" इस सूत्रसे शशिन् शब्दसे कल्पप् प्रत्यय । कल्पवृक्षपतिं=कल्पवृक्षस्य पति:, तम् (ष० त०) । शतमन्युं=शतं मन्यवो यस्य स:, तम् (बहु०) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १२२ ॥

> **न व्यहन्यत कदाऽपि मुदं य: स्व:सदामुपनयन्नभिलाष: ।**
> **तत्पदे त्वदभिषेकक्तां न: स त्यजत्वसमतामदमद्य" ॥ १२३ ॥**

अन्वय:—(हे नल !) स्व:सदां न: य: अभिलाष: मुदम् उपनयन् कदाऽपि न व्यहन्यत । अद्य तत्पदे त्वदभिषेकक्तां न: स: असमतामदं त्यजतु ।

व्याख्या—(हे नल !) स्व:सदां=स्वर्गवासिनां, न:=अस्माकं, य:, अभिलाष:=मनोरथ:, मुदं=हर्षम्, उपनयन्=जनयन्, कदाऽपि=जातुचिदपि, न व्यहन्यत=नो विहत: । अद्य=अस्मिन्दिने, तत्पदे=अभिलाषस्थाने, त्वदभिषेकक्तां=त्वां स्थापयतां, न:=अस्माकं, स:=अभिलाष:, असमतामदम्=असाधारणतागर्वं, स्वसिद्धावन्याऽनपेक्षित्वमिति भाव: । त्यजतु=मुञ्चतु ।

अनुवाद—(हे नल !) स्वर्गमें रहनेवाले हम लोगोंका जो अभिलाष हर्षको उत्पन्न करता हुआ कभी भी प्रतिबद्ध नहीं हुआ । आज उस स्थानमें

आपका स्थापन करनेवाले हम लोगोंका वह अभिलाष अपनी असाधारणताके गर्वका परित्याग करे।"

टिप्पणी—स्व.सदां=स्वः सीदन्तीति स्वःसदः, तेषाम्, स्वर्-उपपद-पूर्वक सद् धातुसे "सत्सूद्विष०" इत्यादि सूत्रसे क्विप् (उपपद०)। उपनयन्=उप+नी+लट् (शतृ)+सु। व्यहन्यत=वि+हन्+लङ् (कर्ममें)+त। तत्पदे=तस्य पद, तस्मिन् (ष० त०)। "पदं व्यवसित-त्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु" इत्यमरः। त्वदभिषेकक्रुतां=तव अभिषेकः (ष० त०), तं कुर्वन्तीति, तेषां, त्वदभिषेक+कृ+क्विप् (उपपद०)+आम्। असमतामदं=न समः (नञ्०), असमस्य भावः (असम+तल्+टाप्), असमताया मदः, तम् (ष० त०)। त्यजतु=त्यज+लोट्+तिप्। आजसे स्वाऽर्थसाधनमें स्वयं ही देवता समर्थ हैं, ऐसे अहङ्कारको छोड़ देते हैं, यह तात्पर्य है॥ १२३॥

अब्रवीदथ यमस्तमहृष्टं "वीरसेनकुलदीप ! तमस्त्वाम्।
यत्किमप्यभिबुभूषति तत्किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते ?॥ १२४॥

अन्वयः—अथ यमः अहृष्टं तम् अब्रवीत्—"हे वीरसेनकुलदीप ! किमपि यत् तमः त्वाम् अभिबुभूषति, तत् चन्द्रवंशवसतेः ते सदृशं किम् ?

व्याख्या—अथ=अग्निवाक्याऽनन्तरं, यमः=धर्मराजः, अहृष्टम्=असन्तुष्टं, तं=नलम्, अब्रवीत्=अवदत्। हे वीरसेनकुलदीप=हे वीरसेनवंशप्रदीप ! किमपि=अनिर्वाच्यं, यत् तमः=मोहः, अन्धकारश्च, त्वां=भवन्तम्, अभि-बुभूषति=अभिभवितुम् इच्छति, तत्=तमोऽभिभवनं, चन्द्रवंशवसतेः=चन्द्र-कुलस्थितेः, ते=तव, सदृशं किम्=उचितं किम् ?

अनुवाद—तब यमराजने अप्रसन्न नलको कहा—"हे वीरसेनके वंशके दीपक ! अनिर्वाच्य जो मोह वा अन्धकार आपको पराजित करना चाहता है, वह चन्द्रकुलमें स्थितिवाले आपके लिए उचित है क्या ?

टिप्पणी—अहृष्टं=न हृष्टः, तम् (नञ्०)। वीरसेनकुलदीप=वीर-सेनस्य कुलं (ष० त०), तस्य दीपः (ष० त०), तत्सम्बुद्धौ। अभि-बुभूषति=अभिभवितुम् इच्छति, अभि+भू+सन्+लट्+तिप्। चन्द्रवंश-वसतेः=चन्द्रस्य वंशः (ष० त०), तस्मिन् वसतिः (स्थितिः) यस्य सः, तस्य (व्यधिकरण०)। जैसे चन्द्रके प्रकाशका अन्धकारसे अभिभव अनुचित है, वैसे

ही चन्द्रवंशमें स्थितिवाले आपका मोहसे अभिभाव अयोग्य है, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १२४ ॥

रोहणः किमपि यः कठिनानां, कामधेनुरपि या पशुरेव।
नैनयोरपि वृथाऽभवदर्थी हा ! विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—यो रोहणः (सोऽपि) कठिनानां (मध्ये) किमपि। या कामधेनुः (साऽपि) पशुः एव। एनयोः अपि अर्थी वृथा न अभवत्। हे वत्स ! किम् एतत् विधित्सुः असि ? हा !

व्याख्या—यः, रोहणः=रोहणनामको मणिनामाकरोऽद्रिः, सोऽपि कठिनानां=कठोराणां पदार्थानां मध्ये, किमपि=कठिनः पदार्थः। या, कामधेनुः=सुरभिः, साऽपि पशु एव=चतुष्पात् एव, परम् एनयोरपि=रोहणकामधेन्वोरपि, पाषाणचतुष्पदयोरपीति भावः, अर्थी=याचकः, वृथा=निष्फलः, न अभवत्=नो जातः, हे वत्स=हे वात्सल्यभाजन ! किम्, एतत्=विधित्सुः=चिकीर्षुः, असि=विद्यसे ? हा !=तव शोच्यत इति भावः।

अनुवाद—जो रोहणनामक मणियोंकी खान पर्वत है, वह कठोर पदार्थोंमें एक कठोर पदार्थ है। जो कामधेनु है, वह भी पशु (जानवर) ही है। इनमें भी याचक निष्फल नहीं हुआ। हे वत्स ! तुम यह क्या करना चाहते हो ? हाय !

टिप्पणी—एनयोः=इदम् शब्दके ओस्में "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इससे एन आदेश। विधित्सुः=विधातुम् इच्छुः, वि+धा+सन्+उ+सु। "हाय ! तुम पशु और पाषाणसे भी गये गुजरे हो" यह तात्पर्य है ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीरः ? प्राणने क्षणमपि प्रतिभूः कः ?।
शंसति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥ १२६ ॥

अन्वयः—(हे वत्स !) धीरो याचितः (सन्) क्व नु चिरयति ? (कुतः) क्षणम् अपि प्राणने प्रतिभूः कः ? द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा द्विनयनी दृढनिद्रां शंसति।

व्याख्या—(हे वत्स !) धीरः=विद्वान्, याचितः=प्रार्थितः सन्, क्व नु=कुत्र नु, चिरयति=विलम्बते ? कुतः क्षणम् अपि=अल्पकालम् अपि, प्राणने=जीवने, प्रतिभूः=लग्नकः, कः ?=न कोऽपि इति भावः। द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा=शीघ्रपक्ष्मपातव्याजभ्रमणपूरिता, द्विनयनी=नयनद्वयम् एव, दृढनिद्रां=चिरस्वापं, मरणमिति भावः, शंसति=सूचयति।

अनुवाद—(हे वत्स !) प्रार्थना करनेपर विद्वान् कहाँ विलम्ब करता है ? कुछ क्षणभर भी जीनेमें कौन जामिन होता है ? शीघ्र पलक मारनेके बहानेसे भ्रमणसे पूर्ण दोनों नेत्र मरणकी सूचना देते हैं।

टिप्पणी—याचितः=याच्+क्त (कर्ममें)+सु। चिरयति=चिर+णिच्+लट्+तिप्। क्षणं—"कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे काल-के अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया। प्राणने=प्र+अन्+ल्युट्+ङि। प्रतिभूः= "स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः" इत्यमरः। द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा=द्राक् (यथा तथा) निमेषः (सुप्सुपा०), तस्य मिषं (ष० त०), तेन घूर्णनम् (तृ० त०), तेन पूर्णा (तृ० त०)। द्विनयनी=द्वयोर्नयनयोः समाहारः (द्विगुः)। दृढ-निद्रां=दृढा चाऽसौ निद्रा (क० धा०), ताम् ॥ १२६ ॥

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं सार्ऽथिना विमुखता यदभाजि।
स्तोककस्य खलु चञ्चुपुटेव ग्लानिरुल्लसति तद् घनसङ्घे ॥ १२७ ॥

अन्वयः—शीतम् अभ्रपुष्पं दित्सति अपि घनसङ्घे अर्थिना स्तोककस्य चञ्चुपुटेन यत् सा विमुखता अभाजि तत् ग्लानिः उल्लसति खलु।

व्याख्या—(हे नल !) शीतं=शीतलम्, अभ्रपुष्पं=जलं, मेघपुष्पं, (मेघपुष्पसदृशं दुर्लभं वस्तु), दित्सति अपि=दातुम् इच्छति अपि, न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थः। तादृशे घनसङ्घे = मेघसमूहे, अर्थिना=याचकेन, स्तोककस्य=चातकस्य, चञ्चुपुटेन=त्रोटिपुटेन, यत्=यस्मात्कारणात्, सा=प्रसिद्धा, विमुखता=पक्षिमुखता पराङ्मुखता च, अभाजि=आश्रिता, तत्=तस्मात्, विमुखताभजनादिति भावः। ग्लानिः=मलिनता, अकीर्तिरिति भावः, जलसमूहजनितेति शेषः। उल्लसति=स्फुरति।

अनुवाद—ठण्डे जलको देनेकी इच्छा करनेवाले मेघसमूहमें भी याचक चातकके चञ्चुपुटने जो विमुखता दिखलायी, उस कारणसे उस(मेघसमूह)में मलिनता प्रकट होती है।"

टिप्पणी—अभ्रपुष्पम्=अभ्रस्य (मेघस्य) पुष्पं, तत् (ष० त०)। "मेघपुष्पं घनरसः" इत्यमरः। अभ्रपुष्पका अर्थ यहाँपर जल वा मेघके पुष्पके समान दुर्लभ वस्तु, ऐसा अर्थ भी ध्वनित होता है। दित्सति=दातुम् इच्छन् दित्सन्, तस्मिन्, दा+सन्+लट् (शतृ)+ङि, घनसङ्घे=घनानां सङ्घः, तस्मिन् (ष० त०)। "सङ्घसार्थौ तु जन्तुभिः" कोषकी इस उक्तिके अनुसार जन्तुसमुदायके लिए "सङ्घ" पदका प्रयोग उचित है, मेघके लिए इस पदका

प्रयोग उचित नहीं है, अतः "वृन्दे" यह प्रयोग अपेक्षित है। स्तोककस्य= "अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समौ" इत्यमरः। चञ्चुपुटेन=चञ्चोः पुटं, तेन (ष० त०)। विमुखता=विरुद्धं मुखं यस्य (बहु०), तस्य भावस्तत्ता (विमुख+तल्+टाप्)। दूसरे पक्षमें—वेः (पक्षिणः) मुखं यस्य सः विमुखः (व्यधिकरणबहु०), तस्य भावस्तत्ता। पक्षीके मुखका भाव, यह तात्पर्य है। अभाजि=भज्+लुङ् (कर्ममें)+त। उल्लसति = उत्+लस+लट्+तिप्। जल देनेकी इच्छा करनेवाले मेघमें जो मलिनता है, वह याचक चातकके विमुख (पराङ्मुख) होनेपर हुई है। इस प्रकार इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है। याचककी विमुखतामें दाता(मेघ)की यह ग्लानि है, दाताकी विमुखतामें क्या कहना है ? अतः आपकी याचकमें यह विमुखता अनुचित है, यह तात्पर्य है ॥ १२७ ॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य।
कीर्तिरेव भवतां प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा ॥ १२८ ॥

अन्वयः—पाशपाणिः अपि पाणिम् उदस्य एनम् उचितम् अक्षरम् ऊचिवान्—(हे राजन् !) दाननीरझरमौक्तिकहारा कीर्तिः एव भवतां प्रियदाराः।

व्याख्या—पाशपाणिः अपि=पाशी अपि, वरुणोऽपीति भावः। पाणिं= हस्तम्, उदस्य=उद्यम्य, एनं=नलम्, उचितं=युक्तम्, अक्षरं=वाक्यम्, ऊचिवान्=उक्तवान्। (हे राजन् !) दाननीरझरमौक्तिकहारा=वितरण-जलप्रवाहमुक्तामाला, कीर्तिः एव=समज्ञा एव, भवतां=युष्माकं, प्रियदाराः =अभीष्टपत्नी, न तु भैमीति भावः।

अनुवाद—वरुणने भी हाथ उठाकर राजा नलसे उचित वाक्य कहा— हे राजन् ! दानके जलप्रवाहरूप मोतियोंकी मालावाली कीर्ति ही आपकी प्रिय पत्नी है।

टिप्पणी—पाशपाणिः = पाशः पाणौ यस्य सः (व्यधिकरणबहु०), "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इस सूत्रसे पाणि पदका परनिपात। उदस्य =उद्+अस्+क्त्वा (ल्यप्)। ऊचिवान्=वच्+लिट् (क्वसु)+सु। दाननीरझरमौक्तिकहाराः = नीराणां झरः (ष० त०), दाने नीरझरः (स० त०), मौक्तिकानां हारः (ष० त०), दाननीरझर एव मौक्तिकहारो यस्याः सा (बहु०)। प्रियदाराः=प्रियाश्च ते दाराः (क० धा०)। "अथ

पुंभूम्नि दाराः" इत्यमरः । इस कथनमें पत्नीसे भी कीर्ति अधिक प्रिय है। इस कारणसे दमयन्तीके लोभसे आप कीर्तिको मत छोड़ें, ऐसा भाव निकलता है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १२८ ॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्यं, यस्य वज्रमयमस्थि च, तौ चेत् ।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची, तन्न धर्ममवधीरय धीर ! ॥ १२९ ॥

अन्वयः—यस्य चर्म नभेद्यं वर्म किल, यस्य अस्थि च वज्रमयं किल। तौ कर्णदधीची इह स्थायिनौ न चेत्, तत् हे धीर ! धर्मं न अवधीरय।

व्याख्या—यस्य = कर्णस्य, चर्म = त्वक्, न भेद्यम् = अभेदनीयं, वर्म = कवचं, किल = श्रुतम् । यस्य = दधीचेः, अस्थि च = कीकसं च, वज्रमयं = कुलिशमयं, किल = श्रुतम् । तौ = तादृशौ, महासत्त्वाविति भावः । कर्णदधीची, इह अस्मिन् जगति, स्थायिनौ = स्थितिशालिनौ, न चेत् = नो यदि, तत् = तर्हि, हे धीर = हे विद्वन् ! धर्मं = सुकृतं, न अवधीरय = न अवमन्यस्व ।

अनुवाद—जिस(कर्ण)का चमड़ा अभेद्य कवच सुना गया था। जिस-(दधीचि)की हड्डी वज्रमयी सुनी गई थी। वैसे (दानी) कर्ण और दधीचि भी इस जगत्‌में स्थायी नहीं हुए, तो हे विद्वन् ! आप धर्मका अपमान मत करें।

टिप्पणी—नभेद्यं = न भेद्यम् (सुप्सुपा०)। वज्रमयं = वज्र + मयट् + सु (स्वाऽर्थमें)। कर्णदधीची = कर्णश्च दधीचिश्च (द्वन्द्व०)। स्थायिनौ = तिष्ठत इति, स्था + णिनि + औ। कर्ण और दधीचि आदिकी अस्थिरता और धर्म-की स्थिरता देखकर आप धर्मका तिरस्कार मत करें, यह तात्पर्य है ॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ ।
आश्रुताऽवितथतागुणपाशस्त्वादृशा स विदुषा दुरपासः ॥ १३० ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) येन निबद्धौ बलिविन्ध्यौ अद्य यावत् विचलितुम् अपि प्रभू न। स आश्रुताऽवितथतागुणपाशः त्वादृशेन विदुषा दुरपासः।

व्याख्या—(हे राजन् !) येन = सत्यप्रतिज्ञत्वपाशेन, निबद्धौ = नद्धौ, बलिविन्ध्यौ = वैरोचनिविन्ध्यपर्वतौ, अद्य यावत् = एतद्दिनपर्यन्तं, विचलितुम् अपि = सञ्चलितुम् अपि, प्रभू = समर्थौ, न स्तः = नो विद्येते, सः = तादृशः, आश्रुताऽवितथतागुणपाशः = प्रतिज्ञातार्थसत्यताः सूत्रः बन्धः, त्वादृशेन = भवादृशेन, विदुषा = पण्डितेन, दुरपासः = दुरुच्छेदः ।

अनुवाद—(हे राजन् !) जिस सत्यप्रतिज्ञारूप पाशसे बँधे हुए बलि और विन्ध्यपर्वत आजतक विचलित होनेके लिए भी समर्थ नहीं हैं। मञ्जूर किये गये अर्थकी सत्यतारूप गुणका बन्धन आप-जैसे विद्वान् पुरुषसे नहीं हटाया जा सकता।

टिप्पणी—निबद्धौ = नि + बन्ध + क्त + औ। बलिविन्ध्यौ = बलिश्च विन्ध्यश्च (द्वन्द्वः)। विचलितुं = वि + चल + तुमुन्। आश्रुताऽवितथता-गुणपाशः = अवितथता एव गुणः (रूपक०), आश्रुतस्य अवितथतागुणः (ष० त०), स एव पाशः (रूपक०)। दुरपासः = दुःखेन अपास्तुं शक्यः, दुर् + अप + अस् + खल् (उपपद०)। सत्यप्रतिज्ञारूप पाशसे बँधे हुए बलि वामनको त्रिपादपरिमित भूमि न दे सकनेसे स्वर्ग राज्यसे हटकर अभीतक पातालमें हैं, उसी तरह सुमेरु पर्वतसे प्रतिस्पर्धा करनेवाले विन्ध्यपर्वत अपने गुरु अगस्त्यके "मेरे न लौटनेतक झुके ही रहो" इस वाक्यका पालन करनेके लिए अभीतक अवनत ही हो रहे हैं, अतः आपको भी देवकार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञासे हटना नहीं चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ १३० ॥

प्रेयसी जितसुधांऽशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगताऽपि।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम् ? ॥ १३१ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) प्रेयसी जितसुधांऽशुमुखश्रीः या कीर्तिः दिगन्तगता अपि न मुञ्चति। तां कीर्तिम् अपि भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति ?

व्याख्या—(हे राजन् !) प्रेयसी = प्रियतमा, जितसुधांऽशुमुखश्रीः = पराजितचन्द्रादिशोभा, अन्यत्र चन्द्रजयिमुखशोभायुक्ता, या, कीर्तिः = समज्ञा, दिगन्तगता अपि = देशान्तरगता अपि, न मुञ्चति = न त्यजति। तां = तादृशीं, कीर्तिम् अपि = समज्ञाम् अपि, भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे—भङ्गिसङ्गमायाः (भङ्गुरसङ्गतेः) कुरङ्गदृशः (हरिणनयनायाः) अर्थे (निमित्ते)। कः = विवेकी पुरुषः, कदर्थयति ? न कोऽपीति भावः ॥ १३१ ॥

अनुवाद—(हे राजन् !) प्रियतमा और चन्द्र आदिको जीतनेवाली शोभासे युक्त जो कीर्ति देशान्तरमें जाती हुई भी नहीं छोड़ती है, वैसी कीर्ति-को नाशशील समागमवाली मृगनयना स्त्रीके लिए कौन-सा विवेकी पुरुष व्यर्थ करता है ? (कोई भी नहीं)।

टिप्पणी—प्रेयसी = अतिशयेन प्रिया, प्रिय + ईयसुन् + ङीप् । जितसुधांऽशुमुखश्रीः = सुधा अंशुः यस्य सः सुधांऽशुः (बहु०), सुधांऽशुः मुखम् (आदिः) येषां ते (बहु०), सुधांऽशुमुखानां श्रीः (ष० त०), जिता सुधांऽशुमुखश्रीः यया सा (बहु०) । चन्द्र आदिकी शोभाको जीतनेवाली, इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह कीर्तिका विशेषण है । मुखस्य श्रीः (ष० त०), जितः सुधांऽशुर्यया सा (बहु०), जितसुधांऽशुः मुखश्रीः यस्याः सा (बहु०) । चन्द्रमाको जीतनेवाली मुखशोभासे युक्त, इस व्युत्पत्तिमें यह स्त्रीका विशेषण है । दिगन्तगता=दिशाम् अन्ताः (ष० त०), दिगन्तान् गता (द्वि० त०) । भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे= भङ्गः अस्याऽस्तीति भङ्गी = नाशशीलः, भङ्ग + इनि + सु । भङ्गी सङ्गमो यस्याः सा भङ्गिसङ्गमा (बहु०), कुरङ्गस्य इव दृशौ यस्याः सा कुरङ्गदृक् (व्यधिकरणबहु०), भङ्गिसङ्गमा चाऽसौ कुरङ्गदृक् (कर्म०), तस्या अर्थः, तस्मिन् (ष० त०) । कदर्थयति = कुत्सितः अर्थः कदर्थः (गति०) । "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इस सूत्रसे 'कु' शब्दके स्थानमें कत् आदेश । कदर्थं करोति कदर्थयति, कदर्थं शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लट् + तिप् । चन्द्रमा आदिकी श्री(शोभा)को जीतनेवाली जो कीर्ति देशान्तरमें जाती हुई भी नहीं छोड़ती है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होकर रहती है. उस कीर्तिको भी जिसकी मुखश्री चन्द्रमाको जीतती है परन्तु नाशशील समागमवाली मृगके समान नेत्रोंसे युक्त वैसी सुन्दरी स्त्रीके लिए कौन-सा पुरुष व्यर्थ करता है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ १३१ ॥

यान् वरं प्रति परेऽर्थयितारस्तेऽपि यं वयमहो ! स पुनस्त्वाम् ।
नैव नः खलु मनोरथमात्रं, शूर ! पूरय दिशोऽपि यशोभिः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) परे वरं प्रति यान् (अस्मान्) अर्थयितारः ते वयम् अपि यं (वरं) त्वाम् अर्थयितारः अहो ! सः (त्वम्) पुनः नः मनोरथमात्रं नैव पूरय (किन्तु) हे शूर ! यशोभिः दिशोऽपि पूरय ।

व्याख्या—(हे राजन् !) परे = अन्ये जनाः, वरं प्रति = इष्टलाभम् उद्दिश्य, यान् = अस्मान्, अर्थयितारः = याचनशीलाः । ते = तादृशाः, वयम् अपि = इन्द्रादयो देवा अपि, यं = वरं प्रति, त्वां = भवन्तम्, अर्थयितारः = याचनशीलाः, अहो ! = आश्चर्यम् ! सः = तादृशस्त्वं, पुनः, नः = अस्माकं, मनोरथमात्रम् = अभिलाषमात्रं, नैव पूरय = नैव परिपूर्णं कुरु, किन्तु हे शूर ! =

हे वीर ! यशोभिः=कीर्तिभिः, दिशोऽपि=दिगन्तानपि, पूरय=परिपूर्णाः कुरु ।

अनुवाद—(हे राजन् !) दूसरे लोग किसी भी वरको उद्देश्य करके जिन हम लोगों से प्रार्थना करते हैं, वैसे हम लोग भी जिस वरको उद्देश्य करके आपसे प्रार्थना करते हैं, आश्चर्य है ! वैसे आप हम लोगोंके अभिलाषको ही नहीं पूर्ण करें, बल्कि हे शूर ! अपनी कीर्तिसे दिशाओंको भी पूर्ण करें ।

टिप्पणी—यान्="अर्थयितारः" तृन्प्रत्ययान्त इस पदके योगमें "न लोकाऽव्यय०" इत्यादि सूत्रसे षष्ठीका निषेध होनेसे द्वितीया । अर्थयितारः= अर्थयन्त इति, अर्थ+णिच्+तृन् (ताच्छील्यमें) जस् । पूरय=पूर+णिच्+ लोट्+सिप् । हे महाराज ! हमारे अभिलाषको पूर्ण करनेसे आपकी कीर्ति सब दिशाओं में फैलेगी, नहीं तो वैसे ही अकीर्ति भी फैलेगी, यह तात्पर्य है ॥ १३२ ॥

अर्थितां त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः ।
अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) अद्य सुरशाखी सुरेषु (अस्मासु) त्वयि अर्थितां गतेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः (सन्) केवलेन कुसुमेन गगनं पाण्डु विधत्ताम् ।

व्याख्या—(हे राजन् !) अद्य=अस्मिन दिने, सुरशाखी=देववृक्षः, कल्पवृक्ष इत्यर्थः । सुरेषु=देवेषु, इन्द्रादिषु, त्वयि=भवति विषये, अर्थितां= याचकतां, गतेषु=प्राप्तेषु, म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः=मलिनवितरणजन्य- स्वीयमहाकीर्तिशोभः सन्, केवलेन=कीर्तिरहितेन, कुसुमेन=पुष्पेण, गगनम्= आकाशं, पाण्डु=शुभ्रं, विधत्तां=करोतु ।

अनुवाद—(हे राजन् !) आज कल्पवृक्ष, हम देवताओंके आपके याचक होनेपर दानसे उत्पन्न अपनी बड़ी कीर्तिकी शोभाके मलिन हो जानेसे कीर्ति- रहित फूलसे ही आकाशको श्वेत करे ।

टिप्पणी—सुरशाखी=सुराणां शाखी (ष० त०) । म्लानदानजनिजोरु- यशःश्रीः=दानात् जाता दानजा, दान+जन्+ड+टाप् (उपपद०), यशसः श्रीः (ष० त०) । म्लाना दानजा निजा उरुः यशःश्रीः यस्य सः (बहु०) ; कुसुमे=करणमें तृतीया । विधत्तां=वि+धा+लोट्+त ।

अपने याचकोंके दूसरेके याचक होनेसे कल्पवृक्षके दानकी कथा अस्त होगी, यह तात्पर्य है ॥ १३३ ॥

प्रवसते भरताऽर्जुनवैन्यवत् स्मृतिधृतोऽपि नल ! त्वमभीष्टदः ।
स्वगमनाऽफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥१३४॥

अन्वयः—हे नल ! प्रवसते भरताऽर्जुनवैन्यवत् स्मृतिधृतः अपि अभीष्टदः त्वं स्वगमनाऽफलतां शङ्कसे यदि, तत् निखिलं मङ्गलम् अफलं खलु ।

व्याख्या—हे नल=हे नैषध ! प्रवसते=प्रवासं कुर्वते, भरताऽर्जुन-वैन्यवत्=शाकुन्तलेयहैहयपृथुवत्, स्मृतिधृतः अपि=स्मर्यमाणः अपि, अभीष्टदः=इष्टाऽर्थप्रदः, त्वं, स्वगमनाफलतां=निजयात्रावैफल्यं, शङ्कसे यदि=सम्भावयसि चेत्, तत्=तर्हि, लोके, निखिलं=सर्वं, मङ्गलं=यात्रा-कालिकं भरतादिस्मरणलक्षणं मङ्गलाचरणम्, अफलं=निष्फलं स्यात्, खलु=निश्चयेन, वैन्यं पृथुमित्यादीनां स्मरणस्यापि वैयर्थ्याद्धेतोः स्वगमनवैफल्यं त्वया नाशङ्कनीयमतो गच्छेति भावः ।

अनुवाद—हे नल ! यात्रा करनेवालेको भरत, सहस्रार्जुन और पृथुके समान स्मरण किये जानेपर भी अभीष्ट फल देनेवाले आप, अपनी यात्राकी विफलताकी शङ्का करते हैं तो सब मङ्गलाचरण कार्य निष्फल होगा (ऐसा नहीं, अतः आप यात्रा करें) ।

टिप्पणी—प्रवसते=प्रवसतीति प्रवसन्, तस्मै, प्र+वस+लट् (शतृ०) +ङे । भरताऽर्जुनवैन्यवत्=भरतश्च अर्जुनश्च वैन्यश्च (द्वन्द्व०), तैस्तुल्यं 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इस सूत्रसे वति प्रत्यय । स्मृतिधृतः=स्मृतौ धृतः (स० त०) । अभीष्टदः=अभीष्टं ददातीति, अभीष्ट+दा+क (उपपद०) +सु । स्वगमनाऽफलतां=स्वस्य गमनम् (ष० त०), अविद्यमानं फलं यस्य तत् अफलम् (नञ्बहु०), तस्य भावः, अफल+तल्+टाप् । स्वगमने अफलता, ताम् (स० त०) । हे नल ! आप अपने गमनमें निष्फलताकी शङ्का करते हैं तो—

"वैन्यं, पृथुं, हैहयमर्जुनं च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च ।
एतान्नृपान् यः स्मरति प्रयाणे, तस्याऽर्थसिद्धिः पुनरागमश्च ॥"

ऐसा शास्त्रवचन अप्रमाण होगा । जिसके स्मरणसे और लोगोंकी अर्थसिद्धि होती है तो उसकी अर्थसिद्धिमें क्या सन्देह है ? यह भाव है । इस पद्यमें द्रुतविलम्बित छन्द है ॥ १३४ ॥

इष्टिं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याऽद्य स्वराह्लादिनी,
धर्माऽर्था सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्याऽन्विताऽऽख्यापदाम् ।
त्वत्कीर्तिः पुनती पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनाद्
द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वयं लुम्पतु ॥ १३५ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) अद्य नः इष्टिं प्रति स्वराह्लादिनी धर्माऽर्था या ते प्रतिश्रुतिः अभूत्, तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्य अन्विताऽऽख्यापदां सृज, त्वत्कीर्तिः पुनः त्रिभुवनं पुनती द्रव्याणां शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनात् शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वयं लुम्पतु ।

व्याख्या—(हे राजन् !) अद्य=अस्मिन्दिने, नः=अस्माकम्, इष्टिं प्रति= इच्छां यागं च प्रति, स्वराह्लादिनी=मधुरस्वराऽऽनन्ददायिनी (इच्छापक्षे), स्वर्गानन्ददायिनी (यागपक्षे), धर्माऽर्था=सुकृतप्रयोजना धर्मरूपा वा या, ते= तव, प्रतिश्रुतिः="जीविताऽवधि किमप्यधिकं वा (५-९७)" इति पद्योक्ता अस्मदभिलाषपूरणप्रतिज्ञा, अभूत्=जाता, तां=प्रतिश्रुतिं, श्रुतिप्रतिभटीकृत्य =वेदप्रतिनिधीकृत्य, अन्विताऽऽख्यापदाम्=अन्वर्थनामाऽक्षरां, सृज=कुरु। सत्यप्रतिज्ञो भवेति भावः। अस्य फलमाशीर्मुखेनाह—त्वत्कीर्तिरिति । त्वत्कीर्तिः=भवद्यशः, पुनः=तु, त्रिभुवनं=लोकत्रयं, पुनती=पावयन्ती, द्रव्याणां=नीलपीताऽऽदिपदार्थानां, शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनात्=शुक्लगुणाऽभेद-प्रतिपादनात्, शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वयं=कृष्णगौररक्तपालाशवाचक-शब्दसम्बन्धं, लुम्पतु=निवर्तयतु । हे राजन् ! याचकमनोरथपूरणेन यशः सम्पादयेति भावः ।

अनुवाद—(हे राजन् !) आज हम लोगोंकी इच्छा वा यज्ञके प्रति स्वीकृतिके मधुर स्वरसे वा स्वर्गको आनन्द देनेवाली धर्मप्रयोजनवाली वा धर्मरूप जो आपकी प्रतिश्रुति (मंजूरी) हुई, उसको वेदकी प्रतिनिधि बनाकर अर्थानुकूल नामवाली बनाइए । आपकी कीर्ति तीनों लोकोंको पवित्र करती हुई नील पीत आदि द्रव्योंको शुक्लगुणसे अभिन्न बनाकर कृष्ण, गौर, पीत और हरित इनके वाचक शब्दोंके वाच्यत्वसम्बन्धको दूर करे ।

टिप्पणी—इष्टिम्=यज्+क्तिन्+अम् । यहाँपर यज् धातुसे क्तिन् होकर "वचिस्वपियजादीनां किति" इससे सम्प्रसारण । "इष्टिर्यागेच्छयोः" इत्यमरः । स्वराह्लादिनी=स्वरैः आह्लादयतीति तच्छीला, स्वर+आङ्+ह्लाद+णिच्+ णिनि+ङीप्+सु (उपपद०)। इच्छापक्षमें-हम लोगोंकी इच्छाकी मधुर स्वर-

से आनन्द देनेवाली, यागपक्षमें–स्वः आह्लादयतीति तच्छीला, स्वर्+आङ्+ह्लाद+णिच्+णिनि+ङीप्+सु (उपपद०)। यागसे स्वर्गको आनन्द देनेवाली। धर्माऽर्था=धर्मः अर्थः यस्याः सा (बहु०)। श्रुतिप्रतिभटीकृत्य=श्रुतेः प्रतिभटा (ष० त०), अश्रुतिप्रतिभटा श्रुतिप्रतिभटा यथा सम्पद्यते तथा कृत्वा, श्रुतिप्रतिभटा+कृ+च्वि+क्त्वा (ल्यप्)। प्रतिश्रुति(मंजूरी)को श्रुति-(वेद)की प्रतिनिधि बनाकर, यह तात्पर्य है। अन्विताऽऽख्यापदाम्=आख्यायाः पदम् (ष० त०), अन्वितम् आख्यापदं यस्याः सा, ताम् (बहु०)। सृज=सृज्+लोट्+सिप्। त्वत्कीर्तिः=तव कीर्तिः (ष० त०)। त्रिभुवनं=त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं, तत् (द्विगुः), "अकाराऽन्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इससे प्राप्त स्त्रीत्वका "पात्राद्यन्तस्य न" इससे निषेध होनेसे नपुंसकलिङ्गता। पुनती=पुनातीति, "पूञ् पवने" धातुसे लट् (शतृ)+ङीप्। "प्वादीनां ह्रस्वः" इस सूत्रसे ह्रस्व। शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनात्=शुभ्रस्य अद्वयं (ष० त०), तस्य आदेशनं, तस्मात् (ष० त०)। शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वयं=शितिश्च पीतश्च लोहितश्च हरिच्च (द्वन्द्वः,), तेषां नामानि (ष० त०). तेषाम् अन्वयः (वाच्यत्वलक्षणः सम्बन्धः), तम् (ष० त०)। लुम्पतु=लुप्+लोट्+तिप्। इस पद्यमें नील आदि वस्तुओंका अपने गुणका त्याग कर कीर्तिगुणका ग्रहण करनेसे तद्गुण अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १३५ ॥

यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत् पादेन खञ्जः कथं
स च्छायातनयः सुतः किल पितुः सादृश्यमन्विष्यति।
एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लङ्घने
साहस्रैरपि पङ्गुरङ्घ्रिभिरभिव्यक्तीभवन् भानुमान् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—यं सहस्रपात् प्रासूत, स छायातनयः कथं पादेन खञ्जः उदभवत् ? सुतः पितुः सादृश्यम् अन्विष्यति किल। एतस्य अद्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैः अपि अङ्घ्रिभिः पङ्गुः अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् नः उत्तरं समजनि।

व्याख्या—(हे राजन् !) यं=शनैश्चरं, सहस्रपात्=सहस्रचरणः सूर्यश्च, प्रासूत=प्रसूतवान्, सः=प्रसिद्धः, छायातनयः=छायापुत्रः, शनैश्चर इत्यर्थः। कथं=केन प्रकारेण, पादेन=चरणेन, खञ्ज=खोडः, उदभवत्=उत्पन्नः ? यतः सुतः=पुत्रः, पितुः=जनकस्य, सादृश्यं=समानताम्,

अन्विष्यति=अनुसरति, किल=खलु । एतस्य=प्रश्नस्य, अद्य=अस्मिन्दिने, त्वत्तेजसां=भवत्प्रतापानां, लङ्घने=अतिक्रमणे विषये, साहस्रैः अपि=सहस्रसंख्यैः अपि, अङ्घ्रिभिः=चरणैः, पङ्गुः=खञ्जः, अभिव्यक्तीभवन्=स्फुटीभवन्, भानुमान्=सूर्यः, नः=अस्माकम्, उत्तरं=प्रतिवचनं, समजनि=सञ्जातः ।

अनुवाद—(हे राजन् !) जिस शनैश्चरको हजार पादों(किरणों)से युक्त सूर्यने उत्पन्न किया, वे छायाके पुत्र शनैश्चर कैसे एक पैरसे लंगडे हुए ? क्योंकि पुत्र पिताके सादृश्यका अनुसरण करता है । इस प्रश्नका आज आपके प्रतापको लङ्घन करनेके विषयमें हजार पादों(किरणों)से भी लंगडे प्रतीत होते हुए सूर्य हम लोगोंके उत्तरके रूपमें हो गये ।

टिप्पणी—सहस्रपात्=सहस्रं पादाः (रश्मयः अङ्घ्रयश्च) यस्य सः (बहु०) । "संख्यासुपूर्वस्य" इस सूत्रसे पाद शब्दका अन्त्यलोप । "पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः" इत्यमरः । प्रासूत=प्र+षूङ्+लङ्+त । छायातनयः=छायायास्तनयः (ष० त०) । "मन्दश्छायासुतः शनिः" इत्यमरः । पादेन="येनाऽङ्गविकारः" इस सूत्रसे तृतीया । उदभवन्=उद्+भू+लङ्+तिप् । सादृश्यं=सदृशस्य भावः सादृश्यं, तत्, सदृश+ष्यञ्+अम् । "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" अर्थात् कारणके गुण कार्यके गुणोंका आरम्भ करते हैं, इस न्यायसे हजार पादोंवाले सूर्यरूप कारणसे कार्यरूप शनैश्चरको हजार पादोंसे युक्त होना था, सो वे कैसे लंगड़े हो गये ? यह भाव है । त्वत्तेजसां=तव तेजांसि, तेषाम् (ष० त०) । साहस्रैः=सहस्रं (संख्या) येषां ते साहस्राः, तैः, सहस्र शब्दसे "अण् च" इस सूत्रसे मत्वर्थीय अण् प्रत्यय । अङ्घ्रिभिः="येनाऽङ्गविकारः" इससे तृतीया । अभिव्यक्तीभवन्=अनभिव्यक्तः अभिव्यक्तः यथा सम्पद्यते तथा भवन्, अभिव्यक्त+च्वि+भू+लट् (शतृ)+सु । भानुमान्=भानवः (किरणाः) सन्ति यस्य सः, भानु+मतुप्+सु । समजनि=सम्+जन+लङ् (कर्तामें)+त । पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर हे नल ! हजारों पादों-(किरणों)से भी आपके प्रतापका लङ्घन करनेमें लंगड़े पिता सूर्यसे वैसे ही लंगड़े पुत्र शनैश्चर हुए, यही प्रतीत होता है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमे अपङ्गु सूर्यकी भी पङ्गुताकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, उसके हेतुके रूपमें शनैश्चरके पङ्गुत्वकी संभावना होनेसे उत्प्रेक्षा—इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंका सङ्कर है ॥ १३६ ॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा

वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार।

अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः सम्भृताऽऽनन्दमूचे

भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र ॥ १३७ ॥

अन्वयः—क्षितीशः त्रिदशपरिषदः इति चाटुगर्भाः ता गिरः आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः अपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार। अस्मिन् अङ्गीकारं गते अमरपरिवृढः "(हे राजन् !) यत्र तत्र (अपि) अन्तर्धिसिद्धेः अनुविहितभवच्चित्तता भूयात्" इति सम्भृतानन्दम् ऊचे।

व्याख्या—क्षितीशः=राजा नलः, त्रिदशपरिषदः=सुरसभायाः, सुरसङ्घस्येति भावः। इति=एवंरूपाः, चाटुगर्भाः=प्रियवचनप्रचुराः, ताः=पूर्वोक्ताः, गिरः=वचनानि, आकर्ण्य=श्रुत्वा, वैदर्भीकामुकः अपि=दमयन्त्यभिलाषुकः सन् अपि, प्रसभविनिहितं=बलादारोपितं, दूत्यभारं=दौत्यभारं, बभार=भृतवान्। अस्मिन्=नले, अङ्गीकारं=दूत्यभारवहनस्वीकारं, गते=प्राप्ते सति, अमरपरिवृढः=देवप्रभुः, इन्द्र इत्यर्थः, (हे राजन् !) यत्र तत्र=यस्मिन् तस्मिन्नपि स्थाने, सर्वत्रेति भावः। अन्तर्धिसिद्धेः=अन्तर्धानशक्तेः, अनुविहितभवच्चित्तता=अनुसृतत्वन्मनस्कता, भूयात्=भवतात्, भवच्चित्ताऽनुसारेण सर्वत्र भवतः अन्तर्धानशक्तिरस्तु इति भावः। इति=एतादृशं वाक्यं, सम्भृताऽऽनन्दं=सहर्षम्, ऊचे=उवाच, इन्द्रो नलाय तिरस्कारिणीं विद्यां प्राददिति भावः।

अनुवाद—राजा नलने देवसमूहके ऐसे खुशामदभरे वचनोंको सुनकर दमयन्तीमें अभिलाषवाले होकर भी जबर्दस्तीसे रक्खे गये दूतकर्मके भारको धारण किया। नलके इन्द्रवचनको स्वीकार करनेपर देवेन्द्रने—"हे राजन् ! जहाँ कहीं भी अपनी इच्छाके अनुसार आपको अन्तर्धानकी सिद्धि हो" ऐसे वचनको आनन्दके साथ कहा।

टिप्पणी—क्षितीशः=क्षितेः ईशः (ष० त०)। त्रिदशपरिषदः=त्रिदशानां परिषत्, तस्याः (ष० त०)। चाटुगर्भाः=चाटूनि गर्भे यासां, ताः (व्यधिकरणबहु०)। आकर्ण्य = आङ्+कर्ण+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। वैदर्भीकामुकः=वैदर्भ्याः कामुकः (ष० त०)। प्रसभविनिहितं=प्रसभं (यथा तथा) विनिहितः, तम् (सुप्सुपा०)। दूत्यभारं=दूतस्य भारः, तम् (ष० त०)।

बभार=(डु) भृञ्+लिट् + तिप् (णल्)। अमरपरिवृढः=अमराणां परिवृढः (ष० त०)। अन्तर्धिसिद्धेः=अन्तर्धेः सिद्धिः, तस्याः (प० त०)। अनुविहितभवच्चित्तता=भवतः चित्तम् (ष० त०)। अनुविहितं भवच्चित्तं यया (बहु०), अनुविहितभवच्चित्तायाः भावः, अनुविहितभवच्चित्ता+तल्+टाप्। अपनी इच्छाके अनुसार आपको अन्तर्धानसिद्धि हो" ऐसा वर देनेसे "यामिकाननुपमद्य० (५-११०)" इस पद्यमें कथित नलकी आपत्तिका परिहार हुआ। भूयात्=भू+आशीर्लिङ्+तिप्। सम्भृतानन्दं=सम्भृत आनन्दो यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०), यह क्रियाविशेषण है। ऊचे=ब्रूञ्+लिट्+त। इस पद्यमें स्रग्धरा छन्द है॥ १३७॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् पञ्चमः॥ १३८॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः अगमत्।

व्याख्या—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः=पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः, श्रीहीरः=तन्नामको जनकः, मामल्लदेवी च=तन्नाम्नी जननी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहं, यं, श्रीहर्षं=तन्नामकं, सुतं=पुत्रं, सुषुवे=जनयामास। श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य = श्रीविजयप्रशस्तिनामकग्रन्थजनकस्य, तस्य=श्रीहर्षस्य, भव्ये=योग्ये, चारुणि=मनोहरे, नैषधीयचरिते=तदाख्ये, महाकाव्ये = बृहत्काव्ये, पञ्चमः = पञ्चमसंख्यापूरणः, सर्गः=अध्यायः, अगमत्=गतः, समाप्त इत्यर्थः।

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया। श्रीविजयप्रशस्तिनामक ग्रन्थके जनक उन श्रीहर्षके योग्य और सुन्दर नैषधीयचरित महाकाव्यमें पाँचवाँ सर्ग गया (समाप्त हुआ)।

टिप्पणी—बहुत-सा अंश पहले विवृत होनेसे संक्षेपमें टिप्पणी की जाती है। श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य=श्रीसम्पन्नो विजयः (मध्यमपदलोपी स०)।

तस्य प्रशस्तिः (प्रशंसा), (ष० त०), सा चाऽसौ रचना (क० धा०), तस्यास्तातः (ष० त०), तस्य । भव्ये="भव्यं शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि च त्रिषु" इति मेदिनी । पञ्चमः=पञ्चानां पूरणः, पञ्चन्+लट् (मट्)+सु । अगमत्=गम्+लुङ्+तिप् ॥ १३८ ॥

शुभमस्तु ।

—:०:—

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्-श्लोकानुक्रमणिका

चतुर्थः सर्गः

पञ्चमः सर्गः

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

षष्ठः सर्गः

दूत्याय दैत्याऽरिपतेः प्रवृत्तो द्विषां निषेद्धा निषधप्रधानम् ।
स भीमभूमीपतिराजधानीं लक्षीचकाराऽथ रथस्यदस्य ॥ १ ॥

सतां पालने, दुष्कृतां संप्रहाणे, तथा श्रेयसां स्थापने सत्प्रयासः ।
विलासी सदा नैकया लीलया यो मुकुन्दः स नः कार्यसिद्धिं विदध्यात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ द्विषां विषेद्धा निषधप्रधानं स दैत्याऽरिपतेः दूत्याय प्रवृत्तः (सन्) रथस्यदस्य भीमभूमीपतिराजधानीं लक्षीचकार ॥ १ ॥

व्याख्या—अथ = दूत्याऽङ्गीकाराऽनन्तरं, द्विषां = शत्रूणां, निषेद्धा = निवारयिता, सः = नलः, दैत्याऽरिपतेः = देवेन्द्रस्य, दूत्याय = दूतकर्मणे, प्रवृत्तः = उद्युक्तः सन्, रथस्यदस्य = स्यन्दनवेगस्य, भीमभूमीपतिराजधानीं = कुण्डिन-नगरीं, लक्षीचकार = लक्ष्यं कृतवान्, गमनं चकारेति भावः ॥ १ ॥

अनुवादः—दूत्य स्वीकार करने के अनन्तर शत्रुओंके निवारक निषध देशके राजा नलने दूतकर्म में प्रवृत्त होते हुए रथके वेगको कुण्डिन नगरीके प्रति लक्ष्य किया ॥ १॥

टिप्पणी—द्विषां = द्विषन्ति ते द्विषः, तेषाम् (द्विष् + क्विप् + आम्) । "निषेद्धा" इस कृदन्त पदके योग में "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी । निषेद्धा = निषेधतीति, नि + सिध + तृच् + सुः, "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादि सूत्रसे षत्व । निषधप्रधानं = निषधानां (जनपदानाम्) प्रधानम् (मुख्याऽधिपतिः), ष० त० । "निषधप्रधानः" यह मल्लिनाथसंमत पाठ ठीक नहीं है, प्रधान शब्द नपुंसकलिङ्गमें है, "क्लीबे प्रधानं प्रमुखप्रवेकाऽनुत्तमोत्तमाः ।" इत्यमरः । दैत्याऽरिपतेः = दितेरपत्यानि पुमांसो दैत्याः, दिति शब्दसे

"दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" इस सूत्रसे ण्य प्रत्यय। दैत्यानाम् अरयः (देवाः), (ष० त०) । तेषां पतिः, तस्य (ष० त०) । दूत्याय= दूतस्य कर्म, तस्मै, दूत शब्दसे "दूतस्य भावकर्मणोः" इस सूत्रसे यत् । रथस्यदस्य= रथस्य स्यदः, तस्य (ष० त०) । भीमभूमीपतिराजधानीं = भूम्याः पतिः (ष० त०) । भीमश्चाऽसौ भूमीपतिः (क० धा०) । तस्य राजधानी, ताम् (ष०त)। लक्षीचकार = अलक्षं लक्षं यथा सम्पद्यते तथा चकार, लक्ष + च्वि + कृ + लिट् + तिप् (णल्) । इस सर्गमें उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

भैम्या समं नाऽजगणद्वियोगं स दूतधर्मे स्थिरधीरधीशः ।
पयोधिपाने मुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः ॥ २ ॥

अन्वयः—अधीशो दूतधर्मे स्थिरधीः स भैम्या समं वियोगम् और्वशेयो मुनिः पयोधिपाने दुर्वारम् अपि और्वम् इव अन्तरायं न अजगणत् ॥ २ ॥

व्याख्या—अधीशः = मनोनिग्रहसमर्थः, दूतधर्मे = सन्देशहरकर्मणि, स्थिरधीः = अचलबुद्धिः, सः = नलः, भैम्या = दमयन्त्या, समं = सह, वियोगं= विप्रयोगम्, और्वशेयः = उर्वशीपुत्रः, मुनिः = ऋषिः, अगस्त्य इत्यर्थः । पयोधिपाने = समुद्रपाने, दुर्वारं = दुःखेन वारणीयम् अपि, और्वम् इव = वडवाऽनलम् इव, अन्तरायं = विघ्नरूपं, न अजगणत् = न अमन्यत ॥ २ ॥

अनुवादः—जैसे अगस्त्य मुनिने समुद्रको पीनेमें दुःखसे हटाये जानेवाले भी बडवाऽग्निको विघ्नरूप नहीं माना वैसे ही मनको निग्रह करनेमें समर्थ और दूतके कर्ममें स्थिर बुद्धिवाले नलने दमयन्तीके वियोगको विघ्नरूप नहीं माना ॥ २ ॥

टिप्पणी—दूतधर्मे = दूतस्य धर्मः, तस्मिन् (ष० त०) स्थिरधीः = स्थिरा धीर्यस्य सः (बहु०) । भैम्या = "समम्" के योग में तृतीया । "साकं सत्रा समं सह" इत्यमरः । और्वशेयः = उर्वश्या अपत्यं पुमान्, "स्त्रीभ्यो ढक्" इससे ढक् प्रत्यय । "और्वशेयः कुम्भयोनिरगस्त्यो विन्ध्यकुट्टनः । इति हलायुधः । पयोधिपाने = पयोधेः पानं तस्मिन् (ष० त०) । और्वम् = उर्वस्य (मुनेः) अपत्यं पुमान्, तम्, उर्व + अण् + अम् । अजगणत् = गण + णिच् + लुङ् + तिप् । एक पक्षमें "अजीगणत्" ऐसा रूप भी । जैसे समुद्रपानमें अगस्त्यने बडवाऽग्निको विघ्नस्वरूप नहीं विचार किया वैसे ही देवताओंके दूतकृत्यमें नलने दमयन्तीके वियोगको भी विघ्नस्वरूप नहीं विचार किया यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ २ ॥

नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवस्ते ।
तदध्ववीक्षाऽर्थमिवाऽनिमेषा देशस्य तस्याऽऽभरणीबभूवुः ॥ ३ ॥

अन्वयः– ते नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवः तदध्ववीक्षाऽर्थम् इव अनिमेषाः (सन्तः) तस्य देशस्य आभरणीबभूवुः ॥ ३ ॥

व्याख्या—ते= देवाः, नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवः = नैषधजलनिर्गममार्गप्रवहद्भैमी कथाऽमृतपानेच्छवः सन्तः, तदध्ववीक्षाऽर्थं = नलमार्गदर्शनाऽर्थम् इव, अनिमेषाः = निमेषव्यापाररहिताः सन्तः, सन्तः, तस्य देशस्य=नलनिर्गमप्रदेशस्य, आभरणीबभूवुः, भूषणो बभूवुः नलागमनपर्यन्तं तत्रैव तस्थुरिति भावः ॥ ३ ॥

अनुवादः—नलरूप नालीसे बहनेवाले दमयन्ती के संवादरूप अमृतको पीने की इच्छा करनेवाले वे इन्द्र आदि देवता मानों नल के मार्गको देखनेके लिए निमेषव्यापारसे रहित होते हुए नलके निकलने के मार्गके भूषणस्वरूप हो गये ॥ ३ ॥

टिप्पणी—नलप्रणालीत्यादिः = नल एव प्रणाली (रूपक०)। अम्बुजे इव अक्षिणी यस्याः सा अम्बुजाक्षी (बहु०), तस्याः संवादः (ष० त), स एव पीयूषम् (रूपक०)। नलप्रणाल्या मिलत् (तृ० त०)। नलप्रणाली-मिलच्च तत् अम्बुजाक्षीसंवादपीयूषं (क० धा०), तस्य पिपासवः (ष० त०), तदध्ववीक्षाऽर्थम् = तस्य अध्वा (ष० त०), तस्य वीक्षा (ष० त०)। तदध्ववीक्षार्थं इदम् (चतुर्थीतत्पु०)। अनिमेषाः अविद्यमाना निमेषा येषां ते (नञ् बहु०)। आभरणीबभूवुः = आभरण + च्वि + भू + लिट् + झि (उस्)। देवता लोग स्वतः अनिमेष हैं, परन्तु नलसे दमयन्तीके संवादरूप अमृत पीनेकी इच्छासे नलके मार्गको देखनेके लिए मानों अनिमेष हो गये, ऐसे कथनसे इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। जबतक नल का आगमन नहीं होता है तबतक देवता लोग वहीं रहे यह तात्पर्य ॥ ३ ॥

तां कुण्डिनाऽऽख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावतीं सः ।
मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन रथस्तदीयः पुरमाससाद ॥ ४ ॥

अन्वयः—तदीयः स रथः तां कुण्डिनाऽऽख्यापदमात्रगुप्ताम् अमरावतीं भूमेः इन्द्रस्य पुरं मनोरथः सिद्धिम् इव क्षणेन आससाद ॥ ४ ॥

व्याख्या—तदीयः = नलीयः, सः = प्रसिद्धः, रथः = स्यन्दनः, तां = प्रसिद्धां, कुण्डिनाऽऽख्यापदमात्रगुप्तां = कुण्डिननामपदमात्रच्छन्नाम्, अमरावतीं = देवराजधानीम्, अमरावतीसदृशीमिति भावः। भूमेः = भुवः, इन्द्रस्य =

शक्रस्य, भीमभूपतेरिति भावः । पुरं = कुण्डिननगरीं, मनोरथः अभिलाषः, सिद्धिम् इव = सफलताम् इव, क्षणेन = अल्पकालेन, आससाद = प्राप ॥ ४ ॥

अनुवादः—नलके उस रथने "कुण्डिन" ऐसे नामवाचक पदमात्रसे गुप्त अमरावतीस्वरूप भीमनामक राजाकी नगरीको, जैसे मनोरथ सफलताको प्राप्त करता है वैसे ही थोड़े ही समयमें प्राप्त किया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—तदीयः = तस्य अयम् तद् + छ (ईय) सुः । कुण्डिनाऽऽख्यापदमात्रगुप्ताम् = आख्यायाः पदम् (ष० त०) । कुण्डिनं चाऽसौ आख्यापदम् (क० धा०) । तदेव कुण्डिनाऽऽख्यापदमात्रम् (रूपक०), तेन गुप्ता, ताम् (तृ० त०) । अमरावतीम् = अमराः सन्ति यस्यां सा अमरावती, ताम् = अमर + मतुप् + ङीप् + अम् । "मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्" इस सूत्रसे दीर्घ । क्षणेन = "अपवर्गे तृतीया" इस सूत्रसे तृतीया । आससाद = आङ् + सद् + लिट् + तिप् (णल्) ॥ ४ ॥

भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाऽऽकुलस्ताम् ।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताऽऽशः ॥ ५ ॥

अन्वयः—नृपः इयं भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सा पुरी इति उत्कलिकाऽऽकुलः (सन्) क्षणम् ईक्षणाभ्यां तां पुरीं निपीय सुरैः क्षताऽऽशः (सन्) भृशं निशश्वास ॥ ५ ॥

व्याख्या—नृपः = राजा नलः, इयम् = एषा, भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या = दमयन्तीचरणामर्शनसफलमार्गा, सा = प्रसिद्धा, पुरी = नगरी, इति = एवं विचार्य, उत्कलिकाऽऽकुलः = उत्कण्ठाक्षुभितः सन्, क्षणं = कञ्चित्कालम् । ईक्षणाभ्यां = नयनाभ्यां, तां = पूर्वोक्तां, पुरीं = कुण्डिननगरीं, निपीय = पीत्वा, सतृष्णं दृष्ट्वेति भावः । सुरैः = इन्द्रादिदेवैः, क्षताऽऽशः = खण्डिताऽऽशः सन्, भृशम् = अत्यर्थं, निशश्वास = निःश्वसितवान् ॥ ५ ॥

अनुवादः—राजा नलने "यह दमयन्तीके चरणस्पर्शसे कृतार्थ मार्गवाली प्रसिद्ध नगरी है" ऐसा विचार कर उत्कण्ठासे आकुल होकर कुछ समयतक नेत्रोंसे कुण्डिनपुरीको तृष्णासे देखकर देवताओंसे आशाके खण्डित होनेसे लम्बा निःश्वास लिया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या = भैम्याः पदे (ष० त०), तयोः स्पर्शः (ष० त०) । कृतः अर्थः यस्याः सा (बहु०) । रथं वहतीति रथ्या, रथ शब्द "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्

"रथ्या प्रतोली विशिखा" इत्यमरः। कृताऽर्था रथ्या यस्यां सा (बहु०)। भैमी-पदस्पर्शेन कृताऽर्थरथ्या (तृ० त०)। उत्कलिकाऽऽकुलः=उत्कलिकया आकुलः (तृ० त०)। क्षणम्=कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया। क्षताऽऽशः=क्षता आशा यस्य सः (बहु०)। निशश्वास=नि+श्वस+लिट्+तिप् (णल्)॥ ५॥

स्विद्यत्प्रमोदाऽश्रुलवेन वामं रोमाञ्चभृत् पक्ष्मभिरस्य चक्षुः।
अन्यत् पुनः कम्प्रमपि स्फुरन्तं तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम्॥ ६॥

अन्वयः—अस्य वामं चक्षुः प्रमोदाऽश्रुलवेन स्विद्यत् (सत्) पक्ष्मभिः रोमाञ्चभृत् (सत्) तस्याः पुरः स्फुरन्तं नवोपभोगं प्राप अन्यत् तु कम्प्रं (सत्) तं प्राप॥ ६॥

व्याख्या—नलस्येष्टप्राप्तिसूचकं दक्षिणनयनस्फुरणं जातमित्याह स्विद्य-दिति। अस्य=नलस्य, वामं=दक्षिणेतरत्, चक्षुः=नेत्रं, प्रमोदाऽश्रुलवेन= हर्षवाष्पकणेन, स्विद्यत्=स्विन्नं सत्, पक्ष्मभिः=नयनलोमभिः, उन्मिषद्भिरिति शेषः। रोमाञ्चभृत्=रोमाञ्चितं सत्, तस्याः = पूर्वोक्तायाः, पुरः=कुण्डिन-नगर्याः, स्फुरन्तं=प्रकाशमानं, नवोपभोगम्=अपूर्वदर्शनम् आद्यसंगमं च, प्राप=प्राप्तवत् अन्यत्=अपरं, दक्षिणं चक्षुः, कम्प्रं=कम्पनशीलं सत् तं= नवोपभोगं, प्राप=प्राप्तवत्॥ ६॥

अनुवाद—नलके बायें नेत्रने हर्षाश्रुके कणसे स्वेदयुक्त और पलकोंसे रोमाञ्चित होकर उस कुण्डिन नगरीके प्रकाशमान नवीन उपभोग (अपूर्व दर्शन और पहला संगम) को पा लिया, दूसरे नेत्र (दाहिने) ने कम्पनशील होकर उस (नवीन उपभोग) को पा लिया॥ ६॥

टिप्पणी—प्रमोदाऽश्रुलवेन=अश्रुणो लवः (ष० त०), प्रमोदेन अश्रुलवः, तेन (तृ० त०)। स्विद्यत्=स्विद+लट् (शतृ)+सुः। रोमाञ्च-भृत् = रोमाञ्चं बिभर्तीति, रोमाञ्च+भृ+क्विप्+सुः। स्फुरन्तं = स्फुर+ लट् (शतृ)+अम्। नवोपभोगं = नवश्चाऽसौ उपभोगः, तम् (क० धा०), प्राप = प्र+आप्+लिट्। कम्प्रं = कम्पनशीलम्, कपि धातुसे "नमिकम्पि-स्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इससे र प्रत्यय। प्रथम सङ्गम में कम्प, स्वेद और रोमाञ्च आदि होते हैं। पुरुषके दक्षिण नेत्रका फड़कना शुभ फलके लिए होता है ऐसा निमित्तवेदीलोग कहते हैं। इस पद्यमें आनन्दाश्रु, पलकका उन्मेष और नेत्रस्फुरणमें स्वेद आदि सात्त्विक भावका आरोप करनेसे रूपक अलङ्कार है।

उससे प्रकाशित नवीन उपभोगरूप व्यवहारके समारोपसे पुरी और नेत्र स्त्रीत्व और पुंस्त्वकी प्रतीतिसे रूपक और समासोक्तिका सङ्कर है ॥ ६ ॥

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजाऽवतीर्याऽऽशु पुरं विवेश ।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात्सौधाकरं मण्डलमंशुसङ्घः ॥ ७ ॥

अन्वयः—असौ राजा सारथिना सनाथात् रथात् अवतीर्य अंशुसङ्घः भानवीयात् बिम्बात् निर्गत्य सौधाकरं मण्डलम् इव आशु पुरं विवेश ॥ ७ ॥

व्याख्या—असौ, राजा = नलः, सारथिना = सूतेन, सनाथात् = सहितात्, रथात्=स्यन्दनात्, अवतीर्य=अवरुह्य, अंशुसङ्घः=सूर्यकिरणसमूहः, भानवीयात्= सूर्यसम्बन्धिनः, बिम्बात् = मण्डलात्, निर्गत्य = निष्क्रम्य, सौधाकरं=चान्द्रमसं, मण्डलम् इव = बिम्बम् इव, आशु = शीघ्रं, पुरं = कुण्डिननगरं, विवेश = प्रविष्टः ॥ ७ ॥

अनुवादः—राजा नल ने सारथि से युक्त रथ से उतरकर जैसे सूर्यका किरण-समूह सूर्यमण्डलसे निकलकर चन्द्रमण्डलमें प्रवेश करता है वैसे ही शीघ्र कुण्डिन-पुरमें प्रवेश किया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—रथात् = अपादानमें पञ्चमी । अंशुसङ्घः = अंशूनां सङ्घः (ष० त०) । भानवीयात्=भानोः इदं तस्मात्, भानु + छ (ईयः) + ङसि । निर्गत्य = निर् गम् + क्त्वा (ल्यप) । सौधाकरं=सुधाकरस्येदं, तत्, सुधाकर + अण् + अम् । विवेश = विश + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ।

"सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् ।
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्याऽन्तः ॥"

अर्थात् जैसे दर्पणके भीतर वर्त्तमान किरणें घरके भीतर विद्यमान अन्धकार-को दूर करती हैं वैसे ही जलमय चन्द्रमें सूर्यकी किरणें फैलकर रातके अन्धकार-को दूर करती हैं इस शास्त्रवचनके अनुसार यह उपमा अलङ्कार है ॥ ७ ॥

चित्रं तदा कुण्डिनवेशिनः सा नलस्य मूर्तिर्ववृते नदृश्या ।
बभूव तच्चित्रतरं तथाऽपि विश्वैकदृश्यैव यदस्य मूर्तिः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तदा कुण्डिनवेशिनो नलस्य सा मूर्तिः नदृश्या ववृते । चित्रम् । तथाऽपि अस्य मूर्तिः विश्वैकदृश्या (इति) यत् तत् चित्रतरं बभूव ॥ ८ ॥

व्याख्या—तदा = तस्मिन् समये, कुण्डिनवेशिनः = कुण्डिनपुरप्रवेशिनः, नलस्य—नैषधस्य, सा = तथा दर्शनीया, मूर्तिः = कायः, नदृश्या = अदर्शनीया,

ववृते = जाता। चित्रम् = आश्चर्यम्। दर्शनीयाऽपि अदृश्येति विरोधः, इन्द्र-वराददृश्यत्वं गतेति अविरोधः। तथाऽपि = अदृश्याऽपि, अस्य = नलस्य, मूर्तिः = कायः, विश्वैकदृश्या = जगदेकदर्शनीया, इति यत्, तत्, चित्रतरम् = अतिशयितम् आश्चर्यं, बभूव = विविदे, दृश्यत्वाऽदृश्यत्वयोर्विरोधादिति भावः। विश्वस्यैकस्यैव दृश्या दृष्टिप्रिया एव इति अविरोधः॥ ८॥

अनुवादः—उस समय कुण्डिनपुरमें प्रवेश करनेवाले नलकी वैसी दर्शनीय मूर्तिः भी अदृश्य हो गयी, यह आश्चर्य है। अदृश्य होनेपर भी उनकी मूर्ति जगत् का एकमात्र दृश्य जो है वह और भी ज्यादा आश्चर्य है॥ ८॥

टिप्पणी—कुण्डिनवेशिनः = कुण्डिनं विशतीति कुण्डिनवेशी, तस्य कुण्डिन + विश् + णिनिः (उपपद०) + ङस्। नदृश्या = न दृश्या (सुप्सुपा०)। ववृते = वृत + लिट् + त। कुण्डिनपुरमें प्रवेश करनेवाले नलकी वैसी दर्शनीय मूर्ति भी अदृश्य हो गयी ऐसा कहने से विरोध हुआ, इन्द्र के वरसे अदृश्य हो गयी यह विरोधका परिहार है। विश्वैकदृश्या = एका चाऽसौ दृश्या (क० धा०)। विश्वस्य एकदृश्या (ष० त०)। चित्रतरम् = अतिशयेन चित्रं, चित्र + तरप् + सुः। अदृश्य होनेपर भी उनकी मूर्ति विश्वमें एकमात्र दृश्य हुई वह और भी ज्यादा आश्चर्य है कहनेसे दृश्यत्व और अदृश्यत्वका विरोध हुआ, एकमात्र विश्व-की दर्शनीय वा दृष्टिको प्रिय ही है, इस प्रकार विरोधका परिहार हुआ। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो विरोधाभास अलङ्कारोंकी संसृष्टि है॥ ८॥

जनैर्विदग्धैर्भवनैश्च मुग्धैः पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीम्।
विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाऽऽददे राजकुलाऽतिथित्वम्॥ ९॥

अन्वयः—अथ अस्य दृष्टिः विदग्धैः जनैः मुग्धैः भवनैश्च पदे पदे विस्मय-कल्पवल्लीं पुरं विगाहमाना राजकुलाऽतिथित्वम् आददे॥ ९॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, अस्य = नलस्य, दृष्टिः = नेत्रं, विदग्धैः = अभिज्ञैः, जनैः = लोकैः, मुग्धैः = सुन्दरैः, भवनैश्च = मन्दिरैश्च, पदे पदे = प्रतिपादं, विस्मयकल्पवल्लीम् = आश्चर्यकल्पलताम्, आश्चर्यकारिणीमिति भावः। तादृशीं पुरं = कुण्डिननगरीं, विगाहमाना = विभावयन्ती सती, राज-कुलाऽतिथित्वं = राजवंशाऽऽतिथ्यम्, आददे = जग्राह, नलः क्रमाद्राजभवनं ददर्शेति भावः॥ ९॥

अनुवादः—तब नलके नेत्रोंने रीसक जनोंसे और सुन्दर भवनोंसे पग-पगपर आश्चर्यकी कल्पलतारूप नगरीमें प्रवेश करके राजभवनको देखा॥ ९॥

टिप्पणी—दृष्टिः = दृश् + क्तिन् + सुः । विस्मयकल्पवल्लीं = विस्मयस्य कल्पवल्ली, ताम् (ष० त०) । विगाहमाना = वि + गाह + लट् (शानच्) + टाप् + सुः । राजकुलाऽतिथित्वं = राज्ञः कुलम् (ष० त०), तस्य अतिथित्वं, तत् (ष० त०) । आददे = आङ् + दा + लिट् + त । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ९ ॥

लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे, हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे ।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष, दूत्यं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच ॥ १० ॥

अन्वयः—असौ अस्त्रसज्जे रक्षिजने हेलां दधौ, लीनः चरामि इति हृदा ललज्जे, भैमीं द्रक्ष्यामि इति संतुतोष. स्वं दूत्यं विचिन्त्य शुशोच ॥ १० ॥

व्याख्या—असौ = नलः, अस्त्रसज्जे = आयुधसंनद्धे रक्षिजने = सौधरक्षकपुरुषे, हेलां = अवज्ञां, दधौ = कृतवान्, लीनः = गूढः, चरामि = गच्छामि, इति = हेतोः, हृदा = हृदयेन, ललज्जे = लज्जितः, शूरोऽपि गुप्तः संश्चरामीति मनसिकृत्य लज्जित इति भावः । भैमीं = दमयन्तीं, द्रक्ष्यामि = विलोकयिष्यामि, इति = हेतोः, संतुतोष = सन्तुष्टः, परं स्वं = स्वकीयं, दूत्यं = दूतभावं, विचिन्त्य = विचार्य, शुशोच = शोकं कृतवान् ॥ १० ॥

अनुवाद—नलने शस्त्रास्त्रोंसे लैस रक्षक पुरुषोंमें अवज्ञा की, मैं गूढ़ रूपसे चल रहा हूं ऐसा विचार कर हृदयसे वे लज्जित हुए, दमयन्तीको देखूँगा ऐसा सोचकर सन्तुष्ट हुए, पर अपने दूतभावका विचार कर उन्होंने शोक किया ॥ १० ॥

टिप्पणी—अस्त्रसज्जे = अस्त्रैः सज्जः, तस्मिन् (तृ० त०) । "सन्नद्धो वर्मितः सज्जे" इत्यमरः । रक्षिजने = रक्षी चाऽसौ जनः, तस्मिन् (क० धा०) । दधौ = धा + लिट् + तिप् । ललज्जे = लस्ज + लिट् + त । द्रक्ष्यामि = दृश् + लृट् + मिप् । संतुतोष = सं + तुष + लिट् + तिप् (णल्) । शुशोच = शुच + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें गर्व, लज्जा, हर्ष और निर्वेद ऐसे बहुतसे व्यभिचारी भावोंके परस्पर उपमर्दपूर्वक समावेश होनेसे भावशबलता है ॥१०॥

अथोपकार्याममरेन्द्रकार्यात् कक्ष्यासु रक्षाऽधिकृतैरदृष्टः ।
भैमीं दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्विशन्नसौ तामविशद्विशङ्कः ॥ ११ ॥

अन्वयः—अथ असौ कक्ष्यासु रक्षाऽधिकृतैः अदृष्टः (सन्) भैमीं दिदृक्षुः दिक्षु चक्षुः बहु दिशन् विशङ्क (सन्) ताम् उपकार्याम् अमरेन्द्रकार्यात् अविशत् ॥ ११ ॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, असौ = नलः, कक्ष्यासु = गृहप्रकोष्ठेषु, रक्षाऽधिकृतैः = रक्षकजनैः, अदृष्टः = अनवलोकितः सन्, भैमीं = दमयन्तीं, दिदृक्षुः = द्रष्टुमिच्छुः, अत एव दिक्षु = आशासु, चक्षुः = नेत्रं, बहु = भूयिष्ठं, दिशन् = ददानः, विशङ्कः = निर्भयः सन्, तां = पूर्वोक्ताम्, उपकार्यां = राजसदनम्, अमरेन्द्रकार्यात्=सुराऽधिपप्रयोजनात्, अविशत् = प्रविष्टः ॥ ११ ॥

अनुवादः—तब प्रकोष्ठोंके रक्षक पुरुषोंसे नहीं देखे जाते हुए नलने दमयन्तीको देखनेकी इच्छा कर दिशाओंमें नेत्रको बहुत बार फैलाकर निर्भय होकर श्रेष्ठ देवताओंके प्रयोजनसे राजभवनमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

टिप्पणी—कक्ष्यासु = "कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादिः" इत्यमरः। रक्षाधिकृतैः = रक्षायाम् अधिकृताः, तैः (स० त०)। अदृष्टः = न दृष्टः (नञ्०)। दिदृक्षुः = दृश् + सन् + उः। दिशन् = दिश + लट् (शतृ) + सुः। विशङ्कः = विगता शङ्का यस्य सः (बहु०)। उपकार्याम = "उपकार्या राजसद्मनि" इति विश्वः। अमरेन्द्रकार्यात् = अमराणाम् इन्द्राः (ष० त०), तेषां कार्यं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी ॥ ११ ॥

अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम् ।
दृशं दधौ विस्मयनिस्तरङ्गां विलङ्घितायामपि राजसिंहः ॥ १२ ॥

अन्वयः—विभुः राजसिंहः (सः) "अयं कः ?" इति अन्यनिवारकाणां गिरा कण्ठं विभुज्य विलङ्घितायाम् अपि द्वारि विस्मयनिस्तरङ्गां दृशं दधौ ॥ १२ ॥

व्याख्या—विभुः = समर्थः, राजसिंहः = राजश्रेष्ठः नलः, अयम् = एषः, कः, इति = एवम्, अन्यनिवारकाणां = नलेतरनिषेधकारिणां रक्षिणां, गिरा = वाक्येन हेतुना, कण्ठं = ग्रीवां, विभुज्य = वक्रीकृत्य, दृष्टोऽस्मि किमिति शङ्कयेति भावः। विलङ्घितायाम् अपि = अतिक्रान्तायाम् अपि, द्वारि = द्वारे, विस्मयनिस्तरङ्गाम् = आश्चर्यनिर्निमेषां, दृशं = दृष्टिं, दधौ = धृतवान् ॥ १२ ॥

अनुवादः—सामर्थ्यशाली राजसिंह नलने "यह कौन है ?" ऐसे पहरेदारोंके वाक्यसे ग्रीवाको वक्रकर द्वारके लाँघे जानेपर भी आश्चर्यसे निर्निमेष दृष्टिको धारण किया ॥ १२ ॥

टिप्पणी—राजसिंहः = राजा सिंह इव (उपमित०)। अन्यनिवारकाणाम्= अन्येषां निवारकाः, तेषाम् (ष० त०)। विभुज्य = वि + भुज् + क्त्वा

(ल्यप्) द्वारि = "स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः" इत्यमरः। विस्मयनिस्तरङ्गां = विस्मयेन निस्तरङ्गा, ताम् (तृ० त०)। जैसे सिंह गर्दन मरोड़कर देखता है वैसे ही राजसिंह नलने भी देखा यह तात्पर्य है ॥ १२ ॥

अन्तःपुराऽन्तः स विलोक्य बालां कांचित्समालब्धुमसंवृतोरुम्।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार ॥ १३ ॥

अन्वयः—सः अन्तःपुराऽन्तः समालब्धुम् असंवृतोरुं कांचित् बालां विलोक्य निमीलिताक्षः (सन्) भ्रमन्त्या परया संघट्टम् आसाद्य चमच्चकार ॥ १३ ॥

व्याख्या—सः = नलः, अन्तःपुराऽन्तः = अवरोधाऽभ्यन्तरे, समालब्धुम् = उद्वर्तयितुम् असंवृतोरुम् = अनाच्छादितसक्थिं, काञ्चित् = कामपि, बालां = स्त्रियं, विलोक्य = दृष्ट्वा, निमीलिताक्षः = मुद्रितनयनः सन्, पराऽङ्गना-गुप्ताऽङ्गाऽवलोकनपापभीत्येति शेषः। भ्रमन्त्या = तत्र सञ्चरन्त्या, परया = अन्यया बालया, संघट्टम्, = अभिघातम्, आसाद्य = संप्राप्य, चमच्चकार = चकितो बभूव ॥ १३ ॥

अनुवादः—नल अन्तःपुरके भीतर अङ्गलेप करनेके लिए ऊरुको खुला करनेवाली किसी स्त्रीको देखकर आँखोंको मूँदते हुए नल भ्रमण करती हुई किसी स्त्रीसे ठोकर पाकर चकित हो गये ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अन्तःपुराऽन्तः अन्तःपुरस्य अन्तः (ष० त०)। समालब्धुं = सम् + आङ् + लभ + तुमुन्। असंवृतोरुम् = न संवृतौ (नञ्०) असंवृतौ ऊरू यस्याः सा० ताम् (बहु०)। सक्थि क्लीबे पुमानूरुः" इत्यमरः। निमीलिताक्षः—निमीलिते अक्षिणी येन सः (बहु०)। "नेक्षेताऽर्कं न नग्नां स्त्रीम्" इस शास्त्रवचनसे नलने आँखोको मूँद लिया यह तात्पर्य है। भ्रमन्त्या = भ्रम + लट् (शतृ) + ङीप् + टा। आसाद्य = आङ् + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। चमच्चकार = चमत् + कृ + लिट् + तिप् (णल्)। "चमत्" यह अनुकरणद्योतक शब्द है ॥ १३ ॥

अनादिसर्गस्रजि वाऽनुभूता चित्रेषु वा भीमसुता नलेन।
जातैव यद्वा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु ॥ १४ ॥

अन्वयः—अनादिसर्गस्रजि वा चित्रेषु अनुभूता यद्वा जितशम्बरस्य शाम्बरी-शिल्पं जाता एव सा भीमसुता नलेन दिक्षु अलक्षि ॥ १४ ॥

व्याख्या—अनादिसर्गस्रजि = आदिरहितसृष्टिपरम्परायां, क्वचिज्जन्मान्तरे इत्यर्थः, वा, चित्रेषु = आलेख्येषु, अनुभूता = कृताऽनुभवा, अत्यन्ताऽननुभूतेऽर्थे

भ्रमाऽसंभवादिति भावः । यद्वा = अथवा, जितशम्बरस्य = शम्बराऽरेः, कामस्येतिभावः । शाम्बरीशिल्पं = मायासृष्टिरूपा, जाता एव = विद्यमाना एव, सा = प्रसिद्धा, भीमसुता = दमयन्ती, नलेन = नैषधेन, दिक्षु=सर्वासु काष्ठासु, अलक्षि दृष्टा ।। १४ ।।

अनुवादः—अनादि सृष्टियोंकी परम्परामें अथवा चित्रोंमें देखी गई वा शम्बर दैत्यको जीतनेवाले कामदेवके मायासृष्टिरूप विद्यमान ही उस दमयन्तीको नलने सब दिशाओंमें देखा ।। १४ ।।

टिप्पणी—अनादिसर्गसृजि = अविद्यमान आदिर्यस्याः सा अनादिः (नञ् बहु०) । सर्गाणां स्रक् (ष० त०) । अनादिश्चाऽसौ सर्गस्रक्, तस्याम् (क० धा०) । जितशम्बरस्य = जितः शम्बरः (मायावी दैत्यविशेषः) येन, तस्य (बहु०) । "शम्बराऽरिर्मनसिजः" इत्यमरः । शाम्बरी शिल्पं = शम्बरस्य इयं शाम्बरी (माया), शम्बर + अण् + ङीप् । शाम्बर्याः शिल्पम् (ष० त०) । "स्यान्माया शाम्बरी" इत्यमरः । भीमसुता = भीमस्य सुता (ष० त०) । अलक्षि=लक्ष + लुङ् (कर्ममें) + त । नलसे किये गये मिथ्याभूत दमयन्तीके साक्षात्कारमें जन्मान्तरके अनुभवको वा कामदेवकी मायाको हेतुके तौरपर उत्प्रेक्षा करनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। १४ ।।

अलीकभैमीसहदर्शनान्न तस्याऽन्यकन्याऽप्सरसो रसाय ।
भैमीभ्रमस्यैव ततः प्रसादाद् भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्भि ।। १५ ।।

अन्वयः—अन्यकन्याऽप्सरसःअलीकभैमी सहदर्शनात् तस्य रसाय न । ततः भैमीभ्रमस्य एव प्रसादात् तेन तासु भैमीभ्रमो न अलम्भि ।। १५ ।।

व्याख्या—अन्यकन्याऽप्सरसः = अप्सरः सदृश्यः अन्यकुमार्यः । अलीकभैमीसहदर्शनात् = मिथ्यादमयन्तीसहविलोकनात्, तस्य = नलस्य, रसाय = अनुरागाय, न = न अभवन् । मिथ्यादमयन्त्या अपि अन्यकन्यानामपकृष्टत्वादिति भावः । तर्हि किं तुल्यरूपत्वात्तास्वपि भैमीभ्रमो नाऽभूदत आह—भैमीति । ततः= तस्य, भैमीभ्रमस्य एव = दमयन्त्या भ्रान्तेः एव, प्रसादात् = अनुग्रहात्, तेन = नलेन, तासु = अन्तःपुरस्थासु अन्यकन्यासु, भैमीभ्रमः = दमयन्तीभ्रान्तिः, न अलम्भि = न प्राप्तः, अत्यन्ताऽसादृश्यादिति भावः ।। १५ ।।

अनुवादः—अप्सराओंके समान अन्य कुमारियाँ, मिथ्या दमयन्तीके साथ देखनेसे नलके अनुरागके लिए नहीं हुईं । दमयन्तीके भ्रमके ही प्रसादसे नलको उन कुमारियोंमें दमयन्तीका भ्रम नहीं हुआ ।। १५ ।।

टिप्पणी—अन्यकन्याऽप्सरसः = अन्याश्च ताः कन्याः (क० धा०)। अन्य-कन्या अप्सरस इव, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे उपमित-समास। अलीकभैमीसहदर्शनात् = अलीका चाऽसौ भैमी (क० धा०), तस्याः सहदर्शनं, तस्मात् (ष० त०)। ततः = तद् शब्दसे "आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इससे सार्वविभक्तिक तसि यहाँपर षष्ठीके अर्थमें हुआ है। भैमीभ्रमस्य = भैम्या भ्रमः, तस्य (ष० त०)। प्रसादात्=हेतुमें पञ्चमी। अलम्भि = लभ + लुङ् + (कर्ममें) + त। दमयन्तीका सादृश्य बिलकुल ही न होनेसे अन्तःपुरकी स्त्रियोंमें दमयन्तीका भ्रम नलको नहीं हुआ यह तात्पर्य है ॥ १५ ॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहस्तः ॥
स तामलीकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन् व्यषदद्विबुद्धः ॥ १६ ॥

अन्वयः—भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्तात् विरहात् विहस्तः सः अलीकां ताम् अवलोक्य क्षणात् विबुद्धः तत्र ताम् अपश्यन् व्यषदत् ॥ १६ ॥

व्याख्या—भैमीनिराशे = दमयन्त्याशारहिते, हृदि = चित्ते, मन्मथेन = कामेन, दत्तस्वहस्तात् = वितीर्णात्मकरात्, दत्ताऽवलम्बादिति भावः, विरहात् = वियोगाद्धेतोः, विहस्तः = विह्वलः, सः = नलः, = अलीकाम् = असत्यरूपां, तां = दमयन्तीम्, अवलोक्य = दृष्ट्वा, क्षणात् = अल्पकालात् एव, विबुद्धः = निवृत्तभ्रमः, सन् तत्र = तस्मिन् स्थाने, तां = दमयन्तीम्, अपश्यन् = अनव-लोकयन्, व्यषदत् = विषण्णोऽभूत् ॥ १६ ॥

अनुवाद—दमयन्तीमें निराश चित्तमें कामदेवसे अवलम्ब (सहारा) दिये गये वियोगसे विह्वल नल, असत्यरूप दमयन्तीको देखकर अल्प कालमें ही भ्रमके हटनेपर वहाँ उनको न देखते हुए विषण्ण हो गये ॥ १६ ॥

टिप्पणी—भैमीनिराशे = भैम्यां निराशं, तस्मिन् (स० त०)। दत्तस्व-हस्तात् = दत्तः स्वः (स्वकीयः) हस्तः यस्मै, तस्मात् (बहु०)। अवलोक्य = अव + लोक + क्त्वा (ल्यप्)। विबुद्धः = वि + बुध् + क्तः + सुः। अपश्यन् = न पश्यन् (नञ्)। व्यषदत् = वि + सद् + लुङ् + तिप्। "सदिरप्रतेः" इस सूत्रसे षत्व ॥ १६ ॥

प्रियां विकल्पोपहृतां स यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम् ।
अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—स विकल्पोपहृतां प्रियां यावत् दिगीशसन्देशम् अल्पम् अजल्पत। तावत् अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवः रवः तम् अचेतयत् ॥ १७ ॥

व्याख्या—सः = नलः, विकल्पोपहृतां = भ्रान्त्युपनीतां, प्रियां = दमयन्तीं, यावत् = यत्कालं, दिगीशसन्देशं = दिक्पालेन्द्रादिवाचिकम्, अल्पं = स्तोकम्, अजल्पत् = अकथयत्, तावत् = तत्कालम् एव, अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवः = अलक्ष्यकर्तृकवाणीवित्रासितवहुभयशीलस्त्रीजनभवः, रवः = कलकलः, तं = नलम् अचेतयत् = अबोधयत् ॥ १७ ॥

अनुवादः—नलने भ्रान्तिसे प्राप्त प्रिया दमयन्तीको जब लोकपाल इन्द्र आदिका कुछ सन्देश कहा, तब अदृश्य व्यक्तिके वचनसे डरी हुईं बहुत-सी डरपोक स्त्रियोंसे उत्पन्न कोलाहलने उन्हें सावधान किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—विकल्पोपहृतां = विकल्पेन उपहृता, ताम् (तृ० त०)। दिगीशसन्देशं = दिशाम् ईशाः (ष० त०), तेषां सन्देशः, तम् (ष० त०)। अजल्पत् = जल्प + लङ् + तिप् । अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवः = न दृश्यः अदृश्यः (नञ्०)। तस्य वाक् (ष० त०)। भी + णिच् + षुक् + क्त + जस= भीषिताः, "भियो हेतुभये षुक्" इस सूत्रसे षुक्। भूरयश्च ता भीरवः (क० धा०)। अदृश्यवाचो भीषिताः (प० त०)। अदृश्यवाग्भीषिताश्च ता भूरिभीरवः (क० धा०), ताभ्यो भवतीति अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरु भू + अच् + सुः (उपपद०)। अचेतयत् = चित् + णिच् + लङ् + तिप् । इस पद्यमें भावोदय अलङ्कार है ॥ १७ ॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुताऽपि तन्व्याः स्तनौ परिस्प्रष्टुमिवाऽस्तवस्त्रौ ।
अक्षान्तपक्षान्तमृगाऽङ्कमास्यं दधार तिर्यग्वलितं विलक्षः ॥ १८ ॥

अन्वयः—स तस्मिन् मरुता अपि परिस्प्रष्टुम् इव अस्तवस्त्रौ तन्व्याः स्तनौ पश्यन् विलक्षः (सन्) अक्षान्तपक्षाऽन्तमृगाऽङ्कम् आस्यं तिर्यक् वलितं दधार ॥ १८ ॥

व्याख्या—सः = नलः, तस्मिन् = अन्तःपुरे, मरुता अपि = वायुना अपि, अचेतनेन अपि, परिस्प्रष्टुम् इव = संस्प्रष्टुम् इव, अस्तवस्त्रौ = अपनीतांऽशुकौ, तन्व्याः = कस्याश्चित्सुन्दर्याः, स्तनौ=कुचौ, पश्यन्=विलोकयन् विलक्षः=लज्जाऽन्वितः सन्, अक्षान्तपक्षाऽन्तमृगाऽङ्कम् = असोढपौर्णमासीचन्द्रम्, आस्यं = मुखं, तिर्यक् = तिरः, वलितं = चालितं = साचीकृतमिति भावः । दधार = धृतवान् ॥ १८ ॥

अनुवादः—नलने अन्तःपुरमें अचेतन वायुसे भी मानों छूनेके लिए वस्त्रहीन बनाये गये किसी सुन्दरीके स्तनों को देखकर लज्जित होते हुए पूर्णिमाके चन्द्रको न सहनेवाले अपने मुखको तिरछा किया ॥ १८ ॥

टिप्पणी—परिस्प्रष्टुं = परि + स्पृश + तुमुन् । अस्तवस्त्रौ = अस्तं वस्त्र याभ्यां, तौ (बहु०) । अक्षान्तपक्षाऽन्तमृगाऽङ्कम् = न क्षान्तः (नञ्०) । पक्षस्य अन्तः (ष० त०) । मृगः अङ्कः यस्य सः (बहु०) । पक्षान्ते (पौर्णमास्याम्) मृगाऽङ्कः (स० त०) । अक्षान्तः पक्षाऽन्तमृगाङ्को येन तत् (बहु०) । दधार = धृञ् + लिट् + तिप् (णल्) । जहाँपर अचेतन वायुकी भी चपलता है वहाँ भी नलकी निर्विकारताके कारण जितेन्द्रियत्व है यह बात यहाँपर दरसाई गयी है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १८ ॥

अन्तःपुरे विस्तृतवागुरोऽपि बालाऽवलीनां वलितैर्गुणौघैः ।
न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वन्द्वं प्रभुर्बन्धुमभून्मनोभिः ॥ १९ ॥

अन्वयः—अन्तपुरे बा (वा) लावलीनां वलितैः गुणौघैः विस्तृतवागुरः अपि मनोभूः तदक्षिद्वन्द्वं कालसारं हरिणं बन्धुं प्रभुः न अभूत् ॥ १९ ॥

व्याख्या—अन्तःपुरे = अवरोधे, बालाऽऽवलीनां = स्त्रीसमूहानां, बवयोरभेदात् वालाऽऽवलीनां = रोमसमूहानां च, वलितैः = पुनः पुनः प्रवृत्तैः (कटाक्षविक्षेपपक्षे), आवर्तितैश्च (सूत्रपक्षे), गुणौघैः=कटाक्षविक्षेपादिसमूहैः (बालाऽऽवलीपक्षे), गुणौघैः = सूत्रसमूहैः (वालावलीपक्षे), विस्तृतवागुरः = प्रसारितमृगबन्धनीकः अपि, मनोभूः = कामदेवः (स एव व्याधः), तदक्षिद्वन्द्वं = नलनेत्रयुग्मम् एव, कालसारं=कनीनिकासारं, कालसाराख्यं च, हरिणं = मृगं, बन्धुम् = आक्रष्टुं (नलनेत्रपक्षे), संयन्तुं च (हरिणपक्षे), प्रभुः = समर्थः, न अभूत् = नो जातः ॥ १९ ॥

अनुवादः—जैसे रोमपङ्क्तियोंसे बटी हुई रस्सियोंसे बने हुए मृगपाशसे व्याध (बहेलिया) कालसार मृगको बाँधनेमें समर्थ होता है, उस तरह अन्तःपुरमें सुन्दरियोंके फैले हुए कटाक्षविक्षेपरूप सूत्रोंसे मृगपाशको फैलाकर कामदेवरूप व्याध नलके काली पुतलियोंवाले नेत्रद्वयरूप मृगको आकृष्ट करनेमें समर्थ नहीं हुआ ॥ १९ ॥

टिप्पणी—बा (वा) लावलीनां = बा (वा) लानानाम् आवल्यः, तासाम् (ष० त०) । गुणौघैः = गुणानाम् ओघाः, तैः (ष० त०) । विस्तृतवागुरः = विस्तृता वागुरा येन सः (बहु०), "वागुरा मृगबन्धनी" इत्यमरः । मनोभूः = मनसि भवतीति, मनस् + भू + क्विप् + सुः (उपपद०) । तदक्षिद्वन्द्वम्=अक्ष्णो द्वन्द्वम् (ष० त०), तस्य अक्षिद्वन्द्वं तत् (ष० त०) । कालसारं=कालः (कनीनिकालक्षणः), सारः (श्रेष्ठांऽशः) यस्य तत् (बहु०) (मृगपक्षे) । कालेन (कनीनिका-

कार्ण्येन) सारं (श्रेष्ठम्) (तृ० त०) । बन्धुं = बन्ध + तुमुन् । इस पद्यमें नेत्र आदिमें हरिणत्व आदिका आरोप शाब्द और कामदेवमें व्याधत्वका आरोप आर्थ है अतः एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार है ॥ १९ ॥

दोर्मूलमालोक्य कचं रुरुत्सोस्ततः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः ।
नाभीमथैष श्लथवाससोऽनुमिमील दिक्षु क्रमकृष्टचक्षुः ॥ २० ॥

अन्वयः—एषः कचं रुरुत्सोः दोर्मूलम् आलोक्य ततः कुचौ अनुलेपयन्त्याः तौ आलोक्य अथ श्लथवाससः नाभीम् आलोक्य अनु दिक्षु क्रमकृष्टचक्षुः (सन्) मिमील ॥ २० ॥

व्याख्या—एषः = नलः, कचं = केशकलापं, रुरुत्सोः=बन्द्धुम् इच्छोः, कस्याश्चित्, दोर्मूलं = बाहुमूलम्, आलोक्य=दृष्ट्वा, ततः = अनन्तरं, कुचौ = स्तनौ, अनुलेपयन्त्याः = विलेपयन्त्याः, तौ = कुचौ, आलोक्य = दृष्ट्वा अथ=अनन्तरं, श्लथवाससः = स्रस्तवसनायाः, नाभीं = नाभिप्रदेशम्, आलोक्य=दृष्ट्वा, अनु = अनन्तरं, दिक्षु = आशासु, पुरःपार्श्वभागेषु, क्रमकृष्टचक्षुः क्रमसमाकृष्टनयनः सन्, मिमील=निमीलितनयनो बभूव ॥ २० ॥

अनुवादः—नलने केशोंको बाँधनेकी इच्छा करनेवाली किसी स्त्रीका बाहुमूल देखकर, तब दोनों कुचोंमें अनुलेप करती हुई किसी स्त्रीके कुचोंको देखकर, तब शिथिल वस्त्रवाली किसी स्त्रीकी नाभि देखकर अनन्तर दिशाओंमें क्रमसे नेत्रोंको खींचकर आँखोंको मूँद लिया ॥ २० ॥

टिप्पणी—रुरुत्सोः = रोद्धुम् इच्छुः तस्याः, । रुध् + सन् + उः + ङस् । दोर्मूलं = दोषो मूलं, तत्, (ष० त०) । आलोक्य = आङ् + लोक + क्त्वा (ल्यप्) । अनुलेपयन्त्याः अनुलेपयतीति, तस्याः । अनु + लिप् + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् + ङस् । श्लथवाससः=श्लथं वासो यस्याः, तस्याः (बहु०) । क्रमकृष्टचक्षुः = कृष्टे चक्षुषी येन सः (बहु०), क्रमेण कृष्टचक्षुः (तृ० त०) । मिमील = मील + लिट् + तिप् । वहाँ उस तरह इच्छाके अनुसार चेष्टा करनेवाली स्त्रियोंमें पापभीरु नलने आँखोंको मूँद लिया, यह भाव है ॥ २० ॥

मीलन्न शेकेऽभिमुखागताभ्यां धर्तुं निपीड्य स्तनसाऽन्तराभ्याम् ।
स्वाऽङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्पुमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते ॥ २१ ॥

अन्वयः—मीलन् सः अभिमुखाऽऽगताभ्यां स्तनसाऽन्तराभ्यां निपीड्य धर्तुं न शेके । स पश्चात् अपेतः स्वाऽङ्गानि विजगौ । ते पुनः पुमङ्गसङ्गोत्पुलके ॥ २१ ॥

व्याख्या—मीलन् = निमीलितनयनः, सः = नलः, अभिमुखाऽऽगताभ्याम् = अन्योन्यसंमुखप्राप्ताभ्यां, स्तनसाऽन्तराभ्यां = पयोधरव्यवहिताभ्यां, काभ्यां चित्स्त्रीभ्यां, निपीड्य = मध्ये निरुध्य, धर्तुं = ग्रहीतुं, न शेके = न शक्यो बभूव। सः = नलः, पश्चात् = पश्चिमभागे, अपेतः = अपसृतः, स्वाऽङ्गानि = निजाऽवयवान्, विजगौ = निनिन्द, परस्त्रीस्पर्शदोषादिति शेषः। ते = स्त्रियौ, पुनः, पुमङ्गसङ्गोत्पुलके = पुमङ्गसङ्गेन (पुरुषाऽङ्गसम्पर्केण) उत्पुलके (रोमाञ्चिते) बभूवतुरिति शेषः ॥ २१ ॥

अनुवादः—आँखोंको मूँदे हुए नलको परस्पर संमुख आयी हुई स्तनोंसे व्यवहित दो स्त्रियाँ नहीं पकड़ सकीं। पीछे हटे हुए नलने स्त्री-संसर्गके कारण अपने अङ्गोंकी निन्दा की। परन्तु वे दोनों स्त्रियाँ पुरुषके अङ्गसम्पर्कसे रोमाञ्चित हो गयीं ॥ २१ ॥

टिप्पणी—मीलन् = मील + लट् (शतृ) + सु। अभिमुखागताभ्याम् = अभिमुखम् आगते, ताभ्याम् (सुप्सुपा०)। स्तनसाऽन्तराभ्याम् = अन्तरेण सहिते सान्तरे (तुल्ययोगबहु०)। स्तनाभ्यां सान्तरे, ताभ्याम् (तृ० त०)। निपीड्य = नि + पीड + क्त्वा (ल्यप्)। धर्तुं = धृञ् + तुमुन्, शेके = शक् + लिट् (कर्ममें) + त। स्वाऽङ्गानि = स्वस्य 'अङ्गानि, तानि (ष० त०)। विजगौ = वि + गै + लिट् + तिप् (णल्)। पुमङ्गसङ्गोत्पुलके = उद्गताः पुलकाः (रोमाञ्चाः) ययोस्ते उत्पुलके (बहु०)। अङ्गस्य सङ्गः (ष० त०) पुंसः अङ्गसङ्गः (ष० त०), तेन उत्पुलके (तृ० त०)। इस पद्यमें भावोदय अलङ्कार है ॥ २१ ॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन् कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे, स्वतः सतां ह्री परतोऽपि गुर्वी ॥ २२ ॥

अन्वयः—निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितः स ताः कटाक्षैः कलयन् रागदर्शी इव भृशं ललज्जे। सतां परतः अपि स्वत एव ह्रीः गुर्वी ॥ २२ ॥

व्याख्या—निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां == नयनमुद्रणव्यक्तदर्शनाभ्यां, कदर्थितः = पीडितः, सः = नलः, ताः = स्त्रीः, कटाक्षैः = नयनप्रान्तभागैः, कलयन् = अवलोकयन्, रागदर्शी इव = अनुरागदर्शक इव, भृशम् = अत्यर्थं, ललज्जे = लज्जितः। सतां = सत्पुरुषाणां, परतः अपि = अन्यस्मात् अपि, स्वत एव = आत्मत एव, ह्रीः = लज्जा, गुर्वी = महती, भवतीति शेषः ॥ २२ ॥

अनुवाद:—आँखोंको मूंदनेसे और स्पष्ट रूपसे देखनेसे पीडित होकर नल उन स्त्रियोंको कटाक्षोंसे देखते हुए अपनेको अनुरागसे देखनेवाला समझकर अत्यन्त लज्जित हुए क्योंकि सज्जनोंको दूसरेसे भी अधिक स्वतः (अपनेसे) ही लज्जा होती है ॥ २२ ॥

टिप्पणी--निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां = स्पष्टं विलोकनम् (सुप्सुपा०) निमीलनं च स्पष्टविलोकनं च, ताभ्याम् (द्वन्द्वः) । कलयन् = कल + णिच् + लट् (शतृ) + सुः । रागदर्शी = रागेण पश्यतीति, राग + दृश् + णिनिः (उपपद०) + सुः । परतः=पर + तसिः । गुर्वी=गुरु + ङीप् + सुः । इस पद्यमें सज्जन अनिच्छासे भी असिद्ध कार्यको करनेपर दूसरेकी अपेक्षा अपनेसे ही लज्जित होता है यह अभिप्राय है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ २२ ॥

रोमाञ्चिताङ्गीमनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन कान्तेन रतेर्निसृष्टः ।
मोघः शरौघः कुसुमानि नाऽभूत्तद्धैर्यपूजां प्रति पर्यवस्यन् ॥ २३ ॥

अन्वय:—रोमाञ्चिताङ्गीम् अनु तत्कटाक्षैः भ्रान्तेन रतेः कान्ते निसृष्टः कुसुमानि शरौघः तद्धैर्यपूजां प्रति पर्यवस्यन् मोघः न अभूत् ॥ २३ ॥

व्याख्या—रोमाञ्चिताऽङ्गीम् = पुलकिताऽवयवां, नलशरीरसम्पर्कादिति शेषः । अनु = उद्दिश्य, तत्कटाक्षैः = नलस्य कटाक्षवीक्षणैः, भ्रान्तेन = भ्रान्तियुक्तेन, "अयम् अस्याम् अनुरक्त इति मन्वानेनेति भावः ।" रतेः कान्तेन = कामदेवेन, निसृष्टः = प्रयुक्तः, कुसुमानि = पुष्पाणि (एव), शरौघः = वाणसमूहः, तद्धैर्यपूजां प्रति = नलधीरत्वाऽर्चनां प्रति, पर्यवस्यन् = परिणमन्, पूजात्वेनेति शेषः । मोघः = व्यर्थः, न अभूत् = न अविद्यत ॥ २३ ॥

अनुवाद:—नलके अङ्गोंके सम्पर्कसे रोमाञ्चित शरीरवाली स्त्रीको उद्देश्य करके किये गये नलके कटाक्षोंसे "ये इस (स्त्री) में अनुरक्त हुए हैं" ऐसा समझकर भ्रान्तिवाले कामदेवसे छोड़े गये फूलस्वरूप बाणोंका समूह नलके धैर्यकी पूजाके प्रति परिणत होता हुआ व्यर्थ नहीं हुआ ॥ २३ ॥

टिप्पणी—रोमाञ्चिताऽङ्गी = रोमाञ्चितानि अङ्गानि यस्याः सा, ताम् (वहु०) । तत्कटाक्षैः = तस्य कटाक्षाः, तैः (ष० त०) । भ्रान्तेन = भ्रम् + क्तः + टा । निसृष्टः = नि + सृज् + क्तः + सुः । शरौघः = शराणाम् ओघः (ष० त०) । तद्धैर्यपूजां=तस्य धैर्यं (ष० त०), तस्य पूजा, ताम् (ष० त०) । पर्यवस्यन् = परि + अव + सो + लट् (शतृ) + सुः । इस पद्यमें "कुसुमानि शरौघः" यहाँपर व्यस्त रूपक है और नलके धैर्यभङ्गके लिए प्रेरित फूल नलके

धैर्यको भङ्ग न करनेवाले मात्र नहीं हुए प्रत्युत उनके धैर्य के पूजक हो गये कहनेसे अनर्थकी उत्पत्ति होनेसे विषम अलङ्कार है, दोनों अलङ्कारोंके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ २३ ॥

हित्वैव वर्त्मैकमिह भ्रमन्त्याः स्पर्शः स्त्रियाः सुत्यज इत्यवेत्य ।
चतुष्पथस्याऽऽभरणं बभूव लोकाऽवलोकाय सतां स दीपः ॥ २४ ॥

अन्वयः—सतां स दीपः इह भ्रमन्त्याः स्त्रियाः स्पर्शः एकं वर्त्म हित्वा एव सुत्यज इति अवेत्य लोकाऽवलोकाय चतुष्पथस्य आभरणं बभूव ॥ २४ ॥

व्याख्या—सतां = सज्जनानां; दीपः = श्रेष्ठः, अथवा, सतां = भावानां, दीपः = प्रकाशकः, सः = नलः, इह = अन्तःपुरे, भ्रमन्त्याः = सञ्चरन्त्याः, स्त्रियाः = नार्याः, स्पर्शः = आमर्शनम्, एकम् = अभिन्नं, वर्त्म=मार्गं, हित्वा एव = त्यक्त्वा एव, सुत्यजः = सुखेन त्यक्तुं शक्यः, इति = एवम्, अवेत्य=ज्ञात्वा, निश्चित्येति भावः । लोकाऽवलोकाय = जनदर्शनाय, चतुष्पथस्य = चतुर्मार्गस्य, आभरणं = भूषणं, बभूव = अभूत्, तत्र स्थित इति भावः ॥ २४ ॥

अनुवादः—सज्जनोंमें श्रेष्ठ वा विद्यमान पदार्थोंके प्रकाशक नल यहाँपर घूमती हुई स्त्रीका स्पर्श, मार्गको छोड़कर ही सुखसे छोड़ा जानेवाला है ऐसा निश्चय कर लोगोंको देखनेके लिए चौराहेके भूषणस्वरूप हुए अर्थात् वहाँपर खड़े हुए ॥ २४ ॥

टिप्पणी—भ्रमन्त्याः = भ्रम + लट् (शतृ) + ङीप् + ङस् । हित्वा=हा + क्त्वा । सुत्यजः = सु + त्यज् + खल् + सुः (उपपद०) । अवेत्य=अव + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । लोकाऽवलोकाय = लोकानाम् अवलोकः, तस्मै (ष० त०) । चतुष्पथस्य = चतुर्णां पथां समाहारः चतुष्पथं, तस्य (द्विगुः), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासाऽन्त अप्रत्यय । "पथः संख्याऽव्ययादेः" इससे नपुंसकलिङ्गता । एक रास्तेमें स्त्रियोंकी भीड़ होनेसे चौराहेमें खड़े होकर नलने चारों ओर देखा यह तात्पर्य है । चौराहेमें रखा गया दीप लोगोंको देखनेके लिए साधन होता है ऐसी ध्वनि होती है ॥ २४ ॥

उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृतद् द्रुतेव ।
वियोगिवैरात् कुचयोर्नखाऽङ्कैरर्धेन्दुलीलैर्गलहस्तितेव ॥ २५ ॥

अन्वयः—नृपस्य दृष्टिः उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य अर्धेन्दुलीलैः कुचयोः नखाऽङ्कैः वियोगिवैरात् गलहस्तिता एव द्रुता एव न्यवृतत् ॥ २५ ॥

व्याख्या—नृपस्य = राज्ञो नलस्य, दृष्टिः = नेत्रम्, उद्वर्तयन्त्याः=उद्वर्तनं

(समालम्भनम्) कुर्वत्याः, हृदये = वक्षसि, निपत्य = पतित्वा, अर्धेन्दुलीलैः = अर्धचन्द्राकारैः, कुचयोः = स्तनयोः, नखाऽङ्कः = नखरक्षतैः, वियोगिवैरात् = विरहिविरोधात् हेतोः, गलहस्तिता एव = हस्तेन गले गृहीत्वा नुन्ना एव, द्रुता= त्वरिता एव, न्यवृतत् = न्यवर्तिष्ट, पापभयादिति भावः ॥ २५ ॥

अनुवादः—राजा नलकी दृष्टि उबटन करती हुई किसी स्त्रीके हृदय (छाती) में पड़कर अर्धचन्द्रके समान आकारवाले कुचोंमें स्थित नखक्षतोंसे विरहियोंमें चन्द्रके विरोधके कारण हाथसे गलेमें पकड़कर हटाई गईके समान शीघ्रता करती हुई ही लौट गयी ॥ २५ ॥

टिप्पणी—उद्वर्तयन्त्याः = उद् + वृत् + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् + ङस् । निपत्य = नि + पत् + क्त्वा (ल्यप्) । अर्धेन्दुलीलैः = अर्धं चाऽसौ इन्दुः (क० धा०) । तस्य इव लीला येषां ते अर्धेन्दुलीलाः तैः (व्यधि० बहु०) । "अर्धेन्दुश्चन्द्रशकले गलहस्तनखाऽङ्कयोः" इति विश्वः, नखाऽङ्कैः = नखानाम् अङ्काः, तैः (ष० त०) । वियोगिवैरात् = वियोगिषु वैरं, तस्मात् (स० त०) । गलहस्तिता = गले हस्तः (स० त०), सः सञ्जातः यस्याः सा, गलहस्त + इतच् + टाप् । नखाङ्क (नखक्षत) दर्शन और चन्द्रदर्शन भी विरहियोंको असह्य होनेसे उनमें वैर (शत्रुता) होता है यह तात्पर्य है । गलेमें हाथसे पकड़ा जाता हुआ हटता है यह भाव है । न्यवृतत्=नि + वृत + लुङ् + तिप् । "द्युद्भ्यो लुङि" इससे परस्मैपद होकर "पुषादिद्युताघ्लृदितः परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे 'च्लि' के स्थानमें अङ् । नलकी दृष्टि उद्वर्तन करती हुई स्त्रीके हृदयमें पड़कर···· पापके भयसे शीघ्रतापूर्वक लौट गई, यह भाव है ॥ २५ ॥

तन्वीमुखं द्रागधिगत्य चन्द्रं वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम् ।
द्वयं द्रढीयः कृतमीक्षणाभ्यां तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥ २६ ॥

अन्वयः—तन्वीमुखं चन्द्रं द्राक् अधिगत्य वियोगिनः तस्य निमीलिताभ्याम् इक्षणाभ्यां तदिन्दुता स्वसरोजता च द्वयं द्रढीयः कृतम् ॥ २६ ॥

व्याख्या—तन्वीमुखं = सुन्दरीवदनम् एव, चन्द्रम् = इन्दुं, द्राक्= शीघ्रम्, अधिगत्य=प्राप्य, हठात् दृष्ट्वेति भावः । वियोगिनः=विरहिणः । तस्य= नलस्य, ईक्षणाभ्यां = नेत्राभ्यां तदिन्दुता = तस्य (तन्वीमुखस्य) इन्दुता (चन्द्रता), स्वसरोजता च=स्वयोः (आत्मनः) सरोजता च (कमलता च), द्वयं = द्वितयं, द्रढीयः=दृढतरं, कृतं = विहितम्, अन्यथा कथं तत्समीपे निमीलनमिति भावः ॥ २६ ॥

अनुवाद:—सुन्दरीके मुखरूप चन्द्रको हठात् देखकर वियोगी नलके मूँदे गये दोनों नेत्रोंने सुन्दरीके मुखका चन्द्रत्व और अपना कमलत्व दोनोंको दृढ़तर बना लिया ॥ २६ ॥

टिप्पणी—तन्वीमुखं = तन्व्या मुखं, तत् (ष० त०), तदेव चन्द्रम्, यह व्यस्त-रूपक है। अधिगत्य=अधि + गम् + क्त्वा (ल्यप्)। वियोगिनः=वियोग + इनिः + ङस्। तदिन्दुता = तस्य इन्दुता (ष० त०)। स्वसरोजता = स्वयोः सरोजता (ष० त०)। द्वयं = द्वि + तयप् (अयच्) + सुः। द्रढीयः = अतिशयेन दृढम्, दृढ + ईयसुन्, "र ऋतोर्हलादेर्लघोः" इस सूत्र से "ऋ" के स्थानमें 'र' भाव। नलके नेत्रोंने दमयन्तीके मुखको देखकर उसका चन्द्रभाव और अपना कमलभाव न किया होता तो उसको देखनेसे नेत्रोंका मूँदा जाना कैसे होता? सुन्दरीका मुख चन्द्रके समान मनोहर और नलके नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं यह भाव प्रतीत होता है। परस्त्रीका मुख देखना अनुचित समझकर नलने नेत्रोंको मूँद लिया कहनेसे उनकी धीरोदात्तता प्रतीत होती है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ २६ ॥

चतुष्पथे तं विनिमीलिताक्षं चतुर्दिगेताः सुखमग्रहीष्यन्।
संघट्य तस्मिन् भृशभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेददास्यन् ॥ २७ ॥

अन्वयः—चतुष्पथे विनिमीलिताक्षं तं चतुर्दिगेताः ताः तस्मिन् संघट्य भृशभीनिवृत्ताः ता एव तद्वर्त्म न अदास्यन् चेत् सुखम् अग्रहीष्यन् ॥ २७ ॥

व्याख्या—चतुष्पथे = चतुर्मार्गे, विनिमीलिताक्षं = मुद्रितनयनं, परस्त्री-दर्शनभियेति शेषः। तं = नलं, चतुर्दिगेताः = चतसृभ्यो दिग्भ्यः (काष्ठातः) एताः (आगताः), ताः = नार्यः, तस्मिन् = नले, संघट्य = अभिहत्य, भृशभी-निवृत्ताः = गाढभयपरावृत्ताः, ता एव = ता नार्य एव, तद्वर्त्म = नलमार्गं, न अदास्यन् चेत् = नो दद्युश्चेत्, सुखम् = अनायासेन, अग्रहीष्यन् = गृह्णीयुः ॥ २७ ॥

अनुवाद:—चौराहेमें आँखोंको मूँदनेवाले नलमें चारों दिशाओंसे आयी हुई स्त्रियाँ ठोकर खाकर अत्यन्त भयसे हटती हुई उनको मार्ग न देतीं तो अनायास ही नलको पकड़ लेतीं ॥ २७ ॥

टिप्पणी—चतुष्पथे = चतुर्णां पथां समाहारः चतुष्पथं, तस्मिन् (द्विगु०)। विनिमीलिताक्षं = विनिमीलिते अक्षिणी येन, तम् (बहु०)। चतुर्दिगेताः = चतसृभ्यो दिग्भ्य एताः, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपद

समास। संघटय = सं + घट + क्त्वा (ल्यप्); भृशभीनिवृत्ताः = भृशं भीः (सुप्सुपा०)। भृशभिया निवृत्ताः (तृ० त०)। तद्वर्त्म = नलस्य वर्त्म, तत् (प० त०)। अदास्यन् = दा + लृङ् (क्रियाऽतिपत्तिमें) + झिः। अग्रहीष्यन् = ग्रह + लृङ् (क्रियाऽतिपत्तिमें) + झिः। नलमें ठोकर खाकर नलमें भूतकी शङ्का कर उन्हें मार्ग देकर भयसे भागनेवाली वे स्त्रियां कैसे नलको पकड़ पातीं, यह अभिप्राय है॥ २७॥

संघट्टयन्त्यास्तरसाऽऽत्मभूषाहीराऽङ्कुरप्रोतदुकूलहारी।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसन्तापमवाप भूपः॥ २८॥

अन्वयः—तरसा संघट्टयन्त्याः तन्व्याः आत्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी भूपः नितम्बं दिशा परिधाप्य तत्पापसन्तापम् अवाप॥ २८॥

व्याख्या—तरसा = वेगेन, संघट्टयन्त्याः = अभिघ्नन्त्याः, तन्व्याः = कस्याश्चिन्नार्याः, आत्मभूषाहीराऽङ्कुरप्रोतदुकूलहारी = स्वभूषणवज्रकोटिसक्तक्षौमहारी, भूपः = राजा नलः, नितम्बं = तस्याः कटिपश्चाद्भागं, दिशा= काष्ठया, परिधाप्य = आच्छाद्य, दिगम्बरं कृत्वा इति भावः। तत्पापसन्ताप= वस्त्राऽपहरणकल्मषदुःखम्, अवाप = प्राप्तवान्॥ २८॥

अनुवादः—वेगके कारण ठोकर खानेवाली किसी स्त्रीके अपने भूषण हीरोंकी नोकमें फँसे हुए वस्त्रको हरण करनेवाले राजा नलने उसके नितम्बको, दिगम्बर (वस्त्ररहित) कर उस पापसे सन्तापको प्राप्त किया॥ २८॥

टिप्पणी—संघट्टयन्त्याः = सं + घट्ट + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् + ङस्। आत्मभूषाहीराऽङ्कुरप्रोतदुकूलहारी = आत्मनः भूषाः (ष० त०), तासु हीराः (स० त०) तेषाम् अङ्कुराः (ष० त०), प्रोतं च तद् दुकूलम् (क० धा०), आत्मभूषाहीराऽङ्कुरेषु प्रोतदुकूलम् (स० त०), तत् हरतीति, आत्मभूषाहीराऽङ्कुरप्रोतदुकूल + हृ + णिनिः (उपपद०) + सुः। परिधाप्य= परि + धा + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। तत्पापसन्तापं=तेन पापम् (तृ० त०), तेन सन्तापः, तम् (तृ० त०)। अवाप = अव + आप् + लिट् + तिप् (णल्)॥ २८॥

हतः कयाचित् पथि कन्दुकेन संघटय भिन्नः करजैः कयाऽपि।
कयाचताऽक्तः कुचकुङ्कुमेन संभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः॥ २९॥

अन्वयः—स पथि कयाचित् कन्दुकेन हतः । कयाऽपि संघटय करजैः भिन्नः। कयाचन कुचकुङ्कमेन अक्तः, (एवम्) स ताभिः संयुक्तकल्पः बभूव ॥ २९॥

व्याख्या—सः = नलः, पथि=मार्गे, कयाचित् = नार्या, कन्दुकेन = गेन्दुकेन, हतः = ताडितः । कयाऽपि = नार्या, संघटय=अभिहत्य, करजैः = नखैः, भिन्न = विदारितः, कयाचन = नार्या, कुचकुङ्कुमेन = स्तनकाश्मीरेण, अक्तः = लिप्तः । एवं सः = नलः, ताभिः = पूर्वोक्ताभिर्नारीभिः, संभुक्तकल्पः = उपभुक्तसदृशः, बभूव = संजातः ॥ २९ ॥

अनुवादः—नल मार्गमें किसा स्त्रीसे गेंदसे ताडित हुए, किसी स्त्रीसे ठोकर खाकर नाखूनोंसे विदारित हुए और किसी स्त्रीके स्तनोंके केसरसे लिप्त हो गये, इस प्रकार वे उन स्त्रियोंसे उपभुक्तके सदृश हुए ॥ २९ ॥

टिप्पणी—हतः = हन् + क्तः (कर्ममें) + सुः । संघटय = सं + घट + क्त्वा (ल्यप्) । करजैः = कर + जन् + डः (उपपद०) + भिस् । भिन्नः = भिद् + क्तः + सुः । कुचकुङ्कुमेन = कुचयोः कुङ्कुमः, तेन (ष० त०) अक्तः = अञ्जू + क्तः (कर्ममें) + सुः ॥ २९ ॥

छायामयः प्रैक्षि कयाऽपि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः ।
तच्चित्तयाऽन्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ॥ ३० ॥

अन्वयः—कयाऽपि निजे हारे छायामयः स प्रैक्षि, अथ गच्छन् (अत एव) न ईक्ष्यमाणः (सन्) तच्चित्तया तन्व्या स्वस्य एव हृदयं प्रविष्ट इति अन्तः चारु निरचायि ॥ ३० ॥

व्याख्या—कयाऽपि = नार्या, निजे = स्वकीये, हारे = मौक्तिकमालायां, छायामयः = प्रतिबिम्बरूपः, सः = नलः, प्रैक्षि = प्रेक्षितः, अथ = अनन्तरं, गच्छन् = अपसरन्, अत एव न ईक्ष्यमाणः = अनिरीक्ष्यमाणः सन्, तच्चित्तया= चित्तस्थितनलया, "तच्चिन्तया" इति पाठे नलचिन्तया इत्यर्थः । तन्व्या = नार्या, स्वस्य एव = आत्मन एव, हृदयं प्रविष्टः = हृदये कृतप्रवेशः, इति = एवम्, अन्तः = अन्तःकरणे, चारु = साधु, निरचायि = निश्चितः ॥ ३० ॥

अनुवादः—किसी स्त्रीने अपने हारमें प्रतिबिम्बरूप नलको देखा । तब जाते हुए उनको न देखकर अपने चित्तमे नलके रहनेसे उस स्त्रीने नलने मेरे ही हृदयमें प्रवेश किया है, इस प्रकारसे अपने अन्तःकरणमें अच्छी तरह निश्चय किया ॥ ३० ॥

टिप्पणी—छायामयः = छाया + मयट् + सुः। प्रैक्षि=ईक्ष + लुङ् (कर्ममें) + त। गच्छन् = गम् + लट् (शतृ) + सुः। ईक्ष्यमाणः = ईक्ष् + लट् (कर्ममें) (शानच्) + सुः। तच्चित्तया = स चित्ते यस्याः सा, तया (व्यधि० बहु०)। प्रविष्टः = प्र + विश् + क्तः + सुः। निरचायि = निर् + चि + लुङ् (कर्ममें) + त॥ ३०॥

तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदमू रतीशः।
रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु नूनं नाऽमूषु निर्णीतरतिः कथञ्चित्॥ ३१॥

अन्वयः—रतीशः तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः अमूः प्रत्येकम् आलिङ्गत्, रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु अमूषु स कथञ्चित् निर्णीतरतिः न अभूत् नूनम्॥ ३१॥

व्याख्या—रतीशः = कामः, तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः = नलप्रतिबिम्ब-मञ्जुत्वाऽपहृतधीरभावाः, अमूः = नारीः, प्रत्येकम्=एकैकाम् एव, आलिङ्गत् = आलिङ्गितवान्, परं रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु = रतिसदृशीषु, अमूषु = नारीषु मध्ये, सः = कामः, कथञ्चित् = केनाऽपि प्रकारेण, निर्णीतरतिः = निश्चितनिजपत्नीकः, न अभूत्=न संवृत्तः, नूनम्, अन्यथा कथं प्रत्येकमालिङ्गेदि-त्यर्थः। सर्वास्वपि मदनविकारः प्रादुर्भूत इति तात्पर्यम्॥ ३१॥

अनुवादः—कामदेवने नलके प्रतिबिम्बके सौन्दर्यसे धैर्यरहित उन स्त्रियोंमें प्रत्येकका आलिङ्गन किया परन्तु रतिके सदृश उन स्त्रियोंके बीचमें किसी भी प्रकारसे कामदेव रतिका निश्चय नहीं कर सका॥ ३१॥

टिप्पणी—रतीशः = रतेः ईशः (ष० त०)। तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः= तस्य छाया तच्छायम् (ष० त०) "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इससे नपुंसकलिङ्गता। तच्छायस्य सौन्दर्यम् (ष० त०), निपीतं धैर्यं यासां ताः (बहु०)। तच्छायसौन्दर्येण निपीतधैर्याः, ताः (तृ० त०)। रतिप्रति-द्वन्द्वतमासु = अतिशयेन प्रतिद्वन्द्वाः प्रतिद्वन्द्वतमाः (प्रतिद्वन्द्व + तमप् + टाप्)। रतेः प्रतिद्वन्द्वतमाः तासु (ष० त०)। निर्णीतरतिः = निर्णीता रतिः येन सः (बहु०।) अभूत् = भू + लुङ् + तिप्। कामदेव उन स्त्रियोंमें रतिका निश्चय करता तो क्यों प्रत्येकको आलिङ्गन करता? नलके प्रतिबिम्ब को देखने से सब स्त्रियोंमें काम विकार उत्पन्न हुआ, यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ३१॥

तस्मादवश्यादपि नाऽतिबिभ्युस्तच्छायरूपाऽऽहितमोहलोलाः।
मन्यन्त एवाऽऽवृतमन्मथाज्ञाः प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि॥ ३२॥

अन्वयः—सुदृशः तच्छायरूपाऽऽहितमोहलोलाः अदृश्यात् अपि तस्मात् न अतिबिभ्युः । (तथाहि) आदृतमन्मथाऽऽज्ञाः (सत्यः) स्वान् प्राणान् अपि तृणानि मन्यन्त एव ॥ ३२ ॥

व्याख्या—सुदृशः = नार्यः, तच्छायरूपाहितमोहलोलाः = नलप्रतिबिम्ब-सौन्दर्यजनितचित्तभ्रमाऽऽसक्ताः (सत्यः), अदृश्यात् अपि = अदर्शनीयात् अपि, तस्मात् = नलात् भयहेतोः, न अतिबिभ्युः = न अतिभयं प्रापुः । शृङ्गाररसेन भयानकरसस्तिरस्कृत इति भावः । तथा हि आदृतमन्मथाज्ञाः = सम्मानित-मदनादेशाः, मन्मथाऽधीना इति भावः, तादृश्यः = सत्यः, स्वान् = स्वकीयान्, प्राणान् अपि = असून् अपि, तृणानि = तृणतुल्यान्, मन्यन्त एव = विमृशन्ति एव ॥ ३२ ॥

अनुवादः—स्त्रियाँ नलके प्रतिबिम्बके सौन्दर्यसे उत्पन्न चित्तभ्रमसे आसक्त होती हुई अदर्शनीय नलसे बहुत नहीं डरीं । वे कामदेवके अधीन होती हुई अपने प्राणोंको भी तृणके समान समझने लगी ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—सुदृशः = शोभने दृशौ यासां ताः (बहु०) । तच्छायरूपाऽऽहितमोहलोलाः = तस्य छाया तच्छायम् (ष० त०), तस्य रूपम् (ष० त०), तेन आहितः (तृ० त०), स चाऽसौ मोहः (क० धा०), तेन लोलाः (तृ० त०), "लोलश्चलसतृष्णयोः" इत्यमरः । अतिबिभ्युः = अति + भी + लिट् + झिः (उस्) । आदृतमन्मथाऽऽज्ञाः = मन्मथस्य आज्ञा (ष० त०) । आदृता मन्मथाऽऽज्ञा याभिः ताः (बहु०), प्राणान् = "मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु" इस सूत्रसे चतुर्थीके वैकल्पिक होनेसे द्वितीया । मन्यन्ते = मन + लट् + झः । प्राणोंको तृणवत् समझकर नलके समागममें सतृष्ण उन स्त्रियोंको उनसे डर क्यों होता, यह तात्पर्य है ॥ ३२ ॥

जागर्त्ति तच्छायदृशां पुरा यः स्पृष्टे च तस्मिन् विससर्प कम्पः ।
द्रुतं गते तत्पदशब्दभीत्या स्वहस्तितश्चारुदृशां परं सः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—पुरा तच्छायदृशां चारुदृशां यः कम्पः जागर्ति, तस्मिन् स्पृष्टे सति विससर्प । स द्रुतं गते तत्पदशब्दभीत्या परं स्वहस्तितः ॥ ३३ ॥

व्याख्या—पुरा=पूर्वं, तच्छायदृशां = नलप्रतिबिम्बदर्शिनीनां, चारुदृशां = सुन्दरीणां, यः, कम्पः = वेपथुः जागर्ति = स्फुरति, तस्मिन्=नले, स्पृष्टे सति=आमृष्टे सति, विससर्प = प्रससार, कम्प इति शेषः । सः = कम्पः, द्रुतं = शीघ्रं, गते = अपसृते, नल इति शेषः । तत्पदशब्दभीत्या = नलचरणध्वानभयेन,

परम् = साऽतिशयं, स्वहस्तितः = स्वहस्तवान् कृतः, प्रबलीकृत इति भावः ॥ ३३ ॥

अनुवादः—पहले नलके प्रतिविम्बको देखनेवाली सुन्दरियोंको जो कम्प उत्पन्न हुआ वह नलका स्पर्श करनेपर बढ़ गया। वह कम्प नलके शीघ्र हट जानेपर उनके पैरोंके शब्दके भयसे हाथसे सहारा देनेके समान बहुत ही बढ़ गया ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—तच्छायदृशां = तस्य छाया तच्छायं (ष० त०), तत् पश्यन्तीति तच्छायदृशः, तासाम् (तच्छाय + दृश् + क्विप् + आम्)। चारुदृशां = चारु दृशौ यासां ताश्चारुदृशः, तासाम् (वहु०)। जागर्ति = जागृ + लट् + तिप्। "पुरा" के योगमें "पुरिलुङ् चास्मे" इससे भूत अर्थमें लट्। विससर्प = वि + सृप् + लिट् + तिप् (णल्)। तत्पदशब्दभीत्या = तस्य पदे (ष० त०), तयोः शब्दः (ष० त०), तस्मात् भीतिः तया (प० त०)। स्वहस्तितः = स्वस्य हस्तः (ष० त०), सः अस्याऽस्तीति स्वहस्तः "अर्शआदिभ्योऽच्" इससे अच् प्रत्यय। स्वहस्तः कृतः, स्वहस्त शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् + क्तः (कर्ममें) + सुः। इस पद्यमें भावोदय अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

उल्लास्यतां स्पृष्टनलाऽङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबाऽपि दृष्टिः।
अश्मैव रत्यास्तदनर्ति पत्या छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम ॥ ३४ ॥

अन्वयः—रत्याः पत्या स्पृष्टलाऽङ्ग तासाम् अङ्गम् उल्लास्यताम्। नलच्छायपिब तासां दृष्टिः अपि उल्लास्यताम्। (परम्) छेदे अपि अबोध लोम यत् अहर्षि तत् अश्मा एव अनर्ति ॥ ३४ ॥

व्याख्या—रत्याः = रतिदेव्याः, पत्या = भर्त्रा, कामेनेति भावः। स्पृष्टनलाङ्गम् = आमृष्टनलशरीरं, तासां = नारीणाम्, अङ्गं = देहाऽवयवः, उल्लास्यताम् = उल्लासं प्राप्यतां, नलच्छायपिबा = नलप्रतिबिम्बदर्शिनी, तासां = नारीणां, दृष्टिः अपि = नयनम् अपि, उल्लास्यताम् = उल्लासं प्राप्यताम्, तयोर्द्वयोरपि चेतनत्वादिति भावः। (परम्) छेदेऽपि = कर्तनेऽपि, अवोधं = वोधरहितम्, अचेतनमिति भावः। लोम = रोम, यत् अहर्षि = हर्षितं, तत् अश्मा एव = प्रस्तर एव, अनर्ति = नर्तितः ॥ ३४ ॥

अनुवादः—नलके अङ्गको स्पर्श करनेवाले नारीके अङ्गको कामदेव उल्लासयुक्त करे, इसी तरह नलके प्रतिविम्वको देखनेवाली उनकी दृष्टिको उल्लासयुक्त

करे, परन्तु काटनेपर भी संज्ञासे रहित रोमको भी जिसने हर्षित किया कामदेवने उस पत्थरको ही नचाया ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—स्पृष्टनलाऽङ्गं = नलस्य अङ्गम् (ष० त०), स्पृष्टं नलाऽङ्गं येन तत् (बहु०)। उल्लास्यताम् = उद् + लस + णिच् + लोट् (कर्ममें) + त। नलच्छायपिबा = नलस्य छाया नलच्छायं (ष० त०), तत् पिबतीति, नलच्छाय + पा + शः + टाप् (उपपद०) सुः। "पाघ्राध्माधेड्दृशः शः" इस सूत्रसे श प्रत्यय हुआ है। अबोधम्=अविद्यमानो बोधो यस्य तत् (नञ् बहु०)। अहर्षि = हृष् + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त। अनर्ति = नृत् + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त। पत्थरको नचानेके सदृश रोम-हर्षण (रोमाञ्च) को उत्पन्न करनेवाले कामदेवसे असाध्य क्या है ? यह भाव है। इस पद्यमें रोमहर्षण और अश्मनर्तन वाक्याऽर्थोंके सादृश्यका आक्षेप करनेसे वाक्याऽर्थवृत्ति निदर्शना अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि तं देशमगान्मृगाक्षी।
निपत्य तत्राऽस्य धरारजःस्थे पादे प्रसीदेति शनैरवादीत् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—मृगाक्षी यस्मिन् नलस्पृष्टकम् एत्य हृष्टा तं देशं भूयोऽपि अगात्। तत्र धरारजःस्थे अस्य पादे निपत्य प्रसीद इति शनैः अवादीत् ॥ ३५ ॥

व्याख्या—मृगाक्षी = हरिणलोचना, यस्मिन् = देशे, नलस्पृष्टकं = नलालिङ्गनविशेषम्, एत्य = प्राप्य, हृष्टा = रोमाञ्चिता, तं = पूर्वोक्तं, देशं=स्थान, भूयोऽपि = पुनरपि, अगात् = अगमत्। तत्र = तस्मिन्देशे, धरारजःस्थे = भूमिधूलिस्थिते, अस्य = नलस्य, पादे = पादप्रतिकृतौ, निपत्य = पतित्वा, प्रसीद = अनुगृहाण, पुनः स्पर्शेनेति शेषः। इति = इत्थं, शनैः = मन्दस्वरम्, अवादीत् = उक्तवती, स्पर्शं तु न लेभे, तस्याऽपगमादिति भावः ॥ ३५ ॥

अनुवादः—मृगनयना जिस स्थानमें नलके आलिङ्गनविशेषको पाकर रोमाञ्चयुक्त हुई थी उस स्थानको फिर प्राप्त हुई। वहाँपर उसने धरतीकी धूलिमें पड़े हुए नलके चरणचिह्नमें गिरकर "आप अनुग्रह करें" ऐसा धीरेसे कहा ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—मृगाक्षी = मृगस्य इव अक्षिणी यस्याः सा (व्यधिक० बहु०)। नलस्पृष्टकं = नलस्य स्पृष्टकं, तत् (ष० त०)। आलिङ्गनविशेषको स्पृष्टक कहते हैं, उसका लक्षण रतिरहस्यमें ऐसा दिया है—

"यद्योषितः संमुखमागताया अन्याऽपदेशाद् व्रजतो नरस्य ।
गात्रेण गात्रं घटते तदेतदालिङ्गनं स्पृष्टकमाहुरार्याः ॥

अर्थात् संमुख आई हुई स्त्रीके शरीरसे दूसरे बहानेसे चलते हुए पुरुषका शरीर जो संघटित होता है उसे "स्पृष्टक" नामका आलिङ्गन कहते हैं। अगात् = इण् + लुङ् + तिप् । धरारजःस्थे = धराया रजः (ष० त०), तस्मिन् तिष्ठतीति तस्मिन्, धरारजः + स्था + कः (उपपद०) + ङि । निपत्य = नि + पत् + क्त्वा (ल्यप्) । प्रसीद = प्र + सद् + लोट् + सिप् । अवादीत् = वद् + लुङ् + तिप् ॥ ३५ ॥

भ्रमन्नमुष्यामुपकारिकायामायास्य भैमीविरहात् क्रशीयान् ।
असौ मुहुः सौधपरम्पराणां व्यधत्त विश्रान्तिमुपत्यकासु ॥ ३६ ॥

अन्वयः—भैमीविरहात् क्रशीयान् असौ अमुष्याम् उपकारिकायां भ्रमन् आयास्य मुहुः सौधपरम्पराणाम् उपत्यकासु विश्रान्ति व्यधत्त ॥ ३६ ॥

व्याख्या—भैमीविरहात् = दमयन्तीवियोगात्, क्रशीयान् = कृशतरः, असौ = नलः, अमुष्याम्, उपकारिकायां = राजसद्मनि, भ्रमन् = सञ्चरन्, आयास्य = परिश्रम्य, मुहुः=वारं-वारम्, सौधपरम्पराणां = राजसदनावलीनाम् उपत्यकासु = आसन्नभूमिषु, विश्रान्तिं = विश्रामं, व्यधत्त = विहितवान्, विश्रान्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके वियोगसे अत्यन्त कृश नल, राजाके महलमें घूमते हुए थककर वारंवार राजभवनोंके निकट भूमियोंमें विश्रान्त हो गये ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—भैमीविरहात् = भैम्या विरहः तस्मात् (ष० त०) । क्रशीयान् = अतिशयेन कृशः, कृश + ईयसुन् + सुः, "र ऋतोर्हलादेर्लघोः" इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमें "र" आदेश । सौधपरम्पराणां = सौधानां परम्पराः, तासाम् (ष० त०) । उपत्यकासु = "उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नाऽऽरूढयोः" इस सूत्रसे त्यकन् । उप + त्यकन् + टाप् + सुप् । यहाँपर सौधोंकी ऊँचाईसे पर्वतमें सदृशता होनेसे यह लाक्षणिक प्रयोग किया गया है । विश्रान्ति = वि + श्रम् + क्तिन् + अम् । व्यधत्त = वि + धाञ् + लङ् + त । नारायण पण्डितने "उपत्यकासु" इसके स्थानमें "अधित्यकासु" ऐसा पाठ माना है, उसका "ऊर्ध्वभूमिषु" यह पर्याय है और ऊँची भूमियोंमें यह अर्थ करना चाहिए ॥ ३६ ॥

उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथाऽदर्शि तथैव भैमी ।
तेनाऽभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाऽजनि विस्मयाय ? ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हंसेन नलिन्या दले भैमी यथा उल्लिख्य तस्मै अदर्शि, तथैव तेन अभिलिख्य उपहृतस्वहारा दृष्टा (सती) कस्या विस्मयाय न अजनि ? ॥३७॥

व्याख्या—हंसेन = चक्राऽङ्केन, नलिन्याः = कमलिन्याः, दले = पत्रे, भैमी = दमयन्ती, यथा = येन प्रकारेण, उल्लिख्य = अभिलिख्य, पूर्वमिति शेषः। तस्मै = नलाय, अदर्शि = दर्शिता, तथैव = तेन प्रकारेणैव, तेन=नलेन, अभिलिख्य = उल्लिख्य, स्वमनोविनोदार्थमिति शेषः। उपहृतस्वहारा = कण्ठार्ऽपितनिजमुक्ताहारा, दमयन्तीति शेषः, दृष्टा = अवलोकिता, कस्याः= नार्याः, विस्मयाय = आश्चर्याय, न अजनि = न जाता, सर्वस्या अपि नार्या विस्मयाय जातेति भावः ॥३७॥

अनुवादः—हंसने कमलके पत्तेपर दमयन्तीको लिखकर जैसे नलको दिखलाया था, उसी तरह उन्होंने दमयन्तीको लिखकर उनके गलेमें अपने हारको समर्पित किया था, उसे देखकर किस स्त्रीको आश्चर्य नहीं हुआ ? ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—उल्लिख्य = उद् + लिख + क्त्वा (ल्यप्)। तस्मै "अदर्शि" दर्शन क्रियाके ग्रहणसे सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी। उपहृतस्वहारा = उपहृतः स्वः (स्वकीयः) हारः यस्याः सा (बहु०) ॥ ३७ ॥

कौमारगन्धीनि निवारयन्ती वृत्तानि रोमाऽऽवलिवेत्रचिह्ना।
साऽऽलिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वाःस्थामवस्थां परिचेतुकामा ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तेन यौवनीयद्वाःस्थाम् अवस्थां परिचेतुकामा (अत एव) रोमाऽऽवलिवेत्रचिह्ना कौमारगन्धीनि वृतानि निवारयन्ती सा आलिख्य ऐक्ष्यत ॥ ३८ ॥

व्याख्या—तेन = नलेन, यौवनीयद्वाःस्थां = तारुण्यसम्बन्धिद्वाराऽवस्थिताम्, अवस्थां = दशां, दौवारिकदशां यौवनप्रवेशदशां चेति भावः। परिचेतुकामा = अभ्यसितुकामा, अत एव रोमाऽऽवलिवेत्रचिह्ना = लोमश्रेणीरूपदण्डचिह्नयुक्ता, कौमारगन्धीनि = शैशवसंस्पर्शीनि, वृत्तानि = चरित्राणि, चापलानीति भावः। निवारयन्ती = निषेधयन्ती, सा = दमयन्ती, आलिख्य = अभिलिख्य, ऐक्ष्यत = ईक्षिता, कौमारयौवनवयःसन्धौ विद्यमानां दमयन्तीमभिलिख्य नलोऽपश्यदिति भावः ॥ ३८ ॥

अनुवादः— नलने यौवनके द्वारमें स्थित अवस्थाका परिचय करनेकी इच्छा करनेवाली अत एव रोमश्रेणीरूप वेतके दण्डके चिह्नवाली और बचपनसे होनेवाली चञ्चलताका निवारण करनेवाली दमयन्तीको लिखकर देखा ॥३८॥

टिप्पणी—यौवनीयद्वाःस्थाम् = यौवनस्य इयं यौवनीया, यौवन शब्दसे "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् प्रत्यय। यौवनीया चाऽसौ द्वाः (क० धा०), तस्यां तिष्ठतीति यौवनीयद्वाःस्था, ताम्, यौवनीयद्वार् + स्था + क + (उपपद०) + अम्। परिचेतुकामा = परिचेतुं कामः यस्याः सा (बहु०), "तुं काममनसोरपि" इससे 'तुम्' के मकारका लोप। रोमाऽऽवलिवेत्रचिह्ना = रोम्णाम् आवलिः (ष० त०), सा एव वेत्रं चिह्नं यस्याः सा (बहु०)। कौमारगन्धीनि = कुमार्या भावः कौमारं, कुमारी + अण्। तस्य गन्धः = लेशः (ष० त०)। सोऽस्ति येषां, तानि, कौमारगन्ध + इनिः + शस्। निवारयन्ती = निवारयतीति, नि + वृञ् + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् + सुः। ऐक्ष्यत = ईक्ष + लङ् (कर्ममें) + त। दमयन्तीका बचपन समाप्त हो रहा है और वह युवाऽवस्थाके द्वार में अवस्थित है जैसे द्वारपालिका बेतकी छड़ी लेकर द्वारमें रहकर चापल्यका निवारण करती है वैसे ही वह भी यौवनमें उत्पन्न रोमावलीरूप वेत्रयष्टिको लेकर कुमारीभावमें होनेवाले चापल्यका निवारण कर रही है ऐसी दमयन्तीको राजाने चित्रित किया, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे।
चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे अध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रं पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति चित्राणि चक्रे ॥ ३९ ॥

व्याख्या—सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे = घनकर्पूरपांसुक्रीडितबालसङ्घे, अध्वनि = मार्गे, चक्रवर्तिचिह्नं = सार्वभौमलक्षणं, तदङ्घ्रिप्रतिमासु = नलचरणप्रतिबिम्बेषु, चक्रं = चक्ररेखाः, पश्याः = पश्यन्तीः, पुरन्ध्रीः प्रति = स्त्रिय उद्दिश्य, चित्राणि = आश्चर्याणि, चक्रे = चकार, नल इति शेषः ॥ ३९ ॥

अनुवादः—जहाँपर गाढ कपूरकी धूलिमें कुमार लोग क्रीडा कर रहे हैं ऐसे मार्गमें चक्रवर्तीके चिह्नवाले नलके चरणोंके प्रतिबिम्बोंमें स्थित चक्ररेखाओंने देखनेवाली स्त्रियोंमें आश्चर्य उत्पन्न किया ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे = चन्द्रस्य रजांसि (ष० त०), "अथ कर्पूरमस्त्रियाम्। घनसारश्चन्द्रसंज्ञः" इत्यमरः। सान्द्राणि च तानि चन्द्ररजांसि (क० धा०)। कुमाराणां चक्रम् (ष० त०)। कृता क्रीडा येन तत् (बहु०)।

तक्रीडं कुमारचक्रं यस्मिन् सः (बहु०) । सान्द्रचन्द्ररजोभिः कृतक्रीडकुमारचक्र तस्मिन् (तृ० त०) । चक्रवर्तिचिह्नं=चक्रे (राजमण्डले) वर्तते (प्रधानत्वेन) तच्छील: चक्रवर्ती, चक्र+वृत्+णिनिः (उपपद०), "चक्रवर्ती सार्वभौमः" इत्यमरः । चक्रवर्तिनः चिह्नं, तत् (ष० त०) । तदङ्घ्रिप्रतिमासु = तस्य अङ्घ्री (ष० त०), तयोः प्रतिमाः, तासु (ष० त०) । पश्याः = पश्यन्तीति, ताः, दृशधातुसे "पाघ्राध्माधेड्दृशः शः" इस सूत्रसे शप्रत्यय । चक्रे=कृ+ लिट्+त ॥ ३९ ॥

तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम् ।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय ॥ ४० ॥

अन्वयः—तारुण्यपुण्याम् अन्योन्यम् अभिख्याम् अवलोकयन्त्योः एणेक्षणयोः मध्ये गच्छन् स मूहूर्तम् आकस्मिकाऽऽच्छादनविस्मयाय बभूव ॥ ४० ॥

व्याख्या—तारुण्यपुण्यां = यौवनसुन्दरीम्, अन्योन्यं = मिथः, अभिख्यां = शोभाम्, अवलोकयन्त्योः = पश्यन्त्योः, एणेक्षणयोः = मृगाक्ष्योः, मध्ये = अन्तरे, गच्छन् = व्रजन्, = सः = नलः, मुहूर्तं = क्षणमात्रम्, आकस्मिकाच्छादन-विस्मयाय=आकस्मिकाच्छादनेन (निर्हेतुकव्यवधानेन) विस्मयाय (आश्चर्याय), बभूव = अभवत् ॥ ४० ॥

अनुवादः—यौवनसे सुन्दर और परस्पर शोभाको देखनेवाली मृगनयना दो स्त्रियोंके बीचमें जाते हुए नलने कुछ क्षणतक अकस्मात् व्यवधान होनेसे आश्चर्यको उत्पन्न किया ॥ ४० ॥

टिप्पणी—तारुण्यपुण्यां = तारुण्येन पुण्या, ताम् (तृ० त०), "पुण्यं तु चार्वपि" इत्यमरः । एणेक्षणयोः = एणस्य (मृगस्य) इव ईक्षणे ययोस्ते एणे-क्षणे, तयोः (व्यधिकरणबहु०) । आकस्मिकाऽऽच्छादनविस्मयाय = आकस्मिकं च तत् आच्छादनम् (क० धा०), तेन विस्मयः, तस्मै (तृ० त०) । बभूव = भू+लिट्+तिप् (णल्) । इस पद्यमें व्यवधानके कारणके बिना व्यवधानकी उक्ति होनेसे विभावना अलङ्कार है ॥ ४० ॥

पुरःस्थितस्य क्वचिदस्य भूषारत्नेषु नार्यः प्रतिबिम्बितानि ।
व्योमन्यदृश्येषु निजान्यपश्यन् विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—क्वचित् नार्यः पुरःस्थितस्य अस्य अदृश्येषु भूषारत्नेषु निजानि प्रतिबिम्बितानि व्योमनि विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः अपश्यन् ॥ ४१ ॥

व्याख्या—क्वचित् = कुत्रचित् देशें, नार्यः = स्त्रियः, पुरः स्थितस्य = पुरतोविद्यमानस्य, अस्य = नलस्य, अदृश्येषु = अदर्शनीयेषु, भूषारत्नेषु = भूषणमणिषु, निजानि = स्वकीयानि, प्रतिबिम्बितानि = प्रतिबिम्बानि, व्योमनि = आकाशे, विस्मित्य विस्मित्य = भूयो भूयो विस्मिता भूत्वा, सहस्रकृत्वः = सहस्रवारम्, अपश्यन् = व्यलोकयन् ॥ ४१ ॥

अनुवादः—किसी स्थानमें स्त्रियोंने सामने रहे हुए नलके अदृश्य भूषणोंके रत्नोंमें अपने प्रतिबिम्बों को आकाशमें बारम्बार आश्चर्य मानकर हजारों बार देखा ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—अदृश्येषु=न दृश्यानि, तेषु (नञ् ०) । भूषारत्नेषु = भूषाणां, रत्नानि तेषु (ष० त०) । विस्मित्य=वि + स्मिङ् + क्त्वा (ल्यप्०) । सहस्रकृत्वः= सहस्र शब्दसे "संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्" इस सूत्रसे कृत्वसुच् प्रत्यय (अव्यय०) । अपश्यन् = दृश् + लङ् + झिः । इस पद्यमें आधारके बिना प्रतिबिम्बको देखनेकी उक्तिसे अकारणमें कार्यकी उत्पत्ति होनेसे विभावना अलङ्कार है ॥ ४१ ॥

तस्मिन् विषज्यार्धपथान्निवृत्तं तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।
विस्मेरतामापुरनुस्मरन्त्यः क्षिप्तं मिथः कन्दुकमिन्दुमुख्यः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—इन्दुमुख्यः मिथः क्षिप्तं तस्मिन् विषज्य अर्धपथात् निवृत्तं तदङ्ग-रागच्छुरितं कन्दुकं निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्यः विस्मेरताम् आपुः ॥ ४२ ॥

व्याख्या—इन्दुमुख्यः = चन्द्रवदनाः स्त्रियः, मिथः=परस्परं, क्षिप्तं = प्रेरितं, किन्तु तस्मिन्=नले, विषज्य=संघट्य, अर्धपथात् =अर्धमार्गात्, निवृत्तं=प्रत्याग-च्छन्तं, तदङ्गरागच्छुरितं = नलाऽङ्गरागरुषितं, कन्दुकं = गेन्दुकं, निरीक्ष्य = दृष्ट्वा, अनुस्मरन्त्यः = अनुसन्दधानाः, कुत एतत् इति शेषः । विस्मेरताम् = अतिविस्मयशीलताम्, आपुः = प्रापुः ॥ ४२ ॥

अनुवादः—सुन्दरियाँ परस्परमें फेंके गये परन्तु नलमें ठोकर खाकर आधे मार्गसे लौटे हुए नलके अङ्गके चन्दन आदि लेपन द्रव्यसे सम्बद्ध गेंदको देखकर (किसका अङ्गराग इसमें लगा तथा आधे मार्गसे कैसे लौटा ?) ऐसा अनुसन्धान करती हुई अत्यन्त आश्चर्ययुक्त हो गयीं ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—इन्दुमुख्यः = इन्दुरिव मुखं यासां ताः (बहु०) । विषज्य=वि+ सञ्ज + क्त्वा (ल्यप्) । अर्धपथात् = अर्धश्चाऽसौ पन्थाः, अर्धपथः, तस्मात् (कर्म०), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासाऽन्त अप्रत्यय । तदङ्ग-

रागच्छुरितं = अङ्गे रागः (स० त०), तस्य अङ्गरागः (ष० त०), तेन छुरितः, तम् (तृ० त०)। विस्मेरतां = विस्मयशीलाः, विस्मेराः, वि + स्मिङ् + रः + टाप्। "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इससे रप्रत्यय। विस्मेराणां भावः, तत्ता, ताम् विस्मेर + तल् + टाप् + अम् ॥ ४२ ॥

पुंसि स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते भूत्वाऽप्यवीक्षानियमव्रतिन्यः।
छायासु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोरानशिरे महिष्यः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—महिष्यः स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते पुंसि अविक्षानियमव्रतिन्यो भूत्वा अपि भुवि तस्य छायासु रूपं वीक्ष्य दृशोः फलम् आनशिरे ॥ ४३ ॥

व्याख्या—महिष्यः = राजपत्न्यः, स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते = निजपत्यतिरिक्तभूते, पुंसि = पुरुषे, परपुरुषे विषय इति भावः। अवीक्षानियमव्रतिन्यो भूत्वा अपि=अदर्शनाऽवश्यंभावव्रतवत्यो भूत्वा अपि, भुवि = कुट्टिमभूमौ, तस्य = नलस्य, छायासु = प्रतिबिम्बेषु, रूपम् = आकारं सौन्दर्यं वा, वीक्ष्य=दृष्ट्वा, दृशोः = नेत्रयोः, फलं=साफल्यम्, आनशिरे=प्राप्तवत्यः ॥ ४३ ॥

अनुवादः—राजपत्नियोंने अपने पतिसे अतिरिक्त पुरुष—(परपुरुष) में न देखनेके संकल्पमें व्रतवाली होकर भी कुट्टिम भूमिमें नलके प्रतिबिम्बोंमें आकर वा सौन्दर्य देखकर नेत्रकी सफलता पा ली ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते = स्वस्या भर्ता (ष० त०)। व्यतिरिक्तो भूतः (सुप्सुपाः)। स्वभर्तुः व्यतिरिक्तभूतः, तस्मिन् (ष० त०)। अवीक्षानियमव्रतिन्यः = न वीक्षा (नञ् ०)। तस्या नियमः (ष० त०) तेन व्रतिन्यः (तृ० त०)। आनशिरे = अश् + लिट् + झः (इरेच्), "अश्नोतेश्च" इस सूत्रसे नुट् आगम ॥ ४३ ॥

विलोक्य तच्छायमतर्कि ताभिः "पतिं प्रति स्वं वसुधाऽपि धत्ते।
यथा वयं किं मदनं तथैनं त्रिनेत्रनेत्राऽनलकीलनीलम्" ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ताभिः तच्छायं विलोक्य "यथा वयं स्वं पतिं प्रति मदनं दध्महे तथा वसुधा अपि स्वं पतिं प्रति त्रिनेत्रनेत्राऽनलकीलनीलम् एवं धत्ते किम् (इति)" अतर्कि ॥ ४४ ॥

व्याख्या—ताभिः = राजपत्नीभिः, तच्छायं = नलच्छायां, नीलामिति शेषः। विलोक्य = दृष्ट्वा, यथा = येन प्रकारेण, वयं = राजमहिष्यः, स्वं= स्वकीयं, पतिं प्रति =भर्तारं भीमं प्रति, मदनं = कामं (दध्महे = धारयामः)

तथा=तेनैव प्रकारेण, वसुधा अपि=भूमिः अपि, स्वं=स्वकीयं, पतिं प्रति=स्वामिनं भीमं प्रत्येव, त्रिनेत्रनेत्राऽनलकीलनीलं = महेश्वरनेत्राग्निज्वालकृष्णवर्णम्, एनं = मदनं, धत्ते किं=धारयति किम् ? (इति = एवम्) अतर्कि = उत्प्रेक्षितम् ॥ ४४ ॥

अनुवादः—भीमकी रानियोंने नलकी छाया देखकर "जैसे हम लोग अपने पति (भीम) के प्रति कामदेवको धारण करती हैं, वैसे ही पृथिवी भी अपने पति (नल) के प्रति महादेवके नेत्रके अग्निकी ज्वालासे नीलवर्णवाले कामदेवको धारण करती है, ऐसी तर्कना की ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—तच्छायं = तस्य छाया तच्छायं, तत् (ष० त०)। त्रिनेत्रनेत्राऽनलकीलनीलं=त्रीणि नेत्राणि यस्य सः (बहु०), तस्य नेत्रम् (ष० त०) त्रिनेत्रनेत्रम् एव अनलः (रूपक०) । तस्य कीलाः (ष० त०), 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः । त्रिनेत्रनेत्राऽनलकीलैः नीलः तम् (तृ० त०) । धत्ते=धाञ्+लट्+त । अतर्कि=तर्क+णिच्+लुङ्+त । इस पद्यमें जमीनपर पड़ी हुई नलकी छायामें कामदेवकी संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । नलकी छायामें भी स्त्रियोंको कामदेवकी भ्रान्ति हुई तो साक्षात् नलमें क्या कहना है ? ॥४४॥

रूपं प्रतिच्छायिकयोपनीतमालोकि ताभिर्यदि नाम कामम् ।
तथाऽपि नाऽऽलोकि तदस्य रूपं हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् ॥४५॥

अन्वयः—प्रतिच्छायिकया उपनीतं रूपं ताभिः आलोकि यदि, कामं नाम । तथाऽपि हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् अस्य तद् रूपं न आलोकि ॥ ४५ ॥

व्याख्या—नलं पश्यन्तीनां राजमहिषीणां परपुरुषदर्शनेन कथं न व्रतभङ्गः ? इत्यत्राह —रूपमिति । प्रतिच्छायिकया = प्रतिबिम्बेन, उपनीतं = प्रापितं, रूपं = छायात्मकं नलस्वरूपं, ताभिः = राजमहिषीभिः, आलोकि यदि = आलोकितं चेत्, कामं = यथेष्टम्, आलोक्यतामिति शेषः । नाम । तथाऽपि= प्रतिबिम्बोपात्तनलरूपदर्शनेऽपि, हारिद्रभङ्गाय = हरिद्राखण्डाय, वितीर्णभङ्गं= दत्तपराजयम्, अस्य = नलस्य, तद् = प्रसिद्धं, रूपं=स्वरूपं, न आलोकि = न आलोकितं, साक्षाद्रूपदर्शने दोषः, प्रतिच्छायादर्शने न दोष इति भावः ॥ ४५ ॥

अनुवादः—प्रतिबिम्बसे लाये गये नलके रूपको रानियोंने देखा तो, यथेष्ट देख लें (क्या हर्ज है ?) । तथाऽपि हल्दी वा सुवर्णके टुकड़ेको पराजित करनेवाले नलका प्रसिद्ध स्वरूप उन्होंने नहीं देखा ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—प्रतिच्छायिकया = प्रतिच्छाया एव प्रतिच्छायिका, तया प्रतिच्छाया + कः (स्वार्थमें) + टाप् + टा । "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" इस सूत्रसे आकारके स्थानमें इकार । आलोकि = आङ् + लोक + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त । हारिद्रभङ्गाय=हरिद्राया अयं हारिद्रः, हरिद्रा + अण् । हारिद्रस्य भङ्गः, तस्मै (ष० त०) । वितीर्णभङ्ग = वितीर्णो भङ्गो येन तत् (बहु०) । इस पद्यसे नलके लोकोत्तर सौन्दर्यकी सूचना मिलती है ॥४५॥

भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन् मणिकुट्टिमेषु ।
पुरं परस्य प्रविशन् वियोगी योगीव चित्रं स रराज राजा ॥ ४६ ॥

अन्वयः—वियोगी स राजा अदृश्यो भवन् मणिकुट्टिमेषु प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन्, (तथा) परस्य पुरं प्रविशन् योगी इव रराज चित्रम् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—वियोगी = विरही अयोगी च, सः=पूर्वोक्तः, राजा=नलः, अदृश्यो भवन्=अदर्शनीयो भवन्, मणिकुट्टिमेषु = रत्ननिबद्धभूमिषु, प्रतिबिम्बदेहव्यूहं = प्रतिच्छायाशरीरसमूहं, वितन्वन् = सम्पादयन्, (योगिपक्षे प्रतिबिम्बदेहव्यूहं = बहुयोगशरीरसमूहं, वितन्वन् = युगपत् कल्पयन्) तथा परस्य = अन्यस्य राज्ञः, पुरं = नगरं, (योगिपक्षे)—परस्य=अन्यस्य जीवस्य, पुरं = शरीरं, परकायमिति भावः । प्रविशन् = प्रवेशं कुर्वन्, योगी इव= अणिमादिसिद्धिमान् इव, रराज = शुशुभे । चित्रम् = आश्चर्यम् ॥ ४६ ॥

अनुवादः—वियोगी वे राजा (नल) अदृश्य होते हुए, जैसे अणिमा आदि सिद्धिवाला योगी अदृश्य होकर एक ही बार अनेक शरीरोंका विस्तार करता हुआ दूसरे जीवके शरीरमें प्रवेश करता है वैसे ही रत्ननिबद्ध भूमिमें प्रतिबिम्ब शरीरोंको फैलाते हुए दूसरे (भीम) के नगरमें प्रवेश कर योगीके समान शोभित हुए—आश्चर्य है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—वियोगी = वियोग + इनिः + सु । अदृश्यः = न दृश्यः (नञ०) । मणिकुट्टिमेषु = मणिनिबद्धाः कुट्टिमाः, तेषु (मध्यमपदलोपी स०) । प्रतिबिम्बदेहव्यूहं = प्रतिबिम्बश्च ते देहाः (क० धा०), तेषां व्यूहः, तम् (ष० त०) । वितन्वन् = वि + तनु + लट् (शतृ) + सु । पुरं = "पुरं पुरि शरीरे च" इति विश्वः । रराज = राज + लिट् + तिप् । (णल्) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

पुमानिवाऽस्पर्शि मया भ्रमन्त्या, छाया मया पुंस इव व्यलोकि ।
ब्रुवन्निवाऽतर्कि मयाऽपि किञ्चिदिति स्म स स्त्रैणगिरः शृणोति ॥ ४७ ॥

अन्वयः—"भ्रमन्त्या मया पुमान् इव अस्पर्शि। मया पुंसः छाया इव, व्यलोकि। मया अपि कश्चित् ब्रुवन् इव अतर्कि" इति स्त्रैणगिरः स शृणोति स्म ॥ ४७ ॥

व्याख्या—भ्रमन्त्या = संचरन्त्या, मया, पुमान् इव = कश्चित् पुरुष इव अस्पर्शि = स्पृष्टः। मया, पुंसः = कस्यचित्पुरुषस्य, छाया इव = प्रतिबिम्बम् इव, व्यलोकि = विलोकिता। मया अपि, कश्चित्=कोऽपि पुरुषः, ब्रुवन् इव=लपन् इव, अतर्कि=तर्कितः। इति = एवंरूपाः, स्त्रैणगिरः = स्त्रीसमूहवचनानि, अथवा स्त्रीभवानि वचनानि, सः = नलः, शृणोति स्म = श्रुतवान् ॥ ४७ ॥

अनुवादः—घूमती हुई मैंने पुरुषके समान किसीको छू लिया। मैंने पुरुषके समान किसीकी छाया देखी। मैंने भी बोलते हुए किसीकी तर्कना की ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—भ्रमन्त्या = भ्रम + लट् (शतृ) + ङीप् + टा। अस्पर्शि= स्पृश + लुङ् (कर्ममें) + त। व्यलोकि = वि + लोक + लुङ् (कर्ममें) + त। ब्रुवन् = ब्रू + लट् (शतृ) + सु। अतर्कि=तर्क + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त। स्त्रैणगिरः = स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्, स्त्री शब्दसे "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इससे नञ् प्रत्यय। स्त्रैणस्य गिरः, ताः (ष० त०)। अथ वा—स्त्रीषु भवाः स्त्रैणाः (स्त्री + नञ् + जस्)। ताश्च ता गिरः, ताः (क० धा०) शृणोति स्म = श्रु + लट् + तिप्, "स्म" के योगमें "लट् स्मे" इससे भूतकालमें लट् ॥ ४७ ॥

अम्बां प्रणम्योपनता नताङ्गी नलेन भैमी पथि योगमाप।
स भ्रान्तभैमीषु न तां विवेद, सा तं च नाऽदृश्यतया ददर्श ॥ ४८ ॥

अन्वयः—नताङ्गी भैमी अम्बां प्रणम्य उपनता (सती) पथि नलेन योगम् आप। (किन्तु) स भ्रान्तभैमीषु तां न विवेद। सा च तम् अदृश्यतया न ददर्श ॥ ४८ ॥

व्याख्या—नताङ्गी = आनतदेहाऽवयवा, भैमी = दमयन्ती, अम्बां=मातरं, प्रणम्य = प्रणत्य, उपनता = आगता सती, पथि = मार्गे, नलेन = नैषधेन सह, योगं = सम्बन्धम्, आप = प्राप्तवती। किन्तु, सः = नलः, भ्रान्तभैमीषु = भ्रान्तिदृष्टदमयन्तीषु, अलीकभैमीषु, तां=सत्यरूपां भैमीं, न विवेद = विविच्य न ज्ञातवान्। सा च = दमयन्ती च, तं = नलम्, अदृश्यतया = अदर्शनीयत्वेन, न ददर्श=नो दृष्टवती ॥ ४८ ॥

अनुवादः—अवनत अङ्गोंवाली दमयन्तीने माताको प्रणाम कर आती हुई मार्गमें नलके साथ सम्बन्ध पा लिया। किन्तु नलने भ्रान्तिसे देखी गई दमयन्तियों-के बीचमें सत्यरूप दमयन्तीको नहीं पहचाना। दमयन्तीने भी अदृश्य होनेसे नल को नहीं देखा॥ ४८॥

टिप्पणी—नताऽङ्गी=नतानि अङ्गानि यस्याः सा (बहु०)। अम्बाम्= "अम्वा सवित्री जननी माता चे"ति हलायुधः। प्रणम्य = प्र+नम्+क्त्वा (ल्यप्)। उपनता = उप+नम् + क्तः + टाप + पु। आप् + लिट्+ तिप् (णल्)। भ्रान्तभैमीषु = भ्रान्ताश्च ताः भैम्यः, तासु (क० धा०)। विवेद = विद् + लिट् + तिप् (णल्)। ददर्श = दृश् + लिट् + तिप् (णल्)॥ ४८॥

प्रसूप्रसादाऽधिगता प्रसूनमाला नलस्यं भ्रमवीक्षितस्य।
क्षिप्ताऽपि कण्ठाय तयोपकण्ठे स्थितं तमालम्बत सत्यमेव॥ ४९॥

अन्वयः—प्रसूप्रसादाऽधिगता प्रसूनमाला तया भ्रमवीक्षितस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ता अपि उपकण्ठे स्थितं सत्यम् एव तम् आलम्बत॥ ४९॥

व्याख्या—प्रसूप्रसादाऽधिगता=मात्रानुरागप्राप्ता, प्रसूनमाला=पुष्पमालिका, तया = दमयन्त्या, भ्रमवीक्षितस्य = भ्रान्तिदृष्टस्य, नलस्य=नैषधस्य, कण्ठाय= गलाय, क्षिप्ता अपि = प्रेरिता अपि, उपकण्ठे = समीपे, स्थितं = विद्यमानं, सत्यम् एव = तथ्यमेव, तम् = नलम्, आलम्बत = प्राप्तवती॥ ४९॥

अनुवादः—मातासे अनुरागपूर्वक दी गयी फूलोंकी माला दमयन्तीसे भ्रान्तिसे देखे गये नलके गलेके लिए समर्पित की जानेपर भी निकटमें रहे हुए सचमुच ही नलको प्राप्त हुई॥ ४९॥

टिप्पणी—प्रसूप्रसादाऽधिगता = प्रसूते इति प्रसूः (प्र+सू+क्विप्+ सुः), "जनयित्री प्रसूर्माता जननी" इत्यमरः। तस्याः प्रसादः (ष० त०), "स्यात्प्रसादोऽनुरागेऽपि" इत्यमरः। तेन अधिगता (तृ० त०)। प्रसूनमाला= प्रसूनानां माला (ष० त०)। भ्रमवीक्षितस्य = भ्रमेण वीक्षितः, तस्य (तृ० त०)। आलम्बत=आङ्+लबि+लङ्+त॥ ४९॥

स्रग्वासनादृष्टजनप्रसादः सत्येयमित्यद्भुतमाप भूपः।
क्षिप्तामदृश्यत्वमितां च मालामालोक्य तां विस्मयते स्म बाला॥ ५०॥

अन्वयः—भूपः वासनादृष्टजनप्रसादः इयं स्रक् सत्या इति अद्भुतम् आप। बाला च क्षिप्ताम् अदृश्यत्वम् इतां तां मालाम् आलोक्य विस्मयते स्म ॥ ५० ॥

व्याख्या—भूपः = राजा, नलः। वासनादृष्टजनप्रसादः = निरन्तरभावनाविलोकितभैमीरूपजनाऽनुग्रहभूता, इयं = स्वकण्ठस्थिता, स्रक् = पुष्पमाला, सत्या = सत्यभूता, इति = हेतोः, अद्भुतम् = आश्चर्यम्, आप = प्राप। बाला च = दमयन्ती च, क्षिप्ताम् = (प्राक्) आत्मना न्यस्तां, (पश्चात्) अदृश्यत्वम् = अदर्शयनीत्वम्, इतां = प्राप्तां, तां = पूर्वस्थितां, मालां = स्रजम्, आलोक्य=दृष्ट्वा, विचार्येति भावः। विस्मयते स्म = विस्मिता अभूत् ॥ ५० ।

अनुवाद:—राजा नलने निरन्तर भावनासे देखी गयी दमयन्तीकी अनुग्रहभूत यह माला सत्यरूप हुई इस कारणसे आश्चर्यका अनुभव किया। दमयन्ती भी भ्रान्तिदृष्ट नलको पहले सौंपी गई पीछे अदृश्यभूत उस मालाको विचारकर आश्चर्ययुक्त हो गयी ॥ ५० ॥

टिप्पणी—वासनादृष्टजनप्रसादः = वासनया दृष्टः (तृ० त०), स चाऽसौ जनः (क० धा), तस्य प्रसादः (ष० त०)। अदृश्यत्वं = न दृश्यत्वं, तत् (नञ्०)। आलोक्य = आङ्+लोक+क्त्वा (ल्यप्)। विस्मयते स्म=वि+स्मिङ्+लट्+त ॥ ५० ॥

अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाऽध्युषितेऽपि देशे।
आलिङ्गिताऽलीकपरस्पराऽन्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते ॥ ५१ ॥

अन्वय:—तौ परस्परेण अध्युषिते देशे अपि अन्योन्यम् अन्यत्रवत् ईक्षमाणौ आलिङ्गिताऽलीकपरस्पराऽन्तः मिथः तथ्यम् (एव) परिषस्वजाते ॥ ५१ ॥

व्याख्या—तौ = भैमीनलौ, परस्परेण = अन्योन्येन, अध्युषिते = अधिष्ठिते, देशे अपि = स्थाने अपि, अन्योन्यं = परस्परं, नलो भैमीं, सा च नलमिति भावः। अन्यत्रवत् = देशान्तर इव, ईक्षमाणौ = पश्यन्तौ, अन्यत्र स्थायिनाविव पश्यन्ताविति भावः। आलिङ्गिताऽलीकपरस्पराऽन्तः = आलिङ्गनमिथ्यात्वज्ञानं यथा तथा, मिथः = अन्योन्यं, तथ्यं=यथार्थम् एव, परिषस्वजाते=आलिङ्गनं चक्रतुः ॥ ५१ ॥

अनुवादः—दमयन्ती और नलने परस्पर एक ही स्थानमें स्थित होकर भी एक-दूसरेको भिन्न स्थानमें रहे हुए के समान देखते हुए परस्परके आलिङ्गनको अन्तःकरणमें मिथ्या समझकर भी परस्परमें सचमुच ही आलिङ्गन किया ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—अध्युषिते = अधि + वस् + क्तः (कर्ममें) + ङि । अन्यत्रवत् = अन्यत्र इव, "तत्र तस्येव" इस सूत्रसे वति प्रत्यय । ईक्षमाणौ = ईक्षेते इति, ईक्ष + लट् (शानच्) + औ । आलिङ्गिताऽलीकपरस्परान्तः = आलिङ्गितम् (आलिङ्गनम्) अलीकं (मिथ्या) यस्य तत् (बहु०) । परस्परस्य अन्तः (अन्तःकरणम्), ष० त० । आलिङ्गिताऽलीकं परस्परान्तः यस्मिन् (कर्मणि तद्यथा तथा), बहु० । क्रि० वि० । परिषस्वजाते = परि-उपसर्गपूर्वक "स्वञ्ज परिष्वङ्गे" धातुसे लिट् + आताम् । "श्रन्थिग्रन्थिभ्भिस्वञ्जीयां लिटः कित्त्वं वा" इससे कित्त्वके पक्षमें "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इससे 'न' का लोप । "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादि सूत्रसे षत्व । दमयन्ती और नलने पहलेकी वासनासे परस्परकी चेष्टाको मिथ्या मानते हुए भी सत्य ही परस्परमें आलिङ्गन-को प्राप्त किया यह अभिप्राय है ॥ ५१ ॥

स्पर्शं तमस्याऽधिगताऽपि भैमी मेने पुनर्भ्रान्तिमदर्शनेन ।
नृपस्तु पश्यन्नपि तामुदीतस्तम्भो न धर्तुं सहसा शशाक ॥ ५२ ॥

अन्वयः—भैमी तं स्पर्शम् अधिगता अपि पुनः अस्य अदर्शनेन भ्रान्ति मेने । नृपस्तु पश्यन् अपि उदीतस्तम्भः (सन्) तां सहसा धर्तुं न शशाक ॥ ५२ ॥

व्याख्या—भैमी = दमयन्ती, तं = पूर्वोक्तं, तथ्यमिति शेषः । स्पर्शम् = आमर्शनम्, अधिगता अपि = प्राप्ता अपि, पुनः = भूयः, अस्य = नलस्य, अदर्शनेन = अदृश्यत्वेन, भ्रान्ति = भ्रमं, मेने = ज्ञातवती अतो नलं ग्रहीतुं न शशाकेति भावः । नृपस्तु = नलस्तु, पश्यन् अपि = दमयन्तीं विलोकयन् अपि, उदीतस्तम्भः = उत्पन्नस्तब्धभावः, उत्पन्नस्तम्भाख्यसात्त्विकभावः सन्निति भावः । तां = दमयन्तीं, सहसा = झटिति, धर्तुं = ग्रहीतुं, न शशाक = शक्तो न बभूव ॥ ५२ ॥

अनुवादः—दमयन्तीने नलके सत्य स्पर्शको पाकर भी फिर नलके अदृश्य होनेसे उसे भ्रम समझा । राजा नल तो दमयन्तीको देखकर भी स्तम्भनामक सात्त्विक भावकी उत्पत्ति होनेसे उन्हें सहसा पकड़नेके लिए समर्थ नहीं हुए ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—अदर्शनेन = न दर्शनं, तेन (नञ्०) । उदीतस्तम्भः = उदीतः स्तम्भो यस्य सः (बहु०) । धर्तुं = धृञ् + तुमुन् । शशाक = शक् + लिट् +

तिप् (णल्)। इस पद्यमें स्तम्भ पदार्थकी विशेषणगतिसे धारणमें अशक्तिकी कारणतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

स्पर्शातिहर्षादृतसत्यमत्या प्रवृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ ।
पुनर्मिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तौ न श्रद्दधाते पथि तौ विमुग्धौ ॥ ५३ ॥

अन्वयः—विमुग्धौ तौ स्पर्शाऽतिहर्षादृतसत्यमत्या प्रवृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ पुनः मिथः तथ्यं स्पृशन्तौ अपि न श्रद्दधाते ॥ ५३ ॥

व्याख्या—विमुग्धौ = भ्रान्तियुक्तौ, तौ=दमयन्तीनलौ, स्पर्शाऽतिहर्षादृतसत्यमत्या = आमर्शनात्यानन्ददृढीकृततथ्यबुद्ध्या, प्रवृत्य = पुनर्व्यापृत्य, मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ = प्रवृत्तेऽपि स्पर्शाऽलाभात् मृषेति ज्ञातवन्तौ इति भावः। पुनः = भूयः, इत्थमुभयदर्शनाऽनन्तरमिति भावः। मिथःपरस्परं, तथ्यं = यथार्थम् स्पृशन्तौ अपि = स्पर्शं कुर्वन्तौ अपि, न श्रद्दधाते = विश्वासं न चक्रतुः ॥ ५३ ॥

अनुवादः—भ्रान्तियुक्त दमयन्ती और नलने प्रथम स्पर्शसे उत्पन्न अतिशय हर्षसे उसे सत्य है ऐसा समझकर फिर आलिंगनमें प्रवृत्त होनेपर स्पर्श न पानेसे "यह झूठा था" ऐसा ज्ञान पाकर फिर परस्परमें सचमुच स्पर्श करते हुए भी उसका विश्वास नहीं किया ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—स्पर्शाऽतिहर्षाऽऽदृतसत्यमत्या = अत्यन्तं हर्षः अतिहर्षः (गति०)। स्पर्शेन अतिहर्षः (तृ० त०)। सत्या चाऽसौ मतिः (क० धा०)। आदृता चाऽसौ सत्यमतिः (क० धा०)। स्पर्शातिहर्षेण आदृतसत्यमतिः, तया (तृ० त०)। प्रवृत्य = प्र + वृत् + क्त्वा (ल्यप्)। मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ = प्रतिलब्धौ बोधौ याभ्यां तौ (बहु०)। मिथ्या (मिथ्यात्वेन) प्रतिलब्धबोधौ (सुप्सुपा०)। स्पृशन्तौ = स्पृश + लट् (शतृ०) + औ। श्रद्दधाते = श्रत् + धा + लिट् + आताम्। "श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिः" इस नियमसे श्रत् शब्दकी आतिदेशिक उपसर्गतासे 'धा' धातुसे पूर्व प्रयोग हुआ है ॥ ५३ ॥

सर्वत्र संवाद्यमबाधमानौ रूपश्रियाऽऽतिथ्यकरं परं तौ ।
न शेकतुः केलिरसाद्विरन्तुमलीकमालोक्य परस्परं तु ॥ ५४ ॥

अन्वयः—तौ रूपश्रिया सर्वत्र संवाद्यं परम् आतिथ्यकरम् अलीकं परस्परं आलोक्य अबाधमानौ केलिरसात् विरन्तुं न शेकतुः ॥ ५४ ॥

व्याख्या—तौ = भैमी नलौ, रूपश्रिया = सौन्दर्यसम्पत्या, सर्वत्र=सर्वाऽवयवेषु, संवाद्यं=मिथः संवादाऽर्हं, परस्पराऽनुरूपमिति भावः। अत एव परम् = अत्यन्तम्, आतिथ्यकरं = मिथः सत्कारकारि, अलीकम् = असत्यं, परस्परम् = अन्योन्यं कर्म आलोक्य = दृष्ट्वा, अबाधमानौ = मिथ्या इति अमन्यमानौ सन्तौ, केलिरसात् = क्रीडारागात्, विरन्तुं=निवर्तितुं, न शेकतुः = समर्थौ नाऽभवताम् ॥ ५४ ॥

अनुवादः—दमयन्ती और नल सौन्दर्यसम्पत्तिसे संपूर्ण अवयवोंमें परस्परमें योग्य, अतिशय परस्परमें सत्कार करनेवाले मिथ्याभूत परस्परके कर्मोंको देखकर "यह मिथ्या है" ऐसा नहीं मानते हुए क्रीडाके अनुरागसे निवृत्त न हो सके ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—रूपश्रिया = रूपस्य श्रीः, तया (ष० त०)। संवाद्यं = सं + वद् + ण्यत् + अम्। आतिथ्यकरम् = आतिथ्यं करोतीति, तत्, आतिथ्य + कृ + ट + (उपपद०) अम्। केलिरसात् = केले रसः, तस्मात् (ष० त०)। विरन्तुं = वि + रम् + तुमुन्। शेकतुः = शक् + लिट् + अतुस् ॥ ५४ ॥

परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भः।
स्नेहाऽतिदानादिव दीपिकाऽर्चिर्निमिष्य किञ्चिद् द्विगुणं दिदीपे ॥ ५५ ॥

अन्वयः—तयोः चेतसि विप्रलम्भः परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात् क्षणं स्नेहाऽतिदानात् दीपिकार्चिः इव किञ्चित् निमिष्य द्विगुणं दिदीपे ॥ ५५ ॥

व्याख्या—तयोः=दमयन्तीनलयोः, चेतसि = चित्ते, विप्रलम्भः = विरहः, परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात् = अन्योन्यामर्शनसुखतरङ्गसेचनात्, क्षणं = कञ्चित्कालं, स्नेहाऽतिदानात् = तैलादिबहुप्रक्षेपात्, दीपिकाऽर्चिः इव = दीपज्वाला इव, किञ्चित् = ईषत्, निमिष्य = निवार्य, द्विगुणं = द्वयावृत्ति, अधिकमित्यर्थः, दिदीपे = प्रजज्वाल ॥ ५५ ॥

अनुवादः—दमयन्ती और नलके चित्तमें विरह परस्परमें स्पर्शसुखकी तरङ्गोंके सेचनसे कुछ समयतक तैल आदि डालनेसे दीपकी ज्वालाके समान कुछ मन्द होकर द्विगुण प्रज्वलित हुआ ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात् = परस्परयोः स्पर्शः (ष० त०), तस्य रसः (ष० त०) तस्य ऊर्मयः (ष० त०) 'तैः सेकः, तस्मात् (तृ० त०)। स्नेहाऽतिदानात् = स्नेहस्य अतिदानं, तस्मात् (ष० त०)। दीपिकाया अर्चिः (ष० त०)। दीपिकाऽर्चिः = निमिष्य = नि + मिष् + क्त्वा (ल्यप्)।

द्विगुणं = द्वौ गुणौ (आवृत्ती) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा (बहु०)। दिदीपे= दीप+लिट्+त (एश्)। इस पद्य में उपमा अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

वेश्माऽऽप सा धैर्यवियोगयोगाद् बोधं च मोहं च मुहुर्दधाना।
पुनःपुनस्तत्र पुरः स पश्यन् बभ्राम तां सुभ्रुवमुद्भ्रमेण ॥ ५६ ॥

अन्वयः—सा धैर्यवियोगयोगात् मुहुः बोधं मोहं च दधाना वेश्म आप। स तत्र तां सुभ्रुवम् उद्भ्रमेण पुनः पुनः पुरः पश्यन् बभ्राम ॥ ५६ ॥

व्याख्या—सा=दमयन्ती, धैर्यवियोगयोगात् = धृतिविरहसम्बन्धात्, मुहुः = वारं वारं, बोधं = सम्यग्ज्ञानं, मोहं च = मिथ्याज्ञानं च, दधाना = धारयन्ती, वेश्म = निजभवनम्, आप = प्राप्ता, सः = नलः, तत्र = तस्मिन् स्थाने, तां= पूर्वोक्तां, सुभ्रुवं = सुन्दरीं दमयन्तीम्, उद्भ्रमेण = भ्रान्त्या, पुनः पुनः = भूयो भूयः, पुरः =अग्रे, पश्यन् = विलोकयन्, बभ्राम = भ्रमणं चकार, पुनर्दमयन्तीप्रात्याशयेति भावः ॥ ५६ ॥

अनुवादः—दमयन्ती धैर्य और वियोगके सम्बन्धसे बारंबार ज्ञान और मोहको धारण करती हुई अपने प्रासादमें प्राप्त हुई। नल वहाँपर दमयन्तीको भ्रान्तिसे बारंबार सामने देखते हुए भ्रमण करने लगे ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—धैर्यवियोगयोगात् = धैर्यं च वियोगश्च (द्वन्द्वः), तयोः योगः, तस्मात् (ष० त०)। सुभ्रुवं = शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः, ताम् (बहु०)। बभ्राम = भ्रम+लिट्+तिप् (णल्)। 'बभ्राम' कहनेसे चापल-नामक सञ्चारी भावकी प्रतीति होती है, उसका लक्षण है—

"मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः।" ३-१७८।

इस पद्यमें यथासंख्य अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

पद्भ्यां नृपः संचरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथंकथंचित्।
विदर्भराजप्रभवानिवासं प्रासादमभ्रङ्कषमाससाद ॥ ५७ ॥

अन्वयः—एष नृपः पद्भ्यां संचरमाणः चिरं परिभ्रम्य कथंकथंचित् विदर्भराजप्रभवानिवासम् अभ्रङ्कषं प्रासादम् आससाद ॥ ५७ ॥

व्याख्या—एषः = अयं, नृपः = राजा, नलः, । पद्भ्यां = पादाभ्यां, संचर,-माणः = गच्छन्, चिरं = बहुकालं, परिभ्रम्य = परितो भ्रान्त्वा, कथंकथंचित्= अतिकष्टेन, पदातित्वेनेति शेषः। विदर्भराजप्रभवानिवासं = दमयन्त्यधिष्ठितम्, अभ्रङ्कषं = गगनस्पर्शि, प्रासादं = सौधम्, आससाद = प्राप्तवान् ॥ ५७ ॥

अनुवादः—राजा नल बहुत समयतक पैदल परिभ्रमण करते हुए अतिकष्ट-से आकाशको छूनेवाले (उन्नत) दमयन्तीके भवन को प्राप्त हुए ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—पद्भ्यां = पाद शब्दसे "पद्दन्नोमास्०" इत्यादि सूत्रसे पद्भाव। संचरमाणः = संचरत इति, सं + चर + लट् (शानच्) + सु । "समस्तृतीया-युक्तात्" इस सूत्रसे आत्मनेपद । परिभ्रम्य = परि + भ्रम् + क्त्वा (ल्यप्)। विदर्भराजप्रभवानिवासं = विदर्भाणां राजा विदर्भराजः (ष० त०) । प्रभवति अस्मादिति प्रभवः प्र–उपसर्गपूर्वक 'भू' धातुसे "ऋदोरप्" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय । विदर्भराजः प्रभवः (कारणम्) यस्याः सा विदर्भराजप्रभवा (बहु०) । तस्या निवासः, तम् (ष० त०) । अभ्रङ्कषम् = अभ्रं कषनीति, तम् अभ्र + कष् + खच् (उपपद०) + अम् । "सर्वकूलाऽभ्रकरीषेषु कषः" इससे खच् प्रत्यय और मुम् आगम । आससाद = आङ् + सद + लिट् + तिप् (णल्) ॥ ५७ ॥

सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मराऽवरोधभ्रममावहन्तीम् ।
विलोकयामास सभां स भैम्यास्तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायाम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—स तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायां सखीशतानां सरसैः विलासैः स्मराऽवरोधभ्रमम् आवहन्तीं भैम्याः सभां विलोकयामास ॥ ५८ ॥

व्याख्या—सः नलः, तस्य = पूर्वोक्तस्य प्रासादस्य, प्रतोलीमणिवेदिकायां = प्राङ्गणरत्नपरिष्कृतभूमौ, सखीशतानां = बहुसंख्यानां वयस्यानां, सरसैः = अनुरागयुक्तैः, विलासैः = लीलाभिः, स्मराऽवरोधभ्रमं = कामान्तःपुरभ्रान्तिम्, आवहन्तीं = कुर्वतीं, भैम्याः = दमयन्त्याः, सभां = परिषदं, विलोकयामास = ददर्श ॥ ५८ ॥

अनुवादः—नलने पूर्वोक्त दमयन्तीके प्रासादके प्राङ्गणमें मणियोंकी वेदिकामें सैकड़ों सखियोंकी लीलाओंसे कामदेवके अन्तःपुरकी भ्रान्तिको उत्पन्न करनेवाली दमयन्तीकी सभाको देखा ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—प्रतोलिमणिवेदिकायां = मणीनां वेदिका (ष० त०) । प्रतोल्यां मणिवेदिका, तस्याम् (स० त०) । सखीशतानां = सखीनां शतानि, तेषाम् (ष० त०) । सरसैः = रसेन सहिताः, तैः (तुल्ययोगबहु०) । स्मराऽवरोधभ्रमं = स्मरस्य अवरोधः (ष० त०), तस्य भ्रमः, तम् (ष० त०) । आवहन्तीम् = आङ् + वह् + लट् (शतृ) + ङीप् + अम् । विलोकयामास = वि + लोक + णिच + लिट् + तिप् (णल्) ॥ ५८ ॥

कण्ठः किमस्याः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सूचयति त्रिरेखः ।
इत्यन्तरस्तूयत काऽपि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥ ५९ ॥

अन्वयः—यत्र कलम् आलपन्ती काऽपि बाला नलेन त्रिरेखः अस्याः कण्ठः पिकवेणुवीणाः तिस्रो जिताः इति सूचयति ? इति अन्तः अस्तूयत किम् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—अथ कण्ठ इत्यादिभिश्चतुर्दशभिः पद्यैर्दमयन्तीसभां वर्णयति—कण्ठ इति । यत्र = दमयन्तीसभायां, कलं = मधुरम्, आलपन्ती = रागालापं कुर्वती, काऽपि = काचित्, बाला = युवतिः, नलेन = नैषधेन, त्रिरेखः = रेखात्रययुक्तः, अस्याः = बालायाः, कण्ठः = गलः, पिकवेणुवीणाः = कोकिलवंशवल्लक्यः, तिस्रः = अपि, जिताः = पराभूताः, इति, सूचयति किं=सूचनां करोति किम्, इति = एवम्, अन्तः = अन्तःकरणे, अस्तूयत=स्तुता ॥ ५९ ॥

अनुवादः—जिस दमयन्तीकी सभामें मनोहर रागका आलाप करती हुई किसी युवतीको नलने तीन रेखाओंसे युक्त इसके कण्ठने कोयल, वंशी और बीन इन तीनोंको जीत लिया है ऐसी सूचना करता है क्या ? इस प्रकार अन्तःकरणमें प्रशंसा की ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—आलपन्ती = आलपतीति, आङ्+लप+लट् (शतृ)+ङीप्+सुः । त्रिरेखः = तिस्रो रेखा यस्य सः (बहु०) । पिकवेणुवीणाः = पिकश्च वेणुश्च वीणा च (द्वन्द्वः) । सूचयति = सूच+णिच्+लट्+तिप् । अस्तूयत=ष्टुञ+लङ (कर्ममें)+त । इस पद्य में काव्यलिङ्ग और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ५९ ॥

एतं नलं तं दमयन्ति ! पश्य त्यजाऽऽर्तिमित्यालिकुलप्रबोधान् ।
श्रुत्वा स नारीकरवर्तिशारीमुखात् स्वमाशङ्कत यत्र दृष्टम् ॥ ६० ॥

अन्वयः—स यत्र नारीकरवर्तिशारीमुखात् 'हे दमयन्ति ! तम् एतं नलं पश्य, आर्तिं त्यज" इति आलिकुलप्रबोधान् श्रुत्वा स्वं दृष्टम् आशङ्कत ॥ ६० ॥

व्याख्या—सः = नलः, यत्र = दमयन्तीसभायां, नारीकरवर्तिशारीमुखात् = कान्ताहस्तगतशारिकावदनात् हे दमयन्ति हे भैमि !, तं = मनःस्थितम्, एतम्= समीपतरवर्तिनम्, नलं = नैषधं, पश्य = विलोकय, आर्तिं = पीडां, वियोगजनितामिति शेषः । त्यज = मुञ्च, इति = एवंरूपान्, आलिकुलप्रबोधान् = सखीसमूहाश्वासनोक्तीः, श्रुत्वा = आकर्ण्य, स्वम् = आत्मानं, दृष्टं = विलोकितं, ताभिरिति शेषः । आशङ्कित=आशङ्कितवान् ॥ ६० ॥

अनुवादः — नलने जिस दमयन्तीकी सभामें किसी स्त्रीके हाथपर बैठी हुई मैनाके मुखसे "हे दमयन्ति ! अपने मनमें स्थित इन नलको देखिए, वियोगके दुःखको छोड़िए", सखियोंके ऐसे आश्वासनवाक्योंको सुनकर इन लोगोंने मुझे देख लिया है क्या ? ऐसी आशङ्का की ॥ ६० ॥

टिप्पणी— नारीकरवर्तिशारीमुखात् = नार्याः करः (ष० त०), नारीकरे वर्तते तच्छीला इति नारीकरवर्तिनी (नारीकर + वृत् + णिनिः + ङीप् (उपपद०) सु । सा चाऽसौ शारी (क० धा०), "कृदिकारादक्तिनः" इससे ङीप् होकर स्त्रीलिङ्गमें "शारी" ऐसा रूप होता है। "शारिर्नाक्षोपकरणे, स्त्रियाँ शकुनिकान्तरे ।" इति मेदिनी । नारीकरवर्तिशार्या मुखं, तस्मात् (ष० त०)। त्यज=त्यज + लोट् + सिप् । आलिकुलप्रबोधान्= प्रबोध्यते एभिरिति प्रबोधाः, प्र + बुध् + घञ् (करण अर्थ में) । अलीन कुलम् (ष० त०), तस्य प्रबोधाः, तान् (ष० त०) । मैनाके वाक्यमें नारीके वाक्यका भ्रम होनेसे इन स्त्रियोंने मुझे देख लिया नलने ऐसी आशङ्का की यह भाव है । अत एव इस पद्यमें भ्रान्तिमान् अलङ्कार व्यङ्ग्य है, इस प्रकार वस्तुसे अलङ्कारकी ध्वनि है ॥ ६० ॥

यत्रैकयाऽलीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या ।
तद्दृक्पथे दौहृदिकोपनीता शालीनमाधायि मधूकमाला ।। ६१ ॥

अन्वयः—यत्र तद्दृक्पथे मृषाभीमभवीभवन्त्या एकया अलीकनलीकृताऽऽलीकण्ठे दौहृदिकोपनीता मधूकमाला शालीनम् आधायि ॥ ६१ ॥

व्याख्या—यत्र = दमयन्तीसभायां, तद्दृक्पथे = नलदृष्टिमार्गे, मृषाभीमभवीभवन्त्या = आरोपितभैमीभवन्त्या, एकया = सख्या, अलीकनलीकृताऽऽलीकण्ठे = मृषानैषधीकृतसखीगले, दौहृदिकोपनीता = धात्रीसमर्पिता, मधूकमाला = मधुद्रुमपुष्पस्रक्, शालीनम् = अधृष्टं, लज्जामन्थरं यथातथेति भावः । अधायि=आहिता ॥ ६१ ॥

अनुवादः—जिस दमयन्तीकी सभामें नलके दृष्टिमार्गमें दमयन्तीका नकल करनेवाली एक स्त्रीने नलका नकल करनेवाली सखीके गलेमें धात्री (धाय) से दी गयी महुएकी मालाको नम्रताके साथ डाल दिया ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—तद्दृक्पथे = दृशोः पन्था दृक्पथः (ष० त०) । तस्य दृक्पथः, तस्मिन् (ष० त०) । मृषाभीमभवीभवन्त्या = भीमात् भवतीति भीमभवा (भीम + भू + अच् + टाप्) । मृषा भीमभवा (सुप्सुपा०) । अमृषा भीम-

भवा मृषाभीमभवा यथा संपद्यते तथा भवतीति मृषाभीमभवीभवन्ती, तया मृषाभीमभवा + च्वि + भू + लट् (शतृ) + ङीप् + टा । अलीकनलीकृताऽली-कण्ठे = अलीकश्चाऽसौ नलः (क० धा०)। अनलीकनलः अलीकनलः यथा संपद्यते तथा कृता अलीकनलीकृता (अलीकनल + च्विः + कृ + क्तः + टाप् । सा चाऽसौ आली (क० धा०), तस्याः कण्ठः, तस्मिन् (ष० त०), दौहृदिकोपनीता = दोहदम् (गर्भिणीमनोरथः) एव दौहृदम्, दोहृद + अण् (स्वार्थमें) + सु । दौहृदम् (पूरणीयत्वेन) अस्ति यस्याः सा दौहादिका (धात्री) दौहृद शब्दसे "अत इनिठनौ" इससे ठन् (इक) और स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् । धाय गर्भिणीके मनोरथको पूर्ण करनेमें नियुक्त होती है अतः उसे "दौहृदिका" कहते हैं। तया उपनीता (तृ० त०) । यह मल्लिनाथसम्मत अर्थ है ।

नारायण पण्डितके मतके अनुसार—

"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् ।
पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहृदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥"

इस शब्दार्णवकोशके अनुसार वृक्षादिके असमयमें पुष्प आदिके उत्पादक पदार्थको 'दोहद' कहते हैं, दोहदे नियुक्तः दौहृदिकः (मालाकारः), "तत्र नियुक्तः" इस सूत्रसे दोहद शब्दसे ठक् (इक) और आदिवृद्धि । दौहृदिकेन उपनीता (तृ० त०) । मधूकमाला=मधूकानां माला (ष० त०), "मधूके तु डपुष्पमधुद्रुमौ०" इत्यमरः । शालीनं = "शालीनकौपीने अधृष्टाऽकार्ययोः" इससे निपातन । आधायि = आङ् + धा + लुङ् (कर्ममें) + त । "आतो युक् चिराकृतोः" इससे युक् आगम ॥ ६१ ॥

चन्द्राऽऽभमाभ्रं तिलकं दधाना तद्बिन्निजाऽऽस्येन्दुकृताऽनुबिम्बम् ।
सखीमुखे चन्द्रसखे ससर्ज चन्द्राऽनवस्थामिव काऽपि यत्र ॥ ६२ ॥

अन्वयः—यत्र काऽपि चन्द्राऽऽभम् आभ्रं तिलकं चन्द्रसखे सखीमुखे तद्व-न्निजाऽऽस्येन्दुकृताऽनुबिम्बं दधाना चन्द्राऽनवस्थां ससर्ज इव ॥ ६२ ॥

व्याख्या—यत्र = दमयन्तीसभायां, काऽपि = सुन्दरी, चन्द्राऽऽभं = चन्द्र-सदृशम्, आभ्रम् = अभ्रविकारं, तिलकं = ललाटाऽऽभरणं, चन्द्रसखे = चन्द्रसदृशे, सखीमुखे = वयस्यावदने, तद्वन्निजाऽऽस्येन्दुकृताऽनुबिम्बम् = अभ्रतिलकयुक्तस्व-मुखचन्द्रविहितप्रतिबिम्बं यथा तथा, दधाना = रचयन्ती, चन्द्राऽनवस्थां = चन्द्राऽ-नवस्थिति, चन्द्राऽसङ्कुचतामिति भावः, ससर्ज इव = जनयामास इव ॥ ६२ ॥

अनुवादः—दमयन्तीकी सभामें किसी सुन्दरीने चन्द्रके सदृश अभ्रकके तिलकको चन्द्रमाके सदृश सखीके मुखमें अभ्रकके तिलकसे युक्त अपने मुखचन्द्रसे प्रतिबिम्बित कर लगाती हुई मानो चन्द्रमाकी अनवस्था (अनेक संख्या) को उत्पन्न किया ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—चन्द्राऽऽभं = चन्द्रस्य इव आभा यस्य सः, तम् (व्यधिकरण बहु०) आभ्रम = अभ्रस्य विकारः, तम् (अभ्र + अण् + अम्)। चन्द्रसखे= चन्द्रस्य सखा (सदृशः) चन्द्रसखस्तस्मिन् (ष० त०)। सखीमुखे = सख्या मुखं, तस्मिन् (ष० त०)। तद्वन्निजाऽऽस्येन्दुकृताऽनुबिम्बं = तत् (आभ्र-तिलकम्) अस्ति यस्मिन् स तद्वान् (तद् + मतुप् + सुः)। निजं च तत् आस्यम् (क० धा०)। निजास्यम् एव इन्दुः (रूपक०)। कृतम् अभ्रबिम्बं यस्मिस्तत् (बहु०)। निजास्येन्दुना कृताऽनुबिम्बं (तृ० त०)। तद्यथा तथा, (क्रि० वि०)। दधाना = धत्त इति धा + लट् (शानच्) + टाप्। चन्द्राऽनवस्थां = न अवस्था (नञ्०)। चन्द्रस्य अनवस्था, ताम् (ष० त०), ससर्ज = सृज् + लिट् + तिप् (णल्)। इस पद्यमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा इनका अङ्गाऽङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६२ ॥

दलोदरे काञ्चनकैतकस्य क्षणान्मषीभावुक वर्णरेखम्।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी नखलेखनीभिः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—यत्र भैमी काञ्चनकैतकस्य दलोदरे क्षणात् मषीभावुकवर्णरेखं तस्य एव (कृते) स्वम् अनङ्गलेखं नखलेखनीभिः लिलेख ॥ ६३ ॥

व्याख्या—यत्र = दमयन्तीसभायां, भैमी = दमयन्ती, काञ्चनकैतकस्य = स्वर्णकेतकीपुष्पस्य, दलोदरे = पत्रमध्ये, क्षणात् = झटिति, मषीभावुकवर्णरेखं = श्यामीभवदक्षरविन्यासं, तस्य एव = नलस्य एव, कृते इति शेषः। स्वं= स्वकीयम्, अनङ्गलेखं = कामसन्देशं, नखलेखनीभिः = नखरूपलेखनसाधनैः, लिलेख = लिखितवती ॥ ६३ ॥

अनुवादः—सभामें दमयन्तीने सुवर्णकेतकी पुष्पके पत्तोंके भीतर कुछ ही क्षणमें स्याही होनेवाले अक्षरविन्याससे युक्त अपने कामसन्देशको नलके ही लिए नखरूप कलमोंसे लिखा ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—काञ्चनकैतकस्य = केतक्या विकारः कैतकम्, केतकी शब्दसे "तस्य विकारः" इस सूत्रसे अण् और आदि वृद्धि। काञ्चनं च तत् कैतकं, तस्य (क० धा०)। दलोदरे = दलस्य उदरं, तस्मिन् (ष० त०)। मषीभावुकवर्ण-

रेखं=भवनशीला भावुकाः, भू धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमभ्शृयभ्य उकञ्" इस सूत्रसे उकञ् प्रत्यय। मस्या भावुकाः (ष० त०)। वर्णानां रेखाः (ष० त०) मषीभावुका वर्णरेखा यस्मिन्, तम् (बहु)। अनङ्गलेखम् = अनङ्गस्य लेखः, तम् (ष० त०)। नखलेखनीभिः = नखा एव लेखन्यः, ताभिः (रूपक०)। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्याऽतिविख्याऽतिभृताऽपि यत्र।
अशाकि लीलाकमलं न पाणिमपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥ ६४ ॥

अन्वयः--यत्र लिपीषु अतिविख्यातिभृता अपि सख्या भीमभुवः लीलाकमलं विलेखितुम् अशाकि, पाणिं तु न अशाकि। कर्णोत्पलं विलेखितुम् अपारि, अक्षि तु न अपारि एव ॥ ६४ ॥

व्याख्या--यत्र = सभायां, लिपीषु = चित्रकर्मसु, अतिविज्यातिभृता अपि= अति प्रसिद्धिमत्या अपि, सख्या = वयस्यया, भीमभुवः = दमयन्त्याः, लीला-कमलं=विलासपद्मं, विलेखितुं=चित्रविषयीकर्तुम्, अशाकि=शक्तम्, पाणिं तु= दमयन्त्याः करं तु, विलेखितुमिति शेषः। न अशाकि = न शक्तम् तदपेक्षया उत्कृष्टत्वादिति भावः। कर्णोत्पलं = श्रोत्रकुवलयं, दमयन्त्या इति शेषः। विलेखितुं = चित्रविषयीकर्तुम्, अपारि=पारितं, अक्षि तु = दमयन्त्या नेत्रं तु, न अपारि एव = न पारितम् एव, विलेखितुमिति शेषः, यत्रसौन्दर्यस्य सर्वोप-मानाऽतीतत्वादिति भावः ॥ ६४ ॥

अनुवादः--जिस सभामें चित्रकर्मोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध होनेपर भी दमयन्ती-की सखी दमयन्तीके लीलाकमलको लिख सकी, परन्तु दमयन्तीके हाथको नहीं लिख सकी, उसी तरह वह दमयन्तीके कर्णभूषण कमलको लिख सकी, परन्तु दमयन्तीके नेत्रको नहीं लिख सकी ॥ ६४ ॥

टिप्पणी – लिपीषु = कृदिकारायक्तिनः" इससे ङीप्। अतिविख्यातिभृता = अत्यन्तं विख्यातिः (गति०)। तां बिभर्तीति अतिविख्यातिभृत्, तया। अति-विख्याति + भृ + क्विप् (उपपद०) + टा। भीमभुवः = भीमात् भवतीति भीम भूः, तस्याः, भीम + भू + क्विप् (गति०) + ङस्। लीलाकमलं = लीलायाः कमलं, तत् (ष० त०)। विलेखितुं = वि + लिख + तुमुन् "शक-धृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रसहाऽर्हाऽस्त्यर्थेषु तुमुन्" इस सूत्रसे शक धातु उपपद होनेसे तुमुन्। अशाकि = शक + लुङ् (भावमें) + त। कर्णोत्पलं = कर्णस्य उत्पलं, तत्। (ष० त०)। विलेखितुं = वि + लिख + तुमुन्। पर्याप्ति

अर्थमें "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" इस सूत्र से तुमुन् । अपारि = "पार (तीर) कर्मसमाप्तौ" धातुसे णिच् लुङ् (कर्ममें) + त ॥ ६४ ॥

भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः ।
गन्धर्ववध्वः स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—यत्र गन्धर्ववध्वः कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः (सन्) एत्य भैमीम् उपावीणयत ॥ ६५ ॥

व्याख्या—यत्र = दमयन्तीसभायां, गन्धर्ववध्वः = गन्धर्वाऽङ्गनाः एव, कलिप्रियस्य = कलहप्रियस्य, नारदस्येति भावः । प्रियशिष्यवर्गः = वल्लभच्छात्रसमूहः, स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः = स्वरक्षौद्रपूर्णदमयन्तीगलनालसमवल्लकीकः सन्, एत्य = आगत्य, भैमीं = दमयन्तीम्, उपावीणयत् = उपागायत् ॥ ६५ ॥

अनुवादः—जिस सभामें नारदकी प्रिय शिष्याएँ गन्धर्वोंकी स्त्रियाँ मधु- (शहद) के समान स्वरसे पूर्ण दमयन्तीके कण्ठनालके सदृश वीणाको लेती हुई आकर दमयन्तीको बीनसे गाती थीं ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—गन्धर्भवध्वः=गन्धर्वाणां वध्वः (ष० त०) । कलिप्रियस्य=प्रियः कलिः (कलहः) यस्य सः, तस्य (बहु०) । "वा प्रियस्य" इस वार्तिकसे प्रिय शब्दका परनिपात । प्रियशिष्यवर्गः = प्रियाश्च ते शिष्याः (क० धा०), तेषां वर्गः (ष० त०) । स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः=स्वर एव मधु (रूपक०) । न रीणम् अरीणम् (नञ्) । रीङ्+क्त=रीणम् । "स्यन्नं रीणं स्नुतं स्रुतम्" इत्यमरः । स्वरमधुना अरीणम् (तृ० त०) । कण्ठ एव नालम् (रूपक०) । तस्याः कण्ठनालं (ष० त०), स्वरमध्वरीणं च तत्कण्ठनालम् (क० धा०) । एका चाऽसौ धूः एकधुरा (क० धा०), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासान्त अप्रत्यय और टाप् । एकधुरां वहन्तीति एकधुरीणाः, एकधुराशब्दसे "एकधुराल्लुक् च" इस सूत्रसे खच् और मुम् आगम । एकधुरीणा वीणा यस्य सः (बहु०) । तत्कण्ठनालेन एकधुरीणवीणः (तृ० त०) । दमयन्तीका कण्ठस्वर बीनके स्वरके समान था, इसलिए दमयन्तीके कण्ठरूप बीनके नालके साथ एक ही भारको धारण करनेवाली वीणाको लेनेवाली गन्धर्वस्त्रियां यह भाव है । एत्य = आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्) । उपावीणयत् = वीणया उपागायत्, उप+आङ्+वीणा+णिच्+लङ्+तिप् । "सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो

णिच्" इससे णिच् हुआ है। इस पद्यमें रूपक और उपमाका संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

नावा स्मरः किं हरभीतिगुप्तेः पयोधरे खेलति कुम्भ एव ।
इत्यर्धचन्द्राऽऽभनखाऽङ्कचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीभिरूचे ॥ ६६ ॥

अन्वयः—यत्र अर्धचन्द्राऽऽभनखाऽङ्कचुम्बिकुचा सखी "स्मरः हरभीतिगुप्तेः पयोधरे एव कुम्भे नावा खेलति किम् ?" इति सखीभिः ऊचे ॥ ६६ ॥

व्याख्या—यत्र = भैमीसभायाम्, अर्धचन्द्राऽऽभनखाऽङ्कचुम्बिकुचा = अर्धचन्द्राकारनखक्षतयुक्तपयोधरा, सखी = वयस्या, स्मरः = कामः, हरभीतिगुप्तेः = शम्भुभयरक्षाऽर्थं, पयोधरे = क्षीरधरे, नीरधरे, वा एव, कुम्भे = कलशे, नावा = नौकया, नखाङ्केनैवेति शेषः। खेलति किं = विहरति किम्, दाहपरिहारायेति शेषः। इति = एवं, सखीभिः = वयस्याभिः, ऊचे = उक्ता ॥ ६६ ॥

अनुवादः—दमयन्तीकी जिस सभामें अर्धचन्द्रके सदृश नखक्षतसे युक्त स्तनोंवाली सखीको सखियोंने—"हे सखि ! कामदेव महादेवके भयसे रक्षाके लिए तुम्हारे स्तनरूप कुम्भमें नखक्षतरूप नौकासे विहार करता है क्या ?" ऐसा वाक्य कहा ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—अर्द्धचन्द्राऽऽभनखाऽङ्कचुम्बिकुचा = अर्द्धं चाऽसौ चन्द्रः (क० धा०)। नखस्य अङ्कः (ष० त०)। अर्द्धचन्द्रस्येव आभा यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) : अर्द्धचन्द्राभश्चाऽसौ नखाऽङ्कः (क० धा०)। तं चुम्बत इति अर्द्धचन्द्राऽऽभनखाऽङ्कचुम्बिनौ, (अर्द्धचन्द्राऽऽभनखाऽङ्क + चुम्बि + णिनिः (उपपद०) + औ। तौ कुचौ यस्याः सा (बहु०)। हरभीतिगुप्तेः = हरात् भीतिः (प० त०), तस्या गुप्तिः, तस्याः (ष० त०)। सम्बन्धसामान्यमें षष्ठी। पयोधरे = धरतीति धरः, धृञ् + अच्। पयसां (क्षीराणां नीराणां च) धरः, तस्मिन् (ष० त०)। "पयः स्यात् क्षीरनीरयोः" इति विश्वः। ऊचे = ब्रूञ् + लिट् (कर्ममें)—त (एश्)। इस पद्यमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६६ ॥

स्मराऽऽशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षो यदक्षोभि खलु प्रसूनैः ।
स्रजं सृजन्त्या तदशोधि तेषु यत्रैकया सूचिशिखां निखाय ॥ ६७ ॥

अन्वयः—प्रसूनैः स्मराऽऽशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षः यत् अक्षोभि, खलु तत् यत्र तेषु सूचिशिखां निखाय स्रजं सृजन्त्या एकया अशोधि ॥ ६७ ॥

व्याख्या—प्रसूनैः = पुष्पैः, स्मराऽऽशुगीभूय = कामबाणा भूत्वा, विदर्भसुभ्रूवक्षः = दमयन्तीहृदयं, यत् अक्षोभि = क्षोभितं, खलु = निश्चयेन, तत् = क्षोभणवैरं, यत्र = दमयन्तीसभायां, तेषु = प्रसूनेषु, सूचिशिखां = सूच्यग्रं, निखाय = आरोप्य, स्रजं = पुष्पमालां, सृजन्त्या = रचयन्त्या, एकया = सख्या, अशोधि = निर्यातितम्, हृदयच्छेदिनां हृदयच्छेद एव प्रतीकार इति भावः ॥ ६७ ॥

अनुवादः—फूलोंने कामके बाण होकर दमयन्तीके हृदयको जो पीडित किया था जिस सभामें उन्हीं फूलोंमें सूईकी नोंकको चुभाकर माला बनानेवाली एक सखीने उसका बदला लिया ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—स्मराऽऽशुगीभूय = स्मरस्य आशुगाः (ष० त०)। अस्मराऽऽशुगाः स्मराऽऽशुगा यथा संपद्यन्ते तथा भूत्वा स्मराऽऽशुग + च्वि + भू + क्त्वा (ल्यप्)। विदर्भसुभ्रूवक्षः = शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः (बहु०)। विदर्भाणां सुभ्रूः (ष० त०), तस्या वक्षः (ष० त०)। अक्षोभि = क्षुभ् + णिच् + लुङ (कर्ममें)—त। सूचिशिखां=सूचेः शिखा, ताम् (ष० त०)। निखाय=नि + खन् + क्त्वा (ल्यप्)। सृजन्त्या = सृज + लट् (शतृ) + ङीप् + टा। अशोधि = शुध् + लुङ् (भावमें)—त ॥ ६७ ॥

यत्राऽवदत्तामतिभीय भैमी "त्यज त्यजेदं सखि ! साहसिक्यम्।
त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान्प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥" ६८ ॥

अन्वयः—यत्र तां भैमी अतिभीय—"हे सखि ! इदं साहसिक्यं त्यज त्यज। त्वम् एव प्रसूनानि (एव) बाणान् गुणेन सज्जान् कृत्वा मदनाय दत्से" इति अवदत् ॥ ६८ ॥

व्याख्या—यत्र = सभायां, तां = मालास्रष्ट्रीं सखी, भैमी = दमयन्ती, अतिभीय = अत्यन्तं भीत्वा, "हे सखि = हे वयस्ये !, इदं = मालाग्रथनरूपं, साहसिक्यम् = अविमृश्यकारित्वं, त्यज त्यज = मुञ्च मुञ्च, त्वम् एव, प्रसूनानि= पुष्पाणि एव, बाणान्=शरान्, गुणेन=तन्तुना ज्यया च, सज्जान् = सक्तान्, कृत्वा = विधाय, मदनाय = कामदेवाय, दत्से = ददासि, इति = एतादृशं वाक्यम्, अवदत् = उक्तवती ॥ ६८ ॥

अनुवादः—जिस सभामें माला बनानेवाली सखीको दमयन्तीने बहुत डरकर—"हे सखि ! इस अविवेकपूर्ण कार्यको छोड़ो छोड़ो। तुम ही फूलरूप

बाणोंको तन्तु और प्रत्यञ्चासे सन्नद्ध करके कामदेवको देती हो" ऐसा कहा ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—अतिभीय = अति + भी + क्त्वा (ल्यप्)। सहसा वर्तते इति साहसिकी, "सहसा" शब्दसे "ओजः सहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः" इस सूत्रसे ठक् प्रत्यय, और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप्। साहसिक्याः कर्म साहसिक्यं तत् साहसिकी + ष्यञ् + अम्। गुणेन="गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियाऽमुख्यतन्तुषु।" इति वैजयन्ती। दत्से = (डु) दाञ् + लट्—थास् ॥ ६८ ॥

आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण।
यत्राऽवदत्तामियमालि! यानं मन्ये त्वदेकाऽऽवलिनाकनद्याः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—यत्र सुमध्या सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये मकरीं करेण आलिख्य ताम् "हे आलि! इयं त्वदेकाऽऽवलिनाकनद्याः यानम् मन्ये" इति अवदत् ॥६९॥

व्याख्या—यत्र = सभायां, सुमध्या = सुन्दराऽवलग्ना काऽपि सखी, सख्याः = वयस्यायाः, कुचपत्रभङ्गीमध्ये = स्तनपत्ररचनाऽन्तरे, मकरीं = जलजन्तुविशेष-भार्यां, करेण = हस्तेन, आलिख्य = लिखित्वा, तां = सखीं, हे आलि = हे वयस्ये!, इयं = सन्निकृष्टस्था, त्वदेकावलिनाकनद्याः = त्वद्धारविशेषमन्दा-किन्याः, यानं=वाहनम्, मन्ये=उत्प्रेक्षे। इति = एवम्, अवदत्=उक्तवती ॥ ६९ ॥

अनुवादः—जिस सभामें किसी सखीने अपनी सखीके कुचोंकी पत्ररचनाके बीचमें मकरीको हाथसे लिखकर उसे "हे सखि! यह तुम्हारी एकावली नामक एक लड़ीकी मोतीकी मालारूप मन्दाकिनीकी मानो वाहन है" ऐसा कहा ॥६९॥

टिप्पणी—सुमध्या = शोभनं मध्यं यस्याः सा (बहु०)। सुन्दर कमरवाली यह तात्पर्य है। "मध्यमं वाऽवलग्नं च मध्योऽस्त्री" इत्यमरः। कुचपत्रभङ्गी-मध्ये=पत्राणां भङ्ग्यः (ष० त०)। कुचयोः पत्रभङ्ग्यः (ष० त०) तासां मध्यं, तस्मिन् (ष० त०)। आलिख्य = आङ् + लिख + क्त्वा (ल्यप्)। त्वदेकावलिनाकनद्याः=एका चाऽसौ आवलिः (क० धा०), "एकावल्येकयष्टिका" इत्यमरः। नाकस्य नदी (ष० त०)। तव एकाऽऽवलिः (ष० त०)। सा एव नाकनदी (रूपक०), तस्याः। "सितमकरनिषण्णा" ऐसे वचनसे सफेद मकर (जलजन्तुविशेष) गङ्गाका वाहन है ऐसी प्रतीति होती है। यानं= याति अनेन इति, या + ल्युट् (करणमें)। इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६९ ॥

तामेव सा यत्र जगाद भूयः पयोधियादः कुचकुम्भयोस्ते ।
सेयं स्थिता तावकहृच्छयाऽङ्कप्रियाऽस्तु विस्तारयशःप्रशस्तिः । ७० ॥

अन्वयः—यत्र सा ताम् एव "पयोधियादः तावकहृच्छयाऽङ्कप्रिया ते कुचकुम्भयोः स्थिता सा इयं विस्तारयशःप्रशस्तिः अस्तु" (इति) भूयो जगाद ॥ ७० ॥

व्याख्या—यत्र = दमयन्तीसभायां, सा = पूर्वोक्ता प्रसाधिका, ताम् एव = पूर्वोक्ताम् एव सखीं, पयोधियादः = समुद्रजलजन्तुः, तावकहृच्छयाऽङ्कप्रिया = त्वन्मनसिजमकरवल्लभा, ते = तव, कुचकुम्भयोः = स्तनकलशयोः, स्थिता = विद्यमाना, सा = तादृशी, इयं = मकरी, विस्तारयशःप्रशस्तिः = परिणाहकीर्तिस्तुतिवर्णावलिः, अस्तु = भवतु । (इति = एवम्) भूयः = पुनरपि, जगाद उक्तवती ॥ ७० ॥

अनुवादः—जिस सभामें प्रसाधन करनेवाली सखीने उसी सखीको "तुम्हारे हृदय में रहनेवाले कामदेवके चिह्न समुद्रके जलजन्तु मकरकी प्रिया तुम्हारे स्तनकलशोंमें विद्यमान यह मकरी स्तनोंके विस्तार और कीर्तिकी स्तुतिवर्णावलि हो" ऐसा वाक्य फिर भी कहा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—पयोधियादः = पयोधेर्यादः (ष० त०) "यादांसि जलजन्तवः" इत्यमरः । तावकहृच्छयाऽङ्कप्रिया = तावकश्चाऽसौ हृच्छयः (मकरध्वजः), (क० धा०) । तस्य अङ्कः (चिह्नभूतः मकरः) (ष० त०), तस्य प्रिया (ष० त०) । कुचकुम्भयोः = कुचौ एव कुम्भौ, तयोः (रूपक०) । विस्तारयशःप्रशस्तिः = विस्तारश्च यशश्च विस्तारयशसी (द्वन्द्वः), तयोः प्रशस्तिः (ष० त०) । अस्तु = अस् + लोट्—तिप् । जगाद = गद + लिट्—तिप् (णल्) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ७० ॥

शारीं चरन्तीं सखि ! मारयैनामित्यक्षदाये कथिते कयाऽपि ।
यत्र स्वघातभ्रमभीरुशारी काकूत्यसाकूतहसः स जज्ञे ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यत्र स कया अपि "हे सखि ! एनां चरन्तीं शारीं मारय" इति अक्षदाये कथिते स्वघातभ्रमभीरु शारीकाकूत्थसाऽऽकूतहसः जज्ञे ॥ ७१ ॥

व्याख्या—यत्र = यस्यां सभायां, सः = नलः, कया अपि = पाशकक्रीडनशीलया नार्या, हे सखि = हे वयस्ये !, एनाम् = इमां, चरन्तीं = भ्रमन्तीं, शारीम् = अक्षोपकरणं दारुविकारं, मारय = प्रहर, इति = एवम्, अक्षदाये = पाशकदाने, कथिते = अभिहिते सति, स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थसाकूतहसः =

निजव्यापादनभ्रान्तिभीतशारिकाविकृतस्वरोत्थितभावगर्भहास्ययुक्तः, जज्ञे = संवृत्तः ॥ ७१ ॥

अनुवादः—जिस सभामें चौसर खेलनेवाली किसी स्त्रीके "हे सखि ! इस चलती हुई गोटीको मारो" ऐसा चौसरके खेलमें कहनेपर अपने मारे जानेकी भ्रान्ति से डरपोक मैनाके विकृत स्वरसे नलको भावपूर्ण हास्य उत्पन्न हुआ ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—चरन्तीं=चर+लट् (शतृ)+ङीप्+अम् । शारीं="शारी त्वक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तरे ।" इति विश्वः । शारीका अर्थ पाशा खेलनेकी गोटी और मैना (पक्षिविशेष) है । इस पद का यहाँपर गोटीके अर्थमें प्रयोग है परन्तु मैना अपने ही अर्थमें इसका प्रयोग समझकर अपने मारे जानेका भय करती है यह तात्पर्य है । मारय=मृङ्+णिच्+लोट्—सिप् । अक्षदाये= अक्षाणां दायः, तस्मिन् (ष० त०) । "अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते" इत्यमरः । "दायो दाने यौतकादिधने वित्ते च पैतृके ।" इति वैजयन्ती । स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थसाऽऽकूतहसः = स्वस्य घातः (ष० त०), तस्मिन् भ्रमः (स० त०), तेन भीरुः (तृ० त०), सा चाऽसौ शारी (क० धा०), तस्याः काकुः (ष० त०), तया उत्थः (तृ० त०) । आकूतेन सहितः साकूतः (तुल्ययोगबहु०) । स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थः साऽऽकूतः हसः (हासः) यस्य सः (बहु०) । हस धातुसे "स्वनहसोर्वा" इस सूत्रसे विकल्पसे अप् प्रत्यय होकर "हसः" ऐसा पद निष्पन्न होता है । एक पक्षमें घञ् होकर "हासः" ऐसा पद भी बनता है । जज्ञे = जन्+लिट्—त । इस पदमें भावोदय अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

> **भैमीसमीपे स निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीम् ।**
> **कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानमूहे ॥ ७२ ॥**

अन्वयः—यत्र स भैमीसमीपे ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीं निरीक्ष्य कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानम् ऊहे ॥ ७२ ॥

व्याख्या—यत्र सभायां, सः = नलः, भैमीसमीपे = दमयन्तीनिकटे, ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीं = नागवल्लीदलसुवर्णमरालमूर्तिशोभां, निरीक्ष्य = दृष्ट्वा, कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानं = विहितभैमीदौत्यमहोपकृतिहंसभ्रमदार्ढ्यम्, ऊहे = ऊढवान् ॥ ७२ ॥

अनुवाद:—जिस सभामें नलने दमयन्तीके निकट रक्खी गई सोनेकी हंसमूर्ति-वाली पानदानकी शोभा को देखकर प्रिया (दमयन्ती) के दौत्यरूप महान् उपकार करनेवाले राजहंसकी भ्रान्तिकी दृढ़ताको धारण किया ।। ७२ ।।

टिप्पणी—भैमीसमीपे = भैम्याः समीपः, तस्मिन् (ष० त०) । ताम्बूल-जाम्बूनदहंसलक्ष्मीं=जाम्बूनदस्य हंसः (ष० त०) । "रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनद-मष्टापदोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः । ताम्बूलस्य जाम्बूनदहंसः (ष० त०), तस्य लक्ष्मीः ताम् (ष० त०) । निरीक्ष्य = निर् + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानं = प्रियाया दूत्यम् (ष० त०) । महांश्चाऽसौ उपकारः (क० धा०) । कृतः प्रियादूत्यम् एव महोपकारो येन सः (बहु०) । स चाऽसौ मरालः (क० धा०), तस्मिन् मोहः (स० त०) । दृढस्य भावो द्रढिमा, दृढ शब्दसे इमनिच् प्रत्यय और "र ऋतो हलादेर्लघोः" इस सूत्रसे 'ऋ' का 'र' भाव । कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहस्य द्रढिमा, तम् (ष० त०) । ऊहे = वहः + लिट् (कर्ममें)—त । "वचिस्वपियजादीनां किति" इस सूत्रसे सम्प्रसारण ।। ७२ ।।

तस्मिन्नियं सेति सखीसमाजे नलस्य सन्देहमथ व्युदस्यन् ।
अपृष्ट एव स्फुटमाचचक्षे स कोऽपि रूपाऽतिशयः स्वयं ताम् ।। ७३ ।।

अन्वयः—अथ तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देहं व्युदस्यन् स कोऽपि रूपाऽतिशयः स्वयम् अपृष्ट एव तां स्फुटम् आचचक्षे ।। ७३ ।।

व्याख्या—अथ = सभाऽवलोकनाऽनन्तरं, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, सखीसमाजे = दमयन्तीवयस्यापरिषदि, नलस्य = नैषधस्य, सन्देहं = संशयम्, कतमाऽत्र भैमीत्या-कारकमिति शेषः । व्युदस्यन् = निराकुर्वन्, सः = प्रसिद्धः, कोऽपि = अनिर्वाच्यः, रूपाऽतिशयः = सौन्दर्यविशेषः, स्वयम् = आत्मनैव, अपृष्ट एव = अनयुक्त एव, तां = भैमीं, स्फुटं = प्रकटम्, आचचक्षे = आख्यातवान् ।। ७३ ।।

अनुवाद:—सभा देखने के अनन्तर दमयन्तीके उस सखीसमाजमें नलके सन्देहको हटाता हुआ प्रसिद्ध अनिर्वाच्य सौन्दर्यविशेषने अपने आप पूछे बिना ही दमयन्तीको स्पष्ट रूपसे कह दिया ।। ७३ ।।

टिप्पणी—सखीसमाजे=सखीनां समाजः, तस्मिन् (ष० त०) । व्युदस्यन्= वि + उद् + अस् + लट् (शतृ) + सु । रूपाऽतिशयः = रूपस्य अतिशयः (ष० त०) । अपृष्टः = न पृष्टः (नञ्०) । आचचक्षे = आङ् + चक्ष + लिट्—त (एश्) ।। ७३ ।।

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्तदाकृतीनां भुवि कल्पितानाम् ।
नाऽर्तकि मध्ये स्फुटमप्युदीतं तस्याऽनुबिम्बं मणिवेदिकायाम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—भैमीविनोदाय मुदा सखिभिः भुवि कल्पितानां तदाकृतीनां मध्ये मणिवेदिकायां स्फुटम् उदीतम् अपि तस्य अनुबिम्बं न अर्तकि ॥ ७४ ॥

व्याख्या—भैमीविनोदाय = दमयन्त्युत्कण्ठाऽपनयाय, मुदा = हर्षेण, सखीभिः=वयस्याभिः, भुवि = भूतले, कल्पितानां = रचितानां, तदाकृतीनां= नलाऽऽकाराणां, मध्ये = अन्तरे, मणिवेदिकायां = रत्नखचितपरिष्कृतभूमौ, स्फुटं = व्यक्तम्, उदीतम् अपि=जातम् अपि, तस्य =नलस्य, अनुबिम्बं= प्रतिबिम्बं, न अर्तकि = न तर्कितम् ॥ ७४ ॥

अनुवादः—दमयन्तीका दिल बहलाने के लिए हर्षपूर्वक सखियों ने भूतल में रचित नलके चित्रोंके बीच रत्नोंकी वेदिमें प्रकट होनेपर भी नलके प्रतिबिम्बकी तर्कना नहीं की ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—भैमीविनोदाय = भैम्या विनोदः, तस्मै (ष० त०) । तदाकृतीना = तस्य आकृतयः, तासाम् (ष० त०) । मणिवेदिकायां = मणीनां वेदिका, तस्याम् (ष०त०) । इस पद्यमें सामान्य अलङ्कारसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है, इस प्रकार अलङ्कारसे अलङ्कारध्वनि है ॥ ७४ ॥

हुताऽशकीनाशजलेशदूतीर्निराकरिष्णोः कृतकाकुयाच्ञाः ।
भैम्या वचोभिः स निजां तदाशां न्यवर्तयद् दूरमपि प्रयाताम् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—कृतकाकुयाच्ञाः हुताऽशकीनाशजलेशदूतीः निराकरिष्णोः भैम्याः वचोभिः स दूरं प्रयाताम् अपि निजां तदाशां न्यवर्तयत् ॥ ७५ ॥

व्याख्या—कृतकाकुयाच्ञाः = विहितदीनस्वरयाचनाः, हुताऽशकीनाशजलेशदूतीः = अग्नियमवरुणसन्देशहराः, निराकरिष्णोः = निराकरणशीलायाः, भैम्याः = दमयन्त्याः, वचोभिः = वचनैः, सः = नलः, दूरं = विप्रकृष्टदेशं, प्रयाताम् अपि=प्रगताम् अपि, अग्न्यदिकपटेन लुप्तप्रायाम् अपि इति भावः । निजां = स्वकीयाम्, आशां = दमयन्ती तृष्णां, न्यवर्तयत् = निर्वर्तितवान् । नलः पुनर्दमन्तीप्राप्त्याशामकरोदिति भावः ॥ ७५ ॥

अनुवादः—दीन स्वरसे याचना करनेवाली अग्नि, यम और वरुणकी दूतियों को निषेध करनेवाली दमयन्तीके वचनोंसे नलने दूर गई हुई अपनी दमयन्तीकी आशाको फिर लौटा लिया ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—कृतकाकुयाच्ञाः = काक्वा याच्ञाः (तृ० त०), कृता काकुयाच्ञा याभिः, ताः (बहु०)। हुताऽशकीनाशजलेशदूतीः = जलस्य ईशः (ष० त०)। हुताशश्च कीनाशश्च जलेशश्च (द्वन्द्वः). हुताशकीनाशजलेशानां दूत्यः। ताः (ष० त०)। "कीनाशः कर्षकक्षुद्रोपांशुघातिषु वाच्यवत्। यमे ना" "इति मेदिनी। निराकरिष्णोः = निर + आङ् + कृञ्, धातुसे "अलङ्कृञ्०" इत्यादि सूत्रसे इष्णुच् प्रत्यय। तदाशां = तस्याम् आशा ताम् (स० त०)। न्यवर्तयत् = नि + वृत् + णिच् + लङ् – तिप्॥ ७५॥

विज्ञप्तिमन्तः सभयः स भैम्यां मध्येसभं वासवशम्भलीयाम्।
सम्भावयामास भृशं कृशाऽऽशस्तदालिवृन्दैरभिनन्द्यमानाम्॥ ७६॥

अन्वयः—स मध्येसमं तदालिवृन्दैः अभिनन्द्यमानां वासवशम्भलीयां भैम्यां विज्ञप्तिम् अन्तः सभयः कृशाऽऽशः (सन्) भृशं संभावयामास॥ ७६॥

व्याख्या—सः = नलः, मध्येसभं = सभाया मध्ये, तदालिवृन्दैः = भैमीसखीसङ्घैः, अभिनन्द्यमानाम् = अभिनन्दितां, वासवशम्भलीयां = महेन्द्रदूतीसम्बन्धिनीं, भैम्यां = दमयन्त्यां विषये, विज्ञप्ति=वक्ष्यमाणं विज्ञापनम्, अन्तः = अन्तःकरणे, सभयः=भीतियुक्तः, इन्द्रगौरवादियं स्वीकरिष्यतीति मत्वेति शेषः। अत एव कृशाऽऽशः = दुर्बलाऽभिलाषः सन्, भैमीप्राप्ताविति शेषः। भृशम् = अत्यर्थं, सम्भावयामास=सम्भावितवान्। अत्यवधानेन शुश्रावेति भावः॥ ७६॥

अनुवादः—नलने सभाके बीच दमयन्तीकी सखियों से अभिनन्दित, इन्द्रकी दूतीकी दमयन्तीके प्रति प्रार्थनाको अन्तःकरणमें भयसे युक्त होकर और दमयन्तीको पानेमें निराश होते हुए अतिसावधानतापूर्वक सुना॥ ७६॥

टिप्पणी—मध्येसभं = सभाया मध्ये, "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इस सूत्रसे अव्ययीभाव। तदालिवृन्दैः = आलीनां वृन्दानि (ष० त०), तस्या आलिवृन्दानि, तैः (ष० त०)। वासवशम्भलीयां = वासवस्य शम्भली (ष० त०), "वासवो वृत्रहा वृषा" इति "शम्भली कुट्टनी समे।" इत्युभयत्रापि अमरः। "सम्भली" शब्द दन्त्यादि भी होता है। वासवशम्भल्या इयं वासवशम्भलीया, ताम्। वासवशम्भली + छ (इय) + टाप् + अम्। विज्ञप्ति = वि + ज्ञा + णिच् + क्तिन् + अम्। वास्तवमें "ण्यासश्रन्थो युच्" इस सूत्रसे क्तिन्का अपवाद युच्का विधान होकर "विज्ञापना" ऐसा पद बनता है, "विज्ञप्ति" नहीं। सभयः = भयेन सहितः (तुल्ययोग बहु०)। कृशाऽऽशः=कृशा आशा यस्य सः

(बहु०) । सम्भावयामास = सम् + भू + णिच् + अस् + लिट्—तिप् (णल्) ॥ ७६ ॥

लिपिर्न दैवी सुपठा भुवीति तुभ्यं मयि प्रेषितवाचिकस्य ।
इन्द्रस्य दूत्यां रचय प्रसादं विज्ञापयन्त्यामवधानदानम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) दैवी लिपिः भुवि सुपठा न, इति तुभ्यं प्रेषितवाचिकस्य इन्द्रस्य दूत्यां मयि विज्ञापयन्त्याम् अवधानदान प्रसादं रचय ॥ ७७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) दैवी = देवसम्बन्धिनी, लिपि = लिविः, भुवि = भूलोके, सुपठा = सुखेन पठितुं शक्या, न = नाऽस्ति, इति = अस्माद्धेतोः, तुभ्यं = त्वदर्थं, प्रेषितवाचिकस्य = प्रहितसन्देशवाक्यस्य, इन्द्रस्य = देवेन्द्रस्य, दूत्यां = शम्भल्यां, मयि विज्ञापयन्त्यां = निवेदयन्त्याम्, अवधानदानम्, एकाग्रचित्तत्ववितरणम् एव, प्रसादम् = अनुग्रहं, रचय = कुरु ॥ ७७ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) देवलिपि पृथ्वीपर नहीं पढ़ी जा सकती है इस कारणसे आपके लिए सन्देशवाक्यको भेजनेवाले इन्द्रकी दूती, निवेदन करनेवाली मेरे ऊपर एकाग्रतारूप अनुग्रह कीजिए ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—दैवी = देव + अण् + ङीप् + सु । सुपठा = सुखेन पठितुं शक्या "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्राऽर्थेषु खल्" इससे खल्, सु + पठ + खल् + टाप् + सु । प्रेषितवाचिकस्य = व्याहृताऽर्था वाक् वाचिकं, 'वाच्' शब्दसे "वाचो व्याहृताऽर्थायाम्" इस सूत्रसे स्वाऽर्थमें ठक् (इक) प्रत्यय । "सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्" इत्यमरः । प्रेषितं वाचिकं येन, तस्य (बहु०) । विज्ञापयन्त्यां = वि + ज्ञा + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् + ङि । अवधानदानम् = अवधानस्य दानं, तत् (ष० त०) "अवधानं समाधानं प्रणिधानं तथैव च ।" इत्यमरक्षेपकः । रचय = रच + णिच् + लोट्—सिप् ॥ ७७ ॥

सलीलमालिङ्गनयोपपीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम् ।
शेषस्त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैस्तद्रोमभिः सन्दिदिशे भवत्यै ॥ ७८ ॥

अन्वयः—(हे भैमि) वासवः त्वां सलीलम् आलिङ्गनया उपपीडम् अनामयं पृच्छति । शेषः त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैः तद्रोमभिः भवत्यै सन्दिदिशे ॥ ७८ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) वासवः = इन्द्रः, त्वां = भवतीं, सलीलं = सविलासम्, **आलिङ्गनया=आलिङ्गनेन, उपपीडम् = उपपीड्य, गाढमालिङ्ग्येति**

भावः। अनामयम् = आरोग्यं, पृच्छति = अनुयुनक्ति। शेषः = कार्यशेषस्तु, त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैः = त्वदालिङ्गनकथनविकसितैः, तद्रोमभिः = इन्द्रलोमभिः, भवत्यै = तुभ्यं, सन्दिदिशे = सन्दिष्टः ॥ ७८ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) इन्द्र आपको विलासपूर्वक आलिङ्गनसे पीडित कर आरोग्य पूछते हैं। कार्यशेष आपके आलिङ्गनके कथनसे विकसित उनके रोमोंने ही आपको सन्देश दिया है ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—सलीलं = लीलया सहितं, (तुल्ययोगबहु०) क्रि० वि०। आलिङ्गनया = आङ् + लिगि + णिच् + युच् (अन) + टाप् + टा। उपपीडम् = उप-उपसर्गपूर्वक पीडधातुसे तृतीयान्त उपपदमें "सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः" इस सूत्रसे णमुल् प्रत्यय। अनामयं=न आमयः अनामयः, तम् (नञ्०)। दमयन्ती क्षत्रियकन्या थी अतः "क्षत्रबन्धुमनामयम्" भगवान् मनुकी इस उक्तिके अनुसार यह उक्ति है। त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैः = तव आश्लेषः (ष० त०), तस्य कथा (ष० त०)। विगता निद्रा येषां तानि विनिद्राणि (बहु०)। त्वदाश्लेषकथया विनिद्राणि, तैः (तृ० त०)। तद्रोमभिः = तस्य रोमाणि, तैः (ष० त०)। सन्दिदिशे = सम् + दिश + लिट् (कर्ममें) — त ॥ ७८ ॥

यः प्रेर्यमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्थनायां ह्रियमापदागः।
स्वयंवरस्थानजुषस्तमस्य बधान कण्ठं वरणस्रजेव ॥ ७९ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) मघोनः यः त्वदर्थनायां हृदा प्रेर्यमाणः अपि ह्रियम् (एव) आगः आपत्। स्वयंवरस्थानजुषः अस्य तं कण्ठं वरणस्रजा एव बधान ॥ ७९ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) मघोनः = इन्द्रस्य, यः = कण्ठः, त्वदर्थनायां = त्वत्प्रार्थनायां विषये, हृदा = मनसा, प्रेर्यमाणः अपि = प्रेरितोऽपि, ह्रियं = लज्जाम् एव, आगः = अपराधम्, आपत् = प्राप्तवान्, हीनस्याऽधिकं प्रति याचनासङ्कोचोऽपि अपराध एवेति भावः। अतः स्वयंवरस्थानजुषः = स्वयंवरस्थलस्थितस्य, अस्य = मघोनः, तं = तादृशं, कण्ठं = गलं, वरणस्रजा एव = वरस्वीकरणमाल्येन एव, बधान = बद्धं कुरु, एतादृशाऽपराधिन एतादृश एव दण्ड इति भावः ॥ ७९ ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) इन्द्रके जिस कण्ठने आपकी प्रार्थनाके विषयमें हृदयसे प्रेरित होते हुए भी लज्जारूप अपराधको प्राप्त किया था। स्वयंवरके

स्थानमें प्राप्त उन (इन्द्र) के उस कण्ठको आप वरणके फूलोंकी मालासे बाँध दीजिए ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—त्वदर्थनायां = तव अर्थना, तस्याम् (ष० त०) । आगः = "आगोऽपराधो मन्तुश्च" इत्यमरः । आपत्=आप + लुङ् – च्लि (अङ्) + तिप् । स्वयंवरस्थानजुषः = स्वयंवरस्य स्थानम् (ष० त०) तज्जुषत इति स्वयंवरस्थानजुट्, तस्य, स्वयंवरस्थान + जुष् + क्विप् (उपपद०) + ङस् । वरण-स्रजा=वरणस्य स्रक्, तया (ष० त०) । बधान = बन्ध + लोट्—सिप् । ऐसे अपराधी इन्द्रको ऐसा ही दण्ड देना चाहिए यह भाव है । आप लज्जा छोड़कर प्रार्थना करनेवाले इन्द्र के अभिलाषको पूर्ण करें, यह तात्पर्य है ॥ ७९ ॥

नैनं त्यज, क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्याऽनुजायोद्गमिताऽमरैः श्रीः ।
अस्मै विमथ्येक्षुरसोदमन्यां श्राम्यन्तु नोत्थापयितुं श्रियं ते ॥ ८० ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) एनं न त्यज । यैः अमरैः अस्य अनुजाय क्षीरधि-मन्थनात् श्रीः उद्गमिता; ते अस्मै इक्षुरसोदं विमथ्य अन्यां श्रियम् उत्थापयितुं न श्राम्यन्तु ॥ ८० ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) एनम् = इन्द्रं, न त्यज = नो मुञ्च । तथाहि यैः, अमरैः=देवैः, अस्य = इन्द्रस्य, अनुजाय = अवरजाय, उपेन्द्रायेति भावः । क्षीरधिमन्थनात् = क्षीरसमुद्रमथनात् उपायात्, श्रीः = लक्ष्मीः, उद्गमिता = उत्थापिता, ते = अमराः, अस्मै = इन्द्राय, इक्षुरसोदम्=इक्षुरससमुद्रं, विमथ्य = मथित्वा, अन्याम् = अपरां, श्रियं = लक्ष्मीम्, उत्थापयितुं = निर्गमयितुं, न श्राम्यन्तु = न प्रयस्यन्तु ॥ ८० ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) इन इन्द्रको मत छोड़िए । जिन देवताओं ने इन-(इन्द्र) के अनुज (छोटे भाई) उपेन्द्र (विष्णु) के लिए क्षीरसमुद्रको मथन करनेसे लक्ष्मीको निकाला, वे देवता उन (इन्द्र) के लिए इक्षुरस नामके समुद्र-को मथन करके दूसरी लक्ष्मीको निकालनेके लिए प्रयास (परिश्रम) न करें ॥ ८० ॥

टिप्पणी—त्यज = त्यज + लोट्—सिप् । अनुजाय = "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इस वार्तिकसे तादर्थ्यमें चतुर्थी । क्षीरधिमन्थनात् = क्षीरधेः मन्थनं, तस्मात् (ष० त०) । उद्गमिता = उद् + गम्+णिच् + क्त + टाप् + सु । अस्मै = तादर्थ्यमें चतुर्थी । इक्षुरसोदम् = इक्षो रसः (ष० त०) । इक्षुरस उदकं यस्य स इक्षुरसोदः (बहु०), तम् । "उदकस्योदः संज्ञायाम्" इस सूत्रसे

'उदक' के स्थानमें उद् आदेश। विमथ्य = वि + मन्थ + क्त्वा (ल्यप्)। उत्थापयितुम् = उद् + स्था + णिच् + तुमुन्। श्राम्यन्तु = श्रम + लोट्—झि। इस पद्यमें देवताओंके दूसरी लक्ष्मीके उत्पादनके असम्बन्धमें सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ८० ॥

लोकस्रजि द्यौर्दिवि चाऽऽदितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्रः ।
किं कर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्ष्या किमतः पराऽपि ? ॥ ८१ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) लोकस्रजि द्यौः (महती), दिवि च आदितेयाः (महान्तः), आदितेयेषु अपि महेन्द्रो महान्। सोऽपि रागात् किंकर्तुम् अर्थी यदि, अतः परा कक्ष्या अपि जागर्ति किम् ? ॥ ८१ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) लोकस्रजि = भुवनपरम्परायां, द्यौः = स्वर्गः, महतीति शेषः। दिवि च = स्वर्गे च, आदितेयाः = देवाः, महान्त इति शेषः। आदितेयेषु अपि = देवेषु अपि, महेन्द्रः = देवेन्द्रः, महान्=महत्तमः, सः = महेन्द्रः, अपि, रागात् = अनुरागात्, किंकर्तुम् = किंकरीभवितुं, सेवितुमिति भावः, अर्थी यदि=याचकश्चेत्, अतः = अस्मात् इन्द्रसेव्यत्वपदादिति भावः। परा = उत्कृष्टा, कक्ष्या अपि = अवस्था अपि, जागर्ति किं = स्फुरति किं ? न जागर्तीति भावः ॥ ८१ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) भुवनोंकी परम्परामें स्वर्ग महान् है। स्वर्गमें भी देवतालोग श्रेष्ठ हैं, देवताओं में भी महेन्द्र महत्तम (परम श्रेष्ठ) हैं। ऐसे महेन्द्र भी अनुरागसे आपकी सेवा करनेके लिए याचक हैं तो इससे भी उत्कृष्ट अवस्था कुछ है क्या ? (कुछ भी नहीं) ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—लोकस्रजि = लोकानां स्रक्, तस्याम् (ष० त०)। आदितेयाः = "कृदिकारादक्तिनः" इससे ङीष् प्रत्ययान्त अदिति शब्दसे "स्त्रीभ्यो ढक्" इस सूत्रसे ढक् (एय) प्रत्यय और जस्। "आदितेया दिविषदः" इत्यमरः। महेन्द्रः = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०)। रागात् = हेतुमें पञ्चमी। किंकर्तुं = किं + कृ + तुमुन्, अर्थी = अर्थ + इनि + सु। जागर्ति= जागृ + लट्—तिप्। इस पद्यमें सार अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते।" (सा० द० १०-७८) ॥ ८१ ॥

पदं शतेनाऽऽप मखैर्यदिन्द्रस्तस्मै स ते याचनचाटुकारः ।
कुरु प्रसादं तदलङ्कुरुष्व स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण ॥ ८२ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) इन्द्रः शतेन मखैः यत् पदम् आप। स तस्मै ते याचनचाटुकारः। प्रसादं कुरु। तत् स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण अलङ्कुरुष्व ॥८२॥

व्याख्या—(हे भैमि !) इन्द्रः = देवेन्द्रः, शतेन मखैः = शतसंख्यकैः यज्ञैः, यत् = इन्द्रत्वलक्षणं, पदं = स्थानम्, आप = प्राप्तवान् । सः = इन्द्रः, तस्मै = पदाय, तत्पदस्वीकारायेति भावः। ते = तव, याचनचाटुकारः = प्रार्थनाप्रियंवदः, अस्तीति शेषः। प्रसादम् = अनुग्रहं, कुरु = विधेहि। तत् = ऐन्द्रं पदं, स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण = अङ्गीकारसूचकभ्रूविक्षेपव्यापारेण, अलङ्कुरुष्व = अलङ्कृतं कुरु ॥ ८२ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) इन्द्रने सौ यज्ञोंसे जिस पदको पाया, वे (इन्द्र) उस पदके लिए आपसे प्रार्थना करके खुशामद कर रहे हैं। आप अनुग्रह कीजिए, उस पदको स्वीकारव्यञ्जक भ्रूचालनरूप व्यापारसे अलङ्कृत कीजिए ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—याचनचाटुकारः = चाटुं करोतीति चाटुकारः, चाटु-उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु" इस सूत्रसे ट प्रत्ययका निषेध होनेसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय, चाटु + कृ + अण् (उप०) + सु। याचनेन चाटुकारः (तृ० त०)। कुरु = कृ + लोट्—सिप्। स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण=स्वीकारं करोतीति स्वीकारकृत् स्वीकार + कृ + क्विप् (उपपद०) + सु। भ्रुवोर्नटनं (ष० त०), तस्य क्रमः (ष० त०)। स्वीकारकृच्चाऽसौ भ्रूनटनक्रमः, तेन (क० धा०)। अलङ्कुरुष्व = अलं + कृञ् + लोट् + थास् ॥ ८२ ॥

मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे देवे भवेद् देवरि माधवे च।
श्रेयः श्रियां यातरि यच्च सख्यां तच्चेतसा भाविनि ! भावय त्वम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हे भाविनि ! मन्दाकिनीनन्दनयोः विहारे माधवे देवे देवरि (सति) श्रियां यातरि सख्यां यत् श्रेयः भवेत् तत् त्वं चेतसा भावय ॥ ८३ ॥

व्याख्या - हे भाविनि = हे विचारचतुरे भैमि !, मन्दाकिनीनन्दनयोः = स्वर्णदीन्द्रोपवनयोः, विहारे = क्रीडायां, माधवे = उपेन्द्रे, देवे = सुराऽधीशे, देवरि = देवरे सति, एवं च श्रियां = लक्ष्म्यां, यातरि = देवरभार्यायां, सख्यां = सहचर्यां सत्यां, यत् श्रेयः=कल्याणं, भवेत्=सम्भवेत्, तत् = श्रेयः, त्वं चेतसा = मनसा, भावय = विचारय ॥ ८३ ॥

अनुवादः—हे विचारमें चतुर दमयन्ति ! मन्दाकिनी और नन्दनका क्रीडामें, विष्णु भगवान्‌के देवर और लक्ष्मीकी देवरानी और सखी होनेपर जो कल्याण होगा, उसे आप अपने मनसे विचार कीजिए ॥ ८३ ॥

टिप्पणी - भाविनि = भावयतीति भाविनी, तत्सम्बुद्धौ, भू + णिच् + णिनि + ङीप् + सु । मन्दाकिनीनन्दनयोः = मन्दाकिनी च नन्दनं च, तयोः (द्वन्द्वः) । देवरि = "श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः स्वामिनो देवृदेवरौ" इत्यमरः । यातरि = यतत इति याता, तस्याम्, यत धातुसे "यतेर्वृद्धिश्च" इस उणादि सूत्रसे तृन् प्रत्यय और वृद्धि । "भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम् ।" इत्यमरः । भावय = भू + णिच् + लोट्—सिप् । इस पद्यमें मन्दाकिनी और नन्दनमें विहार क्रियाका और माधवके देवरत्व और लक्ष्मीके यातृत्व रूप गुणोंके यौगपद्यसे समुच्चय अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद् याच्ञाप्रतिष्ठां लभसे त्वमेव ।
लघूकृतस्वं बलियाचनेन तत्प्राप्तये वामनमामनन्ति ॥ ८४ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) "जगतां राज्ये रज्यस्व" इति इन्द्रात् याच्ञाप्रतिष्ठां त्वम् एव लभसे । तथाहि—तत्प्राप्तये बलियाचनेन लघूकृतस्वं वामनम् आमनन्ति ॥ ८४ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) जगतां = लोकानां, राज्ये = आधिपत्ये, रज्यस्व = अनुरक्ता भव, इति = एवंरूपाम्, इन्द्रात् = मघोनः, याच्ञाप्रतिष्ठां = प्रार्थनागौरवं, त्वम् एव, लभसे = प्राप्नोषि । तथाहि—तत्प्राप्तये = जगद्राज्यलाभाय, बलियाचनेन = वैरोचनप्रार्थनेन, लघूकृतस्वम् = अल्पीकृतात्मानं, विष्णुमपीति शेषः । वामनं = ह्रस्वं लघुं च, आमनन्ति = कथयन्ति ॥ ८४ ॥

अनुवादः—हे भैमि ! "लोकोंके आधिपत्यमें अनुरक्त हो" ऐसे इन्द्रसे प्रार्थनाके गौरवको तुम ही प्राप्त करती हो । जगत्‌के राज्यको पानेके लिए बलिसे प्रार्थना करनेसे अपनेको छोटा करनेवाले विष्णुको भी वामन (बौना वा लघु) कहते हैं ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—रज्यस्व = रञ्ज + लोट् (प्रार्थनामें)—थास् । तत्प्राप्तये = तस्य प्राप्तिः, तस्यै (ष० त०) । बलियाचनेन = बलेर्याचनं, तेन (ष० त०) । लघूकृतस्वं = लघूकृतः स्वः (आत्मा) येन, तम् (बहु०) । आमनन्ति = आङ् + म्ना + लट्—झि । जिस लोकराज्यके लिए विष्णुने भी याचनाकी

लघुता पाई, विना याचनाके उसी पदको इन्द्र दे रहे हैं। तुम्हारा कैसा स्पृहणीय भाग्य है यह अभिप्राय है। इस पद्यमें व्यतिरेकसे दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

यानेव देवान्नमसि त्रिकालं, न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिती ते।

प्रसीद तानप्यनृणान् विधातुं पतिष्यतस्त्वत्पदयोस्त्रिसन्ध्यम् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) यान् एव देवान् त्रिकालं नमसि, तत्कृतघ्नीकृतिः ते औचिती न। त्रिसन्ध्यं त्वत्पदयोः पतिष्यतः तान् अपि अनृणान् विधातुं प्रसीद ॥ ८५ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) यान् एव, देवान् = सुरान् इन्द्रादीन्, त्रिकालं = त्रिसन्ध्यं, नमसि = नमस्करोषि, तत्कृतघ्नीकृतिः = तत्कृतज्ञताऽकरणं, तदीय-प्रत्युपकारपरिहारेणेति शेषः। ते = तव, औचिती न = औचित्यं न। त्वया देवा अकृतज्ञा न क्रियन्तामिति भावः। त्रिसन्ध्यं = त्रिकालं, त्वत्पदयोः = त्वच्चरणयोः, पतिष्यतः = नमस्करिष्यतः, तान् अपि = इन्द्रादीन्देवान् अपि, अनृणान् = ऋणरहितान्, विधातुं = कर्तुं, प्रतिप्रणामस्वीकारेणेति शेषः, प्रसीद = अनुगृहाण, देवान्वृणीष्वेति भावः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—(हे दमयन्ति !) जिन इन्द्र आदि देवताओंको आप त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायङ्काल) नमस्कार करती हैं, उनको कृतघ्न बनाना आपको उचित नहीं है। तीनों सन्ध्याओंमें आपके पैरोंपर गिरनेवाले उन देवताओंको भी अनृण बनानेके लिए आप अनुग्रह करें (उन देवताओंको वरण कीजिए) ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—त्रिकालं = त्रयः काला यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद्यथा तथा, क्रि० वि०। नमसि = नम् + लट्—सिप्। तत्कृतघ्नीकृतिः = कृतं घ्नन्तीति कृतघ्नाः, कृत + हन् + क + जस्। अकृतघ्नाः यथा संपद्यन्ते तथा कृतिः, कृतघ्न + च्वि + कृ + क्तिन् + सु। तेषां कृतघ्नी कृतिः (ष० त०)। औचिती = उचित + ष्यञ् + ङीष्। त्रिसन्ध्यं=तिसृणां सन्ध्यानां समाहारः (द्विगुः), "टाबन्तो वा" इससे नपुंसकलिङ्गता, "कालाऽध्वनोरत्यन्त-संयोगे" इससे द्वितीया। त्वत्पदयोः=तव पदे, तयोः (ष० त०)। पतिष्यतः= पत् + लृट् (शतृ) + शस्। अनृणान् = अविद्यमानम् ऋणं येषां, तान् (नञ्-बहु०)। विधातुं = वि + धा + तुमुन्। प्रसीद = प्र + सद् + लोट्—सिप् ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्या निहिताऽऽदरेण भैमीगृहीता मघवत्प्रसादः।
स्रक् पारिजातस्य ऋते नलाऽऽशां वासैरशेषामपुपूरदाशाम् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—इति उक्तवत्या आदरेण निहिता भैमीगृहीता मघवत्प्रसादः पारिजातस्य स्रक् नलाऽऽशाम् ऋते अशेषाम् आशाम् वासैः अपुपूरत् ॥ ८६ ॥

व्याख्या—इति = इत्थम्, उक्तवत्या = कथितवत्या, शक्रदूत्या इति भावः। आदरेण = सम्मानेन, निहिता = समर्पिता, भैमीगृहीता = दमयन्तीस्वीकृता, मघवत्प्रसादः = इन्द्राऽनुग्रहभूता, पारिजातस्य = पाजितपुष्पस्य, स्रक् = माला, नलाऽऽशाम् ऋते=नैषधाऽभिलाषं विना, अशेषां = समस्ताम्, आशां = दिशम्, वासैः = स्वसौरभैः, अपुपूरत्=पूरितवती ॥ ८६ ॥

अनुवादः—ऐसा कहनेवाली इन्द्रकी दूतीसे आदरपूर्वक समर्पित और दमयन्तीसे ग्रहण की गई इन्द्रकी अनुग्रहभूत पारिजातके फूलोंकी मालाने नलकी आशाको छोड़कर संपूर्ण दिशाओंको अपने सौरभसे पूर्ण कर दिया ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—उक्तवत्या = ब्रू (वच्) + क्तवतु + ङीप् + टा। भैमीगृहीता= भैम्या गृहीता (तृ० त०)। मघवत्प्रसादः = मघवतः प्रसादः (ष० त०), नलाशां = नलस्य आशा, ताम् (ष० त०), "आशा तृष्णादिशोः स्त्रियाम्" इति मेदिनी। "ऋते" इस पदके योगमें "ततोऽन्यत्रापि दृश्यते" इस वार्तिकके अनुसार द्वितीया। महिम्नः स्तोत्रमें इसी तरह "फलति पुरुषाऽऽराधनमृते" ऐसा ही प्रयोग किया गया है। अपुपूरत="पूरी पूरणे" इस चौरादिक धातुसे णिच् + लुङ्—तिप्। "नाऽग्लोपिशास्वृदिताम्" इससे उपधाह्रस्वका निषेध होकर अभ्यासका ह्रस्व ॥ ८६ ॥

"आर्ये! विचार्याऽलमिहेति काऽपि" "योग्यं सखि! स्यादिति काचनाऽपि।"
"ओङ्कार एवोत्तरमस्तु वस्तु" "मङ्गल्यमत्रेति च काऽप्यवोचत्" ॥ ८७ ॥

अन्वयः—"आर्ये! इह विचार्य अलम्" इति काऽपि अवोचत्। "सखि! योग्यं स्यात्" इति काचन अपि अवोचत्। "अत्र ओङ्कार एव मङ्गल्यम् उत्तरं वस्तु" इति काऽपि अवोचत् ॥ ८७ ॥

व्याख्या—आर्ये = हे श्रेष्ठे! भैमि!, इह = अस्मिन्, इन्द्रवरणे विषये। विचार्य = विमृश्य, अलं = पर्याप्तम्, इन्द्रवरणे विचारो न कर्तव्य इति भावः। इति = एवं वाक्यं, काऽपि = सखी, अवोचत् उक्तवती। सखि = हे वयस्ये भैमि!, इदं योग्यम् = उचितं, स्यात् = भवेत्, इति = एतादृशं वाक्यं, काचन अपि = काऽपि सखी, अवोचत् = उक्तवती। अत्र = अस्मिन्, इन्द्रसन्देशे इति

भावः। ओङ्कार एव = अङ्गीकार एव, मङ्गल्यं = मङ्गलरूपम्, उत्तरम् = उत्तररूपं, वस्तु = पदार्थः, इति = एतद्वाक्यं, काऽपि = सखी, अवोचत् = उक्तवती ॥ ८७ ॥

अनुवादः—"हे आर्ये भैमि ! इन्द्रके वरणके विषयमें विचार करना आवश्यक नहीं है" ऐसा किसी सखीने कहा। "सखि ! यह (प्रस्ताव) योग्य है" ऐसा किसीने और "इन्द्रके सन्देशमें अङ्गीकार ही मङ्गलरूप उत्तर वस्तु है" ऐसा किसी सखीने कहा ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—विचार्य = वि + चर + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। अवोचत् = वच + लुङ् + च्लि (अङ्) + तिप्। ओङ्कारः = "ओमेवं परमं मते" इत्यमरः। अङ्गीकारार्थक ओम् शब्दसे "वर्णात्कारः" इससे कार प्रत्यय ॥ ८७ ॥

"अनाश्रवा वः किमहं कदाऽपि वक्तुं विशेषः परमस्ति शेषः।"
इतीरिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीश्च मुदामियत्ता ॥ ८८ ॥

अन्वयः—"(हे सख्यः !) अहं कदाऽपि वः अनाश्रवा किं ? परं वक्तुं विशेषः अस्ति।" इति भीमजया ईरिते दूतीम् आलीश्च मुदाम् इयत्ता न आलिङ्गत् ॥ ८८ ॥

व्याख्या—(हे सख्यः !) अहं, कदापि = जातु चिदपि, वः = युष्माकम्, अनाश्रवा किम् = अवचनकारिणी किम् ?, परं = किन्तु, वक्तुम् = कथयितुं, विशेषः = अवशिष्टः, अस्ति = विद्यते। वक्तव्यशेषः कश्चिदस्तीति भावः। इति = एवं, भीमजया = भैम्या, ईरिते = उक्ते सति, दूतीम् = इन्द्रशम्भलीम्, आलीश्च = सखीश्च, मुदां = हर्षाणम्, इयत्ता = मितिः, न आलिङ्गत् = न प्रापत् ॥ ८८ ॥

अनुवादः—"(हे सखियो !) मैंने कभी भी तुम लोगों का वचन नहीं माना है क्या ? किन्तु कहनेके लिए कुछ अवशिष्ट है।" ऐसा दमयन्तीके कहनेपर दूती और दमयन्तीकी सखियोंको हर्षकी परिमितताने नहीं प्राप्त किया (उन लोगोंको अपरिमित हर्ष हुआ) ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—अनाश्रवा = न आश्रवा (नञ्०), "विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रवः"। इत्यमरः। वक्तु = वच् + तुमुन् ॥ ८८ ॥

"भैमीं च दूत्यं च न किञ्चिदापमिति" स्वयं भावयतो नलस्य।
अलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभूस्न भिन्नं हृदयाऽरविन्दम् ॥ ८९ ॥

अन्वय: – "भैमीं दूत्य च किञ्चित् न आपम्" इति स्वयं भावयतो नलस्य हृदयाऽरविन्दं तन्मुखेन्दोः आलोकमात्रात् भिन्नं न अभूत् यदि ॥ ८९ ॥

व्याख्या – भैमीं = दमयन्तीं, दूत्यं च = दौत्यं च, किञ्चित् = किमपि, द्वयोरेकतरमपीति भावः । न आपं=न प्राप्तवान्, कन्यारत्नलाभो दूतकार्यनिर्वहणं चैकतरमपि न सिद्धमिति भावः । इति = एवम्, स्वयम्=आत्मना, भावयतः = चिन्तयतः, नलस्य = नैषधस्य, हृदयाऽरविन्द = हृत्कमलं, तन्मुखेन्दोः = दमयन्तीवदनचन्द्रस्य, आलोकमात्रात् = दर्शनमात्रात्, प्रकाशमात्राच्च । भिन्नं = विदीर्णं विकसितं च, न अभूत् यदि = न अभवत् किम् ? दमयन्तीमुख-दर्शनादनया विश्वास्य हतोऽस्मीति मत्वा नलो विदीर्णहृदयोऽभूदेवेत्यर्थः । इन्दुप्रकाशात्कथमरविन्दविकास इति विरोधश्च व्यज्यते ॥ ८९ ॥

अनुवाद:—मैंने दमयन्ती और दूतकर्म कुछ भी नहीं पाया, ऐसा स्वयम् विचार करनेवाले नलका हृदयकमल दमयन्तीके मुखचन्द्रके दर्शनमात्रसे विदीर्ण नहीं हुआ क्या ? (विदीर्ण हुआ) ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—आपम् = अप्लृ + लुङ् + च्लि (अङ्) + मिप् (कर्तामें) । हृदयाऽरविन्दं = हृदयम् एव अरविन्दम् (रूपक०) । तन्मुखेन्दोः = तस्या मुखं (ष० त०) तदेव इन्दुः, तस्य (रूपक०) । आलोकमात्रात् = आलोक एव आलोकमात्रं, तस्मात् (रूपक०) । भिन्नं = भिद् + क्त + सु । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८९ ॥

ईषत्स्मितक्षालितसृक्विभागा दृक्संज्ञया वारिततत्तदालिः ।
स्रजा नमस्कृत्य तयैव शक्रं तां भीमभूरुत्तरयाञ्चकार ॥ ९० ॥

अन्वयः—भीमभूः ईषत्स्मितक्षालितसृक्विभागा दृक्संज्ञया वारिततत्तदालिः तया स्रजा एव शक्रं नमस्कृत्य ताम् उत्तरयाञ्चकार ॥ ९० ॥

व्याख्या—भीमभूः = दमयन्ती, ईषत्स्मितक्षालितसृक्विभागा = मन्दहास धौतोष्ठप्रान्तांऽशा सती, दृक्संज्ञया = नयनसङ्केतेन एव, वारिततत्तदालिः = निषिद्धतत्तद्वयस्या च सती, तया = इन्द्रदूतीसमर्पितया, स्रजा एव = पुष्पमालया सहैव, शक्रं = देवेन्द्रं, नमस्कृत्या = प्रणम्य, ताम् = इन्द्रदूतीम्, उत्तरयाञ्च-कार = उत्तरमाचष्टा ॥ ९० ॥

अनुवादः—दमयन्तीने कुछ मन्दहास्यसे ओष्ठप्रान्तोंको प्रक्षालित कर नेत्रोंके इशारेसे उन-उन सखियोंको निषेध करती हुई इन्द्रदूतीसे समर्पित उसी मालाके साथ इन्द्रको भी नमस्कार कर इन्द्रदूतीको उत्तर दिया ॥ ९० ॥

टिप्पणी—भीमभूः=भीमात् भवतीति, भीम + भू + क्विप् (उपपद०) + सु । ईषस्मितक्षालितसृक्विभागा = क्षालितौ सृक्विणी एव भागौ यया सा (बहु०), "प्रान्तावोष्ठस्य सृक्विणी" इत्यमरः । ईषत्स्मितेन क्षालितसृक्विभागा (तृ० त०) । दृक्संज्ञया = दृशः संज्ञा, तया (ष० त०) । वारिततत्तदालिः = वारिताः ताः ताः (प्रतिकूलभाषिण्यः) आलयः यया सा (बहु०) । नमस्कृत्य = नमस् + कृ + क्त्वा (ल्यप्) । उत्तरयाञ्चकार = उत्तरं चचक्ष इति "उत्तर" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्रसे णिच् + लिट्—तिप् (णल्) ॥ ९० ॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्यं, वक्तुं कियत्तं यदि वेद वेदः ।
वृथोत्तरं साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममाऽपि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—(हे दूति !) मघोनः स्तुतौ साहसिक्यं त्यज, तं कियत् वक्तुं वेदो वेद । नृणां हृत्सु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तरं वृथा ॥ ९१ ॥

व्याख्या—(हे दूति !) मघोनः = इन्द्रस्य, स्तुतौ = स्तवे विषये, साहसिक्यम् = अविचार्यकारित्वं, त्यज = मुञ्च, न स्तुहि इति भावः । तं = मघवानं, कियत् = अल्पं, वक्तुं = वर्णयितुं, वेदः = श्रुतिः, वेद = वेत्ति, न अन्य इति भावः । तर्हि किमस्योत्तरं ? तत्राऽऽह—नृणां=जनानां, हृत्सु=हृदयेषु विषये, साक्षिणि = साक्षिभूते, तस्मिन् = मघोनि, अज्ञातृविज्ञापि = अबोद्धृविज्ञापकं, मम = मे, उत्तरं = प्रतिवाक्यं, वृथा = व्यर्थप्रायम्, अज्ञस्यैवोत्तराकाङ्क्षा न सर्वज्ञस्येति भावः ॥ ९१ ॥

अनुवादः—(हे दूति !) इन्द्रकी स्तुतिके विषयमें साहस छोड़ो । वेद ही उनका वर्णन करनेके लिए थोड़ा-सा जानता है, मनुष्योंके हृदयमें साक्षी होकर रहनेवाले उन (इन्द्र) में न जाननेवालोंको जतानेवाला मेरा उत्तर व्यर्थ है ॥ ९१ ॥

टिप्पणी— त्यज = त्यज + लोट्—सिप् । वेदः = विदन्ति अनेन इति, विद् + घञ् + सु । वेद = विद् + लट्—तिप् (णल्), "विदो लटो वा" इससे तिप्के स्थानमें णल् । एक पक्षमें "वेत्ति" ऐसा रूप भी । नृणां = 'नृ' शब्दसे आम् विभक्तिमें "नृ च" इस सूत्रसे विकल्पसे दीर्घ, एक पक्षमें "नृणाम्" । साक्षिणि "साक्षात्" शब्दसे "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय । अज्ञातृविज्ञापि = जानन्तीति ज्ञातारः, ज्ञा + तृच् + जस् । न ज्ञातारः (नञ्०) ।

अज्ञातॄन् विज्ञापयतीति, अज्ञातॄ + वि + ज्ञा + णिच् + णिनि (उपपद०) + सु ॥ ९१ ॥

आज्ञां तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुपैतु जिह्वा ।
प्रह्वा तु तां मूर्ध्नि निधाय मालां बालाऽपराध्यामि विशेषवाग्भिः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नकारपारुष्यम् उपैतु ? बाला (अहम्) प्रह्वा (सती) ताम् (एव) मालां मूर्ध्नि निधाय विशेषवाग्भिः अपराध्यामि ॥ ९२ ॥

व्याख्या—(हे दूति !) तदीयाम् = इन्द्रसम्बन्धिनीम्, आज्ञाम् अनु = आदेशम् उद्दिश्य, कस्य = जनस्य, नामेति प्रसिद्धौ, जिह्वा = रसना, नकार-पारुष्यं = निषेधरूपां कठोरताम्, उपैतु = प्राप्नोतु, तु = किन्तु, बाला = शिशुः अहं, प्रह्वा = नम्रा सती, ताम्=आज्ञाम् एव, मालां = स्रजं, मूर्ध्नि = शिरसि, निधाय = स्थापयित्वा, विशेषवाग्भिः = अधिकवचनैः, अपराध्यामि = अपराधं करोमि ॥ ९२ ॥

अनुवादः—(हे दूति !) इन्द्रकी आज्ञाके प्रति किसकी जिह्वा निषेधरूप कठोरताको प्राप्त करेगी ? किन्तु बालिका मैं नम्र होती हुई उस आज्ञारूप मालाको शिरपर रखकर विशेष वचनोंसे अपराध कर रही हूँ ॥९२ ॥

टिप्पणी—तदीयां = तस्य इयं, ताम्, तद् + छ (ईय) + टाप् + अम् । नकारपारुष्यं = नकार एव पारुष्यं, तत् (रूपक०) । उपैतु = उप + इण् + लोट्—तिप् । निधाय = नि + धा + क्त्वा (ल्यप्) । विशेषवाग्भिः = विशेषाश्च ता वाचः, ताभिः (क० धा०) । अपराध्यामि = अप + राध + लट्—मिप् ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते ।
भवत्युपायं प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्यसज्जि ॥ ९३ ॥

अन्वयः—तपःफलत्वेन हरेः इयं कृपा इमं जनं तपसि एव नियुङ्क्ते । हि उपायं प्रति प्रवृत्तौ उपेयमाधुर्यम् अधैर्यसज्जि भवति ॥ ९३ ॥

व्याख्या—तपःफलत्वेन = इन्द्रोपासनरूप तपः परिणामत्वेन, हरेः = इन्द्रस्य, इयम् = एषा, मत्परिग्रहेच्छारूपा, कृपा = दया, इमम् = एतं, जनं = मां, तपसि एव = पुनरपि इन्द्रोपासनायाम् एव, नियुङ्क्ते = प्रेरयति । फले लब्धे पुनः किमर्थं तपश्चरणमित्यत्राऽऽह—भवतीति । हि=यस्मात् कारणात्, उपायं प्रति = अभीष्टसाधनं प्रति, प्रवृत्तौ = प्रवर्तने विषये, उपेयमाधुर्यं =

साध्यस्वादुत्वम् एव, अधैर्यसज्जि = अधीरत्वकारकं, भवति = विद्यते । पुनः साधनप्रवृत्तिचाञ्चल्यं कारयतीति भावः ॥ ९३ ॥

अनुवादः—इन्द्रकी उपासनारूप तपस्याका फल होनेसे इन्द्रको मेरे साथ विवाह करनेकी इच्छारूप यह दया इस जनको (मुझे) तपस्या करनेके लिए ही प्रेरणा करती है, क्योंकि साधनके प्रति प्रवृत्तिमें साध्यकी मधुरता अधैर्य करनेवाली होती है ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—तपःफलत्वेन = तपसः फलत्वं, तेन (ष० त०) । नियुङ्क्ते = नि + युज् + लट् —त । "स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे आत्मनेपद । उपेयमाधुर्यम् = उपेयस्य माधुर्यम् (ष० त०) । अधैर्यसज्जि = न धैर्यम् (नञ्०) । अधैर्यं सज्जयति, अधैर्य + सज्ज + णिच् + णिनि (उपपद०) + सु । जिस तपस्यारूप उपायसे अत्यन्त दुर्लभ इन्द्रकी कृपा प्राप्त हुई उसी तपस्यासे अभीष्ट नलकी भी प्राप्ति होगी ऐसे निश्चयसे वह (इन्द्रकृपा) मुझे फिर तपस्यामें ही प्रवृत्त कर रही है यह अभिप्राय है । इस पद्यमें अर्थान्तिरन्यास अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि ।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशाऽऽगतं तु क्षितिभृत्तयेह ॥ ९४ ॥

अन्वयः—तत् अहं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपिक्षितिभृत्तया इह अंशाऽऽगतम् अदेवदेहं तम् एव पतिं शुश्रूषिताहे, अयं विशेषलेशः ॥ ९४ ॥

व्याख्या—तत् = तस्मात्कारणात्, अहं मुदेऽपि = सन्तोषाय, व्रतसम्पदेऽपि = सतीत्वसम्पत्यर्थं च, क्षितिभृत्तया = नृपत्वेन, इह = अस्मिन्, कस्मिंश्चिन्नरे, अंशाऽऽगतं = मात्राऽवतीर्णम्, अदेवदेहं = देवदेहरहितं, मानुषशरीरं सन्तमिति भावः । तम् एव = "अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः ।" इति स्मरणात् इन्द्रांऽशम् एव नलं, पतिं = स्वामिनं, शुश्रूषिताहे = सेविष्ये, अयम् = एषः, विशेषलेशः = भेदलवः ॥ ९४ ॥

अनुवादः—इस कारणसे मैं अपने सन्तोषके लिए और पातिव्रत्य सम्पत्तिके लिए भी राजा होनेके लिए यहाँ (भूमण्डल) पर इन्द्र आदि लोकपालोंके अंशोंसे आये हुए देवताके देहसे रहित इन्द्रांशभूत उन नलरूप पतिकी ही शुश्रूषा करूँगी यह थोड़ासा भेद है ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—व्रतसम्पदे = व्रतस्य सम्पत्, तस्यै (ष० त०) । क्षितिभृत्तया = क्षितिं बिभर्तीति क्षितिभृत्, क्षिति + भृ + क्विप् (उपपद०) + सु । क्षितिभृतो

भाव: क्षितिभृत्ता, तया, क्षितिभृत्+तल्+टाप्+टा। अंशाऽऽगतम् = अंशेन (मात्रया) आगत:, तम् (तृ० त०)। अदेवदेहं = देवस्य देह: (ष० त०)। अविद्यमानो देवदेहो यस्य स:, तम् (नञ् बहु०)। शुश्रूषिताहे = श्रु + सन्+ लुट्—इट्। "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सन:" इससे आत्मनेपद और तासिके सकारके स्थानमें हकार आदेश "शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्याऽवधानयो:।' इति विश्व:। विशेषलेश: = विशेषस्य लेश: (ष० त०)॥ ९४॥

अश्रौषमिन्द्रादरिणी गिरस्ते सतीव्रताऽतिप्रतिलोम तीव्राः।
स्वं प्रागहं प्रादिषि नाऽमराय किं नाम तस्मै मनसा नराय ॥ ९५॥

अन्वय:—(हे इन्द्रदूति !) सतीव्रताऽतिप्रतिलोमतीव्रा: ते गिर: इन्द्राऽऽदरिणी (सती) अश्रौषम्। प्राक् अहं स्वम् अमराय तस्मै न प्रादिषि, (किन्तु) नराय तस्मै मनसा प्रादिषि॥ ९५॥

व्याख्या—(हे इन्द्रदूति !) सतीव्रताऽतिप्रतिलोमतीव्रा: = पतिव्रताधर्माऽतिप्रतिकूलदु:सहा:, ते=तव, गिर: = वाच:, इन्द्राऽऽदरिणी = इन्द्रे आदरवती सती, अश्रौषम् = अहं श्रुतवती। अनूढत्वात् कथं परपुरुषगुणश्रवणे सतीव्रतलोप इत्याशङ्क्य आह—स्वमिति। प्राक् = पूर्वम्, अहं, स्वम् = आत्मानम्, अमराय = देवस्वरूपाय, तस्मै = इन्द्राय, न प्रादिषि = न प्रादां, नामेति प्रसिद्धौ। किन्तु—नराय = नररूपिणे, तन्त्रेण रेफरहिताय नण्य, अथ वा रलयोरभेदात् नराय, उभयत्रापि नलाय इति तात्पर्यम्, तस्मै = इन्द्रांऽशाय, निषधेश्वरायेति भाव:। मनसा = चित्तेन, प्रादिषि = प्रादाम्॥ ९५॥

अनुवाद:—(हे इन्द्रदूति !) पतिव्रताधर्म के अत्यन्त प्रतिकूल होनेसे दु:सह तुम्हारे वचनको मैंने केवल इन्द्रमें आदर करके सुना। पहले मैंने अपनेको देवस्वरूप इन्द्रको नहीं दिया है, किन्तु नर ('र' से रहित नर = नल) अथ वा (र और ल के अभेदसे नलरूप) इन्द्रके अंशरूप निषधेश्वरको मनसे दिया है॥ ९५॥

टिप्पणी—सतीव्रताऽतिप्रतिलोमतीव्रा: = अत्यन्तं प्रतिलोमा: (गति०)। सत्यां व्रतम् (ष० त०)। सतीव्रतस्य अतिप्रतिलोमा: (ष० त०)। सतीव्रताऽतिप्रतिलोमाश्च ते तीव्रा: (क० धा०)। इन्द्रादरिणी = आदरोऽस्ति यस्या: मा आदरिणी, आदर+इनि+ङीप्+सु। इन्द्रे आदरिणी (स० त०) नारायण पण्डितने "इन्द्रादरिणी:" ऐसा पाठ दिया है, उस पक्षमें इस पदको "गिर:" इसका विशेषण समझना चाहिए। अश्रौषं = श्रु + लुङ् + मिप्।

प्रादिषि = प्र + दाञ् + लुङ् + इट् । "स्थाध्वोरिच्च" इससे इकार । नराय = न विद्यते रः यस्मिन् (नञ्बहु०), र से रहित नर अर्थात् नल । अथवा 'र' और 'ल' के अभेदसे नल । इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार व्यङ्ग्य है ॥ ९५ ॥

तस्मिन् विमृश्यैव वृते हृदेषा नैन्द्री दया मामनुतापिकाऽभूत् ।
निर्वातुकामं भवसंभवानां धीरं सुखानामवधीरणेव ॥ ९६ ॥

अन्वयः—तस्मिन् हृदा विमृश्य एव वृते एषा ऐन्द्री दया निर्वातुकामं धीरं भवसंभवानां सुखानाम् अवधीरणा इव माम अनुतापिका न अभूत् ॥ ९६ ॥

व्याख्या—तस्मिन् = नरे नले, हृदा = हृदयेन, विमृश्य एव = इदं समीचीनमिति विचार्य एव, वृते = स्वीकृते सति, एषा = उपनता, ऐन्द्री = इन्द्रसम्बन्धी, दया = कृपा, परिग्रहेच्छालक्षणेति भावः । निर्वातुकामं = मोक्तुकामं, धीरं = विद्वांसं, भवसंभवाना = संसारोत्पन्नानां, विषयसम्बद्धानामिति भावः । सुखानाम् = आनन्दानाम्, अवधीरणा इव = अवज्ञा इव, माम, अनुतापिका = हन्त ! मयाऽनुचितं कृतमिति पश्चात्तापकारिणी, न अभूत् = नो जाता ॥ ९६ ॥

अनुवाद—हृदयसे विचारपूर्वक नलको वरण करनेपर यह इन्द्रकी दया, मोक्षकी इच्छा करनेवाले विद्वान्को संसारसे उत्पन्न विषयजन्य सुखोंकी अवज्ञाके समान पश्चात्ताप करनेवाली नहीं हुई ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—ऐन्द्री = इन्द्रस्य इयम् (इन्द्र + अण् + ङीप्) । निर्वातुकामं = निर्वातुं कामो यस्य, तम् (बहु०), "तुं काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । भवसम्भवानां = भवे संभवो येषां तानि, तेषाम् (व्यधिकरणबहु०) माम् = "अनुतापिका" इस पदके योगमें "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इससे षष्ठीका निषेध होनेसे कर्ममें द्वितीया ॥ ९६ ॥

वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाऽऽश्रमेषु ।
तत्राऽस्मि पत्युर्वरिवस्ययाऽहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—आर्यधुर्याः आश्रमेषु गार्हस्थ्यम् इव वर्षेषु भारतं स्तुवन्ति । तत्र अहं पत्युः वरिवस्यया शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः अस्मि ॥ ९७ ॥

व्याख्या—विमृश्य कृतमित्युक्तं, तत्र विमर्शप्रकारं पद्यचतुष्टयेन प्रतिपादयति वर्षेष्विति । आर्यधुर्याः = साधुश्रेष्ठा जनाः, आश्रमेषु = ब्रह्मचर्यादिषु, गार्हस्थ्यं = गृहस्थाश्रमम्, इव, वर्षेषु = ईलावृतादिषु नवसु, भारतं = भारतवर्षं, स्तुवन्ति = प्रशंसन्ति । तत्र = तस्मिन् भारतवर्षे, अह, पत्युः = भर्तुः नलस्य, वरिवस्यया =

शुश्रूषया, शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः = सुखपरम्पराचित्रितपुण्यलाभेच्छुः, अस्मि भवामि ॥ ९७ ॥

अनुवादः—सज्जनोंमें श्रेष्ठ, आश्रमोंमें जैसे गृहस्थाश्रम है वैसे ही इलावृत आदि नौ वर्षोंमें भारतवर्षकी प्रशंसा करते हैं। वहाँपर मैं पतिकी शुश्रूषासे सुखपरम्पराओंसे चित्रित धर्मके लाभकी इच्छुक हूँ ॥ ९७ ॥

टिप्पणी – आर्यधुर्याः = आर्येषु धुर्याः (स० त०)। गार्हस्थ्यम् = गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः, गृह + स्था + क (उपपद०) + सु। गृहस्थस्य भावः, गृहस्थ + ष्यञ् + सु । आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। वर्षेषु = जम्बूद्वीपमें नौ भूभाग हैं, जिनको 'वर्ष' कहते हैं; जैसे—१ कुरुवर्ष, २ हिरण्मयवर्ष, ३ रम्यकवर्ष, ४ इलावृतवर्ष, ५ हरिवर्ष, ६ केतुमालवर्ष, ७ भद्राश्ववर्ष, ८ किन्नरवर्ष और ९ भारतवर्ष। भारतं = भरतस्य इदम् भरत + अण् + सु। स्तुवन्ति = स्तु + लट्—झि । वरिवस्यया = "वरिवस्या तु शुश्रूषा" इत्यमरः। शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः = शर्मण ऊर्मयः (ष० त०)। "शर्मशातसुखानि च" इत्यमरः। किर्मीरितश्चाऽसौ धर्मः (क० धा०) "चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे।" इत्यमरः। शर्मोर्मिभिः किर्मीरितधर्मः (तृ० त०)। तं लिप्सुः (द्वि० त०) ॥ ९७ ॥

स्वर्गे सतां शर्म परं, न धर्मा भवन्ति, भूमाविह तच्च ते च।
इष्टयाऽपि तुष्टिः सुकरा सुराणां, कथं विहाय त्रयमेकमीहे ? ॥ ९८ ॥

अन्वयः—स्वर्गे सतां शर्म परं, धर्मा न भवन्ति। इह भूमौ तच्च ते च भवन्ति। इष्टया सुराणां तुष्टिरपि सुकरा। (एवं सति) कथं त्रयं विहाय एकम् ईहे ? ॥ ९८ ॥

व्याख्या—स्वर्गे = देवलोके, सतां = विद्यमानानां देवादीनामिति भावः। शर्म = सुखं, परम् = एव, स्वर्गस्य भोगस्थानत्वादिति भावः। धर्माः=सुकृतानि, न भवन्ति = नो जायन्ते। इह = अस्यां, भूमौ=मनुष्यलोके, तच्च = शर्म च, ते च = धर्माश्च, भवन्ति = संभवन्ति, मनुष्यलोकस्य कर्मभूमित्वादिति भावः। इन्द्र वृते तत्सुखोत्पादनाद्धर्मोऽपि भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—इष्टयापीति। इष्टया= यागेन, भूलोक इति शेषः, सुराणां = देवानां, न केवलमिन्द्रस्य, तुष्टिः अपि = प्रीतिरपि, सुकरा = सुसम्पाद्या, एवं सति, कथं=किमर्थम्, त्रयं त्रितयं, शर्मधर्मसुरतुष्टिरूपमिति भावः, विहाय = त्यक्त्वा, एकं = शर्ममात्रम्,

ईहे = इच्छामि, पदार्थत्रयप्राप्तिसाधनरूपत्वाद् भूलोको देवलोकाच्छ्रेयानिति भावः ॥ ९८ ॥

अनुवादः—स्वर्गमें रहनेवालोंको सुख ही मिलता है, धर्म नहीं, इस मनुष्य-लोकमें सुख और धर्म दोनों ही होते हैं। (मनुष्यलोकमें) यज्ञ करनेसे देवताओं-की प्रीति भी सुकर है। इस स्थितिमें सुख, धर्म और देवताओंकी प्रीति इन तीनोंको छोड़कर सुखमात्रको मैं क्यों चाहूँ? ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—सताम् = अस् + लट् (शतृ) + आम्। "श्नसोरल्लोपः" इससे अकारका लोप। इष्टया=यज् + क्तिन् + टा। सुकरा=सु + कृ + खल् + टाप् + सु। त्रयं = त्रि + तयप् (अयच्) + अम्। विहाय = वि + हा + क्त्वा (ल्यप्)। ईहे = ईह + लट् + इट्। इस पद्यमें समुच्चय अलङ्कार है ॥ ९८ ॥

साधोरपि स्वः खलु गामिताऽधो गामी स तु स्वार्गमितः प्रयाणे।
इत्यायतिं चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न? ॥ ९९ ॥

अन्वयः—साधोः अपि स्वः अधो गामिता खलु। स इतः प्रयाणे तु स्वर्ग गामी, इति आयतिं चिन्तयतः हृदि द्वयोः उदर्कः द्वे शर्करे न किमु? (शर्करे एव) ॥ ९९ ॥

व्याख्या—प्रकारान्तरेण स्वर्गाद् भूलोकस्य श्रेयस्त्वं प्रतिपादयति—साधो-रिति। साधोः अपि = सुकृतिनः अपि, स्वः = स्वर्गात्, अधः = अधोलोके, गामिता = गमिष्यत्ता, खलु = निश्चयेन। सः = साधुः, इतः = अस्मात् भूलोकात्, प्रयाणे = गमने, मरणे सतीति भावः। स्वर्गं = सुरलोकं, गामी = गमिष्यति। इति = इत्थम्, आयतिम् = उत्तरकालं, चिन्तयतः = विचारयतो विवेकिनः, हृदि=हृदये, द्वयो = उभयोः, स्वर्गभूलोकयोः, उदर्कः = उत्तरफलं, द्वे = उभे, शर्करे न किमु = शर्कराप्राये न किम्? शर्करे एवेति भावः। स्वर्ग-फलरूपा एका शर्करा मृत्प्राया इक्षुसंभवा, मर्त्यलोकफलरूपा अपरा शर्करा शिलाशकलप्राया इक्षुसंभवा। उभे अपि शर्कराकल्पे इति भावः ॥ ९९ ॥

अनुवादः—धार्मिकको भी स्वर्गलोकसे मनुष्यलोकमें आना निश्चय है, वह इस (मनुष्य) लोकसे मरनेपर स्वर्गलोकमें जायगा इस तरह उत्तरकालका विचार करनेवालेके हृदयमें स्वर्ग और मनुष्यलोक दोनोंका उत्तरफल दोनों ही शर्कराएँ नहीं हैं क्या? (स्वर्गफल कंकड़प्राय शर्करा और मनुष्यलोकफल इक्षुविकार शर्करा है यह तात्पर्य है।) ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—गामिता = गमिष्यतीति गामी, "भविष्यति गम्यादयः" इस सूत्र से 'णिनिप्रत्ययान्तगामिन' शब्दकी भविष्यत्कालता। गामिनो भावः, गामिन्+तल्+टाप्। स्वर्गं गामी = "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" गीताके इस वचनके अनुसार यह उक्ति है। आयतिम् = "उत्तर काल आयतिः" इत्यमरः। उदर्कः = "उदर्कः फलमुत्तरम्" इत्यमरः। शर्करे = "शर्करा खण्डविकृतावुपलाशर्कराංशयोः।" इति विश्वः। इस पद्यमें निदर्शना अलङ्कार है॥ ९९॥

प्रक्षीण एवाऽऽयुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते यः।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुख कः॥ १००॥

अन्वयः—(किं च) यः कर्मकृष्टे आयुषि प्रक्षीण एव मनुष्यान् उपतिष्ठते, आयुषि तिष्ठति (सति) न उपतिष्ठते। आपातसुखोन्मुखम् अपथ्यकल्पं तं नाकं को धीरः बुभुक्षते ?॥ १००॥

व्याख्या—(किं च) यः=नाकः, कर्मकृष्टे = प्रारब्धकर्माऽर्जिते, आयुषि= जीवितकाले, प्रक्षीण एव = क्षयप्राप्त एव, उपतिष्ठते = सङ्गच्छते, आयुषि = जीवितकाले, तिष्ठति = विद्यमाने सति, न उपतिष्ठते = न सङ्गच्छते। अतः आपातसुखोन्मुखम् = अविचारितरमणीयसुखकारिणम्, अत एव अपथ्यकल्पम्= अपथ्यान्नसदृशं, तं = तादृशं, नाकं = स्वर्गं, कः = विवेकशीलः, विद्वान् = पण्डितः, बुभुक्षते = भोक्तुमिच्छति॥ १००॥

अनुवादः—जो स्वर्ग प्रारब्ध कर्मसे उपार्जित आयुके क्षीण होनेपर ही मनुष्योंको प्राप्त होता है, आयुके रहनेपर प्राप्त नहीं होता है। विचार न करनेपर ही रमणीय सुखवाले अपथ्य अन्नके सदृश वैसे स्वर्गको कौन-सा विद्वान् भोगनेकी इच्छा करता है ?॥ १००॥

टिप्पणी—कर्मकृष्टे = कर्मणा कृष्टं, तस्मिन् (तृ० त०)। उपतिष्ठते = उप-उपसर्गपूर्वक स्था धातुसे "उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्" इस वार्तिकसे संगतिकरण अर्थमें आत्मनेपद लट्+त। आपातसुखोन्मुखम्=सुखे उन्मुखः (स० त०), आपाते सुखोन्मुखः, तम् (स० त०)। "ते तं भुक्त्वा०" इत्यादि वचनसे अनित्यताकी प्रतीति होनेसे यह तात्पर्य है। अपथ्यकल्पं = पथः अनपेतं पथ्यं, पथिन् शब्दसे "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते" इससे यत्। ईषत् असमाप्तम् अपथ्यम् अपथ्यकल्पम्, "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदे-

शीयरः" इस सूत्रसे कल्पप् प्रत्यय । बुभुक्षते = भोक्तुम् इच्छति, भुज् + सन् + लट्—त । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १०० ॥

इतीन्द्रदूत्यां प्रतिवाचमर्धे प्रत्युह्य सैषाऽभिदधे वयस्याः ।
किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजिताऽपनिद्रद्दलपङ्कजाऽऽस्याः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—सा एषा इति इन्द्रदूत्यां प्रतिवाचम् अर्धे प्रत्युह्य किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजिताऽपनिद्रद्दलपङ्कजास्याः वयस्याः अभिदधे ॥ १०१ ॥

व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, एषा = इयं, दमयन्ती, इति = इत्थम्, इन्द्रदूत्यां = महेन्द्रशम्भल्यां विषये, प्रतिवाचं = प्रत्युत्तरम्, अर्धे = मध्यभाग एव, प्रत्युह्य = निरुध्य, असमाप्यैवेत्यर्थः । किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजिताऽपनिद्रद्दलपङ्कजाऽऽस्याः = किञ्चिद्वचनेच्छास्फुरदधरशोभाविजितविकसत्पत्त्रकमलमुखीः, वयस्याः = सखीः, अभिदधे = उवाच ॥ १०१ ॥

अनुवादः—प्रसिद्ध दमयन्तीने इस प्रकार इन्द्रकी दूतीके विषयमें उत्तरको बीचमें ही रोककर कुछ बोलनेकी इच्छासे शोभित ओष्ठकी शोभासे जीते गये विकसित पत्त्रोंवाले कमलके समान मुखवाली सखियोंको कहा ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—इन्द्रदूत्याम् = इन्द्रस्य दूती, तस्याम् (ष० त०) । प्रत्युह्य = प्रति + ऊह + क्त्वा (ल्यप्), "उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः" इस सूत्रसे ह्रस्व । किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठ० = उल्लसंश्चाऽसौ ओष्ठः (क० धा०), किञ्चित् यथा तथा विवक्षा (सुप्सुपा०), तया उल्लसदोष्ठः (तृ० त०), तस्य लक्ष्मीः (ष० त०) । अपनिद्रान्तीति अपनिद्रन्ति अप + नि + द्रा + लट् (शतृ) + जस् तानि दलानि यस्य तत् अपनिद्रद्दलम् (बहु०) । तच्च तत् पङ्कजम् (क० धा०) । किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्म्या जितम् (तृ० त०), तत् अपनिद्रद्दलपङ्कजं येन तत् (बहु०), तादृशम् आस्यं यासां, ताः (बहु०) । वयस्याः = वयसा तुल्याः, ताः (वयस + यत् + शस्), अभिदधे = अभि + धा + लिट्—त (कर्तामें) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १०१ ॥

अनादिधाविस्वपरम्परायां हेतुस्रजः स्रोतसि वेश्वरे वा ।
आयत्तधीरेष जनस्तदार्याः ! किमीदृशः पर्यनुयुज्य कार्यः ? ॥ १०२ ॥

अन्वयः—हे आर्याः ! एष जनः अनादिधाविस्वपरम्परायाः हेतुस्रजः स्रोतसि ईश्वरे वा आयत्तधीः तत् ईदृशः (एष जनः) पर्यनुयुज्य किं कार्यः ? ॥ १०२ ॥

व्याख्या—हे आर्याः = श्रेष्ठाः सख्यः, एषः = अयं, जनः = लोकः, मादृशः। अनादिधाविस्वपरम्परायाः = आदिरहितभ्रमज्जीवपङ्क्तेः, हेतुस्रजः = कारणभूतकर्मपरम्परायाः, स्रोतसि = प्रवाहे, वा=अथवा, ईश्वरे=परमात्मनि, आयत्तधीः = अधीनबुद्धिः, तु स्वाऽधीनबुद्धिरिति भावः। तत् = तस्मात्कारणात्, ईदृशः = एतादृशः, परतन्त्र इति भावः। एषः = जनः, पर्यनुयुज्य = उपालभ्य, किं, कार्यः = कारयितुं शक्यः॥ १०२॥

अनुवादः—हे श्रेष्ठ सखियो! यह जन, आदिहीन होकर भ्रमण करनेवाले जीवोंकी परम्पराकी कारणभूत कर्मपरम्पराके प्रवाहमें वा ईश्वरमें अधीन बुद्धिवाला है। इस कारणसे पराऽधीन यह जन उपालम्भ करके क्या कराया जा सकता है?॥ १०२॥

टिप्पणी—अनादिधाविस्वपरम्परायाः = अविद्यमान आदिः यस्याः (बहु०) धावतीति धाविनी। धाव + णिनि + ङीप्। स्वस्य परम्परा (ष० त०)। अनादिश्चाऽसौ धाविनी (क० धा०), अनादिधाविनी चाऽसौ स्वपरम्परा, तस्याः (क० धा०)। हेतुस्रजः=हेतूनां स्रक्, तस्याः (ष० त०)। "बुद्धिः कर्माऽनुसारिणी" वा "एष एव कारयिता" इत्यादि वचनके अनुसार जीव बुद्धि या कर्मके अधीन है वा ईश्वरके, स्वतन्त्र नहीं है यह तात्पर्य है। आयत्तधीः= आयत्ता धीर्यस्य सः (बहु०), "अधीने निघ्न आयत्तः" इत्यमरः। निरीश्वरवादीके मतमें जीव बुद्धिकर्माऽधीन है, ईश्वरवादीके मतमें ईश्वराऽधीन है इस प्रकार दो पक्षोंका प्रदर्शन किया गया है। पर्यनुयुज्य = परि + अनु + युज् + क्त्वा (ल्यप्)। कार्यः = कृ + णिच् + यत्। जीवबुद्धिकी स्वतन्त्रता न होनेसे यह क्यों किया? ऐसा उपालम्भ देना निष्फल है यह तात्पर्य है॥ १०२॥

नित्यं नियत्या परवत्यशेषे कः संविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः?।
अचेतना सा च न वाचमर्हेद्वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्मभुङ्क्ते॥ १०३॥

अन्वयः—अशेषे नित्यं नियत्या परवति (सति) संविदानः अपि कः अनुयोगयोग्यः? अचेतना सा च वाचम् न अर्हेत्, वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते॥ १०३॥

व्याख्या—दैवपारतन्त्र्ये मूढस्य पर्यनुयोज्यत्वाऽभावेऽपि विद्वांस्तु पर्यनुयोज्य एव इत्याशङ्क्य समधत्ते—नित्यमिति। अशेषे = सकले, जने, नित्यं = सर्वदा, नियत्या = दैवेन, परवति = अधीने सति, संविदानः अपि = विद्वान् अपि, कः = जनः, अनुयोगयोग्यः=उपालम्भाऽर्हः, विदुषाऽपि नियतेरलङ्घ्यत्वादिति भावः।

तर्हि नियतिरेव उपालभ्या इत्यत आह--अचेतनेति। अचेतना=चैतन्यरहिता, सा च = नियतिश्च, वाचम् = उपालम्भवाक्यं, न अर्हेत् = न योग्या भवेत्, अचेतनोपालम्भस्याऽरण्यरुदितोपमत्वादिति भावः। तथाऽप्युपालम्भे दोषमाह--वक्ता तु = अचेतनोपालब्धा तु, वक्त्रश्रमकर्म = मुखपरिश्रमकर्मफलं, भुङ्क्ते = अनुभवति, वाक्परिश्रमादन्यत्फलं न किमपीति भावः॥ १०३॥

अनुवादः—सभी जनोंके सदैव भाग्यके अधीन होनेपर कौन-सा विद्वान् भी उपलम्भके योग्य है? चैतन्यरहित भाग्य भी उपालम्भका पात्र नहीं है, उसका उपालम्भ करनेवाला पुरुष ही मुखके परिश्रमका फल भोगता है॥ १०३॥

टिप्पणी—संविदानः = संवित्ते इति, सम्-उपसर्गपूर्वक विद् धातुका "विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे आत्मनेपद होकर लट्के स्थानमें शानच् + सु। अनुयोगयोग्यः = अनुयोगस्य योग्यः (ष० त०)। अचेतना=अविद्यमाना चेतना यस्या सा (नञ्बहु०)। वक्ता=वक्तीति, वच् + तृच् + सु। वक्त्रश्रमकर्म = वक्त्रस्य श्रमः (ष० त०), तस्य कर्म, तत् (ष० त०)॥ १०३॥

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः, क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः॥ १०४॥

अन्वयः—कोमलेच्छुः क्रमेलकं निन्दति। कण्टकलम्पटः क्रमेलकः तं निन्दति। इष्टभुजोः तयोः प्रीतौ समायाम् (तत्र) एकतरोपहासो मध्यस्थता न॥ १०४॥

व्याख्या—ननु महेन्द्रं विहाय नलस्वीकारे लोकोपहास्यता स्यात्तत्राह—क्रमेलकमिति। कोमलेच्छुः = मृदुपदार्थाऽभिलाषी, गजाश्वादिरिति भावः। क्रमेलकम् = उष्ट्रं, निन्दति = गर्हते, कण्टकलम्पटः = कण्टकलोलुपः, क्रमेलकः = उष्ट्रः, तं = कोमलेच्छुं, निन्दति = गर्हते। इष्टभुजोः=अभीष्टभक्षकयोः, तयोः= कोमलकण्टकभक्षकयोः द्वयोः, प्रीतौ = तुष्टौ, समायां = तुल्यायाम् (तत्र = तयोर्द्वयोर्मध्ये) एकतरोपहासः = एकतरस्य (कोमलेच्छोः कण्टकलम्पटस्य वा) उपहासः (उपहसनम्), मध्यस्थता न = माध्यस्थ्यं न, पक्षद्वयेऽपि माध्यस्थ्य-मवलम्बनीयं, न त्वेकतरस्योपहासः कर्तव्य इति भावः॥ १०४॥

अनुवादः—कोमल पदार्थकी इच्छा करनेवाला जन्तु ऊँटकी निन्दा करता है। कण्टकमें लोलुप ऊँट उस कोमल पदार्थको चाहनेवालेकी निन्दा करता है। अपने अभीष्ट पदार्थको खानेवाले उन दोनोंकी सन्तुष्टि तुल्य होनेपर दोनोंमें एकका उपहास-करना मध्यस्थता नहीं है (बल्कि पक्षपात है)॥ १०४॥

टिप्पणी—कोमलेच्छुः = कोमलस्य इच्छुः (ष० त०) । क्रमेलकम् = "उष्ट्रे क्रमेलक-मय-महाङ्गः" इत्यमरः । कण्टकलम्पटः = कण्टकेषु लम्पटः (स० त०), "लोलुपं लोलुभं लोलं लम्पटं लालसं विदुः ।" इति हलायुधः । निन्दति = णिदि + लट्—तिप् । इष्टभुजो = इष्टं भुङ्क्तः इति इष्टभुजौ, तयोः, इष्ट + भुज् + क्विप् + (उपपद०) + ओस् । एकतरोपहासः = एकतरस्य उपहासः (ष० त०) । मध्यस्थता = मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, मध्य + स्था + क + सु । तस्य भावः, मध्यस्थ + तल् + टाप् + सु ॥ १०४ ॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहारयन्ति ।
न लोकमालोकयथाऽपवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—हरन्तोऽपि हरेः गुणा मे रोचमानं नरं न परिहारयन्ति । अपवर्गात् अर्वाञ्चं त्रिवर्गम् अमुञ्चमानं लोकं न आलोकयथ ? ॥ १०५ ॥

व्याख्या—हरन्तोऽपि = चित्तम् आकर्षन्तोऽपि, हरेः = इन्द्रस्य, गुणाः = ऐश्वर्यशौर्यादयो धर्माः, मे = मह्यं, रोचमानं = प्रीतिविषयभूतं, नरं = मानवं नलं, न परिहारयन्ति = न त्याजयन्ति । कुतः—अपवर्गात्=मोक्षात्, अर्वाञ्चं= निकृष्टं, त्रिवर्गं = धर्माऽर्थकामसमूहम्, अमुञ्चमानम् = अत्यजन्तं, लोकं = जनसमूहं, न आलोकयथ = न पश्यथेति काकुः ॥ १०५ ॥

अनुवादः - चित्तको आकृष्ट करते हुए भी इन्द्रके गुण मेरी प्रीतिके विषयभूत मनुष्य नलको नहीं 'हटाते हैं । मोक्षसे निकृष्ट धर्म, अर्थ और कामको नहीं छोड़नेवाले जनसमूहको तुमलोग नहीं देख रही हो ? ॥ १०५ ॥

टिप्पणी – हरन्तः = हृञ् + लट् (शतृ) + जस् । मे, रुच धातुके योगमें "रुच्यर्थनां प्रीयमाणः" इस सूत्रसे सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी । रोचमानं= रुच + लट् (शानच्) + अम् । परिहारयन्ति = परि + हृञ् + णिच् + लट् + झि । त्रिवर्गं = त्रियाणां वर्गः, तम् (ष० त०) । "त्रिवर्गो धर्मकामाऽर्थैः" इत्यमरः । अमुञ्चमानं = न मुञ्चमानः, तम् (नञ्) । आलोकयथ = आङ् + लोक + णिच् + लट् + थ । महाकवि कालिदासने कुमारसंभवमें भगवती पार्वतीके मुखसे ऐसा ही वाक्य कहलाया है--"न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते । ५-८२ ।" अर्थात् अपनी इच्छासे चलनेवाला जन लोक क्या कहता है इस प्रकार वचनीयताका विचार नहीं करता है । इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ १०५ ॥

आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाऽभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः ।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चाऽर्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—आकीटम् आकैटभवैरि स्वाऽभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः तुल्यः । भिन्नस्पृहाणाम् अर्थम् अर्थं प्रति द्विष्टत्वम् इष्टत्वं च अपव्यवस्थम् ॥ १०६ ॥

व्याख्या—ननु महेन्द्रप्राप्त्यैव कृताऽर्थता नलप्रार्थनया किं दुःखायसे इत्यत्राऽऽह—आकीटमिति । आकीटं = हीनेषु कीटात् आरभ्य, आकैटभवैरि = उत्तमेषु—कैटभवैरिणं विष्णुम् अभिव्याप्य । स्वाऽभीष्टलाभात् = निजाऽभीप्सितप्राप्तेः, कृतकृत्यभावः = कृताऽर्थत्वं, तुल्यः = समानः । एवं च ममाऽपि अभीष्टनललाभात्कृतकृत्यता नेन्द्रलाभादिति भावः । अत्र हेतुमाह—भिन्नस्पृहाणामपीति । भिन्नस्पृहाणां = भिन्नरुचीनां जनानाम्, अर्थम् अर्थम् प्रति = प्रत्यर्थं, द्विष्टत्वं = द्वेषविषयत्वम्, इष्टत्वं च = इच्छाविषयत्वं च, अपव्यवस्थं= नियतव्यवस्थारहितम्, तस्मादिन्द्रोऽपि मया नेष्यत इति भाव ॥ १०६ ॥

अनुवादः—कीड़ेसे लेकर भगवान् विष्णुतक अपने अभीष्ट पदार्थकी प्राप्तिसे कृताऽर्थता समान है । भिन्न-भिन्न अभिलाषवालोंका पदार्थोंमें द्वेष और इच्छाकी नियत (खास) व्यवस्था नहीं है ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—आकीटं = कीटात् आरभ्य, "आङ् मर्यादाभिविध्योः" इस सूत्रसे अभिविधिमें अव्ययीभाव समास । आकैटभवैरि = कैटभस्य वैरी (ष० त०) । कैटभवैरिणम् अभिव्याप्य, पूर्वसूत्रसे अव्ययीभाव । स्वाऽभीष्टलाभात् = स्वस्य अभीष्टं (ष० त०), तस्य लाभः, तस्मात् (ष० त०) । कृतकृत्यभावः = कृतं कृत्यं येन सः (बहु०), तस्य भावः (ष० त०) । मुझे अभीष्ट नलके लाभसे कृतकृत्यता है इन्द्रके लाभसे नहीं, यह तात्पर्य है । भिन्नस्पृहाणां = भिन्ना स्पृहा येषां ते भिन्नस्पृहाः, तेषाम् (बहु०) । अपव्यवस्थम् = अपगता व्यवस्था यस्मात् तत् (बहु०) । सबके लिए सभी पदार्थोंमें द्वेष और इच्छाकी कोई नियत व्यवस्था नहीं है इस कारण मैं इन्द्रमें इच्छा नहीं करती हूँ, यह तात्पर्य है ॥ १०६ ॥

अग्राऽध्वजाग्रन्निभृताऽऽपदन्धुं बन्धुर्यदि स्यात् प्रतिबन्धुमर्हः ।
जोषं जनः कार्यविदस्तु वस्तु प्रच्छद्या निजेच्छा पदवीं मुदस्तु ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अग्राऽध्वजाग्रन्निभृताऽऽपदन्धुं प्रतिबन्धुम् अर्हः बन्धुः स्यात् यदि, स जनः कार्यवित् जोषम् अस्तु । मुदः पदवीं तु निजेच्छा एव प्रच्छद्या, वस्तु ॥ १०७ ॥

व्याख्या—अग्राऽध्वजाग्रन्निभृताऽऽपदन्धुं = पुरोमार्गाऽऽसन्नगुप्तविपत्कूपं, प्रतिबन्धुं = निषेद्धुम्, अर्हः = योग्यः, शक्त इति भावः, बन्धुः = सुहृत्, स्यात् यदि = भवेत् चेत्, सः = तादृशः, जनः = बन्धुजनः, कार्यवित् = कार्यज्ञः अपि प्रश्नपर्यन्तं, जोषम् अस्तु = तूष्णीम् आस्ताम्, न तु मां निवारयेदिति भावः। कुतस्तर्हि कार्यविज्ञानं? तदाह—वस्त्विति। मुदः = हर्षस्य, श्रेयस इति भाव। पदवीं तु = मार्गं तु, निजेच्छा एव = स्वकाङ्क्षा एव, प्रच्छ्या = प्रष्टव्या, सैव मे प्रवर्तिका नाऽन्यः कश्चिदस्तीत्यर्थः। वस्तु = सत्यम्, अयमेव परमाऽर्थ इति भावः॥ १०७॥

अनुवादः—सामने राहमें निकट विपत्तिरूप कुएँको रोकनेमें समर्थ बन्धु हो तो कार्य जाननेवाला वह प्रश्न करनेतक चुप रहे। कल्याणके मार्गको तो अपनी इच्छासे पूछना चाहिए। यही ठीक है॥ १०७॥

टिप्पणी—अग्राऽध्वजाग्रन्निभृताऽऽपदन्धुम् = अग्रश्चाऽसौ अध्वा (क० धा०), निभृता चाऽसौ आपत् (क० धा०), सा एव अन्धुः (रूपक०), "पुंस्येवाऽन्धुः प्रहिः कूपः" इत्यमरः। जाग्रच्चाऽसौ निभृताऽऽपदन्धुः (क० धा०)। अग्राऽध्वनि जाग्रन्निभृताऽऽपदन्धुः, तम् (स० त०)। प्रतिबन्धुं = प्रति + बन्ध + तुमुन्। कार्यवित् = कार्यं वेत्तीति, कार्य + विद् + क्विप् (उपपद०) + सु। निजेच्छा = निजस्य इच्छा (ष० त०)। प्रच्छ्या = प्रष्टुम् अर्हा, द्विकर्मक "प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्" धातुसे अप्रधान कर्ममें "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्रसे ण्यत् + टाप्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है॥ १०७॥

इत्थं प्रतीपोक्तिमतिं सखीनां विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला।
अपि श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्ति दूतीं बभाषेऽद्भुतलोलमौलिम्॥ १०८॥

अन्वयः—बाला इत्थं सखीनां प्रतीपोक्तिमतिं पाण्डित्यबलेन विलुप्य श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिम् अपि अद्भुतलोलमौलिं दूतीं बभाषे॥ १०८॥

व्याख्या—बाला=भैमी, इत्थम् = अनेन प्रकारेण, सखीनां = वयस्यानां, प्रतीपोक्तिमतिं = प्रतिकूलवचनबुद्धिं, पाण्डित्यबलेन = वैदुष्यशक्त्या, विलुप्य= परिहृत्य, श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिम् अपि = आकर्णितेन्द्रसचिवबृहस्पतिशोभनभाषणाम् अपि, अद्भुतलोलमौलिं = विस्मयकम्पमानशिरसं, दूतीम् = इन्द्रशम्भलीं बभाषे = भाषितवती॥ १०८॥

अनुवादः—दमयन्तीने इस प्रकारसे सखियोंकी प्रतिकूल भाषण करनेकी बुद्धिको अपने पाण्डित्यकी शक्तिसे निवारण करके इन्द्रके मन्त्री बृहस्पतिके उत्तम

भाषणको भी सुनी हुई आश्चर्यसे शिरको हिलानेवाली इन्द्रदूतीको फिर कहा ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—प्रतीपोक्तिमतिं = प्रतीपा चाऽसौ उक्तिः (क० धा०)। तस्यां मतिः, ताम् (स० त०)। पाण्डित्यबलेन = पाण्डित्यस्य बलं, तेन (ष० त०)। विलुप्य = वि + लुप् + क्त्वा (ल्यप्)। श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिं = स्वः पतिः (ष० त०) "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इस वार्तिकसे वैकल्पिक रेफ, दूसरे पक्षमें विसर्ग और उपध्मानीय भी होता है। स्वर्पतेः मन्त्री (ष० त०)। शोभना उक्तिः सूक्तिः (गति०)। स्वर्पतिमन्त्रिणः सूक्तिः (ष० त०)। श्रुता स्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिः यया, (बहु०), ताम्। अद्भुतलोलमौलिम् = लोलो मौलिः यस्याः सा (बहु०)। अद्भुतेन लोलमौलिः, ताम् (तृ० त०)। बभाषे = भाष + लिट् + त। बृहस्पतिसे भी दमयन्ती प्रगल्भा है, ऐसे आश्चर्यसे मस्तकको हिलानेवाली सखीको दमयन्तीने कहा, यह तात्पर्य है ॥ १०८ ॥

परेतभर्तुर्मनसेव दूतीं नभस्वतेवाऽनिलसख्यभाजः ।
त्रिस्रोतसेवाऽम्बुपतेस्तदाऽऽशु स्थिराऽऽस्थमायातवतीं निरास्थम् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—मनसा एव स्थिराऽऽस्थम् आशु आयातवतीं परेतभर्तुः दूतीं, नभस्वता एव स्थिराऽऽस्थम् आशु आयातवतीम् अनिलसख्यभाजः दूतीं, त्रिस्रोतसा एव स्थिराऽऽस्थम् आशु आयातवतीम् अम्बुपतेः दूतीं तदा एव निरास्थम् ॥ १०९ ॥

व्याख्या—मनसा एव = चित्तेन एव, आकर्षकेणेति शेषः। आगमनसाधनेनेति भावः। स्थिराऽऽस्थं = दृढाऽभिनिवेशं यथा तथा, आशु = शीघ्रम्, आयातवतीम् = आगतां, परेतभर्तुः = यमराजस्य, दूतीं = शम्भलीं, नभस्वता एव = वायुना एव, स्थिराऽऽस्थम, आशु, आयातवतीम्, अनिलसख्यभाजः = अग्नेः, दूतीं, त्रिस्रोतसा एव = गङ्गया एव, स्थिराऽऽस्थम्, आशु, आयातवतीम्, अम्बुपतेः = वरुणस्य, दूतीं, तदा एव = आगमनक्षण एव, निरास्थं = पर्यहार्षम् ॥ १०९ ॥

अनुवादः—(हे इन्द्रदूति !) आगमनके साधन मनसे ही दृढ अभिनिवेशपूर्वक शीघ्र आई हुई यमराजकी दूतीको, आगमनके साधन वायुसे ही दृढ अभिनिवेशपूर्वक शीघ्र आई हुई अग्निकी दूतीको और आगमनकी साधन गङ्गासे ही दृढ अभिनिवेशपूर्वक शीघ्र आई हुई वरुणकी दूतीको मैंने आगमनके क्षणमें ही ठुकरा दिया ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—स्थिराऽऽस्थं = स्थिरा आस्था यस्मिन् कर्मणि, (बहु०), तद्यथा तथा (क्रि० वि०)। आयातवतीम् = आङ् + या + क्तवतु + ङीप् + अम्। परेतभर्तुः = परस्मिन् (लोके) इताः (स० त०), परेतानां भर्ता, तस्य (ष० त०)। अनिलसख्यभाजः = अनिलेन सख्यं (तृ० त०), तद् भजतीति अनिलसख्यभाक्, तस्य, "भजो ण्विः" इससे ण्विप्रत्यय। अनिलसख्य + भज् + ण्विः (उपपद०) + ङस्। त्रिस्रोतसा = त्रीणि स्रोतांसि (प्रवाहाः) यस्याः सा, (बहु०) तया। अम्बुपतेः = अम्बुनः पतिः, तस्य (ष० त०)। निरास्थं = निर्-उपसर्गपूर्वक "असु क्षेपणे" इस धातुसे लुङ + मिप्, च्लिके स्थानमें "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् आदेश। "अस्यतेस्थुक्" इससे थुक् आगम। यमराज, अग्नि और वरुणकी दूतियोंको दूरसे ही मैंने हटा दिया। इन्द्रके गौरवसे इतने समयतक तुम (इन्द्रकी दूती) से भाषण किया यह भावार्थ है। इस पद्यमें मन, वायु और गङ्गाका क्रमसे यमराज, अग्नि और वरुणके आज्ञाकारी होनेसे उनकी प्रीतिके लिए अत्यन्त वेगयुक्त मन आदिसे आई हुई यम आदिकी दूतियाँ थीं, यह उत्प्रेक्षाका अर्थ है ॥ १०९ ॥

भूयोऽर्थमेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः ।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तः परं वज्रिणि मार्जितास्मि ॥ ११० ॥

अन्वयः—(हे इन्द्रदूति !) त्वं भूयः एनम् अर्थं माम् आत्थ यदि, तदा मघोनः पदौ आलभसे। वज्रिणि अन्तः परम् इमं तीव्रं मन्तुं सतीव्रतैः मार्जितास्मि ॥ ११० ॥

व्याख्या—(हे इन्द्रदूति !) त्वं, भूयः = पुनः, एनम् = अमुम्, अर्थं = प्रयोजनम्, इन्द्रवरणरूपमिति भावः। माम्, आत्थ यदि=ब्रूषे चेत्, तदा=तर्हि, मघोनः = इन्द्रस्य, पदौ = चरणौ, आलभसे = हिनस्सि स्पृशसि वा। इन्द्रकोपमाशङ्क्याऽऽह—सतीव्रतैरिति। वज्रिणि = इन्द्रे विषये, अन्तः = अन्तःकरणे, स्थितमिति शेषः, परं=दुःसहम्, इमं, तीव्रं = तीक्ष्ण, मन्तुम् = अपराधं, सतीव्रतैः = पतिव्रताधर्मैः, मार्जितास्मि = मार्जिष्यामि। सतीव्रतज्ञः सर्वज्ञो भगवान् मघवान् मामस्मादपराधाद्रक्षिष्यतीति भावः ॥ ११० ॥

अनुवादः—(हे इन्द्रदूति !) तुम फिर इस बातको मुझे कहोगी तो तुम्हें इन्द्रके चरणों का शपथ (कसम) है। इन्द्र के विषयमें अन्तःकरणमें स्थित दुःसह इस तीव्र अपराधको पतिव्रता धर्मोंसे मार्जन करूँगी ॥ ११० ॥

टिप्पणी—आलभसे = आङ् + लभ + लट् + थास् । मन्तुम् = अपराधम्, "आगोऽपराधो मन्तुश्च" इत्यमरः । सतीव्रतैः=सत्या व्रतानि, तैः (ष०त०) । मार्जितास्मि="मृजू शुद्धौ" धातुसे लुट् + मिप् । "मृजेर्वृद्धिः" इस सूत्रसे वद्धि ॥११०॥

इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामवयातवत्याम् ।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीबमिव प्रबोधः ॥ १११ ॥

अन्वयः—इत्थं पुनः वागवकाशनाशात् इन्द्रदूत्याम् अवयातवत्यां नलस्य जीवः लोलं हृदयं क्षीबं प्रबोध इव पुनः विवेश ॥ १११ ॥

व्याख्या—इत्थम् = अनेन प्रकारेण, पुनः = भूयः, वागवकाशनाशात्=वचनस्थाननिवृत्तेः, इन्द्रदूत्यां = देवेन्द्रशम्भल्याम्, अवयातवत्यां = गतायां, नलस्य= नैषधस्य, जीवः = प्राणः, लोलं = चञ्चलं, हृदयम् = अन्तःकरणं क्षीबं = मत्तं, प्रबोध इव = विवेक इव, पुनः = भूयः, विवेश = प्रविष्टः ॥ १११ ॥

अनुवाद—इस प्रकार फिर बोलनेके अवकाशके न रहनेसे इन्द्रदूतीके चली जानेपर, जैसे मत्त पुरुषको अवसर पर प्रबोध प्राप्त करता है, वैसे ही नलसे प्राणने भी चञ्चल हृदयमें फिर प्रवेश किया ॥ १११ ॥

टिप्पणी—वागवकाशनाशात् = वाचः अवकाशः (ष० त०), तस्य नाशः (ष० त०), तस्मात् । इन्द्रदूत्याम्=इन्द्रस्य दूती (ष० त०), तस्याम् । अवयातवत्याम्=अव + या + क्तवतु + ङीप् + ङि । क्षीबं = "क्षीबृ मदे" धातुसे कर्तामें क्त प्रत्यय, "अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः" इस सूत्रसे निपातन । "मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः" इत्यमरः । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १११ ॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं
दिगधिपकृपयाऽऽत्तादीदृशः सन्निधानात् ।
अलभत मधु बालारागवागुत्थमित्थं
निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—निषधजनपदेन्द्रः दिगधिपकृपया आत्तात् ईदृशः सन्निधानात् स्वेन श्रवणपुटयुगेन साधु उपनीतम् इत्थं बालारागवागुत्थं मधु आनन्दसान्द्रः पातुम् अलभत ॥ ११२ ॥

व्याख्या—निषधजनपदेन्द्रः = नलः, दिगधिपकृपया = दिक्पालदयया, आत्तात् = प्राप्तात्, ईदृशः = एतादृशात्, सन्निधानात् = अप्रकाशसान्निध्यात् । स्वेन = स्वकीयेन, श्रवणपुटयुगेन = कर्णपात्रयुग्मेन, साधु = सम्यक्प्रकारेण,

उपनीतम् = आनीतम्, इत्थम् = उक्तरीत्या, बालारागवागुत्थं = भैम्यनुरागवचनोत्पन्नं, मधु = क्षौद्रम्, आनन्दसान्द्रः = गाढानन्दनिमग्नः सन्, पातुं = पानं कर्तुम्, अलभत = लब्धवान् ॥ ११२ ॥

अनुवादः—निषधेश्वर नलने लोकपालोंकी कृपासे प्राप्त ऐसे अदृश्य सामीप्यसे अपने दो श्रोत्रइन्द्रिरूप पात्रोंसे अच्छी तरह लाये गये इस प्रकारसे दमयन्तीके अनुरागवचनसे उत्पन्न मधु (शहद) को गाढ आनन्दमें निमग्न होकर पान करने के लिए प्राप्त किया ॥ ११२ ॥

टिप्पणी--निषधजनपदेन्द्रः = निषधाश्च ते जनपदाः (क० धा०), तेषाम् इन्द्रः (ष० त०)। दिगधिपकृपया=दिशाम् अधिपाः, (ष० त०), तेषां कृपा, (ष० त०) तया। आत्तात् = आङ + दा + क्तः + ङसि। ईदृशः = इदम् + दृश् + क्विन् + ङसिः। श्रवणपुटयुगेन = श्रवणे एव पुटे (रूपक०), तयोर्युगं, (ष० त०), तेन। बालारागवागुत्थं = रागस्य वाचः (ष० त०), बालाया रागवाचः (ष० त०) ताभ्य उत्तिष्ठतीति, बालारागवाच् + उद् + स्था + क्तः (उपपद०), + सुः। आनन्दसान्द्रः = आनन्देन सान्द्रः (तृ० त०)। पातुं = पा + तुमुन्, लभ धातुके योगमें "शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहाऽर्हाऽस्त्यर्थेषु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन्। अलभत = लभ = लङ् + त ॥ ११२ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद्भास्वरः ॥ ११३ ॥

इति नैषधीयचरिते महाकाव्ये षष्ठः सर्गः।

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। सहजात् खण्डनखण्डतः अपि क्षोदक्षमे तन्महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते भास्वरः षष्ठः सर्गः अगमत् ॥ ११३ ॥

व्याख्या—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः = पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः, श्रीहीरः = श्रीहीरनामकः, मामल्लदेवी च = मामल्लदेवीनाम्नी च। जितेन्द्रियचयं = वशीकृतहृषीकसमूहं, श्रीहर्षं = श्रीहर्षनामकं, सुतं= पुत्रं, सुषुवे = जनयामास। सहजात् = सोदरात्, समानकर्तृकादिति भावः। खण्डनखण्डतः अपि = खण्डनखण्डखाद्यात् ग्रन्थात् अपि, क्षोदक्षमे = संघर्षणसहे,

तन्महाकाव्ये = श्रीहर्षमहाकाव्ये, चारुणि = मनोहरे, नैषधीयचरिते, भास्वरः = प्रकाशशीलः षष्ठः = षण्णां पूरणः, सर्गः = अध्यायः, अगमत् = गतः, समाप्त इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

अनुवाद:—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियसमूहको जीतनेवाले जिस श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया। सहोदर (एककर्तृक) खण्डनखण्डखाद्य से भी संघर्षण सहनेवाले उनके महाकाव्य मनोहर नैषधीयचरितमें प्रकाशशील छठवां सर्ग गया (समाप्त हुआ) ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—(संक्षेपसे करते हैं)। सहजात् = सह जायते इति सहजः, तस्मिन्, सह + जन् + ड + ङसि। खण्डनखण्डतः = "नामैकदेशे नामग्रहणम्" इस उक्तिके अनुसार यहाँ पर खण्डनखण्डखाद्यके लिए "खण्डनखण्ड" पदका प्रयोग है। खण्डनखण्डात् इति खण्डनखण्डतः, खण्डनखण्ड + तसिः। क्षोदक्षमे = क्षोदेक्षमं, तस्मिन् (स० त०) भास्वरः = भास् + वरच् + सुः। षष्ठः = षण्णां पूरणः, षष् + डट् + थुक् + सुः। अगमत् = गम् + लुङ् + तिप् ॥ ११३ ॥

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतचन्द्रकलाभिख्यव्याख्योपेते
नैषधीयचरिते षष्ठः सर्गः।
ॐ तत्सत्।

—:०:—

सप्तमः सर्गः

गजवदनं सुखसदनं, प्रत्यूहव्यूहमस्यन्तम् ।
गिरिजागिरीशतनयं गुणगणलसितं गणाऽधिपं वन्दे ॥ १ ॥

अथ प्रियाऽऽसादनशीलनाऽऽदौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः ।
विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः पत्या भुवः पूर्णवदभ्यमानि ॥ १ ॥

अन्वयः--अथ भुवः पत्या प्रियाऽऽसादनशीलनादौ यो मनोरथः चिरं पल्लवितः, स राजपुत्र्या विलोकनेन एव पूर्णवत् अभ्यमानि ।

व्याख्या—अथ=इन्द्रदूतीगमनाऽनन्तरं, भुवः = पृथिव्याः, पत्या=स्वामिना, नलेनेति भावः । प्रियाऽऽसादनशीलनाऽऽदौ = दमयन्तीप्राप्तिपरिचयप्रभृतौ विषये यः, मनोरथः = अभिलाषः, चिरं=बहुकालादारभ्य, पल्लवितः = सञ्जात-पल्लवः आसीत्, सः = मनोरथः, राजपुत्र्याः = दमयन्त्याः, विलोकनेन एव = दर्शनेन एव, पूर्णवत् = फलितवत्, अभ्यमानि = अभिमतः ॥ १ ॥

अनुवादः—इन्द्रकी दूतीके जानेके अनन्तर राजा नलका दमयन्तीकी प्राप्ति और परिचय आदिके विषयमें जो अभिलाष बहुत समयसे पल्लवित हुआ था, उसको उन्होंने दमयन्तीके दर्शनसे ही फलितके समान जाना ॥ १ ॥

टिप्पणी—पत्या = "पतिः समास एव" इस सूत्रके अनुसार पति शब्दका समासमें ही घीसंज्ञक होनेसे यहांपर समास न होनेसे 'टा' के स्थानमें 'ना'-का अभाव । प्रियाऽऽसादनशीलनादौ = आसादनं च शीलनं च (द्वन्द्वः), आसादनशीलने (ष० त०), ते आदी यस्य सः (बहु०), तस्मिन् । यहाँपर "आदि" शब्दसे आलिङ्गन आदिका संग्रह होता है । पल्लवितः = पल्लवानि संजातानि अस्य सः (पल्लव + इतच् + सुः) । राजपुत्र्याः = राज्ञः पुत्री, तस्याः (ष० त०) । पूर्णवत् = पूर्णेन तुल्यं, पूर्ण + वतिः । अभ्यमानि= अभि + मन् + लुङ् + (कर्ममें) + त । उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथाऽन्तरानन्दसुधासमुद्रे ।
ततः प्रमोदाऽश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य दृशौ प्रथमं प्रियायां, प्रतिप्रतीकं ममज्जतुः । अथ अन्तः आनन्दसुधासमुद्रे ममज्जतुः । ततः प्रमोदाऽश्रुपरम्परायां ममज्जतुः ॥ २ ॥

व्याख्या—तस्य=पूर्वोक्तस्य, नृपस्य = राज्ञो नलस्य, दृशौ = नेत्रे, प्रथमं= प्राक्, प्रियायां = दमयन्त्यां, तत्राऽपि प्रतिप्रतीकं = प्रत्यवयवं, ममज्जतुः = अवगाढवत्यौ, दमयन्तीं नलोऽवयवशो ददर्शेति भावः । अथ=तदनन्तरम्, अन्तः= अन्तरात्मनि, आनन्दसुधासमुद्रे = हर्षाऽमृतसागरे, ममज्जतुः = अवगाढवत्यौ, करणभूतयोर्दृशोः कर्तृत्वोपचारः । ततः = अनन्तरं, प्रमोदाऽश्रुपराम्परायाम = आनन्दवाष्पप्रवाहे, ममज्जतुः = अवगाढवत्यौ ॥ २ ॥

अनुवाद—राजा नलके नेत्र पहले दमयन्तीमें, उसके प्रत्येक अवयवोंमें, अनन्तर अन्तःकरणमें उत्पन्न आनन्दरूप अमृतके समुद्रमें, तब हर्षाऽश्रुकी परम्परामें निमग्न हो गये ।

टिप्पणी—प्रतिप्रतीकं = प्रतीकं प्रतीकं, वीप्सामें **अव्ययीभाव** । "अङ्गं- प्रतीकोऽवयवोऽपघनः" इत्यमरः । ममज्जतुः = मस्ज + लिट् + अतुस् । नलने दमयन्तीके एक-एक अवयवको देखा यह तात्पर्य है । आनन्दसुधासमुद्रे = आनन्द एव सुधा (रूपक०) तस्याः समुद्रः, तस्मिन् (ष० त०) । नलके नेत्रोंने दर्शन-फल आनन्दका अनुभव किया यह भाव है । यहाँ पर नेत्ररूप करणमें कर्तृत्वका उपचार (लक्षणा) है । प्रमोदाऽश्रुपरम्परायां=प्रमोदेन अश्रूणि (तृ० त०), तेषां परम्परा, तस्याम् (ष० त०) । यहाँपर दृग्-रूप एक आधेयका प्रियाके अवयव आदि अनेक आधारोंमें रहनेका वर्णन करनेसे पर्याय अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् ।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ।" १०-७९ ॥ २ ॥

उपेन्द्रवज्रा छन्द है ।

ब्रह्माऽद्वयस्याऽन्वभवत्प्रमोदं रोमाऽग्र एवाऽग्रनिरीक्षितेऽस्याः ।
यथोचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराऽद्वैतमुदं तथाऽसौ ॥ ३ ॥

अन्वयः—असौ अस्या रोमाऽग्रे एव अग्रनिरीक्षिते ब्रह्माऽद्वयस्य प्रमोदम् अन्वभवत् । अथ तदशेषदृष्टौ तथा स्मराऽद्वैतमुदम् अन्वभवत् । इत्थम् औचिती ॥ ३ ॥

व्याख्या—असौ = नलः, अस्याः = दमयन्त्याः, रोमाऽग्रे एव = लोमाऽग्र-मात्रे, अग्रनिरीक्षिते = प्रथमं दृष्टे सति, ब्रह्माऽद्वयस्य = ब्रह्माऽद्वितीयवस्तुनः, प्रमोदम् = आनन्दम्, अन्वभवत् = अनुभूतवान् । अथ = रोमाऽग्रदर्शनाऽनन्तरं, तदशेषदृष्टौ = रोमसमस्तभागदर्शने सति, तथा=तेनैव प्रकारेण, स्मराऽद्वैतमुदं= कामाऽद्वितीयवस्त्वानन्दम्, अन्वभवत् == अनुभूतवान् । इत्थम् = अनेन प्रकारेण, औचिती = औचित्यं, कारणाऽनुरूपं कार्यजन्म उचितमेवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवाद:—नलने दमयन्तीके रोमके अग्रभागको ही पहले देखनेपर ब्रह्मरूप अद्वितीय वस्तुके आनन्दका अनुभव किया । तदनन्तर दमयन्तीके रोमके समस्त भागका दर्शन करनेपर उसी तरह कामदेवरूप अद्वितीय वस्तुके आनन्दका अनुभव किया । इस प्रकारसे औचित्य है । (कारणके अनुरूप कार्यकी उत्पत्ति उचित ही है) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—रोमाऽग्रे=रोम्णः अग्रं, तस्मिन् (ष० त०), अग्रनिरीक्षिते = अग्रे निरीक्षितं, तस्मिन् (स० त०), ब्रह्माऽद्वयस्य=अविद्यमानम् द्वयं (द्वितीयम्) यस्य तत् अद्वयम् (अद्वैतम्), नञ्बहु० । ब्रह्म एव अद्वयं, तस्य (रूपक०) । अन्वभवत् = अनु + भू + लङ् + तिप् । भू धातुके अकर्मक होनेपर भी "अनु" उपसर्गके योगसे अर्थान्तर होनेसे सकर्मकता । आनन्दका ब्रह्मसे भेद न होनेपर भी उपचारसे भेदका व्यवहार है । तदशेषदृष्टौ = तस्य (रोम्णः) अशेषाः (समस्तभागाः), ष० त० । तेषां दृष्टिः, तस्याम् (ष० त०) । स्मराऽद्वैतमुदं = द्वयोर्भावो द्विता, (द्वि + तल् + टाप् + सुः) द्विता एव द्वैतम्, "प्रज्ञादिभ्यश्च" इस सूत्रसे स्वार्थमें अण्, द्विता + अण् + सुः । द्वैतस्य अभावः अद्वैतम्, अर्थाभावमें अव्ययीभाव । स्मर एव अद्वैतम् (रूपक०) । तस्य मुत्, ताम् (ष० त०) । यहाँपर ब्रह्मानन्दसे स्मरानन्द अधिक है, यह विवक्षित है । रोम भी उसके अग्र भागसे अधिक है,वहाँ जैसे अल्पदर्शनसे अल्प आनन्द और अधिक दर्शनसे अधिक आनन्द होता है, यह तथा शब्दका अर्थ है । इस पद्यमें ब्रह्मानन्द और स्मरानन्दका नलरूप एक आधारमें क्रमसे स्थिति होनेसे पर्याय अलङ्कार है । उपजाति छन्द है ॥ ३ ॥

वेलामतिक्रम्य चिरं मुखेन्दोरालोकपीयूषरसेन तस्याः ।
नलस्य रागाऽम्बुनिधौ विवृद्धे तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म दृष्टिः ॥ ४ ॥

अन्वयः— नलस्य दृष्टिः तस्या मुखेन्दोः आलोकपीयूषरसेव रागाऽम्बुनिधौ चिरं वेलाम् अतिक्रम्य विवृद्धे तुङ्गौ कुचौ आश्रयतिस्म ॥ ४ ॥

व्याख्या—नलस्य = नैषधस्य, दृष्टिः = नेत्रं, तस्याः = दमयन्त्याः, मुखेन्दोः = वदनचन्द्रस्य, आलोकपीयूषरसेन = दर्शनाऽमृतस्वादेन, रागाऽम्बुनिधौ = अनुरागसमुद्रे, चिरं = बहुकालं, बेलां = मर्यादाम्, अतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य, विवृत्ते = प्रवृद्धे सति, तुङ्गौ = उन्नतौ, कुचौ = स्तनौ, आश्रयति स्म = आश्रितवती, मुखलग्ना दृष्टी रागवशात्कुचयोः पपात इति भावः ।' ४ ॥

अनुवादः—नलके नेत्रने दमयन्तीके मुखरूप चन्द्रके दर्शनरूप अमृतके रससे अनुरागरूप समुद्रके बहुत समय तक मर्यादाको लङ्घन कर बढ़नेपर उसके ऊँचे कुचोंका आश्रय लिया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—मुखेन्दोः = मुखम् एव इन्दुः, तस्य (रूपक०) आलोकपीयूषरसेन = आलोकः (दर्शनं प्रकाशश्च) एव पीयूषम् (रूपक०) । "आलोको दर्शनद्योतौ" इत्यमरः । आलोकपीयूषस्य रसः, तेन (ष० त०) । रागाऽम्बुनिधौ=अम्बूनां निधिः (ष० त०) । राग एव अम्बुनिधिः, तस्मिन् (रूपक०) । बेलां = "बेला कालमर्यादयोरपि" इति विश्वः । दमयन्तीके मुखपर लगी नलकी दृष्टि अनुरागवश कुचोंपर पड़ गयी, यह भाव है । इस पद्यमें दृष्टिके विशेषणकी समानतासे चन्द्रोदयमें समुद्रके जलकी वृद्धि होने पर ऊँचे आश्रयस्थानकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है, उससे मानों समुद्रमें डूबनेके भयसे इस प्रकार उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है । अतः अलङ्कारसे अलंकारकी ध्वनि है ॥ ४ ॥

मग्ना सुधायां किमु तन्मुखेन्दोर्लग्ना स्थिता तत्कुचयोः किमन्तः ।
चिरेण तन्मध्यममुञ्चताऽस्य दृष्टिः कृशीयः स्खलनाद् भिया नु ॥ ५ ॥

अन्वयः—अस्य दृष्टिः तन्मुखेन्दोः सुधायां मग्ना किमु ? तत्कुचयोः अन्तः-लग्ना किम् ? कृशीयः तन्मध्यं स्खलनात् भिया नु चिरेण अमुञ्चत ॥ ५ ॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, दृष्टिः = नयनं, तन्मुखेन्दोः = दमयन्तीवदनचन्द्रस्य, सुधायाम् = अमृते, मग्ना किमु = निमग्ना किम् ? तत्कुचयोः = दमयन्तीस्तनयोः, अन्तः = अभ्यन्तरे, लग्ना कि = स्थिता किमु ? अन्यथा कथं तावान्विलम्ब इति भावः । कृशीयः = कृशतरं, तन्मध्यं = [illegible] (कर्म), स्खलनात् = पतनात्, भिया नु = भीत्या किं, चिरेण = बहुकालाऽनन्तरम्, अमुञ्चत = त्यक्तवती ॥ ५ ॥

अनुवादः—नलके नेत्र दमयन्तीके मुखरूप चन्द्रके अमृतमें डूब गये हैं क्या ? उसके दोनों स्तनोंके भीतर लग गये हैं क्या ? अत्यन्त कृश दमयन्तीके मध्यभाग (कमर) को मानों गिरनेके भयसे बहुत कालमें छोड़े हुए हैं क्या ? ॥ ५ ॥

टिप्पणी—तन्मुखेन्दोः=मुखम् एव इन्दुः, तस्य (रूपक०) । मग्ना=मस्ज+क्तः+टाप्+सुः । तत्कुचयोः = तस्याः कुचौ, तयोः (ष० त०), क्रशीयः = अतिशयेन कृशं क्रशीयः, तत् कृश+इयसुन्+अम्, "र ऋतो हलादेर्लघोः" इस सूत्रसे ऋके स्थानमें 'र' भाव। तन्मध्यं = तस्या मध्यं, तत् (ष० त०), अमुञ्चत = मुच्+लङ+त । इस पद्यमें सजातीय तीन उत्प्रेक्षाओंकी निरपेक्ष रूपसे स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ ५ ॥

प्रियाऽङ्गपान्था कुचयोर्निवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती ।
बभौतमां　　तन्मृगनाभिलेपतमःसमासादितदिग्भ्रमेव ॥ ६ ॥

अन्वयः—प्रियाऽङ्गपान्था लोला नलदृक कुचयोः निवृत्य भ्रमन्ती तन्मृगनाभिलेपतमःसमासादितदिग्भ्रमा इव बभौतमाम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—प्रियाऽङ्गपान्था = दमयन्त्यवयवनित्यपथिकी, अत एव लोला= सतृष्णा, नलदृक्=नलदृष्टिः, कुचयोः = स्तनयोः, निवृत्य = परावृत्य, भ्रमन्ती= सञ्चरन्ती, तन्मृगनाभिलेपतमःसमासादितदिग्भ्रमा इव = कुचकस्तूरिकालेपनाऽन्धकारप्राप्तदिङ्मोहा इव, बभौतमाम्=अतिशयेन शुशुभे ॥ ६ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके अङ्गोंके पथिक तृष्णायुक्त नलके नेत्र, दमयन्तीके स्तनोंपर बारम्बार लौटकर भ्रमण करते हुए स्तनोंमें कस्तूरीके लेपरूप अन्धकारसे-दिग्भ्रमको पाये हुएके समान अत्यन्त शोभित हुए ॥ ६ ॥

टिप्पणी—प्रियाऽङ्गपान्था = पन्थानं नित्यं गच्छतीति पान्था, 'पथिन्' शब्दसे "पन्थो ण नित्यम्" इस सूत्रसे ण प्रत्यय और "पन्थ" आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् प्रत्यय । "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि ।" इत्यमरः । प्रियाया अङ्गाऽनि (ष० त०), तेषु पान्था (स० त०) । लोला= "लोलश्चलसतृष्णयोः" इत्यमरः । नलदृक् = नलस्य दृक् (ष० त०) । निवृत्य = नि+वृत्+क्त्वा (ल्यप्) । भ्रमन्ती = भ्रम+लट् (शतृ) + ङीप्+ सुः । तन्मृगनाभिलेपतमःसमासादितदिग्भ्रमा = मृगनाभेः लेपः (ष० त०) तयोः (कुचयोः) मृगनाभिलेपः (स० त०), स एव तमः (रूपक०) । दिक्षु भ्रमः (स० त०) । समासादितो दिग्भ्रमो यया सा (बहु०) ।

तन्मृगनाभिलेपतमसा समासादितदिग्भ्रमा (तृ० त०)। बभौतमां="भा दीप्तौ" धातुसे लिट्में "तिङश्च" इस सूत्रसे तमप् प्रत्यय होकर "किमेत्तिङव्ययघादाम्बद्रव्यप्रकर्षे" इस सूत्रसे आमु प्रत्यय। इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाऽङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है। उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ६ ॥

विभ्रम्य तच्चारुनितम्बचक्रे दूतस्य दृक् तस्य खलु स्खलन्ती ।
स्थिरा चिरादास्त तदूरुरम्भास्तम्भावुपाश्लिष्य करेण गाढम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—दूतस्य तस्य दृक् तच्चारुनितम्बचक्रे विभ्रम्य स्खलन्ती तदूरुरम्भास्तम्भौ करेण गाढम् उपाश्लिष्य स्थिरा (सती) चिरात् आस्त खलु ॥७॥

व्याख्या—दूतस्य = सन्देशहरस्य, इन्द्रादिलोकपालानामिति शेषः। तस्य = नलस्य, दृक् = दृष्टिः, तच्चारुनितम्बचक्रे = दमयन्तीसुन्दरकटिपश्चाद्भागमण्डले, विभ्रम्य = भ्रान्त्वा, स्खलन्ती = सञ्चलन्ती, तदूरुरम्भास्तम्भौ = दमयन्तीसक्थिकदलीस्तम्भौ, करेण = किरणेन हस्तेन च, गाढं = दृढम्, उपाश्लिष्य = आलिङ्ग्य, स्थिरा = निश्चला (सती), चिरात् = चिरकालम्, आस्त = उपविष्टा, खलु = निश्चयेन ॥ ७ ॥

अनुवादः—इन्द्र आदि दिक्पालोंके दूत नलके नेत्र दमयन्तीके सुन्दर नितम्बमण्डलमें भ्रमण कर फिसलते हुए दमयन्तीके ऊरुरूप कदलीस्तम्भोंको कर (किरण वा हाथ) से दृढतापूर्वक आलिङ्गन करके स्थिर होकर बहुत समयतक रहे ॥ ७ ॥

टिप्पणी—तच्चारुनितम्बचक्रे=नितम्ब एव चक्रम् (रूपक०), चारु च तत् नितम्बचक्रं (क० धा०)। तस्याः चारुनितम्बचक्रं, तस्मिन् (ष० त०)। विभ्रम्य = वि = भ्रम + क्त्वा (ल्यप्)। स्खलन्ती=स्खल + लट् (शतृ) + ङीप् + सुः। तदूरुरम्भास्तम्भौ = तस्या ऊरू (ष० त०)। रम्भायाः स्तम्भौ (ष० त०)। तदूरू एव रम्भास्तम्भौ, तौ (क० धा०)। करेण = "बलिहस्तांऽशवः कराः" इत्यमरः। उपाश्लिष्य = उप + आङ् + श्लिष + क्त्वा (ल्यप्)। आस्त = आस + लङ् + त। इस पद्यमें दृष्टिके विशेषणकी समतासे भ्रमणक्रीडा करनेवाली बालिकाकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति है, उसका "ऊरुस्तम्भौ" यहाँ पर रूपक अङ्ग है, इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है। जैसे बालिका क्रीडासे बहुत समयतक चक्रपर घूमती हुई फिसलकर निकट स्थित स्तम्भ

आदिका अवलम्बन कर विचरण करती है, वैसे ही नलकी दृष्टि भी दमयन्तीके नितम्बको बहुत समयतक देखकर उनके ऊरुओंको देखने लगी, यह तात्पर्य है। उपजाति छन्द है ॥ ७ ॥

वासः परं नेत्रमहं न नेत्रं किमु त्वमालिङ्गय तन्मयाऽपि ।
उरोनितम्बोरु कुरु प्रसादमितीव सा तत्पदयोः पपात ॥ ८ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) वासः परं नेत्रम्, अहं नेत्रं न किमु ? (अस्मि एव), तत् मया अपि उरोनितम्बोरु आलिङ्गय । प्रसादं कुरु इति इव सा तत्पदयोः पपात ॥ ८ ॥

व्याख्या—(हे दमयन्ति !) वासः परं = वस्त्रम् एव, नेत्रम् = आच्छादनम्, अहं = नेत्रं, नेत्रं न किमु = नेत्रं न अस्मि किम्, अस्म्येवेति भावः । तत् = तस्मात् कारणात्, नेत्रत्वाऽविशेषादिति भावः । मया अपि = नेत्रवाचकेन नयनेन अपि, उरोनितम्बोरु = वक्षःस्थलं, कटिपश्चाद्भागम् सक्थिनी च, आलिङ्गय = आश्लेषय, प्रसादम् = अनुग्रहम्, आलिङ्गनरूपमिति भावः । कुरु = विधेहि, इति इव = इति बुद्ध्या इव, सा = नलदृष्टिः, तत्पदयोः = दमयन्तीचरणयोः, पपात = पतिता, दमयन्त्याः पदे अपि ददर्शेति भावः ॥८॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति) वस्त्र ही नेत्र है, मैं (दृष्टि) नेत्र नहीं हूँ क्या ? (हूँ ही) । इस कारणसे मुझ (नेत्र = दृष्टि) से भी अपने वक्षःस्थल, नितम्ब और ऊरुओंको आलिङ्गन कराओ, अनुग्रह करो, मानों ऐसी बुद्धि करके नेत्र दमयन्तीके चरणोंमें गिर पड़े ॥ ८ ॥

टिप्पणी—नेत्रं = "नेत्रं पथि गुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने ।" इति विश्वः । यहाँपर 'नेत्र' पदका वस्त्र और नयन दो अर्थ हैं । उरोनितम्बोरु = उरश्च नितम्बश्च ऊरू च, तत्, प्राणीके अङ्ग होनेसे "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इससे समाहारमें द्वन्द्व । तत्पदयोः = तस्याः पदे, तयोः (ष० त०) । नलके नेत्रोंने दमयन्तीके वक्षःस्थल, नितम्ब और ऊरुओंको देखकर चरणोंको भी देखा, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८ ॥

दृशोर्यथाकाममथोपहृत्य स प्रेयसीमालिकुलं च तस्याः ।
इति प्रमोदाद्भुतसंभृतेन महीमहेन्द्रो मनसा जगाद ॥ ९ ॥

अन्वयः—अथ महीमहेन्द्रो दृशोः प्रेयसीं तस्या आलिकुलं च यथाकामम् उपहृत्य प्रमोदाऽद्भुतसंभृतेन मनसा इदं जगाद ॥ ९ ॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, महीमहेन्द्रः = भूमीन्द्रो नलः, दृशोः =

स्वनेत्रयोः, प्रेयसीं = दमयन्तीं, तस्याः = प्रेयस्याः, आलिकुलं च = सखीवर्गं च, यथाकामम् = इच्छाऽनुसारम्, उपहृत्य = उपहारीकृत्य, यथेच्छं दृष्ट्वेति भावः। प्रमोदाऽद्भुतसंभृतेन = हर्षाऽऽश्चर्यपरिपूर्णेन, मनसा = चित्तेन, इद = वक्ष्यमाणं, जगाद = उवाच, स्वगतमिति शेषः ॥ ९ ॥

अनुवादः—तब महाराज नलने अपने नेत्रोंके लिए प्रियतमा दमयन्ती और उनकी सखियोंको भी इच्छाके अनुसार उपहार बनाकर हर्ष और आश्चर्यसे परिपूर्ण मनसे ऐसा कहा ॥ ९ ॥

टिप्पणी—महीमहेन्द्रः=महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), मह्याः महेन्द्रः (ष० त०)। प्रेयसीं = प्रिय + ईयसुन् + ङीप् + अम्। आलिकुलम् = आलीनां कुलं, तत् (ष० त०)। यथाकामं = काममनतिक्रम्य, (अव्ययीभाव)। उपहृत्य = उप + हृञ् + क्त्वा (ल्यप्)। प्रमोदाद्भुतसंभृतेन = प्रमोदश्च अद्भुतं च प्रमोदाऽद्भुते (द्वन्द्व) ताभ्यां संभृतं, तेन (तृ० त०)। जगाद = गद् + लिट् + तिप् ॥ ९ ॥

पदे विधातुर्यदि मन्मथो वा ममाऽभिषिच्येत मनोरथो वा।
तदा घटेताऽपि न वा तदेतत्प्रतिप्रतीकाऽद्भुतरूपशिल्पम् ॥ १० ॥

अन्वयः—विधातुः पदे मन्मथो वा मम मनोरथः अभिषिच्येत यदि ? तदाऽपि तत् एतत् प्रतिप्रतीकाऽद्भुतरूपशिल्पं घटेत अपि न वा (घटेत) ॥ १० ॥

व्याख्या—विधातुः = ब्रह्मदेवस्य पदे = स्थाने, मन्मथः = कामदेवः, वा = अथ वा, मम मनोरथः = अभिलाषः, अभिषिच्येत यदि = अभिषिक्तः क्रियेत चेत्, तदाऽपि = तर्ह्यपि, तत् = प्रसिद्धम्, एतत् = अतिसमीपवर्ति, प्रतिप्रतीकाऽद्भुतरूपशिल्पं = प्रत्यवयवाऽपूर्वाऽऽकारनिर्माणं, घटेत अपि = सम्पद्येत अपि, न वा घटेत = नो वा संम्पद्येत ॥ १० ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीके स्थानमें कामदेव वा मेरा मनोरथ अभिषिक्त हो जाय तो भी प्रसिद्ध इस प्रत्येक अवयवके अपूर्व आकारों की रचना होगी वा नहीं होगी, इसमें सन्देह है ॥ १० ॥

टिप्पणी—अभिषिच्येत = अभि षिच + लिङ् (कर्ममें) + त। प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पं = प्रतीकं प्रतीकं प्रति प्रतिप्रतीकम् (वीप्सामें अव्ययीभाव)। "अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपधनः" इत्यमरः। रूपस्य शिल्पम् (ष० त०)। अद्भुतं च तत् रूपशिल्पम् (क० धा०)। प्रतिप्रतीकम् अद्भुतरूपशिल्पम् (सुप्सुपा०)। घटेत = घट + विधिलिङ् (संभावनामें) + त। इस पद्यमें भैमी के आकार-

निर्माणका प्रसिद्ध ब्रह्माके साथ सम्बन्ध होनेपर भी असम्बन्धकी उक्तिसे एक और मन्मथ आदिका सम्बन्ध न होनेपर भी संभावनासे उनके सम्बन्धकी उक्तिसे दूसरा अतिशयोक्ति अलङ्कार है। उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ १० ॥

तरङ्गिणी भूमिभृतः प्रभूता जानामि शृङ्गाररसस्य सेयम्।
लावण्यपूरोऽजनि यौवनेन यस्यां तथोच्चैस्तनता घनेन ॥ ११ ॥

अन्वयः—सा इयं भूमिभृतः प्रभूता शृङ्गाररसस्य तरङ्गिणी (इति) जानामि। (तथा हि) यस्यां तथा उच्चैःस्तनता घनेन यौवनेन इव उच्चैःस्तनता घनेन लावण्यपूरः अजनि ॥ ११ ॥

व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, इयं = सन्निकृष्टस्था, दमयन्तीति भावः। भूमि-भृतः = भूमिभृतः (भीमभूभर्तुः) एव भूमिभृतः (भूधरात् = पर्वतादिति भावः), प्रभूता = संभूता, शृङ्गाररसस्य = आदिरसस्य, तरङ्गिणी = नदी, (इति) जानामि = जाने। तथा घनेन = सान्द्रेण, यौवनेन = तारुण्येन, उच्चैःस्तनता = उन्नतकुचता, तथा घनेन = सान्द्रेण, यौवनेन = तरुण्येन, इव, उच्चैः = तारं, स्तनता = गर्जता, घनेन = मेघेन, लावण्यपूरः = सौन्दर्य-प्रवाहः, अजनि = जातः ॥ ११ ॥

अनुवादः—प्रसिद्ध ये दमयन्ती राजा भीमरूप पर्वतसे उत्पन्न शृङ्गाररसकी नदी हैं, मैं ऐसा जानता हूँ। जिन दमयन्तीमें उत्पन्न कुचका भाव गाढ़ यौवनके समान ऊँचा गर्जन करनेवाले मेघसे सौन्दर्यका प्रवाह उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

टिप्पणी—भूमिभूतः = भूमिं बिभर्तीति भूमिभृत्, तस्मात्, भूमि + भृ + क्विप् (उपपद०), ङसिः। भूमिभृतः (भीमभूपालात्) एव भूमिभृतः (पर्वतात्) इस प्रकार यहाँ श्लिष्ट (श्लेषयुक्त) रूपक है। "भूमिभृतः" यहाँपर "भुवः प्रभवः" इस सूत्रसे अपादान संज्ञा होनेसे पञ्चमी हुई है। शृङ्गाररसस्य = शृङ्गारश्चासौ रसः, तस्य (क० धा०)। जानामि = ज्ञा + लट् + मिप्, उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उच्चैःस्तनता = उच्चैः (उन्नतौ) स्तनौ यस्याः सा उच्चैःस्तना, तस्या भावः, उच्चैःस्तना + तल् + टाप् + सुः। स्तनता = स्तनतीति स्तनन्, तेन, "स्तन (गदो) देवशब्दे" इस धातुसे लट् (शतृ) + टा। घनेन = "घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तरे।" इत्यमरः। लावण्यपूरः = लावण्यस्य पूरः (ष० त०)। अजनि = जन + लुङ् (कर्ममें) + त। यौवन (जवानी) से लावण्य बढ़ता है, यह प्रसिद्ध है। नदीका प्रवाह मेघसे वृष्टिके कारण बढ़ता है, यह भी प्रख्यात है। यौवनने घनेन यहाँपर व्यस्त रूपक है।

"उच्चैः स्तनता घनेन" यहाँपर शब्दश्लेष है। उससे उत्थापित भैमीमें श्रृंगार-तरङ्गिणी (नदी) त्वकी उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है ॥ ११ ॥

अस्यां वपुर्व्यूहविधानविद्यां किं द्योतयामास नवामवाप्ताम् ।
प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा यदिमामुपास्ते ॥ १२ ॥

अन्वयः—(ब्रह्मा) अवाप्तां नवां वपुर्व्यूहविधानविद्याम् अस्यां द्योतयामास किम् ? यत् प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा इमाम् उपास्ते ॥ १२ ॥

व्याख्या -(ब्रह्मा = विधाता) सामर्थ्यादध्याहृतोऽर्थः । अवाप्तां = प्राप्तां, सम्यगभ्यस्तामिति भावः । नवां = नूतनाम्, असामान्यामिति भावः । वपुर्व्यूहविधानविद्यां = देहसमूहनिर्माणशास्त्रम्, अस्यां = दमयन्त्यां, द्योतयामास किं = प्रकाशयामास किम् ? यत् = यस्मात् कारणात्, प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्ध-भूमा = प्रत्यवयवसम्बन्धव्यक्तप्राप्तविस्तारा, लावण्यसीमा = सौन्दर्यकाष्ठा, इमां = दमयन्तीम्, उपास्ते = सेवते, अस्यामेव वर्तत इति भावः ॥ १२ ॥

अनुवादः—(ब्रह्माजीने) अच्छी तरहसे अभ्यस्त नई (असाधारण) देहसमूहकी रचना करनेवाली विद्याको दमयन्तीमें ही प्रकाशित किया है क्या ? जो कि प्रत्येक अङ्गमें सम्बन्धसे स्फुट रूपसे विस्तारको प्राप्त करनेवाली लावण्यकी सीमा इस (दमयन्ती) की सेवा कर रही है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—वपुर्व्यूहविधानविद्यां = वपुषां व्यूहः (ष० त०), तस्य विधानं (ष० त०), तस्य विद्या, ताम् (ष० त०)। द्योतयामास = द्युत + णिच् + लिट् + तिप् (णल्)। प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा = अङ्गम् अङ्गम् प्रति प्रत्यङ्गम् (अव्ययी०)। तस्मिन् सङ्गः (स० त०)। स्फुटं लब्धः (सुप्सुपा०)। बहोर्भावो भूमा बहु + इमनिच्, "बहोर्लोपो भू च बहो" इस सूत्रसे इमनिच्का लोप और 'बहु' के स्थानमें "भू" आदेश। स्फुटलब्धो भूमा यया सा (बहु०)। प्रत्यङ्गसङ्गेन स्फुटलब्धभूमा (तृ० त०)। लावण्यसीमा = लावण्यस्य सीमा (ष० त०)। उपास्ते = उप + आस् + लट् (त)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ १२ ॥

जम्बालजालात्किमकर्षि जम्बूनद्या न हारिद्रनिभप्रभेयम् ।
अप्यङ्गयुग्मस्य न सङ्गचिह्नमुन्नीयते दन्तुरता यदत्र ॥ १३ ॥

अन्वयः—हारिद्रनिभप्रभा इयं जम्बूनद्या जम्बालजालात् न अकर्षि किं ? यत् अत्र अङ्गयुग्मस्य सङ्गचिह्नं दन्तुरता अपि न उन्नीयते ॥ १३ ॥

व्याख्या—हारिद्रनिभप्रभा =हरिद्रारक्तवस्त्रकान्तिः, पीतवर्णेति भावः। इयं = दमयन्ती, जम्बूनद्याः = मेरुपार्श्ववाहिन्या नद्याः, जम्बालजालात् = पङ्कराशेः, जम्बूनदत्वादिति भावः। न आकर्षि किं= न कृष्टा किम् ?, (अकर्षि एव), यत् = यस्मात्, अत्र= अस्यां, दमयन्त्याम्, अङ्गयुग्मस्य = अवयवद्वयस्य, सङ्गचिह्नं = सन्धानलाञ्छनं, दन्तुरता अपि = निम्नोन्नतता अपि, न उन्नीयते = न तर्क्यते ॥ १३ ॥

अनुवादः— हल्दीसे रँगे गये वस्त्र के समान कान्तिवाली (पीतवर्णवाली) यह दमयन्ती जम्बूनदी (सुमेरु पर्वतसे बहनेवाली नदी) के पङ्कसमूहसे नहीं निकाली गयी है क्या ? (निकाली गयी है), क्योंकि इसमें दो अङ्गोंके सन्धानका चिह्न और ऊँचाई-नीचाई भी नहीं जानी जाती है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—हारिद्रनिभप्रभा = हरिद्रया रक्तं वस्त्रं हारिद्रम्, हरिद्रा शब्दसे "हरिद्रामहारजनाभ्यामञ्" इस वार्तिकसे अञ् प्रत्यय। हारिद्रेण सदृशी हारिद्र-निभा (तृ० त०), सा प्रभा यस्याः सा (बहु०)। जम्बूनद्याः = जम्बूश्चाऽसौ नदी (क० धा०), तस्याः। सुमेरुपर्वतसे बहनेवाली जम्बू नदीमें बड़े-बड़े जम्बू-फलोंके रससे जाम्बूनद नामक उत्कृष्ट सुवर्ण उत्पन्न होता है, ऐसा श्रीमद्भागवतमें वर्णन पाया जाता है। जम्बालजालात् = जम्बालानां जालं, तस्मात् (ष० त०), "निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ।" इत्यमरः। अकर्षि = कृष+लुङ् (कर्ममें)+त। जम्बू नदीके पङ्कसमूहके जाम्बूनद (सुवर्ण) होनेसे उसी पङ्कसमूहसे यह दमयन्ती निकाली गई है क्या ? ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं। अङ्गयुग्मस्य = अङ्गयोर्युग्मं, तस्य (ष० त०)। सङ्ग-चिह्नं = सङ्गस्य चिह्नम् (ष० त०), दन्तुरता = दन्तुरस्य भावः, दन्तुर+तल्+टाप्। "दन्तुरस्तून्नतरदे तथोरन्नताऽऽनते त्रिषु।" इति मेदिनी। उन्नीयते = उद्+नी+लट् (कर्ममें)+त। जम्बू नदीके सुवर्णपङ्कसे निक-लनेके कारण सुवर्णमय होनेसे दमयन्तीके दो अङ्गोंकी सन्धि और ऊँचाई-नीचाई परिलक्षित नहीं होती है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १३ ॥

सत्येव साम्ये सदृशाशेषाद् गुणाऽन्तरेणोच्चकृषे यदङ्गैः।
अस्यास्ततः स्यात्तुलनाऽपि नाम वस्तुत्वमीषामुपमाऽवमानः ॥ १४ ॥

अन्वयः—यत् अस्या अङ्गैः साम्ये सति एव अशेषात् सदृशात् गुणाऽन्तरेण उच्चकृषे। ततः तुलना अपि स्यात् नाम ? वस्तु तु अमीषाम् उपमा-वमानः ॥ १४ ॥

व्याख्या – यत् = यस्मात्कारणात्, अस्याः = भैम्याः, अङ्गैः=शरीरावयवैः, साम्ये सति एव = तुल्यत्वे विद्यमान एव, अशेषात् = समस्तात्, सदृशात् = तुल्यात्, चन्द्राऽऽदेरिति भावः । गुणान्तरेण = केनाऽपि गुणविशेषेण, उच्चकृषे = उत्कृष्टैरभावीति भावः । ततः = उत्कृष्टत्वाद्धेतोः, तुलना अपि = समीकरणम् अपि, स्यात् नाम = भवेत् नाम ? (न स्यादेवेति भावः) । वस्तुतस्तु = परमाऽर्थतस्तु, अमीषां = दमयन्त्या अङ्गानाम्, उपमा = तुलना, अवमानः = अपमानः, उत्कृष्टानां निकृष्टैः सह समताऽऽपादनमपमान एवेति भावः ॥ १४ ॥

अनुवादः—जिस कारणसे दमयन्तीके अङ्ग समता होनेपर ही समस्त तुल्य (चन्द्र आदि) पदार्थसे विशेष गुणसे उत्कृष्ट हो गये । उनके उत्कृष्ट होनेसे तुलना भी होगी क्या ? (नहीं) वास्तवमें तो इन (दमयन्तीके अङ्गों) की तुलना करना अपमान है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—साम्यै = समस्य भावः साम्यं, तस्मिन्, सम + ष्यञ् + ङि । सदृशात् = "पञ्चमी विभक्तेः" इससे पञ्चमी । गुणाऽन्तरेण = गुणस्य अन्तरं, तेन (ष० त०) । उच्चकृषे = उद् + कृष + लिट् (भावमें) + त । स्यात् = अस् + विधिलिङ् + तिप् । दमयन्तीके उत्कृष्ट मुख आदि अङ्गोंका निकृष्ट चन्द्र आदिसे तुलना करना वास्तवमें अपमान है, यह तात्पर्य है ॥ १४ ॥

पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः ।
येयं भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः साऽस्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम ॥ १५ ॥

अन्वयः—विधातुः पुराकृतिस्त्रैणम् इमां विधातुं हस्तलेखः अभूत् खलु । या इयं भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः सा अस्यै तज्जयजं यशः प्रदातुम्, (अस्ति) ॥ १५ ॥

व्याख्या – विधातुः = ब्रह्मदेवस्य, पुराकृतिस्त्रैणं = पूर्वसृष्टौ स्त्रीसमूहः, इमां = दमयन्तीं, विधातुं = स्रष्टुं, हस्तलेखः = प्रथमाऽभ्यासः, अभूत्=सञ्जातः, खलु = निश्चयेन । या, इयम् = एषा, भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः=विद्यमान-भविष्यत्स्त्रीनिर्मितिः, सा = निर्मितिः, अस्यै = दमयन्त्यै, तज्जयजं = पुरन्ध्री-विजयजन्यं, यशः = कीर्तिः, प्रदातुं = वितरीतुम्, अस्तीति शेषः ॥ १५ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीकी पूर्वसृष्टिमें स्त्रीसमूह दमयन्तीकी रचना करनेके लिए प्रथम अभ्यासके रूपमें हो गया था, जो यह वर्तमान और पीछे होनेवाली स्त्रियोंकी रचना है, वह इन (दमयन्ती) को उन स्त्रियोंके विजयसे उत्पन्न यशको देनेके लिए है ॥ १५ ॥

टिप्पणी—पुराकृतिस्त्रैणं=स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्, स्त्री शब्दसे "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इस सूत्रसे समूह अर्थ में नञ् प्रत्यय । पुराकृतौ स्त्रैणम् (स० त०) । विधातुं = वि + धा + तुमुन् । हस्तलेखः = हस्तकौशलार्थं लेखः हस्तलेखः (मध्यमपद०) । भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः = भवन्त्यश्च भाविन्यश्च भवद्भाविन्यः (द्वन्द्व०) । पुरं (गेहम्) धारयन्तीति पुरन्ध्र्यः, पुर-उपपदपूर्वक "धृञ् धारणे" इस णिच् प्रत्ययाऽन्त धातुसे "संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः" इस सूत्रसे खच् "खचि ह्रस्वः" इससे ह्रस्व "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् और "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इससे ह्रस्व । पुरन्ध्रिशब्द यहाँपर लक्षणासे सामान्य स्त्रीवाचक है । भवद्भाविन्यश्च ताः पुरन्ध्रयः (क० धा०), तासां सृष्टिः (ष० त०) । तज्जयजं = तासां जयः (ष० त०), तस्माज्जातं, तज्जय + जन् + ड (उपपद०) सुः । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १५ ॥

भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गाद्यथा यथाऽनर्ति तथा तथा तैः ।
अस्याऽधिकस्योपमयाऽपमाता दाता प्रतिष्ठा खलु तेभ्य एव ॥ १६ ॥

अन्वयः—भव्यानि एतदङ्गात् यथा यथा हानीः अगुः, तथा तथा तैः अनर्ति । उपमाता अधिकस्य अस्य उपमया तेभ्य एव प्रतिष्ठां दाता ॥ १६ ॥

व्याख्या—भव्यानि = रम्याणि, चन्द्रादीन्युपमानवस्तूनीति भावः । एतदङ्गात् = दमयन्तीशरीराऽवयवात्, मुखादेरिति भावः । यथा यथा = येन येन प्रकारेण, हानीः = अपकर्षान्, अगुः = अगमन्, तथा तथा = तेन तेन प्रकारेण, तैः = चन्द्राद्युपमानैः, अनर्ति = नृत्यं कृतं, हर्षादिति शेषः । नन्वपकर्षे कथं हर्षः ? तत्राह—अस्येति । उपमाता = उपमाकर्ता, कविरिति भावः । अधिकस्य=उत्कृष्टस्य, अस्य = दमयन्त्यङ्गस्य, मुखाऽऽदेरिति भावः । उपमया= उपमानीकरणेन, तेभ्य एव = चन्द्रादिभ्य एव, प्रतिष्ठां = महत्त्वं, दाता = दास्यति, इति मत्त्वाऽनर्तीति पूर्वत्र सम्बन्ध इति भावः ॥ १६ ॥

अनुवादः—सुन्दर चन्द्र आदि उपमान पदार्थोंने दमयन्तीके मुख आदि अङ्गसे जैसे-जैसे अपकर्षोंको प्राप्त किया, वैसे वैसे वे नाचने लगे । क्योंकि उपमा देने-वाला कवि उत्कृष्ट दमयन्तीके मुख आदि अङ्गकी उपमासे उन्हीं चन्द्र आदि पदार्थों को महत्त्व देंगे ॥ १६ ॥

टिप्पणी—एतदङ्गात् = एतस्या अंगं, तस्मात् (ष० त०) । हानीः = "ओहाक् त्यागे" धातुसे "ग्लाम्लाजहातिभ्यो निर्वक्तव्यः" इससे क्तिन्का अपवाद नि प्रत्यय । अगुः = इण् धातुसे लुङ्में "इणो गा लुङि" इससे "गा" आदेश

होकर "गतिस्थाघुपाभूम्यः सिचः परस्मैपदेषु" इससे सिच्का लुक् और "आतः" इस सूत्रसे 'झि' के स्थानमें जुस् आदेश। अनर्ति = नृत + लुङ् (भावमें) + त। उपमाता = उपमातीति, उप + मा + तृच् + सुः। दाता = दा + लुट् + तिप्। हम निकृष्टोंकी दमयन्तीके उत्कृष्ट अङ्गोंसे उपमा की गयी, ऐसा सोचकर चन्द्र आदि उपमान पदार्थ नृत्य करने लगे, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें चन्द्र आदि उपमान वस्तुओंके नृत्यमें सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ १६ ॥

नाऽस्पर्शि दृष्टाऽपि विमोहिकेयं दोषैरशेषैः स्वभियेति मन्ये।
अन्येषु तैराकुलितस्तदस्यां वसत्यसापत्न्यसुखी गुणौघः ॥ १७ ॥

अन्वयः—दृष्टा अपि विमोहिका इयम् अशेषैः दोषैः स्वभिया न अस्पर्शि इति मन्ये। तत् अन्येषु तैः आकुलितः गुणौघः अस्याम् असापत्न्यसुखी (सन्) वसति ॥ १७ ॥

व्याख्या—दृष्टा अपि = केवलम् अवलोकिता अपि, विमोहिका = विमोहकारिणी, इयं = दमयन्ती, अशेषैः = समस्तैरपि, दोषैः=दूषणैः, स्वभिया=आत्मभयेन "इयम् अस्मान् अपि मोहयिष्यतीति मत्वेति शेषः। न अस्पर्शि=न स्पृष्टा, इति = एवं, मन्ये = जानामि। भीरवो हि भयहेतूनस्प्रष्टुमपि बिभ्यतीति भावः। तत् = तस्मात्, दोषस्पर्शाऽभावादिति भावः। अन्येषु = अपरेषु, दमयन्तीतरस्त्रीजनेष्विति भावः। तैः = दोषैः, आकुलितः = पीडितः, गुणौघः = गुणसमूहः सौन्दर्यौदार्यादिरूप इति भावः। अस्यां = दमयन्त्याम्, असापत्न्यसुखी=असापत्न्येन (अकण्टकत्वेन) सुखी (हर्षयुक्तः) सन्, वसति = वासं करोति ॥ १७ ॥

अनुवादः—केवल देखी जानेपर भी मोह करनेवाली इस दमयन्तीको समस्त दोषोंने अपनेमें भी मोह होनेका भय कर स्पर्श नहीं किया है, मैं ऐसा विचार करता हूं। इस कारणसे दमयन्तीसे भिन्न स्त्रियोंमें उन दोषोंसे पीड़ित गुणसमूह दमयन्तीमें निष्कण्टक होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥ १७ ॥

टिप्पणी—विमोहिका = विमोहयतीति, वि + मुह + ण्वुल् + टाप् + सुः। स्वभिया = स्वस्य भीः, तया (ष० त०)। अस्पर्शि = स्पृश + लुङ् (कर्ममें) + त। मन्ये = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। मन् + लट् + त। गुणौघः = गुणानाम् ओघः (ष० त०)। असापत्न्यसुखी = सपत्नस्य भावः सापत्न्यं, सपत्न + ष्यञ् + सुः, "रिपौ वैरिसपत्नाऽरिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः।" इत्यमरः। न

सापत्न्यम (नञ्०)। असापत्न्येन सुखी (तृ० त०)। वसति = वस + लट् + तिप् ॥ १७ ॥

औज्झि प्रियाऽङ्गैर्घृणयैव रूक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य।
न कण्टकैरावरणाच्च कान्तिर्धूलीभृता काञ्चनकेतकस्य ॥ १८ ॥

अन्वयः—प्रियाऽङ्गैः वराटकस्य रूक्षा कान्तिः घृणया एव औज्झि, वारिदुर्गात्तु न (औज्झि)। काञ्चनकेतकस्य धूलीभृता कान्तिः औज्झि, कण्टकैः आवरणाच्च न (औज्झि) ॥ १८ ॥

व्याख्या—प्रियाङ्गैः = दमयन्तीशरीराऽवयवैः, वराटकस्य = बीजकोशस्य, कमलकर्णिकाया इति भावः। रूक्षा = परुषा, कान्तिः = शोभा, घृणया एव = जुगुप्सया एव हेतुना, औज्झि = उज्झिता, त्यक्तेति भावः, वारिदुर्गात्तु न = जलदुर्गस्थत्वात्तु न, औज्झीति सम्बन्धः। एवं च काञ्चनकेतकस्य = सुवर्णकेतकी-पुष्पस्य, धूलीभृता = रजःपूरिता, कान्तिः = शोभा, औज्झि = त्यक्ता, कण्टकैः = सूच्यग्रसदृशाऽवयवैः हेतुभिः, आवरणाच्च = परिवेष्टनाच्च हेतोः, न औज्झि = न उज्झिता। दमयन्तीशरीरकान्तिः वराटकस्य काञ्चनकेतकस्य च कान्तेः श्रेयसीति भावः ॥ १८ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके अङ्गोंने कमलगट्टे की रूखी कान्तिको घृणासे ही परित्याग किया, कमलगट्टे के जलरूप दुर्ग (किले) में रहनेके कारणसे नहीं परित्याग किया, इसी तरह दमयन्तीके अङ्गोंने सुवर्णकेतकी-पुष्पकी धूलि-(पराग) वाली कान्तिको परित्याग किया, काँटोंसे और आवरणसे परित्याग नहीं किया है ॥ १८ ॥

टिप्पणी—प्रियाऽङ्गैः प्रियाया अङ्गानि, तैः (ष० त०)। वराटकस्य = "बीजकोशो वराटकः" इत्यमरः। औज्झि = उज्झ + लुङ् (कर्ममें) + त। वारिदुर्गात् = वारि एव दुर्गः, तस्मात् (रूपक०)। हेतुमें पञ्चमी। काञ्चनकेतकस्य = काञ्चनं च तत् केतकं, तस्य (क० धा०)। धूलीभृता = धूलीभिः भृता (तृ० त०)। रूक्षत्व और कण्टकत्व आदि दोषोंके कारण कमलगट्टे की और धूलियुक्त होनेसे सुवर्णकेतकी-पुष्पकी कान्ति दमयन्तीके शरीरकी कान्तिको नहीं पा सकती, यह भाव है। इस पद्यमें उपमानभूत वराटक और सुवर्णकेतकसे उपमेयभूत दमयन्तीके अङ्गोंका आधिक्य होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ १८ ॥

प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेव निजाऽस्त्रमस्ति।
वज्रं च भूषामणिमूर्तिधारि नियोजितं तद्द्युति कार्मुकं च ॥ १९ ॥

अन्वयः—अस्याम् अभिकेन मघोना प्रत्यङ्गं रक्षां कर्तुं नियोजितं भूषामणि-मूर्तिधारि निजाऽस्त्रं वज्रं तद्द्युतिकार्मुकं च अस्ति इव ॥ १९ ॥

व्याख्या—अस्यां = दमयन्त्याम्, अभिकेन = कामुकेन, मघोना = इन्द्रेण, प्रत्यङ्गं = दमयन्त्याः प्रतिदेहाऽवयवं, रक्षां = रक्षणं, कर्तुं = विधातुं, नियोजितं= नियमितं, भूषामणिमूर्तिधारि=भूषणवज्रादिरत्नाकारधारकं, निजाऽस्त्रं = स्वाऽऽ-युधं, वज्रं, तद्द्युतिकार्मुकं च = तन्मणिकान्तिधनुश्च इन्द्रायुधं चेति भावः । अस्ति इव = विद्यत इव ॥ १९ ॥

अनुवाद:—दमयन्तीमें कामुक इन्द्रने उनके प्रत्येक अङ्गकी रक्षा करनेके लिए नियोजित भूषणके वज्र (हीरा) आदि रत्नोंके आकारको धारण करनेवाला अपना अस्त्र वज्र और उस मणिका कान्तिरूप धनु भी विद्यमान है क्या ? ऐसा मालूम पड़ता है ॥ १९ ॥

टिप्पणी—अभिकेन = अभिकामयत इत्यभिकः, तेन "अनुकाऽभिकाऽभीकः कामयिता" इससे निपातन । "कम्रः कामयिताऽभीकः कमनः कामनोऽभिकः ।" इत्यमरः । भूषामणिमूर्तिधारि = भूषाणां मणयः (ष० त०) । मूर्ति धारयतीति मूर्तिधारि (मूर्ति + धृ + णिच् + णिनिः + सुः) । भूषामणीनां मूर्तिधारि (ष० त०) । निजाऽस्त्रं = निजं च तत् अस्त्रम् (क० धा०) । तद्द्युतिकार्मुकं= तेषां (मणीनाम्) द्युतयः (ष० त०), ता एव कार्मुकम् (रूपक०) । इस पद्यमें इन्द्रके नियोगसे भूषणके मणि (वज्र = हीरा) और उसकी कान्तिके छलसे अन्तःपुरकी रक्षाके लिए वज्र अस्त्र और इन्द्रधनु भी दमयन्तीके प्रत्येक अङ्गको परिवेष्टन कर मानों रहते हैं, ऐसा कहनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १९ ॥

अस्याः सपक्षैकविधोः कचौघः स्थाने मुखस्योपरि वासमाप ।
पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकोऽपि कलापिनां येन जितः कलापः ॥ २० ॥

अन्वयः—अस्याः कचौघः सपक्षैकविधोः मुखस्य उपरि वासम् आप स्थाने । येन पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकः अपि कलापिनां कलापः ॥ २० ॥

व्याख्या—अथ सर्गसमाप्तिपर्यन्तं दमयन्त्याश्चिकुरादिपादनखाऽन्तवर्णन-मारभते —अस्या इति । तत्र श्लोकत्रयेण केशान् वर्णयति । अस्याः = दमयन्त्याः, कचौघः = केशपाशः । सपक्षैकविधोः = सदृशैकचन्द्रस्य, मुखस्य = वदनस्य, उपरि = ऊर्ध्वभागे, शिरसीति भावः । वासं = स्थितिम्, आप = प्राप्तवान्, स्थाने = युक्तम् । कुतः ? येन = कचौघेन, पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकः = गरुन्निष्ठतत्परिमाणाऽधिक मेचकः, पक्षे—स्ववर्गस्थतत्परिमाणाऽधिकचन्द्रः,

अपि, कलापिनां = मयूराणां, कलापः = पिच्छभारः, जितः = पराजितः। अनेक-चन्द्रसहायविजेतुर्दमयन्तीकेशकलापस्य एकचन्द्रविजयस्तदुपर्यवस्थानं च किं चित्रमिति भावः ॥ २० ॥

अनुवादः—दमयन्तीके केशकलापने सदृश वा मित्रभूत एकचन्द्रवाले मुखके ऊपर जो स्थिति पायी, वह उचित है। जिस केशकलापने पंखोंमें स्थित उतने बहुतसे चन्दक (मेचक) वाला वा स्ववर्गस्थित उतने अधिक चन्द्रवाले मयूरोंके कलापको जीत लिया ॥ २० ॥

टिप्पणी—कचौघः = कचानाम् ओघः (ष० त०)। सपक्षैकविधोः=पक्षेण सहितः सपक्षः (तुल्ययोगबहु०)। सपक्ष एको विधुः यस्य सः (बहु०), तस्य। "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" इस सूत्रसे विकल्पसे पुंवद्भाव। पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकः = पक्षेषु तिष्ठन्तीति पक्षस्थाः पक्ष + स्था + कः (उपपद०) + जस्। पक्षस्थाः तावन्तः बहवः चन्द्रका यस्य सः (बहु०), "समौ चन्द्रकमेचकौ" इत्यमरः। चन्द्रपक्षमें—पक्षस्था बहवः चन्द्रा यस्य सः (बहु०) "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय। अनेक चन्द्रसहाय-वालोंको जीतनेवाले दमयन्तीके केशकलापका एक चन्द्रको जीतनेमें और उसके ऊपर रहनेमें क्या आश्चर्य है ? यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

अस्या यदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरुचाऽन्धकारम्।
स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—अस्या आस्येन शीतरुचा यत् अन्धकारं पुरः तिरश्च तिरस्कृतम्। तत् एव इदं स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन पश्चात् बद्धम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—अस्याः = दमयन्त्याः, आस्येन शीतरुचा = मुखेन एव चन्द्रेण, यत्, अन्धकारं = तमः, पुरः = अग्रे, तिरश्च = पार्श्वयोश्च, तिरस्कृतम् = अपसारितं पराजितं च। तत्=अन्धकारम् एव, इदं सन्निकृष्टस्थं, स्फुटस्फुरद्भङ्ग-कचच्छलेन = प्रकटविलसत्पराजयचिकुरव्याजेन, पश्चात् = पृष्ठभागे, बद्धं = नद्धम्। तिरस्कृतो हि भग्नोत्साहः क्वचित्पृष्ठभागे बद्धस्तिष्ठतीति भावः ॥ २१ ॥

अनुवादः—दमयन्ती के मुखरूप चन्द्रने जिस अन्धकारको सामनेके और तिरछे स्थानोंमें हटाया वा परास्त किया। वही अन्धकार निकट प्रकट रूपसे प्रकाशित कुटिलता वा पराजयवाले केशोंके बहानेसे पीछे बाँधा गया ॥ २१ ॥

टिप्पणी—शीतरुचा = शीता रुक् यस्य स शीतरुक् (बहु०), तेन। स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन = स्फुरन् भङ्गः (पराजयः कौटिल्यं वा) येषां ते (बहु०)। स्फुटं स्फुरद्भङ्गाः (सुप्सुपा०)। स्फुटस्फुरद्भङ्गाश्च ते कचाः (क० धा०), तेषां छलं, तेन (ष० त०)। तिरस्कृत, उत्साह भग्न होनेसे पृष्ठभागमें बाँधा जाकर रहता है। यह अभिप्राय है। इस पद्यमें रूपक, कैतवाऽपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ २१ ॥

अस्याः कचानां शिखिनश्च किन्नुविधिं कलापौ विमतेरगाताम् ।
तेनाऽयमेभिः किमपूजि पुष्पैरभर्त्सि दत्वा स किमर्द्धचन्द्रम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—अस्याः कचानां शिखिनः कलापौ विमतेः विधिम् अगातां किनु। तेन अयम् एभिः पुष्पैः अपूजि किम् ? सः अर्धचन्द्रं दत्त्वा अभर्त्सि किम्? ॥२२॥

व्याख्या—अस्याः = दमयन्त्याः, कचानां=केशानां, शिखिनः = मयूरस्य, कलापौ = केशपाश-बर्हभारौ, विमतेः = मिथो विवादाद्धेतोः, विधिं = ब्रह्माणम्, अगातां किन्नु = अगमतां किन्नु, स्वतारतम्यनिर्णयार्ऽथमिति शेषः। तेन = विधिना, अयं = दमयन्तीकेशपाशः, एभिः = अतिसमीपवर्तिभिः, पुष्पैः = कुसुमैः, अपूजि किं = पूजितः किं, महतः पूज्यत्वादिति भावः। सः = शिखिकलापः, अर्द्धचन्द्रं = चन्द्रकं गलहस्तं च, दत्त्वा = वितीर्य, अभर्त्सि किम् ? = भर्त्सितः किं ?, महाजनद्वेषिणो नीचस्य दण्डनीयत्वादिति भावः। शिखिकलापस्य चन्द्रकवत्त्वं केशपाशस्य पुष्पवत्त्वं ब्रह्मदत्तं शाश्वतमिति भावः ॥ २२ ॥

अनुवादः—दमयन्तीका केशकलाप और मयूरका पिच्छभार विवाद होनेसे ब्रह्माजीके पास गये क्या ? ब्रह्माजीने दमयन्तीके केशपाशकी इन फूलोंसे पूजा की है क्या ? मयूरके पिच्छभारको अर्द्धचन्द्र (चन्द्रक और गलहस्त) देकर भर्त्सना की है क्या ? ॥ २२ ॥

टिप्पणी—कलापौ = "कलापौ भूषणे बर्हे तूणीरे संहतौ कचे।" इत्यमरः। विमतेः = विरुद्धा चाऽसौ मतिः तस्याः (क० धा०)। अगाताम्=इण् + लुङ् + तस्। "इणो गा लुङि" इस सूत्रसे इण्के स्थानमें "गा" आदेश। अपूजि=पूज + लुङ् (कर्ममें) + त। अर्धचन्द्रम् = अर्द्धं चाऽसौः चन्द्रः, तम् (क० धा०)। "अर्द्धचन्द्रो नखक्षते। गलहस्तो बाणभेदे कृष्णत्रिवृति तु स्त्रियाम्।" इति मेदिनी। मयूरके पंखमें चन्द्रक होना और केशपाशमें फूलोंका होना, यह ब्रह्माजी से किया गया सनातन नियम है, यह भाव है। इस पद्यमें उत्तरार्द्धकी दो

उत्प्रेक्षाओंका पूर्वार्द्धस्थित उत्प्रेक्षामें सापेक्ष होनेसे सजातीय सङ्कर अलङ्कार है ॥ २२ ॥

केशाऽन्धकारादथ दृश्यफालस्थलाऽर्द्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम् ।
एतां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥ २३ ॥

अन्वयः—केशाऽन्धकारात् अथ दृश्यफालस्थलार्द्धचन्द्रा इयम् अष्टमी स्फुटम् । यत् मनोभुवा जगज्जयाय एताम् आसाद्य साधु सिद्धिः असाधि ॥२३॥

व्याख्या—दमयन्त्याः फालं (भालम्) वर्णयति—केशाऽन्धकारादिति । केशाऽन्धकारात् = केशपाशरूपतिमिरात्, अथ = अनन्तरं, दृश्यफालस्थलाऽर्द्ध-चन्द्रा = दर्शनीयललाटभागाऽर्द्धचन्द्रा, इयं = दमयन्ती, अष्टमी=कृष्णाऽष्टमी तिथिः, स्फुटम् = उत्प्रेक्षायाम् । यत् = यस्मात्, मनोभुवा = कामदेवेन, जगज्जयाय = लोकविजयाय, एतां = कृष्णाऽष्टमीरूपां दमयन्तीम्, आसाद्य= प्राप्य, साधु = समीचीनं यथा तथा, सिद्धिः = जगज्जयसिद्धिः, असाधि = साधिता ॥ २३ ॥

अनुवादः—केशपाशरूप अन्धकारके अनन्तर दर्शनीय भालस्थलरूप अर्द्ध-चन्द्रवाली यह दमयन्ती कृष्णपक्षकी अष्टमी है क्या ? जिस कारणसे कि काम-देवने लोकको जीतनेके लिए कृष्णाष्टमीरूप दमयन्तीको पाकर अच्छी तरहसे सिद्धि पा ली ॥ २३ ॥

टिप्पणी—केशाऽन्धकारात् = केश एव अन्धकारः, तस्मात् (रूपक०) । दृश्यफालस्थलाऽर्धचन्द्रा=दृश्यः फालस्थलम् एव अर्द्धचन्द्रो यस्याः सा: (बहु०) । मनोभुवा = मनसि भवतीति मनोभूः, तेन, मनस् + भू + क्विप् (उपपद०) + टा । जगज्जयाय = जगतां जयः, तस्मै (ष० त०) । असाधि = साध + लुङ् + (कर्ममें) + त । कृष्णाऽष्टमीमें जयके लिए यात्रा करनेसे जयसिद्धि होती है, ऐसा ज्योतिषीलोग कहते हैं । जैसा कि पितामहने कहा है—

"जयदा विजिगीषूणां यात्रायामसिताऽष्टमी ।
श्रवणेनाऽथ रोहिण्या जययोगो युता यदि ॥"

इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २३ ॥

पुष्पं धनुः किं मदनस्य दाहे श्यामीभवत्केसरशेषमासीत् ।
व्यधाद् द्विधेशस्तदपि क्रुधा किं भैमीभ्रुवौ येन विधिर्व्यधत्त ॥ २४ ॥

अन्वयः—मदनस्य दाहे पुष्पं धनुः श्यामीभवत्केसरशेषम् आसीत् किम् ? ईशः तत् अपि क्रुधा द्विधा व्यधात् किं ? येन विधिः भैम्या भ्रुवौ व्यधत्त ॥२४॥

व्याख्या—श्लोकत्रयेण दमयन्त्या भ्रुवौ वर्णयति पुष्पमिति । मदनस्य=कामस्य, दाहे = भस्मीकरणे, पुष्पं = कुसुमम् एव, धनुः = कार्मुकं, श्यामीभवत्किसरशेषं = कृष्णीभवत्किञ्जल्कशेषम्, आसीत् किम्=अभवत् किम् ? ईशः=हरः, तत् अपि क्रुधा = क्रोधेन, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, व्यधात् किं=विहितवान् किं, येन = द्विधा विभक्तेन पुष्पेण, विधिः = ब्रह्मा, भैम्याः = दमयन्त्याः, भ्रुवौ = अक्षिलोमनी, व्यधत्त = विहितवान् ॥ २४ ॥

अनुवाद:—कामदेवके दाहमें उसका पुष्परूप धनु, दाहसे श्याम-केसरमात्रसे अवशिष्ट हुआ था क्या ? महादेवने उसे भी क्रोधसे दो टुकड़ोंमें विभक्त कर दिया क्या, ? जिससे ब्रह्माजीने दमयन्तीके दोनों भौंहोंकी रचना कर दी ॥ २४ ॥

टिप्पणी—श्यामीभवत्केसरशेषम् = अश्यामाः श्यामा यथा सम्पद्यन्ते तथा भवन्तः श्यामीभवन्तः, श्याम + च्वि + भू + लट् (शतृ) + जस् । श्यामीभवन्तः केसरा एव शेषो यस्य तत् (बहु०) । आसीत्=अस् + लङ् + तिप् । व्यधात्= वि + धा + लुङ् + तिप् । व्यधत्त = वि + धा + लङ + त । पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २४ ॥

भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसारभावः ।
निजां यदप्लोषदशामपेक्ष्य सम्प्रत्यनेनाऽधिकवीर्यताऽऽर्जि ॥ २५ ॥

अन्वयः—प्रियाया भ्रूभ्यां भवता मनोभूचापेन घनसारभावश्च आपे । यत्= निजाम् अप्लोषदशाम् अपेक्ष्य सम्प्रति अनेन अधिकवीर्यता आर्जि ॥ २५ ॥

व्याख्या—प्रियायाः = दमयन्त्याः, भ्रूभ्याम् = अक्षिलोमभ्यां, भवता = संपद्यमानेन, मनोभूचापेन = कामधनुषा, घनसारभावश्च = दृढस्थिरांऽशत्वं कर्पूरभावश्च, आपे = प्राप्तः । यत् = यस्मात्, निजां = स्वीयाम्, अप्लोषदशाम् = अदाहाऽवस्थाम्, अपेक्ष्य = अपेक्षां कृत्वा, सम्प्रति = अधुना, अनेन = मनोभूचापेन, अधिकवीर्यता = अतिशयितपराक्रमः, आर्जि = अर्जिता ॥ २५ ॥

अनुवाद:—दमयन्तीके भौंहोंसे बनते हुए कामदेवके धनुने दृढस्थिरभाव और कर्पूरत्वको प्राप्त किया । क्योंकि अपनी दाहसे पूर्वाऽवस्थासे भी अभी इसने दृढभाव और कर्पूरत्वका उपार्जन किया ॥ २५ ॥

टिप्पणी—भवता=भवतीति भवत्, तेन, भू + लट् (शतृ) + टा । मनोभूचापेन = मनसि भवतीति मनोभूः, मनस् + भू + क्विप् (उपपद०) + सुः । तस्य चापः, तेन (ष० त०) । घनसारभावः = घनश्चाऽसौ सारः (क० धा०), "सारो बले स्थिरांऽशे च" इत्यमरः । घन

सारस्य भावः (ष० त०)। "अथ कर्पूरमस्त्रियाम् । घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताऽभ्रो हिमबालुका ।" इत्यमरः। आपे = आप + लिट् (कर्ममें) + त (एश्)। अप्लोषदशाम् = प्लोषस्य दशा (ष० त०), न प्लोषदशा (नञ्०), ताम्। अपेक्ष्य = अप + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। अधिकवीर्यता = अधीकं वीर्यं यस्य सः (बहु०), तस्य भावः तत्ता अधिकवीर्य + तल् + टाप् + त। कामदेवके धनुके दग्ध होनेपर भी दमयन्तीके भ्रूयुगमें परिणत होकर अधिक पराक्रम देखनेसे इसने घनसार भावको प्राप्त किया है क्या ? ऐसी उत्प्रेक्षा होनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २५ ॥

स्मारं धनुर्यद्विधुनोज्झिताऽस्या याऽऽस्येन भूतेन च लक्ष्मरेखा ।
एतद्भ्रुवौ जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचितबालभावम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—यत् स्मारं धनुः अस्या आस्येन भूतेन विधुना उज्झिता या लक्ष्मरेखा च तद् युग्मं लीलाचलत्वोचितबालभावम् एतद्भ्रुवौ जन्म आप ॥ २६ ॥

व्याख्या—यत्, स्मारं = स्मरसम्बन्धि, धनुः = कार्मुकम्, अस्याः=दमयन्त्याः, आस्येन भूतेन = आस्यभावं गतेन, विधुना = चन्द्रेण, उज्झिता = त्यक्ता, या, लक्ष्मरेखा = कलङ्करेखा च, तत् = पूर्वोक्तं, युग्मं = युगलं (कर्तृ), लीलाचलत्वोचितबालभावं = विलासचञ्चलभावयोग्यकेशत्वं, विलासचञ्चलभावयोग्यशिशुत्वं च, एतद्भ्रुवौ = दमयन्त्यक्षिलोमनी, जन्म = उत्पत्तिम्, आप = प्राप्तवत् ॥ २६ ॥

अनुवादः—कामदेवके धनु और दमयन्तीके मुखरूप चन्द्रसे छोड़ी गई जो कलङ्करेखा है, उन दोनोंने विलास और चञ्चल भावके उचित केशत्ववाले अथवा विलास और चञ्चल भावके उचित शिशुत्ववाले दमयन्तीके भ्रूरूपसे उत्पत्तिको प्राप्त किया ॥ २६ ॥

टिप्पणी—स्मारं=स्मर + अण् + सुः। उज्झिता = उज्झ + क्तः (कर्ममें) + टाप्। लक्ष्मरेखा = लक्ष्मणो रेखा (ष० त०)। लीलाचलत्वोचितवालभावं = लीला च चलत्वं च (द्वन्द्व०)। तयोः उचितः (स० त०)। वालस्य, 'व' और 'ब' में भेद न होनेसे एक पक्षमें वालस्य भावः (ष० त०)। लीलाचलत्वोचितो वा (बा) लभावो यस्मिस्तत् (बहु०)। एतद्भ्रूवौ = एतस्या भ्रुवौ (ष० त०), दमयन्तीका मुख निष्कलङ्क चन्द्र है और भौंहें

कामदेवके धनु और चन्द्रकलङ्कके दूसरे अवतार हैं, इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २६ ॥

इषुत्रयेणैव जगत्त्रयस्य विनिर्जयात्पुष्पमयाऽऽशुगेन ।
शेषा द्विबाणी सफलीकृतेयं प्रियादृगम्भोजपदेऽभिषिच्य ॥ २७ ॥

अन्वयः—पुष्पमयाऽऽशुगेन इषुत्रयेण एव जगत्त्रयस्य विनिर्जयात् शेषा इयं द्विबाणी प्रियादृगम्भोजपदे अभिषिच्य सफलीकृता ॥ २७ ॥

व्याख्या—पुष्पमयाऽऽशुगेन = कुसुममयबाणेन, कामदेवेनेति भावः । इषुत्रयेण एव = पुष्परूपबाणत्रितयमात्रेण, जगत्त्रयस्य = लोकत्रितयस्य, विनिर्जयात् = पराजयात्, शेषा = अवशिष्टा, इयं = पुरःस्थिता, द्विबाणी = बाणद्वयं, प्रियादृगम्भोजपदे = दमयन्तीनयनकमलस्थाने, अभिषिच्य = उक्षित्वां, आरोप्येति भावः । सफलीकृता = सार्थकीकृता ॥ २७ ॥

अनुवादः—पुष्परूप बाणोंवाले कामदेवने पुष्परूप तीन बाणोंसे ही तीनों लोकोंको जीतनेसे अवशिष्ट इन दो बाणोंको दमयन्तीके नेत्रकमलोंके स्थानमें रखकर सफल कर दिया है ॥ २७ ॥

टिप्पणी—पुष्पमयाऽऽशुगेन = पुष्पाणि एव पुष्पमयाः, पुष्प + मयट् + जस् । पुष्पमयाः आशुगाः यस्य, तेन (बहु०) । जगत्त्रयस्य = जगतां त्रयं, तस्य (ष० त०) । विनिर्जयात् = हेतुमें पञ्चमी । द्विबाणी = द्वयोः बाणयोः समाहारः (द्विगुः) । प्रियादृगम्भोजपदे = दृशौ एव अम्भोजे (रूपक०) । प्रियायाः दृगम्भोजे (ष० त०), तयोः पदं, तस्मिन् (ष० त०) । अभिषिच्य= अभि + षिच् + क्त्वा (ल्यप्) । सफलीकृता = फलेन सहिता सफला (तुल्ययोगबहु०) । असफला सफला यथा संपद्यते तथा कृता, सफल + च्वि + कृ + क्तः + टाप् + सुः । दमयन्तीके नेत्र कामदेवके पुष्परूप बाणोंमें परिणत हुए हैं, नही तो ये कैसे संपूर्ण युवकोंको क्षुब्ध करते, यह अभिप्राय है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २७ ॥

सेयं मृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या ।
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—मृदुः मुष्टिग्रहणार्हमध्या सा इयं स्मरस्य कौसुमचापयष्टिः । या नः मोहाय श्रीमदपाङ्गमुक्तां दृष्टिशरौघवृष्टिं तनोति ॥ २८ ॥

व्याख्या—मृदुः = कोमला, मुष्टिग्रहणार्हमध्या = हस्तग्राह्याऽवलग्ना, धनुर्यष्टिपक्षे—हस्तग्राह्यलस्तका, सा = प्रसिद्धा, इयम् = एषा दमयन्ती,

स्मरस्य = कामदेवस्य, कौसुमचापयष्टिः = कुसुममयधनुर्दण्डः, या = दमयन्ती, नः = अस्माकं, मोहाय = मूर्च्छनाय, श्रीमदपाङ्गमुक्तां = शोभन-नयनप्रान्तत्यक्तां, दृष्टिशरौघवृष्टिं = नेत्रबाणसमूहवर्षं, तनोति = करोति, तादृशी दमयन्ती कथं न कामचापयष्टिरिति भावः ॥ २८ ॥

अनुवादः—कोमल और मुट्ठीसे ग्रहण करनेके योग्य कमरवाली, धनुर्यष्टि पक्षमें मुट्ठीसे ग्रहण करनेके योग्य मध्यभागवाली, प्रसिद्ध दमयन्ती कामदेवकी पुष्पमय धनुर्यष्टि है, जो हम लोगोंके मोहके लिए सुन्दर नेत्रप्रान्तसे छोड़ी गयी दृष्टिरूप बाणसमूहकी वृष्टि करती है ॥ २८ ॥

टिप्पणी—मुष्टिग्रहणार्हमध्या = मुष्टिना ग्रहणम् (तृ० त०)। तत् अर्हतीति मुष्टिग्रहणार्हम्, "अर्हः" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय, मुष्टिग्रहण + अर्ह + अच् (उपपद०) + सुः । तत् मध्यम् (अवलग्नम्) यस्याः सा (बहु०)। कौसुमचापयष्टिः = चापम् एव यष्टिः (रूपक०) । कुसुमानाम् इयं कौसुमी, कुसुम + अण् + ङीप् + सुः । कौसुमी चाऽसौ चापयष्टिः (क० धा०)। श्रीमदपाङ्गमुक्तां = प्रशस्ता श्रीरस्ति यस्य स श्रीमान्, श्री + मतुप् + सुः । श्रीमांश्चाऽसौ अपाङ्गः (क० धा०), तस्मात् मुक्ता, ताम् (प० त०)। दृष्टिशरौघवृष्टिं = दृष्टय एव शराः (रूपक०), तेषाम् ओघः (ष० त०), तस्य वृष्टिः, ताम् (ष० त०)। इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाकी संसृष्टि है ॥ २८ ॥

आघूर्णितं पक्ष्मलमक्षिपद्मं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजिताऽमृतांऽशु ।
अस्या इवास्याश्चलदिन्द्रनीलगोलाऽमलश्यामलतारतारम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—आघूर्णितं पक्ष्मलं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजिताऽमृतांऽशु चलदिन्द्रनील-गोलाऽमलश्यामलतारतारम् अस्या अक्षिपद्मम् अस्या अक्षिपद्मम् इव ॥ २९ ॥

व्याख्या—आघूर्णितं = प्रचलितं, पक्ष्मलं = पक्ष्मवत्, प्रान्तद्युतिश्वैत्य-जिताऽमृतांऽशु = कनीनिकाप्रान्तकान्तिधावल्यपराजितचन्द्रं, चलदिन्द्रनीलगोलाऽ-मलश्यामलतारतारं = स्फुरन्मरकतमणिमण्डलनिर्मलम् नीलस्थूलकनीनिकम् अस्याः = दमयन्त्याः, अक्षिपद्मं = नयनकमलम्, अस्याः = दमयन्त्याः, अक्षिपद्मम् इव = नयनकमलम् इव, असदृणमिति भावः ॥ २९ ॥

अनुवादः—घूमता हुआ, उत्तम बरौनियोंसे युक्त किनारेकी कान्तिकी शुक्लतासे चन्द्रमाको पराजित करनेवाला चञ्चल इन्द्रनीलमणिके मण्डलके

समान निर्मल श्यामवर्णवाली बड़ी पुतलीवाला दमयन्तीका नेत्रकमल दमयन्तीके नेत्र कमलके समान है ।। २९ ।।

टिप्पणी—पक्ष्मलं = पक्ष्माणि सन्ति यस्मिंस्तत्, पक्ष्मन् शब्दसे "सिध्मादिभ्यश्च" इस सूत्रसे लच् प्रत्यय । "पक्ष्माऽक्षिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्यंशेऽप्यणीयसि ।" इत्यमरः । प्रान्तद्युतिश्वैत्यजिताऽमृतांऽशु = प्रान्तस्य द्युतिः (ष० त०), तस्याः श्वैत्यम् (ष० त०) । अमृतम् अंशुः यस्य सः (बहु०) । जितः अमृतांऽशुः येन तत् (बहु०) । प्रान्तद्युतिश्वैत्येन जिताऽमृतांऽशु (तृ० त०) । चलदिन्द्रनीलगोलाऽमलश्यामलतारतारम् = इन्द्रनीलस्य गोलम् (ष० त०) । चलच्च तत् इन्द्रनीलगोलम् (क० धा०), तत् इव अमला श्यामला तारा (स्थूला) तारा (कनीनिका) यस्य तत् (बहु०) । अक्षिपद्मम्=अक्षि पद्मम् इव (उपमित क० धा०) । इस पद्यमें दमयन्तीके अक्षिपद्म उन्हीके अक्षिपद्मके समान है, कहनेसे एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय हुआ है, अतः अनन्वय अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ।" सा० द० १०-२६ ।। २९ ।।

कर्णोत्पलेनाऽपि मुखं सनाथं लभेत नेत्रद्युतिनिर्जितेन ।
यद्येतदीयेन ततः कृताऽर्था स्वचक्षुषी किं कुरुते कुरङ्गी ? ।। ३० ।।

अन्वयः—नेत्रद्युतिर्जितेन एतदीयेन कर्णोत्पलेन अपि सनाथं मुखं लभेत यदि, ततः कृताऽर्था कुरङ्गी स्वचक्षुषी किं कुरुते ।। ३० ।।

व्याख्या—नेत्रद्युतिनिर्जितेन = नयनकान्तिपराजितेन, एतदीयेन = एतत्सम्बन्धिना, दमयन्तीसम्बन्धिनेति भावः । कर्णोत्पलेन अपि = श्रोत्रकुवलयेन अपि, सनाथं = सहकृतं, मुखं = वदनं, लभेत यदि = प्राप्नुयात् चेत्, ततः = तर्हि, कृताऽर्था = कृतकृत्या सती, कुरङ्गी = मृगी, स्वचक्षुषी = निजनयने, किं कुरुते = किं विदधाति, कदर्थीकरोतीति भावः ।। ३० ।।

अनुवादः—नेत्रोंकी कान्तिसे पराजित दमयन्तीके कर्णके आभूषणकमलसे भी युक्त मुखको पायेगी तो कृतकृत्य होकर मृगी अपने नेत्रोंको क्या करेगी ? ।। ३० ।।

टिप्पणी—नेत्रद्युतिनिर्जितेन = नेत्रयोर्द्युतिः (ष० त०), तया निर्जितं, तेन (तृ० त०) । एतदीयेन = एतस्या इदम् एतदीयं, तेन, एतद् + छः (ईयः) + टा । कर्णोत्पलेन = कर्णस्य उत्पलं, तेन (ष० त०) । "स्यादुत्पलं कुवलयम्" इत्यमरः । लभेत = लभ + विधिलिङ् + त । कृताऽर्था = कृतः अर्थः

यया सा (बहु०)। स्वचक्षुषी = स्वस्याः चक्षुषी, ते (ष० त०)। कुरुते = कृ+लट्+त ॥ ३० ॥

त्वचः समुत्सार्य दलानि रीत्या मोचात्वचः पञ्चषपाटनानाम् ।
सारैर्गृहीतैर्विधिरुत्पलौघादस्यामभूदीक्षणरूपशिल्पी ॥ ३१ ॥

अन्वयः—विधिः मोचात्वचः पञ्चषपाटनानां रीत्या त्वचः दलानि समुत्सार्य गृहीतैः उत्पलौघाच्च सारैः अस्याम् ईक्षणरूपशिल्पी अभूत् ॥ ३१ ॥

व्याख्या—विधिः = विधाता, मोचात्वचः = कदलीवल्कलान्तर्गर्भात्, पञ्चषपाटनानां = पञ्चषविदलनानां, रीत्या = प्रकारेण, त्वच एव = वल्कलानि एव, दलानि = पत्राणि, समुत्सार्य = अपनीय, ततो गृहीतैः = आत्तैः, उत्पलौघाच्च = कुवलयसमूहाच्च, गृहीतैः = आत्तैः, सारैः = श्रेष्ठभागैः, सिताऽसितवर्णैर्लावण्यद्रव्यैरिति भावः। अस्यां=दमयन्त्याम्, ईक्षणरूपशिल्पी= नेत्रसौन्दर्यकारुः, अभूत् = समजायत ॥ ३१ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजी केलेकी भीतरी छालसे पाँच-छः पत्रोंको विदलित कर लिये गये श्रेष्ठ भागों से और नीलकमलसमूहसे भी लिये गये श्रेष्ठ भागोंसे दमयन्तीमें नेत्रोंके सौन्दर्यके कारीगर हो गये ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—मोचात्वचः = मोचायाः त्वक्, तस्याः (ष० त०), "कदली वारणबुसा रम्भा मोचांऽशुमत्फला ।" इति, "त्वक् स्त्री बल्कवल्कलमस्त्रियाम्" इत्यप्यमरः । पञ्चषपाटनानां = पञ्च षड् वा पञ्चषाणि, "संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिकसंख्याः संख्येये" इससे बहुव्रीहिसमास और "बहुव्रीही संख्येये डजबहुगणात्" इससे समासान्त डच् प्रत्यय। पञ्चषाणां पाटनानि, तेषाम् (ष० त०)। समुत्सार्य=सम्+उद्+सृ+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। उत्पलौघात्= उत्पलानाम् ओघः, तस्मात् (ष० त०)। ईक्षणरूपशिल्पी=ईक्षणयोः रूपम् (ष० त०), तस्य शिल्पी (ष० त०)। केलेके पत्तोंके सारसे निर्मित होनेसे सफेद और नीलकमलके पत्तेके सारसे निर्मित होनेसे काली पुतलीवाले दमयन्तीके नेत्र अत्यन्त सुन्दर हैं, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्टः ।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातुः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—विधातुः एतन्नयने विधातुं प्रयत्नैः चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां सुधोद्गारमयः एषः सारः निमेषयन्त्रेण कृष्टः किम् ? ॥ ३२ ॥

व्याख्या—विधातुः = ब्रह्मणः, एतन्नयने = दमयन्तीनेत्रे, विधातुं = निर्मातुं, प्रयत्नैः = समुद्योगैः, चकोरनेत्रदृगुत्पलानां = चकोरनयनमृगनेत्र-नीलकमलानां, सुधोद्गारमयः = अमृतनिष्यन्दमयः, एषः = समीपतरवर्ती, सारः = श्रेष्ठभागः, निमेषयन्त्रेण = निमीलनयन्त्रेण, कृष्टः किम् = आकृष्टः किमु ?।। ३२ ।।

अनुवाद:—दमयन्तीके नेत्रोंको बनानेके लिए ब्रह्माजीके प्रयत्नोंसे चकोरके नेत्र, मृगके नेत्र और नीलकमल इन सबके अमृतका निष्यन्दरूप यह श्रेष्ठ भाग निमेषरूप यन्त्र से खींचा गया है क्या ? ।। ३२ ।।

टिप्पणी—एतन्नयने = एतस्या नयने, ते (ष० त०)। चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां = चकोरस्य नेत्रे (ष० त०), एणस्य दृशौ (ष० त०)। चकोरनेत्रे च एणदृशौ च उत्पलानि च (द्वन्द्व), तेषाम्। सुधोद्गारमयः = सुधाया उद्गारः (ष० त०), स स्वरूपं यस्य सः, सुधोद्गार + मयट् (स्वार्थमें) + सुः। निमेषयन्त्रेण = निमेष एव यन्त्रं, तेन (रूपक०)। कृष्टः = कृष् + क्तः + सुः। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। ३२ ।।

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत बिभ्यतीभ्यः ।। ३३ ।।

अन्वयः—हरिणीभिः अस्याः सकाशात् नयनद्वयश्रीः ऋणीकृता आसीत् किम् ? यत् अनया बिभ्यतीभ्यः ताभ्यः भूयोगुणा इयं सकला बलात् अलभ्यत ।। ३३ ।।

व्याख्या—हरिणीभिः = मृगीभिः, अस्याः=दमयन्त्याः उत्तमर्णस्वरूपाया इति भावः। सकाशात् = समीपात्, नयनद्वयश्रीः = नेत्रद्वितयशोभा, ऋणीकृता = ऋणत्वेन गृहीता, आसीत् किम् = अभवत् किम् ? यत् = यस्मात् कारणात्, अनया=दमयन्त्या, बिभ्यतीभ्यः, त्रस्यन्तीभ्यः, ताभ्यः = हरिणीभ्यः, भूयोगुणा = अधिकगुणा, इयं = नयनश्रीः, सकला=निःशेषा, बलात् = बलात्कारात्, अलभ्यत = लब्धा ।। ३३ ।।

अनुवाद:—मृगियोंने दमयन्तीके समीपसे दोनोंने नेत्रोंकी शोभा ऋणके रूपमें ली थी क्या ? क्योंकि इन्हीं (दमयन्ती) ने डरती हुई उन (मृगियों) से अधिक गुणवाली नेत्रकान्ति शेष न रखकर जबर्दस्तीसे ले ली ।। ३३ ।।

टिप्पणी—नयनद्वयश्रीः = नयनयोः द्वयं (ष० त०), तस्य श्रीः (ष० त०), ऋणीकृता = अनृणम् ऋणं यथा सम्पद्यते तथा कृता, ऋण + च्वि + कृ +

क्त+टाप्+सुः । बिभ्यतीभ्यः = बिभ्यतीति बिभ्यत्यः, ताभ्यः भी+लट् (शतृ)+ङीप्+भ्यस् । भयकी अवस्थामें ज्यादा शोभा होती है । भूयोगुणा= भूयांसो गुणा यस्याः सा (बहु०) । बलात् = बलम् आश्रित्य, ल्यप्के लोपमें पञ्चमी । अलभ्यत = लभ्+लङ् (कर्ममें)+त । बहुत डरनेवाले कर्जगार (ऋणी) सब ऋण चुका देते हैं, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम् ।
न चेत्कृतः स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवःकूपनिपातभीत्या ॥ ३४ ॥

अन्वयः— अनयोः प्रयाणे श्रवःकूपनिपातभीत्या विघ्नः कृतो न स्यात् चेत्, चपलस्वभावे अस्या दृशौ दूरम् आक्रम्य मिथो न मिलेतां किम् ? ॥ ३४ ॥

व्याख्या—अनयोः = दमयन्तीदृशोः, प्रयाणे+दूरगमने, श्रवःकूपनिपातभीत्या = कर्णकूपनिपतनभयेन, विघ्नः = अन्तरायः, कृतः = विहितः, न स्यात् चेत् = नो भवेत् यदि, चपलस्वभावे = चञ्चलशीले, अस्याः = दमयन्त्याः, दृशौ = नयने, दूरं = विप्रकृष्टम् आक्रम्य = गत्वा, मिथः = अन्योन्यं, न मिलेतां किं = न संगच्छेयाताम् किम् ? दमयन्त्या नेत्रे आकर्णपूर्णे चञ्चलतरे चेति भावः ॥ ३४ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके नेत्रोंके दूर गमनमें कर्णरूप कुएँमें गिरनेके भयने विघ्न नहीं किया होता तो चञ्चल स्वभाववाले उनके नेत्र दूर जाकर परस्परमें नहीं मिलते क्या ? ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—श्रवःकूपनिपातभीत्या = श्रवसी एव कूपौ (रूपक०), "कर्ण-शब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः ।" इत्यमरः । श्रवःकूपयोः निपातः (स० त०), तस्मात् भीतिः, तया (प० त०) । चपलस्वभावे = चपलः स्वभावो ययोस्ते (बहु०) । आक्रम्य = आङ् + क्रम् + क्त्वा (ल्यप्) । मिलेताम् = मिल+विधिलिङ् + तस् (ताम्) । दमयन्तीके नेत्र कानतक विस्तीर्ण और अत्यन्त चञ्चल हैं, यह अभिप्राय है । इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावसे अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

केदारभाजः शिशिरप्रवेशात् पुण्याय मन्ये मृतमुत्पलिन्या ।
जाता यतस्तत्कुसुमेक्षणेयं यतश्च तत्कोरकदृक् चकोरः ॥ ३५ ॥

अन्वयः— केदारभाजा उत्पलिन्या शिशिरप्रवेशात् पुण्याय मृतं मन्ये । यत इयं तत्कुसुमेक्षणा जाता । यतश्चकोरश्च तत्कोरकदृक् (जातः) ॥ ३५ ॥

व्याख्या—केदारभाजा = क्षेत्रविशेषसेविन्या, केदारपर्वतसेविन्या च, उत्पलिन्या = कमलिन्या, शिशिरप्रवेशात् = शिशिरर्तुप्रवेशाद्धेतोः, पुण्याय = धर्माय, मृतं = मम्रे, इति । मन्ये = शङ्के । यतः = यस्मात्, केदारमरणात्, इयं = दमयन्ती, तत्कुसुमेक्षणा = उत्पलिनीपुष्पनयना, जाता = अजायत, यतश्च = यस्माच्च, चकोरश्च = चकोरपक्षी च, तत्कोरकदृक् = उत्पलिनी-कलिकानयनः, जातः । केदारमरणादुत्तमजन्मप्राप्तिरिति शास्त्रम् ॥ ३५ ॥

अनुवादः—केदार (खेत वा केदारपर्वत) को आश्रय करनेवाली कमलिनीने शिशिर ऋतुका प्रवेश होनेसे पुण्यके लिए प्राणत्याग किया है क्या? जिससे कि यह दमयन्ती उस कमलिनीके पुष्परूप नेत्रोंसे सम्पन्न हुई और जिससे चकोर पक्षी भी उसी कमलिनी पुष्परूप नेत्रोंसे सम्पन्न हुआ है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—केदाभाजा = केदारं भजतीति केदारभाक्, तया केदार + भज् + ण्विः (उपपद०) + टा । "केदारः पर्वते शम्भौ क्षेत्रभेदाऽऽलवालयोः ।" इति विश्वः । उत्पलिन्या = उत्पल + इनिः + ङीप् + टा । शिशिरप्रवेशात् = शिशिरस्य प्रवेशः, तस्मात् (ष० त०) । मृतं=मृ + क्तः (भावमें) । मन्ये=यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है । यतः = यद् + तसिल् । तत्कुसुमेक्षणा = तस्याः (उत्पलिन्याः) कुसुमे (ष० त०), ते एव ईक्षणे यस्याः सा (बहु०) । जाता = जन् + क्तः + टाप् । तत्कोरकदृक् = तस्याः (उत्पलिन्याः) कोरकौ (ष० त०) तौ एव दृशौ यस्य सः (बहु०) । कमलिनीने केदार (क्षेत्र वा शिवजीका पर्वत) का आश्रय लिया, शिशिर ऋतु का प्रवेश होनेसे अर्थात् पाला पड़नेसे वह (कमलिनी) मर गयी । पुण्यक्षेत्रमें प्राणत्याग करनेसे उस कमलिनीके फूल दमयन्तीके नेत्र और उसकी कलियाँ चकोरके नेत्र हो गये हैं क्या? ऐसी संभावना करनेसे यहाँपर उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । कलीसे फूल अधिक सुन्दर होता है, अतः दमयन्ती के नेत्र चकोरके नेत्रोंसे सुन्दर हैं, यह भी प्रतीत होता है ॥ ३५ ॥

नासाऽदसीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासाऽनिलाऽऽमोदभराऽनुमेयां दधद्द्विबाणीं कुसुमाऽऽयुधस्य ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अदसीया नासा जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य कुसुमाऽऽयुधस्यश्वासाऽ-निलाऽऽमोदभराऽनुमेयां द्विबाणीं दधत् तिलपुष्पतूणम् (अस्ति) ॥ ३६ ॥

व्याख्या—दमयन्त्या नासिकां वर्णयति—नासेति । अदसीया = दमयन्ती-सम्बन्धिनी, नासा = नासिका, जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य = लोकत्रितयप्रयुक्तबाणत्रि-

तयस्य, कुसुमाऽऽयुधस्य = कामदेवस्य, श्वासाऽनिलाऽऽमोदभराऽनुमेयां= निःश्वासपवनसौरभाऽतिशयाऽनुमानयोग्यां, द्विबाणीं = शिष्टं बाणद्वयं, दधत् = धारयत्, तिलपुष्पतूणं = तिलकुसुमतूणीरम्, अस्तीति शेषः ॥ ३६ ॥

अनुवादः—इस (दमयन्ती) की नासिका, तीन लोकोंमें तीन बाणोंका प्रयोग करनेवाले कामदेवके निःश्वासवायुके अधिक सौरभसे अनुमान किये जाने-वाले दो बाणोंको धारण करनेवाला तिलपुष्परूप तरकस है क्या ? ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—अदसीया = अमुष्या इयम्, अदस्, + छ (ईयः) + टाप् + सुः । जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य = जगतां त्रयम् (ष० त०), तस्मिन् न्यस्तम् (स० त०) । शराणां त्रयम् (ष० त०), जगत्त्रयन्यास्तं शरत्रयं येन, तस्य (बहु०) । कुसुमाऽऽयुधस्य=कुसुमानि आयुधानि यस्य तस्य (बहु०) श्वासाऽनिलाऽऽ-मोदभराऽनुमेयां = श्वासस्य अनिलः (ष० त०) । आमोदस्य भरः (ष० त०) । श्वासाऽनिलस्य आमोदभरः (ष० त०), तेन अनुमेया, ताम् (तृ० त०) । द्विबाणीं = द्वयोर्बाणयोः समाहारो द्विबाणी, ताम् (द्विगु०) । दधत्= धा + लट् (शतृ०) + सुः । तिलपुष्पतूणं = तिलस्य पुष्पं (ष० त०), तदेव तूणम् (रूपक०) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनाऽनेन सहोज्जिहानम् ।
रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अस्या अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सह उज्जिहानं बन्धूकबन्धू-भवत् एतत् स्वं रागश्रिया शैशवयौवनीयां सन्ध्याम् आह ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अथ पद्यसप्तकेन अधरोष्ठं वर्णयति—बन्धूकेति । अस्याः = दमयन्त्याः, अधरोष्ठलेखा = अधरोष्ठरेखा, अनेन = सन्निकृष्टस्थेन, मुखेन्दुना सह = वदनचन्द्रेण समम्, उज्जिहानम् = उद्यत्, बन्धूकबन्धूभवत् = बन्धु-जीवकुसुमसमीभवत्, एतत् = निकटतरवर्ति, स्वम् = आत्मानं, रागश्रिया = आरुण्यशोभया, शैशवयौवनीयां=बाल्यतारुण्यसम्बन्धिनीं, सन्ध्याम् = सन्धिभावां वेलाम्, आह = कृत ॥ ३७ ॥

अनुवादः—इस (दमयन्ती) की नीचेकी ओष्ठरेखा इस मुखचन्द्रके साथ उदयको प्राप्त होती हुई बन्धूक पुष्प (दुपहरिया फूल) के समान होकर अपनेको अरुणिमाकी शोभासे बाल्य और यौवनकी सन्ध्या बतलाती है ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—अधरोष्ठलेखा = अधरश्चाऽसौ ओष्ठः अधरोष्ठः (क० धा०), "ओत्वोष्ठयोः समासे वा" इस वार्तिकसे वैकल्पिक पररूपता, एक पक्षमें वृद्धिसे

अधरौष्ठः। अधरौष्ठस्य लेखा (ष० त०)। मुखेन्दुना = मुखम् इन्दुः इव, तेन (उपमित०)। उज्जिहानम्=उज्जिहीत इति उज्जिहानम्, उद्+ओहाङ्+लट् (शानच्) + अम्। बन्धूकबन्धूभवत् = बन्धूकस्य बन्धुः (ष० त०), "बन्धूकं बन्धुजीवकम्" इत्यमरः। अबन्धूकबन्धुः बन्धूकबन्धुः यथा संपद्यते तथा भवत्, बन्धूकबन्धु + च्वि + भू + लट् (शतृ) + सुः। रागश्रिया = रागस्य श्रीः, तया (ष० त०)। शैशवयौवनीयां = शिशोर्भावः शैशवम् (शिशु+अण्+सुः)। यूनो भावो यौवनं (युवन् + अण्+सुः)। शैशवं च यौवनं च शैशवयौवने (द्वन्द्व०) शैशवयौवनयोर्भवा शैशवयौवनीया, ताम् (शैशव-यौवन+छ (ईयः)+टाप्+अम्। इस पद्यमें दिन और रातकी सन्धिके समान बाल्य और यौवनकी सन्धिमें होनेवाली सन्ध्या अपने राग (लालिमा) की समृद्धिसे स्वयम् मानों अपनेको बतलाती है, इस प्रकार उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द 'इव' आदिके न रहनेसे यह प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

अस्या मुखेन्दोरधरः सुधाभूर्बिम्बस्य युक्तः प्रतिबिम्ब एषः।
तस्याऽथ वा श्रीर्द्रुमभाजि देशे संभाव्यमानाऽस्य तु विद्रुमे सा ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अस्या एषः अधरः मुखेन्दोः सुधाभूः बिम्बस्य प्रतिबिम्बः युक्तः। तस्य श्रीः द्रुमभाजि देशे संभाव्यमाना, अस्य तु सा विद्रुमे संभाव्यमाना ॥३८॥

व्याख्या—अस्याः=दमयन्त्याः, एषः = अतिसमीपवर्ती, अधरः = अधरोष्ठः, मुखेन्दोः = वदनचन्द्रस्य, सुधाभूः = अमृताऽऽविर्भावी, बिम्बस्य = बिम्बफलस्य, प्रतिबिम्बः = सदृशः, युक्तः = उचितः, न तु बिम्बफलात्कश्चिद्विशेषोऽस्तीत्यर्थः। तस्य = बिम्बफलस्य, श्रीः = शोभा, द्रुमभाजि = द्रुमवति, देशे = प्रदेशे, संभाव्यमाना = संभावनाविषयीभूता, अस्य = अधरस्य, तु, सा = श्रीः, विद्रुमे = प्रवाले, द्रुमरहितप्रदेशे च, संभाव्यमाना = संभावनाविषयीभूता ॥३८॥

अनुवादः—इस (दमयन्ती) का यह अधरोष्ठ, मुखरूप चन्द्रमाके अमृतमें उत्पन्न बिम्बफलके सदृश है। बिम्बफलकी शोभाकी द्रुम (वृक्ष) वाले देशमें संभावना की जाती है, इस अधरोष्ठ की शोभाकी तो विद्रुम (मूँगा) में वा द्रुम (वृक्ष) रहित देशमें संभावना की जाती है ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—मुखेन्दोः = मुखम् एव इन्दुः, तस्य (रूपक०)। सुधाभूः = सुधायां भवतीति, सुधा + भू + क्विप् (उपपद०) + सुः। द्रुमभाजि =

द्रुमं भजतीति द्रुमभाक्, तस्मिन् । द्रुम + भज् + ण्वि: (उपपद०) + ङि । संभाव्यमाना = सं + भू + णिच् + लट् (शानच्) (कर्ममें) + टाप् + सुः । विद्रुमे= "विद्रुमः पुंसि, प्रवालं पुंनपुंसकम् ।" इत्यमरः । विगता द्रुमा यस्मात्, तस्मिन् (बहु०), दमयन्तीकी अधरशोभा विद्रुम (मूँगा) की सदृश है, यह भाव है। इस पद्यमें रूपक, उपमा और श्लेषकी संसृष्टि है । इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ३८ ॥

जानेऽतिरागादिदमेव विम्बं, बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम् ।
द्वयोर्विशेषाऽवगमाऽक्षमाणां नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अतिरागात् इदम् एव बिम्बं, बिम्बस्य च इतः अधरत्वं व्यक्तम् । (एवं स्थिते) द्वयोः अनयोः विशेषाऽवगमाऽक्षमाणां नाम्नि भ्रमः अभूत्, जाने ॥ ३९ ॥

व्याख्या—अतिरागात् = लौहित्याऽतिशयाद्धेतोः, इदं = सन्निकृष्टस्थं, दमयन्त्यधरौष्ठरूपम्, एव, बिम्बं = बिम्बनामाऽर्हं फलं, बिम्बस्य च = तथा प्रसिद्धस्य बिम्बफलस्य च, इतः=दमयन्त्यधरौष्ठात्, अधरत्वम् = अपकृष्टत्वम्, व्यक्तं = स्फुटम् । एवं स्थिते द्वयोः = उभयोः, अनयोः = अधर-बिम्बयोर्नाम्नोः विषये, विशेषाऽवगमाऽक्षमाणां = विशेषज्ञानाऽसमर्थानां जनानां, नाम्नि = संज्ञाविषये, भ्रमः = भ्रान्तिः, अभूत् = संजात इति, जाने = जानामि ॥ ३९ ॥

अनुवादः—अत्यन्त लाल होनेसे यही दमयन्तीका अधरोष्ठ बिम्बफल है और बिम्बफलकी इससे हीनता स्फुट है । इस स्थिति में दमयन्तीके अधरोष्ठ और बिम्बफलके भेद समझनेमें असमर्थ जनोंको नामके निर्धारणमें भ्रम हुआ है मैं ऐसा समझता हूँ ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—अतिरागात् = अतिशयितो रागः, तस्मात् (गति०) । अधरत्वम्= अधरस्य भावः, अधर + त्व । विशेषाऽवगमाऽक्षमाणां = विशेषस्य अवगमः (ष० त०) । न क्षमा अक्षमाः (नञ्०) । विशेषाऽवगमे अक्षमाः, तेषाम् (स० त०) । दमयन्तीके अधरसे बिम्बफल अधर (निकृष्ट) है, अधर और बिम्ब इनका भेद समझनेमें असमर्थ लोगोंको भ्रान्ति होनेसे वे बिम्बफलको दमयन्तीके अधरका उपमान समझने लगे यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । उपजाति छन्द है ॥ ३९ ॥

मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातः किमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः ।
तत्स्वप्नसंभोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयाऽपराद्धम् ? ॥ ४० ॥

अन्वयः—यत् अस्याः मध्योपकण्ठौ अधरोष्ठभागौ किमपि उच्छ्वसितौ भातः। तत् स्वप्नसंभोगवितीर्णदन्तदंशेन मया न अपराद्धं किं वा ? ॥ ४० ॥

व्याख्या—यत् = यस्मात्, अस्याः = दमयन्त्याः, मध्योपकण्ठौ = मध्यदेश-सन्निहितौ, अधरोष्ठभागौ = अधरोष्ठप्रदेशौ, तदुभयपार्श्वे इति भावः। किमपि = किञ्चित्, उच्छ्वसितौ = उच्छूनौ सन्तौ, भातः = स्फुरतः। तत् = तस्मात्, स्वप्नसंभोगवितीर्णदन्तदंशेन = स्वापसमागमकृतदशनक्षतेन, मया, न अपराद्धं किं वा = न अपराधः कृतः किं वा ? ॥ ४० ॥

अनुवादः—जो दमयन्तीके अधरोष्ठके मध्यसमीपके दोनों भाग कुछ सूजे हुए प्रतीत होते हैं, सो स्वप्नके समागममें दशनक्षत करनेवाले मैंने अपराध नहीं किया क्या ? ॥ ४० ॥

टिप्पणी—मध्योपकण्ठौ = मध्यस्य उपकण्ठौ (ष० त०)। अधरोष्ठ-भागौ = अधरश्चाऽसौ ओष्ठः (क० धा०), तस्य भागौ (ष० त०)। उच्छ्वसितौ = उद् + श्वस + क्तः + औ। भातः = भा + लट् + तस्। स्वप्न-संभोगवितीर्णदन्तदंशेन = स्वप्ने संभोगः (स० त०)। तस्मिन् वितीर्णः (स० त०)। दन्तस्य दंशः (ष० त०)। स्वप्नसंभोगवितीर्णः दन्तदंशः येन, तेन (बहु०)। अपराद्धम् = अप + राध + क्तः + सुः। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४० ॥

विद्या विदर्भेन्द्रसुताऽधरोष्ठे नृत्यन्ति कत्यन्तरभेदभाजः।
इतीव रेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान् विधाता ॥ ४१ ॥

अन्वयः—कौतुकवान् विधाता विदर्भेन्द्रसुताऽधरोष्ठे कति विद्या अन्तर-भेदभाजः (सत्यः) नृत्यन्ति अपश्रमः (सन्) ता रेखाभिः संख्यातवान् इव किम् ? ॥ ४१ ॥

व्याख्या—कौतुकवान् = कुतूहलसम्पन्नः, विनोदीति भावः। विधाता = ब्रह्मदेवः, विदर्भेन्द्रसुताऽधरोष्ठे = भैम्यधरोष्ठे, कति = कियत्यः, विद्याः = वेदादिविद्याः, अन्तरभेदभाजः = अवान्तरभेदयुक्ताः सत्यः, नृत्यन्ति = नृत्यं कुर्वन्ति, विहरन्तीति भावः, इति बुभुत्सयेति शेषः। अपश्रमः = श्रमरहितः सन्, ताः = विद्याः, रेखाभिः = लेखाभिः, संख्यातवान् इव किं = गणितवान् इव किम् ? अन्यथा वृथा रेखासृष्टिः स्यादिति भावः ॥ ४१ ॥

अनुवादः—विनोदी ब्रह्माजीने दमयन्तीके अधरोष्ठमें कितनी विद्याएँ

अवान्तर भेदोंके साथ विहार करती हैं, ऐसा जाननेकी इच्छासे परिश्रमरहित होकर उन विद्याओंको रेखाओंसे गिन लिया है क्या ? ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—कौतुकवान् = कौतुकम् अस्ति यस्य सः, कौतुक + मतुप् + सुः। विदर्भेन्द्रसुताऽधरोष्ठे = विदर्भाणाम् इन्द्रः (ष० त०), तस्य सुता (ष० त०) अपरश्चाऽसौ ओष्ठः (क० धा०)। विदर्भेन्द्रसुताया अधरोष्ठः, तस्मिन् (ष० त०)। कति = किम् + डति + जस्। अन्तरभेदभाजः = अन्तरे भेदाः (स० त०), तान् भजन्तीति अन्तरभेद + भज् + ण्विः (उपपद०) + जस्। नृत्यन्ति = नृत + लट् + झिः। अपश्रमः = अपगतः श्रमो यस्मात् स० (बहु०)। संख्यातवान् = सं + ख्या + क्तवतुः + सुः। ब्रह्माजी दमयन्ती के अधरोष्ठमें रेखाओंसे विद्याको न गिनते तो रेखाओंकी सृष्टि व्यर्थ हो जाती, यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४१ ॥

संभुज्यमानाद्य यथा निशाऽन्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराऽधरेयम्।
असीमलावण्यरदच्छदेयं कथं मयैव प्रतिपद्यते वा ? ॥ ४२ ॥

अन्वयः—इयम् अद्य मया निशाऽन्ते स्वप्ने मधुराऽधरा (सती) अनुभूता। मया एव (इत्थम्) असीमलावण्यरदच्छदा कथं वा प्रतिपद्यते ? ॥ ४२ ॥

व्याख्या--इयं=दमयन्ती, अद्य=अस्मिन् समये, मया, निशान्ते = निशाऽवसाने, अपररात्र इति भावः। स्वप्ने = स्वप्नाऽवस्थायां, मधुराऽधरा = सुन्दराऽधरा सती, अनुभूता = दृष्टा। मया एव = स्वप्ने भैमीमधुराऽधरदर्शनकारिणा एव, इत्थम्, असीमलावण्यरदच्छदा = निरवधिसौन्दर्योपेताऽधरोष्ठी सती; कथं वा = केन प्रकारेण वा, प्रतिपद्यते = दृश्यते, चित्रमित्यर्थः स्वप्नदृष्टस्याऽर्थस्य जागरे संवादादाश्चर्यमिति भावः ॥ ४२ ॥

अनुवादः—आज मैंने रात्रिके अन्तमें स्वप्नमें सुन्दर अधरवाली दमयन्तीको देखा। मैं ही अभी इस प्रकार असीम सौन्दर्यसे युक्त अधरवाली दमयन्तीको कैसे देख रहा हूं (आश्चर्य है) ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—निशाऽन्ते = निशाया अन्तः, तस्मिन् (ष० त०)। स्वप्ने = स्वप् + नन् + ङि। मधुराऽधरा = मधुरः अधरः यस्याः सा (बहु०)। असीमलावण्यरदच्छदा = अविद्यमाना सीमा यस्य तत् असीम (नञ् बहु०)। असीम लावण्यं यस्य सः (बहु०)। रदानां छदः (ष० त०)। असीमलावण्यः रदच्छदो यस्याः सा (बहु०)। रात्रिके अन्तमें देखा गया स्वप्न सत्य

होता है, अतः मैंने रातको स्वप्नमें सुन्दर अधरवाली जिस दमयन्तीको देखा था अभी (दिनमें) भी वैसी ही दमयन्तीको मैं देख रहा हूँ यह भाव है ॥ ४२ ॥

यदि प्रसादीकुरुते सुधांऽशोरेषा सहस्रांऽशमपि स्मितस्य ।
तत्कौमुदीनां कुरुते तमेव निमित्य देवः सफलं स जन्म ॥ ४३ ॥

अन्वयः—एषा स्मितस्य सहस्रांऽशम् अपि सुधांऽशोः प्रसादीकुरुते यदि, तत् स देवः कौमुदीनां जन्म तम् एव निमित्य सफलं कुरुते ॥ ४३ ॥

व्याख्या—दमयन्त्याः स्मितं वर्णयति—यदीति । एषा=दमयन्ती, स्मितस्य = निजमन्दहासस्य, सहस्रांऽशम् अपि = सहस्रतमभागम् अपि, सुधांऽशोः = चन्द्रमसः, प्रसादीकुरुते यदि = अनुग्रहीकरोति चेत्, दद्याच्चेदिति भावः । तत् = तर्हि, सः = प्रसिद्धः, देवः = सुरः, चन्द्रमा इत्यर्थः । कौमुदीनां = स्वचन्द्रिकाणां, जन्म = उत्पत्ति, तम् एव = स्मितलेशम् एव, निमित्य = प्रक्षिप्य, स्वकौमुदीषु इति शेषः, सफलं = साऽर्थकं, कुरुते = विदधाति । यथा बिन्दुमात्रगङ्गाजल-मिश्रणेन जलान्तरं सफलं भवति तद्वदिति भावः ॥ ४३ ॥

अनुवादः—यह (दमयन्ती) अपने मन्दहास्यका हजारवाँ भाग भी चन्द्रमा-को दे दे, तो वे (चन्द्रमा) उसीको चाँदनीमें डालकर उसकी उत्पत्तिको सफल बना देते ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—सहस्रांऽशं = सहस्रं चाऽसौ अंशः, तम् (क० धा०), समास-वृत्तिमें संख्यावाचक शब्द लक्षणसे पूरणाऽर्थक होता है, जैसे त्रिभागः, तृतीयो भागः, यहाँ भी उसी तरह संख्यावाचक सहस्र शब्द "सहस्रतमः" इस अर्थमें लक्षित होता है । सुधांऽशोः = सुधा अंशुः यस्य, तस्य (बहु०) । प्रसादीकुरुते = अप्रसादः प्रसादो यथा सम्पद्यते तथा कुरुते, प्रसाद + च्वि + कृ + लट् + त । निमित्य = नि-उपसर्गपूर्वक "डुमिञ् प्रक्षेपणे" धातुसे क्त्वा (ल्यप्) । सफलं = फलेन सहितं, तत् (तुल्ययोगबहु०) । जैसे एक बूँद गङ्गाजलके मिश्रणसे अन्य जल सफल होता है, वैसे ही दमयन्तीके मन्दहास्यके हजारवें भागके मिश्रणसे चन्द्रिका भी सफल होती है, यह भाव है । इस पद्यमें कौमुदियों का दमयन्तीके स्मितांऽशसे सम्बन्ध न होनेपर भी उसकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

चन्द्राऽधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां वराऽऽयतं तत्किरणाद्धनानाम् ।
पुरःपरिस्रस्तपृषद्द्वितीयं रदाऽऽवलिद्वन्द्वति बिन्दुवृन्दम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—तत्किरणात् घनानां चन्द्राऽधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं पुरःपरिस्रस्तपृषद्द्वितीयं बिन्दुवृन्दं रदाऽऽवलिद्वन्द्वति ॥ ४४ ॥

व्याख्या—पद्यत्रितयेन दन्तपङ्क्तिद्वयं वर्णयति—चन्द्रेति। तत्किरणात् = चन्द्ररश्मेः, घनानां = सान्द्राणां, चन्द्राऽधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां = सुधांऽशूत्कृष्टदमयन्तीवदनचन्द्रकौमुदीनां, दराऽऽयतम् = ईषद्दीर्घं, पुरःपरिस्रस्तपृषद्द्वितीयं = प्रथमनिःसृतबिन्दुद्वितीयं, बिन्दुवृन्दं = बिन्दुसमूहः, रदाऽऽवलिद्वन्द्वति = दन्तपङ्क्तिद्वयम् इव आचरति। प्रथमनिःसृता बिन्दुपङ्क्तिः अधरदन्तपङ्क्तिः उत्तरा अनन्तरजाता इत्युत्प्रेक्षा ॥ ४४ ॥

अनुवादः—चन्द्रकिरणसे घनी, चन्द्रसे अधिक दमयन्तीके मुखचन्द्रकी चाँदनियोंका कुछ दीर्घ पहले गिरी हुई बूँदें और दूसरी बूँदें दाँतोंकी दो पङ्क्तियाँ प्रतीत होती हैं ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—तत्किरणात् = तस्य (चन्द्रस्य) किरणः, तस्मात् (ष० त०)। चन्द्राऽधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां = चन्द्रात् अधिकम् (ष० त०)। एतस्या मुखं (ष० त०), चन्द्राऽधिकं च तत् एतन्मुखम् (क० धा०), तस्य चन्द्रिकाः, तासाम् (ष० त०)। दरायतं = दरं च तत् आयतम् (क० धा०)। पुरःपरिस्रस्तपृषद्द्वितीयं = पुरःपरिस्रस्तानि पृषन्ति एव द्वितीयानि यस्य तत् (बहु०)। बिन्दुवृन्दं = बिन्दूनां वृन्दम् (ष० त०)। रदाऽऽवलिद्वन्द्वति = रदानाम् आवली (ष० त०), तयोर्द्वन्द्वम् (ष० त०)। रदाऽऽवलिद्वन्द्वम् इव आचरति, रदाऽऽवलिद्वन्द्व शब्दसे "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब वा वक्तव्यः" इससे क्विप् + लट् + तिप्। पहले निकली हुई बिन्दुपङ्क्ति छोटी होनेसे नीचेकी दन्तपङ्क्ति और पीछे निकली हुई बिन्दुपङ्क्ति बड़ी होनेसे ऊपरकी दन्तपङ्क्ति हुई यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४४ ॥

सेयं ममैतद्विरहार्तिमूर्च्छातमोविभातस्य विभाति सन्ध्या।
महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री द्विजैरमीभिः समुपास्यमाना ॥ ४५ ॥

अन्वयः—महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री अमीभिः द्विजैः समुपास्यमाना सा इयं मम एतद्विरहार्तिमूर्च्छातमोविभातस्य सन्ध्या विभाति ॥ ४५ ॥

व्याख्या—महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री = इन्द्रोत्कर्षप्राप्तानुरागजनयित्री, अन्यत्र—इन्द्रदिशा (प्राची) गत लौहित्यजनयित्री, अमीभिः = एतैः, द्विजैः = दन्तैः, इन्द्रदिशापक्षे—विप्रैः, समुपास्यमाना = सेव्यमाना, सा=प्रसिद्धा, इयं =

दमयन्ती, मम, एतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य = दमयन्तीवियोगपीडा-मूर्च्छारजनीप्रभातस्य, सन्ध्या = प्रातःसन्ध्या, विभाति = शोभते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—इन्द्रकी पूर्व दिशामें लौहित्यको उत्पन्न करनेवाली, ब्राह्मणोंसे उपासना की जानेवाली, प्रातःसन्ध्याके समान उत्कर्षको प्राप्त इन्द्रके अनुराग, को उत्पन्न करनेवाली, इन दाँतोंसे सेवा की जानेवाली प्रसिद्ध यह दमयन्ती मेरे इनके विरहकी पीडासे मूर्च्छारूप रात्रिके प्रातःकालके सन्ध्यास्वरूप होकर शोभित हो रही है ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—महेन्द्राकाष्ठागतरागकर्त्री = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), तस्य काष्ठा (ष० त०), "काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि इत्यमरः । महेन्द्रकाष्ठां गतः (द्वि० त०) । स चाऽसौ रागः (क० धा०), "रागोऽनुरागे लौहित्ये" इति विश्वः । तस्य कर्त्री (ष० त०) । इन्द्रके उत्कर्षको प्राप्त अनुराग करनेवाली दमयन्ती, अथवा इन्द्रकी पूर्व दिशामें लाली पैदा करनेवाली प्रातः सन्ध्या । द्विजैः="दन्तविप्राऽण्डजा द्विजाः" इत्यमरः । ब्राह्मणोंसे सन्ध्या सेवा की जाती है । अथ वा सुन्दर दाँतोंसे दमयन्ती सेवा की जाती है । एतद्विरहाऽर्ति-मूर्च्छात्तमीविभातस्य = एतस्या विरहः (ष० त०), तया अर्तिः (तृ० त०), "अर्तिः पीडाधनुष्कोटचोः" इत्यमरः । तया मूर्च्छा (तृ० त०), सा एव तमी (रूपक०), "रजनी यामिनी तमी" इत्यमरः । एतद्विरहाऽर्तिमूर्च्छातम्या विभातं, तस्य (ष० त०) । इस पद्यमें रूपक, श्लेष और उत्प्रेक्षाका अङ्गा-ङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

राजौ द्विजानामिह राजदन्ताः संबिभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत् ।
उद्वेगरागादिमृजाऽवदाताश्चत्वार एते तदवैमि मुक्ताः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यत् इह द्विजानां राजौ उद्वेगरागाऽऽदिमृजाऽवदाताः एते चत्वारो राजदन्ताः श्रोत्रियविभ्रमं संबिभ्रति तत् मुक्ता अवैमि ॥ ४६ ॥

व्याख्या—यत् = यस्मात्, इह = अस्यां दमयन्त्यां, द्विजानां = दन्तानां, विप्राणां च, राजौ = पङ्क्तौ, उद्वेग—रागाऽऽदिमृजाऽवदाताः = पूगफलरक्ततादि-मार्जनशुद्धाः, विप्रपक्षे—व्यग्रता—विषयाऽभिलाषादिमार्जनशुद्धाः, एते = समीपतरवर्तिनः, चत्वारः = चतुःसंख्यकाः, राजदन्ताः = दन्तश्रेष्ठाः, श्रोत्रिय-विभ्रमं = छान्दसशोभां, संबिभ्रति = धारयन्ति, तत् तस्मात्कारणात्, मुक्ताः = मौक्तिकानि, श्रोत्रियपक्षे—प्राप्ताऽपवर्गाः, अवैमि = जानामि, वाक्याऽर्थः कर्म ॥ ४६ ॥

अनुवादः--जो कि दमयन्तीमें दाँतोंकी पङ्क्तिमें सुपारीकी कालिमा आदिके मार्जनसे उज्ज्वल थे चार राजदन्त (श्रेष्ठ दाँत) वैदिक ब्राह्मणोंकी शोभाको धारण कर रहे हैं, मैं इनको मोतीके समान जानता हूँ। वैदिक ब्राह्मण भी उद्वेग (व्यग्रता), विषयका अभिलाष, द्वेष आदिके मार्जनसे शुद्ध होकर मुक्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—उद्वेग-रागादिमृजाऽवदाताः = उद्वेगस्य रागः (ष० त०), "घोण्टा तु पूगः क्रमुको गुवाकः खपुरोऽस्य तु। फलमुद्वेगः" इत्यमरः। उद्वेग-रागः आदिर्येषां ते (बहु०), आदिपदसे अन्य खाद्य पदार्थके लेपका संग्रह होता है। मार्जनं मृजा, "मृजूष् शुद्धौ" धातुसे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ्+टाप्+सुः। उद्वेगरागादीनां मृजा (ष० त०), तया अवदाताः (तृ० त०)। राजदन्ताः = दन्तानां राजानः (ष० त०), "राजदन्ताऽऽदिषु परम्" इस सूत्रसे "राजन्" पदका पूर्व प्रयोग। श्रोत्रियविभ्रमं = छन्दः अधीयत इति श्रोत्रियाः, "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते" इससे निपात। "श्रोत्रियंच्छान्दसौ समौ" इत्यमरः। श्रोत्रियाणां विभ्रमः, तम् (ष० त०)। संबिभ्रति = सं+भृञ्+लट्+झिः। मुक्ताः = मुक्ता तु मौक्तिके, मुक्ताः प्राप्तमुक्ता तु मोचित" इति विश्वः। अवैमि = अव+इण्+लट्+मिप्। यहाँ पर "अवैमि" इसका वाक्यार्थ कर्म है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

शिरीषकोशादपि कोमलाया वेधा विधायाऽङ्गमशेषमस्याः।
प्राप्तप्रकर्षः सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः--वेधाः शिरीषकोशात् अपि कोमलाया अस्या अशेषम् अङ्गं विधाय सुकुमारसर्गे प्राप्त प्रकर्षः (सन्) मृदुत्वमुद्रां वाचि समापयत् ॥ ४७ ॥

व्याख्या--अथ पद्यचतुष्टयेन भैम्या वाणीं वर्णयति शिरीषकोशादिति। वेधाः=विधाता, शिरीषकोशात् अपि = शिरीषकुड्मलात् अपि, कोमलायाः= मृदुलतरायाः, अस्याः = भैम्याः, अशेषं = संपूर्णम्, अङ्गं = देहाऽवयवं, विधाय = कृत्वा, सुकुमारसर्गे = कोमलवस्तुसृष्टौ, प्राप्तप्रकर्षः = लब्धोत्कर्षः सन्, मृदुत्वमुद्रां = मार्दवमर्यादां, वाचि = भैमीवाण्यां, समापयत् = समापितवान्, अस्या वाङ्माधुर्यं सकलपदार्थातिशायीति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीने शिरीषके कुड्मलसे भी अत्यन्त कोमल दमयन्तीके समस्त अङ्गोंकी रचना कर कोमल पदार्थोंकी रचनामें उत्कर्ष प्राप्त कर कोमलताकी मर्यादाको दमयन्तीकी वाणीमें समाप्त कर दिया ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—शिरीषकोशात् = शिरीषस्य कोशः, तस्मात् (ष० त०)। सुकुमारसर्गे = सुकुमाराणां सर्गः, तस्मिन् (ष० त०), प्राप्तप्रकर्षः = प्राप्तः प्रकर्षो येन सः (बहु०)। मृदुत्वमुद्रां = मृदोर्भावो मृदुत्वं, मृदु+त्व। मृदुत्वस्य मुद्रा, ताम् (ष० त०)। समापयत् = सम् + आप् + णिच् + लङ् + तिप्। दमयन्तीकी वाणीकी मिठास सबको मात करनेवाली है, यह भाव है ॥ ४७ ॥

प्रसूनबाणाऽद्वयवादिनी सा काऽपि द्विजेनोपनिषत् पिकेन।
अस्याः किमास्य द्विजराजतो वा नाऽधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः ? ॥ ४८ ॥

अन्वयः—प्रसूनबाणाऽद्वयवादिनी काऽपि उपनिषत् सा तरुभ्यः भैक्षभुजा पिकेन द्विजेन अस्या आस्यद्विजराजतः न अधीयते वा किम् ? ॥ ४८ ॥

व्याख्या—प्रसूनबाणाऽद्वयवादिनी = कामाऽद्वैतवादिनी, का अपि=अनिर्वचनीया, उपनिषत् = वेदरहस्यरूपा, सा = दमयन्तीवाणी, तरुभ्यः = आम्रादिवृक्षेभ्यः अपादानरूपेभ्यः, भैक्षभुजा = भिक्षासमूहभोजिना, पिकेन = कोकिलेन, द्विजेन = पक्षिणा विप्रेण च, अस्याः = दमयन्त्याः, आस्यद्विजराजतः = मुखचन्द्रात्, मुखरूपश्रेष्ठब्राह्मणात्, न अधीयते वा किम् = न पठ्यते वा किम् ? अधीयत एव इति भावः ॥ ४८ ॥

अनुवाद—ब्रह्मके अद्वैतका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद् (वेद रहस्य) को जैसे भिक्षान्नका भोजन करनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ ब्राह्मण आचार्यसे अध्ययन करता है, वैसे ही कामके अद्वैतका प्रतिपादन करनेवाली अनिर्वाच्य उपनिषत्-रूप उस दमयन्तीकी वाणीका आम्र आदि वृक्षोंसे पुष्पफलरूप भिक्षासमूहको खानेवाले कोयल पक्षी दमयन्तीके मुखचन्द्रसे क्यों अध्ययन नहीं करता है ? (करता ही है) ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—प्रसूनबाणाऽद्वयवादिनी = प्रसूनानि एव बाणा यस्य सः प्रसूनबाणः (बहु०)। अविद्यमानं द्वयं यस्य तत् अद्वयम् (नञ्बहु०) = अद्वितीयं वस्तु। प्रसूनबाण एव अद्वयम् (रूपक०)। प्रसूनबाणाऽद्वयं वदतीति तच्छीला, प्रसूनबाणाऽद्वय + वद + णिनिः (उपपद०) ङीप् + सु। भैक्षभुजा = भिक्षाणां समूहः, भिक्षा शब्दसे "भिक्षादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय। "भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्" इत्यमरः। भैक्षं भुनक्तीति भैक्षभुक्, तेन, भैक्ष + भुज् + क्विप् (उपपद०) + टा.। आस्यद्विजराजतः = द्विजानां राजा द्विजराजः (ष० त०), आस्यम् एव द्विजराजः (रूपक०)। आस्यद्विजराजात् इति आस्यद्विजराजतः,

आस्यद्विजराज + तसिः, "आख्यातोपयोगे" इससे आपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी। अधीयते=अधि + इङ् + लट् (कर्ममें) + त। कोयलके स्वरसे भी दमयन्तीका स्वर अत्यन्त मधुर है, यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

पद्माऽङ्कसद्मानमवेक्ष्य लक्ष्मीमेकस्य विष्णोः श्रयणात् सपत्नीम्।
आस्येन्दुमस्या भजते जिताऽब्जं सरस्वती तद्विजिगीषया किम् ? ॥ ४९ ॥

अन्वयः—सरस्वती एकस्य विष्णोः श्रयणात् सपत्नीं लक्ष्मीं पद्माऽङ्कसद्मानम् अवेक्ष्य तद्विजिगीषया जिताऽब्जम् अस्या आस्येन्दु भजते किम् ? ॥ ४९ ॥

व्याख्या।—सरस्वती = वाग्देवता, एकस्य, विष्णोः = नारायणस्य पत्युरितिशेषः, श्रयणात् = आश्रयणात् हेतोः, सपत्नीम् = एकभर्तृकां, लक्ष्मीं = कमलां, पद्माऽङ्कसद्मानं = कमलोत्सङ्गनिकेतनाम्, अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, तद्विजिगीषया = लक्ष्मीविजयेच्छया, जिताऽब्जं = कमलविजयिनम्, अस्याः = दमयन्त्याः आस्येन्दुं = वदनचन्द्रं, भजते किम् = आश्रयते किम् ? दुर्बलोऽपि वैरनिर्यातनाऽर्थो प्रबलतरमाश्रयत इति भावः ॥ ४९ ॥

अनुवादः—सरस्वती एक विष्णुका आश्रय लेनेसे सपत्नी (सौत) लक्ष्मी को कमलरूप उत्सङ्गमें रहनेवाली देखकर उनको जीतनेकी इच्छासे कमलको जीतनेवाले दमयन्तीके मुखचन्द्रका आश्रय लेती है क्या ? ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—सपत्नीं = समानः (एकः) पतिः यस्याः सा सपत्नी, ताम् (बहु०)। "नित्यं सपत्न्यादिषु" इस सूत्रसे समानका सभाव ङीप् और प्रातिपदिकका 'न' भाव भी निपातित हुआ है। पद्माऽङ्कसद्मानं = पद्मस्य अङ्कः (ष० त०) स एव सद्म यस्याः सा, ताम् (बहु०)। अवेक्ष्य = अव + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। तद्विजिगीषया = तस्या विजिगीषा, तया (ष० त०)। जिताऽब्जं = जितम् अब्जं येन, तम् (बहु०), आस्येन्दुम् = आस्यम् इन्दुरिव, तम् (उपमित०)। कमजोर भी शत्रुताका बदला लेनेके लिए जबर्दस्त व्यक्तिका आश्रय लेता है, यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

कण्ठे वसन्ती चतुरा यदस्याः सरस्वती वादयते विपञ्चीम्।
तदेव वाग्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुः श्रुतौ याति सुधारसत्वम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—मृगाक्ष्या अस्याः कण्ठे वसन्ती चतुरा सरस्वती विपञ्चीं यत् वादयते, तद् एव मृगाक्ष्याः मुखे वाग्भूय श्रोतुः श्रुतौ सुधारसत्वं याति ॥ ५० ॥

व्याख्या— मृगाक्ष्याः = हरिणनयनायाः, अस्याः = दमयन्त्याः, कण्ठे = गले, वसन्ती = नित्यं सन्निहिता, चतुरा = निपुणा, सरस्वती = वाग्देवता, विपञ्चीं = वीणां, यत्, वादयते = वादयति, तद् एव = वादनम् एव, वीणाध्वनिरेवेति भावः। मृगाक्ष्याः = दमयन्त्याः, मुखे = वदने, वाग्भूय = वाग् भूत्वा, श्रोतुः = आकर्णयितुः, श्रुतौ = श्रोत्रे, सुधारसत्वम् = अमृत-रसत्वं, याति=प्राप्नोति। दमयन्तीस्वरः वीणास्वरतुल्य इति भावः॥ ५०॥

अनुवादः—मृगके समान नेत्रोंवाली इस (दमयन्ती) के कण्ठमें सदा वास करनेवाली प्रवीण सरस्वती जो बीन बजाती हैं, वही वीणाका स्वर दमयन्तीके मुखमें वाणीके रूपमें परिणत होकर सुननेवालेके कानमें अमृतरसके भावको प्राप्त होता है॥ ५०॥

टिप्पणी—मृगाक्ष्याः = मृगस्येव अक्षिणी यस्याः, तस्याः (व्यधि० बहु०)। वादयते = वद + णिच + लट् + त। वाग्भूय = अवाग् वाग् यथा संपद्यते तथा भूत्वा, वाच् + च्वि + भू + क्त्वा (ल्यप्)। "ऊर्यादिच्विडाचश्च" इस सूत्रसे गतिसंज्ञा होनेसे समास होकर 'क्त्वा' के स्थानमें ल्यप्। श्रोतुः = शृणोतीति श्रोता, तस्य, श्रू + तृच् + ङस्। सुधारसत्वं = सुधाया रसः (ष० त०), तस्य भावः सुधारसत्वं, तत्, सुधारस + त्व + अम्। याति=या + लट् + तिप्। दमयन्तीका स्वर वीणास्वरके तुल्य है, यह भाव है। इस पद्यमें इव आदि व्यञ्जक शब्दका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ५०॥

विलोकिताऽस्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव॥ ५१॥

अन्वयः—इयं सुषमासमाप्तौ वेधसा अस्या मुखम् उन्नमय्य विलोकिता किम्? यत् मनाक् निम्ने चिबुके धृत्युद्भवा अंगुलियन्त्रणा इव चकास्ति॥ ५१॥

व्याख्या—दमयन्त्याश्चिबुकं वर्णयति। विलोकितेति। इयं = दमयन्ती, सुषमासमाप्तौ = परमशोभानिर्माणाऽवसाने सति, वेधसा=ब्रह्मदेवेन, अस्याः= दमयन्त्याः, मुखं = वदनम्, उन्नमय्य = कियत् ऊर्ध्वीकृत्य, विलोकिता किं = दृष्टा किम्, सौष्ठवपरीक्षाऽर्थमिति शेषः। यत् = यस्मात्, मनाक् = ईषत्, निम्ने = नते, चिबुके = अधराऽधोभागे, धृत्युद्भवा = निपीडचग्रहणसंभवा, अङ्गुलियन्त्रणा इव=करशाखामुद्रणा इव, अङ्गुष्ठपदमिवेति भावः। चकास्ति = शोभते॥ ५१॥

अनुवादः—परमशोभाकी रचनाकी समाप्तिमें ब्रह्माजीने दमयन्तीके मुखको कुछ ऊँचा कर देखा था क्या ? जो कि कुछ अवनत ठुड्डीमें ग्रहण करनेसे हुई उँगलीके समान शोभित हो रहा है ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—सुषमासमाप्तौ = सुषमायाः समाप्तिः, तस्याम् (ष० त०) "सुषमा परमा शोभा" इत्यमरः। उन्नमय्य = उद् + नम् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। चिबुके = "ओष्ठस्याऽधश्चिबुकम्" इति हलायुधः। धृत्युद्भवा = धृत्या उद्भवो यस्याः सा (व्यधि० बहु०)। अङ्गुलियन्त्रणा = अङ्गुलेः यन्त्रणा (ष० त०)। ब्रह्माजीने अङ्गूठेके अग्रभागको दमयन्तीकी ठुड्डीके अग्रभागमें रखकर नीचे रक्खी गयी अन्य उँगलियोंसे ऊँचा करके दमयन्तीके मुखको देखा गया-सा प्रतीत होता है, यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५१ ॥

प्रियामुखीभूय सुखी सुधांऽशुर्वसत्यसौ राहुभयव्ययेन।
इमां दधाराऽधरबिम्बलीलां तस्यैव बालं करचक्रवालम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—असौ सुधांऽशुः प्रियामुखीभूय राहुभयव्ययेन सुखी वसति। तस्य एव बालं करचक्रवालम् इमाम् अधरबिम्बलीलां दधार ॥ ५२ ॥

व्याख्या—पुनः पद्यनवकेन सावयवं भैमीमुखं वर्णयति—असौ = आकाशमण्डलस्थः, सुधांऽशुः = चन्द्रः, प्रियामुखीभूय = दमयन्तीमुखं भूत्वा, राहुभयव्ययेन = स्वर्भानुभीतिनिवृत्या, सुखी = सुखयुक्तः, निश्चिन्तः सन्निति भावः। वसति = निवासं करोति। तस्य एव = सुधांऽशोः एव, बालं=नूतनम्, उदयकालभयमिति भावः, करचक्रवालं = किरणमण्डलम्, इमां = दृश्यमानाम्, अधरबिम्बलीलाम् = अधरोष्ठबिम्बविलासं, दधार = धृतवत् ॥ ५२ ॥

अनुवदा—वह चन्द्र प्रिया (दमयन्ती) का मुख होकर राहुसे होनेवाले भयकी निवृत्तिसे सुखी होकर निवास कर रहा है। चन्द्रके ही नये किरणमण्डलने इस अधरबिम्बकी लीलाको धारण कर लिया ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—सुधांऽशुः = सुधा अंशुर्यस्य सः (बहु०)। प्रियामुखीभूय = प्रियाया मुखम् (ष० त०)। अप्रियामुखं प्रियामुखं यथा संपद्यते तथा भूत्वा प्रियामुख + च्वि + भू + क्त्वा (ल्यप्)। राहुभयव्ययेन = राहोर्भयं (ष० त०), तस्य व्ययः, तेन (ष० त०)। करचक्रवालं = कराणां चक्रवालम् (ष० त०)। अधरबिम्बलीलाम् = अधरो बिम्बम् इव (उपमित०), तस्य लीला, ताम् (ष० त०)। दधार=धृञ् + लिट् + तिप् (णल्)। इस पद्यमें

पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो उत्प्रेक्षाओंकी परस्पर अनपेक्षासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

अस्या मुखस्याऽस्तु न पूर्णिमाऽऽस्यं पूर्णस्य जित्वा महिमा हिमांशुम् ।
भ्रूलक्ष्मखण्डं दधदर्धमिन्दुर्भालस्तृतीयः खलु यस्य भागः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—पूर्णिमाऽऽस्यं हिमांऽशुं जित्वा पूर्णस्य अस्या मुखस्य महिमा न अस्तु ? यस्य तृतीयो भागः भालः भ्रूलक्ष्मखण्डं दधत् अर्धम् इन्दुः खलु ॥ ५३ ॥

व्याख्या—पूर्णिमाऽऽस्यं = पौर्णमासीमुखीभूतं, हिमांऽशुं = चन्द्रं, जित्वा = पराजित्य, स्थितस्येति शेषः । पूर्णस्य = समग्रस्य, अस्याः = दमयन्त्याः, मुखस्य = वदनस्य, महिमा = महत्त्वं, न अस्तु = न स्यात् ? काकुः स्यादेव जेतुर्महिमेति भावः । (किं च) यस्य = मुखस्य, तृतीयो भागः = तृतीयांऽशभूतः, भालः = ललाटं, भ्रूलक्ष्मखण्डं = नेत्रलोमलाञ्छनैकदेशं, दधत् = दधानः, अर्द्धम् इन्दुः = अर्द्धचन्द्रः, खलु = निश्चयेन । अर्द्धचन्द्रात्पूर्णचन्द्रस्य महत्वं युक्तमिति भावः ॥ ५३ ॥

अनुवादः—पूर्णिमाके मुखभूत चन्द्रको जीतकर परिपूर्ण दमयन्तीके मुखका महत्त्व न हो ? (है ही) । जिस (मुख) का तीसरा भाग ललाट भ्रूरूप कलङ्कखण्डको धारण करता हुआ अर्धचन्द्र होता है ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—पूर्णिमाऽऽस्यं पूर्णिमाया आस्यम् (ष० त०) । हिमांऽशुं = हिमः अंशुः यस्य, तम् (बहु०) । महिमा = महत् + इमनिच् + सुः । तृतीयः = त्रयाणां पूरणः, त्रि + तीय + सुः । भ्रूलक्ष्मखण्डं = लक्ष्मणः खण्डः (ष० त०), भ्रूरेव लक्ष्मखण्डः तम् (रूपक०) । दधत् = धा + लट् (शतृ) + सुः । दमयन्तीका मुख चन्द्रसे भी सुन्दर है और इनका भाल (लिलार) अर्ध-चन्द्रके सदृश है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गि-भावसे सङ्कर है ॥ ५३ ॥

व्यधत्त धाता मुखपद्ममस्याः सम्राजमम्भोजकुलेऽखिलेऽपि ।
सरोजराजौ सृजतोऽदसीयां नेत्राऽभिधेयावत एव सेवाम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—धाता अस्या मुखपद्मम् अखिलेऽपि अम्भोजकुले सम्राजं व्यधत्त । अतएव नेत्राऽभिधेयौ सरोजराजौ अदसीयां सेवां सृजतः ॥ ५४ ॥

व्याख्या—धाता = ब्रह्मा, अस्याः = दमयन्त्याः, मुखपद्मं = वदन-कमलं, अखिलेऽपि = समस्तेऽपि, अम्भोजकुले = कमलवर्गे, सम्राजं = राजराजं, व्यधत्त = विहितवान् । अत एव = अस्मात् कारणात् एव, राजराजत्वात् एवेति

भावः। नेत्राऽभिधेयौ = नयनशब्दवाच्यौ, सरोजराजौ = कमलराजौ, अदसीयां = दमयन्तीमुखपद्मसम्बन्धिनीं, सेवां = परिचर्यां, सृजतः = कुरुतः ॥ ५४ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीने दमयन्तीके मुखकमलको सम्पूर्ण कमलोंके कुलमें सम्राट् बना दिया। इस कारणसे ही नेत्र शब्दसे कहे जानेवाले दो कमलोंके राजा इस (दमयन्ती) के मुख कमलकी सेवा करते हैं ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—मुखाऽब्जं = मुखम् एव अब्जं, तत् (रूपक०)। अम्भोजकुले = अम्भोजानां कुलं, तस्मिन् (ष० त०), सम्राजं = संराजत इति सम्राट्, तम्, सम्+राज्+क्विप् (उपपद०)+अम्। "येनष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाऽऽज्ञया राज्ञः स सम्राट्" इत्यमरः। जिसने राजसूय यज्ञ किया है, जो राजमण्डलमें ईश्वर (प्रभु) है, जो आज्ञासे शासन करता है, उसे "सम्राट्" कहते हैं। नेत्राऽभिधेयौ=नेत्रम् अभिधेयं ययोस्तौ (बहु०)। सरोजराजौ = सरोजानां राजानौ (ष० त०)। अदसीयाम् = अमुष्य (मुख पद्मस्य) इयम् अदसीया, ताम्, अदस्+छ (ईय)+टाप्+अम्। सृजतः = सृज+लट्+तस्। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५४ ॥

दिवारजन्यो रविसोमभीते चन्द्राऽम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।
अस्या यदाऽऽस्ये न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—चन्द्राऽम्बुजे दिवारजन्योः रविसोमभीते (सती) स्वलक्ष्मीं यदा अस्या आस्ये निक्षिपतः, तदा तयोः श्रीः न, इदम् अस्या आस्यं तु कदा एक-श्रिया न कान्तम् ? ॥ ५५ ॥

व्याख्या—चन्द्राऽम्बुजे = इन्दुकमले, दिवारजन्योः = दिवसनिशयोः, रवि-सोमभीते = सूर्यचन्द्रत्रस्ते, अपहारशङ्किनी सती इति भावः। स्वलक्ष्मीं = निजशोभां, यदा = यस्मिन्समये, अस्याः = दमयन्त्याः, आस्ये = मुखे, निक्षिपतः = स्थापयतः, तदा = तस्मिन्समये, तयोः = चन्द्राऽम्बुजयोः, दिवा चन्द्रस्य, रजन्याम् अम्बुजस्य चेति भावः, श्रीः = शोभा, न = नो भवति। परम् इदं = सन्निकृष्टस्थम्, अस्याः = दमयन्त्याः, आस्यं तु = मुखं तु, कदा= कस्मिन् समये, दिवा रजन्यां वेति भावः। एकश्रिया = चन्द्राऽम्बुजयोरन्यतर, श्रिया, न कान्तं = न सुन्दरम्, अपि तु सदैव सुन्दरमिति भावः ॥ ५६ ॥

अनुवादः—चन्द्र और कमल दिन और रात में सूर्य और चन्द्रसे डरकर अपनी शोभाको जब दमयन्तीके मुखमें रखते हैं, तब दिनमें चन्द्रकी और रातमें

कमलकी शोभा नहीं होती है परन्तु दमयन्तीका यह मुख तो कब (दिनमें वा रातमें) चन्द्र वा कमलमें एककी शोभासे सुन्दर नहीं होता है ? ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—चन्द्राऽम्बुजे = चन्द्रश्च अम्बुजं च (द्वन्द्व०). दिवारजन्योः = दिवा च रजनी च दिवारजन्यौ, तयोः (द्वन्द्व०)। रविसोमभीते = रविश्च सोमश्च (द्वन्द्व), ताभ्यां भीते (प० त०)। स्वलक्ष्मीं = स्वस्य लक्ष्मीः, ताम् (ष० त०)। निक्षिपतः = नि + क्षिप् + लट् + तस्। एकश्रिया = एकस्य (एकतरस्य) श्रीः, तया (ष० त०)। इस पद्यमें यथासंख्य और दमयन्तीके मुखमें चन्द्र और कमलकी लक्ष्मी रहनेकी उत्प्रेक्षासे दमयन्तीके मुखकी लक्ष्मीके उत्कर्षकी प्रतीति होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। इस प्रकार अलङ्कारोंसे अलङ्कारकी ध्वनि है ॥ ५५ ॥

अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रात्।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—पद्मचन्द्रौ तातात् जलात् मित्रात् मुकुराच्च अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बम् एव याचितकं विभूषणं कदाचित् अभ्यर्थ्य धत्तः खलु ॥ ५६ ॥

व्याख्या—पद्मचन्द्रौ = कमलसोमौ, तातात् = जनकात्, मित्रात् = सुहृदः, आकारसाम्यादिति शेषः। अस्याः = दमयन्त्याः, मुखश्रीप्रतिबिम्बम् एव = वदनशोभाप्रतिच्छायाम् एव, याचितकं = याच्ञाप्राप्तं, विभूषणम् = अलङ्कारं, कदाचित् = जातुचित्, अभ्यर्थ्य = याचित्वा, धत्तः = दधाते, खलु = निश्चयेन ॥ ५६ ॥

अनुवादः—कमल अपने जनक जलसे और चन्द्र सादृश्यसे अपने मित्र दर्पणसे दमयन्तीके मुखकी शोभाके प्रतिबिम्ब (परछाँही) ही माँगनेसे पाये गये अलङ्कारको किसी समय प्रार्थना करके मानो धारण करते हैं ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—पद्मचन्द्रौ = पद्मं च चन्द्रश्च (द्वन्द्व०)। मुखश्रीप्रतिबिम्बं = मुखस्य श्रीः (ष० त०), तस्याः प्रतिबिम्बम्, तत्, (ष० त०)। याचितकं = याचितेन निर्वृत्तं, तत्, "अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय। अभ्यर्थ्य=अभि + अर्थ + क्त्वा (ल्यप्)। धत्तः=धा + लट् + तस्। इस पद्यमें कमल, जलमें पड़े हुए दमयन्तीके प्रतिबिम्बको अपने जनक जलसे और चन्द्र, आकारकी समता से अपने मित्र दर्पणसे दमयन्तीके प्रतिबिम्बको माँगकर भूषणके रूपमें धारण करते हैं कहनेसे कमलमें और चन्द्रमें जो शोभा है वह स्वाभाविक नहीं है ऐसा कहनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

अर्काय पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गैर्मितामक्षिभिरम्बुकेलौ ।
भैमीं मुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ताः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—पत्ये अर्काय तिष्ठमानाः अम्बुजिन्यः अम्बुकेलौ भृङ्गैः अक्षिभिः मितां मुखस्य श्रियं विस्तारितपद्महस्ताः (सत्यः) भैमीं याचन्ति खलु ॥५७॥

व्याख्या—पत्ये=भर्त्रे, अर्काय=सूर्याय, तिष्ठमानाः=स्वाऽभिलाषं प्रकाशयन्त्यः कामुक्यः सत्य इत्यर्थः । अम्बुजिन्यः = पद्मिन्यः, अम्बुकेलौ = जलक्रीडासमये, भृङ्गैः = भ्रमरैः एव, अक्षिभिः = नेत्रैः, मिताम् = उपलब्धां, मुखस्य=वदनस्य, श्रियं=शोभां, विस्तारितपद्महस्ताः = प्रसारितकमलकराः सत्यः, भैमीं=दमयन्तीं, याचन्ति = प्रार्थयन्ति, खलु = निश्चयेन ॥ ५७ ॥

अनुवादः- पति सूर्यको अपने अभिलाषको प्रकाशित करती हुई कामुकी कमलिनियाँ, जलक्रीडाके समयमें भ्रमररूप नेत्रोंसे उपलब्ध मुखकी शोभाको कमलरूप हाथोंको फैलाकर दमयन्तीसे माँगती हैं ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—अर्काय = 'स्था' धातुके योगमे "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इससे सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी । तिष्ठमानाः = तिष्ठन्त इति स्था धातुसे "प्रकाशनस्थेयाऽऽख्ययोश्च" इस सूत्रसे प्रकाशन अर्थमें आत्मनेपद, स्था + लट् (शानच्) + टाप् + जस्, अम्बुकेलौ = अम्बुनि केलिः, तस्मिन् (स० त०) । विस्तारितपद्महस्ताः = विस्तारिताः पद्मा एव हस्ता याभिस्ताः (बहु०) । भैमीम् = गौणकर्म । याचन्ति=स्वरितकी इत्संज्ञा होनेसे याच् धातु उभयपदी है, दुहादिगणमें पढ़े जानेसे द्विकर्मक भी है । इस पद्यमें रूपक और कमलिनियोंसे दमयन्ती के मुखशोभाकी याचनाकी उत्प्रेक्षा और कमलसे दमयन्तीके मुखकी अधिकतासे व्यतिरेक, इस प्रकार इन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव से सङ्कर अलङ्कार है । इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ५७ ॥

अस्या मुखेनैव विजित्य नित्यस्पर्द्धी मिलत्कुङ्कुमरोषभासा ।
प्रसह्य चन्द्रः खलु नह्यमानः स्यादेव तिष्ठन् परिवेषपाशः ॥ ५८ ॥

अन्वयः— नित्यस्पर्द्धी चन्द्रः मिलत्कुङ्कुमरोषभासा अस्या मुखेन एव विजित्य प्रसह्य नह्यमानः तिष्ठन् परिवेषपाशः स्यात् एव खलु ॥ ५८ ॥

व्याख्या—नित्यस्पर्द्धी = सततस्पर्द्धाशीलः, चन्द्रः = इन्दुः, मिलत्कुङ्कुमरोषभासा = व्याप्नुवत्काश्मीररक्तक्रोधकान्तिना, अस्याः = दमयन्त्याः, मुखेन एव=वदनेन एव, विजित्य=पराजित्य, प्रसह्य = बलात्कारेण, नह्यमानः =बद्ध्य-

मानः, तिष्ठन् = विद्यमानः, परिवेषपाशः=परिधिबन्धनप्रग्रहः, स्यात् एव=भवेत् एव, खलु = किम् ? ॥ ५८ ॥

अनुवाद:—नित्य स्पर्द्धा करनेवाला चन्द्र, व्याप्त होनेवाले केसररूप क्रोध-की कान्तिवाले दमयन्तीके मुखसे ही जीतकर बलपूर्वक बाँधा जाकर रहता हुआ परिवेषरूप पाशवाला है क्या ? ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—नित्यस्पर्द्धी = नित्यं स्पर्द्धते तच्छीलः, नित्य + स्पर्द्ध + णिनि (उपपद०) + सु । मिलत्कुङ्कुमरोषभासा = रोषस्य भाः (ष० त०)। मिलन्ती कुङ्कुमम् एव रोषभाः यस्य तत्, तेन (बहु०)। विजित्य=वि + जि + क्त्वा (ल्यप्) । प्रसह्य=प्र + सह + क्त्वा (ल्यप्) । नह्यमानः = नह्यत इति नह + लट् (कर्ममें) + शानच् + सु । परिवेषपाशः = परिवेष एव पाशो यस्य सः (बहु०) । दमयन्तीके मुखसे स्पर्द्धा करनेसे अपराधी चन्द्रको दमयन्तीके मुखने जीतकर परिवेषके बहानेसे बाँधा है क्या ? यह भाव है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

विधोर्विधिर्बिम्बशतानि लोपं लोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि ।
अभङ्गुरश्रीकममुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—विधिः विधोः बिम्बशतानि मासि मासि कुहूरात्रिषु लोपं लोपम् अभङ्गुरश्रीकम् अमुम् अस्या मुखेन्दुम् एकशेषम् अस्थापयत् किम् ? ॥ ५९ ॥

व्याख्या—विधिः = ब्रह्मा, विधोः = चन्द्रस्य, बिम्बशतानि=मण्डलशतानि, मासि मासि = मासे मासे, कुहूरात्रिषु = नष्टचन्द्ररात्रिषु, लोपं लोपं = लुप्त्वा लुप्त्वा, अभङ्गुरश्रीकम् = अनश्वरशोभम्, अमुम् = एतम्, अस्याः=दमयन्त्याः, मुखेन्दुं = वदनचन्द्रम्, एकशेषम् = एकमेव शिष्यमाणम्, अस्थापयत् = स्थापितवान्, किम्, व्याकरणे सरूपाणामेकशेषवदिति भावः ॥ ५९ ॥

अनुवाद:—ब्रह्माजीने चन्द्रके सैकड़ों मण्डलोंको प्रत्येक मासमें अमावास्या-की रात्रियोंमें बार बार लुप्त कर अनश्वर शोभावाली इस दमयन्तीके मुख-चन्द्रको एकमात्र शेष रखकर स्थापित किया है क्या ? ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—बिम्बशतानि = बिम्बानां शतानि, तानि (ष० त०) । मासि= मास शब्दकी ङि विभक्तिमें "पद्दन्नोमास्०" इत्यादि सूत्रसे 'मास्' आदेश । कुहू-रात्रिषु = कुह्वा रात्रयः, तासु (ष० त०) । लोपं लोपं = लुप् धातुसे "आभीक्ष्ण्ये णमुल् च" इससे णमुल् प्रत्यय । "नित्यवीप्सयोः" इससे द्विर्वचन ।

"अभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम्" इति काशिका। अभङ्गुरश्रीकं = न भङ्गुरा (नञ्०)। अभङ्गुरा श्रीर्यस्य सः, तम् (बहु०)। "शेषाद्विभाषा" इससे समासान्त कप्। .. इन्दु=मुखम् इन्दुरिव, तम् (उपमित०)। अस्थापयत्=स्था + णिच् + लङ् + तिप्। व्याकरणमें जैसे "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इस सूत्रसे तुल्यरूपवाले शब्दोंमें एक शेष रहता है, और लुप्त हो जाते हैं उसी तरह ब्रह्माजीने कुहूकी रातोंमें भङ्गुरश्रीवाले चन्द्रबिम्बोंको लोप कर उनके स्थानमें अभङ्गुरश्रीवाले दमयन्तीके मुखको स्थापित किया है क्या? इस तरह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, चन्द्रबिम्ब क्षयशील है दमयन्तीमुख अक्षयशील है ऐसा कहनेसे व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है ॥ ५९ ॥

कपोलपत्त्रान्मकरात् सकेतुर्भ्रूभ्यां जिगीषुर्धनुषा जगन्ति।
इहाऽवलम्ब्याऽस्ति रतिं मनोभू रज्यद्वयस्यो मधुनाऽधरेण ॥ ६० ॥

अन्वयः—मनोभूः कपोलपत्त्रात् मकरात् सकेतुः, भ्रूभ्यां धनुषा जगन्ति जिगीषुः, अधरेण मधुना रज्यद्वयस्यः इह रतिम् अवलम्ब्य अस्ति ॥ ६० ॥

व्याख्या—मनोभूः = कामः, कपोलपत्त्रात् = भैमीगण्डस्थलपत्त्रभङ्गात् एव, मकरात् = तन्नामकात्स्वचिह्नात्, सकेतुः=केतुमान्, मकरध्वज इति भावः। भ्रूभ्यां = भैमीभ्रूभ्याम् एव, धनुषा=कार्मुकेण, जगन्ति = लोकान्, जिगीषुः = जेतुम् इच्छुः, अधरेण = भैम्यधरेण एव, मधुना = क्षौद्रेण, वसन्तेन च, रज्यद्वयस्यः = अनुरक्तसखः सन्, इह = अस्यां भैम्यां, रतिं = प्रीतिं स्वदेवीं च, अवलम्ब्य = अवलम्बनं कृत्वा, अस्ति = विद्यते। जगज्जिगीषोः कामस्य सकलाऽपि साधनसम्पत्तिर्भैम्यामेवाऽस्तीति भावः ॥ ६० ॥

अनुवादः—कामदेव दमयन्तीके कपोलके पत्त्रावलीरूप मकरसे केतुवाला अर्थात् मकरध्वज, दमयन्तीके भ्रूरूप धनुसे जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाला, दमयन्तीके अधररूप मधु (शहद वा वसन्त ऋतु) से अनुरक्त मित्रवाला होकर दमयन्तीमें रति (प्रीति वा अपनी पत्नी) का अवलम्बन कर रहा है ॥ ६० ॥

टिप्पणी—कपोलपत्त्रात् = कपोले पत्त्रं, तस्मात् (स० त०)। सकेतुः = केतुना सहितः (तुल्ययोगबहु०)। रज्यद्वयस्यः = रज्यन् वयस्यो यस्य सः (बहु०)। जगतको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवकी विजयकी संपूर्ण साधन-सम्पत्ति दमयन्तीमें ही है यह तात्पर्य है। इस पद्यमें पत्त्रभङ्ग आदिमें आरोप्यमाण केतु आदिके तादात्म्यसे प्रस्तुत जगत्की जयमें उपयोगिता होनेसे परिणाम अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"विषयाऽऽत्मतयाऽऽरोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याऽधिकरणो द्विधा ॥" (१०-३४) ॥ ६० ॥

वियोगबाष्पाऽञ्चितनेत्रपद्मच्छद्माऽन्वितोत्सर्गपयःप्रसूनौ ।
कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्यां निवेद्यपूपौ विधिशिल्पमीदृक् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—ईदृक् विधिशिल्पम् अस्याः कर्णौ वियोगबाष्पाऽञ्चितनेत्र-पद्मच्छद्माऽन्वितोत्सर्गपयःप्रसूनौ रतितत्पतिभ्यां निवेद्यपूपौ किम् ? ॥ ६१ ॥

व्याख्या—ईदृक् = ईदृशं, विधिशिल्पं = ब्रह्मनिर्माणम्, अस्याः=दमयन्त्याः, कर्णौ = श्रुती, वियोगबाष्पाऽञ्चितनेत्रपद्माच्छद्माऽन्वितोत्सर्गपयःप्रसूनौ=विरहाऽ-श्रुयुक्तनयनकमलव्याजमिलितदानोदकमिश्रकुसुमौ, रतितत्पतिभ्यां = रति-कामाभ्यां, निवेद्यपूपौ किम् = अर्पणीयाऽपूपौ किम् ? ॥ ६१ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीके ऐसे शिल्परूप दमयन्तीके दोनों काम विरहके कारण आँसूसे युक्त नेत्रकमलोंके छलसे मिलित दानके जलसे मिश्रित दोनों फूलोंसे युक्त रति और उनके पति कामदेवको समर्पणके योग्य मालपूए हैं क्या ? ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—ईदृक् = इदम् + दृश् + क्विन् + सु । विधिशिल्पं = विधेः शिल्पम् (ष० त०) । वियोगबाष्पाञ्चितेत्यादिः = वियोगेन बाष्पाः (अश्रूणि), (तृ० त०) तैः अञ्चिते (तृ० त०) । नेत्रे पद्मे इव नेत्रपद्मे (उपमित०) । वियोग-बाष्पाऽञ्चिते च ते नेत्रपद्मे (क० धा०) । तयोः छद्म (ष० त०), तेन मिलिते (तृ० त०) । पयश्च प्रसूनं च पयःप्रसूने (द्वन्द्व) । उत्सर्गाय पयःप्रसूने (बहु०) । रतितत्पतिभ्यां = तस्याः पतिः (ष० त०) । रतिश्च तत्पतिश्च रतितत्पती, ताभ्यां (द्वन्द्वः), संप्रदानमें चतुर्थी । निवेद्यपूपौ=निवेद्यौ च तौ पूपौ (क० धा०), "पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्" इत्यमरः । वियोगके कारण आँसूसे युक्त दमयन्तीके नेत्र मानो रति और कामदेवकी पूजाके लिए जल और कमलके फूल हैं और ब्रह्माजीके शिल्पभूत उनके दोनों कान रति और कामदेव-को समर्पण करनेके लिए (नैवेद्य) मालपूए हैं इस प्रकार इस पद्यमें अपह्नुति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारोंसे दमयन्तीके नेत्र कर्णपर्यन्त विस्तृत हैं ऐसी वस्तु-ध्वनि है ॥ ६१ ॥

इहाऽविशद्येन पथाऽतिवक्रः शास्त्रौघनिष्प्रन्दसुधाप्रवाहः ।
सोऽस्याः श्रवःपत्त्रयुगे प्रणाली रेखेव धावत्यभिकर्णकूपम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अतिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः येन पथा इह अविशत्। अस्याः श्रवःपत्त्रयुगे रेखा प्रणाली इव अभिकर्णकूपं धावति ॥ ६२ ॥

व्याख्या— अतिवक्रः = अधिककुटिलः, शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः = शास्त्रसमूहसाराऽमृतप्रवाहः, येन, पथा = मार्गेण, इह = अस्यां, दमयन्त्याम्, अविशत् = प्रविष्टः। अस्याः = दमयन्त्याः, श्रवःपत्त्रयुगे = कर्णदलयुग्मे, रेखा= लेखा, प्रणाली इव=सुधाप्रवाहपदवी इव, अभिकर्णकूपं = श्रोत्ररन्ध्रम्, धावति= अभिगच्छति ॥ ६२ ॥

अनुवादः—अत्यन्तकुटिल शास्त्रसमूहके साररूप अमृतके प्रवाहने जिस मार्गसे इस (दमयन्ती) में प्रवेश किया। दमयन्तीके दो कर्णपत्त्रोंमें रेखा प्रणाली (नाली) के सदृश कर्णके कूप (छिद्र) में जाती है ॥ ६२ ॥

टिप्पणी— अतिवक्रः = अत्यन्तं वक्रः (सुप्सुपा०)। शास्त्रौघनिष्यन्दसुधा-प्रवाहः = शास्त्राणाम् ओघः (ष० त०), तस्य निष्यन्दः (सारः) (ष० त०), सुधायाः प्रवाहः (ष० त०), शास्त्रौघनिष्यन्द एव सुधाप्रवाहः (रूपक०)। अविशत = विश + लङ् + तिप्। श्रवःपत्त्रयुगे=श्रवसी पत्त्रे इव (उपमित०), तयोर्युगं, तस्मिन् (ष० त०)। प्रणाली = "द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्" इत्यमरः। अभिकर्णकूपं=कर्ण एव कूपः (रूपक०)। कर्णकूपम् अभि "लक्षणे-नाऽभिप्रती आभिमुख्ये" इससे अव्ययीभाव। जैसे कहींसे निकला हुआ जल वक्रगतिसे किसी प्रणाली (नाली) से निम्नदेशमें जाता है उसी तरह शास्त्रोंका साररूप अमृत-प्रवाह भी दमयन्तीके दोनों कर्णोंमें जो रेखारूप प्रणाली है उससे उनके कर्णच्छिद्ररूप निम्नदेशमें प्राप्त होता है यह अभिप्राय है। इस पद्यमें कर्णकी रेखामें अमृत-प्रणालीकी उत्प्रेक्षा है ॥ ६२ ॥

अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दध्रतुरर्द्धमर्द्धम्।
कर्णाऽन्तरुत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य संख्यैव न वा नवाऽङ्कः ? ॥ ६३ ॥

अन्वयः— अस्याः श्रुती अष्टादश विद्याः संविभज्य यत् अर्द्धम् अर्द्धं दध्रतुः, कर्णाऽन्तरुत्कीर्णगभीरलेखः तस्य नवाऽङ्कः एव संख्या न किम् ? ॥ ६३ ।

व्याख्या—अस्याः=दमयन्त्याः, श्रुती = कर्णौ, अष्टादश=अष्टादशसंख्यकाः, विद्याः=वेदवेदाङ्गादिकाः, संविभज्य = संविभागं कृत्वा, द्विधाकृत्येति भावः। यत्, अर्द्धम् अर्द्धम् = नेमं, नेमं, दध्रतुः = बिभ्रतुः, कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः = श्रोत्राऽन्तर्भागोत्पादितगम्भीराऽवयवविन्यासः, तस्य = अर्धस्य, नवाङ्कः =

नवसंख्यायुक्तः, नवसंख्याचिह्नं वा, न किं = नो भवति किं, भवत्येवेति भावः ॥ ६३ ॥

अनुवादः— इस (दमयन्ती) के दोनों कान वेद आदि अठारह विद्याओंको दो भागोंमें विभाग कर जो आधा-आधा धारण करते हैं। कानके भीतर गम्भीर अवयव स्थितिके होनेसे उस आधे भागका नौ संख्याओंका चिह्न ही संख्या नहीं है क्या ? (है ही) ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—अष्टादश=अष्टाधिका दश (मध्यमपद०), अथवा अष्टौ च दश च (द्वन्द्व०), "द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः" इससे आत्व। अठारह विद्याएँ, जैसे—

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥ (विष्णुपुराणम्)

वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष। चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये चौदह विद्याएँ हुई। इनमें ४ उपवेदोंको संयुक्त करनेसे अठारह विद्याएँ होती हैं, जैसे आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र। संविभज्य=सम + वि + भज + क्त्वा (ल्यप्)। दध्रतुः = धृ + लिट् + अतुस्। कर्णाऽन्तरुत्कीर्णगभीरलेखः = कर्णस्य अन्तः (ष० त०)। गभीरश्चाऽसौ लेखः (क० धा०)। उत्कीर्णश्चाऽसौ गभीरलेखः (क० धा०)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

मन्येऽमुना कर्णलतामयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेण ।
एकाकिपाशं वरुणं विजिग्येऽनङ्गीकृताऽऽयासततो रतीशः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—रतीशः अमुना कर्णलतामयेन छिदुरेतरेण पाशद्वयेन एकाकिपाश वरुणम् अनङ्गीकृताऽऽयासततिः (सन्) विजिग्ये (इति) मन्ये ॥ ६४ ॥

व्याख्या—रतीशः = रतिपतिः कामः, अमुना = एतेन, कर्णलतामयेन = कर्णपाशरूपेण, छिदुरेतरेण = अच्छिदुरेण, अभङ्गुरेणेति भावः, पाशद्वयेन = पाशाऽऽयुधयुग्मेन, एकाकिपाशं = केवलैकपाशयुक्तं, वरुणं = पश्चिमदिक्पालम्, अनङ्गीकृताऽऽयासततिः = परिहृतप्रयासपरम्परः, अनायासः सन्निति भावः।

विजिग्ये = जिगाय, इति, मन्ये = जाने, अधिकसाधनेनाऽल्पसाधनः सुजय इति भावः ॥ ६४ ॥

अनुवादः—कामदेवने दमयन्तीके इन कर्णपाशरूप दृढ दो पाशोंसे एकमात्र पाशआयुधवाले वरुणको अनायास ही जीत लिया है मैं ऐसा मानता हूँ ॥६४॥

टिप्पणी—रतीशः = रतेः ईशः (ष० त०)। कर्णलतामयेन = कर्णौ लते इव, (उपमित०), ते स्वरूपं यस्य, तेन कर्णलता + मयट् + टा। छिदुरेतरेण= छेदनशीलं छिदुरं, छिद धातुसे "विदिभिदिच्छिदेः कुरच्" इस सूत्रसे कुरच् प्रत्यय। छिदुरात् इतरत्, तेन (पं० त०)। पाशद्वयेन = पाशयोर्द्वयं, तेन (ष० त०)। एकाकिपाशम् = एक एव एकाकी, एक + आकिनिच्। एकाकी पाशो यस्य, तम् (बहु०)। अनङ्गीकृताऽऽयासततिः = न अङ्गीकृता (नञ्०)। आयासानां ततिः (ष० त०), अनङ्गीकृता आयासततिः येन सः (बहु०)। विजिग्ये = विपूर्वक "जि जये" धातुसे "विपराभ्यां जेः" इससे आत्मनेपद, लिट् + त। दमयन्तीके दो कर्णपाशरूप आयुधवाले कामदेवने एक पाशवाले वरुणको जीता। उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६४ ॥

आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दोरुचिरः स्मरोऽपि।
तच्चापयोः कर्णलते भ्रुवोर्ज्ये वंशत्वगंशौ चिपिटे किमस्याः ? ॥ ६५ ॥

अन्वयः—चतुर्भुजस्य तातस्य आत्मा एव जातः स्मरः अपि चतुर्दोरुचिरः तच्चापयोः अस्या भ्रुवोः अस्याः कर्णलते वंशत्वगंशौ चिपिटे ज्ये किम् ? ॥ ६५ ॥

व्याख्या—चतुर्भुजस्य = चतुर्बाहोः, तातस्य = स्वजनकस्य, विष्णोरिति भावः। आत्मा = स्वरूपम् एव, जातः = उत्पन्नः, "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" इति श्रुतेरिति भावः। स्मरः अपि = कामदेवः अपि, चतुर्दोरुचिरः = चतुर्बाहु-सुन्दरः, तच्चापयोः = स्मरधनुषोः, अस्याः = दमयन्त्याः, भ्रुवोः = अक्षि-लोम्नोः, अस्याः = दमयन्त्या एव, कर्णलते = लतासदृशौ कर्णौ, वंशत्वगंशौ = वेणुत्वग्भागमयौ, चिपिटे = अनते ऋजू इत्यर्थः, ज्ये किं=मौर्व्यौ किम् ?॥ ६५ ॥

अनुवादः—चार बाहुओंसे युक्त जनक विष्णुके आत्मरूप उत्पन्न पुत्र कामदेव भी चार बाहुओंसे सुन्दर हैं, उन चार बाहुओंसे युक्त कामदेवके धनुः-स्वरूप इस (दमयन्ती) के दोनों भौंहोंके दमयन्तीके लतासदृश कर्ण बाँसके त्वग्भागरूप सरल प्रत्यञ्चाएँ हैं क्या ? ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—चतुर्भुजस्य = चत्वारो भुजा यस्य, तस्य (ब०)। चतुर्दो-रुचिरः = चतुर्भिः दोर्भिः रुचिरः (उत्तरपदसमास)। "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः"

इत्यमरः । "चतुर्दोरुचितः" ऐसा पाठ नारायणपण्डितसम्मत है। चत्वारो दोषो यस्य सः चतुर्दोः (बहु०), चार बाहुओंसे युक्त । उचितः = युक्तः, ऐसा अर्थ करना चाहिए । तच्चापयोः = तस्य चापौ, तयोः (ष० त०) । कर्णलते= कर्णौ लते इव (उपमित०) । वंशत्वगंशौ = त्वचः अंशौ (ष० त०), वंशस्य त्वगंशौ (ष० त०) । दमयन्तीकी भौंहें कामदेवके धनु, और कान प्रत्यञ्चारूप हैं। दो धनुओंकी प्रत्यञ्चाएँ उचित ही हैं यह तात्पर्य है। इस पद्यमें स्मरका चतुर्भुजत्व दमयन्तीकी भौंहोंके कामदेवके चापयुगत्व और उनके कानोंके ज्यात्वकी उत्प्रेक्षा है ॥ ६५ ॥

ग्रीवाद्भुतैवाऽवटुशोभिताऽपि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना सरूपताभागखिलोर्ध्वका या ॥ ६६ ॥

अन्वयः– या ग्रीवा अवटुशोभिता अपि माणवकेन प्रसाधिता आलिङ्ग्यताम् अवलम्बमाना अपि सरूपताभागखिलोर्ध्वका सा इयम् अद्भुता एव । ६६ ॥

व्याख्या--या, ग्रीवा = कन्धरा, दमयन्त्या इति शेषः, अवटुशोभिता = अमाणवकाऽलङ्कृता अपि, माणवकेन = वटुना, प्रसाधिता = अलङ्कृता, इति विरोधः । तत्परिहारस्तु—या = ग्रीवा, अवटुशोभिता = कृकाटिकाऽलङ्कृता, माणवकेन = विंशतिसरेण मुक्ताहारेण, प्रसाधिता = अलङ्कृता, तथा आलिङ्ग्यताम् = आलिङ्गनीयत्वम्, अवलम्बमाना अपि = आश्रयन्ती अपि, सरूपताभागखिलोर्ध्वका = सारूप्ययोगिसमस्तोर्ध्वदेशा, आलिङ्ग्यः = य आलिङ्गनपूर्वकं, वाद्यमानमृदङ्गः स कथम् ऊर्ध्वकः = उच्चैः स्थापयित्वा वाद्यमानमृदङ्ग इति विरोधः परिहारस्तु—आलिङ्ग्यताम् = आलिङ्गनीयत्वम्, ऊर्ध्वकः = ऊर्ध्वभाग इत्यविरोधः । एतादृशी सा, इयं = ग्रीवा, अद्भुता एव = आश्चर्यभूता एव ॥ ६६ ॥

अनुवाद—जो दमयन्ती की ग्रीवा (गर्दन) वटु (माणवक) से अलङ्कृत न होनेपर भी माणवक (वटु) से अलङ्कृत है, यहाँपर विरोध है उसका परिहार—दमयन्तीकी ग्रीवा अवटु (गर्दनके पूर्व भाग) से शोभित है और माणवक (बीस लड़ियोंसे युक्त मोतीकी माला) से अलङ्कृत है। आलिङ्ग्य (आलिङ्गनपूर्वक बजाये जानेवाले मृदङ्गविशेष) को अवलम्बन करती हुई भी तुल्यरूपवाले अन्यून ऊर्ध्वक (ऊपर रखकर बजाये जानेवाले मृदङ्गविशेष)-वाली है यहाँपर भी विरोध है। उसका परिहार—आलिङ्गनकी योग्यताका

अवलम्बन करनेवाली और सब भागोंमें तुल्यरूपवाले ऊर्ध्वभागसे युक्त। ऐसी दमयन्तीकी ग्रीवा (गर्दन) आश्चर्यरूप है ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—ग्रीवा = "अथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि।" इत्यमरः। अवटुशोभिता = विरोध में—वटुना शोभिता (तृ० त०), न वटुशोभिता (नञ्०)। परिहारमें—अवटुना (कृकाटिकया) शोभिता (तृ० त०)। "अवटुर्घाटा कृकाटिका" इत्यमरः। माणवकेन = वटुना (विरोधमें)। माणवकेन = हारभेदेन, "माणवको हारभेदे बाले कुपुरुषेऽपि च।" इति मेदिनी। "विंशतिसरो माणवकोऽल्पत्वात्" इति क्षीरस्वामी। आलिङ्ग्यताम् = आलिङ्ग्यस्य (मृदङ्गविशेषस्य) भावः, ताम् आलिङ्ग्य + तल् + टाप् + अम् (विरोधमें)। "मृदङ्गा मुरजा भेदास्त्वङ्क्याऽऽलिङ्ग्योर्ध्वकास्त्रयः।" इत्यमरः। परिहारमें—आलिङ्ग्यस्य (आलिङ्गनीयस्य) भावः, तत्ता, ताम्। सरूपताभागखिलोर्ध्वका समानं रूपं यस्य सः सरूपः (बहु०), "ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु" इससे समानके स्थानमें 'स' भाव। सरूपस्य भावः, (सरूप + तल् + टाप्)। सरूपतां भजतीति सरूपताभाक् (सरूपता + भज् + ण्वि + सु), तादृशः अखिलः (अन्यूनः) ऊर्ध्वकः (विरोध में-ऊर्ध्वकमृदङ्गः, परिहारमें ऊर्ध्वभागः) यस्याः सा (बहु०)। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो विरोधाभास अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥६६॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता न्यधिताऽभिकण्ठे।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः॥ ६७॥

अन्वयः—विधाता अस्या अभिकण्ठे कवित्वगानप्रियवादसत्यानि न्यधित। सः अयम् अमीषां वासाय रेखात्रयन्यासमिषात् सीमाः विबभाज ॥ ६७ ॥

व्याख्या—विधाता = ब्रह्मा, अस्याः = दमयन्त्याः, अभिकण्ठे = कण्ठे, कवित्वगानप्रियवादसत्यानि = काव्यकर्तृत्वगीतप्रियवचनतथ्यानि, न्यधित = निहितवान्। सः = तादृशः, अयं = विधाता, अमीषां = कवित्वादीनां चतुर्णां, वासाय = निवासाय, कण्ठे असंकीर्णस्थितय इति शेषः। रेखात्रयन्यासमिषात् = लेखात्रितयस्थापनच्छलात्, सीमाः=मर्यादाः, विबभाज = विभक्तवान्, मध्ये रेखात्रयविन्यासेन चतुर्धा विभक्तवान्, अविवादार्थमिति भावः ॥ ६७ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीने दमयन्तीके गलेमें कवित्व, गान, प्रियवचन और सत्य इनको रख दिया, वैसे ब्रह्माजीने पूर्वोक्त कवित्व आदि चारोंके वासके लिए तीन रेखाओंको रखनेके बहानेसे सीमाओंका विभाग किया ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—अभिकण्ठे = कण्ठे इति, विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव । कवित्व-गानप्रियवादसत्यानि = प्रियस्य वादः (ष० त०), कवित्वं च गानं च प्रियवादश्च सत्यं च (द्वन्द्व०), तानि । न्यधित = नि + धा + लुङ् + त । रेखात्रयन्यासमिषात् = रेखाणां त्रयं (ष० त०), तस्य न्यासः (ष० त०), तस्य मिषं, तस्मात् (ष० त०) । "रेखात्रयाऽङ्किता ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते" इस उक्तिके अनुसार तीन रेखाओंसे युक्त ग्रीवाको "कम्बुग्रीवा" कहते हैं । दमयन्ती कवित्व आदि गुणोंसे युक्त कम्बुकण्ठी है यह तात्पर्य है । इस पद्यमें ग्रीवामें स्थित भाग्यकी तीन रेखाओंमें सीमाविभागके चिह्नकी उत्प्रेक्षा है ॥ ६७ ॥

बाहू प्रियाया जयतां मृणालं द्वन्द्वे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन् ।
उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्यथनं यदन्तः ॥ ६८ ॥

अन्वयः प्रियाया बाहू मृणालं जयतां नाम, अस्मिन् द्वन्द्वे जयो नाम विस्मयो न, तु भग्नस्य अमुष्य अन्तः निर्व्यथनं च यत् विलोक्यते तत् उच्चैः चित्रम् ॥ ६८ ॥

व्याख्या—पद्यद्वितयेन दमयन्त्या बाहू वर्णयति—बाहू इति । प्रियायाः = वल्लभाया दमयन्त्याः, बाहू = भुजौ, मृणालं = बिसं, जयतां नाम = जयेतां नाम, अस्मिन् = एतस्मिन्, द्वन्द्वे = युग्मे कलहे च, जयो नाम = विजयो नाम, विस्मयो न = अद्भुतो न, तु = किन्तु, भग्नस्य = पराजितस्य, अमुष्य = मृणालस्य, अन्तः = अन्तःकरणे गर्भे वा, निर्व्यथनं = व्यथाराहित्यं छिद्रं च, यत्, विलोक्यते = दृश्यते, तत् = दर्शनम्, उच्चैः = महत्, चित्रम् = आश्चर्यम्, भग्नमपि अव्यथम् इति विरोधः, छिद्रं विलोक्यते इति तत्परिहारः, मृणालस्य गर्भे छिद्रत्वादिति भावः ॥ ६८ ॥

अनुवादः—प्रिया दमयन्तीके दोनों बाहु कमलनालको जीतें, ऐसा द्वन्द्व (दोनों बाहुओं) में अथवा इस युद्धमें होना आश्चर्य नहीं है, किन्तु हारते हुए भी इस (मृणाल) के अन्तःकरणमें निर्व्यथन = व्यथाऽभाव (व्यथाका अभाव) वा अन्तः = भीतर निर्व्यथन (छिद्र) जो देखा जाता है, बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—जयतां = जि + लोट् + तस् । द्वन्द्वे = "द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः" इत्यमरः । भग्नस्य = भञ्जो + क्तः + ङस् । निर्व्यथनं = व्यथनस्य अभावः, (अर्थाभावमें अव्ययीभाव), दूसरे पक्षमें निर्व्यथनं = छिद्रम्, "छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्" इत्यमरः । दमयन्तीके दोनों बाहुओंने जो मृणालको जीत लिया,

दोनों बाहुओंने एक कमलनालको जीत लिया, इसमें क्या आश्चर्य है? परन्तु हारनेपर भी मृणालके भीतर जो निर्व्यथन (व्यथाका अभाव) देखा जाता है वह आश्चर्य है, इसमें विरोध हुआ, इसका परिहार—इसके भीतर निर्व्यथन (छिद्र) देखा जाता है। इस प्रकार इस पद्यमें विरोधाभास अलङ्कार है ॥६८॥

अजीयताऽऽवर्तशुभंयुनाभ्याः दोर्भ्यां मृणालं किमु कोमलाभ्याम् ।
निःसूत्रमास्ते घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु नाऽकीर्तिषु तन्निमग्नम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—आवर्तशुभंयुनाभ्याः कोमलाभ्यां दोर्भ्यां मृणालम् अजीयत किमु? घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु अकीर्तिषु तत् निमग्नं निःसूत्रं न आस्ते किम्? ॥ ६९ ॥

व्याख्या—आवर्तशुभंयुनाभ्याः = दक्षिणाऽऽवर्तशुभाऽन्वितनाभेः, दमयन्त्याः, कोमलाभ्यां = मृदुलाभ्यां, दोर्भ्यां = बाहुभ्यां, मृणालं=बिसम्, अजीयत किमु= जितं किं, मार्दवगुणेनेति शेषः। कुतः? घनपङ्कमृत्सु = सान्द्रकर्दमरूपमृत्तिकासु एव, मूर्तासु = मूर्तिमतीषु, अकीर्तिषु = असमज्ञासु, तत् = मृणालं, निमग्नं = त्रुडितं, निःसूत्रं=निर्व्यवस्थं, न आस्ते किम्? = नो विद्यते किमु? इति काकुः। आस्ते एव, अपराजितत्वे कथमकीर्तिपङ्कपात इति भावः ॥ ६९ ॥

अनुवाद—दक्षिणावर्तसे शुभफलवाली नाभिसे युक्त दमयन्तीने कोमल दो बाहुओंसे मृणालको जीत लिया है क्या? गाढ पङ्करूप मृत्तिकारूप मूर्तिको धारण करनेवाली अकीर्तियोंमें वह (मृणाल) निमग्न होकर व्यवस्थासे रहित नहीं हुआ है क्या? ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—आवर्तशुभंयुनाभ्यां = शुभम् अस्ति यस्याः सा शुभंयुः, शुभम् इस माऽन्त अव्ययसे "अहंशुभमोर्युस्" इससे युस् प्रत्यय। "शुभंयुस्तु शुभाऽन्वितः" इत्यमरः। आवर्त इव शुभंयुः नाभिः यस्याः, तस्याः (बहु०)। अजीयत = जि + लङ् (कर्ममें) + त। घनपङ्कमृत्सु = पङ्काः एव मृदः (रूपक०), घनाश्च ताः पङ्कमृदः, तासु (क० धा०)। अकीर्तिषु = न कीर्तयः, तासु (नञ्०)। निमग्नं = नि + मस्जो + क्त + सु। निःसूत्रं = निर्गतं सूत्रं यस्मात् तत् (बहु०)। "सूत्रं तु सूचनाग्रन्थे, सूत्रं तन्तुव्यवस्थयोः।" इति विश्वः। दमयन्तीके दो बाहुओंसे मृणाल पराजित नहीं होता तो उसका अकीर्तिपङ्कमें कैसे निमज्जन होता, यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६९ ॥

रज्यन्नखस्याऽङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैङ्गुलपत्त्रतूणे ।
हैमैकपुङ्खाऽस्ति विशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥ ७० ॥

अन्वयः—रज्यन्नखस्य अङ्गुलिपञ्चकस्य मिषात् असौ हैमैकपुङ्खा विशुद्ध-पर्वा स्मरस्य पञ्चशरी प्रियाकरे (एव) हैङ्गुलपद्मतूणे अस्ति ॥ ७० ॥

व्याख्या – रज्यन्नखस्य = स्वभावरक्तनखस्य, अङ्गुलिपञ्चकस्य=करशाखा-पञ्चकस्य, मिषात् = व्याजात्, असौ = पुरोवर्तिनी, हैमैकपुङ्खा = सौवर्णैक-कर्तर्याख्यमूलप्रदेशा, विशुद्धपर्वा = निर्व्रणग्रन्थिः, सरलग्रन्थिरिति भावः । स्मरस्य = कामदेवस्य, पञ्चशरी = वाणपञ्चकं, प्रियाकरे = दमयन्तीपाणौ, एव, हैङ्गुलपद्मतूणे = हिङ्गुलरक्तकमलतूणीरे, अस्ति = विद्यते ॥ ७० ॥

अनुवादः—स्वभावसे ही लाल नाखूनोंसे युक्त पाँच उँगलियोंके बहानेसे यह (पुरोवर्ती) एकमात्र कर्तरी नामक मूलप्रदेशवाले सरल ग्रन्थिसे युक्त काम-देवके पाँच बाण, दमयन्तीके हस्तरूप हिङ्गूलसे रँगे गये कमलरूप तरकसमें हैं ॥ ७० ॥

टिप्पणी—रज्यन्नखस्य = रज्यन्तीति रज्यन्तः, "रञ्ज रागे" धातुसे "कुषिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च" इस सूत्रसे कर्मकर्तामें यक् और आत्मनेपद के बदले श्यन् और परस्मैपद । रज + श्यन् + लट् (शतृ) + जस् । रज्यन्तो नखा यस्य, तस्य (बहु०) । अङ्गुलिपञ्चकस्य = अङ्गुलीनां पञ्चकं, तस्य (ष० त०) । हैमैकपुङ्खा = हेम्नो विकारा हैमाः, हेमन् + अण् + जस् । हैमा एके पुङ्खा यस्याः सा (बहु०) । "कर्तरी पुङ्ख" इति यादवः । विशुद्धपर्वा = विशुद्धानि पर्वाणि यस्याः सा (बहु०) 'पर्व' का अर्थ शरके पक्षमें ग्रन्थि (गाँठ) और अङ्गुलिके पक्षमें 'पोर' है । पञ्चशरी = पञ्चानां शराणां समा-हारः (द्विगुः) । प्रियाकरे = प्रियायाः करः, तस्मिन् (ष० त०) । हैङ्गुल-पद्मतूणे = पद्मम् एव तूणम् (रूपक०), हिङ्गुलेन रक्तं हैङ्गुलम्, "तेन रक्तं रागात्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय । हैङ्गुलम् एव पद्मतूणं, तस्मिन् (रूपक०) । इस पद्यमें दमयन्तीके हाथको कामदेवके तरकसके रूपमें और दमयन्तीकी पाँच अङ्गुलियोंको कामदेवके बाणोंके रूपमें वर्णन किया है । इस पद्यमें कैतवाऽप ुति, रूपक और उत्प्रेक्षा इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ७० ॥

अस्याः करस्पर्शनगर्धिऋद्धिर्बालत्वमापत् खलु पल्लवो यः ।
भूयोऽपि नामाऽधरसाम्यगर्वं कुर्वन् कथं वाऽस्तु स न प्रवालः ? ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यः पल्लवः अस्याः करस्पर्शनगर्धिऋद्धिः बालत्वम् आपत् खलु । भूयोऽपि नाम अधरसाम्यगर्वं कुर्वन् स प्रवालः कथं वा न अस्तु ? ।

व्याख्या यः, पल्लवः = किसलयः, अस्याः = दमयन्त्याः, करस्पर्शनगर्धि-ऋद्धिः = हस्तस्पर्द्धाऽभिलाषाऽधिक्यः सन्, बालत्वं=शिशुत्वं नवीनत्वं, मूर्खत्वं च, आपत् = प्राप्तवान्, खलु = निश्चयेन। न्यूनगुणोऽधिकगुणे स्पर्द्धमानो मूर्खो भवतीति भावः। भूयोऽपि = पुनरपि, नाम = किल, अधरसाम्यगर्वम् = ओष्ठसादृश्याऽभिमानं, कुर्वन् = विदधत्, सः=पल्लवः, प्रवालः = प्रवालशब्दवाच्यः, बवयोरभेदात् प्रकर्षेण (आधिक्येन) बालः (मूर्खः), कथं वा = केन प्रकारेण वा, न अस्तु = नो भवतु ? स्यादेवेति भावः। करसादृश्यमप्राप्तवतः पल्लवस्य अधरसादृश्यं दूराऽपास्तमिति भावः ॥ ७१ ॥

अनुवादः--जिस पल्लवने इस (दमयन्ती) के हाथसे स्पर्द्धाके अभिलाषके आधिक्यसे बालत्व (शिशुत्व, नवीनत्व और मूर्खत्व) को प्राप्त कर लिया। फिर भी दमयन्तीके अधरकी समताका गर्व करता हुआ वह प्रवाल (पल्लव वा, 'ब' और 'व' के अभेदसे अत्यन्त मूर्ख) कैसे न होगा? (होगा ही) ॥ ७१ ॥

टिप्पणी – करस्पर्शनगर्धिऋद्धिः = करेण स्पर्शनं (तृ० त०), तत् गृध्नातीति करस्पर्शनगर्द्धिनी, करस्पर्शन-उपपदपूर्वक "गृधु अभिकाङ्क्षायाम्" धातुसे णिनि + ङीप् + सु। तादृशी ऋद्धिः (कान्तिः) यस्य स (बहु०)। "गर्धि + ऋद्धिः" यहाँपर "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव। बालत्वं = "मूर्खेऽर्भकेऽपि बालः स्यात्" इत्यमरः। "अज्ञो भवति वै बालः" इति मनुः (२-१५३)। अधरसाम्यगर्वम् = अधरस्य साम्यं (ष० त०), तस्मिन् गर्वः, तम् (स० त०)। प्रवालः = प्रवालशब्दवाच्य, अथ वा 'ब' और 'व' के अभेदसे प्रकर्षेण बालः (सुप्सुपा०)। रतिसर्वस्वमें—"अधिकतरश्च करादधरः" इस प्रकार करकी अपेक्षा अधरका आधिक्य प्रदर्शित किया है। दमयन्तीके अधरके साथ पल्लवकी समताकी क्या बात है? करसे भी साम्य नहीं हो सकता है। अतः प्रवाल शब्दके पल्लव शब्दमें प्रवृत्तिका निमित्त भी यही है, यह भाव है। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयाऽस्याम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अस्य भवत्करस्य सर्गाय एव सरोजसृष्टिः मम हस्तलेखः, इति धाता हरिणेक्षणायां हस्तलेखीकृतया तया आह किम्? ॥ ७२ ॥

व्याख्या—अस्य = पुरःस्थितस्य, भवत्करस्य = भवत्याः (भैम्याः) करस्य (पाणेः), सर्गाय एव=निर्माणाय एव, सरोजसृष्टिः=कमलनिर्माणं, मम,

हस्तलेख: = रेखाऽभ्यासः, इति = इत्थं, धाता = ब्रह्मा, हरिणेक्षणायां = मृगनयनायां, दमयन्त्यां, हस्तलेखीकृतया = रेखाऽभ्यासीकृतया, तया = सरोज० सृष्टया करणेन, आह किं = ब्रूते किम् ? ॥ ७२ ॥

अनुवाद:– आप (दमयन्ती) के इस हाथके निर्माणके लिए ही कमलकी रचना मेरा रेखाऽभ्यास है, इस प्रकार ब्रह्माजी मृगनयनी दमयन्तीमें रेखाऽभ्यास-के रूपमें प्रस्तुत की गई सरोजसृष्टि ही करणसे दमयन्तीको कहते हैं क्या ? ॥

टिप्पणी – भवत्करस्य = भवत्याः करः, तस्य (ष० त०), "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इससे पुंवद्भाव। सरोजसृष्टिः=सरोजस्य सृष्टिः (ष० त०)। हस्तलेखः = हस्ते लेखः (स० त०)। हरिणेक्षणायां = हरिणस्य इव ईक्षणे यस्याः, तस्याम् (व्यधि० बहु०)। हस्तलेखीकृतया=अहस्तलेखो हस्तलेखो यथा सम्पद्यते तथा कृता, तया, हस्तलेख + च्वि + कृ + क्त + टाप् + टा। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७२ ॥

किं नर्मदाया मम सेयमस्या दृश्याऽभितो बाहुलतामृणाली।
कुचौ किमुत्तस्थतुरन्तरीपे स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः ॥ ७३ ॥

अन्वयः— स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः मम नर्मदायाः अस्याः अभितो दृश्या सा इयं बाहुलतामृणाली किं ? कुचौ अन्तरीपे उत्तस्थतुः किम् ? ॥ ७३ ॥

व्याख्या – स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः = कामसन्तापाऽतिशुष्यच्छैशव-जलायाः, मम, नर्मदायाः = क्रीडाप्रदाया रेवायाश्च, अस्याः = दमयन्त्याः, अभितः = उभयतः, दृश्या = दर्शनीया, सा = प्रसिद्धा, इयं = सन्निकृष्टस्था बाहुलतामृणाली किं = भुजवल्लीबिसलता किं ?, कुचौ = स्तनौ एव, अन्तरीपे = अपाम् अन्तस्तटे, उत्तस्थतुः किम् = उत्थितौ किम् ? ॥ ७३ ॥

अनुवाद:—कामसन्तापसे जिसका बचपनरूप जल अत्यन्त सूख गया है, मुझे क्रीडा देनेवाली वा नर्मदानदीरूप इस (दमयन्ती) के दोनों ओर दर्शनीय यह बाहुलतारूप मृणाललता है क्या ? और दोनों पयोधर जलके भीतर ऊपर उठे हुए दो द्वीप हैं क्या ? ॥ ७३ ॥

टिप्पणी — स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः = स्मरस्य ऊष्मा (ष० त०)। अतिशयेन शुष्यत् शुष्यत्तरम्, शुष्यत् + तरप् + सुः। स्मरोष्मणा शुष्यत्तरम् (तृ० त०), स्मरोष्मशुष्यत्तरं बाल्यम एव वाः यस्याः, तस्याः (बहु०)। "आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि" इत्यमरः। नर्मदायाः = नर्म ददातीति नर्मदा, तस्याः, नर्म + दा + क (उपपद०) + ङस्। दूसरे पक्षमें—"रेवा तु नर्मदा"

इत्यमरः । बाहुलतामृणाली = बाहुः लता इव (उपमित०), सा एव मृणाली (रूपक०) अन्तरीपे = अन्तर्गता आपः ययोस्ते (बहु०) "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इससे ईत्व, "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासान्त अप्रत्यय। "द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम् ।" इत्यमरः । उत्तस्थतुः = उद् + स्था + लिट् + तस् (अतुस्) । इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभाव से सङ्कर अलङ्कार है ॥ ७३ ॥

तालं प्रभु स्यादनुकर्तुमेतावुत्थानसुस्थौ पतितं न तावत् ।
परं च नाऽऽश्रित्य तरुं महान्तं कुचौ कृशाऽङ्ग्याः स्वत एव तुङ्गौ ॥७४॥

अन्वयः—तावत् पतितं तालम् उत्थानसुस्थौ एतौ अनुकर्तुं प्रभु न स्यात्, परं महान्तं तरुम् आश्रित्य स्वत एव तुङ्गौ कृशाङ्ग्याः कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु ॥ ७४ ॥

व्याख्या - तावत्, पतितं = च्युतं, तालवृक्षादिति शेषः, तालं = तालफलम् (कर्तृ), उत्थानसुस्थौ = ऊर्ध्वाऽवस्थानसुप्रतिष्ठौ, एतौ = समीपतरवर्तिनौ, दमयन्तीकुचाविति भावः । अनुकर्तुम् = अनुहर्तुं, प्रभुः = समर्थः, न स्यात् = नो भवेत्, पतिताऽपतितयोः कुतः साम्यमिति भावः । परम् = अन्यत्, अपतितं तालफलमिति भावः । महान्तम् = बृहन्तं, तरुं = वृक्षं, तालवृक्षमिति भावः, आश्रित्य = अवलम्ब्य, तुङ्गं सदपीति शेषः, स्वत एव = आत्मना एव, अन्याऽनाश्रयणेनेति भावः । तुङ्गौ = उन्नतौ, कृशाङ्ग्याः = दमयन्त्याः, कुचौ= पयोधरौ, अनुकर्तुम् = = अनुहर्तुं, न प्रभु = न समर्थम् ॥ ७४ ॥

अनुवादः—गिरा हुआ तालफल उन्नत और प्रतिष्ठित दमयन्तीके स्तनोंकी बराबरी करनेमें समर्थ नहीं होगा। दूसरा—अपतित (बिना गिरा हुआ) तालफल भी ऊँचे तालवृक्षको आश्रय करके रहता हुआ भी स्वतः ऊँचे दमयन्ती-के स्तनोंकी बराबरी करनेके लिए समर्थ नहीं होगा ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—उत्थानसुस्थौ = उत्थानेन सुस्थौ (अपतितौ) तौ (तृ० त०) । अनुकर्तुम् = अनु + कृ + तुमुन् । कृशाऽङ्ग्याः=कृशानि अङ्गानि यस्याः सा कृशाङ्गी, तस्याः (बहु०) । गिरा हुआ तालफल न गिरनेवाले दमयन्तीके स्तनोंकी समता नहीं कर सकता है, बड़े पेड़का आश्रय लेकर रहा हुआ नहीं गिरा हुआ तालफल भी बिना किसी के आश्रयके स्वतः उन्नत दमयन्तीके स्तनोंकी समता नहीं कर सकता है, यह भाव है ॥ ७४ ॥

एतत्कुचस्पर्द्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् ।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाऽजनि कुम्भकारः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—एतत्कुचस्पर्द्धितया ख्यातस्य घटस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् अजनि । (किं च) मणिकादिकारी तस्मात् शिल्पात् कुम्भकार इति प्रसिद्धनामा अजनि ॥ ७५ ॥

व्याख्या—एतत्कुचस्पर्द्धितया = दमयन्तीस्तनस्पर्द्धाशीलत्वेन, ख्यातस्य = प्रसिद्धस्य, लोक इति शेषः घटस्य = कुम्भस्य, शास्त्रेषु = न्यायादिशास्त्रेषु, निदर्शनत्वं = दृष्टान्तत्वम्, अजनि = जातम् । (किञ्च) मणिकादिकारी = अलिञ्जरादिमहाभाण्डनिर्माता कुलालः, तस्मात् = पूर्वोक्तात्, शिल्पात् = घटनिर्माणात्, कुम्भकारः = "कुम्भकार" इत्येवं, प्रसिद्धनामा = प्रख्याताभिधानः, अजनि = जातः ॥ ७५ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके स्तनसे स्पर्द्धा करनेसे प्रसिद्ध घट शब्द न्याय आदि शास्त्रोंमें दृष्टान्तरूप हुआ । मणिक (कुण्डा) आदि महाभाण्डोंका निर्माण करनेवाला कुलाल भी उसी घटनिर्माणरूप शिल्पसे "कुम्भकार" ऐसा प्रख्यात-नामवाला हो गया ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—एतत्कुचस्पर्द्धितया = एतस्याः कुचौ (ष० त०), ताभ्यां स्पर्द्धते तच्छीलः एतत्कुचस्पर्द्धी, एतत्कुच + स्पर्द्ध + णिनि (उपपद०) + सु । तस्य भावस्तत्ता, तया, एतत्कुचस्पर्धिन् + तल् + टाप् + टा । मणिकादिकारी= मणिक आदिर्येषां ते मणिकादयः (बहु०) । "अलिञ्जरः स्यान्मणिक" इत्यमरः । मणिकादीन् करोतीति तच्छीलः, मणिकादि + कृ + णिनि (उपपद०) + सु । कुम्भकारः = कुम्भं करोतीति, कुम्भ + कृ + अण् (उपपद०) + सु । प्रसिद्ध-नामा = प्रसिद्धं नाम यस्य सः (बहु०) । महापुरुषोंके संसर्गके समान उनके साथ सङ्घर्ष करनेसे भी प्रसिद्धि होती है यह भाव है ॥ ७५ ॥

गुच्छाऽऽलयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाऽऽभमुक्ताफलफेनिलाङ्के ।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः ॥ ७६ ॥

अन्वय—माणिक्यहारस्य रोहितश्रीः गुच्छाऽऽलयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभ-मुक्ताफलफेनिलाऽङ्के विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति ॥ ७६ ॥

व्याख्या—मणिक्यहारस्य = माणिक्यमयमुक्तामालायाः, रोहितश्रीः = लोहितकान्तिः, गुच्छाऽऽलयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाऽऽभमुक्ताफलफेनिलाऽङ्के =

हारविशेषाश्रय-निर्मलतमजलबिन्दुसमूहसमकान्तिमौक्तिकफेनयुक्तमध्ये, विदर्भ-सुभ्रूपयोधरे = दमयन्तीकुचे, रोहति=प्रादुर्भवति । मुक्ताहारमाणिक्यहाराभ्यां भैमीकुचौ शोभेते इति भावः ।। ७६ ।।

अनुवाद:—माणिक्यमालाकी लाल कान्ति, गुच्छ (हारविशेष) में रहनेवाले अत्यन्त निर्मल जलबिन्दुओंके सम न कान्तिवाले मोतियोंसे मध्यमें फेन-युक्त के समान दमयन्तीके स्तनमें प्रकट हो रही है ।। ७६ ।।

टिप्पणी माणिक्यहारस्य = माणिक्यानां हारः, तस्य (ष० त०)। हारका अर्थ यहाँपर मुक्तामाला न होकर लक्षणासे मालारूप अर्थ है । रोहित-श्रीः = रोहिता चाऽसौ श्रीः (क० धा०), "लोहितो रोहितो रक्तः" इत्यमरः। गुच्छाऽऽलयेत्यादिः = गुच्छ आलयो येषां तानि (बहु०); अतिशयेन स्वच्छानि स्वच्छतमानि (स्वच्छ + तमप् + जस्)। उदकानां बिन्दवः (ष० त०), तेषां वृन्दम् (ष० त०)। उदबिन्दुवृन्दम् इव आभा येषां तानि (बहु०)। मुक्ताः फलानि इव (उपमित०)। गुच्छालयानि च तानि स्वच्छतमानि (क० धा०)। उदबिन्दुवृन्दाभानि च तानि मुक्ताफलानि (क० धा०), फेनाः सन्ति यस्मिन् सः, "फेनादिलच्च" इससे इलच् । फेनिलः अङ्कः (मध्यः) यस्य सः (बहु०)। गुच्छाऽऽलयस्वच्छतमानि च तानि उदबिन्दुवृन्दाऽऽभमुक्ताफलानि (क० धा०)। तैः फेनिलाऽङ्कः, तस्मिन् (तृ० त०)। विदर्भसुभ्रूपयोधरे=शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः (बहु०)। विदर्भेषु सुभ्रूः (स० त०)। धरतीति धरः, धृञ् + अच् । पयसां धरः (ष० त०)। विदर्भसुभ्रुवाः, पयोधरः, तस्मिन् (ष० त०)। रोहति = रुह + लट् + तिप् । पयोधरका मेघरूप अर्थमें, पयोधरे = मेघमें, रोहितश्रीः = सरल इन्द्रधनुकी शोभा, रोहति = प्रादुर्भूत होती है, यह अर्थ है । इस पद्यमें श्लेप और उपमाकी संसृष्टि है ।। ७६ ।।

निःशङ्कमङ्कोचितपङ्कजाऽयमस्यामुदीतो मुखमिन्दुबिम्बः ।
चित्रं तथाऽपि स्तनकोकयुग्मं न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ।। ७७ ।।

अन्वयः निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजः मुखम् (एव) इन्दुबिम्बः अस्याम् उदीतः, तथाऽपि स्तनकोकयुग्मं स्तोकम् अपि विप्रयोगं न अञ्चति चित्रम् ! ।। ७७ ।।

व्याख्या – निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजः = निःसंशयमुकुलितकमलः, मुखं = वदनम् एव, इन्दुबिम्बः = चन्द्रमण्डलम्, अस्यां = दमयन्त्याम्, उदीतः = उदितः, तथाऽपि = इन्दूदयेऽपि, स्तनकोकयुग्मं = कुचचक्रवाकयुगलं, स्तोकम्

अपि = अल्पम् अपि, विप्रयोगं = मिथो विरहं, न अञ्चति = नो गच्छति, चित्रम् = आश्चर्यम् ॥ ७७ ॥

अनुवादः—निःशङ्क रूपसे कमलको मुकुलित करनेवाला मुखरूप चन्द्र-मण्डल दमयन्तीमें उदित हुआ है, तो भी स्तनरूप दो चक्रवाक (चकवा और चकवी) अल्प भी वियोगको प्राप्त नहीं करते हैं, आश्चर्य है ! ॥ ७७ ॥

टिप्पणी - निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजः=निर्गता शङ्का यस्मिस्तत् (बहु०)। निःशङ्कं (यथा तथा) सङ्कोचितानि (सुप्सुपा०), निःशङ्कसङ्कोचितानि पङ्कजानि येन सः (बहु०)। इन्दुबिम्बः = इन्दोः बिम्बः (ष० त०)। स्तनकोकयुग्मं = कोकी च कोकश्च कोकौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष। "कोकश्चक्रश्चक्रवाकः" इत्यमरः। स्तनौ एव कोकौ (रूपक०), तयोर्युग्मम् (ष० त०)। अञ्चति = अञ्च + लट् + तिप्। दमयन्तीके मुखचन्द्रके उदयसे कमल निमीलित हुआ है ठीक है, परन्तु चन्द्रोदय होनेपर भी स्तनरूप चक्रवाक-मिथुन में जो विरह नहीं है वह आश्चर्य है, यह भाव है। इस पद्यमें मुखरूप चन्द्रके उदय में भी कुचरूप कोकपक्षियोंका वियोग नहीं है, इस प्रकार रूपक और विरोधाऽऽभासका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीरादीयतेऽसावनयोः क्व ताभ्याम्।
भयेन गोपायितमौक्तिकौ तौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमौ यत् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—आभ्यां कुचाभ्याम् इभकुम्भयोः श्रीः आदीयते, ताभ्याम् अनयोः असौ श्रीः क्व आदीयते ? यत् तौ भयेन गोपायितमौक्तिकौ, इमौ प्रव्यक्त-मुक्ताऽऽभरणौ ॥ ७८ ॥

व्याख्या—आभ्यां = निकटवर्तिभ्यां, कुचाभ्यां = दमयन्त्याः स्तनाभ्याम्, इभकुम्भयोः = हस्तिमस्तकपिण्डयोः, श्रीः = शोभा सम्पत्तिश्च, आदीयते = गृह्यते, परं ताभ्याम् = इभकुम्भाभ्याम्, अनयोः = भैमीकुचयोः, असौ = प्रसिद्धा, श्रीः = शोभा सम्पत्तिश्च, क्व = कुत्र, आदीयते। यत् = यस्मात्का-रणात्, तौ = इभकुम्भौ, भयेन = भीत्या, गोपायितमौक्तिकौ = अन्तर्गुप्त-मुक्ताफलौ, इमौ = निकटवर्तिनौ दमयन्तीकुचौ तु, प्रव्यक्तमुक्ताऽऽभरणौ = प्रकाशितमौक्तिकाऽलङ्कारौ। दमयन्तीपयोधरौ हस्तिकुम्भाभ्यामप्यधिकमनो-हराविति भावः ॥ ७८ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके स्तन हाथीके मस्तकपिण्डोंकी शोभा और सम्पत्तिको ले लेते हैं, हाथी के कुम्भ (मस्तकपिण्ड) दमयन्तीके स्तनोंकी शोभा और

संपत्तिको कहाँ लेते हैं ? क्योंकि हाथीके मस्तकपिण्ड अपहरणके भयसे अपने मोतियोंको छिपाते हैं और दमयन्तीके स्तन अपने मोतियों के अलङ्कारोंको प्रकाशित करते हैं ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—इभकुम्भयोः = इभस्य कुम्भौ, तयोः (ष० त०)। "कुम्भौ तु पिण्डौ शिरसः" इत्यमरः। आदीयते = आङ्+दा+लट् (कर्ममें)+त। भयेन = हेतुमें तृतीया। गोपायितमौक्तिकौ = गोपायितं मौक्तिकं याभ्यां तौ (बहु०)। प्रव्यक्तमुक्ताऽभरणौ = मुक्ताया आभरणम् (ष० त०)। प्रव्यक्तं मुक्ताऽभरणं याभ्यां तौ (बहु०)। जैसे राजासे हृतधन पुरुष अवशिष्ट धनको छिपाता है, राजा तो प्रकाशित करता है यह भाव है। इस पद्यमें व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ ७८ ॥

कराऽग्रजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत्कुचौ चेत्।
सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जातं वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—कराऽग्रजाग्रच्छतकोटिः ययोः अर्थी, तौ इमौ कुचौ वटीम् अपि लब्धुं न जातं सर्वं श्रीफलं तुलयेत् चेत्, तदा उन्मदिष्णु (स्यात्) ॥ ७९ ॥

व्याख्या—कराऽग्रजाग्रच्छतकोटिः = हस्ताऽग्रप्रकाशमानवज्रः, महेन्द्र इति भावः, पक्षान्तरे हस्ताऽग्रविद्यमानशतकोटि द्रव्यः, ययोः = दमयन्तीकुचयोः अर्थी = याचकः, तौ = तादृशौ, इमौ = विद्यमानौ, कुचौ = स्तनौ (कर्मभूतौ), वटीम् अपि = क्षुद्रकपर्दिकाम् अपि, लब्धुं = प्राप्तुं, न जातं = न उत्पन्नं, निःस्वमिति भावः। सर्वं = सकलं, श्रीफलं = बिल्वफलं (कर्तृ), तुलयेत् चेत्= समीकुर्यात् चेत्, साम्याऽभिलाषि भवेच्चेदिति भावः। तदा = तर्हि, उन्मदिष्णु = उन्मादयुक्तं, स्यादिति शेषः। उपमाऽतीते वस्तुनि उपमात्वाऽभिमानस्तथा धनिकमात्रलभ्ये वस्तुनि निःस्वस्य लिप्सा चोन्माद एवेति भावः ॥ ७९ ॥

अनुवादः—हाथमें वज्र लेनेवाले अथवा हाथमें सौ करोड़ द्रव्यवाले इन्द्र दमयन्तीके जिन स्तनोंके याचक हैं वैसे इन कुचोंको क्षुद्र कौड़ीको भी पानेके लिए असमर्थ गरीब समस्त बेलका फल बराबरी करेगा तो उन्मत्त (पागल) होगा ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—कराऽग्रजाग्रच्छतकोटिः = करस्य अग्रं (ष० त०), तस्मिन् जाग्रत् (स० त०)। शतं कोटयः (धाराः) यस्य सः (बहु०)। "शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः।" इत्यमरः। कराऽग्रजाग्रत् शतकोटिः यस्य सः

(बहु०)। अथ वा–शतं चाऽसौ कोटिः (क० धा०)। कराग्रे जाग्रती (स० त०)। कराऽग्रजाग्रती शतकोटिः यस्य सः (बहु०)। अर्थी=अर्थ+इनि+सु। वटीम्=अल्पः वटः, वटी ताम्, अवयवाऽपचयविवक्षामें "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष्। "वटः कपर्दे न्यग्रोधः" इति विश्वः। "स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादि-विवक्षाऽपचये यदि।" इत्यमरः। सर्वम् = दमयन्तीके दो कुचोंकी समता समस्त बेल फल भी नहीं कर सकते, एककी क्या बात? अथवा सर्वम् = पकनेसे परिपूर्ण भी बिल्वफल समता नहीं कर सकता यह भाव है। उन्मदिष्णुः = उन्मदनशीलम्, उद्–उपसर्गपूर्वक "मदी हर्षे" धातुसे "अलङ्कृञ्०" इत्यादि सूत्रसे इष्णुच्। "उन्मदस्तून्मदिष्णुः स्यात्" इत्यमरः। अपनेसे तुलना न हो सकनेवाली उत्कृष्ट वस्तुसे तुलनाका अभिमान करना और केवल धनीसे प्राप्य वस्तुके पानेकी लालसा भी उन्माद ही है यह अभिप्राय है। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ७९ ॥

स्तनाऽतटे चन्दनपङ्किलेऽस्या जातस्य यावद्युवमानसानाम्।
हाराऽऽवलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति स्खलनस्य रेखाः ॥ ८० ॥

अन्वयः—चन्दनपङ्किले अस्याः स्तनाऽतटे जातस्य यावद्युवमानसानां स्खलनस्य रेखाः हाराऽऽवलीरत्नमयूखधाराकाराः (सत्यः) स्फुरन्ति ॥ ८० ॥

व्याख्या—चन्दनपङ्किले = श्रीखण्डद्रवपङ्कयुक्ते, अस्याः = दमयन्त्याः, स्तनाऽतटे = कुचप्रपाते, "स्तनाऽवटे" इति नारायणपण्डितसम्मतः पाठस्तस्य कुचगर्ते इत्यर्थः। जातस्य = निष्पन्नस्य, यावद्युवमानसानां = सर्वतरुणाऽन्तः-करणानां, स्खलनस्य = पतनस्य, रेखाः = पतनमार्गाः, हाराऽऽवलीरत्नमयूखधारा-ऽऽकाराः = मुक्तावलिमणिकिरणपङ्क्तिस्वरूपाः सत्यः, स्फुरन्ति = प्रतिभासन्ते। नेमा रत्नमयूखधाराः किन्तु पतनरेखा इति प्रतीयन्त इति भावः ॥ ८० ॥

अनुवादः—चन्दनके द्रवसे पङ्कयुक्त दमयन्तीके कुचके ढालमें समस्त तरुण पुरुषोंके अन्तःकरणके पतनकी रेखाएँ मोतियोंकी मालाकी रत्नकिरणोंके पङ्क्ति-स्वरूप होती हुई शोभित हो रही हैं ॥ ८० ॥

टिप्पणी—चन्दनपङ्किले = चन्दनेन पङ्किलः, तस्मिन् (तृ० त०), स्तनाऽतटे = स्तनस्य अतटः, तस्मिन् (ष० त०), "प्रपातस्त्वतटो भृगुः" इत्यमरः। यावद्युवमानसानां = यूनां मानसानि युवमानसानि (ष० त०)। यावन्ति च तानि युवमानसानि, तेषाम् (क० धा०)। हाराऽऽवलीरत्नमयूख-धाराऽऽकाराः = हाराणाम् आवली (ष० त०) तस्यां रत्नानि (स० त०),

तेषां मयूखाः (ष० त०)। तेषां धाराः (ष० त०), ता एव आकारा यासां ताः (बहु०)। दमयन्तीके कुचोंमें हारावलीके रत्नोंकी किरणपङ्क्तियाँ दमयन्ती के कुचोंके प्रपात (ढाल) में तरुण पुरुषोंके अन्तःकरणोंके पतनकी रेखाओंके सदृश शोभित हो रही हैं यह भाव है। इस पद्यमें रत्नकिरणोंकी धाराओंमें तरुण जनोंके चित्तके पतनकी रेखाकी उत्प्रेक्षा की गई है ॥ ८० ॥

क्षीणेन मध्येऽपि सतोदरेण यत्प्राप्यते नाऽऽक्रमणं बलिभ्यः ।
सर्वाऽङ्गशुद्धौ तदनङ्गराज्ये विजृम्भितं भीमभुवीह चित्रम् ॥ ८१ ॥

अन्वयः — इह भीमभुवि क्षीणेन मध्ये सता अपि उदरेण बलिभ्य आक्रमणं न प्राप्यते इति यत्, तत् चित्रम्। सर्वाऽङ्गशुद्धौ अनङ्गराज्ये विजृम्भितं तत् (चित्रम्) ॥ ८१ ॥

व्याख्या - इह = अस्यां, भीमभुवि = दमयन्त्यां, भयङ्करस्थाने च, क्षीणेन= कृशेन दुर्बलेन च, मध्ये = अवलग्ने, प्रबलशत्रुमध्ये च, सता अपि = वसता अपि, उदरेण = जठरेण त्रिवल्यधोभागेन, बलिभ्यः, = त्रिवलिभ्यः वबयोरभेदात् बलवद्भ्यश्च, आक्रमणम् = अभिव्याप्तिः अभिभवश्च, न प्राप्यते = न आसाद्यते, इति यत्, तत् = अनाक्रमणं, चित्रम् = आश्चर्यं, बलिसमीपे दुर्बलस्याऽनाक्रमणं चित्रमित्यर्थः। किञ्च सर्वाऽङ्गशुद्धौ = करचरणाऽदिसकलाऽङ्गशुद्धौ, स्वाम्यमात्यादिसर्वराज्याङ्गशुद्धौ च सत्याम्, अनङ्गराज्ये = अङ्गहीनराज्ये, कामराज्ये च, विजृम्भितं = विलसितं, तत् = अन्यत्, चित्रम् = आश्चर्यम् ॥ ८१ ॥

अनुवादः—इस भीमभू (दमयन्ती) में अथ वा भयानक भूमिमें, क्षीण (कृश अथवा दुर्बल) होकर मध्य (कमर वा प्रबल शत्रुके बीच) में रहते हुए भी उदर (त्रिवलियोंके अधोभागस्थ) ने जो तीन वलि (उदररेखाओं) से अथवा व और बके अभेदमें बलसम्पन्नोंसे आक्रमण (अभिव्याप्ति) वा पीडाको जो प्राप्त नहीं किया, वह आश्चर्य है। सर्वाङ्गोंकी (कर, चरण आदि संपूर्ण अङ्गोंकी) वा (स्वामी, अमात्य आदि सब राज्याङ्गोंकी) शुद्धि होनेपर अनङ्ग (कामदेव वा अङ्गहीन) के राज्यमें जो विलास है वह दूसरा आश्चर्य है ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—भीमभुवि = भीमात् भवतीति भीमभूः, तस्यां भीम + भू + क्विप् (उपपद०) + ङि। दमयन्तीमें अथ वा भीमा चाऽसौ भूः, तस्याम् (क० धा०), भयानक भूमिमें। वलिभ्यः = तीन वलियों (उदररेखाओं) से, 'ब' और 'व' का भेद न होनेसे, बलसम्पन्न जनोंसे। "करोपहारयोः पुंसि बलिः, प्राण्यङ्गजे स्त्रियाम्।" इत्यमरः। सर्वाऽङ्गशुद्धौ = सर्वाणि च तानि अङ्गानि

(करचरणादीनि, स्वाम्यमात्यादीनि च) सर्वाङ्गानि (क० धा०) तेषां शुद्धिः, तस्याम् (ष० त०)। अनङ्गराज्ये = अनङ्गस्य राज्यं, तस्मिन् (ष० त०) कमरसे क्षीण दमयन्तीके उदरमें तीन वलियोंने जो आक्रमण अर्थात् अभिव्याप्ति नहीं की, वह कर चरण आदि सब अङ्गोंमें शुद्धि (निर्दोषता) में कामदेव के राज्यका विलास है। दूसरा अर्थ—भयानक भूमिमें और प्रबल शत्रुओंके बीचमें रहा हुआ दुबल पुरुष भी बलवान् शत्रुओंसे जो अभिभव नहीं पाता है वह स्वामी, अमात्य आदि संपूर्ण अङ्गोंकी शुद्धि होनेपर अङ्गहीनका जो विलास है वह दूसरा आश्चर्य है। इस पद्य में वाच्य और प्रतीयमानमें अभेदका अध्यवसाय होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है।' ८१ ॥

मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमंशम् ।
केन स्तनौ सम्प्रति यौवनेऽस्याः सृजेदनन्यप्रतिमाऽङ्गदीप्तेः ॥ ८२ ॥

अन्वयः वेधा इदमीयं मध्यं तनूकृत्य कमनीयम् अंश न दध्यात् यदि सम्प्रति यौवने अनन्यप्रतिमाऽङ्गदीप्तेः अस्याः स्तनौ केन सृजेत् ॥ ८२ ॥

व्याख्या वेधाः=ब्रह्मा, इदमीयम्= एतदीयं, दमयन्तीसम्बन्धीति भावः, मध्यम् = अवलग्नं, तनूकृत्य = अतिकृशं कृत्वा कमनीयं = रमणीयम्, अंशं= भागं, न दध्यात् यदि = क्वचिन्न स्थापयेत् चेत्, सम्प्रति = अधुना, यौवने= तारुण्ये, अनन्यप्रतिमाऽङ्गदीप्तेः = असाधारणदेहकान्तेः, अस्याः = दमयन्त्याः, स्तनौ = कुचौ केन = अंशेन प्रकारेण वा, सृजेत् = उत्पादयेत्। दमयन्त्या मध्यभागसारेण विधाता तस्याः कुचौ निर्मितवानिति भावः ॥ ८२ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी इस (दमयन्ती) की कमरको पतली करके उसके रमणीय भागको कहींपर नहीं रखते तो इस समय जवानीमें असाधारण शरीर-कान्तिवाली दमयन्तीके स्तनोंको किस भागसे वा कैसे बनाते ? ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—इदमीयम् = अस्या इदं, तद्, इदम् + छ (ईय) + अम्। तनूकृत्य = अतनुतनु यथा संपद्यते तथा कृत्वा, तनु + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। दध्यात् = धा + विधिलिङ् + तिप्। अनन्यप्रतिमाङ्गदीप्तेः= अन्यस्य प्रतिमा (ष० त०)। अङ्गानां दीप्तिः (ष० त०)। अविद्यमाना अन्य प्रतिमा यस्याः सा (नञ्बहु०)। अनन्यप्रतिमा अङ्गदीप्तिर्यस्याः सा, तस्याः (बहु०)। सृजेत् = सृज + विधिलिङ् + तिप्। उदरसे निकाले गये श्रेष्ठ भागसे ब्रह्माजीने दमयन्तीके स्तनोंका निर्माण किया है क्या ? इसमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८२ ॥

गौरीव पत्या सुभगा कदाचित् कर्त्रीयमप्यर्धतनूसमस्याम् ।
इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमाऽऽवलीमेचकसूत्रमस्याः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—सुभगा इयं कदाचित् गौरी इव पत्या अर्धतनूसमस्यां कर्त्री इति विधाता अस्या मध्ये रोमाऽऽवलीमेचकसूत्रं निदधे इव ॥ ८३ ॥

व्याख्या—सुभगा = सौभाग्यवती, इयं = दमयन्ती, कदाचित् = जातुचित् गौरी इव = पार्वती इव, पत्या = भर्त्रा सह, अर्धतनूसमस्याम् = अर्द्धाऽङ्ग-संघट्टनां, कर्त्री = विधात्री, इति = एवं, मत्वेति शेषः । विधाता = ब्रह्मा, अस्याः = दमयन्त्याः मध्ये = अर्द्धाङ्गमध्ये, रोमाऽऽवलीमेचकसूत्रं = लोमाऽऽवलीरूपसीमानिर्णयनीलसूत्रं, निदधे इव = निहितवान् किम् ? ॥ ८३ ॥

अनुवादः—"सौभाग्यवती यह (दमयन्ती) कभी पार्वतीके सदृश पतिके साथ आधे शरीर को संघटित करेगी" ऐसा विचार कर ब्रह्माजीने इसके आधे अङ्गके बीचमें सीमानिर्णयके लिए रोमावलीरूप नीलसूत्रको मानों रख दिया है ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—सुभगा = शोभनं भगं (भाग्यम्) यस्याः सा (बहु०)। पत्या= "सह" का अर्थ गम्यमान होनेसे भी तृतीया । अर्द्धतनूसमस्याम् = अर्धं चाऽसौ तनूः (क० धा०), तस्याः समस्या, ताम् (ष० त०) । रोमावलीमेचकसूत्रं - रोम्णाम् आवली (ष० त०) । मेचकं च तत् सूत्रम् (क० धा०) । रोमावली एव मेचकसूत्रं, तत् (रूपक०) । निदधे = नि + धाञ् + लिट् + त । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

रोमाऽऽवलीरज्जुमुरोजकुम्भौ गम्भीरमासाद्य च नाभिकूपम् ।
मद्दृष्टितृष्णा विरमेद्यदि स्यान्नैषां बतैषा सिचयेन गुप्तिः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—मद्दृष्टितृष्णा रोमावलीरज्जुम् उरोजकुम्भौ गम्भीरं नाभिकूपम् आसाद्य (तदा) विरमेत् एषाम् एषा सिचयेन गुप्तिः न स्यात् यदि बत ! ॥८४॥

व्याख्या—मद्दृष्टितृष्णा = मद्दर्शनपिपासा, रोमाऽऽवलीरज्जुं = लोमावलीरश्मिम्, उरोजकुम्भौ=पयोधरकलशौ, गम्भीरं =गभीरं, नाभिकूपं=नाभ्युदपानम्, आसाद्य = लब्ध्वा, (तदा) विरमेत = शाम्येत्, अमीभिरुपायैर्लावण्याऽमृतमुद्धृत्य सुष्ठु पीत्वेति भावः । एषां = साधनानां रोमावल्यादीनामिति भावः । एषा = इयं, सिचयेन = वस्त्रेण, गुप्तिः = छादनं, न स्यात् यदि = नो भवेत् चेत् । बत इति खेदे ॥ ८४ ॥

अनुवादः—मेरी दर्शनपिपासा दमयन्तीकी रोमपङ्क्तिरूप रज्जुको, स्तनरूप कलशोंको और गम्भीर नाभिरूप कुएँको प्राप्त कर तब शान्त होगी जब इन रोमावली आदि साधनोंका यह वस्त्रसे आच्छादन न हो तो, हाय ! ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—मद्दृष्टितृष्णा = मम दृष्टिः (ष० त०), तस्याः तृष्णा (ष० त०)। रोमाऽऽवलीरज्जुं = रोम्णाम् आवली (ष० त०), सा एव रज्जुः, (रूपक०), ताम् । उरोजकुम्भौ = उरोजौ एव कुम्भौ (रूपक०) तौ नाभिकूपं = नाभिरेव कूपः (रूपक०), तम् । विरमेत = वि + रम् + लिङ् + तिप्' "व्याङ्परिभ्यो रमः" इससे परस्मैपद । सिचयेन = "वस्त्रं तु सिचयः पटः" इति हलायुधः । गुप्तिः = गुप् + क्तिन् + सु । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

उन्मूलिताऽऽलानबिलाऽऽभनाभिश्छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा ।
मत्तस्य सेयं मदनद्विपस्य प्रस्वापवप्रोच्चकुचाऽस्तु वास्तु ॥ ८५ ॥

अन्वयः—उन्मूलिताऽऽलानबिलाऽऽभनाभिः छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा प्रस्वापवप्रोच्चकुचा सा इयं मत्तस्य मदनद्विपस्य वास्तु अस्तु ॥ ८५ ॥

व्याख्या—उन्मूलिताऽऽलानबिलाभनाभिः = उत्पाटितस्तम्भगर्तसदृशनाभिः, छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा = त्रुटितपतच्छृङ्खललोमाऽऽवलिः, प्रस्वापवप्रोच्चकुचा = निद्राऽर्हमृत्कूटोन्नतस्तना, सा = प्रसिद्धा, इयं = दमयन्ती, मत्तस्य = मदयुक्तस्य, मदनद्विपस्य = कामरूपगजस्य । वास्तु = वसतिगृहम्, अस्तु = भवतु ॥ ८५ ॥

अनुवादः—उखाड़े गये बन्धनस्तम्भ (खूँटे) के छेदके समान गहरी नाभिवाली, छिन्न और गिरी हुई शृङ्खला (जञ्जीर) के समान रोमपङ्क्तिवाली, हाथीके सोनेके लिए बनायी गयी ऊँची मिट्टीके ढेरोंके सदृश ऊँचे स्तनोंसे युक्त यह (दमयन्ती) मतवाले कामरूपी हाथीका वासस्थान हो जाय ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—उन्मूलिताऽऽलानबिलाऽऽभनाभिः = उन्मूलितं च तत् आलानं (क० धा०), तस्य बिलम् (ष० त०)। उन्मूलिताऽऽलानबिलस्य इव आभा यस्याः सा (व्यधि० बहु०), तादृशी नाभिर्यस्याः सा (बहु०)। छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा = रोम्णां दाम (ष० त०), छिन्नं स्खलत् शृङ्खलम् इव रोमदाम यस्याः सा (बहु०)। प्रस्वापवप्रोच्चकुचा = प्रस्वापस्य वप्रौ (ष० त०), तौ इव उच्चौ कुचौ यस्याः सा (बहु०)। मत्तस्य = मद् + क्त + ङस् । मदनद्विपस्य = मदन एव द्विपः, तस्य (रूपक०)। दमयन्तीकी नाभि अतिशय

गम्भीर, रोमावली लम्बी और कुच बहुत ही उन्नत हैं यह भाव है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८५ ॥

रोमाऽऽवलिभ्रू कुसुमैः स्वमौर्वीचापेषुभिर्मध्यललाटमूर्ध्नि ।
व्यस्तैरपि स्थास्नुभिरेतदीयैर्जैत्रः स चित्रम रतिजानिवीरः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—स रतिजानिवीरः मध्यललाटमूर्ध्नि व्यस्तैः स्थास्नुभिः एतदीयैः रोमाऽऽवलिभ्रूकुसुमैः (एव) स्वमौर्वीचापेषुभिः जैत्रः, चित्रम् ॥ ८६ ॥

व्याख्या—सः = प्रसिद्धः, रतिजानिवीरः = कामवीरः, मध्यललाटमूर्ध्नि = मध्यभागे भाले शिरसि च, व्यस्तैः = असम्बद्धैः, स्थास्नुभिः = स्थायिभिः, एतदीयैः = दमयन्तीसम्बन्धिभिः, रोमाऽऽवलिभ्रूकुसुमैः = लोमपङ्क्तिनेत्रलोमपुष्पैः, एव स्वमौर्वीचापेषुभिः = निजज्याकार्मुकबाणैः, जैत्रः = जयशीलः, चित्रम् = आश्चर्यम् । भिन्नदेशस्थैरपि चापादिभिः साधनैः कामो विजयत इत्याश्चर्यमिति भावः ॥ ८६ ॥

अनुवादः—प्रसिद्ध कामवीर मध्यभाग (कमर) में, ललाटमें और शिरमें अलग-अलग रहे हुए दमयन्तीकी रोमपङ्क्ति, भौंहों और पुष्परूप अपने प्रत्यञ्चा, धनु और बाणोंसे जयशील हो रहा है। आश्चर्य है ! ॥ ८६ ॥

टिप्पणी रतिजानिवीरः = रतिर्जाया यस्य सः रतिजानिः (बहु०), "जायाया निङ्" इस सूत्रसे निङ् आदेश। रतिजानिश्चाऽसौ वीरः (क० धा०) मध्यललाटमूर्ध्नि = मध्यं च ललाटं च मूर्धा च मध्यललाटमूर्धं, तस्मिन्, (प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः)। स्थास्नुभिः = तिष्ठन्तीति स्थास्नूनि तैः 'स्था' धातुसे "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इससे ग्स्नु प्रत्यय। एतदीयैः = एतस्या इमानि एतदीयानि, तैः, एतद् + छ (ईय) + भिस्। रोमाऽऽवलिभ्रूकुसुमैः = रोम्णाम् आवलिः (ष० त०)। रोमाऽऽवलिश्च भ्रुवौ च कुसुमानि च, तैः (द्वन्द्व०)। स्वमौर्वीचापेषुभिः = मौर्वी च चापं च इषवश्च मौर्वीचापेषवः (द्वन्द्व०) स्वे च ते मौर्वीचापेषवः, तैः (कर्म०)। जैत्रः = जयशीलो जेता, जि + तृन् + सु। जेता एव जैत्रः, 'जेतृ' शब्दसे "प्रज्ञादिभ्यश्च" इस सूत्र से स्वार्थमें अण्। अन्य धनुर्धारी एक ही स्थानमें रहे हुए प्रत्यञ्चा, धनु और बाणोंसे जयलाभ करता है परन्तु कामवीर दमयन्ती की कमरमें स्थित रोमावलीरूप प्रत्यञ्चासे दमयन्तीके भाल स्थित भौंहेंरूप धनुसे और दमयन्तीके शिरमें रहे हुए फूलरूप बाणोंसे विजयी हो रहा है यह आश्चर्य है। अत एव विरूपोंकी संघटना होनेसे विषम अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अस्याः खलुग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् ।
स्मरप्रशस्ती रजताक्षरेयं पृष्ठस्थलीहाटकपट्टिकायाम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः— अस्याः पृष्ठस्थलीहाटकपट्टिकायां ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्ब प्रतिबिम्बवेशात् इयं रजताऽक्षरा स्मरप्रशस्तिः खलु ॥ ८७ ॥

व्याख्या—दमयन्त्याः पृष्ठस्थलीं वर्णयति – अस्या इति । अस्याः = दमयन्त्याः । पृष्ठस्थलीहाटकपट्टिकायां = कायपश्चाद्भागसुवर्णफलके, ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् = बन्धसयतकचमल्लीपुष्पसमूहप्रतिच्छायाप्रवेशात्, इयम् = एषा, रजताऽक्षरा = रूप्यमयवर्णा, स्मरप्रशस्तिः = कामवर्णना, खलु = निश्चये ।

अनुवाद—दमयन्ती की पीठरूप सुवर्णपट्टिकामें गाँठसे बँधे हुए केशोंमें मल्लिकापुष्पोंके प्रतिबिम्बोंके प्रवेशसे यह रजताक्षरसे लिखी गई कामदेवकी प्रशस्ति है क्या ? ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—पृष्ठस्थलीहाटकपट्टिकायां = पृष्ठस्य स्थली (ष० त०) "पृष्ठं तु चरमं तनोः" इत्यमरः । हाटकस्य पट्टिका (ष० त०) । पृष्ठस्थली एव हाटकपट्टिका (रूपक०), तस्याम् । ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् = ग्रन्थिना निबद्धाः, (तृ० त०), ते च ते केशाः (कर्मधा०) । मल्लीनां कदम्बं (ष० त०) । ग्रन्थिनिबद्धकेशेषु मल्लीकदम्बं (स० त०) तस्य प्रतिबिम्बः (ष० त०), तस्य वेशः (प्रवेशः), तस्मात् (ष० त०) । रजताऽक्षरा = रजतस्य अक्षरा यस्यां सा (व्यधिकरणबहु०) । स्मरप्रशस्तिः = स्मरस्य प्रशस्तिः (ष० त०) । दमयन्तीका पृष्ठभाग सुवर्णपट्टिकास्वरूप है, उसमें प्रतिबिम्बित केशपाशस्थित मल्लिकापुष्प मानों चाँदीके अक्षरोंसे लिखित कामदेवकी प्रशस्तिवर्णावलीके सदृश शोभित हो रहे हैं, इस प्रकार यहाँपर उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

चक्रेण विश्वं यदि मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्यमुना नितम्बद्वयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥ ८८ ॥

अन्वयः—मत्स्यकेतुः सुदर्शनेन पितुः चक्रेण विश्वं जितं वीक्ष्य यदि अमुना दुर्लभदर्शनेन नितम्बद्वयेन जगत् जिगीषति किम् ? ॥ ८८ ॥

व्याख्या–पद्यद्वयेन दमयन्त्या नितम्बं वर्णयति—चक्रेणेति । मत्स्यकेतुः = कामः, सुदर्शनेन = सुदर्शनाख्येन सुलभदर्शनेन च, पितुः = जनकस्य विष्णोरिति भावः, चक्रेण = चक्राकारेण आयुधविशेषेण, विश्वं = जगत् , जितं = पराजितं

वीक्ष्य = दृष्ट्वा, यदि = किल, अमुना = एतेन, नितम्बद्वयेन = दमयन्त्याः कटिपश्चाद्भागद्वितयेन चक्रेण, जगत् = विश्वं, जिगीषति किं = जेतुमिच्छति किम् ? ॥ ८८ ॥

अनुवादः—कामदेव पिता विष्णुके सुदर्शन (सुदर्शन नामवाले वा सुलभ दर्शनवाले) चक्रसे संसारको जीता हुआ देखकर इस दुर्लभ दर्शनवाले दमयन्तीके नितम्बद्वययुक्त चक्रसे जगत्को जीतनेकी इच्छा करता है क्या ? ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—मत्स्यकेतुः = मत्स्यः केतुः (ध्वजचिह्नम्) यस्य सः (बहु०) । सुदर्शनेन = "चक्रं सुदर्शनम्" इत्यमरः । अथ वा सुलभं दर्शनं यस्य तत्, तेन (बहु०) । दुर्लभदर्शनेन=दुर्लभं दर्शनं यस्य तत्, तेन (बहु०) । नितम्बद्वयेन= नितम्बयोर्द्वयं, तेन (ष० त०) । जिगीषति = जेतुम् इच्छति, जि+सन्+ लट्+तिप् । "सन्लिटोर्जेः" इस सूत्रसे कुत्व । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

रोमाऽऽवलीदण्डनितम्बचक्रे गुणं च लावण्यजलं च बाला ।
तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्बिभर्ति शङ्के सहकारिचक्रम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—बाला तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुः रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणं लावण्यजलं सहकारिचक्रं च बिभर्ति (इति) शङ्के ॥ ८९ ॥

व्याख्या—बाला = तरुणी दमयन्ती, तारुण्यमूर्तेः = यौवनस्वरूपस्य, कुच-कुम्भकर्तुः = स्तनकलशनिर्मातुः, कुम्भकारस्य । रोमाऽऽवलीदण्डनितम्बचक्रे = लोमपङ्क्तिरूप दण्ड, कटिपश्चाद्भागरूप चक्रे ! गुणम् = सौन्दर्यादिम् एव गुणम् (सूत्रम्), लावण्यजलं-लावण्यं = सौन्दर्यम् एव जलम् = अम्बु, एतत् सहकारिचक्रं च = सहकारिकारणसमूहं च, बिभर्ति = धारयति, (इति=एवम्) शङ्के = मन्ये ॥ ८९ ॥

अनुवादः—तरुणी दमयन्ती तारुण्यस्वरूप कुचरूप कुम्भोंको बनानेवाले कुम्भकार (कुम्हार) के लिए रोमपङ्क्तिरूप दण्ड, नितम्बरूपचक्र (चाक), सौन्दर्यादि गुणरूप गुण (सूत्र) और लावण्यरूप जल इन सहकारिकारणोंके समूहको मानों धारण करती है ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—तारुण्यमूर्तेः = तारुण्यम् एव मूर्तिः (स्वरूपम्) यस्य सः, तस्य (बहु०) । कुचकुम्भकर्तुः = कुचौ एव कुम्भौ (रूपक०), तयोः कर्ता, तस्य (ष० त०) । रोमाऽऽवलीदण्डनितम्बचक्रे = रोम्णाम् आवली (ष० त०), रोमावली एव दण्डः (रूपक०) । नितम्ब एव चक्रम् (रूपक०) । रोमावली-

दण्डश्च नितम्बचक्रं च, ते (द्वन्द्व०)। गुणं = गुणः (सौन्दर्यादिः) एव गुणः (सूत्रम्), तम्, यहाँपर श्लिष्ट रूपक है। लावण्यजलं=लावण्यम् एव जलं, तत् (रूपक०)। सहकारिचक्रं = सह कुर्वन्तीति सहकारिणः, सह + कृ + णिनि + (उप०), जस्। सहकारिणां चक्रं, तत् (ष० त०)। इस पद्यमें रूपक, श्लेष और उत्प्रेक्षा इनका सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८९ ॥

अङ्गेन केनाऽपि विजेतुमस्या गवेष्यते किं चलपत्त्रपत्त्रम्।
नो चेद्विशेषादितरच्छदेभ्यस्तस्याऽस्तु कम्पस्तु कुतो भयेन ? ॥ ९० ॥

अन्वयः—अस्याः केनाऽपि अङ्गेन चलपत्त्रपत्त्रं विजेतुं गवेष्यते किम् ? नो चेत् तस्य कुतो भयेन इतरच्छदेभ्यः विशेषात् कम्पस्तु अस्तु ? ॥ ९० ॥

व्याख्या– दमयन्त्या वराङ्गं वर्णयति—अङ्गेनेति। अस्याः = दमयन्त्याः, केन अपि = वक्तुम् अशक्येन, सौन्दर्याऽतिशयात् ग्राम्यत्वाद्वा इति भावः। अङ्गेन = देहाऽवयवेन, मदनमन्दिरेणेति भावः। चलपत्त्रपत्त्रम् = अश्वत्थदलं, विजेतुं = पराजेतुं, गवेष्यते किम् = अन्विष्यते किम् ?, नो चेत् = न अन्विष्यते यदि, तस्य = अश्वत्थपत्त्रस्य, कुतः = कस्मात्, भयेन = भीत्या, इतरच्छदेभ्यः = वृक्षान्तरपत्त्रेभ्यः, विशेषात् = अतिशयात्, कम्पस्तु = वेषथुस्तु, अस्तु = स्यात्। नाऽन्यत्कम्पकारणं विद्म इति भावः। बलिनाऽन्विष्यमाणो दुर्बलः कम्पत इति प्रसिद्धम् ॥ ९० ॥

अनुवादः—इस (दमयन्ती) का कोई अङ्ग (योनिरूप) पीपलके पत्तेको जीतनेके लिए ढूँढ़ रहा है क्या ? ऐसा न होता तो उस (पीपलके पत्ते) का किसके भयसे अन्य वृक्षोंके पत्तोंकी अपेक्षा ज्यादा कम्प होता ॥ ९० ॥

टिप्पणी—चलपत्त्रपत्त्रं = चलानि पत्त्राणि यस्य स चलपत्त्रः, "बोधिद्रुमश्चलदलः" इत्यमरः। चलपत्त्रस्य पत्त्रम् (ष० त०) गवेष्यते = गवेष + लट् (कर्ममें) + त। इतरच्छदेभ्य = इतरेषां छदाः, तेभ्यः (ष० त०)। बलवान्से ढूँढ़ा गया कमजोर व्यक्ति काँपता है यह प्रसिद्ध है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ९० ॥

भ्रूश्चित्ररेखा च तिलोत्तमाऽऽस्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टिः।
दृष्टा ततः पूरयतीयमेकाऽनेकाऽप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत् अस्या भ्रूः चित्ररेखा, नासा तिलोत्तमा, ऊरुसृष्टिः रम्भा, ततः इयम् एका दृष्टा (सती) अनेकाऽप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि पूरयति ॥ ९१ ॥

व्याख्या—यत् = यस्मात्कारणात्, अस्याः = दमयन्त्याः, भ्रूः = नेत्रलोमः, चित्रलेखा = अद्भुतविन्यासा, तदाख्या अप्सराश्च, नासा = नासिका, तिलोत्तमा= तिलपुष्पादुत्कृष्टा, तदाख्या अप्सराश्च, ऊरुसृष्टिः = सक्थिनिर्मितिः, रम्भा = कदली, तदाख्या अप्सराश्च, ततः = तस्मात् कारणात्, इयं = दमयन्ती, एका एव = एकिका एव, दृष्टा = अवलोकिता सती, अनेकाऽप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि = बह्वप्सरोविलोकनकुतूहलानि, पूरयति = पूर्णानि जनयति ॥ ९१ ॥

अनुवाद:—जिस कारणसे कि इस (दमयन्ती) की भ्रू चित्ररेखा (अद्भुत रेखावाली, वा चित्ररेखा नामकी अप्सरा), इसकी नासिका तिलोत्तमा (तिलपुष्पसे भी उत्तम वा तिलोत्तमा नामकी अप्सरा), इसकी ऊरुकी सृष्टि, रम्भा (केलेके स्तम्भके समान वा रम्भा नामकी अप्सरा), है उस कारणसे यह एक दमयन्ती ही देखी जाती हुई अनेक अप्सराओंको देखनेके कुतूहलको पूर्ण कर देती है ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—चित्ररेखा = चित्रा रेखा यस्याः सा (बहु०)। तिलोत्तमा = तिलात् (तिलपुष्पात्) उत्तमा (प० त०) ऊरुसृष्टिः = ऊरोः सृष्टिः (ष० त०)। रम्भा = "रम्भा कदल्यप्सरसोः" इति विश्वः। अनेकाऽप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि = अनेकाश्च ता अप्सरसः (क० धा०) तासां प्रेक्षणम् (ष० त०) तस्मात् कौतुकानि, तानि (प० त०)। पूरयति = पृ + णिच् + लट् + तिप्। इस पद्यमें श्लेष और एक दमयन्तीकी अनेकस्वरूपतामें विरोधका आभास होनेसे विरोधाऽऽभास है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९१ ॥

रम्भाऽपि कि चिह्नयति प्रकाण्डं न चाऽऽत्मनः स्वेन न चैतदूरू।
स्वस्यैव येनोपरि सा दधाना पत्त्राणि जागर्त्यनयोर्भ्रमेण ॥ ९२ ॥

अन्वयः– रम्भा अपि आत्मनः प्रकाण्डं स्वेन न चिह्नयति किम् ? एतदूरू च न चिह्नयति किं ? येन सा अनयोः भ्रमेण स्वस्य एव उपरि पत्त्राणि दधाना जागर्ति ॥ ९२ ॥

व्याख्या – रम्भा अपि = कदली अपि, आत्मनः = स्वस्य, प्रकाण्डं = स्कन्धं, स्वेन = आत्मना, स्वयमित्यर्थः। न चिह्नयति किं ? = चिह्नयुक्तं न करोति किं, एतदूरू च = दमयन्तीसक्थिनी च, न चिह्नयति किं = चिह्नयुक्तौ न करोति किं, मिथो व्यत्यासनिवारणाय द्वयोरन्यतरस्याऽपि चिह्नं न चकार किमिति उत्प्रेक्षा। येन = कारणेन, सा = रम्भा, अनयोः = भैम्यूर्वोः, भ्रमेण =

भ्रान्त्या, उरुभ्रान्त्येति भावः । स्वस्य एव = निजस्कन्धस्य एव, उपरि = ऊर्ध्व-भागे, पत्त्राणि = दलानि प्रतिपक्षोपरिदेयानि साऽक्षरपत्त्राणि च, दधाना = धारयन्ती सती, जागर्ति = अवतिष्ठते ॥ ९२ ॥

अनुवादः—कदली भी अपने स्कन्धको और दमयन्तीके दोनों ऊरुओंको क्यों चिह्नित नहीं करती है । जिससे वह (कदली) दमयन्तीके दोनों ऊरुओंके भ्रमसे अपने ही ऊपर पत्त्रोंको रखती है ॥ ९२ ॥

टिप्पणी स्वेन = "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इससे तृतीया । चिह्नयति= चिह्नवन्तं करोति इति, चिह्नयत् शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर मतुप्का लोप लट्+तिप् । इस पद्यमें सौन्दर्यमें संघर्ष करनेवाली रम्भा (कदली) अपने विरोधी दमयन्तीके ऊरुकी भ्रान्तिसे अपने ही ऊपर पत्त्रों-(पत्तों) को वा प्रतिवादपत्त्रोंको रखती है ऐसा कहनेसे भ्रान्तिमान अलङ्कार और उत्प्रेक्षा इन दोनों का अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९२ ॥

विधाय मूर्द्धानमधश्चरं चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम् ।
जाड्यं च नाऽञ्चेत् कदली बलीयस्तदा यदि स्यादिदमूरुचारुः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—कदली तपोभिः मूर्द्धानम् अधश्चरं विधाय स्वम् असारभावं मुञ्चेत् चेत्, बलीयो जाड्यं च न अञ्चेत् यदि तदा इदमूरुचारुः स्यात् ॥ ९३ ॥

व्याख्या—कदली = रम्भा, तपोभिः = तपश्चर्याभिः चान्द्रायणादिभिरिति भावः । मूर्द्धानं = स्वशिरः, अधश्चरम् = अधोवर्तिनं, विधाय = कृत्वा, स्वं = स्वकीयम्, असारभावं = निःसारत्वं च, मुञ्चेत् = त्यजेत्, चेत् = यदि एव, बलीयः = बलवत्तरं, सार्वकालिकमिति भावः । जाड्यं च = शैत्यं च, न अञ्चेत् यदि = नो गच्छेत् चेत्, तदा = तर्हि, इदमूरुचारुः = दमयन्तीसक्थिसुन्दरः, स्यात् = भवेत् ॥ ९३ ॥

अनुवादः—कदली (केला) तपस्याओंसे अपने शिरको नीचेकी ओर रखकर अपने असार भावको छोड़ दे और हमेशा अत्यन्त शीतलताको भी प्राप्त न करेगी तो दमयन्तीके ऊरुके समान मनोहर होगी ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—अधश्चरम् = अधश्चरतीति तत्, अधरस्+चर+अच्+अम् । विधाय = वि+धा+क्त्वा (ल्यप्) । शिरको नीचे और पैरको ऊपर रखकर यह अभिप्राय है । असारभावम् = अविद्यमानः सारः यस्याः सा असारा (नञ् बहु०), तस्या भावः तम् (ष० त०) । मुञ्चेत् = मुच्+विधिलिङ्+तिप् । बलीयः = बल+ईयसुन्+अम् । अञ्चेत् = अञ्च+विधिलिङ्+तिप् ।

इदमूरुचारुः = अस्या ऊरु (ष० त०), तौ इव चारुः (उपमित०)। इस पद्यमें कदलीके अधःशिरस्त्व आदि धर्मके असम्बन्धमें भी सम्बन्धकी सम्भावनासे सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन तस्याः करः पराजीयत वारणीयः ।
युक्तं ह्रिया कुण्डलनच्छलेन गोपायति स्वं मुखपुष्करं सः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—तस्याः ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन वारणीयः करः पराजीयत । स ह्रिया स्वं मुखपुष्करं कुण्डलनच्छलेन गोपायति युक्तम् ॥ ९४ ॥

व्याख्या—तस्याः = दमयन्त्याः, ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन = सक्थिस्तम्भद्वयेन, वारणीयः = वारणसम्बन्धी, करः = हस्तः (शुण्डादण्डः), पराजीयत = पराजितः, सः = वारणकरः, ह्रिया = लज्जया हेतुना, स्वं = स्वकीयं, मुखपुष्करं = वदनभूतं पुष्करं (अग्रभागं, कमलं च) कुण्डलनच्छलेन = मण्डलीकरणव्याजेन, गोपायति = अपिधत्ते, न दर्शयतीति भावः, युक्तं = उचितमेव। पराजितः स्वमुखं दर्शयितुं न शक्नोतीति भावः ॥ ९३ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके श्रेष्ठ दो ऊरुरूप स्तम्भोंने हाथीकी सूँड़को पराजित कर दिया । वह सूँड लज्जासे अपने मुखरूप सूँडके अग्रभागको मण्डलाकार करनेके बहानेसे ढँक लेती है, यह उचित ही है ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन = प्रकाण्डे चाऽसौ ऊरु ऊरुप्रकाण्डे, "प्रशंसावचनैश्च" इस सूत्रसे समास, ऊरुप्रकाण्डयोर्द्वितयं, तेन (ष० त०)। वारणीयः= वारणस्य अयं, वारण + छ (ईय) + सु । पराजीयत = परा + जि + लङ् (कर्ममें) + त । मुखपुष्करं = मुखं च तत् पुष्करं, तत् (क० धा०)। दूसरे पक्षमें — मुखं पुष्करं इव, तत् (उपमित०) । "पुष्करं खेऽम्बुपद्मयोः । तुर्यवक्त्रे हस्तिहस्ताऽग्रकाण्डयोः ।" इति मेदिनी कुण्डलनच्छलेन = कुण्डलनस्य छलं, तेन (ष० त०) । गोपायति = गुप् + लट् + तिप् । इस पद्यमें हाथीकी सूँड दमयन्तीके ऊरुसे परास्त होकर मण्डलीकरणके छलसे मानों अपने मुख (अग्रभाग) को छिपा लेती है ऐसा कहनेसे अपह्नुति और उत्प्रेक्षाकी संसृष्टि है ॥९४॥

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुचशैलशीली ।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—अस्यां मुनीनां अपि मोहम् ऊहे, यत् महान् भृगुः यत्कुचशैलशीली, मुखम् अनारदाह्लादि न (पक्षे) नादारदाह्लादि, महाभारतसर्गयोग्यः, व्यासः श्रितोरुः, पक्षे महाभारतसर्गयोग्यः व्यासः श्रितोरुः ॥ ९५ ॥

व्याख्या—अस्यां = दमयन्त्यां, मुनीनाम् अपि = ऋषीणाम् अपि, मोहं = भ्रान्तिम् आसक्तिम्, ऊहे = तर्कयामि। कुतः? यत् = यस्मात्, महान् = अधिकः, भृगुः = तन्नामको मुनिः, यत्कुचशैलशीली = दमयन्तीस्तनपर्वतपरिचयशीलः, मुनीनां तपश्चरणार्थं पर्वताश्रयत्वात्पर्वतबुद्धया भृगुः दमयन्तीकुचावाश्रयतीति भावः। पक्षान्तरे—महान्=अधिक; भृगुः = अतटः, यत्कुचशैलशीली = दमयन्तीस्तनपर्वतपरिचयशीलः, दमयन्ती कुचयोः पार्श्वभागः प्रपाततुल्य इति भावः। मुखं = दमयन्तीवदनम्, अनारदाह्लादि न = नारदस्य अनाह्लादकं न, अपि तु अह्लादकम् एव। पक्षान्तरे—मुखं = दमयन्तीवदनं, नानारदाह्लादि = नानारदैः (अनेकदन्तैः) आह्लादि (आह्लादकारकम्)। महाभारतसर्गयोग्यः = महाभारतनिर्माणसमर्थः, व्यासः = कृष्णद्वैपायनः, श्रितोरुः = दमयन्तीसक्थ्याश्रितः, कदलीस्तम्भच्छायाबुद्धया दमयन्त्या ऊरू आश्रित्य व्यासस्तिष्ठतीति भावः। पक्षान्तरे—महाऽऽभाः = महाप्रभः, रतसर्गयोग्यः = सुरतनिर्माणयोग्यः, व्यासः = विस्तारः, श्रितोरुः = दमयन्तीसक्थ्याश्रितः अस्तीति शेषः॥ ९५॥

अनुवाद:—मैं दमयन्तीमें मुनियोंको भी भ्रान्ति होनेकी तर्कना करता हूँ, क्योंकि महान् भृगु मुनिने इनके कुचरूप पर्वतोंकी सेवा की, दूसरे पक्षमें—दमयन्तीके कुचों का पार्श्वभाग प्रपात (ढाल) के समान है। दमयन्तीका मुख नारदमुनिको आह्लाद न करनेवाला नहीं है (आह्लाद करनेवाला है)। दूसरे पक्षमें—दमयन्तीका मुख अनेक दन्तोंसे आह्लाद उत्पन्न करनेवाला है। महाभारत के निर्माणमें समर्थ व्यास दमयन्तीके ऊरुओंका आश्रय लेते हैं। दूसरे पक्षमें—सुन्दर कान्तिवाले रतिक्रीडाके योग्य विस्तारने दमयन्तीके ऊरुओंका आश्रय लिया है॥ ९५॥

टिप्पणी—ऊहे = ऊह+लट्+त। भृगुः = "भृगुः पुमान्। मुनौ हरेऽतटे शुक्रे" इति मेदिनी। यत्कुचशैलशीली=यस्याः कुचौ (ष० त०), तौ एव शैलौ (रूपक०), तौ शीलयतीति तच्छील: यत्कुचशैल–उपपदपूर्वक "शील उपधारणे" धातुसे ताच्छील्यमें णिनि (उपपद०) + सु। उन्नत होनेसे दमयन्तीके कुचोंको पर्वत समझकर भृगु मुनिने तपस्या करनेके लिए उनका आश्रय लिया यह भाव है। पक्षान्तरमें—दमयन्तीके कुचोंका पार्श्व भाग भृगु (अतट=ढाल) के समान है। अनारदाह्लादि = नारदम् आह्लादयतीति नारदाह्लादि, नारद+आङ्+ह्लाद+णिच्+णिनि (उपपद०)+सु। न नारदाह्लादि

(नञ्०), मुखं, न। दमयन्तीका मुख नारदको आह्लाद (हर्ष) करनेवाला नहीं है यह बात नहीं है अर्थात् गानकलाके अभ्यासके लिए नारद मुनि भी दमयन्तीके मुखकी सेवा करते हैं यह भाव है। दूसरे पक्षमें--नानारदाह्लादि = नाना च ते रदाः (क० धा०), तैः आह्लादयतीति, नानारद + आङ् + ह्लाद + णिनि (उपपद०) + सु। दमयन्तीका मुख अनेक दन्तोंसे आह्लाद करनेवाला परमसुन्दर है यह भाव है। महाभारतसर्गयोग्यः = भरतान् (भरतवंशोत्पन्नान् राज्ञः) अधिकृत्य कृतो ग्रन्थो भारतम्, भरत शब्दसे "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय। महच्च तत् भारतम् (क० धा०)। तस्य सर्गः (ष० त०), तस्मिन् योग्यः (स० त०)। श्रितोरुः = श्रितौ ऊरू येन सः (बहु०)। महाभारतकी रचना करनेवाले व्यास=मुनि भी दमयन्तीके ऊरुओंको कदलीके स्तम्भ समझकर आश्रय करते हैं। दूसरे पक्षमें--महाभाः=महती भाः यस्य सः (बहु०)। रतसर्गयोग्यः = रतस्य (सुरतस्य) सर्गः (सम्पादनम्), (ष० त०), तस्मिन् योग्यः (स० त०)। व्यासः = "व्यासो ना विस्तृतौ मनौ" इति मेदिनी। बड़ी कान्तिवाले, रतिक्रीडाके योग्य विस्तारने दमयन्तीके ऊरुओंका आश्रय लिया है यह भाव है। दमयन्तीके कुच अत्यन्त उन्नत हैं, मुख अनेक दन्तोंसे सुन्दर है और ऊरु अत्यन्त विस्तारवाला है यह पद्यका समग्र भावार्थ है। इस पद्यमें श्लेषमूलक मुनियोंके मोहकी उत्प्रेक्षासे मुनिलोग भी दमयन्तीमें मुग्ध होते हैं, औरों का क्या कहना है, इस प्रकार अलङ्कारोंसे वस्तुध्वनि है ॥ ९५ ॥

क्रमोद्‌गता पीवरताऽधिजङ्घं वृक्षाऽधिरूढिं विदुषी किमस्याः।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताऽङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—अस्या अधिजङ्घं क्रमोद्‌गता पीवरता वृक्षाऽधिरूढिं विदुषी किं? भ्रमीभङ्गिभिः आवृताऽङ्गं वासः अपि लतावेष्टितकप्रवीणं किम्? ॥ ९६ ॥

व्याख्या—अस्याः = दमयन्त्याः, अधिजङ्घं = जङ्घायां, स्थितेति शेषः। क्रमोद्‌गता = क्रमोदिता, पीवरता = पीनता, वृक्षाऽधिरूढिम् = आलिङ्गनविशेषं, विदुषी किं = ज्ञात्री किम्? (किञ्च) भ्रमीभङ्गिभिः = वेष्टनविशेषैः, आवृताऽङ्गम् = आच्छादितगात्रं, वासः अपि = वस्त्रम् अपि, लतावेष्टितकप्रवीणं किं = लतावेष्टिताख्यालिङ्गनविशेषनिपुणं किम् ॥ ९६ ॥

अनुवादः—इस (दमयन्ती) की जङ्घाओंमें क्रमसे ऊपर उठी हुई स्थूलता वृक्षाधिरूढिनामक आलिङ्गनको वा वृक्षके वृद्धिक्रमको जानती है क्या? वेष्टन-

विशेषोंसे शरीरको आच्छादन करनेवाला वस्त्र भी लतावेष्टित नामके आलिङ्गनमें अथवा जैसे लता वृक्षको लपेटती है उसी तरह लपेटनेमें निपुण है क्या ? ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—अधिजङ्घं = जङ्घयोः इति, विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव। क्रमोद्गता = क्रमेण उद्गता (तृ० त०)। पीवरता=पीवर + तल् + टाप् + सु। वृक्षाऽधिरूढि वृक्षे अधिरूढिः, ताम् (स० त०) "वृक्षाऽधिरूढि" यह पद आलिङ्गनविशेषका वाचक है, उसका लक्षण है--"बाहुभ्यां कण्ठमालिङ्गय कामिनी कान्त उत्थिते। अङ्कामारोहते तस्य वृक्षारूढः स उच्यते।" वृक्ष जैसे मूल भागमें सूक्ष्म और अग्र भागमें स्थूल होता है वैसी ही दमयन्तीकी जङ्घा है यह भाव है। भ्रमीभङ्गिभिः = भ्रम्या भङ्गयः, ताभिः (ष० त०)। आवृताऽङ्गम् = आवृतम् अङ्गं येन तत् (बहु०)। लतावेष्टितकप्रवीणम्= "लतावेष्टित" पद भी आलिङ्गनविशेषका वाचक है, उसका लक्षण है—

उपविष्टं प्रियं कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि।
तल्लतावेष्टितं ज्ञेयं कामाऽनुभववेदिभिः॥"

लतावेष्टितके प्रवीणम् (स० त०)। जैसे लता वृक्षको वेष्टित करती है वैसे ही दमयन्तीका वस्त्र भी उसके अङ्गको वेष्टित करता है यह अभिप्राय है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ९६ ॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाऽम्बिकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाऽऽप्ता यददृश्यसिद्धिः॥ ९७ ॥

अन्वयः—इयम् अरुन्धती-कामपुरन्ध्रि-लक्ष्मी जम्भद्विषद्दार-नवाऽम्बिकानां चतुर्दशी, तत् इह गुल्फद्वयाऽऽप्ता यत् अदृश्यसिद्धिः तत् उचिता एव॥ ९७ ॥

व्याख्या—इयम् = सन्निकृष्टस्था, दमयन्ती। कामपुरन्ध्रि-लक्ष्मी-जम्भद्विषद्दार-नवाऽम्बिकानां = रति-रमा-शची-ब्राह्म्यादिनवमातृकाणां त्रयोदशसंख्यकानां, चतुर्दशी = चतुर्दशानां पूरणी, तत् = तस्मात् कारणात् अरुन्धत्याद्यन्तःपातित्वादिति भावः। इह=दमयन्त्यां, गुल्फद्वयाऽऽप्ता = पादग्रन्थिद्वितयप्राप्ता, यत् अदृश्यसिद्धिः = अदर्शनीयत्वसिद्धिः, तत् उचिता एव = योग्या एव, अरुन्धत्यादीनामिव गूढगुल्फत्वं यत्स्त्रीलक्षणं तदस्यां दमयन्त्यामप्यस्तीति भावः॥ ९७ ॥

अनुवादः—यह (दमयन्ती) अरुन्धती, रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी और ब्राह्मी

आदि नौ मातृकाएँ हैं, इनमें चौदहवीं है, इसमें गुल्फों (टखनों) ने जो अदृश्य-सिद्धि प्राप्त की है वह उचित ही है ॥ ९७ ॥

टिप्पणी -- अरुन्धती-कामपुरन्ध्रीत्यादिः = कामस्य पुरन्ध्रिः (ष० त०)। जम्भस्य द्विषन् (ष० त०), शतृ प्रत्ययान्त द्विष धातुके योगमें "न लोकाऽव्ययं०" इत्यादि सूत्रसे प्राप्त षष्ठीनिषेधका "द्विषः शतुर्वा" इस वार्तिकसे षष्ठी-निषेध वैकल्पिक होनेसे षष्ठी । जम्भनामक दैत्यके शत्रु होनेसे इन्द्रको "जम्भ-द्विषन्" कहा गया है । जम्भद्विषतो दाराः (ष० त०) । नवसंख्यका अम्बिका नवाऽम्बिकाः (मध्यमपदलोपी समास) । ब्राह्मी आदि मातृकाएँ अम्बिकाएँ नौ हैं, जैसे—

"ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा लोकमातरः ॥"

ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा ये सात लोकमाताऐं और गौरी, सरस्वती । अरुन्धती च कामपुरन्ध्रिश्च लक्ष्मीश्च जम्भद्विषद्दाराश्च नवाऽम्बिकाश्च, तासाम् (द्वन्द्वः) । चतुर्दशी = त्रतस्रश्च दश च चतुर्दश (द्वन्द्वः) तासां पूरणी, चतुर्दशन् + डट् + ङीप् । गुल्फद्वायाऽऽप्ता = गुल्फयोर्द्वयम् (ष० त०), "तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ" इत्यमरः । गुल्फद्वयेन आप्ता (तृ० त०) । अदृश्यसिद्धिः = न दृश्यम् (नञ्०), तस्य सिद्धिः (ष० त०) । दमयन्तीके दो गुल्फ (टखने) गूढ थे, सामुद्रिकशास्त्रके अनुसार यह शुभ लक्षण माना गया है ॥ ९७ ॥

अस्याः पदौ चारुतया महान्तावपेक्ष्य सौक्ष्म्याल्लवभावभाजः ।
जाता प्रवालस्य महीरुहाणां जानीमहे पल्लवशब्दलब्धिः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—चारुतया महान्तौ अस्याः पदौ अपेक्ष्य सौक्ष्म्यात् लवभावभाजः महीरुहाणां प्रवालस्य पल्लवशब्दलब्धिः जाता (इति) जानीमहे ॥ ९८ ॥

व्याख्या—चारुतया = सौन्दर्यगुणेन, महान्तौ = उत्तमौ, अस्याः = दमयन्त्याः, पदौ = पादौ, अपेक्ष्य = अपेक्षां कृत्वा, सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्मत्वात्, दमयन्तीपादाऽपेक्षया अल्पत्वादिति भावः । लवभावभाजः = अल्पत्वयुक्तस्य, महीरुहाणां = वृक्षाणां, प्रवालस्य = किसलयस्य, पल्लवशब्दलब्धिः=पल्लवपद-प्राप्तिः, दमयन्तीपद्भ्यां लवः (अल्पः) इति व्युत्पत्त्या पल्लवसंज्ञाप्राप्तिरिति भावः । जाता = सम्पन्ना इति, जानीमहे = उत्प्रेक्षामहे ॥ ९८ ॥

अनुवाद:—सौन्दर्यगुणसे उत्तम दमयन्ती के पदों (चरणों) को देखकर अल्प होने से अल्पत्व को आश्रय करनेवाले वृक्षोंके किसलयको (दमयन्तीके पदोंसे लव = अल्प) होनेसे "पल्लव" संज्ञाकी प्राप्ति हुई है हम ऐसा समझते हैं ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—चारुतया=चारोर्भावश्चारुता, तया, चारु + तल् + टाप् + टा । "पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । सौक्ष्म्यात्=सूक्ष्म + ष्यञ् + ङसि । लवभावभाजः = लवस्य भावः (ष० त०), तं भजतीति, तस्य, लवभाव + भज् + ण्वि (उपपद०) + ङस् । पल्लवशब्दलब्धिः=पद्भ्यां लवः (प० त०) । स चाऽसौ शब्दः (क० धा०), तस्य लब्धिः (ष० त०) । जानीमहे = ज्ञा + लट् + महिङ् । "वयम्" इस कर्तृपदका अध्याहार करना चाहिए । "अस्मदोर्द्वयोश्च" इससे बहुवचन । दमयन्तीके चरण पल्लवसे भी सुन्दर हैं यह भाव है । इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ९८ ॥

जगद्वधूमूर्धसु रूपदर्पाद्यदेतयाऽधायि पदाऽरविन्दम् ।
तत्सान्द्रमिन्दूरपरागरागैर्ध्रुवं प्रवालप्रबलाऽरुणं तत् ॥ ९९ ॥

अन्वयः—यत् एतया रूपदर्पात् पदाऽरविन्दं जगद्वधूमूर्द्धसु अधायि, तत् तत्सान्द्रसिन्दूरपरागरागैः प्रवालप्रबलाऽरुणं ध्रुवम् ॥ ९९ ॥

व्याख्या—यत् = यस्मात्कारणात्, एतया = दमयन्त्या, रूपदर्पात् = सौन्दर्यगर्वात्, पदाऽरविन्दं = चरणकमलं, जगधूमूर्द्धसु = लोकसुन्दरीमस्तकेषु, अधायि = निहितं, तत = दमयन्त्याः पदाऽरविन्दं, तत्सान्द्र-सिन्दूरपरागरागैः = जगद्वधूमूर्द्धघनसिन्दूरचूर्णलौहित्यैः, प्रवालप्रबलाऽरुणं = विद्रुमाऽधिकरक्तवर्णं, ध्रुवम् ॥ ९९ ॥

अनुवाद:—जो कि दमयन्तीने सौन्दर्यके गर्वसे लोककी सुन्दरी स्त्रियोंके मस्तकोंपर अपना चरणकमल रख दिया इस कारणसे उन मस्तकोंमें स्थित गाढ सिन्दूरके चूर्णोंके लौहित्यसे उनका चरणकमल मूँगासे भी अधिक लाल वर्ण वाला हो गया मैं ऐसा मानता हूँ ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—रूपदर्पात् = रूपस्य दर्पः, तस्मात (ष० त०) । पद ऽरविन्दं= पदम् अरविन्दम् इव (उपमित०) । जगद्वधूमूर्द्धसु=जगति वध्वः (स० त०) । तासां मूर्धानः, तेषु (ष० त०) । अधायि = धाञ् + लुङ् (कर्मणि) + त । तत्सान्द्रसिन्दूरपरागरागैः=सिन्दूरस्य परागाः (ष० त०) । सान्द्राश्च ते सिन्दूरपरागाः (क० धा०), तेषां रागाः (ष० त) । तेषु सान्द्रसिन्दूरपरागरागाः,

तैः (स० त०)। प्रवालप्रबलाऽरुणं=प्रबलं च तत् अरुणम् (क० धा०)। प्रवालात् प्रबलाऽरुणम् (प० त०)। ध्रुवम्=यह उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द है। इस पद्य में उपमा, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा इनमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९९ ॥

रुषाऽरुणा सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्याः पदं श्रीः स्म विधेर्वृणीते ।
ध्रुवं स तामच्छलयद्यतः सा भृशाऽरुणैतत्पदभाग् विभाति ॥ १०० ॥

अन्वयः—श्रीः रुषा अरुणा (सती) सर्वगुणैः जयन्त्या भैम्याः पदं विधेः वृणीते स्म। स ताम् अच्छलयत् ध्रुवम्। यतः सा एतत्पदभाक् (सती) भृशाऽरुणा विभाति ॥ १०० ॥

व्याख्या—श्रीः = लक्ष्मीः, रुषा = पराजयक्रोधेन, अरुणा = रक्तवर्णा (सती), सर्वगुणैः = सकलगुणैः, जयन्त्याः=विजयं कुर्वन्त्याः, आत्मानम् अतिक्रामन्त्या इति भावः, भैम्याः = दमयन्त्याः, पदं=स्थानं, विधेः = ब्रह्मदेवात्। वृणीते स्म = वव्रे। सः=विधिः, तां = श्रियम्, अच्छलयत् = प्रतारितवान्, ध्रुवम् उत्प्रेक्षायाम्। स्थानरूपपदप्रार्थनायां चरणरूपपददानमिति भावः। यतः=यस्मात्कारणात्, सा = श्रीः, एतत्पदभाक् = दमयन्तीचरणाश्रिता सती, भृशाऽरुणा = अत्यर्थरक्तवर्णा, विभाति = शोभते। आरुण्यप्रत्यभिज्ञानाद्दमयन्तीचरण एव श्रीस्थानमिति जानीम इति भावः ॥ १०० ॥

अनुवादः—लक्ष्मीने दमयन्तीसे पराजित होनेसे क्रोधसे लाल होकर सब स्त्रीगुणोंसे जीतनेवाली दमयन्तीके पद (स्थान) प्राप्त करने लिए ब्रह्मासे वर माँगा। ब्रह्माजीने उनको प्रतारित किया ऐसा मालूम होता है। क्योंकि लक्ष्मी दमयन्तीके चरणको आश्रय करके अत्यन्त लाल होकर शोभित हो रही हैं ॥ १०० ॥

टिप्पणी—सर्वगुणैः = सर्वे च ते गुणाः, तैः (क० धा०)। जयन्त्या = जि + लट् (शतृ) + ङीप् + टा। पदं = "पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु।" इत्यमरः। वृणीते स्म = वृञ् + लट् + त। "स्म" के योगमें भूतार्थमें लट्। एतत्पदभाक् = पदं भजतीति पदभाक्, पद + भज् + ण्वि (उपपद०) + सु। एतस्याः पदभाक् (ष० त०)। भृशाऽरुणा = भृशम् अरुणा (सुप्सुपा०)। दमयन्तीके चरणोंमें ज्यादा लालिमाको देखनेसे दमयन्तीका चरण ही लक्ष्मीका स्थान है ऐसा हम मानते हैं यह भाव है। दमयन्तीके चरण अतिशय रक्त वर्णवाले हैं यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०० ॥

यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पदाऽब्जराजौ परिशुद्धपार्ष्णी ।

जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥ १०१ ॥

अन्वयः यानेन जितदन्तिनाथौ परिशुद्धपार्ष्णी तन्व्याः पदाऽब्जराजौ कतरस्य राज्ञः नतेन मूर्ध्ना स्वं शुश्रूषयितुम् इच्छू न जाने ॥ १०१ ॥

व्याख्या-- यानेन = गत्या दण्डयात्रया च, जितदन्तिनाथौ = पराजित-गजेन्द्रौ, पराजितगजपती च, परिशुद्धपार्ष्णी = निर्दोषगुल्फपश्चाद्भागौ, वशी-कृतपार्ष्णिग्राहौ, तन्व्याः = सुन्दर्या दमयन्त्याः, पदाऽब्जराजौ = चरणकमलराजौ, कतरस्य = कस्य, राज्ञः = पत्युः शत्रोश्च, नतेन = नम्रेण, मूर्ध्ना = शिरसा, पतिपक्षे-मानशान्तये, शत्रुपक्षे-क्रोधशान्तय इति भावः । स्वम् = आत्मानं सेव्यं, शुश्रूषयितुं = सेवयितुम्, इच्छू = अभिलाषुकौ, न जाने = न अवगच्छामि ॥ १०१ ॥

अनुवादः जैसे विजय-यात्रासे हाथियोंके स्वामी राजाको जीतनेवाले, पार्ष्णिग्राह (पीछेसे हमला करनेवाले शत्रु) को वशमें करनेवाले राजा अपने अधीन राजाके नम्र शिरसे अपनी शुश्रूषा करानेके लिए अभिलाष करते हैं वैसे ही अपनी गतिसे हाथीको जीतनेवाले और जिनके टखनोंके पृष्ठभाग निर्दोष हैं दमयन्तीके ऐसे चरण-कमलरूप राजा किस पतिके नम्र शिरसे अपनी शुश्रूषा करानेके लिए अभिलाष करते हैं यह मैं नहीं जानता हूँ ॥ १०१ ॥

टिप्पणी जितदन्तिनाथौ = दन्तिनां नाथः दन्तिनाथः (ष० त०), श्रेष्ठ हाथी अथवा हाथियोंके स्वामी । जितो दन्तिनाथो याभ्यां तौ (बहु०) । परिशुद्धपार्ष्णी = परिशुद्धः पार्ष्णिः ययोस्तौ (बहु०) । पदाऽब्जराजौ = पदे अब्जे इव (उपमित०) । पदाब्जे एव राजानौ (रूपक०) । शुश्रूषयितुं = श्रु+सन्+णिच्+तुमुन् । दमयन्ती हाथीके समान गमन करनेवाली है यह भाव है । इस पद्यमें "पदाऽब्जराजौ" यहाँपर रूपकका श्लेषके साथ अङ्गाङ्गि-भावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०१ ॥

कर्णाऽक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः स्वाऽखिलतुल्यजेतुः ।

उद्वेगभागद्वयताऽभिमानादिहैव वेधा व्यधित द्वितीयम ॥ १०२ ॥

अन्वयः-- स्वाऽखिलतुल्यजेतुः कर्णाऽक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः अद्वयताऽ-भिमानात् उद्वेगभाक् वेधा इह एव द्वितीयं व्यधित ॥ १०२ ॥

व्याख्या - स्वाऽखिलतुल्यजेतुः = निजसमस्तसमानवस्तुविजयिनः, कर्णाऽक्षि-दन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः = श्रोत्रनेत्रोष्ठभुजचरणादिनः, अवयवजातस्येति

शेषः । अद्वयताऽभिमारात् = अद्वितीयत्वगर्वात्, उद्वेगभाक् = रोषयुक्तः, वेधाः = ब्रह्मा, इह एव = अस्यां दमयन्त्याम् एव, द्वितीयं = द्वयोः पूरणं कर्णादिकं, व्यधित = विहितवान् । दमयन्त्यवयवानामनुपमत्वेन परस्परमेव औपम्यमासीत्, यथाकर्णस्येतरकर्णेन करस्येतरकरेणेति भावः ॥ १०· ॥

अनुवादः—अपने समस्त समान वस्तुओंको जीतनेवाले कान, आँख, ओष्ठ, बाँह, हाथ और पैर आदि के मेरे ऐसा कोई नहीं है ऐसा समझकर अद्वितीय होनेके गर्वसे उद्विग्न होकर ब्रह्माजीने इस (दमयन्ती) में कान आदि द्वितीय अवयवोंकी रचना कर दी ॥ १०२ ॥

टिप्पणो—स्वाऽखिलतुल्यजेतुः=अखिलानि च तुल्यानि (क० धा०), स्वस्य अखिलतुल्यानि (ष० त०), तेषां जेतृ, तस्य (ष० त०), भाषितपुंस्क होनेसे "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" इस सूत्रसे पुंवद्भाव । कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदाऽऽदिनः = कर्णश्च अक्षि च दन्तच्छदश्च बाहुश्च पाणिश्च पदं च कर्णाऽक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदम्, प्राण्यङ्ग होनेसे "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" इससे समाहारमें द्वन्द्व । कर्णाऽक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदम् आदिर्यस्य तत्, तस्य (बहु०) । आदि शब्दसे कुच आदिका संग्रह होता है । अद्वयताऽभिमानात् = अविद्यमानं द्वयं यस्य तत् (बहु०) तस्य भावः तत्ता अद्वय + तल् + टाप् + सु । अद्वयताया अभिमानः, तस्मात् (ष० त०) । उद्वेगभाक् = उद्वेगं भजतीति, उद्वेग + भज् + ण्वि (उपपद०) + सु । द्वितीयं = द्वयोः पूरणं, "द्वेस्तीयः" इस सूत्रसे पूरण अर्थमें तीय प्रत्यय । व्यधित = वि + धा + लुङ् + त । दमयन्तीके कर्ण आदि इन्द्रियोंके उपमानरहित होनेसे परस्पर ही उनकी उपमा थी, जैसे कानके दूसरे कानसे इत्यादि । इस पद्यमें अनन्वय अलङ्कारसे दमयन्तीके श्रोत आदि इन्द्रिय लोकोत्तर थे ऐसी वस्तुध्वनि है ॥ १०२ ॥

तुषारनिःशेषितमब्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधातुः ।
पञ्चस्विहाऽऽस्याङ्घ्रिकरेष्वभिख्याभिक्षाऽधुना माधुकरीसदृक्षा ॥१०३॥

अन्वयः—तुषारनिःशेषितम् अब्जसर्गं पुनः विधातुकामस्य विधातुः अधुना इह पञ्चसु आस्याङ्घ्रिकरेषु अभिख्याभिक्षा माधुकरीसदृक्षा ॥ १०३ ॥

व्याख्या—तुषारनिःशेषितं = हिमसमापितम्, अब्जसर्गं = पद्मसृष्टिं, पुनः= भूयः, विधातुकामस्य = स्रष्टुकामस्य, विधातुः = ब्रह्मदेवस्य, अधुना = इदानीम्, इह = दमयन्त्याम् अधिकरणे, पञ्चसु = पञ्चसंख्यकेषु, आस्याङ्घ्रिकरेषु = मुखचरणहस्तेषु, अभिख्याभिक्षा = शोभायाचना, माधुकरीसदृक्षा = मधुकर-

भिक्षासदृशी, अस्तीति शेषः । दमयन्त्या मुखाद्यवयवपञ्चके यावती शोभा सा पद्मेषु नाऽस्तीति भावः ॥ १०३ ॥

अनुवादः—पालासे नष्ट की गई कमलसृष्टिकी फिर रचना करने की इच्छा करनेवाले ब्रह्माजीकी अभी दमयन्तीमें मुख, दो चरणों और दो हाथोंमें इस तरह पाँच अवयवोंमें शोभाकी भिक्षा मधुकरी भिक्षाके सदृश है ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—तुषारनिःशेषितं = तुषारेण निःशेषितः, तम् (तृ० त०) । अब्जसर्गम् = अब्जानां सर्गः, तम् (ष० त०) । विधातुकामस्य = विधातुं कामो यस्य, तस्य (बहु०), "तुं काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । आस्याऽङ्घ्रिकरेषु = आस्यं च अङ्घ्री च करौ च आस्याऽङ्घ्रिकराः, तेषु (द्वन्द्व०) । "अधिकरणैतावत्त्वे च" इससे द्रव्यकी संख्याके ज्ञानमें समाहार-द्वन्द्वका निषेध । अभिख्याभिक्षा = अभिख्याया भिक्षा (ष० त०), "अभिख्या नामशोभयोः" इत्यमरः । माधुकरीसदृक्षा = मधुकराणाम् इयं मधुकरी, (मधुकर + अण् + ङीप्) । मधुकर (भ्रमर) जैसे अनेक पुष्पोंसे रस इकट्ठा करता है, वैसे ही पाँच गृहोंसे माँगकर लाई हुई भिक्षाको "माधुकरी" कहते हैं। माधुकर्या सदृशी माधुकरीसदृक्षा (तृ० त०), "दृशेः क्सश्च वक्तव्यः" इससे क्स प्रत्यय । दमयन्तीके मुख, चरण और हाथ कमलके समान हैं यह भाव है ॥ १०३ ॥

एष्यन्ति यावद्गणनाद्दिगन्तान्नृपाः स्मरार्ताः शरणं प्रवेष्टुम् ।
इमे पदाऽब्जे विधिनाऽपि सृष्टास्तावत्य एवाऽङ्गुलयोऽत्र रेखाः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—स्मराऽऽर्ता नृपा इमे पदाऽब्जे शरणं प्रवेष्टुं यावद्गणनात् दिगन्तात् एष्यन्ति, अत्र तावत्य एव अङ्गुलयो रेखाः सृष्टाः ॥ १०४ ॥

व्याख्या—स्मरार्ताः = कामपीडिताः, नृपाः = राजानः, इमे = सन्निकृष्टस्थे, पदाब्जे = चरणकमले, दमयन्त्या इति शेषः । शरणं = रक्षकरूपे, प्रवेष्टुं = प्रवेशं कर्तुं, यावद्गणनात् = यावत्संख्याकात्, दिगन्तात् = आशाऽन्तात्, एष्यन्ति = आगमिष्यन्ति, अत्र = अनयोः पदाऽब्जयोः, तावत्य एव = तत्सङ्ख्या एव, अङ्गुलयः = चरणाऽङ्गुलिरूपाः, रेखा = लेखाः, सृष्टाः = निर्मिताः ॥ १०४ ॥

अनुवादः—कामसे पीडित राजालोग दमयन्तीके इन चरणकमलोंमें शरण पानेके लिए जिन-जिन दिशाओंसे आयेंगे दमयन्तीके चरणकमलोंमें उतनी ही उँगलियाँ ब्रह्माजीने रेखारूपमें बनाई ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—स्मराऽऽर्ता: = स्मरेण आर्ता: (तृ० त०)। पदाब्जे = पदे अब्जे इव, ते (उपमित०)। प्रवेष्टुं = प्र + विश् + तुमुन्। यावद्गणनात् = यावती गणना यस्य, तस्मात् (बहु०)। दिगन्तात् = दिशाम् अन्त:, तस्मात् (ष० त०)। जातिमें एकवचन है। सृष्टा: = सृज + क्त + जस्। स्वयंवरके लिए आनेवाले राजाओंके आगमनस्थानभूत दिशाओंकी संख्यासूचक दमयन्तीके चरणकमलोंकी दश उँगलियाँ ब्रह्माजीने बनाई, यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०४ ॥

प्रियासखीभूतवतो मुदेदं व्यधाद्विधि: साधुदशत्वमिन्दो: ।
एतत्पदच्छद्मपरागपद्मसौभाग्यभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ॥ १०५ ॥

अन्वय:—विधि: प्रियासखीभूतवत: इन्दो: इदं साधुदशत्वं मुदा व्यधात्। अन्यथा (अस्य) एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्यं कथं स्यात् ? ॥ १०५ ॥

व्याख्या—विधि: = विधाता, प्रियासखीभूतवत: = प्रियाया: (दमयन्त्या:) सखीभूतवत: (सुहृद्भूतस्य), इन्दो: = चन्द्रस्य, इदम् = एतत्, साधुदशत्वं = समीचीनाऽवस्थत्वं, मुदा = हर्षेण, व्यधात् = विहितवान्। अन्यथा = साधुदशत्वविधानाऽभावे। (अस्य = चन्द्रस्य) एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्यं = दमयन्तीचरणव्याज-रक्तकमल-सौन्दर्यभागधेयं, कथं = केन प्रकारेण, स्यात् = भवेत्। अन्यथा एतच्चरणशोणसरोजसादृश्यं चन्द्रस्य कथं स्यादिति भाव: ॥ १०५ ॥

अनुवाद:—ब्रह्माजीने दमयन्तीके मित्रभूत चन्द्रकी इस उत्तम अवस्थाको हर्षसे बनाया। नहीं तो दमयन्तीके चरणके बहानेसे रक्तकमलके समान सौन्दर्यको पानेका भाग्य चन्द्रमाका कैसे होता ? ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—प्रियासखीभूतवत: = असखा सखा यथा सम्पद्यते तथा भूतवान् इति सखीभूतवान्, सखि + च्वि + भू + क्तवतु + सु। प्रियाया: सखीभूतवान्, तस्य (ष० त०) "प्रियानसखीभूतवत:" ऐसा पाठ नारायणपण्डितसे सम्मत है, उसका अर्थ प्रियाके नख बने हुए, इन्दो: = चन्द्रका यह अर्थ है। साधुदशत्वं = साध्वी दशा यस्य स: (बहु०), तस्य भाव:, तत्, साधुदश + त्व + अम्। व्यधात् = वि + धाञ् + लुङ् + तिप्। एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्यम् = एतस्या: पदम् (ष० त०), तत् छद्म (छलम्) यस्य तत् (बहु०)। रागेण (लौहित्येन) सहितं सरागं (तुल्ययोगबहु०), तच्च तत्पद्मं सरागपद्मम् (क० धा०)। एतत्पदच्छद्म च तत् सरागपद्मं (रक्तकमलम्), क० धा०।

तस्य सौभाग्यम् (ष० त०), तस्मिन् भाग्यम् (स० त०)। इस पद्यमें अपह्नुति अलङ्कार है ॥ १०५ ॥

यशः पदाऽङ्गुष्ठनखौ मुखं च बिभर्ति पूर्णेन्दुचतुष्टयं या ।

कलाचतुःषष्टिरुपैतु वास तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नाऽस्याम् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—या यशः पदाङ्गुष्ठनखौ मुख च पूर्णेन्दुचतुष्टयं बिभर्ति, तस्याम् अस्यां सुभ्रुवि कलाचतुःषष्टिः वासं कथं न उपैतु नाम ? (उपैतु एवेति भावः)।

व्याख्या—या = सुभ्रुः, दमयन्ती, यशः = कीर्तिः, पदाङ्गुष्ठनखौ = चरणाऽङ्गुष्ठनखरौ, मुखं च = वदनं च, इत्थं पूर्णेन्दुचतुष्टयं = षोडशकलचन्द्र-चतुष्कं, बिभर्ति = धारयति, तस्यां = तादृश्याम्, अस्यां = सन्निकृष्टस्थायां, सुभ्रुवि = दमयन्त्यां, कलाचतुष्टयं = षोडशभागचतुष्कं, विद्याचतुष्कं च वासं = निवासं, कथं = केन प्रकारेण, न उपैतु = न प्राप्नोतु, नामेति प्रसिद्धौ । उपैतु एवेति भावः । चन्द्रचतुष्टये प्रतिचन्द्रं षोडशकलत्वाच्चतुष्टयकलासम्पत्ति-रिति भावः ॥ १०६ ॥

अनुवादः—जो (दमयन्ती) कीर्ति, दोनों चरणोंके दो अंगूठोंके दो नख और मुख इस प्रकार चार पूर्ण चन्द्रोंको धारण करती है वैसी इस सुन्दरीमें चौसठ कलाएँ कैसे वास नहीं करें ? (करेंगी ही) ।। १०६ ॥

टिप्पणी पदाऽङ्गुष्ठनखौ = पदयोः अङ्गुष्ठौ (ष० त०), तयोर्नखौ (ष० त०)। पूर्णेन्दुचतुष्टयं = पूर्णाश्च ते इन्दवः (क० धा०)। तेषां चतुष्टय, तत् (ष० त०) सुभ्रुवि = शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः, तस्याम् (बहु०) कलाचतुःषष्टिः = चतुरधिका षष्टिः (मध्यमपद०)। कलानां चतुःषष्टिः (ष० त०)। "कला तु षोडशो भागः" इत्यमरः । दमयन्तीकी कीर्ति, पैरोंके दो अङ्गुष्ठोंके दो नख और मुख इन चार चन्द्रोंमें प्रत्येकमें सोलह कलाओंके होनेसे उनमें चौसठ कलाएँ हैं यह भाव है। इस पद्यमें नृत्य गीत आदि कलाएँ और चन्द्रकी कलाएँ इन दोनोंका अभेद अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

सृष्टाऽतिविश्वा विधिनैव तावत्तस्याऽपि नीतोपरि यौवनेन ।

वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्पथपारमेव ॥ १०७ ॥

अन्वयः— इयं तावत् विधिना एव अतिविश्वा सृष्टा, (अथ) यौवनेन तस्य अपि उपरि नीता, अथ) मनोभुवा वैदग्ध्यम् अध्याप्य वाक्पथपारम् एव अवापिता ॥ १०७ ॥

व्याख्या—इयं = दमयन्ती, तावत् = आदौ, विधिना एव = ब्रह्मणा एव, अतिविश्वा = विश्वाऽतिशायिनी, सृष्टा = रचिता, अथ, यौवनेन = तारुण्येन, तस्य अपि = विश्वाऽतिशायित्वस्य अपि, उपरि = ऊर्ध्वस्थाने, नीता = प्रापिता, ततोऽप्युत्कर्षं प्रापितेति भावः । अथ मनोभुवा = कामदेवेन, वैदग्ध्यं = प्रगल्भताम्, अध्याप्य = शिक्षयित्वा, वाक्पथपारम् एव = वचनमार्गपरतीरम् एव, वागगोचरतामेवेति भावः । अवापिता = प्रापिता, अतः साकल्येन कथं वर्णयितुं शक्येति तात्पर्यम् ॥ १०७ ॥

अनुवादः—इस दमयन्तीको ब्रह्माजीने पहले ही लोकका अतिक्रमण करनेवाली बनाया, तारुण्यने उससे भी ऊपर उठाया, अनन्तर कामदेवने प्रगल्भताको सिखाकर वचन मार्गके भी दूर स्थानमें पहुँचा दिया ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—अतिविश्वा = विश्वम् अतिक्रांता, "अत्यादयः क्रांताद्यर्थे द्वितीयया" इससे समास । वैदग्ध्यं = विदग्धस्य भावः कर्म वा, तत् विदग्ध + ष्यञ् + अम् । अध्याप्य = अधि + आङ् + इङ् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । वाक्पथपारं = वाचः पन्थाः वाक्पथः (षष्ठीत०, समासान्त अप्रत्यय) । तस्य पारं, तत् (ष० त०), अवापिता = अव + आप् + णिच् + क्त + टाप् + सु । इस पद्यमें दमयन्तीरूप एक वस्तुका अनेक धर्मोंमें सम्बन्धका कथन होनेसे पर्याय अलङ्कार है ॥ १०७ ॥

इति स चिकुरादारभ्यैतां नखाऽवधि वर्णयन्
हरिणरमणीनेत्रां चित्राऽम्बुधौ तरदन्तरः ।
हृदयभरणोद्वेलाऽऽनन्दः सखीवृतभीमजा-
नयनविषयीभावे भावं दधार धराऽधिपः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—इति स धराऽधिपः हरिणरमणीनेत्रां चिकुरात् आरभ्य नखाऽवधि वर्णयन् चित्राऽम्बुधौ तरदन्तरः हृदयभरणोद्वेलाऽऽनन्दः सखीवृतभीमजानयनविषयीभावे भावं दधार ॥१०८॥

व्याख्या- इति = इत्थं, सः = प्रसिद्धः, धराऽधिपः = राजा नलः, हरिणरमणीनेत्रां = मृगीनयनां दमयन्तीं, चिकुरात् = केशकलापात्, आरभ्य = उपक्रम्य, नखाऽवधि = पदाऽङ्गुष्ठनखाऽन्तं, वर्णयन् = प्रशंसन्, चित्राऽम्बुधौ = आश्चर्यसागरे, तरदन्तरः = प्लवमानाऽन्तःकरणः, तथा हृदयभरणोद्वेलाऽऽनन्दः = हृत्पूरणनिःसीमहर्षः सन्, सखीवृतभीमजानयनविषयीभावे = वयस्यापरिवृत-

भैमीनयनगोचरत्वे, भावम् = अभिप्रायं, दधार = धृतवान्, सखीवृतदमयन्तीद-र्शनपथं प्राप्तुं चकमे इति भावः ॥१०८॥

अनुवाद:—इस प्रकार राजा नलने मृगीके समान नेत्रोंसे युक्त दमयन्तीको केशकलापसे शुरूकर चरणोंके नखोंतक वर्णन करते हुए आश्चर्यसमुद्रमें डूबनेवाले अन्तःकरणसे युक्त और हृदयमें भर जानेसे बेहद हर्षवाले होकर सखियोंसे घिरी हुई दमयन्तीके नेत्रोंमें प्रत्यक्ष होनेके लिए इरादा किया ॥१०८॥

टिप्पणी—धराऽधिपः = धराया अधिपः (ष० त०)। हरिणरमणीनेत्रां = हरिणस्य रमणी (ष० त०), तस्या इव नेत्रे यस्याः, ताम् (व्यधिक० बहु०)। नखाऽवधि = नखा अवधयः यस्मिन् (कर्मणि) बहु०, तद्यथा तथा (क्रि०-वि०)। वर्णयन् = वर्ण + णिच् + लट् (शतृ) + सु । चित्राऽम्बुधौ = चित्रम् एव अम्बुधिः, तस्मिन् (रूपक०)। तरदन्तरः = तरत् अन्तरम् (अन्तः-करणम्) यस्य सः (बहु०)। हृदयभरणोद्वेलाऽऽनन्दः = हृदये भरणम् (स० त०)। वेलाम् उत्क्रांतःउद्वेलः, "अत्यादयः क्रांताद्यर्थे द्वितीयया" इससे समास। हृदयभरणात् उद्वेलः (प० त०), तादृश आनन्दो यस्य सः (बहु०) सखीवृत भीमजानयनविषयीभावे = सखीभिः वृता (तृ० त०), सा चाऽसौ भीमजा (क० धा०)। अविषयो विषयो यथा संपद्यते भावः विषयीभावः, विषय + च्वि + भाव + सु । भीमजाया नयने (ष० त०)। भीमजानयनयोर्विषयी भावः तस्मिन् (ष० त०)। दधार = धृञ् + लिट् + तिप् (णल्)। इस पद्यमें रूपक और उपमाकी संसृष्टि है। हरिणी छन्द है, उसका लक्षण है—"रसयुग-हयैन्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा।" ॥१०८॥

> **श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं**
> **श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।**
> **गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं तन्महा-**
> **काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्सप्तमः ॥१०९॥**

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातरि चारुणि नैषधीयचरिते तन्महाकाव्ये सप्तमः सर्गः अगमत् ॥१०९॥

व्याख्या—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः = पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषण-मणिः, श्रीहीरः = श्रीहीरनामकः, मामल्लदेवी च = मामल्लदेवीनाम्नी च, जितेन्द्रियचयं = वशीकृतहृषीकसमूहं, यं, श्रीहर्षं = श्रीहर्षनामकं, सुतं =

पुत्रं, सुषुवे = जनयामास । गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातरि = गौडोर्वीशकुल-प्रशस्तिभणितिनामकरचनासहजे, चारुणि = मनोहरे, नैषधीयचरिते = नैषधीय-चरितनामके, तन्महाकाव्ये = श्रीहर्षबृहत्काव्ये, सप्तमः = सप्तानां पूरणः सर्गः = अध्यायः, अगमत् = गतः, समाप्त इत्यर्थः ॥ १०९ ॥

अनुवादः—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके भूषण हीरेके समान श्रीहीर नामक पण्डित और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिस श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया । "गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति" नामक रचनाके भाई मनोहर नैषधीयचरित नामक उनके महाकाव्यमें सप्तम सर्ग पूर्ण हुआ ॥१०९॥

टिप्पणी—अधिकांशस्य-व्याख्याततत्वासंक्षेपेण व्याख्या क्रियते । गौडोर्वीशकुल-प्रशस्तिभणितिभ्रातरि = गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितेर्भ्राता, तस्मिन् (ष० त०) तन्महाकाव्ये = तस्य महाकाव्यं, तस्मिन् (ष० त०) । सप्तमः = सप्तानां पूरणः सप्तन् + डट् (मट्) + सु । अगमत् = गम् + लुङ् + च्लि (अङ्) + तिप् ॥ १०९ ॥

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतायां चन्द्रकलाऽ-
भिख्यायां नैषधीयचरितव्याख्यायां
सप्तमः सर्गः समाप्तः ।
ॐ तत्सत् ।

—:●:—

अष्टमः सर्गः

य: प्रेरयत्यनिशमेव सत: स्वधर्मे
वृष्टयादिनाऽवति समष्टिजनेष्टिजातम् ।
आम्नायभाजमकरोन्मुनियाज्ञवल्क्यं
तं भास्वरं सनति भास्करदेवमीडे ।।

अथाऽद्भुतेनाऽस्तनिमेषमुद्रमुन्निद्ररोमाणममुं युवानम् ।
दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य महीमघोनः ।। १ ।।

अन्वयः—अथ अद्भुतेन अस्तनिमेषमुद्रम् उन्निद्ररोमाणं युवानम् अमुं ताः समस्ताः सुदृशः महीमघोनो भीमस्य सुता च दृशा पपुः ।। १ ।।

व्याख्या—अथ = नलप्रादुर्भावाऽनन्तरम्, अद्भुतेन = विस्मयेन, दमयन्ती-साक्षात्कारजन्येनेति शेषः । अस्तनिमेषमुद्रं = निर्निमेषम्, उन्निद्ररोमाणं = हृष्टलोमानं, युवानां = तरुणं, अमुं = नलम् पूर्वोक्तविशेषणत्रयस्य रूपान्तर-परिणामः कार्यः, ततश्च-अस्तनिमेषमुद्राः = निर्निमेषाः, उन्निद्ररोमाणः = हृष्टलोमानः, युवतयः = तरुण्यः । ताः = पूर्वोक्ताः, समस्ताः = सकलाः, सुदृशः = सुन्दरनयनाः, सभासदः । महीमघोनः = भूमहेन्द्रस्य, भीमस्य, सुता च = पुत्री च, दमयन्ती चेति शेषः । दृशा = दृष्टया, पपुः = पीतवत्यः ।। १ ।।

अनुवादः—नलका प्रादुर्भाव होनेके बाद दमयन्तीके साक्षात्कारसे उत्पन्न आश्चर्यसे निमेषरहित, रोमाञ्चयुक्त जवान नलको उन सब सभास्थ सुन्दरियोंने और पृथ्वीके इन्द्र भीमकी पुत्री (दमयन्ती) ने भी नेत्रसे पान किया (देख-लिया) ।। १ ।।

टिप्पणी—अस्तनिमेषमुद्रम् = निमेषाणां मुद्रा (ष० त०), अस्ता निमेषमुद्रा यस्य, तम् (बहु०) । उन्निद्ररोमाणम् = उन्निद्राणि रोमाणि यस्य, तम् (बहु०) । दूसरे पक्षमें—विभक्ति और वचनका परिणाम कर अस्तनिमेष-मुद्राः = नलके साक्षात्कारसे आश्चर्यसे निमेषरहित, उन्निद्ररोमाणः = रोमाञ्च-युक्त इस तरह "सुदृशः" के विशेषण, सुदृशः = शोभने दृशौ यासां ताः (बहु०) पपुः = पा + लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमें भावोदय अलङ्कार है । इस सर्गमें छन्द प्रायः उपजाति है ।। १ ।।

कियच्चिरं दैवतभाषितानि निह्नोतुमेनं प्रभवन्तु नाम ।
पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः ॥ २ ॥

अन्वयः—दैवतभाषितानि कियच्चिरम् एनं निह्नोतुं प्रभवन्तु नाम। (तथा हि) पलालजालैः पिहितः इक्षुडिम्भः स्वयं प्रकाशम् आसादयति हि ॥२॥

व्याख्या—दैवतभाषितानि = इन्द्रादिदेववाक्यानि, कियच्चिरं = कियन्तं बहुकालम्, एनं = नलं, निह्नोतुम् = आच्छादयितुं, प्रभवन्तु = शक्नुवन्तु, नाम = खलु, बहुकालं यावत् निह्नोतुं न प्रभवन्ति इति भावः । तथा हि—पलालजालैः = निष्फलव्रीहिकाण्डसमूहैः, पिहितः = आच्छादितः रक्षणार्थमिति शेषः । इक्षुडिम्भः= रसालप्ररोहः, स्वयं = स्वत एव, प्रकाशं = प्रादुर्भावम्, आसादयति=प्राप्नोति, हि = निश्चयेन । इक्ष्वङ्कुरस्येव अतिप्रौढरागस्य कामिनोऽपि विकारो दुर्वार इति भावः ॥ २ ॥

अनुवादः—इन्द्र आदि देवताओंके वाक्य (अन्तर्द्धान सिद्धिरूप) कितनी देरतक इन (नल) को छिपा सकेंगे । पुआलसे ढका हुआ गन्नेका अङ्कुर अपने आप प्रकाशको प्राप्त करता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—दैवतभाषितानि = दैवतानां भाषितानि (ष० त०) । कियच्चिरम् = अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया । निह्नोतुं = नि-उपसर्गपूर्वक "ह्नुङ् अपनयने" इस धातुसे तुमुन् । प्रभवन्तु = प्र + भू + लोट् + झि, संभावनामें लोट् । पलालजालैः = पलालानां जालानि, तैः (ष० त०) । पिहितः = अपि + धा + क्तः, भागुरिके मतसे 'अपि' के अकारका लोप । इक्षुडिम्भः = इक्षोःडिम्भः (ष० त०) इस पद्यमें नल और इक्षुडिम्भका बिम्ब-प्रतिबिम्बभावसे समान धर्मके निर्देशसे दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ २ ॥

अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत् ।
स्मराऽऽशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज ॥ ३ ॥

अन्वयः—अस्य दृशोः रश्मिः भैमीम् अभिलष्य यावत् अपाङ्गम् अपि न आप, तावत् एव स्मराऽऽशुगः अस्यां सुभ्रुवि प्रत्यङ्गम् आपुङ्खशिखं ममज्ज ॥३॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, दृशोः = नेत्रयोः, रश्मिः = दीप्तिः, भैमीं = दमयन्तीम्, अभिलष्य = कामयित्वा, यावत् = यत्कालम्, अपाङ्गम् अपि = नेत्राऽन्तदेशम् अपि, न आप = न प्राप, भैमीं तु नापेति किमु वक्तव्यमिति भावः । तावत् एव = तत्कालम् एव, स्मराऽऽशुगः = कामबाणः, अस्यां =

सन्निकृष्टस्थायां, सुभ्रुवि = सुन्दर्यां दमयन्त्यां, प्रत्यङ्गं = प्रत्यवयवम्, आपुङ्ख-शिखं = समूलाऽग्रं, ममज्ज = मग्नः ॥ ३ ॥

अनुवादः—नलके नेत्रोंकी किरण दमयन्तीको अभिलाष कर जबतक नेत्र-प्रान्ततक भी नहीं पहुंची तबतक कामदेवका बाण दमयन्तीके प्रत्येक अङ्गमें मूलके अग्रभागतक घुस गया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अभिलष्य = अभि + लष् + क्त्वा (ल्यप्)। स्मराऽऽशुगः = स्मरस्य आशुगः (ष० त०)। सुभ्रुवि = शोभने भ्रुवौ यस्याः सा, तस्याम् (बहु०)। प्रत्यङ्गम्=अङ्गम् अङ्गम् (वीप्सामें अव्ययीभाव)। आपुङ्खशिखं= पुङ्खस्य शिखा (ष० त०)। पुङ्खशिखाम् आ, (अभिविधिमें अव्ययीभाव) ममज्ज=मस्ज + लिट् + तिप् (णल्)। इस पद्यमें दृष्टिपात और स्मरपातरूप कारणोंके पौर्वापर्यका भङ्ग होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३ ॥

यदक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यादुपाचरद् द्वावपि पञ्चबाणः।
चक्रे न वैमत्यममुष्य कस्माद् बाणैरनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—पञ्चबाणः द्वौ अपि अक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यात् यत् उपाचरत्, तत् अमुष्य अनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः बाणैः वैमत्यं कस्मात् न चक्रे ? ॥ ४ ॥

व्याख्या—पञ्चबाणः = विषमशरः, कामः। द्वौ अपि = भैमीनलौ अपि, अक्रमं = क्रमरहितं, युगपदिति भावः। विक्रमशक्तिसाम्यात् = पराक्रमसामर्थ्य-साम्यम् अवलम्ब्य, यत्, उपाचरत्=उपचरितवान्, विषमैर्बाणैर्युगपत् उभावप्य-वैषम्येण प्रहृतवानिति भावः। अमुष्य = कामदेवस्य, अनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः = अशक्यसमविभागैरिति भावः। बाणैः = शरैः, वैमत्यं = विमतिः असम्मतिरिति भावः, कस्मात् कारणात्, न चक्रे = न कृतम्, महच्चित्रमिति भावः ॥ ४ ॥

अनुवादः—पाँच बाणोंवाले कामदेवने दमयन्ती और नल दोनोंको ही बिना क्रमके अर्थात् एक ही बार पराक्रमसे सामर्थ्यका अवलम्बन कर जो प्रहार किया। उस कारणसे कामदेवके समविभाग न हो सकनेवाले बाणोंने असम्मति क्यों नहीं प्रकाशित की ? आश्चर्य है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पञ्चबाणः = पञ्च बाणा यस्य सः (बहु०)। अक्रमम्=अविद्य-मानः क्रमः यस्मिन् (कर्मणि, बहु०) तद्यथा तथा (क्रि० वि०)। विक्रम-शक्तिसाम्यात्=विक्रमेण शक्तिः (तृ० त०)। तस्याः साम्यं, तस्मात् ष० त०, विक्रमशक्तिसाम्यम् अवलम्ब्य, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इससे ल्यप्के लोपमें

पञ्चमी। उपाचरत् = उप + आङ् + चर् + लङ् + तिप्। अनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः = अर्द्धं च तत् अर्द्धम् अर्द्धार्द्धम् (क० धा०)। अर्द्धार्द्धं चाऽसौ विभागः अर्द्धार्द्धविभागः (क० धा०)। अर्द्धाऽर्द्धविभागं भजन्ति इति अर्द्धार्द्धविभागभाजः-अर्द्धार्द्धविभाग + भज् + ण्वि + जस। न अर्द्धार्द्धविभागभाजः, तैः (नञ्०)। कामदेवके बाण अरविन्द आदि पाँच हैं जो कि विषम हैं अत एव उनका सम-विभाग नहीं किया जा सकता है यह भाव है। वैमत्यं = विरुद्धा मतिर्यस्य स विमतिः (बहु०)। विमतेर्भावः, विमति + ष्यञ् + सु। चक्रे = कृ + लिट् (कर्ममें) + त (एश्)। इस पद्यमें कामदेवके विषम बाणोंसे नल और दमयन्ती दोनोंमें सम-प्रहारके विरोधका कामदेवकी महिमासे समाधान होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ४ ॥

तस्मिन्नलोऽसाविति साऽन्वरज्यत् क्षणं क्षणं क्वेह स इत्युदास्त।
पुरः स्म तस्यां वलतेऽस्य चित्तं दूत्यादनेनाऽथ पुनर्न्यवर्ति ॥ ५ ॥

अन्वयः सा तस्मिन् असौ नल इति क्षणम् अन्वरज्यत्, पुनः स इह क्व इति क्षणम् उदास्त। अथ अस्य चित्तं, पुरः तस्यां वलते स्म, पुनः दूत्यात् अनेन न्यवर्ति ॥ ५ ॥

व्याख्या—सा = दमयन्ती, तस्मिन् = पुंसि, असौ = अयं, नल इति = नैषध इति, क्षणं = कंचित्कालम्, अन्वरज्यत् = अनुरक्ता अभवत् एतेन हर्षः सूचितः। पुनः = भूयः, स = नलः, इह = अस्मिन् स्थाने, राजकुमार्यन्तःपुर इति भावः, क्व = कुत्र, इति = असम्भावनया, क्षणं = कञ्चित्कालम्, उदास्त = उदासीना स्थिता। एतेन विषादः सूचितः। अथ नलस्य दमयन्त्यां भावशान्तिमाह— अथ = अनन्तरम्, अस्य = नलस्य, चित्तं = मनः, पुरः = प्रथमं, तस्यां = दमयन्त्यां, वलते स्म = चचाल, चञ्चलं बभूवेति भावः। एषा हर्षोक्तिः। पुनः = भूयः, दूत्यात् = देवदौत्याद्धेतोः, अनेन = नलचित्तेन, न्यवर्ति = परावृत्तम्। दौत्याद्राजपुत्र्याः प्रणये योग्यताऽभावं विचार्य निवृत्तमिति भावः। एषा विषादोक्तिः। अनयोरनुरागस्तु साकल्येन समुत्पन्न इति भावः ॥ ५ ॥

अनुवादः— दमयन्ती उस पुरुषमें "ये नल हैं" ऐसा विचार कर कुछ समय तक अनुरक्त हुई, फिर वे वहां कैसे आयेंगे ऐसा विचार कर कुछ समयतक उदासीन हो गई। तब नलका चित्त पहले दमयन्तीमें चञ्चल हुआ, फिर दूतभावके कारण रुक गया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—क्षणम् = अत्यन्त सयोगमें द्वितीया। अन्वरज्यत् = अनु + रञ्ज + लङ् + तिप्। दमयन्ती हंस आदिके मुखसे सुने गये नलके रूपका सादृश्य देखकर ये पुरुष नल हैं ऐसा समझकर अनुरक्त हुईं यह तात्पर्य है। उदास्त = उद् + आस + लङ् + त। राजसैनिकोंसे सुरक्षित कन्याके अन्तःपुरमें नलका आना कैसे संभव होगा यह समझकर वे उदासीन हुईं। इसी तरह नल भी दमयन्तीको देखकर पहले हर्षसे बहुत चञ्चल हुए, पीछे अपने दौत्यके कारण भैमीकी प्राप्तिकी असंभावनासे खिन्न हुए यह भाव है ॥ ५ ॥

कया चिदालोक्य नलं ललज्जे, कयाऽपि तद्भासि हृदा ममज्जे।

तं काऽपि मेने स्मरमेव कन्या, भेजे मनोभूवशभूयमन्या ॥ ६ ॥

अन्वयः—कयाचित् नलम् आलोक्य ललज्जे। कयाऽपि तद्भासि हृदा ममज्जे। काऽपि कन्या तं स्मरम् एव मेने। अन्या मनोभूवशभूयं भेजे ॥ ६ ॥

व्याख्या- अथ भैमीसखीनामपि शृङ्गारभावानाह—कयाचिदिति। कयाचित् = कन्यया, नल = नैषधम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, ललज्जे = लज्जितम्। कयाऽपि = कन्यया, तद्भासि = नलसौन्दर्ये, हृदा = अन्तःकरणेन, ममज्जे = निमग्नम्। तन्मयत्वं भावितमिति भावः। काऽपि = काचित्, कन्या = कुमारी, तं = नलं, स्मरम् एव = कामदेवम् एव, मेने = ज्ञातवती, इति विस्मयोक्तिः। अन्या = अपरा कन्या, मनोभूवशभूयं = कामवशत्वं,भेजे = श्रितवती, एतेन औत्सुक्यं गम्यते ॥ ६ ॥

अनुवादः—कोई कन्या नलको देखकर लज्जित हुई। कोई कन्या नलके सौन्दर्यमें अन्तःकरणसे डूब गई। किसी कन्याने उन्हें कामदेव ही जाना और कोई कुमारी कामदेवके वशीभूत हो गई ॥ ६ ॥

टिप्पणी—ललज्जे = लस्ज + लिट् (भावमें) + त (एश्)। तद्भासि = तस्य भाः, तस्याम् (ष० त०)। हृदा = करणमें तृतीया। ममज्जे = मस्ज + लिट् (भावमें) + त (एश्)। मेने = मन + लिट् + त (एश्)। मनोभूवशभूयं = वशस्य भावो वशभूयं, वश + भू + क्यप् + सु। "भुवो भावे" इससे क्यप्। मनोभुवो वशभूयं, तत् (ष० त०)। भेजे = भज + लिट् + त (एश्) ॥ ६ ॥

कस्त्वं कुतो वेति न जातु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिभाऽतिभारात्।

उत्तस्थुरभ्युत्थितिवाञ्छयेव निजाऽऽसनान्नैकरसाः कृशाङ्ग्यः ॥ ७ ॥

अन्वयः - कृशाङ्ग्यः एकरसाः (सत्यः) अप्रतिभाऽतिभारात् तं कः त्वं ? कुतो वा इति प्रष्टुम् अपि जातु न शेकुः । (किञ्च) अभ्युत्थितिवाञ्छया इव निजाऽऽसनात् न उत्तस्थुः ॥ ७ ॥

व्याख्या—कृशाऽङ्ग्यः = तन्वङ्ग्यः, स्त्रियः । एकरसाः = एकाऽनुरागाः आनन्दरसपरवशाः सत्यः, अत एव अप्रतिभाऽतिभारात् = अप्रागल्भ्याऽतिबाहुल्यात्, तं = नलं, कः = किंनामा, त्वं, कुतो वा = कस्मात् स्थानाद्वा, आगतः, इति = एवं, प्रष्टुम् अपि = अनुयोक्तुम् अपि, जातु = कदाऽपि, न शेकुः = न प्रबभूवुः, किञ्च अभ्युत्थितिवाञ्छया इव = प्रत्युत्थानेच्छया इव, निजाऽऽसनात्= स्वोपवेशनस्थानात्, न उत्तस्थुः = न उत्थिताः, तस्य तेजोविशेषान्मनसैवोत्तस्थुरिति भावः ॥ ७ ॥

अनुवादः - कृश शरीरवाली कुमारियाँ आनन्दरसके परवश होती हुईं प्रतिभाके अत्यन्त अभावसे नलको "तुम कौन हो ? अथवा कहाँसे आये हो ?" इस तरह प्रश्न भी नहीं कर सकीं, अभ्युत्थानकी इच्छासे अपने आसनसे नहीं उठीं (उनके विशेष तेजसे मनसे ही उठीं ।) ॥ ७ ॥

टिप्पणी—कृशाङ्ग्यः = कृशानि अङ्गानि यासां ताः (बहु०) । एकरसाः = एको रसो यासां ताः (बहु०) । अप्रतिभाऽतिभारात् = न प्रतिभा (नञ्०), तस्या अतिभारः, तस्मात् (ष० त०) । प्रष्टुम् = प्रच्छ + तुमुन् । शेकुः = शक् + लिट् + झि (उस्) । अभ्युत्थितिवाञ्छया = अभ्युत्थितेर्वाञ्छा, तया (ष० त०) । निजाऽऽसनात् = निजं च तत् आसनं, तस्मात् (क० धा०) उत्तस्थुः = उद् + स्था + लिट् + झि (उस्) ॥ ७ ॥

स्वाच्छन्द्यमानन्दपरम्पराणां भैमी तमालोक्य किमप्यवाप ।
महारयं निर्झरिणीव वारामासाद्य धाराधरकेलिकालम् ॥ ८ ॥

अन्वयः- भैमी तम् आलोक्य किमपि आनन्दपरम्पराणां स्वाच्छन्द्यं निर्झरिणी धाराधरकेलिकालम् आसाद्य वारां महारयम् इव अवाप ॥ ८ ॥

व्याख्या - भैमी = दमयन्ती, तं = नलम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, किमपि = अनिर्वाच्यम्, आनन्दपरम्पराणां = हर्षसन्ततीनां, स्वाच्छन्द्यम् = उच्छृङ्खलत्वं, निर्झरिणी = गिरिनदी, धाराधरकेलिकालं = मेघक्रीडासमयं, वर्षाकालमिति भावः । आसाद्य = प्राप्य, वारां = जलानां, महारयम् इव = वेगाऽतिशयम् इव, अवाप = प्राप ॥ ८ ॥

अनुवादः—जैसे पर्वतकी नदी वर्षाकालको पाकर जलके महावेगको पाती है, वैसे ही दमयन्तीने भी नलको देखकर हर्ष परम्पराओंकी अनिर्वाच्य स्वच्छन्दताको पा लिया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—आनन्दपरम्पराणाम् = आनन्दानां परम्परा, ताम् (ष० त०)। स्वाच्छन्द्यं = स्वच्छन्दस्य भावः स्वाच्छन्द्यं, तत्, स्वच्छन्द + ष्यञ् + अम्। "स्वच्छन्दो निरवग्रहः" इत्यमरः। धाराधरकेलिकालं = केलेः कालः (ष० त०) धाराधरस्य केलिकालः, तम् (ष० त०)। वाराम् = "आपः स्त्री भूम्नि, वार्वारि सलिलं कमलं जलम्।" इत्यमरः। महारयं = महाश्चाऽसौ रयः, तम् (क० धा०) ॥ ८ ॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नाऽस्या दृगस्याऽङ्गमयास्यदन्यत्।
नाऽदास्यदस्यै यदि बुद्धिधारां विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेषः ॥९॥

अन्वयः—अस्या दृक् अस्य यत् अङ्गम् अग्रे अपश्यत्, तत् एव मग्ना (सती) अन्यत् अङ्गं न अयास्यत् यदि, निमेषः चिरात् विच्छिद्य विच्छिद्य बुद्धिधाराम् अस्यै न अदास्यत् ॥ ९ ॥

व्याख्या—अस्याः = दमयन्त्याः, दृक् = दृष्टिः, अस्य = नलस्य, यत् अङ्गम् = अवयवम्, अग्रे = प्रथमम्, अपश्यत् = दृष्टवती, तत्र एव = तस्मिन् अङ्गे एव, मग्ना = निमग्ना सती, अन्यत् = अपरम्, अङ्गं = नलस्य अवयवं, न अयास्यत् = न आगमिष्यत्, यदि = चेत्, निमेषः = पक्ष्मपातः, चिरात् = चिरकालात्, विच्छिद्य विच्छिद्य = विरमय्य विरमय्य, बुद्धिधारां = ज्ञान परम्पराम्, अस्यै = दृशे, न अदास्यत् = नो व्यतरिष्यत्। निमेषकृतबुद्धि विच्छेदाद्दमयन्तीदृष्टेर्नलस्याऽङ्गान्तरप्राप्तिर्न तु पूर्वदृष्टाऽङ्गस्य वैतृष्ण्येनेति भावः ॥ ९ ॥

अनुवादः—दमयन्तीका निमेष बहुत समयसे रुक-रुककर उनके नेत्रोंको ज्ञानधारा न देता तो उनके नेत्र नलके जिस अङ्गको देखते थे उसीमें मग्ननिमग्न होकर दूसरे अङ्गमें नहीं जाते थे ॥ ९ ॥

टिप्पणी—अयास्यत् = या + लृङ् (क्रियाऽनिपत्तिमें) + तिप्। विच्छिद्य= वि + छिद् + क्त्वा (ल्यप्)। बुद्धिधारां = बुद्धेर्धारा, ताम् (ष० त०)। अदास्यत् = दा + लृङ् (क्रियाऽतिपत्तिमें) + तिप् ॥ ९ ॥

दृशाऽपि साऽऽलिङ्गितमङ्गमस्य जग्राह नाऽग्राऽवगताऽङ्गहर्षः।
अङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य संस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सा दृशा आलिङ्गितम् अस्य अङ्गम् अग्राऽवगताऽङ्गहर्षैः न जग्राह,, अनन्तरम् अङ्गान्तरे ईक्षिते तु निवृत्य पूर्वदृष्टम् अङ्गं न सस्मार ॥१०॥

व्याख्या—सा = दमयन्ती, दृशा = नेत्रेण, अलिङ्गितम् = आश्लिष्टं, प्राप्तमिति भावः, अस्य = नलस्य, अङ्गम् = अवयवम्, आग्राऽवगताङ्गहर्षैः = पूर्वगृहीताऽवयवजनिताऽऽनन्दैः, न जग्राह = नो गृहीतवती, नो ज्ञातवतीति भावः। अनन्तरं = हर्षाऽनुभवाऽनन्तरम्, अङ्गान्तरे = अवयवान्तरे, ईक्षिते तु = अवलोकिते तु, निवृत्य = परावृत्य, पूर्वदृष्टं = प्रथमविलोकितम्, अङ्गम् = अवयव, न संस्मार = न स्मृतवती, नलस्य तत्तदवयवय लोकोत्तरत्वादिति भावः ॥ १० ॥

अनुवादः—दमयन्तीने आँखोंसे प्राप्त नलके अङ्गको पहले देखे गये अङ्गसे उत्पन्न हर्षों से नहीं देखा। अनन्तर दूसरे अङ्गके देखे जानेपर लौटकर उन्होंने पहले देखे गये अङ्गका स्मरण नहीं किया ॥ १० ॥

टिप्पणी—अग्रावगताऽङ्गहर्षैः = अग्रे अवगतानि (स० त०) तानि च तानि अङ्गानि (क० धा०), तेषां हर्षाः, तैः (ष० त०)। जग्राह = ग्रह + लिट् + तिप् (णल्)। अङ्गान्तरे = अन्यत् अङ्गं, तस्मिन् (रूपक०)। पूर्वदृष्टं = पूर्वं दृष्टं तत् (सुप्सुपा०)। सस्मार = स्मृ + लिट् + तिप् (णल्)। नलके प्रत्येक अङ्ग लोकोत्तर थे यह भाव है ॥ १० ॥

हित्वैकमस्याऽपघनं विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरभुक्तिसीमाम्।
चिरं चकारोभयलाभलोभात् स्वभावलोला गतमागतं च ॥ ११ ॥

अन्वयः—स्वभावलोला तद्दृष्टिः अस्य एकम् अपघनं हित्वा अङ्गान्तरभुक्तिसीमां विशन्ती चिरम् उभयलाभलोभात् गतम् आगतं च चकार ॥११॥

व्याख्या—स्वभावलोला = निःसर्गचञ्चला, तद्दृष्टिः = दमयन्तीदृक् अस्य = नलस्य, एकम्, अपघनम् = अङ्गं, हित्वा = त्यक्त्वा, अङ्गान्तरभुक्तिसीमाम् = अवयवान्तरभोगाऽवधिम्, अवयवान्तरदेशमिति भावः। विशन्ती = प्रविशन्ती, चिरं = बहुकालपर्यन्तम्, उभयलाभलोभात् = अवयवद्वयप्राप्तिलोलुपत्वात्, गतं = गमनम्, आगमनम् च = आगति च, चकार = कृतवती, उभयोरप्यङ्गयोस्तथा रमणीयत्वादिति भावः ॥११॥

अनुवादः—स्वभावसे चञ्चल वा सतृष्ण दमयन्तीके नेत्रोंने नलके एक अवयवको छोड़कर दूसरे अङ्गके स्थानमें प्रवेश करते हुए बहुत कालतक दोनों अङ्गोंके लाभमें लोभ होनेसे गमन और आगमन किया ॥११॥

टिप्पणी—स्वभावलोला = स्वभावेन लोला (तृ० त०), स्वभावसे चञ्चल वा सतृष्ण । "लोलश्चलसतृष्णयोः" इत्यमरः । तद्दृष्टिः = तस्या दृष्टिः (ष० त०) । अपघनम् = "अपघनोऽङ्गम्" इस सूत्रसे निपातन, "अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः" इत्यमरः । हित्वा=हा + क्त्वा । अङ्गान्तरभुक्तिसीमाम्= अन्यत् अङ्गम् अङ्गान्तरम् (रूपक०), तस्य भुक्तिः (ष० त०), तस्याः सीमा ताम् (ष० त०) । विशन्ती = विश + लट् (शतृ) + ङीप् । उभयलाभलोभात् = उभयोर्लाभः (ष० त०) (समास) वृत्तिके विषयमें उभ शब्दसे अयच् प्रत्यय । उभयलाभे लोभः, तस्मात् (स० त०) ॥११॥

निरीक्षितं चाऽङ्गमवीक्षितं च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य ।
समानमानन्दमियं दधाना विवेद भेदं न विदर्भसुभ्रूः ॥१२॥

अन्वयः—इयं विदर्भसुभ्रूः तस्य निरीक्षितम् अनिरीक्षितं च अङ्गं दृशा पिबन्ती समानम् आनन्दं दधाना भेदं न विवेद ॥१२॥

व्याख्या—इयम् = एषा, विदर्भसुभ्रूः = वैदर्भी, दमयन्ती, तस्य = नलस्य, निरीक्षितं = दृष्टम्, अनिरीक्षतं च = अदृष्टं च, अङ्गम् = अवयवं, दृशा = नेत्रेण, पिबन्ती = धयन्ती, तृष्णया पश्यन्तीति भावः । समानं = तुल्यम्, आनन्दम् = हर्षं, दधाना = धारयन्ती, अनुभवन्तीति भावः । भेदं = विशेषम् इदं दृष्टपूर्वम्, इदम् अदृष्टपूर्वं चेति विवेकमिति भावः, सर्वस्याऽप्यङ्गस्यानन्दजनकत्वादिति तात्पर्यम्, न विवेद = नो ज्ञातवती ॥१२॥

अनुवाद—नलके देखे गये और न देखे गये अङ्गको तृष्णासे देखनी हुई समान आनन्दका अनुभव करती हुई दमयन्तीने यह अङ्ग देखा गया है और यह अङ्ग नहीं देखा गया है ऐसे भेदको नहीं समझा ॥ १२ ॥

टिप्पणी विदर्भसुभ्रूः= विदर्भाणां सुभ्रूः (ष० त०) । विवेद = विद + लिट् + तिप् (णल्) । नलके समस्त अङ्ग तुल्य रूपसे मनोहर होनेसे आनन्दको उत्पन्न करते थे अतः दमयन्तीको उनके देखे गये और न देखे गये अङ्गमें कुछ भी फर्क मालूम नहीं हुआ यह भाव है । उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्याम् ।
तस्याऽनुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनखञ्जनाभ्याम् ॥१३॥

अन्वयः—सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यां तल्लोचनखञ्जनाभ्यां तस्य अनुबन्धं विमोच्य गन्तुं न अपारि ॥ १३ ॥

व्याख्या—सूक्ष्मे = तनीयसि, घने = सान्द्रे दृढे च, नैषधकेशपाशे = नल-कचकलापे, केशाऽपबन्धने च, निपत्य = नितरां पतित्वा, निष्पन्दतरीभवद्भ्यां = निश्चलीभवद्भ्यां, दमयन्तीनेत्रपक्षे विस्मयात्, खञ्जनपक्षे यन्त्रलग्नात् हेतोरिति भावः। तल्लोचनखञ्जनाभ्यां = दमयन्तीनयनखञ्जरीटाभ्यां, तस्य = केशपा-शस्य, अनुबन्धं=दमयन्तीनेत्रपक्षे—आसक्तिं, खञ्जरीटपक्षे—बन्धनम्। विमोच्य= मोचयित्वा, गन्तुं = यातुं, न अपारि = न अशाकि ॥१३॥

अनुवादः—जैसे पतले और दृढ पाशके बन्धनमें फँसकर निश्चल होता हुआ खञ्जन पक्षी उस बन्धनको छोडकर नहीं जा सकता है उसी तरह महीन और घने नलके केशपाशमें पड़कर निश्चल होकर खञ्जन पक्षीके समान दमयन्तीके नेत्र आसक्तिको छोड़कर नहीं जा सके (लगातार उसीको देखते रहे) ॥१३॥

टिप्पणी—नैषधकेशपाशे = केशानां पाशः (ष० त०), नैषधस्य केशपाशः, तस्मिन् (ष० त०)। "पाशः कचाऽन्ते सङ्घाऽर्थः, कर्णान्ते शोभनाऽर्थकः। क्षत्राद्यन्ते च निन्दाऽर्थः, पाशः पक्ष्यादिबन्धने ॥" इति विश्वः। निपत्य = नि + पत् + क्त्वा (ल्यप्)। निःपन्दतरीभवद्भ्यां = निर्गतः स्पन्दो याभ्यां तौ निस्पन्दौ (बहु०)। अतिशयेन निस्पन्दौ निस्पन्दतरौ, (निस्पन्द+ तरप् + औ)। अनिस्पन्दतरौ निस्पन्दतरौ यथा संपद्येते तथा भवन्तौ निस्पन्द-तरीभवन्तौ, ताभ्याम् (निस्पन्दतर + च्वि + भू + लट् (शतृ०) + भ्याम्)। तल्लोचनखञ्जनाभ्यां = तस्य लोचने (ष० त०) ते एव खञ्जनौ, ताभ्याम् (रूपक०)। विमोच्य = वि + मुच् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। अपारि = पार + लुङ् (भावमें) + त। इस पद्यमें श्लिष्ट विशेषण रूपक अलङ्कार है ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भमवाप्य तस्य।
दमस्वसुर्दृष्टिसरोजराजिश्चिरं न तत्याज सबन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—दमस्वसुः दृष्टिसरोजराजिः भूलोकभर्तुः तस्य मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भम् अवाप्य सबन्धुबन्धं चिरं न तत्याज ॥ १४ ॥

व्याख्या—दमस्वसुः = दमयन्त्याः, दृष्टिसरोजराजिः = नेत्रकमलपङ्क्तिः, भूलोकभर्तुः = भूमिलोकस्वामिनः, तस्य = नलस्य, मुखपाणिपादपद्मैः = वदनकरचरणकमलैः सह, परीरम्भं = संश्लेषम्, अवाप्य = प्राप्य, सबन्धुबन्धं = समानबान्धवाऽऽसक्तिं, चिरं = बहुकालपर्यन्तं, न तत्याज = नो मुमोच।

स्निग्धा हि बान्धवश्चिरमनाश्लिष्य न मुञ्चन्तीति भावः। पद्मत्वजातित्वात् सबन्धुत्वम् ॥ १४ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके नेत्ररूप कमलोंने भूलोकके स्वामी नलके मुख, हाथ और चरणरूप कमलोंके साथ आलिङ्गन को पाकर समान बन्धुकी आसक्तिको बहुत समयतक नहीं छोड़ा ॥ १४ ॥

टिप्पणी—दमस्वसुः = दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०)। दृष्टिसरोजराजिः = दृष्टय एव सरोजानि (रूपक०), नेत्र दो ही हैं तथाऽपि उनकी दर्शन-क्रियाओंका बहुत्व होनेसे यहाँ बहुवचनका प्रयोग किया गया है। दृष्टिसरोजानां राजिः (ष० त०)। मुखपाणिपादपद्मैः = मुखं च पाणी च पादौ च मुखपाणिपादम् (प्राण्यङ्ग होनेसे समाहारद्वन्द्व)। तत् एव पद्मानि, तैः (रूपक०)। सबन्धुबन्ध = समानाश्च ते बन्धवः सबन्धवः (कर्म०), "ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु" इस सूत्रसे समान शब्दका 'स' भाव। सबन्धूनां बन्धः, तम् (ष० त०)। तत्याज = त्यज + लिट् + तिप् (णल्), बिछुड़े हुए बन्धु समागम होनेपर बहुत समयतक आलिङ्गन नहीं छोड़ते हैं। दमयन्तीने बहुत समयतक नलके मुख, पाणि, चरणोंको देखा यह अभिप्राय है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तराऽनिर्वचनीयमोहा।
सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त मृष्टम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—तत्कालम् आनन्दमयी भवन्ती भवत्तराऽनिर्वचनीयमोहा सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादं मृष्टम् उल्लासम् अभुङ्क्त ॥ १५ ॥

व्याख्या—तत्कालं = तस्मिन् काले, आनन्दमयी भवन्ती = आनन्दात्मिका सती, नलोऽयमिति बुद्ध्या इति शेषः। भवत्तराऽनिर्वचनीयमोहा = साऽतिशयजायमानाऽनिर्वाच्यभ्रमा, इह नलाऽऽगमनं कुत इति मत्वेति शेषः। सा = दमयन्ती, मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां = प्राप्तमोक्षबद्धाऽवस्थास्वादाभ्यां, द्विस्वादं = स्वादद्वययुक्तं, मृष्टं = शुद्धम्, "मिष्टम्" इति पाठे अतिस्वादुमित्यर्थः। उल्लासं = हर्षम्, अभुङ्क्त = भुक्तवती। तत्र आनन्दरूपत्वं मुक्तदशा, मोहरूपत्वं च संसारिदशा। दशाद्वितयेनाऽपि नलस्य ग्रहणात्सा हर्षोत्कर्षं भेजे इति भावः ॥ १५ ॥

अनुवादः—उस समय "ये नल हैं" ऐसा जानकर आनन्दस्वरूप होकर और "यहाँ कैसे नल आ सकते हैं" ऐसा सोचकर अतिशय अनिर्वाच्य मोहवाली

होकर दमयन्तीने मुक्त और संसारीकी अवस्थाके रसोंसे दो स्वादोंवाले शुद्ध हर्षका अनुभव किया ॥ १५ ॥

टिप्पणी – तत्कालं = तं च तं कालम्, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया और "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष। आनन्दमयी = आनन्दः स्वरूपं यस्याः सा, आनन्द + मयट् (स्वार्थमें) + ङीप् + सु। भवत्तराऽनिर्वचनीयमोहा = अतिशयेन भवन्, भवत् + तरप् + सु। न निर्वचनीयः (नञ्०)। भवत्तरः अनिर्वचनीयः मोहः यस्याः सा (बहु०)। मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां = मुक्तश्च संसारी च (द्वन्द्व०)। तयोर्दशे (ष० त०), तयो रसौ ताभ्याम् (ष० त०)। द्विस्वादं = द्वौ स्वादौ यस्मिन्, तम् (बहु०)। मृष्टं = मृज् + क्त + अम्। अभुङ्क्त = भुज + लुङ् + त। "भुजोऽनवने" इससे आत्मनेपद। इस पद्यमें भावोदय अलङ्कार है ॥ १५ ॥

दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनितेति नूनम्।
न स व्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयं दूतमिमां प्रतीन्द्रम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—नलश्रीभृति दूते भाविभावा इयं कलङ्किनी जनिता (इति) विधिः इमां प्रति नैषधकायमायं स्वयम् इन्द्रं दूतं न संव्यधात् नूनम् ॥ १६ ॥

व्याख्या –नलश्रीभृति = नैषधशोभाधारिणि, दूते = सन्देशहरे, भाविभावा= भविष्यदनुरागा, इयं = दमयन्ती, कलङ्किनी = कलङ्कयुक्ता, जनिता=भविष्यति, (इति = मत्वा) विधिः = ब्रह्मदेवः, इमां प्रति = दमयन्तीं प्रति, नैषधकायमाय = नलशरीरधारिणं, स्वयं = साक्षात्, इन्द्रं = देवेन्द्रम् एव, दूतं = सन्देशहरं, न संव्यधात् = न कल्पितवान्, नूनमिति उत्प्रेक्षायाम् ॥ १६ ॥

अनुवादः—नलकी शोभा (रूप) को धारण करनेवाले दूतमें अनुराग करनेवाली यह (दमयन्ती) कलङ्किनी होगी ऐसा सोचकर मानो ब्रह्माजीने उनके प्रति नलके शरीरको धारण करनेवाले साक्षात् इन्द्रको दूत नहीं बनाया ॥ १६ ॥

टिप्पणी—नलश्रीभृति = नलस्य श्रीः (ष० त०), तां बिभर्तीति, तस्मिन्, नलश्री + भृ + क्विप् (उपपद०) + ङि। भाविभावा = भावी भावः (अनुरागः) यस्याः सा (बहु०), कलङ्किनी = कलङ्क + इनि + ङीप् + सु। जनिता = जन + लुट् + तिप्। नैषधकायमायं=नैषधस्य कायः (ष० त०), स एव माया (कपटम्) यस्य तम् (बहु०)। संव्यधात् = सं + वि + धा + लुङ् + तिप्। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १६ ॥

पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्प्रमाणमास्ते यदघेपि धावत् ।
तच्चिन्ति चित्तं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि ॥ १७ ॥

अन्वयः—मुनेः अपि कस्य मनः पुण्ये स्यात्, यत् अघे अपि धावत् मनः (एव) प्रमाणम् आस्ते । (किन्तु) हृष्यत्करुणः परमेश्वरस्तु तच्चिन्ति भक्तस्य चित्तं रुणद्धि ॥ १७ ॥

व्याख्या—मुनेः अपि = ऋषेः अपि, कस्य = जनस्य, मनः = चित्तं, पुण्ये= धर्मे एव विषये, स्यात् =भवेत्, अन्यस्य का वार्तेति शेषः । यत्=यस्मात्कारणात्, अघे अपि=पापे अपि, धावत् = शीघ्रं गच्छत्, उच्छृङ्खलत्वेनेति भावः । मनः = चित्तम् एव, प्रमाणं = निश्चायकम्, आस्ते = विद्यते, किन्तु हृष्यत्करुणः = उद्यद्दयः, परमेश्वरस्तु = जगदीश्वर एव, तच्चिन्ति = अघचिन्तकं, भक्तस्य = निजोपासकस्य, चित्तं = मानसं, रुणद्धि = निवारयति ॥ १७॥

अनुवादः—किस मुनिका भी चित्त पुण्यमें ही रहेगा ? जो कि पापमें ही दौड़नेवाला मन ही प्रमाण होता है । परन्तु करुणापरायण परमेश्वर ही पापकी चिन्ता करनेवाले भक्तके चित्तको रोक देते हैं ॥ १७ ॥

टिप्पणी—धावत् = धावतीति, धाव + लट् + (शतृ) + सु । आस्ते = आस् + लट् + त । हृष्यत्करुणः = हृष्यन्ती करुणा यस्य सः (बहु०) । परमेश्वरः = परमश्चाऽसौ ईश्वरः (क० धा०) । तच्चिन्ति = तत् (अघम्) चिन्तयतीति, तद् + चिन्त + णिच् + णिनि (उप०) + सु । रुणद्धि = रुध् + लट् + तिप् ॥ १७ ॥

साऽलीकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुर्यथाऽऽप शालीनतया न मौनम् ।
तथैव तथ्येऽपि नले न लेभे, मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेक ? ॥ १८ ॥

अन्वयः—मदनोन्मदिष्णुः सा यथा अलीकदृष्टे नले शालीनतया मौनं न आप, तथैव तथ्ये अपि नले मौनं न लेभे । मुग्धेषु सत्यमृषाविवेकः कः ? ॥ १८ ॥

व्याख्या—सम्प्रति दमयन्त्या धाष्टर्यदोषं परिहरति सेति । मदनोन्मदिष्णुः = मदनेन (कामेन) उन्मदिष्णुः (उन्मादशीला सती), सा = दमयन्ती, यथा = येन प्रकारेण, अलीकदृष्टे = मिथ्यादृष्टे, नले = नैषधे, शालीनतया = अधृष्टतया, मौनं = तूष्णीकत्वं, न आप = न प्राप, पूर्वं किमपि अवादीदिति भावः । तथैव = तेन प्रकारेणैव, तथ्ये अपि = सत्ये अपि, नले = नैषधे विषये, मौनं = तूष्णीकत्वं, न लेभे = न प्राप, किमपि अवोचदिति भावः । तत्कथमित्याशङ्कामर्थान्तरन्यासेन परिहरति—मुग्धेष्विति । मुग्धेषु =

मदनेन मूढेषु, सत्यमृषाविवेकः = एतत्सत्यम् एतन्मिथ्या इति विवेचना, कः, नाऽस्तीति भावः। अत एव न धाष्टर्यदोषोऽपीति भावः ॥ १८ ॥

अनुवादः—कामदेवसे उत्कट मदवाली दमयन्तीने जैसे मिथ्या नलमें अधृष्ट होकर मौन नहीं पाया, (अर्थात् कुछ बोली) उसी तरह उन्होंने सत्य नलमें भी अधृष्ट होकर मौन नहीं पाया (अर्थात् वे कुछ बोलीं)। क्योंकि कामदेवके कारण मोहवाले जनोंमें यह सत्य है और यह झूठ है ऐसी विवेचना नहीं होती है ॥ १८ ॥

टिप्पणी—मदनोन्मदिष्णुः = उन्मदशीला उन्मदिष्णुः उद्-उपसर्गपूर्वक मदधातुसे "अलङ्कृञ्०" इत्यादिसे इष्णुच् प्रत्यय। मदनेन उन्मदिष्णुः (तृ० त०)। अलीकदृष्टे = अलीकश्चाऽसौ दृष्टः, तस्मिन् (क० धा०)। शालीनतया = शालाप्रवेशम् अर्हतीति शालीना, "शालीनकौपीने अधृष्टाऽकार्ययोः" इस सूत्रसे निपातन, "स्यादधृष्टे तु शालीनः" इत्यमरः। शालीनाया भावः शालीनता, तया (शालीन + तल् + टाप् + टा)। मौनं = मुनेर्भावो मौनं, तत्, मुनि + अण् + अम्। लेभे = लभ् + लिट् + त। सत्यमृषाविवेकः = सत्यं च मृषा च (द्वन्द्वः), तयोर्विवेकः (ष० त०)। कामदेवसे मोहप्राप्त जनोंमें सत्य और झूठका विवेक नहीं होता है अत एव दमयन्तीकी धृष्टता (ढिठाई) में दोष नहीं है यह भाव है। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १८ ॥

व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना स्वरेण साऽथ श्लथगद्गदेन।
सखीजने साध्वससन्नवाचि स्वयं तमूचे नमदाननेन्दुः ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथ व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना सा सखीजने साध्वससन्नवाचि (सति) नमदाननेन्दुः (सती) श्लथगद्गदेन स्वरेण तं स्वयम् ऊचे ॥ १९ ॥

व्याख्या--अथ = द्विस्वादहर्षाऽनुभवाऽनन्तरं, व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना = निष्फलीभवदाकारगोपनप्रयासा, सा = दमयन्ती, सखीजने = वयस्यागणे, साध्वससन्नवाचि = भयकुण्ठितवचने सति, अन्यथा सखीमुखेनैव ब्रूयादिति भावः। नमदाननेन्दुः = अवनतमुखचन्द्रा सती, लज्जयेति शेषः। श्लथगद्गदेन = स्खलितेन, स्वरेण = शब्देन, तं = नलं, स्वयम् = आत्मना एव, ऊचे = जगाद ॥ १९ ॥

अनुवादः—अनन्तर अपने अभिप्रायको छिपानेमें असमर्थ होकर दमयन्ती

भयसे सखियोंके शब्दहीन हो जानेपर लज्जासे मुखचन्द्रको झुकाकर स्खलित स्वरसे नलसे स्वयम् बोलने लगीं ॥ १९ ॥

टिप्पणी—व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना = अव्यर्थो व्यर्थो यथा संपद्यते तथा भवन्, (व्यर्थ + च्वि + भू + लट् (शतृ) + सु)। भावस्य पिधानम् (ष० त०), तस्मिन् यत्नः (स० त०)। व्यर्थीभवन् भावपिधानयत्नो यस्याः सा (बहु०) सखीजने = सखी चाऽसौ जनः, तस्मिन् (क० धा०) साध्वससन्नवाचि = सन्ना वाक् यस्य सः (बहु०)। साध्वसेन सन्नवाक्, तस्मिन् (तृ० त०)। नमदाननेन्दुः = आननम् इन्दुरिव (उपमित०)। नमन् आननेन्दुः यस्याः सा (बहु०)। श्लथगद्गदेन = श्लथश्चाऽसौ गद्गदः तेन (क० धा०)। ऊचे = ब्रूञ् (वच्) + लिट् + त (एश्) ॥१९॥

नत्वा शिरोरत्नरुचाऽपि पाद्यं सम्पाद्यमाचारविदाऽतिथिभ्यः ।
प्रियाऽक्षराऽऽलीरसधारयाऽपि वैधो विधेया मधुपर्कतृप्तिः ॥ २० ॥

अन्वयः—आचारविदा अतिथिभ्यः नत्वा शिरोरत्नरुचा अपि पाद्यं सम्पाद्यम्, (किञ्च) प्रियाऽक्षराऽऽलीरसधारया अपि वैधी मधुपर्कतृप्तिः विधेया ॥२०॥

व्याख्या अथ नलाऽऽतिथ्यं चिकीर्षुस्त्रिभिः पद्यैस्तत्कर्तव्यतामाह—नत्वेत्यादि। आचारविदा = सदाचारज्ञात्रा, गृहस्थेनेति शेषः। अतिथिभ्यः = आगन्तुभ्यः, नत्वा = पदयोर्निपत्य, शिरोरत्नरुचा अपि = मस्तकमणिकान्त्या अपि, पाद्यं = पादधावनार्थं जलं, संपाद्यं = सम्पादनीयं, देयमिति भावः। किञ्च प्रियाऽक्षराऽऽलीरसधारया अपि = हृद्यवाक्यकदम्बकाऽऽनन्दलहर्या अपि, वैधी = विधिप्राप्ता, मधुपर्कतृप्तिः = दधिमधुघृतजनितं सौहित्यमिति भावः। विधेया = कर्त्तव्या। मुख्याऽनुकल्पोऽप्यनुष्ठेय इति भावः ॥२०॥

अनुवादः—आचार जाननेवाले गृहस्थकी अतिथियोंको नमस्कार कर शिरके रत्नकी निर्मल कान्तिसे भी पाद्य (चरणोंको धोनेके लिए जल) देना चाहिए, प्रिय वाक्योंके रसकी धारासे भी विधिप्राप्त मधुपर्क (दही, शहद और घी),-से तृप्ति करनी चाहिए ॥ २० ॥

टिप्पणी - आचारविदा = आचारं वेत्तीति, तेन, आचार + विद् + क्विप् (उपपद०) + टा। शिरोरत्नरुचा = शिरसि रत्नम् (स० त०), तस्य रुक्, तया (ष० त०)। पाद्यं = पादाऽर्थम् उदकम्, पाद शब्दसे "पादाऽर्घाभ्यां च" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। सम्पाद्यं = संपादयितुं योग्यम्, सम् + पद् + णिच् + ण्यत् + सु। प्रियाऽक्षराऽऽलीरसधारया = प्रियाश्च ते अक्षराः (क० धा०),

तेषाम् आली (ष० त०), रसानां धारा (ष० त०)। प्रियाऽक्षराऽऽल्यारसधारा, तया (तृ० त०)। वैधी = विधेः इयम्, विधि + अण् + ङीप् + सु। मधुपर्कतृप्तिः = मधुपर्केण तृप्तिः (तृ० त०)। विधेया = विधातुं योग्या वि + धा + यत् + टाप् + सु ॥ २० ॥

स्वाऽऽत्माऽपि शीलेन तृणं विधेयं, देया विहायाऽऽसनभूर्निजाऽपि ।

आनन्दवाष्पैरपि कल्प्यमम्भः, पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः ॥ २१ ॥

अन्वयः—(आचारविदा) शीलेन स्वाऽऽत्मा अपि तृणं विधेयम्, निजा अपि आसनभूः विहाय देया, आनन्दवाष्पैः अपि अम्भः कल्प्यं, मधुभिः वचोभिः पृच्छा विधेया ॥ २१ ॥

व्याख्या—आचारविदा, शीलेन = आचारप्रमाणेन, स्वाऽऽत्मा अपि = निजशरीरम् अपि, तृणं विधेयं = तृणवत् अर्पणीयम्, निजा अपि = स्वकीया अपि, आसनभूः = उपवेशनस्थानं, विहाय = त्यक्त्वा, स्वयं तत उत्थायेति भावः, देया = दातव्या, आनन्दवाष्पैः अपि = हर्षाऽश्रुभिः अपि, अम्भः=जलं, पाद्यमिति भावः। कल्प्यं = कल्पनीय, मधुभिः = मधुप्रायैः, वचोभिः = वचनैः, पृच्छा = कुशलप्रश्नः, विधेया = कर्तव्या ॥ २१ ॥

अनुवादः—आचार जाननेवाले गृहस्थको आचारप्रमाणसे अतिथिसेवाके लिए अपने शरीरको भी तृणके समान अर्पण करना चाहिए, अपनी आसनभूमि भी छोड़कर देनी चाहिए, हर्षाश्रुओंसे भी पाद्य (चरण धोनेके जल) की कल्पना करनी चाहिए और मधुप्राय वचनोंसे अतिथिसे कुशलप्रश्न करना चाहिए ॥ २१ ॥

टिप्पणी—स्वाऽऽत्मा = स्वस्य आत्मा (ष० त०)। "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च" इत्यमरः। आसनभूः = आसनस्य भूः (ष० त०)। आनन्दवाष्पैः = आनन्दस्य वाष्पाणि, तैः (ष० त०)। पृच्छा= "प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च" इत्यमरः। प्रच्छनं पृच्छा, प्रच्छ धातु से "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इससे अङ् + टाप् + सु ॥ २१ ॥

पदोपहारेऽनुपनम्रताऽपि संभाव्यतेऽपां त्वरयाऽपराधः ।

तत्कर्तुमर्हाऽञ्जलिसञ्जनेन स्वसंभृतिप्राञ्जलताऽपि तावत् ॥ २२ ॥

अन्वय—पदोपहारे त्वरया अपाम् अनुपनम्रता अपि अपराधः संभाव्यते, तत् अञ्जलिसञ्जनेन स्वसंभृतिप्राञ्जलता अपि तावत् कर्तुम् अर्हा ॥ २२ ॥

व्याख्या—पदोपहारे = चरणोपायने, चरणक्षालनार्थं जलाऽऽनयन इति भावः। त्वरया = वेगेन, अपाम् = उदकानाम्, अनुपनम्रता अपि = असन्निहि, तत्वम् अपि, अपराधः = अपचारः, संभाव्यते = अपराधत्वेन गृह्यत इति भावः। तत् = तस्मात्कारणात्, अञ्जलिसञ्जनेन = अञ्जलिबन्धेन, स्वसंभृतिप्राञ्जलता अपि = आत्मसंभाराऽऽर्जवम् अपि, तावत् = आदौ, कर्तुं = विधातुम्, अर्हा = योग्या, अन्यथा प्रत्यवायादिति भावः॥ २२॥

अनुवादः—चरणोंके प्रक्षालनके लिए वेगसे जलको समीप न पहुंचाना भी अपराध समझा जाता है, इस कारणसे हाथोंको जोड़नेसे अपने सन्निधानसे सरलता भी पहले दिखानी चाहिए॥ २२॥

टिप्पणी—पदोपहारे = पदयोः उपहारः, तस्मिन् (ष० त०)। अनुपनम्रता = न उपनम्रता (नञ्०)। अञ्जलिसञ्जनेन = अञ्जलेः सञ्जनम्, तेन (ष० त०)। स्वसंभृतिप्राञ्जलता = स्वस्य संभृतिः (ष० त०)। प्राञ्जलस्य भावः प्राञ्जलता, प्राञ्जल + तल् + टाप् + सु। स्वसंभृत्या प्राञ्जलता (तृ० त०)। आतिथ्य करनेमें सामर्थ्य न हो तो नम्रता दिखानेसे भी अतिथिके चित्तको प्रसन्न करना चाहिए, नहीं तो प्रत्यवाय होगा यह अभिप्राय है॥ २२॥

पुरा परित्यज्य मयाऽत्यसर्जि स्वमासनं तत्किमिति क्षणं न।
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि॥ २३॥

अन्वयः—मया स्वम् आसनं पुरा (एव) परित्यज्य अत्यसर्जि, एतत् अनर्हम् अपि अन्यतः प्रयातुम् ईहा वा यदि किमिति क्षणं न अलङ्क्रियेत॥२३॥

व्याख्या—मया, स्वम् = आत्मीयम्, आसनम् = उपवेशनस्थानं, पुरा = पूर्वं, त्वद्दर्शनक्षण एवेति भावः, परित्यज्य = त्यक्त्वा तत उत्थायेति भावः। अत्यसर्जि = दत्तम्, एतत् = आसनम्, अनर्हम् अपि = अयोग्यम् अपि, अन्यतः= अन्यस्मिन् स्थाने। प्रयातु = गन्तुम्, ईहा वा = इच्छा वा, यदि = चेत्, तथाऽपि किमिति = किमर्थं, क्षणम् = अल्पकालम् अपि, न अलङ्क्रियेत = न संभूष्येत, भक्तजनाऽनुकम्पया क्षणमात्रमपि अत्रोपवेष्टव्यमिति भावः॥ २३॥

अनुवादः—मैंने अपने आसनको पहले ही छोड़ दिया है, इसके अयोग्य होनेपर भी और अन्यत्र जानेकी इच्छा हो तो भी आप क्यों कुछ समयतक भी इसे अलङ्कृत नहीं करते है ?॥ २३॥

टिप्पणी—परित्यज्य = परि + त्यज् + क्त्वा (ल्यप्)। अत्यसर्जि=अति + सृज् + लुङ् (कर्ममें) + त। अनर्हम् = न अर्हम् (नञ्०)। प्रयातुं = प्र + या + तुमुन्। क्षणम् = अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया। अलङ्क्रियेत = अलं + कृ + लिङ् (कर्ममें) + त ॥ २३ ॥

निवेद्यतां हन्त ! समापयन्तौ शिरीषकोषम्रदिमाऽभिमानम् ।
पदौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते ॥ २४ ॥

अन्वयः—शिरीषकोषम्रदिमाऽभिमानं समापयन्तौ इमौ पदौ तुच्छदयं ते मनः कियद्दूरं प्रयासे निधित्सते ? निवेद्यताम्। हन्त ! ॥ २४ ॥

व्याख्या—(हे पुरुषश्रेष्ठ !) शिरीषकोषम्रदिमाऽभिमान = शिरीषपुष्पसमूहकोमलतागर्वं, समापयन्तौ = निवर्तयन्तौ, इमौ = सन्निकृष्टस्थौ, पदौ = चरणौ, तुच्छदयं = निष्कृपं, ते = तव, मनः = चित्तं, कियद्दूरं = किंपरिमाणविप्रकृष्टं, प्रयासे = आयासे, निधित्सते = निधातुमिच्छति, निवेद्यतां = ज्ञाप्यतां, हन्त = अनुकम्पायाम् ॥२४॥

अनुवादः (हे पुरुषश्रेष्ठ !) शिरीष पुष्पके कोषकी कोमलताके गर्वको हटानेवाले आपके इन चरणोंको दयासे शून्य आपका मन कितनी दूरतक प्रयासमें रखना चाहता है, बतलाइए। हाय ! ॥ २४ ॥

टिप्पणी—शिरीषकोषम्रदिमाऽभिमानं = शिरीषस्य कोषः (ष० त०) मृदोर्भावः म्रदिमा, मृदु + इमनिच् + सु। "र ऋतोर्हलादेर्लघोः।" इससे 'ऋ' के स्थानमें 'र' भाव। शिरीषकोषस्य म्रदिमा (ष० त०), तस्य अभिमानक, तम् (ष० त०)। समापयन्तौ = सम् + आप् + णिच् + लट् (शतृ) + औ। पदौ = "पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्।" इत्यमरः। तुच्छदयं = तुच्छा दया यस्य तत् (बहु०), "शून्यम् तु वशिकं तुच्छरिक्तके" इत्यमरः। निधित्सते = निधातुम् इच्छति, नि + धा + सन् + लट् + त, "सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच ईस्" इससे अच्के स्थानमें ईस् आदेश और "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इस सूत्रसे अभ्यासका लोप। निवेद्यताम् = नि + विद् + णिच् + लोट् (कर्ममें) + त। यहाँपर वाक्यार्थ कर्म है। उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥२४॥

अनायि देशः कतमस्त्वयाऽद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य ।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्रव्याऽपि नाऽनेन जनेन संज्ञा ॥ २५ ॥

अन्वयः—अद्य त्वया कतमो देशो वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम् अनायि, (किञ्च) त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था संज्ञा अनेन जनेन श्रव्या अपि न ? ॥२५॥

व्याख्या—अद्य = अस्मिन् दिने, त्वया = भवता, **कतमः** = किंसंज्ञकः, देशः = जनपदः, वसन्तमुक्तस्य = सुरभित्यक्तस्य, वनस्य = विपिनस्य, दशाम् = अवस्थाम्, अनायि=नीतः, रिक्तीकृत इति भावः । किञ्च त्वदाप्तसङ्केततया = भवल्लब्धसम्बन्धत्वेन, कृतार्था = सफला, संज्ञा = नाम, अनेन = सन्निकृष्टस्थेन, जनेन = मल्लक्षणेन, श्रव्या अपि न = श्रोतुम् अर्हा अपि न ? इति काकुः । भवान् कुत आयातः ? किं नामधेयो भवानित्यपि श्रोतुमिच्छामीति भावः ॥ २५ ॥

अनुवादः—आज आपने किस देशको वसन्त ऋतुसे छोड़े गये वनकी अवस्थामें पहुँचाया ? आपमें सङ्केत प्राप्त करने से सफल आपका नाम मुझसे सुननेके लिए योग्य भी नहीं है क्या ? ॥ २५ ॥

टिप्पणी—कतमः = किम्+डतमच्+सु । वसन्तमुक्तस्य = वसन्तेन मुक्तः, तस्य (तृ० त०) । अनायि = नी+लुङ् (कर्ममें)+त । त्वदाप्तसङ्केततया = आप्तः सङ्केतो यया सा (बहु०) । त्वयि आप्तसङ्केता (स० त०), तस्या भावः तत्ताः, तया, त्वदाप्तसङ्केत+तल्+टाप्+टा । कृतार्था = कृतः अर्थः यस्याः सा (बहु०) । श्रव्या = श्रोतुम् अर्हा, श्रु+यत्+टाप्+सु । आप कहाँसे आये हैं ? और आपका क्या नाम है ? यह मैं सुनना चाहती हूँ यह भाव है ॥ २५ ॥

तीर्णः किमर्णोनिधिरेव नैष सुरक्षितेऽभूदिह यत्प्रवेशः ? ।
फलं किमेतस्य तु साहसस्य ? न तावदद्याऽपि विनिश्चिनोमि ॥ २६ ॥

अन्वयः—सुरक्षिते इह यत् प्रवेशः अभूत्, एषः अर्णोनिधिः एव तीर्णो न किम् ? तु एतस्य साहसस्य फलं किम् ? अद्य अपि तावत् न विनिश्चिनोमि ॥ २६ ॥

व्याख्या—(हे पुरुषश्रेष्ठ !) सुरक्षिते = सम्यग्गुप्ते, अत्यन्तदुष्प्रवेश इति भावः । इह = अत्र, अन्तःपुरे, यत्, प्रवेशः = प्रवेशनम्, अभूत् = जातः, एषः= प्रवेशः, अर्णोनिधिः एव = अर्णव एव, तीर्णो न किं = तरणकर्मीकृतो न किम् ? बाहुभ्यामर्णवतरणतुल्यं न किमिति भावः । तु = किन्तु, एतस्य = अस्य, साहसस्य = बलात्कारकृतकार्यस्य, अन्तःपुरप्रवेशरूपस्येति शेषः । फलं किं = प्रयोजनं किम् ? अद्य अपि = इदानीम् अपि, तावत् न विनिश्चिनोमि = निश्चेतुं न शक्नोमीति भावः ॥ २६ ॥

अनुवादः—(हे पुरुषश्रेष्ठ !) सुरक्षित इस अन्तःपुरमें आपका जो प्रवेश हुआ, यह क्या आपने समुद्रको ही पार नहीं किया ? किन्तु इस साहसका क्या फल है ? उसका अभीतक भी निश्चय नहीं कर सकी हूँ ॥ २६ ॥

टिप्पणी—अर्णोनिधिः = अर्णसां निधिः (ष० त०) । तीर्णः = तॄ + क्त (सु) । सुरक्षित अन्तःपुरमें आपका प्रवेश समुद्रको पार करनेके समान है, इस प्रकारसे यहाँपर सादृश्यका आपेक्ष होनेसे निदर्शना अलङ्कार है । विनिश्चिनोमि = वि + निस् + चिञ् + लट् + मिप् ॥ २६ ॥

तव प्रवेशे सुकृतानि हेतुं मन्ये मदक्ष्णोरपि तावदत्र ।
न लक्षितो रक्षिभटैर्यदाभ्यां पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥ २७ ॥

अन्वयः—(हे पुरुषश्रेष्ठ !) (अथ वा) अत्र तव प्रवेशे मदक्ष्णोः सुकृतानि अपि तावत् हेतु मन्ये, यत् तन्वा जितपुष्पधन्वा (त्वम्) रक्षिभटैः न लक्षितः, आभ्यां पीतः असि ॥ २७ ॥

व्याख्या—(हे पुरुषश्रेष्ठ !) अथ वा, अत्र = इह, अन्तःपुरे, तव = भवतः, प्रवेशे = प्रवेशने, मदक्ष्णोः = मन्नयनयोः, सुकृतानि अपि = पुण्यानि अपि, तावत् = तत्कालपर्यन्तं, हेतुं = कारणं, मन्ये = जाने, यत् = यस्मात्कारणात्, तन्वा = शरीरेण, जितपुष्पधन्वा = पराजितकामः, त्वमिति भावः । रक्षिभटैः = रक्षकयोधैः, न लक्षितः = नो दृष्टः, तादृशः सन्, आभ्यां = मन्नयनाभ्यां, पीतः= अतितृष्णया दृष्टः, असि = विद्यसे । पुण्याऽतिशयं विना कथमीदृगपूर्वरूप-साक्षात्कारप्राप्तिरिति भावः ॥ २७ ॥

अनुवादः—(हे पुरुषश्रेष्ठ !) अथवा इस अन्तःपुरमें आपके प्रवेशमें मेरे नेत्रोंके पुण्योंको भी तबतक कारण जानती हूँ, जो कि शरीरसे कामदेवको जीतनेवाले आप रक्षक योद्धाओं से नहीं देखे गये और मेरे नेत्रोंसे अत्यन्त तृष्णासे साक्षात्कार किये गये हैं ॥ २७ ॥

टिप्पणी—मदक्ष्णोः = मम अक्षिणी, तयोः (ष० त०), "तावत्" पदसे आपके दर्शनमें मेरे सुकृतोंके सिवाय और भी हेतु सुननेके लिए योग्य है यह अर्थ द्योतित है । तन्वा = हेतुमें तृतीया । जितपुष्पधन्वा = पुष्पाणि धनुर्यस्य सः (बहु०), जितः पुष्पधन्वा येन सः (बहु०) । रक्षिभटैः = रक्षिणश्च ते भटाः, तैः (क० धा०) । पुण्यविशेषके विना कैसे ऐसे अपूर्व रूपके साक्षात्कारका लाभ हो सकता है ? यह भाव है ॥ २७ ॥

यथाऽऽकृतिः काचन ते यथा वा दौवारिकाऽन्धङ्करणी च शक्तिः ।
रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनीभिस्तथाऽसि पीयूषभुजां सनाभिः ॥ २८ ॥

अन्वयः—(हे पुरुषश्रेष्ठ !) यथा ते आकृतिः काचन, यथा वा दौवारिकाऽन्धङ्करणी शक्तिश्च काचन, (किञ्च) जितकाञ्चनीभिः रुचीभिः रुच्यः असि, तथा पीयूषभुजां सनाभिः असि ॥ २८ ॥

व्याख्या—यथा = येन प्रकारेण, ते = तव, आकृतिः = मूर्तिः, काचन = अनिर्वाच्या, अमानुषीति भावः, यथा वा = येन प्रकारेण वा, दौवारिकाऽन्धङ्करणी = द्वाररक्षकान्धताकारिणी, शक्तिश्च = सामर्थ्यं च, काचन = असाधारणी, अमानुषीति भावः । किञ्च जितकाञ्चनीभिः = पराजितहरिद्राभिः, रुचीभिः = कान्तिभिः, रुच्यः = देदीप्यमानः, असि = विद्यसे, तथा = तेन प्रकारेण, पीयूषभुजाम् = अमृतभक्षकाणां, देवानामिति भावः, सनाभिः = बन्धुः, असि = विद्यसे, त्वं कश्चिद्दिव्यपुरुष इति मन्ये, इति भावः ॥ २८ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) जैसी आपकी आकृति असाधारण है और जैसी द्वारपालोंको अन्धे कर देनेकी शक्ति असाधारण है तथा हरिद्रा (हल्दी)-को जीतनेवाली कान्तियोंसे आप देदीप्यमान हैं उस कारणसे आप देवताओंके बन्धु हैं ॥ २८ ॥

टिप्पणी – दौवारिकाऽन्धङ्करणी = द्वारे नियुक्ता दौवारिकाः, द्वार शब्दसे "तत्र नियुक्तः" इस सूत्रसे ठक् (इक) प्रत्यय आर "द्वारादीनां च" इससे ऐच् आगम । अनन्ध अन्धः यया संपद्यते तथा क्रियते अनया इति अन्धङ्करणी, अन्ध उपपदपूर्वक कृ धातुसे "आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नाऽन्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्" इस सूत्रसे ख्युन् प्रत्यय, "अरुर्द्विषदजन्तेषु मुम्" इससे मुम् आगम और "नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे ङीप् । दौवारिकाणाम् अन्धङ्करणी (ष० त०) । जितकाञ्चनीभिः = जिता काञ्चनी याभिस्ता जितकाञ्चन्यः, ताभिः (बहु०), "निशाऽऽख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी ।" इत्यमरः । समासाऽन्तविधिकी अनित्यतासे "नद्यृतश्च" इससे समासाऽन्त कप् प्रत्यय नहीं हुआ । रुचीभिः = रुचि शब्दसे "कृदिकारादक्तिनः" इससे ङीष् । रुच्यः = रोचत इति रुच् धातुसे "राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याऽव्यथ्याः" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्ययका निपात । पीयूषभुजां = पीयूषं भुञ्जन्तीति पीयषभुजः, तेषाम् । पीयूष + भुज् + क्विप् (उपपद०) + आम् । सनाभि=समाना नाभिः (मूलम्) यस्य सः (बहु०), ज्योतिर्जनपदगरात्रि

नाभि०" इत्यादि सूत्रसे 'समान' के स्थानमें 'स' भाव। इस पद्यमें वाक्यार्थ-हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ २८ ॥

न मन्मथस्त्वं स हि नाऽस्तिमूर्तिर्न वाऽऽश्विनेयः स हि नाऽद्वितीयः।
चिह्नैः किमन्यैरथ वा तवेयं श्रीरेव ताभ्यामधिको विशेषः ॥ २९ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) त्वं मन्मथो न, हि स नाऽस्तिमूर्तिः, वा त्वम् आश्विनेयः न, हि सः अद्वितीयो न, अथ वा अन्यैः चिह्नैः किं ? (किन्तु) तव इयं श्रीः ताभ्याम् अधिको विशेषः ॥ २९ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) त्वं, मन्मथः = कामदेवः, न, हि = यस्मात्, सः = मन्मथः, नाऽस्तिमूर्तिः = अनङ्गः, वा = अथ वा, त्वम्, आश्विनेयः = अश्विनीकुमारः, न = न असि। हि = यतः, सः = अश्विनीकुमारः, अद्वितीयः = एकाकी, न = न अस्ति, सद्वितीय इति भावः। अथ वा = यद्वा, अन्यैः = अपरैः, चिह्नैः = अभिज्ञानैः, किम् ?, किन्तु तव = भवतः, इयं = सन्निकृष्टस्था, श्रीः = शोभा एव, ताभ्यां = मन्मथाऽऽश्विनेयाभ्याम्, अधिकः = असाधारणः, विशेषः = व्यावर्तकधर्मः तस्मादन्यः कोऽपि लोकोत्तरस्त्वमिति तत्त्वं किन्तु नलश्चेदसि धन्या भवामीति भावः ॥ २९ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) आप कामदेव नहीं हैं, क्योंकि वह अनङ्ग है, अथ वा आप अश्विनीकुमार भी नहीं हैं, क्योंकि वे अकेले (एकमात्र) नहीं हैं। अथ वा और चिह्नोंसे क्या होता है ? किन्तु आपकी यह शोभा उन दोनों-कामदेव और अश्विनीकुमारसे अधिक व्यावर्तक (असाधारण) धर्म है ॥ २९ ॥

टिप्पणी—अस्ति मूर्तिर्यस्य सः (बहु०), "अस्ति" यह तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय है। न अस्तिमूर्तिः (सुप्सुपा०)। आश्विनेयः = अश्विन्या अपत्यं पुमान् "स्त्रीभ्यो ढक्" इस सूत्रसे ढक् (एय) प्रत्यय, "किति च" इससे आदि-वृद्धि। अद्वितीयः = अविद्यमानो द्वितीयो यस्य सः (बहु०) ॥ २९ ॥

आलोकतृप्तीकृतलोक ! यस्त्वामसूत पीयूषमयूखमेतम्।
कः स्पर्द्धितुं धावति साधु सार्धमुदन्वता नन्वयमन्ववायः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे आलोकतृप्तीकृतलोक ! यः एतं त्वाम् (एव) पीयूषमयूखम् असूत। (अत एव) उदन्वता सार्धं साधु स्पर्द्धितुं धावति, अयम् अन्ववायः कः ? ननु ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे आलोकतृप्तीकृतलोक = हे दर्शनसन्तर्पितजन !, यः = अन्व-वायः, एतम् = अतिसमीपवर्तिनं, त्वां = भवन्तम् एव, असूत = अजनयत,

अत एव, उदन्वता=उदधिना, सार्धं=सह, साधु=सम्यक्, स्पर्द्धितुं = स्पर्द्धां कर्तुं धावति = शीघ्रं गच्छति, अयम् = एषः, अन्ववायः = वंशः, कः = कतमः, ननु = सम्बोधने । कस्मिन्वंशे त्वमुत्पन्नः ? कथय इति भावः ॥ ३० ॥

अनुवादः—हे दर्शनमात्रसे लोकको तृप्त करनेवाले ! जिस वंशने चन्द्रस्वरूप ऐसे आपको उत्पन्न किया है अत एव वह (वंश) अच्छी तरह से समुद्रसे स्पर्द्धा करनेके लिए दौड़ रहा है, यह वंश कौन-सा है ? ॥ ३० ॥

टिप्पणी – आलोकतृप्तीकृतलोक = अतृप्तः तृप्तः यथा संपद्यते तथा कृतः तृप्तीकृतः, तृप्त + च्वि + कृ + क्त + सु । तृप्तीकृतो लोको येन सः (बहु०), आलोकेन तृप्तीकृतलोकः (तृ० त०), तत्सम्बुद्धौ । "आलोकौ दर्शनद्योतौ" इत्यमरः । "आलोक" पदका अर्थ दर्शन और प्रकाश है, अतः, हे दर्शनसे लोकको तृप्त करनेवाले, अथ वा हे प्रकाशसे लोकको तृप्त करनेवाले इस प्रकार दोनों अर्थ हो सकते हैं । पीयूषमयूखं = पीयूषं मयूखो यस्य, तम् (बहु०) । असूत= सू + लङ् + त । उदन्वता = उदकानि सन्ति यस्मिन् स उदन्वान्, तेन "उदन्वानुदधौ च" इस सूत्रसे संज्ञामें 'उदक' का 'उदन्' हुआ है । स्पर्द्धितुं = स्पर्ध + तुमुन् । अन्ववायः = "वंशोऽन्ववायः सन्तानः" इत्यमरः । इस पद्यमें श्लेष, रूपक और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३० ॥

भूयोऽपि बाला नलसुन्दरं तं मत्वाऽमरं रक्षिजनाऽक्षिबन्धात् ।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्थां श्रियं प्रियस्याऽस्तुत वस्तुतः सा ॥ ३१ ॥

अन्वयः—भूयोऽपि सा बाला तं रक्षिजनाऽक्षिबन्धात् नलसुन्दरं अमरम् मत्वा आतिथ्यचाटूनि अपदिश्य तत्स्थां प्रियस्य श्रियं वस्तुतः अस्तुत ॥३१॥

व्याख्या – इत्थं दमयन्ती नलमेव मत्वाऽपि पुनर्नलसदृशं देवं मत्वा कथयतीत्याह—भूयोऽपि = पुनरपि, सा = पूर्वोक्ता, बाला = युवतिः, भैमी, तं = पुरुषं, रक्षिजनाऽक्षिबन्धात् = रक्षकजनाऽन्धीकरणात् हेतोः, नलसुन्दरं = नलसदृशं मनोरमम् अमरं = कञ्चिद्देवं, मत्वा = ज्ञात्वा, आतिथ्यचाटूनि = अतिथ्यर्थप्रियवाक्यानि, अपदिश्य = व्याजीकृत्य, तत्स्थां = तन्निष्ठां, प्रियस्य = वल्लभस्य नलस्य, श्रियं=शोभां, वस्तुतः = तत्त्वतः, अस्तुत = स्तुतवती ॥ ३१ ॥

अनुवादः—फिर भी दमयन्ती उस पुरुषको रक्षकोंको अन्धा बना देनेके कारण "ये नलके समान सुन्दर कोई देवता हैं" ऐसा समझकर आतिथ्यके प्रिय वचनोंके बहानेसे उस पुरुषमें रही हुई प्रिय नलकी शोभाकी ही वास्तवमें स्तुति करने लगी ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—रक्षितजनाऽक्षिबन्धात् = रक्षिणश्च ते जनाः (क० धा०)। अक्ष्णोर्बन्धः (ष० त०), रक्षिजनानाम् अक्षिबन्धः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। नलसुन्दरं = नल इव सुन्दरः, तम्, "उपमानानि सामान्यवचनैः" इस सूत्रसे समास। आतिथ्यचाटूनि = अतिथये इमानि आतिथ्यानि, अतिथि शब्दसे "अतिथेर्ञ्यः" इस सूत्रसे ञ्य प्रत्यय। आतिथ्यानि च तानि चाटूनि, तानि (क० धा०)। अपदिश्य = अप + दिश् + क्त्वा (ल्यप्)। तत्स्थां = तस्मिन् तिष्ठतीति, तत्स्था, ताम्, तद् + स्था + क (उपपद०) + टाप् + अम्। वस्तुतः = वस्तुन इति, वस्तु + तसि। अस्तुत = स्तु + लङ् + त। इस पद्यमें निदर्शना अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाऽधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि, तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव ॥ ३२ ॥

अन्वयः—गुणाऽधिके वस्तुनि मौनिता चेत् असह्यशल्यं वाग्जन्मवैफल्यं (स्यात्), अल्पीयसि जल्पिते अपि खलत्वं (स्यात्) तत् वन्दिभ्रमभूमिता एव अस्तु ॥ ३२ ॥

व्याख्या—अथ सर्वथाऽपि गुणाधिकस्य स्तुतिकरणे कारणमाह-वाग्जन्मेति। गुणाऽधिके = दयादाक्षिण्यादिगुणोत्कृष्टे, स्तुत्यर्हे इति शेषः। तादृशे वस्तुनि = पदार्थे विषये, मौनिता = तूष्णींभावः, चेत् = यदि, असह्यशल्यं = दुःसहशल्यप्रायं, वाग्जन्मवैफल्यं = वचनाविर्भावनैष्फल्यं, स्यादिति शेषः। तर्हि स्तोकं वक्तव्यमित्याशङ्क्याह—खलत्वमिति। अल्पीयसि = अल्पतरे, जल्पिते अपि = वचने अपि, खलत्वं = दौर्जन्यं, स्यात्, तत् = तस्मात्कारणात्, वन्दिभ्रमभूमिता एव = "अयं स्तुतिपाठकः" इति भ्रमस्य विषयत्वम् एव, अस्तु = भवतु ॥३२॥

अनुवादः– गुणोंसे उत्कृष्ट वस्तुमें वर्णन करनेमें मौन लिया जाय तो असह्य शल्यके समान वचनकी उत्पत्तिकी विफलता होती है और बहुत कम वर्णन करनेमें भी दुर्जनता होगी इसलिए यह "स्तुतिपाठक है" ऐसे भ्रमका विषय होनेपर भी ज्यादा वर्णन करना ही अच्छा है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—गुणाऽधिके = गुणैः अधिकं, तस्मिन् (तृ० त०)। मौनिता = मौनम् अस्याऽस्तीति मौनी, मौन + इनि + सु। मौनिनो भावः, मौनिन् + तल् + टाप् + सु। असह्यशल्यं = न सह्यम् (नञ्०), असह्य च तत् शल्यम् (क० धा०)। वाग्जन्मवैफल्यं = वाचो जन्म (ष० त०)। विगतं फलं यस्मात्तत् (बहु०)। विफलस्य भावः, विफल + ष्यञ् + सु। वाग्जन्मनो

वैफल्यम्, (ष० त०)। अल्पीयसि = अतिशयेन अल्पम् अल्पीयः, तस्मिन्, अल्प + ईयसुन् + ङि। जल्पिते = जल्पनं जल्पितं, तस्मिन्, जल्प + क्त (भावमें) + ङि। वन्दिभ्रमभूमिता = वन्दिनो भ्रमः (ष० त०)। "वन्दिनः स्तुतिपाठकाः" इत्यमरः। भूमेर्भावः, भूमि + तल् + टाप् + सु। वन्दिभ्रमस्य भूमिता (ष० त०)। गुणोंसे उत्कृष्ट वस्तुका अधिक वर्णन करनेसे "यह स्तुति-पाठक है" ऐसा भ्रम हो तो वह सुननेवालेका दोष है, पर वचनकी उत्पत्तिकी विफलता तो नहीं होगी। थोड़ा वर्णन करनेपर दुर्जनता हो तो वह थोड़ा वर्णन करनेवालेका दोष है इसलिए उत्तम गुणवालोंका अधिक वर्णन करना गुण ही है यह भाव है ॥ ३२ ॥

कन्दर्प एवेदमविन्दत त्वां पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म।
चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—यत् कन्दर्पः चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे इन्द्रियाणां मन्दिरं जुहाव स एव पुण्येन इदं त्वाम् अन्यजन्म पुनः अविन्दत (इति) मन्ये ॥ ३३ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) यत् = यस्मात्कारणात्, कन्दर्पः = कामदेवः, चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे = हरक्रूरनेत्राऽनलाऽऽयतने, इन्द्रियाणां = करणानां, मन्दिरम् = आधारस्थानं, शरीरमित्यर्थः, जुहाव = हुतवान्। अतः, सः = कन्दर्प एव, पुण्येन = सुकृतेन, हरनयनानले शरीरसमर्पणरूपेणेति शेषः। इदं = सन्निकृष्टस्थितं, त्वां = त्वद्रूपम्, अन्यजन्म = जन्मान्तरं, पुनः = भूयः, अविन्दत = प्राप्तवान्, इति मन्ये = उत्प्रेक्षे ॥ ३३ ॥

अनुवादः—जो कि कामदेवने महादेवके क्रूर नेत्ररूप अग्निके कुण्डमें अपने शरीरका हवन कर दिया, उस पुण्यसे उसी कामदेवने आपको दूसरे जन्मके रूपमें पा लिया है मैं ऐसा मानती हूँ ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे = चण्ड्या ईशः (ष० त०)। चण्डं च तत् अक्षि (क० धा०)। चण्डीशस्य चण्डाक्षि (ष० त०), तदेव हुताशः (रूपक०), तस्य कुण्डं, तस्मिन् (ष० त०)। जुहाव = हु + लिट् + तिप् (णल्)। अन्यजन्म = अन्यच्च तत् जन्म, तत् (क० धा०)। अविन्दत = विद्लृ + लङ् + त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

शोभायशोभिर्जितशैवशैलं करोषि लज्जागुरुमौलिमेलम्।
वक्षो हठाच्छ्रीहरणादुदस्तो, कन्दर्पमप्युज्झितरूपदर्पम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—(किञ्च) हठात् श्रीहरणात् शोभायशोभिः जितशैवशैलम् ऐल लज्जागुरुमौलिं करोषि, दस्रौ उदस्रौ करोषि, कन्दर्पम् अपि उज्झितरूपदर्पं करोषि ॥ ३४ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) हठात्=प्रसह्य, श्रीहरणात् = सौन्दर्यहरणात् हेतोः, शोभायशोभिः = सौन्दर्यकीर्तिभिः, जितशैवशैलं = विजितकैलासम्, ऐलं = पुरूरवसं, लज्जागुरुमौलिं = व्रीडादुर्भरशिरसं, करोषि = विदधासि, दस्रौ = अश्विनीकुमारौ, उदस्रौ = उद्गताश्रू, करोषि, एवं च कन्दर्पम् अपि = कामदेवम् अपि, उज्झितरूपदर्पं = त्यक्तसौन्दर्यगर्वं, करोषि, सौन्दर्यकीर्तिभिस्त्वं कैलासपर्वतविजेतारं पुरूरवसमश्विनीकुमारौ कामदेवं च निर्जितवानिति भावः ॥ ३४ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) आप हठपूर्वक सौन्दर्यका हरण करनेसे सौन्दर्य और कीर्तियोंसे कैलास पर्वतको जीतनेवाले पुरूरवाको भी दुर्वह शिरवाले बनाते हैं, अश्विनीकुमारोंको भी अश्रुयुक्त कर देते हैं और कामदेवको भी सौन्दर्यके गर्वसे हीन बना देते हैं ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—श्रीहरणात् = श्रियो हरणं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। शोभायशोभिः = शोभा च यशांसि च, तैः (द्वन्द्व), हेतुमें तृतीया। जितशैवशैलं= शिवस्य अयं शैवः, शिव + अण् + सु। जितः शैवः शैलो येन सः, तम्। ऐलम्= इलाया अयम्, ऐलः, तम्, इला + अण् + अम्। चन्द्रसे इलामें उत्पन्न पुरूरवा जो सौन्दर्यमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं उनको भी आपने जीत लिया यह भाव है। लज्जागुरुमौलिं = गुरुः मौलिः यस्य सः (बहु०), लज्जया गुरुमौलिः, तम् (तृ० त०)। उदस्रौ = उद्गतम् अस्रं ययोस्तौ, तौ (बहु०)। सौन्दर्यमें प्रसिद्ध अश्विनीकुमारोंको भी आपने परास्त कर रुलाया यह भाव है। उज्झितरूपदर्पम् = रूपस्य दर्पः (ष० त०), उज्झितो रूपदर्पो येन, तम् (बहु०)। शरीरके सौन्दर्यसे आपने पुरूरवा, अश्विनीकुमार और कामदेव इन सबको मात कर दिया यह भाव है। इस पद्यमें अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

अवैमि हंसाऽऽवलयो वलक्षास्त्वत्कान्तिकीर्तेश्चपलाः पुलाकाः।
उड्डीय पूर्वं पतिताः स्रवन्तीवेशन्तपूरं परितः प्लवन्ते ॥ ३५ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) वलक्षा हंसाऽऽवलयः त्वत्कान्तिकीर्तेः चपलाः पुलाकाः (इति) अवैमि, (अत एव) उड्डीय पतिताः स्रवन्तीवेशन्तपूरं परितः प्लवन्ते, युक्तम् ॥ ३५ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) वलक्षाः = धवलाः, हंसाऽऽवलयः = चक्राङ्ग-पङ्क्तयः, त्वत्कान्तिकीर्तेः = भवत्सौन्दर्ययशसः, चपलाः = चलिताः, पुलाकाः = तुच्छधान्यानि, (इति = एवम्) अवैमि = जानामि, अत एव उड्डीय = उत्पत्य, पतिताः = निपतिताः, स्रवन्तीवेशन्तपूरं = नदीपल्वलप्रवाहं, परितः = समन्ततः, प्लवन्ते = उत्तरन्ति, युक्त = उचितम् । पुलकानां जलोपरि प्लवन-मुचितमेवेति भावः ॥ ३५ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) सफेद हंसोंकी पङ्क्तियाँ आपकी सौन्दर्यकीर्तिके चले हुए तुच्छ धान्य हैं मैं ऐसा जानती हूँ । अत एव उड़कर गिरे हुए वे नदियों और छोटे तालाबोंके प्रवाहके चारों ओर तैर रही हैं, यह उचित है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—वलक्षाः = "वलक्षो धवलोऽर्जुनः" इत्यमरः । हंसाऽऽवलयः = हंसानाम् आवलयः (ष० त०) । त्वत्कान्तिकीर्त्तेः = तव कान्तिः (ष० त०), तस्याः कीर्तिः, तस्याः (ष० त०), पुलाकाः = "स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये" इत्यमरः । अवैमि = अव + इण् + लट् + मिप् । उड्डीय = उद् + डीङ् + क्त्वा (ल्यप्) । स्रवन्तीवेशन्तपूरं = स्रवन्त्यश्च वेशन्ताश्च (द्वन्द्वः), तेषां पूरः, तम् (ष० त०), "परितः" के योगमें "अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियो-गेऽपि" इससे द्वितीया । प्लवन्ते = प्लुङ् + लट् + झ । तुच्छ धान्य जलके ऊपर जो तैरते हैं वह उचित ही है यह भाव है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

भवत्पदाऽङ्गुष्ठमपि श्रिता श्रीर्ध्रुवं न लब्धा कुसुमाऽऽयुधेन ।
जेतुस्तमेतत् खलु चिह्नमस्मिन्नर्द्धेन्दुरास्ते नखवेषधारि ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कुसुमाऽऽयुधेन भवत्पदाऽङ्गुष्ठं श्रिता श्रीरपि न लब्धा ध्रुवम् । (तथा हि) तं जेतुः एतत् अर्द्धेन्दुचिह्नम् अस्मिन् नखवेषधारि आस्ते खलु ॥ ३६ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) कुसुमाऽऽयुधेन = कामेन, भवत्पदाऽङ्गुष्ठं = त्वच्चरणाऽङ्गुष्ठं, श्रिता = आश्रिता, श्रीरपि = शोभाऽपि, न लब्धा = न प्राप्ता, ध्रुवम् = उत्प्रेक्षायाम्, अङ्गान्तरश्रिता श्रीस्तु दूराऽपास्तेति भावः । तथा हि—तं = कुसुमायुधं, कामं, जेतुः = विजेतुः, महादेवस्येति भावः । एतत् = इदम्, अर्द्धेन्दुः = अर्द्धेन्दुरूपं, चिह्नं = लक्ष्म, अस्मिन् = भवत्पदाऽङ्गुष्ठे, नख-

वेषधारि = नखरनेपथ्यधारकं, "नखकैतवेने"ति पाठान्तरे नखरच्छलेनेत्यर्थः, तत्र कैतवाऽपह्नुतिरलङ्कारः । आस्ते = विद्यते, खलु = निश्चयेन ॥ ३६ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) कामदेवने आपके पैरके अंगूठेकी शोभा भी नहीं पाई है मैं ऐसा मानती हूँ । जैसे कि कामदेवको जीतनेवाले महादेवका यह अर्द्धचन्द्ररूप चिह्न आपके पैरके इस अंगूठेमें नाखूनका वेष लेकर रह रहा है ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—कुसुमायुधेन = कुसुमानि आयुधं यस्य, तेन (बहु०) । भवत्पदाऽङ्गुष्ठं = भवतः पदं (ष० त०) अस्य अङ्गुष्ठः, तम् (ष० त०) । तं = "जेतुः" इस तृन्प्रत्ययान्त पदका योग होनेसे "न लोकाव्यय०" इत्यादि सूत्रसे षष्ठीका निषेध होनेसे द्वितीया, जेतुः = जि + तृन् + ङस् । अर्धेन्दुः = अर्द्धं चाऽसौ इन्दुः (क० धा०) । नखवेषधारि = नखस्य वेषः ष० त०), तं धारयतीति नखवेष + धृ + णिच् + णिनि + सु । आस्ते = आस + लट् + त । अर्द्धेन्दु चिह्नको धारण करनेसे आपके पैरका अंगूठा भी कामदेवको जीतनेवाला है । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें अर्थापत्ति और उत्प्रेक्षाकी संसृष्टि है ॥ ३६ ॥

राजा द्विजानामनुमासभिन्नः पूर्णां तनूकृत्य तनुं तपोभिः ।
कुहूषु दृश्येतरतां किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥ ३७ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) द्विजानां राजा अनुमासभिन्नः पूर्णां तनुं तपोभिः तनूकृत्य कुहूषु दृश्येतरताम् एत्य भवन्मुखस्य सायुज्यम् आप्नोति किम् ? ॥ ३७ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) द्विजानां = ब्राह्मणानां, राजा = श्रेष्ठः, चन्द्रः अथ वा ब्राह्मणोत्तमश्च, अनुमासभिन्नः = प्रतिमासामाऽन्यः सन्, पूर्णां = पूरितां, पूर्णिमायामिति भावः, तनुं = शरीरं, तपोभिः = चान्द्रायणादिरूपैः, प्रत्यहं देवताभ्यः कलासमर्पणरूपैरिति भावः । तनूकृत्य=कृशीकृत्य, कुहूषु = अमावास्यासु दृश्येतरताम् = अदृश्यताम्, एत्य = प्राप्य, भवन्मुखस्य = त्वद्वदनस्य, सायुज्यम् = ऐक्यम्, आप्नोति किं = प्राप्नोति किम् ? यथा कश्चिद् ब्राह्मणस्तीव्रेण तपसा ब्रह्मसायुज्यं प्राप्नोति तथैव चन्द्रस्तपश्चरणेन भवन्मुखैक्यं प्राप्नोति किम्, अन्यथा कथं कुहूषु न दृश्यत इति भावः ॥ ३७ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) चन्द्र प्रत्येक मासमें भिन्न होकर पूर्णिमामें पूर्ण शरीर को तपस्याओंसे क्षीण बनाकर अमावास्याओंमें अदृश्य होकर आपके मुखके सायुज्य (एकता) को प्राप्त करता है क्या ? ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—अनुमासभिन्नः = मासं मासम् अनुमासम् (वीप्सामें अव्ययीभाव)। अनुमासं भिन्नः (सुप्सुपा०)। तनूकृत्य = अतनुः तनुः यथा संपद्यते तथा कृत्वा तनु + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। दृश्येतरतां = दृश्यात् इतरः (पं० त०), तस्य भावः, तत्ता, ताम् दृश्येतर + तल् + टाप् + अम्। एत्य = आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्)। भवन्मुखस्य = भवतो मुखं, तस्य (ष० त०)। सायुज्यं = सह युनक्तीति सयुक्, सह (स) युज् + क्विप् (उपपद०) + सु। सयुजो भावः सयुज् + ष्यञ् + सु। जैसे कोई ब्राह्मण तीव्र तपस्यासे ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करता है वैसे ही चन्द्र तपस्यासे आपके मुखकी समानताको प्राप्त करता है। आपका मुख चन्द्रमासे भी उत्तम है यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। ३७॥

कृत्वा दृशौ ते बहुवर्णचित्रे किं कृष्णसारस्य तयोर्मृगस्य।
अदूरजाग्रद्विदरप्रणालीच्छलादयच्छद्विधिरर्द्धचन्द्रम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) विधिः बहुवर्णचित्रे ते दृशौ कृत्वा कृष्णसारस्य मृगस्य तयोः अदूरजाग्रद्विदरप्रणालीच्छलात् अर्द्धचन्द्रम् अयच्छत् ॥३८॥

व्याख्या—(हे महोदय !) विधिः = ब्रह्मदेवः, बहुवर्णचित्रे = अनेकरूपविचित्रे, शुक्लकृष्णरक्तरूपचित्रै इति भावः। ते = तव, दृशौ = नेत्रे, कृत्वा = विधाय, कृष्णसारस्य = कृष्णसारनामकस्य, मृगस्य = हरिणस्य, तयोः = दृशोः, अदूरजाग्रद्विदरप्रणालीच्छलात् = समीपविद्यमानस्फुटनमार्गकैतवात्, अर्द्धचन्द्रं = गलहस्तिकाम्, अयच्छत् = दत्तवान, भवन्नेत्रसमकक्षाऽनर्हत्वादिति भावः॥ ३८॥

अनुवादः—(हे महोदय !) ब्रह्माजीने अनेक वर्णों (शुक्ल, कृष्ण और रक्त) से विचित्र आपके नेत्रोंको बनाकर कृष्णसार मृगके नेत्रोंमें निकट विद्यमान गर्तरूप रेखाके बहानेसे अर्द्धचन्द्र (गर्दनी) दी है ॥३८॥

टिप्पणी—बहुवर्णचित्रे = बहवश्च ते वर्णाः (क० धा०), तैः चित्रे, ते (तृ० त०)। अदूरजाग्रद्विदरप्रणालीच्छलात् = न दूरम् (नञ्०), अदूरे जाग्रती (स० त०)। विदरस्य प्रणाली (ष० त०), "विदरः स्फुटनं भिदा" इत्यमरः। अदूरजाग्रती चाऽसौ विदरप्रणाली (क० धा०), तस्याः छलं तस्मात् (ष० त०)। अर्द्धचन्द्रम् = अर्धं चाऽसौ चन्द्रः, तम् (क० धा०)। "अर्द्धचन्द्रस्तु चन्द्रके। गलहस्ते बाणभेदेऽपि" इति विश्वः। अयच्छत् = दाण् + लङ् + तिप्। दाण् धातुके स्थानमें "पाघ्राध्मा०" इत्यादि सूत्रसे यच्छ आदेश। कृष्णसार मृगके

नेत्रोंने आपके नेत्रोंसे बराबरी की तब ब्रह्माने उनके नेत्रोंके नीचे गर्त रूप रेखा रूप अर्द्धचन्द्र (गर्दनी) देकर उनको धिक्कारा यह भाव है। इस पद्यमें अपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा की संसृष्टि है ॥ ३८ ॥

मुग्धः स मोहात् सुभगान्न देहाद्ददद्भवद्भ्रूरचनाय चापम्।
भ्रूभङ्गजेयस्तव यन्मनोभूरनेन रूपेण यदा तदाऽभूत् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) भवद्भ्रूरचनाय चापं ददत् स मनोभूः मोहात् मुग्धः अभूत, सुभगात् देहात् न, यत् तव अनेन रूपेण यदा तदा भ्रूभङ्गजेयः अभूत् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) भवद्भ्रूरचनाय = त्वदक्षिलोमनिर्माणाय, चापं = स्वकीयं कार्मुकं, ददत् = वितरन्, ब्राह्मण इति शेषः। सः = प्रसिद्धः, मनोभूः = कामः, मोहात् = अज्ञानात् हेतोः, मुग्धः = मुग्धशब्दवाच्यः, अभूत् = अभवत्, सुभगात् = सुन्दरात्, देहात् तु = शरीरात् तु, न = मुग्धः न अभूत। कुतः ?—यत् = यस्मात्, तव = भवतः, अनेन = सन्निकृष्टस्थेन, रूपेण = सौन्दर्येण करणेन, यदा तदा = सर्वदा इति भावः। भ्रूभङ्गजेयः = भ्रूक्षेपमात्रेण पराजयविषयः, अभूत् = अभवत्। कामस्त्वां सौन्दर्येण जेतुमसमर्थोऽपि चापेनाऽपि शक्नुयात्, तस्याऽपि वितरणादुभयथाऽपि भ्रष्टोऽभूदिति भावः ॥ ३९ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) आपकी भौंहोंकी रचनाके लिए अपने धनुको देता हुआ प्रसिद्ध कामदेव मोहके कारण मुग्ध (मुग्धपदसे कहे जानेको योग्य) हुआ न कि सुन्दर शरीरके कारण, जिस कारणसे आपके इस सौन्दर्यसे सर्वदा ही भ्रूक्षेपमात्रसे पराजयके योग्य हो गया ॥ ३९ ॥

टिप्पणी – भवद्भ्रूरचनाय = भवतो भ्रुवौ (ष० त०), तयो रचनं, तस्मै (ष० त०)। ददत् = ददातीति, दा+लट् (शतृ)+सु, "नाऽभ्यस्ताच्छतुः" इस सूत्रसे नुम्का निषेध। मुग्धः = मुह + क्त+सु। "मुग्धः सुन्दरमूढयोः" इत्यमरः। पहले कामदेव सौन्दर्यके कारण मुग्ध (सुन्दर) कहा जाता था इस समय तो मुग्धत्व (मोहयुक्तत्व) के कारण मुग्ध कहा जाता है, यह भाव है। भ्रूभङ्गजेयः = भ्रुवोर्भङ्गः (ष० त०), तेन जेयः (तृ० त०)। कामदेव आपको सौन्दर्यसे जीतनेको असमर्थ होनेपर भी कदाचित् धनुसे जीत सकता, इस समय उसे भी ब्रह्माजीको देनेसे उभयथा भ्रष्ट हो गया, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

मृगस्य नेत्रद्वितस्यं त्वदास्ये विधौ विधित्वाऽनुमितस्य दृश्यम् ।
तस्यैव च त्वत्कचपाशवेषः पुच्छे स्फरच्चामरगुच्छ एषः ॥ ४० ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) त्वदास्ये विधौ दृश्यं नेत्रद्वितयं विधुत्वाऽनुमितस्य मृगस्य एव । (किं च) एष त्वत्कचपाशवेषः तस्य एव पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छः ॥ ४० ॥

व्याख्या--(हे महोदय !) त्वदास्ये = भवन्मुखरूपे, विधौ = चन्द्रे, दृश्यं= दर्शनविषयीभूतं, नेत्रद्वितयं = नयनयुगलं, विधुत्वाऽनुमितस्य = विधुत्वेन (चन्द्रत्वेन) अनुमितस्य (अनुमितिविषयभूतस्य), मृगस्य एव = हरिणस्य एव, चन्द्रस्य मृगाऽविनाभावादिति भावः । (किञ्च) एषः = समीपतरवर्ती, त्वत्कचपाशवेषः = भवत्केशपाशसन्निवेशः, तस्य एव = मृगस्य एव, पुच्छे= लाङ्गूले, स्फुरच्चामरगुच्छः = शोभमानचामरस्तबकः, अस्तीति शेषः ॥ ४० ॥

अनुवादः—आपके मुखरूप चन्द्रमें दर्शनीय दो नेत्र चन्द्रकी स्थितिसे अनुमित मृगके ही हैं । यह आपके केशकलापका वेषरूप उसी मृगके पुच्छमें शोभित चमरका गुच्छा है ॥ ४० ॥

टिप्पणी—त्वदास्ये = तव आस्यं, तस्मिन् (ष० त०) । नेत्रद्वितयं = नेत्रयोर्द्वितयम् (ष० त०) । विधुत्वाऽनुमितस्य = विधोर्भावः, विधु+त्व+सु । विधुत्वेन अनुमितः, तस्य (तृ० त०), यत्र यत्र विधुः, तत्र तत्र मृगवत्त्वम् ऐसी व्याप्तिसे अनुमितिका विषयीभूत मृग यह भाव है । त्वत्कचपाशवेषः = कचानां पाशः (ष० त०), तव कचपाशः (ष० त०), त्वत्कचपाशः वेषः यस्य सः (बहु०) । स्फुरच्चामरगुच्छः = चामरस्य गुच्छः (ष० त०), स्फुरंश्चाऽसौ चामरगुच्छः (क० धा०) । आपके नेत्र मृगनेत्रोंके समान हैं और आपका केशपाश शोभित चमरगुच्छके समान सुन्दर है यह भाव है । इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ४० ॥

आस्तामनङ्गीकरणाद्भवेन दृश्यः स्मरो नेति पुराणवाणी ।
तवैव देहं श्रितया श्रियेति नवस्तु वस्तु प्रतिभाति वादः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) स्मरो भवेन अनङ्गीकरणात् दृश्यो न इति पुराणवाणी आस्ताम्, तव एव देहं श्रितया श्रिया न दृश्यः इति नवो वादस्तु वस्तु प्रतिभाति ॥ ४१ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) स्मरः = कामः, भवेन = ईश्वरेण, अनङ्गीकरणात् = अशरीरीकरणात् हेतोः, दृश्यः = नयनगोचरः, न = न अस्ति, इति = एतादृशी, पुराणवाणी = पुरातनवादः अथ वा पुराणवादः, तावत् आस्तां = तिष्ठतु, तव एव = भवत एव, देहं = शरीरं, श्रितया = आश्रितया, श्रिया = सौन्दर्येण हेतुना, न दृश्यः = नो दर्शनीयः, नयनाऽगोचरः, इति = अयं, नवः = नूतनः, वादस्तु = वचनं तु, वस्तु = परमाऽर्थः, प्रतिभाति = प्रतिशोभते। हरनयनाऽनलेन दग्धत्वात्स्मरोऽनङ्ग इति ऐतिह्यमात्रं, त्वच्छरीरसौन्दर्येण पराजितत्वाल्लज्जयाऽदृश्यतां गत इदं तु प्रत्यक्षमिति भावः ॥ ४१ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) कामदेव महादेवसे भस्मीभूत होनेसे दर्शनयोग्य नहीं है यह पुराना वचन वा पुराणकी वाणी रहे, आपके ही शरीरमें रहे हुए सौन्दर्यके कारण लज्जासे अदृश्य हो गया है यह नवीन वचन तो वास्तविक प्रतीत होता है ॥ ४१ ॥

टिप्पणी--अनङ्गीकरणात् = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य सः अनङ्गः (नञ्बहु०)। अननङ्गः अनङ्ग यथा सम्पद्यते तथा करणं, तस्मात्, अनङ्ग + च्वि + कृ + ल्युट् + ङसि। पुराणवाणी=पुरा भवा पुराणी, पुरा शब्दसे "सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च" इससे ट्यु वा ट्युल् प्रत्यय, "पूर्वकालैक०" इत्यादि सूत्रमें निपातनसे तुट्का अभाव। टित् होनेसे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। पुराणी चाऽसौ वाणी (क० धा०)। अथ वा पुराणस्य वाणी (ष० त०), आप कामदेवसे भी अधिक सुन्दर हैं यह भाव है। इस पद्य में कामदेव के अदृश्यत्वमें पराजयसे उत्पन्न लज्जाकी हेतुता होनेसे हेतूत्प्रेक्षा है ॥ ४१ ॥

त्वया जगत्युञ्चितकान्तिसारे यदिन्दुनाऽशीलि शिलोञ्छवृत्तिः।
आरोपि तन्माणवकोऽपि मौलौ स यज्वराज्येऽपि महेश्वरेण ॥ ४२ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) त्वया जगति उञ्चितकान्तिसारे (सति) यत् इन्दुना शिलोञ्छवृत्तिः अशीलि, तत् माणवकः अपि स महेश्वरेण मौलौ यज्वराज्ये अपि आरोपि ॥ ४२ ॥

व्याख्या--(हे महोदय !) त्वया = भवता, जगति = लोके, उञ्चितकान्तिसारे=गृहीतसौन्दर्यश्रेष्ठभागे सति, यत् = यस्मात्, इन्दुना = चन्द्रमसा, शिलोञ्छवृत्तिः=धान्यकणादान-कणिकांऽशाऽर्जनरूपजीविका, अशीलि=शीलिता, तत् = तस्मात्कारणात्, माणवकः अपि = बालः अपि, कलारूपोऽपीति भावः।

सः = इन्दुः, महेश्वरेण = महादेवेन महाराजेन च, मौली=शिरसि, तथा यज्वराज्ये अपि = द्विजराजत्वे अपि, आरोपि = आरोपितः। प्रकृष्टधर्मोऽनेक फलजनको भवतीति भावः। लोकत्रयाह्लादकश्चन्द्रोऽपि भवत्सौन्दर्यलेश एवेति तात्पर्यम्॥ ४२॥

अनुवादः—जगत्के सौन्दर्यके श्रेष्ठ भागका आपसे ग्रहण किये जानेपर जो चन्द्र ने शिलवृत्ति और उञ्छवृत्तिका परिशीलन किया उस कारणसे बालरूप होनेपर भी उनको महादेवने अपने शिरमें और ब्राह्मणके राजाके रूपमें स्थापित किया॥ ४२॥

टिप्पणी—उच्चितकान्तिसारे = कान्तेः सारः (ष० त०), उच्चितः कान्तिसारो यस्मात् तत्, तस्मिन् (बहु०)। शिलोञ्छवृत्तिः = शिलं च उञ्छश्च: (द्वन्द्वः), तौ एव वृत्तिः (रूपक०)। वृत्ति (जीविका) के छः भेद हैं, जैसे कि भगवान् मनुने कहा है –

"ऋताऽमृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्याऽनृताभ्यामपि वा न श्ववृत्या कदाचन॥" मनुस्मृति ४ ४

अर्थात् ऋत (उञ्छवृत्ति शिलवृत्ति), अमृत (अयाचित), मृत (याचना), प्रमृत (कृषि), सत्याऽनृत (वाणिज्य) और सेवा। इनमें उञ्छवृत्ति और शिलवृत्ति इन दोनोंको "ऋत" कहते हैं। "उञ्छो धान्यकणाऽऽदानं कणिकाऽशाऽर्जनं शिलम्" इति यादवः। खेतमें पड़े हुए धान्यकणोंके ग्रहणको 'उञ्छवृत्ति" और धान्यमञ्जरीसे धान्यकणोंके ग्रहणको "शिलवृत्ति" कहते हैं। इनमें ब्राह्मणके लिए ऋतवृत्ति सर्वोत्तम मानी गई है। अशीलि = शील + लुङ् (कर्ममें) + त। माणवकः = मनोरपत्यं पुमान् मानवः, मनु + अण् + सु। "ब्राह्मणमाणववाडवाद्यत्" इस सूत्रमें निपातनसे णत्व होकर "माणवः" अल्पः माणवः माणवकः "अल्पे" इस सूत्रसे कन्प्रत्यय। महोपाध्याय मल्लिनाथजी लिखते हैं—

"अपत्ये कुत्सिते मूढ मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य तु मूर्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः॥"

यह वचन कहाँका है पता नहीं। "हारभेदे माणवको बाले कुपुरुषेऽपि च।" इति रभसः। महेश्वरेण=महांश्चाऽसौ ईश्वरः, तेन (क० धा०)। यज्वराज्ये=विधिना इष्टवन्तो यज्वानः, यज् धातुसे "सुयजोङ्वनिप्" इस सूत्रसे ङ्वनिप्। "यज्वा तु विधिनेष्टवान्" इत्यमरः। यज्वना राज्यं, तस्मिन् (ष० त०)। आरोपि= आङ् + रुह + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त। बाल होनेपर भी इन्दु (चन्द्र)

को महेश्वरने शिरमें और द्विजराजके रूपमें स्थापित किया इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा है। उत्तम धर्म उत्तम फलोंके लिए होता है। तीन लोकोंको आह्लादित करनेवाले चन्द्र भी आपके सौन्दर्यके लेशरूप ही हैं यह तात्पर्य है ॥ ४२ ॥

आदेहदाहं कुसुमायुधस्य विधाय सौन्दर्यकथादरिद्रम् ।
त्वदङ्गशिल्पात् पुनरीश्वरेण चिरेण जाने जगदन्वकम्पि ॥ ४३ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) ईश्वरेण कुसुमायुधस्य आदेहदाहं जगत् सौन्दर्यकथादरिद्रं विधाय चिरेण त्वदङ्गशिल्पात् पुनः अन्वकम्पि (इति) जाने ॥४३॥

व्याख्या—ईश्वरेण = महादेवेन, कुसुमायुधस्य = कामदेवस्य, आदेहदाहं = देहदाहात् आरभ्य, जगत् = लोकं, सौन्दर्यकथादरिद्रं=लावण्यवार्तादीनं, विधाय= कृत्वा, चिरेण = बहुकालात्, त्वदङ्गशिल्पात् = भवच्छरीरनिर्माणात्, पुनः = भूयः, अन्वकम्पि=अनुकम्पितं, त्वया सौन्दर्यभरितं कृतमिति शेषः। इति, जाने = मन्ये ॥ ४३ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) महादेवने कामदेवके शरीरदाहसे लेकर लोकको सौन्दर्यकी वार्तामें दरिद्र (शून्य) बनाकर बहुत दिनोंके अनन्तर आपके शरीरका निर्माण कर फिर अनुकम्पित किया मैं ऐसा जानती हूँ ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—कुसुमायुधस्य = कुसुमानि आयुधानि यस्य, तस्य (बहु०)। आदेहदाहं = देहस्य दाहः (ष० त०), देहदाहात् आरभ्य (मर्यादामें अव्ययीभाव)। सौन्दर्यकथादरिद्रं=सौन्दर्यस्य कथा (ष० त०), तस्यां दरिद्रः तत् (स० त०)। त्वदङ्गशिल्पात् = तव अङ्गानि (ष० त०), तेषां शिल्पं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। अन्वकम्पि = अनु + कपि + लुङ् (कर्ममें) + त। आप कामदेवके समान सुन्दर हैं यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

मही कृतार्था यदि मानवोऽसि, जितं दिवा यद्यमरेषु कोऽपि ।
कुलं त्वयाऽलङ्कृतमौरगं चेन्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) मानवोऽसि यदि, मही कृतार्था, अमरेषु कोऽपि असि यदि, दिवा जितम्। त्वया औरगं कुलम् अलङ्कृतं चेत्, अधोऽपि नागलोकः कस्य उपरि न ? ॥ ४४ ॥

व्याख्या—मानवोऽसि = मनुष्योऽसि, यदि = चेत्, त्वमिति शेषः। तर्हि मही = भूलोकः, कृतार्था = कृतकृत्या, त्वदीयावासत्वेनेति भावः। अमरेषु =

देवेषु, कोऽपि = कश्चित्, असि यदि = विद्यसे चेत्, तर्हि दिवा = स्वर्गेण, जितं = सर्वोत्कर्षेण स्थितम् । त्वया = भवता, औरगं = सर्पं, कुलं = वंशः, अलङ्कृतं = भूषितं, चेत् = यदि, स्वजनुषेति भावः, तर्हि अधोऽपि = सर्वाऽधः-स्थितोऽपि, नागलोकः = पातालं, कस्य = लोकस्य, उपरि = ऊर्ध्वभागे, न = नो वर्तते, सर्वस्याऽपि लोकस्योपरि वर्तत इति भावः ॥ ४४ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) आप मनुष्य हैं तो पृथ्वी कृतार्थ है। आप देवताओंमें कोई हैं तो स्वर्गने जीत लिया। आपने सर्पवंशको अलंकृत किया हो तो नीचे रहते हुए भी पाताल किस लोकके ऊपर नहीं है ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—मानवः = मनोरपत्यं पुमान्, मनु + अण् + सु। कृतार्था = कृतः अर्थो यस्याः सा (बहु०)। दिवा = "सुरलोको द्योदिवौ द्वे" इत्यमरः। जितं = 'जि' धातुसे "नपुंसके भावे क्तः" इस सूत्रसे भावमें क्त प्रत्यय। औरगम् = उरगस्य इदम्, उरग + अण् + सु। नागलोकः = नागानां लोकः (ष० त०)। आप मनुष्य, देवता और सर्प इनमेंसे कौन हैं ? यह भाव है ॥४४॥

सेयं न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्तवृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने ।
ममौ स भद्रं चुलुके समुद्रस्त्वयाऽऽत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) त्वयि चिन्त्यमाने सा इयं मच्चित्तवृत्तिः उच्चैः अनुपपत्तिं न धत्ते। स समुद्रः त्वया आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः चुलुके ममौ भद्रम् ॥ ४५ ॥

व्याख्या—त्वयि = भवति, चिन्त्यमाने = विचार्यमाणे, स्वरूपतो गुणतश्चेति शेषः। सा, इयम् = एषा, मच्चित्तवृत्तिः = मन्मनोवृत्तिः, उच्चैः = महतीम्, अनुपपत्तिम् = असंभाव्यतां, न धत्ते = नो धारयति, अगस्त्येन चुलुकेन समुद्रः पीत इति वृत्तान्तस्याऽसंभाव्यतां न करोतीति भावः। तत्र हेतुमुत्प्रेक्षते—सः = प्रसिद्धः, समुद्रः=अर्णवः, त्वया = भवता, आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः = गृहीतगभीरतावृहत्ताचिह्नः सन्, चुलुके = मुनिमुष्टिगर्भे, ममौ = माति स्म। भद्रं = युक्तम्। नो चेत्कथं तथा महतो गभीरस्य समुद्रस्य मुनिचुलुकपरिमितता इति भावः ॥ ४५ ॥

अनुवादः—हे महोदय ! आपका विचार करने पर मेरी मनोवृत्ति (अगस्त्य ने चुल्लूमें समुद्र पी लिया) यह बात असंभव है ऐसा नहीं मानती है। आपसे गम्भीरता और महत्तारूप चिह्नके ग्रहण किये जानेसे वह समुद्र अगस्त्यके चुल्लूमें समाया। यह ठीक है ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—चिन्त्यमाने = चिन्त्यते इति तस्मिन्, चिन्त + लट् (कर्ममें) (शानच्) + ङि । मच्चित्तवृत्तिः = चित्तस्य वृत्तिः (ष० त०), मम चित्त-वृत्तिः (ष० त०) । आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः = गाम्भीर्यं च महत्त्वं च (द्वन्द्व०) । आत्ता गाम्भीर्यमहत्त्वे एव मुद्रा (चिह्नम) यस्य सः (बहु०) । ममौ= माङ्+लिट्+णल् (औ) । इस पद्यमें समानेके हेतुका "आत्त०" इत्यादि विशेषण की गतिसे निर्देश होनेसे पदाऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है, उत्प्रेक्षा उसका अङ्ग है, उसका व्यञ्जक "भद्रम्" यह पद है इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है । आपसे गाम्भीर्य और महत्त्वके ग्रहण किये जानेसे ही समुद्र अगस्त्यके चुल्लूमें समा गया है अतः आप समुद्र से भी गम्भीर और महान् हैं यह अभिप्राय है ॥ ४५ ॥

संसारसिन्धावनुबिम्बमत्र जागर्ति जाने तव वैरसेनिः ।
बिम्बाऽनुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टाऽतिसरूपसृष्टिः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) अत्र संसारसिन्धौ वैरसेनिः तव अनुबिम्बं जागर्ति (इति) जाने । हि बिम्बाऽनुबिम्बौ विहाय धातुः अतिसरूपसृष्टिः जातु न दृष्टा ॥ ४६ ॥

व्याख्या.—अत्र = अस्मिन्, संसारसिन्धौ = विश्वसमुद्रे, वैरसेनिः = नलः, तव = भवतः, अनुबिम्बं = प्रतिबिम्बं, जागर्ति = स्फुरति, इति जाने = तर्कयामि । हि = यस्मात्कारणात्, बिम्बाऽनुबिम्बौ = बिम्बप्रतिबिम्बौ, विहाय = वर्जयित्वा, धातुः = ब्रह्मदेवस्य, अतिसरूपसृष्टिः = अतितुल्यरूपनिर्माणं, जातु = कदाचिदपि, न दृष्टा = नो विलोकिता । अन्यथा कथमेतदतिशयसादृश्यमित्यर्थः । भवान् नल एवेति मे प्रतिभातीति भावः ॥ ४६ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) इस संसारसमुद्रमें वीरसेन के पुत्र नल आपके प्रतिबिम्ब हैं मैं ऐसा जानती हूँ, क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्बको छोड़कर ब्रह्माजीकी अतिशय तुल्यरूपवाली सृष्टि कभी भी देखी नहीं गई है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—संसारसिन्धौ = संसार एव सिन्धुः तस्मिन् (रूपक०) । वैरसेनिः = वीरसेनस्याऽपत्यं पुमान्, 'वीरसेन' शब्दसे "अत इञ्" इस सूत्रसे इञ् प्रत्यय और आदिवृद्धि । जाने = ज्ञा + लट् + इट् । बिम्बानुबिम्बौ=बिम्बश्च अनुबिम्बश्च, तौ (द्वन्द्व०) । अतिसरूपसृष्टिः = समानं रूपं ययोस्तौ सरूपौ (बहु०) "ज्योतिर्जनपद०" इत्यादि सूत्रसे समानके स्थानमें 'स' भाव । अत्यन्तं सरूपौ (सुप्सुपा०) । अतिसरूपयोः सृष्टिः (ष० त०) । आप नल

ही हैं मुझे ऐसा प्रतीत होता है यह भाव है । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, इस प्रकार दोनों में अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

इयत् कृतं केन महीजगत्यामहो ! महीयः सुकृतं जनेन ।
पादौ यमुद्दिश्य तवाऽपि पद्यारजःसु पद्मस्रजमारभेते ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) महीजगत्यां केन जनेन इयत् महीयः सुकृतं कृतम् ? अहो ! यम् उद्दिश्य तवाऽपि पादौ पद्यारजःसु पद्मस्रजम् आरभेते ॥ ४७ ॥

व्याख्या—महीजगत्यां = भूलोके, केन = किंनाम्ना, जनेन = मानवेन, इयत् = एतावत्, महीयः = महत्तरं, सुकृतं = पुण्य, कृतम्, = आचरितम्, अहो = आश्चर्यम् । यं = जनम्, उद्दिश्य = अनूद्य, तवाऽपि = भवतोऽपि, पादौ = चरणौ, पद्यारजःसु = मार्गधूलिषु, पद्मस्रजं = कमलमालाम्, आरभेते = कुर्वाते । भवान् यं जनमुद्दिश्य समागतः स धन्यो वक्तव्य इति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) भूलोकमें किस मानवने इतना अधिक पुण्य किया है, जिसको उद्देश्य करके आपके भी चरण मार्गकी धूलियोंमें कमलोंकी मालाकी रचना करते हैं ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—महीजगत्यां = मह्या जगती, तस्याम् (ष० त०) । महीयः = अतिशयेन महत्, महत् + ईयसुन् + सु । उद्दिश्य = उद् + दिश् + क्त्वा (ल्यप्) । पद्यारजःसु = पादाय हिता पद्या, पाद शब्दसे "शरीराऽवयवाद्यत्" इस सूत्रसे यत् और "पद्यत्यतदर्थे" इससे पादका पद्भाव और टाप् । "सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च ।" इत्यमरः । पद्याया रजांसि, तेषु (ष० त०) । पद्मस्रजं = पद्मानां स्रक्, ताम् (ष० त०) । आरभेते = आङ् + रभ + लट् + आताम् । जिस मनुष्यको उद्देश्य करके आप आये हैं वह धन्य है यह भाव है ॥ ४७ ॥

ब्रवीति मे किं किमियं न जाने सन्देहदोलामवलम्ब्य संवित् ।
कस्याऽपि धन्यस्य गृहाऽतिथिस्त्वमलीकसंभावनयाऽथवाऽलम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) इयं मे संवित् सन्देहदोलाम् अवलम्ब्य किं किं ब्रवीति, न जाने । अथ वा अलीकसंभावनया अलम् । कस्याऽपि धन्यस्य गृहाऽतिथिः त्वम् ॥ ४८ ॥

व्याख्या—इयम् = एषा, मे = मम, संवित् = बुद्धिः, सन्देहदोलां = संशयप्रेङ्खाम्, अस्मदुद्देशेन वाऽन्योद्देशेनागतस्त्वमित्येवंरूपामिति भावः ।

अवलम्ब्य = आरुह्य, किं किं ब्रवीति = किं किं कथयति । किं किं तर्कयतीति भावः । अतः न जाने = नो निश्चिनोमि । अथ वा = यद्वा, अलीकसंभावनया = मिथ्यावितर्केण, अलं = पर्याप्तं, तेन साध्यं नाऽस्तीति भावः । किन्तु कस्याऽपि = अज्ञातनामधेयस्य, धन्यस्य = पुण्यवतः, गृहाऽतिथिः = गेहाऽऽगन्तुकः, त्वम् असीति शेषः । संशयाऽपनोदनेन मामनुकम्पस्वेति भावः ॥ ४८ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) यह मेरी बुद्धि शङ्कारूप झूलाका अवलम्बन कर क्या-क्या कहती है ? इस कारण मैं नहीं जानती हूँ अथ वा मिथ्या तर्क करनेसे क्या ? आप किसी भाग्यशाली पुरुषके घरमें अतिथि होनेके लिए आये हैं ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—सन्देहदोलां = सन्देह एव दोला, ताम् (रूपक०) । आप मेरे उद्देश्यसे आये हैं वा दूसरेके उद्देश्यसे ऐसी सन्देहदोलाका अवलम्बन कर यह अभिप्राय है । ब्रवीति = ब्रू + लट् तिप् । अलीकसंभावनया = अलीकस्य संभावना, तया (ष० त०), धन्यस्य = धनं लब्धा, तस्य, "धनगणं लब्धा" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

प्राप्तैव तावत् तवरूपसृष्टं निपीय दृष्टिर्जनुषः फलं मे ।
अपि श्रुती नाऽमृतमाद्रियेतां तयोः प्रसादीकुरुषे गिरं चेत् ? ॥ ४९ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) तावत् मे दृष्टिः तव रूपसृष्टम् अमृतं निपीय जनुषः फलं प्राप्ता एव । तयोः गिरः प्रसादीकुरुषे चेत् श्रुती अपि अमृतं न आद्रियेताम् ? ॥ ४९ ॥

व्याख्या—तावत् = प्रथमं, मे = मम, दृष्टिः = नेत्रं, तव = भवतः, रूपसृष्टं = सौन्दर्योत्पादितम्, अमृतं = पीयूषं, निपीय = नितरां पीत्वा, सहर्षं विलोक्येति भावः । जनुषः = जन्मनः, फलं = प्रयोजनं, प्राप्ता एव = आसादितवती एव । तयोः = मम श्रुत्योः, गिरं = वचनं, प्रसादीकुरुषे चेत् = अनुग्रहीकरोषि यदि, श्रुती अपि = मम कर्णौ अपि, अमृतं = पीयूषं, न आद्रियेतां = न संमन्येताम्, भवान् भाषणेन अनुगृह्णात्विति भावः ॥ ४९ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) मेरे नेत्रोंने आपके सौन्दर्यसे उत्पादित अमृतका पान कर जन्मके फलको प्राप्त कर लिया है, वचन सुनानेका अनुग्रह करेंगे तो मेरे कान भी अमृतका आदर नहीं करेंगे ? ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—रूपसृष्टं = रूपेण सृष्टं, तत् (तृ० त०)। प्रसादीकुरुषे = अप्रसादः प्रसादो यथा संपद्यते तथा कुरुषे (प्रसाद + च्वि + कृ + लट् + थास्)। आद्रियेताम् = आङ् + दृङ् + लोट् + आताम्। आप अमृततुल्य अपने वचनसे मुझे कृतार्थ करें यह भाव है ॥४९॥

इत्थं मधूत्थं रसमुद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा।
कर्णात् प्रसूनाऽऽशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेणाऽस्य मनो विवेश ॥ ५० ॥

अन्वयः—इत्थं मधूत्थं रसम् उद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा प्रसूनाऽऽशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेण अस्य कर्णात् (अस्य) मनो विवेश ॥५०॥

व्याख्या—इत्थं = अनेन प्रकारेण, मधूत्थं = क्षौद्रोत्पन्नं, रसं = स्वादम्, उद्गिरन्ती = स्रवन्ती, तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा = दमयन्त्यधरबन्धुजीवकपुष्पकार्मुकमुक्ता, प्रसूनाशुगपञ्चबाणी = कामपञ्चशरी, वाणीमिषेण = वाग्व्याजेन, अस्य = नलस्य, कर्णात् = कर्णं प्रविश्य, अस्य = नलस्य, मनः = चित्तं, विवेश = प्रविष्टा, कर्णद्वारेति भावः ॥ ५० ॥

अनुवादः—इस प्रकारसे मधु (शहद) के रसको निकालते हुए दमयन्तीके ओष्ठरूप दुपहरियाके फूलरूप धनुसे छोड़े गये कामदेवके पाँचों बाणोंने दमयन्तीके वचनके बहानेसे नलके कानोंमें घुसकर मनमें प्रवेश किया ॥ ५० ॥

टिप्पणी—मधूत्थं = मधुन उत्तिष्ठतीति, तम्। (मधु + उद् + स्था + क (उपपद०) + अम्)। उद्गिरन्ती = उद् + गॄ + लट् (शतृ) + ङीप् + सु। तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा = तस्या ओष्ठः (ष० त०), स एव बन्धूकं (रूपक०) "बन्धूकं बन्धुजीवकम्" इत्यमरः। तदोष्ठबन्धूकम् एव धनुः (रूपक०), तेन विसृष्टा (तृ० त०)। प्रसूनाऽऽशुगपञ्चबाणी = प्रसूनानि अशुगा यस्य सः (बहु०)। पञ्चानां बाणानां समाहारः पञ्चबाणी (द्विगुः)। प्रसूनाऽऽशुगस्य पञ्चबाणी (ष० त०)। वाणीमिषेण = वाण्या मिषं, तेन (ष० त०)। कर्णात्=ल्यप्के लोपमें पञ्चमी। विवेश=विश + लिट् + तिप् (णल्) ॥ ५० ॥

अमज्जदामज्जमसौ सुधासु प्रियं प्रियाया वदनान्निपीय।
द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखे त्वमेया ॥ ५१ ॥

अन्वयः—असौ प्रियाया वदनात् प्रियं निपीय सुधासु आमज्जम् अमज्जत्। द्विषन्मुखे अपि या स्तुतिः स्वदते, इष्टमुखे तु तन्मिष्टता अमेया न ? ॥ ५१ ॥

व्याख्या—असौ = नलः, प्रियायाः = वल्लभायाः, दमयन्त्याः। वदनात् = मुखात्, प्रियं = प्रियवाक्यं, स्वप्रशंसारूपमिति भावः। निपीय = नितरां

पीत्वा साऽनुरागं श्रुत्वेति भावः । सुधासु = अमृतेषु, आमज्जं = मज्जानं धातुमभिव्याप्य, अमज्जत् = मग्नः, अमृतास्वादसुखमन्वभवदिति भावः । तथा हि· द्विषन्मुखे अपि = शत्रुवदने अपि, विद्यमानेति शेषः । या, स्तुतिः = स्तवः स्वदते = रोचते, जनायेति शेषः । इष्टमुखे तु = प्रियजनवदने तु, तन्मिष्टता = स्तुतिमधुरता, अमेया न=अपरिच्छेद्या न किम् ? इति काकुः । अपि तु मातुमशक्या एवेति भावः ।। ५१ ।।

अनुवादः—नल दमयन्तीके मुखसे प्रिय वाक्यका पान कर (प्रेमपूर्वक सुनकर) अमृतमें डूब गये । शत्रुके मुखसे भी जो स्तुति (अपनी प्रशंसा) अच्छी लगती है प्रियजनके मुखसे तो उसकी मधुरता (मिठास) अपरिमेय नहीं है क्या ? (परिमाणका विषय नहीं है) ।। ५१ ।।

टिप्पणी—आमज्जं = मज्जानम् (धातुम्) अभिव्याप्य (अभिविधिमें अव्ययीभाव) । "आकण्ठम्" ऐसा पाठान्तर है, उसका अर्थ है कण्ठतक व्याप्त करके । अमज्जत्=मस्ज + लङ् + तिप् । द्विषन्मुखे=द्वेष्टीति द्विषन्, द्विष + लट् (शतृ) + सु । द्विषतो मुखं, तस्मिन् (ष० त०) । स्वदते = स्वद + लट् + त । इष्टमुखे = इष्टस्य मुखं, तस्मिन् (ष० त०) । तन्मिष्टता = तस्याः (स्तुतेः) मिष्टता (ष० त०) । अमेया = न मेया (नञ्०) । इस पद्यमें अपनी प्रशंसा शत्रुमुखसे भी सुननेपर अच्छी लगती है तो प्रियके मुखसे सुननेपर क्या कहना ? इस प्रकार अर्थापत्ति है और वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है । तथा दोनों का अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ।। ५१ ।।

पौरस्त्यशैलं जनतोपनीतां गृह्णन् यथाऽहर्पतिरर्घ्यपूजाम् ।
तथाऽऽतिथेयीमथ सम्प्रतीच्छन्नस्या वयस्याऽऽसनमाससाद ।। ५२ ।।

अन्वयः—अथ अहर्पतिः यथा जनतोपनीताम् अर्घ्यपूजां गृह्णन् पौरस्त्यशैलम् (आसादयति) तथा (नलः) आतिथेयीं सम्प्रतीच्छन् अस्या वयस्याऽऽसनम् आससाद ।। ५२ ।।

व्याख्या—अथ = भैमीवाक्यसमाप्त्यनन्तरम्, अहर्पतिः = सूर्यः, यथा = येन प्रकारेण, जनोतोपनीतां = जनसमूहसमर्पिताम्, अर्घ्यपूजां=पूजाऽर्थजलपूजां, गृह्णन्=स्वीकुर्वन्, पौरस्त्यशैलं=पुरोभवपर्वतम्, उदयपर्वतमिति भावः । आससाद=प्राप्तवान, तथा = तेन प्रकारेण, नलः, आतिथेयीं = पूजां, दमयन्तीकृतामिति शेषः । सम्प्रतीच्छन् = प्रतिगृह्णन्, अस्याः = दमयन्त्याः, वय-

स्याऽऽसनं = सख्यासनम्, आससाद = प्राप्तवान्, न तु भैम्याः, दूत्यावस्थायामनौचित्यादिति भावः ॥ ५२ ॥

अनुवादः—अनन्तर सूर्य जैसे जनसमूहसे समर्पित अर्घ्यपूजाको ग्रहण कर उदयपर्वतको प्राप्त करते हैं वैसे ही नल दमयन्तीसे समर्पित अतिथियोग्य पूजाको ग्रहण कर दमयन्तीकी सखीके आसनको प्राप्त हुए ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—अहर्पतिः=अह्नः पतिः (ष० त०), "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इस वार्तिकसे वैकल्पिक रेफ, पक्षान्तरोंमें विसर्ग और उपध्मानीय भी होता है, जैसे अहः पतिः, और अह≍पतिः। जनतोपनीतां = जनानां समूहो जनता, जन शब्दसे "ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्" इस सूत्रसे तल्। जन + तल् + टाप् + सु। जनतया उपनीता, ताम् (तृ० त०)। अर्घ्यपूजाम् = अर्घाऽर्थम् उदकम् अर्घ्यम्, अर्घ शब्दसे "पादार्घाभ्यां च" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। अर्घ्यम् एव पूजा, ताम् (रूपक०)। गृह्णन् = गृह्णातीति, ग्रह + लट् (शतृ) + सु। पौरस्त्यशैल = पुरोभवः पौरस्त्यः, पुरस् शब्दसे "दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्" इस सूत्रसे त्यक् प्रत्यय और "किति च" इससे आदिवृद्धि। पौरस्त्यश्चाऽसौ शैलः तम् (क० धा०)। "आसादयति" इस क्रियापदका अध्याहार करना चाहिए। आतिथेयीम् = अतिथिषु साधुः आतिथेयी, ताम, अतिथि शब्दसे "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" इस सूत्रसे ढञ् (एय) प्रत्यय + ङीप् + अम्। सम्प्रतीच्छन् = सम् + प्रति + इष + लट् (शतृ) + सु। वयस्याऽऽसनं = वयसा तुल्या वयस्या, वयस् शब्दसे "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत् + टाप्। वयस्याया आसनं, तत् (ष० त०)। आससाद = आङ् + सद् + णिच् + लिट् + तिप्। "नलः" ऐसे कर्तृपदका भी अध्याहार करना चाहिए। अपने दौत्यके कारण अनौचित्य होनेसे नल दमयन्तीके आसनपर न बैठकर उनकी सखीके आसन पर बैठे यह भाव है। इस पद्यमें "अहर्पतिः" इस कर्तृपद के लिए "आससाद" इस क्रियापदका अध्याहार करेंगे तो भग्नक्रम दोष होगा, अतः "आसादयति" इसका अध्याहार करना उचित है। यहाँ पर उपमा अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

अयोधि तद्धैर्यमनोभवाभ्यां तामेव भूमीमवलम्ब्य भैमीम्।
आह स्म यत्र स्मरचापमन्तश्छिन्नं भ्रुवौ तज्जयभङ्गवार्ताम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः– तद्धैर्यमनोभवाभ्यां तां भैमीम् एव भूमिम् अवलम्ब्य अयोधि। यत्र अन्तः छिन्नं भ्रुवौ स्मरचापं तज्जयभङ्गवार्ताम् आह स्म ॥ ५३ !

व्याख्या— तद्धैर्यमनोभवाभ्यां = नलधृतिकामाभ्याम्, तां = प्रसिद्धां, भैमीम् एव = दमयन्तीम् एव, भूमीं = रणभूमिम्, अवलम्ब्य = प्राप्य, अयोधि = युद्धम् अकारि। यत्र = युद्धभूमौ, दमयन्तीरूपायामिति भावः। अन्तः = मध्ये, छिन्नं द्विधाभूतं, भ्रुवौ = दमयन्तीभ्रुवौ एव, स्मरचापं = कामकार्मुकं (कर्तृ), तज्जयभङ्गवार्तां = नलधैर्यविजय-मनोभवपराजयवृत्तान्तम्, आह स्म = ब्रवीति स्म, स्मरचापभङ्गात्स्मर एव भग्न इति भावः। नलः कथंचित्कामं निरुध्य धैर्यमेवाऽवलम्बितवानिति भावः ॥ ५३ ॥

अनुवादः—नलके धैर्य और कामदेव ने दमयन्तीरूप युद्धभूमिका अवलम्बन कर युद्ध किया। जिस युद्धभूमिमें बीचमें छिन्न दमयन्तीके भ्रूरूप कामदेवके धनुने नलके धैर्यकी जय और कामदेवकी पराजयके वृत्तान्तको वतलाया ॥ ५३ ॥

टिप्पणी - तद्धैर्यमनोभवाभ्यां = तस्य (नलस्य) धैर्यम् (ष० त०), तद्धैर्य च मनोभवश्च, ताभ्याम् (द्वन्द्व०)। भूमीं = "कृदिकारादक्तिनः" इससे ङीप्। अयोधि = युध् + लुङ् (भावमें) + त। स्मरचापं = स्मरस्य चापं (ष० त०)। तज्जयभङ्गवार्तां = जयश्च भङ्गश्च जयभङ्गौ (द्वन्द्व०)। तयोः (धैर्यमनोभवयोः) जयभङ्गौ (ष० त०), तयोर्वार्ता, ताम् (ष० त०)। आह स्म = ब्रू (आह) धातुसे 'स्म' के योगमें भूत अर्थमें लट्। दमयन्तीको देखनेपर भी नलके धैर्यकी जय और दमयन्तीके भ्रूद्वयरूप धनुके मध्यमें छिन्नत्व-रूप अपने भङ्गसे कामचापने कामदेव के भङ्ग (पराजय) की वार्ताकी सूचना दी यह भाव है। नलने किसी तरह कामदेवका निरोध करके धैर्यका अवलम्बन किया यह तात्पर्य है। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो व्यस्त रूपकोंकी संसृष्टि है॥ ५३ ॥

अथ स्मराऽऽज्ञामवधीर्य धैर्यादूचे स तद्वागुपवीणितोऽपि।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ स तद्वागुपवीणितोऽपि धैर्यात् स्मराऽऽज्ञाम् अवधीर्य ऊचे। तथा हि—विवेकधाराशतधौतं सताम् अन्तः (कर्म) कामो न कलुषीकरोति ॥ ५४ ॥

व्याख्या— अथ = अनन्तरं, सः = नलः, तद्वागुपवीणितोऽपि = दमयन्तीवाग्वीणया उपगीतोऽपि, दमयन्तीवागवीणया आकृष्टचित्तोऽपीति भावः। धैर्यात् = धैर्यं विधाय, स्मराज्ञां = कामाज्ञाम्, अवधीर्य = अवज्ञाय, ऊचे = उवाच। तथा हि। विवेकधाराशतधौतं = भेदज्ञानप्रवाहशतप्रक्षालितं, सतां =

शिष्टानाम्, अन्तः = अन्तःकरणं (कर्म), कामः = मदनः, न कलुषीकरोति = न विकर्तुं शक्नोति ॥ ५४ ॥

अनुवादः—अनन्तर नल दमयन्तीकी वाणीरूप वीणासे प्रशंसित होकर भी धैर्यसे कामदेवकी आज्ञाका तिरस्कार कर कहने लगे। क्योंकि विवेकके सैकड़ों प्रवाहोंसे प्रक्षालित शिष्टोंके अन्तःकरणको कामदेव विकृत नहीं कर सकता है ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—तद्वागुपवीणितः = तस्या वाक् (ष० त०), वीणया उपगीतः उपवीणितः, उप + वीणा + णिच् + क्त (कर्ममें) + सु। "सत्यापपाशरूपवीणा०" इत्यादि सूत्रसे णिच्, तद्वाचा उपवीणितः (तृ० त०)। धैर्यात् = ल्यप्के लोपमें पञ्चमी। स्मराऽऽज्ञां = स्मरस्य आज्ञा, ताम् (ष० त०)। अवधीर्य = अव + धीर + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। ऊचे = ब्रूञ् (वच्) + लिट् + त। विवेक-धाराशतधौतं = विवेकानां धाराः (ष० त०), तासां शतं (ष० त०), तेन धौतम् (तृ० त०) तत्। कलुषीकरोति=अकलुषं कलुषं यथा संपद्यते तथा करोति, कलुष + च्वि + कृ + लट् + तिप्। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥५४॥

हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि त्वदीयमेवाऽतिथिमागतं माम्।
वहन्तमन्तर्गुरुणाऽऽदरेण प्राणानिव स्वःप्रभुवाचिकानि ॥ ५५ ॥

अन्वयः—(हे राजकुमारि !) मां गुरुणा आदरेण स्वःप्रभुवाचिकानि प्राणान् इव अन्तः वहन्तं हरित्पतीनां सदसः आगतं त्वदीयम् एव अतिथिं प्रतीहि ॥ ५५ ॥

व्याख्या—मां, गुरुणा = महता, आदरेण = सम्मानेन, स्वःप्रभुवाचिकानि= इन्द्रादिसन्देशवाक्यानि, प्राणान् इव = असून् इव, अन्तः = अन्तःकरणे, वहन्तं = धारयन्तं, हरित्पतीनाम् = इन्द्रादिदिक्पालानां, सदसः = सभास्थानात्, आगतम् = आयातं, त्वदीयम् एव = तावकम् एव, अतिथिम् = आगन्तुं, प्रतीहि = जानीहि। एतेन कुत आगतः ? कस्याऽतिथिरिति प्रश्नयोरुत्तरे प्रति-पादिते, "गुरुणा आदरेण" एतेन दूतधर्मः प्रदर्शितः ॥ ५५ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) आप मुझे बड़े आदरसे स्वर्गके अधिपति इन्द्र आदिके सन्देशोंको प्राणोंके समान चित्तमें रखनेवाला, इन्द्र आदि दिक्पालोंके सभास्थानसे आया हुआ अपना ही अतिथि समझें ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—स्वःप्रभुवाचिकानि = स्वः प्रभवः (ष० त०)। सन्दिष्टाऽर्था वाचो वाचिकानि, वाच् शब्दसे "वाचो व्याहृताऽर्थायाम्" इस सूत्रसे ठक् (इक)

प्रत्यय। "सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्" इत्यमरः। स्वःप्रभूणां वाचिकानि, तानि (ष० त०)। वहन्तं = वव् + लट् (शतृ) + अम्। हरित्पतीनां = हरितां पतयः, तेषाम् (ष० त०)। "दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः।" इत्यमरः। त्वदीयं = तव अयं, तम्. युष्मद् + छ (ईय) + अम्। प्रतीहि = प्रति + इण् + लोट् सिप्। इस कथनसे "मैं आपके लिए देवताओंसे भेजा गया दूत हूँ यह सूचित होता है। इससे "आप कहाँसे आये हैं और किसके अतिथि हैं ?" इन प्रश्नोंके भी उत्तर हुए। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥५५॥

विरम्यतां भूतवती सपर्या, निविश्यतामासनमुज्झितं किम् ?।
या दूतता नः फलिना विधेया सैवाऽऽतिथेयी पृथुरुद्भवित्री ॥ ५६ ॥

अन्वयः—(हे राजकुमारि !) सपर्या भूतवती, विरम्यताम्। निविश्यताम्। किम् आसनम् उज्झितम् ? फलिना विधेया नः या दूतता सा एव पृथुः आतिथेयी उद्भवित्री ॥ ५६ ॥

व्याख्या—सपर्या = पूजा, अतिथिसत्क्रियेति भावः, भूतवती = भूता, संपन्नेति भावः। विरम्यतां = विरामः क्रियताम्, प्रयत्नान्तरं नो विधेयमिति भावः। निविश्यताम् = उपविश्यताम्। किं = किमर्थम्, आसनम् = उपवेशन-स्थानम्, उज्जितं = त्यक्तम्। फलिना = सफला, विधेया = कर्तव्या, नः = अस्माकं, या, दूतता = दूत्यं, सा एव = दूतता एव, पृथुः = महती, आतिथेयी = अतिथिपूजा, उद्भवित्री = भाविनी। मद्दूत्यसफलीकरणेनैव महत्यतिथिपूजा भविष्यतीत्यतोऽलमुपचारान्तरेणेति भावः ॥ ५६ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) अतिथिसत्कार हो गया। सत्कारविशेष छोड़िए। बैठिए। आपने क्यों आसन छोड़ दिया ? सफल करने योग्य हमारी जो दूतता है वही महान् अतिथिसत्कार होगा ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—भूतवती = भू + क्तवतु + ङीप् + सु। विरम्यताम् = वि + रम् + लोट् (भावमें) + त। निविश्यतां = नि + विश् + लोट् (भावमें) + त। फलिना = फलम् अस्ति यस्याः सा, फल शब्दसे "फलबर्हाभ्यामिनच्" इस वार्तिकसे इनच् + टाप् + सु। आतिथेयी = अतिथि + ढक् (एय) + ङीप् + सु। उद्भवित्री = उद् + भू + तृच् + ङीप् + सु। हे राजकुमारि ! आप मेरे दूतकार्यको सफल करें यही बड़ा अतिथिसत्कार होगा यह भाव है ॥ ५६ ॥

कल्याणि ! कल्यानि तवाऽङ्गकानि कच्चित्तमां ? चित्तमनाविलं ते ? ।
अलं विलम्बेन, गिरं मदीयामाकर्णयाऽकर्णतटाऽऽयताक्षि ! ॥ ५७ ॥

अन्वयः – हे कल्याणि ! तव अङ्गकानि कल्यानि कच्चित्तमाम् ? ते चित्तम् अनाविलं कच्चित्तमाम् ? हे आकर्णतटाऽऽयताक्षि ! विलम्बेन अलं, मदीयां गिरम् आकर्णय ॥ ५७ ॥

व्याख्या—हे कल्याणि = हे भद्रे !, तव = भवत्याः, अङ्गकानि = कोमलानि अङ्गानि, कल्यानि = नीरोगाणि, कच्चित्तमाम् = किं ? सन्तीति शेषः । ते = तव, चित्तं = मनः, अनाविलम् = अकलुषं, कच्चित्तमां = किम्, अस्तीति शेषः । हे आकर्णतटाऽऽयताक्षि = हे आश्रोत्रदीर्घनयने, विलम्बेन = कालाऽतिपातेन, अलं = पर्याप्तं, विलम्बेन साध्यं नाऽस्तीति भावः । मदीयां = मामकीनां, गिरं = वाणीम्, आकर्णय = शृणु ॥ ५७ ॥

अनुवादः—हे भद्रे ! आपके कोमल अङ्ग नीरोग हैं क्या ? आपका चित्त निर्मल (प्रसन्न) है क्या ? हे कानतक दीर्घ नेत्रोंवाली ! विलम्ब मत कीजिए, मेरी वाणीको सुन लीजिए ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—कल्यानि = "वार्तो निरामयः कल्य ऊल्लाघो निर्गतो गदात् ।" इत्यमरः । कच्चित्तमाम् = "कच्चित्" यह प्रश्नाऽर्थक अव्यय है, "कच्चित्कामप्रवेदने" इत्यमरः । कच्चित् शब्दसे "अतिशायने तमबिष्ठनौ" इससे तमप् प्रत्यय होकर तदन्तसे "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इस सूत्रसे आमु प्रत्यय । अनाविलं = न आविलम् (नञ्०), "कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः । आकर्णतटाऽऽयताक्षि = कर्णयोस्तटे (ष० त०), कर्णतटाभ्याम् आ आकर्णतटम् (मर्यादामें अव्ययीभाव) । आकर्णतटम् आयते (सुप्सुपासमास) । आकर्णतटायते अक्षिणी यस्याः सा आकर्णतटायताक्षी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इससे समासाऽन्त षच् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । मदीयां = मम इयं मदीया ताम्, अस्मद् + छ (ईय) + टाप् + अम् । आकर्णय = आङ् + कर्ण + णिच् + लोट् सिप् ॥ ५७ ॥

कौमारमारभ्य गणा गुणानां हरन्ति ते दिक्षु धृताऽऽधिपत्यान् ।
सुराऽधिराजं सलिलाऽधिपं च हुताऽशनं चाऽर्यमनन्दनं च ॥ ५८ ॥

अन्वयः – (हे भद्रे !) कौमारम् आरभ्य ते गुणानां गणाः दिक्षु धृताऽऽधिपत्यान् सुराऽधिराजं, सलिलाऽधिपं, हुताशनम् अर्यमनन्दनं च हरन्ति ॥ ५८ ॥

व्याख्या—कौमारं = तव बाल्याऽवस्थाम्, आरभ्य = उपक्रम्य, ते = तव गुणानां = सौन्दर्यशीलत्वादीनां, गणाः = समूहाः, दिक्षु = आशासु, धृताऽऽधिपत्यान् = धृतस्वामित्वान्, तान् एकैकशो निर्दिशति—सुराऽधिराजं = देवेन्द्रं, सलिलाऽधिपं = वरुणं, हुताऽशनम् = अग्निम्, अर्यमनन्दनं = सूर्यपुत्रं यमं च, हरन्ति = आकर्षन्ति। त्वद्गुणाऽऽकर्णनाच्चत्वारोऽपि दिक्पालास्त्वय्यनुरक्ता इति भावः ॥ ५८ ॥

अनुवादः—(हे भद्रे !) आपकी कुमारी अवस्थासे आरम्भ कर आपके सौन्दर्य और शीलत्व आदि गुणोंके समूह दिशाओंमें स्वामित्व रखनेवाले इन्द्र, वरुण, अग्नि और सूर्यपुत्र यमराजको आकृष्ट कर रहे हैं ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—कौमारं = कुमार्या भावः, तद् "प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्राऽऽदिभ्योऽञ्" इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय। आरभ्य = आङ् + रभ + क्त्वा (ल्यप्)। धृताऽऽधिपत्यान् = धृतम् आधिपत्यं यैस्ते, तान् (बहु०)। सुराऽधिराजं = सुराणाम् अधिराजः, तम् (ष० त०)। सलिलाऽधिपं = सलिलस्य आधपः तम् (ष० त०)। अर्यमनन्दनम् = अर्यम्णो नन्दनः, तम् (ष० त०)। हरन्ति = हृञ् + लट् + झि। आपके गुणोंको सुननेसे इन्द्र आदि चारों दिक्पाल आपमें अनुराग करते हैं यह भाव है ॥ ५८ ॥

चरच्चिरं शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि खेदमेति।
तेषां रुचश्चौरतरेण चित्तं पञ्चेषुणा लुण्ठितधैर्यवित्तम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—(हे भद्रे !) शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि चिरं चरत् तेषां चित्तं (कर्तृ) रुचः चौरतरेण पञ्चेषुणा लुण्ठितधैर्यवित्तं सत् खेदम् एति ॥५९॥

व्याख्या—शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि = बाल्यतारुण्यसम्बन्धिराज्यद्वययुक्तायां, त्वयि = भवत्यां, चिरं = बहुकालं, चरत् = वर्तमानं, तेषाम् = इन्द्रादीनां दिक्पालानां, चित्तं = मानसं (कर्तृ), रुचः = कान्तेः, चौरतरेण = तस्करतरेण, विरहितेजोहारिणेति भावः। पञ्चेषुणा = कामेन, लुण्ठितधैर्यवित्तम् = अपहृतधृतिधनं सत्, खेदं = दुःखम्, एति = प्राप्नोति। द्वैराज्ये प्रजानां चोरबाधा जायत इति भावः ॥ ५९ ॥

अनुवादः—बचपन और जवानीके दो राज्योंको आश्रय करनेवाली (वयःसन्धिमें वर्तमान) आपमें बहुत समयतक वर्तमान इन्द्र आदि दिक्पालोंका चित्त विरहियोंकी कान्तिको अतिशय चुरानेवाले कामदेवसे धैर्यरूप धनके लूटे जानेसे दुःखको प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि = शैशवं च यौवनं च (द्वन्द्व०)। शैशवयौवनयोः इदं शैशवयौवनीयं, "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय। द्वयोः राज्ञोः कर्म द्वैराज्यम् द्वि + राजन् + ष्यञ् + सु। शैशवयौवनीयं च तत् द्वैराज्यं (क० धा०), तद् भजतीति शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाक्, तस्याम्। शैशवयौवनीयद्वैराज्य + भज् + ण्वि (उपपद०) + ङि। चरत् = चर + लट् (शतृ) + सु। चौरतरेण = चोरणं चुरा, "चुर स्तेये" धातुसे "अ प्रत्ययात्" इससे अप्रत्यय और टाप्, संज्ञापूर्वक होनेसे गुण नहीं हुआ। चुरा शीलम् अस्य चौरः, "छत्रादिभ्यो णः" इससे ण प्रत्यय और आदिवृद्धि। पचादिमें पठित होनेसे एक पक्षमें अच् होकर "चोर" यह रूप भी। अतिशयेन चौरः चौरतरः, तेन, (चौर + तरप + टा)। पञ्चेषुणा = पञ्च इषवः यस्य, तेन (बहु०)। लुण्ठितधैर्यवित्तं=लुण्ठितं धैर्यम् एव वित्तं यस्य (बहु०) तत्। एति=इण् + लट् + तिप्। इस पद्यमें शैशव और यौवन इनके द्वैराज्यमें कामदेवरूप चोरने इन्द्र आदि दिक्पालोंके धैर्यरूप धनका हरण किया इस प्रकार रूपक है, खेदका हेतु वाक्यार्थ होनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है, अतः दो अलङ्कारों-का अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥५९॥

तेषामिदानीं किल केवलं सा हृदि त्वदाशा विलसत्यजस्रम्।
आशास्तु नाऽऽसाद्य तनूरुदाराः पूर्वाऽऽदयः पूर्ववदात्मदाराः ॥ ६० ॥

अन्वयः—(हे भद्रे !) इदानीं तेषां हृदि सा त्वदाशा केवलम् अजस्रं विलसति किल। आत्मदाराः पूर्वादय आशास्तु उदाराः तनूः आसाद्य पूर्ववत् हृदि न (विलसन्ति) ॥६०॥

व्याख्या—इदानीम् = अधुना, तेषाम्=इन्द्रादीनां दिक्पालानां, हृदि=हृदये, सा=प्रसिद्धा, त्वदाशा = त्वयि अतितृष्णा, केवलम् = एव, अजस्रं = नित्यं, विलसति = विजृम्भते, किल = खलु। आत्मदाराः = स्वभार्याः, पूर्वादयः= प्राच्यादयः, आशास्तु = दिशस्तु, उदाराः = महतीः, सुन्दरीरित्यर्थः, तनूः = शरीराणि, आसाद्य = प्राप्य, पूर्ववत् = पूर्वकाल इव, हृदि = चित्ते, न = नो विलसन्ति। इन्द्रादिदिक्पालानामाशा त्वय्येव, अतः तेषामाशाः (दिशः) उपेक्षितत्वात्पूर्ववन्न शोभन्त इति भावः ॥ ६० ॥

अनुवादः—(हे भद्रे !) इस समय इन्द्र आदि दिक्पालोंके हृदयमें प्रसिद्ध आपमें आशा (अतितृष्णा) ही निरन्तर बढ़ रही है, उनकी अपनी भार्याएँ

प्राची आदि आशाएँ (दिशाएँ) तो सुन्दर शरीरको धारण कर पहलेके समान हृदयमें शोभित नहीं हो रही हैं ॥ ६० ॥

टिप्पणी—त्वदाशा = त्वयि आशा (स० त०) "आशा दिगतितृष्णयोः" इति वैजयन्ती । आत्मदाराः = आत्मनो दाराः (ष० त०), पूर्वाऽऽदयः = पूर्वा आदिर्यासां ताः (बहु०) । अपूर्व नायिकामें अनुराग करनेवालेके चित्तमें पहलेकी नायिकाएँ सौन्दर्ययुक्त होनेपर भी पसन्द नहीं होती हैं । एकमात्र आपमें अतिशय तृष्णावाले इन्द्र आदि दिक्पाल अपनी-अपनी पूर्व आदि दिशाओंके पालनके अधिकारको भूलकर रहते हैं यह भाव है। इस पद्यमें परिसंख्या अलङ्कार है । उसका श्लेष रूपसे प्रयुक्त दो आशाओं (दिशा, अतितृष्णा) के अभेद अध्यवसायसे अतिशयोक्ति अलङ्कारके साथ अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ ६० ॥

अनेन सार्धं तव यौवनेन कोटिं परामच्छिदुरोऽध्यरोहत् ।
प्रेमाऽपि तन्वि ! त्वयि वासवस्य गुणोऽपि चापे सुमनःशरस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयः—हे तन्वि ! वासवस्य त्वयि प्रेमा अपि तव अनेन यौवनेन सार्धम् अच्छिदुरः (सन्) परां कोटिम् अध्यरोहत् । (तथा) सुमनःशरस्य चापे गुणः अपि परां कोटिम् अध्यरोहत् ॥ ६१ ॥

व्याख्या— हे तन्वि = हे सुन्दरि !, वासवस्य = इन्द्रस्य, त्वयि = भवत्यां, प्रेमा अपि = अनुरागः अपि, तव = भवत्याः, अनेन = पुरो विद्यमानेन, यौवनेन = तारुण्येन, सार्धं = सह, अच्छिदुरः = अविच्छिन्नः सन्, परां=परमां, कोटिम् = उत्कर्षम्, अध्यरोहत् = अधिरूढः । तया सुमनःशरस्य = पुष्पेषोः, कामस्य । चापे = धनुषि, गुणः अपि = मौर्वी अपि, पराम्=उत्तरां, कोटिम्= अटनिम्, अध्यरोहत्=अधिरूढः ॥ ६१ ॥

अनुवादः—हे सुन्दरि ! आपमें इन्द्रका अनुराग भी आपके इस यौवनके साथ अविच्छिन्न होता हुआ अत्यन्त उत्कर्षको आरूढ है । वैसे ही कामदेवकी प्रत्यञ्चा भी धनुमें दूसरी कोटि (अटनि) में आरूढ है ॥ ६१ ॥

टिप्पणी यौवनेन = "सार्धम्" इस पदके योगमें तृतीया । अच्छिदुरः = न छिदुरः (नञ्०) । अध्यरोहत्=अधि + रुह + लङ् + तिप् । सुमनःशरस्य = सुमनसः शरा यस्य सः, तस्य (बहु०) । कोटिम् = "अत्र्युत्कर्षाऽश्रयः कोटयः" इत्यमरः । इस पद्यमें प्रेम और गुण दोनोंका ही प्रस्तुत पदार्थोंकी अधिरोहणरूप क्रियाके साथ सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता है, उन दोनों पदार्थोंका "पराकोटिम्" ऐसी श्लेषभित्तिक अभेदाऽध्यवसायसे अतिशयोक्तिमूल "यौवनेन

सार्धम्" कहनेसे सहाऽर्थसम्बन्धकी उक्ति होनेसे सहोक्ति है। इस तरह दोनोंका सङ्कर है ॥ ६१ ॥

प्राचीं प्रयाते विरहं दधत् ते तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की ।
पराऽपराधैर्निदधाति भानौ रुषाऽरुणं लोचनवृन्दमिन्द्रः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—(हे भद्र !) इन्द्रः ते विरहं दधत् प्राचीं प्रयाते भानौ तापात् रूपाच्च शशाऽङ्कशङ्की पराऽपराधैः रुषा अरुणं लोचनवृन्दं निदधाति ॥ ६२ ॥

व्याख्या इन्द्रः = मघवा, ते = तव, विरहं = वियोगं, दधत् = धारयन्, प्राचीं = पूर्वां दिशं, प्रयाते = प्राप्ते, भानौ = सूर्ये अधिकरणे, तापात् = सन्तापात्, सन्तापजनकत्वादिति भावः। रूपाच्च = रक्तवर्तुलस्वरूपाच्च, शशाऽङ्कशङ्की = चन्द्रशङ्की, अयं चन्द्र इति भ्रान्त्येति भावः। पराऽपराधैः = अन्याऽपराधैः, चन्द्रदोषैर्विरहिसन्तापनादिभिः हेतुभिरिति भावः। रुषा = क्रोधेन, हेतुना, अरुणं = रक्तवर्णं, लोचनवृन्दं = नयनसमूहं, निधाति=स्थापयति, कोधेन नेत्रसहस्रेण पश्यतीति भावः ॥ ६२ ॥

अनुवादः—(हे भद्रे !) इन्द्र आपके विरहको धारण करते हुए सूर्यके पूर्व दिशामें जानेपर सन्ताप करनेसे और (लाल और गोल) रूपको धारण करनेसे भी 'ये चन्द्र हैं' ऐसी शङ्का करते हुए दूसरे (चन्द्र) के अपराधोंसे क्रोधसे लाल नेत्रोंको धारण करते हैं ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—दधत् = दधातीति, धा + लट् (शतृ) + सु। शशाऽङ्कशङ्की = शशः अङ्कः यस्य सः (बहु०), शशाऽङ्कं शङ्कते तच्छीलः, शशाङ्क + शकि + णिनि (उपपद०) + सु। पराऽपराधैः = परस्य अपराधाः, तैः (ष० त०)। लोचनवृन्दं = लोचनानां वृन्दं, तत् (ष० त०)। निदधाति = नि + धा + लट् + तिप्। ताप और लाल तथा गोल रूपको धारण करनेसे उदयमें पूर्व दिशाको प्राप्त सूर्यको "ये विरहीको सतानेवाले चन्द्र हैं" ऐसी भ्रान्तिसे इन्द्र क्रोधके कारण हजार नेत्रोंसे देखते हैं। यह भाव है। इस पद्यमें भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥ ६२ ॥

त्रिनेत्रमात्रेण रुषा कृतं यत्तदेव योऽद्याऽपि न सम्वृणोति ।
न वेद रुष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे गन्ता स कामः खलु कामवस्थाम् ? ॥ ६३ ॥

अन्वयः—(हे भद्रे !) त्रिनेत्रमात्रेण रुषा यत् कृतं, तत् एव यः अद्य अपि न सम्वृणोति। स कामः अद्य सहस्रनेत्रे रुष्टे काम अवस्थां गन्ता खलु ? न वेद ॥ ६३ ॥

व्याख्या – त्रिनेत्रमात्रेण = नेत्रत्रययुक्तमात्रेण, हरेण, रुषा = क्रोधेन हेतुना, यत्, कृतं = विहितम्, अनङ्गत्वमिति भावः। तत् एव = अनङ्गत्वम् एव, अद्य अपि = अधुना अपि, न सम्वृणोति=न आच्छादयति, साङ्गत्वं कर्तुं न शक्नोतीति भावः। सः = तादृशः असमर्थः, कामः = मदनः, अद्य = अधुना, सहस्रनेत्रे= सहस्रनयनयुक्ते, इन्द्र इति भावः, रुष्टे = क्रुद्धे सति, कां = कीदृशीम्, अवस्थां = दशां, गन्ता = गमिष्यति, न वेद = न जाने, खलु = निश्चयेन। वाक्यार्थः कर्म। त्रिनेत्रेण (हरेण) विनष्टाऽङ्ग कामः सहस्रनेत्रे (इन्द्रे) कुपिते सति कीदृशो भविष्यतीति भावः। कामदेवेन त्वय्यासक्तिवर्धनेन देवेन्द्रः साऽतिशयं पीडित इति तात्पर्याऽर्थः ॥ ६३ ॥

अनुवादः—केवल तीन नेत्रोवाले (शिवजी) ने क्रोधसे जो (अनङ्गत्व) किया उसीका जो कामदेव अभीतक प्रतीकार नहीं कर सका है। वही कामदेव आज हजार नेत्रोंवाले (इन्द्र) के क्रुद्ध होने पर किस अवस्थाको प्राप्त होगा? मैं नहीं जानता हूँ ॥ ६३ ॥

टिप्पणी – त्रिनेत्रमात्रेण = त्रीणि नेत्राणि यस्य सः (बहु०)। त्रिनेत्र एव त्रिनेत्रमात्रं, तेन (रूपक०)। सम्वृणोति=सम्+वृञ्+लट्+तिप्। सहस्रनेत्रे= सहस्रं नेत्राणि यस्य, तस्मिन् (बहु०)। गन्ता = गम्+लुट्+तिप्। वेद = विद्+लट्+मिप्। "विदो लटो वा" इससे मिप् के स्थानमें णल् आदेश, एक पक्ष में "वेद्मि" ऐसा रूप भी ॥ ६३ ॥

पिकस्य वाङ्मात्रकृताद् व्यलीकान्न स प्रभुर्नन्दति नन्दनेऽपि।
बालस्य चूडाशशिनोऽपराधान्नाऽऽराधनं शीलति शूलिनोऽपि ॥ ६४ ॥

अन्वयः-- (हे भद्रे!) स प्रभुः पिकस्य वाङ्मात्रकृतात् व्यलीकात् नन्दने अपि न नन्दति, (किञ्च) बालस्य चूडाशशिनः अपराधात शूलिनः अपि आराधनं न शीलति।

व्याख्या— सः = प्रसिद्ध, प्रभुः = अधिपः, स्वर्गाऽधिप इन्द्र इति भावः। पिकस्य = कोकिलस्य, वाङ्मात्रकृतात् = वचनमात्रविहितात्, न तु कामवत्कायकृतादिति भावः। व्यलीकात् = अप्रियात्, नन्दने अपि = स्वकीये उद्यानेऽपि, आनन्दकरेऽपि, न नन्दति = आनन्दं न प्राप्नोति, किमुत अन्यत्रेति भावः। (किञ्च) बालस्य = कृशस्य, चूडाशशिनः=शिरश्चन्द्रस्य, अपराधात्= आगसः, सन्तापरूपात्, किमुत पूर्णचन्द्रस्येति भावः। शूलिनः अपि = शङ्करस्य अपि, आराधनम् = उपासनां, न शीलति = न आचरति। पिकरवश्रवणात्

देवेन्द्रं नन्दनोद्यानमपि नानन्दयति, अर्धचन्द्रदर्शनात् तस्मै चन्द्रशेखराराधनमपि न रोचते, देवेन्द्रः सुतरां मदनपीडित इति भावः ॥ ६४ ॥

अनुवादः—प्रसिद्ध प्रभु (इन्द्र) कोयलके वचनमात्रसे किये गये अप्रियसे नन्दन वनको भी पसन्द नहीं करते हैं, और वे शिवजी के शिरमें स्थित बाल चन्द्र के अपराधसे शिवजीकी आराधना भी नहीं करते हैं ॥ ६४ ॥

टिप्पणी - वाङ्मात्रकृतात् = वाक् एव वाङ्मात्रम् (रूपक०), तेन कृतं, तस्मात् (तृ० त०) । नन्दति = नदि + लट् + तिप् । कोयलका शब्द कामका उद्दीपक होता है अत एव उसके श्रवणके परिहारके लिए इन्द्र नन्दन वनमें भी नहीं जाते हैं यह भाव है । चूडाशशिनः=चूडायां शशी, तस्य (स० त०)। शूलिनः= शूलम् (त्रिशूलम्) अस्याऽस्तीति शूली, तस्य, शूल + इनिः + ङस् । "शिवः शूली महेश्वरः" इत्यमरः । शीलति = "शील समाधौ" धा से लट् + तिप् । इन्द्र आपके विरहसे आवश्यक कर्म भी नहीं करते हैं यह भाव है । इस पद्यमें आनन्द और शिवजीके आराधनके सम्बन्धमें असम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ६४ ॥

तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदृशां दिशन्ति ।
कुहूगिरं चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—(हे भद्रे !) स्मरेषवः परागैः दिशः शक्रदृशां तमोमयीकृत्य कुहूगिरं द्विजस्य चञ्चुपुटं राकारजन्याम् अपि सत्यवाचं दिशन्ति ॥ ६५ ॥

व्याख्या—स्मरेषवः = कामबाणाः, पुष्परूपाः इति भावः । परागैः = रजोभिः करणैः, दिशः = काष्ठाः, शक्रदृशाम् = इन्द्रनेत्राणां सम्बन्धे, तमोमयीकृत्य = अन्धकारप्रचुराः कृत्वा, कुहूगिरं = "कुहू" शब्दयुक्तं, द्विजस्य = अण्डजस्य, कोकिलस्येति भावः, अन्यत्र विप्रस्य, चञ्चुपुटं =मुखं, राकारजन्याम् अपि =पूर्णिमायाम् अपि, सत्यवाचं = तथ्यवाणीयुक्तं, दिशन्ति == आदिशन्ति, कथयन्तीत्यर्थः । राकायामपि कुह्वाम् इव तम् अन्धीकुर्वन्तीति भावः ॥ ६५ ॥

अनुवादः—(हे भद्रे !) कामदेवके बाण (पुष्परूप) परागोंसे दिशाओंको इन्द्रके नेत्रोंमें अन्धकारसे परिपूर्ण बनाकर "कुहू" शब्द कहनेवाले कोकिलके चञ्चुपुटको पूर्णिमाकी रातमें भी सत्य वचनवाले कहते हैं ॥६५॥

टिप्पणी—स्मरेषवः = स्मरस्य इषवः (ष० त०)। परागैः = करणमें तृतीया । शक्रदृशां=शक्रस्य दृशः, तासां (ष० त०)। तमोमयीकृत्य = प्रचुराणि

तमांसि यासु ताः तमोमय्यः। तमस् शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे प्रचुर अर्थमें मयट् प्रत्यय, टित् होनेसे ङीप् + जस्। अतमोमय्यः, तमोमय्यः यथा संपद्यन्ते तथा कृत्वा तमोमयी + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। यहाँपर दिक् और तमका सम्बन्ध न होनेपर भी उसकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है। कुहूगिरं = कुहूः (कुहूः इति अमावास्या—वा) गीर्यस्य स कुहूगीः, तम् (बहु०)। "कुहूः स्यात् कोकिलाऽऽलाप-नष्टेन्दुकलयोरपि।" इति विश्वः। द्विजस्य= "दन्तविप्राऽण्डजा द्विजाः" इत्यमरः। राकारजन्यां = राकाया रजनी, तस्याम् (ष० त०)। सत्यवाचं = सत्या वाक् यस्य, तम् (बहु०)। इस पद्यमें श्लेषसे गृहीत कुहूद्वय और द्विजद्वयका अभेद अध्यवसाय कर कुहूत्व सत्यवादित्व रूप विरुद्धका पूर्वोक्त अतिशयोक्तिसे सिद्धि होनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग होकर श्लेषातिशयोक्तिका विरोध अङ्गोंसे सङ्कर है, उससे इन्द्रकी राकामें कुहूत्वकी भ्रान्तिसे भ्रान्तिमदलङ्कार व्यङ्ग्य होता है। आपके विरहसे इन्द्र कामदेवसे अन्धे हो गये हैं यह भाव है। कोई ब्राह्मण किसी अन्धेसे पूर्णिमाको अमावास्या कह देता है, वह भी उस वचनको किसी दूसरेसे यह सत्य है ऐसा कहता है यह तात्पर्य है॥ ६५॥

शरैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य स्मर्तुं स किं नाऽशनिना करोति।
अभेद्यमस्याऽहह! वर्म न स्यादनङ्गता चेद् गिरिशप्रसादः॥ ६६॥

अन्वयः — (हे भद्रे!) अस्य गिरिशप्रसादः अनङ्गता अभेद्यं वर्म न स्यात् चेत्, स प्रसूनैः शरैः तुदतः स्मरस्य अशनिना स्मर्तुं न करोति किम्? अहह!॥ ६६॥

व्याख्या—(हे भद्रे!) अस्य = कामस्य, गिरिशप्रसादः = हराऽनुग्रहः, अनङ्गता = अनङ्गभाव एव, अभेद्यं = न भेदनीयं, वर्म = कवचं, न स्यात् चेत् = नो भवेत् यदि, तर्हि सः = इन्द्रः, प्रसूनैः=पुष्पैरेव, शरैः=बाणैः, तुदतः = पीडयतः, आत्मानं विध्यत इति भावः, स्मरस्य = कामदेवस्य, कामदेवमिति भावः। अशनिना = वज्रेण, स्मर्तुं = स्मृतिविषयं कर्तुं, न करोति किं = नो विदधाति किं, वधेन स्मृतिमात्रशेषं कुर्यादेवेति भावः। अहह= खेदे॥ ६६॥

अनुवादः (हे भद्रे!) कामदेवके लिए महादेवके अनुग्रहभूत अनङ्गत्वरूप भेदनका अविषय कवच न होता तो इन्द्रदेव पुष्परूप बाणोंसे वेधन करनेवाले कामदेवको वज्रसे स्मृतिमात्रका विषय नहीं करते क्या? (करते ही), खेद है॥ ६६॥

टिप्पणी—गिरिशप्रसादः = गिरिशस्य प्रसादः (ष० त०), अनङ्गता = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य सः अनङ्गः (नञ्बहु०), तस्य भावः, तत्ता, अनङ्ग + तल् + टाप् + सुः । अभेद्यं = न भेद्यम् (नञ्०) । स्यात् = अस् + विधिलिङ् + तिप् । तुदतः = तुदतीति तुदन्, तस्य, तुद + लट् (शतृ) + ङस् । स्मरस्य = "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी । "अहह = अहहेत्यद्भुते खेदे" इत्यमरः । कामदेवके अङ्ग होते तो इन्द्र उसे अवश्य वज्रसे मार डालते यह भाव है । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ६६ ॥

धृताऽधृतेस्तस्य भवद्वियोगान्नानाऽऽर्द्रशय्यारचनाय लूनैः ।
अप्यन्यदारिद्र्यहराः प्रवालैर्जाता दरिद्रास्तरवोऽमराणाम् ॥ ६७ ॥

अन्वयः—(हे भद्रे !) अन्यदारिद्र्यहरा अपि अमराणां तरवः भवद्वियोगात् धृताऽधृतेः तस्य नानाऽऽर्द्रशय्यारचनाय लूनैः प्रवालैः दरिद्रा जाताः ॥ ६७ ॥

व्याख्या—अन्यदारिद्र्यहरा अपि = अपरदरिद्रतानाशका अपि, अमराणां = देवानां, तरवः = वृक्षाः, कल्पवृक्षा इति भावः । भवद्वियोगात् = त्वद्विरहात् हेतोः, धृताऽधृतेः = धैर्यरहितस्य, तस्य = इन्द्रस्य, कामसन्तप्तस्येति शेषः । नानाऽऽर्द्रशय्यारचनाय = बहुविधशिशिरशयननिर्माणाय, लूनैः = अवचितैः, प्रवालैः = पल्लवैः, दरिद्राः = रिक्ताः, जाताः = संवृत्ताः, तथाऽपीन्द्रसन्तापो नाऽपगत इति भावः ॥ ६७ ॥

अनुवादः—(हे भद्रे !) दूसरेके दारिद्र्यको हटानेवाले देवताके वृक्ष (कल्पवृक्ष) आपके वियोगसे धैर्यरहित इन्द्रकी अनेक शीतल शय्याओंकी रचनाके लिए तोड़े गये पल्लवोंसे दरिद्र (रिक्त) हो गये हैं ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—अन्यदारिद्र्यहराः = अन्येषां दारिद्र्यम् (ष० त०) तत् हरन्तीति, "हरतेरनुद्यमनेऽच्" इस सूत्रसे अच् । अन्यदारिद्र्य + हृञ् + अच् (उपपद०) + जस् । भवद्वियोगात् = भवत्या वियोगः, तस्मात् (ष० त०), "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इससे पुंवद्भाव । धृताऽधृतेः = न धृतिः (नञ्०), धृता अधृतिर्येन सः, तस्य (बहु०) । धृतिका अर्थ धैर्य और सन्तोष भी है । इस प्रकार धृताऽधृतिका अर्थ हुआ अधीर अथ वा असंतुष्ट (अप्रसन्न), यहाँ दोनों अर्थ हो सकते हैं । नानाऽऽर्द्रशय्यारचनाय = आर्द्राश्च ताः शय्याः (क० धा०), नाना च ता आर्द्रशय्याः (क० धा०) । तासां रचनं, तस्मै (ष० त०) । औरोंकी दरिद्रता हटानेवाले कल्पवृक्ष भी आपके विरहसे सन्तप्त इन्द्रकी आर्द्रशय्याओंको बनानेके लिए तोड़े गये प्रवालोंसे दरिद्र हो गये यह भाव

है। इस पद्यमें कल्पवृक्षोंके प्रवालोंके दारिद्र्यमें सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ६७ ॥

रवैर्गुणाऽऽस्फालभवैः स्मरस्य स्वर्णाथकर्णौ बधिरावभूताम्।
गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ?॥ ६८॥

अन्वयः—(हे भद्रे !) स्वर्णाथकर्णौ स्मरस्य गुणाऽऽस्फालभवैः रवैः बधिरौ अभूताम्, गुरोः स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि अक्षराणि शृणोतु किम् ? ॥६८॥

व्याख्या—स्वर्णाथकर्णौ = इन्द्रश्रोत्रेन्द्रिये, स्मरस्य = कामदेवस्य, गुणाऽऽस्फालभवैः = मौर्वीघट्टनोत्पन्नैः, रवैः = टङ्कारैः, बधिरौ = एडौ, अभूताम् = अभवताम्। एवं बाधिर्ये सति, गुरोः = बृहस्पतेः, स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि = कामाऽविवेकस्वापजागरणसमर्थानि, अक्षराणि = वाक्यानि, शृणोतु किम् ? = आकर्णयतु किम् = न शृणोत्येवेति भावः। भवद्विरहमोहाऽन्धमिन्द्रं बृहस्पतिरपि बोधयितुं न समर्थ इति भावः ॥ ६८ ॥

अनुवादः—(हे भद्रे !) इन्द्रके कान कामदेवके प्रत्यञ्चाको खींचनेसे उत्पन्न टङ्कारोंसे बहरे हो गये हैं, अतः वे अपने गुरु बृहस्पतिके कामसे उत्पन्न मोहनिद्राको हटानेमें समर्थ वाक्योंको सुनेंगे क्या ? ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—स्वर्णाथस्य = स्वः नाथः, तस्य (ष० त०) "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इससे णत्व। गुणाऽऽस्फालभवैः = गुणस्य आस्फालनं (ष० त०) तस्माद् भवैः (ष० त०)। स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि = स्मरेण मोहः (तृ० त०), स एव निद्रा (रूपक०), तस्याः प्रबोधः (ष० त०), तस्मिन् दक्षाणि (स० त०), तानि। आपके विरहके मोहसे पीडित इन्द्रको बृहस्पति भी प्रबोध नहीं कर सकते हैं यह भाव है ॥ ६८ ॥

अनङ्गतापप्रशमाय तस्य कदर्थ्यमाना मुहुरामृणालम्।
मधौ मधौ नाकनदीनलिन्यो वरं वहन्तां शिशिरेऽनुरागम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—(हे भद्रे !) नाकनदीनलिन्यो मधौ मधौ तस्य अनङ्गतापप्रशमाय मुहुः आमृणालं कदर्थ्यमानाः शिशिरे अनुरागं वरं वहन्ताम् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—नाकनदीनलिन्यः = स्वर्गनदीकमलिन्यः, मधौ मधौ = वसन्ते वसन्ते, प्रतिवसन्तम्। तस्य = इन्द्रस्य, अनङ्गतापप्रशमाय = कामसन्तापशान्त्यै, मुहुः = वारं वारम्, आमृणालं = मृणालपर्यन्तं, कदर्थ्यमानाः = उत्पीड्यमानाः सत्यः, शिशिरे = हेमन्तर्तौ, स्वप्रतिकूलेऽपि, अनुरागं = प्रीतिं, वरं = मनाक्प्रियं, वहन्तां = ...

अनुवादः—(हे भद्रे !) मन्दाकिनीकी कमलिनियाँ प्रत्येक वसन्त ऋतुमें इन्द्रके कामसन्तापकी शान्ति के लिए वार वार मृणालतक उखाड़ी जाती हुई हेमन्त ऋतुमें कुछ अनुराग करती हैं ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—नाकनदीनलिन्यः = नाकस्य नदी (ष० त०), तस्या नलिन्यः (ष० त०)। अनङ्गतापप्रशमाय=अनङ्गेन तापः (तृ० त०), तस्य प्रशमस्तस्मै (ष० त०)। आमृणालं = मृणालात् आ (अभिविधिमें अव्ययीभाव)। कदर्थ्यमानाः = कुत्सिता अर्थाः कदर्थाः (गति०), "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इस सूत्रसे 'कु' के स्थानमें कत् आदेश। कदर्थ्यन्ते इति कदर्थ्यमानाः, कदर्थ शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लट् (कर्ममें), उसके स्थानमें शानच् + टाप् + जस्। वरं="देवाद्वृते वरः, श्रेष्ठे त्रिषु, क्लीब मनाक्प्रिये।" इत्यमरः। वहन्ताम् = वह + लोट् + झ। स्वरितकी इत्संज्ञा होनेसे आत्मनेपद ॥ ६९ ॥

दमस्वसः ! सेयमुपैति तृष्णा जिष्णोर्जगत्यग्रिमलेख्यलक्ष्मीम्।
दृशां यदब्धिस्तव नाम दृष्टित्रिभागलोभार्तिमसौ बिभर्ति ॥ ७० ॥

अन्वयः—हे दमस्वसः ! जिष्णोः सा इयं तृष्णा जगति अग्रिमलेख्यलक्ष्मीम् उपैति, यत् दृशाम् अब्धिः असौ तव दृष्टित्रिभागलोभार्ति बिभर्ति नाम ॥७०॥

व्याख्या—हे दमस्वसः = हे दमयन्ति !, जिष्णोः = इन्द्रस्य, सा, इयम् = एषा, तृष्णा = आशा, जगति = लोके, अग्रिमलेख्यलक्ष्मीम् = आदिमलेखनीयवस्तुशोभाम् अग्रगण्यतामिति भावः। उपैति = प्राप्नोति, अपूर्वत्वादिति भावः। कुतः ? यत् = यस्मात्, दृशां= नेत्राणाम्, अब्धिः = समुद्रः, सहस्रलोचन इति भावः, असौ = इन्द्रः, तव = भवत्याः, दृष्टित्रिभागलोभार्ति = नेत्रतृतीयभाग तृष्णापीड़ां, बिभर्ति = धत्ते, सहस्रनयनोऽपीन्द्रस्तव नेत्रतृतीयभागदर्शनं (कटाक्षवीक्षणम्) कामयत इति भावः, नाम = खलु ॥ ७० ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति ! इन्द्रकी यह तृष्णा लोकमें आदिम लेखविषयकी शोभा (अग्रगण्यता) को प्राप्त करती है, जो कि नेत्रके समुद्र (हजार नेत्रोंवाले) इन्द्र आपके नेत्रके तृतीय भाग (कटाक्षनिरीक्षण) के लोभकी पीड़ाको धारण कर रहे हैं ॥ ७० ॥

टिप्पणी—दमस्वसः = दमस्य स्वसा, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। जिष्णोः= "जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः" इत्यमरः। अग्रिमलेख्यलक्ष्मीम् = अग्रे भवम् अग्रिमम्, अग्र शब्दसे "अग्रादिपश्चाड्डिमच्" इस वार्तिकसे डिमच् प्रत्यय। अग्रिमं च

तल्लेख्यम् (क० धा०), तस्य लक्ष्मीः, ताम् (ष० त०)। इस पद्यमें विषम अलङ्कार है ॥ ७० ॥

अग्न्याहिता नित्यमुपासते यां देदीप्यमानां तनुमष्टमूर्तेः।
आशापतिस्ते दमयन्ति ! सोऽपि स्मरेण दासीभवितुं न्यदेशि ॥ ७१ ॥

अन्वयः – हे दमयन्ति ! अग्न्याहिता यां देदीप्यमानाम् अष्टमूर्तेः तनुं नित्यम् उपासते। आशापतिः सोऽपि स्मरेण ते दासीभवितुं न्यदेशि ॥ ७१ ॥

व्याख्या—अथाऽग्निदेवस्याऽवस्थां वर्णयति – अग्न्याहिता इति। हे दमयन्ति ! = हे भैमि !, अग्न्याहिताः=आहिताऽग्नयः। अग्निहोत्रिण इति भावः। यां, देदीप्यमानां = जाज्वल्यमानाम, अष्टमूर्तेः = मूर्त्यष्टकधारिणः, महादेवस्येति भावः। तनुं = शरीरम्, अग्निरूपामिति शेषः। नित्यं = सर्वदा, उपासते = सेवन्ते, आशापतिः = दिक्पतिः आग्नेयदिक्पतिरिति भावः। सोऽपि = अग्निरपि, स्मरेण = कामदेवेन, ते = तव, दासीभवितुं = सेवकीभवितुं, न्यदेशि= निर्दिष्टः, दमयन्त्या दासो भव इति आदिष्ट इति भावः ॥ ७१ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति ! अग्निहोत्रीलोग जिस जाज्वल्यमान अष्टमूर्तिवाले महादेवके अग्निरूप शरीरकी नित्य उपासना करते हैं। दिक्पाल उन अग्निदेवको भी कामदेवने आपका दास होनेके लिए आज्ञा दी ॥ ७१ ॥

टिप्पणी – अग्न्याहिताः=आहिता अग्नयो यैस्ते (बहु०)। "वाहिताग्न्यादिषु" इस सूत्र से विकल्पसे निष्ठाका परनिपात, एक पक्षमें "आहिताऽग्नयः" ऐसा रूप भी होता है। देदीप्यमानाम् = अतिशयेन दीप्यमाना, ताम् दीप्+यङ्+लट् (शानच्)+टाप्+अम्। अष्टमूर्तेः=अष्टौ मूर्तयो यस्य सः, तस्य (बहु०)। "भूताऽर्कचन्द्रयज्वानो मूर्तयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।" इस उक्तिके अनुसार पञ्चमहाभूत—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा सूर्य, चन्द्र और यजमान ये आठ महादेव की मूर्तियां हैं, उनमें अग्निदेव अन्यतम मूर्ति हैं। उपासते = उप+आस्+लट्+झः। आशापतिः = आशायाः पतिः (ष० त०)। दासीभवितुम् = अदासो दासो यथा संपद्यते तथा भवितुम्, दास+च्वि+भू+तुमुन्। न्यदेशि = नि+दिश्+लुङ् (कर्ममें)+त ॥ ७१ ॥

त्वद्गोचरस्तं खलु पञ्चबाणः करोति सन्ताप्य तथा विनीतम्।
स्वयं यथा स्वादिततप्तभूयः परं न सन्तापयिता स भूयः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) पञ्चबाणः त्वद्गोचरः तं सन्ताप्य तथा विनीतं करोति खलु स यथा स्वयं स्वादिततप्तभूयः परं न सन्तापयिता ॥ ७२ ॥

व्याख्या (हे दमयन्ति !) पञ्चबाणः = कामः, त्वद्गोचरः = त्वद्विषयः, त्वाम् एव लक्ष्यीकृत्य इति भावः। तम् = अग्निं, सन्ताप्य = अतितरां तापयित्वा, तथा = तेन प्रकारेण, विनीतं = शिक्षितं, करोति = विदधाति, खलु = निश्चयेन। यथा = येन प्रकारेण, सः = अग्निदेवः, स्वयम् = आत्मना, स्वादिततप्तभूयः = अनुभूततापः, भूयः = पुनः, परम् = अन्यं, न सन्तापयिता= न सन्तापयिष्यति, स्वयमनुभूतदुःखः परमात्मदृष्टान्तेन न दुःखाकरोतीति भावः॥ ७२॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) कामदेव आपको लक्ष्य करके अग्निदेवको सन्तप्त करके इस तरह शिक्षित करता है जैसे वे स्वयं सन्तापका अनुभव कर फिर दूसरेको सन्तप्त नहीं करेंगे॥ ७२॥

टिप्पणी—पञ्चबाणः = पञ्च बाणा यस्य सः (बहु०)। त्वद्गोचरः = त्वं गोचरो यस्य सः (बहु०)। सन्ताप्य = सं + तप + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। स्वादिततप्तभूयः = तप्तस्य भावः तप्तभूयम्, "भुवो भावे" इससे क्यप् (तप्त + भू + क्यप् + सुः)। स्वादितं तप्तभूयं येन सः (बहु०)। सन्तापयिता = सं + तप + णिच् + लुट + तिप्। स्वयम् दुःखको अनुभव करनेवाला पुरुष अपने दृष्टान्तसे दूसरेको दुःखित नहीं करता है यह भाव है। कामदेव अग्निको अत्यन्त पीडित कर रहा है यह तात्पर्य है॥ ७२॥

अदाहि यस्तेन दशार्द्धबाणः पुरा पुरारेर्नयनाऽऽलयेन।
स निर्दहंस्तं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरधुनाऽधमर्णः॥ ७३॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) यो दशार्द्धबाणः पुरा पुरारेः नयनाऽऽलयेन अदाहि, सः अधुना भवदक्षिवासी (सन्) तं निर्दहन् वैरशुद्धेः अधमर्णः न॥ ७३॥

व्याख्या—यः, दशार्द्धबाणः = पञ्चशरः, कामदेव इत्यर्थः। पुरा = पूर्वकाले, पुरारेः = त्रिपुरारेः, हरस्य, नयनाऽऽलयेन = नेत्राश्रयेण अग्निनेत्यर्थः। अदाहि = दग्धः। सः = दशार्द्धबाणः, कामः, अधुना = इदानीं, भवदक्षिवासी = त्वन्नेत्रनिष्ठः सन्, तम् = अग्निं, निर्दहन् = सन्तापयन्, वैरशुद्धेः = विरोधप्रतीकारात् हेतोः, अधमर्णः = ऋणी, न = नो वर्तते। हरनेत्राऽग्निदग्धः कामः सम्प्रति भवन्नेत्राश्रयेण अग्निं सन्ताप्य वैरनिर्यातनादृणी नाऽस्तीति भावः॥ ७३॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) जो कामदेव पहले महादेवके नेत्रमें रहनेवाले अग्निसे दग्ध हुआ था, वह इस समय आपके नेत्रमें रहते हुए अग्निको जलाकर शत्रुताका बदला लेनेसे ऋणी नहीं है॥ ७३॥

टिप्पणी —दशाऽर्द्धबाणा: = दशानाम् अर्द्धानि, (ष० त०)। दशाऽर्द्धानि बाणा यस्य स: (बहु०)। पुराऽरे: = पुरस्य (त्रिपुरस्य) अरि:, तस्य (ष० त०)। नयनाऽऽलयेन=नयनम् आलयो यस्य, तेन (बहु०)। अदाहि = दह + लुङ् (कर्ममें) + त। भवदक्षिवासी = भवत्या अक्षिणी (ष० त०), तयोर्वसतीति तच्छील:, भवदक्षि + वस + णिनि: (उपपद०) + सु:। निर्दहन् = निर् + दह + लट् (शतृ) + सु:। वैरशुद्धे: = वैरस्य शुद्धि:, तस्या: (ष० त०)। अधमर्ण: = अधमम् ऋण यस्य स: (बहु०)। जो जिसका जैसे अपकार करता है, वह अपकृत पुरुष भी वैसे ही उसका बदला लेता है यह भाव है। इसमें उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ७३ ॥

सोमाय कुप्यन्निव विप्रयुक्त: स सोममाचामति हूयमानम् ।

नामाऽपि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते ? ॥ ७४ ॥

अन्वय: — (हे दमयन्ति !) विप्रयुक्त: स सोमाय कुप्यन् इव हूयमानम् सोमम् आचामति। हि यत्र शत्रो: नाम अपि जागर्ति तं तेजस्विन: कतमे सहन्ते ? (न केऽपि)) ॥ ७४ ॥

व्याख्या — (हे दमयन्ति !) विप्रयुक्त: = त्वद्विरहयुक्त:, स: = अग्नि:, सोमाय = चन्द्राय, कुप्यन् इव = क्रुध्यन् इव, कामोद्दीपकत्वेन जिघांसन्निवेति भाव:। हूयमानं = यज्ञे दीयमानं, सोमं = सोमलतारसम्, आचामति = पिबति। हि = यस्मात् कारणात्, यत्र = यस्मिन् जने, शत्रो: = वैरिण:, नाम-अपि = अभिधानम् अपि, जागर्ति = प्रकाशते, तं=शत्रुनामधारिणं, तेजस्विन: = तेज:सम्पन्ना:, पराऽवमानाऽसहिष्णव इति भाव:, कतमे = के, सहन्ते = मृष्यन्ति, न केऽपीति भाव:। तेजस्विनां शत्रुनामाऽप्यसह्यमिति भाव: ॥ ७४ ॥

अनुवाद: — (हे दमयन्ति !) विरही अग्निदेव सोमपर मानों क्रोध करते हुए यजमानसे दिये गये सोमलताके रसको पान करते हैं, क्योंकि जिसमें शत्रुका नाम भी हो तो कौन तेजस्वी उसे सहते हैं ? (कोई भी नहीं) ॥७४॥

टिप्पणी — सोमाय = "क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयाऽर्थानां यं प्रति कोप:" इस सूत्रसे संप्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी। कुप्यन् = कुप्यतीति, कुप + लट् (शतृ) + सु:। हूयमानं = हु + लट् (कर्ममें) (शानच्) + अम्। आचामति = आङ् + चम् + लट् + तिप्, "ष्ठिवुक्लमुचमां शिति" और "आङि चम इति वक्तव्यम्" इससे दीर्घ। तेजस्विन: = तेजस् + विनि + जस्। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

शरैरजस्रं कुसुमाऽऽयुधस्य कदर्थ्यमानस्तव कारणाय ।
अभ्यर्चयद्भिर्विनिवेद्यमानादप्येष मन्ये कुसुमाद् बिभेति ॥ ७५ ॥

अन्वयः (हे दमयन्ति !) तव कारणाय कुसुमायुधस्य शरैः अजस्रं कदर्थ्यमानः एषः अभ्यर्चयद्भिः विनिवेद्यमानात् अपि कुसुमात् बिभेति, मन्ये ॥ ७५ ॥

व्याख्या—(हे दमयन्ति !) तव = भवत्याः, कारणाय = हेतवे, त्वत्कृत इति भावः । कुसुमाऽऽयुधस्य = कामदेवस्य, शरैः = बाणैः, पुष्पैः, अजस्रं = नित्यं, कदर्थ्यमानः = पीड्यमानः, एषः = अग्निदेवः, अभ्यर्चयद्भिः = पूजयद्भिर्जनैः, विनिवेद्यमानात् अपि = समर्प्यमाणात् अपि, कुसुमात् = पुष्पात्, बिभेति = त्रस्यति, इति, मन्ये = जाने ॥ ७५ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) आपके लिए कामदेवके बाणरूप पुष्पोंसे निरन्तर पीडित होते हुए ये (अग्निदेव) पूजा करनेवालोंसे समर्पण किये गये फूलसे भी डरते हैं मैं ऐसा मानता हूँ ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—कारणाय = "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इससे तादर्थ्यमें चतुर्थी । कुसुमायुधस्य = कुसुमानि आयुधानि यस्य, तस्य (बहु०) । कदर्थ्यमानः = कुत्सितः अर्थः कदर्थः (गति०), कदर्थ्यते इति । कदर्थ + क्यङ् + लट् (शानच्), सुः (कर्ममें) । अभ्यर्चयद्भिः = अभि + अर्च + णिच + लट् (शतृ) + भिस् । विनिवेद्यमानात्=वि + नि + विद् + णिच् + लट् (शानच्) + ङसिः (कर्ममें) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

स्मरेन्धने वक्षसि तेन दत्ता संवर्तिका शैवलवल्लिचित्रा ।
चकास्ति चेतोभवपावकस्य धूमाऽऽविला कीलपरम्परेव ॥ ७६ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) तेन स्मरेन्धने वक्षसि दत्ता शैवलवल्लिचित्रा संवर्तिका चेतोभवपावकस्य धूमाऽऽविला कीलपरम्परा इव चकास्ति ॥ ७६ ॥

व्याख्या—तेन = अग्निदेवेन, स्मरेन्धने = कामाऽग्निदाह्ये, वक्षसि = उरसि, दत्ता = न्यस्ता, तापशान्तये इति शेषः । शैवलवल्लिचित्रा = शैवाललताकर्बुरा, संवर्तिका = कमलनवदलम्, चेतोभवपावकस्य = कामाऽग्नेः, धूमाऽऽविला = धूमकलुषा, कीलपरम्परा इव = ज्वालाऽऽवलिः इव, चकास्ति = दीप्यते ॥ ७६ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) अग्निदेवने कामदेवके ईन्धनरूप अपनी छातीपर शैवललतासे विचित्र कमलका नया पत्ता रख दिया जो कामरूप अग्निकी धूमसे मलिन ज्वालाकी पङ्क्तिके समान शोभित हो रहा है ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—स्मरेन्धने = स्मरस्य इन्धनं, तस्मिन् (ष० त०)। शैवलवल्लि-चित्रा = शैवलस्य वल्लिः (ष० त०) तया चित्रा (तृ० त०), संवर्तिका = "संवर्तिका नवदलम्" इत्यमरः। चेतोभवपावकस्य = चेतसि भवः (स० त०), चेतोभव एव पावकः, तस्य (रूपक०)। धूमाऽऽविला = धूमेन आविला (तृ० त०), कीलपरम्परा = कीलानां परम्परा (ष० त०)। "वह्नेर्द्वयोर्ज्वाल-कीलौ" इत्यमरः। चकास्ति = चकासृ + लट् + तिप्। अग्निने कामसन्तापकी शान्तिके लिए अपनी छातीपर शैवल (सेवार) की लताके साथ कमलका नया पत्ता रख दिया, उनमें शैवललता अग्निकी धूमपङ्क्तिके समान और कमलका नया पत्ता अग्निज्वालाके समान प्रतीत होता है यह भाव है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७६ ॥

पुत्री सुहृद्येन सरोरुहाणां,यत्प्रेयसी चन्दनवासिता दिक् ।
धैर्यं विभुः सोऽपि तवैव हेतोः स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥७७॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) येन सरोरुहाणां सुहृत् पुत्री, चन्दनवासिता दिक् यत्प्रेयसी, स विभुः अपि तव एव हेतोः धैर्यं स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥७७॥

व्याख्या—अथ यमस्य विरहाऽवस्थां वर्णयति—पुत्रीति। येन = जनेन, यमेनेति भावः। सरोरुहाणां = कमलानां, सुहृत् = मित्रं, विकासकत्वादिति भावः, सूर्य इत्यर्थः, पुत्री = पुत्रवान्, एतेनाऽभिजन उक्तः। चन्दनवासिता = श्रीखण्डद्रुमसुरभिता, दिक् = दिशा, दक्षिणा दिगिति भावः। यत्प्रेयसी = यस्य (यमस्य) प्रेयसी (प्रियतमा), एतेन भोगसम्पत्तिरुक्ता। सः = तादृशः, विभुः अपि = प्रभुः अपि, यम इत्यर्थः। तव एव = भवत्या एव, हेतोः = कारणात्, धैर्यं = स्वधीरतां, स्मरप्रतापज्वलने = कामसन्तापाऽग्नौ, जुहाव = हुतवान्। यमोऽपि त्वद्वशो जातः धैर्यं चोत्सृष्टवानिति भावः ॥७७॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) कमलोंके मित्र (विकासक) सूर्य जिनसे पुत्रवान् हैं, चन्दनोंसे सुगन्धित दिशा (दक्षिण दिशा) जिसकी प्रियतमा है ऐसे प्रभु यमराजने भी आपके ही कारणसे अपने धैर्यको कामदेवके प्रतापरूप अग्निमें हवन कर दिया है ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—सरोरुहाणां = सरसि रोहन्तीति सरोरुहाणि, तेषाम्, सरस् + रुह + कः (उपपद०) आम्। पुत्री = पुत्रः अस्याऽस्तीति, पुत्र + इनिः + सुः। चन्दनवासिता = चन्दनैर्वासिता (तृ० त०)। यत्प्रेयसी = यस्य प्रेयसी (ष० त०)। तव हेतोः = "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इससे षष्ठी। स्मरप्रतापज्वलने =

प्रताप एव ज्वलनः (रूपक०) । स्मरस्य प्रतापज्वलनः तस्मिन् (ष० त०) । जुहाव = हु + लिट् + तिप् (णल्) । यमराज भी आपके वियोगमें अधीर हो रहे हैं यह भाव है । इस पद्यमें ओज गुण है ।। ७७ ।।

तं दह्यमानैरपि मन्मथैधं हस्तैरुपास्ते मलयः प्रवालैः ।
कृच्छ्रेऽप्यसौ नोज्झति तस्य सेवां सदा यदाशामवलम्बते यः ।। ७८ ।।

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) मलयः मन्मथैधं तं दह्यमानैः अपि प्रवालैः हस्तैः उपास्ते । यः सदा यदाशाम् अवलम्बते; असौ कृच्छ्रे अपि तस्य सेवां न उज्झति ।। ७८ ।।

व्याख्या—मलयः = मलयपर्वतः, मन्मथैधं = कामाऽग्निकाष्ठं, तं = यमं, दह्यमानैः अपि=जाज्वल्यमानैः अपि, प्रवालैः=पल्लवैः एव, हस्तैः=करैः, उपास्ते= सेवते, तस्य शीतोपचारमाचरतीति भावः । युक्तं चैतदित्याह – य इति । यः = जनः, सदा = सर्वदा, यदाशां = यद्दिशां, यदनुरागं च, अवलम्बते = आश्रयते, असौ = जनः, कृच्छ्रे अपि = कष्टे अपि, तस्य = जनस्य, सेवा = परिचर्यां, न उज्झति = न त्यजति, यो यमुपजीवति तस्य तत्सेवा विपद्यपि कर्तुमुचितेति भावः ।। ७८ ।।

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) मलय पर्वत कामदेवके इन्धनरूप यमराजको अत्यन्त जलते हुए पल्लवरूप हाथोंसे सेवा करता है । जो सर्वदा जिसकी दिशा वा अनुराग का अवलम्बन करता है, वह कष्ट पड़ने पर भी उसकी सेवा नहीं छोड़ता है ।। ७८ ।।

टिप्पणी—मन्मथैधं = मन्मथस्य एधः, तम् (ष० त०) । "काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः" इत्यमरः । उपास्ते = उप + आस् + लट् + त । यदाशां = यस्य आशा, ताम् (ष० त०), "आशा तृष्णापि दिशोः स्त्रियाम्" इत्यमरः । कृच्छ्रे = "स्यात्कष्टं कृच्छ्रमाभीरम्" इत्यमरः । जो जिसका उपजीवी है उसे विपत्तिमें भी उसकी सेवा करनी चाहिए यह भाव है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।। ७८ ।।

स्मरस्य कीर्त्येव सितीकृतानि तद्दोःप्रतापैरिव तापितानि ।
अङ्गानि धत्ते स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि ।। ७९ ।।

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि इव तद्दोःप्रतापैः तापितानि इव अङ्गानि धत्ते ।। ७९ ।।

व्याख्या—सः = यमः, भवद्वियोगात् = त्वद्विरहात्, पाण्डूनि = पाण्डुराणि, चण्डज्वरजर्जराणि = तीव्रज्वरविशीर्णानि, स्मरस्य = कामस्य, कीर्त्या=

यशसा, सितीकृतानि इव = शुक्लीकृतानि इव, तद्दोःप्रतापैः = कामबाहुतेजोभिः, तापितानि इव = सन्तापितानि इव, अङ्गानि=देहाऽवयवान्, धत्ते = धारयति । कामो यममत्यर्थं पीडयतीति भावः ॥ ७९ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति) यमराज आपके वियोगसे पाण्डुवर्णवाले तथा तीव्र ज्वरसे जर्जर कामदेवकी कीर्तिसे सफेद बनाये गयेके समान और कामदेवके बाहुओंके प्रतापसे सन्तापयुक्त अङ्गोंको धारण कर रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—भवद्वियोगात् = भवत्या वियोगः, तस्मात् (प० त०)। चण्डज्वरजर्जराणि = चण्डश्चाऽसौ ज्वरः (क० धा०), तेन जर्जराणि (तृ० त०), तानि । सितीकृतानि = असितानि सितानि यथा संपद्यन्ते तथा कृतानि, तानि, सित + च्वि + कृ + क्तः + शस् । तद्दोः प्रतापैः तस्य दोषौ (ष० त०), तयोः प्रतापाः, तैः (ष० त०) । तापितानि = तप + णिच् + क्त + शस् । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७९ ॥

यस्तन्वि ! भर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भनकौतुकिन्याः ।
तदा स चेतः प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः ॥ ८० ॥

अन्वयः—हे तन्वि ! यः सायं घुसृणेन समालम्भनकौतुकिन्याः दिशः भर्ता स तदा तुभ्य चेतः प्रजिघाय यदा गतः पान्थो निवृत्य न एति ॥ ८० ॥

व्याख्या—अथ वरुणस्य विरहं वर्णयति—य इत्यादि । हे तन्वि = हे कृशाङ्गि !, यः=देवः, सायं = सन्ध्यायां, घुसृणेन = कुङ्कुमेन, समालम्भनकौतुकिन्याः = अनुलेपनकुतूहलयुक्तायाः, आतपाऽरुण्यात्कुङ्कुमलिप्तवद्भासमानायाः इति भावः । दिशः=आशायाः, पश्चिमदिशाया इति भावः । भर्ता= स्वामी, सः = वरुणः, तदा = तस्मिन्काले, तुभ्यं = त्वदर्थं, चेतः=चित्तं, प्रजिघाय = प्रहितवान्, यदा = यस्मिन् काले, "निवृत्य न एति" इति वाक्यसामर्थ्यात्, चित्रास्वात्यन्यतरनक्षत्रसमय इति भावः । गतः = यातः, पान्थः = पथिकः, निवृत्य = परावृत्य, न एति = आयाति । वरुणचित्तं भवत्यामेव सानन्दं विहरति न निवर्तत इति भावः ॥ ८० ॥

अनुवादः—हे कृशाङ्गि ! जो सायंकालमें केशरसे लेपन करनेमें कौतुक करनेवाली दिशा (धूपकी अरुणतासे केशरसे लिप्तके समान प्रतीत होनेवाली पश्चिम दिशा) के स्वामी हैं उन वरुणदेवने उस समय (चित्रा और स्वातीमें एकके समयमें) तुम्हारे लिए चित्तको भेजा जब कि गया हुआ पथिक लौटकर नहीं आता है ॥ ८० ॥

टिप्पणी—समलम्भनकौतुकिन्याः = समालम्भने कौतुकिनी, तस्याः (स० त०) प्रजिघाय = प्र + हि + लिट + तिप् (णल्), "हेरचङि" इस सूत्रसे कुत्व। वरुणने तुम्हारे लिए उस समय अपने चित्तको भेजा जब कि गया हुआ पथिक लौटकर नहीं आता है ऐस वाक्यसे "नन्दन्ति न निवर्त्तन्ते चित्रास्वात्योर्गता नराः।" ऐसे ज्यौतिषशास्त्रके वचनसे वह समय चित्रा वा स्वाती नक्षत्र प्रतीत होता है। पान्थः = पन्थानं गच्छतीति, पथिन् शब्दसे "पन्थो ण नित्यम्" इस सूत्रसे पन्थ आदेश और ण प्रत्ययका निपातन। वरुणका चित्त आपमें ही आनन्दपूर्वक विहार करता है, लौटकर नहीं आता है यह तात्पर्य है। इस पद्यमें भी ओज गुण है॥ ८०॥

तथा न तापाय पयोनिधीनामश्वामुखोत्थः क्षुधितः शिखावान्।
निजः पतिः सम्प्रति वारिपोऽपि यथा हृदिस्थः स्मरतापदुःस्थः॥ ८१॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति!) तथा क्षुधितः अश्वामुखोत्थः शिखावान् पयोनिधीनां तापाय न भवति यथा स्मरतापदुःस्थः निजः पतिः हृदिस्थः वारिपोऽपि तापाय (भवति)॥ ८१॥

व्याख्या—तथा = तेन प्रकारेण, क्षुधितः=बुभुक्षितः, अश्वामुखोत्थः=वडवामुखोत्थः, शिखावान् = अग्निः, वडवाऽग्निरिति भावः। पयोनिधीनां = समुद्राणां, तापाय = संतापाय, न भवति = नो विद्यते, यथा = येन प्रकारेण, स्मरतापदुःस्थः = कामदाहाऽस्वस्थः, निजः = स्वकीयः, पतिः = स्वामी, वरुण इति भावः हृदिस्थः = चित्तस्थः, स्मर्यमाण एवेति भावः। वारिपोऽपि = जलरक्षकोऽपि, सन्, तापाय = सन्तापाय, भवति। तथा साक्षात्कुक्षिस्थोऽपि वडवाऽग्निर्न तापयति यथा कामसन्तप्तः निजस्वामी वरुणः स्मृतः सन् तापयतीति भावः॥ ८१॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति!) उस प्रकार भूखा वडवाग्नि भी समुद्रोंका तापकारक नहीं होता है जिस प्रकार कामदेवके सन्तापसे अस्वस्थ अपने स्वामी जलरक्षक वरुण स्मरण करनेसे तापकारक होते हैं॥ ८१॥

टिप्पणी—क्षुधितः = क्षुध् + क्तः, "वसतिक्षुधोरिट्" इस सूत्रसे इट् आगम। अश्वामुखोत्थः = अश्वायाः (वडवायाः) मुखम् (ष० त०), तस्मात् उत्तिष्ठतीति, अश्वामुख + उद + स्था + कः (उपपद०)। शिखावान्=शिखा + मतुप + नुः। पयोनिधीनां = पयसां निधयः, तेषाम् (ष० त०)। स्मरतापदुःस्थः = स्मरस्य तापः (ष० त०), तेन दुःस्थः (तृ० त०)। हृदिस्थः = हृदि

तिष्ठतीति, हृदि + स्था + कः + (उपपद०) (अलुक्०)। वारिपः = वारीणि पातीति, वारि + पा + कः (उपपद०) समुद्रको अपने भीतर विद्यमान बडवाग्नि-से भी वैसा ताप नहीं होता है जैसा कामदेवसे पीडित अपने स्वामी वरुणका स्मरण करनेसे ताप होता है। इस पद्यमें ऐसे तापका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

यत्प्रत्युत त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति दुर्विनीता।
ततो विधत्तेऽधिकमेव तापं तेन श्रिता शैत्यगुणा मृणाली ॥ ८२ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) तेन श्रिता शैत्यगुणा (तथाऽपि) दुर्विनीता मृणाली यत् त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति, ततः प्रत्युत अधिकं तापम् एव विधत्ते ॥ ८२ ॥

व्याख्या—तेन = वरुणेन, श्रिता = सेविता, मदनतापशान्तये इति शेषः, शैत्यगुणा = शीतलत्वगुणा, तथाऽपि दुर्विनीता = विनयरहिता, प्रतिकूलचारिणी इति भावः। मृणाली = बालमृणालम्, यत्, त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं भवत्कोमलभुजलतास्मरणमालां, गुम्फति = रचयति, निरन्तरं स्मारयतीति भावः। ततः = तस्मात्, त्वद्बाहुस्मारकत्वाद्धेतोरिति भावः। प्रत्युत = उक्त-वैपरीत्येन, अधिकं = साऽतिशयं, तापं = सन्तापम् एव, विधत्ते = करोति ॥ ८२ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) वरुणने कामताप की शान्तिके लिए लिया गया शीतगुणवाला दुर्विनीत (प्रतिकूलकारी) छोटासा मृणाल जो आपकी भुजलताकी स्मरणमाला रचता है, उस कारणसे उलटा वह अधिक सन्तापको ही उत्पन्न करता है ॥ ८२ ॥

टिप्पणी शैत्यगुणा = शैत्यं गुणो यस्याः सा (बहु०)। मृणाली = अल्पं मृणालम्, अवयवकी अपचयविवक्षामें "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष्। 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षाऽपचये यदि।" इत्यमरः। त्वन्मृदुबाहुवल्ली-स्मृतिस्रजं = बाहुः वल्ली इव (उपमित०), मृदुश्चाऽसौ बाहुवल्ली (क० धा०)। तव मृदुबाहुवल्ली (ष० त०)। तस्याः स्मृतयः (ष० त०), तासां स्रक्, ताम् (ष० त०)। कामतापकी शान्तिके लिए वरुणसे ली गई मृणाली आपकी बाहुलताकी स्मृतिको उत्पन्न करके बहुत ताप करती है यह भाव है। अतः स्मरण अलङ्कार है। तापशान्तिके लिए ली गई मृणाली उसके विरुद्ध ताप-रूप कार्यको उत्पन्न करती है ऐसा कहनेसे विषमाऽलङ्कार है। इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८२ ॥

न्यस्तं ततस्तेन मृणालदण्डखण्डं बभासे हृदि तापभाजि ।
तच्चित्तमग्नैर्मदनस्य बाणैः कृतं शतच्छिद्रमिव क्षणेन ॥ ८३ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) ततः तेन तापभाजि हृदये न्यस्तं मृणालदण्डखण्डं तच्चित्तमग्नैः मदनस्य बाणैः क्षणेन शतच्छिद्रं कृतम् इव बभासे ॥ ८३ ॥

व्याख्या—ततः = तदनन्तरम् अपि, तेन = वरुणेन, तापभाजि = मदनतापयुक्ते, हृदये = वक्षःस्थले, न्यस्तं = स्थापितं, तापशान्त्यर्थमिति भावः । मृणालदण्डखण्डं = बिसकाण्डशकलं, तच्चित्तमग्नैः = वरुणहृदयस्थितैः, मदनस्य = कामस्य, बाणैः = शरैः, क्षणेन = अल्पकालेन, शतच्छिद्रम् = बहुरन्ध्रं कृतम् इव = विहितम् इव, प्रतिकूलाऽऽचरणरोषाच्छतधा प्रणीतमिवेति भावः । बभासे = शुशुभे । कामबाणैर्वरुणहृदयं जर्जरीकृतमिति भावः ॥ ८२ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) तब वरुणने काममन्तप्त अपने हृदय में रक्खा गया मृणालदण्डका खण्ड उनके हृदयमें प्रहृत कामदेवके बाणोंसे थोड़े समयमें सैकड़ों छेदोंसे युक्तके समान शोभित हो रहा है ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—तापभाजि = तापं भजतीति तापभाक्, तस्मिन्, ताप + भज् + ण्विः (उपपद०) + ङि । न्यस्तं = नि + अस् + क्तः + सुः । मृणालदण्डखण्डं = मृणालस्य दण्डः (ष० त०) तस्य खण्डम् (ष० त०) । तच्चित्तमग्नैः = तस्य चित्त (ष० त०), तस्मिन् मग्नाः, तैः (स० त०) । क्षणेन = "अपवर्गे तृतीया" इससे तृतीया । शतच्छिद्रं = शतं छिद्राणि यस्य तत् (बहु०) । बभासे = भास् + लिट् + त (एश्) । कामदेवके बाणोंसे वरुणका हृदय जर्जर हो गया है यह भाव है, इसमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

इति त्रिलोकीतिलकेषु तेषु मनोभुवो विक्रमकामचारः ।
अमोघमस्त्रं भवतीमवाप्य मदाऽन्धताऽनर्गलचापलस्य ॥ ८४ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) भवतीम् अमोघम् अस्त्रम् अवाप्य मदाऽन्धताऽनर्गलचापलस्य मनोभुवः त्रिलोकीतिलकेषु तेषु इति विक्रमकामचारः (अस्ति) ॥ ८४ ॥

व्याख्या—भवतीं = त्वाम् एव, अमोघं = सफलम्, अस्त्रम् = आयुधम्, अवाप्य = प्राप्य, स्थितस्येति शेषः । मदाऽन्धताऽनर्गलचापलस्य = गर्वान्ध्योच्छृङ्खलचाञ्चल्यस्य मनोभुवः = कामदेवस्य, त्रिलोकीतिलकेषु = त्रिभुवनभूषणेषु, तेषु = इन्द्राऽग्नियमवरुणेषु, इति = इत्थं, विक्रमकामचारः = पराक्रमस्वेच्छाचारः, अस्तीति शेषः ॥ ८४ ॥

अनुवादः – (हे दमयन्ति !) सफल अस्त्रस्वरूप आपको पाकर तीन लोकोंके अलङ्कारस्वरूप उन इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण देवोंमें मन्दाऽन्धतासे उच्छृङ्खल चाञ्चल्यवाले कामदेवके इस प्रकार पराक्रमका स्वेच्छाचार रह रहा है ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—अमोघं = न मोघं तत (नञ्०) । अवाप्य = अव + आप् + क्त्वा (ल्यप्) । मदाऽन्धताऽनर्गलचापलस्य = मदेन अन्धता (तृ० त०) । अविद्यमानम् अर्गलं यस्य तत् (नञ्बहु०) । अनर्गलं चापलं यस्य सः (बहु०) । मदान्धतया अनर्गलचापलः, तस्य (तृ० त०) त्रिलोकीतिलकेषु = त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी (द्विगुः), तस्याः तिलकानि, तेषु (ष० त०) । विक्रमकामचारः = विक्रमस्य कामचारः (ष० त०) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

सारोऽथ धारेव सुधारसस्य स्वयंवरः श्वो भविता तवेति ।
सन्तर्पयन्ती दमयन्ति ! तेषां श्रुतिः श्रुती नाकजुषामयासीत् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—अथ हे दमयन्ति ! तव स्वयंवरः श्वो भविता इति श्रुतिः सुधारसस्य सारः धारा इव सन्तर्पयन्ती नाकजुषां श्रुती अयासीत् ॥ ८५ ॥

व्याख्या - अथ = अनन्तरं, हे दमयन्ति = हे भैमि !, तव = भवत्याः, स्वयंवरः = स्वयंवरोत्सवः, श्वः = भाविनि दिवसे, भविता = भविष्यति, इति = एतादृशी, श्रुतिः = वार्ता, सुधारसस्य = अमृतरसस्य, सारः = श्रेष्ठांशभूता, धारा इव = प्रवाह इव, सन्तर्पयन्ती=प्रीणयन्ती, नाकजुषां = स्वर्गस्थितानाम्, इन्द्रादिदिक्पालानामिति भावः । श्रुती=कर्णौ, अयासीत् = प्राप ॥ ८५ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति ! तब आपका स्वयंवर कल होगा ऐसा वृत्तान्त अमृतरसके सारस्वरूप प्रवाहके समान तृप्त करता हुआ स्वर्गमें रहनेवाले इन्द्र आदि दिक्पालोंके कानोंमें पहुँचा ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—श्रुतिः = "श्रुतिः श्रोत्रे अथाऽऽम्नाये वार्तायां श्रोत्रकर्मणि ।" इति विश्वः । सुधारसस्य = सुधाया रसः, तस्य (ष० त० , "सारोत्थधारेव" ऐसा पाठान्तर है, उसमें सारोत्था चाऽसौ धारा (क० धा०), सुधारसस्य सारोत्थधारा इव अर्थात् अमृतरसके सारसे उत्पन्न प्रवाहके समान यह अर्थ है । सन्तर्पयन्ती = सं + तृप् + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् + सुः । नाकजुषां= नाकं जुषन्त इति नाकजुषः, तेषाम्, नाक + जुष् + क्विप् (उप०) आम् । अयासीत् = या + लुङ् + तिप ॥ ८५ ॥

समं सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णैः स्वदारनासापथिकैर्मरुद्भिः ।
अनङ्गशौर्याऽनलतापदुःस्थैरथ प्रतस्थे हरितां मरुद्भिः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) अथ अनङ्गशौर्याऽनलतापदुःस्थैः हरितां मरुद्भिः सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णैः स्वदारनासापथिकैः मरुद्भिः समं प्रतस्थे ॥ ८६ ॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, अनङ्गशौर्याऽनलतापदुःस्थैः = कामविक्रमाऽनलसन्तापाऽस्वस्थैः, हरितां = दिशां, पालकैरिति शेषः, मरुद्भिः = देवैः, इन्द्रादिदिक्पालैरिति भावः। सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णैः = सपत्नीजन्यकष्टतीव्रैः, स्वदारनासापथिकैः = आत्मपत्नीनासिकापान्थैः, मरुद्भिः = वायुभिः, समं = सह, प्रतस्थे = प्रस्थितम्। शच्यादिभिरिन्द्रादिपत्नीभिः सापत्न्यदुःखात् दीर्घमुष्णं च निःश्वसितमिति भावः ॥ ८६ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) तब कामदेवके पराक्रमरूप अग्निके सन्तापसे अस्वस्थ दिक्पाल इन्द्र आदि देवताओंने सपत्नी (सौत) से उत्पन्न दुःखसे तीव्र अपनी पत्नीकी नासिकाके पथिक वायु (दीर्घ और उष्ण निःश्वासों) के साथ प्रस्थान किया ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—अनङ्गशौर्याऽनलतापदुःस्थैः = अनङ्गस्य शौर्यम् (ष० त०), स एव अनलः (रूपक०), तस्य तापः (ष० त०)। तेन दुःस्थाः, तैः (तृ० त०)। मरुद्भिः = "मरुतौ पवनाऽमरौ" इत्यमरः। सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णैः = समानः पतिः यस्याः सा सपत्नी (बहु०), "नित्यं सपत्न्यादिषु" इस सूत्रसे ङीप्, नकार और समानके स्थानमें "स" भाव। सपत्न्या भवम् (तृ० त०), तच्च तद् दुःखं (क० धा०), तेन तीक्ष्णाः, तैः (तृ० त०)। स्वदारनासापथिकैः = स्वस्य दाराः (ष० त०), "भार्या जायाऽथ पुंभूम्नि दाराः" इत्यमरः। स्वदाराणां नासाः (ष० त०) तासु पथिकाः तैः (स० त०)। मरुद्भिः = "समम्" इस पदके योगमें तृतीया। प्रतस्थे = प्र + स्था + लिट् (भावमें) + त (एश्)। शची आदि इन्द्र आदिकी पत्नियोंने आगामी सापत्न्यदुःखसे दीर्घ और उष्ण निःश्वास छोड़ा यह भाव है। इस पद्यमें सहोक्ति अलङ्कार है। उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ८६ ॥

अपास्तपाथेयसुधोपयोगैस्त्वच्चुम्बिनैव स्वमनोरथेन।
क्षुधं च निर्वापयता तृषं च स्वादीयसाऽध्वा गमितः सुखं तैः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) अपास्तपाथेयसुधोपयोगैः तैः क्षुधं तृषं च निर्वापयता स्वादीयसा त्वच्चुम्बिना स्वमनोरथेन एव अध्वा सुखं गमितः ॥ ८७ ॥

व्याख्या—अपास्तपाथेयसुधोपयोगैः = परित्यक्तसम्बलरूपाऽमृतोपयोगैः, तैः = इन्द्रादिभिर्दिक्पालैः, क्षुधं = बुभुक्षां, तृषं = तृष्णां, पिपासां च,

निर्वापयता = शमयता, स्वादीयसा = स्वादुतरेण, त्वच्चुम्बिना = भवद्गोचरेण, स्वमनोरथेन = आत्माऽभिलाषेण. एव, अध्वा = मार्गः, सुखम् = आनन्द-पूर्वकम्, अनायासमिति भावः। गमितः = नीतः। इन्द्रादयो दिक्पाला अमृतम-प्युत्सृज्य त्वत्प्राप्तिमनोरथेन प्राप्ता इति भावः ॥ ८७ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) मार्गके सम्बलरूप अमृतका भी परित्याग करनेवाले उन इन्द्र आदि दिक्पालोंने भूख और प्यासको हटानेवाले अत्यन्त स्वादु आपकी प्राप्तिके अपने मनोरथसे ही मार्गको अनायास पार किया है ॥८७॥

टिप्पणी—अपास्तपाथेयसुधोपयोगैः = पथि साधु पाथेयम्, पथिन् शब्दसे "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" इस सूत्रसे ढञ् (एय) प्रत्यय।। "पाथेयं संवलं स्मृतम्" इति यादवः। पाथेयं चाऽसौ सुधा (क० धा०), तस्या उपयोगः (ष० त०) अपास्तः पाथेयसुधोपयोगो यैस्ते, तैः, (बहु०)। स्वादीयसा = अतिशयेन स्वादुः स्वादीयान्, तेन, स्वादु + ईयसुन् + टा। त्वच्चुम्बिना = त्वां चुम्बतीति त्वच्चुम्बी, तेन, युस्मद + चुबि + णिनिः (उपपद०) + टा। मनो-रथमें वक्त्रसंयोगका बाध होनेसे चुम्बनका संयोगरूप अर्थ लाक्षणिक है। स्वमनोरथेन = स्वस्य मनोरथस्तेन (ष० त०)। इन्द्र आदि दिक्पाल अमृतका भी उपयोग न करके भूख और प्यासको हटानेवाले तथा अमृतसे भी स्वादुतर आपकी प्राप्तिके अभिलापसे ही यहाँ प्राप्त हुए हैं यह भाव है ॥८७॥

प्रिया मनोभूशरदावदाहे देवीस्त्वदर्थेन निमज्जयद्भिः।
सुरेषु सारैः क्रियतेऽधुना तैः पादाऽर्पणाऽनुग्रहभूरियं भूः ॥८८॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) त्वदर्थेन प्रिया देवीः मनोभूशरदावदाहे निमज्जयद्भिः सुरेषु सारैः तैः अधुना इयं भूः पादाऽर्पणाऽनुग्रहभूः क्रियते ॥८८॥

व्याख्या—त्वदर्थेन = भवत्प्रयोजनेन, प्रियाः = दयिताः, देवीः = शच्यादि-देवीः, मनोभूशरदावदाहे = कामबाणदवाऽग्निदाहे, स्वप्रवासेन विरहाऽनल इति भावः। निमज्जयद्भिः = निमग्नाः कुर्वद्भिः, स्वस्वपत्नीः कामपीडिताः विदधद्भिरिति भावः। सुरेषु = देवेषु, सारैः = श्रेष्ठैः, इन्द्रादिभिरिति भावः। अधुना = इदानीम्, इयम् = एषा, भूः = विदर्भभूमिः, पादाऽर्पणाऽनुग्रहभूः = चरणाऽर्पणप्रसादस्थानं, क्रियते = विधीयते। इन्द्रादयो दिक्पालाः स्वस्वपत्नीस्त्व-दर्थं विरहानलपीडिताः कृत्वा विदर्भान् प्राप्ता इति भावः ॥ ८८ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) आपके लिए अपनी प्रिया इन्द्राणी आदि देवियोंको कामबाणरूप दवाग्निके दाहमें डालनेवाले इन्द्र आदि श्रेष्ठ दिक्पालोंने

अभी इस विदर्भदेशकी भूमिको अपने चरणोंके अर्पणरूप अनुग्रहका स्थान बनाया है ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—त्वदर्थेन = त्वम् एव अर्थः त्वदर्थस्तेन (रूपक०), मनोभूशरदावदाहे = मनोभुवः शराः (ष० त०), त एव दावः (रूपक०), तस्य दाहः, तस्मिन् (ष० त०) । निमज्जयद्भिः = नि + मस्ज + णिच् + लट् + शतृ + भिस् । पादाऽर्पणाऽनुग्रहभूः = पादयोः अर्पणम् (ष० त०), स एव अनुग्रहः (रूपक०), तस्य भूः (ष० त०) । क्रियते = कृ + लट् (कर्ममें) + त । इन्द्र आदि दिक्पाल आपके लिए अपनी प्रियाको विरहिणी बनाकर विदर्भमें आ गये हैं यह भाव है । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

अलङ्कृताऽऽपन्नमहीविभागैरयं जनस्तैरमरैर्भवत्याम् ।
अवापितो जङ्गमलेख्यलक्ष्मीं निक्षिप्य सन्देशमयाऽक्षराणि ॥ ८९ ॥

अन्वय—(हे दमयन्ति !) अलङ्कृताऽऽसन्नमहीविभागैः तैः अमरैः अयं जनः भवत्यां सन्देशमयाऽक्षराणि निक्षिप्य जङ्गमलेख्यलक्ष्मीम् अवापितः ॥ ८९ ॥

व्याख्या—अलङ्कृताऽऽपन्नमहीविभागैः = भूषितनिकटभूप्रदेशैः, तैः = पूर्वोक्तैः, अमरैः = इन्द्रादिभिः, अयं = सन्निकृष्टस्थः, जनः = अहमित्यर्थः । भवत्यां = त्वयि विषये, सन्देशमयाऽक्षराणि = सन्देशरूपवाक्यानि, निक्षिप्य = अर्पयित्वा, जङ्गमलेख्यलक्ष्मीं = चरिष्णुपत्रशोभाम्, अवापितः = प्रापितः । तेषामिन्द्राऽऽदीनां दिक्पालानामहं सन्देशहरत्वेन आयातोऽस्मीति भावः ॥ ८९ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति ! निकट भूप्रदेशको भूषित करनेवाले उन इन्द्र आदि दिक्पालोंने मुझे आपके प्रति सन्देशरूप वाक्योंको सौंपकर चल पत्रकी शोभाको प्राप्त कराया है ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—अलङ्कृताऽऽसन्नमहीविभागैः = मह्या विभागः (ष० त०), अलङ्कृत आसन्नो महीविभागो यैस्ते, तैः (बहु०)। सन्देशमयाऽक्षराणि = सन्देशा एव सन्देशमयानि, सन्देश + मयट् (स्वार्थमें) + अस् । सन्देशमयानि च तानि अक्षराणि, तानि (क० धा०) । निक्षिप्य = नि + क्षिप + क्त्वा (ल्यप्) । जङ्गमलेख्यलक्ष्मीं = जङ्गमं च तत् लेख्यम् (क० धा०), तस्य लक्ष्मीः ताम् (ष० त०) । अवापितः = अव + आप् + णिच् + क्तः + सुः । मैं उन इन्द्र आदि दिक्पालों का सन्देश लेकर दूतके रूपमें आपके पास आया हूँ यह अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति।
त्वं मूर्च्छतां नः स्मरभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि ॥ ९०॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) एते एकैकं पीनस्तनोपपीडं परिरभ्य त्वयि सन्दिशन्ति—"स्मरभिल्लशल्यैः मूर्च्छतां नः मुदे त्वं विशल्यौषधिवल्लिः एधि" ॥ ९० ॥

व्याख्या—एते = इन्द्राऽऽदयो देवाः, एकैकं = प्रत्येकमेव, पीनस्तनोपपीडं = स्थूलकुचपीडापूर्वकमिति भावः। परिरभ्य = आलिङ्ग्य, त्वयि = भवत्यां विषये, सन्दिशन्ति = वाचिकं कथयन्ति। किं तदित्याह—त्वमिति। स्मरभिल्लशल्यैः = कामाऽन्त्यजविशेषबाणैः, मूर्च्छतां = मुह्यतां, नः = अस्माकं, मुदे = प्रीतये, त्वं = भवती, विशल्यौषधिवल्लिः = विशल्यकरणी लता, एधि = भव ॥ ९० ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) ये इन्द्र आदि दिक्पाल प्रत्येक ही स्थूल कुचोंको पीडित करके आलिङ्गन कर आपको सन्देश देते हैं—"कामदेवरूप भिल्ल (अन्त्यजविशेष) के बाणोंसे मूर्च्छित होनेवाले हम लोगोंकी प्रीतिके लिए तुम विशल्य (बाणको दूर करनेवाली) औषधलता बनो ॥ ९० ॥

टिप्पणी—एकैकम् = एकम् एकम् "एकं बहुव्रीहिवत्" इस सूत्रसे बहुव्रीहिवद्भावसे सु का लोप, (क्रि० वि०)। पीनस्तनोपपीडं = पीनौ च तौ स्तनौ (क० धा०), "पीनपीव्नी तु स्थूलपीवरे" इत्यमरः। पीनस्तनयोः उपपीड्य पीनस्तनोपपीडम्, पीनस्तन-उपपद और 'उप' उपसर्ग इनसे युक्त पीड धातुसे "सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः" इस सूत्रसे णमुल् प्रत्यय। परिरभ्य = परि+रभ्+क्त्वा (ल्यप्)। सन्दिशन्ति = सं+दिश+लट्+झि। स्मरभिल्लशल्यैः = स्मर एव भिल्लः (रूपक०), तस्य शल्यानि, तैः (ष० त०), मूर्च्छतां = मूर्च्छन्तीति मूर्च्छन्तः, तेषाम्, मूर्च्छ+लट् (शतृ)+आम्। विशल्यौषधिवल्लिः = विगतं शल्यं यया सा (बहु०), सा चाऽसौ ओषधिः (क० धा०), तस्या वल्लिः (ष० त०)। एधि = अस्+लोट्+सिप्, "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इससे सकारके स्थानमें एकार, "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इससे 'हि' के स्थानमें 'धि'। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ९० ॥

त्वत्कान्तिमस्माभिरयं पिपासन् मनोरथऽऽश्वासनयैकयैव।
निजः कटाक्षः खलु विप्रलभ्यः कियन्ति यावद्गुण वासराणि ॥ ९१॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) त्वत्कान्ति पिपासन् अयं निजः कटाक्षः

अस्माभिः कियन्ति वासराणि यावत् एकया मनोरथाऽऽश्वासनया एव विप्रलभ्यः खलु? भण ॥ ९१ ॥

व्याख्या—अथ षोडशभिः पद्यैः सन्देशमेवाह—त्वदित्यादि, त्वत्कान्ति = भवत्सौन्दर्याऽमृतं, पिपासन् = पातुम् इच्छन्, अयम् = एषः, निजः = स्वकीयः, अस्मदीय इति भावः। कटाक्षः = अपाङ्गदर्शनम्, अस्माभिः = देवैः, कियन्ति= कति, वासराणि = दिनानि, यावत्, कियद्दिनपर्यन्तमिति भावः। एकया = मुख्यया, मनोरथाऽऽश्वासनया एव = अभिलाषप्राप्तिसान्त्वनया एव, विप्रलभ्यः= प्रतारणीयः, खलु = निश्चयेन, भण = कथय। कालयापना नो विधेया, दर्शनाऽ-भिलाषिणो वयमनुकम्पनीया इति भावः ॥ ९१ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) तुम्हारे सौन्दर्यरूप अमृतको पान करनेकी इच्छा रखनेवाले इस अपने कटाक्षको हम लोग कितने दिनोंतक मुख्य अभि-लाषप्राप्तिकी सान्त्वनासे ही प्रतारण करते रहें ? कहो ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—त्वत्कान्ति = तव कान्तिः, ताम् (ष० त०)। पिपासन् = पातुम् इच्छन्, पा + सन् + लट् (शतृ) + सुः । वासराणि यावत् = अत्यन्त संयोगमें द्वितीया। कालयापन मत करो, दर्शनाभिलाषी हमलोगोंपर अनुकम्पा करो यह भावाऽर्थ है ॥ ९१ ॥

निजे सृजाऽस्मासु भुजे भजन्त्यावादित्यवर्गे परिवेषवेषम् ।
प्रसीद निर्वापय तापमङ्गैरनङ्गलीलालहरीतुषारैः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) निजे भुजे आदित्यवर्गे च अस्मासु परिवेष-वेषं भजन्त्यौ सृज । प्रसीद । अनङ्गलीलालहरीतुषारैः अङ्गैः तापं निर्वापय ॥ ९२ ॥

व्याख्या—निजे = स्वकीये, भुजे = बाहू। आदित्यवर्गे च = सुरसमूहे, सूर्यसमूहे च, अस्मासु = इन्द्रादिषु, परिवेषवेषं = सूर्यपरिध्याकारं, भजन्त्यौ = आश्रयन्त्यौ, सृज = कुरु, आलिङ्गेति भावः। आदित्ये च परिवेषः (परिधिः) युक्त एवेति भावः। प्रसीद = प्रसन्ना भव। अनङ्गलीलालहरीतुषारैः मदन-विहारोर्मिशीतलैः, अङ्गैः=देहाऽवयवैः, तापं=सन्तापं, निर्वापय=शमय ॥ ९२ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) तुम अपनी भुजाओं का आदित्यसमूह अथ वा देवसमूह हमलोगोंमें परिवेषके आकारवाली बनाओ (आलिङ्गन करो)। प्रसन्न होओ। कामदेवके विहारकी तरङ्गोंसे शीतल अपने अङ्गोंसे हमारे सन्तापको ठण्डा करो ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—भुजे = "अथो भुजा । द्वयोर्बाहौ करे ।" इति मेदिनी । मेदिनी-कोशके इस वचनके अनुसार भुजः, भुजा इस प्रकार स्त्रीलिङ्गमें भी भुजाका प्रदर्शन है। आदित्यवर्गे = अदितेरपत्यानि पुमांसः आदित्याः, अदिति शब्दसे "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" इस सूत्रसे ण्यप्रत्यय । "आदित्या ऋभवोऽस्वप्नाः" इत्यमरः । आदित्यानां वर्गः, तस्मिन् (ष० त०) । परिवेषवेषं = परिवेषस्य वेषः, तम् (ष० त०), "परिवेषो रवेः पार्श्वमण्डले वेष्टने तथा।" इत्यजपालः । अनङ्गलीलालहरीतुषारैः = अनङ्गस्य लीला (ष० त०), तस्या लहर्यः (ष० त०), ताभिः तुषाराणि, तैः (तृ० त०)। तुम आलिङ्गनसे हमारे मदनसन्तापको दूर करो यह भाव है ।। ९२ ।।

दयस्व नो घातय नैवमस्माननङ्गचाण्डालशरैरदृश्यैः ।
भिन्ना वरं तीक्ष्णकटाक्षबाणैः प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रैः ।। ९३ ।।

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) नः दयस्व, अदृश्यैः अनङ्गचाण्डालशरैः एवम् अस्मान् न घातय, (किन्तु) प्रेमरसात् पवित्रैः तव तीक्ष्णकटाक्षबाणैः भिन्नाः (सन्तः) प्रेमः वरम् ।। ९३ ।।

व्याख्या—नः = अस्माकं, दयस्व = अस्मान् अनुकम्पस्व इति भावः। अदृश्यैः = अलक्ष्यैः, अनङ्गचाण्डाशरैः = कामचाण्डालबाणैः, एवम् = इत्थम्, अस्मान् = देवान्, न घातय = नो मारय, किन्तु प्रेमरसात् = अनुरागजलात्, पवित्रैः = शुद्धैः, तव = भवत्याः, तीक्ष्णकटाक्षबाणैः = निशिताऽपाङ्गदर्शनशरैः, भिन्नाः = विदारिताः सन्तः, प्रेमः = म्रियामहे, वरं=मनाक् प्रियम् । जीवनाऽसंभवे चाण्डालहस्तमरणात्तीर्थमरणं वरमिति भावः ।। ९३ ।।

अनुवाद:—(हे दमयन्ति !) तुम हमलोगोंपर दया करो, अदृश्य कामरूप चाण्डालके बाणोंसे इस प्रकार हमारी हत्या मत कराओ किन्तु प्रेमरससे पवित्र तुम्हारे तीक्ष्ण कटाक्षरूप बाणोंसे विदीर्ण होते हुए हम लोग मर जायें यह कुछ अच्छा है ।। ९३ ।।

टिप्पणी—नः = "दयस्व" इस 'दय' धातुके प्रयोगमें "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इस सूत्रसे षष्ठी । अदृश्यैः = न दृश्यः, तैः (नञ्०), अनङ्गचाण्डाल-शरैः = अनङ्ग एव चाण्डालः (रूपक०) तस्य शराः, तैः (ष० त०) । घातय= हन् + णिच् + लोट् + सिप् । प्रेमरसात् = प्रेम एव रसः, तस्मात् (रूपक०)। तीक्ष्णकटाक्षबाणैः=कटाक्षा एव बाणाः रूपक०), तीक्ष्णाश्च ते कटाक्षबाणाः, तैः (क० धा०) । भिन्नाः = भिद् + क्तः + जस् । प्रेमः = प्र + इण् + लट् +

मस् । चाण्डालके हाथोंसे मरनेके बदले आपके कटाक्षबाणों से मरना कुछ अच्छा है यह भाव है । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

त्वदर्थिनः सन्तु परःसहस्राः, प्राणास्तु नस्त्वच्चरणप्रसादः ।
विशङ्कसे कैतवनर्तितं चेदन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) त्वदर्थिनः परःसहस्राः सन्तु, नः प्राणास्तु त्वच्चरणप्रसादः (अथ) । कैतवनर्तितं विशङ्कसे चेत्, अन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ॥ ९४ ॥

व्याख्या—त्वदर्थिनः = भवत्प्रार्थकाः, भवत्कामुका इति भावः । परः-सहस्राः = सहस्राऽधिकसंख्यकाः, सन्तु = भवन्तु, परं नः = अस्माकं, प्राणास्तु = असवस्तु, त्वच्चरणप्रसादः = भवत्पादाऽनुग्रहः, वयं त्वदेकाऽधीनजीवना इति भावः । अथ कैतवनर्तितं = छद्मनर्तनं, कपटनाटकमिति भावः, विशङ्कसे चेत् = आशङ्कसे यदि, तर्हि अन्तश्चरः = हृदयवर्ती, पञ्चशरः = कामदेवः, प्रमाणं= साक्षी, अस्मद्वचनसत्यतायां काम एव साक्षी, स हि महती देवतेति भावः ॥९४॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) तुमसे प्रार्थना करनेवाले भले ही हजारसे भी अधिक हों, परन्तु हमारे प्राण तुम्हारे चरणोंके अनुग्रहके अभिलाषी हैं । इसमें हमारे कपटके अभिनयकी आशङ्का करती हो तो हृदयमें रहनेवाले काम-देव ही इसमें प्रमाण (साक्षी) हैं ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—त्वदर्थिनः = त्वाम् अर्थयन्ते तच्छीलाः, युष्मद् + अर्थ + णिनिः (उपपद०) + जस् । परःसहस्राः =सहस्रात् परे, "पञ्चमी भयेन" इस सूत्रमें "पञ्चमी" ऐसा योगविभाग होनेसे समास (पं० त०) । राजदन्तादिमें पाठ होनेसे उपसर्जन सहस्र शब्दका परनिपात, पारस्करादिगणमें पढ़े जानेसे "पार-स्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इस सूत्रसे सुट् आगम । श्रीभोज "परः" इसको निपात मानते हैं । "परःशताऽऽद्यास्ते येषां परा संख्या शताऽदिकात् ।" इत्यमरः । त्वच्चरणप्रसादः = तव चरणौ (ष० त०), तयोः प्रसादः (ष० त०) । कैतवनर्तितं = कैतवस्य नर्तितं तत् (ष० त०) । अन्तश्चरः = अन्तश्चरतीति, अन्तस् + चर् + अच् (उपपद०) । पञ्चशरः = पञ्च शरा यस्य सः (बहु०) ॥ ९४ ॥

अस्माकमध्यासितमेतदन्तस्तावद्भवत्या हृदयं चिराय ।
बहिस्त्वयाऽलङ्क्रियतामिदानीमुरोमुरं विद्विषतः श्रियेव ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) भवत्या अस्माकम् एतत् अन्तः हृदयं चिराय अध्यासितं तावत् । (किन्तु) इदानीं बहिः (अपि) त्वया मुरं विद्विषत उरः श्रिया इव अलङ्क्रियताम् ॥ ९५ ॥

व्याख्या—भवत्या = त्वया, अस्माकम्=इन्द्रादिदेवानाम् एतत् = अतिसमीपस्थम्, अन्तः=अभ्यन्तरस्थं, हृदयम् = अन्तःकरणं, चिराय = बहुसमयारभ्य, अध्यासितम् = अधिष्ठितं, तावत् = एव, निरन्तर चिन्तयेति भावः । किन्तु इदानीम् = अधुना, बहिः = बाह्यम् अपि, हृदयं = वक्षःस्थलं, त्वया = भवत्या, मुरं = मुरनामकस्य दैत्यस्य, विद्विषतः = शत्रोः, भगवतो विष्णोरित्यर्थः । उरः = वक्षःस्थलं, श्रिया इव = लक्ष्म्या इव, अलङ्क्रियतां = भूष्यताम् ॥ ९५ ॥

अनुवाद—(हे दमयन्ति !) आप हमारे भीतरी हृदय (अन्तःकरण) में बहुत कालसे स्थित हैं ही, इस समय बाहरी हृदय (छाती) को भी, जैसे मुरारि (विष्णु) के हृदयको लक्ष्मी अलङ्कृत करती हैं वैसे ही अलङ्कृत कीजिए ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—भवत्या = भातीति भवती, तया, भा + डवतु + ङीप् + सुः । मुरं = "विद्विषतः" इस पदके योगमें "नलोकाऽव्यय०" इत्यादि सूत्रसे निषिद्ध षष्ठीका "द्विषःशतुर्वा" इससे विकल्पसे प्रतिप्रसव होनेसे एक पक्षमें द्वितीया । विद्विषतः=विद्वेष्टीति विद्विषन्, तस्य । "द्विषोऽमित्रे" इससे शतृ, वि + द्विष् + लट् (शतृ) + ङस् । अलङ्क्रियताम् = अलम् + कृ + लोट् (कर्ममें) + त । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ९५ ॥

दयोदयश्चेतसि चेत्तवाऽभूदलङ्कुरु द्यां, विफलो विलम्बः ।
भुवः स्वरादेशमथाऽऽचरामो भूमौ धृतिं यासि यदि स्वभूमौ ॥ ९६ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) तव चेतसि दयोदयः अभूत् चेत् द्याम् अलङ्कुरु, विलम्बो विफलः । अथ स्वभूमौ भूमौ धृतिं यासि यदि (तर्हि) भुवः स्वरादेशम् आचरामः ॥ ९६ ॥

व्याख्या—तव = भवत्याः, चेतसि = चित्ते, दयोदयः = कृपाऽऽविर्भावः, अभूत् = जातः, चेत् = यदि, द्यां = स्वर्गम्, अलङ्कुरु = भूषय, विलम्बः = कालाऽतिपातः, विफलः = निष्फलः । "शुभस्य शीघ्रम्" इति न्यायादिति= भावः । अथ=अथ वा, पक्षान्तरे, स्वभूमौ = निजजन्मस्थाने, भूमौ = भूलोके, धृतिं = सन्तोषं, यासि यदि = प्राप्नोषि चेत्, तर्हि भुवः=भूमेः, स्वरादेश=

स्वर्गाज्ञां, स्वर्गसंज्ञामिति भावः । आचरामः = कुर्मः, वयं चाऽत्रैव स्थास्याम इति भावः । यत्र वयं तत्रैव स्वर्ग इति तात्पर्यम् ॥ ९६ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) तुम्हारे चित्तमें दयाका उदय हो तो स्वर्गको अलङ्कृत करो, विलम्ब करना निष्फल है । अथ वा तुम अपने जन्म स्थान भूलोकमें ही सन्तोष करती हो तो भूलोकको ही स्वर्ग बना देंगे ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—दयोदयः = दयाया उदयः (ष० त०), अलङ्कुरु=अलम्+कृ+लोट्+सिप् । विफलः = विगतं फलं यस्मात् सः (बहु०) । स्वभूमौ = स्वस्या भूमिः, तस्याम् (ष० त०) । स्वरादेशं = स्वः आदेशः, तम् (ष० त०) । आचरामः = आङ्+चर+लट्+मस् ॥ ९६ ॥

धिनोति नाऽस्मान्जलजेन पूजा त्वयाऽन्वहं तन्वि ! वितन्यमाना ।
तव प्रसादाय नते तु मौलौ पूजाऽस्तु नस्त्वत्पदपङ्कजाभ्याम् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—हे तन्वि ! त्वया अन्वहं वितन्यमाना जलजेन पूजा अस्मान् न धिनोति । तु तव प्रसादाय नते मौलौ त्वत्पदपङ्कजाभ्यां नः पूजा अस्तु ॥ ९७ ॥

व्याख्या—हे तन्वि = हे कृशाङ्गि !, त्वया = भवत्या, अन्वहम् = अनुदिनं, वितन्यमाना = क्रियमाणा, जलजेन = जलजैः, पूजा = अर्चा, अस्मान् = इन्द्रादीन् देवान्, न धिनोति = न प्रीणयति । तु = किन्तु, तव = भवत्याः, प्रसादाय = अनुग्रहसम्पादनाय, नते = नम्रे, मौलौ = मस्तके, त्वत्पदपङ्कजाभ्यां = भवच्चरणपद्माभ्यां, नः = अस्माकं, पूजा = सपर्या, अस्तु = भवतु । प्रणयाऽपराधेषु त्वच्चरणताडनार्थिनो वयमिति भावः ॥ ९७ ॥

अनुवादः—हे कृशाङ्गि ! तुमसे प्रतिदिन की गई कमलोंसे पूजा हमें प्रसन्न नहीं करती है, परन्तु तुम्हें प्रसन्न करनेके लिए झुके हुए मस्तकमें तुम्हारे चरण-कमलोंसे हम लोगोंकी पूजा हो ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—अन्वहम्=अहः अहः (वीप्सा अव्ययीभाव), "अनश्च" इससे समासाऽन्त टच् प्रत्यय । वितन्यमाना = वितन्यत इति, वि+तन+लट् (कर्ममें) (शानच्) + टाप् + सुः । जलजेन = जले जातं जलजं, तेन, "सप्तम्यां जनेर्डः" इस सूत्रसे डप्रत्यय, जल+जन्+ड (उपपद०) + टा । "जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे जातिमें एकवचन भी । धिनोति = धिवि + लट् + तिप् । प्रसादाय = तादर्थ्यमें चतुर्थी । त्वत्पदपङ्कजाभ्यां = पदे पङ्कजे इव (उपमित०), तव पदपङ्कजे, ताभ्याम् (ष० त०) ।

प्रेमके अपराधोंमें हमलोग आपके चरणकमलोंसे ताडन पानेके लिए अभिलाष करते हैं यह भाव है ॥ ९७ ॥

स्वर्णैर्वितीर्णैः करवाम वामनेत्रे ! भवत्या किमुपासनासु ।
अङ्ग ! त्वदङ्गानि निपीतपीतादर्पाणि पाणिः खलु याचते नः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—हे वामनेत्रे ! भवत्या उपासनासु वितीर्णैः स्वर्णैः किं करवाम ? (किन्तु) अङ्ग ! निपीतपीतादर्पाणि त्वदङ्गानि नः पाणिः याचते खलु ॥९८॥

व्याख्या—हे वामनेत्रे = हे सुन्दरनेत्रे कुटिलनेत्रे वा, भवत्या = त्वया, उपासनासु = पूजासु, वितीर्णैः = समर्पितैः, स्वर्णैः = सुवर्णदक्षिणाभिः अथ वा सुवर्णकमलैः किं, करवाम = कुर्याम, हेमाऽद्रिवासिनामस्माकं सुवर्णेन किं प्रयोजनमिति भावः। किन्तु, अङ्ग = हे दमयन्ति !, निपीतपीतादर्पाणि = निवारितहरिद्रागर्वाणि, "निपीतपीतदर्पाणि" इति पाठे निवारितसुवर्णादिगर्वाणि इत्यर्थः। तादृशानि त्वदङ्गानि = भवच्छरीराऽवयवान्, नः = अस्माकं, पाणिः = हस्तः, याचते = प्रार्थयते, खलु = निश्चयेन ॥ ९८ ॥

अनुवादः—हे सुन्दर नेत्रोंवाली अथ वा हे कुटिल नेत्रोंवाली ! पूजाओंमें तुमसे समर्पित सुवर्णरूप दक्षिणाओंसे वा सुवर्णकमलोंसे हम लोग क्या करेंगे ? किन्तु हे दमयन्ति ! हरिद्रा (हल्दी) के गर्वको पान करनेवाले तुम्हारे अङ्गोंको हमारा हाथ प्रार्थना करता है ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—वामनेत्रे = वामे नेत्रे यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। "वामौ वल्गुप्रतीपौ द्वौ" इत्यमरः। वितीर्णैः = वि + तॄ + क्तः + भिस्। करवाम = कृ + लोट् + मस्। निपीतपीतादर्पाणि = पीताया दर्पः (ष० त०), "निशाऽऽख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी।" इत्यमरः। निपीतः पीतादर्पः यैस्तानि, तानि (बहु०)। "निपीतपीतादर्पाणि" इस पाठान्तरमें निपीतः पीतानां (सुवर्णादिद्रव्याणाम्) दर्पो, यैस्तानि (बहु०), ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए। त्वदङ्गानि = तव अङ्गानि, तानि (ष० त०) सुवर्णपर्वत (सुमेरु) पर रहनेवाले हमलोग तुमसे समर्पित सुवर्णोंसे क्या करेंगे ? हरिद्राके गर्वको मिटानेवाले तुम्हारे अङ्गोंको हमारे हाथ प्रार्थना करते हैं यह भाव है ॥ ९८ ॥

वयं कलादा इव दुर्विदग्धं त्वद्गौरिमस्पर्द्धि दहेम हेम ।
प्रसूननाराचशराऽऽसनेन सहैकवंशप्रभवभ्रु ! बभ्रु ॥ ९९ ॥

अन्वयः—प्रसूननाराचशराऽऽसनेन सह एकवंशप्रभवभ्रु ! वयं कलादा इव त्वद्गौरिमस्पर्द्धि दुर्विदग्धं बभ्रु हेम दहेम ॥ ९९ ॥

व्याख्या—प्रसूननाराचशराऽसनेन सह = कामचापेन समम्, हे एकवंशप्रभवभ्रु = हे एककारणोत्पन्नभ्रूयुक्ते !, वयम् = इन्द्रादयो दिक्पालाः, कलादा इव = स्वर्णकारा इव, त्वद्गौरिमस्पर्द्धि = त्वद्गौरत्वसंघर्षशीलं, त्वद्गौरत्वसाम्याऽभिलाषीति भावः। अत एव दुर्विदग्धं = दुर्विनीतं, बभ्रु = पिङ्गलं, हेम = सुवर्णं, दहेम = अग्नौ प्रक्षिपेम, त्वदङ्गस्पर्द्धाऽपराधाच्छुद्धिराहित्याच्चाऽस्माकं दाह्यसुवर्णसमर्पणात्सर्वाऽनवद्याऽङ्गसमर्पणमेव सन्तर्पणमिति भावः ॥ ९९ ॥

अनुवादः—हे कामदेवके धनुके साथ एक वंश (कुल वा बाँस) से उत्पन्न भौंहोंवाली ! हम लोग सुनार के समान तुम्हारे गौर वर्णके साथ स्पर्द्धा (संघर्ष) करनेवाले अत एव दुर्विनीत भूरे सोनेको जलाते हैं ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—प्रसूननाराचशराऽसनेन = प्रसूनानि नाराचा यस्य सः (बहु०), तस्य शरासनं, तेन (ष० त०)। एकवंशप्रभवभ्रु = एकश्चाऽसौ वंशः (क० धा०), स प्रभवः (कारणम्) ययोस्ते एकवंशप्रभवे (बहु०), ते भ्रुवौ यस्याः सा एकवंशप्रभवभ्रूः (बहु०), तत्सम्बुद्धौ। यहाँपर भ्रू शब्द उवङ्स्थानीय है अतः "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" इस सूत्रसे नदी संज्ञाका निषेध होनेसे "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इस सूत्रकी प्रसक्ति न होनेसे "एकवंशप्रभवभ्रु" ऐसा ह्रस्वाऽन्त पाठ प्रामादिक है अतः "एकवंशप्रभवभ्रूः" ऐसा पाठ उचित है यह बहुतसे विद्वानोंका अभिमत है परन्तु महोपाध्याय मल्लिनाथजी "अप्राणिजातेश्चाऽरज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्" यहाँपर "अलाबूः, कर्कन्धूः" भाष्यकारके ऐसे उदाहरणोंसे ऊकारसे भी ऊङ्की प्रवृत्ति होती है यह बात जानी जाती है, अतएव काव्याऽलङ्कारमें वामन पण्डितने भी "ऊकारादप्युङ्प्रवृत्तेः "ऐसा लिखा है। अत एव नदी संज्ञा होनेसे ह्रस्व उपपन्न है। कलादाः = कलाः (स्वर्णखण्डान्) द्यन्तीति। कला + दो + कः + जस्। "कलादा रुक्मकारकाः" इत्यमरः। त्वद्गौरिमस्पर्द्धि= गौरस्य भावो गौरिमा, गौर + इमनिच् + सुः। तव गौरिमा (ष० त०), तं स्पर्द्धते तच्छीलं तत् त्वद्गौरिमन् + स्पर्द्ध + णिनिः (उपपद०), + अम्। बभ्रू = "बभ्रु स्यात्पिङ्गले त्रिपु" इत्यमरः। दहेम = दह + विधिलिङ् + मस्। हे दमयन्ति ! तुम्हारे अङ्गोंके साथ स्पर्धा (बराबरी) करने के अपराधसे और शुद्धि न होनेसे भी वैसे सुवर्णको समर्पण करनेकी अपेक्षा पूर्ण रूपसे अनवद्य अपने अङ्गोंका समर्पण तुम करोगी तो हमें तृप्ति होगी यह भाव है ॥ ९९ ॥

सुधासरःसु त्वदनङ्गतापः शान्तो न नः किं पुनरप्सरःसु ? ।
निर्वाति तु त्वन्ममताऽक्षरेण सूनाऽऽशुगेषोर्मधुशीकरेण ॥ १०० ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) सुधासरःसु नः त्वदनङ्गतापः न शान्तः, अप्सरःसु किं पुनः ? तु सूनाऽऽशुगेषोः मधुशीकरेण त्वन्ममताऽक्षरेण निर्वाति ॥ १०० ॥

व्याख्या—सुधासरःसु = अमृतसरसीषु, नः = अस्माकं, त्वदनङ्गतापः = भवद्विहितमदनसन्तापः, शान्तः = निवृत्तः, न=न वर्तते । अप्सरःसु = उर्वश्यादिस्ववेंश्यासु, किं पुनः = किमुत । तु = किन्तु, सूनाऽऽशुगेषोः = कामबाणस्य, मधुशीकरेण = मकरन्दबिन्दुना, तत्सदृशेनेति भावः । त्वन्ममताऽक्षरेण = भवन्ममत्वव्यञ्जकवाक्येन "मदीया यूयम्" इत्येवंरूपेणेति भावः । निर्वाति = शाम्यति । यद्विरहादयं तापः स तत्सङ्गमेनैव निर्वाति न उपायान्तरेणेति भावः ॥ १०० ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) अमृतके तालाबोंमें हम लोगोंका तुमसे किया गया कामसन्ताप शान्त नहीं होता है। उर्वशी आदि अप्सराओंमें शान्त नहीं होता है यह क्या कहना है ? किन्तु कामबाण (पुष्प) के मकरन्दबिन्दुस्वरूप तुम्हारे ममताके वाक्यसे शान्त होता है ॥ १०० ॥

टिप्पणी—सुधासरःसु = सुधायाः सरांसि, तेषु (ष० त०) । त्वदनङ्गतापः = अनङ्गस्य तापः (ष० त०), त्वत्कृतः अनङ्गतापः (मध्यम० समासः) शान्तः = शम् + क्तः + सुः । सूनाऽऽशुगेषोः = सूनानि (पुष्पाणि) आशुगाः (बाणाः) यस्य सः (बहु०), सूनाऽऽशुगस्य (कामस्य) इषुः, तस्य (ष० त०) । मधुशीकरेण = मधुनः शीकरः, तेन (ष० त०) । मम्ताक्षरेण = ममताया अक्षरः, तेन (ष० त०), निर्वाति = निर् + वा + लट् + तिप् । हे दमयन्ति ! जिस तुम्हारे विरहसे यह सन्ताप है वह तुम्हारे संगमसे ही हट सकता है, और कुछ उपाय नहीं है यह भाव है। इस पद्यमें अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ १०० ॥

खण्डः किमु त्वद्गिर एव खण्डः, किं शर्करा तत्पथशर्करैव ।
कृशाङ्गि ! तद्भङ्गिरसोत्थकच्छतृणं नु दिक्षु प्रथितं तदिक्षुः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—हे कृशाङ्गि ! खण्डः त्वद्गिर एव खण्डः किमु ? (तथा) शर्करा तत्पथशर्करा एव किं? दिक्षु प्रथितम् इक्षुः तत् तद्भङ्गिरसोत्थकच्छतृणं नु ? ॥१०१॥

व्याख्या—हे कृशाङ्गि=हे तन्वङ्गि !, खण्डः = खण्डशर्करा, त्वद्गिर एव = त्वद्वाण्या एव, खण्डः = वकलः, किमु = किम् ? तथा शर्करा = सिताऽऽख्यशर्करा,

तत्पथशर्करा एव = वाणीमार्गशिलाशकलप्रचुरमृत् एव, किं = किमु। एवं च दिक्षु = आशासु, प्रथितं = प्रख्यातम्, इक्षुः = इक्षुनामकं, तत् = तृणं, तद्भङ्गि-रसोत्थकच्छतृणं नु = वाणीतरङ्गितरसप्रादुर्भूताऽनूपतृणं किम्, "उत्स" इति पाठे रसोत्सः = रसप्रवाहः। तस्य कच्छतृणं नु ? ॥ १०१ ॥

अनुवादः—हे कृशाङ्गि !, जो खण्ड (खाँड़) है वह तुम्हारी वाणीका ही खण्ड है क्या ? जो शर्करा (चीनी) है वह वाणीके मार्ग की ही शर्करा (कङ्कड़) है क्या ? दिशाओंमें प्रख्यात जो ईख है वह आपकी वाणी के तरङ्गित रससे उत्पन्न जलप्राय देशका तृण हैं क्या ? ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—कृशाङ्गि = कृशानि अङ्गानि यस्याः सा कृशाङ्गी (बहु०), तत्सम्बुद्धौ। खण्डः = "स्यात्खण्डः शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः।" इति विश्वः। शर्करा = "शर्करा खण्डविकृतावुपला कूर्परांऽशयोः।" इति विश्वः। तत्पथशर्करा = तस्याः (गिरः) पन्थाः तत्पथः (ष० त०), तस्मिन् शर्करा (स० त०) तद्भङ्गिरसोत्थकच्छतृणं = भङ्गः (तरङ्गः), अस्याऽस्तीति भङ्गी (भङ्ग + इनिः + सुः)। भङ्गी चाऽसौ रसः (शृङ्गारादिरसः उदकं च), (क० धा०)। कच्छे तृणम् (स० त०)। "जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्त-थाविधः।" इत्यमरः। भङ्गिरसात् उत्तिष्ठनीति भङ्गिरसोत्थं, भङ्गिरस + उद् + स्था + कः + सुः। तस्याः (गिरः) भङ्गिरसोत्थं (ष० त०), तच्च तत् कच्छतृणम् (क० धा०)। हे दमयन्ति ! खण्ड आदि पदार्थोंमें तुम्हारी वाणीसे सम्बन्ध न रहता तो उनमें कैसे ऐसी मधुरता होती ? यह भाव है। इस पद्यमें तीन उत्प्रेक्षाओंकी संसृष्टि है ॥ १०१ ॥

ददाम किं ते ? सुधयाऽधरेण त्वदास्य एव स्वयमास्यते हि।
विधुं विजित्य स्वयमेव भावि त्वदाननं तन्मखभागभोजि ॥ १०२ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) ते किं ददाम ? हि सुधया अधरेण त्वदास्ये एव स्वयम् अस्यत। त्वदाननं विधुं विजित्य स्वयम् एव तन्मखगभोजि भावि ॥ १०२ ॥

व्याख्या—(वयम्) ते=तुभ्यं, किं = वस्तु, ददाम=वितराम, तुभ्यं दातव्यं किमपि नाऽस्तीति भावः। सुधा दातव्या इति चेत् ? तत्राऽऽह सुधयेत्यादि। हि = यतः, सुधया=सुधारूपेण, अधरेण = ओष्ठेन, त्वदास्ये एव = त्वन्मुखे एव, स्वयम् = आत्मना, अस्यते = स्थीयते। तर्हि यज्ञभागो दीयतामिति चेत्तत्राऽऽह—विधुमिति। त्वदाननं = भवन्मुखं, विधुं = चन्द्रमसं, विजित्य = पराजित्य,

स्वयम् एव = आत्मना एव, तन्मखभागभोजि = विधुयज्ञांऽशभोक्तृ, भावि = भविष्यत् । सुधाचन्द्राभ्यामपि त्वदोष्ठमुखमास्वादसौन्दर्योत्कर्षेणाऽधिकतरमिति भावः ॥ १०२ ॥

अनुवादः--(हे दमयन्ति !) तुम्हें हम क्या दें ? क्योंकि अमृतरूप अधर तुम्हारे मुखमें स्वयम् रहता है । तुम्हारा मुख चन्द्रको जीतकर स्वयम् ही चन्द्रके यज्ञके भागको भोजन करनेवाला है ।

टिप्पणी--ददाम = दा + लोट् + मस् । त्वदास्ये = तव आस्यं, तस्मिन् (ष० त०) । आस्यते = आस + लट् (भावमें) + त । त्वदाननं = तव आननम् (ष० त०), विजित्य = वि + जि + क्त्वा (ल्यप्) । तन्मखभाग-भोजि = तस्य मखः (ष० त०), तस्य भागः (ष० त०), तं भुनक्तीति तच्छीलं, तन्मखभाग + भुज् + णिनिः (उपपद०) + सुः । हे दमयन्ति ! सुधा और चन्द्रसे भी आस्वाद और सौन्दर्यमें आपके अधर और मुख अधिकतर हैं यह भाव है । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है । उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ १०२ ॥

प्रिये ! वृणीष्वाऽमरभावमस्मदिति त्रपोदञ्चि वचो न किं नः ? ।
त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य स्वयं वयं येन जिजीविषामः ॥१०३॥

अन्वयः—हे प्रिये ! येन त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य वयं स्वयं जिजीविषामः, (अतः) "अस्मत् अमरभावं वृणीष्व" इति नः वचः त्रपोदञ्चि न किम् ? ॥ १०३ ॥

व्याख्या— हे प्रिये=हे दयिते !, दमयन्ति !, येन = कारणेन, त्वत्पादपद्मे = भवच्चरणकमले, शरणं = निवासाऽऽधारं, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, त्वत्पाद-पद्मं रक्षकत्वेन प्राप्येति भावः । वयम् = इन्द्रादयो दिक्पालाः, स्वयम् = आत्मना एव, जिजीविषामः = जीवितुम् इच्छामः, अतः, अस्मत् = अस्मत्तः, अमरभावम् = अमर्त्यत्वं, वृणीष्व = स्वीकुरु, इति = एवंरूपं, नः = अस्माकं, वचः = वचनं, त्रपोदञ्चि न किम् = लज्जावहं न भवति किमु ? स्वयं क्षुधितस्य जनस्य धनिकं प्रति अन्नदानप्रतिज्ञावत् अस्माकममरत्वप्रदानवचो लज्जाऽऽस्प-दमिति भावः ॥ १०३ ॥

अनुवादः—हे प्रिये ! जिस कारणसे तुम्हारे चरणकमलोंमें शरण पाकर हम लोग स्वयम् जीने की इच्छा करते हैं, अतः "हम लोगोंसे अमरत्व ले लो" ऐसा हम लोगोंका वचन लज्जाजनक नहीं है क्या ? ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—त्वत्पादपद्मे = तव पादौ (ष० त०) 'त्वत्पादौ एव पद्मे, ते रूपक०)। शरणं = "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। जिजीविषामः = जीव + सन् + लट् + मस्। अमरभावम् = अमरस्य भावः, तम् (ष० त०)। वृणीष्व = "वृङ् संभक्तौ" धातुसे लोट् + थास्। त्रपोदञ्चि = त्रपाम् उदञ्चतीति, त्रपा + उद् + अञ्च + णिनिः (उपपद०) + सुः। "त्रपाकृद्वचनम्" ऐसा पाठान्तर है, उसमें त्रपां करोतीति त्रपाकृत्, त्रपा + कृ + क्विप् (उप०) + सु०। ऐसी व्युत्पत्ति है। स्वयम् भूखे पुरुषकी किसी धनीके प्रति अन्नदानकी प्रतिज्ञाके समान तुम्हारे आश्रयसे जीनेकी इच्छा करनेवाले हमलोगोंका भी तुम्हें अमरत्व देनेका वचन लज्जाका जनक है यह भाव है॥ १०३॥

अस्माकमस्मान्मदनाऽपमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नाऽसौ।
प्रसीद तस्मादधिकं निजं तु प्रयच्छ पातुं रदनच्छदं नः॥ १०४॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति!) अस्मात् मदनाऽपमृत्योः अस्माकं त्राणाय असौ पीयूषरसोऽपि न, तु तस्मात् अधिकं निजं रदनच्छदं पातुं नः प्रयच्छ, प्रसीद॥ १०४॥

व्याख्या—अमृतसेविनां वः कुतो मरणसंभावना इत्यत्राऽऽह—अस्माकमिति। (हे दमयन्ति!) अस्मात् = निकटस्थात्, मदनाऽपमृत्योः = कामाऽपमरणात्, अस्माकम् = इन्द्रादीनां दिक्पालानां, त्राणाय = रक्षणाय, असौ = अयं, पीयूषरसोऽपि = अमृतरसोऽपि, न = न समर्थ इति भावः। तु = किन्तु, तस्मात् = पीयूषरसात्, अधिकम् = उत्कर्षभाजं, निजं = स्वकीयम्, रदनच्छदं = अधरं, पातुं = पानं कर्तुं, नः = अस्मभ्यं, प्रयच्छ = देहि, प्रसीद = प्रसन्ना भव॥ १०४॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति!) इस कामदेवरूप अपमृत्युसे हम लोगोंकी रक्षाके लिए यह अमृतरस भी समर्थ नहीं है, किन्तु उससे भी अधिक अपने अधरको पान करनेके लिए हमें दो, प्रसन्न होओ॥ १०४॥

टिप्पणी—अपमृत्योः = "त्राणाय" इसके योगमें "भीत्राऽर्थानां भयहेतुः" इससे अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी। पीयूषरसः = पीयूषस्य रसः (ष० त०)। "पीयूषरसाऽयनानि" ऐसा पाठान्तर है, उसमें रसस्य अयनानि (ष० त०), पीयूषरूपाणि रसायनानि (मध्यमपद० समास) यह व्युत्पत्ति है। रदनच्छदं = रदनानां (दन्तानाम्) छदः (अपवारकः), तम् (ष० त०)। पातुं = पा + तुमुन। प्रयच्छ = प्र + दाण् (यच्छ) + लोट् + सिप्। प्रसीद =

प्र + सद (सीद) + लोट् + सिप् । अमृतरससे भी तुम्हारा अधररस स्वादुतर है यह भाव है ॥ १०४ ॥

प्लुष्टश्चापेन रोपैरपि सह मकरेणाऽऽत्मभूः केतुनाऽभू-
द्धत्तां नस्त्वत्प्रसादादथ मनसिजतां मानसो नन्दनः सन् ।
भ्रूभ्यां ते तन्वि ! धन्वी भवतु तव सितैर्जैत्रभल्लः स्मितैस्ता-
दस्तु त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाऽधीनमीनध्वजाऽङ्कः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—हे तन्वि ! आत्मभूः चापेन रोपैः मकरेण केतुना च सह प्लुष्टः अभूत् । अथ (सः) त्वत्प्रसादात् नः मानसः नन्दनः सन् मनसिजतां धत्ताम् । (किञ्च) ते भ्रूभ्यां धन्वी भवतु, तव सितैः स्मितैः जैत्रभल्लः स्तात्, त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाऽधीनमीनध्वजाऽङ्कः अस्तु ॥ १०५ ॥

व्याख्या—हे तन्वि = हे कृशाङ्गि !, आत्मभूः = कामदेवः, चापेन = धनुषा, रोपैः = बाणैः, मकरेण = मकररूपेण, केतुना = ध्वजेन च, सह = समं, प्लुष्टः = दग्धः, अभूत् = अभवत्, अथ = इदानीं सः, त्वत्प्रसादात् = भवदनुग्रहात्, नः = अस्माकं, मानसः = मनःसम्बन्धी, नन्दनः = पुत्र, आनन्दयिता च, सन् = भवन्, मनसिजतां = मनोभवतां, धत्तां = धारयतु, तव संगमवशादानन्दकः कामोऽस्मन्मनसि पुनरुत्पद्यतां, मनसिजत्वमपि धारयतु इति भावः । किञ्च ते = तव, भ्रूभ्याम् = अक्षिलोमभ्यां, धन्वी = चापवान्, भवतु = अस्तु, तव = भवत्याः, सितैः =निर्मलैः, स्मितैः=मन्दहास्यैः, जैत्रभल्लः= जयशीलबाणशल्यः, स्तात् = भवतात् । त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाऽधीनमीनध्वजाऽङ्कः=भवन्नयनातिचञ्चलमत्स्ययुगलाऽऽयत्तमत्स्यरूपध्वजलाञ्छनः, भवतु= अस्तु । त्वन्नेत्राभ्यां मीनध्वजवान् अस्तु इति भावः ॥ १०५ ॥

अनुवाद—हे कृशाङ्गि ! कामदेव अपने धनु-बाणों तथा मकररूप ध्वजके साथ ही दग्ध हो गया, अनन्तर वह तुम्हारे अनुग्रहसे हम लोगोंके मनको आनन्दित करता हुआ मनसिज (मनोभव) के भावको धारण करे । वह तुम्हारी दो भौंहोंसे धनुर्धारी हो, तुम्हारे शुक्लवर्णवाले मन्द हास्योंसे जयशील भालोंसे युक्त हो और तुम्हारे नेत्रद्वयरूप अत्यन्त चञ्चल दो मत्स्योंसे मत्स्यरूप ध्वजचिह्नवाला हो ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—आत्मभूः = आत्मना (स्वयमेव) भवतीति, आत्मन् + भू + क्विप् (उपपद०) + सुः । रोपैः = "पत्री रोप इषुर्द्वयोः" इत्यमरः । प्लुष्टः = प्लुष + क्तः + सुः । त्वत्प्रसादात्=तव प्रसादः, तस्मात् (ष० त०) । मानसः =

मनसः अयम्, मनस् + अण् + सु । नन्दनः = नन्दयतीति (टु) नदि + णिच् + ल्युः (अन), "नन्दनो हर्षके सुते" इति विश्वः । मनसिजतां = मनसि जायते मनसिजः, मनस् + ङि + जन् + डः (उपपद०) "सप्तम्यां जनेर्डः" इससे डप्रत्यय और "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" इससे अलुक् । धत्तां = धाञ् + लोट् + त । आत्मभू (कामदेव) शिवजीके नेत्रसे दग्ध होकर मनसिजता अर्थात् आत्मभूताको धारण करे । मनका पर्याय आत्मा भी है । "आत्मा देहमनोब्रह्म-स्वभावधृतिबुद्धिषु ।" इति विश्वः । धन्वी = धन्व अस्याऽस्तीति, धन्वन् + इनिः "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय । जैत्रभल्लः = जैत्रा भल्ला यस्य सः (बहु०) । स्तात् = अस् + लोट् + तिप् (तातङ्) त्वन्नेत्रचञ्चतरशफर-युगाऽधीनमीनध्वजाऽङ्कः = तव नेत्रे त्वन्नेत्रे (ष० त०) । अतिशयेन चञ्चन्तौ चञ्चत्तरौ, चञ्चत् + तरप् + औ । चञ्चत्तरौ च तौ शफरौ (क० धा०) । त्वन्नेत्रे एव चञ्चत्तरशफरौ (रूपक०) । तयोर्युगम् (ष० त०), तस्मिन् अधीनः (स० त०) । मीनरूपोध्वजः मीनध्वजः (मध्यमपद० समास) । त्वन्नेत्रचञ्चतर-शफरयुगाऽधीनः मीनध्वज एव अङ्कः यस्य सः (बहु०) । कामदेव तुम्हारे नेत्रोंसे मीनध्वजवाला हो यह भाव है । इस पद्यमें यथासंख्य और रूपकका सङ्कर अलङ्कार है । स्रग्धरा छन्द है ॥ १०५ ॥

स्वप्नेन प्रापितायाः प्रतिरजनि तव श्रीषु मग्नः कटाक्षः,
श्रोत्रे गीताऽमृताऽब्धौ, त्वगपि ननु तनूमञ्जरीसौकुमार्ये ।
नासा श्वासाऽधिवासेऽधरमधुनि रसज्ञा, चरित्रेषु चित्तं,
तन्नस्तन्वङ्गि ! कैश्चिन्न करगहरिणैर्वागुरा लम्भिताऽसि ॥ १०६ ॥

अन्वयः—हे तन्वङ्गि ! प्रतिरजनि स्वप्नेन प्रापितायाः तव श्रीषु कटाक्षो मग्नः, तव गीताऽमृताऽब्धौ श्रोत्रे (मग्ने), तव तनूमञ्जरीसौकुमार्ये त्वक् अपि (मग्ना) । ननु तव श्वासाऽधिवासे नासा (मग्ना), तव अधरमधुनि रसज्ञा (मग्ना), तव चरित्रेषु चित्तं (मग्नम्), तत् नः कैश्चित् करगहरिणैः (त्वम्) वागुरा न लम्भिता असि ॥ १०६ ॥

व्याख्या—हे तन्वङ्गि = हे कृशाङ्गि !, प्रतिरजनि = रजन्यां रजन्यां स्वप्नेन = स्वापेन कर्त्रा, प्रापितायाः = नीतायाः, स्वप्नदृष्टाया इति भावः । तव = भवत्याः, श्रीषु = सौन्दर्यलहरीषु, कटाक्षः = अपाङ्गदर्शनं, मग्नः =

निमग्नः । तव, गीताऽमृताऽब्धौ = गानसुधासमुद्रे, श्रोत्रे = अस्माकं कर्णेन्द्रिये, मग्ने, तव, तनूमञ्जरी सौकुमार्ये = मूर्तिपुष्पगुच्छमार्दवे, त्वक् अपि = अस्माकं स्पर्शनेन्द्रियम् अपि, मग्ना, ननु = हे सुन्दरि !, तव, श्वासाऽधिवासे = निःश्वास-मारुतसौरभे, नासा = अस्माकं घ्राणेन्द्रियं, मग्ना, तव, अधरमधुनि = अधराऽ-मृते, रसज्ञा = अस्माकं रसनेन्द्रियं, मग्ना, तव, चरित्रेषु = चेष्टासु, चित्तम् = अस्माकं मनोरूपम् अन्तःकरणं, मग्नम्, तत् = तस्मात्कारणात्, नः = अस्माकं कैश्चित्, करणहरिणैः = इन्द्रियरूपैर्मृगैः, त्वम्, वागुरा = मृगबन्धनी रज्जुः, न लम्भिता असि = न प्रापिता असि, सर्वैरपि इन्द्रियैः प्रापिताऽसीति भावः। अस्माकं सर्वेन्द्रियमोहजनकं त्वद्रूपमिति तात्पर्यम् ॥ १०६ ॥

अनुवादः—हे कृशाङ्गि ! प्रत्येक रातमें स्वप्नसे प्राप्त कराई गई (स्वप्नमें देखी गई) तुम्हारी सौन्दर्यलहरियोंमें हम लोगोंका कटाक्ष (नेत्र इन्द्रिय) मग्न हो गया; तुम्हारे गीतरूप अमृतसमुद्रमें श्रोत्र (कर्ण इन्द्रिय), तुम्हारे मूर्तिरूप पुष्पगुच्छकी सुकुमारतामें त्वक् (चर्मेन्द्रिय), तुम्हारे निःश्वास-वायुके सौरभ (सुगन्ध) में नासिका (घ्राण इन्द्रिय), तुम्हारे अधराऽमृत-में जिह्वा (रसना इन्द्रिय) और तुम्हारी चेष्टाओंमें हम लोगोंका चित्त (अन्तःकरण) मग्न हो गया है, इस कारणसे हमारे किन इन्द्रियरूप मृगोंको तुमने मृगबन्धनी (मृगपाश) होकर नहीं फसाया है ? ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—तन्वङ्गि = तनूनि अङ्गानि यस्याः सा तन्वङ्गी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इससे ङीप् । प्रतिरजनि = रजन्यां रजन्याम् (वीप्सामें अव्ययीभाव) । स्वप्नेन = स्वप् + नन् + टा । देवतालोग सोते नहीं हैं अतएव उन्हें "अस्वप्न" भी कहते हैं अतः उनकी ओरसे "स्वप्नेन प्रापितायाः" यह कथन अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु नलने अपने अनुभवका वर्णन किया है अतः अनौचित्य नहीं । गीताऽमृताऽब्धौ = अमृतस्य अब्धिः (ष० त०), गीतम् एव अमृताऽब्धिः, तस्मिन् (रूपक०) । तनूमञ्जरीसौकुमार्ये = तनूरेव मञ्जरी (रूपक०), तस्याः, सौकुमार्यं, तस्मिन् (ष० त०) । श्वासाऽधिवासे = श्वासस्य अधिवासः, तस्मिन् (ष० त०) । अधरमधुनि = अधरस्य मधु, तस्मिन् (ष० त०) । रसज्ञा = रसं जानातीति, रस + ज्ञा + क + टाप् + सु, "रसज्ञा रसना जिह्वा" इत्यमरः । करणहरिणैः = करणानि एव हरिणाः, तैः (रूपक०) । हमारी संपूर्ण इन्द्रियोंमें मोह उत्पन्न करनेवाला तुम्हारा सौन्दर्य है यह भाव है । इस पद्यमें चतुर्थ

चरणके अर्थका पहले के छः वाक्यार्थ हेतु हैं इस कारण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है, उसका "करणहरिणैः" इत्यादि रूपकसे सङ्कर है। स्रग्धरा छन्द है ॥ १०६ ॥

इति धृतसुरसार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातलपत्त्रहारकस्य।
सफलय मम दूततां, वृणीष्व स्वयमवधार्य दिगीशमेकमेषु ॥ १०७ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) इति धृतसुरसार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातलपत्त्र-हारकस्य मम दूततां सफलय। एषु एकं दिगीशं स्वयम् अवधार्य वृणीष्व ॥१०७॥

व्याख्या इति = इत्थं, धृतसुरसार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातलपत्त्रहारकस्य= गृहीतदेवसमूहसन्देशवाक्यावलिस्वजिह्वातललेखाऽऽनायकस्य, मम, दूततां= दौत्यं, सफलय = सफलां कुरु, दौत्यसाफल्यरूप निर्दिशति--वृणीष्वेति। एषु= इन्द्रादिषु दिक्पालेषु, एकम् = एकतमं, दिगीशं = दिक्पालं, स्वयम् = आत्मना एव, अवधार्य = निश्चित्य, वृणीष्व = वृणीथाः ॥ १०७ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) इस प्रकार देवसमूहके सन्देशरूप वाक्य-परम्पराको धारण करनेवाले अपने जिह्वारूप पत्त्रको लानेवाले मेरे दूतभावको आप सफल करें। इन इन्द्र आदि दिक्पालोंमें एक दिक्पालको स्वयम् निश्चय करके वरण करें ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—धृतसुरसार्थेत्यादिः = सुराणां सार्थः (ष० त०)। वाचिकी चाऽसौ स्रक् (क० धा०)। सुरसार्थस्य वाचिकस्रक् (ष० त०)। धृता सुर-सार्थवाचिकस्रक् येन तत् (बहु०)। रसनायाः तलम् (ष० त०) निजं च तत् रसनातलम् (क० धा०)। धृतसुरसार्थवाचिकस्रक् च तत् निजरसनातलं (क० धा०), तदेव पत्त्रं (लेखः), (क० धा०)। तस्य हारकः, तस्य (ष० त०)। सफलय = सफलां कुरु, सफला शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लोट् + सिप्। दिगीशं=दिश ईशस्तम् (ष० त०)। वृणीष्व = वृङ् + लोट् + थास्। इस पद्यमें नलके दौत्यके साफल्यका वरणरूप वाक्यार्थ हेतु है अतः वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है, उस अङ्गीका रसनातलमें पत्त्रका रूपण होनेसे रूपककी अङ्गतासे सङ्कर अलङ्कार है। पुष्पिताग्रा छन्द है ॥१०७॥

"आनन्दयेन्द्रमथ मन्मथमग्नमग्नि केलीभिरुद्धर तनूदरि ! नूतनाभिः ॥
आसादयावितवय शमने मनो वा, नो वा यदीत्थमथ तद्वरुणं वृणीथाः" ॥१०८॥

अन्वयः—हे तनूदरि ! नूतनाभिः केलीभिः मन्मथमग्नम् इन्द्रम् आनन्दय,

अथ मन्मथमग्नम् अग्निं नूतनाभिः केलीभिः उद्धर, वा शमने उदितदयं मनः आसादय; इत्थं नो वा यदि, अथ तत् मन्मथमग्नं वरुणं वृणीथाः ॥ १०८ ॥

व्याख्या—हे तनूदरि = हे कृशोदरि !, नूतनाभिः = नवीनाभिः, केलीभिः = क्रीडाभिः, मन्मथमग्नं = कामनिमग्नम्, इन्द्रं=मघवानम्, आनन्दय = आनन्दितं कुरु, अथ = अथ वा, मन्मथमग्नं = कामनिमग्नम्, अग्निम् = अनलं, नूतनाभिः केलीभिः, उद्धर = उद्धारं कुरु, वा = अथ वा, शमने = यमे, उदितदयं = जातकृपं, मनः = चित्तम्, आसादय = निवेशय, इत्थम् = एवं, नो वा यदि = न क्रियते चेत्, अथ = अनन्तरं, तत् = तर्हि, मन्मथमग्नं = कामनिमग्नं, वरुणं= प्रचेतसं, वृणीथाः = वृणीष्व, एष्वेकतमवरणेन मद्दौत्यं सफलीकुर्विति भावः ॥ १०८ ॥

अनुवादः--हे कृशोदरि ! आप नवीन क्रीडाओंसे कामनिमग्न इन्द्रको आनन्दित करें, अथ वा कामनिमग्न अग्निको नवीन क्रीड़ाओंसे उद्धार करें, अथ वा यमराजमें दयापूर्ण चित्तका स्थापन करें, यदि ऐसा नहीं तो कामनिमग्न वरुणको आप वरण करें ॥ १०८ ॥

टिप्पणी--तनूदरि = तनु उदरं यस्याः सा तनूदरी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। मन्मथमग्नं = मन्मथे मग्नः, तम् (स० त०), आनन्दय + आ + नदि + णिच् + लोट् + सिप् । उद्धर = उद् + धृञ् + लोट् + सिप् । उदितदयम् = उदिता दया यस्मिन्, तत् (बहु०) । आसादय = आङ् + सद् + णिच् + लोट् + सिप् । वृणीथाः = वृङ् + लिङ् + थास् । हे दमयन्ति ! इन्द्र आदि दिक्पालोंमें एकका वरण कर मेरे दौत्यको सफल कीजिए, यह भाव है । वसन्ततिलका छन्द है ॥ १०८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तस्याऽगादयमष्टमः कविकुलाऽदृष्टाऽध्वपान्थे महा-
काव्ये चारुणि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १०९ ॥

इति श्रीनैषधीयचरिते महाकाव्येऽष्टमः सर्गः ।

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे । कविकुलाऽदृष्टाऽध्वपान्थे चारुणि वैरसेनिचरिते तस्य महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलः अयम् अष्टमः सर्गः अगात् ॥ १०९ ॥

व्याख्या—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः = पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः, श्रीहीरः = श्रीहीरनामकः, मामल्लदेवी च = मामल्लदेवीनाम्नी च, जितेन्द्रियचयं = वशीकृतहृषीकसमूहं, यं, श्रीहर्षं = श्रीहर्षनामकं, सुतं = पुत्रं, सुषुवे = जनयामास । कविकुलाऽदृष्टाऽध्वपान्थे = कवयितृसमूहाऽनवलोकितमार्गनित्यपथिके, चारुणि = मनोहरे, वैरसेनिचरिते = नलचरित्रे, तस्य = श्रीहर्षस्य, महाकाव्ये = बृहत्काव्ये, निसर्गोज्ज्वलः = स्वभावसुन्दरः, अयम् = एषः, अष्टमः = अष्टानां पूरणः, सर्गः = अध्यायः, अगात् = गतः ।। १०९ ।।

अनुवाद:--श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिस श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया, कविकुलसे अदृष्ट मार्गके नित्य पथिक मनोहर नलचरितनामक श्रीहर्षके महाकाव्यमें स्वभावसे सुन्दर यह आठवाँ सर्ग गया (समाप्त हुआ) ।। १०९ ।।

टिप्पणी— कविकुलाऽदृष्टाऽध्वपान्थे = कवीनां कुलं (ष० त०) । न दृष्टः (नञ्०), अदृष्टश्चाऽसौ अध्वा (क० धा०), कविकुलस्य अदृष्टाऽध्वा (ष० त०), तस्य पान्थं, तस्मिन् (ष० त०) । वैरसेनिचरिते = वीरसेनस्याऽपत्यं पुमान् वैरसेनिः "अत इञ्" इससे इञ् । वैरसेनिचरितं तस्मिन् (ष० त०), अष्टमः = अष्टानां पूरणः, अष्टन् + डट् (मट्) + सु ।। १०९ ।।

इति श्रीनैषधीयचरितव्याख्यायां चन्द्रकलाऽ-

भिख्यायामष्टमः सर्गः ।

—०—

अथ नवमः सर्गः

लोकाऽऽलोकविधातारं कालहेतुमहेतुकम् ।
आदितेयपतिं देवमादित्यं समुपास्महे ॥

इतीयमक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटामनिच्छां विवरीतुमुत्सुका ।
तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छयाऽशृणोद्दिगीशसन्देशगिरो न गौरवात् ॥ १ ॥

अन्वयः—इयम् अक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटाम् अनिच्छां विवरीतुम् उत्सुका (सती) तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया दिगीशसन्देशगिरः अशृणोत्, गौरवात् न (अशृणोत्) ॥ १ ॥

व्याख्या—अथ इन्द्रादिसन्देशश्रवणाऽनन्तरं दमयन्त्यभिप्रायं वर्णयति—इतीति । इयं = दमयन्ती, अक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः = नयनभ्रूविकारचेष्टाभिः, स्फुटां = व्यक्ताम्, अनिच्छाम् = अस्पृहाम्, इन्द्रादिविषयामिति शेषः । विवरीतुं = प्रकाशयितुम्, उत्सुका = उद्युक्ता सती, तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया = नलवचनमात्राऽऽकर्णनाऽभिलाषेण, दिगीशसन्देशगिरः = इन्द्रादिदिक्पालसन्देशवचनानि, अशृणोत् = श्रुतवती, गौरवात् न = दिगीशानामादरात् न अशृणोत् ॥ १ ॥

अनुवादः—दमयन्तीने नेत्रों और भौंहोंके विकारकी चेष्टाओंसे व्यक्त हुई अनिच्छाको प्रकाशित करनेके लिए तत्पर होकर नलके वचनमात्रको सुननेकी इच्छासे इन्द्र आदि दिक्पालोंके सन्देशवचनों को सुना, इन्द्र आदिके आदरसे नहीं ॥ १ ॥

टिप्पणी—अक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः = अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम्, "अचतुर०" इत्यादि सूत्रसे समाहारद्वन्द्व और समासान्त अच् प्रत्ययका निपातन । अक्षिभ्रुवस्य विकाराः (ष० त०), ते एव इङ्गितानि तैः (रूपक०) । अनिच्छां = न इच्छा, ताम् (नञ्०) । विवरीतुं = वि + वृ + तुमुन्, "वृतो वा" इससे इटका वैकल्पिक दीर्घ । उत्सुका="इष्टाऽर्थोद्युक्त उत्सुकः" इत्यमरः । तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया = तस्य (नलस्य) उक्तिः (ष० त०), तदुक्तिरेव तदुक्तिमात्रम् (रूपक०) । श्रवणस्य इच्छा (ष० त०), तदुक्तिमात्रस्य श्रवणेच्छा, तस्या (ष० त०) दिगीशसन्देशगिरः = दिशाम् ईशाः (ष० त०) ।

तेषां सन्देशाः (ष० त०), तेषां गिरः, ताः (ष० त०), अश्रृणोत् = श्रु + लङ् + तिप् । इस सर्गमें वंशस्थ छन्द है ॥ १ ॥

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय तां दिगीशसन्देशमयीं सरस्वतीम् ।
इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिं जगाद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥ २ ॥

अन्वयः—वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी तदर्पितां दिगीशसन्देशमयीं तां सरस्वतीम् अश्रुतवत् विधाय उर्वीतलशीतलद्युतिं तम् इदं जगाद ॥ २ ॥

व्याख्या—वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी = दमयन्ती, तदर्पितां = नलोक्तां, दिगीशसन्देशमयीं = दिक्पालवाचिकबहुलां, तां = पूर्वोक्तां, सरस्वतीं = वाचम्, अश्रुतवत् = अनाकर्णिताम् इव, विधाय = कृत्वा, उर्वीतलशीतलद्युतिं=भूलोकचन्द्रं, तं = नलम्, इदं = वक्ष्यमाणं वचनं, जगाद = गदितवती ॥ २ ॥

अनुवादः—भीमपुत्री दमयन्तीने नलसे कहे गये इन्द्र आदि दिक्पालोंके सन्देशोंसे परिपूर्ण उस वचनको अनसुना-सा कर भूलोकके चन्द्र नलको ऐसा कहा ॥ २ ॥

टिप्पणी—वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी = विदर्भाणां राजा वैदर्भः, (विदर्भ + अण् + सु), नराणाम् इन्द्रः (ष० त०), वैदर्भश्चाऽसौ नरेन्द्रः (क० धा०), तस्य नन्दिनी (ष० त०)। तदर्पितां = तेन अर्पिता, ताम् (तृ० त०)। दिगीशसन्देशमयीं = दिशाम् ईशाः (ष० त०), तेषां सन्देशाः (ष० त०), त एव प्रचुरा यस्यां सा, ताम् (दिगीशसन्देश + मयट् + ङीप् + अम्)। अश्रुतवत् = न श्रुता (नञ्०), अश्रुतया तुल्यम्, "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इससे वति प्रत्यय। विधाय = वि + धा + क्त्वा (ल्यप्)। उर्वीतलशीतलद्युतिम् = उर्व्यास्तलम् (ष० त०)। शीतला द्युतिर्यस्य सः (बहु०), उर्वीतले शीतलद्युतिः, तम् (स० त०)। जगाद = गद + लिट् + तिप् (णल्) ॥ २ ॥

मयाऽङ्ग ! पृष्टः कुलनामनी भवानमू विमुच्यैव किमन्यदुक्तवान् ? ।
न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य किं ह्रियेऽपि सेयं भवतोऽधमर्णता ? ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे अङ्ग ! मया भवान् कुलनामनी पृष्टः (सन्) किम् अमू विमुच्य अन्यत् उक्तवान् ? । अत्र मह्यम् उत्तरधारयस्य भवतः सा इयम् अधमर्णता ह्रिये अपि न किम् ? ॥ ३ ॥

व्याख्या—अङ्ग = हे श्रीमन् ! मया, भवान्, कुलनामनी = वंशनामधेये, "मही कृतार्था०" ८-४४, इत्यनेन "त्वदाप्तसङ्केततया० ८-२५ इत्यनेन च पद्येनेति शेषः। पृष्टः = अनुयुक्तः सन्, किं = किमर्थम्, अमू = कुलनामनी,

विमुच्य = परित्यज्य, अन्यत् = अपरम्, अप्रस्तुतं, दिगीशसन्देशरूपमिति शेषः। उक्तवान् = भाषितवान् । अत्र = अस्मिन्, कुलनामप्रश्न इति भावः, मह्यम् = उत्तमर्णायै, उत्तरधारयस्य = उत्तराधमर्णस्य, कुलनामवचनरूपस्य ऋणस्येति शेषः । भवतः = तव, सा = तादृशी, इयं = निकटस्था, अधमर्णता = ऋणग्राहकता, ह्रियै अपि न किं = लज्जायै अपि न किमु ? लोके उत्तमर्णेन याच्यमानस्याऽधमर्णस्य ऋणरूपेण गृहीतद्रव्यस्याऽप्रदानं लज्जायै भवत्येव भवतस्तु साऽपि नास्तीति भावः ॥ ३ ॥

अनुवाद—हे श्रीमन् ! मेरे आपसे कुल और नामके विषयमें प्रश्न करनेपर आपने क्यों उनको छोड़कर अप्रस्तुत देवसन्देशरूप वाक्य कहा ? कुल और नाम इनके उत्तररूप मेरे ऋणको धारण करनेवाले आपकी यह अधमर्णता (ऋणग्राहकता) लज्जाके लिए भी नहीं है क्या ? ॥ ३ ॥

टिप्पणी—भवान् = प्रच्छ धातु द्विकर्मक होनेसे गौण कर्म । कुलनामनी = कुलं च नाम च, ते (द्वन्द्व०, मुख्य कर्म) । पृष्टः = प्रच्छ + क्तः + सु । "अप्रधाने दुहादीनाम्" ऐसे वचनसे अप्रधान (गौण) कर्ममें क्त प्रत्यय । विमुच्य = वि + मुच् + क्त्वा (ल्यप्) । मह्यं = 'धारेरुत्तमर्णः" इस सूत्रसे सम्प्रदानसंज्ञा होनेसे चतुर्थी । उत्तरधारयस्य = धारयतीति धारयः, तस्य, "अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च" इससे शप्रत्यय । धृञ् + णिच् + शः + ङस् । उत्तरस्य धारयः, तस्य (ष० त०) । अधमर्णता = अधमम् ऋणं यस्य सः अधमर्णः (बहु०), तस्य भावस्तत्ता, अधमर्ण + तल् + टाप् + सुः । लोकमें उत्तमर्ण (ऋण देनेवाले) के मांगनेपर भी न देनेसे जैसे ऋणीको लज्जा होती ही है आपको तो मेरे उत्तरके ऋणी होनेपर भी लज्जा नहीं है, यह भाव है ॥ ३ ॥

अदृश्यमाना क्वचिदीक्षिता क्वचिन्ममाऽनुयोगे भवतः सरस्वती ।
क्वचित्प्रकाशां क्वचिदस्फुटाऽर्णसं सरस्वतीं जेतुमनाः सरस्वतीम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) मम अनुयोगे क्वचित् अदृश्यमाना क्वचित् ईक्षिता (ईदृशी) भवतः सरस्वती क्वचित् प्रकाशां क्वचित् अस्फुटाऽर्णसं सरस्वती च जेतुमनाः ॥ ४ ॥

व्याख्या—मम, अनुयोगे = प्रश्ने विषये, क्वचित् = कुत्रचित्, कुलनामविषय इति भावः, अदृश्यमाना = अविलोक्यमाना, अप्रकाशितेति भावः, क्वचित् = कुत्रचित् "अनायि देशः ८-२५" इत्यतः कुत आगतः कस्यत्वम् =

इत्यत्रेति भावः, ईक्षिता = दृष्टा, प्रकाशिताऽर्था इति भावः । ईदृशी, भवतः = तव, सरस्वती = वाणी, क्वचित् = कुत्रचिद देशे, प्रकाशां = प्रकाशजलां, क्वचित् = कुत्रचिद्देशे, अस्फुटाऽर्णसम् = अप्रकाशजलां, सरस्वतीं = वाणीं, सरस्वतीं च = सरस्वतीनदीं च, जेतुमनाः = जेतुकामा, अस्तीति शेषः ॥ ४ ॥

अनुवादः--(हे महोदय !) मेरे प्रश्नमें कहींपर अप्रकाशित और कहींपर प्रकाशित ऐसी आपकी वाणी कहींपर दृश्य जलवाली और कहींपर अदृश्य जलवाली सरस्वती (नदी) को और सरस्वती (वाणी) को जीतना चाहती है ॥४॥

टिप्पणी--अनुयोगे = "प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च" इत्यमरः । अदृश्यमाना= न दृश्यमाना (नञ्०) । ईक्षिता = ईक्ष + क्तः (कर्ममें) + टाप् + सु । सरस्वती = "सरस्वती नदीभेदे गोवाग्देवतयोरपि ।" इति विश्वः । अस्फुटाऽर्णसं = न स्फुटम् (नञ्०) । अस्फुटम् अर्णः (जलम्) यस्याः सा अस्फुटाऽर्णाः, ताम् (बहु०), "अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराऽम्बुशम्बरम् ।" इत्यमरः । जेतुमनाः= जेतुं मनो यस्याः सा । बहु०), "तुं काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । इस पद्यमें नलकी वाणीके सरस्वती नदीके धर्ममें सम्बन्धसे सरस्वतीको जीतनेके उत्प्रेक्षा व्यञ्जक पदके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है उससे उपमा व्यङ्ग्य है अतः अलङ्कार से अलङ्कारकी ध्वनि है ॥ ४ ॥

गिरः श्रुता एव तव श्रवःसुधाः, श्लथा भवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि ॥ ५ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) श्रवःसुधाः तव गिरः श्रुता एव, तु भवन्नाम्नि श्रुतिस्पृहा न श्लथा । तथा हि—पिपासुता वारिणा शान्तिम् उपैति अधिकात् अपि दुग्धात् मधुनः अपि जातु शान्तिं न उपैति ॥ ५ ॥

व्याख्या—श्रवःसुधाः = कर्णाऽमृतानि, तव = भवतः, गिरः = वाचः, श्रुताः= आकर्णिताः, एव, तु = किन्तु, भवन्नाम्नि=भवदभिधानविषये, श्रुतिस्पृहा = श्रवणेच्छा, न श्लथा, न शिथिला, न निवृत्तेति भावः । तथा हि—पिपासुता = पिपासा, वारिणा = जलेन, शान्तिं = निवृत्तिम्, उपैति = प्राप्नोति, अधिकात् अपि = अनल्पात् अपि, दुग्धात् = क्षीरात्, मधुनः अपि = क्षौद्रात् अपि, जातु= कदाऽपि, शान्तिं = निवृत्तिं, न उपैति = न प्राप्नोति ॥ ५ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) कानोंको अमृतरूप आपके वचनोंको मैंने सुन ही लिया, किन्तु आपके नामके विषयमें सुननेकी इच्छा शिथिल नहीं हुई है ।

प्यास जलसे दूर होती है, अधिक होनेपर भी दूधसे और शहदसे भी कभी दूर नहीं होती है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—श्रव:सुधा: = श्रवसो: सुधा: (ष० त०)। भवन्नाम्नि = भवतो नाम, तस्मिन् (ष० त०)। श्रुतिस्पृहा = श्रुते: स्पृहा (ष० त०)। पिपासुता = पातुम् इच्छु: पिपासु:, पा + सन् + उ: । पिपासोर्भाव:, पिपासु + तल् + टाप् + सु । उपैति = उप + इण् + लट् + तिप् । इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ५ ॥

बिभर्ति वंश: कतमस्तमोऽपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम् ? ।
तमन्यसामान्यधियाऽवमानित त्वया महान्तं बहु मन्तुमुत्सहे ॥ ६ ॥

अन्वय:--(हे महोदय !) तमोऽपहं भवादृशम् ईदृशं नायकरत्नं कतमो वंश: बिभर्ति ? अन्यसामान्यधिया अवमानितं त्वया महान्तं तं बहु मन्तुम् उत्सहे ॥ ६ ॥

व्याख्या--तमोऽपहं = शोकनाशकम्, अन्धकारनाशकं वा, भवादृशं = भवत्सदृशम्, ईदृशम् = एतादृशं, नायकरत्नं = राजश्रेष्ठ हारमध्यमणिं च, कतम: = क:, वंश: = कुलं वेणुश्च, बिभर्ति = धारयति । किमर्थमितिचेत्-- अन्यसामान्यधिया = सर्वसाधारणबुद्ध्या, अवमानितम् = अपमानितं, तथाऽपि त्वया = भवता, महान्तं = महत्तरं, तं = वंशं, बहु = अधिकं यथा तथा, मन्तुं = सम्मानयितुम्, उत्सहे = उत्साहं करोमि, सर्वोऽपि वंशो मान्यै: पुरुषश्रेष्ठैरेव प्रकाशते न स्वरूपत इति भाव: ॥ ६ ॥

अनुवाद:--(हे महोदय !) जैसे अन्धकारको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठ रत्नको कोई वंश (बांस) धारण करता है वैसे ही शोकको नष्ट करनेवाले आपके सदृश ऐसे राजश्रेष्ठको कौन-सा वंश (कुल) धारण करता है ? अन्यसाधारण बुद्धिसे अपमानित परन्तु आपसे उत्कृष्ट उस वंशको अधिक सम्मान करनेके लिए उत्साह करती हूँ ॥ ६ ॥

टिप्पणी--तमोपहं = तम: अपहन्तीति, तत् "अपे क्लेशतमसो:" इस सूत्रसे ड प्रत्यय, अप + हन् + ड: + अम् । नायकरत्नं = नायकानां रत्नं, तत् । "नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि ।" इति विश्व: । नेता और हारके मध्यमणिको भी "नायक" कहते हैं । अन्यसामान्यधिया = अन्येषु सामान्य (स० त०), तस्य धी:, तया (ष० त०)। अवमानितम् = अव + मन् + णिच् + क्त: + अम् । उत्सहे = उद् + सह + लट् + इट् । सम्पूर्ण वंश मान्य

उत्तम पुरुषोंसे प्रख्यात होता है स्वतः नहीं, यह भाव है। यहाँपर हारके मध्यमणिरूप दूसरे अर्थकी प्रतीति ध्वनि ही है। वंश (बाँस) से भी मुक्ता होती है इस विषयमें यह पद्य प्रमाण है—

"करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याऽब्धिशुक्त्युद्भववेणुजानि ।
मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि ॥ ६ ॥

इतीरयित्वा विरतां पुनः स तां गिराऽनुजग्राहतरां नराऽधिपः ।
विरुत्य विश्रान्तवतीं तपाऽत्यये घनाघनश्चातकमण्डलीमिव ॥ ७ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा विरतां तां स नराऽधिपः तपाऽत्यये विरुत्य विश्रान्तवतीं चातकमण्डलीं घनाघन इव गिरा अनुजग्राहतराम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—इति = इत्थं, ईरयित्वा = कथयित्वा, विरतां = तूष्णींभूतां, तां= दमयन्तीं, सः = पूर्वोक्तः, नराऽधिपः = राजा नलः, तपाऽत्यये = ग्रीष्माऽन्ते, विरुत्य = शब्दं कृत्वा, विश्रान्तवतीं = विरतां, चातकमण्डलीं = सारङ्गसमूहं, घनाघन इव = वर्षुकमेघ इव, गिरा = वचनेन, घनाघनपक्षे-गर्जितेन, अनुजग्राहतराम् = अतिशयेन अनुगृहीतवान्, प्रत्युवाचेति भावः ॥ ७ ॥

अनुवादः—ऐसा कहकर मौन लेनेवाली दमयन्तीको राजा नलने जैसे ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें शब्द करके विश्राम लेनेवाले चातकसमूहको वृष्टि करनेवाला मेघ गर्जनसे अनुगृहीत करता है वैसे ही अपनी वाणीसे अत्यन्त अनुगृहीत किया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—ईरयित्वा = ईर + णिच् + क्त्वा। विरता = वि + रम् + क्तः + टाप् + अम्। नराऽधिपः = नराणाम् अधिपः (ष० त०)। तपाऽत्यये = तपस्य अत्ययः, तस्मिन् (ष० त०), "निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः।" इत्यमरः। विरुत्य = वि + रु + क्त्वा (ल्यप्)। विश्रान्तवती = वि + श्रम् + क्तवतुः + ङीप् + अम्। चातकमण्डली=चातकानां मण्डली, ताम् (ष० त०)। "अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः।" इत्यमरः। घनाघनः = "वर्षुकाऽब्दो घनाघनः" इत्यमरः। अनुजग्राहतराम् = अनुजग्राह + तरप् + आम्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ७ ॥

अये ! ममोदासितमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने ।
गरो गिरः पल्लवनाऽर्थलाघवे, मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता ॥ ८ ॥

अन्वयः—अये ! अनतिप्रयोजने तस्मिन् द्वये अपि मम जिह्वया उदासितम्

एव । तथा हि—पल्लवनार्थलाघवे गिरः गरौ, हि मितं सारं च वचः वाग्मिता ॥ ८ ॥

व्याख्या—अये = हे दमयन्ति !, अनतिप्रयोजने = अधिकप्रयोजनरहिते, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, द्वये अपि = द्वितये अपि, कुलनामरूप इति भावः। मम जिह्वया = रसनया, उदासितम् एव = औदासीन्येन स्थितम् एव । तथा हि—पल्लवनाऽर्थलाघवे = शब्दविस्तरण-वाच्यसङ्कोचने, गिरः = वचनस्य, गरौ = विषरूपे, तर्हि का वाग्मिता ? इति प्रश्ने उत्तरयति—मितं चेति । मितम् = अल्पाऽक्षरं, सारं च = महाऽर्थं च, वचः = वचनं, वाग्मिता = वाचोयुक्ति-पटुता ॥ ८ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति ! अधिक प्रयोजनसे रहित मेरे कुल और नामको कहनेमें मेरी जिह्वाने उदासीनता ही दरसायी । शब्दोंका फैलाव और अर्थका सङ्कोचन ये दो वचनके विषस्वरूप हैं, क्योंकि परिमित और बहुत अर्थसे सम्पन्न वचन कहना ही उत्तम वक्तृत्व है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अनतिप्रयोजने = अधिकं प्रयोजनम् अतिप्रयोजनम् (गति०)। अविद्यमानम् अतिप्रयोजनं यस्मिन्, तस्मिन् (नञ्बहु०) द्वये = द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयं, तस्मिन्, द्वि+तयप् (अयच्)+ङि । उदासितम् = उद्+आस्+क्त+सु । "नपुंसके भावे क्तः" इस सूत्रसे क्त प्रत्यय। पल्लवनाऽर्थलाघवे = अर्थस्य लाघवम् (ष० त०), पल्लवनं च अर्थलाघवं च (द्वन्द्व०) । वाग्मिता = प्रशस्ता वाक् अस्ति यस्य स वाग्मी, वाच् शब्दसे "वाचो ग्मिनिः" इससे ग्मिनि प्रत्यय । "वाग्मी" में दो गकार चाहिए, एक गकारवाला रूप अशुद्ध है । "वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी" इत्यमरः । वाग्मिनो भावः, वाग्मिन्+तल्+टाप्+सु । इस पद्यमें चतुर्थचरणस्थित सामान्य अर्थसे विशेष अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ८ ॥

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयाऽऽनुपूर्व्या समकेति केति च ।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदे विधातुं खलु युष्मदस्मदी ॥ ९ ॥

अन्वयः-(हे दमयन्ति !) का वर्णपद्धतिः कया आनुपूर्व्या मयि समका इति इयं कथा वृथा । आवयोः समक्षव्यवहारं विधातुं युष्मदस्मदी पदे क्षमे खलु ॥ ९ ॥

व्याख्या—का = कीदृशी, वर्णपद्धतिः = अक्षरपङ्क्तिः, कया = कीदृश्या, आनुपूर्व्या = अनुक्रमेण, मयि, समका = नामत्वेन सङ्केतिता, इति = इयं,

कथा = प्रश्नोक्तिः, वृथा = व्यर्थप्राया। नामाऽपरिज्ञाने कथमावयोः संवादाऽऽदिव्यवहार इत्यत आह--क्षमे इति। आवयोः = तव मम च, समक्षव्यवहारं= प्रत्यक्षसंवादादिव्यवहारं, विधातुं = कर्तुं, युष्मदस्मदी पदे = त्वम् अहम् इत्येतौ शब्दौ, क्षमे = समर्थे, खलु = निश्चयेन ॥ ९ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति! कैसी अक्षरपङ्क्ति किस अनुक्रमसे मेरे नामके तौरपर सङ्केतित है अर्थात् "तुम्हारा क्या नाम है" यह प्रश्न व्यर्थ है। हम दोनोंको प्रत्यक्ष व्यवहार करनेके लिए युष्मद् और अस्मद् (तुम और मैं) ये पद ही समर्थ हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी--वर्णपद्धतिः = वर्णानां पद्धतिः (ष० त०)। आवयोः = त्वं च अहं च आवां, तयोः (एकशेष०), "त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते" इति वार्तिकसे अस्मद् शब्द शेष है। समक्षव्यवहारम्=अक्ष्णोर्योग्यं समक्षम् (यथाके अर्थमें अव्ययीभाव), "प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः" इस वार्तिकसे समासान्त टच्। "यस्येति च" इस सूत्रसे इकारका लोप। समक्षं व्यवहारस्तम् (सुप्सुपा०) ॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं, ततस्तदुद्भावनमौचिती कुतः ?।
अथाऽवदातं तदहो! विडम्बना यथा तथा प्रेष्यतयोपसेदुषः ॥ १० ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) मम कुलं स्वभावात् उज्ज्वलं न यदि, ततः तदुद्भावनं यथा कुतः औचिती ? अथ अवदातं, तत् यथा प्रेष्यतया उपसेदुषः मम तत् विडम्बना। अहो ! ॥ १० ॥

व्याख्या—मम, कुलं = वंशः, स्वभावात् = निसर्गात्, उज्ज्वलं = निर्मलम्, अकलङ्कमिति भावः, न यदि = न चेत्, ततः = तर्हि, तदुद्भावनं तत्प्रकाशनं, कुतः = कस्मात्, औचिती = औचित्यम्, नोचितमित्यर्थः। अथ = अथ वा, अवदातम् = उज्ज्वलं, कुलमिति शेषः। तत् = तदपि, यथा तथा=कथञ्चिदपि, प्रेष्यतया = भृत्यत्वेन, दूतरूपेणेति शेषः। उपसेदुषः = प्राप्तस्य, मम, तत् = कुलोद्भावनं, विडम्बना = परिहासः। अहो = आश्चर्यम् ! ॥ १० ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) मेरा वंश स्वभावसे ही निर्मल नहीं है तो उसको कहनेमें क्या औचित्य है ? अथ वा निर्मल है तो भी किसी तरह भृत्य- (दूत) के तौरपर आनेवाला मेरा कुलको बतलाना उपहास ही है। आश्चर्य है ! ॥ १० ॥

एव । तथा हि—पल्लवनार्थलाघवे गिरः गरी, हि मितं सारं च वचः वाग्मिता ॥ ८ ॥

व्याख्या—अये = हे दमयन्ति !, अनतिप्रयोजने = अधिकप्रयोजनरहिते, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, द्वये अपि = द्वितये अपि, कुलनामरूप इति भावः। मम जिह्वया = रसनया, उदासितम् एव = औदासीन्येन स्थितम् एव । तथा हि—पल्लवनाऽर्थलाघवे = शब्दविस्तरण-वाच्यसङ्कोचने, गिरः = वचनस्य, गरौ = विषरूपे, तर्हि का वाग्मिता ? इति प्रश्ने उत्तरयति—मितं चेति । मितम् = अल्पाऽक्षरं, सारं च = महाऽर्थं च, वचः = वचनं, वाग्मिता = वाचोयुक्तिपटुता ॥ ८ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति ! अधिक प्रयोजनसे रहित मेरे कुल और नामको कहनेमें मेरी जिह्वाने उदासीनता ही दरसायी । शब्दोंका फैलाव और अर्थका सङ्कोचन ये दो वचनके विषस्वरूप हैं, क्योंकि परिमित और बहुत अर्थसे सम्पन्न वचन कहना ही उत्तम वक्तृत्व है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अनतिप्रयोजने = अधिकं प्रयोजनम् अतिप्रयोजनम् (गति०)। अविद्यमानम् अतिप्रयोजनं यस्मिन्, तस्मिन् (नञ्बहु०) द्वये = द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयं, तस्मिन्, द्वि+तयप् (अयच्)+ङि । उदासितम् = उद्+आस्+क्त+सु । "नपुंसके भावे क्तः" इस सूत्रसे क्त प्रत्यय। पल्लवनाऽर्थलाघवे = अर्थस्य लाघवम् (ष० त०), पल्लवनं च अर्थलाघवं च (द्वन्द्व०) । वाग्मिता = प्रशस्ता वाक् अस्ति यस्य स वाग्मी, वाच् शब्दसे "वाचो ग्मिनिः" इससे ग्मिनि प्रत्यय । "वाग्मी" में दो गकार चाहिए, एक गकारवाला रूप अशुद्ध है । "वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी" इत्यमरः । वाग्मिनो भावः, वाग्मिन्+तल्+टाप्+सु । इस पद्यमें चतुर्थचरणस्थित सामान्य अर्थसे विशेष अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ८ ॥

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयाऽऽनुपूर्व्या समकेति केति च ।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदे विधातु खलु युष्मदस्मदी ॥ ९ ॥

अन्वयः- (हे दमयन्ति !) का वर्णपद्धतिः कया आनुपूर्व्या मयि समका इति इयं कथा वृथा । आवयोः समक्षव्यवहारं विधातुं युष्मदस्मदी पदे क्षमे खलु ॥ ९ ॥

व्याख्या—का = कीदृशी, वर्णपद्धतिः = अक्षरपङ्क्तिः, कया = कीदृश्या, आनुपूर्व्या = अनुक्रमेण, मयि, समका = नामत्वेन सङ्केतिता, इति = इयं,

कथा = प्रश्नोक्तिः, वृथा = व्यर्थप्राया। नामाऽपरिज्ञाने कथमावयोः संवादाऽऽदिव्यवहार इत्यत आह--क्षमे इति । आवयोः = तव मम च, समक्षव्यवहारं= प्रत्यक्षसंवादादिव्यवहारं, विधातुं = कर्तुं, युष्मदस्मदी पदे = त्वम् अहम् इत्येतौ शब्दौ, क्षमे = समर्थे, खलु = निश्चयेन ॥ ९ ॥

अनुवादः-- हे दमयन्ति ! कैसी अक्षरपङ्क्ति किस अनुक्रमसे मेरे नामके तौरपर सङ्केतित है अर्थात् "तुम्हारा क्या नाम है" यह प्रश्न व्यर्थ है। हम दोनोंको प्रत्यक्ष व्यवहार करनेके लिए युष्मद् और अस्मद् (तुम और मैं) ये पद ही समर्थ हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी--वर्णपद्धतिः = वर्णानां पद्धतिः (ष० त०) । आवयोः = त्वं च अहं च आवां, तयोः (एकशेष०), "त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते" इति वार्तिकसे अस्मद् शब्द शेष है । समक्षव्यवहारम्=अक्ष्णोर्योग्यं समक्षम् (गथाके अर्थमें अव्ययीभाव), "प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः" इस वार्तिकसे समासान्त टच् । "यस्येति च" इस सूत्रसे इकारका लोप । समक्षं व्यवहारस्तम् (सुप्सुपा०) ॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं, ततस्तदुद्भावनमौचिती कुतः ? ।
अथाऽवदातं तदहो ! विडम्बना यथा तथा प्रेष्यतयोपसेदुषः ॥ १० ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) मम कुलं स्वभावात् उज्ज्वलं न यदि, ततः तदुद्भावनं यथा कुतः औचिती ? अथ अवदातं, तत् यथा प्रेष्यतया उपसेदुषः मम तत् विडम्बना । अहो ! ॥ १० ॥

व्याख्या--मम, कुलं = वंशः, स्वभावात् = निसर्गात्, उज्ज्वलं = निर्मलम्, अकलङ्कमिति भावः, न यदि = न चेत्, ततः = तर्हि, तदुद्भावनं तत्प्रकाशनं, कुतः = कस्मात्, औचिती = औचित्यम्, नोचितमित्यर्थः । अथ = अथ वा, अवदातम् = उज्ज्वलं, कुलमिति शेषः । तत् = तदपि, यथा तथा=कथञ्चिदपि, प्रेष्यतया = भृत्यत्वेन, दूतरूपेणेति शेषः । उपसेदुषः = प्राप्तस्य, मम, तत् = कुलोद्भावनं, विडम्बना = परिहासः । अहो = आश्चर्यम् ! ॥ १० ॥

अनुवादः---(हे दमयन्ति !) मेरा वंश स्वभावसे ही निर्मल नहीं है तो उसको कहनेमें क्या औचित्य है ? अथ वा निर्मल है तो भी किसी तरह भृत्य-(दूत) के तौरपर आनेवाला मेरा कुलको बतलाना उपहास ही है । आश्चर्य है ! ॥ १० ॥

टिप्पणी—तदुद्भावनं = तस्य (कुलस्य) उद्भावनम् (ष० त०)। औचिती = उचित + ष्यञ् + ङीप् + सुः । उपसेदुषः = उप + सद् + क्वसुः + ङस् ॥ १० ॥

इति प्रतीत्यैव मयाऽवधीरिते तवाऽपि निर्बन्धरसो न शोभते ।
हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति श्रमो गिरां ते घटते हि सम्प्रति ॥ ११ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) इति प्रतीत्य एव मया अवधीरिते (सति) तव अपि निर्बन्धरसः न शोभते । हि सम्प्रति हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति ते गिरां श्रमो घटते ॥ ११ ॥

व्याख्या—इति = इत्थं, प्रतीत्य एव = निश्चित्य एव, मया = वक्त्रा, अवधीरिते = तिरस्कृते, उपेक्षिते सतीति भावः, कुलनामप्रश्न इति शेषः। तव अपि = भवत्या अपि, निर्बन्धरसः = आग्रहाऽनुरागः, कुलनामज्ञानविषयक इति शेषः। न शोभते = शोभां न प्राप्नोति । हि = यस्मात् कारणात्, सम्प्रति = अधुना, हरित्पतीनां = दिक्पालानाम्, इन्द्रादीनामिति भावः। प्रतिवाचिकं प्रति = प्रतिसन्देशं प्रति, उत्तरं प्रतीति भावः। ते = भवत्याः, गिरां = वचसां, श्रमः = प्रयत्नः, घटते = युज्यते ॥ ११ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) ऐसा निश्चय करके ही मुझसे उपेक्षित कुल और नामके प्रश्नमें आपके आग्रहका अनुराग नहीं सुहाता है। क्योंकि इस समय इन्द्र आदि दिक्पालोंके सन्देशके उत्तर देनेमें ही आपके वचनोंका प्रयत्न उचित है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—प्रतीत्य = प्रति + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । निर्बन्धरसः = निर्बन्धस्य रसः (ष० त०)। हरित्पतीनां=हरितां पतयः, तेषाम् (ष० त०)। प्रतिवाचिकं = वाचिकं वाचिकं प्रति (वीप्सारूप यथाके अर्थमें अव्ययीभाव)॥ ११ ॥

तथाऽपि निर्बन्धनति ! तेऽथवास्पृहामिहाऽनुरुन्धे मितया न किं गिरा ?
हिमांऽशुवंशस्य करीरमेव मां निशम्य किं नाऽसि फलेग्रहिग्रहा ? ॥ १२ ॥

अन्वयः—तथाऽपि हे निर्बन्धनति ! अथ वा इह ते स्पृहां मितया गिरा किं न अनुरुन्धे ? मां हिमांऽशुवंशस्य करीरम् एव निशम्य फलेग्रहिग्रहा न असि किम् ? ॥ १२ ॥

व्याख्या—तथाऽपि = कुलनामकथनस्य वैयर्थ्येऽपि, हे निर्बन्धनति ! = हे आग्रहशीले !, दमयन्ति !, अथ वा = पक्षान्तरे, इह = अस्मिन् अर्थे, ते =

भवत्याः, स्पृहाम् = इच्छां, मितया = अल्पया, गिरा = वाण्या, किं न अनुरुन्धे = किं न अनुवर्ते ?, अनुरोत्स्याम्येवेत्यर्थः । कुलस्वरूपमात्रं कथयामीति भावः । मां = दिक्पतिदूतं, हिमांऽशुवंशस्य = चन्द्रवंशस्य, करीरम् एव = अङ्कुरम् एव, निशम्य = श्रुत्वा, फलेग्रहिग्रहा = सफलाऽऽग्रहा, न असि किं = नो भवसि किम् ? ॥ १२ ॥

अनुवादः—तो भी हे आग्रह करनेवाली (दमयन्ति)! अथ वा इस विषयमें आपके अभिलापका परिमित वचनसे क्यों अनुवर्तन न करूँ ? मुझे चन्द्रवंशका अङ्कुर सुनकर आपका आग्रह सफल नहीं है क्या ? ॥ १२ ॥

टिप्पणी—निर्बध्नति = निर्बध्नातीति निर्बध्नती, तत्सम्बुद्धौ, निर् + बन्ध + लट् (शतृ) + ङीप् + सु । अनुरुन्धे = अनु + रुध् + लट् + इट् । हिमांऽशुवंशस्य = हिमांऽशोः वंशः, तस्य (ष० त०)। करीरम् = "वंश ऽङ्कुरे करीरोऽस्त्री" इत्यमरः । यहाँपर वंश (बाँस) से उसका अङ्कुर छोटा होता है उसी तरह चन्द्रवंशका मैं एक छोटा (सामान्य) पुरुष हूँ ऐसा भाव प्रकाशित होता है । निशम्य = नि + शम् + क्त्वा (ल्यप्) । फलेग्रहिग्रहा = फलं गृह्णातीति फलेग्रहिः, फल + उपपदपूर्वक ग्रह धातुसे "फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च" इस सूत्रसे उपपदका एदन्तत्व और इन् प्रत्ययका निपातन । फलेग्रहिः ग्रहः यस्याः सा (बहु०) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १३ ॥

महाजनाऽऽचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाऽऽददते न साधवः ।

अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाऽऽचारमुचं विगायति ॥ १३ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) महाजनाऽऽचारपरम्परा ईदृशी, (यत्) साधवः स्वनाम न आददते नाम । अतः तत् पुनः अभिधातुं न उत्सहे; जनः आचारमुचं विगायति किल ॥ १३ ॥

व्याख्या—कुलमुक्तं नाम तु न वाच्यमित्याह–महाजनेति । महाजनाऽऽचारपरम्परा = सज्जनवृत्तसम्प्रदायः, ईदृशी = एतादृशी, तामाह—स्वनामेति । साधवः = सन्तः, स्वनाम = आत्मनामधेयं, न आददते = नो गृह्णन्ति, नाम = प्रसिद्धौ । अतः = अस्मात् कारणात्, स्वनामग्रहणनिषेधादिति भावः । तत् = नाम, पुनः = एव, अभिधातुं = वक्तुं, न उत्सहे = उत्साहं न करोमीति भावः । अत्र हेतुमाह—जन इति । जनः = लोकः, आचरमुचं = सदाचारत्यागिनं जनं, विगायति = निन्दति । किल = निश्चयेन ॥ १३ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) सज्जनोंके आचारकी परम्परा ऐसी है, जो कि सज्जन अपना नाम नहीं लेते हैं । इसलिए मैं भी अपना नाम कहनेके लिए उत्साह नहीं करता हूँ, क्योंकि लोक आचार छोड़नेवालेकी निन्दा करता है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—महाजनाऽऽचारपरम्परा = महान्तश्च ते जनाः (क० धा०), तेषामाचारः (ष० त०), तस्य परम्परा (ष० त०) । स्वनाम = स्वस्य नाम, तत् (ष० त०) । आददते = आङ् + दा + लट् + झः । अपना नाम नहीं लेना चाहिए । इस विषयमें धर्मशास्त्रका वचन है—

"आत्मनाम गुरोर्नाम नामाऽतिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठाऽपत्यकलत्रयोः ॥"

अर्थात् कल्याण चाहनेवाले व्यक्तिको अपना, गुरुजनका, अत्यन्त कञ्जूसका, ज्येष्ठ सन्तानका और अपनी पत्नीका नाम नहीं लेना चाहिए । आचारमुचम् = आचारं मुञ्चतीति आचारमुक्, तम्, आचार + मुच् + क्विप् (उपपद०) + अम् । विगायति = वि + गै + लट् + तिप् । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १३ ॥

अदोऽयमालप्य शिखीव शारदो बभूव तूष्णीमहिताऽपकारकः ।
अथाऽस्य रागस्य दधा पदे पदे वचांसि हंसीव विदर्भजाऽऽददे ॥ १४ ॥

अन्वयः अहिताऽपकारकः अयं शारदः शिखी इव अदः आलप्य तूष्णीं बभूव । अथ अस्य पदे पदे रागस्य दधा विदर्भजा हंसी इव वचांसि आददे ॥ १४ ॥

व्याख्या—अहिताऽपकारकः = अमित्राऽपकर्ता, अयं = नलः, शारदः = शरत्सम्बन्धी, शिखी इव = मयूर इव, अदः = इदं वचनम्, आलप्य = उक्त्वा, तूष्णीं बभूव = तूष्णीकोऽभूत् । अथ = अनन्तरम्, अस्य = नलस्य, पदे = गुम्फनक्रमे, पदे = विषये, रागस्य = श्रवणाऽनुरागस्य, दधा = धरित्री, विदर्भजा = वैदर्भी, दमयन्ती, हंसी इव = वरटा इव, वचांसि = वचनानि, आददे = स्वीचकार, नलवाक्यसमाप्त्यनन्तरं दमयन्ती भाषितुमारेभे इति भावः । पक्षान्तरे—अहितापकारकः = सर्वसन्तापकर्ता, शिखी = मयूरः, वर्षास्वेव गीति, शरदि प्राप्तायां तु तूष्णीको भवति, तदनन्तरं, पदे पदे = चरणद्वयेऽपि, आस्यरागस्य = आस्यस्य (मुखस्य) इव रागः (लौहित्यम्), तस्य दधा = धारिणी

हंसी शब्दायते । यथा शरदि शिखी निःशब्दो भवति, हंसः शब्दायते तथैव नले तूष्णीके सति दमयन्ती वक्तुमारेभ इति भावः ॥ १४ ॥

अनुवादः—शत्रुओंका अपकार करनेवाले नल ऐसा कहकर शरत् ऋतुके मयूरके समान चुप हो गये । तब नलके प्रत्येक पदमें सुननेके अनुरागको धारण करनेवाली दमयन्ती, शरत् ऋतुमें मयूर के निःशब्द होनेपर मुखके समान पैरोंमें भी लौहित्यको धारण करनेवाली हंसीके समान बोलने लगी ॥ १४ ॥

टिप्पणी—अहिताऽपकारकः = अहितानाम् अपकारकः (ष० त०) । शिखिपक्षमें—अहि-तापकारकः = अहीनां तापः (ष० त०); तस्य कारकः (ष० त०) । शारदः = शरदि भवः, शरद् शब्दसे "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" इससे अण् प्रत्यय । शिखी = "शिखावलः शिखी केकी" इत्यमरः । दधा = दधातीति, धा धातुसे "ददातिदधात्योर्विभाषा" इससे अप्रत्यय और स्त्रीत्व-विवक्षामें टाप् । इस पद्यमें श्लेष और उपमाका सङ्कर अलङ्कार है ॥ १४ ॥

सुधांऽशुवंशाऽऽभरणं भवानिति श्रुतेऽपि नाऽपैति विशेषसंशयः ।
कियत्सु मौनं कियत्सु वाङ्महत्यहो ! वञ्चनचातुरी तव ॥ १५ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) भवान् सुधांऽशुवंशाऽऽभरणम् इति श्रुते अपि विशेषसंशयः न अपैति । कियत्सु मौनं, कियत्सु वाक् वितता । तव वञ्चनचातुरी महती, अहो ! ॥ १५ ॥

व्याख्या—भवान्, सुधांऽशुवंशाऽऽभरणं = चन्द्रकुलाऽलङ्कारः, इति = एवं, श्रुते अपि = आकर्णिते अपि, विशेषसंशयः = भेदसन्देहः, न अपैति = न अपगच्छति, सामान्यतः चन्द्रवंशोत्पन्नो भवानिति श्रुतेऽपि भवान् किन्नमा ? इति भेदज्ञाने सन्देहो वर्तत एवेति भावः । भवता स्वनामाऽपि कथनीयमिति तात्पर्यम् । कियत्सु = कतिपयेषु, नामाऽऽदिविषयेष्विति भावः । मौनम्=उत्तरस्य अप्रदानं, कियत्सु = कतिपयेषु, किमर्थमागतोऽसीत्यादिप्रश्नेष्विति भावः । वाक् = वाणी, वितता = विस्तृता, देवसन्देशप्रपञ्चरूपेनि भावः । तव = भवतः, वञ्चनचातुरी = प्रतारणानिपुणता महती = बृहती, अहो = आश्चर्यम् ॥ १५ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) आप चन्द्रवंशके अलङ्कार हैं ऐसा सुननेपर भी विशेष बात जाननेके लिए सन्देह दूर नहीं होता है । कुछ विषयोंमें मौन और कुछ विषयोंमें आपकी वाणी विस्तृत है । वञ्चन करनेकी आपकी चतुराई बड़ी है, आश्चर्य है ! ॥ १५ ॥

टिप्पणी– सुधांऽशुवंशाऽऽभरणं = सुधा अंशुर्यस्य सः (बहु०), सुधांऽशो-वंशः (ष० त०), तस्य आभरणम् (ष० त०)। विशेषसंशयः = विशेषे संशयः (स० त०), अपैति = अप + इण् + लट् + तिप् । मौनं = मुनेर्भावः, मुनि + अण् + सु । वितता = वि + तन् + क्त + टाप + सु । वञ्चनचातुरी = चतुरस्य भावः कर्म वा चातुरी, चतुर + ष्यञ् + ङीप् + सुः । "हलस्तद्धितस्य" इससे 'य' का लोप । एक पक्षमें "चातुर्यम्" ऐसा रूप भी होता है । वञ्चने चातुरी (स० त०)। प्रस्तुत अपने नामके विषयमें आपने मौनका अवलम्बन किया, देवसन्देशके विषयमें बहुत ही प्रपञ्च दिखाया, आपकी वञ्चना करनेमें चातुरी अधिक है, यह भाव है ॥ १५ ॥

मयाऽपि देयं प्रतिवाचिकं न ते स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते ।
परेण पुंसा हि ममाऽपि संकथा कुलाऽबलाऽऽचारसहाऽऽसनाऽसहा ॥ १६ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) स्वनाम मत्कर्णसुधाम् अकुर्वते ते मया अपि प्रतिवाचिकं न देयम् । हि मम अपि परेण पुंसा संकथा कुलाऽबलाऽऽचारसहाऽऽसनाऽसहा ॥ १६ ॥

व्याख्या—स्वनाम = आत्मनामधेयं, मत्कर्णसुधां = मच्छ्रवणामऽमृतम्, अकुर्वते = अविदधते, स्वनाम न कथयते इति भावः । ते = तुभ्यं, मया अपि = कुल-कुमार्या अपि, प्रतिवाचिकं = प्रतिसन्देशनं, सन्देशोत्तरमिति भावः । न देयं = नो दातव्यम् । देवसन्देशोत्तरं न कथनीयमिति तात्पर्यम् । हि = यस्मात्कारणात्, मम अपि = कुलाऽबलाया अपि, परेण = अन्येन, अज्ञातनामधेयेनेति भावः, पुंसा = पुरुषेण, संकथा = संभाषणं, कुलाऽबलाऽऽचारसहाऽऽसनाऽसहा = कुलस्त्रीवृत्तसहवासाऽसमर्था, कुलस्त्रीसमाचारविरुद्धेति भावः ॥ १६ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) अपने नामको मेरे कानोंमें अमृत न बनाने-वाले (न कहनेवाले) आपको मुझे भी सन्देशका उत्तर नहीं देना चाहिए, क्योंकि परपुरुषके साथ संभाषण कुलस्त्रीके आचारके सहवासको नहीं सहनेवाला अर्थात् कुलस्त्री के सदाचार के विरुद्ध है ॥ १६ ॥

टिप्पणी– स्वनाम = स्वस्य नाम, तत् (ष० त०), मत्कर्णसुधां = मम कर्णौ (ष० त०), तयोः सुधा, ताम् (स० त०)। अकुर्वते = करोतीति कुर्वन्, कृ + लट् + (शतृ) + सु । न कुर्वन्, तस्मै (नञ्०)। प्रतिवाचिकं = प्रतिपादनं च तत् वाचिकं (गति०) देयम् = दा + यत् + सु । संकथा = सम्यक् कथा (गति०) । कुलाऽबलाऽऽचारसहाऽऽसनाऽसहा =

कुले अबलाः (स० त०), तासाम् आचारः (ष० त०), तस्य सहाऽऽसनम् (ष० त०), सहत इति सहा=सह् + अच् + टाप् + सुः : न सहा (नञ्०) । कुलाऽबलाऽऽचारसहाऽऽसनस्य असहा (ष० त०) । सज्जनोंको अपना नाम नहीं लेना चाहिए इस कारणसे आप अपना नाम नहीं बतलाते हैं तो, कुलस्त्रीका परपुरुषके साथ संभाषण भी आचारविरुद्ध है, इस कारणसे मुझे भी देवसन्देशोंका उत्तर नहीं देना चाहिए, यह भाव है ॥ १६ ॥

हृदाऽभिनन्द्य प्रतिबन्द्यनुत्तरः प्रियागिरः सस्मितमाह सः स्म ताम् ।
"वदामि वामाक्षि ! परेषु मा क्षिप स्वमीदृशं माक्षिकमाक्षिपद्वचः ॥ १७ ॥

अन्वयः—स प्रियागिरः हृदा अभिनन्द्य प्रतिबन्द्यनुत्तरः तां सस्मितम् आह स्म । " हे वामाक्षि ! वदामि । माक्षिकम् आक्षिपत् ईदृशं स्वं वचः परेषु मा क्षिप" ॥ १७ ॥

व्याख्या—सः=नलः, प्रियागिरः = दयितावचनानि, हृदा = हृदयेन, अभिनन्द्य = अनुमोद्य, प्रतिबन्द्यनुत्तरः = प्रतिबन्द्या (समानविरोध्युत्तरेण) अनुत्तरः (निरुत्तरः), सन् शिष्टेन त्वया स्वनाम नोच्चार्यं यदि तर्हि कुलकन्यया मयाऽपि परपुरुषेण न सम्भाषणीयम् इति समानविरोध्युत्तरेण निरुत्तर इति भावः । तां= दमयन्तीं, सस्मितं = मन्दहास्यपूर्वकम्, आह स्म = उक्तवान् । "हे वामाक्षि= हे सुन्दरनयने !, वदामि = कथयामि, माक्षिकं = मधु, आक्षिपत् = निराकुर्वत्, मधुसदृशमित्यर्थः । ईदृशम् = एतादृशं, लोकोत्तरमिति भावः । स्वं = स्वकीयं, वचः = वचनं, परेषु = परपुरुषेषु, मा क्षिप = न निक्षिप, कुलस्त्रीणां परपुरुषसम्भाषणमनुचितमिति सत्यं, परं नाऽहं परपुरुष इति भावः ॥ १७ ॥

अनुवादः—नलने प्रिया (दमयन्ती) के वचनों का हृदयसे अनुमोदन कर उनके समान विरोधी उत्तरसे निरुत्तर होकर उनसे मन्दहास्यपूर्वक कहा हे सुन्दरि ! मधुका तिरस्कार करनेवाले ऐसे अपने वचनको परपुरुषोंमें मत रखो ॥ १७ ॥

टिप्पणी—प्रियागिरः = प्रियाया गिरः, ताः (ष० त०) । प्रतिबन्द्यनुत्तरः = अविद्यमानम् उत्तरं यस्य सः (नञ् बहु:) । प्रतिबन्द्या अनुत्तरः (तृ० त०) । समान विरोधी उत्तरको "प्रतिबन्दि" कहते हैं । नलके "शिष्टजन अपना नाम नहीं लेते हैं" इसका दमयन्तीके "कुलस्त्रीका परपुरुषसे सम्भाषण भी सदाचारविरुद्ध है" ऐसे समान विरोधी उत्तरसे नल निरुत्तर हुए, यह भाव है । सस्मितं = स्मितेन सहितं (तुल्ययोगबहु०), तद्यथा तथा (क्रि०

वि०)। वामाक्षि = वामे अक्षिणी यस्याः सा वामाक्षी (बहु०), तत्सम्बुद्धौ। माक्षिकं = माक्षिकाभिः कृतम्, मक्षिका शब्दसे "सञ्ज्ञायाम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय। "मधु क्षौद्रं माक्षिकाऽऽदि" इत्यमरः। आक्षिपत्=आक्षिपतीति, आङ्+क्षिप+लट् (शतृ)+अम्। क्षिप=क्षिप+लोट्+सिप्। कुलस्त्रियों का पर-पुरुषसे सम्भाषण अनुचित है यह सत्य है, परन्तु मैं परपुरुष नहीं हूं यह भाव है ॥ १७ ॥

करोषि नेमं फलिनं मम श्रमं दिशोऽनुगृह्णासि न कंचन प्रभुम्।
त्वमित्यमर्हासि सुरानुपासितं रसाऽमृतस्नानपवित्रया गिरा ॥ १८ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) मम इमं श्रमं फलिनं न करोषि ? कंचन दिशः प्रभुं न अनुगृह्णासि। त्वम् इत्थं रसाऽमृतस्नानपवित्रया गिरा सुरान् उपासितुम् अर्हसि ॥ १८ ॥

व्याख्या—मम = देवदूतस्य, इमम् = एतं, श्रमं = देवकार्यप्रयासं, दौत्यरूपमिति भावः। फलिनं = फलवन्तं, न करोषि ?= नो विदधासि ? कंचन= कमपि, एकमपीति भावः। दिशः = आशायाः, प्रभुं = स्वामिनं, दिक्पालमिति भावः। न अनुगृह्णासि = अनुगृहीतं न करोषि ? त्वम्, इत्थम् = एवं, रसाऽमृतस्नानपवित्रया = माधुर्यपीयूषमज्जनपूतया, गिरा = वाचा, सुरान् = इन्द्रादीन्देवान्, उपासितुं=सेवितुम्, अर्हसि = योग्या भवसि, देवपूजायां स्नातस्यैव अधिकारादिति भावः ॥ १८ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) मेरे इस परिश्रम (देवताओंके दौत्य) को सफल नहीं करोगी ? इन्द्र आदि किसी दिक्पालको अनुगृहीत नहीं करोगी ? तुम इस तरह माधुर्यरूप अमृतमें स्नान करनेसे पवित्र वाणी से इन्द्र आदि देवताओं की उपासना करनेके लिए योग्य हो ॥ १८ ॥

टिप्पणी—फलिनं = फलमस्याऽस्तीति फलिनः, तम्। फल शब्दसे "फलबर्हाभ्यामिनच्" इस वार्तिकसे इनच् प्रत्यय। रसाऽमृतस्नानपवित्रया = रस एव अमृतम् (रूपक०), तस्मिन् स्नानम् (स० त०), तेन पवित्रा (तृ० त०), तया। उपासितुम् = उप+आस्+तुमुन्। अर्हसि=अर्ह+लट्+सिप्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १८ ॥

सुरेषु सन्देशयसीदृशीं बहुं रसस्रवेण स्तिमितां न भारतीम्।
मर्वपता दर्पकतापितेषु या प्रयातु दावाऽवितदावदृष्टिताम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) ईदृशीं बहुं रसस्रवेण स्तिमितां भारतीं सुरेषु न सन्देशयसि। या दर्पकतापितेषु मदर्पिता (सती), दावार्दितदाववृष्टितां प्रयातु ॥ १९ ॥

व्याख्या—ईदृशीम् = एतादृशीं, लोकोत्तरामिति भावः। बहुं = प्रभूतां, रसस्रवेण = रसप्रवाहेण, स्तिमिताम् = आर्द्रां, भारतीं = वाणीं, सुरेषु = इन्द्रादिदेवेषु, न सन्देशयसि = सन्देशं न करोषि। या = भारती, दर्पकतापितेषु = कन्दर्पसन्तापितेषु, सुरेष्विति शेषः। मदर्पिता = मत्कथिता सती, दावार्दितदाववृष्टितां=दावाऽग्निपीडितवनवृष्टिभावं, प्रयातु = प्राप्नोतु ॥ १९ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) प्रचुर रसोंके प्रवाहसे ऐसी (लोकोत्तर) आर्द्र वाणीसे तुम इन्द्र आदि देवताओंको सन्देश नहीं देती हो, जो वाणी कामदेवसे सन्तप्त किये गये देवताओंमें मेरे द्वारा कही जानेपर वनकी आगसे पीडित वनमें वृष्टिके भावको प्राप्त करे ॥ १९ ॥

टिप्पणी—रसस्रवेण = रसस्य स्रवः, तेन (ष० त०)। स्तिमितां = "आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमित समुन्नमुत्तं च।" इत्यमरः। सन्देशयसि = सन्देशं करोषि, सन्देश शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लट्में सिप्। दर्पकतापितेषु = दर्पकेण तापिताः, तेषु (तृ० त०)। "कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः" इत्यमरः। मदर्पिता = मया अर्पिता (तृ० त०)। दावार्दितदाववृष्टितां = दावेन (वनाऽनलेन) अर्दितः (तृ० त०)। "दवदावौ वनाऽरण्यवह्नी" इत्यमरः। दावार्दितश्चाऽसौ दावः (वनम्), क० धा०। तस्मिन् वृष्टिता, ताम् (स० त०)। प्रयातु = प्र+या+लोट्+तिप्। इस पद्यमें देवताओंको आपकी सन्देशमयी वाणी दावाऽग्निसे पीडित वनमें वृष्टिके भावको प्राप्त करे, इस तरह सादृश्यमें पर्यवसान होनेसे निदर्शना अलङ्कार है ॥ १९ ॥

यथा यथेह त्वदपेक्षयाऽनया निमेषमप्येष जनो विलम्बते।
रुषा शरव्यीकरणे दिवौकसां तथा तथाऽद्य त्वरते रतेः पतिः ॥ २० ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) एष जनः यथा यथा इह त्वदपेक्षया निमेषम् अपि विलम्बते, रतेः पतिः रुषा दिवौकसां शरव्यीकरणे तथा तथा अद्य त्वरते ॥ २०॥

व्याख्या—एषः = अतिसमीपवर्ती, जनः = स्वयम्, अहमिति भावः। यथा यथा = यावत् यावत्, इह = अस्मिन्, त्वत्समीप इति भावः, त्वदपेक्षया = त्वदनुरोधेन, "त्वदुपेक्षया" इति पाठान्तरे त्वत्कृताऽवज्ञया

इत्यर्थः । निमेषम् अपि = निमेषपरिमितं समयम् अपि, विलम्बते = विलम्बं करोति, रतेः पतिः = कामदेवः, रुषा = कोपेन, दिवौकसां = देवानां, शरव्यीकरणे = लक्ष्यीकरणे, तथा तथा = तावत् तावत्, अद्य = अस्मिन्काले, त्वरते = त्वरां करोति, शीघ्रमेव प्रत्युत्तरं देहीति भावः ॥ २० ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) यह मैं जितना जितना यहाँपर तुम्हारे अनुरोधसे पलक मारनेके समयतक भी विलम्ब करता हूँ, कामदेव क्रोधसे देवताओंको अपने बाणोंका निशाना बनानेके लिए उतना उतना इस समय शीघ्रता कर रहा है ॥ २० ॥

टिप्पणी - त्वदपेक्षया = तव अपेक्षा (ष० त०) तया । निमेषम् = कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया । विलम्बते = वि + लबि + लट् + त । शरव्यीकरणे = अशरव्याणि शरव्याणि यथा सम्पद्यन्ते तथा करणं तस्मिन्, शरव्य + च्वि + कृ + ल्युट् + ङि । त्वरते = त्वरा + लट् + त । देवताओंको शीघ्र उत्तर दो यह भाव है ॥ २० ॥

इयच्चिरस्याऽवदधन्ति मत्पथे किमिन्द्रनेत्राण्यशनिर्न निर्ममौ ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न ॥" २१ ॥

अन्वयः--(हे दमयन्ति !) मत्पथे इयच्चिरस्य अवदधन्ति इन्द्रनेत्राणि अशनिः न निर्ममौ किम् ? सत्वरकार्यमन्थरं मां धिक् अस्तु, यत्र परप्रेष्यगुणः अपि न स्थितः ॥ २१ ॥

व्याख्या—मत्पथे = मदागमनमार्गे, इयच्चिरस्य = इयच्चिरम्, अवदधन्ति = अवहितानि सन्ति, इन्द्रनेत्राणि = शक्रनयनानि (कर्माणि), अशनिः = वज्रः, न निर्ममौ किं = नो निर्मितवान् किम् ? वज्रमयानि तानि, नो चेत् तेषां विलम्बसहनदार्ढ्यं कथं स्यादिति भावः । सत्वरकार्यमन्थरं = शीघ्रकर्तव्यमन्दं, मां = देवदूतं, धिक् अस्तु मयेयं निन्दा प्राप्तेति भावः । यतः —यत्र = यस्मिन् मयि, परप्रेष्यगुणः अपि = अन्यकर्मकरणः, क्षिप्रकारित्वरूप इति शेषः । अपि, न स्थितः = नो विद्यमानः, त्वदीयप्रत्युत्तरविलम्बनान्ममयमदक्षता प्राप्तेत्यहो । कष्टं परप्रेष्यत्वमिति भावः ॥ २१ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) मेरे आगमनके मार्गमें इतने अधिक कालतक प्रतीक्षा करनेवाले इन्द्रके नेत्रोंको वज्रने नहीं बनाया क्या ? शीघ्र कार्यमें मन्द होनेवाले मुझे धिक्कार हो, जिसमें दूसरेका दूत होनेका गुण भी मौजूद नहीं है ॥ २१ ॥

टिप्पणी—मत्पथे = मम पन्था मत्पथः, तस्मिन् (ष० त०), समासाऽन्त अप्रत्यय। इयच्चिरस्य = कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीयाके अर्थमें अव्यय। "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः।" इत्यमरः। अवदधन्ति = अव + धा + लट् (शतृ) + शस्। "वा नपुंसकस्य" इस सूत्रसे शतृका नुम् आगम। इन्द्रनेत्राणि = इन्द्रस्य नेत्राणि, तानि (ष० त०)। सत्वरकार्यमन्थरं= त्वरया सहितं सत्वरं (तुल्ययोग बहु०), तच्च तत्कार्यम् (क० धा०), तस्मिन् मन्थरः, तम् (स० त०)। माम् = "धिक्" पदके योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। परप्रेष्यगुणः=परेषां प्रेष्यः (ष० त०) तस्य गुणः (ष० त०)। देवताओंके प्रत्युत्तरदानमें आपके विलम्ब करनेसे मेरी अदक्षता हो गई है, यह भाव है ॥ २१ ॥

इदं निगद्य क्षितिभर्तरि स्थिते तयाऽभ्यधायि स्वगतं विदग्धया।
अधिस्त्रि तं दूतयतां भुवः स्मरं मनो दधत्या नयनैपुणव्यये ॥ २२ ॥

अन्वयः—क्षितिभर्तरि इदं निगद्य स्थिते अधिस्त्रि भुवः स्मरं तं दूतयतां नयनैपुणव्यये मनो दधत्या विदग्धया तया स्वगतम् अभ्यधायि ॥ २२ ॥

व्याख्या—क्षितिभर्तरि = भूपाले नले, इदं=पूर्वोक्तं वचनं, निगद्य=उक्त्वा, स्थिते = तूष्णींभूते सति, अधिस्त्रि = स्त्रियां विषये, भुवः = भूमेः, स्मरं = कामदेवं, तत्सदृशमिति भावः। तं = पुरुषं, दूतयतां = दूतं कुर्वताम् इन्द्रादीनां देवानां, नयनैपुणव्यये=नीतिचातुर्यशून्यत्वे, मनः = चित्तं, दधत्या = निदधत्या, "एते देवा नीतिशून्या" इति जानन्त्या इति भावः। अत एव विदग्धया = निपुणया, तया = दमयन्त्या, स्वगतम् = अप्रकाशम्, अभ्यधायि = अभिहितम्। अहो ! बुद्धिमान्द्यमेषां देवानां यत्स्त्रियां कामसदृशमेतं पुरुषं नियुक्तवन्त इति भावः ॥ २२ ॥

अनुवादः—ऐसा कहकर राजा नलके मौन लेनेपर स्त्रीमें भूलोकके कामदेवके सदृश उस पुरुषको दूत बनानेवाले इन्द्र आदि देवताओंका "ये नीतिकी चतुरतामें शून्य हैं" ऐसा विचार करनेवाली निपुण दमयन्तीने मन ही मन कहा ॥ २५ ॥

टिप्पणी—क्षितिभर्तरि = क्षितेः भर्ता, तस्मिन् (ष० त०)। निगद्य = नि + गद् + क्त्वा (ल्यप्)। अधिस्त्रि=स्त्रियाम् इति (विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव), "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" इससे ह्रस्व। नयनैपुणव्यये = निपुणस्य भावो नैपुणम्, निपुण शब्दसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण्। नयस्य नैपुणं (ष० त०)। तस्य व्ययः, तस्मिन् (ष० त०)। स्वगतं=

स्वं गतं (द्वि० त०), तद् यथा तथा (क्रि० वि०)। स्वगतका लक्षण है–"अश्राव्यं स्वगतं मतम्" (दशरूपकम्), अश्राव्य वचनको "स्वगत" कहते हैं। "इन इन्द्र आदि लोकपालोंकी बुद्धि नीतिशून्य है, जो कि कामदेवके समान सुन्दर पुरुषको स्त्रीके पास दूत बनाकर भेजा" दमयन्तीने ऐसा सोचा ॥ २२॥

जलाऽधिपस्त्वामदिशन्मयि ध्रुवं, परेतराजः प्रजिघाय स स्फुटम्।
मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं, नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा ॥ २३ ॥

अन्वयः—जलाऽधिपः मयि त्वाम् अदिशत् ध्रुवम्। स परेतराजः त्वां प्रजिघाय स्फुटम्। मरुत्वता एव प्रहितः असि निश्चितम्, ऊर्ध्वमुखेन तेजसा नियोजितः असि। २३ ॥

व्याख्या- स्वगतवाक्यमेवाह– जलाऽधिप इति। (हे महाशय !) जलाऽधिपः = वरुणः, मयि = विषये, मां प्रतीति भावः। त्वां = भवन्तम्, अदिशत् = अनिसृष्टवान्. ध्रुवं = निश्चयेन, पक्षान्तरे–-रूपयौवनयुक्तायां मयि मदनमनोहरं त्वां यः अतिमृष्टवान् सः—जलाऽधिपः = जडाऽधिपः = मूर्ख-राजः। सः = प्रसिद्धः, परेतराजः = यमः, त्वां = भवन्तं, प्रजिघाय = प्रहित-वान्, स्फुटम् = असन्दिग्धम्। पक्षान्तरे—तादृश्यां मयि तादृशं त्वां यः प्रहितवान् सः परेतराजः = प्रेतमुख्यः। विवेकशून्यत्वादचेतन इति भावः। मरुत्वता एव = इन्द्रेण एव, प्रहितः = प्रेषितः, असि = विद्यसे, निश्चितं = ध्रुवम्। पक्षान्तरे—तादृश्यां मयि तादृशं त्वां प्रेषयन् मरुत्वान् = वातुल एव। ऊर्ध्वमुखेन तेजसा=अग्निना, नियोजितः = प्रेषितः, असि, उभयत्र त्वमिति शेषः। पक्षान्तरे –तादृश्यां मयि तादृशं त्वां प्रेषयन् ऊर्ध्वमुखः = स्थूलदृक् एव न तु विचारदृक् इति भावः ॥ २३ ॥

अनुवाद:—(हे महाशय !) जलाऽधिप (जलके स्वामी वरुण वा जड= मूर्खोंके स्वामी) ने मेरे पास तुम्हें भेजा है। प्रसिद्ध परेतराज (यमराज वा प्रेतस्वामी) ने तुम्हें भेजा है, मरुत्वान् (इन्द्र वा वातुल = बकवादी) ने मेरे पास भेजा है। ऊर्ध्वमुख तेज (अग्नि वा स्थूलदृष्टिवाले) ने तुम्हें भेजा है ॥ २३ ॥

टिप्पणी—जलाऽधिपः=जलस्य अधिपः (ष० त०-)। एक पक्षमें 'ल' और 'ड' के अभेदमें जडाऽधिप। परेतराजः = परस्मिन् (लोके) इता इति परेताः (स० त०)। परेतानां राजा (ष० त०)। मरुत्वता = मरुतः सन्ति यस्य स मरुत्वान्, तेन (मरुत् + मतुप् + टा), "झयः" इस सूत्रसे 'म' के

स्थानमें 'व' आदेश। "तसौ मत्वर्थे" इससे भसंज्ञा होनेसे जस्त्वका अभाव। "मरुतौ पवनाऽमरौ" इति "इन्द्रो मरुत्वान् मघवा" इत्यप्यमरः। ऊर्ध्वमुखेन= ऊर्ध्वं मुखं यस्य सः, तेन (बहु०)। नियोजितः = नि + युज् + णिच् + क्त + सु। इस पद्यका व्यङ्ग्यार्थ—इस प्रकारसे मुझ-सी रूप यौवनसे सम्पन्न नारीके पास कामदेवके समान तुम्हें दूत बनाकर भेजनेवाले वरुण जलाऽधिप 'ल' और 'ड' के अभेदसे जडाऽधिप अतिमूर्ख हैं, वैसे ही—···भेजनेवाले परेत-राज = प्रेतोंमें मुख्य अर्थात् अचेतन हैं। वैसे—···भेजनेवाले मरुत्वान् = वायुसमूह हैं। वैसे ही ··भेजनेवाले ऊर्ध्वमुख = स्थूल दृष्टिवाले हैं, विचार-सम्पन्न नहीं हैं। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा और श्लेषका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है॥ २३॥

अथ प्रकाशं निभृतस्मिता सती सतीकुलस्याऽऽभरणं किमप्यसौ।
पुनस्तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखं विदर्भाऽधिपसम्भवा दधौ॥ २४॥

अन्वयः—अथ सतीकुलस्य किमपि आभरणम् असौ विदर्भाधिपसम्भवा निभृतस्मिता सती प्रकाशं पुनः तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखम् आदधे॥ २४॥

व्याख्या—अथ = स्वगताऽभिधानाऽनन्तर, सतीकुलस्य = पतिव्रतासमूहस्य, किमपि = अनिर्वाच्यम्, आभरणं = भूषणभूता, असौ = सा, विदर्भाऽधिप-सम्भवा = वैदर्भी, दमयन्ती। निभृतस्मिता = गुप्तमन्दहासा, सती = विद्यमाना, प्रकाशं=सुश्राव्यं यथा तथा, पुनः=भूयः, तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं=नलाऽऽलाप-विलाससम्मुखं, मुखं=वदनम्, आदधे=आहितवती, आबभाषे इति भावः॥ २४॥

अनुवादः—स्वगत भाषणके अनन्तर पतिव्रताओंमें अवर्णनीय अलङ्कार-स्वरूप दमयन्तीने गुप्त रूपसे मन्दहास्य कर प्रकाशरूपसे मुखको नलके साथ सम्भाषणस्वरूप विलासमें सम्मुख किया (संभाषण किया)॥ २४॥

टिप्पणी—सतीकुलस्य = सतीनां कुलं, तस्य (ष० त०)। विदर्भाऽधिप-सम्भवा = विदर्भाणाम् अधिपः (ष० त०), तस्मात् सम्भवः (उत्पत्तिः) यस्याः = सा (व्यधिकरण बहु०); निभृतस्मिता = निभृतं स्मितं यस्याः सा (बहु०)। तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं = तेन आभाषणम् (तृ० त०), तदेव विभ्रमः (रूपक०)। तस्मिन् उन्मुखं, तत् (स० त०)। आदधे = आङ् + धा + लिट् + त (एश)। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है॥ २४॥

वृथापरीहास इति प्रगल्भता न नेति च त्वादृगि वारिवगर्हणा।
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरादतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते॥ २५॥

अन्वय:— (हे महोदय !) भवति त्वादृशि वृथापरीहास इति वाक् प्रगल्भता, न न इति च वाक् विगर्हणा, अनुत्तरात् अवज्ञा भवति; अतः ते प्रतिवाचं प्रदित्सुः अस्मि ॥ २५ ॥

व्याख्या— भवति = पूज्ये, त्वादृशि = त्वत्सदृशे पुरुषे, वृथापरीहासः = व्यर्थोपहासः, इति = एतादृशी, वाक् = वाणी, प्रगल्भता = धृष्टता, न न इति च वाक् = अत्यन्तनिषेधोक्तिश्च, विगर्हणा = विशेषनिन्दा, अनुत्तरात् = उत्तराऽप्रदानात्, अवज्ञा = अनादरः, भवति = विद्यते, अतः = एभ्यो हेतुभ्यः, ते = तुभ्यं, प्रतिवाचं = प्रत्युत्तरं, प्रदित्सुः = प्रदातुमिच्छुः, अस्मि = भवामि। वस्तुतस्तु भवद्वाक्यस्य प्रत्युत्तराऽनर्हत्वेऽपि दाक्षिण्याद्ददामीति भावः ॥ २५ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) पूजनीय आप जैसे पुरुषमें व्यर्थ उपहास है ऐसा कहना ढिठाई है, नहीं नहीं, ऐसा कहना विशेष निन्दा है और उत्तर न देनेसे अनादर होता है इसलिए आपको उत्तर देना चाहती हूँ ॥ २५ ॥

टिप्पणी—परीहासः = परिहसनम्, परि + हस + घञ् + सु। "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इससे 'परि' उपसर्गके इकारका दीर्घ। प्रगल्भता = प्रगल्भस्य भावः, प्रगल्भ + तल् + टाप् + सु। अनुत्तरात् = न उत्तरं, तस्मात् (नञ्०)। प्रदित्सुः = प्रदातुम् इच्छुः, प्र + दा + सन् + उः + सु। यद्यपि आपका वचन उत्तर देनेके लिए योग्य नहीं है तो भी मैं दाक्षिण्यसे उत्तर देना चाहती हूँ, यह भाव है। ॥ २५ ॥

कथं नु तेषां कृपयाऽपि वागसावसावि मानुष्यकलाञ्छने जने।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा ॥ २६ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) तेषां कृपया अपि मानुष्यकलाञ्छने जने असौ वाक् असावि। वा ईश्वराः स्वभावभक्तिप्रवणं प्रति कया वाचा मुदं न उद्गिरन्ति ? ॥ २६ ॥

व्याख्या—तेषाम् = इन्द्रादीनां दिक्पालानां, कृपया अपि = दयया अपि, मानुष्यकलाञ्छने = नरत्वचिह्ने, जने = मयि, असौ = इय, वाक् = वाणी, मां वृणीस्वेत्याकारिकेति भाव। असावि = उत्पन्ना। वा = अथ वा, ईश्वराः = स्वामिनः, स्वभावभक्तिप्रवणं प्रति = निसर्गभक्तितत्परं प्रति, कया, वाचा = वाण्या, मुदं = हर्षं, न उद्गिरन्ति = न प्रकाशयन्ति, प्रभवो भक्तवात्सल्यान्नीचमपि भक्तजनमत्युच्चतयाऽपि वाचा सम्मानयन्तीति भावः ॥ २६ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) इन्द्र आदि दिक्पालोंकी कृपासे भी मनुष्यत्व-चिह्नसे युक्त मेरे समान जनमें "तुम हमें वरण करो" ऐसी वाणी उत्पन्न होती है। अथ वा प्रभुलोग स्वाभाविक भक्तिसे युक्त जनके प्रति किस वचनसे अपने हर्षको प्रकट नहीं करते हैं ? ॥ २६ ॥

टिप्पणी—मानुष्यकलाञ्छने = मनुष्यस्य भावो मानुष्यकम्, मनुष्य शब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय । मानुष्यकं लाञ्छनं यस्य सः, तस्मिन् (बहु०) । असावि = सू + लुङ् + त (कर्ममें)। स्वभावभक्ति-प्रवणं = स्वभावेन भक्तिः (तृ० त०), तया प्रवणः, तम् (तृ० त०)। उद्गिरन्ति = उद् + गॄ + लट् + झिः । प्रभुलोग स्वाभाविक भक्तिवाले अपने भक्तजनको कृपालु होकर सम्मानित करते हैं, वस्तुतः मानवी मैं देवताओं के लिए योग्य नहीं हूँ, यह भाव है ॥ २६ ॥

अहो ! महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराऽङ्गनासंगमशोभिताभृतः ?।
ह्रदस्य हंसाऽऽवलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना ॥ ७ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) सुराऽङ्गनासंगमशोभिताभृतो महेन्द्रस्य हंसाऽऽवलिमांसलश्रियो ह्रदस्य बलाकया इव मया प्रबला विडम्बना, कथम् औचिती अहो ! ॥ २७ ॥

व्याख्या—सुराऽङ्गनासंगमशोभिताभृतः = देवाऽङ्गनासमागमशोभासम्पन्नस्य महेन्द्रस्य = मघोनः, हंसाऽऽवलिमांसलश्रियः = राजहंसपङ्क्तिसान्द्रतरशोभस्य, ह्रदस्य = महासरसः, बलाकया इव = बिसकण्ठिकया इव, प्रबला = महती, विडम्बना = परिहासः, कथ = केन प्रकारेण, औचिती = औचित्यम्, न कथमपीति भावः । अहो = आश्चर्यम् ! उर्वश्याद्यप्सरोगणे सति मयि इन्द्रस्याऽनुराग-प्रकाशने कथमौचित्यं स्यादिति भावः ॥ २७ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) उर्वशी आदि देवाऽङ्गनाओंके समागमसे शोभित होनेवाले देवेन्द्रकी हंसपङ्क्तियोंसे गाढ शोभावाले तालाबकी बगलीके समान मुझसे बड़ी विडम्बना होगी । कैसे औचित्य होगा ? आश्चर्य है ॥ २७ ॥

टिप्पणी—सुराऽङ्गनासंगमशोभिताभृतः = सुराणाम् अङ्गनाः (ष० त०), तासां संगमः (ष० त०), तेन शोभते तच्छीलः, सुराऽङ्गनासङ्गमशोभी, सुराङ्गनासंगम + शुभ् + णिनिः (उपपद०), तस्य भावः तत्ता, सुराऽङ्गना-संगमशोभिन् + तल् + टाप् । तां बिभर्तीति सुराऽङ्गनासंगमशोभिताभृत् सुराऽङ्ग-नासंगमशोभिता + भृ + क्विप् (उपपद०), तस्य । महेन्द्रस्य = महाश्वाऽसौ

इन्द्रः, तस्य (क० धा०)। हंसाऽऽवलिमांसलश्रियः = हंसानाम् आवलिः (ष० त०)। मांसम् अस्या अस्तीति मांसला, मांस शब्दसे "सिध्मादिभ्यश्च" इस सूत्र से लच् + टाप्। "बलवान्मांसलोंऽसलः" इत्यमरः। हंसाऽऽवल्या मांसला (तृ० त०), सा श्रीर्यस्य स हंसावलिमांसलश्रीः, तस्य (बहु०)। बलाकया = "बलाका बिसकण्ठिका" इत्यमरः। उर्वशी आदि देवाङ्गनाओंके रहते हुए भी मानुषी मेरे ऊपर इन्द्रके अनुरागप्रकाशमें कैसे औचित्य होगा? यह भाव है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है॥ २७॥

पुरः सुरीणां भण केव मानवी? न यत्र तास्तत्र तु साऽपि शोभिका।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाऽङ्गके किमारकूटाऽऽभरणेन न श्रियः॥ २८॥

अन्वयः—(हे महोदय!) सुरीणां पुरः मानवी का इव? भण। तु यत्र ता न, तत्र सा अपि शोभिका। अकाञ्चने अकिञ्चननायिकाऽङ्गके आरकूटाऽऽभरणेन श्रियो न किम्॥ २८॥

व्याख्या—सुरीणां = सुरस्त्रीणां, पुरः = अग्रे, मानवी = मानुषी, का इव = न काऽपि, तुच्छा इति भावः, भण = वद। तु = किन्तु, यत्र = यस्मिन् लोके, ताः = सुरस्त्रियः, न = न सन्ति, तत्र = तस्मिन् लोके, सा अपि = मानवी अपि, शोभिका = शोभमाना। अकाञ्चने = काञ्चनाऽऽभरणरहिते, अकिञ्चननायिकाऽङ्गके = दरिद्रस्त्रीशरीराऽवयवे, आरकूटाऽऽभरणेन = रीतिभूषणेन, श्रियो न किं = शोभा न किम्? सुराऽङ्गनाविहरणपरायणस्य पुरन्दरस्य मादृशमानवीकामुकत्वं सुवर्णाऽऽभरणायाः रीतिभूषणाऽभिलषणमिव परिहासाऽतिशयास्पदमिति भावः॥ २८॥

अनुवादः—(हे महोदय!) देवाङ्गनाओंके आगे मानवी क्या है? कहो। किन्तु जहाँपर देवाऽङ्गनाएँ नहीं हैं, वहाँपर मानवी भी शोभित होती है। सुवर्णके अलंकारसे रहित निर्धनकी स्त्रीके अङ्गमें पीतलके भूषणसे शोभा नहीं होती है क्या?॥ २८॥

टिप्पणी—सुरीणां = सुरजातीयाः सुर्यः, तासाम्, सुर शब्दसे "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" इस सूत्रसे ङीप्। मानवी = मनोरपत्यं स्त्री, मनु + अण् + ङीप + सु। शोभिका = शोभत इति शुभ + ण्वुल् (अक) + टाप् + सु, "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याऽत इदाप्यसुपः" इससे अकारका इत्व। अकाञ्चने = अविद्यमानं काञ्चनं यस्मिंस्तत्, तस्मिन् (नञ्बहु०)। अकिञ्चननायिकाऽङ्गके = नाऽस्ति किञ्चन यस्य सः अकिञ्चनः, "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे निपातन।

अकिञ्चनस्य नायिका (ष० त०), तस्या अङ्गकं, तस्मिन् (ष० त०)। आरकूटाऽऽभरणेन = आरकूटस्य आभरणं, तेन (ष० त०), "रीतिः स्त्रियामारकूटम्" इत्यमरः। देवाङ्गनाओंसे विहार करनेवाले इन्द्रका मनुष्य स्त्रीमें अभिलाष सुवर्णके अलङ्कारको पहननेवाली स्त्रीके पीतलके भूषण पहननेके अभिलाषके समान उपहासका विषय है यह भाव है। इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥२८॥

यथा तथा नाम गिरः किरन्तु ते, श्रुती पुनर्मे बधिरे तदक्षरे :
पृषत्किशोरी कुरुतामसङ्गतां कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाऽधिपे ॥ २९ ॥

अन्वयः--(हे महोदय !) यथा तथा ते गिरः किरन्तु नाम, पुनः मे श्रुती तदक्षरे बधिरे। तथा हि--पृषत्किशोरी द्विपाऽधिपे असङ्गतां मनोवृत्तिम् अपि कथं कुरुताम् ? ॥ २९ ॥

व्याख्या— यथा तथा = येन तेन प्रकारेण, ते = इन्द्रादयो देवाः, गिरः = वचनानि, किरन्तु नाम = विक्षिपन्तु नाम, पुनः = तथाऽपि, मे = मम, श्रुती = कर्णौ, तदक्षरे = तासां गिरामेकवर्णश्रवणेऽपीति भावः, बधिरे = एडे, मत्कर्णौ देवानामेकमक्षरमपि न शृणुतः, वाक्यश्रवणस्य का कथेति भावः। तथाहि-- पृषत्किशोरी = कुरङ्गयुवतिः। द्विपाऽधिपे = गजेन्द्रे, असङ्गताम् = अयुक्तां, मनोवृत्तिम् अपि = चित्तवृत्तिम् अपि, कथं = केन प्रकारेण, कुरुतां = कुर्यात्, बाह्येन्द्रियवृत्तेः का कथेति भावः। मृग्या गजेन्द्रे मनोवृत्तिर्यथा तथैव ममाऽपि इन्द्रादिषु नितान्तमेवाऽयुक्तेति भावः ॥ २९ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) जिस किसी भी प्रकारसे इन्द्र आदि दिक्पाल वाक्य कहें, तथाऽपि मेरे कान उसके अक्षरके श्रवणमें भी बहरे हैं। जैसे--मृगी गजेन्द्रमें अयुक्त मनोवृत्ति भी कैसे करेगी ? ॥ २९ ॥

टिप्पणी—किरन्तु = कॄ + लोट् + झिः। तदक्षरे = तासाम् अक्षरः, तस्मिन् (ष० त०)। पृषत्किशोरी = पृषतः किशोरी (ष० त०), "पृषच्च पृषतो विन्दौ कुरङ्गेऽपि च कीर्तितः।" इत्यजपालः। द्विपाऽधिपे = द्विपानाम् अधिपः, तस्मिन् (ष० त०)। असङ्गतां = न सङ्गता, ताम् (नञ्०)। मनोवृत्ति = मनसो वृत्तिः, ताम् (ष० त०)। देवताओंके प्रणयके वाक्यकी क्या बात है, मैं उनका अक्षर भी सुनना नहीं चाहती हूँ, यह भाव है। इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ २९ ॥

अदो निगद्यैव नताऽऽस्यया तया श्रुतौ लगित्वाऽभिहिताऽऽलिरालपत् ।
प्रविश्य यन्मे हृदय ह्रियाऽऽह तद्विनियंदाकर्णय मन्मुखाऽध्वना ॥३०॥

अन्वयः—अदो निगद्य एव नताऽऽस्यया तया श्रुतौ लगित्वा अभिहिता आलिः आलपत्—"(हे महोदय !) इयं ह्रिया मे हृदयं प्रविश्य यत् आह, मन्मुखाऽध्वना विनिर्यत् तत् आकर्णय ॥ ३० ॥

व्याख्या—अदः = इदं वचः, निगद्य एव = उक्त्वा एव, नताऽऽस्यया = अवनतवदनया, तया = दमयन्त्या, श्रुतौ = श्रोत्रे, लगित्वा = आसन्ना भूत्वा, अभिहिता = कथिता, आलिः=सखी, आलपत् = आलपितवती, (हे महोदय !) इयं = दमयन्ति, ह्रिया = लज्जया हेतुना, मे = मम, हृदयं = हृत्, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, यत् = वचनम्, आह = ब्रूते, मन्मुखाऽध्वना = मद्वदनमार्गेण, विनिर्यत् = बहिर्निर्गच्छत्, तत् = वचनम्, आकर्णय = शृणु ॥ ३० ॥

अनुवादः—ऐसा कहकर ही नम्र मुख करनेवाली दमयन्तीने कानके पास जाकर सखीसे कुछ कहा—तब सखी बोली (हे महोदय !) दमयन्तिने लज्जासे मेरे हृदयमें प्रवेश कर जो कहा है, मेरे मुख रूप मार्गसे निकलते हुए उस वचनको आप सुनिए ॥ ३० ॥

टिप्पणी—निगद्य = नि + गद् + क्त्वा (ल्यप्)। नताऽऽस्यया = नतम् आस्यं यस्याः सा नताऽऽस्या, तया (बहु०)। लगित्वा = लग + क्त्वा । आलपत् = आङ् + लप् + लङ् + तिप् । मन्मुखाऽध्वना=मम मुखम् (ष० त०) तदेव अध्वा, तेन (रूपक०)। विनिर्यत् =वि + निर् + इण् + लट् (शतृ)+ सु । आकर्णय = आ + कर्ण + णिच् + लोट् + सिप् ॥ ३० ॥

बिभेति चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा ।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुटयति चापलात् किल ॥ ३० ॥

अन्वयः--(हे महोदय !) चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा (इयम्) ईदृशीं चिन्ताम् अपि कर्तुम् बिभेति, (यतः) मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिः लवात् अपि चापलात् त्रुटयति किल ॥ ३१ ॥

व्याख्या--चिराय = चिरात्प्रभृति, चित्तार्पितनैषधेश्वरा = मनःस्थापितनला, इयमिति शेषः । ईदृशीम = एतादृशीं, महेन्द्राऽऽदिपरपुरुषविषयामिति भावः, चिन्ताम् अपि = विचारम् अपि, कर्तुं = विधातुं, बिभेति = त्रस्यति, किमुत महेन्द्रादिवरणं कर्तुमिति भावः । यतः मृणालतन्तुच्छिदुरा = बिससूत्रच्छेदस्वभावा, सतीस्थितिः = पतिव्रतामर्यादा, लवात् अपि = अल्पात् अपि, चापलात् = चाञ्चल्यात्, अधिकात्किमुत इति भावः, त्रुटयतिं = त्रुटति, किल = खलु ॥३१॥

अनुवद:—(हे महोदय !) बहुत समयसे मनमें नलको स्थापित करनेवाली ये (दमयन्ती) इन्द्र आदिके वरणके विषयमें विचार करनेमें भी डरती है, क्योंकि मृणालके तन्तुके समान टूटनेवाली पतिव्रताकी मर्यादा थोड़ी भी चञ्चलता से टूट जाती है ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—चित्तार्ऽपितनैषधेश्वरा = चित्ते अर्पितः (स० त०)। नैषधश्चासौ ईश्वरः (क० धा०)। चित्तार्ऽपितौ नैषधेश्वरो यया सा (बहु०)। बिभेति = (ञि) भी + लट् + तिप्। मृणालतन्तुच्छिदुरा = मृणालस्य तन्तुः (ष० त०)। छेदशीला छिदुरा, छिद + कुरच् + टाप्, "विदिभिदिच्छिदेः कुरच" इस सूत्रसे कर्मकर्तामें कुरच्। मृणालतन्तुरिव छिदुरा (उपमित०)। त्रुटयति = त्रुट + लत् + तिप्, "वा भ्राशम्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः" इस सूत्रसे विकल्पसे श्यन्। एक पक्षमें शप् होकर "त्रुटति" ऐसा भी रूप बनता है। इस पद्यमें दो अर्थापत्तियों और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

ममाऽऽशयः स्वप्नवशाऽऽज्ञयाऽपि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि ।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते ! ॥ ३२ ॥

अन्वयः—वा मम आशयः स्वप्नदशाऽऽज्ञया अपि नलं विलङ्घ्य इतरम् अस्पृशत् यदि, (तर्हि) समस्तसाक्षिणी निजा बुद्धिः एव तत्र कुतः पुनः विबुधैः न पृच्छ्यते ? ॥ ३२ ॥

व्याख्या—वा = अथ वा, मम, आशयः = चित्तवृत्तिः, स्वप्नदशाऽऽज्ञया अपि = स्वापाऽवस्थाऽऽदेशेन अपि, नलं = नैषधं, विलङ्घ्य =अतिक्रम्य, इतरम् = अन्यं पुरुषम्। अस्पृशत् यदि = स्पृष्टवांश्चेत्, प्राप्तवांश्चेत् इति भावः। तर्हि समस्तसाक्षिणी = सकलवृत्तसाक्षात्कारिणी, निजा = स्वकीया, बुद्धिः एव = मतिः एव, तत्र = तस्मिन् विषये, कुतः = कस्मात्, कारणात्, पुनः, विबुधैः = देवैः, न पृच्छ्यते = न अनुयुज्यते, सर्वसाक्षिणो देवाः स्वयं किं न जानन्तीति भावः ॥ ३२ ॥

अनुबाद:—अथ वा मेरी चित्तवृत्तिने स्वप्नाऽवस्थाकी आज्ञासे भी नलको छोड़कर दूसरे पुरुषको स्पर्श किया हो तो सबके चरित्रोंकी साक्षिणी अपनी बुद्धिसे ही इन्द्र आदि दिक्पाल क्यों नहीं पूछते है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—स्वप्नदशाऽऽज्ञया=स्वप्नस्य दशा (ष० त०), तस्या आज्ञा, तया (ष० त०)। अस्पृशत् = स्पृश + लङ् + तिप्। समस्तसाक्षिणी = समस्तस्य

अन्वयः—अदो निगद्य एव नताऽऽस्यया तया श्रुतौ लगित्वा अभिहिता आलिः आलपत्—"(हे महोदय !) इयं ह्रिया मे हृदयं प्रविश्य यत् आह, मन्मुखाऽध्वना विनिर्यत् तत् आकर्णय ॥ ३० ॥

व्याख्या—अदः = इदं वचः, निगद्य एव = उक्त्वा एव, नताऽऽस्यया = अवनतवदनया, तया = दमयन्त्या, श्रुतौ = श्रोत्रे, लगित्वा = आसन्ना भूत्वा, अभिहिता = कथिता, आलिः=सखी, आलपत् = आलपितवती, (हे महोदय !) इयं = दमयन्ति, ह्रिया = लज्जया हेतुना, मे = मम, हृदयं = हृत्, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, यत् = वचनम्, आह = ब्रूते, मन्मुखाऽध्वना = मद्वदनमार्गेण, विनिर्यत् = बहिर्निर्गच्छत्, तत् = वचनम्, आकर्णय = शृणु ॥ ३० ॥

अनुवादः—ऐसा कहकर ही नम्र मुख करनेवाली दमयन्तीने कानके पास जाकर सखीसे कुछ कहा—तव सखी बोली (हे महोदय !) दमयन्तिने लज्जासे मेरे हृदयमें प्रवेश कर जो कहा है, मेरे मुख रूप मार्गसे निकलते हुए उस वचनको आप सुनिए ॥ ३० ॥

टिप्पणी—निगद्य = नि + गद् + क्त्वा (ल्यप्)। नताऽऽस्यया = नतम् आस्यं यस्याः सा नताऽऽस्या, तया (ब्रहु०)। लगित्वा = लग + क्त्वा। आलपत् = आङ् + लप् + लङ् + तिप्। मन्मुखाऽध्वना=मम मुखम् (ष० त०) तदेव अध्वा, तेन (रूपक०)। विनिर्यत् =वि + निर् + इण् + लट् (शतृ)+ सु। आकर्णय = आ + कर्ण + णिच् + लोट् + सिप् ॥ ३० ॥

बिभेति चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा ।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुटयति चापलात् किल ॥ ३० ॥

अन्वयः--(हे महोदय !) चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा (इयम्) ईदृशीं चिन्ताम् अपि कर्तुम् बिभेति, (यतः) मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिः लवात् अपि चापलात् त्रुटयति किल ॥ ३१ ॥

व्याख्या--चिराय = चिरात्प्रभृति, चित्तार्पितनैषधेश्वरा = मनःस्थापितनला, इयमिति शेषः। ईदृशीम् = एतादृशीं, महेन्द्राऽऽदिपरपुरुषविषयामिति भावः, चिन्ताम् अपि = विचारम् अपि, कर्तुं = विधातुं, बिभेति = त्रस्यति, किमुत महेन्द्रादिवरणं कर्तुमिति भावः। यतः मृणालतन्तुच्छिदुरा = बिससूत्रच्छेदस्वभावा, सतीस्थितिः = पतिव्रतामर्यादा, लवात् अपि = अल्पात् अपि, चापलात् = चाञ्चल्यात्, अधिकात्किमुत इति भावः, त्रुटयति = त्रुटति, किल = खलु ॥३१॥

अनुवाद:—(हे महोदय !) बहुत समयसे मनमें नलको स्थापित करने-वाली ये (दमयन्ती) इन्द्र आदिके वरणके विषयमें विचार करनेमें भी डरती है, क्योंकि मृणालके तन्तुके समान टूटनेवाली पतिव्रताकी मर्यादा थोड़ी भी चञ्चलता से टूट जाती है ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—चित्तार्ऽपितनैषधेश्वरा = चित्ते अर्पितः (स० त०)। नैषध-श्चासौ ईश्वरः (क० धा०)। चित्तार्ऽपितौ नैषधेश्वरो यया सा (बहु०)। बिभेति = (ञि) भी + लट् + तिप्। मृणालतन्तुच्छिदुरा = मृणालस्य तन्तुः (ष० त०)। छेदशीला छिदुरा, छिद + कुरच् + टाप्, "विदिभिदिच्छिदेः कुरच" इस सूत्रसे कर्मकर्तामें कुरच्। मृणालतन्तुरिव छिदुरा (उपमित०)। त्रुटयति = त्रुट + लत् + तिप्, "वा भ्राशम्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः" इस सूत्रसे विकल्पसे श्यन्। एक पक्षमें शप् होकर "त्रुटति" ऐसा भी रूप बनता है। इस पद्यमें दो अर्थापत्तियों और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

ममाऽऽशयः स्वप्नदशाऽऽज्ञयाऽपि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छयते ! ॥ ३२ ॥

अन्वयः—वा मम आशयः स्वप्नदशाऽऽज्ञया अपि नलं विलङ्घ्य इतरम् अस्पृशत् यदि, (तर्हि) समस्तसाक्षिणी निजा बुद्धिः एव तत्र कुतः पुनः विबुधैः न पृच्छयते ? ॥ ३२ ॥

व्याख्या—वा = अथ वा, मम, आशयः = चित्तवृत्तिः, स्वप्नदशाऽऽज्ञया अपि = स्वापाऽवस्थाऽऽदेशेन अपि, नलं = नैषधं, विलङ्घ्य =अतिक्रम्य, इतरम् = अन्यं पुरुषम्। अस्पृशत् यदि = स्पृष्टवांश्चेत्, प्राप्तवांश्चेत् इति भावः। तर्हि समस्तसाक्षिणी = सकलवृत्तसाक्षात्कारिणी, निजा = स्वकीया, बुद्धिः एव = मतिः एव, तत्र = तस्मिन् विषये, कुतः = कस्मात्, कारणात्, पुनः, विबुधैः = देवैः, न पृच्छयते = न अनुयुज्यते, सर्वसाक्षिणो देवाः स्वयं किं न जानन्तीति भावः ॥ ३२ ॥

अनुवाद:—अथ वा मेरी चित्तवृत्तिने स्वप्नाऽवस्थाकी आज्ञासे भी नलको छोड़कर दूसरे पुरुषको स्पर्श किया हो तो सबके चरित्रोंकी साक्षिणी अपनी बुद्धिसे ही इन्द्र आदि दिक्पाल क्यों नहीं पूछते है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—स्वप्नदशाऽऽज्ञया=स्वप्नस्य दशा (ष० त०), तस्या आज्ञा, तया (ष० त०)। अस्पृशत् = स्पृश + लङ् + तिप्। समस्तसाक्षिणी = समस्तस्य

साक्षिणी (ष० त०)। विबुधैः = "त्रिदशा विबुधाः सुराः" इत्यमरः। पृच्छ्यते = प्रच्छ + लट् + (कर्ममें) + त। सब कर्मोंके साक्षी देवगण स्वयम नहीं जानते हैं, यह भाव है ॥ ३२ ॥

अपि स्वमस्वप्नमसूषुपन्नमी परस्य दारानन्वैतुमेव माम् ।
स्वयं दुरध्वाऽर्णवनाविकाः कथं स्पृशन्तु विज्ञाय हृदाऽपि तादृशीम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अमी अस्वप्नम् अपि स्वं मां परस्य दारान् अनवैतुम् एव असूषुपन्। स्वयं दुरध्वाऽर्णवनाविकाः कथं तादृशीं मां हृदा विज्ञाय अपि स्पृशन्तु ? ॥ ३३ ॥

व्याख्या--अमी=इन्द्रादयो देवाः, अस्वप्नम् अपि = स्वप्नरहितम् अपि, स्वम् = आत्मानं, मां, परस्य, अन्यस्य, दारान् = पत्नीम्, अनवैतुम् एव = अज्ञातुम् एव, असूषुपन् = स्वापितवन्तः। अन्यथा सर्वज्ञानां तेषामस्मिन्विषये कथमज्ञानमिति भावः। तदेवोपपादयति—स्वयमिति। स्वयम् = आत्मना एव, दुरध्वाऽर्णवनाविकाः = दुष्टमार्गरूपसमुद्रकर्णधाराः सन्त, कथं = केन प्रकारेण, तादृशीं = परस्त्रियं, मां, हृदा = अन्तःकरणेन, विज्ञाय अपि = ज्ञात्वा अपि, स्पृशन्तु = स्पृशेयुः, स्वयममार्गनिवारकाणाममार्गप्रवृत्तिरयोग्येति भावः ॥ ३३ ॥

अनुवादः—इन्द्र आदि इन देवताओंने स्वप्नरहित होनेपर भी अपनेको मुझे परस्त्री न जाननेके लिए ही सुला लिया। स्वयम् दुष्ट मार्गरूप समुद्रसे तारनेवाले कर्णधार होते हुए वे कैसे वैसी (परस्त्री) मुझे हृदयसे जानकर भी स्पर्श करेंगे ? ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—अस्वप्नम् = अविद्यमानः स्वप्नो यस्य, तम् (नञ्बहु०), अनवैतुम्=न अवैतुम् (नञ्०)। असूषुपन् = स्वप् + णिच् + लुङ्। देवतालोग अपनेको नहीं सुलाते तो सर्वज्ञ होनेपर भी उनका इस अंशमें ("मुझे वरण करो" ऐसी प्रार्थना करनेमें) कैसे अज्ञान होता, यह भाव है। दुरध्वाऽर्णवनाविकाः = दुष्टः अध्वा दुरध्वः (गति०), "उपसर्गादध्वनः" इससे समासान्त अच्। "व्यध्वो दुरध्वो विपथः कदध्वा कापथः समाः।" इत्यमरः। नावा तरन्तीति नाविकाः, नौ शब्दसे "नौद्व्यचष्ठन्" इस सूत्रसे ठन् (इक) प्रत्यय। दुरध्व एव अर्णवः (रूपक०), तस्य नाविकाः (ष० त०)। विज्ञाय = वि + ज्ञा + क्त्वा (ल्यप्)। स्पृशन्तु = स्पृश + लोट् + झि:। कुमार्गके निवारक इन्द्र आदि देवताओंकी स्वयम कुमार्गमें प्रवृत्ति अनुचित है, यह भाव है ॥ ३३ ॥

अनुग्रहः केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मन्यपि यन्मनो जने।
स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रसद्य भिक्षां वितरीतुमीशताम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—मनुष्यजन्मनि अपि मादृशे जने यत् मनः, एषः अनुग्रहः केवलः। स विधेयः चेत्, तत् अमी प्रसद्य तम् एव भिक्षां वितरीतुम् ईशताम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—मनुष्यजन्मनि अपि = मानवोत्पन्ने अपि, मादृशे = मत्सदृशे, जने = स्त्रीजने, यत्, मनः = चित्तम्, अनुरागप्रवणम्, एषः = अयम्, अनुग्रहः = अभ्युपपत्तिः, केवलः = एव। सः = अनुग्रहः, विधेयः = कर्तव्यः, चेत् = यदि, तत् = तर्हि, अमी = देवाः, प्रसद्य = प्रसन्ना भूत्वा, तम् एव = नलम् एव, भिक्षाम् = अर्थनां, वितरीतुं = दातुम्, ईशतां = समर्था भवन्तु, मत्कर्तृकनलपरिणयस्याऽनुमोदनेन प्रसादं कुर्वन्तु देवा इति भावः ॥ ३४ ॥

अनुवादः—मनुष्यसे उत्पन्न मेरे-से जनमें जो आप लोगोंका मन है, यह अनुग्रह ही है। वैसा अनुग्रह करना हो तो वे देवता प्रसन्न होकर मुझे नलरूप भिक्षा देनेके लिए समर्थ हों ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—मनुष्यजन्मनि = मनुष्यात् जन्म यस्य स मनुष्यजन्मा, तस्मिन् (व्यधि० बहु०)। विधेयः = वि + धा + यत् + सु। प्रसद्य = प्र + सद् + क्त्वा (ल्यप्)। वितरीतुं = वि + तृ + तुमुन्, "वृतो वा" इस सूत्रसे इट्का दीर्घ। नलके साथ मेरे विवाहका अनुमोदन करके दिक्पाल मुझे अनुगृहीत करें, यह भाव है ॥ ३४ ॥

अपि द्रढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतं, स पीडयेत्पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताऽशनोद्बन्धनवारिवारितां निजाऽऽयुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—(हे महोदय!) द्रढीयो मे प्रतिश्रुतम् अपि शृणु। स नृपः इमं पाणिं न पीडयेत् चेत्, (तर्हि) निजाऽऽयुषः स्ववैरितां हुताऽशनोद्बन्धनवारिवारितां करवै ॥ ३५ ॥

व्याख्या—द्रढीयः = दृढतरं, मे = मम, प्रतिश्रुतम् अपि = प्रतिज्ञाम् अपि, शृणु = आकर्णय, सः = पूर्वोक्तः, नृपः = राजा नलः, इमं = सन्निकृष्टस्थं, मदीयं, पाणिं = करं, न पीडयेत् चेत् = नो गृह्णीयात् यदि, तर्हि, निजाऽऽयुषः = स्वजीवनस्य, स्ववैरितां = निजशत्रुतां, हुताऽशनोद्बन्धनवारिवारिता = अग्न्युद्बन्धनजलनिवारितां, करवै = करवाणि ॥ ३५ ॥

अनुवादः—(हे महोदय!) आप अतिशय दृढ मेरी प्रतिज्ञाको सुनिए, वे राजा (नल) मेरा पाणिग्रहण नहीं करेंगे तो मैं अपने जीवनकी शत्रुताको

अग्नि, उद्बन्धन और जलसे निवारित कर दूंगी अर्थात् अग्निमें प्रवेश कर, ऊँची जगहमें अपने शरीरको बाँधकर वा जलमें डूबकर प्राण छोड़ दूंगी ॥ ३५ ॥

टिप्पणी – द्रढीयः=अतिशयेन दृढम्, दृढ+ईयसुन्+अम् । "र ऋतोहंलादेर्लघोः" इस सूत्रसे 'दृ' के 'ऋ' के स्थानमें र भाव । पीडयेत्=पीड+णिच्+विधिलिङ्+तिप् । निजायुषः = निजं च तत् आयुः, तस्य (क० धा०)। स्ववैरितां=वैरिणो भावो वैरिता, वैरिन्+तल्+टाप् । स्वेन वैरिता, ताम् (तृ० त०) । हुताऽशनोदबन्धनवारिवारितां=हुताशनश्च उद्बन्धनं च वारि च हुताऽशनोदबन्धनवारिवारीणि (द्वन्द्व०), तैः वारिता, ताम् (तृ० त०)। करवै =कृञ्+लोट्+इट् । नल मेरा पाणिग्रहण नहीं करेंगे तो अग्निप्रवेश कर, फांसी लगाकर वा जलमें डूबकर प्राण छोड़ दूंगी, यह भाव है ॥ ३५ ॥

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नाऽवति यत्र सर्वथा ।
घनाऽम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद् बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यत्र आपदि सती क्रिया सर्वथा न अवति, तत्र निषिद्धम् अपि आचरणीयम् । हि—राजपथे घनाऽम्बुना अतिपिच्छिले (सति) बुधैः अपथेन अपि क्वचित् गम्यते ॥ ३६ ॥

व्याख्या -समयविशेषे आत्मघातस्याऽयुक्ततां वारयति--निषिद्धमिति । यत्र=यस्याम्, आपदि = विपत्तौ, सती = उत्तमा, शास्त्रप्रतिपादितेति भावः । क्रिया =कर्म,, सर्वथा = सर्वप्रकारेण, न अवति = नो रक्षति । तत्र = तादृश्यामापदि, निषिद्धम् अपि = शास्त्रप्रतिषिद्धम् अपि, आत्मघातादिरूपमपीति भावः । कर्म, आचरणीयं=करणीयम् । अर्थान्तरन्यासेन उक्तमर्थं समर्थयते-- घनाम्बुनेति । हि = यतः, राजपथे = राजमार्गे, घनाऽम्बुना = मेघजलेन, अतिपिच्छिले = पङ्किले सति, बुधैः = विद्वद्भिः, अपथेन अपि = अमार्गेण अपि, क्वचित् = कुत्रचित्प्रदेशे, गम्यते = गमनं क्रियते । प्राणत्यागेनाऽपि सर्वथा स्त्रीणां पातिव्रत्यं रक्षणीयमिति भावः ॥ ३६ ॥

अनुवादः—जिस आपत्तिमें शास्त्रोक्त कर्म सर्वथा रक्षा नहीं कर सकता है, उसमें शास्त्रनिषिद्ध कर्मका भी आचरण करना चाहिए, जैसे कि राजमार्गके मेघके जलसे पङ्कयुक्त होनेपर विद्वान् जन अमार्गसे भी किसी स्थानमें चलते हैं ॥ ३६ ॥

टिप्पणी--आचरणीयम्=आङ्+चर+अनीयर्+सु । राजपथे = राज्ञः पन्थाः राजपथः, तस्मिन् (ष० त०) । घनाऽम्बुना = घनस्य अम्बु, तेन

(ष० त०) । अतिपिच्छिले = पिच्छम् अस्याऽस्तीति पिच्छिलः, "लोमाऽऽदि-पामाऽऽदिपिच्छादिभ्यः शनेलचः" इस सूत्रसे और "पिच्छादिभ्य इलच्" इस वार्तिकसे इलच् प्रत्यय । अतिशयेन पिच्छिलः, तस्मिन् (सुप्सुपा०) । अपथेन = न पन्था अपथ, तेन (नञ्०) "पथो विभाषा" इस सूत्रसे नञ्-पूर्वक पथिन् शब्दसे समासान्त अप्रत्यय । "अपथं नपुंसकम्" इससे नपुंसक-लिङ्गता । स्त्रियोंको प्राणत्यागकी नौबत आनेपर भी पातिव्रत्यकी रक्षा करनी चाहिए, यह भाव है । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्विवरीतुमुत्तरम् ।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृताऽस्तु प्रतिबन्धृता न ते ॥ ३७ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) वाग्मिषु तेषु स्त्रिया मया उत्तरं सम्यक् विवरीतुं जातु न शक्यते । तत् अत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ ते प्रबन्धृता अस्तु प्रतिबन्धृता न अस्तु ॥ ३७ ॥

व्याख्या—वाग्मिषु = वाचोयुक्तिपटुषु, तेषु = इन्द्रादिदेवेषु, स्त्रिया = नार्या, उत्तरं = प्रतिवाक्यं, सम्यक् = समीचीनं यथा तथा, विवरीतुं = प्रपञ्च-यितुं, जातु = कदाचिदपि, न शक्यते = न पार्यते, तत् = तस्मात्कारणात्, अत्र = अस्यां, मद्भाषितसूत्रपद्धतौ = मदुक्तवचनसूत्रमार्गे विषये, ते = तव, प्रबन्धृता = प्रबन्धकर्तृता, अस्तु = भवतु, प्रतिबन्धृता = प्रतिबन्धकर्तृता, न अस्तु = नो भवतु । मम निषेधोत्तरे त्वयाऽनुकूलेन भाव्यं न प्रतिकूलेनेति भावः ॥ ३७ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) अत्यन्त वक्ता उन इन्द्र आदि दिक्पालोंमें अबला मैं उत्तर नहीं दे सकती हूँ । इस कारणसे मेरे वचनरूप सूत्रके मार्गमें आप प्रबन्धक हों, प्रतिबन्धक (रुकावट करनेवाले) न हों ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—वाग्मिषु = प्रशस्ता वाक् अस्ति येषां ते वाग्मिनः, तेषु, वाच् शब्दसे "वाचो ग्मिनिः" इस सूत्रसे ग्मिनि प्रत्यय, "वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी" इत्यमरः । विवरीतुं = वि + वृञ् + तुमुन्, "वृतो वा" इससे इट्का दीर्घ । "वितरीतुम्" ऐसे पाठमें वि + तॄ + तुमुन् । देने के लिए यह अर्थ है । मद्भाषित-सूत्रपद्धतौ=मया भाषितानि (तृ० त०), मद्भाषितानि एव सूत्राणि (रूपक०) तेषां पद्धतिः, तस्याम् (ष० त०) । "सरणिः पद्धतिः पद्या" इत्यमरः । प्रबन्धृता = प्रबध्नातीति प्रबन्धा, प्र + बन्ध + तृच् । प्रबन्धुर्भावः, प्रबन्धृ + तल् + टाप् + सु । प्रतिबन्धृता=प्रतिबध्नातीति प्रतिबन्धा, प्रति + बन्ध + तृच्

तस्य भावः, प्रतिबन्धृ+तल्+टाप्+सु। देवसन्देशके विषयमें मेरे निषेधरूप उत्तरमें आप अनुकूल हों, प्रतिकूल न हों, यह भाव है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

निरस्य दूतः स्म तथा विसर्जितः प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम्।
कुतूहलेनेव मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य डिम्भेन पिकः प्रकोपितः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—दूतः तथा निरस्य विसर्जितः (सन्) कुतूहलेन डिम्भेन मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य प्रकोपितः पिकः इव प्रियोक्तिः अपि कदुष्णम् अक्षरम् आह ॥ ३८ ॥

व्याख्या—दूतः = सन्देशहरः, नल इति भावः। तथा = तेन प्रकारेण, निरस्य = निराकृत्य, विसर्जितः प्रेषितः सन्, कुतूहलेन = कौतुकेन, डिम्भेन= बालकेन, मुहुः वारं वारं, कुहूरवं = कुहूशब्दं, विडम्ब्य = अनुकृत्य, प्रकोपितः = प्रापितकोपः, पिक इव = कोकिल इव, प्रियोक्तिः अपि=प्रियवचनः अपि, कदुष्णम्=ईषत्परुषम्, अक्षरं = वाक्यम्, आह स्म=अवदत् ॥ ३८ ॥

अनुवादः—दूत (नल) ने इस प्रकार निराकरण कर विसर्जित होकर कौतुकसे बालकसे वारंवार "कुहू" ऐसे कोयलके स्वरका अनुकरण (नकल) कर कोपयुक्त किये गये कोयलके समान प्रियवचनवाले होकर भी कुछ कठोर वाक्य कहा ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—निरस्य = निर्+अस्+क्त्वा (ल्यप्)। कुहूरवं = कुहूश्चाऽसौ रवः, तम् (क० धा०)। प्रियोक्तिः = प्रिया उक्तिः यस्य सः (बहु०)। कदुष्णम् = ईषत् उष्णम् (गति०), तत् "कवं चोष्णे" इस सूत्रसे 'कु' के स्थानमें "कत्" आदेश। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

अहो! मनस्त्वामनु तेऽपि तन्वते, त्वमप्यमीभ्यो विमुखीति कौतुकम्।
क्व वा निधिर्निर्धनमेति किं च तं स वा कवाटं घटयन्निरस्यति ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति!) ते अपि त्वाम् अनु मनः तन्वते, अहो! त्वम् अपि अमीभ्यो विमुखी इति कौतुकम्। (किं च) क्व वा निधिः निर्धनम् एति? क्व वा स कवाटं घटयन् निरस्यति? ॥ ३९ ॥

व्याख्या—ते अपि = इन्द्रादयो दिक्पाला अपि, त्वाम् अनु = त्वाम् उद्दिश्य, मनः = चित्तं, तन्वते = कुर्वन्ति, अहो = आश्चर्यम्। त्वम् अपि, अमीभ्यः= इन्द्रादिभ्यः, विमुखी = पराङ्मुखी, इति = इदं, कौतुकं = चित्रम्। किञ्च,

क्व वा=कुत्र वा लोके, निधिः=शेवधि, महापद्मादिरित भावः। निर्धनं=दरिद्रम्, एति = आगच्छति, क्व वा = कुत्र वा लोके, सः = निर्धनः, कवाटम् = अररं, घटयन् = आवृण्वन्, निरस्यति = निराकरोति, द्वारं पिधाय निषेधतीति भावः। "वाक्कवाटम्" इति पाठान्तरे वचनरूपं कवाटमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) इन्द्र आदि दिक्पाल भी तुम्हें चाहते हैं, आश्चर्य है ! तुम भी उनसे पराङ्मुखी हो यह और भी आश्चर्य है। कहाँ निधि निर्धनके पास जाती है और कहाँ वह (निर्धन) दरवाजा बन्द करता हुआ उसे हटाता है ? ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—तन्वते = तनु + लट् + झः। निर्धनं = निर्गतं धनं यस्मात्, तम् (बहु०)। घटयन् = घट + णिच् + लट् (शतृ) + सु। निरस्यति = निर् + असु + लट् + तिप्। इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

सहाऽखिलस्त्रीषु वहेऽवहेलया महेन्द्ररागाद् गुरुमादरं त्वयि।
त्वमीदृशि श्रेयसि सम्मुखेऽपि तं पराङ्मुखी चन्द्रमुखि ! न्यवीवृतः ॥४०॥

अन्वयः—हे चन्द्रमुखी ! महेन्द्ररागात् त्वयि गुरुम् आदरम् अखिलस्त्रीषु अवहेलया सह वहे, ईदृशि श्रेयसि सम्मुखे अपि त्वं पराङ्मुखी (सती) तं न्यवीवृतः ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे चन्द्रमुखि=हे शशिवदने, महेन्द्ररागात्=शक्राऽनुरागात्, हेतोः, त्वयि = भवत्यां, गुरुं = महान्तम्, आदरं = सम्मानम्, अखिलस्त्रीषु = सकल-ललनासु, इन्द्राणीप्रभृतिष्विति भावः, अवहेलया सह = अनादरेण समं, वहे = धारये। त्वामेव परमभाग्यवतीं मन्य इति भावः। ईदृशि = एतादृशे, श्रेयसि = कल्याणे, सम्मुखे अपि=अभिमुखे सत्यपि, त्वं, पराङ्मुखी = विमुखी सती, तम् = आदरं, न्यवीवृतः = निवर्तितवती असि ॥ ४० ॥

अनुवादः—हे चन्द्रमुखि ! इन्द्रके अनुरागके कारण तुममें आदरको अन्य सभी स्त्रियोंमें अनादरके साथ धारण करता हूँ। ऐसे कल्याणके उपस्थित होनेपर भी तुम पराङ्मुख होकर उसे लौटा रही हो ॥ ४० ॥

टिप्पणी—चन्द्रमुखि = चन्द्र इव मुखं यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। महेन्द्ररागात् = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), तस्य रागः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। अखिलस्त्रीषु = अखिलाश्च ताः स्त्रियः, तासु (क० धा०)। वहे = वह धातुमें स्वरितकी इत्संज्ञा होनेसे आत्मनेपद, लट् + इट्।

पराङ्मुखी = पराक् मुखं यस्याः सा (बहु०) । न्यवीवृतः=नि + वृत + णिच् + लुङ् + सिप् । इस पद्यमें सहोक्ति अलङ्कार है ॥ ४० ॥

दिवौकसं कामयते न मानवी, नवीनमश्रावि तवाऽऽननादिदम् ।
कथं न वा दुर्ग्रहदोष एष ते हितेन सम्यग्गुरुणाऽपि शाम्यते ? ॥ ४१ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) मानवी दिवौकसं न कामयते, इदं नवीनं तव आननात् अश्रावि । एष ते दुर्ग्रहदोषो हितेन गुरुणा अपि कथं वा न शाम्यते ? ॥ ४१ ॥

व्याख्या—मानवी = मानुषी, दिवौकसं = देवम्, इन्द्राऽऽदकमिति भावः । न कामयते = न इच्छति, इदम् = एतत्, नवीनं = नूतनं, वच इति शेषः । तव = भवत्याः, आननात् = मुखात्, अश्रावि = श्रुतम् । एषः = अयं, ते = तव, दुर्ग्रहदोषः = दुराग्रहदूषणं, दुष्टो ग्रहदोषो वा, हितेन = आप्तेन, अनुकूलेन च, गुरुणा अपि = पित्रादिना, बृहस्पतिना अपि । कथं वा = केन प्रकारेण वा, न शाम्यते = नो निवर्त्यते ॥ ४१ ॥

अनुवादः—मानुषी देवताको नहीं चाहती है यह अपूर्व वचन तुम्हारे मुखसे सुना गया है । जैसे दुष्टग्रहोंका दोष बृहस्पतिसे हटाया जाता है, परन्तु तुम्हारा यह दुष्ट आग्रहदोष तो पिता आदि गुरुजनसे भी कैसे नहीं हटाया जा रहा है ? ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—कामयते = कम + णिङ् + लट् + त । अश्रावि = श्रु + लुङ् (कर्ममें) + त । दुर्ग्रहदोषः = दुष्टः ग्रहः दुर्ग्रहः (गति०) । स चाऽसौ दोषः (क० धा०) । दमयन्ती के पक्षमें ग्रहका अर्थ आग्रह, दूसरे पक्षमें सूर्य आदि ग्रह । "अथाऽर्काऽऽदिनवग्रहाः" इति वैजयन्ती । "गुरुर्गीःपतिपित्राद्योः" इत्यमरः । दमयन्तीके पक्षमें "गुरु" पदका अर्थ पिता आदि मान्य जन, दूसरे पक्षमें बृहस्पति । शाम्यते = शम् + णिच् + लट् (कर्ममें) + त । "किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ ।" इस ज्योतिषशास्त्रके वचनके अनुसार केन्द्रस्थानमें गुरु (बृहस्पति) के रहनेपर अन्य दुष्टग्रहोंका दोष दूर होता है, पर तुम्हारा दुराग्रह (देवताओंको वरण न करनेका आग्रह) दोष तुम्हारे पिता आदिसे भी क्यों नहीं हटाया जाता है यह तात्पर्य है । इस पद्यमें अभिधाके प्रकृत अर्थका नियन्त्रण होनेसे जो अप्रकृत अर्थकी प्रतीति होती है वह ध्वनि है, श्लेष अलङ्कार नहीं ॥ ४१ ॥

**अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम् ।
अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ? ॥ ४२ ॥**

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) दिवौकसाम् अनुग्रहात् एव नरो मानुष्यकं निरस्य दिव्यताम् एति । तथाहि—सिद्धरसस्पृशाम् अयसाम् अपि अयोऽधिकारे स्वरितत्वं कुत इष्यते ? ॥ ४२ ॥

व्याख्या—अथ देवा मानुषीं न ग्रहीष्यन्तीत्यस्योत्तरमाह—अनुग्रहादिति । दिवौकसां = देवानाम्, अनुग्रहात् एव = अभ्युपपत्तेः एव, नरः = मनुष्यः, मानुष्यकं=मनुष्यभावं, निरस्य=परित्यज्य, दिव्यतां=देवभावम्, एति=प्राप्नोति, मानुष्यपि त्व देवाऽनुग्रहाद्देवत्वं प्राप्स्यसीति भावः । तथाहि सिद्धरसस्पृशां = संस्कृतपारदस्पर्शिनाम्, अयसाम्, अपि = लोहानाम् अपि, प्राप्तसुवर्णभावानामपीति भावः । अयोऽधिकारे = अयःप्रस्तावे, स्वरितत्वम् = अधिकृतत्वम् अयःसु परिगणनेति भावः । कुतः = कस्मात् कारणात्, इष्यते = अभिलष्यते, न इष्यत इति भावः । सिद्धपारदस्पृष्टस्य लोहस्य यथा सुवर्णत्वं तथैव देवस्पृष्टायास्तव देवत्वमेव न मानुषत्वमिति भावः ॥ ४२ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) देवताओंके अनुग्रहसे ही मनुष्य मनुष्यभावको छोड़कर देवभावको प्राप्त कर लेता है । सिद्ध पारेको स्पर्श करनेवाले लोहेका भी लोहेके प्रस्तावमें कैसे परिगणन इष्ट होता है ? ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—मानुष्यकं = मनुष्यस्य भावो मानुष्यकं, तत् "योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय । सिद्धरसस्पृशां = सिद्धश्चाऽसौ रसः (क० धा०), रस शब्दके अर्थ विश्वप्रकाश कोशमें—"देहधात्वम्बुपारदाः" । सिद्धरसं स्पृशन्तीति, तेषाम्, सिद्धरस-उपपदपूर्वक स्पृश धातुसे "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय । पारद (पारा) संस्कारके बलसे लोहे आदिको सुवर्ण बनानेमें समर्थ होनेसे "सिद्धरस" कहा जाता है । अयोऽधिकारे = अयसाम् अधिकारः, तस्मिन् (ष० त०) । स्वरित्वम् = स्वरितस्य भावः, स्वरित+त्व+सु । "स्वरितेनाऽधिकारः" व्याकरणकी इस परिभाषाका आश्रय करनेसे इसका "अधिकृतत्वम्" ऐसा अर्थ किया गया है । जैसे व्याकरणमें स्वरितत्वयुक्त शब्द अधिकृत होता है वैसे सिद्ध पारदके संसर्गसे लोहा लोहेमें परिगणित नहीं होता है अर्थात् सोना हो जाता है, तुम भी देवताके अनुग्रहसे मनुष्यता छोड़कर देवी बन जाओगी, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

हरिं परित्यज्य नलाऽभिलाषुका न लज्जसे या विदुषिब्रुवा कथम् ।
उपेक्षितेक्षोः करभाच्छमीरतादुरुं वदे त्वां करभोरु ! भो इति ॥ ४३ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) हरिं परित्यज्य नलाऽभिलाषुका विदुषिब्रुवा कथं न लज्जसे ? उपेक्षितेक्षोः शमीरतात् करभात् उरुं त्वाम् करभोरु ! (इति संबोध्य) वदे ॥ ४३ ॥

व्याख्या—हरिं = इन्द्रं, देवाऽधिपं, परित्यज्य = परिहाय, नलाऽभिलाषुका= नलं नरम् अभिलषन्ती, तथाऽपि विदुषिब्रुवा = पण्डितम्मन्या, त्वमिति शेषः। कथं = केन प्रकारेण, न लज्जसे = न त्रपसे, मणिं त्यक्त्वा काचग्रहणवत् देवेन्द्रं परित्यज्य नलाऽभिलषणं त्वदीयं लज्जाऽऽस्पदमिति भावः । दमयन्तीविशेषणरूपं करभोरूपदमन्यथा निर्वक्ति उपेक्षितेक्षोरिति । उपेक्षितेक्षोः = परिहृतेक्षुकाण्डात्, शमीरतात् = शमीभक्षणलालसात्, करभात् = उष्ट्रात्, उरुं =महतीम्, अधिकामिति भावः । त्वां=भवतीं, हे करभोरु = हे करभोरु इति संबोध्येति भावः, वदे = वक्ष्यामि ॥ ४३ ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) इन्द्रको छोड़कर नलका अभिलाष करनेवाली विदुषिब्रुवा अपनेको विदुषी (पण्डिता) कहनेवाली तुम क्यों लज्जित नहीं होती हो ? ईखकी उपेक्षा कर शमीके कण्टकमें तत्पर करभ (ऊँट) से उरु (अधिक) तुम्हें हे करभोरु ! ऐसा सम्बोधन कर बोलूंगा ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—नलाऽभिलाषुका = अभिलषतीति अभिलाषुका, अभि-पूर्वक लष धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्" इस सूत्रसे उकञ् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् । नलम् अभिलाषुका (द्वि० त०), "न लोकाऽव्यय" इत्यादि सूत्रसे षष्ठीका निषेध होनेसे "गम्यादीनामुपसंख्यानम्" इससे समास । विदुषिब्रुवा = वेत्तीति विदुषी, विद् धातुसे लट्के शतृके स्थानमें "विदेः शतुर्वसुः" इससे वसु आदेश सम्प्रसारण और स्त्रीत्वविवक्षामें "उगितश्च" इससे ङीप् । ब्रूत इति ब्रुवा, ब्रू + अच् + टाप् । विदुष्या ब्रुवा, कर्ममें षष्ठी, (ष० त०) । "घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः" इससे ह्रस्व । उपेक्षितेक्षोः = उपेक्षित इक्षुरनेन इति उपेक्षितेक्षुः, तस्मात् (बहु०) । शमीरतात्=शम्यां रतः, तस्मात् (स० त०) । करभात् = "करभो मणिबन्धादिकनिष्ठाऽन्तर उष्ट्रकः ।" इति विश्वः । उरुं = "वड्रोरुविपुलम्" इत्यमरः । करभोरु = देवताओंके राजा इन्द्रको छोड़कर नर नलको चाहनेवाली और पण्डितम्मन्या तुम्हें इक्षुकाण्डकी उपेक्षा कर शमीकण्टकको खानेमें तत्पर करभ (ऊँट)-से उरु अधिक होनेसे मैं

"करभोरु" कहकर सम्बोधन करूँगा, इसका तात्पर्य है सामान्यतः सुन्दरी स्त्रियोंको "करभोरू:" कहते हैं, उसकी व्युत्पत्तिके अनुसार करभौ इव ऊरू यस्याः सा (बहु०), करभ (करभागविशेष) के समान ऊरुवाली यह अर्थ है, उसमें "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" इससे ऊङ् होकर "करभोरू:" ऐसा दीर्घान्त पद बनता है। परन्तु नल व्यङ्ग्यसे करभात् उरुः, ताम् (प० त०), ऐसी व्युत्पत्ति कर अर्थात् करभ (ऊँट) से भी अधिक अर्थात् नासमझ तुम्हें मैं "हे करभोरु" ऐसा सम्बोधन करूँगा, कहते हैं। इस व्युत्पत्तिमें मनुष्यजातिकी विवक्षा करके "ऊङुतः" इस सूत्रसे ऊङ् प्रत्यय करके नदी संज्ञा होनेसे "अम्बाऽर्थनद्योर्ह्रस्वः" इससे सम्बुद्धिमें ह्रस्व। आचार्य वामनने भी "मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे" ऐसा लिखा है। वदे = वद धातुसे "भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः" इस सूत्रसे ज्ञानके अर्थमें आत्मनेपद, वद+लट्+इट्। इस पद्यमें निरुक्त नामका काव्यका लक्षण है ॥ ४३ ॥

विहाय हा ! सर्वसुपर्वनायकं त्वयाऽऽदृतः किं नरसाधिमभ्रमः ?।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) हा ! त्वया सर्वसुपर्वनायकं विहाय नरसाधिमभ्रमः किम् आदृतः ? श्वसितस्य धारया मुखं विमुच्य नासापथधावनश्रमः वृथा एव ॥ ४४ ॥

व्याख्या—हा = बत, त्वया = भवत्या, सर्वसुपर्वनायकं = देवेन्द्रं, विहाय = त्यक्त्वा, नरसाधिमभ्रमः = मनुष्यसाधुत्वभ्रान्तिः। किं = किमर्थम्, आदृतः = सम्मानितः। श्वसितस्य = निःश्वासवायोः, धारया = परम्परया, मुखं = वदनं, विमुच्य = विहाय, नासापथधावनश्रमः = नासिकामार्गगमनपरिश्रमः, वृथा एव = व्यर्थप्राय एव ॥ ४४ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) हाय ! तुमने देवताओंके अधिपति इन्द्रको छोड़कर मनुष्यमें साधुत्वके भ्रमका कैसे आदर किया ? निःश्वास वायुके प्रवाहका मुखको छोड़कर नासिकामार्गसे गमनका परिश्रम व्यर्थप्राय ही है ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—सर्वसुपर्वनायकं = सर्वे च ते सुपर्वाणः (क० धा०), तेषां नायकः, तम् (ष० त०)। विहाय = वि + हा + क्त्वा (ल्यप्)। नरसाधिमभ्रमः = साधोर्भावः साधिमा, साधु + इमनिच्। साधिम्नो भ्रमः (ष० त०)। नरे साधिमभ्रमः (स० त०)। विमुच्य = वि + मुच् + क्त्वा (ल्यप्)।

नासापथधावनश्रमः = नासायाः पन्था नासापथः (ष० त०), तेन धावनं (तृ० त०) तस्य श्रमः (ष० त०)। इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ४४ ॥

तपोऽनले जुह्वति सूरयस्तनूर्दिवे फलायाऽन्यजनुर्भविष्णवे ।
करे पुनः कर्षति सैव विह्वला बलादिव त्वां वलसे न बालिशे ! ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सूरयः = अन्यजनुर्भविष्णवे दिवे फलाय तनूः तपोऽनले जुह्वति, त्वां पुनः सा एव विह्वला (सती) बलात् इव करे कर्षति; हे बालिशे ! न वलसे ॥ ४५ ॥

व्याख्या—सूरयः = विद्वांसः, अन्यजनुर्भविष्णवे = जन्मान्तरभाविन्यै, दिवे = स्वर्गाय एव, फलाय = प्रयोजनाय, तनूः = शरीराणि, तपोऽनले = चान्द्रायणादितपस्यारूपाऽग्नौ, जुह्वति = प्रक्षिपन्ति, त्वां पुनः = त्वाम् एव, सा एव = द्यौः (स्वर्गः) एव, विह्वला = विक्लवा सती, बलात् इव = बलात्कारात् इव, करे = हस्ते, गृहीत्वेति शेषः, कर्षति = आकर्षति, हे बालिशे = हे मूढे !, न वलसे = न चलसि, न इच्छसीति भावः ॥ ४५ ॥

अनुवादः—विद्वान् लोग दूसरे जन्ममें मिलनेवाले स्वर्गरूप फलके लिए अपने शरीरको चान्द्रायण आदि तपस्यारूप अग्निमें हवन कर देते हैं, तुम्हींको वही स्वर्ग विह्वल होता हुआ बलात्कारसे हाथमें ग्रहण कर खींच रहा है, हे मूढे ! तो भी तुम विचलित नहीं होती हो (इच्छा नहीं करती हो) ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—अन्यजनुर्भविष्णवे = भविष्यतीति भविष्णुः, भू धातुसे "भुवश्च" इस सूत्रसे इष्णुच् प्रत्यय। "भूष्णुर्भविष्णुर्भविता" इत्यमरः। अन्यच्च तत् जनुः (क० धा०), तस्मिन् भविष्णुः, तस्यै (स० त०)। तपोऽनले = तप एव अनलः, तस्मिन् (रूपक०)। जुह्वति=हु + लट् + झि। "अदभ्यस्तात्" इससे झिके स्थानमें अत् आदेश। बालिशे = शिशावज्ञे च बालिशः" इत्यमरः। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

यदि स्वमुद्बन्धुमना विना नलं भवेर्भवन्तीं हरिरन्तरिक्षगाम् ।
दिवि स्थितानां प्रथितः पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि कः ? ॥ ४६ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) नलं विना स्वम् उद्बन्धुमना भवेः यदि, ततः अन्तरिक्षगां भवन्तीं (त्वाम्) दिवि स्थितानां प्रथितः पतिः हरिः हरिष्यति। हि न्याय्यं कः उपेक्षते ? ॥ ४६ ॥

व्याख्या—नलालाभे हुताशनादिना मरिष्यामीति (९-३५) यदुक्तं पद्यचतुष्टयेन तत्रोत्तरमाह--यदीति। नलं विना = नैषधं विना, नलाऽलाभे

इति भावः । स्वम् = आत्मानम्, उद्बन्धुमनाः = पाशेन मर्तुकामा. भवेः = स्याः, यदि = चेत्, ततः = तर्हि, अन्तरिक्षगाम्, = अन्तरिक्षगताम् आत्मघातरूपदुर्मरणदोषादिति शेषः । भवन्तीं = सतीं, त्वामिति शेषः । दिवि = अन्तरिक्षे, स्थितानां = विद्यमानानां, स्वर्गतानां च, प्रथितः = प्रख्यातः, पतिः = स्वामी, हरिः = इन्द्रः, हरिष्यति = ग्रहीष्यति, त्वामिति शेषः । प्राणत्यागेऽपि त्वां न त्यक्ष्यतीति भावः । हि = यतः, न्याय्यं = न्यायप्राप्तं वस्तु, कः = जनः, उपेक्षते = अवधीरयते । अस्वामिकद्रव्यस्य राजगामित्वं न्याय्यमिति भावः ॥ ४६ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) नलको न पानेपर पाशसे मरनेकी इच्छा करोगी तो अन्तरिक्षमें प्राप्त तुम्हें अन्तरिक्षमें और स्वर्गमें रहनेवालोंके प्रख्यात स्वामी इन्द्र ग्रहण करेंगे क्योंकि न्यायप्राप्त वस्तुको कौन छोड़ता है ? ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—उद्बन्धुमनाः = उद्बन्धुं मनो यस्याः सा (बहु०) । भवेः = भू + विधिलिङ् + सिप् । अन्तरिक्षगाम् = अन्तरिक्षं गच्छतीति ताम् । अन्तरिक्ष + गम् + डः + टाप् + अम् । भवन्तीं = भू + लट् (शतृ) + ङीप् + अम् । हरिष्यति = हृ + लृट् + तिप् । पाशबन्धन कर प्राणत्याग करनेपर भी इन्द्र तुम्हें नहीं छोड़ेंगे यह भाव है । न्याय्यं = न्यायादनपेतं, तत्, न्याय शब्दसे "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते" इससे यत् । उपेक्षते = उप + ईक्ष + लट् + त । जिस वस्तुका स्वामी कोई नहीं है, वह राजाकी होती है, यह भाव है । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदस्मिन्महती दयाऽऽदृता ।
चिरादनेनाऽर्थनयाऽपि दुर्लभं स्वयं त्वयैवाऽङ्ग ! यदङ्गमर्प्यते ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(हे मुग्धे !) नलोज्झिता (सती) अनले निवेक्ष्यसे यदि, तत् अस्मिन् सुरे महती दया आदृता, यत् अनेन चिरात् अर्थनया अपि दुर्लभम् अङ्गम् अङ्ग ! त्वया एव अर्प्यते ॥ ४७ ॥

व्याख्या—नलोज्झिता = नैषधत्यक्ता (सती), अनले = अग्नौ, निवेक्ष्यसे यदि =प्रवेक्ष्यसि चेत्, नैराश्यहेतुकेनाऽऽत्मघातेनेति शेषः । तत् = तर्हि, अस्मिन्= अनले, सुरे = देवे, अनलाऽधिष्ठातृदेव इति भावः । महती = प्रचुरा, दया = अनुकम्पा, आदृता = सम्मानिता, कृतेति भावः । यत् = यस्मात्कारणात्, अनेन = अनलेन, चिरात् = बहुकालात्, अर्थनया अपि = प्रार्थनया अपि,

दुर्लभं = दुष्प्राप्यम्, अवरणादिति शेषः। अङ्गं = शरीरम्, अङ्ग = हे दमयन्ति! त्वया एव=भवत्या एव, अर्प्यते = समर्प्यते, दीयत इति भावः। त्वयाऽनलप्रवेशे कृते अग्निदेवः स्फुटतममेव जीवग्राहं ग्रहीष्यतीति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवादः—(हे मुग्धे!) नलसे त्यक्त (अपरिणीत) होकर तुम अग्निमें प्रवेश करोगी तो उन देवता (अग्नि) में बड़ी कृपा होगी जो कि उनसे बहुत समयसे प्रार्थना करके भी दुष्प्राप्य अपने शरीरको हे दमयन्ति! स्वयम् समर्पण करोगी ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—नलोज्झिता = नलेन उज्झिता (तृ० त०)। निवेक्ष्यसे=नि+विश्+लृट्+थास्, "नेर्विशः" इस सूत्रसे आत्मनेपद। आदृता = आङ्+दृङ्+क्तः+टाप्+सु। दुर्लभं = दुःखेन लब्धुं शक्यम्, दुस्+लभ्+खल्+सु। नलकी प्राप्तिमें निराश होकर आत्महत्या करनेके लिए तुम आगमें कूद पड़ोगी तो अग्निदेव जीती हुई तुमको व्यक्तरूपसे ग्रहण करेंगे, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें विषम अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

जितं जितं तत्खलु पाशपाणिना विना नलं वारि यदि प्रवेक्ष्यसि।
तदा त्वदाख्यान् बहिरप्यसूनसौ पयःपतिर्वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—(हे मुग्धे?) नलं विना वारि प्रवेक्ष्यसे यदि, तत् पाशपाणिना जितं जितं खलु। तदा असौ पयःपतिः अपि त्वदाख्यान् असून् बहिः अपि वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ॥ ४८ ॥

व्याख्या—नलं विना = नैषधम् अप्राप्येति भावः। वारि = जलं, प्रवेक्ष्यसि यदि = प्रवेशकर्म करिष्यसि चेत्, आत्मघातरूपेणेति शेषः। तत् = तर्हि, पाशपाणिना = पाशिना, वारिपतिना वरुणेनेति भावः। जितं जितम् = अभीक्ष्णं जितं, खलु = निश्चयेन। तदा = तस्मिन् काले, त्वद्वारिप्रवेशसमय इति भावः। असौ = अयं, पयःपतिः अपि = अप्पतिः, वरुणः अपि। त्वदाख्यान् = त्वन्नामकान्, असून् = प्राणान्, बहिः अपि = अन्तःकरणाद् बहिः स्थिते अपि, वक्षसि = उरःस्थले, वक्ष्यतेतराम् = धारयिष्यतितराम्। त्वया वारिप्रवेशे कृते वारिपतिर्वरुणस्त्वां जीवन्तीमेवोररीकरिष्यतीति भावः ॥ ४८ ॥

अनुवादः—(हे मुग्धे!) नलको न पानेसे तुम जलमें प्रवेश करोगी तो वरुणने जयलाभ किया जयलाभ किया। तब (जलमें तुम्हारे प्रवेश करनेके बाद) वे जलपति (वरुण) तुम्हारे नामके प्राणोंको अन्तःकरणके बाहर रहे हुए वक्षःस्थल (छाती) में भी अच्छी तरह धारण कर लेंगे ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—प्रवेक्ष्यसि = प्र + विश् + लृट् + सिप्। पाशपाणिना = पाशः पाणौ यस्य, तेन (व्यधिकरणबहु०)। "प्रहरणाऽर्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इस वार्तिकसे पाश पदका पूर्वप्रयोग। जितं = जि + क्तः (भावमें) + सुः। पयःपतिः = पयसः पतिः (ष० त०)। त्वदाख्यान् = त्वं नाम येषां ते त्वदाख्याः, तान् (बहु०)। वक्ष्यतेतराम् = वह + लृट् + त + तरप् + आमुः। तुम्हारे जलमें प्रवेश करनेसे जलपति वरुण तुम्हें स्वीकार कर लेंगे यह भाव है। इस पद्यमें भी विषम अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

करिष्यसे यद्यत एव दूषणादुपायमन्यं विदुषी स्वमृत्यवे।
प्रियाऽतिथिः स्वेन गता गृहान् कथं न धर्मराजं चरितार्थयिष्यसि ? ॥ ४९ ॥

अन्वयः—(हे मुग्धे !) विदुषी (त्वम्) अत एव दूषणात् स्वमृत्यवे अन्यम् उपायं करिष्यसे यदि, (तर्हि) प्रियाऽतिथिः (त्वम्) स्वेन गृहान् गता धर्मराजं कथं न चरितार्थयिष्यसि ? ॥ ४९ ॥

व्याख्या—विदुषी = पण्डिता, त्वमिति शेषः। अत एव दूषणात् = अस्मात् एव दोषात्, उद्बन्धनादिभिः प्राणत्यागे इन्द्राऽनलवरुणेष्वन्यतमाऽधीना भविष्यामीति दोषमाशङ्क्येति भावः। स्वमृत्यवे = निजमरणाय, अन्यम् = अपरम्, उपायम् = मरणसाधनम्, अनशनादिकमिति भावः। करिष्यसे यदि = विधास्यसे चेत्, तर्हि, प्रियोऽतिथिः=अभीष्टाऽऽगन्तुः, त्वम्, स्वेन = स्वत एव, गृहान् = धर्मराजगृहं, गता = प्राप्ता सती, धर्मराजं = यमं, कथ = केन प्रकारेण, न चरितार्थयिष्यसि = कृताऽर्थं न करिष्यसि, स्वयं गत्वा याचकमनोरथपूरणस्य सत्ययुगधर्मत्वादिदं कर्तव्यमेवेति भावः ॥ ४९ ॥

अनुवादः—(हे मुग्धे !) विदुषी (जानकार) तुम उद्बन्धन आदिसे प्राणत्याग करनेमें पूर्वोक्त दोषसे अपनी मृत्युके लिए दूसरा ही उपाय अनशन आदि करोगी तो प्रिय अतिथि तुम स्वतः धर्मराजके गृहमें प्राप्त होकर उनको क्यों कृतार्थ नहीं करोगी ? ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—दूषणात् = हेतुमें पञ्चमी। स्वमृत्यवे = स्वस्य मृत्युः, तस्मै (ष० त०)। करिष्यसे = कृञ् + लृट् + थास्। प्रियाऽतिथिः = प्रिया चाऽसौ अतिथिः (क० धा०)। गृहान् = "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव, निकाय्यनिलयाऽऽलयाः।" इत्यमरः। धर्मराजं = धर्मस्य राजा, तम् (ष० त०), (समासाऽन्त टच् प्रत्यय)। चरिताऽर्थयिष्यसि = चरितः अर्थः येन सः चरिताऽर्थः (बहु०)। चरितार्थं करिष्यसि, चरिताऽर्थ + णिच् + लृट् + सिप् ॥ ४९ ॥

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता ।।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः ।। ५० ।।

अन्वयः—(हे विदग्धे !) अथ वा तव एष निषेधवेषः विधिः एव, वाचि वक्रता तव एव युक्ता खलु । इदं यस्य ध्वनेः विजृम्भितं विदग्धनारीवदनं तदाकरः किल ।। ५० ।।

व्याख्या—अथ वा = यद्वा, तव = भवत्याः, एषः = अयं, इन्द्राऽऽदिनिषेध इति भावः । निषेधवेषः = प्रतिषेधाऽऽकारः, विधिः एव = अङ्गीकार एव । तथा हि—वाचि = वचने, वक्रता = वक्रोक्तिचातुरी, व्यङ्ग्योक्तिचतुरतेति भावः । तव एव = भवत्या एव, युक्ता = उचिता, खलु = निश्चयेन । इदं = वक्रवाक्यं, वञ्चनाचातुर्यं, यस्य, ध्वनेः = व्यञ्जकवृत्तेः, विजृम्भितं = विजृम्भणं, विदग्धनारीवदनं = सूक्तिचतुरस्त्रीमुखं, तदाकरः = ध्वन्युत्पत्तिस्थानं, किल = निश्चयेन ।। ५० ।।

अनुवादः—(हे विदग्धे !) अथ वा आपका यह निषेधका आकारवाला विधि ही है । वचनमें वक्र उक्तिकी चतुरता आपकी ही उचित है । यह वक्र-वाक्य जिस ध्वनिका विलास है, सूक्तिमें चतुर स्त्रीका मुख ही उस ध्वनिका उत्पत्तिस्थान है ।। ५० ।।

टिप्पणी—निषेधवेषः = निषेधो वेषो यस्य सः (बहु०) । विजृम्भितं = विजृम्भणं, वि + जृभी + क्तः, 'नपुंसके भावे क्तः" इस सूत्रसे भावमें क्त प्रत्यय । विदग्धनारीवदनं = विदग्धा चाऽसौ नारी (क० धा०), तस्या वदनम् (ष० त०) । तदाकरः = तस्य (ध्वनेः), आकरः (ष० त०) । इन्द्र आदि दिक्पालोंमें स्वीकृतिको ही दृढ करने के लिए यह आपका निषेधका अभिनय है अतः आपके निषेधसे विधि ही व्यङ्ग्य होती है, यह भाव है । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।। ५० ।।

भ्रमामि ते भैमि ! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कत्यदः ।
त्रपामपाकृत्य मनाक् कुरु स्फुटं, कृतार्थनीयः कतमः सुरोत्तमः ? ।। ५१ ।।

अन्वयः—हे भैमि ! ते सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु कत्यदः निपत्य भ्रमामि । कतमः सुरोत्तमः कृतार्थनीयः ? त्रपां मनाक् अपाकृत्य स्फुटं कुरु ।। ५१ ।।

व्याख्या—हे भैमि = हे दमयन्ति !, ते = तव, सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु = सरस्वतीनदीजलपूरपुटभेदसदृशेषु वक्रोक्तिरूपेषु, वाणीशृङ्गारपूरसमूहेषु, कत्यदः = कियच्चक्रं यथा तथा, निपत्य = पतित्वा, भ्रमामि = गुह्यामि, वक्रो-

त्क्या अलमिति भावः। किन्तु कतमः = बहूनां मध्ये कः, इन्द्रोग्नियंमो वरुणो वा, सुरोत्तमः = देवश्रेष्ठः, कृतार्थनीयः = कृताऽर्थः करणीयः, वरणेनेति शेषः। त्रपां = लज्जां, मनाक् = ईषत्, अपाकृत्य = निवार्य, स्फुटं = व्यक्तं, कुरु = विधेहि, नाऽत्र लज्जा कर्तव्या, "आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।" इति न्यायादिति भावः॥ ५१॥

अनुवादः—हे दमयन्ति! सरस्वती नदीके जलके प्रवाहके भँवरोंके सदृश वक्रोक्तिरूप तुम्हारी वाणीके शृङ्गारप्रवाहसमूहोंमें कितनी बार डूबकर घूमता रहूँ। इन्द्र आदिमें कौन-से श्रेष्ठ देवको कृताऽर्थ करोगी? लज्जाको कुछ हटाकर साफ-साफ कहो॥ ५१॥

टिप्पणी—सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु = सरस्वत्या . रसः (ष० त०), "सरस्वती सरिद्भिदि। वाच्यापगायां स्त्रीरत्ने गोवाग्देवतयोरपि" इति हैमः। इस कोशके अनुसार सरस्वतीका अर्थ सरस्वती नदी और वाणी इन दो अर्थोंमें है। "शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः।" इत्यमरः। इस कोशके अनुसार यहाँ पर रसका अर्थ जल और शृङ्गार है। सरस्वतीरसस्य प्रवाहः (ष० त०), तस्य चक्राणि, तेषु (ष० त०), 'चक्र' का अर्थ जलावर्त (भँवर) और समूह है। कत्यदः = कति (कियन्ति) अमूनि (चक्राणि) यस्मिन् कर्मणि (बहु०), यथा तथा (क्रि० वि०)। निपत्य = नि + पत् + क्त्वा (ल्यप्)। भ्रमामि = भ्रम् + लट् + मिप्। कतमः = किं + डतमच् + सु। सुरोत्तमः = सुरेषु उत्तमः (स० त०)। अपाकृत्य = अप + आङ् + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण इनमें किन सुरोत्तमको तुम कृतार्थ करोगी लज्जा छोड़कर साफ-साफ कहो, यह भाव है। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है॥ ५१॥

मतः किमैरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवस्तव।
सहस्रनेत्रान्न पृथङ्मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितुं क्षमः॥ ५२॥

अन्वयः—(हे भैमि!) ऐरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवः तव मतः किम्? मम मते त्वदङ्गलक्ष्मीम् अवगाहितुं सहस्रनेत्रात् पृथक् क्षमो न॥ ५२॥

व्याख्या—अथ पद्याऽष्टकेन नामग्राहं कृताऽर्थनीयं सुरोत्तमं पृच्छति—मत इति। ऐरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवः = ऐरावतमस्तकपिण्डच्छल-कठोरपुष्टस्तनदिशापतिः, प्राचीपतिरिन्द्र इति भावः। तव = भवत्याः। मतः किम् = इष्टः किम्? मम, मते = सम्मते, त्वदङ्गलक्ष्मीं = त्वच्छरीरशोभाम्,

अवगाहितुं = सम्यगनुभवितुं, सहस्रनेत्रात्, = सहस्राक्षात्, महेन्द्रात्, पृथक् = अन्यः दिक्पालः, क्षमो न = समर्थो न, द्विनेत्रस्त्वत्सौन्दर्यमवगाहितुं न क्षमः, अतस्तदर्थं सहस्राक्ष एव क्षम इति भावः ॥ ५२ ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) ऐरावत हाथीके मस्तकके मांसपिण्डोंके छलसे कठोर स्तनोंवाली दिशा (पूर्वदिशा) के स्वामी (इन्द्र) तुम्हें अभीष्ट हैं क्या ? मेरे मतमें तुम्हारे शरीरकी शोभाका अनुभव करनेके लिए सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रसे अन्य पुरुष (दो नेत्रोंवाला) समर्थ नहीं है ॥ ५२ ॥

टिप्पणी— ऐरावतेत्यादिः=ऐरावतस्य कुम्भौ (ष० त०), तयोः कैतवम् (ष० त०)। प्रगल्भौ पीनौ स्तनौ यस्याः सा (बहु०)। ऐरावतकुम्भकैतवेन प्रगल्भपीनस्तनी (तृ० त०), सा चाऽसौ दिक् (क० धा०), तस्या धवः (ष० त०)। पूर्व दिशाके पति इन्द्र यह भाव है। तव = "मतः" के योगमें "क्तस्य च वर्तमाने" इससे षष्ठी। मतः = मन + क्तः + सु, "मतिबुद्धि-पूजाऽर्थेभ्यश्च" इससे वर्तमानमें क्त प्रत्यय। त्वदङ्गलक्ष्मीं = तव अङ्गं (ष० त०) तस्य लक्ष्मीः, ताम् (ष० त०)। अवगाहितुम् = अव + गाह + णिच् + तुमुन्। सहस्रनेत्रात् = सहस्रं नेत्राणि यस्य सः, तस्मात् (बहु०), "पृथक्" पदके योगमें "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इससे एक पक्षमें पञ्चमी। आपके सौन्दर्यका अवगाहन करनेके लिए हजार नेत्रोंवाले इन्द्रसे भिन्न कोई भी (अर्थात् दो नेत्रोंवाला) पुरुष समर्थ नहीं है, यह भाव है। इस पद्यमें उत्तर वाक्यार्थसे पूर्ववाक्यार्थका समर्थन होनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसका अपह्नुतिसे संसृष्टि है ॥ ५२ ॥

प्रसीद तस्मै दमयन्ति ! सन्ततं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैर्जगत्प्रभुः।
पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैस्तनुं घनामातनुतां स कण्टकैः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे दमयन्ति ! तस्मै प्रसीद। जगत्प्रभुः स सन्ततं तनुं त्वदङ्गसङ्ग-प्रभवैः पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैः कण्टकैः घनाम् आतनुताम् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—हे दमयन्ति = हे भैमि !, तस्मै = इन्द्राय, प्रसीद = प्रसन्ना भव। जगत्प्रभुः = लोकपतिः, सः = इन्द्रः, सन्ततं = निरन्तरं, तनुं = निज-शरीरं, त्वदङ्गसङ्गप्रभवैः = भवच्छरीरसमागमोत्पन्नैः, पुलोमजालोचनतीक्ष्ण-कण्टकैः = शचीनयननिशितसूच्यग्ररूपैः, कण्टकैः = पुलकैः, घनां = सान्द्राम् आतनुतां = करोतु, शच्याः सपत्नी भवेति भावः ॥ ५३ ॥

अनुवादः– हे दमयन्ति ! तुम इन्द्रसे प्रसन्न होओ। जगत्पति (इन्द्र) निरन्तर अपने शरीरको तुम्हारे शरीरके सम्पर्कसे उत्पन्न तथा इन्द्राणीके नेत्रोंके तीक्ष्ण कण्टक रोमाञ्चोंसे पूर्ण करें (इन्द्राणीकी सपत्नी बनो) ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—तस्मै = "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्" इससे सम्प्रदानसंज्ञा होनेसे चतुर्थी : प्रसीद = प्र + सद् + लोट् + सिप् । जगत्प्रभुः = जगतः प्रभुः (ष० त०) त्वदङ्गसङ्गप्रभवैः = तव अङ्गानि (ष० त०) तेषां सङ्गः (ष० त०), स प्रभवः (उत्पत्तिकारणम्) येषां ते, तैः (बहु०) । पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैः = पुलोमजाया लोचने (ष० त०), "पुलोमजा शचीन्द्राणी" इत्यमरः । तीक्ष्णाश्च ते कण्टकाः (क० धा०) । पुलोमजा-लोचनयोः तीक्ष्णकण्टकाः, तैः (ष० त०) ; "वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः ।" इति वैजयन्ती । आतनुताम् = आङ् + तन् + लोट् + त । हे दमयन्ति ! तुम्हारे साथ विवाह होनेसे तुम्हारे अङ्गोंके सम्पर्कसे इन्द्रके शरीरमें जो कण्टक (रोमाञ्च) होगा वह सपत्नी भावके कारण इन्द्राणीको कण्टक (काँटा) के समान होगा, यह भाव है । तुम इन्द्राणीकी सपत्नी (सौत) बनो, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें रोमाञ्चमें कण्टकत्वका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ५३ ॥

अबोधि तत्त्वं, दहनेऽनुरज्यसे स्वयं खलु क्षत्रियगोत्रजन्मनः ।
विना तमोजस्विनमन्यतः कथं मनोरथस्ते वलते विलासिनि ! ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे विलासिनि ! तत्त्वम् अबोधि, स्वयं दहने अनुरज्यसे खलु । क्षत्रियगोत्रजन्मनः ते मनोरथः ओजस्विनं तं विना अन्यतः कथं वलते ? ॥ ५४ ॥

व्याख्या–हे विलासिनि = हे विलासशीले !, तत्त्वं = परमार्थस्वरूपं, त्वन्मनोरथरूपम् इति भावः । अबोधि = बुद्धम्, किं तदित्याह—दहन इति ! स्वयम् = आत्मनैव, प्रेरणाऽभावेऽपीति भावः । दहने = अग्नौ, अनुरज्यसे = अनुरक्ताऽसि, खलु = निश्चयेन । दहनाऽनुरागं समर्थयते—क्षत्रियेति । क्षत्रिय-गोत्रजन्मनः = क्षत्रवंशजायाः, ओजस्विकुलप्रसूताया इति भावः । ते = तव, मनोरथः = अभिलाषः, ओजस्विनं, = तेजस्विनं, तं = दहनं विना = अन्तरेण, अन्यतः = अन्यत्र । कथं = केन प्रकारेण, वलते = प्रवर्तते, न कथमपीति भावः ॥ ५४ ॥

अनुवाद—हे विलासशीले ! परमार्थस्वरूप तुम्हारा मनोरथ जान लिया

तुम स्वयम् अग्निदेवमें अनुरक्त हो रही हो। क्षत्रियगोत्रमें उत्पन्न तुम्हारा अभिलाष तेजस्वी अग्निदेवको छोड़कर अन्यत्र कैसे प्रवृत्त होगा? ॥ ५४ ॥

टिप्पण—विलासिनि = विलसतीति तच्छीला विलासिनी, तत्सम्बुद्धौ, "वौ कषलसकत्थस्रम्भः" इससे घिनुण् वि + लस + घिनुण् (इन्) + ङीप् + सु। अबोधि = बुध् + लुङ् (कर्ममें) + त। अनुरज्यसे = अनु + रञ्ज + लट् + श्यन् + थास्। "अनिदितां हल उपाधायाः क्ङिति" इससे अनुनासिकका लोप। क्षत्रियगोत्रजन्मनः = क्षत्रियस्य गोत्रं (ष० त०), तस्मिन् जन्म यस्याः सा क्षत्रियगोत्रजन्मा, तस्याः (व्यधि० बहु०)। ओजस्विनम् = ओजस् + विनिः + अम्। अन्यतः = अन्यस्मिन् इति अन्य शब्दसे "आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इससे सार्वविभक्तिक तसि प्रत्यय। इस पद्यमें अग्नि भी ओजस्वी है और तुम भी ओजस्वी क्षत्रियके वंशमें उत्पन्न हो, अतः दोनोंके ओजस्वी होनेसे समागममें अनुरूपता होनेसे तुम्हारा अग्निमें अनुराग उचित है, ऐसा समर्थन करनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ५४ ॥

त्वयैकपत्न्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्यं न मनः कथंचन।
हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरूपिता॥ ५५॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) एकपत्न्या त्वया तनुतापशङ्कया ततो मनः कथंचन न निवर्त्यम्। तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु हिमोपमा वृत्तिः शतशः निरूपिता॥ ५५॥

व्याख्या—एकपत्न्या = पतिव्रतया, त्वया = भवत्या, तनुतापशङ्कया = देहदाहसम्भावनया, ततः = अग्नेः, मनः = चित्तं, कथंचन = कथंचनाऽपि, न निवर्त्यं = न परावर्तनीयम्। कुत इत्याह तस्य = अग्नेः, परीक्षणक्षणे = पातिव्रत्यपरीक्षाऽवसरे, सतीषु = पतिव्रतासु, सीतादिषु विषये, हिमोपमा = तुषारसदृशी, वृत्तिः = स्थितिः, शतशः = शतकृत्वः, निरूपिता = निर्धारिता॥ ५५॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) तुम पतिव्रता हो, इस कारणसे तुम्हें शरीरके दाहकी शङ्का कर अग्निदेवसे अपने मनको नहीं हटाना चाहिए, क्योंकि अग्निदेवके परीक्षा करनेके अवसरमें पतिव्रता स्त्रियोंमें बरफके समान स्थिति सैकड़ों बार देखी गई है॥ ५५॥

टिप्पणी—एकपत्न्या = एकः पतिर्यस्याः सा एकपत्नी, तया (बहु०) "नित्यं सपत्न्यादिषु" इस सूत्रसे नुक् और ङीप् प्रत्यय। तनुतापशङ्कया = तनोस्तापः (ष० त०) तस्य शङ्का, तया (ष० त०)। निवर्त्यं = नि +

वृत् + णिच् + यत् + सु, "अचो यत्" इससे यत्। परीक्षणक्षणे = परीक्षणस्य क्षणः, तस्मिन् (ष० त०)। हिमोपमा=हिमेन उपमा (साम्यम्) यस्याः सा (व्यधि० बहु०), शतशः = शत + शस्। इस पद्यमें पूर्ववाक्य एकपत्नीपदाऽर्थ-हेतुक है इसलिए पदाऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग और उसका भी उत्तरवाक्यार्थ हेतुक होनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है, इस प्रकार दोनोंका सङ्कर है ॥ ५५ ॥

स धर्मराजः खलु धर्मशीलया त्वयाऽस्ति चित्ताऽतिथितामवापितः ?।
ममाऽपि साधु प्रतिभात्ययं क्रमश्चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः ॥ ५६ ॥

अन्वयः - (हे दमयन्ति !) स धर्मराजः धर्मशीलया त्वया चित्ताऽतिथिताम अवापितः अस्ति खलु ? मम अपि अयं क्रमः साधु प्रतिभाति, हि योग्येन योग्यसंगमः चकास्ति ॥ ५६ ॥

व्याख्या:—स = प्रासिद्धः, धर्मराजः = यमः धर्मशीलया = धर्मचारिण्या, त्वया = भवत्या, चित्ताऽतिथितां = मनोगोचरत्वम्, अवापितः = प्रापितः, अस्ति खलु = विद्यते किम् ?, कामितः किमिति भावः। क्रममिमं समर्थयते—मम अपि, अयम् = एषः, क्रमः = परिपाटी, साधु = समीचीनं यथा तथा, प्रतिभाति = परिस्फुरति, हि = यतः, योग्येन = अर्हेण सह, योग्यसंगमः = अर्ह-सम्बन्धः, चकास्ति=शोभते, उभयोर्धार्मिकत्वादिति भावः ॥ ५६ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) प्रसिद्ध धर्मराज (यम) को धर्मचारिणी तुमने चित्तका अथिति बना लिया है क्या ? मुझे भी यह क्रम (प्रवृत्ति) अच्छा लगता है, क्योंकि योग्यके साथ योग्यका सम्बन्ध शोभित होता है ॥ ५६ ॥

टिप्पणी – धर्मराजः = धर्मस्य राजा (ष० त०), धर्मशीलया = धर्मं-शीलयतीति धर्मशीला, तया, धर्म-उपपदपूर्वक-"शील उपधारणे" धातुसे "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्योणः" इस सूत्रसे ण प्रत्यय (उपपद०)। चित्ताऽतिथितां = चित्तस्य अतिथिता, ताम् (ष० त०)। अवापितः अव + आप् + णिच् + क्त + सु। खलु = "निषेधवाक्याऽलङ्कारजिज्ञासाऽनुनये खलु।" इत्यमरः। "खलु" शब्द यहाँपर जिज्ञासा अर्थमें है। योग्यसंगमः = योग्यस्य संगमः (ष० त०)। चकास्ति = चकास् + लट् + तिप्। इस पद्यमें अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

अज्ञातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवैरगस्त्यभासा दिशि निर्मलत्विषि।
धुताऽवधि कालममृत्युशङ्किता निमेषवत्तेन नयस्व केलिभिः ॥ ५७ ॥

अन्वय:—(हे दमयन्ति !) अगस्त्यभासा निर्मलत्विषि दिशि तेन अमृत्युशङ्किता (सती) अजातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवैः केलिभिः धुताऽवधि कालं निमेषवत् नयस्व ॥ ५७ ॥

व्याख्या—अगस्त्यभासा = अगस्त्यदीप्त्या, निर्मलत्विषि = उज्ज्वलकान्तौ दिशि = काष्ठायां, दक्षिणस्यां दिशीति भावः । तेन = धर्मराजेन सह, अमृत्युशङ्किता = मरणशङ्कारहिता सती, अजातविच्छेदलवैः = अनुत्पन्नवियोगलेशैः, स्मरोत्सवैः=कामसंभोगैः एव, "स्मरोद्भवैः" इति पाठान्तरे कामोत्पन्नैरित्यर्थः। केलिभिः = विनोदैः, धुताऽवधि = सीमारहितं, कालं = समयम्, अनन्तकालम् इति भावः । निमेषवत् = निमेषतुल्यं, नयस्व = यापय, वरान्तरस्वीकार एतादृशं सौभाग्यं न प्राप्स्यत इति भावः ॥ ५७ ॥

अनुवाद:—(हे दमयन्ति !) अगस्त्य ऋषिके प्रकाशसे निर्मल कान्तिवाली दिशा (दक्षिण) में यमराजके साथ मरणकी शङ्कासे रहित होती हुई वियोगके लेशसे भी रहित कामदेवके संभोगरूप विनोदोंसे सीमाशून्य कालको निमेषके समान व्यतीत करो ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—अगस्त्यभासा=अगस्त्यस्य भाः, तया (ष० त०) । निर्मलत्विषि= निर्गतं मलं यस्याः सा निर्मला (बहु०), सा त्विट् यस्याः सा तस्याम् (बहु०) । अमृतशङ्किता = शङ्कनं शङ्कितम्, शकि + क्त (भावमें) + सु । मृत्योः शङ्कितं (ष० त०) । अविद्यमानं मृत्युशङ्कितं यस्याः सा (नञ्बहु०)। अजातविच्छेदलवैः = न जातः (नञ्०) । विच्छेदस्य लवः (ष० त०) । अजातो विच्छेदलवो येषु, तैः (बहु०) । स्मरोत्सवैः = स्मरस्य उत्सवाः, तैः (ष० त०) । धुताऽवधि = धुतः अवधिः (अन्तः) यस्य, तम् (बहु०) । निमेषवत् = निमेषेण तुल्यम्, निमेष + वतिः । नयस्व = नी + लोट् + थास् । धर्मराजको छोड़कर अन्य वरके स्वीकारमें ऐसा सौभाग्य दुर्लभ है, यह भाव है ॥ ५७ ॥

शिरीषमृद्वी वरुणं किमीहसे पयः प्रकृत्या मृदुवर्गवासवम् ? ।
विहाय सर्वान् वृणुते स्म किं न सा निशाऽपि शीतांऽशुमनेन हेतुना ॥ ५८ ॥

अन्वय:—(हे दमयन्ति !) (अथ वा) शिरीषमृद्वी (त्वम्) पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवं वरुणं ईहसे किम् ? (तथा हि) सा निशा अपि अनेन हेतुना सर्वान् विहाय शीतांऽशुं न वृणुते स्म किम् ? ॥ ५८ ॥

व्याख्या—(अथ वा) शिरीषमृद्वी = शिरीषकोमला, त्वमिति शेषः। पयःप्रकृत्या = जलस्वभावेन, मृदुवर्गवासवं = कोमलसमूहेन्द्रं, वरुणं = पश्चिमदिक्पालम्, ईहसे किम्=इच्छसि किम् ?, दृष्टान्तेनामुमर्थमुपपादयति—विहायेति। सा = मृदुस्वभावा, निशा अपि = रात्रिः अपि, अनेन = मृदुस्वभावत्वेन एव, हेतुना = कारणेन, सर्वान् = सकलान्, तीक्ष्णान् सूर्यादीनिति भावः। विहाय = त्यक्त्वा, शीतांऽशुं = चन्द्रमसं, न वृणुते स्म किं = न स्वीकुरुते स्म किं, वृणुते एवेति भावः ॥ ५८ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) अथ वा शिरीषके फूलके समान कोमलाङ्गी तुम जलके स्वभावसे कोमल पदार्थोंके इन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ वरुणदेवको चाहती हो क्या ? रात्रि भी कोमल स्वभाव होनेसे सब (सूर्य आदि) को छोड़कर चन्द्रको ही वरण नहीं करती है क्या ? ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—शिरीषमृद्वी = शिरीषम् इव मृद्वी (उपमान० कर्म०) पयः-प्रकृत्या = पयसः प्रकृतिः, तया (ष० त०)। वरुणका जलमय शरीर होनेसे ऐसा कहा गया है। मृदुवर्गवासवं = मृदूनां वर्गः (ष० त०), तस्मिन् वासवः, तम् (स० त०)। ईहसे = ईह + लट् + थास्। अनेन हेतुना = "सर्वनाम्नस्तृतीया च" इस सूत्रसे तृतीया। शीतांऽशुं = शीता अंशवो यस्य सः, तम् (बहु०) इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

असेवि यस्त्यक्तदिवा दिवानिशं श्रियः प्रियेणाऽनणुरामणीयकः।
सहाऽमुना तत्र पयः पयोनिधौ कृशोदरि ! क्रीड यथामनोरथम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे कृशोदरि ! अनणुरामणीयकः यः त्यक्तदिवा श्रियः प्रियेण दिवानिशम् असेवि। तत्र पयःपयोनिधौ अमुना सह यथामनोरथं क्रीड ॥ ५९ ॥

व्याख्या—हे कृशोदरि = हे दमयन्ति !, अनणुरामणीयकः = अतिरमणीयः, यः = पयःपयोनिधिः (क्षीरसागरः), त्यक्तदिवा = त्यक्तस्वर्गेण, श्रियः = लक्ष्म्याः, प्रियेण = वल्लभेन, नारायणेनेति भावः। दिवानिशं = रात्रिन्दिवम्, असेवि = सेवितः। तत्र = तस्मिन्, पयःपयोनिधौ = क्षीरसागरे, अमुना सह = वरुणेन समं, यथामनोरथम् = अभिलाषाऽनुसारं, क्रीड = क्रीडां कुरु, लक्ष्मीनारायणवदिति भावः ॥ ५९ ॥

अनुवादः—हे कृशोदरि ! अत्यन्त सुन्दर जिस क्षीरसमुद्रका स्वर्गको भी छोड़कर नारायणने दिन-रात आश्रय लिया, उस समुद्रमें वरुणदेवके साथ तुम इच्छाके अनुसार क्रीडा करो ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—कृशोदरि = कृशम् उदरं यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। अनणुरामणीयकः = न अणु (नञ्०)। रमणीयस्य भावः रामणीयकम् (रमणीय + वुञ्)। अनणु रामणीयकं यस्य सः (बहु०)। त्यक्तदिवा = त्यक्ता द्यौर्येन, तेन (बहु०)। दिवा च निशा च दिवानिशम् (समाहारद्वन्द्वः) "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे कालके अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया। असेवि = सेव + लुङ् (कर्ममें) + त। पयःपयोनिधौ = पयसां निधिः (ष० त०)। पयसः पयोनिधिः, तस्मिन् (ष० त०)। यथामनोरथं = मनोरथम् अनतिक्रम्य (अव्ययीभाव०)। क्रीड = क्रीड + लोट् + सिप्। हे दमयन्ति। तुम क्षीरसमुद्रमें लक्ष्मीनारायणके समान वरुणदेवके साथ क्रीडा करो यह भाव है ॥ ५९ ॥

इति स्फुटं तद्वचसस्तदादरात्सुरस्पृहाऽऽरोपविडम्बनादपि ।
कराऽङ्कसुप्तैककपोलकर्णया श्रुतं च तद्भाषितमश्रुतं च तत् ॥ ६० ॥

अन्वयः—इति स्फुटं तत् तद्भाषितं तद्वचसः आदरात् सुरस्पृहाऽऽरोपविडम्बनात् अपि कराऽङ्कसुप्तैककपोलकर्णया तया श्रुतम् अश्रुतं च ॥ ६० ॥

व्याख्या—इति = इत्थं, स्फुटं = स्पष्टाऽर्थं, तत् = पूर्वोक्तं, तद्भाषितं = नलवाक्यं, तद्वचसः = नलवाक्यस्य, आदरात् = सम्मानात्, अनुरागादिति भावः। सुरस्पृहाऽऽरोपविडम्बनात् अपि = देवाऽभिलाषरूपणपरिहासात् अपि, कराऽङ्कसुप्तैककपोलकर्णया = हस्तोत्सङ्गविश्रान्तैकगण्डश्रोत्रया, तया = दमयन्त्या, श्रुतम् = आकर्णितम्, अश्रुतं च = अनाकर्णितं च ॥ ६० ॥

अनुवादः—इस प्रकार स्पष्ट अर्थवाले नलके वाक्यको उनके वचनके अनुरागसे और इन्द्र आदि देवताओंमें अभिलाषके आरोपके परिहाससे भी एक हाथपर एक कपोल और कर्णको रखनेवाली दमयन्तीने सुना और नहीं सुना भी ॥ ६० ॥

टिप्पणी—तद्भाषितं = तस्य भाषितम् (ष० त०)। तद्वचसः = तस्य वचः, तस्य (ष० त०)। सम्बन्धसामान्यमें षष्ठी। सुरस्पृहाऽऽरोपविडम्बनात् = सुरेषु स्पृहा (स० त०), तस्या आरोपः (ष० त०), तस्य विडम्बनं, तस्मात् (ष० त०)। कराऽङ्कसुप्तैककपोलकर्णया = करस्य अङ्कः (ष० त०), तस्मिन् सुप्तम् (स० त०)। कपोलौ च कर्णौ च कपोलकर्णम्, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इस सूत्रसे प्राण्यङ्ग होनेसे समाहारमें द्वन्द्व। कराऽङ्कसुप्तम् एकं कपोलकर्णं यस्याः, तस्या (बहु०)। दमयन्तीने इन्द्र आदि देव-

ताओंमें अभिलाषका आरोप करनेसे करतलसे एक कानको आच्छादित कर और नलके अनुरागसे एक ही कानसे नलका वाक्य सुना, दोनों कानोंमे नहीं, यह भाव है। एक कपोलका आच्छादन चिन्ताके कारणसे है। इस पद्यमें यथासंख्य अलङ्कार है ।। ६० ।।

चिरादनध्यायमवाङ्मुखी मुखे ततः स्म सा वासयते दमस्वसा।
कृताऽऽयतश्वासविमोक्षणाऽथ तं क्षणाद् बभाषे करुणं विचक्षणा ॥ ६१ ॥

अन्वयः—ततः सा दमस्वसा अवाङ्मुखी मुखे चिरात् अनध्यायं वासयते, स्म। अथ विचक्षणा सा कृताऽऽयतश्वासविमोक्षणा (सती) तं क्षणात् करुणं बभाषे ।। ६१ ।।

व्याख्या—ततः = नलवाक्याऽनन्तरं, सा = प्रसिद्धा, दमस्वसा = दमयन्ती, अवाङ्मुखी = अधोमुखी सती, चिन्तयेति शेषः। मुखे = वदने, चिरात् = चिरं, बहुकालं यावदिति भावः। अनध्यायं = मौनं, वासयते स्म = वासितवती, मुहूर्तं तूष्णीं बभूवेति भावः। अथ = अनन्तरं, विचक्षणा = वक्त्री, सा = दमयन्ती, कृताऽऽयतश्वासविमोक्षणा = विहितदीर्घनिःश्वासत्यागा = दीर्घं निःश्वस्येति भावः। तं = नलं, क्षणात् = क्षणं विलम्ब्येत्यर्थः। करुणं = दीनं यथा तथा, बभाषे = भाषितवती ।। ६१ ।।

अनुवादः—तब दमयन्तीने नम्रमुख होकर बहुत समयतक मौन धारण किया। अनन्तर भाषण करनेवाली वे लम्बा श्वास छोड़कर नलसे कुछ विलम्ब कर दीनतापूर्वक कहने लगीं ।। ६१ ।।

टिप्पणी—दमस्वसा = दमस्य स्वसा (ष० त०)। अनध्यायम् = अधीयतेऽस्मिन्निति अध्यायः, अधि + इङ् + घञ्, "अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च" इस सूत्रसे निपातन। अध्यायस्याऽभावः अनध्यायम् (अर्थाभावमें अव्ययीभाव)। वासयते स्म = वस + णिच् + लट् + त, "स्म" के योगमें भूतकालमें लट्। "णिचश्च" इससे आत्मनेपद। विचक्षणा = विचष्टे इति वि + चक्ष् + युच् + टाप् + सु, "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इससे युच् (अन)। कृताऽऽयतश्वासविमोक्षणा = आयतश्चाऽसौ श्वासः (क० धा०), तस्य विमोक्षणम् (ष० त०)। कृतम् आयतश्वासविमोक्षणं यया सा (बहु०)। क्षणात् = क्षणं विलम्ब्य, ल्यप्के लोपमें पञ्चमी। मौन, दीर्घश्वासत्याग और अवाङ्मुखत्व ये सब चिन्ताके अनुभाव (कार्य) स्वरूप हैं ।। ६१ ।।

विभिन्दता दुष्कृतिनीं मम श्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः ।
प्रयातजीवामिव मां प्रति स्फुटं कृतं त्वयाऽप्यन्तकदूततोचितम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः– (हे महोदय !) दुष्कृतिनीं मम श्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः विभिन्दता त्वया अपि प्रयातजीवाम् इव मां प्रति स्फुटम् अन्तकदूततोचितं कृतम् ॥ ६२ ॥

व्याख्या – दुष्कृतिनीं = दुष्कर्मकारिणीं, मम, श्रुतिं = कर्णं, दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः = इन्द्रादिदिक्पालदुष्टसन्देशरूपकण्टकाऽग्रसमूहैः, विभिन्दता = विदारयता, त्वया अपि = नलाकृतिना सुन्दरेण भवता अपि, प्रयातजीवाम् इव = गतजीवनां, प्रेताम् इव, मां प्रति, स्फुटं = व्यक्तं यथा तथा, अन्तकदूततोचितं = यमदौत्ययोग्यं, कर्मेति शेषः, कृतं = विहितम् । पतिव्रतानां कृते परपुरुषवार्ताऽपि यमयातनाया नाऽतिरिच्यत इति भावः ॥ ६२ ॥

अनुवादः–(हे महोदय !) दुष्कर्म करनेवाले मेरे कानको इन्द्र आदि दिक्पालोंके दुष्टसन्देशरूप सुइयोंसे भेदन करनेवाले आपने भी मृतसदृश मेरे प्रति स्पष्ट रूपसे यमराजके दूतभावका उचित कर्म किया है ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः = दिशाम् इन्द्राः (ष० त०)। दुष्टानि वाचिकानि (गति०)। दिगिन्द्राणां दुर्वाचिकानि (ष० त०) तानि एव सूचयः (रूपक०), तासां सञ्चयाः, तैः (ष० त०)। विभिन्दता=विभिनत्तीति विभिन्दन्, तेन, वि+भिद्+लट् (शतृ)+टा । प्रयातजीवां = प्रयातः जीवः (जीवनम्) यस्याः सा, ताम् (बहु०)। अन्तकदूततोचितत् = अन्तकस्य दूतता (ष० त०), तस्या उचितम् (ष० त०)। पतिव्रता स्त्रियोंके लिए परपुरुषोंकी वार्ता भी यमयातनासे अधिक नहीं होती है ? (होती ही है)। इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कारकी संसृष्टि है ॥ ६२ ॥

त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशोमसीमयत्वाल्लिपिरूपभागिव ।
श्रुतिं ममाऽऽविश्य भवद्दुरक्षरं सृजत्यदः कीटवदुत्कटा रुजः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशोमसीमयत्वात् लिपिरूपभाक् इव अदः भवद्दुरक्षरं कीटवत् मम श्रुतिम् आविश्य उत्कटाः रुजः सृजति ॥ ६३ ॥

व्याख्या--त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशोमसीमयत्वात् = भवदास्यनिर्गच्छन्मन्मिथ्याभूतदुष्कीर्तिमषीप्रचुरत्वात्, लिपिरूपभाक् इव = लिप्यक्षरतां प्राप्तम् इव, स्थितमिति शेषः । अदः = इदं, भवद्दुरक्षरं = त्वद्दुर्वाक्यं, कीटवत् =

दंशादिजन्तुवत् मम, श्रुतिं = कर्णम्, आविश्य=प्रविश्य, उत्कटाः = दुःसहाः, रुजः = पीडाः, सृजति = जनयति ॥ ६३ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) आपके मुखसे निकली हुई मेरी मिथ्या दुष्कीर्तिरूप मसी (स्याही) से प्रचुर होनेसे मानों लिपिके अक्षरभावको प्राप्त यह आपका दुर्वाक्य दंश आदि कीड़ेके समान मेरे कानमें घुसकर असह्य पीडा कर रहा है ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—त्वदास्येत्यादिः = तव आस्यम् (ष० त०)। त्वदास्यात् निर्यत् (प० त०) दुष्टं यशः (गति०)। अलीकं च तत् दुर्यशः (क० धा०)। मम अलीकदुर्यशः (ष० त०)। त्वदास्यनिर्यच्च तत् मदलीकदुर्यशः (क० धा०), तदेव मसी (रूपक०), सा प्रचुरा यस्मिंस्तत् त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशोमसीमयम्, त्वदास्य० — मसी + मयट् + सु। तस्य भावः तत्त्वं, तस्मात् (त्वप्रत्यय)। लिपिरूपभाक् = लिपे रूपं (ष० त०), तद् भजतीति, लिपिरूप + भज् + ण्विः (उपपद०) + सु। भवद्दुरक्षरं=दुष्टम् अक्षरं (गति०), जातिमें एकवचन। भवतो दुरक्षरम् (ष० त०) आविश्य = आङ् + विश् + क्त्वा (ल्यप्)। इस पद्यमें रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

तमालिरूचेऽथ विदर्भजेरिता "प्रगाढमौनव्रतयैकया सखी।
त्रपां समाराधयतीयमन्यया भवन्तमाह स्म रसज्ञया मया ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अथ विदर्भजेरिता आलिः तम् ऊचे—(हे सौम्य !) इयं सखी प्रगाढमौनव्रतया एकया रसज्ञया त्रपां समाराधयति, (अतः) मया अन्यया रसज्ञया भवन्तम् आह स्म ॥ ६४ ॥

व्याख्या—अथ = भैमीवाक्याऽनन्तरं, विदर्भजेरिता = वैदर्भीप्रेरिता, आलिः = सखी, तं = नलम्, ऊचे = जगाद (हे सौम्य !), इयम् = सन्निकृष्टस्था, सखी = वयस्या, दमयन्ती, प्रगाढमौनव्रतया = दृढमुनिव्रतयुक्तया, एकया, रसज्ञया = जिह्वया, त्रपां=लज्जां, समाराधयति = भजते, अतः मया = मद्रूपया, अन्यया = अपरया, रसज्ञया = जिह्वया, अभिलाषाऽभिज्ञया च, भवन्तं = त्वाम्, आह स्म=कथयति। अनन्तरवाच्यं, मया=मद्रूपया, रसज्ञया = जिह्वया, नलाऽनुरागाऽभिज्ञया च, भवन्तं = त्वाम्, आह स्म = कथितवती, लज्जया स्वयं वक्तुमशक्ता सती मन्मुखेन वक्तीति भावः ॥ ६४ ॥

अनुवादः—तब दमयन्तीसे प्रेरित सखीने कहा--(हे सौम्य !) ये हमारी सखी (दमयन्ती) प्रगाढ मौनव्रत लेनेवाली एक रसज्ञा (जीभ) से लज्जाकी आराधना करती हैं (मौन लेती हैं) मेरे स्वरूप दूसरी रसज्ञा- (जीभ वा नलके अनुरागको जाननेवाली) से उन्होंने आपको कहा है ॥ ६४॥

टिप्पणी-- विदर्भजेरिता = विदर्भजया ईरिता (तृ० त०)। प्रगाढमौन- व्रतया = प्रगाढं मौनम् एव व्रतं यस्याः सा (बहु०), तया। रसज्ञया = रसं जानातीति रसज्ञा, तया, रस + ज्ञा + क (उपपद०), टाप् + टा। समाराध- यति = सम् + आङ् + राध + णिच् + लट् + तिप्। लज्जासे स्वयम् कहनेके लिए असमर्थ होकर दमयन्ती मेरे द्वारा अपना भाव प्रकाशित करती हैं, यह भाव है ॥ ६४ ॥

तमर्चितुं संवरणस्रजा नृपं स्वयंवरः संभविता परेद्यवि।
ममाऽसुभिर्गन्तुमनाः पुरःसरैस्तदन्तरायः पुनरेष वासरः ॥ ६५ ॥

अन्वयः--(हे महोदय !) मम संवरणस्रजा तं नृपम् अर्चितुं परेद्यवि स्वयंवरः संभाविता। पुरःसरैः मम असुभिः गन्तुमनाः एष वासरः पुनः तदन्तरायः ॥ ६५ ॥

व्याख्या – सखी स्वयमेव दमयन्ती भूत्वाऽऽह– तमित्यादि। मम, संवरण- स्रजा = स्वीकरणपुष्पमालया, तं = पूर्वोक्तं, नृपं = राजानं नलम्, अर्चितुं = पूजयितुं, परेद्यवि = परेऽहनि, स्वयंवरः = स्वयंवरोत्सवः संभविता = संभवि- ष्यति, किन्तु, पुरःसरैः = अग्रसरैः, मम, असुभिः = प्राणैः सह, गन्तुमनाः = गन्तुकामः, प्राणानादाय गन्तुकाम इति भावः। एषः = अयं, वासरः पुनः = दिवसस्तु, तदन्तरायः = स्वयंवरविघ्नः, दिनमात्रविलम्बोऽपि दुःसह इति भावः ॥ ६५ ॥

अनुवादः –(हे महोदय !) मेरे वरणकी मालासे राजा नलकी पूजा करनेके लिए दूसरे दिन (कल) स्वयंवर होगा किन्तु पहले ही जानेवाले मेरे प्राणोंको लेकर जानेकी इच्छा करनेवाला यह दिन तो विघ्नस्वरूप हो रहा है ॥ ६५ ॥

टिप्पणी – संवरणस्रजा = संवरणस्रजा स्रक्, तया (ष० त०)। अर्चितुम् = अर्च + तुमुन्। परेद्यवि = "सद्यःपरुत्" इत्यादिसे निपातन। संभविता = सं + भू + लुट + तिप्। पुरःसरैः = पुरःसरन्तीति पुरःसराः, तैः, पुरस् + सृ + ट (उपपद०) + भिस्। "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः" इस सूत्रसे ट प्रत्यय।

गन्तुमनाः = गन्तुं मनो यस्य सः (बहु०), "तुं काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । तदन्तरायः = तस्य अन्तरायः (ष० त०), "विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः । एक दिनका विलम्ब अत्यन्त दुःसह प्रतीत हो रहा है, यह भाव है । इससे औत्सुक्य प्रतीत होता है ॥ ६५ ॥

तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे, दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी ।
नखैः किलाऽऽख्यायि विलिख्य पक्षिणा तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः ॥ ६६ ॥

अन्वयः--(हे महोदय !) तत् अद्य विश्रम्य मे दयालुः ? एधि, भवद्विलोकिनी (सती) दिनं निनीषामि; स मत्प्रियः पक्षिणा नखैः विलिख्य तव एव रूपेण समः आख्यायि किल ॥ ६६ ॥

व्याख्या--तत् = तस्मात् औत्सुक्यात्, अद्य = अस्मिन् दिने, विश्रम्य = विश्रमं कृत्वा, मे = मम, दयालुः = कृपालुः, एधि = भव, तन्निवासस्य फलमाह—दिनमिति । भवद्विलोकिनी = त्वद्विलोकनशीला सती, दिनं = दिवसं, निनीषामि = नेतुम् इच्छामि । मद्दर्शनात्कथं ते दिननयनमित्याशङ्क्याह—नखैरिति । सः = पूर्वोक्तः, मत्प्रियः = मद्वल्लभः, नल इति भावः । पक्षिणा = विहगेन, हंसेन इति भावः । नखैः = नखरैः, विलिख्य = विलेखनं कृत्वा, तव एव = भवत एव, रूपेण = आकारेण, समः = सदृशः, आख्यायि = आख्यातः, किल = खलु । अतस्त्वद्दर्शनाद्दिवसं यापयिष्यामीति भावः ॥ ६६ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) उस कारणसे आज विश्राम करके मुझपर दयालु हों । मैं आपको देखती हुई दिन बिताना चाहती हूँ । मेरे प्यारे उन नलको पक्षी हंसने नाखूनोंसे लिखकर आपके ही आकारके समान बतलाया था ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—विश्रम्य = वि + श्रम + क्त्वा (ल्यप्) । दयालुः = दय + आलुच् + सु । एधि = अस् + लोट् + सिप् । भवद्विलोकिनी=भवन्तं विलोकते तच्छीला, भवत् + वि + लोक + णिनिः (उपपद०) + ङीप् + सु । निनीषामि= नी + सन् + लट् + मिप् । मत्प्रियः = मम प्रियः (ष० त०) । विलिख्य = वि + लिख + क्त्वा (ल्यप्) । आख्यायि = आङ् + ख्या + लुङ् (कर्ममें) + त ॥ ६६ ॥

दृशोर्द्वयी ते विधिनाऽस्ति वञ्चिता, मुखेन्दुलक्ष्मीं तव यन्न वीक्षते ।
असावपि श्वस्तदिमां नलाऽऽनने विलोक्य साफल्यमुपैतु जन्मनः ॥ ६७ ॥

अन्वय:—अद्येह स्थितौ तवाऽपि साफल्यं स्यादित्याह—दृशोरिति। (हे सौम्य !) विधिना ते दृशो: द्वयी वञ्चिता अस्ति, यत् तव मुखेन्दुलक्ष्मीं न वीक्षते। तत् असौ अपि श्व: इमां नलाऽऽनने विलोक्य जन्मसाफल्यम् उपैतु ॥ ६७ ॥

व्याख्या—विधिना = स्रष्ट्रा, ते = तव, दृशो: = नेत्रयो:, द्वयी = द्वितयी, दृग्द्वयीति भाव:। वञ्चिता = प्रतारिता, विफलीकृतेति भाव:। अस्ति = वर्तते, यत् = यस्माद्धेतो:, तव = भवत:, मुखेन्दुलक्ष्मीं = वदनचन्द्रशोभां, न वीक्षते = न पश्यति, त्वद्दृग्द्वयीति शेष:। स्वमुखस्य स्वचक्षुषा द्रष्टुमशक्यत्वादिति भाव:। तत् = तस्मात्कारणात्, असौ अपि = त्वद्दृग्द्वयी अपि, श्व: = परेऽह्नि, इमां = त्वन्मुखलक्ष्मीं, नलाऽऽनने=नैषधमुखे, विलोक्य = दृष्ट्वा, जन्मसाफल्यं = जननसफलताम्, उपैतु = प्राप्नोतु ॥ ६७ ॥

अनुवाद:—(हे सौम्य !) ब्रह्माजीने आपके दोनों नेत्रोंको निष्फल कर दिया है जो कि ये आपके मुखचन्द्रकी शोभाको नहीं देखते हैं। इस कारणसे वे भी कल आपके मुखकी शोभाको नलके मुखमें देखकर जन्मकी सफलताको प्राप्त करें ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—मुखेन्दुलक्ष्मीं =मुखम् इन्दुरिव (उपमित०)। मुखेन्दो: लक्ष्मी: पाम् (ष० त०)। वीक्षते=वि + ईक्ष + लट् + त। नलाऽऽनने = नलस्य आननं, तस्मिन् (ष० त०)। विलोक्य=वि +लोक् + क्त्वा (ल्यप्)। जन्मसाफल्यं = जन्मन: साफल्यं, तत् (ष० त०)। इस पद्यमें दूतमें देवबुद्धिसे दूतमुखलक्ष्मी और नलमुखलक्ष्मीमें भेद होनेपर भी अभेदकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ६७ ॥

ममैव पाणीकरणेऽग्निसाक्षिकं प्रसङ्गसम्पादितमङ्ग ! संगतम्।
न हा ! सहाऽधीतिधृत: स्पृहा कथं यवाऽऽर्यपुत्रीयमजर्यमर्जितुम् ?॥ ६८॥

अन्वय:— अङ्ग ! मम पाणीकरणे एव अग्निसाक्षिकं प्रसङ्गसंपादितम्, आर्यपुत्रीयम् अजर्यं संगतम् अर्जितुं सहाऽधीतिधृत: तव स्पृहा कथं न हा !॥६८॥

व्याख्या—हे अङ्ग = हे महोदय !, मम = कुमार्या:, पाणीकरण एव = पाणिग्रहण एव, अग्निसाक्षिकम्=अग्निसाक्षिकं यथा तथा, विवाहाऽग्निसन्निधौ एवेति भाव:। संगतं = मैत्रं, नलेन सहेति शेष:। प्रसङ्गसम्पादितं = स्वयंवराऽवसरसम्पादितं, स्यात्, आर्यपुत्रीयं =नलीयम्, अजर्यं = स्थिरं, संगतं = सख्यम्, अर्जितुं = सम्पादयितुं, सहाऽधीतिवत: = तुल्यरूपताधारिण:, तव = भवत:,

स्पृहा = अभिलाषः, कथं = केन प्रकारेण, न = नो वर्तते । हा=विषादः, सर्वथा स्पृहणीया तत्सङ्गतिरिति भावः ॥ ६८ ॥

अनुवादः—हे महोदय ! मेरे पाणिग्रहण (विवाह) में ही विवाहके अग्निके समीप स्वयंवरके अवसरपर सम्पादित नलकी स्थिर मित्रताका उपार्जन करनेके लिए नलके तुल्य रूपवाले आपको अभिलाष क्यों नहीं होता है ? हाय ! ॥६८॥

टिप्पणी - पाणौकरणे = "नित्यं हस्ते पाणावुपयमने" इस सूत्रसे "पाणौ" शब्दकी गतिसंज्ञा होनेसे "कुगतिप्रादयः" इससे समास । अग्निसाक्षिकम् = अग्निः साक्षी यस्मिन्, तत् (बहु०) । प्रसङ्गसम्पादितं = प्रसङ्गात् सम्पादितम् (प० त०), तत् । आर्यपुत्रीयम् = आर्या च आर्यश्च आर्यौ "पुमान्स्त्रिया" इससे एकशेष । "आर्यौ" कहनेसे श्वश्रू और श्वशुरका बोध होता है । आर्ययोः पुत्रः (ष० त०), पतिरित्यर्थः । आर्यपुत्रस्य इदम् आर्यपुत्रीयम् "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय + सु । अजर्यम् = न जीर्यतीति, नञ् + जॄष् + यत् + सु, "अजर्यं संगतम्" इससे निपात । अर्जितुम् = अर्ज + तुमुन् । सहाऽधीतिधृतः = सहाऽधीतिं धारयतीति सहाऽधीतिधृत्, तस्य, सहाऽधीति + धृञ् + णिच् + क्विप् (उपपद०) + ङस् । राम और सुग्रीवके समान नलके साथ आपकी मित्रता सर्वथा स्पृहणीय है यह भाव है ॥ ६८ ॥

दिगीश्वराऽर्थं न कथंचन त्वया कदर्थनीयाऽस्मि कृतोऽयमञ्जलिः ।
प्रसद्यतां नाऽद्य निगाद्यमीदृशं दधे दृशौ बाष्पयाऽऽस्पदे भृशम् । ६९ ॥

अन्वयः--(हे महोदय !) त्वया अस्मि दिगीश्वराऽर्थं कथंचन न कदर्थनीया, अयम् अञ्जलिः कृतः प्रसद्यताम् । अद्य ईदृशं न निगाद्यं, भृशं बाष्परयाऽऽस्पदे दृशौ दधे ॥ ६९ ॥

व्याख्या--त्वया = भवता, अस्मि = अहं, दिगीश्वराऽर्थं = महेन्द्रादिदिक्पालाऽर्थं, कथंचन = केनाऽपि प्रकारेण, न कदर्थनीया = न पीडनीया, अयम् = एषः, अञ्जलिः = संयुतकरपुटः, कृतः = विहितः । त्वां प्रार्थय इति भावः । प्रसद्यतां = प्रसन्नेन भूयताम् । अद्य = अधुना, ईदृशम् = एतादृशं, दिगीशसन्देशवाक्यमिति भावः । न निगाद्यं = नो वाच्यं, भृशम् = अत्यर्थं, बाष्परयाऽऽस्पदे = अश्रूवेगाऽऽश्रयभूते, दृशौ = नेत्रे, दधे = धारयामि, रोदिमीति भावः । नैवं दुःखाकर्तुमुचितमिति भावः ॥ ६९ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) तुम्हें मुझको इन्द्र आदि दिक्पालोंके लिए किसी तरह भी पीडा नहीं देनी चाहिए । यह मैं हाथ जोड़ती हूँ, प्रसन्न होओ । आज

तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए, मैं आँखोंको आँसुओंसे भरती हूँ (रोती हूँ) ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—दिगीश्वराऽर्थं = दिशाम् ईश्वराः (ष० त०), दिगीश्वरेभ्य इदं, "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तम्" इनसे (च० त०), प्रसद्यता = प्र + सद् + लोट् (भावमें) + त । निगाद्यं = निगदितुं योग्यम्, "गदमद०" इत्यादि सूत्रमें अनुपसर्ग गद धातुसे यत्का विधान होनेसे "ऋहलोर्ण्यत्" इससे ण्यत् + सुः । बाष्परयाऽऽस्पदे = बाष्पस्य रयः (ष० त०), तस्य आस्पदे, ते (ष० त०) । "आस्पदं प्रतिष्ठायाम्" इससे "आस्पद" शब्दका सुट्के साथ निपातन । इस प्रकार आपको मुझे दुःखित नहीं करना चाहिए यह भाव है । इस पद्यमें भावोदय अलङ्कार है ॥ ६९ ॥

वृणे दिगीशानिति का कथा ? तथा त्वयीति नेक्षे नलभामपीहया ।
सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्म यः ॥७०॥

अन्वयः—(हे महोदय !) दिगीशान् वृणे इति का कथा ? नलस्य भाम् अपि त्वयि इति तथा ईहया न ईक्षे । सतीव्रते अग्नौ जीवितं तृणयामि, स्मरस्तु किं वस्तु अस्तु ? यः भस्म ॥ ७० ॥

व्याख्या—दिगीशान् = इन्द्राऽऽदिदिक्पालान्, वृणे = स्वीकरोमि, इति = इत्थं, का कथा = का वार्ता ? अत्यन्तमऽसम्भावितेति भावः । नलस्य = नैषधस्य मत्प्रियस्येति भावः । भां = कान्तिम्, अपि, त्वन्निष्ठामिति शेषः । त्वयि = भवति, परपुरुषे इति भावः, स्थिते इति शेषः । इति = हेतोः, तथा ईहया = तादृगनुरागेण, न ईक्षे = न अवलोकयामि । नन्वेवमिन्द्रादिदिक्पालतिरस्करणे बलवद्विरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—सतीव्रत इति । सतीव्रते = पातिव्रत्य एव, अग्नौ = अनले, जीवित = जीवनं, तृणयापि = तृणीकरोमि । जीवननिरभिलाषाणां पतिव्रतानां न कुतश्चिद्भयमिति भावः । स्मरभयं तु दूराऽपास्तमित्याह स्मरस्त्विति । स्मरस्तु = कामदेवस्तु, किं वस्तु अस्तु = कः पदार्थो भवतु ? न कोऽपीति भावः । कुतः ?—यः, स्मरः = कामदेवः, भस्म = भस्मीभूतः, भस्मीभूतः स्मरः पतिव्रतानां किं करिष्यतीति भावः ॥ ७० ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) मैं इन्द्र आदि दिक्पालोंको वरण करूँगी यह क्या बात है ? नलकी कान्ति भी तुम परपुरुषमें उस प्रकारसे अनुरागपूर्वक नहीं

देखती हूँ। पातिव्रत्यरूप अग्निमें जीवनको तृणके समान बनाती हूँ। कामदेव तो क्या वस्तु है? जो कि भस्म हो गया है ॥ ७० ॥

टिप्पणी—दिगीशान् = दिशाम् ईशाः, तान् (ष० त०), सतीव्रते = सत्या व्रतं, तस्मिन् (ष० त०)। तृणयामि: = तृणं करोमि, तृण + णिच् + लट् + मिप्। पातिव्रत्यमें तत्पर पतिव्रताएँ किसीकी भी परवाह नहीं करती हैं, यह भाव है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ७० ॥

न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया ॥ ७१ ॥

अन्वयः—(हे सौम्य!) यो धर्मचिन्तामणिः जिनेन रत्नत्रितये न्यवेशि, स यया कपालिकोपाऽनलभस्मनः कृते उज्झितः, तया तदेव भस्म स्वकुले स्तृतम् ॥ ७१ ॥

व्याख्या—यः प्रसिद्धः, धर्मचिन्तामणिः = धर्मरूपः चिन्तामणिः, जिनेन = अर्हता, रत्नत्रितये = सद्दृष्टि-सज्ज्ञानसद्वृत्तनामके, रत्नत्रये, अथ वा—जिनेन= बुद्धदेवेन, रत्नत्रितये = सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चरित्रनामके, रत्नत्रये, न्यवेशि = निवेशितः, सः = तादृशो धर्मचिन्तामणिः, यया = स्त्रिया, कपालि-कोपाऽनलभस्मनः = हरक्रोधाऽग्निभस्मरूपस्य, कामस्येत्यर्थः, कृते = निमित्ते, उज्झितः = त्यक्तः, तया = तादृश्या धर्मत्यागकर्त्र्या स्त्रिया, तदेव = तद् एव, भस्म = भसितं, स्वकुले = निजवंशे, स्तृतं = विस्तृतम्। कामाऽन्धतया चरित्र-त्यागिन्या स्त्रिया स्वकुलमेव भस्मसात्कृतं भवेदिति भावः। अतो नलपरायणाया ममाऽग्र इन्द्रादिदेवानां नामग्रहणमपि न कर्तव्यमिति दमयन्त्याकूतम् ॥ ७१ ॥

अनुवादः—(हे सौम्य!) जिस धर्मरूप चिन्तामणि (रत्न) को जिन (अर्हन्) ने सद्दृष्टि, सज्ज्ञान और सच्चरित्र नामके तीन रत्नोंमें अथवा जिन (बुद्धदेव)-ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र नामके तीन रत्नोंमें रखा है, वैसे धर्मरूप चिन्तामणिको जिस स्त्रीने महादेवके कोपाग्निके भस्मरूप कामदेवके लिए छोड़ दिया है उस स्त्रीने उस भस्मको अपने कुलमें फैला दिया है ॥७१॥

टिप्पणी—धर्मचिन्तामणिः = चिन्तापूरको मणिः चिन्तामणिः (मध्यम० समासः)। धर्म एव चिन्तामणिः (रूपक०)। जिनेन = "जिनोऽर्हति च बुद्धे च पुंसि स्याज्जित्वरे त्रिपु।" इति मेदिनी। रत्नत्रितये = रत्नानां त्रितयं, तस्मिन् (ष० त०)। सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।" इति जैन-परिभाषा। न्यवेशि = नि + विश् + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त। कपालि-

कोपाऽनलभस्मनः = कोप एव अनलः (रूपक०), तस्य भस्म (ष० त०)। कपालिनः कोपाऽनलभस्म, तस्य (ष० त०)। कृते = यह अव्यय है। स्वकुले = स्वस्य कुलं, तस्मिन् (ष० त०)। स्तृतं = स्तृ + क्त + सु। कामाऽन्ध होकर चरित्रत्याग करनेवाली स्त्रीने अपने कुलको जला दिया है, यह भाव है। नलमें परायण मेरे सामने इन्द्र आदि दिक्पालोंका नामग्रहण भी नहीं करना चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ ७१ ॥

निपीय पीयूषरसौरसीरसौ गिरः स्वकन्दर्पहुताऽशनाऽऽहुतीः।
कृताऽन्तदूतं न तया यथोदितं कृताऽन्तमेव स्वममन्यताऽदयम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—असौ पीयूषरसौरसीः स्वकन्दर्पहुताऽशनाऽऽहुतीः गिरो निपीय स्वं तया यथोदितं कृताऽन्तदूतं न, अदयं कृताऽन्तम् एव अमन्यत ॥ ७२ ॥

व्याख्या—असौ = नलः, पीयूषरसौरसीः = अमृतरसतनूजाः, अमृतरससदृशीः, अतिमधुरा इति भावः, स्वकन्दर्पहुताऽशनाऽऽहुतीः = निजकामाऽग्न्याहुतिसदृशीः, निजकामाऽनलोद्दीपिका इति भावः। गिरः = भैमीवाक्यानि, निपीय = सप्रणयमाकर्ण्येति भावः। स्वम् = आत्मानं, तया = भैम्या, यथोदितं = यथोक्तं, तदनतिक्रमणेनेति भावः। कृताऽन्तदूतं = यमसन्देशहरं, न = न अमन्यत, किन्तु अदयं = निर्दयं, कृताऽन्तम् एव = यमराजम् एव, अमन्यत = ज्ञातवान् ॥ ७२ ॥

अनुवादः—नलने अमृतरसके सदृश अधिक मधुर और अपने कामाऽग्निको उद्दीप्त करनेवाली दमयन्तीकी वाणीको सुनकर अपनेको दमयन्तीकी उक्तिके अनुसार यमदूत नहीं, निर्दय यमराज ही माना ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—पीयूषरसौरसीः = उरसा निर्मिता औरस्यः, उरस् शब्दसे "उरसोऽण् च" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप्। पीयूषस्य रसः (ष० त०), तस्य औरस्यः, ताः (ष० त०)। स्वकन्दर्पहुताऽशनाऽऽहुतीः = स्वस्य कन्दर्पः (ष० त०), स एव हुताऽशनः (रूपक०), तस्य आहुतयः, ताः (ष० त०)। यथोदितम् = उदितम् अनतिक्रम्य (अव्ययीभाव०)। अदयम् =अविद्यमाना दया यस्य सः, तम् (नञ्बहु०) कृताऽन्तं = कृतः अन्तो येन, तम् (बहु०)। "कृताऽन्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यमः।" इत्यमरः। अमन्यत = मन + लङ् + त। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ७२ ॥

स भिन्नमर्माऽपि तदाऽर्तिकाकुभिः स्वदूतधर्मान्न विरन्तुमैहत।
शनैरशंसन्निभृतं विनिश्वसन् विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः स तदार्तिकाकुभिः भिन्नमर्मा अपि स्वदूतधर्मात् विरन्तुं ऐहत, (किन्तु) निभृतं विनिश्वसन् शनैः अशंसत् ॥ ७३ ॥

व्याख्या—विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः = विचित्रवाचि (अनेकप्रकार-वचने) चित्रशिखण्डिनन्दनः (बृहस्पतिः), सः = नलः, तदार्तिकाकुभिः = दमयन्तीपीडाकरुणोक्तिभिः, भिन्नमर्मा अपि = विदीर्णहृदयः अपि, स्वदूतधर्मात्= निजसन्देशहराऽऽचारात्, विरन्तुं = निवर्तितुम्, न ऐहत = न ऐच्छत्, किन्तु निभृतं = गुप्तं यथा तथा, विनिश्वसन् = विनिश्वासं मुञ्चन्, शनैः = मन्दम्, अत्वरयेति भावः । अशंसत् = अब्रवीत् ॥ ७३ ॥

अनुवादः—विचित्र वचन कहनेमें बृहस्पति नलने दमयन्तीकी पीडासे उत्पन्न करुण वचनों से विदीर्णहृदय होते हुए भी अपने दूतधर्मसे हटनेकी इच्छा नहीं की और गुप्त रूपसे लम्बा श्वास लेकर वे धीरे-धीरे बोलने लगे ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः = विचित्रा चाऽसौ वाक् (क० धा०) । चित्रशिखण्डिनः (अङ्गिरसः) नन्दनः (पुत्रः), ष० त० । "जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः ।" इत्यमरः । विचित्रवाचि चित्र-शिखण्डिनन्दनः (स० त०) । तदार्तिकाकुभिः = आर्त्या काकवः (तृ० त०) । तस्या आर्तिकाकवः, ताभिः (ष० त०) । भिन्नमर्मा = भिन्नं मर्म यस्य सः (बहु०) । स्वदूतधर्मात् = दूतस्य धर्मः (ष० त०), स्वस्य दूतधर्मः, तस्मात् (ष० त०), "जुगुप्साविरामप्रमादाऽर्थानामुपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे "विरन्तुम्" इसके योगमें अपादानसंज्ञा होनेसे पञ्चमी । विरन्तुं = वि + रम् + तुमुन् । ऐहत = ईह + लङ् + त । विनिश्वसन्=वि + नि + श्वस + लट् (शतृ) + सु । अशंसत् = शंस + लङ् + तिप् ॥ ७३ ॥

"दिवोधवस्त्वां यदि कल्पशाखिनं कदाऽपि याचेत निजाऽङ्गनाऽऽलयम् ।
कथं भवेरस्य न जीवितेश्वरी ? न मोघयाच्ञः स हि भीरु ! भूरुहः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—हे भीरु ! दिवोधवः कदाऽपि निजाऽङ्गनाऽऽलयं कल्पशाखिनं त्वां याचेत यदि, तदा कथम अस्य जीवितेश्वरी न भवेः ? हि स भूरुहो मोघयाच्ञो न ॥ ७४ ॥

व्याख्या—इन्द्राऽवरणे भीतिमुत्पादयति—दिवोधव इति । हे भीरु = हे भयशीले !, दिवोधवः = स्वर्गपतिः, इन्द्र इति भावः । कदाऽपि = जातुचित् निजाऽङ्गनाऽऽलयं = स्वाऽजिरस्थानं, कल्पशाखिनं = कल्पवृक्षं, त्वां=भवती,

याचेत यदि = प्रार्थयेत् चेत्, तदा = तस्मिन् समये, कथं=केन प्रकारेण, अस्य = दिवोधवस्य, इन्द्रस्य, जीवितेश्वरी = प्राणेश्वरी, न भवेः = न स्याः, भवेरेवेति भावः। हि = यतः, सः = पूर्वोक्तः, भूरुहः = वृक्षः, कल्पशाखीति भावः। मोघयाच्ञः = निष्फलप्रार्थनः, न = नो भवति, सफलप्रार्थनो भवतीति भावः ॥ ७४ ॥

अनुवादः—हे भीरु ! इन्द्र किसी समय अपने नन्दनकाननके प्राङ्गणमें स्थित कल्पवृक्षसे तुम्हें माँगेंगे तो तुम कैसे इन्द्रकी प्राणेश्वरी नहीं होगी ? क्योंकि वह कल्पवृक्ष प्रार्थनाको सफल करनेवाला है ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—भीरु = बिभेतीति भीरूः, तत्सम्बुद्धौ, भी धातुसे "भियः क्रुक्लुकनौ" इस सूत्रसे क्रुप्रत्यय, "ऊङुतः" इससे ऊङ् और सम्बुद्धिमें ह्रस्व, यह महोपाध्याय मल्लिनाथका कथन है, [illegible] शब्द मनुष्यजातिवाचक नहीं है, इसलिए ऊङ्की प्राप्ति सन्दिग्ध है, इस प्रयोगमें कवियोंकी निरङ्कुशता प्रतीत होती है। निजाऽङ्गनाऽऽलयं = निजस्य अङ्गनं (ष० त०)। तत् आलयो यस्य, तम् (बहु०)। कल्पशाखिनं=कल्पपूरकः शाखी, तम् (मध्यम० समास०)। कल्पः संकल्पः। याच् धातु द्विकर्मक है, "कल्पशाखिनम्" यह गौण कर्म है। "त्वाम्" यह मुख्य कर्म है। याचेत = याच् + लिङ् (विधिमें) + त। जीवितेश्वरी = जीवितस्य ईश्वरी (ष० त०)। भवेः=भू + लिङ् (विधिमें) + सिप्। भूरुहः = भुवि रोहतीति, भू + रुह + कः (उपपद०) + सु। मोघयाच्ञः मोघा याच्ञा यस्य सः (बहु०) ॥ ७४ ॥

शिखी विधाय त्वदवाप्तिकामनां स्वयं हुतस्वांऽऽशहविः स्वमूर्तिषु।
क्रतुं विधत्ते यदि सार्वकामिकं कथं स मिथ्याऽस्तु विधिस्तु वैदिकः ? ॥७५॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) शिखी = त्वदवाप्तिकामनां विधाय स्वमूर्तिषु स्वयं हुतस्वांऽशहविः सार्वकामिकं क्रतुं विधत्ते यदि (तदा) स वैदिको विधिस्तु कथं मिथ्या अस्तु ? ॥ ७५ ॥

व्याख्या—शिखी = अग्निः, त्वदवाप्तिकामनां = त्वत्प्राप्तीच्छां, विधाय = कृत्वा, स्वमूर्तिषु = आत्मशरीरेषु, आहवनीयादिष्विति भावः। स्वयम् = आत्मना एव, हुतस्वांऽशहविः = दत्ताऽऽत्मभागहवनीयः, सार्वकामिकं = सर्वकामप्रयोजनकं, क्रतुं = यज्ञं, विधत्ते यदि=करोति चेत्, तदा, सः = सार्वकामिकः, वैदिकः = श्रुतिप्रतिपादितः, विधिस्तु = अनुष्ठानं तु, कथं = केन प्रकारेण, मिथ्या = असत्यभूतः, निष्फल इति भावः, अस्तु = भवतु ॥ ७५ ॥

अनुवादः – (हे दमयन्ति !) अग्निदेव आपकी प्राप्तिकी कामना कर आहवनीय आदि अपनी मूर्तियोंमें स्वयं अपने अंशभूत हविका हवन कर सार्वकामिक (सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला) यज्ञ करेंगे तो वह वैदिक विधि कैसे निष्फल होगी ? ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—त्वदवाप्तिकामनां = तव अवाप्तिः (ष० त०), तस्याः कामना, ताम् (ष० त०)। स्वमूर्तिषु = स्वस्य मूर्तयः, तासु (ष० त०)। श्रौत अग्नि तीन हैं—दक्षिणाऽग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय। स्मार्त अग्नि दो हैं—सभ्य और आवसथ्य। हुतस्वांऽशहविः=स्वस्य अंशः (ष० त०)। हुतं स्वांऽशो हविः येन सः (बहु०)। सार्वकामिकं = सर्वश्चाऽसौ कामः (क० धा०)। सर्वकामः प्रयोजनं यस्य सः, तम्, "प्रयोजनम्" इस सूत्रसे ठक् (इक)। विधत्ते = वि + धाञ् + लट् + त। वैदिकः = वेदे भवः, "तत्र भवः" इससे ठक् (इक) प्रत्यय। इस पद्यमें तीन 'स्व' शब्दोंसे क्रमसे अग्निका ही कर्तृत्व, देवत्व और आहवनीयत्व आदि रूपोंका प्रतिपादन करनेसे कर्ममें प्रमादका अभाव सूचित होता है, इस कारणसे वेदप्रामाण्यसे दमयन्ती अग्निके अधीन हो सकती है, इस बातकी प्रतीति होती है ॥ ७५ ॥

सदा तदाशामधितिष्ठतः करं वरं प्रदातुं वलिताद् बलादपि।
मुनेरगस्त्याद् वृणुते स धर्मराड् यदि त्वदाप्ति, भण का तदा गतिः ? ॥७६॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) स धर्मराड् सदा तदाशाम् अधितिष्ठतः (अत एव) बलात् अपि वरम् (एव) करं प्रदातुं वलितात् अगस्त्यात् मुनेः त्वदाप्ति वृणुते यदि, तदा का गतिः ? भण ॥ ७६ ॥

व्याख्या सः = प्रसिद्धः, धर्मराड् = यमराजः, सदा = सर्वदा, तदाशां = तद्दिशाम्, दक्षिणाम्। अधितिष्ठतः = अधिवसतः, अत एव बलात् अपि = बलम् आश्रित्य अपि, वरम् = अभीष्टम् एव, करं = बलिं, प्रदातुं = वितरीतुं, वलितात् = प्रवृत्तात्, अगस्त्यात् = अगस्त्यनामकात्, मुनेः = ऋषेः, त्वदाप्ति = त्वत्प्राप्ति, वृणुते यदि=याचते चेत्, तदा = तस्मिन्काले, का = कीदृशी, गतिः= स्थितिः, स्यादिति शेषः। भण = वद, वाक्यार्थः कर्म ॥ ७६ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) प्रसिद्ध यमराज सदा उनकी दक्षिण दिशामें रहनेवाले अत एव बलपूर्वक भी वरको देनेके लिए प्रवृत्त अगस्त्य मुनिसे यदि तुम्हारी याचना करेंगे तो क्या गति होगी ? कहो ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—धर्मराड्=धर्मेण राजत इति, धर्म + राज् + क्विप् (उपपद०) + सु । तदाशां = तस्य आशा, ताम् (ष० त०), अधिपूर्वक–स्था धातुके योगमें "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे आधारकी कर्मसंज्ञा होनेसे द्वितीया। अधितिष्ठतः = अधि + स्था + लट् (शतृ०) + ङसिः । बलात् = ल्यप्के लोपमें पञ्चमी । त्वदाप्ति = तव आप्तिः, ताम् (ष० त०) । भण = भण + लोट् + सिप् । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ७६ ॥

क्रतोः कृते जाग्रति वेत्ति कः कति प्रभोरपां वेश्मनि कामधेनवः ।
त्वदर्थमेकामपि याचते स चेत् प्रचेतसः पाणिगतैव वर्तसे ॥ ७७ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) क्रतोः कृते अपां प्रभोः वेश्मनि कति कामधेनवो जाग्रति, को वेत्ति ? स त्वदर्थम् एकाम् अपि याचते चेत् (तर्हि) प्रचेतसः पाणिगता एव वर्तसे ॥ ७७ ॥

व्याख्या—क्रतोः = यज्ञस्य, कृते = निमित्ते, अपां = जलस्य, प्रभोः = स्वामिनः, वरुणस्येति भावः । वेश्मनि = भवने, कति = कियत्संख्यकाः, कामधेनवः = कामसुरभयः, जाग्रति = वर्तन्ते, कः = जनः, वेत्ति = जानाति, असंख्याः सन्तीति भावः । सः = अपां प्रभुः, वरुणः । त्वदर्थं = भवत्प्राप्त्यर्थम्, एकाम् अपि = कामधेनुम्, याचते चेत् = प्रार्थयते यदि, तर्हि, प्रचेतसः = वरुणस्य, पाणिगता एव = करगता एव, वर्तसे = भवसि, तदा कस्त्वां मोचयिष्यतीति भावः ॥ ७७ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) यज्ञके लिए वरुणके भवनमें कितनी कामधेनु गायें हैं कौन जानता है ? वे (वरुण) तुम्हारे लिए एक भी कामधेनुसे याचना करेंगे तो वरुणके हाथमें पड़ जाओगी ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—कृते = यह अव्यय है । कामधेनवः=कामपुरिका धेनवः (मध्यमपद समासः) । जाग्रति = जागृ + लट् + झिः । त्वदर्थं = तुभ्यम् इदम् (च० त०) । पाणिगता = पाणिं गता (द्वि० त०) । वर्तसे = वृत् + लट् + थास् ॥ ७७ ॥

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची ।
स एव राजव्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयंवरः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) पतिव्रता शची पत्युः अनिच्छया विघ्नसिद्धये सन्निधात्री न यदि, राजव्रजवैशसात् परस्परस्पर्द्धिवरः स स्वयंवर एव कुतः ? ॥ ७८ ॥

व्याख्या—पतिव्रता = साध्वी, शची = इन्द्राणी, पत्युः = भर्तुः, इन्द्रस्येति भावः, अनिच्छया = असम्मत्या, तवेति शेषः। विघ्नसिद्धये = अन्तराय-करणाय, स्वयंवरविघातार्थमिति भावः। सन्निधात्री = सन्निहिता, स्वयंवरस्थाने इति शेषः। न यदि = न स्याच्चेत्, तर्हि, राजव्रजवैशसात् = नृपसमूहहिंसनात्, परस्परस्पर्द्धिवरः = मिथः संघर्षिवोढृकः, सः = भविष्यन्, स्वयंवर एव = स्वयं-वरोत्सव एव, कुतः = कस्मात्, भविष्यतीति शेषः ॥ ७८ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ति !) पतिव्रता इन्द्राणी पति (इन्द्र) की (तुम्हारे द्वारा हुई) असम्मतिसे स्वयंवरमें विघ्न करने के लिए उपस्थित नहीं होंगी तो राजाओंके विरोधसे वरोंमें संघर्ष होनेसे वह स्वयंवर ही कैसे होगा ? ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—पतिव्रता = पत्यौ व्रतं यस्याः सा (व्यधिकरण-बहु०)। अनिच्छया = न इच्छा, तया (नञ्०)। विघ्नसिद्धये = विघ्नस्य सिद्धिः, तस्यै (ष० त०), सन्निधात्री = सं + नि + धा + तृच् + ङीप् + सु। राजव्रजवैशसात् = विशसति (हिनस्ति) इति विशसः (हिंसकः), वि + शस + अच्। विशसस्य कर्म वैशसम्, विशस + अण्। राज्ञां व्रजः (ष० त०), तस्य वैशसं, तस्मात् (ष० त०)। हेतुमें पञ्चमी। परस्परस्पर्द्धिवरः = परस्परं स्पर्द्धन्त इति परस्परस्पर्द्धिनः (परस्पर + स्पर्ध + णिनिः), तदृशा वरा यस्मिन् सः (बहु०)। स्वयंवरः = स्वयं वरः (वरणम्) यस्मिन् सः (बहु०)। कुतः = कस्मात् इति, किम् (कु) + तसिल्। इन्द्राणीका सन्निधान न होनेसे राजाओंमें परस्पर संघर्षमूलक युद्ध होनेसे स्वयंवर कैसे होगा ? नलको वरण करनेकी बात तो दूर ही रही, यह भाव है। स्वयवरमें शचीके सन्निधानके विषयमें महाकवि कालिदासने भी रघुवंशमें लिखा है—"सान्निध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः।" ७-३। स्वयंवरमें इन्द्राणीका और विवाह में पार्वतीका सान्निध्य होता है, ऐसा नारायण पण्डितका कथन है ॥ ७८ ॥

निजस्य वृत्तान्तमजानतां मियो मुखस्य रोषात्परुषाणि जल्पतः।
मृधं किमच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि क्षोणिभुजां दिदृक्षसे ॥ ७९ ॥

अन्वयः—(हे दमयन्ति !) मिथो रोषात् परुषाणि जल्पतः निजस्य मुखस्य वृत्तान्तम् अजानतां क्षोणिभुजाम् अच्छत्रकदण्डताण्डव भुजाभुजि च मृधं दिदृक्षसे ॥ ७९ ॥

व्याख्या—मिथः = परस्परं, रोषात् = कोपात्, परुषाणि = कठोरवचनानि जल्पतः = वदतः, आक्रोशं कुर्वतः इति भावः, निजस्य = स्वस्य, मुखस्य =

वदनस्य, वृत्तान्तम्=व्यापारम्, अजानताम् = अविदुषां, क्षोणिभुजां = राज्ञाम्, अच्छत्रकदण्डताण्डवम् = अपनीतच्छत्रदण्डनृत्यं, युद्धं, भुजाभुजि च=बाहूबाहवि च, मृधं = युद्धं, दिदृक्षसे = द्रष्टुम् इच्छसि ।। ७९ ।।

अनुवाद: – (हे दमयन्ति !) परस्परमें क्रोधसे कठोर वचनोंको बोलते हुए अपने मुखके व्यापारको नहीं जाननेवाले राजाओंके छत्ररहित दण्डोंके ताण्डवरूप तथा बाहुओंके युद्धको तुम देखना चाहती हो ।। ७९ ।।

टिप्पणी—जल्पतः = जल्पतीति जल्पत्, तस्य, जल्प + लट् (शतृ) + ङस् । अजानतां=न जानन्तीति अजानन्तः तेषाम् न + ज्ञा + लट् (शतृ) + आम् । क्षोणिभुजां = क्षोणिं भुञ्जन्तीति क्षोणिभुजः, तेषाम्, क्षोणि + भुज् + क्विप् (उपपद०) + आम् । अच्छत्रकदण्डताण्डवम् = अविद्यमानं छत्रं येषां ते अच्छत्रकाः (नञ् बहु०), ते च ते दण्डाः (क० धा०) । तेषां ताण्डवम् (ष० त०) । भुजाभुजि=भुजाभ्यां भुजाभ्यां प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं "तत्र तेनेदमिति सरूपे" इससे बहुव्रीहिसमास, "इच् कर्मव्यतिहारे" इस सूत्रसे समासान्त इच् प्रत्यय । "अन्येषामपि दृश्यते" इससे दीर्घ । मृधं = "मृधमास्कन्दनं संख्यम्" इत्यमरः । दिदृक्षसे = द्रष्टुम् इच्छसि, दृश् + सन् + लट् + थास् । "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" इससे आत्मनेपद । परस्पर आक्रोश कर शस्त्रोंके न रहनेपर छात्रोंके दण्डोंसे और हाथों हाथोंसे होनेवाले राजाओंके युद्धको तुम देखना चाहती हो, यह भाव है ।। ७९ ।।

अपार्थयन् याज्ञिकफूत्कृतिश्रमं ज्वलेद्रुषा चेद्वपुषा तु नाऽनलः ।
अलं नलः कर्तुमनग्निसाक्षिकं विधिं विवाहे तव सारसाक्षि ! कम् ? ।। ८० ।।

अन्वयः—हे सारसाक्षि ! तव विवाहे अनलः याज्ञिकफूत्कृतिश्रमम् अपार्थयन् रुषा (एव) ज्वलेत् वपुषा तु न ज्वलेत् चेत् (तदा) नलः अनग्निसाक्षिकः कं विधिं कर्तुम् अलम् ? ।। ८० ।।

व्याख्या—हे सारसाक्षि = हे कमलनयने !, तव = भवत्याः, विवाहे = परिणये, अनलः = अग्निदेवः, याज्ञिकफूत्कृतिश्रमं = याजकफूत्कारपरिश्रमम्, अग्निसन्दीपनप्रयासमिति भावः । अपार्थयन् = व्यर्थं कुर्वन्, रुषा = कोपेन एव, ज्वलेत् = दीप्तो भवेत्, वपुषा तु, = स्वरूपेण तु , न ज्वलेत् चेत् = नो दीप्येत यदि, तदा नलः = नैषधः, अनग्निसाक्षिकः = अग्निसाक्ष्यरहितः सन्, कं, विधिम् = अनुष्ठानं, कर्तुं = विधातुम्, अलं = समर्थः, न कंचिदपि विधिं कर्तुमलमिति भावः ।। ८० ।।

अनुवादः—हे कमलनयने ! तुम्हारे विवाहमें अग्निदेव पुरोहितोंके आगको फूंकनेके परिश्रमको व्यर्थ करते हुए क्रोधसे ही जलेंगे स्वरूपसे नहीं जलेंगे तो नल साक्षी अग्निके न रहनेसे किस अनुष्ठानको करनेमें समर्थ होंगे ? ॥ ८० ॥

टिप्पणी—सारसाक्षि = सरसि भवे सारसे (कमले), सरस् + अण् + औ । "सारसं सरसीरुहम्" इत्यमरः । सारसे इव अक्षिणी यस्याः सा सारसाक्षी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०), "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्" इससे समासान्त षच्, और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीष् । याज्ञिकफूत्कृतिश्रमं = याज्ञिकस्य फूत्कृतिः (ष० त०), तस्याः श्रमः, तम् (ष० त०) । अपार्थयन् = अपगतः अर्थो यस्मात् सः अपार्थः (बहु०) । अपार्थं कुर्वन्, अपार्थ + णिच् + लट् (शतृ) + सु । ज्वलेत् = ज्वल + लिङ् (विधिमें) + तिप् । अनग्निसाक्षिकः = अग्निश्चासौ साक्षी (क० धा०) । अविद्यमानः अग्निसाक्षी यस्य सः (नञ् बहु०), "शेषाद्विभाषा" इससे समासान्त कप् । नारायणपण्डितने "अनग्निसाक्षिकम्" ऐसा द्वितीयान्त पाठ माना है, उसमें यह पद "विधि" इसका विशेषण है ॥ ८० ॥

पतिंवरायाः कुलजं वरस्य वा यमः कमप्याचरिताऽतिथिं यदि ।
कथं न गन्ता विफलीभविष्णुतां स्वयंवरः साध्वि ! समृद्धिमानपि ? ॥ ८१ ॥

अन्वयः—हे साध्वि ! यमः पतिंवरायाः वरस्य वा कुलजं कम् अपि अतिथिम् आचरिता यदि, (तर्हि) समृद्धिमान् अपि स्वयंवरो विफलीभविष्णुतां कथं न गन्ता ? ॥ ८१ ॥

व्याख्या—हे साध्वि = हे पतिव्रते !, यमः = धर्मराजः, पतिंवरायाः = वध्वाः, वरस्य वा = परिणेतुर्वा, कुलजं = वंशोत्पन्नं, कम् अपि = जनम्, अतिथिम् = अभ्यागतम्, आचरिता यदि = कर्ता चेत्, मारयिष्यति चेदिति भावः तर्हि समृद्धिमान् अपि = सम्पत्तिसम्पन्नः अपि, स्वयंवरः = स्वयंवरोत्सवः, विफलीभविष्णुतां = निष्फलीभवनशीलत्वं कथं = केन प्रकारेण, न गन्ता = नो गमिष्यति ? गमिष्यत्येवेति भावः ॥ ८१ ॥

अनुवादः—हे पतिव्रते ! यमराज वधूके वा वरके कुलमें उत्पन्न किसीको अतिथि बना देंगे (मारेंगे) तो सम्पत्तिसंपन्न होनेपर भी स्वयंवर कैसे निष्फल नहीं होगा ? ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—पतिंवरायाः = पतिं वृणीत इति पतिंवरा, तस्याः, पति + वृ + खच् (उप०) + टाप् + ङस् । कुलजं = कुल + जन् + डः (उपपद०) +

अम्। आचरिता = आङ् + चर + लुट् + तिप् । "अनद्यतने लुट्" इससे लुट्। समृद्धिमान् = सम्यक् ऋद्धिः समृद्धिः (गति०)। समृद्धि + मतुप् + सु। विफलीभविष्णुतां = विगतं फलं यस्मात् स विफलः (बहु०)। भवनशीलो भविष्णुः "भुवश्च" इससे इष्णुच्, भू + इष्णुच् । यह वेदमें प्रयुक्त शब्द है, कवि लोकमें भी प्रयोग करते हैं। भविष्णोर्भावो भविष्णुता, भविष्णु + तल् + टाप्। अविफला विफला यथा सम्पद्यते तथा भविष्णुता विफलीभविष्णुता, ताम्, विफल + च्वि + भविष्णुता + अम् । गन्ता = गम् + लुट् + तिप् ॥ ८१ ॥

अपां पतिः स्वामितया परः सुरः सः ता निषेधेद्यदि नैषधक्रुधा ।
नलाय लोभाऽऽयतपाणयेऽपि तत् पिता कथं त्वां वद सम्प्रदास्यते ? ॥ ८२ ॥

अन्वयः—(हे साध्वि !) परः सुरः सः अपां पतिः स्वामितया नैषधक्रुधा ता निषेधेत् यदि, तत् लोभाऽऽयतपाणये अपि नलाय पिता कथं सम्प्रदास्यते ? वद ॥ ८२ ॥

व्याख्या—परः = श्रेष्ठः, सुरः = देवः, सः = प्रसिद्धः, अपां पतिः = वरुणः, स्वामितया = प्रभुत्वेन हेतुना, नैषधक्रुधा = नलकोपेन, ताः = जलं, निषेधेत् यदि = प्रतिषेधेत् चेत्, तत् = तर्हि, लोभाऽऽयतपाणये अपि = लोलुपत्वप्रसारितहस्ताय अपि, "ततपाणये" इति पाठान्तरेऽपि स एवाऽर्थः । नलाय = नैषधाय, सम्प्रदानभूतायेति भावः । कथं = केन प्रकारेण, सम्प्रदास्यते = वितरिष्यति ? वद = कथय, वाक्यार्थः कर्म ॥ ८२ ॥

अनुवादः—(हे साध्वि !) श्रेष्ठ देवता वे वरुणदेव (जलके) स्वामी होनेसे नलमें क्रोध कर (कन्यादानके समय) जलको निषेध करेंगे, तथापि लोभसे हाथको फैलाते हुए भी नलको तुम्हारे पिता (भीम) (जलके बिना) तुम्हें कैसे देंगे ? ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—परः = "दूराऽनात्मोत्तमाः पराः" इत्यमरः । स्वामितया = स्वामिनो भावः, तया, स्वामिन् + तल् + टाप् + टा । नैषधक्रुधा = नैषधे क्रुत्, तया (स० त०)। निषेधेत् = नि + सिध् + लिङ् (विधिमें) + तिप् । "उपसर्गात्सुनोति०" इत्यादि सूत्रसे षत्व । लोभाऽऽयतपाणये = आयतः पाणिः येन सः (बहु०)। लोभेन (हेतुना) आयतपाणिः, तस्मै (तृ० त०)। अधीर होकर जलके बिना भी तुम्हारा ग्रहण करने में इच्छुक नलको, यह भाव है। सम्प्रदास्यते = सं + प्र + (डु) दाञ् + लृट् + त ॥ ८२ ॥

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति ! चिन्तय ।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ? ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हे दमयन्ति ! मया इदं महत् हितं ते अभिहितम् । मोह विहाय चिन्तय । तथा हि—सुरेषु विघ्नैकपरेषु (सत्सु) को नरः करस्थम् अपि अर्थम् अवाप्तुम् ईश्वरः ? ॥ ८३ ॥

व्याख्या—इन्द्रादीनामवरणेनाऽनिष्टं प्रदर्शयति—इदमिति । हे दमयन्ति = हे भैमि !, मया = देवदूतेन, इदम् = एतत्, महत् = परमं, हितम् = उपकारकं वचनम्, ते = तुभ्यम्, अभिहितं = कथितं, मोहं = मूढतां, विहाय = त्यक्त्वा, चिन्तय = विमृश । तथा हि—सुरेषु = देवेषु, विघ्नैकपरेषु = प्रत्यूहैकतत्परेषु सत्सु, को नरः = जनः, करस्थम् अपि = हस्तस्थितम् अपि, अर्थं = वस्तुं, अवाप्तुं = प्राप्तुम्, ईश्वरः = समर्थः, न कोऽपीति भावः ॥ ८३ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति ! मैंने तुम्हें यह परम हितकारक वचन कहा है । तुम मोहको छोड़कर विचार करो । क्योंकि देवताओंके विघ्नमात्रमें तत्पर हो जानेपर कौनसा जन हाथमें रहे हुए पदार्थको भी पानेके लिए समर्थ होता है ? (कोई भी नहीं) ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—ते = तुभ्यम्, क्रियाके ग्रहणमें चतुर्थी । अभिहितम् = अभि + धा (हि) + क्त + सु । चिन्तय = चिन्त + णिच् + लोट् + सिप् । विघ्नैकपरेषु = एकं यथा तथा पराः (सुप्सुपा०), विघ्ने एकपराः, तेषु (स० त०), करस्थं = कर + स्था + कः (उपपद०) + अम् । अवाप्तुम = अव + आप + तुमुन् । ईश्वरः = ईश + वरच् + सु । इस कारणसे बलवान्के साथ विरोधका दुष्परिणाम होता है, वह नहीं करना चाहिए, यह भाव है । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

इमा गिरस्तस्य विचिन्त्य चेतसा तथेति सम्प्रत्ययमाससाद सा ।
निवारिताऽवग्रहनीरनिर्झरे नभोनभस्यत्वमलम्भयद् दृशौ ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सा इमाः तस्य गिरः चेतसा विचिन्त्य तथा इति सम्प्रत्ययम् आससाद, (अथ) निवारिताऽवग्रहनीरनिर्झरे दृशौ नभोनभस्यत्वम् अलम्भयत् ॥ ८४ ॥

व्याख्या—सा = दमयन्ती, इमाः = सम्प्रत्येवोक्ताः, तस्य = देवदूतस्य नलस्य, गिरः = वचनानि, चेतसा=चित्तेन, विचिन्त्य = पर्यालोच्य, तथा इति= तथैव भवेत् इति, "सुरेषु विघ्नैकपरेषु ९-८३" इति वचनाऽनुसारमिति शेषः ।

सम्प्रत्ययं = पूर्णविश्वासम् आससाद = प्राप्तवती । अथ निवारिताऽवग्रहनीर-निर्झरे = निष्प्रतिबन्धजलप्रवाहयुक्त्वे, दृशौ = नयने, नभोनभस्यत्वं = श्रावण-भाद्रपदत्वम्, अलम्भयत् = प्रापयत् ॥ ८४ ॥

अनुवादः—दमयन्तीने नलके इन वचनोंका चित्तसे विचार कर "वैसा ही होगा" ऐसा समझकर पूर्ण विश्वास कर लिया तब प्रतिबन्धरहित जलप्रवाह-वाले (आँसुओंसे भरे) नेत्रोंको श्रावण और भाद्रके स्वरूपमें पहुँचाया ॥८४॥

टिप्पणी - सम्प्रत्ययं = सम्यक् प्रत्ययः, तम् (गति०), "प्रत्ययोऽधीन-शपथज्ञानविश्वासहेतुषु ।" इत्यमरः । निवारिताऽवग्रहनीरनिर्झरे = निवारितः अवग्रहः यस्य सः (बहु०), "वृष्टिर्वर्षं, तद्विघातेऽवग्राहाऽवग्रहौ समौ ।" इत्यमरः । नीराणां निर्झरः (ष० त०) । निवारिताऽवग्रहो नीरनिर्झरो ययोस्ते (बहु०) । नभोनभस्यत्वं = नभाश्च नभस्यश्च नभोनभस्यौ (द्वन्द्व०), तयोर्भावः, तत्, नभोनभस्य + त्व + अम् । "नभाः श्रावणिकश्च सः" इति "स्युर्नभस्यप्रोष्ठपदभाद्रभाद्रपदाः समाः ।" इत्युभयत्राऽप्यमरः । अलम्भयत् = लभ + णिच् + लङ् + तिप् । दमयन्तिने नलके वचनको सत्य समझकर उनकी प्राप्तिमें निराश होकर रोनेसे अतिशय आँसुओंको गिराया, यह भाव है । इस पद्यमें अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाऽऽशया ।
निपत्य बिन्दू हृदि कज्जलाऽऽविलौ मणीव नीलौ तरलौ विलेसतुः ॥८५॥

अन्वयः—कज्जलाऽऽविलौ बिन्दू तद्विलोचनाभ्याम् (एव) स्फुटोत्पलाभ्याम् अलिदम्पती व कुचकुड्मलाऽऽशया हृदि निपत्य तरलौ नीलौ मणी व विलेसतुः ॥ ८५ ॥

व्याख्या—कज्जलाऽऽविलौ = अञ्जनमलिनौ, बिन्दू=अश्रुबिन्दू, तद्विलोच-नाभ्यां = दमयन्तीनयनाभ्याम्, एव, स्फुटोत्पलाभ्यां = विकसितकमलाभ्याम्, अलिदम्पती = भृङ्गदम्पती, व = इव, कुचकुड्मलाऽऽशया=स्तनमुकुलतृष्णया, हृदि = वक्षसि, निपत्य = नितरां पतित्वा, तरलौ = चञ्चलौ, हारमध्यगौ, नीलौ = नीलवर्णौ, मणी व = रत्ने व, इन्द्रनीलरत्ने इवेति भावः । विलेसतुः = विरेजतुः ॥ ८५ ॥

अनुवादः—कज्जलसे मलिन दो अश्रुबिन्दु दमयन्तीके दो नेत्ररूप विकसित दो कमलोंसे भ्रमर दम्पतिके समान स्तनरूप मुकुलोंकी तृष्णासे छातीपर गिरकर

चञ्चल वा हारके बीचमें रहनेवाले दो इन्द्रनीलरत्नोंके समान शोभित हुए ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—कज्जलाऽऽविलौ = कज्जलेन आविलौ (तृ० त०)। तद्विलोचनाभ्यां = तस्या विलोचने, ताभ्याम् (ष० त०)। स्फुटोत्पलाभ्यां = स्फुटे च ते उत्पले, ताभ्याम् (क० धा०)। अलिदम्पती = अलिनी च अलिश्च अलिनौ, "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इससे एकशेष, 'पुमान्स्त्रिया'' इससे पुंलिङ्गशेषता। जाया च पतिश्च दम्पती (द्वन्द्व०)। "राजदन्तादिषु परम्" इससे जाया शब्द का दम् भाव निपातित। अलिनौ च तौ दम्पती (क० धा०)। कुचकुड्मलाऽऽशया = कुचौ एव कुड्मलौ (रूपक०), तयोः आशा, तया (ष० त०)। निपत्य = नि + पत् + क्त्वा (ल्यप्)। तरलौ = "चञ्चलं तरलं चैव" इति "तरलो हारमध्यगः" इति चाऽमरः। मणीव = यहाँपर और ऊपरके "अलिदम्पती व" वहाँपर भी मल्लिनाथजीने "मणी इव" और "अलिदम्पती इव" ऐसा पाठ मानकर "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इससे होनेवाली प्रगृह्यसंज्ञाका "ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः" इस वार्तिकसे निषेध होनेसे दीर्घत्वकी प्रसक्ति दिखाई है, परन्तु उक्त वार्तिक भाष्यमें उक्त नहीं है अतः यहाँपर "इव" नहीं है, इवाऽर्थक "व" है, भट्टोजिदीक्षितका ऐसा अभिमत है। "व वा यथा तथैवैवं साम्ये" इत्यमरः। "वं प्रचेतसि जानीयादिवाऽर्थे च तदव्ययम्"। इति मेदिनी। विलेसतुः = वि + लस + लिट् + अतुस्। "अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि" इस सूत्रसे एत्व और अभ्यासका लोप भी। इस पद्यमें रूपक और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८५ ॥

धुता पतत्पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगैः शुचेस्तदाऽऽसीत् सरसी रसस्य सा ।
रयाय बद्धाऽऽदरयाऽश्रुधारया सनालनीलोत्पललोललोचना ॥ ८६ ॥

अन्वयः—पतत्पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगैः धुता रयाय बद्धाऽऽदरया अश्रुधारया सनालनीलोत्पललीललोचना शुचेः रसस्य सरसी सा तदा पतत्पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगैः धुता शुचेः रसस्य सरसी आसीत् ॥ ८६ ॥

व्याख्या—पतत्पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगैः = पतत्कामबाणैः, धुता = कम्पिता, रयाय = वेगाय, बद्धाऽऽदरया = कृताऽऽदृतया, वेगयुक्तयेति भावः। अश्रुधारया = नयनजलप्रवाहेण निमित्तेन, सनालनीलोत्पललीललोचना = नालसहितनीलकमलविलासयुक्तनयना, शुचेः रसस्य = शृङ्गाररसस्य, सरसी = सरः,

सा = दमयन्ती, तदा = तस्मिन्समये, पतत्पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगैः = कुसुम-भ्रमरपतनहेतुभूतवातैः, धुता = कम्पिता, शुचेः = ग्रीष्मस्य, रसस्य = जलस्य, सरसी = सरः, आसीत् = अभवत् ॥ ८६ ॥

अनुवादः—गिरते हुए कामबाणोंसे कम्पित, वेगयुक्त आँसूके प्रवाहसे नाल-सहित नीलकमलोंकी-सी लीलासे युक्त नेत्रोंवाली शृङ्गाररसके सरोवर दमयन्ती उस समय फूल और भ्रमरोंके पतनके हेतुभूत वायुसे कम्पित ग्रीष्मऋतुके जलका सरोवर बन गई ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—पतत्पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगैः = पुष्पाणि एव शिलीमुखा यस्य सः (बहु०)। तस्य आशुगाः (ष० त०)। पतन्तश्च ते पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगाः, तैः (क० धा०)। "अलिबाणौ शिलीमुखौ" इति "आशुगौ वायुविशिखौ" इति चाऽमरः। बद्धाऽऽदरया = बद्ध आदरः यया सा, तया (बहु०)। अश्रु-धारया = अश्रुणां धारा, तया (ष० त०)। सनालनीलोत्पललीललोचना = नालेन सहितं सनालम् (तुल्ययोगबहु०)। नीलं च तत् उत्पलम् (क० धा०), सनालं च तत् नीलोत्पलम् (क० धा०)। सनालनीलोत्पलस्य इव लीला ययोस्ते (व्यधिकरणबहु०)। सनालनीलोत्पललीले लोचने यस्याः सा (बहु०)। शुचेः = "ग्रीष्मशृङ्गारयोः शुचिः" इति कोषः। सरसी = "कासारः सरसी सरः" इत्यमरः। पतत्पुष्पशिलीमुखाऽऽशुगैः = पुष्पाणि च शिलीमुखाश्च (द्वन्द्व)। पतन्तः पुष्पशिलीमुखा येषां ते (बहु०)। ते च ते आशुगाः (वायवः), तैः (क० धा०)। इस पद्यमें शृङ्गाररस और ग्रीष्मजलकी सरसीके रूपमें भैमीका आरोप करनेसे रूपक अलङ्कार अङ्गी है और श्लेष तथा उपमा उसके अङ्ग हैं, इस प्रकारसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससंभ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः।
व्यधात्प्रियाऽवाप्तिविघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा ॥ ८७ ॥

अन्वयः—अथ प्रियाऽवाप्तिविघातनिश्चयात् दूना सा उद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससंभ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः (सती) मृदूनि परिदेवितानि व्यधात् ॥ ८७ ॥

व्याख्या—अथ = कामविकारोदयाऽनन्तरं, प्रियाऽवाप्तिविघातनिश्चयात् = नलप्राप्तिप्रतिबन्धनिर्णयात्, दूना = उपतप्ता, सा = दमयन्ती, उद्भ्रमन्ती = उन्मादयुक्ता, रुदती = अश्रूणि विमुञ्चती, गतक्षमा = नष्टधैर्या, ससंभ्रमा = सत्वरा, लुप्तरतिः = अपगतस्पृहा, स्खलन्मतिः = तत्त्वनिर्धारणशक्तिरहिता

सती, मृदूनि = कोमलानि, परहृदयद्रावणानि, परिदेवितानि = विलापवचनानि, व्यधात् = अकार्षीत् ॥ ८७ ॥

अनुवादः—अनन्तर नलकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धका निश्चय होनेसे उपतप्त दमयन्ती उन्मादयुक्त, आँसुओंको गिराती हुई, धैर्यसे रहित, त्वरा करती हुई, इच्छासे रहित और तत्त्वनिश्चय करनेकी शक्तिसे रहित होती हुई कोमल विलाप करने लगीं ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—प्रियाऽवाप्तिविघातनिश्चयात् = प्रियस्य अवाप्तिः (ष० त०), तस्या विघातः (ष० त०), तस्य निश्चयः, तस्मात् (ष० त०)। दूना = दु + त + टाप्। गतक्षमा = गता क्षमा यस्याः सा (बहु०)। ससंभ्रमा = संभ्रमेण सहिता (तुल्ययोगबहु०)। लुप्तरतिः = लुप्ता रतिः यस्याः, सा (बहु०)। स्खलन्मतिः = स्खलन्ती मतिः यस्याः, सा (बहु०)। व्यधात् = वि + धा + लुङ् + तिप्। इस पद्यमें प्रिय (नल) की प्राप्तिके विघातसे उत्पन्न चिन्ता, विषाद और उद्भ्रम आदि भाव हैं ॥ ८७ ॥

त्वरस्व पञ्चेषुहुताशनाऽऽत्मनस्तनुष्व मद्भस्मचयं यशश्चयम्।
विधे! परेहाफलभक्षणव्रती पताऽद्य तृप्यन्नसुभिर्ममाऽफलैः॥ ८८॥

अन्वयः—हे पञ्चेषुहुताऽशन! त्वरस्व, मद्भस्मचयं यशश्चयं तनुष्व। हे विधे! परेहाफलभक्षणव्रती अद्य अफलैः मम असुभिः तृप्यन् पत ॥ ८८ ॥

व्याख्या—अथ त्रयोदशभिः पद्यैः परिदेवनं प्रस्तौति त्वरस्वेत्यादि। हे पञ्चेषुहुताऽशन = हे कामाऽग्ने!, त्वरस्व = त्वरां कुरु, मद्भस्मचयं = मद्भसितसमूहमेव, यशश्चयं = यशोराशिं, तनुष्व = विस्तारय। हे विधे = हे ब्रह्मदेव!, परेहाफलभक्षणव्रती = अपरेच्छाऽभीष्टाऽशनव्रतशीलः सन्, न तु तापसोचितवन्यमूलव्रतीति भावः। अद्य = अधुना, अफलैः = निष्फलैः, मम = विरहिण्याः, असुभि = प्राणैः, तृप्यन् = तृप्तः सन्, पत = पतितो भव, स्त्रीवधपातकी भवेति भावः ॥ ८८ ॥

अनुवादः—हे कामाऽग्ने! शीघ्रता करो, मेरे भस्मसमूहरूप कीर्तिसमूहको फैलाओ। हे ब्रह्मदेव! दूसरेकी इच्छाके अभीष्ट फल खानेके लिए व्रत लेनेवाले तुम आज निष्फल मेरे प्राणोंसे तृप्त होते हुए पतित बनो ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—पञ्चेषुहुताऽशन = पञ्च इषवो यस्य सः (बहु०)। पञ्चेषुः एव हुताशनः (रूपक०), तत्सम्बुद्धौ। त्वरस्व = (ञि) त्वरा + लोट् + थास्। मद्भस्मचयं = मम भस्मानि (ष० त०), तेषां चयः, तम् (ष० त०)। तनुष्व =

तनु + लोट् + थास् । परेहाफलभक्षणव्रती = ईहायाः फलम् (ष० त०), "इच्छा काङ्क्षास्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः ।" इत्यमरः । परेषाम् ईहाफलम् (ष० त०), तस्य भक्षणम् (ष० त०) । तस्मिन् व्रती (स० त०) । अफलैः= अविद्यमानं फलं येषां ते, तैः (नञ्-बहु०) । तृप्यन् = तृप् + लट् (शतृ) + सु । पत = पत + लोट् + सिप्, स्त्रीवधके पातकी बनो, यह भाव है ॥ ८८ ॥

भृशं वियोगाऽनलतप्यमान ! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि ? ।
स्मरेषुभिर्भेद्य ! न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त ! कथं न दीर्यसे ?॥८९॥

अन्वयः— हे भृशं वियोगाऽनलतप्यमान ! हे स्वान्त ! त्वम् अयोमयं यदि, (तर्हि) किं न विलीयसे ? हे स्मरेषुभिः भेद्य ! (अत एव) वज्रम् अपि न असि, (किन्तु) कथं न दीर्यसे ? न ब्रवीषि ? ॥ ८९ ॥

व्याख्या— भृशम् = अत्यर्थं, हे वियोगाऽनलतप्यमान=वियोगाऽग्निसन्दह्यमान ! हे स्वान्त = हे हृदय !, त्वम्, अयोमयं यदि = लोहरूपं चेत्, तर्हि, किं न विलीयसे = किं न विलीनं भवसि, अयोघनस्याऽपि अग्नितापाद्विलयनदर्शनादयोमयमपि नाऽसीति भावः । स्मरेषुभिः = कामबाणैः हे भेद्य = हे भेदनीय !, अत एव वज्रम् अपि = कुलिशम् अपि, न असि = नो विद्यसे, किन्तु कथं न दीर्यसे = कथं न विदलसि वज्रदन्यस्य लोहलेश्यत्वादिति भावः । न ब्रवीषि = नो ब्रूषे ? त्वत्स्वरूपमिति भावः ॥ ८९ ॥

अनुवादः—हे वियोगाऽग्निसे अत्यन्त सन्तप्त होनेवाला हृदय ! तू लोहमय है तो क्यों नहीं विलीन होता है, हे कामबाणोंसे भेदनीय ! अत एव तू वज्र भी नहीं है, किन्तु क्यों नहीं विदीर्ण होता है ? क्यों नहीं बोलता है ? ॥ ८९॥

टिप्पणी—वियोगाऽनलतप्यमान = वियोगस्य अनलः (ष० त०), तेन तप्यमानः (तृ० त०), तत्सम्बुद्धौ । स्वान्त = "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।" इत्यमरः । अयोमयम् = अयः स्वरूपं यस्य तत्, अयस् + मयट् (स्वार्थमें) + सु । विलीयसे = वि + लङ् + लट् + थास् । स्मरेषुभिः = स्मरस्य इषवः, तैः (ष० त०) । दीर्यसे = दृ + लट् (कर्मकर्ता में) + थास् । ब्रवीषि = ब्रू + लट् + सिप् ॥ ८९ ॥

विलम्बसे जीवित ! किं, द्रव द्रुतं, ज्वलत्ययदस्ते हृदयं निकेतनम् ।
जहासि नाऽद्याऽपि मृषा सुखाऽऽसिकामपूर्वमालस्यमहो ! तवेदृशम् ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे जीवित ! किं विलम्बसे ? द्रुतं द्रव । यतः ते अदो निकेतनं हृदयं ज्वलति । अद्य अपि मृषा सुखाऽऽसिकां न जहासि । तव ईदृशम् आलस्यम् अपूर्वम् अहो ! ॥ ९० ॥

व्याख्या—हे जीवित = हे प्राणवायो !, किं = किमर्थं, विलम्बसे = विलम्बं करोषि, द्रुतं = शीघ्रं, द्रव = गच्छ । यतः—ते = तव, अदः = इदं, निकेतनं = गृहम्, आवासस्थानमिति भावः । हृदयं = हृत्, ज्वलति=प्रज्वलति । अद्य अपि = इदानीम् अपि, मृषा = वृथा, सुखाऽऽसिकां = सुखाऽऽसनं, न जहासि = न त्यजसि, दह्यमाने गृहे नो वस्तव्यमिति भावः । तव = भवतः, ईदृशम् = एतादृशम्, आलस्यम् = अलसत्वम्, अपूर्वं = नूतनम्, अहो = आश्चर्यम् ! ॥ ९० ॥

अनुवादः—हे जीवित ! क्यों विलम्ब करता है ? जल्दी जा। तेरा यह निवासस्थान हृदय जल रहा है। अभी भी व्यर्थ सुखासनको तू नहीं छोड़ रहा है। तेरा ऐसा आलस्य अपूर्व है। आश्चर्य है ! ॥ ९० ॥

टिप्पणी—विलम्बसे = वि + लबि + लट् + थास् । द्रव = द्रु + लोट् + सिप् । सुखाऽऽसिकाम् = आसनम् आसिका, आस धातुसे "धात्वर्थ-निर्देशे ण्वुल्वक्तव्यः" इस वार्तिकसे ण्वुल् (अक) + टाप् । सुखम् (यथा तथा) आसिका सुखाऽऽसिका, ताम् (सुप्सुपा०) । जहासि = हा + लट् + सिप् । आलस्यम् = अलसस्य भावः, अलस + ष्यञ् + सु ॥ ९० ॥

दृशौ ! मृषापातकिनो मनोरथाः कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे ।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षालयतं शतं समाः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हे दृशौ ! मृषापातकिनो मनोरथाः पृथू वाम् अपि कथं विप्रलेभिरे ? (किञ्च) प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकम् अश्रुभिः शतं समाः क्षालयतम् ॥ ९१ ॥

व्याख्या—हे दृशौ = हे नेत्रे !, मृषापातकिनः = अनृतपातकयुक्ताः, मनोरथाः = अभिलाषाः, नलदिदृक्षारूपा इति शेषः । पृथू = महत्यौ, विप्र-लम्भाऽनर्हे इति भावः । वाम् अपि = युवाम अपि, कथं = केन प्रकारेण, विप्र-लेभिरे = वञ्चयामासुः । मोहनिकाः किं न कुर्युः ? मनोरथा वां विफला इति भावः । किं च, प्रियश्रियः = नलसौन्दर्यस्य, प्रेक्षणघाति = दर्शनघातकं, पातकं = पापविशेषम्, जन्मान्तरकृतमिति शेषः । अश्रुभिः = नयनसलिलैः,

शतं समाः = शतसंवत्सरपर्यन्तम् । क्षालयतं = प्रक्षालयतम्, गुरुपापं गुरुप्राय-श्चित्तनिवारणीयमिति भावः । मम नलदर्शनाऽऽशाऽपि निरस्तेति भावः ॥ ९१ ॥

अनुवादः—हे मेरे नेत्रों ! मिथ्यापातकवाले मनोरथोंने तुम्हारे जैसे बड़ोंको भी कैसे ठग लिया ? प्यारे नलके सौन्दर्यदर्शनका निवारण करनेवाले पातकका आँसुओंसे सौ सालतक प्रक्षालन करो (धोओ) ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—विप्रलेभिरे = वि + प्र + लभ् + लिट् + झ (इरेच्) । प्रियश्रियः = प्रियस्य श्रीः, तस्याः (ष० त०) । प्रेक्षणघाति = प्रेक्षणं हन्तीति, तत प्रेक्षण + हन् + णिनिः (उपपद०) + सु । पातकं = पातयति, अधो गमयतीति, पत + णिच् + ण्वुल् + अम् । पातित्यप्रयोजक गोवध आदि पापविशेषको "पातक" कहते हैं । शतं समाः = अत्यन्त संयोगमें द्वितीया । "संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्रो शरत् समाः ।" इत्यमरः । क्षालयतम् = क्षल + णिच् + लोट् + थस् (तम्) ॥ ९१ ॥

प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ।
वियोगमेवेच्छ मनः ! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्यसावपि ॥ ९२ ॥

अन्वयः—हे मनः ! त्वदीप्सितं प्रियं न लभे, त्वदीप्सितं मृत्युं च न लभे । त्वं मम यत् इच्छसि तत् एव न स्यात् । (अतः) मे प्रियेण वियोगम् एव इच्छ । तव प्रसादात् असौ अपि मे न भवति ॥ ९२ ॥

व्याख्या—हे मनः = हे मानस !, त्वदीप्सितं = त्वदभीष्टं, प्रियं = वल्लभं, नलं, न लभे = न प्राप्नोमि, तदलाभे त्वदीप्सितं = त्वदभीष्टं. मृत्युं च=मरणं च, न लभे = न प्राप्नोमि । तस्मात् त्वं, मम, यत् इच्छसि = वाञ्छसि, तत् एव-न स्यात् = नो भवेत्, अतः मे = मम, प्रियेण = वल्लभेन नलेन, वियोगम् एव = विरहम् एव, इच्छ = कामयस्व । तव = भवतः, प्रसादात् = अनुग्रहात्, असौ अपि = वियोगः अपि, मे = मम, न भवति = नो जायते, नललाभाऽभावे मरणमेव मे शरणमिति भावः ॥ ९२ ॥

अनुवादः—हे मन ! मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रिय (नल) को नहीं पाती हूँ और तुम्हारी अभीष्ट मृत्युको भी नहीं पाती हूँ । तुम मेरा जो चाहते हो वही नहीं होती है अतः प्रियके साथ मेरे विरहकी इच्छा करो, तुम्हारे अनुग्रहसे वह (वियोग) भी मेरा नहीं होता है ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—त्वदीप्सितं = तव ईप्सितं, तत् (ष० त०) । लभे = लभ + लट् + इट् । इच्छसि = इष् + लट् + सिप् । इस पद्यमें संयोगके लिए वियोगकी

प्रार्थना करनेसे विचित्र अलङ्कार है। उसका लक्षण है—"विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।" (सा० द० १०-७१) ॥ ९२ ॥

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनं तु दक्षिणम्।
दिशाऽपि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधाऽवधिः ॥९३॥

अन्वयः—द्विषत्सु अतिवामम् अङ्गजं काकुवाक्यैः न याचे, तु दक्षिणं पवनं याचे। अयं यया दिशा प्रियः (संचरते) तया (दिशा) मद्भस्म किरतु, वैरविधिः वधाऽवधिः ॥ ९३ ॥

व्याख्या—द्विषत्सु = शत्रुषु, वियोगिशत्रुचन्द्रादिष्विति भावः। अतिवामम् = अतिकुटिलम्, अङ्गजं = कामं, काकुवाक्यैः = करुणवचनैः, न याचे = न प्रार्थये, तु = किन्तु, दक्षिणं = दक्षिणदिग्भवं दाक्षिण्ययुक्तं च, पवनं = मलयाऽनिलं, याचे = प्रार्थये, अयं = दक्षिणपवनः, यया, दिशा = काष्ठया, प्रियः = वल्लभः नलः, संचरते इति शेषः। तया = दिशा, मद्भस्म = मद्भसितं, किरतु = विक्षिपतु शत्रुपक्षस्थो दक्षिणवायुः कथमुपकरिष्यति इत्याशङ्कां समाधत्ते—वैरविधिरिति। यतः—वैरविधिः = शत्रुताऽऽचरणं, वधाऽवधिः = मरणाऽन्तः। "मरणाऽन्तानि वैराणि" इति न्यायादिति भावः ॥ ९३ ॥

अनुवादः—मैं शत्रुओंमें अत्यन्त कुटिल कामदेवसे याचना नहीं करती हूँ, किन्तु दक्षिण (दाक्षिण्ययुक्त वा मलयसम्बन्धी) वायुसे याचना करती हूं। जिस दिशासे मेरे प्रिय (नल) चलते हैं उसी दिशामें यह दक्षिणवायु मेरे भस्मको फैला दे, क्योंकि मरनेके बाद शत्रुता भी समाप्त हो जाती है ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—द्विषत्सु = द्विष + लट् (शतृ) + सुप्। अतिवामं = "वामौ वल्गुप्रतीपौ द्वौ" इत्यमरः। अङ्गजम् = अङ्गाज्जातः, तम् "पञ्चम्यामजातौ" इससे ड प्रत्यय। अङ्ग + जन् + डः (उपपद०) + अम्। "अङ्गजं रुधिरेऽनङ्ग-केशपुत्रमदेऽङ्गजः।" इति विश्वः। काकुवाक्यैः = काकोर्वाक्यानि, तैः (ष० त०)। याचे = याच + लट् + इट्। किरतु = कॄ + लोट् + तिप्। वैरविधिः= वैरस्य विधिः (ष० त०)। वधाऽवधिः = वधः अवधिः यस्य सः (बहु०)। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः, कियत्सहिष्ये, न हि मृत्युरस्ति मे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता, न तं मनस्तच्च न कायवायवः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—गच्छन्ति अमूनि युगानि, क्षणो न। कियत् सहिष्ये। हि मे मृत्युः

न अस्ति । स कान्तः अन्तः मां न उज्झिता, स्फुटं तं मनश्च न उज्झिता, तत् कायवायवश्च न (उज्झितारः) ।। ९४ ।।

व्याख्या--गच्छन्ति = व्रजन्ति, अमूनि = एतानि, युगानि = द्वादशाब्दपरिमाणाः दीर्घकालाः, क्षणो न = क्षणरूपः अल्पकालो न, कियत् = किंपरिमाणं, सहिष्ये = मर्षयिष्यामि, हि = यतः, मे = मम, मृत्युः = मरणं, न अस्ति = न विद्यते, अतः सहनस्य अवधिर्नास्तीति भावः । सः = प्रसिद्धः, कान्तः = प्रियः नलः, अन्तः = अन्तःकरणे, मानसे, मां = कान्तां, न उज्झिता = न त्यक्ता (त्यागकर्ता), स्फुटं = व्यक्तं, तं = कान्तं नलं, मनश्च = मानसं च, न उज्झिता = अद्य न उज्झितृ, आगामिकालेष्वपि न उज्झिष्यतीति भावः । एवं च तत् = मनः, कायवायवः = प्राणाः, न = न उज्झितारः, न त्यागकर्तारः । हन्त ! का गतिरिति भावः ।। ९४ ।।

अनुवादः--बीते हुए ये युग हैं, क्षण (अल्पकाल) नहीं हैं। कितना सहूँगी ?, क्योंकि मेरा मरण भी नहीं है, प्यारे नल अन्तःकरणमें मुझे नहीं छोड़नेवाले हैं, स्पष्ट रूपसे उनको मेरा मन भी छोड़नेवाला नहीं है। उस मेरे मनको प्राणवायु भी छोड़नेवाले नहीं हैं ।। ९४ ।।

टिप्पणी--गच्छन्ति = गम् + लट् (शतृ) + जस् । युगानि = बारह वर्षोंका एक मानवयुग होता है, ऐसे कई युग हैं यह तात्पर्य है । क्षणः = "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः ।" इति "अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा, त्रिंशत्तु ताः कला । तास्तु त्रिंशत् क्षणः ।" इति चाऽमरः । अठारह बार पलक माननेपर जितना समय होता है उसे "काष्ठा" और तीस काष्ठाओंमें जितना समय होता है उसे "कला" और तीस कलाओंमें जितना समय होता है उसे "क्षण" कहते हैं । सहिष्ये = सह + लृट् + इट् । उज्झिता = उज्झ + तृच् + सु । इसका वर्तमानके प्रयोगमें लुट्परक अर्थ नहीं करना चाहिए । न उज्झिता = उज्झ + लुट् + तिप् । यहाँपर मेरा मन अभी भी नलको छोड़नेवाला नहीं है, पीछे भी नहीं छोड़ेगा, यह भाव है । कायवायवः = कायस्य वायवः (ष० त०) ।।९४।।

मद्विप्रतापव्ययशक्तशीकरः सुराः ! स वः केन पये कृपाऽर्णवः ।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमाशु सङ्कल्पकणश्रमेण वः ।। ९५ ।।

अन्वयः-- हे सुराः ! मद्विप्रतापव्ययशक्तशीकरः स वः कृपाऽर्णवः केन पपे ? सङ्कल्पकणश्रमेण मदुत्तमा कोटिः वः मुदे आशु न उदेति किम् ? ।। ९५ ।।

व्याख्या—हे सुराः = हे इन्द्रादयो देवाः !, मदुग्रतापव्ययशक्तशीकरः = मदतितीव्रसन्तापशान्तिसमर्थजलकणः, सः = प्रसिद्धः, वः = युष्माकं, कृपाऽर्णवः = दयासमुद्रः, केन = जनेन, पपे = पीतः, अगस्त्येन प्रसिद्धसमुद्र इवेति भावः । सङ्कल्पकणश्रमेण = चिन्तनलेशप्रयासेन, मदुत्तमा = मदधिका, कोटिः = उत्कर्षः, उत्कर्षाश्रयभूता वधूरिति भावः । वः = युष्माकं, मुदे=प्रीतये, आशु = शीघ्रं, न उदेति किम्=न आविर्भवति किमु ? तस्मादनुकम्पास्पदे जने विपरीताचरणमनुचितमिति भावः ।। ९५ ।।

अनुवादः—हे देवताओं ! मेरे तीव्रतापकी शान्तिके लिए समर्थ जलकणवाले प्रसिद्ध आप लोगोंके दयासागरको किसने पी लिया है ? सङ्कल्पके लेशमात्रके प्रयाससे मुझसे श्रेष्ठ कोई स्त्री आपलोगोंकी प्रीतिके लिए प्रकट नहीं होती है क्या ? ।। ९५ ।।

टिप्पणी—मदुग्रतापव्ययशक्तशीकरः = उग्रश्चाऽसौ तापः (क० धा०), मम उग्रतापः (ष० त०), तस्य व्ययः (ष० त०) । शक्ताः शीकरा यस्य सः (बहु०) । मदुग्रतापव्यये शक्तशीकरः (स० त०) । कृपाऽर्णवः = कृपाया अर्णवः (ष० त०) । पपे = पा + लिट् (कर्ममें) + त ([illegible]) । सङ्कल्पकणश्रमेण = सङ्कल्पस्य कणः (ष० त०), तस्य श्रमः (ष० त०), तेन । मदुत्तमा=मत् उत्तमा (प० त०) । कोटिः = "अत्युत्कर्षाऽश्रयः कोटच" इत्यमरः । उदेति = उद् + इण् + लट् + तिप् । दयापात्र जनमें विपरीत आचरण अनुचित है, यह भाव है ।। ९५ ।।

ममैव वाऽर्हदिवमश्रुदुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसञ्जिते ।
कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्य देवता भवत्वरण्येरुदितं न मे गिरः ? ।। ९६ ।।

अन्वयः—वा अर्हदिवं मम एव अश्रुदुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसञ्जिते देवताः सुषुप्य मे गिरः कथं शृण्वन्तु नु ? (अत एव) मे गिरः कथम् अरण्येरुदितं न भवतु ? ।। ९६ ।।

व्याख्या—वा = अथवा, अर्हदिवम् = अहरहः, मम एव, अश्रुदुर्दिनैः = नयनसलिलवर्षैरित्यर्थः । प्रसह्य = बलात्, वर्षासु ऋतौ = वर्षर्तौ, प्रसञ्जिते = प्रवर्तिते सति, देवताः = इन्द्रादयो देवाः, सुषुप्य = सुष्ठु सुप्त्वा, मे = मम, गिरः = विलापवचनानि, कथं = केन प्रकारेण, शृण्वन्तु नु = आकर्णयन्तु नु ? अत एव, मे = मम, गिरः = विलापवचनानि, कथं = केन प्रकारेण, अरण्येरुदितम् = अरण्यरोदनप्रायं, न भवतु = नो भवेत् ।। ९६ ।।

अनुवाद:—अथवा प्रतिदिन मेरे ही आंसुओंकी वृष्टिसे हठात् वर्षा ऋतु होनेपर इन्द्र आदि देवता अच्छी तरहसे सोकर मेरे विलापके वचनोंको कैसे सुनेंगे ? अत एव मेरा विलापवाक्य कैसे अरण्यरोदनके समान न होगा ? ॥९६॥

टिप्पणी—अहर्दिवम् = अहनि च दिवा च (द्वन्द्व), "अचतुर०" इत्यादि सूत्रसे अच्प्रत्ययान्त निपात । अश्रुदुर्दिनैः = अश्रुभिः दुर्दिनानि, तैः (तृ० त०)। वर्षासु ऋतौ = "ऋत्यकः" इससे प्रकृतिभाव । "स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः" इत्यमरः । सुषुप्य = सु + सुप् + क्त्वा (ल्यप्), "वचिस्वपि०" इत्यादि-से संप्रसारण "सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः" इससे षत्व । वर्षाकालमें चार मास-तक भगवान् विष्णु शयन करते हैं उसी तरह यहाँपर अन्य देवताओंके शयनका आरोप किया गया है । शृण्वन्तु = श्रु + लोट् + झिः । अरण्येरुदितम् = "क्षेपे" इस सूत्रसे समास, "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इससे अलुक् । इस पद्यमें देवताओंके शयनसे सम्बन्ध न होने पर भी उसकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है, उसका दमयन्तीके विलाप वाक्योंका अरण्यरोदन असंभव होनेसे सादृश्यका आक्षेप होकर निदर्शना अङ्ग है इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९६ ॥

इयं न ते नैषध ! दृक्पथाऽतिथिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना :
ह्रदे ह्रदे हा ! न कियद् गवेषित: स वेधसाऽगोपि खगोऽपि वक्ति यः ॥९७॥

अन्वयः—हे नैषध ! इयं त्वदेकतानस्य जनस्य यातना ते दृक्पथाऽतिथिः न, यः खगः वक्ति सः अपि वेधसा अगोपि, ह्रदे ह्रदे अपि कियत् न गवेषितः ? हा ! ॥ ९७ ॥

व्याख्या—हे नैषध = हे नल !, इयम् = एषा, त्वदेकतानस्य = त्वत्परस्य, जनस्य = प्रियाजनस्य, ममेति भावः । यातना= तीव्रवेदना, ते = तव, दृक्पथाऽतिथिः न = नेत्रगोचरः न, देशविप्रकर्षादिति भावः । किञ्च यः, खगः = पक्षी हंसः, वक्ति = भाषते, नलाय मद्यातनां निवेदयति, इति भावः । सः अपि = हंसः अपि, वेधसा = ब्रह्मदेवेन, अगोपि = गुप्तः, क्वाऽपीति शेषः । ह्रदे ह्रदे = प्रतिह्रदम् अपि, कियत् न गवेषितः = कतिवारं न मार्गितः, हा = मम शोच्यत इति भावः ॥ ९७ ॥

अनुवाद:—हे नल ! तुममें तत्पर इस जनकी (मेरी) यह तीव्र वेदना तुमसे देखी गई नहीं है, जो पक्षी (हंस) तुम्हें निवेदन करता उसे भी ब्रह्माजीने कहीं छिपा दिया । उसे कई तालाबोंमें कितनी बार नहीं ढूंढा है ! हाय ! ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—त्वदेकतानस्य = त्वयि एकतानः, तस्य (स० त०)। "एकतानोऽनन्यवृत्तिः" इत्यमरः। दृक्पथाऽतिथिः = दृशोः पन्था दृक्पथः (ष० त०), तस्य अतिथिः (ष० त०)। वक्ति = वच + लट् + तिप्। अगोपि = गुप + लुङ् (कर्ममें) + त। गवेषितः = गवेष + क्तः (कर्ममें) + सु ॥ ९७ ॥

ममाऽपि किं नो दयसे ? दयाधन ! त्वदङ्घ्रिमग्नं यदि वेत्थ मे मनः।
निमज्जयन् संतमसे पराऽऽशयं विधिस्तु वाच्यः, क्व तवाऽऽगसः कथा ? ॥९८॥

अन्वयः—हे दयाधन ! मम मनः त्वदङ्घ्रिमग्नं वेत्थ यदि, मम अपि किं नो दयसे ? (अथ वा) पराऽऽशयं संतमसे निमज्जयन् विधिस्तु वाच्यः, तव आगसः कथा क्व ? ॥ ९८ ॥

व्याख्या—हे दयाधन=हे कृपानिधे ! नल !, मम, मनः = चित्तं, त्वदङ्घ्रिमग्नं = त्वच्चरणस्थितं, वेत्थ यदि = वेत्सि चेत्, तर्हि मम अपि, किं नो दयसे = किं न अनुकम्पसे ? अथ वा पराऽऽशयम् = अन्याऽन्तःकरणं, संतमसे = गाढान्धकारे, मोहरूप इति शेषः। निमज्जयन् = पातयन्, विधिस्तु = दैवं तु, वाच्यः = उपालभ्यः, अतः तव = भवतः, आगसः = अपराधस्य, कथा = कथनं, क्व = कुत्र ? दैवव्यामोहितस्त्वं मां न जानासि, न तु निर्दयत्वादिति भावः ॥ ९८ ॥

अनुवादः—हे कृपानिधे नल ! तुम मेरे मनको अपने चरणमें मग्न जानते हो तो मेरे ऊपर क्यों दया नहीं करते हो ? अथवा दूसरेके अन्तःकरणको मोहरूप गाढ अन्धकारमें डालनेवाले भाग्यको ही उलाहना देना चाहिए, तुम्हारे अपराधकी क्या बात है ? ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—दयाधन = दया एव धनं यस्य सः (बहु०), तत्सम्बुद्धौ। त्वदङ्घ्रिमग्नं = तव अङ्घ्री (ष० त०), तयोः मग्नं, तत् (स० त०)। वेत्थ = विद् + लट् + सिप् (थल्)। "विदो लटो वा" इससे सिप्के स्थानमें थल् आदेश। मम = "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इससे दय धातुके योगमें षष्ठी। पराऽऽशयं = परस्य आशयः, तम् (ष० त०)। संतमसे = सन्ततं तमः संतमसं, तस्मिन् (गति०), "अवसमन्धेभ्यस्तमसः" इससे समासान्त अच् प्रत्यय। निमज्जयन् = नि + मस्ज + णिच् + लट् (शतृ) + सु। वाच्यः = वच् + ण्यत् + सु। भाग्यसे व्यामोहित होनेसे तुम ऐसी आपदग्रस्त मुझे नहीं जानते हो यह भाव है ॥ ९८ ॥

कथाऽवशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते ? ।
दयाऽणुना मां समनुग्रहीष्यसे तदाऽपि तावद्यदि नाथ ! नाऽधुना ॥ ९९ ॥

अन्वयः—हे नाथ ! तव कृते सा कथाऽवशेषं गता इति ते श्रोत्रपथं कथं न उपैष्यति ? अधुना न यदि, तदा अपि दयाऽणुना मां समनुग्रहीष्यसे तावत् ॥९९॥

व्याख्या – हे नाथ = हे प्राणेश्वर !, तव = भवतः, कृते = निमित्ते, सा = दमयन्ती, कथाऽवशेषं = शब्दाऽवशेषं, गता = प्राप्ता, इति = एषा वार्ता, ते = भवतः, श्रोत्रपथं = कर्णमार्गं, कथं = केन प्रकारेण, न उपैष्यति = न प्राप्स्यति, उपैष्यत्येवेति भावः। अधुना = अस्मिन् समये, न यदि = न अनुगृह्णासि चेत्, तदा अपि = मद्दशाश्रवणसमये अपि, दयाऽणुना = कृपालेशेन, मां, समनुग्रहीष्यसे = समनुकम्पिष्यसे, तावत् = एव । अधुना न यदि, पश्चादनुशोचनमपि महानुग्रह इति भावः ॥ ९९ ॥

अनुवादः—हे प्राणेश्वर (नल) ! आपके लिए वह (दमयन्ती) कथाशेष हुई यह बात आपके कानोंतक क्यों नहीं पहुँचेगी ? अभी अनुग्रह नहीं करते हैं तो उस समय भी आप कृपाके लेशसे भी मुझे अनुगृहीत करेंगे ही ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—कथाऽवशेषं = कथाया अवशेषः, तम् (ष० त०) । श्रोत्रपथं = श्रोत्रयोः पन्थाः श्रोत्रपथः, तम् (ष० त०) । उपैष्यति = उप + इण् + लृट् + तिप् । दयाऽणुना = दयाया अणुः, तेन (ष० त०), "स्त्रियां मात्रा त्रुटिः, पुंसि लवलेशकणाऽणवः ।" इत्यमरः । समनुग्रहीष्यसे=सम् + अनु + ग्रह + लृट् + थास् । "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इस सूत्रसे इट्का दीर्घ । अभी नहीं तो पीछे भी मेरे लिए शोक करेंगे तो महान् अनुग्रह होगा यह भाव है ॥ ९९ ॥

ममाऽऽदरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे हताऽसुभिः प्राणसमः समं गमः ॥ १०० ॥

अन्वयः—(हे नाथ !) मम, इदम् आन्तरं विदरीतुम् आदरि, तत् हे अर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चित् अर्थये । प्राणसमः (त्वम्) हृदि भिदाम् एव द्वारम् अवाप्य मे हताऽसुभिः समम् एव मा गमः ॥ १०० ॥

व्याख्या—(हे नाथ !) मम, इदम्=एतत्, आन्तरम् = अन्तर्भवं, हृदयम् । विदरीतुं = स्फुटितुम्, आदरि = आदरयुक्तम्, अस्तीति शेषः । तत् = तस्मात् कारणात्, हे अर्थिकल्पद्रुम = हे याचककल्पवृक्ष !, किञ्चित् = किमपि, अर्थये = याचे, किं तदित्यत आह —भिदामिति । प्राणसमः = प्राणतुल्यः त्वं, हृदि = हृदये, भिदाम् एव = भेदम् एव, द्वारं = निःसरणप्रतीहारम्, अवाप्य = प्राप्य,

मे = मम, हताऽसुभिः = विफलप्राणैः; त्वत्प्राप्त्यभावेनेति शेषः, समम् एव = सह एव, मा गमः = नो निर्गच्छ ॥ १०० ॥

अनुवादः—(हे नाथ !) मेरा यह हृदय विदीर्ण होना चाहता है, इस कारण हे याचकोंके कल्पवृक्ष ! मैं आपसे कुछ प्रार्थना करती हूँ । हृदयमें भेदन-रूप द्वार पाकर आपको न पानेसे निष्फल मेरे प्राणोंके साथ प्राणके समान आप मत जायँ ॥ १०० ॥

टिप्पणी—आन्तरम् = अन्तरे भवम्, अन्तर + अण् + सु । विदरीतुम् = वि + दृ + तुमुन्, "वृतो वा" इससे इट्का दीर्घ ! आदरि=आदरः अस्याऽस्तीति, आदर + इनिः + सु । अर्थिकल्पद्रुम=अर्थिनां कल्पद्रुमः, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। अर्थये = अर्थ + णिच् + इट् । प्राणसमः=प्राणैः समः (तृ० त०) । भिदाम्= भेदनं भिदा, ताम् "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इससे अङ् । भिद् + अङ् + टाप् + अम् । हताऽसुभिः=हताश्च ते असवः, तैः (क० धा०) । मा गमः = माङ्के योगमें गम् धातुसे लुङ् + सिप् "पुषादि०" इत्यादिसे च्लिके स्थानमें अङ् आदेश । "न माङ्योगे" इससे अट् आगमका अभाव । मेरे प्राणोंके उत्क्रमण समयमें दूसरे जन्ममें भी आपको पानेकी इच्छा करनेवाली मेरे हृदयसे आपको नहीं जाना चाहिए यह भाव है । भगवान्‌ने भी कहा है—

"यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥" गीता (८-६) ।

इति प्रियाकाकुभिरुन्मिषन्भृशं दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः ।
नृपं स योगे पि वियोगमन्मथः क्षणं तमुद्भ्रान्तमजीजनत्पुनः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः स वियोगमन्मथः इति प्रिया-काकुभिः भृशम् उन्मिषन् (सन्) तं नृपं योगे अपि क्षणं पुनः उद्भ्रान्तम् आजीजनत् ॥ १०१ ॥

व्याख्या—दिगीशदूत्येन = दिक्पालदूतभावेन, हृदि = हृदये, स्थिरीकृतः= निरुद्धः, सः = पूर्वोक्तः, वियोगमन्मथः = विरहमदनः, विप्रलम्भशृङ्गार इत्यर्थः । इति = इत्थं, प्रियाकाकुभिः = दमयन्तीकरुणोक्तिभिः । भृशम् = अत्यर्थम्, उन्मिषन् = उद्बुद्धः सन्, तं = पूर्वोक्तं, नृपं = राजानं नलं, योगे अपि = सन्निधाने अपि, क्षणं = कंचित्कालं, पुनः = भूयः, उद्भ्रान्तम् = उन्मत्त-चित्तम्, अजीजनत् = जनितवान्, अकार्षीदिति भावः ॥ १०१ ॥

अनुवाद:— इन्द्र आदि दिक्पालों के दूतभावसे हृदयमें स्थिर किये गये उस विप्रलम्भशृङ्गारने इस प्रकार प्रिया (दमयन्ती) की करुण उक्तियोंसे अत्यन्त उद्बुद्ध होकर राजा नलको सामीप्य होनेपर भी कुछ कालतक फिर उन्मत्त बना डाला ॥ १०१ ॥

टिप्पणी— दिगीशदूत्येन = दिशाम् ईशाः (ष० त०), तेषां दूत्यं, तेन (ष० त०)। वियोगमन्मथः = वियोगस्य मन्मथः (ष० त०)। प्रियाकाकुभिः = प्रियायाः काकवः, ताभिः (ष० त०)। उद्भ्रान्तम् = उद् + भ्रमु + क्तः + अम् । अजीजनत् = जन् + णिच् + लुङ् + तिप् ॥ १०१ ॥

महेन्द्रदूत्यादि समस्तमात्मनस्ततः स विस्मृत्य मनोरथस्थितैः।
क्रियाः प्रियाया ललितैः करम्बिता विकल्पयन्नित्थमलीकमालपत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः— ततः स आत्मनो महेन्द्रदूत्यादि समस्तं विस्मृत्य मनोरथस्थितैः ललितैः करम्बिताः प्रियायाः क्रियाः विकल्पयन् इत्थम् अलीकम् आलपत् ॥१०२॥

व्याख्या—अथोन्मादाऽनुभावो नलस्य प्रलापः प्रवृत्त इत्याह—महेन्द्रेति। ततः = अनन्तरम्, उन्मादाऽनन्तरमिति भावः, सः = नलः, आत्मनः = स्वस्य, महेन्द्रदूत्यादि = इन्द्रदौत्यादिकं, समस्तं = सकलं कृत्यम् । विस्मृत्य = प्रस्मृत्य, मनोरथस्थितैः = अभिलाषस्थितैः, ललितैः = विलासैः, करम्बिताः = मिश्रिताः, प्रियायाः = दयितायाः दमयन्त्याः, क्रियाः = शृङ्गारचेष्टाः, विकल्पयन् = आलोचयन्, "वितर्कयन्" इति पाठान्तरे अनेकप्रकारेण संभावयन् इत्यर्थः । इत्थम् = अनेन प्रकारेण, वक्ष्यमाणरूपेणेति शेषः । अलीकम् = अबुद्धिपूर्वकम्, आलपत् = अवोचत् ॥ १०२ ॥

अनुवाद:— उन्मादके अनन्तर नल अपने इन्द्रके दौत्य आदि समस्त कृत्यको भूलकर अभिलाषोंमें स्थित विलासोंसे मिश्रित दमयन्तीकी शृङ्गारचेष्टाओं को सोचते हुए अज्ञानपूर्वक कहने लगे ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—महेन्द्रदूत्यादि = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०)। दूत्यम् आदिर्यस्य तत् (बहु०)। महेन्द्रस्य दूत्यादि, तत् (ष० त०)। विस्मृत्य = वि + स्मृ + क्त्वा (ल्यप्)। मनोरथस्थितैः=मनोरथे स्थिताः, तैः (स० त०)। आलपत् = आङ् + लप + लङ् + तिप् । नल उन्मादपूर्वक प्रलाप करने लगे यह भाव है ॥ १०२ ॥

अयि प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते ? विलिप्यते हा ! मुखमश्रुबिन्दुभिः ।
पुरस्त्वयाऽऽलोकि नमन्नयं न किं तिरश्चलल्लोचनलीलया नलः ? ॥ १०३ ॥

अन्वयः—अयि प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते ? मुखम् अश्रुबिन्दुभिः विलिप्यते । हा ! पुरो नमन् अयं नलः त्वया तिरश्चलल्लोचनलीलया न आलोकि किम् ? ॥ १०३ ॥

व्याख्या—अष्टादशभिः पद्यैः प्रलापमवाह—अयीति । अयि प्रिये = हे दयिते दमयन्ति !, कस्य = जनस्य, कृते = निमित्ते, विलप्यतेपरिदेव्यते, त्वयेति शेषः । मुखम्=आस्यम्, अश्रुबिन्दुभिः = नयनसलिलपृषतैः, विलिप्यते = विलिप्तं क्रियते, प्रदूष्यत इति भावः । हा = तव शोच्यत इति भावः । पुरः = अग्रे, नमन् = प्रणमन्, अयं = समीपस्थः, नलः, त्वया = भवत्या, तिरश्चलल्लोचन-लीलया = तिर्यक्प्रसरन्नयनविलासेन, न आलोकि किम् = नो दृष्टः किम् ? प्रत्यक्षेऽपि परोक्षवदुपालम्भो नोचित इति भावः ॥ १०३ ॥

अनुवादः—हे प्रिये ! तुम किसके लिए विलाप करती हो ? मुखको अश्रु-बिन्दुओंसे विलिप्त करती हो, हाय ! सामने प्रणाम करते हुए मुझ नलको तुमने तिरछे चलनेवाले नेत्रोंकी लीलासे नहीं देखा क्या ? ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—विलप्यते = वि + लप + लट् (भावमें) + त । अश्रुबिन्दुभिः = अश्रूणां बिन्दवः, तैः (ष० त०) । विलिप्यते = वि + लिप + लट् (कर्ममें) + त । नमन् = नम + लट् (शतृ) + सु । तिरश्चलल्लोचनलीलया = तिरश्चरती च ते लोचने (क० धा०), तयोर्लीला, तया (ष० त०) । आलोकि = आङ् + लोक + लुङ् (कर्ममें) + त । प्रत्यक्ष होने पर भी परोक्षके समान उलाहना देना उचित नहीं है वह भाव है ॥ १०३ ॥

चकास्ति बिन्दुच्युतकाऽतिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात्तव ।
मसारसाराक्षि ! ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—हे मसारसाराक्षि ! घनाऽश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात् तव बिन्दुच्युतकाऽ-तिचातुरी चकास्ति । यतः संसारम् आत्मना ससारं तनोषि, असंशयम् ॥ १०४॥

व्याख्या—हे मसारसाराक्षि ! = हे उत्तमेन्द्रनीलमणिनयने, ! घनाऽश्रुबिन्दु-स्रुतिकैतवात् = सान्द्रनयनजलपृषतच्युतिच्छलात्, तव = भवत्याः, बिन्दुच्युत-काऽतिचातुरी = बिन्दुच्युतककाव्याऽतिनिपुणता, चकास्ति = शोभते । यतः = यस्मात्कारणात्, संसारं = भवम्, आत्मना = स्वेन स्वसामर्थ्येन च, ससारं = सारवन्तं, च्युताऽनुस्वारं च, तनोषि = करोषि, असंशयं = संशयो न, अत्र विषय इति शेषः । त्वया मे संसारसाफल्यमिति भावः ॥ १०४ ॥

अनुवादः—हे उत्तम इन्द्रनीलके समान नेत्रोंवाली ! गाढ अश्रुबिन्दुओं के गिरनेके छलसे तुम्हारी बिन्दुच्युतक काव्यकी अतिचतुरता शोभित हो रही है। जो कि तुम संसारको स्वयम् वा अपने सामर्थ्यसे सारयुक्त और च्युत अनुस्वारवाला (ससार) बनाती हो, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—मसारसाराक्षि = "मसार इन्द्रनीलमणिः" इति शब्दरत्नावली। मसारेषु सारौ (स० त०), तौ इव अक्षिणी यस्याः सा, (बहु०), तत्सम्बुद्धौ। घनाऽश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात् = अश्रूणां बिन्दवः (ष० त०), घनाश्च ते अश्रु-बिन्दवः (क० धा०), तेषां स्रुतिः (ष० त०), तस्याः कैतवं, तस्मात् (ष० त०)। बिन्दुच्युतकाऽतिचातुरी=बिन्दोः (अनुस्वारस्य) च्युतम् (ष० त०),तदेव बिन्दुस्च्युतकम् (स्वाऽर्थमें कन्), तस्मिन् अतिचातुरी (स० त०)। "बिन्दु-च्युतक" चित्रकाव्यका एक भेद है जिसमें बिन्दु (अनुस्वार) के च्युत होनेसे दूसरा अर्थ होता है, जैसे--"यथा सत्प्रसवः स्निग्धः सन्मार्गविहितस्थितिः। तथा सर्वाऽऽश्रयः सत्यमयं मे वकुलद्रुमः ।" यहाँपर एक पक्षमें यथास्थितरूपमें वकुल वृक्ष (मौलसिरी) का वर्णन है, दूसरे पक्षमें "अयं मे बकुलद्रुमः" यहाँपर बिन्दु (अनुस्वार) की च्युतिसे "अयमेव कुलद्रुमः" ऐसा होकर कुलमें द्रुमका आरोप कर उत्तम कुलका वर्णनरूप अर्थान्तर हो जाता है। वैसे "आत्मना संसारं ससारं करोषि" यहाँ बिन्दु (अनुस्वार) की च्युतिसे तुम संसारको अपने सामर्थ्यसे ससार अर्थात् सारयुक्त बनाती हो, इस प्रकार बिन्दुच्युतक (चित्र-काव्यविशेष) में तुम्हारी चातुरी है यह भाव है। ससारं = सारेण सहितः, तम् (तुल्ययोगबहु०)। तनोषि = तनु+लट्+सिप्। असंशयम् = संशयस्य अभावः (अर्थाऽभावमें अव्ययीभाव)। इस पद्यमें श्लेष, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ १०४ ॥

अपास्तपाथोरुहि शायितं करे करोषि लीलानलिनं किमाननम् ? ।
तनोषि हारं कियदश्रुणः स्रवैरदोषनिर्वासितभूषणे हृदि ? ॥ १०५ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) अपास्तपाथोरुहि करे शायितम् आननम् (एव) लीलानलिनं किं करोषि ? अदोषनिर्वासितभूषणे हृदि अश्रुणः स्रवैः (एव) कियत् हारं तनोषि ? ॥ १०५ ॥

व्याख्या—अपास्तपाथोरुहि = त्यक्तलीलाकमले, करे = हस्ते, शायितं = स्थापितम्, आननम् = मुखम् एव, लीलानलिनं = लीलाकमलं, किं = किमिति, करोषि = विदधासि, लीलाकमलं विहाय करकपोलकरणे किं कारणमिति भावः।

एवं च अदोषनिर्वासितभूषणे = निर्दोषपरित्यक्ताऽलङ्कारे। हृदि = वक्षःस्थले, अश्रुणः = नयनजलस्य, स्रवैः = बिन्दुभिः एव, कियत् = किंपरिमाणं यथा तथा, हारं = मुक्तामालां, तनोषि = रचयसि, किमर्थं रोदिषीति भावः ॥ १०५ ॥

अनुवाद:—(हे प्रिये !) लीलाकमलका त्याग करनेवाले हाथमें रक्खे गये मुखको ही क्यों लीलाकमल बना रही हो ? दोषके बिना ही भूषणोंका परित्याग करनेवाले वक्षःस्थलमें अश्रुबिन्दुओंसे कबतक हार बनाती रहोगी ? ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—अपास्तपाथोरुहि = पाथसि (जले) रोहतीति पाथोरुट् = कमलम् (पाथस् + रुह + क्विप् + सु)। "कबन्धमुदकं पाथः" इत्यमरः। अपास्तं पाथोरुट् येन, तस्मिन् (बहु०)। शायितं = शीङ् + णिच् + क्तः + सु। लीलानलिनं = लीलाया नलिनं, तत् (ष० त०)। लीलाकमलको छोड़कर कपोलपर हाथ रखनेका क्या कारण है ? यह भाव है। अदोषनिर्वासितभूषणे = अविद्यमाना दोषाः (त्रासादयः) येषां तानि (नञ्बहु०)। अदोषाणि निर्वासितानि भूषणानि येन, तस्मिन् (बहु०)। क्यों रो रही हो यह पूछते हैं ॥ १०५ ॥

दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत्परिमार्जयामि ते।
अथाऽपराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना ॥ १०६ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) इदं ते दृशोः मिलत् अमङ्गल्यं जलं तावत् करेण परिमार्जयामि। अथ अपराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः समम् आत्ममौलिना परिमार्जयामि ॥ १०६ ॥

व्याख्या—इदम् = एतत्, ते = भवत्याः, दृशोः = नयनयोः, मिलत् = सम्बद्धं, जलम् = अश्रु, तावत् = आदौ, करेण = हस्तेन, परिमार्जयामि = परिमार्ज्मि। अथ = अश्रुपरिमार्जनाऽनन्तरम्, अपराधम् = आगः, आत्मवञ्चनदोषमिति भावः। भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः = त्वच्चरणकमलद्वितयीपरागैः, समं = सह, आत्ममौलिना = स्वमुकुटेन, प्रणामेनेति भावः। परिमार्जयामि = परिमार्जितं करोमि ॥ १०६ ॥

अनुवाद:—(हे प्रिये !) तुम्हारे नेत्रोंमें स्थित इस अमाङ्गलिक आँसूको पहले हाथसे पोंछता हूँ। अनन्तर तुम्हारे चरणकमलोंके परागोंके साथ अपने मुकुटसे अपने अपराधका परिमार्जन करता हूँ ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—मिलत् = मिल + लट् (शतृ) + अम्। अमङ्गल्यं = न मङ्गल्यं, तत् (नञ्०)। परिमार्जयामि = परि + मृज् + णिच् + लट् +

मिप् । भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः = अङ्घ्री पङ्कजे इव (उपमित०)। भवत्या अङ्घ्रिपङ्कजे (ष० त०), तयोर्द्वयी (ष० त०), तस्या रजांसि, तैः (ष० त०) । "समम्" के योगमें तृतीया । आत्ममौलिना = आत्मनो मौलिः, तेत (ष० त०) । इस पद्यमें सहोक्ति अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

मम त्वदच्छाऽङ्घ्रिनखाऽमृतद्युतेः किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।

उपासनामस्य करोतु रोहिणी त्यज त्यजाऽकारणरोषणे ! रुषम् ॥ १०७ ॥

अन्वयः—हे अकारणरोषणे ! रोहिणी मम किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी रोहिणी अस्य त्वदच्छाऽङ्घ्रिनखाऽमृतद्युतेः उपासनां करोतु । रुषं त्यज त्यज ॥ १०७ ॥

व्याख्या—हे अकारणरोषणे = हे निर्हेतुककोपने !, रोहिणी = लोहितवर्णा, मम, किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी = मुकुटपद्मरागकिरणदीप्तिः, सैव रोहिणी = चन्द्रप्रिया तारा, अस्य = पुरःस्थितस्य, त्वदच्छाऽङ्घ्रिनखाऽमृतद्युतेः = भवन्निर्मलचरणनखरचन्द्रस्य, उपासनां = सेवां, करोतु, रोहिण्याश्चन्द्रसेवा समुचितैवेति भावः । अतः रुषं = क्रोधं, त्यज त्यज = अभीक्ष्णं त्यजेति भावः ॥१०७॥

अनुवादः—कारण के न रहनेपर भी हे क्रोध करनेवाली रोहिणी (लाल वर्णवाली) मेरे मुकुटके पद्मरागमणिकी किरणकी दीप्तिरूप रोहिणी (चन्द्रपत्नीतारा) इस तुम्हारे निर्मल चरणके नखरूप चन्द्रकी सेवा करे । क्रोधको छोड़ो छोड़ो ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—अकारणरोषणे = रोषतीति तच्छीला रोषणा, रुष धातुसे "क्रुधमण्डाऽर्थेभ्यश्च" इससे युच् (अन) प्रत्यय + टाप् + सु । अविद्यमानं कारणं यस्मिन् (नञ्बहु०), अकारणं रोषणा, तत्सम्बुद्धौ (सुप्सुपा०)। रोहिणी = रोहित शब्द से "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः" इससे ङीप् और तकारके स्थान में नकार आदेश । किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी = किरीटे माणिक्यानि (स० त०), तेषां मयूखाः (ष० त०), तेषां मञ्जरी (ष० त०)। मञ्जरीका सादृश्य अर्थमें दीप्तिमें लक्षणा है । त्वदच्छाऽङ्घ्रिनखाऽमृतद्युतेः = अङ्घ्रेर्नखः (ष० त०), अच्छश्चाऽसौ अङ्घ्रिनखः (क० धा०) । अमृतं द्युतिर्यस्य सः (बहु०) । तव अच्छाङ्घ्रिनखः (ष० त०), स एव अमृतद्युतिः, तस्य (रूपक०) । त्यज त्यज = त्यज + लोट् + सिप् । "नित्यवीप्सयोः" इससे नित्य अर्थमें द्वित्व । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १०७ ॥

तनोषि मानं मयिचेन्मनागपि, त्वयि श्रये तद् बहुमानमानतः।
विनम्य वक्त्रं यदि वर्तसे कियन्नमामि ते चण्डि ! तदा पदाऽवधि ॥१०८॥

अन्वयः—हे चण्डि ! मयि मनाक् अपि मानं तनोषि चेत्, तत् त्वयि आनतः (सन्) बहुमानं श्रये। (किञ्च) वक्त्रं कियत् विनम्य वर्तसे यदि, तदा ते पदाऽवधि नमामि ॥ १०८ ॥

व्याख्या—हे चण्डि = हे अत्यन्तकोपने !, मयि = विषये, मनाक् अपि = ईषत् अपि, मानम् = अभिमानं, रोषमिति भावः। तनोषि चेत् = करोषि यदि, तत् = तर्हि, त्वयि = भवत्यां विषये, आनतः = नम्रः सन्, बहुमानं = सम्मानम्, अतिकोपं चेति व्यज्यते। श्रये = आश्रये, कुर्वे इति भावः। किञ्च वक्त्रं = मखं, कियत् = किञ्चित्, विनम्य = विनमय्येत्यर्थः, नम्रीकृत्येति भावः। वर्तसे यदि = विद्यसे चेत्, तदा = तर्हि, ते = भवत्याः, पदावधि = पादपर्यन्तं, नमामि = प्रणमामि। बहुना मानेनाऽल्पमानं, बहुना नमनेन चाऽल्पं नमनं निवारयितुमिच्छामीति भावः ॥ १०८ ॥

अनुवादः—हे अतिकोपशीले ! मुझमें थोड़ा भी मान (कोप) करती हो तो तुममें नम्र होकर बहुत संमान करता हूं। मुखको कुछ झुकाकर रहती हो तो मैं तुम्हारे चरणोंतक झुकता हूँ ॥ १०८ ॥

टिप्पणी - बहुमानं =बहुश्चाऽसौ मानः, तम् (क० धा०)। श्रये=श्रिञ् + लट् + इट्। विनम्य = वि + नम् + क्त्वा (ल्यप्)। यहाँपर णिच्का अर्थ अन्तर्भावित है। पदाऽवधि = पदम् अवधिः यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), क्रि० वि०। नमामि = नम् + लट् + मिप्। हे दमयन्ति ! तुम थोड़ा मान (प्रणयकोप) करोगी तो बहुत संमानसे और मुखको कुछ झुकाकर रहोगी तो मैं तुम्हारे चरणोंतक झुककर तुम्हारे मान (क्रोध) को हटाना चाहता हूँ यह अभिप्राय है। १०८ ॥

प्रभुत्वभूम्नाऽनुगृहाण वा न वा, प्रणाममात्राऽधिगमेऽपि कः श्रमः ?।
क्व याचतां कल्पलताऽसि मां प्रति क्व दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ॥१०९॥

अन्वयः—(हे भैमि !) प्रभुत्वभूम्ना अनुगृहाण वा, न वा, (किन्तु) प्रणाममात्राऽधिगमे अपि कः श्रमः ? याचतां कल्पलता असि क्व ? मां प्रति दृष्टिदाने अपि तव बद्धमुष्टिता क्व ? ॥ १०९ ॥

व्याख्या—प्रभुत्वभूम्ना = प्रभुत्वमहत्त्वेन, अनुगृहाण वा = अनुग्रहं कुरु वा, न अनुगृहाण वा = नाऽनुग्रहं कुरु वा, किन्तु, प्रणाममात्राऽधिगमे अपि = प्रणति-

मात्रस्वीकारे अपि, कः श्रमः = कः प्रयासः ?, याचताम् = अर्थिनां, कल्पलता = कल्पवृक्षवल्ली, असि = त्वं, क्व = कुत्र ?, अर्थिनामभिलाषपूरयित्री त्वं क्वेति भावः । मां प्रति = मद्रूपं याचकं प्रति, दृष्टिदाने अपि = अवलोकनमात्रे अपि, तव = भवत्याः, बद्धमुष्टिता = कृपणता, क्व = कुत्र ?, उभयोर्महदन्तरमिति भावः ॥ १०९ ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) प्रभुत्वकी महत्तासे अनुग्रह करो वा न करो किन्तु मेरे प्रणाममात्रको स्वीकार करनेमें क्या परिश्रम है ? याचकोंके कल्पलतास्वरूप तुम कहाँ ? और मेरी ओर दृष्टिदानमें भी यह कृपणता (कञ्जूसी) कहाँ ? ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—प्रभुत्वभूम्ना = बहोर्भावः भूमा, बहु शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय और "बहोर्लोपो भू च बहोः" इससे 'बहु' के स्थानमें "भू" आदेश । प्रभुत्वस्य भूमा, तेन (ष० त०)। अनुगृहाण = अनु + ग्रह + लोट् + सिप् "हलः श्नः शानज्झौ" इस सूत्रसे 'श्ना' के स्थानमें शानच् आदेश । प्रणाममात्राधिगमे = प्रणाम एव प्रणाममात्रम् (रूपक०) तस्य अधिगमः, तस्मिन् (ष० त०) । याचतां = याच + लट् (शतृ) + आम् । कल्पलता = कल्पस्य लता (ष० त०) "नामैकदेशे नामग्रहणम्" इस न्यायके अनुसार कल्पवृक्षके लिए 'कल्प' शब्दका प्रयोग किया गया है । दृष्टिदाने = दृष्टेर्दानं, तस्मिन् (ष० त०), बद्धमुष्टिता = बद्धा मुष्टिर्येन सः बद्धमुष्टिः "स्याद् बद्धमुष्टिः कृपणे कृपणाऽऽदिपु चेष्यते ।" इति विश्वः । बद्धमुष्टेर्भावः, बद्धमुष्टि + तल् + टाप् + सु । याचकोंके माँगनेपर कञ्जूस मुष्टि (मुट्ठी) बांध लेता है इस कारण उसे "बद्धमुष्टि" कहते हैं यह भाव है । इस पद्यमें विरूपोंका संघटन होनेसे विषम अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

स्मरेषुबाधां सहसे मृदुः कथं ? हृदि द्रढीयःकुचसंवृते तव ।

निपत्य वैसारिणकेतनस्य वा व्रजन्ति बाणा विमुखोत्पतिष्णुताम् ॥ ११० ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) मृदुः (त्वम्) स्मरेषुबाधां कथं सहसे ? वैसारिणकेतनस्य बाणा द्रढीयःकुचसंवृते तव हृदि निपत्य विमुखोत्पतिष्णुतां व्रजन्ति वा ? ॥ ११० ॥

व्याख्या—मृदुः = कोमला त्वं, स्मरेषुबाधां = कामबाणपीडां, कथं = केन प्रकारेण, सहसे = मृष्यसि, वैसारिणकेतनस्य = कामदेवस्य, बाणाः = शराः, द्रढीयःकुचसंवृते = दृढतरपयोधराच्छादिते, तव = भवत्याः, हृदि =

वक्षःस्थले, निपत्य = पतित्वा, विमुखोत्पतिष्णुतां = पराङ्मुखोत्पतनशीलतां, कुचप्रतिहत्येति शेषः। व्रजन्ति वा = गच्छन्ति वा, अन्यथा कथमुपेक्षस इति भावः ॥ ११० ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) कोमल तुम कामदेवके बाणोंकी पीड़ाको कैसे सह रही हो ? अथ वा कामदेवके बाण दृढ़तर स्तनोंसे आच्छादित तुम्हारे हृदयमें गिरकर पराङ्मुख होकर उछल जाते हैं ॥ ११० ॥

टिप्पणी—स्मरेषुबाधां = स्मरस्य इषवः (ष० त०), तेषां बाधा, ताम् (ष० त०)। सहसे = सह + लट् + थास्। वैसारिणकेतनस्य = विसरतीति तच्छीलो विसारी, वि + सृ + णिनिः (उपपद०) + सु। विसारी एव वैसारिणः, "विसारिणो मत्स्ये" इस सूत्रसे स्वाऽर्थ (प्रकृत्यर्थ) में अण् प्रत्यय। विसारिन् + अण् + सु। "मीनो वैसारिणोऽण्डजः" इत्यमरः। वैसारिणः केतनं (ध्वजः) यस्य सः, तस्य (बहु०)। द्रढीयःकुचसंवृते = अतिशयेन दृढौ द्रढीयांसौ, दृढ + ईयसुन् + औ। "र ऋतो हलादेर्लघोः" इससे ऋका 'र' आदेश। द्रढीयांसौ च तौ कुचौ (क० धा०), ताभ्यां संवृतं, तस्मिन् (तृ० त०)। निपत्य = नि + पत + क्त्वा (ल्यप्)। विमुखोत्पतिष्णुतां = विपरीतं मुखं येषां ते विमुखाः (बहु०)। उत्पतन्तीति तच्छीला उत्पतिष्णवः, उद् + पत + इष्णुच् 'अलङ्कृञ्' इत्यादि सूत्रसे इष्णुच् प्रत्यय। विमुखाश्च ते उत्पतिष्णवः (क० धा०), तेषां भावः, ताम् विमुखोत्पतिष्णु + तल् + टाप् + अम्। व्रजन्ति = व्रज + लट् + झिः ॥ ११० ॥

स्मितस्य संभावय सृक्वणा कणान्, विधेहि लीलाचलमञ्चलं भ्रुवोः।
अपाङ्गरथ्यापथिकीं च हेलया प्रसह्य सन्धेहि दृशं ममोपरि ॥१११॥

अन्वयः— (हे भैमि !) स्मितस्य कणान् सृक्वणा संभावय। भ्रुवोः अञ्चलं लीलाचलं विधेहि। तथा अपाङ्गरथ्यापथिकीं दृशं मम उपरि हेलया प्रसह्य सन्धेहि ॥ १११ ॥

व्याख्याः—स्मितस्य = मन्दहासस्य, कणान् = लेशान्, सृक्वणा = ओष्ठप्रान्तेन, संभावय = सम्मानय, त्वमिति शेषः, एवमुत्तरवाक्ययोरपि। भ्रुवोः = नेत्रलोम्नोः, अञ्चलं = प्रान्तं, लीलाचलं = विलासचञ्चलं, विधेहि = कुरु। तथा— अपाङ्गरथ्यापथिकीं = कटाक्षमार्गसञ्चारिणीं, दृशं = नेत्रं, मम, उपरि= उपरिष्टात्, हेलया = विलासेन, प्रसह्य = बलात्, "प्रसद्य" इति पाठान्तरे प्रसन्नीभूयेत्यर्थः। सन्धेहि = प्रसारयेत्यर्थः ॥ १११ ॥

मात्रस्वीकारे अपि, कः श्रमः = कः प्रयासः ?, याचताम् = अर्थिनां, कल्पलता = कल्पवृक्षवल्ली, असि = त्वं, क्व = कुत्र ?, अर्थिनामभिलाषपूरयित्री त्वं क्वेति भावः। मां प्रति = मद्रूपं याचकं प्रति, दृष्टिदाने अपि=अवलोकनमात्रे अपि, तव = भवत्याः, बद्धमुष्टिता = कृपणता, क्व = कुत्र ?, उभयोर्महदन्तरमिति भावः ॥ १०९ ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) प्रभुत्वकी महत्तासे अनुग्रह करो वा न करो किन्तु मेरे प्रणाममात्रको स्वीकार करनेमें क्या परिश्रम है ? याचकोंके कल्पलतास्वरूप तुम कहाँ ? और मेरी ओर दृष्टिदानमें भी यह कृपणता (कञ्जूसी) कहाँ ? ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—प्रभुत्वभूम्ना = बहोर्भावः भूमा, बहु शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय और "बहोर्लोपो भू च बहोः" इससे 'बहु' के स्थानमें "भू" आदेश। प्रभुत्वस्य भूमा, तेन (ष० त०)। अनुगृहाण = अनु + ग्रह + लोट् + सिप् "हलः श्नः शानज्झौ" इस सूत्रसे 'श्ना' के स्थानमें शानच् आदेश। प्रणाममात्राधिगमे = प्रणाम एव प्रणाममात्रम् (रूपक०) तस्य अधिगमः, तस्मिन् (ष० त०)। याचतां = याच + लट् (शतृ) + आम्। कल्पलता = कल्पस्य लता (ष० त०) "नामैकदेशे नामग्रहणम्" इस न्यायके अनुसार कल्पवृक्षके लिए 'कल्प' शब्दका प्रयोग किया गया है। दृष्टिदाने = दृष्टेर्दानं, तस्मिन् (ष० त०), बद्धमुष्टिना = बद्धा मुष्टिर्येन सः बद्धमुष्टिः "स्याद् बद्धमुष्टिः कृपणे कृपणाऽऽदिपु चेष्यते।" इति विश्वः। बद्धमुष्टेर्भावः, बद्धमुष्टि + तल् + टाप् + सु। याचकोंके माँगनेपर कञ्जूस मुष्टि (मुट्ठी) बांध लेता है इस कारण उसे "बद्धमुष्टि" कहते हैं यह भाव है। इस पद्यमें विरूपोंका संघटन होनेसे विषम अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

स्मरेषुबाधां सहसे मृदुः कथं ? हृदि द्रढीयःकुचसंवृते तव।
निपत्य वैसारिणकेतनस्य वा व्रजन्ति बाणा विमुखोत्पतिष्णुताम् ॥ ११० ॥

अन्वय—(हे भैमि !) मृदुः (त्वम्) स्मरेषुबाधां कथं सहसे ? वैसारिणकेतनस्य बाणा द्रढीयःकुचसंवृते तव हृदि निपत्य विमुखोत्पतिष्णुतां व्रजन्ति वा ? ॥ ११० ॥

व्याख्या—मृदुः = कोमला त्वं, स्मरेषुबाधां = कामबाणपीडां, कथं = केन प्रकारेण, सहसे = मृष्यसि, वैसारिणकेतनस्य = कामदेवस्य, बाणाः = शराः, द्रढीयःकुचसंवृते = दृढतरपयोधराच्छादिते, तव = भवत्याः, हृदि =

वक्षःस्थले, निपत्य = पतित्वा, विमुखोत्पतिष्णुतां = पराङ्मुखोत्पतनशीलतां, कुचप्रतिहत्येति शेषः। व्रजन्ति वा = गच्छन्ति वा, अन्यथा कथमुपेक्षस इति भावः ॥ ११० ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) कोमल तुम कामदेवके बाणोंकी पीड़ाको कैसे सह रही हो ? अथ वा कामदेवके बाण दृढ़तर स्तनोंसे आच्छादित तुम्हारे हृदयमें गिरकर पराङ्मुख होकर उछल जाते हैं ॥ ११० ॥

टिप्पणी—स्मरेषुबाधां = स्मरस्य इषवः (ष० त०), तेषां बाधा, ताम् (ष० त०)। सहसे = सह + लट् + थास्। वैसारिणकेतनस्य = विसरतीति तच्छीलो विसारी, वि + सृ + णिनिः (उपपद०) + सु। विसारी एव वैसारिणः, "विसारिणो मत्स्ये" इस सूत्रसे स्वार्थ (प्रकृत्यर्थ) में अण् प्रत्यय। विसारिन् + अण् + सु। "मीनो वैसारिणोऽण्डजः" इत्यमरः। वैसारिणः केतनं (ध्वजः) यस्य सः, तस्य (बहु०)। द्रढीयःकुचसंवृते = अतिशयेन दृढौ द्रढीयांसौ, दृढ + ईयसुन् + औ। "र ऋतो हलादेर्लघोः" इससे ऋ का 'र' आदेश। द्रढीयांसौ च तौ कुचौ (क० धा०), ताभ्यां संवृतं, तस्मिन् (तृ० त०)। निपत्य = नि + पत + क्त्वा (ल्यप्)। विमुखोत्पतिष्णुतां = विपरीतं मुखं येषां ते विमुखाः (बहु०)। उत्पतन्तीति तच्छीला उत्पतिष्णवः, उद् + पत + इष्णुच् 'अलङ्कृञ्' इत्यादि सूत्रसे इष्णुच् प्रत्यय। विमुखाश्च ते उत्पतिष्णवः (क० धा०), तेषां भावः, ताम् विमुखोत्पतिष्णु + तल् + टाप् + अम्। व्रजन्ति = व्रज + लट् + झिः ॥ ११० ॥

स्मितस्य संभावय सृक्वणा कणान्, विधेहि लीलाचलमञ्चलं भ्रुवोः।
अपाङ्गरथ्यापथिकीं च हेलया प्रसह्य सन्धेहि दृशं ममोपरि ॥१११॥

अन्वयः—(हे भैमि !) स्मितस्य कणान् सृक्वणा संभावय। भ्रुवोः अञ्चलं लीलाचलं विधेहि। तथा अपाङ्गरथ्यापथिकीं दृशं मम उपरि हेलया प्रसह्य सन्धेहि ॥ १११ ॥

व्याख्या:—स्मितस्य = मन्दहासस्य, कणान् = लेशान्, सृक्वणा = ओष्ठप्रान्तेन, संभावय = सम्मानय, त्वमिति शेषः, एवमुत्तरवाक्ययोरपि। भ्रुवोः = नेत्रलोम्नोः, अञ्चलं = प्रान्तं, लीलाचलं = विलासचञ्चलं, विधेहि = कुरु। तथा—अपाङ्गरथ्यापथिकीं = कटाक्षमार्गसञ्चारिणीं, दृशं = नेत्रं, मम, उपरि= उपरिष्टात्, हेलया = विलासेन, प्रसह्य = बलात्, "प्रसद्य" इति पाठान्तरे प्रसन्नीभूयेत्यर्थः। सन्धेहि = प्रसारयेत्यर्थः ॥ १११ ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) तुम अपने ओष्ठप्रान्तसे मन्दहास्यके लेशोंको सम्मानित करो। भौंहों के प्रान्तको विलाससे चञ्चल बनाओ। कटाक्षमार्गमें चलने वाले नेत्रको मेरी ओर विलाससे बलात्कारसे फैलाओ ॥ १११ ॥

टिप्पणी—सृक्वणा = "प्रान्तावोष्ठस्य सृक्वणी" इत्यमरः। संभावय = सं + भू + णिच् + लोट् + सिप्। लीलाचलं=लीलया चलः, तम् (तृ० त०)। विधेहि=वि + धा + लोट् + सिप्। अपाङ्गरथ्यापथिकीम्=अपाङ्गस्य रथ्या (ष० त०)। पन्थानं गच्छतीति पथिकी, पथिन् शब्दसे "पथः ष्कन्" इससे ष्कन् प्रत्यय और षित् होनेसे स्त्रीत्वविवक्षामें "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष्। अपाङ्ग-रथ्यायां पथिकी, ताम् (स० त०)। मम="उपरि" शब्दके योगमें "षष्ठ्यतसर्थ प्रत्ययेन" इससे षष्ठी। सन्धेहि = सं + धा + लोट् + सिप्। अनेक क्रियाओंमें एक "त्वम्" यह कारक है अतः दीपक अलङ्कार है। उसका लक्षण है—"अप्रस्तुत-प्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते। अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु "चेत्"॥१११॥

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषां, स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः।
दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी, विकासि पङ्केरुहमस्तु ते मुखम् ॥ ११२॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) अश्रुविप्रुषां प्रावृषं समापय। स्मितेन कौमुदीमुदो विश्राणय। दृशौ (एव) खञ्जनद्वयी इतः खेलतु, ते मुखं विकासि पङ्केरुहम् अस्तु ॥ ११२ ॥

व्याख्या—अश्रुविप्रुषां = नयनजलबिन्दूनां, प्रावृषं = वर्षर्तुम्, समापय = समाप्तां कुरु, त्वमितिशेषः, एवमुत्तरवाक्येष्वपि। प्रावृट्समाप्तेः फलमाह—स्मितेनेति। स्मितेन = मन्दहासेन, कौमुदीमुदः = चन्द्रिकासम्बन्धिनो हर्षान्, विश्राणय = वितर। दृशौ = नेत्रे एव, खञ्जनद्वयी = खञ्जरीटपक्षियुगम्, इतः = अस्मिन्, मयीति भावः। खेलतु = क्रीडां करोतु, प्रसरत्विति भावः। ते = तव, मुखं = वदनं, विकासि = विकस्वरं, पङ्केरुहं = कमलम्, अस्तु= भवतु, प्रसन्नं भवत्विति भावः ॥ ११२ ॥

अनुवादः—(हे प्रिये !) तुम अश्रुबिन्दुओंके वर्षासमयको समाप्त करो। (मत रोओ)। तुम अपने मन्दहास्यसे मुझे चाँदनीके आनन्दोंका वितरण करो। तुम्हारे नेत्ररूप दो खञ्जन पक्षी मेरे ऊपर खेलें (तुम मुझे देख लो) और तुम्हारा मुख विकसित कमल हो। ११२ ॥

टिप्पणी—अश्रुविप्रुषाम् = अश्रूणां विप्रुषः, तासाम् (ष० त०)। "पृषन्ति, बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्।" इत्यमरः। समापय =

सम् + आप् + णिच् + लोट् + सिप् । कौमुदीमुदः=कौमुद्या मुदः, ताः (ष० त०) विश्राणय = वि + श्रण + णिच् + लोट् + सिप् । "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम् ।" इत्यमरः । खञ्जनद्वयी = खञ्जनयोर्द्वयी (ष० त०) । इतः = "अस्मिन्, इदम् + तसिः, आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इससे सार्वविभक्तिक तसि । विकासि = वि + कस + घिनुण् + सु । "विकासी तु विकस्वरः ।" इत्यमरः । रोदन छोड़कर प्रसन्न होकर मन्दहास्यपूर्वक कटाक्षप्रदर्शन कर कुछ बोलो, यह भाव है । वर्षाके बीतनेपर शरत् ऋतुमें चन्द्रिकाका प्रादुर्भाव, खञ्जन पक्षीकी क्रीडा और कमलविकास भी हो जाता है । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥११२॥

सुधारसोद्वेलनकेलिमक्षरस्रजा सृजाऽन्तर्मम कर्णकूपयोः ।

दृशौ मदीये मदिराऽक्षि ! कारय स्मितश्रिया पायसपारणाविधिम् ॥११३॥

अन्वयः—हे मदिराक्षि ! अक्षरस्रजा मम कर्णकूपयोः अन्तः सुधारसोद्वेलनकेलिं सृज, मदीये दृशौ स्मितश्रिया पायसपारणाविधिं कारय ॥ ११३ ॥

व्याख्या—हे मदिराक्षि = हे मदकरनयने !, अक्षरस्रजा = वर्णाऽऽवल्या, मम, कर्णकूपयोः = श्रोत्रजलाशययोः, अन्तः = अभ्यन्तरे, सुधारसस्योद्वेलनकेलिम् = अमृतरसाऽसीमक्रीडां, सृज = रचय, आलपेति भावः । मदीये = मामकीने, दृशौ = नेत्रे, स्मितश्रिया = मन्दहासशोभया, पायसपारणाविधिं = परमान्नव्रताऽन्तभोजनविधानं, कारय = कर्तुं प्रेरय ॥ ११३ ॥

अनुवादः—हे मद उत्पन्न करनेवाले नेत्रोंवाली ! वर्णोंकी पङ्क्तिसे मेरे कर्णरूप कूपोंके भीतर असीम क्रीडा करो, अर्थात् बोलो । मेरे नेत्रोंको मन्दहास्यकी शोभासे पायस (खीर) के व्रताऽन्तभोजनका विधान कराओ ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—मदिराऽक्षि = मदिरे इव अक्षिणी यस्याः सा मदिराक्षी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । अक्षरस्रजा = अक्षराणां स्रक्, तया (ष० त०) । कर्णकूपयोः = कर्णौ कूपौ इव कर्णकूपौ, तयोः (उपमित०) । सुधारसोद्वेलनकेलिं = सुधाया रसः (ष० त०), उद्वेलना चाऽसौ केलिः (क० धा०) । सुधारसस्य उद्वेलनक्रीडा, ताम् (ष० त०), सृज = सृज + लोट् + सिप् । दृशौ = "कारय" इस पदके योगमें "हृक्रोरन्यतरस्याम्" इससे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया । स्मितश्रिया = स्मितस्य श्रीः, तया (ष० त०) । पायसपारणाविधिं = पारणाया विधिः (ष० त०) । पयसा संस्कृतं पायसम्, पयस् शब्दसे "संस्कृतम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय, "परमान्नं तु पायसम्" इत्यमरः । पायसेन पारणाविधिः तम् (तृ० त०) । कारय = कृ + णिच् + लोट् + सिप् ॥ ११३ ॥

ममाऽऽसनार्द्धे भव मण्डनं, न न, प्रिये ! मदुत्सङ्गविभूषणं भव।
भ्रमाद् भ्रमादालपमङ्ग ! मृष्यतां, विना ममोरः कतरत्तवाऽऽसनम् ? ॥११४॥

अन्वयः—हे प्रिये ! मम आसनाऽर्द्धे मण्डनं भव, न न, मदुत्सङ्गविभूषणं भव। अङ्ग ! भ्रमात् भ्रमात् आलपं, मृष्यताम्, मम उरो विना कतरत् तव आसनम् ? ॥ ११४ ॥

व्याख्या—हे प्रिये = हे दयिते, मम, आसनाऽर्द्धे = सिंहाऽऽसनाऽर्द्धभागे, मण्डनं = भूषणं, भव = एधि, तत्र उपविशेति भावः। न न = नैतत् नैतत्, अत्यनुचितमिति भावः, किन्तु मदुत्सङ्गविभूषणं = मदङ्काऽलङ्करणं, भव = एधि, मदङ्कमारोहेति भावः। तदपि नेत्याह—भ्रमादिति। भ्रमात् भ्रमात् आलपं = भ्रान्तेरालपितवान् भ्रान्तेरालपितवान्, मृष्यतां = क्षम्यतां, मम, उरो विना = वक्षो विना, कतरत् = किम् अङ्गं, तव = भवत्याः, आसनम् = उपवेशनस्थानम् ॥ ११४ ॥

अनुवादः—हे प्रिये ! मेरे अर्द्धासनमें भूषण बनो (अर्द्धासनमें बैठो), नहीं नहीं, मेरी गोदमें अलङ्कार बनो (मेरी गोदमें बैठो)। हे प्रिये ! मैंने भ्रमसे कहा, भ्रमसे कहा। क्षमा करो। मेरी छातीके विना कौन-सा अङ्ग तुम्हारा आसन होगा ? ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—आसनार्द्धे = आसनस्य अर्द्धं, तस्मिन् (ष० त०)। मदुत्सङ्गविभूषणं = मम उत्सङ्गः (ष० त०), तस्य विभूषणम् (ष० त०)। भव = भू + लोट् + सिप्। भ्रमात् भ्रमात् = हेतुमें पञ्चमी। "संभ्रमेण प्रवृत्तो यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः" इससे संभ्रममें द्विरुक्ति। आलपम् = आङ् + लप + लङ् + मिप्। मृष्यताम् = मृष + लोट् (भावमें) + त। इस पद्यमें भैमीके क्रमसे आधारवृत्तिके कथनसे पर्याय अलङ्कार है ॥ ११४ ॥

अधीतपञ्चाऽऽशुगबाणवञ्चने ! स्थिता मदन्तर्बहिरेषि चेदुरः।
स्मराऽऽशुगेभ्यो हृदयं बिभेतु न प्रविश्य तत्त्वन्मयसंपुटे मम ॥ ११५॥

अन्वयः—अधीतपञ्चाऽऽशुगबाणवञ्चने ! मदन्तः स्थिता बहिः उरः एषि चेत्, तत् मम हृदयं त्वन्मयसंपुटे प्रविश्य स्मराऽऽशुगेभ्यो न बिभेतु ॥११५॥

व्याख्या—हे अधीतपञ्चाऽऽशुगबाणवञ्चने = हे अभ्यस्तकामशरप्रतारणविद्ये ! भैमि !, त्वं, मदन्तः = मदभ्यन्तरे, स्थिता = विद्यमाना सती,

(बहिः) उरः = वक्षस्थलम्, एषि चेत् = प्राप्नोषि यदि, तत् = तर्हि, मम, हृदयं = चित्तं (कर्तृ), त्वन्मयसंपुटे = त्वत्स्वरूपपेटिकायां, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, स्मराऽऽशुगेभ्यः = कामबाणेभ्यः, न बिभेतु = न त्रस्यतु। त्वया रक्षितस्य मे कुतः कामाऽस्त्राद्भयमिति भावः ॥ ११५ ॥

अनुवादः—कामबाणको प्रतारण करनेकी विद्याका अध्ययन करनेवाली हे दमयन्ति! तुम मेरे भीतर (अन्तःकरणमें) रहती हुई बाहर उरःस्थलमें आओगी तो मेरा हृदय त्वद्रूप पेटिकामें प्रवेश कर कामदेवके बाणोंसे नहीं डरेगा ॥ ११५ ॥

टिप्पणी—अधीतपञ्चाऽऽशुगबाणवञ्चने = पञ्च आशुगाः (बाणाः) यस्य सः (बहु०)। तस्य बाणाः (ष० त०), तेषां वञ्चनम् (ष० त०)। अधीतं पञ्चाऽऽशुगबाणवञ्चनं यया सा (बहु०), तत्सम्बुद्धौ। मदन्तः = मम अन्तः (ष० त०)। एषि = इण् + लट् + सिप्। त्वन्मयसंपुटे = त्वमेव त्वन्मयं, युष्मद् (त्वद्) मयट् (स्वरूप अर्थमें)। त्वन्मयं चाऽसौ संपुटः, तस्मिन् (क० धा०)। स्मराऽऽशुगेभ्यः = स्मरस्य आशुगाः (ष० त०), तेभ्यः, "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी। चिरकालतक अन्तकरणमें रही हुई तुम मेरे वक्षःस्थलमें आओगी तो तुम्हारे आलिङ्गनसे मेरा कामज्वर शान्त होगा, यह अभिप्राय है ॥ ११५ ॥

परिष्वजस्वाऽनवकाशबाणता स्मरस्य लग्ने हृदयद्वयेऽस्तु नौ।
दृढा मम त्वत्कुचयोः कठोरयोरुरस्तटीयं परिचारिकोचिता ॥ ११६ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये!) परिष्वजस्व। लग्ने नौ हृदयद्वये स्मरस्य अनवकाशबाणता अस्तु। दृढा मम इयम् उरस्तटी कठोरयोः त्वत्कुचयोः परिचारिका उचिता ॥ ११६ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये!) परिष्वजस्व = आलिङ्ग। तथा सति लग्ने = मिथो मिलिते, नौ = आवयोः, हृदयद्वये = उरोद्वितये, स्मरस्य = कामदेवस्य अनवकाशबाणता = निरवकाशशरता, अस्तु = भवतु। इत्थमालिङ्गनं स्मरशरप्रवेशाऽनवकाशकारकमिति भावः। किञ्च दृढा = कठोरा, मम, इयम् = एषा, उरस्तटी = वक्षस्तटी, कठोरयोः = कठिनयोः, त्वत्कुचयोः = भवत्याः पयोधरयोः, परिचारिका = सेवाकारिका, उचिता = युक्ता, तुल्यगुणयोः सम्बन्धो युक्त इति भावः ॥ ११६ ॥

अनुवाद:—(हे प्रिये !) आलिङ्गन करो। परस्परमें मिले हुए हम दोनों- के दो हृदयोंमें कामदेवके बाणोंको स्थान न मिले। मेरे कठोर इस वक्षःस्थलको तुम्हारे कठिन कुचोंका सेवक होना उचित है ॥ ११६ ॥

टिप्पणी—परिष्वजस्व = "ष्वञ्ज परिष्वङ्गे" धातुसे लोट् + थास्, "दंश- सञ्जस्वञ्जां शपि" इससे अनुनासिकलोप। "परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवु- सहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" इससे षत्व। हृदयद्वये = हृदययोर्द्वयं, तस्मिन् (ष० त०)। अनवकाशबाणता = अविद्यमानः अवकाशः येषां ते (नञ् बहु०), अनवकाशा बाणा यस्य सः अनवकाशबाणः (बहु०), तस्य भावः तत्ता, अनवकाश- बाण + तल् + टाप् + सु। उरस्तटी = उरसः तटी (ष० त०)। त्वत्कुचयोः = तव कुचौ, तयोः (ष० त०)। परिचारिका = परिचरतीति परि + चर + ण्वुल् (उपपद०) + टाप् + सु। कठोर कुचोंकी सेवा करनेके लिए कठोर वक्षःस्थल ही उपयुक्त है ऐसा कहनेसे इस पद्यमें सम अलङ्कार है, उसका लक्षण है—"समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः।' (सा० द० १०–७१) ॥ ११६ ॥

शुभाऽष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाऽधरेऽलिख्यत यत्र रेखया।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) यत्र तव अधरे रेखया त्वदनङ्गजन्मनः शुभाऽष्ट- वर्गः अलिख्यत। मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः बिम्बपाटलः स भूर्जताम् अर्जतु ॥ ११७ ॥

व्याख्या—यत्र = यस्मिन्, तव = भवत्याः, अधरे = ओष्ठे, रेखया = रेखाभिः (जातावेकवचनम्)। त्वदनङ्गजन्मनः = त्वदीयमन्मथोत्पत्तेः, शुभाऽष्ट- वर्गः = कल्याणसूचकाऽष्टवर्गः, अलिख्यत = लिखितः, ज्योतिर्विदा ब्रह्मणैवेति शेषः। मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः = मद्दशनक्षतपङ्क्तिरागकरणैः, बिम्बपाटलः = बिम्बफलम् इव रक्तवर्णः, सः=अधरः, भूर्जतां=भूर्जपत्रत्वम्, अर्जतु=भजतु ॥११७॥

अनुवादः—(हे प्रिये !) जिस तुम्हारे अधरमें रेखाओंसे तुम्हारे कामकी उत्पत्तिका कल्याणसूचक अष्टवर्ग लिखा गया है। मेरे दन्तक्षतोंसे रंगनेसे बिम्ब- फलके समान लाल वह अधर भूर्जपत्रके भावका उपार्जन करे ॥ ११७ ॥

टिप्पणी—त्वदनङ्गजन्मनः = तव अनङ्गः (ष० त०), तस्य जन्म, तस्य (ष० त०)। शुभाष्टवर्गः = अष्टानां वर्गः (ष० त०), शुभसूचकः अष्टवर्गः (मध्यमपद० समासः)। बालककी उत्पत्तिके अनन्तर ज्योतिषी उसका जन्मकालिक सूर्य आदि सात और राहु कुल आठ ग्रहोंका शुभवर्ग लिखते हैं,

उसीका यहाँपर सङ्केत है । अलिख्यत = लिख + लङ् (कर्ममें) + त । मदीय-दन्तक्षतराजिरञ्जनैः = दन्तानां क्षतानि (ष० त०), तेषां राजिः (ष० त०), मदीया चाऽसौ दन्तक्षतराजिः (क० धा०), तया रञ्जनानि (तृ० त०), तैः । विम्बपाटलः = बिम्बम् इव पाटलः (उपमित०) । अर्जतु=अर्ज + लोट् + तिप् । इस पद्यमें अधररेखाओं का अष्टवर्गरेखात्वकी और अधरका भूर्जपत्रत्वकी उत्प्रेक्षा है । उससे कामोदयका शुभ परिणाम व्यङ्ग्य होता है । इस पद्यको प्रकाश-व्याख्यामे नारायण पण्डितने एक सौ उन्नीसवें पद्यके तौरपर लिया है । कुछ पुस्तकोंमें मल्लिनाथकी टीकामें इसका उल्लेख भी नहीं है ॥ ११७ ॥

तवाऽधराय स्पृहयामि, यन्मधुस्रवैः श्रवःसाक्षिकमाक्षिका गिरः ।
अधित्यकासु स्तनयोस्तनोतु ते ममेन्दुरेखाऽभ्युदयाद्भुतं नखः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) तव अधराय स्पृहयामि, यन्मधुस्रवैः तव गिरः श्रवःसाक्षिकमाक्षिकाः, ते स्तनयोः अधित्यकासु मम नख इन्दुरेखाऽभ्युदयाऽद्भुतं तनोतु ॥ ११८ ॥

व्याख्या—तव = भवत्याः, अधराय = अधरोष्ठाय, स्पृहयामि = इच्छामि, अधरं पातुमिच्छामीति भावः । यन्मधुस्रवैः = अधरमाक्षिकद्रवैः, तव = भवत्याः, गिरः = वचनानि, श्रवःसाक्षिकमाक्षिकाः = कर्णसाक्षिकमधुकाः, श्रोत्रपेया भवन्तीति भावः । ओष्ठस्य मधुरत्वात्तदुत्पन्ना गिरो मधुसमाना भवन्तीति भावः । ते = तव, स्तनयोः = कुचयोः. अधित्यकासु = ऊर्ध्वभागेषु, मम = त्वत्प्रेयसः, नखः = नखरः, इन्दुरेखाऽभ्युदयाऽद्भुतं = चन्द्रकलोदयचित्रं, तनोतु = करोतु, उन्नतयोस्त्वत्कुचकलशयोर्नखक्षतं च कर्तुमिच्छामीति भावः ॥ ११८ ॥

अनुवादः—(हे प्रिये !) मैं तुम्हारा अधर चाहता हूँ, जिस अधरके मधु बहनेसे तुम्हारे वचनरूप मधुके साक्षी कान हैं। तुम्हारे स्तनरूप पर्वतोंके ऊर्ध्वभागोंमें मेरा नख चन्द्ररेखाके उदयका आश्चर्य फैलावे ॥ ११८ ॥

टिप्पणी—अधराय = स्पृह धातुका प्रयोग होनेसे "स्पृहेरीप्सितः" इस सूत्रसे सम्प्रदानसंज्ञा होनेसे चतुर्थी । यन्मधुस्रवैः = मधुनाः स्रवाः (ष० त०), यस्य (अधरस्य) मधुस्रवाः, तैः (ष० त०) । श्रवःसाक्षिकमाक्षिकाः = श्रवसी साक्षिणी यस्य तत् श्रवःसाक्षिकम् (बहु०) । मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकम्, "संज्ञायाम्" इससे अण् । "मधु क्षौद्रं माक्षिकादि" इत्यमरः । श्रवःसाक्षिकं माक्षिकं यासु ताः (बहु०) । अधित्यकासु = अधिउपसर्गसे "उपाऽधिभ्यां त्यकन्नासन्नाऽऽरूढयोः" इससे त्यकन् प्रत्यय, टाप् । "उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमि-

रूर्ध्वमधित्यका ।" इत्यमरः । यहाँपर स्तनमें पर्वतका आरोप व्यङ्ग्य है। उत्तरार्द्धका तुम्हारे कुचकलशोंमें नखक्षत करना चाहता हूँ, यह भावार्थ है ॥ ११८ ॥

न वर्तसे मन्मथनाटिका कथं ? प्रकाशरोमाऽऽवलिसूत्रधारिणी ।
तवाऽङ्गहारे रुचिमेति नायकः शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—दमयन्तीपक्षे—(हे प्रिये ! त्वम्) प्रकाशरोमाऽऽवलिसूत्रधारिणी (असि), तव अङ्गहारे नायको रुचिम् एति, तव शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः (अस्ति), अतः मन्मथनाटिका कथं न वर्तसे ? (वर्तस एव) ॥ ११९ ॥

नाटिकापक्षे—(हे प्रिये ! त्वम्) प्रकाशरोमाऽऽवलिसूत्रधारिणी (असि) तव अङ्गहारे नायको रुचिम् एति, द्विजराड्विदूषकश्च शिखामणिः (अस्ति), अतस्त्वं मन्मथनाटिका कथं न वर्तसे ? (वर्तस एव) ॥ ११९ ॥

व्याख्या—दमयन्तीपक्षे—(हे प्रिये ! त्वम्) प्रकाशरोमाऽऽवलिसूत्रधारिणी = सूत्रसदृशप्रकाशलोमपङ्क्तिधारिका असीति शेषः । तव = भवत्याः, अङ्गहारे = कण्ठरूपाऽङ्गस्थितमुक्तामालायां, नायकः = मध्यमाणिक्यं, रुचि = शोभाम्, एति = प्राप्नोति । तव = भवत्याः, शिखामणिश्च = शिरोरत्नं च, द्विजराड्विदूषकः = चन्द्रनिन्दकः, चन्द्रान्मनोहरतर इति भावः । अस्तीति शेषः । अतस्त्वं यौवनाऽलङ्कारादियोगात्, मन्मथनाटिका = कामोद्दीपिका, कथं= केन प्रकारेण, न वर्तसे, = नो विद्यसे, वर्तसे एवेति भावः ॥ ११९ ॥

नाटिकापक्षे—(हे प्रिये ! त्वम्) प्रकाशरोमाऽऽवलिसूत्रधारिणी = व्यक्तलोमपङ्क्तिरूप सूत्रधारयुक्ता, असीति शेषः । तव = भवत्याः, अङ्गहारे = अङ्गविक्षेपे, नायकः = नाटिकायाः नायकः (मुख्यपात्रम्), रुचिम् = अभिप्रीतिम्, एति = प्राप्नोति, द्विजराट् = ब्राह्मणः, विदूषकः = हास्यकरो नायकनर्मसचिवः, शिखामणिः = शिरोरत्नम् इव आदरपात्रमिति भावः अस्तीति शेषः । अतः त्वं मन्मथनाटिका = मन्मथकृता नाटिका (उपरूपकविशेषः), सूत्रधारादियोगादिति शेषः । कथं = केन प्रकारेण, न वर्तसे = नो विद्यसे ? वर्तस एवेति भावः ॥ ११९ ॥

अनुवादः—(दमयन्तीपक्षमें) —(हे प्रिये ! तुम) सूत्रसदृश व्यक्त लोमपङ्क्तिको धारण करती हो । तुम्हारे कण्ठरूप अङ्गमें स्थित मुक्ताहारमें नायक (मध्यमाणिक्य) शोभाको प्राप्त होता है । तुम्हारे शिरका रत्न, चन्द्रका निन्दक

है अर्थात् चन्द्रसे भी अधिक सुन्दर है। इस कारणसे तुम मन्मथनाटिका (कामको उद्दीप्त करनेवाली) क्यों नहीं हो ? (हो ही) ॥ ११९ ॥

(नाटिकापक्षमें)—(हे प्रिये ! तुम) प्रकाश रोमपङ्क्तिरूप सूत्रधारसे युक्त हो। तुम्हारे अङ्गहार (नृत्यविशेष) में नाटिकाका नायक (मुख्य पात्र) प्रीतिको प्राप्त करता है, अर्थात् प्रसन्न होता है। द्विजराट् (ब्राह्मण) विदूषक (हँसानेवाला) नायकका क्रीडासहचर, शिखामणि (शिरके रत्नके सदृश आदर-पात्र) है, इस कारणसे तुम मन्मथनाटिका (कामदेवसे किया गया उपरूपक-विशेष) क्यों नहीं हो ? (हो ही) ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—प्रकाशरोमाऽऽवलिसूत्रधारिणी=रोम्णाम् आवलिः (ष० त०) प्रकाशा चाऽसौ रोमाऽऽवलिः (क० धा०)। प्रकाशरोमाऽऽवलिः सूत्रम् इव (उपमित०) प्रकाशरोमाऽऽवलिसूत्रं धारयतीति तच्छीला, प्रकाशरोमाऽऽवलि-सूत्र + धृञ् + णिनिः (उपपद०) + ङीप् + सु। नाटिकापक्षे—प्रकाशरोमाऽऽवलि-रेव सूत्रधारः (मुख्य नट.) रूपक०। सः अस्या अस्तीति प्रकाशरोमावलिसूत्र-धार + इनिः + ङीप्। अङ्गहारे = अङ्गे हारः (स० त०), नाटिकापक्षे—अङ्गस्य स्थानात् स्थानान्तरे हरणम् (नयनम्) अङ्गहारः "भावे" इस सूत्रसे घञ्। अङ्ग + हृञ् + घञ् (उपपद०) + ङि। नायकः = "नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि।" इति मेदिनी। रुचिम् = "रुचिः स्त्री दीप्तौ शोभायामभि-ष्वङ्गाऽभिलाषयोः।" इति मेदिनी। शिखामणिः = शिखायां मणिः (स० त०), द्विजराड्विदूषकः = द्विजेषु राजत इति द्विजराड् (चन्द्रः), द्विज + राज् + क्विप् (उपपद०) + सु। तस्य विदूषकः (ष० त०)। नाटिकापक्षे—द्विजराड् = द्विजेषु (द्विजातिषु, ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येष्विति भावः) राजते इति द्विजराड् = ब्राह्मणः। विदूषकः = विदूषकका लक्षण है—"कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः। हास्यकर कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः" ॥ (सा० द० ३-४२) मन्मथनाटिका = मन्मथस्य नाटिका (ष० त०)। नाटिकापक्षे—मन्मथकृता नाटिका (मध्यमपद० समास.)। इस पद्यमें श्लेष और उपमामें अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ११९ ॥

गिराऽनुकम्पस्व, दयस्व चुम्बनैः, प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्मम त्वमेकाऽसि नलस्य जीवितम् ॥ १२० ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) गिरा अनुकम्पस्व। चुम्बनैः दयस्व। मया कुचौ

शुश्रूषयितुं प्रसीद । यत् चान्द्रस्य करोत्करस्य निशा इव नलस्य मम त्वम् एका जीवितम् असि ॥ १२० ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) गिरा = वचनेन, अनुकम्पस्व = अनुकम्पां कुरु, त्वमिति शेषः, एवं त्रिष्वपि वाक्येषु । चुम्बनैः = वक्त्रसंयोगैः, दयस्व = दयां कुरु, ममेति शेषः । मया = प्रयोज्येन, कुचौ = स्वस्तनौ, शुश्रूषयितुं = सेवयितुं, प्रसीद = प्रसन्ना भव । यत् = यस्मात्कारणात्, चान्द्रस्य = चन्द्रसम्बन्धिनः, करोत्करस्य = किरणसमूहस्य, निशा इव = रात्रिः इव, नलस्य = नैषधस्य, मम, त्वम्, एका = एकमात्रं, जीवितं = जीवनम्, असि = विद्यसे। चन्द्रस्य दिवाऽपि जीवनसंभवात् करग्रहणं, तस्य निशैकशरणत्वादिति द्रष्टव्यम् । १२० ॥

अनुवाद—(हे प्रिये !) वचनसे अनुकम्पा करो। चुम्बनोंसे दया करो। मुझसे अपने स्तनों की शुश्रूषा कराने के लिए अनुग्रह करो । जैसे चन्द्रके किरण-समूहकी रात्रि जीवनस्वरूप है वैसे ही तुम भी मेरे जीवनस्वरूप हो ॥ १२० ॥

टिप्पणी – अनुकम्पस्व = अनु + कपि + लोट् + थास् । दयस्व = दय + लोट् + थास् । शुश्रूषयितुं = श्रु + सन् + णिच् + तुमुन् । चान्द्रस्य = चन्द्रस्य अयं चान्द्रः, तस्य चन्द्र + अण् + ङस् । करोत्करस्य = कराणाम् उत्करः, तस्य (ष० त०) । चन्द्रका दिनमें भी जीवन संभव है, परन्तु उनकी किरणका रात्रिमें ही संभव होनेसे "कर" का ग्रहण किया है । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १२० ॥

मुनिर्यथाऽऽत्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत ।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयाऽसृजद् गिरः ॥१२१॥

अन्वयः--अथ असौ मुनिः यथा प्रबोधवान् (सन्) आत्मानं स्वं प्रकाशयन्तम् अबुध्यत । (अथ) प्रपन्नां तां प्रकृतिं विलोक्य अपि अवाप्तसंस्कारतया गिरः असृजत् ॥ १२१ ॥

व्याख्या— अथ = एवं भ्रान्त्यनन्तरम्, असौ = नलः, मुनिर्यथा = मुनिरिव, प्रबोधवान्, = उत्पन्नतत्त्वज्ञानः सन्, आत्मानं = निजं, स्वं = स्वरूपं, नलरूपत्वमिति भावः । प्रकाशयन्तं = कथयन्तम्, अबुध्यत = ज्ञातवान् । अथ= अनन्तरं, प्रपन्नां = प्राप्तां, तां = निजां, प्रकृतिं = स्वभावं, विलोक्य

अपि = दृष्ट्वा अपि, ज्ञात्वा अपीति भावः। अवाप्तसंस्कारतया = उद्बुद्धदूतत्व-वासनत्वेन, गिरः = वचनानि, दूत्याऽनुकूलान्येवेति भावः, असृजत् = अवोचदिति भावः ॥ १२१ ॥

अनुवादः—भ्रान्तिके अनन्तर नलने मुनिके समान तत्त्वज्ञानसे युक्त होते हुए अपने स्वरूप (नलभाव) को प्रकाशित करनेवाले अपनेको समझ लिया। तब प्रकृतिस्थ अपनेको जानकर भी दूतत्वकी वासना उद्बुद्ध होनेसे बोलने लगे ॥ १२१ ॥

टिप्पणी—प्रबोधवान्=प्रबोध+मतुप्+सु। प्रकाशयन्तं = प्र+काश्+णिच्+लट् (शतृ)+अम्। प्रपन्नां=प्र+पत्+क्त+टाप्+अम्। विलोक्य=वि+लोक+क्त्वा (ल्यप्)। अवाप्तसंस्कारतया = अवाप्तः संस्कारो येन सः (बहु०), तस्य भावस्तत्ता तया, अवाप्तसंस्कार+तल्+टाप्+टा। जिस प्रकार मुनि योगसे आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके भी वासनावश बाह्य विषयका अनुसन्धान करता है उसी तरह नल भी अपने स्वरूपको प्रकाश करके भी फिर संस्कारवश दूतभावका ही अनुसरण कर बोलने लगे, यह भाव है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १२१ ॥

अये ! मयाऽऽत्मा किमनिह्नुतीकृतः ? किमत्र मन्ता स तु मां शतक्रतुः ?।
पुरः स्वभक्त्याऽथ नमन् ह्रियाऽऽविलो विलोकिताहे न तदिङ्गितान्यपि ॥१२२॥

अन्वयः—अये ! मया आत्मा किम् अनिह्नुतीकृतः ? अत्र स शतक्रतुस्तु मां किं मन्ता ? पुरः स्वभक्त्या नमन् अथ ह्रिया आविलः (सन्) तदिङ्गितानि अपि न विलोकिताहे ॥ १२२ ॥

व्याख्या—अये=बत !, मया, आत्मा=स्वस्वरूपं, किं=किमर्थम् अनिह्नुतीकृतः = प्रकाशितः, अत्र = अस्मिन्, मत्कृताऽऽत्मप्रकाशन इति भावः। सः = प्रसिद्धः, शतक्रतुः = इन्द्रः, तु, मां = स्वीकृतदौत्यं, किं मन्ता = किं मंस्यते ? पुरः = पूर्वं, स्वभक्त्या = आत्मभक्त्या, नमन् = प्रणमन्, अथ = पश्चात्, ह्रिया = लज्जया, हेतुना। आविलः = कलुषः सन्, तदिङ्गितानि अपि = इन्द्रचेष्टितानि अपि, न विलोकिताहे = नो विलोकयिष्यामि। स्वाऽपराधादिन्द्र-मुखं द्रष्टुमपि नोत्सहे इति भावः ॥ १२२ ॥

अनुवादः—हाय ! मैंने अपने स्वरूपको क्यों प्रकाशित किया ? इस मेरे कार्यमें इन्द्र मुझे क्या समझेंगे ? पहले अपनी भक्तिसे प्रणाम करता हुआ पीछे लज्जासे कलुष होकर इन्द्रकी चेष्टाओंको भी नहीं देखूंगा ॥ १२२ ॥

टिप्पणी—अये="अये विषादे क्रोधे च" इति विश्वः। अनिह्नुतीकृतः = न निह्नुतीकृतः (नञ्०)। शतक्रतुः = शतं क्रतवो यस्य सः (बहु०)। मन्ता = मन् + लुट् + त। स्वभक्त्या = स्वस्य भक्तिः, तया (ष० त०)। नमन् = नम + लट् (शतृ) + सु। तदिङ्गितानि = तस्य इङ्गितानि, तानि (ष० त०)। विलोकिताहे = वि + लोक + लुट् + इट्। इन्द्रके मुखको देखनेके लिए उत्साह भी नहीं करता हूँ, यह भाव है ॥ १२२ ॥

स्वनाम यन्नाम मुधाऽभ्यधामहं महेन्द्रकार्यं महदेतदुज्झितम्।
हनूमदाद्यैर्यशसा मयापुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—अहं यत् मुधा स्वनाम अभ्यधां नाम। महत् एतत् महेन्द्रकार्यम् उज्झितम्। हनूमदाद्यैः दूतपथो यशसा सितीकृतः, मया पुनः द्विषां हसैः सितीकृतः ॥ १२३ ॥

व्याख्या—अहं, यत् = यस्मात्, मुधा = वृथा एव, स्वनाम = आत्माऽभिधानम्, अभ्यधाम् = अभिहितवान्, नाम = बत !, महत् = अधिकम्, एतत् = इदं, महेन्द्रकार्यं = शतक्रतुकृत्यम्, उज्झितं = त्यक्तम्। हनूमदाद्यैः = आञ्जनेयादिभिः, दूतपथः = सन्देशहरमार्गः, यशसा = कीर्त्या, सितीकृतः = धवलीकृतः, मया, पुनः = एव, द्विषां = शत्रूणां, हसैः = हास्यैः, सितीकृतः = धवलीकृतः, दूतपथ इति शेषः। यशस इव हासस्याऽपि धवलत्वादिति भावः ॥१२३॥

अनुवाद:—मैंने जो व्यर्थ ही अपना नाम कहा, हाय ! महेन्द्रके इस उत्तम कार्यको गँवाया। हनूमान् आदिने दूतमार्गको कीर्तिसे सफेद बनाया, मैंने ही उसे शत्रुओंकी हँसीसे सफेद बना डाला ॥ १२३ ॥

टिप्पणी--स्वनाम = स्वस्य नाम, तत् (ष० त०)। अभ्यधाम् = अभि + धा + लुङ् + मिप्। महेन्द्रकार्यं = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), तस्य कार्यम् (ष० त०)। हनूमदाद्यैः प्रशस्तौ हनू यस्य स हनूमान्, हनु + मतुप् + सु, "शरादीनां च" इससे हनु शब्दके शरादिगणमें पढ़े जानेसे दीर्घत्व। हनूमान् आद्यो येषां ते, तैः (बहु०)। यद्यपि नल सत्ययुगके और हनूमान् त्रेतायुगके हैं तथाऽपि सत्ययुगके पूर्वकल्पके त्रेतायुगकी विवक्षासे नलसे हनूमान्‌का कीर्तन अनुचित नहीं है। विश्वेश्वरकी व्याख्यामें "सितीकृतः" इस अंशकी व्याख्यामें "सिती धवलमेचकौ" ऐसा अमरकोशके अनुसार दूतमार्गको मैंने शत्रुओंके हास्यसे काला बनाया ऐसा जताया है, यह महोपाध्याय मल्लिनाथका कथन है परन्तु प्रचलित अमरकोशमें "शिती धवलमेचकौ" ऐसा ही पाठ उपलब्ध है अतः

पूर्वोक्त व्याख्याकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। "शितीकृतः" ऐसा पाठ मानें तो ठीक है ॥ १२३ ॥

धियाऽऽत्मनस्तावदचारु नाऽऽचरं परस्तु यद्वेद स तद्वदिष्यति ।

जनाऽवनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं वदञ् शिवम् ॥ १२४ ॥

अन्वयः—(अथ वा) तावत् आत्मनो धिया अचारु न आचरं, तु जनाऽवनाय उद्यमिनं जनाऽर्दनं, क्षये जगज्जीवपिबं शिवं वदन् परः यत् वेद स तद् वदिष्यति ॥ १२४ ॥

व्याख्या--(अथ वा) तावत्, आत्मनः = स्वस्य, धिया = बुद्धया, बुद्धिपूर्वकमिति भावः । अचारु = असाधु, स्वनामप्रकाशनरूपमिति भावः । न आचरं = न आचरितवान्, न अकार्यमिति भावः । तु = परन्तु, जनाऽवनाय = लोकरक्षणाय, उद्यमिनम् = उद्योगिनं, विष्णुमिति शेषः । जनाऽर्दनं = लोकपीडकं, क्षये = प्रलये, जगज्जीवपिबं = लोकप्राणिसंहर्तारं, रुद्रमिति शेषः । शिवं = कल्याणकारकं, वदन् = अभिदधत्, शिवम् अशिवं, अशिवं च शिवं वदन्निति भावः । परः = अन्यो जनः, यत् = उचितम् अनुचितं वा, वेद = जानाति, सः = परो जनः, तद्, वदिष्यति = कथयिष्यति, निर्मर्यादो लोको, यद्वदेत्, परं ममाऽपराधाऽभावे अन्तर्यामी भगवान् साक्षीति भावः ॥ १२४ ॥

अनुवादः—जानबूझकर मैंने अनुचित नहीं किया है, परन्तु लोककी रक्षाके लिए उद्योग करनेवाले विष्णुको जनार्दन (लोकपीडक) और प्रलयकालमें जगत्के प्राणियोंका संहार करनेवाले रुद्रको शिव (कल्याणकारक) कहनेवाला अन्य जन जो जानता है वही कहेगा ॥ १२४ ॥

टिप्पणी—अचारु = न चारु, तत (नञ्०) । आचरम् = आङ् + चर + लङ् + मिप् । अद्यतन कालके लिए लङ्का प्रयोग अनुचित है अतः "अचारिषम्" ऐसा लुङ्का प्रयोग उचित है । जनाऽवनाय = जनानाम् अवनं, तस्मै (ष० त०) । उद्यमिनम् = उद्यमः अस्याऽस्तीति उद्यमी, तम्, उद्यम + इनि + अम् । जनाऽर्दनम् = अर्दयतीति अर्दनः, अर्द + णिच् + ल्यु (अन) + सु, "नन्द्यादि" गणमें पढ़े जानेसे ल्यु प्रत्यय । जनानाम् अर्दनः, तम् (ष० त०) । जगज्जीवपिबं = जगति जीवाः (स० त०) । पिबतीति पिबः "पा" धातुसे "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इस सूत्रसे श प्रत्यय । जगज्जीवानां पिबः, तम् (ष० त०) । मर्यादारहित लोक जो कहना हो कहे, पर मेरी निर्दोषतामें

अन्तर्यामी साक्षी है यह भाव है। इस पद्यमें निरुक्त-नामक काव्यका लक्षण है ॥ १२४ ॥

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभराद्यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम्।
विदन्तु ते तत्त्वमिदं तु दन्तुरं, जनाऽऽनने कः करमर्पयिष्यति ? ॥ १२५ ॥

अन्वयः—अदो हृदयं त्रपाभरात् स्फुटति किम् ? यत् अस्य शुद्धिः विबुधैः विबुध्यताम्। ते इदं दन्तुरं तत्त्वं तु विदन्तु, जनाऽऽनने कः करम् अर्पयिष्यति ? ॥ १२५ ॥

व्याख्या—अदः = एतत्, हृदयं = हृत्, त्रपाभरात् = लज्जाऽतिभारात्। स्फुटति किं = स्फुटिष्यति किम्, विदीर्णं भविष्यति किमिति भावः। यत् = यस्मात् स्फुटनात्, अस्य = हृदयस्य, शुद्धिः = पवित्रता, प्रायश्चित्तम्। विबुधैः = देवैः, विबुध्यतां = ज्ञायताम्। अतः स्फुटनमाशास्यमिति भावः। ते = विबुधाः, इदम् = एतत्, दन्तुरम् = अतिविषमं, तत्त्वं तु = हृदयशुद्धिं, तु विदन्तु = जानन्तु। लोकाजानन्तु मा जानन्तु वा, अत्र लौकिकमाभाणकमाह—जनाऽऽनन्त इति। जनाऽऽनने = लोकमुखे, कः = जनः, करं = हस्तम्, अर्पयिष्यति = समर्पयिष्यति, मा वादीरिति वाचं निरोत्स्यतीति भावः ॥ १२५ ॥

अनुवादः—यह मेरा हृदय लज्जाके अति भारसे विदीर्ण होगा क्या ? जिससे कि इसकी पवित्रता देवता लोग जान लें। वे लोग इस विषम तत्त्व (हृदयशुद्धि)-को तो जानें। परन्तु अन्य लोगोंके मुखको कौन रोकेगा ? ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—त्रपाभरात् = त्रपाया भरः, तस्मात् (ष० त०)। स्फुटति = स्फुट + लट् + तिप्,। "आशंसायां भूतवच्च" इस सूत्रमें चकारके पाठसे भविष्यत्-कालके अर्थमें वर्तमान कालका प्रयोग हुआ है। विबुध्यतां = वि + बुध + लोट् (कर्ममें) + त। विदन्तु = विद + लोट् + झिः। जनाऽऽनने = जनस्य आननं, तस्मिन् (ष० त०)। अर्पयिष्यति = ऋ + णिच् + लृट् + तिप्। मेरी हृदय-शुद्धिको किसी प्रकार देवताओंको प्रतीत करानेपर भी जनताको प्रतीति कराना दुष्कर है, यह भाव है ॥ १२५ ॥

मम श्रमश्चेतनयाऽनया फली बलीयसाऽलोपि च सैव वेधसा।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—मम श्रमः अनया चेतनया फली (स्यात्), बलीयसा वेधसा सा एव आलोपि च। तथा हि- दैवस्वरसात् विनश्वरं वस्तु सुरेश्वरः अपि प्रतिकर्तुम् ईश्वरो न ॥ १२६ ॥

व्याख्या—मम, श्रमः = दूत्यप्रयासः, अनया = एतया, चेतनया = बुद्ध्या, स्वरूपनिगूहनरूपयेति शेषः । फली = फलवान्, स्यादिति शेषः । परं बलीयसा= बलवत्तरेण, वेधसा = दैवेन, सा एव = तादृशी चेतना एव, अलोपि = नाशिता च । तथा हि--दैवस्वरसात् = भाग्यस्वेच्छायाः, विनश्वरं=विनाशितं, वस्तु = पदार्थं, सुरेश्वरः अपि = महेन्द्रः अपि, प्रतिकर्तुं = प्रतिविधातुं, पुनर्निर्मातुमिति भावः । ईश्वरो न = समर्थो न, किं पुनरन्यः ? ।। १२६ ।।

अनुवादः--मेरा श्रम (दूत्यका प्रयास) इस चेतनासे सफल होता परन्तु बलसम्पन्न भाग्यने उसीको नष्ट किया । दैवको अपनी इच्छासे विनाशित वस्तु-का महेन्द्र भी प्रतीकार करनेके लिए समर्थ नहीं हैं ।। १२६ ।।

टिप्पणी--फली = फल + इनिः + सु । बलीयसा = बल + ईयसुन् + टा । अलोपि=लुप + लुङ् + (कर्ममें) त । दैवस्वरसात्=स्वस्य रसः (ष० त०) । दैवस्य स्वरसः, तस्मात् (ष० त०) । सुरेश्वरः = सुराणाम् ईश्वरः (ष० त०) । प्रतिकर्तुं = प्रति + कृ + तुमुन् । भवितव्यताको कोई भी नहीं बदल सकता है ।। १२६ ।।

इति स्वयं मोहमयोर्मिनिर्मितं प्रकाशनं शोचति नैषधे निजम् ।
तथाऽव्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेमहंसराट् ।। १२७ ।।

अन्वयः—इति नैषधे मोहमयोर्मिनिर्मितं निजं स्वयं प्रकाशनं शोचति दयालुः हेमहंसराट् तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया लघु आगात् ।। १२७ ।।

व्याख्या—इति = इत्थं, नैषधे = नले, मोहमयोर्मिनिर्मितं = भ्रान्ति-विलासकृतं, निजं = स्वीयं, स्वयम् = आत्मना, प्रकाशनं = स्वरूपप्रकटनं, शोचति = शोकविषयं कुर्वति सति, दयालुः = कृपालुः, हेमहंसराट् = सुवर्णराजहंसः, तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया = तादृग्व्यथितनलोद्धारेच्छया, लघु = शीघ्रम्, आगात् = आगतः ।। १२७ ।।

अनुवादः—इस प्रकार भ्रान्तिके विलाससे किये गये स्वयम् अपने स्वरूपके प्रकाशनको लक्ष्य कर नलके शोक करनेपर दयालु सुवर्णमय राजहंस उस प्रकारसे दुःखित नलके उद्धारकी इच्छासे शीघ्र आ गया ।। १२७ ।।

टिप्पणी—मोहमयोर्मिनिर्मितं = मोह एव मोहमयः (मोह + मयट्), स चाऽसौ ऊर्मिः (क० धा०), तेन निर्मितं (तृ० त०), तत् । शोचति = शुच + लट् (शतृ) + ङि । दयालुः=दयत इति, दय धातुसे 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्रा-श्रद्धाभ्य आलुच्' इससे आलुच् प्रत्यय । "स्याद्दयालुः कारुणिकः कृपालुः सूरतः

समा: ।'' इत्यमर: । हेमहंसराट् = हंसेषु राजत इति हंसराट् (हंस+राज्+क्विप्) । हेमस्वरूप: हंसराट् (मध्यम० समास) । तथाव्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया तथा चाऽसौ व्यथा (क० धा०) तस्यां मग्न: (स० त०) । स चाऽसौ स: (क० धा०), तस्य उद्दिधीर्षा (ष० त०), तया । उद्धर्तुमिच्छा उद्दिधीर्षा, उद+धृ+सन्+अ+टाप्+सु । आगात् = आङ्+इण् (गा)+लुङ्+तिप् ॥ १२७ ॥

नलं स तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणं स एष पक्षीति भणन्तमभ्यधात् ।
नयाऽदयैनामति मा निराशतामसून् विहातेयमत: परं परम् ॥ १२८ ॥

अन्वय:—स तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणम् "एष स पक्षी" इति भणन्तं नलम् अभ्यधात्—"हे अदय ! एनां निराशताम् अति मा नय । अत: परम् इयं परम् असून् विहाता ॥ १२८ ॥

व्याख्या—स: = नल:, तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणं = हंसपतत्रशब्दोपरिविलोकिनम्, एष: = समीपतरवर्ती, स: = पूर्वं कृतोपकार:, पक्षी = विहग:, हंस इत्यर्थ: । इति = एवं, भणन्तं = वदन्तं, नलं = नैषधम्, अभ्यधात् = अभिहितवान् । किं तदित्याह —नयेत्यादि । हे अदय = हे निर्दय !, एनाम् = दमयन्तीं, निराशतां = नैराश्यम्, अति मा नय = अत्यर्थं न प्रापय, कुत इत्यत्राऽऽह—असूनिति । अत: परम् = एतादृशवाक्यात् अनन्तरम्, इयं = दमयन्ती, परं = केवलम्, असून् = स्वप्राणान्, विहाता = विहास्यति ॥ १२८ ॥

अनुवाद:—उस राजहंसने अपने पंखोंके शब्दसे ऊपर देखनेवाले और "यह वही पक्षी है" ऐसा कहनेवाले नलको कहा—"हे निर्दय ! इनको ज्यादा निराश मत करो, ऐसे वाक्यके अनन्तर ये अपने प्राणोंको ही छोड़ देंगी ॥ १२८ ॥

टिप्पणी—तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणं = पक्षयो रव: (ष० त०) । तस्य पक्षरव: (ष० त०), तेन ऊर्ध्वं वीक्षते तच्छील:, तम् । तत्पक्षोर्ध्वरवोर्ध्व+वीक्ष+णिनि: (उपपद०)+अम् । पक्षी = पक्षौ स्त: यस्य स:, पक्ष+इनि: (नित्ययोग)+सु । भणन्तं = भण+लट् (शतृ)+अम् । अभ्यधात् = अभि+धा+लुङ्+तिप् । अदय = अविद्यमाना दया यस्य स:, तत्सम्बुद्धौ (नञ् बहु०) । निराशतां = निर्गता आशा यस्या: सा निराशा (बहु०) तस्या भाव:, तत्ता, ताम् । निराशा+तल्+टाप्+अम् । नय = नी +लोट् +सिप् । "ते प्राग्धातो:" इसके अनुसार उपसर्ग अतिका नी धातुके पहले ही

प्रयोग व्याकरणसम्मत है। विहाता = वि + हा + लुट् + तिप्। अद्यतन कालके लिए भविष्यदर्थमें लृट्का ही प्रयोग साधु है ॥ १२८ ॥

सुरेषु पश्यन्निजसाऽपराधतामियत्प्रयस्याऽपि तदर्थसिद्धये ।
न कूटसाक्षीभवनोचितो भवान्सतां हि चेतःशुचिताऽऽत्मसाक्षिका ॥ १२९ ॥

अन्वयः--(हे नल !) भवान् तदर्थसिद्धये इयत् प्रयस्य अपि सुरेषु निजसाऽपराधतां पश्यन् (सन्) कूटसाक्षीभवनोचितो न, हि सतां चेतःशुचिता आत्मसाक्षिका ॥ १२९ ॥

व्याख्या—(हे नल !) भवान्, तदर्थसिद्धये=देवप्रयोजनसाफल्याय, इयत्= एतावत्, प्रयस्य अपि = प्रयासं कृत्वा अपि, सुरेषु = देवेषु विषये, निजसाऽपराधतां=स्वाऽपराधं, पश्यन् = तर्कयन् सन्, कूटसाक्षीभवनोचितो न=कपटसाक्षीभावयोग्यो न, निरपराधे आत्मनि अपराधचिन्तनमेव कूटसाक्षित्वं, तत्तेऽनुचितमिति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—सतामिति । हि = यस्मात् कारणात, सतां = शिष्टानां, चेतःशुचिता = चित्तशुद्धिः, आत्मसाक्षिका = स्वप्रमाणिका, सता चित्तशुद्धिः न परप्रमाणिका भवतीति भावः ॥ १२९ ॥

अनुवादः—(हे नल !) आपको देवकार्यकी सिद्धिके लिए इतना प्रयास करके भी देवताओंमे अपने अपराधको देखते हुए कूटसाक्षी होना उचित नहीं है, क्योंकि सज्जनोंकी चित्तशुद्धिमें अपना ही प्रामाण्य होता है ॥ १२९ ॥

टिप्पणी--तदर्थसिद्धये = तेषाम् अर्थः (ष० त०), तस्य सिद्धिः, तस्यै (ष० त०)। प्रयस्य = प्र + यस् + क्त्वा (ल्यप्)। निजसाऽपराधताम् = अपराधेन सहितः साऽपराधः (तुल्ययोग बहु०)। तस्य भावः, तत्ता साऽपराध + तल् + टाप्। निजा चाऽसौ साऽपराधता, ताम् (क० धा०), कूटसाक्षीभवनोचितः = कूटश्चाऽसौ साक्षी (क० धा०)। अकूटसाक्षी कूटसाक्षी यथा संपद्यते तथा भवनं, कूटसाक्षीभवनम् कूटसाक्षि + च्वि + भवन + सु। तस्मिन् उचितः (स० त०)। चेतःशुचिता = शुचेर्भावः शुचिता, शुचि + तल् + टाप्। चेतसः शुचिता (ष० त०)। आत्मसाक्षिका = आत्मा साक्षी यस्यां सा (बहु०)। "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय। स्वतःप्रमाणसिद्ध विषयमें विचार करने की आवश्यकता क्या है ? यह भाव है। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १२९ ॥

इतीरिणाऽऽपृच्छय नलं विदर्भजामपि प्रयातेन खगेन सान्त्वितः ।
मृदुर्बभाषे भगिनीं दमस्य स प्रणम्य चित्तेन हरित्पतीन्नृपः ॥ १३० ॥

अन्वयः—इति ईरिणा नलं विदर्भजाम् अपि आपृच्छ्य प्रयातेन खगेन सान्त्वितः स नृपः चित्तेन हरित्पतीन् प्रणम्य मृदुः (सन्) दमस्य भगिनीं बभाषे ॥ १३० ॥

व्याख्या - इति = इत्थम्, ईरिणा = ब्रुवाणेन, नलं = नैषधं. विदर्भजाम् अपि = भैमीम् अपि, आपृच्छ्य = आमन्त्र्य, प्रयातेन = प्रयाणप्रवृत्तेन, खगेन = पक्षिणा राजहंसेन, सान्त्वितः = कृतसान्त्वनः, सः = पूर्वोक्तः, नृपः = राजा नलः, चित्तेन = मनसा, हरित्पतीन = दिक्पालान् इन्द्रादीन्, प्रणम्य=नमस्कृत्य, मृदुः= आर्द्रचित्तः सन्, दमस्य = भीमभूपपुत्रस्य, भगिनी = स्वसारं, दमयन्तीमिति भावः, बभाषे = भाषितवान् ॥ १३० ॥

अनुवादः—ऐसा कहकर नल और दमयन्तीको भी पूछकर जानेके लिए तत्पर हंससे सान्त्वना दिये गये नलने मनसे इन्द्र आदि दिक्पालोंको प्रणाम कर कोमलचित्त होकर दमयन्तोसे कहा ॥ १३० ॥

टिप्पणी—ईरिणा = ईरयतीति ईरी, तेन, ईर+णिच्+णिनिः+टा। विदर्भजां = विदर्भेषु जाता, ताम्, विदर्भ+जन्+डः (उपपद०)+टाप्+अम्। आपृच्छ्य = आङ्+प्रच्छ+क्त्वा (ल्यप्)। प्रयातेन = प्र + या + क्तः+टा। "आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च" इस सूत्रसे क्त प्रत्यय। हरित्पतीन्= हरितां पतयः, तान (ष० त०)। प्रणम्य = प्र + नम् + क्त्वा (ल्यप्)। बभाषे = भाष + लिट्+त (एश्) ॥ १३० ॥

ददेऽपि तुभ्यं कियतीः कदर्थनाः सुरेषु रागप्रसवाऽवकेशिनीः।
अदम्भदूत्येन भजन्तु वा दयां दिशन्तु वा दण्डममी ममाऽऽगसा॥ १३१ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) सुरेषु रागप्रसवाऽवकेशिनीः कियतीः कदर्थनाः तुभ्यं ददे अपि। अमी अदम्भदूत्येन दयां वा भजन्तु, आगसा मन दण्डं वा दिशन्तु ॥ १३१ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) सुरेषु=इन्द्रादिदेवेषु विषये,रागप्रसवाऽवकेशिनीः= अनुरागोत्पत्तिवन्ध्याः, प्रणयजननाऽसमर्था इति भावः। कियतीः=किंपरिमाणाः, इयत्तारहिता इति भावः। कदर्थनाः = पीडाः, तुभ्यं = भवत्यै, केवलं प्रियाऽर्हायै इति भावः। ददे अपि, ददामि अपि, अतिगर्हितमाचरामीति भावः। अमी = देवाः, अदम्भदूत्येन = अकपटदूतकर्मणा, दयां वा भजन्तु= करुणां वा कुर्वन्तु, आगसा = अपराधेन हेतुना, आत्मप्रकाशनरूपेणेति भावः। दण्डं वा दिशन्तु = शासनं वा कुर्वन्तु, अतः परं भैमीं न कदर्थयामीति भावः ॥ १३१ ॥

अनुकम्पते स्म = अनु + कपि + लट् + त, "स्म" के योगमें भूतकालमें लट् । इस पद्यमें कामाऽग्निसे भी दया उत्पन्न हुई ऐसा कहनेसे व्यञ्जक पदके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं । उन्मादरूप अनुग्रहसे हम दोनों कृताऽर्थ हैं यह भाव है ॥ १३३ ॥

अमी समीहैकपरास्तवाऽमराः, स्वकिङ्करं मामपि कर्तुमीशिषे ।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृताऽनुतापस्त्वयि पार्ष्णिविग्रहम् ॥१३४॥

अन्वयः - (हे प्रिये !) अमी अमराः तव समीहैकपराः, माम् अपि स्वकिङ्करं कर्तुम् ईशिषे । विचार्य कार्यं सृज, कृतानुतापः त्वयि पार्ष्णिविग्रहं मुधा मा विधात् ॥ १३४ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) अमी = एते, अमराः = इन्द्रादयो देवाः, तव = भवत्याः, समीहैकपराः = अभिलाषमात्रतत्पराः, त्वामपेक्षन्त = इति भावः, तथा माम् अपि, स्वकिङ्करं = निजसेवकं, कर्तुं = विधातुम्, ईशिषे = समर्था असि शक्नोषीति भावः । किन्तु विचार्य = विमृश्य, कार्यं = कृत्यं, सृज = उत्पादय, कृताऽनुतापः = विहितः पश्चात्तापः, त्वयि = भवत्यां विषये, पार्ष्णिविग्रहं = पार्ष्णिग्राहकलहं, मुधा = वृथा, मा विधात् = कार्षीत्, अविमृश्य करणात्ते पश्चात्तापो मा भूदिति भावः ॥ १३४ ॥

अनुवादः –(हे प्रिये !) ये इन्द्र आदि देवता केवल तुम्हारे अभिलाषमें तत्पर हैं और मुझे भी तुम अपना सेवक बना सकती हो । विचार करके काम करो, पीछे किया गया पश्चात्ताप तुम्हारे विषयमें पार्ष्णिग्राह शत्रुके कलहको न करे ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—समीहैकपराः = एके च ते पराः (क० धा०), समीहायाम् एकपराः (स० त०) । स्वकिङ्करं = स्वस्य किङ्करः, तम् (प० त०) । ईशिषे = ईश + लट् + थास् । "ईशः से" इससे इट् आगम । विचार्य = वि + चर + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । कार्यं = कृ + ण्यत् + अम् । सृज = सृज् + लोट् + सिप् । कृताऽनुतापः = कृतश्चाऽसौ अनुतापः (क० धा०) । पार्ष्णिविग्रहं = पार्ष्णेः विग्रहः, तम् (प० त०) । बारह प्रकारके राजाओंके मण्डलमें पीछेसे प्रहार करनेवाले शत्रुको "पार्ष्णिग्राह" कहते हैं । विचार करके काम करो, नहीं तो पश्चात्ताप "पार्ष्णिग्राह" शत्रुका कार्य करेगा, अर्थात् पीछे पछताना पड़ेगा यह भाव है । मा विधात् = माङ्-उपपदपूर्वक, वि–उपसर्गपूर्वक

टिप्पणी—उन्मदिष्णुता = उन्मदिष्णोर्भावः, उन्मदिष्णु + तल् + टाप् + सु। "अलङ्कृञ्०" इत्यादि सूत्रसे इष्णुच्, उद् + मद + इष्णुच्। मे = "हित-योगे च" इससे हितके योगमें चतुर्थी। अयोगजां = न योगः (नञ्०), अयोगाज्जाता, ताम्, अयोग + जन् + ड, उपपद० + टाप् + अम्। अन्वभवम् = अनु + भू + लङ् + मिप्। अद्यतन भूतकालके लिए = "अन्वभूवम्" यह प्रयोग इष्ट है। अज्ञानवशात् = न ज्ञानम् (नञ्०), तस्य वशः, तस्मात् (ष० त०)। दोषलाघवम् = दोषस्य लाघवम् (ष० त०)। यहाँपर "पूरणगुण०" इत्यादि सूत्रसे गुणवाचक शब्दका षष्ठीसमासनिषेध अनित्य होनेसे "अर्थगौरवम्" "बुद्धिमान्द्यम्" इत्यादिके समान समास हुआ है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १३२ ॥

तवेत्ययोगस्मरपावकोऽपि मे कदर्थनाऽत्यर्थतयाऽगमद्दयाम्।
प्रकाशमुन्माद्य यदद्य कारयन्मयाऽऽत्मनो मामनुकम्पते स्म सः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) इति तव कदर्थनाऽत्यर्थतया मे अयोगस्मरपावकः अपि दयाम् अगमत्। यत् अद्य स उन्माद्य मया आत्मनः प्रकाशं कारयन् माम् अनुकम्पते स्म ॥ १३३ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) इति = इत्थं, तव = भवत्याः, कदर्थनाऽत्यर्थतया = पीडाबाहुल्येन हेतुना, मे = मम, अयोगस्मरपावकः अपि = वियोगकामाऽग्निः अपि, दयां = कृपाम्, अगमत् = प्राप्तवान्, दयालुरभूदिति भावः। यत् = यस्मात्, अद्य = अस्मिन् दिने, सः = कामाऽग्निः (प्रयोजककर्ता), उन्माद्य = माम् उन्मत्तं कृत्वा, मया = प्रयोज्येन, आत्मनः = स्वस्य, मत्स्वरूपस्येति भावः। प्रकाशं = प्रकाशनं, कारयन् = कर्तुं प्रेरयन्, माम्, अनुकम्पते स्म, मम दयते स्मेति भावः। किं बहुना उन्मादप्रसादादुभावप्यावां कृताऽर्थौ स्व इति तात्पर्यम् ॥ १३३ ॥

अनुवादः—(हे प्रिये !) इस प्रकार तुम्हारी पीडाकी अधिकतासे मेरे वियोगमें कामरूप अग्नि भी दयालु हो गया। जिससे कि उसने मुझे उन्मत्त बनाकर मुझसे मेरे स्वरूपका प्रकाशन कराकर मुझे अनुगृहीत किया ॥ १३३ ॥

टिप्पणी—कदर्थनाऽत्यर्थतया = कदर्थनाया अत्यर्थता, तया (ष० त०)। अयोगस्मरपावकः = न योगः (नञ्०)। स्मर एव पावकः (रूपक०)। अयोगे स्मरपावकः (स० त०)। अगमत् = गम् + लुङ् + तिप्। उन्माद्य = उद् + मद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। कारयन्=कृ + णिच् + लट् (शतृ) + सु।

अनुकम्पते स्म = अनु + कपि + लट् + त, "स्म" के योगमें भूतकालमें लट् । इस पद्यमें कामाऽग्निसे भी दया उत्पन्न हुई ऐसा कहनेसे व्यञ्जक पदके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं । उन्मादरूप अनुग्रहसे हम दोनों कृतार्थ हैं यह भाव है ॥ १३३ ॥

अमी समीहैकपरास्तवाऽमराः, स्वकिङ्करं मामपि कर्तुमीशिषे ।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृताऽनुतापस्त्वयि पार्ष्णिविग्रहम् ॥१३४॥

अन्वयः - (हे प्रिये !) अमी अमराः तव समीहैकपराः, माम् अपि स्वकिङ्करं कर्तुम् ईशिषे । विचार्य कार्यं सृज, कृतानुतापः त्वयि पार्ष्णिविग्रहं मुधा मा विधात् ॥ १३४ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) अमी = एते, अमराः = इन्द्रादयो देवाः, तव = भवत्याः, समीहैकपराः = अभिलाषमात्रतत्पराः, त्वामपेक्षन्त = इति भावः, तथा माम् अपि, स्वकिङ्करं = निजसेवकं, कर्तुं = विधातुम्, ईशिषे = समर्था असि शक्नोषीति भावः । किन्तु विचार्य = विमृश्य, कार्यं = कृत्यं, सृज = उत्पादय, कृताऽनुतापः = विहितः पश्चात्तापः, त्वयि = भवत्यां विषये, पार्ष्णिविग्रहं = पार्ष्णिग्राहकलहं, मुधा = वृथा, मा विधात् = कार्षीत्, अविमृश्य करणात्ते पश्चात्तापो मा भूदिति भावः ॥ १३४ ॥

अनुवादः –(हे प्रिये !) ये इन्द्र आदि देवता केवल तुम्हारे अभिलाषमें तत्पर हैं और मुझे भी तुम अपना सेवक बना सकती हो । विचार करके काम करो, पीछे किया गया पश्चात्ताप तुम्हारे विषयमें पार्ष्णिग्राह शत्रुके कलहको न करे ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—समीहैकपराः = एके च ते पराः (क० धा०), समीहायाम् एकपराः (स० त०) । स्वकिङ्करं = स्वस्य किङ्करः, तम् (प० त०) । ईशिषे = ईश + लट् + थास् । "ईशः से" इससे इट् आगम । विचार्य = वि + चर + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । कार्यं = कृ + ण्यत् + अम् । सृज = सृज् + लोट् + सिप् । कृताऽनुतापः = कृतश्चाऽसौ अनुतापः (क० धा०) । पार्ष्णि-विग्रहं = पार्ष्णेः विग्रहः, तम् (प० त०) । बारह प्रकारके राजाओंके मण्डलमें पीछेसे प्रहार करनेवाले शत्रुको "पार्ष्णिग्राह" कहते हैं । विचार करके काम करो, नहीं तो पश्चात्ताप "पार्ष्णिग्राह" शत्रुका कार्य करेगा, अर्थात् पीछे पछताना पड़ेगा यह भाव है । मा विधात् = माङ्-उपपदपूर्वक, वि–उपसर्गपूर्वक

धा धातु से लुङ्+तिप् । "मङि लुङ्" इससे लुङ् और "न माङ्योगे" इससे अट्का अभाव ॥ १३४ ॥

उदासितेनेव मयेदमुद्यसे भिया न तेभ्यः स्मरतानवान्न वा ।
हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ॥ १३५ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) उदासितेन इव मया इदम् उद्यसे, तेभ्यो भिया न वा स्मरतानवात् न । मदसुव्ययेन ते हितं स्यात् यदि, तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ॥ १३५ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) उदासितेन इव = उदासीनेन इव, मध्यस्थेन इवेति भावः, मया, इदं = पूर्वोक्तं वचनम् "अमी० ९-१३४" इत्यादिकम्, उद्यसे = अभिधीयसे, तेभ्यः=देवेभ्यः, भिया न=भीत्या न, उद्यसे इति शेषः। वा=अथ वा, स्मरतानवात् = कामकृतकार्श्यात्, "स्वकिङ्करम् ९-१३४" इत्यादि रूपं, न उद्यसे । तस्माद्विमृश्य कुर्विति भावः । स्वमतमाह—हितमिति। मदसुव्ययेन = मत्प्राणसमर्पणेन, ते=तव, हितम् = उपकारः, स्यात् यदि= भवेत् चेत्, तदा = तर्हि, मत्प्राणसमर्पणमिति शेषः । तव = भवत्याः, प्रेमणि = अनुरागे विषये, शुद्धिलब्धये = आनृण्यलाभाय, भवतीति शेषः ॥ १३५ ॥

अनुवादः—(हे प्रिये !) उदासीन (तटस्थ) की तरह मैं तुम्हें यह कह रहा हूँ, देवताओं के भयसे वा कामदेवसे की गई कृशतासे नहीं । मेरे प्राणोंके समर्पणसे तुम्हारा हित होगा तो वह तुम्हारे प्रेममें अनृणताके लाभके लिए होगा ॥ १३५ ॥

टिप्पणी—उदासितेन = उदासनम् उदासितं, तेन, उद्+आस+क्त (भावमें)+टा । इस व्युत्पत्तिमें उदासीनतासे यह अर्थ है । अथ वा उद्+ आस+क्त (कर्तामें) + टा । इस व्युत्पत्तिमें उदासीन (तटस्थ) यह अर्थ है । उद्यसे = वद+लट् (कर्ममें) + थास् । "वचिस्वपियजादीनां किति" इससे सम्प्रसारण । स्मरतानवात् = तनोर्भावः तानवम्, तनु शब्दसे "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय । स्मरेण तानवं, तस्मात् (तृ० त०) । मदसुव्ययेन = मम असवः (ष० त०), तेषां व्ययः, तेन (ष० त०) । शुद्धिलब्धये = शुद्धेर्लब्धिः, तस्यै (ष० त०) । तुम्हारे अनुरागके उपकारका प्राणसमर्पण ही प्रत्युपकार है, यह भाव है ॥ १३५ ॥

इतीरितैर्नैषधसूनृतामृतैर्विदर्भजन्मा भृशमुल्ललास सा ।
ऋतोरधिश्रीः शिशिरानुजन्मनः पिकस्वरैर्दूरविकस्वरैर्यथा ॥ १३६ ॥

अन्वयः—इति ईरितैः नैषधसूनृताऽमृतैः सा विदर्भजन्मा शिशिराऽनुजन्मनः ऋतोः अधिश्रीः दूरविकस्वरैः पिकस्वरैः यथा भृशम् उल्ललास ॥ १३६ ॥

व्याख्या—इति = इत्थम्, ईरितैः = कथितैः, नैषधसूनृताऽमृतैः = नल-सत्यप्रियवाक्यपीयूषैः, सा = प्रसिद्धा, विदर्भजन्मा = वैदर्भी, दमयन्ती, शिशि-राऽनुजन्मनः = शिशिराऽनुजातस्य, ऋतोः = वसन्तर्तोः, अधिश्रीः = अधिक-सम्पत्तिः, दूरविकस्वरैः = अतिविकासिभिः, पिकस्वरैः = कोकिलरवैः, यथा = इव, भृशम् = अत्यर्थम्, उल्ललास = उल्लासं प्राप, जहर्षेति भावः ॥ १३६ ॥

अनुवादः—इस तरह कहे गये नलके सत्य और प्रियवचनरूप अमृतोंसे वे दमयन्ती, शिशिरके अनन्तर होनेवाले वसन्त ऋतुकी अधिक शोभा दूरतक फैलनेवाले कोकिलके शब्दोंसे जैसे अधिक उल्लासको प्राप्त होती है वैसे ही अतिशय उल्लासको प्राप्त हुई ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—ईरितैः = ईर + क्त + भिस् । नैषधसूनृताऽमृतैः = सूनृतानि एव अमृतानि (रूपक०), नैषधस्य सूनृताऽमृतानि, तैः (ष० त०) । विदर्भजन्मा= विदर्भेषु जन्म यस्याः सा (व्यधि० बहु०) । शिशिराऽनुजन्मनः = अनु जन्म यस्य सः (बहु०), शिशिरस्य अनुजन्मा, तस्य (ष० त०) । अधिश्रीः = अधिका चाऽसौ श्रीः (क० धा०) दूरविकस्वरैः = दूरं विकस्वराः (सुप्सुपा०) । पिकस्वरैः = पिकस्य स्वराः, तैः (ष० त०) । उल्ललास = उद् + लस + लिट् + तिप् (णल्) । कोकिलके स्वरकी समतासे नलके वचनोंकी कामोद्दीपकता व्यङ्ग्य होती है । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १३६ ॥

नलं तदावेत्य तमाशये निजे घृणां विगानं च मुमोच भीमजा ।
जुगुप्समाना हि मनो द्रुतं तदा सतीधिया दैवतदूतधावि सा ॥ १३७ ॥

अन्वयः—तदा दैवतदूतधावि द्रुतं मनः सतीधिया जुगुप्समाना सा भीमजा तदा तं नलम् अवेत्य निजे आशये घृणां विगानं च मुमोच ॥ १३७ ॥

व्याख्या—तदा = तस्मिन् काले, नलस्य स्वरूपगोपनसमय इति भावः । दैवतदूतधावि = देवदूतधावनशीलं, द्रुतं = गतं च, मनः = चित्तं, सतीधिया = पातिव्रत्याऽभिमानेन, जुगुप्समाना = निन्दन्ती, सा = प्रसिद्धा, भीमजा = भैमी, दमयन्ती । तदा = तस्मिन् काले, नलस्य स्वरूपकथनसमय इति भावः । तं = देवदूतं, नलं = वैरसेनिम्, अवेत्य = ज्ञात्वा, निजे = स्वकीये, आशये = मनसि, घृणां = परपुरुष इति जुगुप्सां, विगानं च = आत्मनिन्दां च, मुमोच = तत्याज ॥ १३७ ॥

अनुवादः—उस (नलके अपने स्वरूपको छिपानेके) समय देवताके दूतमें दौड़नेवाले और गये हुए मनको पातिव्रत्यके अभिमानसे निन्दा करती हुई दमयन्तीने उस (नलके अपने स्वरूपको कहनेके) समय उनको "ये दूत नल हैं" ऐसा जानकर अपने हृदयमें अपने प्रति घृणा और निन्दाका परित्याग किया ॥ १३७ ॥

टिप्पणी—दैवतदूतधावि = देवा एव देवताः, "देवात्तल्" इस सूत्रसे देव-शब्दसे तल् प्रत्यय, देव+तल्+टाप् । देवता एव दैवतानि, देवता+अण् (स्वार्थमें) । दैवतानां दूतः (ष० त०), तस्मिन् धावतीति तच्छीलं. तत् दैवतदूत+धाव+णिनि (उपपद०)+अम् । सतीधिया = सत्या धीः, तया (ष० त०) । जुगुप्समाना = जुगुप्सत इति, गुप् धातुसे "गुपेर्निन्दायाम्" इस वार्तिकके अनुसार "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इससे सन्+लट्+शानच्+टाप्+सु । अवेत्य = अव+इण्+क्त्वा (ल्यप्) । विगानं = विरुद्धं गानं, तत् (गति०) । मुमोच = मुच्+लिट्+तिप् (णल्) ॥ १३७ ॥

मनोभुवस्ते भविनां मनः पिता, निमज्जयन्नेनसि तन्न लज्जसे ? ।
अमुद्रि सत्पुत्रकथा त्वयेति सा स्थिता सती मन्मथनिन्दिनी धिया ॥१३८॥

अन्वयः—"(हे मन्मथ !) मनोभुवः ते भविनां मनः पिता, तत् एनसि निमज्जयन् न लज्जसे ? त्वया सत्पुत्रकथा अमुद्रि" इति सा धिया मन्मथनिन्दिनी सती स्थिता ॥ १३८ ॥

व्याख्या—(हे मन्मथ !) मनोभुवः = मनोजन्यस्य, ते = तव, भविनां = संसारिणां, मनः = मानसं, पिता = जनकः, तत् = पितरं मनः, एनसि = पापे, दुश्चिन्तारूपे इति भावः । निमज्जयन् = निमग्नं कुर्वन् अपि, न लज्जसे = न त्रपसे । त्वया = मनोभुवा, पितृद्रोहिणा इति भावः । सत्पुत्रकथा = पितृभक्तताप्रसिद्धिः, अमुद्रि = मुद्रिता, निवारितेति भावः । इति = एवं, सा = दमयन्ती, धिया = बुद्ध्या, मन्मथनिन्दिनी सती = कामनिन्दनशीला सती, स्थिता=तूष्णीं स्थिता ॥ १३८ ॥

अनुवादः—"(हे मन्मथ !) संसारी जनोंका मन, मनोभूरूप तेरा पिता है, उसीको पापमें निमग्न करता हुआ तू लज्जित नहीं होता है ? तूने सत्पुत्रकी कीर्ति हटा दी" इस प्रकार दमयन्ती अपनी बुद्धिसे कामदेवकी निन्दा कर चुप हो गई ॥ १३८ ॥

टिप्पणी—मनोभुवः = मनः भूः (उत्पत्तिहेतुः) यस्य स मनोभूः, तस्य (बहु०), भविनां = भवः (संसारः) अस्ति येषां ते भविनः, तेषाम्, भव + इनि + आम् । निमज्जयन् = नि + मस्ज + णिच् + लट् (शतृ) + सु । सत्पुत्र-कथा = सन्तश्च ते पुत्राः (क० धा०), तेषां कथा (ष० त०) । मन्मथनिन्दिनी= मन्मथं निन्दतीति तच्छीला मन्मथ + निदि + णिनि (उपपद०) + ङीप् + सु ॥ १३८ ॥

प्रसूनमित्येव तदङ्गवर्णना न सा विशेषात्कतमत्तदित्यभूत् ।
तदा कदम्बं निरवर्णि रोमभिर्मुदश्रुणा प्रावृषि हर्षमागतैः ॥ १३९ ॥

अन्वयः—सा तदङ्गवर्णना प्रसूनम् इति एव अभूत्, (किन्तु) तत् कतमत् इति विशेषात् न अभूत् । तदा मुदश्रुणा प्रावृषि हर्षम् आगतैः रोमभिः कदम्बं निरवर्णि ॥ १३९ ॥

व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, तदङ्गवर्णना = दमयन्तीशरीरप्रशंसा, प्रसूनं = कुसुमम्, इति एव = सामान्यरूपेण एव, अभूत् = अभवत् । किन्तु, तत् = प्रसूनं, कतमत् = किंजातीयम्, इति = एवं, विशेषात् = विशेषोल्लेखात् न अभूत् = न अभवत् । तदा = तस्मिन् समये, नलत्वनिश्चयकाल इति भावः । मुदश्रुणा = हर्षजनितनयनजलेन, प्रावृषि = वर्षतौ, हर्षाऽश्रुवर्षे सतीति भावः । हर्षं = विकासम्, आगतैः = प्राप्तैः, कदम्बकुसुमविकासस्य वर्षर्तुभवत्वादिति भावः । रोमभिः = लोमभिः, लोमव्याजेनेति भावः । कदम्बं = कदम्बप्रसूनम् इति, निरवर्णि = निर्वर्णितम् प्रत्यक्षेणेवेति भावः । नलत्वनिश्चयेन हर्षरोमाञ्चितं दमयन्त्यङ्गं बालकदम्बसदृशमासीदिति भावः ॥ १३९ ॥

अनुवादः—पहले प्रसिद्ध दमयन्तीके अङ्गका वर्णन "फूल" इस सामान्य रूपसे ही हुआ था, "वह कौन-सा फूल" ऐसा विशेष रूपसे नहीं हुआ था । उस समय (ये नल ही हैं ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर) दमयन्तीके हर्षके अश्रुसे वर्षा ऋतु होनेपर (आनन्दाश्रुकी वर्षा होनेपर) विकासको प्राप्त दमयन्तीके रोओं-से दमयन्तीका अङ्ग कदम्बपुष्परूप देखा गया ॥ १३९ ॥

टिप्पणी—तदङ्गवर्णना तस्याः अङ्गं (ष० त०), तस्य वर्णना (ष०त०) । मुदश्रुणा=मुदा अश्रु, तेन (तृ० त०) । कदम्बं=कदम्बस्य विकारः (पुष्पम्), "तस्य विकारः" इससे अण्, "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे उसका लुक् । निरवर्णि=निर् + वर्ण + लुङ् (कर्ममें) + त । "निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकने-

क्षणम् ।" इत्यमरः । देवदूतमें नलत्वका निश्चय होनेके अनन्तर दमयन्तीका अङ्ग रोमाञ्चित होनेसे कदम्बपुष्पके समान हुआ, यह भाव है ।

"स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥"

इस उक्तिके अनुसार यहाँपर वर्णित रोमाञ्च, स्तम्भ आदि अन्य सात्त्विक भावोंका उपलक्षण है । इस पद्यमें दमयन्तीके अङ्गकी कदम्बपुष्पसे अभेद उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ १३९ ॥

मयैव सम्बोध्य नलं व्यलापि यत्स्वमाह मद्बुद्धमिदं विमृश्य तत् ।
असाविति भ्रान्तिमसाद्दमस्वसुः स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः ॥१४०॥

अन्वयः—मया नलम् एव संबोध्य यत् व्यलापि तत् इदं विमृश्य असौ मद्बुद्धं स्वम् आह, दमस्वसुः भ्रान्तिम् असौ स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः (सन्) असात् ॥ १४० ॥

व्याख्या—मया, नलम् एव = नैषधम् एव, संबोध्य = "इयं न ते" (९-९७) "इत्यादि-पद्यचतुष्टयेन सम्बोधनं कृत्वा, यत्, व्यलापि = विलपितं, तत् इदं = तद्विलपितं, विमृश्य = विचार्य, असौ = नलः, मद्बुद्धं = मज्ज्ञातं, स्वम्= आत्मानम्, आह = "अयि प्रिये ! (९-१०३) इत्यादिभिः सप्तदशभिः पद्यैः कथितवान्, अनया ज्ञातस्य मे किं गोपनेनेति शेषः । ततश्च दमस्वसुः=दमभगिन्याः, दमयन्त्या इत्यर्थः । भ्रान्तिं = भ्रमम्, असौ=नलः, स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः=निजकथितस्वोन्मादविलासप्रकारः (सन्), असात् = असासीत्, छिन्नवानीति भावः । १४० ॥

अनुवादः—मैंने नलको ही सम्बोधन करके (९-९७) जो विलाप किया, उसको विचार करके नलने "इन्होंने मुझे जान लिया" ऐसा समझकर अपनेको बतलाया (९-१०३), इस प्रकार दमयन्तीकी भ्रान्तिको नलने स्वयम् अपने उन्मादके विलासका भेद बतलाकर दूर कर दिया ॥ १४० ॥

टिप्पणी—संबोध्य=सम्+बुध + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । व्यलापि= वि+लप+लुङ् (भावमें)+त । विमृश्य = वि+मृश् + क्त्वा (ल्यप्) । मद्बुद्ध = मया बुद्धः, तम् (तृ० त०) । दमस्वसुः=दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०) । स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः = स्वेन भाषितः (तृ० त०) । स्वस्य उद्भ्रमः (ष० त०), तस्य विभ्रमाः (ष० त०) । तेषां क्रमः (ष० त०) । स्वभाषितः स्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमो येन सः (बहु०) । असात् = "षोऽन्तकर्मणि"

धातुसे लुङ् + तिप् । "विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः" इससे सिच्का वैकल्पिक लुक् । दूसरे पक्षमें "असासीत्" ऐसा रूप होता है ॥ १४० ॥

विदर्भराजप्रभवा ततः परं त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम् ।
पुरस्तमूचेऽभिमुखं यदत्रपा ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः ॥ १४१ ॥

अन्वयः—सा विदर्भराजप्रभवा ततः परं त्रपासखी (सती) नलं वक्तुं न अलम्, पुरः अत्रपा (सती) यत् तम् अभिमुखम् ऊचे, तेन एव ह्रियो महाह्रदे ममज्ज ॥ १४१ ॥

व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, विदर्भराजप्रभवा = दमयन्ती, ततः परं = तदनन्तर, "नलोऽय" मितिज्ञानाऽनन्तरमिति भावः । त्रपासखी = लज्जासहचरी, लज्जिता इति भावः, नलं = नैषधं, वक्तुं = संभाषितुं, साक्षादिति शेषः । न अलं = न समर्थाऽभूत् । पुरः = पूर्वं, नलज्ञानात्प्रागिति शेषः । अत्रपा = निर्लज्जा सती, यत्, तं = नलम्, अभिमुखं = सम्मुखं यथा तथा, ऊचे = भाषितवती, तेन एव = अभिमुखवचनेन हेतुना एव, ह्रियः = लज्जायाः महाह्रदे = विशालसरसि, ममज्ज = मग्ना ॥ १४१ ॥

अनुवादः—वे दमयन्ती "ये नल हैं" ऐसा जाननेके अनन्तर लज्जित होती हुई नलसे भाषण करनेके लिए समर्थ नहीं हुई । नलको पहचाननेके पहले निर्लज्ज होकर उन्होंने नलके संमुख जो भाषण किया उसीसे वे लज्जाके विशाल सरोवरमें निमग्न हो गई ॥ १४१ ॥

टिप्पणी—विदर्भराजप्रभवा = विदर्भाणां राजा (ष० त०) । प्रभवति अस्मादिति प्रभवः, प्र + भू + अप्, "ऋदोरप्" इससे अप् प्रत्यय । विदर्भराजः प्रभवः यस्याः सा (बहु०) । त्रपासखी = त्रपायाः सखी (ष० त०) । वक्तुं = वच् + तुमुन् । अत्रपा = अविद्यमाना त्रपा यस्याः सा (नञ्-बहु०) । महाह्रदे = महांश्चाऽसौ ह्रदः, तस्मिन् (क० धा०) । ममज्ज = मस्ज + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें "ह्रियो महाह्रदे" यहाँपर व्यधिकरण रूपक अलङ्कार है ॥ १४१ ॥

यदाऽपवार्याऽपि न दातुमुत्तरं शशाक सख्याः श्रवसि प्रियाय सा ।
विहस्य सख्येव तमब्रवीत्तदा ह्रियाऽधुना मौनधना भवत्प्रिया ॥ १४२ ॥

अन्वयः—सा यदा अपवार्य अपि सख्याः श्रवसि प्रियाय उत्तरं दातुं न शशाक, तदा सखी एव विहस्य तम् अब्रवीत्—"अधुना भवत्प्रिया ह्रिया मौनधना ॥ १४२ ॥

व्याख्या—सा = दमयन्ती, यदा = यस्मिन्समये, अपवार्य अपि = व्यवधाय अपि, सख्याः = वयस्यायाः, श्रवसि = कर्णे, प्रियाय = दयिताय, नलायेति भावः। उत्तरं = प्रतिवाक्यं, दातुं = वितरीतुं, न शशाक = न समर्था बभूव, तदा = तस्मिन्समये, सखी एव = दमयन्त्या वयस्या एव, विहस्य = हसित्वा, तं = नलम्, अब्रवीत् = उक्तवती। अधुना = इदानीं, भवत्प्रिया = भवद्वल्लभा दमयन्ती, ह्रिया = लज्जया हेतुना, मौनधना = बद्धमौना, अस्तीति शेषः ॥ १४२ ॥

अनुवादः—दमयन्ती जब दूसरेसे छिपा करके भी सखीके कानमें प्रिय नलको उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हुई तब उनकी सखीने ही हँसकर नलको कहा—"इस समय आपकी प्रिया दमयन्तीने लज्जासे मौन लिया है"॥ १४२ ॥

टिप्पणी—अपवार्य = अप + वृञ् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। शशाक = शक् + लिट् + तिप् (णल्)। विहस्य = वि + हस् + क्त्वा (ल्यप्)। अब्रवीत् = ब्रू + लङ् + तिप्। भवत्प्रिया = भवतः प्रिया (ष० त०)। मौनधना = मौनम् एव धनं यस्याः सा (बहु०)। दमयन्तीने लज्जासे मौन लिया है, वैराग्य वा द्वेषसे नहीं, यह भाव है॥ १४२ ॥

पदाऽऽतिथेयाँल्लिखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम्।
जगाद यां सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम् ॥ १४३ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) इयं लिखितस्य ते पदाऽऽतिथेयान् लोचननिर्झरान् वितन्वती यां जगाद सा एव प्रसूनबाणोपनिषत् मम मुखात् त्वया निशम्यताम् ॥ १४३ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) इयं = दमयन्ती, लिखितस्य = चित्रगतस्य, ते = तव, पदाऽऽतिथेयान् = पादाऽऽतिथ्यरूपान्, पाद्यभूतानिति भावः। लोचननिर्झरान् = नयनवारिप्रवाहान्, बाष्पपूरानिति भावः। वितन्वती = कुर्वती सती, यां = प्रसूनबाणोपनिषदं, कामरहस्यमिति भावः, जगाद = उक्तवती, त्वदागमात्प्रागिति शेषः। सा एव = पूर्वाऽभिहिता एव, नाऽन्येति भावः। प्रसूनबाणोपनिषत् = कामरहस्यं, मम, मुखात् = वदनात्, त्वया = भवता, निशम्यतां = श्रूयताम् ॥ १४३ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) इस दमयन्तीने चित्रलिखित आपके चरणोंके आतिथ्य (पाद्य) रूप अश्रुप्रवाहोंको फैलाकर कामदेवके उपनिषत् (रहस्यरूप) जिस वाणीको कहा था उसीको आप मेरे मुखसे सुन लें॥ १४३ ॥

टिप्पणी—पदाऽऽतिथेयान् = अतिथिषु साधव आतिथेयाः, अतिथि शब्दसे "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" इस सूत्रसे ढञ् (एय) प्रत्यय। पदयोः आतिथेयाः, तान् (स० त०)। लोचननिर्झरान् = लोचनयोः निर्झरास्तान् (ष० त०)। वितन्वती = वि + तन् + लट् + (शतृ) + ङीप् + सु। प्रसूनबाणोपनिषत् = प्रसूनानि बाणा यस्य सः (बहु०)। तस्य उपनिषत् (ष० त०)। निशम्यताम् = नि + शम् + लोट् (कर्ममें) + त ॥ १४३ ॥

असंशयं स त्वयि हंस एव मां शशंस न त्वद्विरहाऽऽप्तसंशयाम्।

क्व चन्द्रवंशस्य वतंस! मद्वधान्नृशंसता संभविनी भवादृशे॥ १४४॥

अन्वयः—हे चन्द्रवंशस्य वतंस! स हंसः त्वद्विरहाऽऽप्तसंशयां मां त्वयि न शशंस एव, असंशयम्। (अन्यथा) भवादृशे मद्वधात् नृशंसता क्व संभविनी ? ॥ १४४ ॥

व्याख्या—चन्द्रवंशस्य = इन्दुकुलस्य, हे वतंस = हे अलङ्कारस्वरूप! सः = पूर्वचर्चितः, हंस = मरालः, त्वद्विरहाऽऽप्तसंशयां, भवद्वियोगप्राप्तजीवनसन्देहां, मां = त्वत्प्रियां, न शशंस एव = न कथितवान् एव, असंशयं = निश्चितम्। अन्यथा भवादृशे = त्वत्सदृशे, सहृदय इति भावः, मद्वधात् = मद्धननात्, नृशंसता = घातुकता, स्त्रीहत्यारूपेति भावः, क्व = कुत्र, संभविनी = संभवविषया, न संभावनीति भावः ॥ १४४ ॥

अनुवादः—हे चन्द्रकुलके अलङ्कारस्वरूप 'उस हंसने 'दमयन्ती आपके वियोगसे सन्दिग्ध जीवनवाली हो गई है' ऐसा वचन आपको अवश्य ही नहीं कहा है इसमें संशय नहीं है। कहा होता तो आप-से सहृदयमें मेरे वधसे क्रूरता कैसे संभव है ? ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—चन्द्रवंशस्य = चन्द्रस्य वंशः, तस्य(ष० त०)। वतंस = "अवतंस" शब्दमें "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।" इस वचन के अनुसार "अव" उपसर्गका अकारलोप। त्वद्विरहाऽऽप्तसंशयां = तव विरहः (ष० त०), आप्तः संशयो यया सा (बहु०)। त्वद्विरहेण (हेतुना) आप्तसंशया, ताम् (तृ० त०)। शशंस= शंस + लिट् + तिप् (णिल्)। असंशयम्=संशयस्य अभावः। (अर्थाऽभावमें अव्ययीभाव)। अन्यथा=अन्येन प्रकारेण, अन्य + थाल्, यह अव्यय है। भवादृशे = भवान् इव अयं पश्यतीति भवादृशः, तस्मिन् भवत् शब्दसे "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे कञ् प्रत्यय और "आ सर्वनाम्नः" इससे आकार आदेश। मद्वधात् = मम वधः, तस्मात् (ष० त०)।

नृशंसता = नृशंस + तल् + टाप् + सु । "नृशंसो घातुकः क्रूरः" इत्यमरः । संभविनी = सम्भवतीति तच्छीला सं + भू + णिनि + ङीप् + सु ।। १४४ ।।

जितस्त्वयाऽऽस्येन विधुः स्मरः श्रिया, कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः ? ।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसंकल्पधराः किलाऽमराः ।। १४५ ।।

अन्वयः—(हे प्रिय !) त्वया आस्येन विधुः जितः, श्रिया स्मरो जितः । कुतः तौ मम वधे कृतप्रतिज्ञौ ? (अथ) तव इति कृत्वा यदि, तत् मया जितम् । अमरा मोघसङ्कल्पधरा न किल ।। १४५ ।।

व्याख्या—(हे प्रिय !) त्वया = भवता, आस्येन = मुखेन, विधुः = चन्द्रः, जितः = पराजितः, श्रिया = सौन्दर्येण, स्मरः = कामदेवः, जितः = पराजितः । कुतः = कस्माद्धेतोः, तौ = विधुस्मरौ, मम = भवत्प्रियायाः, वधे = व्यापादने, कृतप्रतिज्ञौ = विहितसन्धौ, जेतारं भवन्तं विहाय निरपराधां मां किमिति हन्तुमुद्युक्ताविति भावः । अथ, तव = भवतः, इति = एव, कृत्वा = विधाय, यदि = चेत् मां त्वदीयां विमृश्येति भावः । तत् = तर्हि, मया, जितं = जयः प्राप्त इति भावः । यतः अमराः = देवाः, मोघसङ्कल्पधराः = निष्फलमानसकर्मधारिणः, न = नो भवन्ति, किला = निश्चयेन । विधुस्मरावपि देवावेवेति भावः ।। १४५ ।।

अनुवादः—(हे प्रिय !) आपने अपने मुखसे चन्द्रको और अपने सौन्दर्यसे कामदेवको जीत लिया । किस कारण से उन दोनोंने मेरे वधके लिए प्रतिज्ञा की है ? अथ वा उन्होंने मुझे आपकी समझकर प्रतिज्ञा की हो तो मैंने जीत लिया, क्योंकि देवतालोग निष्फल सङ्कल्पवाले नहीं होते हैं । १४५ ।।

टिप्पणी—जितः=जि + क्त (कर्ममें) + सु । कुतः=कस्मात् इति, किम् + तसिल् । कृतप्रतिज्ञौ = कृता प्रतिज्ञा याभ्यां तौ (बहु०) । कामदेव और चन्द्र दोनों ही जीतनेवाले आपको छोड़कर निरपराध (बेकसूर) मुझे मार रहे हैं । मोघसङ्कल्पधराः = धरन्तीति धराः, धृञ् + अच् + जस् । मोघश्चाऽसौ सङ्कल्पः (क० धा०), तस्य धराः (ष० त०) । इस पद्यमें नलको जीतनेमें असमर्थ चन्द्र और कामदेवके दमयन्तीको "यह नलकी प्रेयसी है" ऐसा समझकर अपकार करनेका कथन होनेसे प्रत्यनीक अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधनः ।। (सा०द० १०।८६) ।। १४५ ।।

निजांऽशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम् ।
त्वदास्यतां यास्यति तावताऽपि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः? ।। १४६ ।।

अन्वयः—(हे प्रिय !) विधुः निजांऽशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिः लाञ्छनोन्मृजां मुधा वाञ्छति । वधूवधेन पुनः कलङ्कितः (सन्) तावता अपि त्वदास्यतां यास्यति किम् ? ॥ १४६ ॥

व्याख्या—(हे प्रिय !) विधुः = चन्द्रः, निजांऽशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिः = स्वकिरणज्वलितमच्छरीरभसितैः, लाञ्छनोन्मृजां = स्वकलङ्कपरिमार्जनं, मुधा = वृथैव, वाञ्छति=इच्छति, त्वन्मुखसाम्यार्थमिति शेषः । तथा हि - वधूवधेन= मद्वधपातकेन, पुनः = भूयः, कलङ्कितः = सञ्जातकलङ्कः सन्, तावता अपि = मदङ्गभस्मना उन्मार्जनेन अपि, त्वदास्यतां = भवन्मुखतां, भवन्मुखतुल्यतामिति भावः । यास्यति किम्=प्राप्स्यति किम् ? नो यास्यत्येवेति भावः ॥ १४६ ॥

अनुवादः—(हे प्रिय !) चन्द्र अपनी किरणोंसे जले हुए मेरे शरीरके भस्मोंसे अपने कलङ्कका मार्जन करनेकी व्यर्थ इच्छा करता है । मेरे वधके पातकसे कलङ्कित होता हुआ चन्द्र वैसे मार्जनसे भी आपके मुखकी तुल्यताको कैसे प्राप्त करेगा ? ॥ १४६ ॥

टिप्पणी—निजांऽशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिः=निजाश्च ते अंशवः (क० धा०), मम अङ्गम् (ष० त०), निजांऽशुभिः निर्दग्धम् (तृ० त०), निजांऽशुनिर्दग्धं च तत् मदङ्गम् (क० धा०), तस्य भस्मानि, तैः (ष० त०), करणमें तृतीया । लाञ्छनोन्मृजाम् = उन्मार्जनम् उन्मृजा, उद् + मृज् + अङ् + टाप् । "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इससे अङ् । लाञ्छनस्य उन्मृजा, ताम् (ष० त०) । वधूवधेन=वध्वा वधः, तेन (ष० त०) । कलङ्कितः=कलङ्कः संजातः अस्य सः, कलङ्क + इतच् + सु । त्वदास्यतां = तव आस्यं (ष० त०), तस्य भावः तत्ता, ताम्, त्वदास्य + तल् (टाप्) + अम् । यास्यति = या + लृट् + तिप् । इस पद्यमें नलके मुखकी समता पानेके लिए दमयन्तीके शरीरके भस्मसे चन्द्रके अपने कलङ्कका मार्जन करनेसे स्त्रीवधके कलङ्ककी प्राप्तिके कथनसे अनर्थकी उत्पत्ति होनेसे विषम अलङ्कार है ॥ १४६ ॥

प्रसीद, यच्छ स्वशरान्मनोभुवे, स हन्तु मां तैर्धुतकौसुमाऽऽशुगः ।
त्वदेकचित्ताऽहमसून्विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम् ॥ १४७ ॥

अन्वयः—(हे प्रिय !) प्रसीद, स्वशरान् मनोभुवे यच्छ, स धुतकौसुमाऽऽशुगः (सन्) तैः मां हन्तु । अहं त्वदेकचित्ता (सती) असून् विमुञ्चती त्वम् एव भूत्वा तं तृणवत् जयामि ॥ १४७ ॥

व्याख्या—(हे प्रिय !) प्रसीद = अनुगृहाण, स्वशरान् = निजबाणान्, मनोभुवे = कामाय, यच्छ = देहि । सः = कामः, धुतकौसुमाऽऽशुगः = त्यक्त-कुसुमबाणः सन्, तैः = त्वच्छरैः, मां = त्वद्वियोगिनीं, हन्तु = व्यापादयतु, तस्योपयोगमाह—त्वदेकचित्तेति । अहं, त्वदेकचित्ता = भवदेकमानसा सती, असून् = प्राणान्, विमुञ्चती = त्यजन्ती, अत एव, त्वम् एव भूत्वा = भवत्स्वरूपा भूत्वा, तं = मनोभुवं, कामम् । तृणवत् = तृणतुल्य, जयामि = जेष्यामि ॥ १४७ ॥

अनुवादः--(हे प्रिय !) आप अनुग्रह करें, अपने बाणोंको कामदेवको दे दें । वह (कामदेव) पुष्परूप बाणों को छोड़कर आपके बाणोंसे मुझे मार डाले । मैं एकमात्र आपमें चित्तको रखकर प्राणोंको छोड़ती हुई दूसरे जन्ममें आपके स्वरूपका लाभ कर कामदेवको तृणके समान जीत जाऊँगी ॥ १४७ ॥

टिप्पणी--प्रसीद = प्र + सद् + लोट् + सिप् । स्वशरान् = स्वस्य शराः, तान् (प० त०) । मनोभुवे = मनसि भवतीति मनोभूः, तस्मै, मनस् + भू + क्विप् (उपपद०) + ङे । यच्छ = दाण् (यच्छ) + लोट् + सिप् । धुत-कौसुमाऽऽशुगः = कुसुमानाम् इमे कौसुमाः (कुसुम + अण् + जस्) । धुताः कौसुमा आशुगा येन सः (बहु०) । हन्तु = हन् + लोट् + तिप । त्वदेकचित्ता = त्वम् एव एकः त्वदेकः (क० धा०) । त्वदेकस्मिन् चित्तं यस्याः सा (व्यधि० बहु०) । विमुञ्चती = विमुञ्चतीति, वि + मुच् + लट् (शतृ) + ङीप् + सु । "आच्छीनद्योर्नुम्" इससे विकल्प होनेसे नुम्का अभाव । त्वम् एव भूत्वा = मनुष्य अन्तकालमें जिस भावका स्मरण कर शरीर छोड़ता है, दूसरे जन्ममें उसी भावको प्राप्त होता है—

> "यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
> तं तमेवेति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥" (गीता ८-६)

भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिके अनुसार यह कथन है । तृणवत् = तृणेन तुल्यम्, तृण + वति । जयामि = जि + लट् + मिप । "आशंसायां भूतवच्च" इस सूत्रसे आशंसामें वर्तमानके समान प्रत्यय ॥ १४७ ॥

श्रुतिः सुराणां गुणगायनी यदि, त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं ततः ? ।
स्तवे रवेरप्सु कृताऽऽप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत्कुमुद्वती ॥ १४८ ॥

अन्वयः—(हे प्रिय !) श्रुतिः सुराणां गुणगायनी यदि, त्वदङ्घ्रिमग्नस्य

जनस्य ततः किम् ? (तथा हि) -अप्सु कृताऽऽप्लवैः रवेः स्तवे कृते (सति) कुमुद्वती जातु मुद्वती न भवेत् ॥ १४८ ॥

व्याख्या—(हे प्रिय !) श्रुतिः = वेदः, सुराणां = देवानां, गुणगायनी यदि = गुणगानकर्त्री चेत्, त्वदङ्घ्रिमग्नस्य = भवच्चरणस्थितस्य, जनस्य = मत्स्वरूपलोकस्य, ततः=तैर्देवैः, किं=किं प्रयोजनम् । तथा हि—अप्सु=गङ्गादि-जले, कृताऽऽप्लवैः = विहितस्नानैः, जनैः, रवेः = सूर्यस्य, स्तवे = स्तोत्रे, कृते = विहिते सति । कुमुद्वती = कुमुदिनी, जातु = कदाचित् अपि, मुद्वती = मोदवती, विकासवतीति भावः । न भवेत् = न स्यात्, कथमपीति शेष ॥१४८॥

अनुवादः—(हे प्रिय !) वेद, इन्द्र आदि देवताओंके गुणों का गान करने-वाला है तो आपके चरणोंमें निमग्न मेरे-से जनको उससे क्या प्रयोजन है ? जैसे कि जलमें स्नान करनेवाले मनुष्योंसे सूर्यका स्तोत्र करनेपर कुमुदिनी विकासवती (खिलनेवाली) नहीं होती है ॥ १४८ ॥

टिप्पणी—गुणगायनी = गाययीति गायनी, गै धातुसे "ण्युट् च" इस सूत्रसे ण्युट् (अन) टित् होनेसे स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् । गुणानां गायनी (ष० त०) । त्वदङ्घ्रिमग्नस्य = तव अङ्घ्री (ष० त०), तयोर्मग्नः, तस्य (स० त०) । कृताऽऽप्लवैः = कृत आप्लवो यैस्ते, तैः (बहु०) । "आप्लाव आप्लवः । स्नानम्" इत्यमरः । कुमुद्वती = कुमुदानि सन्ति यस्यां सा, कुमुद शब्दसे "कुमुदनडवेतसेभ्योड्मतुप्" इस सूत्रसे ड्मतुप्, टिलोप होकर ङीप् । मुद्वती = मुद् अस्या अस्तीति, मुद् + मतुप् + ङीप् + सु । जैसे कुमुदिनी सूर्यसे विकसित न होकर चन्द्रके उगनेपर ही विकासको प्राप्त करती है वैसे ही मैं देवताओंकी प्राप्तिसे हर्षको प्राप्त न कर आपकी प्राप्तिसे ही हर्षको प्राप्त करती हूँ, यह भाव है । अत एव दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ १०८ ॥

कथासु शिष्ये वरमद्य न ध्रिये, ममाऽवगन्तासि न भावमन्यथा ।
त्वदर्थमुक्ताऽसुतयाऽऽशु नाथ! मां प्रतीहि जीवाऽभ्यधिक ! त्वदेकिकाम् ॥१४९॥

अन्वयः—हे नाथ ! कथासु शिष्ये, वरम् । अद्य न ध्रिये । अन्यथा मम भावं न अवगन्तासि । त्वदर्थं मुक्ताऽसुतया आशु हे जीवाऽभ्यधिक ! मां त्वदेकिकां प्रतीहि ॥ १४९ ॥

व्याख्या—हे नाथ = स्वामिन्, कथासु = आलापमात्रेषु, शिष्ये = अव-शिष्टा भवामि, मरिष्यामीति भावः । वरं = मनाक् प्रियम् । अद्य = अधुना, न ध्रिये = न स्थास्ये, नो जीविष्यामीति भावः । अन्यथा = अन्येन प्रकारेण,

मरणं विनेति भावः। मम = त्वदनुरागिण्याः, भावम् = अनुरागं, न अवगन्तासि = न अवगमिष्यसि। त्वदर्थं = भवदर्थं, मुक्ताऽसुतया = त्यक्तप्राणत्वेन, आशु = शीघ्रं, हे जीवाऽभ्यधिक = हे प्राणाऽभ्यधिक, प्राणेभ्योऽपि प्रियतरेति भावः। मां = त्वदनुरागिणीं, त्वदेकिकां = त्वदेकशरणामिति भावः। प्रतीहि = जानीहि ॥ १४९ ॥

अनुवादः—हे नाथ ! शब्दशेष हो जाऊँगी, यह कुछ अच्छा है। अब नहीं रहूँगी। नहीं तो (मेरे मरणके विना) मेरे अनुरागको आप नहीं जानेंगे। आपके लिए प्राणत्याग करनेसे शीघ्र ही हे प्राणोंसे भी अधिक ! आप मुझे एक मात्र अपनी शरणमें स्थित जान लें ॥ १४९ ॥

टिप्पणी--शिष्ये = "शिष असर्वोपयोगे" धातुसे कर्मकर्तामें लट्+त। ध्रियें = "धृङ् अवस्थाने" धातुसे प्राप्तकालमें कर्तामें लट्+इट् "रिङ् शयग्लिङ्क्षु" इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमें 'रिङ्' आदेश। अवगन्तासि = अव+गम्+लुट्+सिप्। त्वदर्थमुक्ताऽसुतया = मुक्ता असवो यया सा (बहु०), तस्या भावः, तत्ता, मुक्ताऽसुतल्+टाप्। तुभ्यम् इदम् (च० त०)। त्वदर्थं (यथा तथा) मुक्ताऽसुता, तया (सुप्सुपा०)। जीवाऽभ्यधिक = जीवात् अभ्यधिकः, तत्सम्बुद्धौ (प० त०)। त्वदेकिकां = त्वम् एव एकः (मुख्यः) यस्याः सा त्वदेकिका, ताम् (बहु०)। "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप्। प्रतीहि = प्रति+इण्+लोट्+सिप् ॥ १४९ ॥

महेन्द्रहेतेरपि रक्षणं भयाद्यदर्थिसाधारणमस्त्रभृद्व्रतम्।
प्रसूनबाणादपि मामरक्षतः क्षतं तदुच्चैरवकीर्णिनस्तव ॥ १५० ॥

अन्वयः—(हे नाथ !) महेन्द्रहेतेः अपि भयात् रक्षणं यत् अर्थिसाधारणम् अस्त्रभृद्व्रतम्। प्रसूनबाणात् अपि माम् अरक्षतः अवकीर्णिनः तव तत् उच्चैः क्षतम् ॥ १५० ॥

व्याख्या—(हे नाथ !) महेन्द्रहेतेः अपि = इन्द्राऽऽयुधात् अपि, वज्रात् अपीति भावः, उत्पद्यमानात् भयात् = भीतेः, रक्षणं = त्राणं, यत् अर्थिसाधारणं = शरणाऽऽगतसामान्यम्, अस्त्रभृद्व्रतम् = आयुधधारिव्रतम्। परं प्रसूनबाणात् अपि = कुसुमेषोः अपि, कामदेवात् अपि। मां = शरणाऽर्थिनीम् अबलाम्, अरक्षतः = रक्षाम् अकुर्वतः, अत एव अवकीर्णिनः = क्षतव्रतस्य, तव = भवतः, तत् = अस्त्रभृद्व्रतम्, उच्चैः = अतितरां, क्षतं = विनष्टम्। सर्वाऽभय-

दानव्रतिनो भवतः पुष्पायुधादपि मादृश्या अबलाया उपेक्षणे कष्टातिशयः प्राप्त इति भावः ॥ १५० ॥

अनुवादः—(हे नाथ !) इन्द्रके आयुध वज्रसे भी होनेवाले भयसे रक्षा करना जो शरणागतमात्रमें सामान्य अस्त्र धारण करनेवालोंका व्रत है । पुष्प-बाण अर्थात् कामदेवसे भी मेरी-सी अबलाकी रक्षा न करनेवाले अत एव क्षतव्रत आपका वह व्रत बिलकुल ही नष्ट हो गया है ॥ १५० ॥

टिप्पणी—महेन्द्रहेतेः = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), तस्य हेतिः, तस्याः (ष० त०) । भयात् = "रक्षणम्" के योगमें दोनों शब्दोंसे "भीत्राऽर्थानां भयहेतुः" इससे अपादानसंज्ञा होनेसे पञ्चमी । अर्थिसाधारणम् = अर्थिषु साधारणम् (स० त०) । प्रसूनबाणात् = प्रसूनानि बाणा यस्य सः, तस्मात् (बहु०) । अरक्षतः = न रक्षन्, तस्य (नञ्०) । अवकीर्णिनः = "अवकीर्णी क्षतव्रतः" इत्यमरः ॥ १५० ॥

तवाऽस्मि, मां घातुकमप्युपेक्षसे मृषाऽमरं हाऽमरगौरवात्स्मरम् ।
अवेहि चण्डालमनङ्गमङ्ग ! तं स्वकाण्डकारस्य मधोः सखा हि सः ॥१५१॥

अन्वय—(हे नाथ !) तव अस्मि । मां घातुकम् अपि मृषाऽमरं स्मरम् अमरगौरवात् उपेक्षसे । हा ! अङ्ग ! तम् अनङ्गं चण्डालम् अवेहि, हि स स्व-काण्डकारस्य मधोः सखा ॥ १५१ ॥

व्याख्या—(हे नाथ !) तव = भवतः, अस्मि = भवामि, अहमिति शेषः । अहं त्वच्छरणागताऽस्मीति भावः । एवं सति मां = स्त्रियं, घातुकं = हन्तारम्, अपि, मृषाऽमरं = मिथ्यादेवं, स्मरं = कामम्, अमरगौरवात् = "अयम् अमर" इति मत्वा महत्त्वात्, उपेक्षसे = उपेक्षां करोषि, हा = तव शोच्यत इति भावः । अङ्ग = हे महोदय ! तं = तादृशं, स्त्रीहन्तारमिति भावः । अनङ्गं, = कामं, चण्डालं = मातङ्गम्, अवेहि = जानीहि । तत्र हेतुमाह—स्वकाण्डकारस्येति । हि = यस्मात्कारणात्, सः = अनङ्गः, स्वकाण्डकारस्य = निजबाणकारस्य, मधोः = वसन्तस्य, सखा = मित्रं, वसन्ते पुष्पबाहुल्यात् स कामकाण्डकारः । अतः काण्डकारस्य चण्डालस्य सहचरत्वादनङ्गोऽपि, चण्डाल एव न त्वमर इति भावः ॥ १५१ ॥

अनुवादः—(हे नाथ !) मैं आपकी हूँ । मेरा हत्यारा होकर भी मिथ्या देव बने हुए कामदेवको देवता होनेके गौरवसे आप उपेक्षा कर रहे हैं । हाय

महोदय ! उस कामदेवको आप चण्डाल जानिये, क्योंकि वह अपने बाणोंको बनानेवाले वसन्तका मित्र है ॥ १५१ ॥

टिप्पणी—मां = "घातुकम्" इस कृदन्तपदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृति" इससे प्राप्त षष्ठीका "न लोकाऽव्यय०" इत्यादि सूत्रसे निषेध होनेसे द्वितीया। घातुकम् = हन् + उकञ् + अम् । अमरगौरवात् = अमरस्य गौरवं, तस्मात् (ष० त०)। उपेक्षसे = उप + ईक्ष + लट् + थास् । चण्डालम् = "चण्डालप्लवमातङ्गदिवाकीर्तिजनङ्गमाः ।" इत्यमरः । अवेहि = अव + इण् + लोट् + सिप् । स्वकाण्डकारस्य = काण्डं करोतीति काण्डकारः, काण्ड + कृ + अण् (उपपद०)। "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय । स्वस्य काण्डकारः, तस्य (ष० त०)। "काण्डोऽस्त्री दण्डबाणाऽर्ववर्गाऽवसरवारिषु ।" इत्यमरः। बाणोंको बनानेवाला चण्डालविशेष हैं, वैसा वसन्तऋतु कामदेवका मित्र है, अतः चण्डालका संसर्गी होनेसे कामदेव भी चण्डाल है यह भाव है ॥ १५१ ॥

लघौ लघावेव पुरः परे बुधैर्विधेयमुत्तेजनमात्मतेजसः ।
तृणे तृणेढि ज्वलनः खलु ज्वलन्क्रमात्करीषद्रुमकाण्डमण्डलम् ॥ १५२ ॥

अन्वयः—बुधैः पुरः लघौ लघौ एव परे आत्मतेजसः उत्तेजनं विधेयम्। तथा हि—ज्वलनः तृणे ज्वलन् क्रमात् करीषद्रुमकाण्डमण्डलं तृणेढि खलु ॥ १५२ ॥

व्याख्या—बुधैः = विद्वद्भिः, पुरः = पूर्वं, लघौ लघौ एव = अल्पप्रकार एव, परे = शत्रौ, आत्मतेजसः = स्वप्रतापस्य, उत्तेजनम् = उद्दीपनं, विधेयं = कर्तव्यम् । तथा हि—ज्वलनः = अग्निः, तृणे = निःसारे धान्यकाण्डे, ज्वलन् = दीप्यमानः, क्रमात् = परिपाटयाः, करीषद्रुमकाण्डमण्डलं = शुष्कगोमयवृक्षस्कन्धसमूहं, तृणेढि = हिनस्ति, दहतीति भावः । खलु = निश्चयेन ॥ १५२ ॥

अनुवादः—विद्वान् पुरुषोंको पहले छोटे-छोटे शत्रुमें अपने प्रतापका उद्दीपन करना चाहिए। जैसे कि अग्नि पहले तृणमें जलता हुआ क्रमसे सूखा उपला और वृक्षस्कन्धोंके समूहको जलाता है ॥ १५२ ॥

टिप्पणी—लघौ लघौ एव = "प्रकारे गुणवचनस्य" - इस सूत्रसे द्विरुक्ति। परे = "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" इससे वैकल्पिक होनेसे सर्वनामसंज्ञाका अभाव। ज्वलनः = ज्वलतीति, ज्वल + ल्यु (अन) + सु । करीषद्रुमकाण्डमण्डलं=द्रुमाणां काण्डाः (ष० त०)। करीषाश्च द्रुमकाण्डाश्च (द्वन्द्व०)। "गोविड् गोमयमस्त्रियाम् । तत्तु शुष्कं करीषोऽस्त्री" इत्यमरः । करीषद्रुमकाण्डानां मण्डलम्

(ष० त०), तृणेढि = "तृह (हिंसि) हिंसायाम्" धातुसे लट् । "रुधादिभ्यः श्नम्" इससे श्नम् । "तृणह इम्" इससे इम् आगम । इस पद्यमें विशेषसे सामान्यका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १५२ ॥

सुराऽपराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्प्रता मयि ।

गिराऽपि वक्ष्यन्ति मखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥ १५३ ॥

अन्वयः—(हे नाथ !) तव स्वयंवरायां मयि अनुकम्प्रता, अयं कियान् सुराऽपराधः, वा मखेषु तर्पणात् देवाः ते मुखलज्जया एव इदं गिरा अपि न वक्ष्यन्ति ॥ १५३ ॥

व्याख्या—(हे नाथ !) तव = भवतः, स्वयंवरायां = पतिवरायां, मयि = त्वत्प्रियायाम् अनुकम्प्रता = अनुकम्पित्वम्, अयम् = अनुकम्पाऽतिशयः, कियान् = किंपरिमाणः, सुराऽपराधः = इन्द्राऽऽदिदेवाऽपराधः, सुरप्रेषितस्याऽपि तव मया वृतत्वात्ते कोऽपराध इति भावः । वा = अथ वा, वादितोषन्यायेन अपराधकर्तृत्वेऽपि इति भावः । मखेषु = यज्ञेषु, तर्पणात् = प्रीणनात्, देवाः = इन्द्रादयः, ते = तव, मुखलज्जया एव = सम्मुखत्रपया एव, साम्मुख्ये दाक्षिण्येन एवेति भावः । इदम् = अपराधकर्तृत्वं, गिरा अपि = वचनेन अपि, न वक्ष्यन्ति = न कथयिष्यन्ति, अपि शब्दान्मनसाऽपि न स्मरिष्यन्तीति भावः ॥ १५३ ॥

अनुवादः—(हे नाथ !) स्वयम् वरण करनेवाली मुझमें आपकी दयालुता, यह देवताओंके विषयमें कितना अपराध है ? अथ वा अपराध माननेपर भी यज्ञोंमें देवताओंको सन्तुष्ट करनेसे वे देवता (इन्द्र आदि) आपके सम्मुख दाक्षिण्यसे ही आपके अपराधको वचनसे भी नहीं कहेंगे ॥ १५३ ॥

टिप्पणी—स्वयंवरायाम् = स्वयमेव वृणोतीति स्वयंवरा, तस्याम्, स्वयं + वृञ् + अच् + टाप् + ङि । अनुकम्प्रता = अनुम्पनशीलः अनुकम्प्रः, "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इस सूत्रसे ताच्छील्यमें रप्रत्यय । अनु + कपि + र + सु । अनुकम्प्रस्य भावः, अनुकम्प्र + तल् + टाप् + सु । सुराऽपराधः = सुरेषु अपराधः (स० त०)। मुखलज्जया = मुखे (साम्मुख्ये) लज्जा, तया (स० त०)। वक्ष्यन्ति = वच् + लृट + झि । "अपि" शब्दके पाठसे इन्द्र आदि देवता आपके अपराधका मनसे भी स्मरण नहीं करेंगे, यह भाव है ॥१५३॥

व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं, प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे ।

न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मवनस्त्वमेव वा ॥ १५४ ॥

अन्वयः—(हे नाथ !) वा ते अपि ते स्वयंवरं व्रजन्तु, वरम् । मया तान् एव प्रसाद्य वरिष्यसे । सर्वथा तान् अपि दया न स्पृशेत् (इति) न । ते अपि तावत् मदनः, त्वम् एव वा न ॥ १५४ ॥

व्याख्या – (हे नाथ !) वा = अथ वा, ते = इन्द्रादयो देवाः, अपि, ते = तव, स्वयंवरं = स्वयंवरस्थानं, व्रजन्तु = गच्छन्तु । वरं = साधु यतः, मया = त्वदनुरागिण्या, तान् एव = इन्द्रादीन् देवान् एव, प्रसाद्य = प्रसन्नान् कृत्वा, वरिष्यसे = स्वीकरिष्यसे, न ते दुराधर्षा इत्याह सर्वथा = सर्वैः प्रकारैः, तान् अपि = देवान् अपि, दया = करुणा, न स्पृशेत् (इति) न = न आमृशेत् (इति) न, किन्तु स्पृशेदेवेत्यर्थः । ते अपि = इन्द्रादयः अपि, तावत् = तस्मिन्काले, मदनः = कामदेवः, त्वं वा = भवान् वा, न = इन्द्रादयो देवा मदन सदृशा भवत्सदृशा वा निर्दया नो भवेयुरिति भावः ॥ १५४ ॥

अनुवादः—(हे नाथ !) अथ वा इन्द्र आदि वे देव भी आपके स्वयं वरण के उत्सवमें जावें । अच्छा है । मैं उन देवताओंको प्रसन्न कर आपका वरण करूँगी । सर्वथा उन देवताओंको दया स्पर्श नहीं करेगी, यह बात नहीं है । (स्पर्श ही करेगी) । वे देव भी उस समय आपके वा कामदेवके समान निर्दय नहीं होंगे ॥ १५४ ॥

टिप्पणी—प्रसाद्य = प्र + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । वरिष्यसे = वृञ् + लृट (कर्ममें) + थास् । स्पृशेत् = स्पृश + लिङ् (विधिमें) + तिप् ॥ १५४ ॥

इतीयमालेख्यगतेऽपि वीक्षिते त्वयि स्मरव्रीडसमस्ययाऽनया ।
पदे पदे मौनमयाऽन्तरीपिणी प्रवर्तिता सारघसारसारणी ॥ १५५ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) आलेख्यगते अपि त्वयि वीक्षिते (सति) स्मरव्रीडसमस्यया अनया पदे पदे मौनमयाऽन्तरीपिणी सारघसारसारणी प्रवर्तिता ॥ १५५ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) आलेख्यगते अपि = चित्रगते अपि, त्वयि = भवति, वीक्षिते = अवलोकिते सति, स्मरव्रीडसमस्यया = कामलज्जासंक्षेपरूपया, कामयुक्तया लज्जावत्या चेति भावः । अनया = दमयन्त्या, पदे पदे = वचने वचने स्थाने स्थाने वा, मौनमयाऽन्तरीपिणि = मौनरूपद्वीपयुक्ता, सारघसारसारणी = मधुसारस्वल्पनदी, प्रवर्तिता = प्रवाहिता । चित्रगतस्य तवाऽग्रे एवं मधुवर्षिणी वागुक्तेति भावः ॥ १५५ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) चित्रस्थित आपको देखनेपर कामदेव और लज्जाके संक्षेप रूपवाली अर्थात् कामयुक्ता और लज्जावती दमयन्तीने वचन-वचनमें अथवा जगह्-जगह्पर मौनमय द्वीपवाली मधु (शहद) के साररूप छोटीसी नदीको प्रवाहित किया ॥ १५५ ॥

टिप्पणी—आलेख्यगते = आलेख्यं गतः, तस्मिन् (द्वि० त०)। स्मरव्रीड-समस्यया=व्रीडनं व्रीडः, व्रीड + घञ् (भावमें) + सु। स्मरश्च व्रीडश्च स्मरव्रीडौ (द्वन्द्वः), तयोः समस्या यस्यां सा, तया (व्यधि० बहु)। पदे पदे = वीप्सामें द्विरुक्ति, "पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायप्रदेशयोः।" इति मेदिनी। मौन-मयाऽन्तरीपिणी=अन्तर्गता आपो यस्मिंस्तत् अन्तरीपम् (बहु०), "ऋक्पू-रब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय, "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इससे आकारका ईत्व। "द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्।" इत्यमरः। मौनम् एव मौनमयम्, मौन + मयट् (स्वरूप अर्थमें)। मौनमयं च तत् अन्त-रीपम् (क० धा०)। तत् अस्ति यस्याः सा। मौनमयाऽन्तरीप + इनि + ङीप् + सु। सारघसारसारिणी = सारघाभिः कृतं सारघं। सारघा + अण् + सु। "संज्ञायाम्" इससे अण् प्रत्यय। "सारघा मधुमक्षिका" इत्यमरः। सार-घस्य सारः (ष० त०)। सारयति = पातयति तीरम् इति सारणी। सृ + णिच् + ल्युट् (अन) + ङीप्। "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्रमें बहुल ग्रहण करनेके सामर्थ्यसे कर्त्तामें ल्युट्। "रुग्भेदे ना, प्रसारण्यां स्वल्पनद्यां च सारणी।" इति मेदिनि। सारघसारस्य सारणी (ष० त०)। प्रवर्तिता=प्र + वृत् + णिच् + क्त + टाप् + सु। हे महोदय ! आपके चित्रके सामने दमयन्तीने मदन-के आवेश और लज्जासे युक्त होकर पद-पदमें वा जगह्-जगह्पर रुककर मधुकी वृष्टि करनेवाला वचन कहा, यह भाव है। इस पद्यमें आरोपविषय वाणीका निगरण कर विषयिणी सारघसारिणीकी अभेद प्रतिपत्तिसे भेदमें अभेद होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ १५५ ॥

चण्डालस्ते विषमविशिखः स्पृश्यते दृश्यते न
ख्यातोऽनङ्गस्त्वयि निजभिया किन्नु कृत्ताऽङ्गुलीकः।
कृत्वा मित्रं मधुमधिवनस्थानमन्तश्चरित्वा
सख्याः प्राणान् हरति हरितस्त्वद्यशस्तज्जुषन्ताम् ॥ १५६ ॥

अन्वयः—(हे महोदय !) विषमविशिखः ते चण्डालः न दृश्यते न स्पृश्यते (च), निजभिया त्वयि कृत्ताऽङ्गुलीकः, (अत एव) अनङ्गः ख्यातः किं नु ?

मधु मित्रं कृत्वा अन्तः अधिवनस्थानं चरित्वा सख्याः प्राणान् हरति, त्वद्यशः हरितो जुषन्ताम् ॥ १५६ ॥

व्याख्या—(हे महोदय !) विषमविशिखः=पञ्चशरः, काम इत्यर्थः, ते= तव, चण्डालः = अन्त्यजविशेषः, मादृङ्मारणाऽर्थमेव त्वया भृतः कोपि चण्डाल इति भावः। अत एव न दृश्यते = न अवलोक्यते, न स्पृश्यते = न आमृश्यते च। एकत्र अनङ्गत्वादन्य शास्त्रनिषेधाच्चेति भावः। किं च, निजभिया = स्वाऽपराध-दण्डभयेन, त्वयि = भवति विषये, त्वामुद्दिश्येति भावः। कृत्ताऽङ्गुलीकः = छिन्नाऽङ्गुलीकः, अपराधेऽपि त्राणाऽर्थमिति शेषः। अत एव अनङ्गः = अनङ्ग इति, अङ्गुलिविहीनत्वादितिभावः। ख्यातः किं नु = प्रसिद्धः किं नु ?, अतः किमिति आह—कृत्वेति। मधु = वसन्तं, मित्रं = सखायं, कृत्वा = विधाय, अन्तः = अन्तःकरणम् एव, अधिवनस्थानम् = अरण्यदेशं, चरित्वा = भ्रान्त्वा, सख्याः = मद्वयस्यायाः दमयन्त्याः, प्राणान् = असून्, हरति = नाशयति। त्वद्यशः = भवद्दुष्कीर्तिमिति भावः। हरितः = दिशः, जुषन्ताम् = सेवन्ताम्। त्वद्दुर्यशो दिगन्तविश्रान्तमस्त्विति भावः ॥ १५६ ॥

अनुवादः—(हे महोदय !) विषम बाणोंवाला कामदेव आपका चण्डाल (अन्त्यजविशेष) है, जो कि न देखा जाता है और न छूआ ही जाता है, अपने अपराधके कारण दण्डके भयसे उसकी अगुली काटी गई है इसीलिए वह "अनङ्ग" इस नामसे प्रसिद्ध हुआ है क्या ? वह वसन्तऋतुको मित्र बनाकर अन्तःकरणरूप वनप्रदेशमें भ्रमण कर हमारी सखी (दमयन्ती) के प्राणोंको हर लेता है और आपकी दुष्कीर्तिको दिशाएँ सेवन करें ॥ १५६ ॥

टिप्पणी—विषमविशिखः = विषमा विशिखाः (बाणाः) यस्य सः (बहु०)। चण्डालः = "वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाऽऽज्ञया" इस शास्त्रवचनके अनुसार वधाऽर्ह जनको राजाकी आज्ञासे मारना यह चण्डालका कर्म विहित है। निजभिया = निजा चाऽसौ भीः, तया (क० धा०)। कृत्ताऽङ्गुलीकः = कृत्ता (छिन्ना) अङ्गुली यस्य सः (बहु०), "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे समासान्त कप्। अपराधमें भी रक्षा के लिए उसकी अंगुली काटी गई है यह भाव है। अनङ्गः = अविद्यमानम् अङ्गं यस्य सः (नञ् बहु०)। उँगली-रूप एक अङ्ग न होनेसे वह "अनङ्ग" कहा जाता है क्या ? यह भाव है। अधि-वनस्थानम् = वनं च तत् स्थानम् (क० धा०), वनस्थान इति, (विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव)। त्वद्यशः = तव यशः, तत् (ष० त०)। जुषन्ताम् =

जुषी + लोट् + झ। इस पद्यमें अन्तःकरणमें अधिवनस्थानका आरोप करनेसे रूपक और कामदेवमें चण्डालकी उत्प्रेक्षा करनेसे तथा व्यञ्जक पदके अप्रयोगसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है। मन्दाक्रान्ता छन्द है॥ १५६॥

अथ भीमभुवैव रहोऽभिहितां नतमौलिरपत्रपया स निजाम्।

अमरैः सह राजसमाजगतिं जगतीपतिरभ्युपगम्य ययौ॥ १५७॥

अन्वयः—अथ जगतीपतिः भीमभुवा एव रहः अभिहितां निजाम् अमरैः सह राजसमाजगतिम् अपत्रपया नतमौलिः (सन्) अभ्युपगम्य ययौ॥ १५७॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, दमयन्तीसखीवाक्यश्रवणाऽनन्तरं, जगतीपतिः = भूपतिः, नलः। भीमभुवा एव = भैम्या एव, रहः = रहसि, एकान्ते, अभिहिताम् = उक्तां, निजां=स्वीयाम्, अमरैः सह = इन्द्रादिदेवैः समं, राजसमाजगतिं= राजसभाप्राप्तिम्, अपत्रपया = स्ववरणलज्जया, नतमौलिः = नम्रमस्तकः सन्, अभ्युपगम्य = अङ्गीकृत्य, ययौ=जगाम॥ १५७॥

अनुवादः—तब (दमयन्तीकी सखीका वाक्य सुननेके अनन्तर) राजा नल दमयन्तीसे ही एकान्तमें कहे गये इन्द्र आदि देवताओंके साथ अपने स्वयंवर-स्थानमें गमनको अपने वरणकी लज्जा से शिर झुकाकर स्वीकार कर चले गये॥ १५७॥

टिप्पणी—जगतीपतिः = जगत्याः पतिः (ष० त०)। राजसमाजगतिं = राज्ञां समाजः (ष० त०), तस्मिन् गतिः, ताम् (स० त०)। अपत्रपया = "लज्जा साऽपत्रपाऽन्यतः" इत्यमरः। नतमौलिः = नतो मौलिर्यस्य सः (बहु०)। अभ्युपगम्य = अभि + उप + क्त्वा + (ल्यप्)। तोटक छन्द है, उसका लक्षण है—"इह तोटकमम्बुधिसैः प्रमितम्"॥ १५७॥

श्वस्तस्याः प्रियमाप्तुमुद्धुरधियो धाराः सृजन्त्या रया-

न्नम्रोन्नम्रकपोलपालिपुलकैर्वेतस्वतीरश्रुणः।

चत्वारः प्रहराः स्मराऽर्तिभिरभूत् सा यत् क्षपा दुःक्षपा

तत्तस्यां कृपयाऽखिलेव विधिना रात्रिस्त्रियामा कृता॥ १५८॥

अन्वयः—श्वः प्रियम् आप्तुम् उद्धुरधियः रयात् नम्रोन्नम्रकपोलपालिपुलकैः वेतस्वतीः अश्रुणो धाराः सृजन्त्याः तस्या यत् चत्वारः प्रहराः अपि सा क्षपा स्मरार्तिभिः दुःक्षपा अभूत् तत्, अस्यां कृपया एव विधिना अखिला एव रात्रिः त्रियामा कृता॥ १५८॥

व्याख्या— श्वः = परेऽहनि, प्रियं = वल्लभं, नलम् । आप्तुं = प्राप्तुम्, उद्धुरधियः = तत्परबुद्धेः, अत एव रयात् = वेगात्, नम्रोन्नम्रकपोलपालिपुलकैः = दन्तुरगण्डफलकरोमाञ्चैः, वेतस्वतीः = वेतसलतावतीः अश्रुणः = नयनजलस्य, धाराः = प्रवाहान्, आनन्दबाष्पप्रवाहानिति भावः । सृजन्त्याः = जनयन्त्याः, तस्याः = दमयन्त्याः, यत् = यस्मात्कारणात्, चत्वारः प्रहरा अपि = चतुर्याममात्राऽपीति भावः । सा = तादृशी, क्षपा = रात्रिः, स्मरार्ऽतिभिः = कामपीडाभिः, दुःक्षपा = दुरतिवाहा, अभूत् = जाता । तत् = तस्मात्कारणात्, अस्यां = दमयन्त्यां, कृपया = दयया एव, विधिना = वेधसा, अखिला एव = सर्वा अपि, रात्रिः = रजनी, त्रियामा = यामत्रययुक्ता, कृता = विहिता । रात्रेराद्यन्तयोरर्धयामयोर्दिनव्यवहारात्त्रियामा इति भावः ॥ १५८ ॥

अनुवादः— कल (आगामी दिन) प्रिय नलको पानेके लिए उत्सुक बुद्धिवाली और वेगसे कपोलमें ऊँच-नीच अनेक रोमाञ्चोंसे वेतकी लतासे युक्त आँसुओंके प्रवाहोंको प्रकट करनेवाली दमयन्तीके जो चार प्रहरोंवाली रात भी कामजन्य पीडाओंसे दुःखसे बिताई जानेवाली हो गई इस कारणसे उन (दमयन्ती) में कृपासे ही ब्रह्माजीने समूची रातको त्रियामा (तीन प्रहरोंसे युक्त) बनाया ॥ १५८ ॥

टिप्पणी— उद्धुरधियः = उन्नता धूः उद्धरा (गति०), उद्धुरा धीर्यस्याः सा, तस्याः (बहु०) । नम्रोन्नम्रकपोलपालिपुलकैः = नम्राश्च उन्नम्राश्च (द्वन्द्वः), कपोलयोः पाली (ष० त०), कपोलपाल्योः पुलकाः (स० त०), नम्रोन्नम्राश्च ते कपोलपालिपुलकाः, तैः (क० धा०) । "पालिस्त्र्यश्र्यङ्कपङ्क्तिषु" इत्यमरः । वेतस्वतीः = वेतसाः सन्ति यासु ता वेतस्वत्यः, ताः, वेतस शब्दसे "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्" इस सूत्रसे ड्मतुप् और टिका लोप और "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इससे 'म' के स्थानमें 'व' आदेश, ङीप् + शस् । सृजन्त्याः = सृज + लट् (शतृ) + ङीप् + ङस् । स्मरार्ऽतिभिः = स्मरस्य अर्तयः, ताभिः (ष० त०) । "अतिः पीडाधनुष्कोट्योः" इत्यमरः । दुःक्षपाः = दुःखेन क्षपयितुं शक्या, दुस्—उपसर्गपूर्वक "क्षप प्रेरणे" धातुसे "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्राऽर्थेषु खल्" इस सूत्रसे खल् + टाप् + सु । त्रियामा = त्रयो यामा यस्याः सा (बहु०), "द्वौ यामप्रहरौ समौ" इति "त्रियामा क्षपा" इति चाऽमरः । रातके आदि और अन्तके

आधे-आधे याम (प्रहर) में दिनका व्यवहार होनेसे एक यामकी कमीसे रात "त्रियामा" नामसे प्रसिद्ध हुई, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें व्यञ्जक पदका अभाव होनेसे प्रनीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार और निरुक्त नामका लक्षण है ॥१५८॥

तदखिलमिह भूतं भूतगत्या जगत्याः
पतिरभिलपति स्म स्वाऽऽत्मदूतत्वतत्त्वम् ।
त्रिभुवनजनयावद्वृत्तवृत्तान्तसाक्षा-
त्कृतिकृतिषु निरस्ताऽऽनन्दमिन्द्राऽऽदिषु द्राक् ॥१५९॥

अन्वयः—जगत्याः पतिः इह भूतं तत् अखिलं स्वाऽऽत्मदूतत्वतत्त्वं त्रिभुवन-जनयावद्वृत्तवृत्तान्तसाक्षात्कृतिकृतिषु इन्द्राऽऽदिषु द्राक् निरस्ताऽऽनन्दं भूतगत्या अभिलपति स्म ॥ १५९ ॥

व्याख्या—जगत्याः = पृथिव्याः, पतिः = स्वामी, नल इत्यर्थः । इह = अस्यां, भैम्यां विषये, भूतं = जातं, तत् = पूर्वोक्तम्, अखिलं = समस्तं, स्वाऽऽत्म-दूतत्वतत्त्वं = स्वबुद्धिकृतदौत्यस्वरूपं, त्रिभुवनजनयावद्वृत्तवृत्तान्तसाक्षात्कृति-कृतिषु = लोकत्रयलोकयावन्निष्पन्नोदन्तसाक्षात्करणकुशलेषु, इन्द्रादिषु = इन्द्र-प्रभृतिषु दिक्पालेषु, द्राक् = शीघ्रं, निरस्तानन्दं = विगतहर्षं यथा तथा, भूत-गत्या = यथार्थज्ञानेन अभिलपति स्म = कथितवान् ॥ १५९ ॥

अनुवादः—राजा नलने दमयन्तीके विषयमें जो कुछ हुआ, उन सब अपनी बुद्धिसे किये गये दूतभावके स्वरूपकी तीनों लोकोंके प्राणियोंमें बीते हुए समस्त वृत्तान्तोंके साक्षात्कार करनेमें कुशल इन्द्र आदि दिक्पालोंमें शीघ्र हर्षसे रहित होकर यथार्थ ज्ञानसे बतलाया ॥ १५९ ॥

टिप्पणी—जगत्याः = "भूतधात्री रत्नगर्भा जगती सागराम्बरा ।" इत्य-मरः । स्वात्मदूतत्वतत्त्वं = स्वस्य (आत्मनः), आत्मा = बुद्धिः, (ष० त०), "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।" इत्यमरः । स्वाऽऽत्मकृतं दूतत्वम् (मध्यम० समासः) । स्वात्मदूतस्य तत्त्वं, तत् (ष० त०) । त्रिभु-वनजनयावद्वृत्तवृत्तान्तसाक्षात्कृतिकृतिषु = त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभु-वनम्, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे समास, उसका "संख्यापूर्वो द्विगुः" इस सूत्रसे द्विगुसंज्ञा । पात्रादिगणमें पढ़नेसे स्त्रीत्व नहीं हुआ । तस्मिन् जनाः (स० त०) । यावन्तो वृत्ता यावद्वृत्तं, "यावदवधारणे" इससे अव्ययी-भाव । यावद्वृत्तं च ते वृत्तान्ताः (क० धा०) । त्रिभुवनजनानां यावद्वृत्त-

वृत्तान्ताः (ष० त०), तेषां साक्षात्कृतिः (ष० त०) तस्यां कृतिनः, तेषु (स० त०)। "वैज्ञानिकः कृतमुखः कृतिः कुशल इत्यपि ।" इत्यमरः। निरस्ताऽऽनन्दं = निरस्त आनन्दो यस्मिन् कर्मणि (बहु०), तद्यथा तथा। देवताओंके अभिलाषमें साफल्य न होनेमें हर्ष रहित यह तात्पर्य है। भूतगत्या = भूतस्य गतिस्तया (ष० त०)। "युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु।" इत्यमरः। "गतिः स्त्री मार्गदशयोर्ज्ञाने यात्राऽभ्युपाययोः।" इति मेदिनी। अभिलपति स्म = अभि + लप + लट् + तिप्। "स्म" के योगसे भूतकालमें लट्। मालिनी छन्द है—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।" ॥१५९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
संदृब्धाऽर्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ १६०॥

इति श्रीनैषधीयचरितमहाकाव्ये नवमः सर्गः।

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरो मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। संदृब्धाऽर्णववर्णनस्य तस्य चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलो नवमः सर्गः व्यरंसीत् ॥ १६० ॥

व्याख्या—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः = पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः, श्रीहीरः = तन्नामको जनकः, मामल्लदेवी च = तन्नाम्नी जननी च, जितेन्द्रियचयं = वशीकृतहृषीकसमूहं, यं, श्रीहर्षं = तन्नामकं, सुतं = पुत्रं, सुषुवे = जनयामास। संदृब्धाऽर्णववर्णनस्य = ग्रथिताऽर्णववर्णननामकप्रबन्धस्य, तस्य = श्रीहर्षस्य, चारुणि = मनोहरे, नैषधीयचरिते = तदाख्ये, महाकाव्ये, निसर्गोज्ज्वलः = स्वभावनिर्मलः, नवमः = नवानां पूरणः, सर्गः = अध्यायः, व्यरंसीत् = विरतः, समाप्त इत्यर्थः ॥ १६० ॥

अनुवादः—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिस श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया। अर्णववर्णन नामके प्रबन्धके निर्माता उसके मनोहर नैषधीयचरित महाकाव्यमें स्वभावसे निर्मल नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६० ॥

टिप्पणी—बहुत-सा अंश पहले ही विवृत होनेसे संक्षेपमें टिप्पणी की जाती है। सन्दृब्धाऽर्णववर्णनस्य = अर्णवस्य वर्णनम् (ष० त०), सन्दृब्धम् अर्णव-

वर्णनं येन, तस्य (बहु०)। व्यरंसीत् = वि + रम् + लुङ् + तिप् । "व्याङ्-परिभ्यो रमः" इससे परस्मैपद । "यमरमनमातां सक् च" इस सूत्रसे सक् और इट् ॥ १६० ॥

इति श्रीनैषधीयचरितमहाकाव्ये चन्द्रकलाऽभिख्यायां व्याख्यायां नवमः सर्गः समाप्तः । श्रीश्रीधरः प्रीयताम्

॥ इति ॥

श्लोकानुक्रमणिका
(६ - ९ सर्ग)

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

९९

महाकविश्रीहर्षप्रणीतं

नैषधीयचरित-महाकाव्यम्

प्रसादाख्य-व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

दशमः सर्गः

व्याख्याकारः—

श्रीबदरीनारायणमिश्रः

व्याकरणाचार्य-काव्यतीर्थः

भूतपूर्वः प्रधानाचार्यः—पाटलिपुत्रमण्डलस्थ डालमिया-अनन्तभास्करसंस्कृत-
महाविद्यालयस्य, आरामण्डलस्थ हरगौरीसंस्कृतोच्चविद्यालयस्य,
गाजीपुरमण्डलस्थ श्रीनृसिंहसंस्कृतमहाविद्यालयस्य,
दिल्लीस्थ ऋषिकुलसंस्कृतमहाविद्यालयस्य च

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2335263

संस्करण : 2012

मूल्य : 50.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : 32996391

ई-मेल : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

दूरभाष : 23856391

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2420404

भूमिका

बृहत्त्रयी काव्यों में किरातार्जुनीय, शिशुपालवध एवं नैषधीयचरित माने जाते हैं। इनके निर्माता क्रमशः भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष हैं। इन काव्यों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष पाया जाता है। जैसी कि लोकोक्ति है—

'भारवेर्भारवेर्भाति यावमाघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥

इसके अनुसार नैषधीयचरित में लोकोत्तर चमत्कारजनक कल्पनासौष्ठव रस, भाव, ध्वनि एवं अलङ्कारों का सर्वत्र सन्निवेश है। प्रस्तुत सर्ग में दमयन्ती के स्वयम्बर का वर्णन किया गया है। इसमें तीनों लोक के शस्त्र एवं शास्त्रों के विद्वान् उपस्थित हैं जैसा कि कवि ने भगवान् विष्णु के मुख से कहलाया है—

"जगत्त्रयीपण्डितमण्डितैषा सभा न भूता न च भाविनी वा"।

उसके वर्णन के लिये स्वयं सरस्वती को भेजा है।

इस स्वयम्वर सभा में आये सभी राजकुमार काम के समान हैं। इसको कवि किस मनोहर ढंग से उत्प्रेक्षालङ्कार में वर्णन करते हैं—

"एकाकिभावेन पुरा पुरारियः पञ्चतां पञ्चशरं निनाय।
तद्भीसमाधानममुष्य कायनिकायलीलाः किममी युवानः" ॥

पुनः उन्हीं युवकों का भूतलरत्न के रूप में किस प्रकार दृष्टान्तालङ्कार में वर्णन करते हैं देखें—

"मुधार्पितं मूर्धसु रत्नमेतैर्यन्नाम तानि स्वयमेत एव।
स्वतः प्रकाशे परमार्थबोधे बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम्" ॥

सरस्वती का सर्वाङ्ग शास्त्रों के रूप में वर्णन किया गया है देखें—

"स्थितैवकण्ठे परिणम्य हारलता बभूवोदिततारवृना।
ज्योतिर्मयी यद्भुजनाय विद्या मध्येऽङ्गमङ्केन भृता विशङ्के" ॥

दमयन्ती को अप्सराओं से भी अधिक सुन्दरी कवि किस प्रकार बताते हैं—

"रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिर्भूशून्येव मा भूसुरभूमिपान्थैः।
इत्येतयाऽलोपिदिवोऽपि पुंसां वैमत्यमत्यप्सरसा रसायाम् ॥ इत्यादि।

रम्भा आदि के लोभ से स्वर्ग के पथिकों से कहीं धरा सूनी न हो जाय इसलिये दमयन्ती को रच कर ब्रह्मा ने देवलोकों को भी भूमि पर आकृष्ट कर दिया।

सङ्क्षिप्त कथासार:

दमयन्त्या लोकोत्तरं सौन्दर्य्यमाकर्ण्य सर्वेभ्यो दिगन्तरेभ्यो: शस्त्र-शास्त्र-विद्यानिष्णाता: कुलीना राजपुत्रा: समायाता:। अमरपरिवृढाश्चत्वारो लोकपाला: इन्द्र-वरुण-यमाग्नयो नलविषयमहार्य्यं दमयन्त्या अनुरागं स्वस्वदूतीभ्यो विदित्वा धृतनलाकारास्तत्र स्वयम्बरभूमौ समायाता:। नागलोकाद् वासुकि: स्वदलेन सह समायात:। सर्वेषामनन्तरं निषधधराधरेन्द्रो नल: समायातो यस्य लोकोत्तरं कामकाम्यं रूपमाकल्प्य सर्वे एव चकिता: समभवन्। तत: कविना समेषां राजपुत्राणां वर्णनं व्यधायि। राजा भीमो मानवमात्रेण विज्ञातनामगोत्रचरित्रा: कथमेते राजपुत्रा: सुतायै परिचाय्या इति विषण्णचेता स्वकुलदैवतं भगवन्तं नारायणं संस्मार। भक्तवत्सलेन तेन प्रेरिता साक्षात् सरस्वती तत्र प्रादुर्भूय कुमारीरूपिणी राजानमवदत्, अहमेषां राजपुत्राणां कुलशीलादि-सर्वं ज्ञीप्सितं वर्णयिष्यामीति। अनन्तरं सरस्वत्या सर्वाङ्गाणि सर्वशास्त्रमयत्वेन कविना वर्णितानि। तदनन्तरं परिचारिकाभि: सखीभिश्च सहिता दमयन्ती स्वयम्वरभुवमागता। तां विलोक्य सर्वैर्नृपैस्तस्या वर्णनं कृतम्।

हिन्दी कथासार

दमयन्ती के लोकोत्तर सौन्दर्य को सुनकर उसके स्वयम्वर में सभी देशों के शस्त्र एव शास्त्र विद्या के ज्ञाता कुलीन राजपुत्र आये। इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि ये चार दिक्पाल भी आये। अपनी-अपनी दूतियों द्वारा दमयन्ती का नल में अनुराग जानकर सभी ने नल का रूप धारण कर लिया था। पाताल लोक से वासुकी नामक नागराज भी अपनी सेना के साथ आये। अन्त में निषध देश के राजा नल भी वहाँ पर आये। उनके अनुपम सौन्दर्य को देखकर सभी चकित हो गये। अनन्तर राजा भीम को चिन्ता हुई कि इन अनेक दिशाओं से आये राजाओं के नाम, कुल एवं चरित्र का परिचय दमयन्ती को कौन करायेगा क्योंकि सभी का ज्ञाता कोई भी मानव नहीं है। उन्होंने अपने इष्टदेव भगवान् नारायण का स्मरण किया। भक्तवत्सल भगवान् की प्रेरणा से साक्षात् सरस्वती जी बाला-रूपधारिण कर उस सभा में प्रकट हुईं। राजा से उन्होंने कहा कि आप चिन्तित न हों। मैं इन सभी राजाओं के नाम, कुल एवं चरित्र का परिचय आपकी पुत्री को कराऊँगी। कवि के द्वारा सरस्वती के सर्वाङ्गों का सभी शास्त्र के रूप में वर्णन किया गया है। बाद में परिचारिका एवं सखियों के साथ दमयन्ती का स्वयम्बर-सभा में प्रवेश एवं सभी राजाओं द्वारा उसके रूप का वर्णन किया गया है।

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

दशमः सर्गः

कलिकलिलं कालयितुं व्याख्यातुं नलस्य सच्चरितम् ।
इन्दुकलाधरमीडे कल्पं कल्याणकामोऽहम् ॥
प्रतियाते निषधेशे दौत्यं कृत्वा वरामरेन्द्राणाम् ।
दमयन्त्याः वरवरणं स्वयंवरं वक्तुमारभते ॥

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः ।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ कुलजाः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः कुमाराः रथैः स्वयंवरभुवम् आयुः ।

व्याख्या—अथ = नलगमनानन्तरम्, शस्त्रेषु = शस्त्रविद्यासु, शास्त्रेषु = वेदवेदाङ्गादिषु, च = अपि, दृष्टपाराः = निष्णाताः, शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः = कामकृतकृतकशरीरसङ्घसमकान्तयः, श्रीजितयक्षराजाः = अतिकुबेरसम्पदः, कुमाराः = राजपुत्राः, रथैः = स्यन्दनैः, स्वयंवरभुवम् = स्वयंवरमण्डपम्, आयुः = आयान् ।

टिप्पणी—कुलजाः = कुलेषु जाताः कुलजाः "सप्तम्यां जनेर्डः" इति जन्-धातोर्डप्रत्ययः (उपपदसमासः)। दृष्टपाराः = दृष्टः पारः यैस्ते दृष्टपाराः (बहुव्रीहिः)। शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः = शम्बरस्य वैरी शम्बरवैरी (षष्ठी तत्पुरुषः), कायानां व्यूहः कायव्यूहः (ष० तत्पु०), शम्बरवैरिणः कायव्यूहस्य श्रीरिव श्रीर्येषान्ते शम्बरवैरि-कायव्यूहश्रियः (व्यधिकरणबहुव्रीहिः)। श्रीजितयक्षराजाः = श्रिया जितः यक्षराजो यैस्ते श्रीजितयक्षराजाः (बहु० समासः) यक्षाणां राजा यक्षराजः (षष्ठी तत्पुरुषः) "राजाहः सखिभ्यष्टच्" इति समासान्तः । स्वयं व्रियतेऽस्मिन्निति स्वयंवरः 'ऋदोरप्' इत्यधिकरणे

अप् प्रत्ययः स्वयंवरस्य भूः स्वयंवरभूः तां स्वयंवरभुवम् । आयुः=आङ् पूर्वकाद् याधातोर्लङ् 'लङः शाकटायनस्य' इति वैकल्पिकः झेर्जुसादेशः, 'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् । बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्ठान्नमितरे जनाः' इति वचनात् सकलवरगुणविशिष्टा इत्यर्थः ।

भावः—शम्बरारिकृतनैकरूपकाः यक्षराजजयिनैजसम्पदः ।
शस्त्र-शास्त्रकुशला नृपपुत्रास्तां स्वयंवरभुवं समवापुः ॥

अनुवादः—नल के चले जाने के बाद शस्त्र विद्या (धनुर्वेद) एवं वेद-वेदाङ्गादि विद्या के पारङ्गत कुलीन कामदेव के द्वारा शम्बरासुर के जीतने के लिये माया से रचे गये अनेक शरीर के समान कान्ति वाले एवं कुबेर से भी अधिक सम्पत्ति वाले राजकुमार रथों से दमयन्ती के स्वयंवरमण्डप में आये ॥ १ ॥

नाभूदभूमिः स्मरसायकानां नासीदगन्ता कुलजः कुमारः ।
नास्थादपन्था धरणेः कणोऽपि व्रजेषु राज्ञां युगपद् व्रजत्सु ॥ २ ॥

अन्वयः—कुलजः कुमारः स्मरसायकानाम् अभूमिः अगन्ता न अभूत् राज्ञां व्रजेषु युगपद् व्रजत्सु धरणेः कणः अपि अपन्था न अस्थात् ।

व्याख्या—कुलजः = कुलीनः, कुमारः = राजपुत्रः, स्मरसायकानाम् = कामबाणानाम्, अभूमिः=अविषयः, अगन्ता = अप्रयाता, न = नहि, अभूत् = आसीत्, राज्ञाम् = नृपाणाम्, व्रजेषु = समूहेषु, युगपद् = एककालम्, व्रजत्सु = गच्छत्सु, धरणेः = पृथिव्याः, कणः = लेशोऽपि, अपन्थाः = अमार्गः, न = नहि, अस्थात् = स्थितः ।

टिप्पणी—कुलजः = कुले जातः कुलजः 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्ययः (उपपद समासः) । राजपुत्रः = राज्ञः पुत्रः राजपुत्रः (ष० तत्पु०) । स्मर-सायकानाम् = स्मरस्य सायकाः स्मरसायकाः तेषां स्मरसायकानाम् (ष० तत्पु०) । अभूमिः = न भूमिः अभूमिः (नञ् तत्पु०) । अगन्ता (पूर्ववत्समासः) व्रजत्सु (व्रज + शतृ) । अपन्थाः—न पन्था अपन्था ('पथो विभाषा') इति वैकल्पिकः समासान्तोऽत्र न जातः । अस्थात्—स्थाधातोर्लुङ् 'गतिस्थेति सिचोर्लुक् ।

भावः—तदाऽखिलाः कामशरप्रविद्धाः कुलप्रसूताः क्षितिपालपुत्राः ।
संप्रस्थिता एकपदे समस्ता मार्गीकृता तेन समैव भूमिः ॥ २ ॥

अनुवादः—भूतल में कोई भी राजकुमार ऐसा न था जो कामदेव के बाण का लक्ष्य होकर उस स्वयंवर में आने के लिये प्रस्थान न कर दिया हो और भूतल का एक कण भी ऐसा न था जो कि मार्ग न बन गया हो अर्थात् सभी राजकुमारों ने स्वयंवर में जाने के लिये प्रस्थान कर दिया ॥ २ ॥

योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम् ।
द्रष्टुं परैस्ताननुरोद्धुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः ॥ ३ ॥

अन्वयः—योग्यैः नृपजां वरीतुं अनर्हैः वीरैः प्रसभेन हर्तुं परैः द्रष्टुम् अन्यैः तान् अनुरोद्धुं व्रजद्भिः ककुभः स्वमात्रशेषाः बभूवुः ।

व्याख्या—योग्यैः=वरार्हगुणसम्पन्नैः, नृपजाम्=दमयन्तीम्, वरीतुम्=विवोढुम्, अनर्हैः=रूपयौवनादिरहितैः, वीरैः=शूरैः, प्रसभेन=बलेन, हर्तुम्=ग्रहीतुम्, परैः=उदासीनैः, द्रष्टुम्=अवलोकयितुम्, अन्यैः=इतरैः, तान्=समागतान्, अनुरोद्धुम्=परिचरितुम्, व्रजद्भिः=गच्छद्भिः, ककुभः=दिशः, स्वमात्रशेषाः= स्वरूपमात्रावशिष्टाः, बभूवुः=भवन्ति स्म ।

टिप्पणी—योग्यैः=युजिर् योगे धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् प्रत्ययः 'चजोः' इत्यादिना कुत्वम् (युज + ण्यत्)। वरीतुम्=(वृ + तुमुन्) 'वृतो वा' इतीटो दीर्घत्वम्)। हर्तुम् (हृ + तुमुन्)। द्रष्टुम् (दृश् + तुमुन्)। सृजदृशोरित्यादिना अमागमः। अनर्हैः=न अर्हाः अनर्हास्तैः अनर्हैः 'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमः (नञ् तत्पु०)। अनुरोद्धुम् (अनु + रुध + तुमुन्)।

भावः—योग्या विवोढुं क्षितिपालपुत्रीं बलाधिकास्तांस्त्वबलेन हर्तुम् ।
द्रष्टुञ्च केचिद् ह्यनुरोद्धुमन्ये समागतास्तेन विरेचिता दिशः ॥

अनुवादः—रूपयौवनादिगुणसम्पन्न राजपुत्र दमयन्ती को वरण करने के लिये, वरोचितगुणरहितराजे उसको बल से हरण करने के लिये, उदासीन लोग उसको देखने के लिये, एवं अन्य लोग समागतों की सेवा करने के लिये, प्रस्थान कर दिये जिससे सारी दिशाएँ स्वमात्र शेष (खाली) हो गयी ॥ ३ ॥

लोकैरशेषैरवनिश्रियं तामुद्दिश्य दिश्यैर्विहिते प्रयाणे ।
स्ववर्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिमापुः ककुभां विभागाः ॥ ४ ॥

अन्वयः—अवनिश्रियं ताम् उद्दिश्य दिश्यैः अशेषैः लोकैः प्रयाणे विहिते ककुभां विभागाः स्ववर्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिम् आपुः ।

व्याख्या—अवनिश्रियम्=भूलोकलक्ष्मीम्, ताम्=दमयन्तीम्, उद्दिश्य=

अभिलक्ष्य, दिश्यैः = दिग्भवैः, अशेषैः = अखिलैः, लोकैः = जनैः, प्रयाणे = प्रस्थाने, विहिते = कृते, ककुभाम् = दिशाम्, विभागाः = प्रदेशाः, स्ववर्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिम् = स्वनिष्ठतत्तल्लोकाक्रमणपीडाविरतिम्, आपुः = प्राप्तवन्यः ।

टिप्पणी—अवनिश्रियम् = अवनेः श्रियम् (ष० तत्पु०) । उद्दिश्य = उत् + दिश् + क्त्वो ल्यप् । दिश्यैः = दिक्षु भवा, दिश्यास्तैः दिश्यैः 'दिगादिभ्यो· यत्' इति भवार्थे यत्प्रत्ययः, । लोकैः 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । प्रयाणे = प्र + या + ल्युट्) । विहिते = वि + धा + क्तः । स्ववर्त्तितत्तज्जनयन्त्रयार्ति· विश्रान्तिम् = स्वस्मिन् वर्त्तन्त इति स्ववर्त्तिनः "सुप्यजातावि"त्यादिना णिनिः (उप० समासः) ते च ते जनाः तत्तज्जनाः (कर्मधारयः) ततः स्ववर्तिनश्च ते तत्तज्जनाः स्ववर्त्तितत्तजनाः (कर्मधारयः) तेषां यन्त्रणया या आर्तिः तस्याः विश्रान्तिम् (क्रमेण ष० तत्पु०, तृतीया तत्पु०, पञ्च० तत्पु०) । तद्वल्लक्ष्या अत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भावः—अवनिश्रियमेवमीक्षितुं वरितुं वा समुपागतैर्जनैः ।
स्वजनाक्रमणार्तिनिर्गताः ककुभः प्रापुरभारजां मुदम् ॥

अनुवादः—इस प्रकार भूलोक की लक्ष्मी स्वरूपा उस दमयन्ती को लक्ष्य करके दिशाओं में रहने वाले सभी लोगों के प्रस्थान कर देने पर दिशाओं के सारे विभागों ने वहाँ के रहने वाले लोगों के दबाव से मुक्त होकर मानों राहत की श्वाँस ली ॥ ४ ॥

तलं यथेयुर्न तिला विकीर्णाः सैन्यैस्तथा राजपथा बभूवुः ।
भैमीं स लब्धामिव तत्र मेने यः प्राप भूभृद्भवितुं पुरस्तात् ॥ ५ ॥

अन्वयः—यथा विकीर्णाः तिलाः तलं न ईयुः सैन्यैः राजपथाः तथा बभूवुः, तत्र यः भूभृत् पुरस्तात् भवितुं प्राप स भैमीं लब्धाम् इव मेने ।

व्याख्या—यथा = येन प्रकारेण, विकीर्णाः = उपरिक्षिप्ताः, तिलाः = धान्यविशेषाः तलम् = भूतलम्, न = नहि, ईयुः = प्राप्नुयुः, सैन्यैः = सैनिकैः, राजपथाः = राजमार्गाः, तथा = तादृशाः, बभूवुः = भवन्ति स्म, तत्र = तस्मिन् समये, यः भूभृत् = यः राजा, पुरस्तात् = अग्रे, भवितुम् = भावम्, प्राप = प्राप्तवान्, सः = भूभृत्, भैमीम् = भीमपुत्रीम्, लब्धाम् = प्राप्ताम् इव = यथा, मेने = मन्यतेस्म ।

टिप्पणी—यथा येन प्रकारेणेति यथा 'प्रकारे वचने थाल्' यत्+थाल्। विकीर्णाः = वि + कृ + क्तः, 'रीङ् ऋतः' इति रीङादेशो णत्वत्, 'हलि चे'ति दीर्घः। सैन्यैः = सेनायां समवेता सैन्या = 'सेनायां वा' इति ण्यप्रत्ययः। राजपथाः = राज्ञां पन्थानः राजपथाः (ष० तत्पु०) 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति समासान्तः। तत्र 'सप्तम्यास्त्रल्' इति सप्तम्यर्थे त्रल् प्रत्ययः। लब्धाम् = लभ् + क्तः, यदि पूर्वंगतो भवेयम् तर्हि स्वयं भैमीं लप्स्य इति अहं पूर्विकया सर्वे समाजग्मुरित्यर्थः।

भावः—

उच्चकैः प्रेरिता नो तिला भुव्युपेयुः राजमार्गास्तथासन् ततः सर्वतो हि।
यो बभूवाग्रतो गन्तुमीशस्तु तत्र प्राप्तवन्तं स भैमीं निजं मन्यते स्म॥

अनुवादः—जिस प्रकार ऊपर फेंके गये तिल भूमिपर न गिर सके इस प्रकार राजमार्ग सेनाओं से भर गया उस समय जो राजा उस महती भीड़ से आगे निकल गया उसने समझा कि दमयन्ती हमको अवश्य मिल जायगी। पहले हम पहले हम इस प्रकार अहमहमिका से लोग चल रहे थे।

नृपः पुरःस्थैः प्रतिरुद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः कश्चन नुद्यमानः।
यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वाप्यसिद्धार्थममन्यते स्वम्॥ ६॥

अन्वयः—पुरःस्थैः प्रतिरुद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः नुद्यमानः कश्चन नृपः यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वा अपि स्वं असिद्धार्थम् मन्यते स्म।

व्याख्या—पुरस्थैः = अग्रेतनैः, प्रतिरुद्धवर्त्मा=अवरुद्धमार्गः, पश्चात्तनैः = पृष्ठभागस्थैः, नुद्यमानः = प्रेर्यमाणः, कश्चन=कोऽपि, नृपः = राजा, यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकम् = तैलनिपीडकयन्त्रमध्यस्थसर्षपरूपताम्, तद्वत् पीड्यमानोऽपि। लब्ध्वा = प्राप्याऽपि, स्वम् = आत्मानम्, असिद्धार्थम् = असर्षपम्, मन्यते स्म = जानाति स्म। यः सर्षपो जातः स स्वं सर्षपभिन्नं कथं जानाति स्मेत्यर्थे विरोधः वस्तुतस्तु दमयन्ती प्राप्तिरूपसिद्धिरहितमित्यर्थे समाधानं विरोधपरिहारः, अत्र संमर्दे यन्त्रस्थ सर्षपवद्विशीर्णस्य मे कुतोऽर्थसिद्धिरिति मन्यते स्मेत्यर्थः।

टिप्पणी—पुरस्थैः = पुरः तिष्ठन्तीति पुरस्थाः 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति तिष्ठतेः क प्रत्ययः। अवरुद्धवर्त्मा = अवरुद्धं वर्त्म यस्य सः अवरुद्धवर्त्मा (बहुव्रीहिः)। पश्चात्तनैः = पश्चादभवाः पश्चात्तनास्तैः पश्चात्तनैः 'सायं प्राह्ण' इत्यादिना ट्युल् प्रत्ययः तुडागमश्च। नुद्यमानः नुद धातोः कर्मणि लटः शानजादेशः।

यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकम् = यन्त्रे तिष्ठतीति यन्त्रस्थः 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति स्थाधातोः कः प्रत्ययः (उपपदसमासः) स चासौ सिद्धार्थश्चेति यन्त्रस्थसिद्धार्थः (कर्मधारयः) तस्य पदे अभिषेकम् (क्रमेण ष० तत्पु०, सप्तमी तत्पु०)। अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते' इति तल्लक्षणात् ।

भावः—निजपुरोगतभूपनिवारितः परगतैश्च निपीडितदेहकः ।
तिलनिपीडन-यन्त्रग-सर्षपोऽपि न विवेद सुसिद्धतदर्थकम् ॥

अनुवादः—आगे चलने वालों से रोके गये मार्गवाला एवं पीछे चलने वालों से ढकेला जाता हुआ कोई राजा कोल्हू में पड़े सरसों के सारूप्य को प्राप्त होकर भी अपने को सर्षप नहीं समझा । यहाँ पर सिद्धार्थक शब्द श्लिष्ट है जिसका सरसों और सिद्धकार्यवाला यह दो अर्थ होता है, दूसरे (स्वं सिद्धार्थं न मन्यते स्म) यहाँ सिद्धार्थ शब्द का सरसों अर्थ करने पर विरोधाभास होता है दूसरे अर्थ में समाधान होता है (उस विरोध का परिहार होता है), अतः यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार है । कोल्हू में पड़े सरसों के समान विक्षत शरीर वाले हमको दमयन्ती नहीं मिल सकती है ऐसा समझा यह तात्पर्य है ॥ ६ ॥

राज्ञां पथि स्त्यानतयानुपूर्वीविलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् ।
आह्वानसंज्ञानमिवाग्रकम्पैर्दधुर्विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः ॥ ७ ॥

अन्वयः—विदर्भेन्द्रपुरीपताका अग्रकम्पैः पथि स्त्यानतया आनुपूर्वीविलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् राज्ञाम् आह्वानसंज्ञानम् इव दधुः ।

व्याख्या—विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः = भीमनृपनगरीध्वजवस्त्राणि, अग्रकम्पैः = स्वाग्रचालनैः, पथि = मार्गे, स्त्यानतया = संहततया, आनुपूर्वीविलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् = क्रमिकसञ्चरणातिक्रमणसामर्थ्यविरहकृतविलम्बानाम्, राज्ञाम् = नृपाणाम्, आह्वानसंज्ञानम् = आकरणसङ्केतम्, इव = यथा, दधुः = चक्रुः ।

टिप्पणी—विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः = विदर्भाणामिन्द्रः तस्य पुर्य्याः तस्याः पताकाः (षष्ठी तत्पुरुषत्रयम्) । अग्रकम्पैः = अग्राणां कम्पैः (ष० तत्पु०) स्त्यानतया = स्त्यै धातोरात्वे कृते स्त्या इत्यस्मात् क्तप्रत्ययः तस्य 'संयोगादेरि'-त्यादिना नत्वे ततः भावे तल् प्रत्ययः । स्त्यानस्य भावः स्त्यानता तया स्त्यानतया । आनुपूर्वीविलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् = अनुपूर्वस्य भावः आनुपूर्वी 'गुणवचने'त्यादिना ष्यञ् प्रत्ययः 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीप् अलोप-

यलोपौ तस्याः विलङ्घनम् तस्मिन् अशक्तिः तया विलम्बभाजाम् (क्रमेण ष० तत्पु० सप्तमी तत्पु० तृतीया तत्पु०) विलम्बं भजन्तीति विलम्बभाजः भज-धातोः सोपपदात् "भजोण्विः" इति ण्विप्रत्यये उपधावृद्धिः । आह्वानसंज्ञानम् = आह्वानस्य संज्ञानम् (ष० तत्पु०) अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भावः––संरुद्धे पथि नितरां धरणिभृतां कृतविलम्बानाम् ।
निजकम्पनसङ्केतैराह्वानसंज्ञानमिवाकरोत् पुरपताका ॥

अनुवादः––कुण्डिननगरी की पताकाएँ अपने अग्रभाग के कम्पन से सेनाओं की लम्बी कतारों के अतिक्रमण में असमर्थ होने के कारण विलम्ब करने वाले राजाओं को शीघ्र आने के लिये मानो सङ्केत (इशारा) कर रही थीं ।

प्राग्भूय कर्कोटक आचकर्ष सकम्बलं नागबलं यदुच्चैः ।
भुवस्तले कुण्डिनगामि-राज्ञां यद्वासुकेश्वाश्वतरोऽन्वगच्छत् ॥ ८ ॥

अन्वयः––भुवस्तले कुण्डिनगामिराज्ञां सकम्बलं यत् नागबलं कर्कः अटकः प्राग्भूय आचकर्ष, अन्यत्र पक्षे—भुवस्तले कुण्डिनगामिनः वासुकेः यत् उच्चैः नागबलम् कर्कोटकः प्राग्भूय आचकर्ष तत् नागबलम् अश्वतरः अन्वगच्छत् ।

व्याख्या––भुवस्तले = भूपृष्ठे, कुण्डिनगामिनाम् = भीमभूपनगरयायिनाम् राज्ञाम् = भूपतीनाम्, सकम्बलम् = सोत्तरीयम्, उच्चैः = महत्, तन्नागबलम् = यद् गजसैन्यम्, अटकः = शीघ्रगामी, कर्कः = श्वेताश्वः, प्राग्भूय = पुरःसरो भूत्वा, आचकर्ष = आकृष्टवान्, तत् = नागबलम्, अश्वतरः = गर्दभादश्वाया-मुत्पन्नो वेसराख्यो वाहनविशेषः, अनुजगाम = अन्वसरत् । पक्षे—भुवः = पृथ्व्याः, तले = पाताले, कुण्डिनगामिनः वासुकेः = नागराजस्य यत् उच्चैः सकम्बलम् = कम्बलाख्यनागसहितम्, यत् = सर्पसैन्यम्, कर्कोटकः = तन्नामा सर्पः प्राग्भूय आचकर्ष, तत् = सर्पसैन्यम्, अश्वतरः = तन्नामा नागविशेषः अन्व-गच्छत् । कम्बल-कर्कोटाकाश्वतरादि नागयुक्तः वासुकिराजगामेत्यर्थः ।

टिप्पणी—कुण्डिनगामिराज्ञाम् = कुण्डिनं गच्छन्तीति कुण्डिनगामिनः "सुप्यजातावि"त्यादिना णिनिः ते च ते राजानः (कर्मधारयः) तेषां कुण्डिन-गामिराज्ञाम्, (श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानात् द्वितीयासमासः) । अटकः = अटतीत्यटकः अट्धातोः 'बहुलमन्यत्रापी'त्युणादिसूत्रेण क्वुन् प्रत्ययः युवोरित्यादिना अकादेशः । प्राग्भूय—च्व्यन्तस्य गतित्वात् गतिसमासे क्त्वो-ल्यप् । अश्वतरः—वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्चेति तन्वर्थे तरप् प्रत्ययः तनुरश्वोऽश्वतरः ।

सकम्बलम्--कम्बलेन = उत्तरीयेण नागेन च सहितम् । ('कम्बलो नागराजे स्यात् सास्ना प्रावारयोरि'त्युभयत्रापि विश्वः)। नागबलम् = नागानां गजानाम् सर्पाणाञ्च बलम् (ष० तत्पु०) 'ग्रहाग्राहिगजे नगाः' इत्युभयत्रापि वैजयन्ती। अश्वतरः वेसरः नागविशेषश्च 'अश्वतरोवेसरे च नागराजान्तरेऽपि च' इत्युभयत्रापि विश्वः। अत्रोभयो करिनागयो प्रकृतत्वात् केवलं प्रकृतिश्लेषः।

भावः--

प्रतियतां नृपभीमपुरं भुवि क्षितिभृतां पुरतः सितवाजिनः।
तदनु सोत्तरवस्त्रगजा ययुस्तदनु चाश्वतरा प्रययुः क्रमात् ॥

पक्षे—

पातालतः प्रतियतः किल भीमपुर्यां यद्वासुकेर्भुजगकम्बलनागसैन्यम्।
कर्कोटकः प्रतिचकर्ष ततः परस्तात् वीरः समक्रमत चाश्वतराख्य नागः॥

अनुवादः--भूतल पर कुण्डिनपुर को जाते हुये राजाओं के उत्तरीयवस्त्रयुक्त जिन गजों की सेना को अग्रेसर होकर श्वेत घोड़ों की सेना ने आकर्षण किया उसके पीछे खच्चरों की सेना प्रस्थान की। पक्ष में--पाताल से कुण्डिन पुर को जाते हुये वासुकि नामक नागराज की जिस कम्बल नाग युक्त सर्प सेना को पुरःसर होकर कर्कोटक नामक नाग ने आकर्षण किया उसका अनुसरण अश्वतर नामक नाग ने किया।

आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता मुखश्रीः।
विस्पष्टमाचष्ट दिशां जनेषु रूपं पतित्यागदशानुरूपम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैः रेणुभिः पाण्डुरिता दिशां मुखश्रीः पतित्यागदशानुरूपं रूपं जनेषु स्पष्टम् आचष्ट।

व्याख्या—आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैः = आव्रजदभूयसेनोदगतैः, रेणुभिः = रजोभिः, पाण्डुरिता = धवलिता, दिशाम् = आशानाम्, मुखश्रीः = आननशोभा पतित्यागदशानुरूपम् = प्रोषितभर्तृकासदृशम्, रूपम् = आकारम्, जनेषु = लोकेषु, स्पष्टम् = स्फुटम्, आचष्ट = आख्यत्।

टिप्पणी—आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैः = आगच्छन्तश्च ते उर्वीन्द्राः (कर्मधारयः) तेषां चम्वः (ष० तत्पु०) तेषां चमूसमुत्थैः (ष० तत्पु०) चमूभ्यः समुत्तिष्ठन्तीति चमूसमुत्थास्तै तथोक्तैः (ष० तत्पु०)। पाण्डुरिता = पाण्डुरा संजाता तारकादित्वादितच प्रत्ययः। पतित्यागदशानुरूपम्—पत्या त्यागः पति-

त्यागः (तृ० तत्पु०) रूपस्य योग्यमनुरूपम् (यथार्थोऽव्ययीभावः) पति-त्यागस्य दशाया अनुरूपम् (ष० तत्पुरुषद्वयम्) अत्र निदर्शनारूपकावलङ्कारौ।

भावः—

भूपतीनां समागच्छतां सैनिक-प्रोत्पतद्धूलियुक्ताः दिशां कान्तयः।
स्वमाचक्षिरे सर्वलोकं प्रति प्रोषितस्वेशजन्यां दशां सर्वशः॥

अनुवादः—कुण्डिनपुर में आते हुये राजाओं के सैनिकों से उठाई गयी धूलियों से धवलित दिशाओं की मुख की कान्तियाँ, सभी लोगों के प्रति अपनी प्रतित्याग से होने वाली दशा के अनुकूल आकार को स्पष्ट रूप से कह दीं।

आखण्डलो दण्डधरः कृशानुः पाशीति नाथैः ककुभां चतुर्भिः।
भैम्येव बद्ध्वा स्वगुणेन कृष्टैर्येये तदुद्वाहरसान्न शेषैः॥ १०॥

अन्वयः—आखण्डलः दण्डधरः कृशानुः पाशी इति चतुर्भिः ककुभां नाथैः भैम्या स्वगुणेन बद्ध्वा कृष्टैः इव तदुद्वाहरसाद् येये शेषैः न (येये)।

व्याख्या—आखण्डलः = इन्द्रः, दण्डधरः = यमः, कृशानुः = अग्निः, पाशी = वरुणः, इति चतुर्भिः = चतुःसंख्यैः, ककुभाम् = दिशाम्, नाथैः = पतिभिः, भैम्या, स्वगुणेन = सौन्दर्यादिना गुणेनेव रज्वेवेति श्लिष्टरूपकम्। बद्ध्वा = निगडय्य, कृष्टैः = आकृष्टैः इव तदुद्वाहरसात् = भैमीवरणानुरागात्, येये = गतम्, शेषैः = अन्यैः, न येये इति शेषः।

टिप्पणी—आखण्डलः = 'आखण्डः सहस्राक्षः' इत्यमरः। पाशी = 'प्रचेताः वरुणः पाशी'त्यमरः। ककुभाम् = 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा' इत्यमरः। बद्ध्वा = बन्ध + क्त्वा। तदुद्वाहरसात् = तस्या उद्वाहः तस्य रसः तस्मात् (ष० तत्पु०) येये = भावे लिट्।

भावः—

इन्द्रो यमो हुतवहो वरुणो दिगीशा, एते समे नृपतिजास्वगुणैर्निबध्य।
कृष्टा इवापुरितटे नहि तां विवोढुं कामप्रकामशरविद्धहृदस्तु तत्र॥

अनुवादः—इन्द्र, यम, अग्नि एवं वरुण ये चारों दिक्पाल दमयन्ती द्वारा अपने सौन्दर्यादि गुणरूपी (गुण) रस्सी से बाँधकर खींचे हुए के समान स्वयंवर में गये, अन्य नहीं गये।

मन्त्रैः पुरं भीमपुरोहितेन तद्बद्धरक्षं विशति क्व रक्षः।
तत्रोद्यमं दिक्पतिराततान यातुं ततो जातु न यातुधानः॥ ११॥

अन्वयः—भीमपुरोहितेन मन्त्रैः बद्धरक्षं तत् पुरं रक्षः क्व विशति ततः यातुधानः दिक्पतिः जातु तत्र यातुम् उद्यमं न आततान।

व्याख्या—भीमपुरोहितेन = विदर्भराजपुरोधसा, मन्त्रैः = रक्षोघ्नमन्त्रैः, बद्धरक्षम् = कृतरक्षणम्, तत् = कुण्डिनम्, पुरम् = नगरम्, रक्षः = राक्षस, क्व = कुत्र, विशति = प्रविशति, ततः = तस्मात् कारणात्, यातुधानः=नैर्ऋतः, दिक्पतिः = दिगीशः, जातु = कदाचित्, तत्र = स्वयंवरे, यातुम् = गन्तुम्, उद्यमम् = प्रयासम्, न आततान = न कृतवान्।

टिप्पणी—भीमपुरोहितेन = भीमस्य पुरोहितः तेन तथोक्तेन (ष० तत्पु०) बद्धरक्षम् = बद्धा रक्षा यस्य तम् बद्धरक्षम्, (बहुव्री०) यातुधानः = 'यातुधानः पुण्यजनः नैर्ऋतो जातु रक्षसी' इत्यमरः।

भावः—पुरोधसा भीमनृपस्य तत्पुरं रक्षोघ्नमन्त्रैरभिरक्षितं तदा।
समागमन्नैव निशाचराः परे न यातुधानो दिगिनस्ततस्ततः॥

अनुवादः—निषधराज के पुरोहित से रक्षोघ्न मन्त्रों द्वारा सुरक्षित उस कुण्डिनपुर में राक्षस कैसे जा सकते थे। इसलिये नैर्ऋत्य कोण के दिक्पाल उस स्वयंवर में नहीं जा सके॥ ११॥

कर्तुं शशाकाभिमुखं न भैम्या मृगं दृगम्भोरुहनिर्जितं यत्।
तस्या विवाहाय ययौ विदर्भान् तद्वाहनस्तेन न गन्धवाहः॥ १२॥

अन्वयः—गन्धवाहः भैम्या दृगम्भोरुहनिर्जितं मृगम् अभिमुखं कर्तुं न शशाक यत् तेन तद्वाहनः सः तस्या विवाहाय विदर्भान् न ययौ।

व्याख्या—गन्धवाहः = वायुः, भैम्या = दमयन्त्याः, दृगम्भोरुहनिर्जितम् = नयननलिनपराजितम्, 'मृगम् = स्ववाहनभूतं हरिणम्, अभिमुखम् = सम्मुखम्, कर्तुम् = विधातुम्, न शशाक = न समर्थोऽभूत्, यत् = यतः, तेन = अवाहनत्वेन, तद्वाहनः = मृगवाहनः, सः = गन्धवाहः, तस्याः = दमयन्त्याः, विवाहाय = विवाहं कर्तुम् विदर्भान् = निषधान, न ययौ = न जगाम।

टिप्पणी—दृगम्भोरुहनिर्जितम् = दृशावेवाम्भोरुहे ताभ्यां निर्जितम् 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीय तत्पुरुषः। तद्वाहनः = स एव वाहनो यस्य सः तथोक्तः (ब० व्रीहिः)।

भावः—भैम्या निजाक्षाब्जजितं स्ववाहं मृगं शशाकाभिमुखं न नेतुम्।
अतो विवाहाय गतो न तस्याः स गन्धवाहो दिगिनो विदर्भान्॥

अनुवादः—दमयन्ती द्वारा अपने कमल-सदृश नयनों से पराजित किये गये नेत्र वाले मृग को उसके सम्मुख न कर सके इसलिये वायुरूप दिक्पाल बिना सवारी के पैदल विदर्भ में दमयन्ती के विवाह के लिये नहीं जा सके ॥ १२ ॥

जातौ न वित्ते न गुणे न कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः ।
स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सवेरस्तां प्रत्यगान्न स्त्रितरां कुबेरः ॥ १३ ॥

अन्वयः—कामः जातौ न, वित्ते न, गुणे च न प्रवणः सौन्दर्ये एव प्रवणः सः वामः, स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सवेरः कुबेरः स्त्रितरां न प्रत्यगात् ।

व्याख्या—कामः = मनसिजः, कन्याभिलाषः, वित्ते = धने, न प्रवणः = नाधीनः, गुणे = शौर्यदयादाक्षिण्यादौ, च न प्रवणः, किन्तु सौन्दर्ये = कामनीयके, एव प्रवणः = अधीनः, यतः सः = कामः, वामः = प्रतिकूलः, ('कन्या वरयते रूपम्' इति वचनात्) स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सवेरः = दर्पणाभकैलाशनिरीक्षितनिजकुत्सितशरीरः, कुबेरः = यथार्थनामा यक्षराजः, स्त्रितराम् = निखिलललनाललामभूताम्, न प्रत्यगात् = न प्रत्यगमत् ।

टिप्पणी—स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सवेरः = स्वच्छश्चासौ स्वशैलः स्वच्छस्वशैलः कुत्सञ्च तद्वेरं कुत्सवेरम् (उभयत्र कर्मधारयः) स्वचछस्वशैले ईक्षितं कुत्सवेरं येन सः स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सवेरः । (बहुव्रीहिः) स्त्रितराम्—अतिशयेन स्त्रीति स्त्रितराम् 'अतिशायने तरबीयसुनौ' इति तरप् प्रत्ययः 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम्' इति धादिपरो ह्रस्वः । कौत्स्यलज्जया कुबेरो न ययाविति भावः ।

भावः—कुलं न वित्तं न गुणान् कुमारी वरस्य यत् कामयते सुरूपम् ।
आदर्शकल्पे स्वनगे विलोक्य कुत्सं स्वमङ्गं न गतो कुबेरः ॥

अनुवादः—क्योंकि कन्या वर के कुल धन एवं गुणों को नहीं चाहती केवल सुन्दरता को ही पसन्द करती है कहा भी है कि 'कन्या वरयते रूपम्' क्योंकि काम प्रतिकूल होता है इसलिये कुबेर दर्पण के समान निर्मल कैलाश पर्वत में अपने कुत्सित रूप को देख कर लज्जा के वश त्रैलोक्य सुन्दरी उस दमयन्ती के वरण के लिये नहीं गये ॥ १३ ॥

भैमीविवाहं सहतेऽस्य कस्मादर्धं तनुर्या गिरिजा स्वभर्तुः ।
तेनाव्रजन्त्या विदधे विदर्भानीशानयानाय तयान्तरायः ॥ १४ ॥

अन्वयः—गिरिजा स्वभर्तुः भैमीविवाहं कस्मात् सहते या अस्य अर्धं तनुः तेन विदर्भान् अव्रजन्त्या तया ईशानयानाय अन्तरायः विदधे ।

व्याख्या—गिरिजा = पार्वती, स्वभर्तुः = निजपतेः, भैमीविवाहम् = दमयन्तीवरणम्, कथम् = केन प्रकारेण, सहते = मर्षयति, या = गिरिजा, अस्य = स्वभर्तुः, अर्धम् = सामि, तनुः = अङ्गम्, तेन = ततो हेतुना, विदर्भान् = निषधान् अव्रजन्त्या = अगच्छन्त्या, तया = गिरिजया, ईशानयानाय = शङ्करप्रयाणाय विघ्नः = अन्तरायः, विदधे = कृतः ।

टिप्पणी—स्वभर्तुः = स्वस्य भर्ता स्वभर्ता तस्य स्वभर्तुः (ष० तत्पु०)। गिरिजा = गिरेर्जाता गिरिजा (जन + ड) (उपपदसमासः) । भैमीविवाहम् = भीमस्यापत्यं स्त्री भैमी । अपत्येऽण् 'टिड्ढे'ति ङीप्, तया विवाहम् (तृतीया तत्पु०) । अर्धम् = 'पुंस्पर्धोऽर्धं समेंशके' इत्यमरः । ईशानयानाय= ईशानस्य यानम् तस्मै ईशानयानाय (ष० तत्पु०) । अचलत्यर्धे कथमर्धान्तरं चलेत् चलने वा शरीरं विशीर्येत, निष्क्रियं वा स्यात् अतः शङ्करो न जगाम ।

भावः—

अर्धाङ्गनिष्ठा गिरिजा गिरीशं भैमीं विवोढुं सहतां कथन्नु ।
तयाऽव्रजन्त्या निषधान् न्यषेधि शम्भोः प्रयाणं प्रपिपासतोऽतेः ॥

अनुवादः—पार्वती अपने पति शङ्कर का दमयन्ती के साथ विवाह कैसे सह सकती है जो उनका आधा अङ्ग है इसलिये विदर्भ को न जाती हुई उसने जाने के इच्छुक भी शङ्कर को यात्रा में विघ्न डाल दिया । यदि आधा अङ्ग न जाय तो आधा दक्षिण भाग कैसे जा सकता है, जायगा तो फट जायगा या निष्क्रिय हो जायगा ।

स्वयंवरं भीमनरेन्द्रजाया दिशः पतिर्न प्रविवेश शेषः ।
प्रयातु भारं स निवेश्य कस्मिन्नहिर्महीगौरवसासहिः कः ॥ १५ ॥

अन्वयः—दिशः पतिः शेषः भीमनरेन्द्रजायाः स्वयंवरं न प्रविवेश, सः भारं कस्मिन् निवेश्य प्रयातु, कः अहिः महीगौरवसासहिः ।

व्याख्या—दिशः = अधोदिशः, पतिः = पालकः, शेषः = अनन्तः, स्वयंवरम् = दमयन्त्याः स्वयंवरमण्डपम् न प्रविवेश = न प्रविष्टवान्, सः = शेषः, भारम् = भूमिधारणरूपम्, कस्मिन् = अहौ, निवेश्य = संस्थाप्य, प्रयातु = गच्छतु, महीगौरवसासहिः = महीयांसं महीभारं वोढा, कः = कतमः, अहिः = सर्पोऽस्तीति शेषः ।

टिप्पणी—भीमनरेन्द्रजायाः = भीमश्चासौ नरेन्द्रः भीमनरेन्द्रः (कर्मधारयः)

तस्माज्जाता तस्याः (जन् + डः) (उपपदसमासः) तथोक्तायाः । मही-गौरवसासहिः—मह्या गौरवं महीगौरवं तत् सासहि (द्विती० तत्पु०) सह् धातोः यङन्तात् 'सहि-वहि-चलि-पतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ' इति किकिनो तयोर्लिड्वद्भावात् 'नलोके'त्यादिना षष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया ।

भावः—

धराधराऽऽधारधरामहीयो भारं विवोढुं क इवाऽन्यसर्पः ।
क्षमः क्षमायाः विनिवेश्य भारं यस्मिन् समीयाद् वरणे स शेषः ॥

अनुवादः—अधोलोक के अधिपति शेषनाग दमयन्ती के स्वयंवर मण्डप में नहीं प्रविष्ट हो सके वे भूमि के भार को किस पर रख कर जांय । कौन सर्प भूमि के महान भार को वहन कर सकता है ॥ १५ ॥

ययौ विमृश्योर्ध्वदिशः पतिर्न स्वयंवरं वीक्षितधर्मशास्त्रः ।
व्यलोकि लोके श्रुतिषु स्मृतौ वा समं विवाहः क्व पितामहेन ॥ १६ ॥

अन्वयः—वीक्षितधर्मशास्त्रः ऊर्ध्वदिशः पतिः विमृश्य स्वयंवरं न ययौ पितामहेन समं विवाहः लोके क्व व्यलोकि श्रुतिषु स्मृतौ क्व दृष्टः ।

व्याख्या—वीक्षितधर्मशास्त्रः = सम्यक् परिशीलितधर्मशास्त्रः, ऊर्ध्वदिशः पतिः ऊर्ध्वलोकाधिपतिः ब्रह्मा, विमृश्य = विचार्य, स्वयंवरम् = स्वयंवरभुवम्, न ययौ = न जगाम, पितामहेन = पितुः पित्रा, समम् = सह, विवाहः = परिणयः लोके = जगति, क्व = कुत्र, व्यलोकि = दृष्टः, श्रुतिषु = वेदेषु, स्मृतौ = मन्वादि-धर्मशास्त्रे वा, क्व = कुत्र, दृष्टः = अधीतः । लोके वेदे धर्मशास्त्रे क्वापि न विहितः ।

टिप्पणी—वीक्षितधर्मशास्त्रः = वीक्षितानि धर्मशास्त्राणि येन सः वीक्षित-धर्मशास्त्रः (बहुव्री०)—वि + ईक्ष + क्त, शास्त्यनेनेति शास्त्रम्—शास् + ष्ट्रल् । पितामहेन = पितुः पिता पितामहस्तेन पितामहेन, पितृ शब्दात् 'पितुर्डा-महच्' इति डामहच् प्रत्ययः । 'पितामहो विरञ्चिः स्यात् तातस्य जनकेऽपि च' इति विश्वः । 'असपिण्डा यवीयसीमि'ति स्मरणात् । अत्र सामान्येन विशेष समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

भावः—न लौकिको न श्रुतिधर्मशास्त्रश्रुतो विवाहस्तु पितामहेन ।
समस्तशास्त्रस्मृतिवित् स वेधां ततो न तत्राभ्यगमत् स्वयंवरम् ॥

अनुवादः—धर्मशास्त्रों के सम्यक् ज्ञाता ऊर्ध्वलोक के अधिपति ब्रह्मा विचार

करके स्वयंवर में नहीं आये, पितामह के साथ विवाह कहीं लोक में नहीं देखा गया है न वेद और स्मृतियों में ही कहीं देखा गया है। लोक वेद विरुद्ध क्यों किया जाय ॥ १६ ॥

भैमीनिरस्तं स्वमवेत्य दूतीमुखात् किलेन्द्रप्रमुखा दिगीशाः।
स्पन्दे मुखेन्दौ च वितत्य मान्द्यं चित्तस्य ते राजसमाजमीयुः ॥ १७ ॥

अन्वयः—इन्द्रप्रमुखाः दिगीशाः दूतीमुखात् स्वं भैमीनिरस्तम् अवेत्य चित्तस्य मान्द्यं स्पन्दे मुखेन्दौ च वितत्य ते राजसमाजम् ईयुः।

व्याख्या—इन्द्रप्रमुखाः = इन्द्रप्रभृतयः, दिगीशाः = दिक्पालाः, दूतीमुखात् = प्रेष्याननात्, स्वम् = आत्मानम्, भैमीनिरस्तम् = दमयन्तीप्रतिषिद्धम् अवेत्य = ज्ञात्वा, चित्तस्य = मनसः, मान्द्यम् = विषादजाड्यम्, स्पन्दे = गतौ, मुखेन्दौ च = आननचन्द्रे च, वितत्य = प्रकाश्य, मन्दगतयः विवर्णमुखाश्च ते राजसमाजम् = नृपसभाम्, ईयुः = जग्मुः।

टिप्पणी—इन्द्रप्रमुखाः = इन्द्रः प्रमुखो येषां ते इन्द्रप्रमुखा (बहुव्रीहिः) दिगीशाः = दिशाम् ईशाः दिगीशाः (ष० तत्पु०)। दूतीमुखात् = दूतीनां मुखात् (ष० तत्पु०)। भैमीनिरस्तम् = भैम्या निरस्तम् (तृ० तत्पु०)। राजसमाजम् = राज्ञां समाजम् (ष० तत्पु०)। ईयुः = इण् धातोर्लिट् (प्र० पु० बहुवचनम्)।

भावः—अनभिप्रेतं भैम्या दूतीमुखतः स्वमाकलय्यापि।
इन्द्रादयो विषण्णाः राजसमाजं समाजग्मुः ॥

अनुवादः—अपनी अपनी दूतियों से दमयन्ती द्वारा अपने को अस्वीकृत जान कर भी इन्द्र आदि चार (इन्द्र, यम, अग्नि एवं वरुण) दिक्पाल अपने चित्त के खेद को गति एवं मुख द्वारा प्रकाशित करते हुये वे लोग राज समाज में सम्मिलित होने के लिये चले ॥ १७ ॥

नलभ्रमेणापि भजेत भैमी कदाचिदस्मानिति शेषिताशा।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा ॥ १८ ॥

अन्वयः—सा इन्द्रादिचतुष्टयी भैमी कदाचित् नलभ्रमेण अपि अस्मान् भजेत इति शेषिताशा अलीकरूपा काचित् चतुर्नली बभूव।

व्याख्या—सा = पूर्वोक्ता, इन्द्रादिचतुष्टयी = इन्द्रप्रभृतयः चत्वारो दिक्पालाः, भैमी = दमयन्ती, कदाचित् = कस्मिंश्चित् काले, नलभ्रमेण = नैषध-

सन्देहेन, अस्मान् = इन्द्रादीन्, भजेत = वृणुयात्, इति = एतन्मात्रम्, शेषिताशाः = अवशिष्टाभिलाषाः, सती अलीकरूपा = काल्पनिकाशा, काचित् = अनिर्वाच्या, चतुर्नली = नलचतुष्टयी, बभूव = भवति स्म ।

टिप्पणी—इन्द्रादिचतुष्टयी = चत्वारोऽवयवा अस्या इति चतुष्टयी 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' इति तयप् प्रत्यय 'टिड्ढे'त्यादिना ङीप् 'इदुदुपधस्य' इति षत्वे ष्टुत्वम्, चतुष्टयी इन्द्रादीनां चतुष्टयी (ष० तत्पु०)। नलभ्रमेण = नलस्य भ्रमस्तेन तथोक्तेन (ष० तत्पु०)। शेषिताशा = शेषिता आशा यस्याः सा (बहुव्रीहि०)। अलीकं रूपं यस्या सा अलीकरूपा (ब० व्री०)। चतुर्नली = चतुर्णां नलानां समाहारः ('तद्धितार्थे'त्यादिना द्विगुः समासः) 'द्विगोः' इति, ङीप् । चतुर्नली ।

भावः—

कृतककृतनला कृतीन् किलास्मान् दमयन्ती वृणुयात् क्वचिद् भ्रमेण ।
इति हृदि विधृताशया तदानीं नलरूपा प्रययुः स्वयंवरे ते ॥

अनुवादः—वे इन्द्रादि चारों दिक्पाल 'दमयन्ती कदाचित् नल के भ्रम से भी हम लोगों को वरण कर ले' एक मात्र अवशिष्ट इस आशा से विलक्षण बनावटी रूप वाले चार नल हो गये ॥ १८ ॥

प्रयस्यतां तद्भवितुं सुराणां दृष्टेन पृष्टेन परस्परेण ।
तद्द्वैतसिद्धिर्न बतानुमेने स्वाभाविकात् कृत्रिममन्यदेव ॥ १९ ॥

अन्वयः— तद् भवितुं प्रयस्यतां सुराणां द्वैतसिद्धिः दृष्टेन परस्परेण पृष्टेन न अनुमेने, बत स्वाभाविकात् कृत्रिमम् अन्यदेव भवतीति शेषः ।

व्याख्या—तद्भवितुम् = नलीभवितुम्, प्रयस्यताम् = प्रयतमानानाम्, सुराणाम् = इन्द्रादीनाम्, तद् द्वैतसिद्धिः = नलरूपताप्रतिपत्तिः दृष्टेन = दर्पणादावलोकनेन, पृष्टेन = जिज्ञासितेन, परस्परेण = अन्योऽन्येन, न अनुमेने = नानुमता, बत = खेदे:, यतः स्वाभाविकात् = नैसर्गिकात्, कृत्रिमम् = कृतकम्, अन्यदेव = विलक्षणमेव भवतीति शेषः ।

टिप्पणी—तद्भवितुम् = असः सः भवितुमिति तद्भवितुम्, अभूततद्भावे च्वि प्रत्ययः । द्वैतसिद्धिः = द्वयोर्भावः द्विता द्वितैव द्वैतम् प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण् । द्वैतस्य सिद्धिः द्वैतसिद्धिः (ष० तत्पु०)। कृत्रिमम् = क्रियया निर्वृत्तम् कृत्रिमम्, 'ड्वितः क्त्रि' इति क्त्रि प्रत्ययः, 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति क्त्रेर्मम् च ।

भावः—

नलीभवद्भिः कृतदीर्घयत्नैः तद्द्वैतसिद्धिर्विहिता कथञ्चित् ।
दृष्टा च पृष्टा च परस्परेण नैवानुमेने कृतकमृतं कथम् ॥

अनुवादः—नल होने का प्रयास करते हुये उन देवों के द्वारा नलरूपान्तर किसी प्रकार किया गया। वह भी दर्पण आदि में देखने एवं पूछने से नल के रूप की सही रूप से सिद्धि का उन लोगों ने अनुमान नहीं किया, क्योंकि स्वाभाविक से बनावटी कुछ और ही तरह का होता है ॥ १९ ॥

पूर्णेन्दुमास्यं विदधुः पुनस्ते पुनर्मुखीचक्रुरनिद्रमब्जम् ।
स्ववक्त्रमादर्शतलेऽथ दर्शं दर्शं बभञ्जुर्न तथातिमञ्जु ॥ २० ॥

अन्वयः—ते पुनः पूर्णेन्दुम् आस्यं विदधुः पुनः अनिद्रम् अब्जम् मुखीचक्रुः अथ आदर्शतले स्ववक्त्रं दर्शं दर्शं तथा अतिमञ्जु न बभञ्जु।

व्याख्या—ते = देवाः, पुनः पूर्णेन्दुम् = पूर्णचन्द्रम्, आस्यम् = मुखम्, चक्रुः = विदधुः, पुनः अनिद्रम् = विकसितम्, अब्जम् = कमलम्, मुखीचक्रुः = मुखाकारतां निन्युः, अथ आदर्शतले = मुकुरोदरे, स्ववक्रम् = आत्ममुखम्, दर्शं दर्शं = दृष्ट्वा दृष्ट्वा, तथा = नलमुखसदृशम्, अतिमञ्जु = परमसुन्दरम्, न = नहि, इति बभञ्जु = भञ्जन्तिस्म, एवमनेकवारं मुखपरिवर्तनं चक्रुः ।

टिप्पणी—पूर्णेन्दुम् = पूर्णश्चासाविन्दुः तम् पूर्णेन्दुम्, (कर्मधारयः) दर्शं दर्शं = आभीक्ष्ण्ये णमुल् द्वित्वञ्च ।

भावः—

पूर्णेन्दुं विहितमपास्य तन्मुखं स्वं प्रोन्निद्रं कमलमिमे प्रचक्रुरात्मवक्त्रम् ।
आदर्शेऽसदृशमवेक्ष्यतन्मुखस्य तद्भिन्नं विदधुरमी समे दिगीशाः ॥

अनुवादः—वे सभी इन्द्रादि देवों ने फिर अपने मुख को पूर्ण चन्द्रमा बनाया फिर विकसित कमल बनाया इस प्रकार बनाकर दर्पण में देख देख कर नल के मुख के समान सुन्दर न होने के कारण बार बार बिगाड़ दिया। (पूर्ण चन्द्रमा बनाकर दर्पण में देखकर बिगाड़ दिया, विकसित कमल बनाकर दर्पण में देखा वह भी वैसा नहीं हुआ तो उसको भी रद्द कर दिया।) किसी प्रकार भी नल के मुख के समान सुन्दर नहीं हुआ ॥ २० ॥

तेषां तथा लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य ।
नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बहिर्मुखानामनलाननत्वम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—तथा निजास्येन नलाननस्य श्रियं लब्धुम् अनीश्वराणां तेषां बर्हिर्मुखानाम् अनलाननत्वं पुनरुक्तिदोषं तरीतुं न अलम्।

व्याख्या—तथा = तेन प्रकारेण, निजास्येन = स्वमुखेन, नलाननस्य = नलमुखस्य, श्रियम् = शोभाम्, लब्धुम् = प्राप्तुम्, अनीश्वराणाम् = असमर्थानाम्, बर्हिर्मुखानाम् = अग्निमुखानाम्, अनलाननत्वम् = अग्निमुखत्वम्, अथ च नलाननतुल्यमुखराहित्यम्, पुनरुक्तिदोषम् = वह्निमुखत्वे पूर्वसिद्धेऽपि पुनः वह्निमुखत्वसाधनरूपं दोषं तरीतुं = परिहर्तुम् न अलम् = न समर्थम्। ते पूर्वमेव अनलानना आसन् अधुना, प्रयासे कृतेऽपि अनलानना एवाभवन् इति भावः। अथ च पूर्वमपि नलमुखभिन्नमुखा आसन्, अधुना प्रयासे कृतेऽपि अर्थात् पूर्णचन्द्राननत्वसाधनेऽथवा विकसितकमलाननत्वसाधने च नलमुखभिन्नमुखत्वमिति पुनरुक्ति दोषं परिहर्तुमसमर्था अभवन्।

टिप्पणी—निजास्येन = निजम् आस्यं निजास्यं तेन निजास्येन (कर्मधारयः)। नलाननस्य = नलस्याननं नलाननं तस्य नलाननस्य (ष० तत्पु०)। अनीश्वराणाम् = न ईश्वरा अनीश्वरास्तेषामनीश्वराणाम् (नञ् तत्पु०) 'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमः। बर्हिर्मुखानाम् = बर्हिः मुखं येषान्ते बर्हिर्मुखास्तेषां बर्हिर्मुखानाम्। (ब० व्रीहिः) 'बर्हिर्मुखाः क्रतुभुजो गीर्वाणादानवारयः, इति, 'वर्हिः शुष्मा कृष्णवर्त्मा' इति चामरः। अनलाननत्वम् = अनलः आननं येषान्ते अनलानना (ब० व्री०) तेषां भावः अनलाननत्वम्, अथ च—नलस्याननमिवाननं येषान्ते (इत्युपमानपूर्वको बहुव्रीहिः), ते च न भवन्त इत्यनलाननास्तेषां भावः अनलाननत्वम् = नलाननतुल्याननराहित्यम्। पुनरुक्तिदोषम् = पुनरुक्तेः दोषस्तं पुनरुक्तिदोषम्। 'अग्निमुखाः वै देवा' इति श्रुतेः। वह्निमुखे पूर्वसिद्धेऽपि पुनर्वह्निमुखत्वसाधनमिति पुनरुक्तिः। तरीतुम्—तृ + तुमुन्, 'वॄतो वे'ति दीर्घः।

भावः—

अशक्नुवन्तो नलवक्त्रलक्ष्मीं बर्हिर्मुखास्ते समवाप्तुमेवम्।
न सिद्धसंसाधनदोषमुग्रं विहन्तुमीशा अनलाननत्वम्॥

अनुवादः—उस प्रकार अपने मुख के द्वारा नल के मुख की शोभा को पाने में असमर्थ वे अग्निमुख (देवता) अनलाननत्व रूप पुनरुक्तिदोष का परिहार करने में असमर्थ ही रहे। वे पहले भी अनलानन (नल के मुख से भिन्न मुख वाले) थे, पूर्णचन्द्रमा-सा मुख बनाने पर या विकसित कमल के समान

मुख बनाने पर भी तो नल के मुख से भिन्न मुख वाले ही रहे स्वतःसिद्ध का पुनः साधन रूप पुनरुक्ति दोष का परिहार नहीं कर सके। अथ च—पहले भी बर्हिर्मुख (अनलानन) थे प्रयास करने पर भी अनलानन (नल भिन्न मुख ही) ही रह गये स्वतः सिद्ध अनलानन का साधन करने से पुनरुक्ति दोष से नहीं उबरे ॥ २१ ॥

प्रियावियोगव्यथितात् किलैलाच्चन्द्राद्गृहीतैर्ग्रहपीडितात्ते।
ध्मातात्भवेन स्मरतोऽपि सारैः स्वङ्कल्पयन्ति स्म नलानुकल्पम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—ते प्रियावियोगव्यथितात् ऐलात् किल ग्रहपीडितात् चन्द्रात् भवेन ध्माताद् स्मरतः अपि गृहीतैः सारैः स्वं नलानुकल्पं कल्पयन्ति स्म।

व्याख्या—ते=देवाः, प्रियावियोगव्यथितात्=उर्वशीविरहविधुरात्, ऐलात् =पुरुरवसः, किलेतिवाक्यालङ्कारे, ग्रहपीडितात्=राहुग्रस्तान्, चन्द्रात्= चन्द्रमसः, भवेन=शङ्करेण, ध्मातात्=प्लुष्टात्, स्मरतः=कामात्, अपि=च, गृहीतैः=एकत्रीकृतैः, सारैः=श्रेष्ठभागैः, स्वम्=आत्मानम्, नलानुकल्पम्= नलप्रतिनिधिम्, कल्पयन्ति स्म=रचयन्ति स्म।

टिप्पणी—प्रियावियोगव्यथितात्=प्रियया वियोगः प्रियावियोगः (तृ० तत्पु०) तेन व्यथितात् (तृ० तत्पु०) प्रियावियोग व्यथितात्। ऐलात्= इलाया अपत्यमैलस्तस्मात् ऐलात्। ग्रहपीडितात्=ग्रहेण पीडितात् (तृ० तत्पु०)। नलानुकल्पम्=नलस्य अनुकल्पम् नलानुकल्पम्। 'तत्पुरुषः स्यात्प्रथमः कल्पोनुकल्पस्तु ततोऽधमः' इत्यमरः। अन्यथा तदनुकल्पताऽपि कुतः।

भावः—उर्वश्या विधुरैलात् चन्द्राद् ग्रस्तात्, स्मरात् प्लुष्टात्।
सारैः समाहृतैस्ते निजं नलप्रतिनिधिं चक्रुः ॥

अनुवादः—उन इन्द्रादि देवों ने उर्वशी के वियोग से दुःखित पुरुरवा से राहु से ग्रस्त चन्द्रमा से और शङ्कर द्वारा जलाये गये काम से सार भाग का संग्रह करके अपने को नल का प्रतिनिधि बनाया ॥ २२ ॥

नलस्य पश्यत्वियदन्तरं तैर्भैमीति भूपान् विधिराहृतास्यै।
स्पर्धां दिगीशानपि कारयित्वा तस्यैव तेभ्यः प्रथिमानमाख्यत् ॥ २३ ॥

अन्वयः—विधिः तैः नलस्य इयत् अन्तरं भैमी पश्यतु इति भूपान् आहृत दिगीशान् अपि स्पर्धां कारयित्वा तेभ्यः तस्य एव प्रथिमानम् अस्यै आख्यत्।

व्याख्या—विधिः=ब्रह्मा, तैः=भूपैः, नलस्य=नैषधस्य, इयत्=एतावत्,

अन्तरम् = वैलक्षण्यम्, भैमी = दमयन्ती, पश्यतु = अवलोकयतु, इति = एतदर्थम्, भूपान् = धरापतीन्, आहृत = आनीतवान्, दिगीशान् = दिक्पालान्, अपि = च, स्पर्धाम् = नलाभिभवेच्छाम्, विधाय = कृत्वा, तेभ्यः=दिक्पालेभ्यः, तस्य = नलस्य एव, प्रथिमानम् = महत्त्वम्, अस्यै = दमयन्त्यै, आख्यत् = अकथयत् ।

टिप्पणी—इयत् = इदं प्रमाणमस्येति इयत् 'प्रमाणे वतिः ततः किमिदंभ्यां वो घः' । इति वते वकारस्य घादेशः घस्येयादेशः 'इदं किमोइश्की' इतीदम इशादेशः इयत् । आहृत—आङ्पूर्वकात् हृधातोर्लुङि रूपम् 'ह्रस्वादङ्गादिति' सिचो लुक् । प्रथिमानम् = पृथोर्भावः प्रथिमा 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' इति इमनिच् प्रत्ययः, 'ऋतो हलादेरि'ति रादेशः । प्रथिमानम् आख्यत्—ख्याधातोर्लुङि 'अस्यति' इत्यादिना च्लेरङादेशः ।

भावः—नृपान् समादाय विशेषमस्यै नलस्य तेभ्योऽवदद् विधाता ।
स्पर्धालवञ्चापि कृता दिगीशाः नलस्य वक्तुं प्रथिमानमेव ॥

अनुवादः—ब्रह्मा ने राजाओं से नल की विशेषता को दमयन्ती देखे इसलिये भूपालों को स्वयंवर में आकृष्ट कर दिया, दिक् पालों ने भी नल की स्पर्धा पैदा करके नल की ही महत्ता को दमयन्ती के प्रति कह दिया ॥ २३ ॥

सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाऽभूद्धृतदिव्यरत्नैः ।
भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजाते ॥ २४ ॥

अन्वयः—सभा नलश्रीयमकैः धृतदिव्यरत्नैः यमाद्यैः नलं विना पारिजाते भामाङ्गणप्राघुणिके देवद्रुमैः द्यौः इव बभूव ।

व्याख्या—सभा = स्वयंवरसभा, नलश्रीयमकैः = पुनरुक्ताकारैर्नलरूपधारिभिः, धृतदिव्यरत्नैः = विधृतमनोहराकाररत्नैः, यमाद्यैः = वैवस्वतादिभिः, नलम् = नैषधम्, विना = रहिता, पारिजाते = तन्नामके देववृक्षविशेषे, भामाङ्गणप्राघुणिके = सत्यभामामन्दिरातिथौ, धृतदिव्यरत्नैः = मनोहररत्नफलैः, देवद्रुमैः = अवशिष्टैः, देववृक्षैः, द्यौः = स्वर्गं इव, अभूत् = आसीत्, नलं विना धीरहिता बभूवेति भावः ।

टिप्पणी—नलश्रीयमकैः = नलश्रियो यमकैः (ष० तत्पु०) 'सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः' इत्यादियमकोक्तलक्षणरीत्यैकाकारभिन्नार्थैर्नलरूपधारिभिः । धृतदिव्यरत्नैः = धृतानि दिव्यानि रत्नानि यैस्ते तैर्धृतदिव्यरत्नैः, यमाद्यैः = यमः आदिर्येषान्ते, तैः = यमाद्यैः (उभयत्र बहु०), भामा-

ङ्गणप्राघुणिके = भामाया अङ्गणं भामाङ्गणं तस्य प्राघुणिके भामाङ्गणप्राघुणिके, 'आवेशिकः प्राघुणिकः आगन्तुरतिथिः स्मृतः' इति हलायुधः। आचूडमूलं मुक्तारत्नविभूषितैश्चतुर्भिः देववृक्षैः 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमरः। मन्दारादिषु सत्स्वपि पारिजातं विना यथा द्यौर्न शोभते तथा नलरूपधारिषु यमादिषु सत्स्वपि नल विना सा स्वयंवर सभा न शुशुभे।

भावः—सत्याङ्गणश्रीभृति पारिजाते देवद्रुमैर्द्यौरिव सा नलेन।
विना नलश्रीपुनरुक्तिभूतै-र्देवैः समाऽभूत् धृतदिव्यरत्नैः॥

अनुवादः—वह स्वयंवरसभा नलरूपधारी एवं दिव्यरत्नभूषितयमादि चार देवों के यमकों से (नानार्थक एकाकारवर्णधारियों से) मुक्त होती हुई भी नल के बिना उस प्रकार नहीं शोभित हुई जैसे पारिजात के सत्यभामा के प्राङ्गण में चले जाने पर शेष मन्दारादि देववृक्षों से विभूषित भी स्वर्गलोक नहीं शोभता था।

कलहप्रिय नारद के द्वारा पारिजात के दिव्यगन्ध वाले पुष्प को प्राप्त करके सत्मभामा के उस वृक्ष को लाकर अपने आंगन में रोपने के लिये अनुरोध करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने भीषण युद्ध द्वारा इन्द्र को पराजित करके पारिजात को स्वर्ग से लाकर सत्यभामा के आंगन में रोपा—ऐसी पौराणिकी कथा प्रसिद्ध है॥ २४॥

तत्रागमद्वासुकिरीशभूषाभस्मोपदेहस्फुटगौरदेहः।
फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवाद्यनुजीविवादः॥ २५॥

अन्वयः—ईशभूषाभस्मोपलेपस्फुटगौरवर्णः फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवेत्यनुजीविवादः वासुकिः तत्र आगमत्।

व्याख्या—ईशभूषाभस्मोपलेपस्फुटगौरवर्णः = शङ्कराभरणभसितोद्धूलनसङ्क्रमणस्पष्टशुभ्राकारः, फणीन्द्र-वृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवेत्यनुजीविवादः = सर्पराजप्रतिपाद्यमानप्रसीदजीवेत्यनुचरकोलाहलः, वासुकिः = नागराजः सर्पविशेषः, तत्र = स्वयंवरसभायाम्, अभवत् = आसीत्।

टिप्पणी—ईशस्य भूषाभूतः भस्मन उपलेपेन स्फुटो गौरवर्णो यस्य सः = ईशभूषा भस्मोपलेपस्फुटगौरवर्णः (प्राक् ष० तत्पुरुषद्वयम् ततः ततः सर्वमिलितपदैरनेकपदो बहुव्रीहिः)। फणीन्द्राणां वृन्देन प्रणिगद्यमानः प्रसीदजीवेत्यनु-

जीविवादो यस्य सः = फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवेत्यनुजीविवादः (षष्ठी तत्पुरुष, तृ० तत्पु० पुरःसरोऽनेकपदो बहुव्रीहिः) प्रणिगद्यमानेत्यत्र 'नेर्गदे' त्यादिना णत्वम् ।

भावः—हरतनुभसितासङ्गात् वलक्षलक्षिताकृतिधरः ।
वासुकिरासीत्तत्र प्रसीद जीवजयेत्यनुगैर्गदितः ॥

अनुवादः—भगवान् शङ्कर का भूषणभूत एवं उनके अङ्गराग रूप भस्म के सङ्क्रमण से अति धवल आकार वाले और कर्कोटक आदि अपने अनुजीवि वर्ग से कहे जाते हुए प्रसीद, जय, जीव इत्यादि शब्दों के कोलाहल से युक्त वासुकि नामक नागराज उस स्वयंवर सभा में आये ॥ २५ ॥

द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं तत् क्षणादवापे सुरभूमिपालैः ।
तत्कालमालम्भि न केन यूना स्मरेषुपक्षानिलतूललीला ॥ २६ ॥

अन्वयः—तत् पुटभेदनं द्वीपान्तरेभ्यः सुरभूमिपालैः क्षणाद् अवापे, तत्कालं केन यूना स्मरेषुपक्षानिलतूललीला न अलम्भि ।

व्याख्या—तत् पुटभेदनम् = कुण्डिनपुरम्, द्वीपान्तरेभ्यः = प्लक्षादिभ्यः, सुरभूमिपालैः = देव-धरणिभृद्भिः, अथवा—तद्द्वीपरूपस्वर्गीय भूपतिभिः, क्षणात् = शीघ्रम्, अवापे = आप्तम् । तत्कालम् = स्वयंवरकालम्, केन = कतमेन, यूना = यौवनवता, स्मरेषुपक्षानिलतूललीला = कामबाणपत्रजातवाततूलविलासः; न अलम्भि = लब्धा ।

टिप्पणी—पुटभेदनम् = 'पत्तनं पुटभेदनमि'त्यमरः । द्वीपान्तरेभ्यः—अन्ये-द्वीपा द्वीपान्तराणि तेभ्यः द्वीपान्तरेभ्यः । सुरभूमिपालैः = सुराश्च भूमिपालाश्चेति द्वन्द्वः । अथवा सुराणां भूमिः सुरभूमिः तां पालयन्तीति सुरभूमिपालास्तैः सुरभूमिपालैः, द्वीपान्तराणां भोगभूमित्वात् सुरभूमिसादृश्यात् । तत्कालम् = स एव कालः तत्कालम् 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' । स्मरेषुपक्षानिलतूललीला = स्मरस्य इषवः (ष० तत्पु०) तेषां पक्षाः तेषामनिलेन तूलस्य लीला । (षष्ठी तत्पुरुषः तृतीया तत्पुरुषश्च) । आलम्भि = 'चिण् भावकर्मणोः' इति कर्मणि लुङ् चिण् । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति वैभाषिक नुमागमः । अत्र निदर्शना-सङ्कीर्णोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ।

भावः—भीमभूभृत्पुरं तत् क्षणादानशे संगतैर्द्वीपतो भूपतीनां चयैः ।
कैर्न तूलायितं यौवतैः संसृतेः कामबाणाप्तपत्रोत्पतद्वायुभिः ॥

अनुवादः—महाराज भीम का वह पुर द्वीपों से आने वाले राजों से क्षण में भर गया, द्वीप-द्वीपान्तरों से थोड़े ही देर में लोग चले आये, उस काल में कौन ऐसा युवक था जो कामदेव के बाणों में लगे पाँखों के वायु से तूल के समान उड़कर स्वयंवर में न आ गया हो ॥ २६ ॥

रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः।
प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सः कुण्डिननाकनाथः राजचक्रं रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैः चारु उपाचरत् ।

व्याख्या—सः = असौ, कुण्डिननाकनाथः = कुण्डिनस्वर्पतिः, भीमः, राजचक्रम् = राजमण्डलम्, रम्येषु = मनोहरेषु, हर्म्येषु = प्रासादेषु, निवेशनेन = स्थापनेन, सपर्यया = पाद्यादिपूजया, प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैः = प्रियवचन-गन्धमाल्यादिदान-सम्मान-विनयप्रभृतिभिः, आदिशब्दात् भोजनसंविधानेन च चारु = सम्यक्, उपाचरत् = सदकृत ।

टिप्पणी—कुण्डिननाकनाथः = कुण्डिनपुरमेव नाकः तस्य नाथः (कर्मधारयः ष० तत्पु० च) राजचक्रम् = राज्ञां चक्रम् (ष० तत्पु०) । प्रियोक्तिश्च दानञ्च आदरश्च नम्रता च ते आद्या येषान्ते तैः प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैः (द्वन्द्वपुरःसरो बहुव्रीहिः) ।

भावः—कुण्डिनेशस्तदा भूपतीनागतान् रम्यहर्म्ये निवेश्योचिताचारतः ।
सत्प्रियोक्त्या तथा दानमानादिना साधुसत्कारचर्यां यथावद् व्यधत्त ॥

अनुवादः—कुण्डिनेश महाराज भीम ने उस राजमण्डल को सुन्दर राजमहलों में निवास स्थान दे दिया एवं पूजा-प्रियवचन, गन्धमाल्य-ताम्बूल-दान-सम्मान विनय एवं भोजन आदि उपचारों से अच्छी प्रकार सत्कार किया ॥ २७ ॥

चतुःसमुद्रीपरिखे नृपणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे।
औदार्यदाक्षिण्यदयादमानां चतुष्टयीरक्षणसौविदल्ला ॥ २८ ॥

अन्वयः—चतुःसमुद्रीपरिखे वासितकीर्तिदारे नृपाणाम् अन्तःपुरे औदार्यदाक्षिण्यदयादमानाम् चतुष्टयी रक्षणसौविदल्ला ।

व्याख्या—चतुःसमुद्रीपरिखे = चतुःसागरपरिखावलये, वासितकीर्तिदारे = स्थापितकीर्तिमहिषीके, नृपाणां = राज्ञाम्, अन्तःपुरे = निवासे । औदार्य-

दाक्षिण्यदयादमानाम् = त्याग-परचित्तानुवर्तन-कृतेन्द्रियदमनानाम् चतुष्टयी = चतुष्कम्, रक्षणसौविदल्ला = तत्कीर्तिदाररक्षणकञ्चुकिनः । सन्तीति शेषः ।

टिप्पणी—चतुःसमुद्रीपरिखे = चतुर्णां समुद्राणां समाहारः चतुःसमुद्री (तद्धितार्थेत्यादिना द्विगुसमासः द्विगोश्चेति ङीप् । सैव परिखा यस्य तस्मिन् तथोक्ते, (ब० व्री०) वासितकीर्तिदारे=वासिता कीर्तिरेव दारा यस्मिन् तस्मिन् तथोक्ते, (बहुव्रीहिः) औदार्यदाक्षिण्यदयादमानाम् = औदार्यञ्च दाक्षिण्यञ्च दया च दमश्चेति औदार्यदाक्षिण्यदयादमास्तेषां चतुष्टयी, चत्वारोऽवयवा यस्या सेति चतुष्टयी चतुःशब्दात् तयप् तस्यायजादेशस्तत्ता 'टिड्ढे'त्यादिना ङीप् ष्टुत्वम्—चतुष्टयी । रक्षणसौविदल्ला = रक्षणे सौविदल्ला रक्षणसौविदल्ला 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः' इत्यमरः । सावयवरूपकालङ्कारः ।

भावः—

राजकानां चतुःसागरैर्वेष्टिते कीर्तिदाराधिवासेऽत्र भूमण्डले ।
दानदाक्षिण्यकारुण्यदान्तिक्रियाः सौविदल्ला मताः कीर्तिसंरक्षकाः ॥

अनुवादः—चारों दिशाओं में चार सागर रूप खायीं से घिरे हुए राजाओं की कीर्तिरूपिणी दारा का निवासभूत इस भूमण्डल में उदारता, दाक्षिण्य (परचित्तानुकूलाचरण) दया एवं इन्द्रिय दमन–ये चार कीर्तिदाराओं के रक्षक चार कञ्चुकी हैं । यहाँ सावयव रूपक अलङ्कार है ॥ २८ ॥

अभ्यागतैः कुण्डिनवासवस्य परोक्षवृत्तेष्वपि तेषु तेषु ।
जिज्ञासितस्वेप्सितलाभलिङ्गं स्वल्पोऽपि नावापि नृपैर्विशेषः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अभ्यागतैः नृपैः कुण्डिनवासवस्य परोक्षवृत्तेषु अपि तेषु तेषु उपचारेषु विजिज्ञासितस्वेप्सितेलाभलिङ्गम् स्वल्पः अपि विशेषः न अवापि ।

व्याख्या—अभ्यागतैः = समागतैः, नृपैः = राजभिः, कुण्डिनवासवस्य = कुण्डिननरेन्द्रस्य, परोक्षवृत्तेषु = मूढनिष्पन्नेषु, तेषु तेषु = तत्तद्विधेषु । उपचारेषु = सत्कारेषु, विजिज्ञासितलाभलिङ्गम् = ज्ञीप्सितदमयन्तीलाभचिह्नम् । स्वल्पः = स्तोकः, अपि, विशेषः न अवापि = नाधिगतः ।

टिप्पणी—कुण्डिनवासवस्य = कुण्डिनस्य वासवः कुण्डिनवासवः तस्य कुण्डिनवासवस्य (ष० तत्पु०) । परोक्षवृत्तेषु = अक्ष्णः परं परोक्षम् 'प्रति-पदि समनुभ्योक्ष्णः, इति समासान्तः, अत एव ज्ञापकाच्चाव्ययीभावः । परोक्षं वृत्ताः परोक्षवृत्ताः (सुप्सुपेति समासः) तेषु परोक्षवृत्तेषु । जिज्ञासितस्वेप्सित-

लाभलिङ्गम् = जिज्ञासितं यत् स्वेप्सितम् (कर्मधारयः) तस्य लाभः तस्य लिङ्गम् (ष० तत्पु० द्वयम्)। जानातेः सन्नन्तात् कर्मणि क्तः, ईप्सितस्येत्राप्नोते सन्नन्तात् कर्मणि क्तः, 'आप् ज्ञप्' इत्यादिनेत्वम् (ष० तत्पुरुषः)। अवापि उपपूर्वादाप्नोतेः कर्मणि लुङ्।

भावः—समागतानां नृपतिर्नृपाणामभेदभावं समुपाचचार।
न कोऽपि तत्राकलयत् तदीयं भावं प्रदेया कतमापि कन्या ॥

अनुवादः—भीम राजा ने समागत राजाओं का इस प्रकार अभेदभाव से सत्कार किया कि कोई भी राजा वहाँ पर अपनी जानकारी का विषय दमयन्ती के लाभ का चिन्ह परिलक्षित नहीं कर सका। अर्थात् ये दमयन्ती का विवाह किससे करेंगे इस भाव को कोई नहीं जान सका ॥ २९ ॥

अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न सम्ममौ नैष तथा समाजः।
यथा पयोराशिरगस्त्यहस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः ॥ ३० ॥

अन्वयः—विदर्भेन्द्रपुरस्य अङ्के एषः समाजः अगस्त्यहस्ते पयोराशिः यथा मुरारेः जठरे जगद् वा यथा न ममौ इति न शङ्के तथा एव सम्ममौ।

व्याख्या—विदर्भेन्द्रपुरस्य = कुण्डिनस्य, अङ्के = उत्सङ्गे, एषः = समागतः, समाजः = नृपसमूहः, अगस्त्यहस्ते = कुम्भजमुनिकरतले, पयोराशिः = जलधिः, यथा = इव, मुरारेः = श्रीविष्णोः, जठरे = कुक्षौ, जगद् = सचराचरो लोकः, वा = अथवा न ममौ = न मातिस्म, इति न, अर्थात् अवश्यं मातिस्म, तथा = तेन प्रकारेण, एव सम्ममौ = सम्यक् मातिस्म शङ्के = इत्युत्प्रेक्षायां, सर्वे यथाप्रसारमवस्थिता अभवन्।

टिप्पणी—विदर्भेन्द्रपुरस्य = विदर्भाणामिन्द्रः तस्य पुरम् तस्य विदर्भेन्द्रपुरस्य (ष० तत्पु०)। अगस्त्यहस्ते = अगस्त्यस्य हस्ते (ष० तत्पु०)।

भावः—यथा मुरारेर्जठरे जगद्वा मुनेरगस्त्यस्य करे समुद्रः।
ममौ तथा भूपतिचक्रमेतत् ममौ विदर्भेन्द्रपुरे समस्तम् ॥

अनुवादः—जैसे भगवान् विष्णु के उदर में प्रलय काल में सारा चराचर जगत् समा गया और जैसे अगस्त्य मुनि के करतल में समुद्र समा गया, उसी प्रकार समागत समस्त राजसमूह उस कुण्डिनपुर में समा गया ॥ ३० ॥

पुरे पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयैव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तत्र पुरे उत्सववान्छया एव पथिद्वारगृहाणि चित्रीकृतानि तेषां महीभुजाम् आभरणप्रभाभिः नभः अपि किर्मीरम् अकारि।

व्याख्या—तत्र = कुण्डिनपुरे, उत्सववान्छया = स्वयंवरोत्सवेच्छया, पथिद्वारगृहाणि = मार्गभवनानि, चित्रीकृतानि = चित्रादिना सुसज्जितानि कृतानि। तेषाम् = अभ्यागतानाम्, महीभुजाम् = भूपतीनाम्, आभरणप्रभाभिः = भूषणमणिकिरणैः, नभः = अन्तरिक्षम् अपि = च, किर्मीरम् = चित्रितम्, अकारि = कृतम्।

टिप्पणी—उत्सवस्य वान्छा उत्सववान्छा तया उत्सववान्छया। पथिद्वारगृहाणि = 'पन्थानः द्वाराणि गृहाणि च' (द्वन्द्व०)। चित्रीकृतानि = अचित्राणि चित्राणि कृतानीति चित्रीकृतानि, अभूततद्भावे च्वि प्रत्ययः 'च्वौ च' इतीत्वम्। आभरणप्रभाभिः = आभरणानां प्रभाः ताभिः (ष० तत्पु०) 'चित्रं किर्मीरकल्माषशवलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः। अत्र उदात्तालङ्कारः।

भावः—

उत्सवस्येच्छया द्वारमार्गगृहाणि प्रागभूवन् सुसज्जीकृतान्येव तानि।
आगतानां नृपाणां विभूषा प्रभाभिः काममासीन्नभश्चित्रितं तत्समग्रम्॥

अनुवादः—उस कुण्डिनपुर में उत्सव की इच्छा से ही रास्ते दरवाजे एवं भवन सुसज्जित और चित्रित कर दिये गये थे, आभ्यागत उन राजाओं के भूषणों की प्रभा से आकाश भी चित्रित हो गया॥ ३१॥

विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीस्तेषां तथाऽभूत् परिचारकेऽपि।
अज्ञासिषुः स्त्रीशिशुबालिशास्तं यथागतं नायकमेव कञ्चन॥ ३२॥

अन्वयः—तेषां परिचारके अपि विलासवैदग्ध्यविभूषणश्री तथा अभूत् यथा स्त्रीशिशुबालिशाः तं समागतं कञ्चन नायकम् एव अज्ञासिषुः।

व्याख्या—तेषाम् = समागतानाम्, परिचारके = सेवके, अपि = च, विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीः = कटाक्षभ्रूविक्षेपादिचातुर्यालङ्कारकान्तिः, तथा = तादृशी, अभूत = आसीत्, यथा = येन प्रकारेण, स्त्रीशिशुबालिशाः = नारीबालकमूर्खाः, तम् = परिचारकम्, समागतम् = स्वयंवरार्थमागतम्, कञ्चन = कमपि, नायकम् = नेतारमेव, अज्ञासिषुः = ज्ञातवन्तः।

टिप्पणी—परिचारके = परिचरतीति परिचारकः तस्मिन् तथा, (परि + चर् + ण्वुल्) विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीः = विलासश्च वैदग्ध्यञ्च विभूषणानि

च इति कृतद्वन्द्वानाम्, तेषां श्री: (ष० तत्पु०) विलासवैदग्ध्यविभूषणश्री:। स्त्रीशिशुबालिशा: =स्त्रियश्च शिशवश्च बालिशाश्चेति स्त्रीशिशुबालिशा:। (द्वन्द्व:)।

भाव:—अभ्यागतानां परिचारकानपि स्वाहार्यशोभापरिपूरिताङ्कान्।
समागता: केचन नायका: न्विमे स्त्रीबालकाद्या नहि पर्यचेषु:॥

अनुवाद:—अभ्यागतों के परिचारक भी हाव-भाव-भङ्गी-भूषण आदि से ऐसे सुसज्जित थे कि उन्हें स्त्री बालक एवं अनभिज्ञ लोग समझते थे कि ये भी कोई समागत स्वयंबरार्थी ही हैं॥ ३२॥

अस्वेदगात्राचलश्चामरौघैरमीलनेत्रा: प्रतिवस्तुचित्रै:।
अम्लानमाला विपुलातपत्रैर्देवा नृदेवाश्च भिदा न भेजु:॥ ३३॥

अन्वय:—चलचामरौघै: अस्वेदगात्रा:, प्रतिवस्तुचित्रै: अनिमीलनेत्रा: विधृतातपत्रै: अम्लानमाला: देवा: नृदेवा: च भिदाम् न भेजु:।

व्याख्या—चलचामरौघै: = सञ्चालितचामरसमूहै:, अस्वेदगात्रा: = अस्विन्नकाया:, प्रतिवस्तुचित्रै: = विलक्षणवस्तुदर्शनविस्मयै:, अमीलनेत्रा: = निर्निमेषनेत्रा:, विधृतातपत्रै: = छत्रधारणै:, अम्लानपुष्पस्रज: = असङ्कुचितमाल्यकान्तय:, देवा: = अमरा:, नृदेवा: = नरपतयश्च, भिदाम् = वैलक्षण्यम्, न भेजु: = न आपु:।

टिप्पणी—चलचामरौघै: = चलाश्च ते चामरा: तेषाम् ओघै: (कर्मधारपुरःसर: ष० तत्पु०)। अस्वेदगात्रा: = न विद्यते स्वेदो येषु तादृशानि गात्राणि येषान्ते अस्वेदगात्रा: (बहुव्रीहि:)। प्रतिवस्तुचित्रै: = वस्तूनि वस्तूनि इति प्रतिवस्तु (वीप्सायामव्ययीभाव:), चित्रै: विस्मयै: 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमर:। अमीलनेत्रा: = न मीलन्तीत्यमीलानि, तानि नेत्राणि येषान्ते तथोक्ता: (बहुव्रीहि गर्भो बहुव्रीहि:)। विधृतातपत्रै: = विधृतानि च तानि आतपत्राणि तैस्तथोक्तै:। (कर्मधारय:)। अस्वेदगात्रा:–न विद्यते स्वेदो येषु तादृशानि गात्राणि येषान्ते तथोक्ता: (बहुव्रीहि:)। अम्लानमाला = अम्लाना माला येषान्ते तथोक्ता: (ब० व्री०)।

भाव:—बालव्यजना स्विन्ना विचित्रदृश्यानिमिषनयना:।
छत्रच्छायाम्लान-माला नापुर्देवा नृभिर्भेदम्॥

अनुवाद:—उस स्वयंवर स्थल में चामरों के सञ्चालन से सभी स्वेदरहित

शरीर वाले थे और विचित्र प्रत्येक वस्तु के देखने से साश्चर्य विस्फारित नेत्र होने कारण एवं छत्रच्छाया में रहने के कारण अम्लान माला वाले सभी लोग समान हो गये थे इसलिये देवों और मनुष्यों में कोई भेद लक्षित नहीं हुआ ॥ ३३ ॥

अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु ।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि ॥ ३४ ॥

अन्वयः—दिग्भ्यः समेतेषु अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिः व्यवहारवत्सु नरेषु नरैर्वाग्भिः सौवर्गवर्गः न अचिह्नि ।

व्याख्या—दिग्भ्यः = नानादिग्भ्यः, समेतेषु = समागतेषु, अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः = परस्परभाषानभिज्ञताभयात्, संस्कृत्रिमाभिः = संस्कृतवाणीभिः, व्यवहारवत्सु=तत्र संस्कृतभाषामेव प्रयुञ्जानेषु, नरेषु=मनुष्येषु, वाग्भिः=वचनैरपि, सौवर्गवर्गः = देवलोकवासिदेववर्गः, नरैः = मानवैः, न = नहि, अचिह्नि = पर्यचायि ।

टिप्पणी—अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः=अन्योऽन्येषां भाषा तासां अनवबोधः तस्माद् भीतिः (ष० तत्पुरुषः, पञ्चमी तत्पुरुषश्च) । संस्कृत्रिमाभिः = 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रि प्रत्ययः तदन्तात् 'क्त्रेर्मप् नित्यम्' इति मप् प्रत्ययः । (सम् + कृ + क्त्रि + मप्) सुट् च । सौवर्गवर्गः = स्वर्गे भवा सौवर्गा ('द्वारादीनाञ्च' इत्यैजागमः तेषां वर्गः (ष० तत्पु०) । व्यवहारवत्सु (वि + अव + हृ + घञ्) व्यवहारः ततो मतुप् ।

भावः—विभिन्नभाषाव्यवहारभाजां दिग्भ्यो जनानां समुपागतानाम् ।
सार्वत्रिकी देवगवी प्रयुक्ता नृदेवभेदो न गिराभिलक्षितः ॥

अनुवादः—भिन्न भिन्न दिशाओं से आये हुए अनेक भाषा भाषियों के परस्पर अनभिज्ञता के भय से स्वयंवर में सभी लोग सार्वत्रिकी संस्कृत भाषा से व्यवहार करते थे इस कारण भाषा से भी देव और मनुष्यों में भेद लक्षित नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि ।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशाञ्च तत्स्वप्नसम्भोगकलाविलासैः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—ते तत्र पौरैः चित्रे लेखितानि चित्राणि चरितानि निरीक्ष्य दिवसम् निन्युः निशाः च तत्स्वप्नसम्भोगकलाविलासैः निन्युः ।

व्याख्या—ते = अभ्यागता, तत्र = पुरि, पौरैः=पुरवासिभिः, लेखितानि = चित्रकलाविद्भिः अङ्कितानि, भैम्याः = दमयन्त्याः चित्राणि = नानाविधानि आश्चर्याणि च, चरितानि = अनेकप्रकाराचरितानि, निरीक्ष्य = विलोक्य, दिवसम् = दिनम्, निन्युः=यापयाञ्चक्रुः, निशाः च = रात्रीः च, तत्सम्भोगकलाविलासैः = वासनोपनीतदमयन्तीसुरतकलाकलापविलासानुभवैः, निन्युः = यापयन्ति स्म ।

टिप्पणी—चित्राणि—नानाविधानि आश्चर्याणि च 'आलेख्याश्चर्ययोः चित्रम्' इत्यमरः । तत्सम्भोगकलाविलासैः = तस्याः स्वप्ने याः सम्भोगकलाः त एव विलासाः विनोदाः तैः तथोक्तैः । (ष० तत्पु० कर्मधारयश्च) । निरीक्ष्य (निर् + ईक्ष + क्त्वा—ल्यप्) ।

भावः—तदीहितं दिवाऽङ्कितं निरीक्ष्यभीमजोद्भवम् ।
निशाश्च सुप्तिसंस्मृतम् व्यनेषुरागता जनाः ॥

अनुवादः—अनेक देशों से आये उस नगर में स्थित राजाओं ने यत्र तत्र पुरवासियों द्वारा चित्रित अनेक प्रकार के एवं आश्चर्यजनक दमयन्ती के चरित्रों को देखकर दिन बिताया और स्वप्नों में भावनाओं से उपनीत दमयन्ती के अनेक सुरत कलाओं के अनुभव रूप विनोद से रातों को बिताया ॥ ३५ ॥

सा विभ्रमं स्वप्नगतापि तस्यां निशि स्वलाभस्य ददे यदेभ्यः ।
तदर्थिनां भूमिभुजां वदान्या सती सती पूरयति स्म कामम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सती सा तस्याम् निशि स्वप्नगता अपि रम्यः यत् स्वविभ्रमम् ददे, तत् वदान्या सती अर्थिनाम् भूभुजाम् कामं पूरयति स्म ।

व्याख्या—सती = पतिव्रता, सा = दमयन्ती तस्याम् = स्वयं वरारम्भप्राक्कालिकयाम्, निशि = रात्रौ, स्वप्नगता = स्वप्नसन्निहिता अपि, यत् = प्रस्तुतम्, विभ्रमम् = स्वविलासम्, अलीकम् ददे = दत्तवती तत् = अलीकविभ्रमदानम्, वदान्या = दानशीला, सती = भवन्ती, अर्थिनाम्, स्वकामुकानाम्, भूभुजाम् = राज्ञाम्, कामम् = मनोरथम्, पूरयतिस्म = पूर्णं कृतवती । नलैकजीविताया जागरे दुर्लभं तल्लाभजन्यं सुखमन्वभूवन् मिथ्यात्वात् च नास्याः सतीत्वभङ्गोऽपि जातः ।

टिप्पणी—महीभुजाम् = महीम् भुञ्जन्तीति महीभुजः तेषां महीभुजाम् (उपपदसमासः) भुजेः क्विप् प्रत्ययः ।

भावः—चिराश्रिताशाश्चितचेतसां सा सती समासत्तिमुपेत्य सुप्तौ ।
विभज्य दत्वानिजविभ्रमाणि वदान्यता स्वां प्रकटीचकार ।।

अनुवादः—स्वयंवर की पूर्व रात्रि में पतिव्रता शिरोमणि उस दमयन्ती ने स्वप्न में मिथ्या रूप से सन्निहित होकर पृथक् पृथक् सभी राजाओं को जो अपने विभ्रमभ्रान्तिमय विलास का प्रदान किया वह उसने अपने कामुक अर्थियों के मनोरथ को पूरा कर अपनी वदान्यता दानशीलता को प्रकट किया ।। ३६ ।।

वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः श्रृङ्गारभङ्गीष्वनुभाववत्सु ।
स्वयंवरस्थानजनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः ।। ३७ ।।

अन्वयः—परत्र दिने वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः श्रृङ्गारभङ्गीषु अनुभाववत्सु, तैः वीरैः स्वयंवरस्थानजनाश्रयः अलम् अकारि ।

व्याख्या—परत्र = परस्मिन्, दिने = अहनि, वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः, भीमदूत-प्रार्थनोपनीतैः, श्रृङ्गारभङ्गीषु = रतिभावोद्दीपकेषु, अनुभाववत्सु = कटाक्षविक्षेपादिमत्सु, तैः = समागतैः, वीरैः = शूरैः, स्वयंवरस्थानजनाश्रयः स्वयंवर-मण्डपः, अलमकारि = अलङ्कृतः ।

टिप्पणी—वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः = विदर्भाणां राजा वैदर्भः तस्य दूताः वैदर्भदूताः = तैः अनुनयेन उपहूतैः (ष० तत्पु० तृतीया तत्पु०) श्रृङ्गार-भङ्गीषु = श्रृङ्गारस्य भङ्गयः श्रृङ्गारभङ्गयः तासु श्रृङ्गारभङ्गीषु, (ष० तत्पु०) अनुभाववत्सु, अनुभावा = रतिस्थायीभावकार्यभूता कटाक्षादयः ते सन्ति येषान्ते तेषु (मतुप् प्रत्ययः) स्वयंवरस्थानजनाश्रयः = स्वयंवरस्थानमेव जनाश्रयः (कर्मधारयः) अलमकारि करोतेः कर्मणि लुङ् ।

भावः—श्रृङ्गाराब्धितरङ्गितभावाः दूतैः समानीताः ।
स्वयंवरस्थलमेत्य स्वे स्वे स्थाने समासीदन् ।।

अनुवादः—दूसरे दिन विदर्भ नरेश के दूतों द्वारा प्रार्थनापूर्वक लाये गये श्रृङ्गाररस के व्यञ्जक अनेक भाव भङ्गियों युक्त समागत राजवीर स्वयंवर स्थानभूत मण्डप में आकर अपने-अपने स्थानों को अलङ्कृत किये ।। ३७ ।।

भूषाभिरुच्चैरपि संस्कृते यं वीक्ष्याकृत प्राकृतबुद्धिमेव ।
प्रसूनबाणे विबुधाधिनाथस्तेनाथ साशोभि सभा नलेन ।। ३८ ।।

अन्वयः—विबुधाधिनाथः यं वीक्ष्य भूषाभिः उच्चैः संस्कृते अपि प्रसूनबाणे प्राकृतबुद्धिम् एव अकृत, अथ तेन नलेन सा सभा अशोभि ।

व्याख्या—विबुधाधिनाथः = देवाधिदेवः इन्द्रः, यम् = नलम्, वीक्ष्य = अवलोक्य, भूषाभिः = अलङ्कारैः, संस्कृते = भूषिते, अपि = च, प्रसूनबाणे = कामे, प्राकृतबुद्धिम् = साधारणजनधियम्, एव अकृत = कृतवान् अथ = सर्वागमानन्तरम्, तेन = प्रसिद्धेन, न्यक्कृतकामश्रिया नलेन = नैषधेन, सा सभा = समागतनृपतिसमाजः अशोभि = शोभायुक्ता कृता विभूषितेत्यर्थः।

टिप्पणी—विबुधाधिनाथः = विबुधानामधिनाथः (ष० तत्पु०)। वीक्ष्य= वि + ईश + क्त्वा तस्य ल्यप्। प्राकृतबुद्धिम् = प्राकृतस्य बुद्धिम् (ष० तत्पु)। अशोभि—कर्मणि लुङ्।

भावः—भूषितमपि रतिनाथम् यं दृष्ट्वाऽकृत समां बुद्धिम्।
देवपतिर्निषधेशः सोऽयं प्रायात् सभामध्यम्॥

अनुवादः—देवराज इन्द्र जिसको देखकर भूषणों से सुसज्जित कामदेव में भी साधारण जन की धारणा किये, उस नल ने सबके बाद आकर उस राजसभा को अलंकृत किया॥ ३८॥

धृताङ्गरागे कलितद्युशोभां तस्मिन् सभां चुम्बति राजचन्द्रे।
गता बताक्ष्णोर्विषयं विलङ्घ्य क्व क्षत्रनक्षत्रकुलस्य लक्ष्मीः॥ ३९॥

अन्वयः—धृताङ्गरागे तस्मिन् राजचन्द्रे कलितद्युशोभां सभां चुम्बति क्षत्रनक्षत्रकुलस्य लक्ष्मीः अक्ष्णोः विषयं विलङ्घ्य क्व गता बत।

व्याख्या—धृताङ्गरागे=धृतानुलेपनरूपचन्द्रबिम्बरागे, राजचन्द्रे=नृपशशिनि-कलितद्युशोभाम् = विधृताकाशश्रियम्, सभाम् = स्वयंवरसभाम्, चुम्बति = प्राप्ते सति, क्षत्रनक्षत्रकुलस्य = राजन्यतारामण्डलस्य, लक्ष्मीः = शोभा, अक्ष्णोः = नयनयोः, विषयम् = आस्पदम्, विलङ्घ्य = विहाय, क्व = कुत्र, गता = प्रयाता, बत = आश्चर्ये बतशब्दोऽत्र। तस्मिन् नलोदये चन्द्रोदये नक्षत्रकुलमिव क्षत्रकुलं निष्प्रभं जातमित्यर्थः। अत्र निदर्शनारूपकयोरङ्गाङ्गीभावरूपः सङ्करः।

टिप्पणी—धृताङ्गरागे=धृतः अङ्गरागो येन सः (बहु० व्री०)। राजचन्द्रे = राजा एव चन्द्रः तस्मिन् (मयूरव्यंसकादि समासः)। कलितद्युशोभाम् = दिवः शोभा द्युशोभा, कलिता द्युशोभा यया सा ताम्। (ष० तत्पु० गर्भो बहुव्रीहिः)। क्षत्रनक्षत्रकुलस्य=क्षत्राणि एव नक्षत्राणि तेषां कुलं तस्य तथाभूतस्य। (मयूरव्यंसकादि समाज, ष० तत्पु० च)।

भावः—ओषसरागमिवाश्रितमनुलेपनं संविभ्राणे ।
द्यामिव सभां विचुम्बति नलेन लेभे नृपैः शोभा ॥

अनुवादः— सान्ध्यराग के समान अङ्गराग को धारण करते हुये उस नृपचन्द्र नल के सभा में प्राप्त होने जाने पर चन्द्रमा के आकाश मण्डल में आ जाने से नक्षत्रों की शोभा के समान राजाओं की शोभा आंखों के विषयता को त्याग कर न जाने कहाँ चली गई, यह आश्चर्य है। सभी की दृष्टि अन्यत्र से हटकर उस नल को देखने में लग गयी ॥ ३९ ॥

प्राग् दृष्टयः क्षोणिभुजाममुष्मिन्नाश्चर्यपर्युत्सुकिता निपेतुः ।
अनन्तरं दन्तुरितभ्रुवान्तु नितान्तमीर्ष्याकलुषा दृगन्ताः ॥ ४० ॥

अन्वयः—प्राक् अमुष्मिन् क्षोणिभुजाम् दृष्टयः आश्चर्यपर्युत्सुकिताः निपेतुः अनन्तरम् तु दन्तुरितभ्रुवाम् दृगन्ताः नितान्तम् ईर्ष्याकलुषाः निपेतुः ।

व्याख्या—प्राक् = प्रथमदर्शने, अमुष्मिन् = नले, क्षोणिभुजाम् = नृपणाम्, दृष्टयः = नेत्राणि, आश्चर्यपर्युत्सुकिताः = विस्मेरोत्कण्ठिताः, निपेतुः = नियतन्ति स्म, अनन्तरम् = पश्चात्, तु दन्तुरितभ्रुवाम् = द्वेषात् विषमितभ्रुवाम्, दृगन्ताः = दृक् कोणाः, नितान्तम् = अत्यन्तम्, ईर्ष्याकलुषाः = विद्वेषमलिनाः, निपेतुः= न्यपतन् ।

टिप्पणी—क्षोणिभुजाम् = क्षोणिम् भुञ्जन्तीति क्षोणिभुजः तेषां क्षोणिभुजाम् सोपपदाद् भुजेः क्विप् (उपपदसमासः)। आश्चर्यपर्युत्सुकिता = विस्मयविकसिताः आश्चर्येण पर्युत्सुकिताः (तृ० तत्पु०)। दन्तुरिताभ्रुवावाम् = दन्तुरिता भ्रुवो येषान्ते तेषां दन्तुरितभ्रुवाम् (बहुव्रीहिः)। ईर्ष्याकलुषाः = ईर्ष्यया कलुषाः (तृ० तत्पु०)। प्राक्सौन्दर्यातिशयविलोकनेन विस्मेरत्वात् विस्फारिता दमयन्तीलाभवैधुर्यकलनेन तु मालिन्यं तासामिति भावः ।

भावः—सचकितं प्रथमं प्रभया तया नलमवेक्ष्य समुत्सुकचक्षुषा ।
तदनुसेर्ष्यनिचीनदृगन्ततो नृपतयो ददृशुश्च सभागतम् ॥

अनुवादः—सभा में वर्तमान राजा लोगों ने आये हुए नल को पहले सौन्दर्यातिशय के कारण साश्चर्य होकर बड़ी उत्कण्ठा से देखा, बाद में दमयन्ती के लाभ से निराश होने के कारण ईर्ष्या से कलुषित आँखों के कोण से देखा अन्तर्निहित भाव के कारण थोड़े ही समय में दृष्टि में महान् अन्तर हो गया ॥ ४० ॥

सुधांशुरेष प्रथमो भुवीति स्मरो द्वितीयः किमसाविति मम्।
दस्रस्तृतीयोऽयमिति क्षितीशाः स्तुतिच्छलान्मत्सरिणो निनिन्दुः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मत्सरिणः क्षितीशाः भुवि एषः प्रथमः सुधांशुः किम्, असौ द्वितीयः स्मरः किम्, अयम् तृतीयः दस्रः किम् इति इमम् स्तुतिच्छलात् निनिन्दुः।

व्याख्या—मत्सरिणः = परगुणद्वेषिणः, क्षितीशाः = राजानः, भुवि = भूतले, एषः = पुरस्ताद् दृश्यमानः, प्रथमः = आद्यः, सुधांशुः = चन्द्रः, किम्, असौ = एषः द्वितीयः = अपरः, स्मरः = कामः किम्, अयम् = एषः, तृतीयः = त्रिसङ्ख्यापूरकः, दस्रः = अश्विनीकुमारः किम्, इति = एवम्, स्तुतिच्छलात् = प्रशंसाव्याजात्, एनम् = नलम्, निनिन्दुः = निन्दितवन्तः।

टिप्पणी—मत्सरिणः = मत्सरोऽस्त्येषामिति मत्सरिणः (मत्वर्थीय इनिः)। क्षितीशाः = क्षितेः ईशाः (ष० तत्पु०)। स्तुतिच्छलात् = स्तुतिरेव छलम् तस्मात् (कर्मधारयः)। द्वितीयः = द्वयोः पूरणः द्विशब्दात् 'द्वेस्तीयः' इति तीयप्रत्ययः। तृतीयः त्रयाणां पूरणः 'त्रेः सम्प्रसारणञ्च' इति तीयप्रत्ययः सम्प्रसारणञ्च।

भावः—

चन्दिरः सुन्दरो भूगतः किन्नवः स स्मरो वा दशोर्लक्ष्यतां नो गतः।
अश्विनोः काऽपि सङ्ख्या त्रिकापूरणी वीक्ष्य भूपा नलं तं क्षतादस्तुवन् ॥

अनुवादः—गुणद्वेषी सभी राजे 'भूतल में यह पहला चन्द्रावतार है क्या, यह दूसरा काम है क्या, एवं अश्विनी कुमारों का तीसरा है क्या, इस प्रकार स्तुति के बहाने नल की निन्दा करने लगे ॥ ४१ ॥

आद्यं विधोर्जन्म स एष भूमौ द्वैतं युवाऽसौ रतिवल्लभस्य।
नासत्ययोर्मूर्तिरियं तृतीया इति स्तुतस्तैः किल मत्सरैः सः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—सः एषः भूमौ आद्यम् विधोः जन्म, असौ युवा रतिवल्लभस्य द्वैतम् नासत्ययोः तृतीया मूर्तिः इति तैः सः मत्सरैः स्तुतः किल।

व्याख्या—सः एषः = नलः, भूमौ = धरण्याम्, विधोः = चन्द्रमसः, आद्यम् = प्रथमम्, जन्म = उत्पत्तिः, असौ युवा = तरुणः, रतिवल्लभस्य = कामस्य, द्वैतम् = द्वित्वम्, इयम् = एतादृशी, नासत्ययोः = दस्रयोः तृतीया = त्रिसङ्ख्यापूरणी, मूर्तिः = आकारः, इति = एवम्, सः = नलः, तैः = भूपतिभिः, मत्सरवद्भिः स्तुतः = परिणूतः।

टिप्पणी—स एवार्थः कविना भङ्ग्यन्तरेण पुनरुक्तः ।

भावः—अधिभुवि नवः सुधांशुः रतिनाथोऽयं श्रितो द्वित्वम् ।
दस्रतृतीया मूर्तिः स्तुत्योऽप्येवं नुतो दुष्टैः ॥

अनुवादः—यह नल भूतल में चन्द्रमा का प्रथमावतार है, यह युवक काम का द्विर्भाव है, यह अश्विनी कुमार की तीसरी मूर्ति है, इस प्रकार उन गुणद्वेषी राजाओं ने नल की स्तुति के व्याज से निन्दा की ॥ ४२ ॥

इहेदृशाः सन्ति कतीति दुष्टैर्दृष्टान्तितालीकनलावली तैः ।
आत्मापकर्षे किल मत्सराणां द्विषः परस्पर्द्धनया समाधिः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—दुष्टैः तैः इह ईदृशाः कति सन्ति, इति अलीकनलाली दृष्टान्तिता मत्सराणाम् आत्मापकर्षे सति द्विषः परस्पर्धनया समाधिः किल ।

व्याख्या—दुष्टैः = खलैः, तैः = भूपतिभिः, इह=अस्यां सभायाम्, ईदृशाः = एवंविधाः, कति = अनेके, सन्ति = वर्तन्ते, इति = एवमुक्त्वा, अलीकनलाली = कृतकनलाकृतयो देवाः दृष्टान्तिताः=दृष्टान्तीकृताः, मत्सराणाम् = मात्सर्यवताम्, आत्मापकर्षे = शत्रुसकाशात् न्यूनत्वे सति, द्विषः = प्रतिपक्षस्य, परस्पर्धनया = सङ्घर्षणया कोट्यन्तरसाधारण्यापादनेनेत्यर्थः । समाधिः = आत्मापकर्षपरिहारः किल = खलु ।

टिप्पणी—ईदृशाः = इमे इव दृश्यन्त इति ईदृशाः इदम् पूर्वकाद् दृशेः कञ् प्रत्ययः, इदं किमोरीश्की इतीशादेशः, 'दृग्दृश्वतुषु' इति दीर्घः । कति = किमः परिमाणे डति प्रत्ययः किमः कादेशः । अलीकनलाली = अलीकाश्च ते नलाः (कर्म०) तेषाम् आली (ष० तत्पु०) । दृष्टान्तिताः = दृष्टान्तशब्दात् नामण्यन्तात् क्तः । आत्मापकर्षे = आत्मनः अपकर्षे । (ष० तत्पु०) स्पर्धनया = स्वार्थे ण्यन्ताद् युच् । अर्थान्तरन्यासः ।

भावः—दिव्यरूपमवलोक्य तं नलं दुष्टचेतस इदं नृपा जगुः ।
ईदृशा इह हि सन्त्यनेकशः कल्पिताकृतिनलाः प्रदर्शिताः ॥

अनुवादः—दुष्ट राजाओं ने इस सभा में ऐसे कितने नल बैठे हैं ऐसा कहकर बनवटी नल रूपधारी देवताओं को दृष्टान्त रूप में दिखलाया । ऐसा देखा गया है कि किसी की अपेक्षा से अपनी न्यूनता होने पर मत्सरी लोग प्रतिपक्षी को को अन्य के समकक्षवत्ता कर अपनी न्यूनता का समाधान करते हैं ॥ ४३ ॥

गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये दोषान्तरोक्तिः खलु तत् खलत्वम् ।
रूपेण तत्संसददूषितस्य सुरैर्नरत्वं यददूषि तस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयः—केन अपि गुणेन अनवद्ये जने दोषान्तरोक्तिः तत् खलत्वम् खलु, यत् रूपेण तत्संसद् अदूषितस्य तस्य सुरैः नरत्वम् अदूषि ।

व्याख्या—केनापि = लोकातिगामिना, गुणेन = सौन्दर्यादिना, अनवद्ये = स्तुत्यर्थे, जने = लोके विषये, दोषान्तरोक्तिः = दोषान्तरकथनम्, तत् = दोषकथनम् खलत्वम् = दुष्टता खलु, यत् = यस्मात्, रूपेण = सौन्दर्यसम्पदा, अदूषितस्य = तया सभया प्रशंसितस्य, तस्य = नलस्य, नरत्वम् = मानुष्यकम्, अदूषि सुन्दरोऽपि नरोऽयं न देव इति निन्दितः ।

टिप्पणी—अनवद्ये = न वद्य अवद्यः न अवद्यः अनवद्यः ('अवद्यपण्य-गर्ह्ये'त्यादिना निपातनात् साधुत्वम्) । दोषान्तरोक्तिः = अन्यः दोषः दोषान्तरम् तस्य उक्तिः, (पूर्वं च मयूरव्यंसकादिः परत्र ष० तत्पु०) । तत्संसददूषितस्य = तया संसदा अदूषितस्य (तृ० तत्पुरुषः) । अदूषि = दूषते कर्मणि लुङ् ।

भावः—नर इति निन्दा देवैः नलस्य गुणवतो विहिता ।
खलतैवेषा तेषां प्रत्युत तामेव सम्प्रयताम् ॥
गुणगरिमणि नरविषये केनाप्यापद्य दोषेण ।
या क्रियते खलु निन्दा खलतैवेषा परं ज्ञेया ॥

अनुवादः—किसी लोकोत्तर गुण से परम प्रशस्त व्यक्ति की किसी कल्पित दोष से जो निन्दा की जाती है उसको निन्दक की दुष्टता ही समझनी चाहिये जो उस समय सभी सभा से प्रशंसित उस नल की देवों ने 'सुन्दर है किन्तु मनुष्य है' ऐसी निन्दा की । उलटे अच्छा होने के लिये जब कि उन्होंने ही उस नरता को धारण किया है नल बनकर सभा में बैठे हैं ॥ ४४ ॥

नलानसत्यानवदत् स सत्यः कृतोपवेशान् सविधे सुरेशान् ।
नोभाविलाभूः किमु दर्पकश्च भवन्ति नासत्ययुजो भवन्तः ? ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सत्यः सः असत्यान् नलान् सविधे कृतोपवेशान् सुरेशान् अवदत्, भवन्तः नासत्ययुजौ उभौ इलाभूः दर्पकश्च किम् ।

व्याख्या—सत्यः = यथार्थः, सः = नलः, असत्यान् = कल्पिताकारान् नलान्, सविधे = समीपे, कृतोपवेशान् = विहितस्थितीन्, सुरेशान् = देवधीशान्, अवदत् = अचकथयत्, भवन्तः = यूयम् नासत्ययुजौ = आश्विनेयसहितौ, उभौ = द्वौ, इलाभूः = पूरुरवाः, दर्पकः = कामः, च किमु इति प्रश्ने ।

टिप्पणी—असत्यान् = न सत्यान् असत्यान् (नञ् तत्पु०)। कृतोपवेशान् = कृतः उपवेशो यैस्ते कृतोपवेशास्तान् कृतोपवेशान् (बहुव्रीहिः)। सुरेशान् = सुराणामीशास्तान् (ष० तत्पु०)। नासत्ययुजो = नासत्याभ्यां युज्येते इति नासत्ययुजौ 'सत्सू' इत्यादिना युजेः क्विप् प्रत्ययः। अथवा न सत्यौ असत्यौ न असत्यौ नासत्यौ।

भावः—कृतकनलान् सविधस्थान् अवदत् सत्यो नलो यूयम्।
किन्नासत्यामैलः कामश्चात्रागताः सर्वे॥

अनुवादः—सत्य नल ने पास में बैठे बनावटी नल रूपधारी देवों से कहा कि आप लोग अश्विनीकुमारों के सहित पुरुरवा एवं कामदेव एक साथ इस स्वयंवर सभा में आये हैं क्या॥ ४५॥

अमी तमाहुः स्म यदत्र मध्ये कस्यापि नोत्पत्तिरभूदिलायाम्।
अदर्पकाः स्मः सविधे स्थितास्ते नासत्यतां नापि बिभर्ति कश्चित्॥ ४६॥

अन्वयः—अमी तम् आहुः स्म यत् ते सविधे स्थिता अत्र कस्य अपि इलायाम् उत्पत्तिः न अभूत्, अदर्पकाः स्मः, कश्चित् नासत्यताम् अपि न बिभर्ति।

व्याख्या—अमी = कल्पितनलाकाराः देवाः, तम् = नलम्, आहुः स्म = कथयन्ति स्म, यत् = यस्मात् कारणात्, ते = तव, सविधे = समीपे, स्थिताः = अवस्थिता, ये वयम् अत्र = अस्माकं मध्ये, कस्यापि = कस्यचनपि, इलायाम् = धरण्याम्, पक्षे—इलानाम्न्यां स्त्रियाम्, उत्पत्तिः = जनिः, न अभूत् = नाभवत्, अदर्पकाः = कामभिन्नाः, पक्षे—दर्परहिताः स्मः, कश्चित् = कोऽपि, नासत्यताम् = दस्रताम्, पक्षे—सत्यताम्, न बिभर्ति = न धारयति, न वयं आश्विनेयौ पुरुरवाः कामश्च स्मः। पक्षे—अस्मासु न कोऽपि भूमावुत्पन्नः वयं दर्परहिता असत्या मिथ्याभूताकृतयः स्मः।

टिप्पणी—आहुः स्म—'लट् स्मे' इति भूतकाले लट्। इला = काचित् स्त्री-भूमिश्च 'गोभूवाचस्त्विडा इला' इत्यमरः। अदर्पका = दर्पः—अभिमानः कामश्च, तद्रहिताः, तद्भिन्नाश्च, कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः' इत्यमरः, नासत्यताम् = नसत्यः असत्यः न असत्यः नासत्यः निपातनान्नलोपाभावः।

भावः—ते तमूचुर्नलं कोऽपि नैलाभवोऽदर्पकास्ते समीपे वय संस्थिताः।
कोऽपि नासत्यतां नो दधात्यत्र नो विद्धि सर्वानिमानेवमेव स्वयम्॥

अनुवादः—उन कल्पित नलाकार देवों ने नल को श्लिष्ट शब्दों में उत्तर

इस प्रकार दिया। जो हम लोग तुम्हारे सन्निकट स्थित हैं उनमें कोई भी इलाभू (पुरुरवा) नहीं है न काम है न नासत्य (अश्विनी कुमार) है। अथ च कोई भौम (भूतल पर जन्मा) नहीं हैं, सभी दर्पहीन है कोई भी सत्य नहीं है, सब झूठे हैं। इस प्रकार शब्द छल से वे लोग अपना सही परिचय दे दिये ॥४६॥

तेभ्यः परान्नः परिभावयस्व श्रिया विदूरीकृतकामदेवान्।
अस्मिन् समाजे बहुषु भ्रमन्ती भैमी किलास्मासु घटिष्यतेऽसौ ॥ ४७ ॥

अन्वयः—श्रिया विदूरीकृतकामदेवान् नः तेभ्यः परान् परिभावयस्व, अस्मिन् समाजे बहुषु भ्रमन्ती असौ भैमी अस्मासु घटिष्यते।

व्याख्या—श्रिया = कान्त्या, विदूरीकृतकामदेवान् = न्यक्कृतमनोभवान्, नः = अस्मान्, तेभ्यः = पूर्वोक्तेभ्यः, परान् = इतरान्, परिभावयस्व = जानीहि, अस्मिन् समाजे = स्वयंवरस्थलगतराजलोके, बहुषु = बहुत्र, भ्रमन्ती = भ्रमणं कुर्वाणा नलभ्रममादधाना वा, असौ भैमी=सा भीमपुत्री दमयन्ती, अस्मासु = तदनुरूपेषु घटिष्यते = संभन्त्स्यते किलेति सम्भावनायाम्।

टिप्पणी—विदूरीकृतकामदेवान्=विदूरीकृतः कामदेवो यैस्ते तान् (ब० व्रीहि)। समाजे = सम्पूर्वादजेर्घञ् भ्रमन्ती = अयं नल इति भ्रमं कुर्वाणा अत्रार्थ द्रवस्यापि विवक्षणात् प्रकृतश्लेषः।

भावः—अभिकानभिभूय भूयसः क्षितिपान्नः परिभूतदर्पकान्।
नहि भीमभवा भवे भविष्णुः परभार्या शुभहावभावभव्या ॥

अनुवादः—कान्ति से कामदेव को तिरस्कृत करने वाले हम लोगों को पूर्वोक्त देवों से भिन्न समझो, अनेक राजाओं के निकट घूमती हुई वह दमयन्ती हम लोगों का वरण करेगी, यहाँ पर अनेक नलाकारों में भ्रम से (ये ही नल हैं ऐसा भ्रम करके) हम लोगों का वरण करेगी इसी आशा से हम लोग आये हैं ऐसा गूढ भाव है ॥ ४७ ॥

असाम यन्नाम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः।
तन्नो धिगाशापतितान्नरेन्द्र ! धिक् चेदमस्मद्विबुधत्वमस्तु ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे नरेन्द्र ! यत् तव नाम रूपं च स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः इह असाम, तत् आशापतितान् नः धिक्, इदं अस्माकं विबुधत्वम् च धिक् अस्तु।

व्याख्या—हे नरेन्द्र = नृपते, यत् = यस्मात् कारणात्, तव = भवतः, नाम = अभिधेयम्, रूपम् = आकारम् च, स्वेन = आत्मना, अधिगत्य = ज्ञात्वा, अपि

श्रितमुग्धभावाः = अङ्गीकृतमूढभावाः, सन्तः इह = स्वयंवरे, असाम = भवाम, तत् = तस्मात्, आशापतितान् = भैमीलाभाशया आगतान्, नः = अस्मान्, धिक्, इदञ्च अस्माकम् विबुधत्वम् = देवत्वम् विपश्चित्त्वञ्च धिक् अस्तु। पक्षान्तरे–यत् तव नाम रूपञ्च अधिगत्य = विधाय, श्रितमुग्धभावाः = प्राप्तसौन्दर्यश्रियः इह असाम = दीव्यामहे, तत् = तस्मात्, नः = अस्माकम् दिक्पालत्वम् धिक्, विबुधत्वम् = देवत्वञ्च धिक् अस्तु।

टिप्पणी—नरेन्द्रः = नराणामिन्द्रः नरेन्द्रः (ष० तत्पु०) अधिगत्य = अधि + गम् + क्त्वा–ल्यप्। श्रितमुग्धभावाः = श्रितः मुग्धभावो यैस्ते (बहुव्रीहिः) 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। असाम = अस् धातोः लोट् उत्तमपुरुषबहुवचनम्, पक्षे 'अस्' गति दीप्त्यादानेषु, इति धातो रूपम्। आशापतिताम् (न्) = आशया पतितास्तान् (तृ० तत्पु०) पक्षे आशाया पतयः तेषां भावः आशापतिताम् (ष० तत्पु०) 'आशा तृष्णा दिशोरपि' इति विश्वः। विबुधत्वं = देवत्वं विपश्चित्त्वञ्च, 'विबुधः पण्डिते देवे' विश्वः। श्लेषालङ्कारः।

भावः—
नाम रूपमधिगम्य ते स्वयं भीमजाधिगमकाङ्क्षयाऽऽगतान्।
तिष्ठतोऽत्र विबुधान् विमोहितान् नोधिगस्तु सदसि प्रतिष्ठितान्॥
पक्षे—तावकं नाम रूपञ्च धृत्वा वयं भीमजालाभलोभात् समृद्धश्रियः।
आगता यत्ततो दिक्पतित्वं तथा देवतात्वञ्च नो धिक् निचीना वयम्॥

अनुवादः—हे नरेन्द्र! आप के नाम एवं रूप को स्वयं जान कर भी मूर्खता को धारण कर हम लोग जो यहाँ वर्तमान है इस कारण दमयन्ती के लाभ के लोभ से आये अथवा देव भाव से पतित हुये हम लोगों को धिक्कार है और हम लोगों की विद्वत्ता को भी धिक्कार है।

पक्ष में—हे नरेन्द्र! तुम्हारे नाम और रूप को धारण करके जो हम लोग यहाँ सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं दमयन्ती के लाभ के लोभ से इस कपट करने वाले हम लोगों की दिक्पालता को धिक्कार है और हम लोगों के देवत्व को भी धिक्कार है॥ ४८॥

सा वागवाज्ञायितमां नलेन तेषामनाशङ्कितवाक्छलेन।
स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नमग्नमेनं न हि स्म प्रतिभाति किञ्चित्॥ ४९॥

अन्वयः—अनाशङ्कित वाक्छलेन नलेन तेषां सा वाक् अवज्ञायितमां स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नलग्नम् किञ्चित् न प्रतिभाति स्म।

व्याख्या—अनाशङ्कितवाक्छलेन = अज्ञातदेववाक्कपटेन, नलेन = नैषधेन, तेषाम् = देवानाम्, सा = पूर्वोक्ता, वाक् = वाणी, अवज्ञायितमाम् = अत्यन्तमवहेलिता, स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नलग्नम् = नारीललामलिप्सासमुचितदेवादिध्यानमग्नम्, किञ्चित् = किमपि । न प्रतिभातिस्म = न ज्ञायतेस्म । अतोऽन्यचित्ततया देवानां व्याजोक्तिस्तेन नाकलितेति भावः ।

टिप्पणी—अनाशङ्कितवाक्छलेन = न आशङ्कितः अनाशङ्कितः (नञ् तत्पु०) अनाशङ्कितः वाचां छलः (ष० तत्पु०) येन सः (बहुव्रीहिः) । तेन तथोक्तेन । अवज्ञायितमाम् = अवपूर्वात् ज्ञाधातोः कर्मणि लुङ् अवज्ञायि ततः 'तिङश्चेति तमप्प्रत्ययः तस्य 'तरप्तमपौ घः' घसंज्ञा, ततः 'किमेत्तिङव्ययघादि'त्यादिना आम् प्रत्ययः । स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नलग्नम् = स्त्रीरत्नलाभे उचितो यः यत्नः तत्र लग्नम् (स० तत्पु०) । प्रतिभातिस्म = 'लटः स्मे' इति भूतार्थे लट् ।

भावः—स्त्रीरत्नलाभाभिनिविष्टचेताः निजेष्टदेवाहितशान्तभावः ।
नलो न तेषां छलवाङ्निगूढं व्याजोक्तभावं कलयाञ्चकार ॥

अनुवादः—देवताओं की वाणी के छल के प्रति आशङ्का न होने के कारण नल ने उसकी अत्यन्त अवहेलना कर दी, उधर ध्यान ही नहीं दिया, समयानुकूल उसका सीधा ही अर्थ लगाया क्योंकि उनका मन स्त्रीरत्न उस दमयन्ती के लाभार्थं अपने इष्टदेव के ध्यान में लगा था उसको अन्य कुछ नहीं ज्ञात हो रहा था ॥ ४९ ॥

यः स्पर्द्धया येन निजप्रतिष्ठां लिप्सुः स एवाह तदुन्नतत्वम् ।
कः स्पर्द्धितुः स्वाभिहितस्वहानेः स्थानेऽवहेलां बहुलां न कुर्यात् ? ॥ ५० ॥

अन्वयः—यः येन स्पर्धया प्रतिष्ठां लिप्सुः सः तस्य उन्नतत्वम् आह, कः स्वाभिहितस्वहानेः स्पर्धितुः स्थाने अवहेलनां न कुर्यात् ।

व्याख्या—यः = कोऽपि न्यूनगुणः, येन = अधिकगुणेन, स्पर्धया = संघर्षेण, प्रतिष्ठाम् = उन्नतिम्, लिप्सुः = लब्धुमिच्छुः, स्पृहयालुः, सः = स्पर्धयिता तस्य स्पर्धाविषयस्य, उन्नतत्वम् = उत्कृष्टत्वम् आह = कथयति, कः = उक्तात्मगुणः, स्वाभिहितस्वहानेः = स्वप्रकटितनिजापकृष्टत्वस्य, स्पर्धितुः स्थाने = उचितामेव अवहेलाम् = अवज्ञाम्, न कुर्यात् = न विदधीत ।

टिप्पणी—स्पर्धया = स्पृहिगृहीत्यादिना अङ्प्रत्ययः । लिप्सुः = लभ् धातोः सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इत्युप्रत्ययः ।

भावः—स्वप्रेप्सितस्वेष्टगुणस्य यस्य स्पर्धी विधत्ते पुरुषः स तस्य ।
श्रेष्ठत्वमाहस्म ततो हि तत्र करोत्यवज्ञामधिकां सुयुक्ताम् ॥

अनुवादः—जो व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये किसी श्रेष्ठ गुण वाले से स्पर्धा करता है वह उसकी श्रेष्ठता और अपनी न्यूनता को स्वयं कह देता है इसलिये उसके प्रति अवहेलना करना उचित ही है यही कारण था कि नल ने उन देवों की अवहेलना की ॥ ५० ॥

गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः श्रिया तडित्वल्ललिताभिनेता ।
मुदा तदाऽवैक्षत केशवस्तं स्वयंवराडम्बरमम्बरस्थः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—तदा केशवः गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः श्रिया तडित्वल्लसिताभिनेता अम्बरस्थः तत् स्वयंवराडम्बरं मुदा ऐक्षत ।

व्याख्या—तदा = तस्मिन् काले, केशवः = श्रीविष्णुः, गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः = सरस्वतीकृतकीर्तिस्तुतिः, श्रिया = लक्ष्म्या तडित्वल्लसिताभिनेता = सचपलमेघश्रीकः, अम्बरस्थः = आकाशस्थः, तत् = प्रस्तुतम् स्वयंवराड्म्बरम् = स्वयंवरसमारोहम्, मुदा = आनन्देन, ऐक्षत = अवालुलोकत् ।

टिप्पणी—गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः = गिरां देवता गीर्देवता (ष० तत्पु०) तया गीता यशःप्रशस्तिर्यस्य सः तथोक्तः (बहुव्रीहिः) तडिद्वल्लसिताभिनेता = तडिद्वतः लसितम् (ष० तत्पु०) तस्याभिनेता (ष० तत्पु०) सरस्वती-लक्ष्मीभ्यां युक्तः । स्वयंवरस्य आडम्बरम् स्वयंवराडम्बरम् । ऐक्षत = ईक्षतेर्लङ्-लकारः ।

भावः—वाणीवर्णितसुयशाः लक्ष्मीविद्युल्लसद्घनश्यामः ।
अम्बरमध्यावस्थः हरिरैक्षत स्वयंवराकल्पम् ॥

अनुवादः—उस काल में भगवान् श्रीविष्णु वाणी द्वारा वर्णित कीर्ति वाले एवं लक्ष्मी के सान्निध्य से चपला से युक्त मेघ के समान कान्तियुक्त होकर आकाश में स्थित होकर उस स्वयंवर के भव्य समारोह को देख रहे थे ॥ ५१ ॥

अष्टौ तदाऽष्टासु हरित्सु दृष्टीः सदो दिदृक्षुर्निदिदेश देवः ।
लैङ्गीमदृष्ट्वाऽपि शिर श्रियं यो दृष्टौ मृषावादितकेतकोकः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तदा सदः दिदृक्षुः देवः अष्टासु हरित्सु दृष्टीः निदिदेश, यः लैङ्गीं शिरःश्रियम् अदृष्ट्वा अपि मृषावादितकेतकीकः ।

व्याख्या—तदा = तस्मिन् काले, सदः = स्वयंवरसभाम्, दिदृक्षुः = द्रष्टुमिच्छुः, देवः = चतुराननः, अष्टासु = अष्टसङ्ख्याकासु, हरित्सु = दिक्षु, दृष्टीः = नयनानि, निदिदेश = ददाति स्म, यः = ब्रह्मा, लैङ्गीं = शिवलिङ्गसम्बन्धिनीम्, शिरःश्रियम् = शिरोभागशोभाम्, अदृष्ट्वा = अनवलोक्यापि मृषावादितकेतकीकः = कूटसाक्षीकृतकेतकीकुसुमः । एवंविधब्रह्मपरिचायकः कौतुकी कविः कमनीयः ।

टिप्पणी—दिदृक्षुः = दृशे सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इत्युप्रत्ययः । लैङ्गीम् = लिङ्गस्येयं लैङ्गी ताम्, शिरसः श्रीः ताम् (ष० तत्पु०) मृषा वादिता केतकी येन सः (बहुव्रीहि) मृषा वदतीति मृषावादिनी तादृशी कृता मृषावादिशब्दात् 'तत्करोति' ण्यन्तात् क्तप्रत्ययः । अनाद्यन्तस्य महतशिवलिङ्गस्यावलोकनाय (पर्यन्तज्ञानाय) उपरि ब्रह्मा अधोभागे विष्णुर्जगाम विष्णुः सत्यं कथितवान् 'न मयाऽधोभागपर्यन्तो दृष्टः' ब्रह्मा चोपरि गतः स्वयं मिथ्यावदत् 'मयोपरिभागपर्यन्तो दृष्टः' तत्र सत्यापनाय केतकीकुसुमः कूटसाक्षित्वं प्रापितः । इति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया । ततश्च शिवेन ब्रह्मा शप्तः 'तव पूजां न केऽपि करिष्यन्ति' केतकी च 'न त्वं मम पूजायामुपयोक्ष्यसे' इति शप्ता ।

भावः—स्वयंवरसभां द्रष्टुं तत्रास चतुराननः ।
एकदैवाष्टदिक्ष्वाष्टव्यापारितविलोचनः ॥

शिरः शैवलिङ्गस्य चाप्रेक्षिताऽपि मृषा केतकी येन सक्षीकृता वै ।
विधाता स दृष्टीः दिशः स्वाः दिदेश तदाष्टौ दिदृक्षुः सदस्तत् समास्त ॥

अनुवादः—उस काल में सभा को देखने के लिये ब्रह्मा ने एक बार ही आठों दिशाओं को देखने के लिये आठों नेत्रों को लगा दिया । जिन्होंने भगवान् शङ्कर के अनाद्यन्तलिङ्ग के शिरोभाग के पर्यन्त को न देखकर भी झूठ बोला 'मैंने देखा है' और केतकी कुसम से झूठी गवाही दिलवायी । इस प्रकार ब्रह्मा के परिचय देने वाले कौतुकी कवि को धन्यवाद ॥ ५२ ॥

एकेन पर्यक्षिपदात्मनाऽद्रिं चक्षुर्मुरारेरभवत् परेण ।
तैर्द्वादशात्मा दशभिस्तु शेषैर्दिशो दशालोकत लोकपूर्णाः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—द्वादशात्मा एकेन आत्मना अद्रिम् पर्यक्षिपत् अपरेण मुरारेः चक्षुः अभवत्, शेषैः दशभिः लोकपूर्णाः दश दिशः अलोकत ।

व्याख्या—द्वादशात्मा = द्वादशाकारः भास्करः, एकेन आत्मना = स्वरूपेण

अद्रिम् = सुमेरुम् पर्यक्षिपत् = पर्यक्रामत्, अपरेण = अन्येन आत्मना मुरारेः = विष्णोः, चक्षुः = नेत्रम्, अभवत् = आसीत्, शेषैः = अवशिष्टैः, आत्मभिः लोक-पूर्णा = जनसम्भृताः, दश = दशसंख्याकाः, दिशः = हरितः अलोकत ।

टिप्पणी—द्वादशात्मा = द्वादश आत्मानो यस्य सः द्वादशात्मा (बहुव्रीहिः) । मुरारेः = मुरस्यारिः मुरारिः तस्य मुरारेः (ष० तत्पु०) ।

भावः—एकात्मना व्याप्य गिरिं सुमेरुमन्येन विष्णोर्नयनं भवंश्च ।
दिशो दशान्यैरवलोककोऽन्यैः स भास्करो द्वादशमूर्तिरासीत् ॥

अनुवादः—द्वादशात्मा दिवाकर अपने एक आत्मा से सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते रहे, दूसरे से भगवान् विष्णु के नेत्र बने रहे और बचे दश आत्माओं से जनपूर्ण दशों दिशाओं को देखे । अपने सभी अधिकारों का भार वहन करते हुये भी स्वयंवर का सर्वेक्षण किया ॥ ५३ ॥

प्रदक्षिणं दैवतहर्म्यमद्रिं सदैव कुर्वन्नपि शर्वरीशः ।
द्रष्टा महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या न प्राप तद्दर्शनविघ्नतापम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—शर्वरीशः दैवतहर्म्यम् अद्रिं सदैव प्रदक्षिणं कुर्वन् अपि महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या द्रष्टा तद्दर्शनविघ्नतापम् न प्रापत् ।

व्याख्या—शर्वरीशः = निशाकरः, दैवतहर्म्यम् = देवप्रासादभूतम्, अद्रिम् = सुमेरुम्, प्रदक्षिणम् = परिक्रमन्, कुर्वन् = विदधदपि, महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या = विष्णुनेत्राकारेण, द्रष्टा = स्वयंवरावलोककः तद्दर्शनविघ्नलेशम् = स्वयंवरदर्शनव्याघातदुःखम्, न = नहि, प्रापत् = प्राप्तवान् ।

टिप्पणी—शर्वरीशः = शर्वर्याः ईशः शर्वरीशः (ष० तत्पु०) । दैवतहर्म्यम् = दैवतानाम् हर्म्यम् (ष० तत्पु०) । महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या = महेन्द्रस्य अनुजः तस्य दृष्टिः तया मूर्त्या (ष० तत्पु० द्वयं कर्मधारयश्च) तद्दर्शनविघ्नतापम् = तस्य दर्शनम् तस्मिन् विघ्नः तेन तापम् (ष० स० तृतीयातत्पु०) ।

भावः—विधुरलभत विघ्नं नैव तद्दर्शनेणुं-
यदयमधिमुरारौ वामदृष्टिस्वरूपः ।
दधदपि निजकार्यं मेरुपर्याक्रमाख्य-
मतिशयमुदमापत् भीमजोद्वाहदृष्टौ ॥

अनुवादः—निशाकर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुये भी विष्णु की वाम दृष्टि रूप से स्वयंवर का अवलोकन करते रहे, जिस कारण उनको स्वयंवर दर्शन में विघ्नजनित सन्ताप का लेश भी नहीं प्राप्त हुआ ॥ ५४ ॥

विलोकमाना वरलोकलक्ष्मीं तात्कालिकीमप्सरसो रसोत्का: ।
जनाम्बुधौ तत्र निजाननानि वितेनुरम्भोरुहकाननानि ॥ ५५ ॥

अन्वयः—रसोत्का: अप्सरस: तात्कालिकीं वरलोकलक्ष्मीं विलोकमाना तत्र जनाम्बुधौ, निजाननानि अम्भोरुहकाननानि वितेनु: ।

व्याख्या—रसोत्का: = रागोत्सुका:, अपसरस: = देवाङ्गना:, तात्कालिकीम् = स्वयंवरसामयिकीम्, वरलोकलक्ष्मीम् = वरसमुदायशोभाम्, विलोकमाना: = पश्यन्त्य:, तत्र = तस्मिन्, जनाम्बुधौ = लोकसागरे, निजाननानि = स्वमुखानि, अम्भोरुहकाननानि = नलिनवनानि, वितेनु: = व्यतनुत ।

टिप्पणी—रसोत्का:=रसे उत्का: (स० तत्पु०) 'उत्क उन्मना' इत्यमर: । निपातनात् सिद्धम् । अप्सरस:-'पुंसि भूम्न्यप्सरस:' इत्यमर: । तात्कालिकीम् = स: काल: तत्काल: (कर्मधारय:) तत्काले भवा तात्कालिकी 'कालाट्ठञ्' इत्यादिना भवार्थे ठञ् प्रत्यय: 'टिड्ढे'त्यादिना ङीप् । वरलोकलक्ष्मीम् = वरा एव लोकास्तेषां लक्ष्मीम् (कर्मधारय पुर:सर: ष० तत्पु०) । जना एव अम्बुधि: (कर्मधारय:) तस्मिन् । निजाननानि = निजानि आननानि (कर्मधारय:) । अम्भोरुहकाननानि = अम्भोरुहाणां काननानि (ष० तत्पु०), रोहन्तीति रुह: 'इगुपधज्ञाप्रीकिर: क:' इति कप्रत्यय: ।

भाव:—स्वर्गाङ्गनास्तत्र जनाम्बुराशौ स्वयंवरालोकनकौतुकिन्य: ।
समेत्य चक्रुर्निजवक्त्रसंघै: पद्माकराणीव सुसन्ततानि ॥

अनुवाद:—स्वयंवर देखने के लिये उत्कण्ठित देवाङ्गनाओं ने आकर उस काल में होने वाली स्वयंवर की शोभा को देखते हुए, उस जनसागर में अपने मुखरूपी कमल के काननों को मानो फैला दिया ॥ ५५ ॥

न यक्षलक्षै: किमलक्षि ? नो सा सिद्धै: किमध्यासि सभाऽऽप्तशोभा ? ।
सा किन्नरै: किं न रसादसेवि ? नादर्शि हर्षेण महर्षिभिश्च ? ॥ ५६ ॥

अन्वय:—तदा आप्तशोभा सा सभा यक्षलक्षै: न अलक्षि किम्, सिद्धै: न अध्यासि किम्, किन्नरै: रसात् न असेवि किम्, महर्षिभि: हर्षेण न अदर्शि किम् ?

व्याख्या—तदा = तस्मिन् काले, आप्तशोभा = शोभासम्पन्ना, सा सभा = सा संसद्, यक्षलक्षै: = लक्षसंख्याकैर्यक्षै:, न अलक्षि = न दृष्टा किम् ? सिद्धै: = देवयोनिविशेषै:, न अध्यासि = न अधिष्ठिता किम्, किन्नरै: = देवयोनिविशेषै:,

रसात् = रागात्; न असेवि = न सेविता किम्, महर्षिभिः = महामुनिभिः, हर्षेण = आनन्देन, न अदर्शि = न दृष्टा किम् ।

टिप्पणी—आप्तशोभा = अप्ता शोभा यया सा आप्तशोभा (ब० व्री०) । यक्षलक्षैः = यक्षाणाम् लक्षाणि यक्षलक्षाणि तै यक्षलक्षैः = लक्षसंख्याकैर्यक्षैः, (ष० तत्पु०) । अदर्शि अत्र दृशेः, अलक्षि अत्र लक्षेः, अध्यासि अत्र अधि-पूर्वकादासेश्च कर्मणि लुङ् ।

भावः—लक्षशो दक्षयक्षाः विलक्षाः समोयु-
स्तत्समिद्धाश्च सिद्ध्या प्रसिद्धाः सुसिद्धाः ।
किन्नरैस्तन्निकामं सदः सेवितञ्च
सप्रकर्षप्रहर्षैर्महर्षिप्रकाण्डैः ॥

अनुवादः—उस काल में शोभा से युक्त उस सभा को लाखों यक्षों ने देखा, सिद्ध लोग आकर वहाँ बैठे, किन्नरों ने भी रागपुरःसर उसको सेवित किया, बड़े-बड़े मुनियों ने भी उसको हर्ष पूर्वक देखा ॥ ५६ ॥

वाल्मीकिरश्लाघत तामनेकशाखात्रयीभूरुहराजिभाजा ।
क्लेशं विना कण्ठपथेन यस्य दैवी दिवः प्राग्भुवमागमद्वाक् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—तां वाल्मीकिः अश्लाघत् अनेकशाखात्रयीभूरुहराजिभाजा यस्य कण्ठपथेन दैवी वाक् छन्दोबद्धा अक्लेशेन दिवः प्राक् भुवम् आजगाम ।

व्याख्या—ताम् = सभाम्, वाल्मीकिः = प्राचेतसः अश्लाघत् = प्रशंसितवान्, अनेकशाखात्रयीभूरुहराजिभाजा = आश्वलायनादिविविधशाखान्वितवेदभूरुहश्रेणी-भृता यत्कण्ठपथेन = यदीयगलमार्गेण दैवी = नैलिम्पी, वाक् = वाणी, अक्लेशेन = श्रमं विनैव, दिवः = स्वर्गात्, प्राक् = तत्प्रथमम् भुवम्, धरणीम् आप = प्रापत् ।

टिप्पणी—अनेका शाखा यस्या सा अनेकशाखा (बहु०) सा चासौ त्रयी (कर्मधारयः) त्रयाणां वेदानां समाहारः त्रयी सैव भूरुहराजिः तां भजतीति 'भजो ण्वि' इति ण्वि प्रत्ययः अनेकशाखात्रयीभूरुहराजिभाक् तेन तथोक्तेन, सैव भूरुहराजिः मयूरव्यंसकादिसमासः । कण्ठ एव पन्थाः अत्रापि पूर्ववत् समासः । 'ऋक्पूरब्धूपथामि'त्यादिना अच् समासान्तः टिलोपः । यथा वृक्ष-श्रेणीभृतामार्गेण छायासु विश्रम्य पथिका अक्लेशेन आगच्छन्ति तथेत्यर्थः । पुरा वाल्मीकिमुनेः मुखात् व्याधविद्धसहचरविरहकातरक्रौञ्च्याक्रन्दश्रवणजन्यः शोकः श्लोकात्मना परिणम्य "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा । यत्क्रौञ्च-

मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।" इति संस्कृता दैवी वाक् छन्दोबद्धा स्वतः निःससार ।

भावः—अनेकशाखान्वितवेदशाखिश्रेणीक यत्कण्ठपथेन भूमिम् ।
दिवः समागच्छत देववाणी वाल्मीकिरश्लाघत तां सभां सः ।।

अनुवादः—अनेक शाखाओं से युक्त वेदत्रयी रूप वृक्षों की श्रेणी से युक्त जिस आदिकवि वाल्मीकि के कण्ठमार्ग से छन्दोमयी देववाणी बिना क्लेश के स्वर्ग से पहले पहल धरातल पर आयी वे वाल्मीकि मुनि भी उस स्वयंवर सभा का वर्णन किये । पहले कभी स्नान के लिये अपने शिष्य के साथ वाल्मीकि मुनि नदी तट पर गये थे उस समय किसी व्याध ने क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से नर पक्षी को मार दिया, पति के विरह में करुण क्रन्दन करती हुई क्रौञ्ची को देखकर करुणार्द्र उनके मुख से अविचारित रूप से अनायास छन्दोबद्ध देववाणी सर्वप्रथम निकली "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः यत् क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्" जिसको सुनकर वे भी चकित हो गये ।। ५७ ।।

प्राशंसि संसद् गुरुणाऽपि चार्वी चार्वाकतासर्वविदूषकेन ।
आस्थानपट्टं रसनां यदीयां जानामि वाचामधिदेवतायाः ।। ५८ ।।

अन्वयः—चार्वी संसद् चार्वाकता सर्वविदूषकेन गुरुणा अपि प्राशंसि, यदीयां रसनां वाचाम् अधिदेवतायाः आस्थानपट्टं जनामि ।

व्याख्या—चार्वी = मनोहरा संसद = स्वयंवरसभा, चार्वाकतासर्वविदूषकेन = नास्तिकतावेदशास्त्रादिखण्डकेन, गुरुणा = वाचस्पतिना अपि प्राशंसि = प्रशंसिता, यदीयाम् = तत्सम्बन्धिनीम्, रसनाम् = जिह्वाम् वाग्देवतायाः = सरस्वत्याः, आस्थानपट्टम् = निवासाधारपीठम्, जानामि = अवैमि ।

टिप्पणी—चार्वी = चारुशब्दात् "वोतो गुणवचनात्" इति ङीष् प्रत्ययः । चार्वाकतासर्वविदूषकेन = चार्वाकतया सर्वविदूषकेन (तृतीया तत्पुरुषः) प्राशंसि = प्रपूर्वात् शंसेः कर्मणि लुङ् । यदीयाम् = यस्येयं यदीया ताम् यदीयाम् त्यदादीनि च, इति वृद्ध संज्ञा 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः तस्येयादेशः । आस्थान-पट्टम् = आस्थानायपट्टम् 'आसनान्तरपीठयोः पट्टम्' इति विश्वः ।

भावः—वाचस्पतिना केपा नास्तिकवादप्रवर्तकेनापि ।
स्तुता सभा सा देवी वाचां वाचि स्थिता यस्य ।।

अनुवादः—नास्तिकवाद के प्रवर्तक सभी वेद शास्त्र के खण्डन करने

वाले बृहस्पति ने भी सुन्दर स्वयंवर सभा की प्रशंसा की है जिसकी जिह्वा को मैं सरस्वती के बैठने के लिये पीठ स्थान समझता हूँ ॥ ५८ ॥

नाकेऽपि दीव्यत्तमदिव्यवाचि वचःस्रगाचार्यकवित् कविर्यः ।
दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहः काव्यः स काव्येन सभामभाणीत् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—यः दिव्यत्तमदेववाचि नाके अपि वाचःस्रगाचार्यकवित् कविः दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहः सः काव्यः काव्येन सभाम् अभाणीत् ।

व्याख्या—यः = काव्यः, दीव्यत्तमदिव्यवाचि = देदीप्यमानसुरगिरि, नाके = स्वर्गे अपि वचःस्रगाचार्यकवित् = काव्यरचनाचार्यतावेत्ता, कविः = कवयिता दैतेयनीतेः = दैत्यनयस्य, पथि = मार्गे, सार्थवाहः = अग्रेसरः, नेता सः काव्यः = उशनाः, काव्येन = कवितया, सभाम् = स्वयंवरसभाम्, अभाणीत् = वर्णयतिस्म ।

टिप्पणी—दीव्यत्तमदिव्यवाचि = अतिशयेन दीव्यन्ती दीव्यत्तमा सा दिव्य-वाक् यत्र तस्मिन् दीव्यत्तमदिव्यवाचि । वचःस्रगाचार्यकवित्—वचसां स्रक् वचः स्रक् तस्याः आचार्यकम् आचार्यता तां वेत्तीति वचःस्रगाचार्यकवित् (ष० तत्पुरुषद्वयम्) दीव्यन्ती शब्दात्तमप् प्रत्यये 'तसिलादिष्वक्कृत्वसुचः' इति पुंवद्भावः । आचार्यस्य भावः आचार्यकम् 'पोपधाद्गुरुपोत्तमात्'' इति आचार्यशब्दाद् वुञ् । दैतेयनीतेः—दित्याः अपत्यानि दैतेयाः तेषां नीतिः तस्याः दैतेयनीतेः 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीषन्तात् दितिशब्दात् 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढक् प्रत्ययः । सार्थवाहः = सार्थं वहतीति सार्थवाहः 'कर्मण्यण्' इत्यण् प्रत्ययः ।

भावः—उशनसाऽपि च देवगिरोऽङ्गणे दिवि कवित्वकलापटुना स्तुता ।
दितिजनीतिसृतेरुपदेशकः स किल तत्सदसोऽग्रसरः स्मृतः ॥

अनुवादः—देववाणी के रङ्गप्राङ्गण स्वर्ग में भी जो काव्यरचना की आचार्यता करते हैं और जो दैत्यों के नीति मार्ग के निदेशक एवं उनके नेता कहे जाते हैं उन शुक्राचार्य ने भी उस सभा की प्रशंसा की ॥ ५९ ॥

अमेलयद्भीमनृपः परं नः नाकर्षदेतान् दमनस्वसैव ।
इदं विधाताऽपि सञ्चित्य यूनः स्वशिल्पसर्वस्वमदर्शयन्नः ॥ ६० ॥

अन्वयः—एतान् यूनः भीमनृपः परं न अमेलयत् तथा दमनस्वसा न अकर्षत् किन्तु विधाता अपि सञ्चित्य इदं स्वशिल्पसर्वस्वम् अदर्शि ।

व्याख्या—एतान् = दृश्यमानान्, यूनः = तरुणान्, भीमनृपः = भीमभूपतिः परम् = केवलम्, न = नहि, अमेलयत् = सङ्गतवान्, तथा = अथवा; दमन-

=प्रकाशान्तरनिरपेक्षप्रभे, परमार्थबोधे=परमात्मस्वरूपे ज्ञाने, स्फुरणार्थम्=तज्ज्ञानप्रकाशार्थम्, बोधान्तरम्=अनुव्यवसायाख्यम्, न अर्थ्यम्=नापेक्ष्यम्।

टिप्पणी—परमार्थबोधे=परमार्थस्य बोधः तस्मिन्, वा परमार्थरूपो बोधः तस्मिन् (ष० तत्पु० कर्मधारयो वा) बोधान्तरम्=अन्यो बोधः बोधान्तरम् नैयायिकमते घटज्ञानानन्तरम् 'घटज्ञानवाहनम्' मीमांसकमते 'ज्ञातो घटः' इत्येवं रूपा संवित्तिः तज्ज्ञानफुरणार्थम् अपेक्षितो तथात्र न किमपि ज्ञानमपेक्षितम्। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'त्युक्तः।

भावः—रत्नैः स्वयं मूर्धसु रत्नमेभिर्वृथा धृतः राजसुतैः समस्तैः।
स्वतः प्रकाशे चिद्दण्डरूपे न वै प्रकाशान्तरमेषितव्यम्॥

अनुवादः—इन राजपुत्रों ने मस्तक पर व्यर्थ ही रत्न को धारण किया है क्योंकि ये स्वयं रत्न है स्वतः प्रकाश परमात्मा के बोध अथवा परमात्मा रूप बोध हो जाने पर अनुव्यवसायादि ज्ञानान्तर की उसके प्रकाश के लिये अपेक्षा नहीं होती है॥ ६३॥

प्रवेक्ष्यतः सुन्दरवृन्दमुच्चैरिदं मुदा चेदितरेतरं तत्।
न शक्ष्यतो लक्षयितुं विमिश्रं दस्रौ सहस्रैरपि वत्सराणाम्॥ ६४॥

अन्वयः—दस्रौ उच्चैः मुदा इदं सुन्दरवृन्दम् प्रवेक्ष्यतः चेत् तत् विमिश्रम् इतरेतरम् वत्सराणाम् सहस्रैः अपि लक्षयितुं न शक्ष्यतः।

व्याख्या—दस्रौ=अश्विनीकुमारौ, उच्चैः=उत्कृष्टैः, मुदा=आनन्देन, इदं=प्रस्तुतं, सुन्दरवृन्दं=सुरूपराजकुमारसमूहमध्यं, प्रवेक्ष्यतः=प्रविष्टौ भविष्यतः, चेत्=यदि, तत् विमिश्रं=राजकुमारसमूहमध्ये, कृतमिश्रणं (सारूप्यादिति शेषः), इतरेतरम्=अन्योऽन्यम्, वत्सराणां=वर्षाणां, सहस्रैः=सहस्रसंख्याकैः अपि, लक्षयितुं=परिचेतुं, न शक्ष्यतः=न समर्थौ भविष्यतः।

टिप्पणी—दस्रौ='नासत्यावश्विनौ दस्रावाश्विनेयौ च तावुभौ' इत्यमरः। सुन्दरवृन्दम्=सुन्दरञ्च तद्वृन्दम् (क० धा०)।

भावः—चाक्षुषपरमरहस्यं यदीदमेष्यतो मुदा दस्रौ।
तदा विमिश्रावस्मिन् न चिरादपि सुपरिचेष्यतोऽन्योऽन्यम्॥

अनुवादः—अत्यन्त सुन्दर इन राजकुमारों के बीच में आनन्द से यदि अश्विनी कुमार दोनों भाई प्रविष्ट हो जाँय, तो वे दोनों इनमें इस प्रकार मिल

जायेंगे कि हजारों वर्षों में भी वे परस्पर अपने भाई को नहीं पहचान सकेंगे ॥ ६४ ॥

स्थितैरियद्भिर्युवभिर्विदग्धैर्दग्धेऽपि कामे जगतः क्षतिः का ?।
एकाम्बुबिन्दुव्ययमम्बुराशेः पूर्णस्य कः शंसति शोषदोषम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—विदग्धैः इयद्भिः स्थितैः युवकैः कामे दग्धे अपि जगतः का क्षतिः अम्बुराशेः एकाम्बुबिन्दुक्षयम् कः शोषदोषं शंसति ।

व्याख्या—विदग्धैः = प्रगल्भैः, अदग्धैः वा, इयद्भिः = एतावद्भिः, युवकैः, स्थितैः = वर्तमानैः, जगतः = लोकस्य, का क्षतिः = का हानिः, अम्बुराशेः = समुद्रस्य, एकाम्बुबिन्दुक्षयम्, कः शोषदोषं = शुष्कतावद्यताम्, शंसति = कथयति, न कोऽपीत्यर्थः ।

टिप्पणी—विदग्धैः = दग्धं दाहः भावक्तान्तेन सह वेः गतिसमासः । इयद्भिः = इदं प्रमाणमेषामितीयन्तस्तैरियद्भिः (इदमः परिमाणे वतिप्रत्ययः 'किमिदभ्यां वो घः) इति वस्य घादेशः घस्येयादेशः 'इदं किमोरीश्की:' इदम ईशादेशः । एकाम्बुबिन्दुक्षयम् = अम्बुनः बिन्दुः (ष० तत्पु०) एकश्चासौ अम्बु बिन्दुः एकाम्बुबिन्दुः तस्य क्षयम् । शोषदोषम् = शोष एव दोषः (कर्मधारयः) ।

भावः—हरनिटिलनिरीक्षणप्रदग्धे सृतिभुवि लोकस्य का क्षतिर्जाता ।
स्थितवति नृपपुत्ररत्नराजौ सलिलनिधेरिवैकबिन्दुनाशेन ॥

अनुवादः—इन प्रगल्भ अदग्ध युवकों के रहने पर एक कामदेव के जल जाने पर भी जगत् की क्या न्यूनता हुई, एक जलकण के नाश से भरे जल वाले समुद्र में भला कोई सूखने का दोष कहता है ॥ ६५ ॥

इति स्तुवन् हूङ्कृतिवर्गणाभिर्गन्धर्ववर्गेण स गायतेव ।
ओङ्कारभूम्ना पठतेव वेदान् महर्षिवृन्देन तथाऽन्वमानि ॥ ६६ ॥

अन्वयः—इति स्तुवन् सः गायता एव गन्धर्ववर्गेण हुङ्कृतिवर्गणाभिः (अन्वमानि) वेदान् पठता एव महर्षिवृन्देन ओङ्कारभूम्ना अन्वमानि ।

व्याख्या—इति = एवं प्रकारेण, स्तुवन्, सः = उशनाः, गायता = गानं कुर्वाणेन, गन्धर्ववर्गेण = गन्धर्वसमूहेन, हुङ्कृतेः = हुङ्कारस्य, वर्गणाभिः = पुनरुच्चारणेन, अन्वमानि = अन्वमोदि, वेदान् = समाम्नायान्, पठता = अधीयानेन, महर्षिवृन्देन = देवर्षिगणेन, ओङ्कारभूम्ना = ओङ्कारभूयस्त्वेन, अन्वमानि = अनुमतः ।

टिप्पणी—स्तुवन् = स्तौतेः शतृ प्रत्ययः गन्धर्ववर्गेण = गन्धर्वाणां वर्गस्तेन (ष० तत्पु०) हुङ्कृतिवर्गणाभिः = हुङ्कृतेः वर्गणा ताभिः (ष० तत्पु०) महर्षिवृन्देन = महान्तश्च ते ऋषयः (कर्म०) तेषां वृन्देन (ष० तत्पु०)। बहूनाम् भावः भूमा, बहुशब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' इतीमनिच् प्रत्ययः 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इति बहोर्भू आदेशः इकारलोपश्च भूमा, ओङ्कारस्य भूमा तेन ओङ्कारभूम्ना।

भावः—गायद्भिर्गन्धर्वैः　हुङ्काराम्रेडनैः　ऋषिभिः।
वेदान् पठद्भिरेवमोङ्कारैरपि समर्पितः सम्यक्॥

अनुवादः—इस प्रकार प्रशंसा करते हुए शुक्राचार्य का गाते हुये गन्धर्वों ने हुङ्कार के उच्चारण से समर्थन किया, और वेद पढ़ते हुये महर्षियों ने बार-बार ओङ्कार के उच्चारण द्वारा समर्थन किया॥ ६६॥

न्यवीविशत्तानथ राजसिंहान् सिंहासनौघेषु विदर्भराजः।
शृङ्गेषु यत्र त्रिदशैरिवैभिरशोभि कार्त्तस्वरभूधरस्य॥ ६७॥

अन्वयः—अथ विदर्भराजः तान् राजसिंहान् सिंहासनेषु न्यवीविशत्, यत्र एभिः कार्तस्वरभूधरस्य शृङ्गेषु त्रिदशैः इव अशोभि।

व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, विदर्भराजः = भीमः, तान् = आगतान्, राजसिंहान् = भूपतीन्, सिंहासनेषु = राजार्हपीठेषु, न्यवीविशत् = निवेशितवान्, यत्र = यस्मिन् सिंहासने, एभिः = नृपैः, कार्तस्वरभूधरस्य = सुमेरोः, शृङ्गेषु = शिखरेषु, देवैः = अमरैः, इव = यथा, अशोभि = अराजि।

टिप्पणी—विदर्भाणां राजा विदर्भराजः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् प्रत्ययः। राजसिंहान् = राजानः सिंहा इव तान् इति राजसिंहान् ('उपमितं व्याघ्रादिभिः इत्यादिना समासः)। न्यवीविशत् = निपूर्वकाद् विशतेर्ण्यन्ताल्लुङ्। कार्तस्वरभूधरस्य = कार्तस्वरस्य भूधरः तस्य (ष० तत्पु०). अशोभि, भावे लुङ्।

भावः—राजा भीमो राजपुत्रानशेषान् सौपर्णेव्यवस्थापयत् स्वासनेषु।
यत्रावस्थैस्तैर्विरेजे सुमेरोः शृङ्गेषूच्चैः देवकल्पैः समस्तैः॥

अनुवादः—राजा भीम ने उन सभी राजकुमारों को सिंहासनों पर बैठाया, जहाँ वे सुमेरु पर्वत के शिखर पर बैठे देवों के समान शोभित हुये॥ ६७॥

विचिन्त्य नानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान् ।
कथ्याः कथङ्कारममी सुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन ॥ ६८ ॥

अन्वयः—तेन क्षितिपेन नानाभुवनागतान् अमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान् विचिन्त्य अमी सुतायाम् कथङ्कारम् कथ्या इति व्यषादि ।

व्याख्या—तेन क्षितिपेन = राज्ञा भीमेन नानाभुवनागतान् = अनेकलोकागतान्, अमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान् = मानवमात्राविज्ञाताभिधेयाचारान्, विचिन्त्य = विचार्य, अमी = अनेकलोकागताः, सुतायाम् = दमयन्त्याम्, कथङ्कारम् = केन प्रकारेण, कथ्या = परिचाय्या, इति व्यषादि = विषण्णम् ।

टिप्पणी—नानाभुवनागतान् = नाना भुवनेभ्यः आगतान् (ष० तत्पु०) । अमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान् = मर्त्येन सङ्कीर्त्यानि मर्त्यसङ्कीर्त्यानि (तृ० तत्पु०) चरित्राणि च गोत्राणि चेति चरित्रगोत्राणि (द्वन्द्वः) न मर्त्यसङ्कीर्त्यानि चरित्रगोत्राणि, येषां ते तान् तथोक्तान् (ब० व्रीहिः) । कथङ्कारम् = 'अन्यथैवं कथं सु' इत्यादिना णमुल्, कथं कृत्वा कथङ्कारम् । व्यषादि = भावे लुङ् ।

भावः—अविदितचरित्रगोत्रं मानवमात्रेण राजकं न्वेतम् ।
तनुजायै परिचाय्यं कथमिति संज्ञा व्यषादि तत्कालम् ॥

अनुवादः—मानव मात्र से अज्ञात नाम गोत्र वाले अनेक लोक से आये इन राजाओं का परिचय दमयन्ती को कैसे दिया जायगा, ऐसा विचार कर राजा भीम को विषाद हुआ ॥ ६८ ॥

श्रद्धालुसंकल्पितकल्पनायां कल्पद्रुमस्याथ रथाङ्गपाणेः ।
तदाऽऽकुलोऽसौ कुलदैवतस्य स्मृतिं ततान क्षणमेकतानः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अथ आकुलः असौ तदा श्रद्धालुसङ्कल्पितकल्पनायाम् कल्पद्रुमस्य कुलदैवतस्य रथाङ्गपाणेः स्मृतिं क्षणम् एकतानः ततान ।

व्याख्या—अथ = विषादानन्तरम्, आकुलः = चिन्तितः, असौ = भीमः; तदा = तस्मिन् काले, श्रद्धालुसङ्कल्पितकल्पनायाम् = भक्तजनेप्सितसम्पादने; कल्पद्रुमस्य = इच्छापूरकस्य, कुलदैवतस्य = कुलदेवस्य, रथाङ्गपाणेः—भगवतो विष्णोः, स्मृतिम्, क्षणम् = किञ्चित्कालम्, एकतानः = एकाग्रः, ततान = चकार ।

टिप्पणी—तदानीम् = तस्मिन् काले इति तदानीम्, तच्छब्दात् दानीं प्रत्ययः 'तदो दानीञ्च' इत्यनेन श्रद्धालुसङ्कल्पितकल्पनायाम् = श्रद्धालूनां सङ्क-

लिपतस्य कल्पनायाम् (षष्ठीतत्पुरुषद्वयम्) रथाङ्गपाणे:=रथाङ्गं पाणौ यस्य स: तस्य (ब० व्री०) 'प्रहरणार्थेभ्य: परे निष्ठासप्तम्यौ' इति सप्तम्यन्तस्य परनिपात: (अत एव ज्ञापकात् व्यधिकपदो बहुव्रीहि:) ।

भाव:—विषीदता तेन रथाङ्गपाणिर्भक्तस्य सर्वस्वप्रद: स विष्णु: ।
स्वदेवतं संहृतचेतनेन क्षणं व्यचिन्ति प्रथितप्रभाव: ॥

अनुवाद:—इस प्रकार व्याकुल हुए उस राजा भीम ने उस काल में अपने कुलदेवता भगवान् विष्णु का, जो भक्तों की कामना के पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष हैं, क्षण भर एकाग्र होकर स्मरण किया ॥ ६९ ॥

तच्चिन्तितानन्तरमेव देव: सरस्वतीं सस्मितमाह स स्म ।
स्वयंवर राजकगोत्रवृत्त-वक्त्रीमिह त्वां करवाणि वाणि ! ॥ ७० ॥

अन्वय:—तच्चिन्तितानन्तरमेव स देव: सरस्वतीम् आह स्म—वाणि ! इह स्वयंवरे त्वां राजकगोत्रवृत्तवक्त्रीं करवाणि ।

व्याख्या—तच्चिन्तितानन्तरमेव=भीमस्मरणाव्यवहितकालमेव, स:=असौ, देव:=विष्णु:, सरस्वतीम्=वाग्देवताम्, सस्मितम्=समन्दहासम्, आह स्म=ब्रुते स्म । हे वाणि=शारदे ! इह=अस्मिन्, स्वयंवरे=दमयन्तीवरवरणसमारोहे, त्वाम्=भवतीम्, राजकगोत्रवृत्तवक्त्रीम्=राजसमाजकुलाचारकथयित्रीम्, करवाणि=कल्पयामि । अत्रागतानां राज्ञामपेक्षितं नामगोत्रादि वर्णयेत्यादिशामि ।

टिप्पणी—तस्य चिन्तितम् तच्चिन्तितम् तस्य अनन्तरम् (षष्ठीतत्पुरुषौ) राज्ञां समूह: राजकम् 'गोत्रोक्षे'त्यादिना वुञ् तस्य गोत्राणि चरित्राणि च (द्वन्द्व०) गोत्रचरित्राणि तेषां वृत्तानि, तेषां वक्त्रीम् (ष० तत्पु०) ।

भाव:—तच्चिन्तनसमकालं कामानां वर्षुको मेघ: ।
वर्णय वाणि चरित्रं भूपानामिहेति भारतीं समाह ॥

अनुवाद:—उस भीम राजा के चिंतन करते ही भगवान् विष्णु भगवती सरस्वती से सस्मित होकर बोले—हे शारदे मैं तुमको इस स्वयंवर सभा में समागत विवाहार्थी राजाओं के नाम गोत्र एवं चरित्र का वर्णन करने के लिये नियुक्त कर रहा हूँ ॥ ७० ॥

कुलञ्च शीलञ्च बलञ्च राज्ञां जानासि नानाभुवनागतानाम् ।
एषामतस्त्वं भव वावदूका मूकायितुं क: समयस्तवायम् ? ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे वाणि ! नानाभुवनागतानां राज्ञां कुलं शीलं च जानासि अतः त्वम् एषां वावदूका भव तव मूकायितुम् अयं कः समयः ।

व्याख्या--हे वाणि=शारदे ! नानाभुवनागतानाम् = अनेकलोकसमागतानाम्, राज्ञाम् = नरपतीनाम्, कुलम् = वंशम्, गोत्रं शीलम् = चरित्रम्, च जानासि = अवैषि अतः =अस्मात् कारणात्, त्वम् एषाम् = कुलशीलादीनाम्, वावदूका = कथयित्री, भव = एधि । तव = भवत्याः, मूकायितुम् = मूकवदाचरितुम्, एषः = अयम्, कः कालः = समयः, मौनस्य समयो नास्तीति भावः ।

टिप्पणी—नानाभुवनागतानाम्=नानाभुवनेभ्यः आगतानाम् (ष० तत्पु०) वावदूका = 'वावदूकोऽतिवक्तरि' इत्यमरः । वावदूक इत्यस्य वदेर्यङ्लुङन्तात् उलूकादयश्चेति, उणादिसूत्रात् अकप्रत्ययः । मूकशब्दाचारक्यजन्तात् "काल-समयवेलासु तुमुन्" इति तुमुन् प्रत्ययः ।

भावः—नाविदित तव किञ्चित् भुवनत्रयवर्तिसर्वलोकानाम् ।
अत एषां त्वं वर्णय वरगतमखिलं विविस्तितं तत्त्वम् ।।

अनुवाद:—हे सरस्वति अनेक लोक से आये हुए इन सभी राजाओं के कुल और शील को तुम भलीभाँति से जानती हो अतः तुम उनको विशद रूप से वर्णन करो, यह समय तुम्हारे चुप बैठने का नहीं है ।। ७१ ।।

जगत्रयीपण्डितमण्डितैषा सभा न भूता न च भाविनी वा ।
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन सङ्ख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि ।। ७२ ।।

अन्वयः--हे वाणि ! जगत्त्रयीपण्डितमण्डिताः एषा सभा न भूता न भविश्री वा अतः राज्ञाम् गुणज्ञापनकैतवेन सङ्ख्यावतः वाङ्मुखानि श्रावय ।

व्याख्या--हे वाणि = सरस्वति जगत्त्रयीपण्डितमण्डिता = त्रिलोकी विद्वद्-विभूषिता, एषा = एतादृशी, सभा = संसत्, न भूता = प्राङ्नाभूत्, न भवित्री वा=न अग्रे भाविनी वा, अतः = अस्मात् कारणात्, राज्ञाम् = नृपाणाम्, गुण-ज्ञापनकैतवेन = गुणवर्णनव्याजेन, सङ्ख्यावतः = विदुषः वाङ्मुखानि श्रावय = उपन्यस्तान् श्रावय पण्डितसमाज एव वाग्विलाससाफल्यं भवति ।

टिप्पणी---जगत्त्रयीपण्डितमण्डिता = त्रयोऽवयवा यस्या सा इति त्रयी, सङ्ख्याया अवयवे तयप् इति तयप् प्रत्ययः 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' इति तय-पोऽयजादेशः जगतां त्रयी तस्यां पण्डितास्तैर्मण्डता (सप्तमी तृती० तत्पु०) । गुणज्ञापनकैतवेन=गुणानां ज्ञापनं तदेव कैतवम् तेन (ष० तत्पु०, कर्मधारयः) ।

सङ्ख्यावतः = "सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः"। वाङ्मुखानि = "उपन्यासस्तु वाङ्मयम्" इति चामरः।

भावः—त्रिभुवनविबुधसमज्या सम्भृतिरेषा पुरा नाभून्।
न च भविता वा भूयः तस्माच्छ्रावय सुवाग्विन्यासम्॥

अनुवादः—तीनों लोकों के पण्डितों से विभूषित ऐसी सभा पहले कभी नहीं हुई थी, न आगे होगी, इसलिये तुम इस सभा में पण्डितों को अपने सुन्दर वाक्य रचनाओं को राजाओं के प्रशंसा के व्याज से सुनाओ॥ ७२॥

इतीरिता तच्चरणात् परागं गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषम्।
तस्य प्रसादेन सहाज्ञयाऽसावादाय मूद्ध्‌र्नाऽऽदरिणी बभार॥ ७३॥

अन्वयः—इति ईरिता असौ तस्य चरणात् गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषम् परागम् तस्य आज्ञया प्रसादेन सह आदरिणी मूर्ध्ना बभार।

व्याख्या—इति = उक्तप्रकारेण, ईरिता = उक्ता, असौ = सरस्वती, गीर्वाण-चूडामणिमृष्टशेषम् = देवमौलिमणिप्रोञ्छनावशिष्टम्, परागम् = रजः, तस्य = भगवतः, आज्ञया = अनुशासनेन, प्रसादेन = अनुग्रहेण, सह = सार्धम्, आदरिणी = अदृता, मूर्ध्ना = शिरसा, बभार = धृतवती।

टिप्पणी—गीर्वाण चूडामणिमृष्टशेषम् = गीर्वाणानां चूडामणय, तैः मृष्टाव शेषम् (ष० तत्पु० तृ० तत्पु० प० तत्पु०)।

भावः—विबुधशिरोमणिमृष्टात् परिशिष्टं तत्पदाब्जरजः।
दध्ने सा वाग्देवी साकमाज्ञया प्रसादेन॥

अनुवादः—इस प्रकार भगवान् विष्णु से कहने पर भगवती शारदा ने देवताओं के मस्तकमणि से पोंछने से बचे उनके चरणरज के आज्ञारूप अनुग्रह के साथ शिर झुका कर स्वीकार कर लिया॥ ७३॥

मध्येसभं साऽवततार बाला गन्धर्वविद्यामयकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा॥ ७४॥

अन्वयः—सा मध्येसभम् अवततार (कीदृशी सा बाला) गन्धर्वविद्यामय-कण्ठनाला त्रयीमयीभूतवलीतरङ्गा, साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा।

व्याख्या—सा = वाग्देवी, मध्येसभम् = सभामध्ये, अवततार = अवातरत्, कीदृशी सा बाला, गान्धर्वविद्यामयकण्ठनाला = गानविद्यारूपकण्ठप्रणालिका,

त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा = त्रिवेदीस्वरूपत्रिबलितरङ्गा। साहित्यनिर्वर्तितदृक्-तरङ्गा = काव्यविद्यारचितदृग्विक्षेपा।

टिप्पणी—मध्येसभम् = सभायाः मध्यं मध्यसभम् "पारे मध्येषष्ठया वा" इति अव्ययीभावः। गान्धर्वविद्यामयकण्ठनाला = गान्धर्वविद्यामयः कण्ठनालो यस्याः सा तथोक्ता (बहु० व्रो०) त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा – त्रयीमयी भूता त्रिरूपधारिणी अन्यत्र त्रिवेदरूपधारिणी वलीविभङ्गाः यस्याः सा। साहित्य-निर्वर्तितदृक्तरङ्गा = साहित्येन निर्वर्तितः दृक् तरङ्गो यस्या सा (अनेकपक्षे व्यधिकरणबहुव्रीहि)।

भावः—

गानविद्यैव यत्कण्ठनालीकृता सा त्रयी यद्वलित्रिस्वरूपं श्रिता।

दृक् तरङ्गीकृता काव्यसद्विद्यया बालिकारूपिणी संसदं सागता॥

अनुवादः—बालिका स्वरूपिणी वह सरस्वती स्वयंवर सभा में आयी। वह कैसी थी इसका वर्णन कई श्लोकों में किया गया है जैसे गानविद्या (गान्धर्ववेद) उनकी कण्ठ प्रणाली थी तीन संख्यावाली वेदत्रयी ही उनकी त्रिबली थी, काव्यविद्या से उनके आँखों की भाङ्गिमा थी॥ ७४॥

आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदी-मध्यात् विनिर्गत्य वितायमाना।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा॥ ७५॥

अन्वयः—अथर्वा श्रुतिः त्रिवलित्रिवेदीमध्यात् निर्गत्य वितायमाना नाना-भिचारोचितमेचकश्रीः यदीया उदररोमरेखा।

व्याख्या—अथर्वा श्रुतिः = अथर्ववेदः, त्रिवलित्रिवेदीमध्यात् = उदरस्थ-त्रिरेखारूपत्रिवेदीमध्यात्,, विनिःसृत्य = विनिर्गत्य, वितायमाना = विस्तारं प्राप्नुवती, नानाभिचारोचितमेचकश्रीः = अनेकश्येनादियागरूपहिंसाप्रयोगकालि-मवर्णानानाभिचारिणी-कृष्णवर्णा, यदीया = यस्याः सरस्वत्याः सम्बन्धिनी, उदररोमरेखा = उदरस्था रोमराजिः।

टिप्पणी—त्रिवलित्रिवेदीमध्यात् = त्रय्युद्धारोऽथर्ववेदः इत्युक्तेः त्रिबलि-रूपायात्रिवेदी तस्याः मध्यम् तस्मात्, (मयूरव्यंसकादि समासानन्तरं ष० तत्पुरुषः) वितायमाना विपूर्वात्तनोतेः भावे लट् 'तनातेर्यकि' इत्यनुनासिकस्या-त्वम्, ततो लटः शानजादेशः। नानाभिचारोचितमेचकश्रीः = नानाभिचाराणां हिंसकत्वात् उचिता मेचकश्रीर्यस्या (कर्मधारयपुरःसरः बहुव्रीहिः), पक्षे-नाभ्यां

चारो नाभिचार न नाभिचारः अनाभिचारः स न भवतीति नानाभिचारः नाभिसञ्चरणमित्यर्थः तस्य उचिता नानाभिचारोचिता सा चासौ मेचकश्रीर्यस्या सा तथोक्ता (नञ् समासद्वयगर्भः षष्ठीतत्पुरुषः ततो बहुव्रीहिः)। यदीया =यस्या इयं यदीया 'वृद्धाच्छ०' इति छ प्रत्ययः। उदररोमरेखा=रोम्णां रेखा रोमरेखा उदरे रोमरेखा (ष० तत्पु० सप्त० तत्पुरुषौ)।

भावः—नानाभिचारकाली त्रयी-त्रिवलि-निर्गता वितता।
श्रुतिराथर्वणिकी वै यस्या रोमराजिरभवन्मध्ये ॥

अनुवादः—त्रिवली रूप त्रिवेदी मूल से निकल कर बढ़ती हुई नाना हिंसाकर्म से काली पक्ष में नाभि में सञ्चरण करने वाली काली रोमराजी अथर्ववेद की श्रुति है ॥ ७५ ॥

शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाऽऽकल्पविधिर्यदीयः।
यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैर्निरुक्तविद्या खलु पर्यणंसीत् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—शिक्षा एव यदीयम् चरितमभूत् यदीयः आकल्पविधिः कल्पश्रिया, निरुक्तविद्या खलु समस्तार्थनिरुक्तिरूपैः पर्यणंसीत्।

व्याख्या—शिक्षा=तन्नामाग्रन्थविशेषः, यदीयम्=यत्सम्बन्धि, चरितम् आचारः अभूत् यदीयः=यत्सम्बन्धी, आकल्पविधिः=प्रसाधनप्रकारः, कल्पश्रिया=श्रौतगृह्यकल्पशास्त्रशोभया, निरुक्तविद्या=यास्ककृतवेदार्थनिर्वचनम्, खलु=एव, समस्तार्थनिर्वचनरूपैः=अखिलगूढार्थप्रकाशनभङ्गीरूपतया पर्यणंसीत्=परिणता अभवत्।

टिप्पणी—आकल्पविधिः=आकल्पस्य विधिः (ष० तत्पु०) कल्पश्रिया= कल्पस्य श्रीः तया (ष० तत्पु०) समस्तार्थनिरुक्तिरूपैः=समस्तानामर्थानां निरुक्तिरूपैः (कर्मधारय ष० तत्पुरुषौ) पर्यणंसीत् परिपूर्वात् नमेर्लुङ्।

भावः—शिक्षाचरितम्, कल्पः प्रसाधनमथ निरुक्तविद्या च।
अर्थनिरुक्ति विद्याऽभूत् यस्या वाण्याः क्रमादेवम् ॥

अनुवादः—शिक्षाशास्त्र जिस सरस्वती का चरित्र कल्पशास्त्र श्रौत, गृह्यसूत्र वैदिक यज्ञादि लौकिककर्मकाण्डादि प्रदर्शनपरक ग्रन्थ, जिसकी वेश रचना, और निरुक्त विद्या जिसकी गूढार्थ प्रकाशन का प्रकार हुए ॥ ७६ ॥

जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूत् यदीयम्।
श्लोकार्द्धविश्रान्तिमयीभविष्णु पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानम् श्लोकार्धविश्रान्तिमयीभविष्णु छन्दः पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यं यदीयं भुजद्वन्द्वम् अभूत् ।

व्याख्या—जात्या = मात्रावृत्तरूपेण च, वृत्तरूपेण = वार्णिकवृत्तरूपेण च, भिद्यमानम् = भेदमुपगतम्, श्लोकार्धविश्रान्तिमयीभविष्णु = पद्यार्धे विरामरूपतामापन्नम्, छन्दः = तच्छास्त्रम्, पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम् = कूर्परभागद्वयसन्धिव्यक्तपूरकचिह्नम् । यदीयम् यत्सम्बन्धिभुजद्वन्द्वम् = बाहुयुगलम् । अभूदिति शेषः ।

टिप्पणी—श्लोकार्धविश्रान्तिमयीभविष्णु = श्लोकार्धेन विश्रान्तिः, तन्मयीभविष्णुः श्लोकस्य अर्धे (ष० तत्पु० तृ० तत्पु०, स० तत्पु०), अतन्मयं तन्मयं भविष्णु इति तन्मयी भविष्णु अभूततद्भावे च्वि प्रत्ययः 'च्वौ च' इतीत्वम् । पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम्—पर्वणो द्वयी तस्याः सन्धिः तेन सुचिह्नं मध्यं यस्य तत् (ष० तत्पु० गर्भो बहुव्रीहि) द्विविधं छन्दः, भुजयुगत्वेन श्लोकार्धविश्रान्तिःकूर्परत्वेन परिणतेत्यर्थः ।

भावः—मात्रिक-वार्णिकवृत्त-द्वितयभुजा यदर्धांशम् ।
कर्पूरभागद्वितयं पद्यार्धे विश्रमापन्नम् ॥

अनुवादः—आर्या आदि मात्रिक वार्णिक (वर्णसङ्ख्या वाले) दो भागों में विभक्त छन्द ही जिस वाग् देवी के दोनों भुजाओं के रूप में परिणत हो गये, जिस उभय विध पद्यात्मक भुजद्वय का कूर्पर (केहुनी) का दोनों भाग मध्य का विराम स्थान था ॥ ७७ ॥

असंशयं सा गुणदीर्घभावकृतां दधाना विततिं यदीया ।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किञ्चारचि व्याकरणेन काञ्ची ॥ ७८ ॥

अन्वयः—किञ्च गुणदीर्घभावकृतां विवर्तिम् दधाना शब्दपरम्पराणां विधायिका यदीया काञ्ची व्याकरणेन व्यरचि ।

व्याख्या—किञ्च = अपि च, गुणदीर्घभावकृताम् = पट्टसूत्रदीर्घताविहिताम् विवर्तितम् = विस्तारम् । दधाना = अन्यत्र—गुण-दीर्घ-भावप्रत्यय-कृत्प्रत्ययकृताम्, विवर्तितम् = विस्तारम् । दधाना = धारयन्ती, अन्यत्र—लिङ्गविपरिणामेन दधानेन, शब्दपरम्पराणाम् = सिञ्जितसमूहानाम्, अन्यत्र—सुबन्ततिङन्तरूपाणाम्, विधायिका = विधात्री, अन्यत्र विधायकेन । सा = प्रसिद्धा, काञ्ची = कटिसूत्रम्, व्याकरणेन = व्याकरणशास्त्रेण व्यरचि = विहिता । असंशयम् उत्प्रेक्षायाम् ।

टिप्पणी—गुणदीर्घभावकृताम् = गुणस्य दीर्घभावेन कृताम् (ष० तृ० तत्पु०), अन्यत्र—गुणश्च दीर्घश्च भावश्च कृच्च ते गुणदीर्घभावकृतः तेषाम् (द्वन्द्वः) शब्दपरम्पराणाम् = शब्दानां परम्परा तासाम् (ष० तत्पु०) विधायिका = वि + धा + ण्वुल् । व्यरचि = विपूर्वात् रचेः कर्मणि लुङ् ।

भावः—नूनं दधानागुणदीर्घभावकृतां मनोज्ञां वितति यदीया ।
व्यधायि शब्दस्य परम्पराणां विधायिका व्याकरणेन काञ्ची ॥

अनुवादः—पट्टसूत्र की दीर्घता से विस्तार को प्राप्त पक्ष में गुणदीर्घ भाव प्रत्यय और कृत्प्रत्ययों से विस्तार को प्राप्त एवं शब्दों की परम्परा-मधुर ध्वनि-समूह, पक्ष में सुबन्त तिङन्त आदि शब्दसमूह को करने वाली, (बाला) व्याकरण से उसकी काञ्ची करधनी बनाया गई है ऐसा निश्चय है ॥ ७८ ॥

स्थितैव कण्ठे परिगम्य हार-लता बभूवोदिततारवृत्ता ।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येऽङ्कमङ्केन भृता विशंके ॥ ७९ ॥

अन्वयः—कण्ठे परिणम्य स्थिता उदिततारवृत्ता मध्येऽङ्कं अङ्केन भृता ज्योतिर्मयी विद्याः यद्भजनाय हारलता बभूव विशङ्के ।

व्याख्या—कण्ठे = वाचि, अन्यत्र—ग्रीवायाम्, परिणम्य = रूपान्तरम् प्राप्य, स्थिता = वर्तमाना, उदिततारवृत्ता = अश्विन्यादिप्रतिपादकपद्ययुक्ता, अन्यत्र—प्रकाशितशुद्धमौक्तिकवर्तुला, मध्येऽङ्कम् = कल्पादिवेदाङ्गमध्ये, अन्यत्र—कराद्यवयवमध्ये, अङ्केन = एकद्वयादिसङ्ख्यया अन्यत्र—क्रोडेन भृता = धृता, ज्योतिर्मयी = नक्षत्रप्रधाना भास्वती विद्या एव ज्योतिर्विद्या एव यद्भजनाय = यस्याः सेवनाय, हारलता = मुक्तावली, बभूव = आसीत्, इति विशङ्के = उत्प्रेक्षे ।

टिप्पणी—परिणम्य = परि + नम् + क्त्वा—ल्यप् । उदिततारवृत्ता = उदिता तारा येषु तानि वृत्तानि यस्यां सा उदिततारवृत्ता । (ब० व्री० गर्भ ब० व्रीहिः) मध्येऽङ्कम् = अङ्कस्य मध्ये मध्येऽङ्कम् "पारे मध्ये" इत्यादिनाऽव्ययीभावः) अन्यत्र अङ्गानां मध्ये । यद्भजनाय = यस्या भजनाय । "अङ्कं क्रोडेऽन्तिके चिह्ने" इति वैजयन्ती, "ज्योतिरग्नौ दिवाकरे, पुमान् नपुंसके दृष्टौ स्यान्नक्षत्रप्रकाशयोः" इति मेदिनी ।

भावः—अङ्कगणितबहुतारकवाचकवृत्तैः समन्विता यस्याः ।
मध्येऽङ्कं परिकलिता ज्योतिर्विद्यैव हारतां याता ॥
निर्मलनिस्तलमुक्ता ज्योतिर्मयधिण्ठमङ्गगता ।
अङ्गे स्वाङ्के न्यस्ता हारलतेव सेवितुं याता ॥

अनुवाद:—अङ्कों से गिने गये अनेक ताराओं के वाचक पद्यों से युक्त
वेदाङ्गों में गिनी जाने वाली ज्योतिष विद्या ही सेवा के लिये हारलता के रूप
में परिणत हो गयी। हारलता भी निर्मल परिगणित मोतियों से युक्त (वृत्त)
गोलाकार एवं प्रकाशमान है और अङ्क (गोद) में स्थापित है ॥ ७९ ॥

अवैमि वादिप्रतिवादिगाढ-स्वपक्षरागेण विराजमाने।
तौ पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवती यदीयौ ॥ ८० ॥

अन्वय:—वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण, विराजमाने पूर्वोत्तरपक्षशास्त्रे
यदीयौ तौ रदच्छदौ भूतवती अवैमि।

व्याख्या—वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण = वक्तृप्रतिवक्तृनिविडस्वपक्षाभि-
निवेशेन, पक्षे—अन्तःपार्श्वरक्तत्वेन विराजमाने = शोभमाने, यदीयौ = यस्याः
सम्बन्धिनौ तौ = प्रसिद्धौ रदनच्छदौ = ओष्ठौ भूतवती = बभूवतुः इति अवैमि
= उत्प्रेक्षे। अत्रौष्ठावेव वादिप्रतिवादि व्यापारवन्तौ पूर्वोत्तरपक्षभूतौ चेति
बोध्यम्।

टिप्पणी—वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण = वादी च प्रतिवादी चेति
वादिप्रतिवादिनौ (द्वन्द्वः) स्वपक्षे रागः (ष० तत्पु०) वादिप्रतिवादिनोः
गाढः चासौ स्वपक्षरागः (कर्मधारयः) तेन। पक्षे–पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे = पूर्व-
पक्षश्च उत्तरपक्षश्चेति पूर्वपक्षोत्तरपक्षौ (द्वन्द्वः), तयोः शास्त्रे (ष० तत्पु०)।

भावः—विवदतोर्विदुषोर्निजपक्षयोरतिसमेधितरागवशाहितौ।
भगवतीरदनच्छदतां गतौ विषययोर्द्वितयौ समुपागतौ ॥

अनुवाद:—वादी एवं प्रतिवादियों के अपने अपने पक्ष की स्थापना में
गाढ़राग (अधिक आवेश) से शोभित पूर्व और उत्तर पक्ष के शास्त्र ही उस
वाग् देवता के दोनों ओष्ठ के रूप में परिणत हो गये ॥ ८० ॥

ब्रह्मार्थकर्मार्थकवेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम्।
चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम् ॥ ८१ ॥

अन्वय:—पराच्छादनचारु मांसलम् तस्या ऊरुयुग्मम् आत्मदेहं ब्रह्मार्थ-
कर्मार्थकवेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितया मीमांसया कृतम्।

व्याख्या—पराच्छादनचारु = उत्कृष्टवस्त्रावरणमनोहरम्, मांसलम् = पीनम्,
तस्याः = भारत्याः उरुयुग्मम् = जङ्घायुगलम् (पराच्छादनचारु) प्रतिवादि-
पक्षखण्डनमनोहरम्, आत्मदेहम् = स्वस्वरूपम्, ब्रह्मार्थककर्मार्थकवेदभेदेन द्विधा

विधाय = पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसारूपेण द्विप्रकारकं कृत्वा स्थितया, मीमांसया—कृतम् = विहितम् ।

टिप्पणी—पराच्छादनचारु = परेण आच्छादनेन चारु (कर्मधारयपूर्वकः तृ० तत्पु०) ऊरुयुग्मम् = ऊर्वोर्युग्मम् (ष० तत्पु०) मांसमस्यास्तीति मांसलम् (शिध्मादित्वात् लच्) ब्रह्मार्थकर्मार्थकभेदात् = ब्रह्म अर्थो यस्य स ब्रह्मार्थः कर्म अर्थो यस्य सः कर्मार्थः 'शेषाद्विभाषा' इति कपि, ताभ्यां यो भेदः तस्मात् ।

भावः—सुन्दरवसनाच्छादितमूर्वोर्युगलं गिरां देव्याः ।
ब्रह्मार्थकर्मार्थद्वयोत्तरपूर्वमीमांसदैवविरचितम् ॥

अनुवादः—सुन्दर वस्त्र से आच्छादित मांसल एवं सुन्दर उरुयुगल, परमत को खण्डन करने वाली कर्मार्थक (कर्मकाण्ड) ब्रह्मार्थक (ब्रह्मकाण्ड) से दो भागों में विभक्त मीमांसा से बनाये गये थे ॥ ८१ ॥

उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः ।
आन्वीक्षिकी यद्दशनद्विमाली तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यद्दशनद्विमाली तां आकलितां मुक्तिकाम् उद्देशपर्वणि अपि लक्षणे अपि द्विधा उदितैः षोडशभिः पदार्थैः मुक्तिकामाकलितां आन्विक्षिकीम् प्रतीमः ।

व्याख्या—यद्दशनद्विमाली = यदीयदन्तपङ्क्तिद्वयम्, ताम् = प्रसिद्धाम्, आकलिताम् = ग्रथिताम्, मुक्तिकाम् = मुक्तावलीम्, उद्देशपर्वणि = नामकीर्तनावसरे, लक्षणे = समानासमानजातिव्यवच्छेदरूपलक्षणनिरूपणावसरे अपि द्विधा = द्विप्रकारेण, उदितैः-कथितैः, षोडशभिः = षोडशसङ्ख्याकैः पदार्थैः, मुक्तिकामाकलिताम् = मुमुक्षुभिरभ्यस्ताम् आन्वीक्षिकीम् = तर्कविद्याम्, प्रतीमः = जानीमः ।

टिप्पणी – यद्दशनद्विमाली = द्वयोर्मालयोः समाहारः द्विमाली 'आवन्तो वा' इति स्त्रीत्वे द्विगोरिति ङीप्, यस्या दशना यद्दशनास्तेषां द्विमाली 'तद्धितार्थोत्तरे' त्यादिना द्विगुसमासे कृते षष्ठीतत्पुरुषः । मुक्ता एव मुक्तिका स्वार्थे के कृते 'केऽणः' इति ह्रस्वे 'अभाषितपुंसकाच्च' इति कात्पूर्वस्येत्वम् । उद्देशपर्वणि = उद्देशो–नामतः कीर्तनम् तस्य पर्वणि–अवसरे, अन्यत्र उद्देशपर्वदिवसे । सामुद्रिकलक्षणे च द्विधा उदितैः षोडशभिः परार्थैः मुक्तिकामाकलिताम् = मुक्तिं कामयन्ते इति मुक्तिकामा 'शीलिकामि'त्यादिना णप्रत्ययः तैः आकलिताम् । आन्विक्षिकीम् अनुपश्चात् वेदाध्ययनानन्तरम् ईक्षा सा प्रयोजनमस्या इत्यान्वीक्षिकी ठक् प्रत्ययस्तस्येकादेशः ।

भावः—

उद्देशलक्षणपदे विधयाद्द्वयोक्तैस्तर्कोक्तषोडशपदार्थचयैर्विशिष्टाम् ।

आन्वीक्षिकीं सुरगिरो दशनावलीं तां मुक्तावलीं परिणतां खलु सम्प्रतीमः ॥

अनुवादः—जिसके दातों की गुथी दो पङ्क्ति रूप मुक्तावली को नाम से कीर्तन रूप उद्देश के अवसर पर एवं लक्षण करते समय दो बार कहे गये बत्तीस पदार्थों से युक्त (मुक्तिकामाकलित) मुमुक्षुओं से अभ्यस्त आन्वीक्षिकी (तर्क-विद्या) को मानता हूँ ॥ ८२ ॥

तर्का रदा यद्वदनस्य तर्क्या वादेऽस्य शक्तिः क्व ? तथाऽन्यथा तैः ।

पत्रं क्व दातुं गुणशालिपूगं क्व वादतः खण्डयितुं प्रभुत्वम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—तद्वदनस्य रदाः तर्काः तर्क्याः अस्य तैः अन्यथा वादे शक्तिः क्व पत्रं दातुं शक्तिः क्व वा गुणशालिपूगं वादतः खण्डयितुं प्रभुत्वं क्व ।

व्याख्या—तद्वदनस्य = तन्मुखस्य, रदाः = दन्ताः, तर्काः = ऊहाख्या, तर्क्याः = उत्प्रेक्ष्याः, (पक्षे—तर्कवादादिनाः) अस्य = वदनस्य, तैः = तर्कैः (दन्तैः) अन्यथा=विना, वादे = कथने कथायां वा, तथा=तेन प्रकारेण, शक्तिः =सामर्थ्यम् क्व, वादतः-वादनिमित्ततः, पत्रम् = प्रतिवादिने स्वपक्षसमर्थकं पत्रं, दातुं क्व शक्तिः । गुणशालिपूगम् = प्रतिभावद्विद्वद्वृन्दम्, खण्डयितुम् = युक्त्या तत्पक्षनिरसने, प्रभुत्वं = सामर्थ्यं क्व । पक्षे पत्रं = ताम्बूलं, पूगम् = क्रमुकं च दातुं = खण्डयितुम् ।

टिप्पणी—तद्वदनस्य = तस्या वदनस्य (षष्ठी तत्पु०) डुदाञ् दाने दोऽव-खण्डने द्वयोस्तुमुन् । गुणशालिपूगम्=गुणैः शालन्ते इति गुणशालिनः तेषां पूगम् । गुणोपपदात् शालेर्णिनिः, तेषां पूगम्, पक्षे-गुणशालि च तत् पूगम् (कर्म धा०) ।

भावः—दन्तास्तर्कमयास्तदाभकठिना वादे सुशक्ता ततः

पत्रञ्च क्रमुकञ्च मेऽक्तुमुचिता प्रज्ञावतो वादिनः ।

निर्जेतुं प्रभवस्ततश्च विजयप्रख्यापि पत्रं स्वकं

सम्प्राप्तुं कथमन्यथा तुवसां देव्याः समर्थास्ततः ॥

अनुवादः—भगवती वाग्देवी के दन्त तर्कस्वरूप समझने के योग्य हैं वैसे ही कठिन भी हैं अन्यथा विना तर्करूपता के मुख की शास्त्रार्थ करने या बोलने में क्या शक्ति हो सकती है अथवा ताम्बूल एवं सरस कसैली के भक्षण में शक्ति कैसे हो सकती है अथ च प्रतिभाशाली प्रतिवादियों के पक्ष को युक्ति से खण्डन

करने के लिये वा उनसे विजय प्रशस्ति पत्र देने के लिये सामर्थ्य कैसे हो सकता है ॥ ८३ ॥

सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु ।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—व्यासपराशराभ्याम् प्रणीतभावात् उभयीभविष्णु तत् मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं सपल्लवं पुराणं यत्पाणियुग्मं ववृते ।

व्याख्या—व्यासपराशराभ्याम् = द्वैपायनपराशराभ्याम्, प्रणीतभावात् = निर्मितत्वात् उभयीभविष्णु = पुराणोपपुराणाभ्यामुभयरूपतामापन्नम्, सपल्लवम् = सविस्तारं, तत् = प्रसिद्धम्, मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणम् पुराणम् यत्पाणियुग्मम् = यस्याः वाग्देव्या हस्तयुगलम्, ववृते = संजातम् । पक्षे—मत्स्यपद्मध्वजरूपसामुद्रिकोक्तरेखाभिः उपलक्ष्यमाणम् । सपल्लवम् = पल्लवेन सदृशम् किसलयोपमम् ।

टिप्पणी—व्यासपराशराभ्याम् = व्यासश्च पराशरश्चेति व्यासपराशरौ ताभ्याम् (द्वन्द्वः), यद्यपि—अष्टादश पुराणानां कर्ता सत्यवतीसुत इत्युच्यते तथापि 'पुराणं वैष्णवं चक्रे यस्तं वन्दे पराशरम्' इत्युक्तमनुसृत्योक्तम् । उभयीभविष्णु = अनुभयं उभयं भविष्णु इत्युभयीभविष्णु 'अभूततद्भावे' (च्वि प्रत्ययः) भविष्णुश्च भुवश्चेतीष्णुच् प्रत्ययः । मत्स्यपद्मादिनामत उपलक्ष्यमाणम् पक्षे—तादृशरेखायुक्तम् । सपल्लवम् = पल्लवेन सदृशम्, अव्ययविभक्तीत्यादिना सादृश्यार्थकसहशब्देन समासः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहस्य सादेशः ।

भावः—पराशरव्यासविनिर्मितत्वात् द्वैविध्यमाप्तश्च सपल्लवञ्च ।
तन्मत्स्य पद्मादिविलक्षितं तत्पाणिद्वयं ह्यास पुराणवृन्दम् ॥

अनुवादः—व्यास और पराशर से निर्मित होने के कारण पुराण एवं उपपुराण इन दो भागों में विभक्त एवं विस्तारयुक्त मत्स्यपद्मादि पुराण उस सरस्वती का मत्स्य-पद्म-ध्वज-कुलिश-रूप सामुद्रिक तदाकार रेखाओं से युक्त एवं पल्लवसदृश पाणियुगल हुआ ॥ ८४ ॥

आकल्पविच्छेदविवर्जितो यः स धर्मशास्त्रव्रज एव यस्याः ।
पश्यामि मूर्द्धा श्रुतमूलशाली कण्ठे स्थितः कस्य मुदे न वृत्तः ? ॥ ८५ ॥

अन्वयः—आकल्पविच्छेदविवर्जितः श्रुतमूलशाली कण्ठेश्रितः यः धर्मशास्त्रव्रजः स एव यस्याः मूर्धा वृत्तः कस्ये मुदे न (इति) पश्यामि ।

व्याख्या—आकल्पविच्छेदविवर्जितः = प्रलयकालपर्यन्तविनाशरहितः श्रुतमूलशाली = वेदप्रमाणितः, अन्यत्र—आकल्पः = अलङ्कारादि, तद्विच्छेदरहितः तत्सहित इत्यर्थः, श्रुतमूलशाली वर्णमूलशोभितः, कण्ठेस्थितः = मुखे स्थितः अन्यत्र—कण्ठोपरि स्थितः, तत् = प्रसिद्धः, धर्मशास्त्रव्रजः = धर्मशास्त्रसमूहः; तस्याः = वाग्देव्याः, मूर्धा = वृत्तः मस्तकाकारेण परिणतः वृत्तः = वर्तुलः, कस्य जनस्य मुदे = आनन्दाय न आसीदित्यर्थः ।

टिप्पणी—आकल्पविच्छेदविवर्जितः = आकल्पं विच्छेदेन रहितः, कल्पमभिव्याप्याकल्पं (अव्ययीभावः) ततः विच्छेदरहितशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । पक्षे आकल्पविच्छेदः तेन रहितः । (तृ० तत्पुरुष) श्रुतमूलशाली = श्रुतं वेद एव मूले तेन शाली (कर्म धार० तृ० तत्पु०) शालेर्णिनि (उपपदसमासः) धर्मशास्त्राणां व्रजः (ष० तत्पु०) "वेदे श्रवसि च श्रुतम्" इत्यमरः ।

भावः—श्रुतमूलादुल्लसितश्चाकल्पविनाशरहितश्च ।
कण्ठे स्थितः सुमूर्धा यस्याः वृत्तः स धर्मशास्त्रचयः ॥

अनुवादः—प्रलयपर्यन्त विनाशरहित, (आकल्प = भूषण) के विनाश से रहित, भूषणसहित वेद के प्रमाण से शोभित श्रुत (कर्ण) मूल से शोभित, वचन में स्थित (कण्ठ से ऊपर स्थित) धर्मशास्त्रों का समूह जिस सरस्वती देवी का (वृत्त) गोलाकार मस्तक के रूप में परिणत हुआ किसके आनन्द के लिये न था ॥ ८५ ॥

भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्बिन्दुना भालतमालपत्रम् ।
तदर्द्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्चो-निक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ॥ ८६ ॥

अन्वयः—विधिः प्रणवस्य दलाभ्यां अस्या भ्रुवौ तद्बिन्दुना भालतमालपत्रं तदर्धचन्द्रेण विपञ्चीनिक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ।

व्याख्या—विधिः = ब्रह्मा, प्रणवस्य = ओङ्कारस्य, दलाभ्याम् = पत्राभ्याम्, अस्याः = सरस्वत्याः, भ्रुवौ = भ्रूयुगलम्, तद्बिन्दुना = बिन्दुसदृशरेखया, भालतमालपत्रम् = भालस्थतिलकम्, प्रणवार्धचन्द्राकारेण = प्रणवार्धचन्द्राकाररेखया, विपञ्चीनिक्वाणकोणधनुः = कच्छपीवादनोपकरणम्, प्रणिन्ये = प्रणीतवान् ।

टिप्पणी—प्रणवः-प्रणयत्यूर्ध्वं प्राणात् इति प्रणवः । "तमालपत्रतिलकं

पत्राणि च विशेषकम्" इत्यमरः, "वीणा तु वल्लकी विपञ्ची" इत्यमरः, कोणो वीणादिवादनम् ।

भावः—

तद्दलाभ्यां भ्रुवौ बिन्दुना पत्रकं, भालगञ्चोङ्कृतेरर्धचन्द्रेण तम् ।
कच्छपीवाद्यवादार्थकोणं विधिः संव्यदत्तेति मे कल्पना ज्यायसी ॥

अनुवादः—विधाता ने प्रणव के दोनों प्रान्तों की रेखा से उस सरस्वती के दोनों भौंहें बनाई उसके बिन्दु से भाल का तमालपत्र और प्रणव के अर्धचन्द्राकार रेखा से कच्छपी वीणा के वादन का उपकरण विशेष बनाया ।

द्विकुडली वृत्तसमाप्तिलिप्याः कराङ्गुली काञ्चनलेखनीनाम् ।
कैश्यं मसीनां स्मितभाः कठिन्याः काये यदीये निरमायि सारैः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—यदीये काये द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्या सारैः निरमायि कराङ्गुलीः काञ्चनलेखनीनां सारैः (निरमायि) मसीनां सारैः कैश्यम् कठिन्या स्मितभा निरमायि ।

व्याख्या—यदीये = यत्सम्बन्धिनि, काये = शरीरे, द्विकुण्डली = कुण्डलयोर्द्वयम्, वृत्तसमाप्तिलिप्या = पद्यसमाप्तिसूचकबिन्दुद्वयस्य, सारैः = श्रेष्ठभागैः (निरमायि = निर्मिता मसीनां सारैः कैश्यम् = केशसमूहः, कराङ्गुलीः = काञ्चनलेखनीनां सारैः सुवर्णलेखनीनां सारैः, कठिन्या = खटिकायाः, सारैः स्मितभाः = मन्दहास्यशोभा निरमायि ।

टिप्पणी—द्विकुण्डली = द्वयोः कुण्डलयोः समाहारः द्विकुण्डली तद्धितार्थेत्यादिना द्विगुः द्विगोरिति ङीप्, वृत्तसमाप्तिलिप्या = वृत्तस्य समाप्तेः लिप्याः (ष० तत्पु०) बिन्द्वाकाररेखा । तदुक्तम्—"शृङ्गवद् बालवत्सस्य, बालिकाकुचयुग्मवत् । नेत्रवत् कृष्ण सर्पस्य, स विसर्ग इति स्मृतः ।" निरमायि = निपूर्वान्मातेः कर्मणि लङ् 'आतो युक्' इत्यादिना युगागमः । कराङ्गुलीः । करयोरङ्लीः (ष० तत्पु०) कैश्यम् = केशानां समूहः 'केशाश्वभ्यां यञ्छ' इति यञ् प्रत्ययः ।

भावः—

विसर्गाकृती कुण्डले तच्छरीरे सुवर्णाङ्गसल्लेखनी चाङ्गुलिञ्च ।
मसीनां चयः केशपाशस्तथा च स्मितश्रीः कठिन्या सुसारैः कृता च ॥

अनुवादः—उस भगवती के शरीर में विसर्ग से दोनों कुण्डल सुवर्ण की

लेखनी से अङ्गुलियां मसी से केश समूह एवं खड़ी से स्मित की शोभा बनाई गई ॥ ८७ ॥

या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव ।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकरतासिद्धिमयाखिलेव ॥ ८८ ॥

अन्वयः—या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मवादमध्योदरेव विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिला इव (स्थिता देवी मध्यसभं अवततार) ।

व्याख्या—या = सरस्वती, सोमसिद्धान्तमयानना इव–सोमसिद्धान्तः = कापालिकदर्शनम्, पूर्णचन्द्रश्च तत्स्वरूपमुखी इव, शून्यात्मवादमध्योदरा इव = शून्यात्मवादिबौद्धः तत्सिद्धान्तमयं कृशश्च मध्योदरं यस्या सा इव। विज्ञानसामस्त्यमयान्तरा=निराकारविज्ञानमात्रस्य साकल्यं तत्स्वरूपमर्थविशिष्टज्ञानसम्पत्तिश्च तन्मया अखिलं यस्या सा इव सेव स्थिता सरस्वती मध्येसभमवततार ।

टिप्पणी—सोमसिद्धान्तमयानना = सोमसिद्धान्तमयमाननं यस्या सा सोमसिद्धान्तमयानना (बहुव्रीहिः) । शून्यात्मवादमध्योदरा=शून्यात्मतावादमयमुदरं यस्य सा (बहुव्रीहिः) । विज्ञानसामस्त्यमयान्तरा = विज्ञानसामस्त्यमयमन्तरं यस्या सा (ब० व्री०) । साकारतासिद्धिमयाखिला इव साकारता सिद्धिमयमखिलं यस्या सा (ब० व्री०) ।

भावः—बौद्धोक्तसिद्धान्तचतुष्टयीव पूर्णेन्दुवक्त्रा च कृशोदरी च ।
प्रकाशिचित्रान्वितभव्यरूपा मध्येसभं सावततार बाला ॥

अनुवादः—जो सरस्वती देवी कापालिकदर्शनस्वरूप, वा पूर्णचन्द्रस्वरूपमुखवाली, शून्यात्मावादस्वरूप, वा कृश उदर वाली विज्ञानमय वा अर्थविशिष्ट ज्ञान या आत्मावाली ज्ञानमय सारे अङ्क वाली थी वह उस स्वयंवर सभा के बीच अवतरित हुई ॥ ८८ ॥

भीमस्तयाऽगद्यत मोदितुं ते वेला किलेयं तदलं विषद्य ।
मया निगाद्यं जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रञ्च यथावदेषाम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अथ भीमः तया अगद्यत, हे नृप इयं ते मोदितुं वेला किल, तद् विषद्य अलम्, एषां जगतीपतीनां, गोत्रं कुलं चरित्रं च मया यथावत् निगाद्यम् ।

व्याख्या—अथ = आगमनानन्तरम्, तया = सरस्वत्या, भीमः = कुण्डिनेशः, अगद्यत = उक्तः, हे नृप = राजन्, इयम् = एषा, तव = भवतः, मोदितम् =

आनन्दस्य, वेला = समयः, विषद्य अलम् = विषादं मा कृथा। एषाम्=समागतानाम्, जगतीपतीनाम् = राज्ञाम्, गोत्रं = कुलम् अन्वयम्, चरित्रम् = समाचारम्, मया निगद्यम् = निगदनीयम्, निगदिष्ये, अखिलमानवदुर्जयोऽयं विषयः मया सम्पादयितव्य इत्यर्थः।

टिप्पणी—अगद्यत् = गदेः कर्मणि लङ्। मोदितुम् वेला=मुदेः, "कालसमयवेलासु तुमुन्" इति तुमुन् प्रत्ययः। विषद्य अलम् "अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इति क्त्वा प्रत्ययः तस्य ल्यबादेशः। जगत्याः पतयः जगतीपतयः तेषां जगतीपतीनाम् (ष० तत्पुरुषः) निगाद्यम् = निपूर्वात् गदे "ऋहलोर्ण्यत्" इति ण्यत् प्रत्ययः।

भावः—अहमेषां नृपतीनां सर्वमपेक्षितं गोत्रचरितादि।
वक्ष्ये नैव विषाद्यं भवता मोदस्वेति सा भूपतिं प्राह॥

अनुवादः—उस सरस्वती ने भीम राजा से कहा—यह आपकी प्रसन्नता का समय है विषाद न करो, मैं इन सभी राजाओं के नाम गोत्र चरित्र आदि का परिचय आपकी पुत्री को दिलाऊँगी॥ ८९॥

अविन्दतासौ मकरन्दलीलां मन्दाकिनी यच्चरणारविन्दे।
अत्रावतीर्णा गुणवर्णनाय राज्ञां तदाज्ञावशगाऽस्मि काऽपि॥ ९०॥

अन्वयः—असौ मन्दाकिनी यस्य चरणारविन्दे मकरन्दलीलाम् अविन्दत तदाज्ञावशगा कापि अहं राज्ञां गुणवर्णनाय अत्र अवतीर्णा अस्मि।

व्याख्या—असौ = प्रसिद्धा, मन्दाकिनी = स्वर्णदी, यस्य = भगवतः चरणारविन्दे = चरणकमले, मकरन्दम् = मधु, तस्य लीलां = विलासम्, अविन्दत = प्राप्तवती तदाज्ञावशगा = तदादेशाधीना, कापि = अनिर्वाच्या, अहम् = एषां राज्ञाम् भूपतीनाम् गुणवर्णनाय = गुणसङ्कीर्तनाय, अत्र स्वयंवरे अवतीर्णा अस्मि = आगतास्मि।

टिप्पणी—चरणारविन्दे=चरणौ एव अरविन्दे तत् (क० धा०)। मकरन्दलीलाम् = मकरन्दस्य (पद्ममधुनः) लीला (विलासः) ताम् (ष० तत्पु०)। गुणवर्णनाय = गुणानां वर्णनं, तस्मै (ष० तत्पु०)। तदाज्ञावशगा = वशं गच्छतीति वशगा, तस्य आज्ञा तदाज्ञा, तदाज्ञया वशगा।

अनुवादः—यह प्रसिद्ध मन्दाकिनी जिसके चरण रूप कमलों के मकरन्द की

लीला को प्राप्त करती है । उनकी आज्ञा वशवर्तिनी मैं राजाओं का वर्णन करने के लिए अवतीर्ण हुई हूँ ॥ ९० ॥

तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य ।
तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितां दिदेश ॥ ९१ ॥

अन्वयः—लोकपालैकधुरीणः एषः नृपतिः अवाप्तां तां तत्कालवेद्यैः शकुनिस्वराद्यैः आप्तां प्रतीत्य तस्यैः उचितां सपर्यां दिदेश ।

व्याख्या—लोकपालैकधुरीणः = लोकपालसदृशः एषः = अयम् नृपतिः = भीमो राजा अवाप्ताम् = आगताम्, ताम् = शारदाम्, तत्कालवेद्यैः—तस्मिन् समये वेदितु शक्यैः, शकुनि-स्वराद्यैः = सत्पक्षिकूजितैः, आप्ताम् = आश्वास्या, प्रतीत्य = अभिज्ञाय, तस्यै = वाग्देवतायै, उचिताम् = अर्हाम्, सपर्य्या = पूजाम् । दिदेश = कृतवान् ।

टिप्पणी—लोकपालैकधुरीण = लोकपालैः सह एकां धुरं वहतीति लोकपालैक धुरीणः 'एक धुराच्चेति' खप्रत्ययः तस्येनादेशः । अवाप्ताम् (अव + आप् + क्तः । तत्कालवेद्यैः = तस्मिन् काले वेद्यैः (कर्मधारय स० तत्पु०) । शकुनिस्वराद्यैः = शकुनीनां स्वराः आद्या येषां तैः शकुनिस्वराद्यैः (बहुव्रीहि) । प्रतीत्य = प्रति + इण् + क्त्वा—ल्यप् ।

भावः—अतर्कितामाप्तवती सभा तां वाग्देवतां तामुचितैर्निमित्तैः ।
आप्तामभिज्ञाय नृपः सपर्य्यां तस्यै यथेष्टां समुपाजहार ॥

अनुवादः—लोकपाल के समान राजा भीम अतर्कित रूप से उस सभा में आयी उस वाग्देवी को उस काल में जानने योग्य शकुनों से विश्वस्त समझकर उनका समुचित सत्कार किया ॥ ९१ ॥

दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनामाकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम् ।
ततः क्षितीशः स निजां तनूजां मध्येमहाराजकमाजुहाव ॥ ९२ ॥

अन्वयः—ततः सः क्षितीशः दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनाम् आकर्षकौतूहलसिद्धविद्यां निजां तनूजाम् मध्येमहाराजकम् आजुहाव ।

व्याख्या—ततः = वाग्देवतायाः पूजान्तरम्, क्षितीशः = भूपतिः, दिगन्तरेभ्यः = नाना दिग्भ्यः पृथिवीपतीनाम् = धरणिभृताम्, आकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम् = आकर्षणसिद्धमन्त्रस्वरूपाम् निजाम् = स्वीयाम्, तनूजाम् = तनयाम् मध्येमहाराजकम् = महाराजसमूहमध्ये, आजुहाव = आकारयामास ।

आनन्दस्य, वेला = समयः, विषद्य अलम् = विषादं मा कृथा । एषाम्=समागतानाम्, जगतीपतीनाम् = राज्ञाम्, गोत्रं = कुलम् अन्वयम्, चरित्रम् = समाचारम्, मया निगद्यम् = निगदनीयम्, निगदिष्ये, अखिलमानवदुर्जेयोऽयं विषयः मया सम्पादयितव्य इत्यर्थः ।

टिप्पणी—अगद्यत् = गदेः कर्मणि लङ् । मोदितुम् वेला=मुदेः, "कालसमयवेलासु तुमुन्" इति तुमुन् प्रत्ययः । विषद्य अलम् "अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इति क्त्वा प्रत्ययः तस्य ल्यबादेशः । जगत्याः पतयः जगतीपतयः तेषां जगतीपतीनाम् (ष० तत्पुरुषः) निगाद्यम् = निपूर्वात् गदे "ऋहलोर्ण्यत्" इति ण्यत् प्रत्ययः ।

भावः—अहमेषां नृपतीनां सर्वमपेक्षितं गोत्रचरितादि ।
वक्ष्ये नैव विषाद्यं भवता मोदस्वेति सा भूपतिं प्राह ॥

अनुवादः—उस सरस्वती ने भीम राजा से कहा—यह आपकी प्रसन्नता का समय है विषाद न करो, मैं इन सभी राजाओं के नाम गोत्र चरित्र आदि का परिचय आपकी पुत्री को दिलाऊँगी ॥ ८९ ॥

अविन्दतासौ मकरन्दलीलां मन्दाकिनी यच्चरणारविन्दे ।
अत्रावतीर्णा गुणवर्णनाय राज्ञां तदाज्ञावशगाऽस्मि काऽपि ॥ ९० ॥

अन्वयः—असौ मन्दाकिनी यस्य चरणारविन्दे मकरन्दलीलाम् अविन्दत तदाज्ञावशगा कापि अहं राज्ञां गुणवर्णनाय अत्र अवतीर्णा अस्मि ।

व्याख्या—असौ = प्रसिद्धा, मन्दाकिनी = स्वर्णदी, यस्य = भगवतः चरणारविन्दे = चरणकमले, मकरन्दम्=मधु, तस्य लीलां = विलासम्, अविन्दत = प्राप्तवती तदाज्ञावशगा = तदादेशाधीना, कापि = अनिर्वाच्या, अहम् = एषां राज्ञाम् भूपतीनाम् गुणवर्णनाय = गुणसङ्कीर्तनाय, अत्र स्वयंवरे अवतीर्णा अस्मि = आगतास्मि ।

टिप्पणी—चरणारविन्दे=चरणौ एव अरविन्दे तत् (क० धा०) । मकरन्दलीलाम् = मकरन्दस्य (पद्ममधुनः) लीला (विलासः) ताम् (ष० तत्पु०) । गुणवर्णनाय = गुणानां वर्णनं, तस्मै (ष० तत्पु०) । तदाज्ञावशगा = वशंगच्छतीति वशगा, तस्य आज्ञा तदाज्ञा, तदाज्ञया वशगा ।

अनुवादः—यह प्रसिद्ध मन्दाकिनी जिसके चरण रूप कमलों के मकरन्द की

लीला को प्राप्त करती है। उनकी आज्ञा वशवर्तिनी मैं राजाओं का वर्णन करने के लिए अवतीर्ण हुई हूँ ॥ ९० ॥

तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य।
तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितां दिदेश ॥ ९१ ॥

अन्वयः—लोकपालैकधुरीणः एषः नृपतिः अवाप्तां तां तत्कालवेद्यैः शकुनिस्वराद्यैः आप्तां प्रतीत्य तस्यैः उचितां सपर्यां दिदेश।

व्याख्या—लोकपालैकधुरीणः=लोकपालसदृशः एषः=अयम् नृपतिः=भीमो राजा अवाप्ताम्=आगताम्, ताम्=शारदाम्, तत्कालवेद्यैः—तस्मिन् समये वेदितुं शक्यैः, शकुनि-स्वराद्यैः=सत्पक्षिकूजितैः, आप्ताम्=आश्वास्या, प्रतीत्य=अभिज्ञाय, तस्यै=वाग्देवतायैं, उचिताम्=अर्हाम्, सपर्य्या=पूजाम्। दिदेश=कृतवान्।

टिप्पणी—लोकपालैकधुरीण=लोकपालैः सह एकां धुरं वहतीति लोकपालैक धुरीणः 'एक धुराच्चेति' खप्रत्ययः तस्येनादेशः। अवाप्ताम् (अव+आप्+क्तः। तत्कालवेद्यैः=तस्मिन् काले वेद्यैः (कर्मधारय स० तत्पु०)। शकुनिस्वराद्यैः=शकुनीनां स्वराः आद्या येषां तैः शकुनिस्वराद्यैः (बहुव्रीहि)। प्रतीत्य=प्रति+इण्+क्त्वा—ल्यप्।

भावः—अतर्किताम्सवती सभा तां वाग्देवतां तामुचितैर्निमित्तैः।
आप्तामभिज्ञाय नृपः सपर्य्यां तस्यै यथेष्टां समुपाजहार ॥

अनुवादः—लोकपाल के समान राजा भीम अतर्कित रूप से उस सभा में आयी उस वाग्देवी को उस काल में जानने योग्य शकुनों से विश्वस्त समझकर उनका समुचित सत्कार किया ॥ ९१ ॥

दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनामाकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम्।
ततः क्षितीशः स निजां तनूजां मध्येमहाराजकमाजुहाव ॥ ९२ ॥

अन्वयः—ततः सः क्षितीशः दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनाम् आकर्षकौतूहलसिद्धविद्यां निजां तनूजाम् मध्येमहाराजकम् आजुहाव।

व्याख्या—ततः=वाग्देवतायाः पूजान्तरम्, क्षितीशः=भूपतिः, दिगन्तरेभ्यः=नाना दिग्भ्यः पृथिवीपतीनाम्=धरणिभृताम्, आकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम्=आकर्षणसिद्धमन्त्रस्वरूपाम् निजाम्=स्वीयाम्, तनूजाम्=तनयाम् मध्येमहाराजकम्=महाराजसमूहमध्ये, आजुहाव=आकारयामास।

टिप्पणी—क्षितीशः = क्षितेः ईशः (ष० तत्पु०)। दिगन्तरेभ्यः = दिशामन्तराणि तेभ्यः (ष० तत्पु०) पृथिवीपतीनाम् = पृथिव्याः पतयः तेषां पृथिवीपतीनाम् (ष० तत्पु०)। आकर्षकातूहलसिद्धविद्याम् = आकर्षस्य कौतूहलं तस्मिन् सिद्धविद्याम् (ष० स० तत्पु०) मध्येमहाराजकम् = राज्ञां समूहः राजकम् महत् च तद् राजकम् महाराजकम् महाराजकस्य मध्ये मध्ये महाराजकम् "पारे मध्येषष्ठ्या वा" इति भीमस्य राजकमित्यत्र राज्ञां समूह इत्यर्थे = गोत्रोक्षेत्यादिना वुञ् प्रत्ययः।

भावः—

भूभुजां दूरदूरात् समाकर्षणे सिद्धविद्यामयी तां सुतां भूपतिः।
राजकानां सभायां तदानीं सखी संयुतामाजुहावोचितां भूषिताम् ॥

अनुवादः—सरस्वती के सत्कार के बाद महाराज भीम ने अनेक दिशाओं से राजाओं के समाकर्ष कार्य करने के लिये सिद्ध मन्त्रस्वरूपिणी अपनी पुत्री दमयन्ती को उस महती राजसमूह की सभा में बुलवाया ॥ ९२ ॥

दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम् ॥ ९३ ॥

अन्वयः—नासीरचरीषु दासीषु वीक्षितासु जातं क्रमेण आलिषु वीक्षितासु स्फीतम् अथ रूपोत्थम् अवलोककानाम् अद्भुताब्धिम् स्वाङ्गेषु वीक्षितेषु उद्वेलयन्तीम्।

व्याख्या—षोडशभिः श्लोकैः दमयन्तीं वर्णयति 'राजराजिः भैमीं पपौ' इति कर्तृ क्रिया पदे १०८ तमे श्लोके विद्येते। कीदृशी दमयन्तीम् इत्याह—नासीरचरीषु = अग्रगामिनीषु, दासीषु = अनुचरीषु, वीक्षितासु = अवलोकितासु जातम् उत्पन्नम्, क्रमेण = क्रमशः आलीषु वाक्षितासु, स्फीतम् = समेधितम्, अथ = अनन्तरम् रूपोत्थम् = विलक्षणसौन्दर्योत्थम् अवलोककानाम् = दर्शकाणाम् अद्भुताब्धिम् = आश्चर्यसागरम्, स्वाङ्गेषु = स्वावयवेषु, वीक्षितेषु उद्वेल्लयन्तीम् = अतिक्रान्तवेलं कुर्वाणाम्।

टिप्पणी—नासीरचरीषु = नासीरे चरन्तीति नासीरचर्यः तासु नासीरचरीषु सोपपदात् चरतेः 'चरेष्टः' इति ट प्रत्ययः 'टिड्ढे'त्यादिना ङीप् (उपपदसमासः)। रूपोत्थम् = रूपादुत्तिष्ठतीति रूपोत्थम् आतश्चोपसर्गे: इति क प्रत्ययः (उपपदसमासः) अवलोककानाम् अवपूर्वात् लोके—ण्वुले अद्भुताब्धिम् = अद-

भुतस्याब्धिस्तम् तथोक्तम् । वेलामुद्गच्छतीत्युद्वेलः ततः करोत्यर्थक-णिजन्ताद् शतरि उद्वेलयन्ती तां तथोक्तां ।

भावः—

दासीः पुरोगाः सवक्ष्य जातं सखीषु दृष्टासु ततः समेधितम् ।
स्वाङ्केषु दृष्टेषु निरीक्षकाणाम् तं विस्मयाब्धिं ह्यतिवेलयन्तीम् ॥

अनुवादः—यहाँ से १०८ श्लोक तक दमयन्ती का वर्णन है, 'पपावपाङ्कै-रथराजराजिः'। इस अन्तिम श्लोक में 'राजराजि' यह कर्ता पद और 'पपौ' यह क्रिया पद है देखें—आगे चलने वाली दासियों के देखने पर उत्पन्न एवं सखियों के देखने पर क्रम से बढ़ा हुआ रूपावलोकन से उत्पन्न दर्शकों के विस्मय रस के सागर को अपने शरीर के देखने पर निर्मर्याद (असीम) बनाती हुई ॥ ९३ ॥

स्निग्धत्वमायाजललेपलोपसयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम् ।
नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्त्ति-स्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स्निग्धमायाजललेपलोपसपत्नरत्नांशुमृजांशुकाभां नेपथ्यहीरद्युति-वारिवार्त्तिस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम् ।

व्याख्या—स्निग्धत्वमायाजललेपलोपसयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम्=मासृण्यार्थ-जलगर्भतादिलेपादिसकलदोषाभावयत्नविशुद्धरत्नकिरणांशुरूपांशुकधारिणीम्, नेप-थ्यहीरद्युतिवारिर्वर्त्तिस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम्=वेशरचनाहितहीरककिरण-जलस्य स्वप्रतिबिम्ब सदृशकान्तिमन्निजसखीसमूहाम् ।

टिप्पणी—स्निग्धत्वाय मायाजलम् रत्नदोषः तदुक्तम् "रागस्त्रासश्च बिन्दुश्च रेखा च जलगर्भता । सर्वरत्नेष्वमीपञ्च दोषाः साधारणाः मताः ॥" तथा लेप वर्णोत्कर्षकाद्रव्यविशेषः तयोर्लोपः ताभ्यां सपत्नानि कृत प्रयासानियानि रत्नानि तेषामंशुमृजा किरणप्राशस्त्यम् सैवांशुकाभायस्यास्ताम् तथोक्ताम् (अनेक-तत्पुरुष पुरःसरो बहुव्रीहिः) नेपथ्ये ये हीरा तेषां द्युतिरेव वारि तत्र वर्तते इति तद्वर्तिनी यः स्वच्छाया तस्याः सच्छाया समान कान्तयः या अलयः तस्या जालं यस्यास्ताम् 'विभाषासेने'त्यादिः छायशब्दस्य पुंस्त्वम् ।

भावः—

सकलदोषविवर्जितरत्नभामयशुभांशुकशोभि शरीरिणीम् ।
विविधभूषणसंगतहीरकद्युति जलोत्थनिजच्छवि सत्सखीम् ॥

अनुवाद:—स्निग्धता के लिये जलगर्भता-कृत्रिम द्रव्य लेप आदि सभी दोषों से रहित यत्न पूर्वक सम्पादित रत्नों के किरण रूप मनोहर वस्त्र धारण करने वाली, और भूषणों में जड़े हीरकों की प्रभा रूप जल में प्रतिबिम्बित अपने स्वरूप सदृश सखियों से समूह से युक्त उस दमयन्ती को ॥ ९४ ॥

विलेपनामोदमुदागतेन　तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा　च ।
रतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णे रहः किञ्चिदिवोच्यमानाम् ॥ ९५ ॥

अन्वय:—विलेपनामोदमुदागतेन तर्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च सतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णे रसः किञ्चित् वाच्यमानाम् ।

व्याख्या—विलेपनामोदमुदा = अङ्गरागसुगन्धानन्देन, आगतेन = आकृष्टेन, तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा = तदीयश्रवणोत्पलसमीपोत्पातिना, रतीशदूतेन = कामदूतेन, मधुव्रतेन = मिलिन्देन, कर्णे = श्रवणे, रहः = रहस्यम्, किञ्चित् नल एव सुन्दरतमो वरणीयः, एवं रूपम्, वाच्यमानाम् निगद्यमानाम् ।

टिप्पणी—विलेपनस्य आमोदः तेन मुद् तया विलेपनामोदमुदा (ष० तृ० तत्पु०) आगतेन तस्याः कर्णपूरोत्पलयो ह्वत्सर्पिणा (ष० तत्पु० तृ० तत्पु०) रतीशदूतेन, रतीशस्य दूतेन (ष० तत्पु०) वचेण्यन्तात्कर्मणि लट् तस्य शानजादेशः ।

भावः—

अङ्गरागाहृतेन　श्रुतेरुत्पले　गन्धलोभादुपेतेन　भृङ्गालिना ।
कामदूतेन किञ्चिद् रहस्यं मुदा कर्णयो कथ्यमानां व तां शोभिताम् ॥

अनुवाद:—अङ्ग राग के सुगन्ध के आनन्दानुभव के लिये समागत एवं कर्णोत्पल के पास उड़ते हुये काम के दूत रूप भ्रमरों से कानों में कुछ रहस्य कहीं जाती हुई ॥ ९५ ॥

विरोधिवर्णाभरणाश्मभासां मल्लाजिकौतूहलमीक्षमाणाम् ।
स्मरस्वचापभ्रमचालिते नु भ्रुवौ विलासाद् वलिते वहन्तीम् ॥ ९६ ॥

अन्वय:—विरोधिवर्णाभरणाश्मभासां मल्लाजिकौतूहलम् ईक्षमाणाम् स्मरस्वचापभ्रमचालिते नु विलासात् वलिते भ्रुवौ वहन्तीम् ।

व्याख्या—विरोधिवर्णाभरणाश्मभासाम् = परस्परविरुद्धनील-पीत-रक्तभूषणमणिरुचीनाम्, मल्लाजिकौतूहलम् = परस्पराभिभवकौतूहलम्, ईक्षमाणाम् =

विलोकमानाम्, स्मरस्वचापभ्रमचालिते = कामनिजधनुर्भ्रमसञ्चालिते नु विलासात् = कामिनीस्वाभाविकविभ्रमात् वलिते तिरश्चीने भ्रुवौ वहन्तीम् ।

टिप्पणी—विरोधिनो वर्णा येषां तेषां विरोधिवर्णानां आभरणानाम् अश्मानः विरोधिवर्णाभरणाश्मानः तेषां भासस्तासां विरोधिवर्णाभरणाश्मभासाम् = (ब० व्रीहि, कर्मधारय ष० तत्पु०) मल्लानां आजि तस्य कौतूहलम् (ष० तत्पु०) स्मरेण स्वचापस्य भ्रमेण चालिते (तृ० ष० तृ० तत्पुरुषाः)। चालिते = अत्र चल धातो मित्वेऽपि 'ज्वह्वले'त्यादिना विकल्पनादध्रस्वाभावः।

भावः—परस्परभिदाजुषां विविधरत्नभासां चयैः
प्रवर्तितरणोत्थितं कुतकमीक्षमाणां मुदा ।
स्मरेण निजकार्मुकभ्रमवशान्नु सञ्चालिते
भ्रुवौ सुवलिते इतउतस्तथा कुर्वतीम् ॥

अनुवादः—परस्पर विरुद्ध वर्णवाले भूषण के मणियों किरणों के मल्ल युद्ध का कौतुक को देखती हुई कामिनियों के स्वाभाविक विलास से चालित भौहों को मानों काम द्वारा सादृश्य वशात् अपने धनुष के भ्रम से चलाई गयी हो धारण करती हुई दमयन्ती को ॥ ९६ ॥

सामोदपुष्पायुधवासिताङ्गीं किशोरशाखाग्रशयालिमालाम् ।
वसन्तलक्ष्मीमिव राजभिस्तैः कल्पद्रुमैरप्यभिलष्यमाणाम् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—सामोदपुष्पायुधवासिताङ्गीं किशोरशाखाग्रशयालिमालाम् तैः राजभिः कल्पद्रुमैः अपि अभिलष्यमाणां वसन्तलक्ष्मीम् इव स्थिताम् ।

व्याख्या—सामोदपुष्पायुधवासिताङ्गीम् = कामेन सहर्षमध्युषिताङ्गीम्, किशोरशाखाग्रशयालिमालाम् = कोमलाङ्गुलियुक्तहस्ताग्रवत् सखीसमूहाम्—पक्षे क्रमेणोभयोर्विशेषणयोः, गन्ध-कुसुम-मलयानिलाध्युषित ङ्गीम्, नवपल्लवाग्रस्थितमिन्दमालाम्, स्वयंवररूपैः राजभिः नृपैः कल्पद्रुमैः = सर्वाभिलाषपूरकैः अपि अभिलष्यमाणा = स्वाभिलाषविषयीकृताम् वसन्तलक्ष्मीम् इव ऋतुराज श्रियमिव स्थिताम् ।

टिप्पणी—सामोद यथा स्यात्तथा पुष्पायुधेन वासितान्यङ्गानि यस्यास्ताम् सामोद पुष्पायुधवासिताङ्गीम् (ब० व्री०) पक्षे-आमोदेन सहितानि सामोदानि तानि तानि पुष्पाणि सामोदपुष्पाणि तैः आशुगेन च वासितामङ्गं यस्या ता ताम् तथोक्ताम् । कर्मधारय (तृ० तत्पु० पुरःसरो बहुव्री०) किशोरशाखा अग्रशया

यासां ता आलिमाला सखीचयो यस्या सा तां किशोरशाखाग्रशयालिमालाम् पक्षे—किशोरशाखानां नवपल्लवानामग्रीणि तेषु शेरत इति तथाभूता अलिमाला भ्रमरपङ्क्ति यस्या सा तां तथोक्ताम् । अग्रशया—अत्र शीङ् धातो "अधिकरणे शेते" इति डप्रत्यय (ब० व्री०) "आमोदो हर्षगन्धयोः, आशुगो वायुविशिखौ, इति विश्वामरौ । शाखाग्रशयः अत्र 'चरेष्टः" इति ट प्रत्ययः ।

भावः—

किसलयाङ्गुलिनैजसखीवृताम् कुसुमचापसहर्षसमाश्रिताम् ।
नृपतिकल्पनगैरपि लिप्सितां सुरभिभाससुसम्पदमुत्तमाम् ॥
सुरभितां कुसुमैः सुवासिताङ्गी किसलयशायिमिलिन्दमालिकाम् ।
सुरपति सुरवृक्षलिप्सितां सुरभिऋजु श्रियमुत्तमां दधानाम् ॥

अनुवादः—कामदेव ने जिसके अङ्ग में सहर्ष निवास किया है, एवं किसलय के समान कोमल अङ्गुलियों वाली जिसकी सखियाँ हैं, पक्ष में—सुगन्ध वाले पुष्प और मलयानिल से वासित एवं किसलयों पर विराजमान भ्रमरों से युक्त भूपति एवं देवराज रूप कल्पद्रुमों से भी अभिलषित वसन्त-लक्ष्मी के समान स्थित उस दमयन्ती को ॥ ९७ ॥

पीतावदातारुणनीलभासां देहोपलेपात् किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैण-नाभीविलेपान् पुनरुक्तयन्तीम् ॥ ९८ ॥

अन्वयः—पीतावदातारुणनीलभासां मणीनां किरणैः देहोपलेपान् गोरोचना-चन्दन-कुङ्कुमैणनाभिलेपान् पुनरुक्तयन्तीम् ।

व्याख्या—पीतावदातारुणनीलभासाम् = गौरश्वेतरक्तनीलरुचाम्, मणीनाम् = रत्नानाम्, किरणैः = प्रभाभिः, देहोपलेपान् = अङ्गरागभूतान्, गोरोचन-मलयज-कुङ्कुम-करतूरिविलेपान् समानाकारतया पुनरुक्तयन्तीम् = पुनरुक्तान् कुर्वाणाम् दमयन्तीम् ।

टिप्पणी—पीताश्चावदाताश्चारुणाश्च नीलाश्चेति तथोक्ता भासः येषान्ते तेषां पीतावदातारुणनीलभासाम् (द्वन्द्वगर्भो बहुव्री०) देहस्योपलेपान् = देहोपलेपान् (ष० तत्पु०) गोरोचना च चन्दनश्च कुङ्कुमश्च ऐणनाभिश्चेति-गोरोचना-चन्दनकुङ्कुमैणनाभयः, तेषां लेपान् (द्वन्द्वगर्भो ब० व्रीहिः) पुनरुक्तयन्तीम् = पुनरुक्तशब्दात् करोत्यर्थकण्यन्तात् शतृ प्रत्ययः ।

भावः—पीतवलक्षारुणशितिमणिकिरणानां समूहेन ।
गोरोचनमलयजरसकुङ्कुममृगमदलेपान् पिदधतीम् ॥

अनुवादः—पीत-श्वेत-रक्त एवं नील मणियों की कान्ति से लिप्त होने के कारण देह में अङ्गराग के रूप में उपयुक्त गोरोचन चन्दन-कुङ्कुम एवं मृग मदों के उपलेप को पुनरुक्त करती हुई ॥ ९८ ॥

स्मरं प्रसूनेन शरासनेन जेतारमश्रद्दधतीं नलस्य ।
तस्मै स्वभूषादृषदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकमर्पयन्तीम् ॥ ९९ ॥

अन्वयः—प्रसूनेन शरासनेन नलस्य जेतारम् स्मरम् अश्रद्दधतीम् तस्मै स्वभूषा-दृषदंशुशिल्पं वलिद्विषः कार्मुकम् अर्पयन्तीम् ।

व्याख्या—प्रसूनेन = पुष्पेण, शरासनेन = धनुषा, नलस्य = नैषधस्य, जेतारम् = विजयिनम् स्मरम् = कामम्, अश्रद्दधतीम् = अविश्वसतीम् अतएव स्वभूषादृषदंशुशिल्पम् = निजालङ्कारप्रोतमणिकिरणनिर्मितम् वलिद्विषः = इन्द्रस्य, कार्मुकम् = धनुः, तस्मै = स्मराय अर्पयन्तीम् = प्रददतीम् इव । व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षालङ्कारः ।

टिप्पणी—शरासनेन = शरा अस्यन्तेऽनेनेति शरासनम् तेन, स्वभूषादृषदंशुशिल्पम् = स्वस्य भूषा तस्यां दृषदः तेषामंशुभिः (ष० स० ष० तत्पुरुषाः) शिल्पं यस्य तत् (स० तत्पु०) बलिद्विषः = बलि द्वेष्टीति बलि द्विट् तस्य बलिद्विषः (उपपदसमासः) । सत्सू-इत्यादिना द्विष् धातोः क्विप् प्रत्ययः ।

भावः—मृदुना कुसुमशरेण नलस्य विजयमश्रद्दधतीम् ।
निजभूषादृषदुत्थे तस्या इन्द्रस्य कार्मुकं ददतीम् ॥

अनुवादः—काम द्वारा कोमल पुष्प के धनुष से वीरवर नल के विजय का विश्वास न करती हुई इसलिये काम को अपने भूषण के रत्नों की किरणों से बने दृढ इन्द्र के धनुष को देती हुई ॥ ९९ ॥

विभूषणेभ्यो वरमंशुकेषु ततो वरं सान्द्रमणिप्रभासु ।
सम्यक् पुनः क्वापि न राजकस्य पातुं दृशा धातृकृतावकाशाम् ॥१००॥

अन्वयः—विभूषणेभ्यः वरम् अंशुकेषु ततः वरं सान्द्रमणि प्रभासु (आसज्य) राजकस्य दृशा सम्यक् पातुम् क्वापि न धातृकृतावकाशाम् ।

व्याख्या—विभूषणेभ्यः = अलङ्कारेभ्यः, तेषु आसज्य ततः परं यथा स्यात्तथा अंशुकेन = वस्त्रेषु, आसज्य ततः वरं सान्द्रमणिप्रभासु = सघन रत्नकान्तिषु

आसज्य राजकस्य = राजसमूहस्य, दृशा = नेत्रेण, क्वापि = क्वचनापि, न = नहि, धातृकृतावकाशाम् = विधातृविहितावसराम् । विभूषाद्युत्तरोत्तरदमयन्तीपरिच्छेदेषु सौन्दर्याधिक्यलाभलोभात् व्यापृतस्थिराभ्यस्त दृग्यः पूर्णरूपेण स्पष्टं द्रष्टुं धात्रा अदत्ता वसरा ताम् ।

टिप्पणी—सान्द्राश्च ताः मणिप्रभास्तासु (कर्मधारयः) । राजकस्य-राजकानां समूहः राजकम्—गोत्रोक्षेत्यादिना राजशब्दाद् वुञ ।

भावः—

राजकानां पुरस्ताद्दृशो भूषणे चांशुके रत्नभासां चये वै ततः ।
सम्प्रसक्ता विधाता न ताभ्यो ददे निर्भरं तां प्रद्रष्टुं क्षणोऽपि क्षणम् ॥

अनुवादः—राजसमूह की दृष्टियाँ पहले दमयन्ती के भूषण को देखने में लग गयीं, बाद में उससे अधिक सुन्दर वस्त्रों के देखने में उसके बाद उससे भी अधिक सुन्दर उसके घने रत्नों की कान्ति को देखने में लग गयीं विधाता ने राजाओं के नेत्रों को जिसे पूरा देखने का अवसर नहीं दिया ऐसी दमयन्ती ।

प्राक् पुष्पवर्षैर्वियतः पतद्भिर्द्रष्टुं नदत्तामथ तद्द्विरेफैः ।
तद्भीतिभुग्नेन ततो मुखेन विधेरहो ! वाञ्छितविघ्नयत्नः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—प्राक् वियतः पतद्भिः पुष्पवर्षैः अथ तद्द्विरेफैः ततः तद्भीतिभुग्नेन मुखेन च द्रष्टुम् न दत्ता विधेः वाञ्छितविघ्नयत्नः अहो ।

व्याख्या—प्राक् = प्रथम् वियतः = आकाशात् पतद्भिः = अवाचीनमागच्छद्भिः । पुष्पवर्षैः = कुसुमवृष्टिभिः, अथ = अनन्तरम्, तद्द्विरेफैः = तत्पुष्पसंसक्तभ्रमरैः, ततः = तदनन्तरम्, तद्भीतिभुग्नेन = भृङ्गभीतिनिचीनेन = मुखेन = आननेन च द्रष्टुं = अवलोकयितुम् न दत्ताम् (ब्रह्मणेति शेषः) विधेः = ब्रह्मणः, वाञ्छितविघ्नयत्नः, लिप्सितलाभव्याघात अहो = आश्चर्यम् ।

टिप्पणी—तद्भीतिभुग्नेन = तेभ्यो भीतिः तद्भीतिः "पञ्चमी भयेन" (इति पञ्चमी तत्पुरुषः) तया भुग्नेन (तृ० तत्पु०) भुजेः क्तः "ओदितश्च" इति निष्ठानत्वम् द्रष्टुम् = दृशेस्तुमुन् "सृजिदृशोरि"त्यमागमे यण् । 'व्रश्चभ्रस्जे"त्यादिना षत्वं ष्टुत्वं च । वाञ्छितविघ्नयत्नः = वाञ्छितस्य विघ्नः तस्मिन् यत्नः । (ष० स० तत्पु०) ।

भावः—

पुरस्तान् पतन्त्या दिवः पुष्पवृष्ट्या तदाऽऽकृष्टभृङ्गैस्ततो विघ्नितश्च ।
निचीनेन वक्त्रेण तद्भीतितश्च न दत्तां प्रद्रष्टुं विधेर्वक्रताऽहो ॥

अनुवादः—पहले आकाश से गिरती हुई फूलों की वृष्टि से उसके बाद उसमें उलझे हुए भ्रमरों से अन्त में उन भ्रमरों के भय से मुख नीचे कर देने के कारण उन राजाओं ने दमयन्ती को पूरी तरह से नहीं देख पाया ईप्सित के रुकावट करने का विधाता का प्रयास आश्चर्यजनक होता है ।। १०१ ।।

एतद्वरं स्यामिति राजकेन मनोरथातिथ्यमवापिताय ।
सखीमुखायोत्सृजतीमपाङ्गात् कर्पूरकस्तूरिकयोः प्रवाहम् ।।१०२।।

अन्वयः—एतत् वरम् स्याम इति राजकेन मनोरथातिथ्यम् अवापिताय सखीमुखाय अपाङ्गात् कर्पूरकस्तूरिकयोः प्रवाहम् उत्सृजन्तीम् ।

व्याख्या—एतत् = सखीमुखम् वरम् = मनाक् प्रियं स्याम् इति = एवं प्रकारम्, राजकेन=राजलोकेन, मनोरथातिथ्यम् = अभिलाषविषयताम्, अवापिताय = प्रापिताय, सखीमुखाय=सहचरीवक्त्राय, अपाङ्गात् = नेत्रप्रान्तात्, कर्पूर-कस्तूरिकयोः = चन्द्रमृगमदयोः, प्रवाहम् = पूरम्, उत्सृजन्ती = वितरन्तीम्, सखीनां मुखानि पश्यन्तीमित्यर्थः ।

टिप्पणी—स्याम् = प्रार्थनायां लिङ् । राजकेन = "गोत्रोक्षे"त्यादिना । वुञ् प्रत्ययः । मनोरथातिथ्यम् = मनोरथानामातिथ्यम् (ष० तत्पु०) अवापिताय = अवपूर्वादाप्नोतेर्ण्यन्तात् क्तः । सखीमुखाय = सख्यामुखाय (ष० तत्पु०) कर्पूरकस्तूरिकयोः = कर्पूरश्च कस्तूरिका चेति कर्पूरकस्तूरिके तयोः (द्वन्द्वः) ।

भावः—एतदीयसखि वक्रतां वरं प्राप्नुयाम वयमित्यभीप्सिते ।
राजकेन सितकृष्ण नेत्रभां तां सखीजनमुखे प्रकुर्वतीम् ।।

अनुवादः—अच्छा होता कि हम लोग इसकी सखियों का मुख हो जाते, उस रूप में इसके कटाक्ष का भाजन तो हो जाते, इस प्रकार राजसमूह द्वारा ईप्सित अपनी सखियों के मुख के प्रति नेत्र के प्रान्त से श्वेत कृष्ण नेत्रप्रभा प्रवाह को बिखेरती हुई ।। १०२ ।।

स्मितेच्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः ।
आनन्दितोर्वीन्द्रमुखारविन्दैर्मदं नुदन्तीं हृदि कौमुदीनाम् ।।१०३।।

अन्वयः—आनन्दितोर्वीन्द्रमुखारविन्दैः स्मितेच्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिग-म्बरीभूतरदांशुवृन्दैः कौमुदीनां हृदि मदं नुदन्तीम् ।

व्याख्या—आनन्दितोर्वीन्द्रमुखारविन्दैः = प्रसादितभूपतिवक्त्रकमलैः, स्मिते-च्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः = स्मिताभिलाषरदस्फुरितोष्टपुटे-

षन्निर्गतास्ततदिगन्तरालरदकिरणनिकुरम्बैः, कौमुदीनाम् = चन्द्रप्रभाणाम् हृदि= हृदये, मदम् = स्वच्छताहङ्कारम् नुदन्ती = दूरयन्तीम् कौमुद्योहि कमलविकाशासमर्थाः दन्तकिरणैस्तु नृपमुखपद्मानि विकसितानि इति भावः।

टिप्पणी—आनन्दितोर्वीन्द्रमुखैः = आनन्दितानि उर्वीन्द्राणां मुखानि यैस्ते तैः (ब० व्रीहिः)। स्मितमिच्छत इति स्मितेच्छू तौ च तौ रदनच्छदौ तयोः कम्पने दिगम्बरीभूतानि, रदानामंशवः, तेषा वृन्दानि तैः, स्मितेच्छु-रदनच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः। (कर्मधारय, ष० तत्पु०, ष० तत्पु० तृ० तत्पु० कर्मधारयः।)

भावः—

स्मित-विकसितकान्तदन्तकन्त्याऽधरयन्तीं शशिकौमुदीप्रसादम्।
अपि च नृपसदोमुखारविन्दान्यधिगतचारुविकासमादधानाम्॥

अनुवादः—धराधीशों के मुखकमल को प्रसन्न करने वाली स्मिताभिलाष से विकसित ओष्ठपुट से निकले दन्त-किरणों से चन्द्र के चाँदनी के मद को मर्दन करती हुई॥ १०३॥

प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन यल्लग्नतन्निश्चललोकनेत्राम्।
हाराग्रजाग्रद्गरुडाश्मरश्मिपीनाभनाभीकुहरान्धकाराम् ॥१०४॥

अन्वयः—प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन यल्लग्नतन्निश्चललोकनेत्राम् हाराग्रजाग्रद्गरुडाश्मरश्मिपीनाभनाभीकुहरान्धकाराम्।

व्याख्या—प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन = प्रतिप्रतीकनिर्मलरत्नच्छलेन, यल्लग्नतान्निश्चललोकनेत्रम् = तत्तदङ्गसक्तनिस्पन्दजननयनाम्, हाराग्रजाग्रद गरुडाश्मरश्मिपीनाभनाभीकुहरान्धकाराम् =हारप्रान्तप्रोतनीलमणिकिरणघननाभिश्वभ्रध्वान्ताम्।

टिप्पणी—अङ्गे अङ्गे इति प्रत्यङ्गम् (वीप्सार्थेऽव्ययीभावः) प्रत्यङ्गं या भूषा तासु ये अच्छाः मणयः तेषां च्छलेन प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन (स० तत्पु० ष० तत्पु०) यस्मिन् लग्नानि तस्मिन्निश्चलानि लोकानां नेत्राणि यस्यां सा ताम्। (सप्तमीतत्पु० गर्भ कर्मधारय पुरःसरः बहुव्रीहि)। हारस्थ अग्रे जाग्रतः गरुडाश्मनः किरणैः पीनाभैः नाभिकुहरान्धकारो यस्याः सा ताम् (ष० तत्पु० कर्मधारय ष० तत्पु० पुरःसरः बहुव्रीहिः) हाराग्रजाग्रद्गरुडाश्मरश्मिपीनाभनाभीकुहरान्धकाराम्।

भावः—प्रत्यङ्गाहितनिश्चलजननयनाभिरामभूषणमणिम् ।
धरनिहितगारुत्मतमणिकिरणपीवरनाभिकुहरतमीम् ॥

अनुवादः—प्रत्येक अङ्गों में स्वच्छमणियों के व्याज से जहाँ पर लगे वहीं पर निश्चल हुये लोगों के नेत्रों वाली अर्थात् प्रत्येक अङ्ग के भूषणों में मणि नहीं है वे लोगों के नेत्र ही निश्चल होकर लगे हैं ऐसी एवं हार के अग्रभाग में गुंथे नीलम के नील कान्ति से अत्यन्त घना हो गया है नाभि के छिद्र का अन्धकार जिससे ऐसी उस दमयन्ती को ॥ १०४ ॥

तद्गौरसारस्मितविस्मितेन्दु-प्रभाशिरःकम्परुचोऽभिनेतुम् ।
विपाण्डुतामण्डितचामराली-नानामरालीकृतलास्यलीलाम् ॥१०५॥

अन्वयः—तद्गौरसारस्मितविस्मितेन्दुप्रभाशिरःकम्परुचः अभिनेतुं विपाण्डुतामण्डित चामरालीनानामरालीकृतलास्यलीलाम् ।

व्याख्या—तद्गौरसार-स्मित-विस्मितेन्दुप्रभा-शिरःकम्परुचः=दमयन्तीधवलतममन्दहासविश्मेरचन्द्रचन्द्रिकामूर्धस्पन्दकान्तीः, अभिनेतुम्=अनुकर्तुम्, विपाण्डुतामण्डितचामरालीनानामरालीकृतलास्यलीलाम्= धवलिमशोभितानेकचामरपङ्क्तिरूपहंसीनिकरकृतनाटचविलासाम् । निजमन्दहासविस्मेरचन्दचन्द्रिकाशिरःकम्पायचामरचयबीज्यमानामित्यर्थः ।

टिप्पणी—तस्याः गौरसारस्मितेन विस्मितायाः इन्दुप्रभायाः शिरःकम्परुचः तद्गौरसारस्मित-विस्मितेन्दुप्रभा-शिरःकम्परुचः (ष० तत्पु० तृ० तत्पुरुषः कर्मधा० ष० तत्पु०)। विपाण्डुतया मण्डिताः याः चामराल्यः ताः एव नानामराल्य ताभिः कृता लास्यलीला यस्याः सा ताम् । (तृ० तत्पु० कर्मधा० मयू० व्यंस० तृ० तत्पु० गर्भो बहुव्रीहि)।

भावः—
अतिधवलतदीयहासविस्मितस्य, शशिरुचिनिकरस्य, मूर्धकम्पनायाः ।
विविधचलितचारुचामरालीमयसितवयसां चयैः बिडम्बयन्तीम् ॥

अनुवादः—अत्यन्त धवल अपने हास से विस्मित चन्द्रमा के चांदनी शिरःकम्प का अभिनय करने के लिये धवलिमा से शोभित सुन्दर चामर रूप मराली के समूह से अभिनय करती हुई ॥ १०५ ॥

तदङ्गभोगावलिगायनीनां मध्ये निरुक्तिक्रमकुण्ठितानाम् ।
स्वयं धृतामप्सरसां प्रसादं ह्रियं हृदो मण्डनमर्पयन्तीम् ॥१०६॥

अन्वयः—तदङ्गभोगावलिगायनीनां मध्ये निरुक्तिक्रमलज्जितानां स्वयं धृतां हृद्मण्डनं ह्रियं प्रसादं अर्पयन्तीम् ।

व्याख्या—तदङ्गभोगावलिगायनीनाम् = तद्विषयकप्रबन्धविशेषगायिकानाम् मध्ये = प्रबन्धमध्ये, निरुक्तिक्रमकुण्ठितानाम् = यथावन्निरूपणासमर्थानाम्, अप्सरसाम् = देवाङ्गनानाम्, स्वयम् आत्मना धृताम् = अवलम्बिताम्, हृदः = हृदयस्य, (वक्षसश्च) मण्डनम् = भूषणम्, ह्रियम् = लज्जाम्, प्रसादम् = स्तुतिपुरस्कारम् अर्पयन्तीम् । स्वस्तुत्यसमर्थाः अप्सरसः लज्जयन्तीमित्यर्थः ।

टिप्पणी—सैवाङ्कं यस्य सा तदङ्गा (ब० व्री०) सा चासौ भोगावली (कर्मधा०) तस्या गायनीनाम् (ष० तत्पु०) बाहुलकात् कर्तरि ल्युट् । निरुक्तिक्रम कुण्ठितानां निरुक्तेः क्रमः (ष० तत्पु०) तस्मिन् कुण्ठिताः (स० तत्पु०) तासाम् । नववध्वाः भूषणीभूतां लज्जां पुरस्कार रूपेण ताभ्यः अर्पयन्तीम् ।

भावः—स्वप्रस्तवप्रक्रमकुण्ठनानाम् देवाङ्गनानां सदसि स्थितानाम् ।
प्रसादरूपेण हृदि स्थितां ह्रियम् स्वभूषणं तां ह्रियमर्पयन्तीम् ॥

अनुवादः—अपने अङ्गों को वर्णन करने वाली बीच में वर्णन में असमर्थता के कारण कुण्ठित अप्समराओं को नववधू स्वभाव से धारण की हुई हृदय की लज्जा रूप भूषण को पुरस्कार के रूप में देती हुई ॥ १०६ ॥

तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानाञ्च नभो जयन्तीम् ।
आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि महीभृतः कस्य न भोजयन्तीम् ? ॥१०७॥

अन्वयः—रदानां रुचा ताराः, वदनस्य (रुचा) चन्द्रम् कचानां (रुचा) तमश्च जयन्तीम् अक्ष्णोः द्वितयं मधूनि कस्य महीभुजः आकण्ठं न भोजयन्तीम् ।

व्याख्या—रदानाम् = दन्तानाम्, रुचा = कान्त्याः, ताराः = तारकाः, वदनस्य = मुखस्य (रुचा), चन्द्रम् = सोमम्, कचानाम् = केशानाम् (रुचा), तमः = अन्धकारश्च, जयन्तीम् = न्यक्कुर्वाणाम्, अक्ष्णोः = नयनयोर्द्वितयम् = युगलम्, मधूनि = कस्य, महीभुजः = राज्ञः, आकण्ठम् = आगलम्, न भोजयन्तीम् = आशयन्तीम्, अपि तु सर्वानेव भूभुजः भोजयन्तीमित्यर्थः ।

टिप्पणी—प्रसह्यार्थस्य न पदस्य भोजयन्तीम् पदेन सुप्सुपेति समासः । द्वितयम् = 'सङ्ख्यया अवयवे तयबि'ति तयप् प्रत्ययः । भोजयन्तीम् भुजेर्ण्यन्तात् शतृप्रत्ययः ।

भावः—

रदन-वदन-केशोत्कर्षवत्या जयन्ती मुदु-शशिसुतभांमिप्राज्यसौभाग्यलक्ष्म्या ।
नयनरुचिसुधां स्वां भूभुजामायतां तामनुपमरमणीयामागतां भोजयन्तीम् ॥

अनुवादः—दाँतों की कान्ति से ताराओं को मुख की कान्ति से चन्द्रमा को और केशों की कान्ति से अन्धकार को जीतती हुई एवं अपने नयनों की कान्ति रूप सुधा से किस राजा को आकण्ठ न डुबाती हुई अर्थात् सबको तृप्त करती हुई उस दमयन्ती को ॥ १०७ ॥

अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीं स्तवाधिकाध्यक्षनिवेद्यलक्ष्मीम् ।
इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः ॥१०८॥

अन्वयः—अथ अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीं स्तवाधिकाध्यक्ष निवेद्य-लक्ष्मीम् विमानेन सभाम् विशन्तीम् इमाम् राजराजिः दृशा पपे ।

व्याख्या—अथ =अह्लादानन्तरम्, अलङ्कृताङ्गात् अद्भुतकेवलाङ्गीम् स्तवाधिकाध्यक्षनिवेद्यलक्ष्मीम् = भूषितशरीरात् अधिकानलङ्कृतशरीरशोभाम् अनिर्वचनीयप्रत्यक्षशोभाम्, विमानेन = चतुरस्रयानेन सभाम् = स्वयंवरसभाम्, विशन्तीम् = प्रविशन्तीम् इमाम् = दमयन्तीम्, राजराजि = नृपसमूहः अपाङ्गेन = दृक्प्रान्तेन, पपे = सस्पृहम् ईक्षितवती ।

टिप्पणी—अलङ्कृतात् अद्भुतानि केवलानि अङ्गानि यस्या, सा (ब० व्रीहिः) अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीम्, स्तवाधिका अध्यक्षा निवेद्या लक्ष्मी यस्याः सा ताम् (ब० व्रीहिः) स्तवाधिकाध्यनिवेद्यलक्ष्मीम् ।

भावः—अलङ्कृतादप्यधिकां स्वदेहतो भूषाविहीनाङ्गरुचं दधीनाम् ।
स्तुतेरगम्यां श्रियमावहन्तीं नृपाः पपुस्तां स्वदृशा सभास्थाम् ॥

अनुवादः—भूषित देह की अपेक्षा अभूषित देह की अधिक शोभावाली अनिर्वचनीय शोभा वाली चतुरस्रयान से सखा में प्रवेश करती हुई दमयन्ती को सभी राजसमूह ने नयन प्रान्त से देखा ॥ १०८ ॥

आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्त्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य ।
उल्लेसुरङ्गानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि ॥१०९॥

अन्वयः—तत्र असौ भूपः कोऽपि न आसीत् तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य यस्य अङ्गानि मुदा विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि न उल्लेसुः ।

व्याख्या—तत्र = स्वयंवरसभायाम् असौ = एतादृशः नृपः = राजा, कोऽपि = कश्चिदपि न आसीत् = नाभूत्, तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य = भीमजाङ्ग सौन्दर्योद्भुताश्चर्यरसस्य यस्य = भूपस्य, अङ्गानि = शरीराणि, मुदा=आनन्देन, उन्निदुरोमरङ्कुरदन्तुराणि = उद्गतरोमकण्टकितानि न उल्लेसु = अल्लासम् प्राप्तानि।

टिप्पणी—तस्या मूर्त्या उद्भवतः अद्भुतस्य (ष० ष० तत्पु० कर्मधारयः)। तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य उन्निद्रैः रोमाङ्कुरैः दन्तुराणि (कर्मधारय तृ० तत्पुरुषौ) तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य।

भावः—तदवयवादभुतरूप-प्रेक्षणसंजातविस्मयरसस्य ।
कस्य न भूमिभृतोऽभूदङ्गं रोमाञ्चितं सर्वम् ॥

अनुवादः—स्वयंवर सभा में ऐसा कोई भी राजा न था जिसका उस दमयन्ती के लोकोत्तर सौन्दर्य को देखकर रोमाञ्चित होकर आनन्द से उल्लसित न हो गया हो—सभी का शरीर रोमाञ्चित एवं आनन्द से उल्लसित हो गया ॥ १०९ ॥

अङ्गुष्ठमूर्द्ध्ना च निपीडिताग्रा मध्येन भागेन च मध्यमायाः।
आस्फोटि भैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम ॥११०॥

अन्वयः—तत्र भैमीम् अवलोक्य अङ्गुष्ठमूर्ध्ना मध्यमायाः मध्येन भागेन निपीडिताग्रा केन जनेन नाम तर्जनी नास्फोटि।

व्याख्या—तत्र = सभायाम्, भैमीम् = दमयन्तीम्, अवलोक्य = निरीक्ष्य, मध्यमायाः = अङ्गुल्या, मध्येन = मध्यभागेन, निपीडिताग्रा = आक्रान्तशिखा केन = तदवलोककेन, नाम = खलु, तर्जनी = तदाख्याङ्गुली न आस्फोटि = स्फोटिता।

टिप्पणी—अङ्गुष्ठमूर्ध्ना=अङ्गुष्ठस्य मूर्ध्ना (ष० तत्पु०)। निपीडिताग्रा = निपीडितं अग्रं यस्यः सा निपीडिताग्रा (ब० व्री०)।

भावः—
लोकविख्यातसौन्दर्यसारश्रियं तां सदःस्थां विलोक्याखिलैः राजकैः।
आत्मनोऽङ्गुष्ठजाग्रेण नो तर्जनी मध्यमामध्यभागेन संस्फोटिता ॥

अनुवादः—उस सभा में दमयन्ती को देखकर अङ्गूठे के अग्रभाग एवं मध्यमा के मध्यभाग से जिसने अपनी तर्जनी को न चटकाया हो, लोकोत्तर आश्चर्यजनक वस्तु को देखने पर प्रायः सभी की ऐसी चेष्टा होती है ॥ ११० ॥

अस्मिन् समाजे मनुजेश्वराणां तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन ।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितरां द्वयी वा ? ॥१११॥

अन्वयः—अस्मिन् मनुजेश्वराणां समाजे खञ्जनाक्षीम् अवलोक्य लोलितमौलिना केन वा पुनः पुनः दृशोः द्वयी न उदक्षेपितराम् ।

व्याख्या—अस्मिन् = एतस्मिन्, मनुजेश्वराणाम् = नरपतीनाम्, समाजे = सदसि, खञ्जनाक्षीम् = खञ्जरीटनयनाम्, अवलोक्य = दृष्ट्वा, लोलितमौलिना = कम्पितशिरस्केन सता केन वा जनेन = लोकेन पुनः पुनः = बारं बारं भ्रुवोर्द्वयी = भ्रूयुगलम्, न उदक्षेपितराम् = अत्यन्तं क्षिप्ता ।

टिप्पणी—खञ्जनाक्षीम् = खञ्जनस्येव अक्षिणी यस्या सा ताम् (ब० व्रीहिः)। मनुजेश्वराणाम् = मनुजानामीश्वरास्तेषाम् (तत्पुरुषः)। लोलितमौलिना = चालितशिरस्केन, लोलितः मौलिर्येन सः तेन (बहुव्रीहिः) उदक्षेपितराम् = उत्पूर्वात् क्षिपे कर्मणि लुङ् ततः 'तिङश्चे'ति तरप् प्रत्ययः 'किमेतिङ्ित्यादिना आम् प्रत्ययः ।

भावः—सदसि तत्र न कोऽप्यभून्नृपः समवलोक्य सुखञ्जनलोचनाम् ।
क्षितिभुजां युगलं न निजभ्रुवो मुहुरपेतधृतिर्य उदक्षिपत् ॥

अनुवादः—उस स्वयंवर सभा में ऐसा कोई राजा न था जो उस खञ्जनाक्षी को देखकर धैर्यहीन होकर जिसने अपने भ्रूयुगल को उसके ऊपर न प्रक्षेप किया हो ॥ १११ ॥

स्वयंवरस्याजिरमाजिहानां विभाव्य भैमीमथ भूमिनाथैः ।
इदं मुदा विह्वलचित्तभावादवादि खण्डाक्षरजिह्मजिह्वम् ॥११२॥

अन्वयः—अथ स्वयंवरस्य अजिरम् आजिहानाम् भैमीम् विभाव्य भूमिनाथैः मुदा विह्वलचित्तभावात् इदं खण्डाक्षरजिह्मजिह्वम् अवादि ।

व्याख्या—अथ = अनन्तरम् स्वयंवरस्य = वरवरणस्थानस्य, अजिरम् = अङ्गणम् आजिहानाम् = आगच्छतीम् भैमीम् = दमयन्तीम् विभाव्य = दृष्ट्वा भूमिनाथैः = भूपतिभिः मुदा = आनन्देन विह्वलचित्तभावात् = व्यग्रचित्तत्वात् इदम् = वक्ष्यमाणम्, खण्डाक्षरजिह्मजिह्वम् = स्खलिताक्षरम्, अवादि = उक्तम् ।

टिप्पणी—आजिहानाम् (हाङः कर्तरि शानच्) विह्वलानि चित्तानि येषां तेषां भावात् विह्वलचित्तभावात् (बहु० व्री० षष्ठी० तत्पु०) खण्डाक्षरजिह्वम् = खण्डाक्षरञ्च तद् जिह्मम् (कर्मधारयः) ।

भावः—अधिसदो भुवि तां समुपायतीं क्षितिपजां समवेक्ष्य तदा मुदा।
अति विग्नधियोऽकथयन्निदमतिविजिह्वाविखण्डितवर्णकम् ॥

अनुवादः—उस स्वयंवर के प्राङ्गण में आती हुई दमयन्ती को देखकर आनन्द से विह्वल चित्त वाले राजाओं ने जिह्वा के कुण्ठित होने से त्रुटिताक्षर वाले वचन को इस प्रकार बोले ॥ ११२ ॥

रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिर्भूः शून्यैव मा भूत् सुरभूमिपान्थैः।
इत्येतयाऽलोपि दिवोऽपि पुंसां वैमत्यमत्यप्सरसा रसायाम् ॥११३॥

अन्वयः—रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिः सुरभूमिपान्थैः भूः शून्या माभूत् इति अत्यप्सरसा एतया दिवः पुंसाम् अपि रसायां वैमत्यम् अलोपि।

व्याख्या—रम्भादिलोभात् = रम्भाप्रभृतिदिव्याङ्गनालिप्सया, कृतकर्मभिः = विहितयज्ञादिसाधनैः सुरभूमिपान्थैः = देवलोकपथिकैः भूः = भूमिः एव शून्या निष्पुरुषा माभूत् = न स्यात्, इति = अतः अत्यप्सरसा = स्वर्गाङ्गनातोऽधिक सुन्दर्यया एतया = दृश्यमानया दिवः = स्वर्गस्य पुंसः = देवानामपि रसायाम् = धरायाम् वैमत्यम् = अवहेलना अलोपि = निरस्ता देवा अपि धरायामागमनाभिलाषिणः कृताः।

टिप्पणी—रम्भादिषु लोभात् रम्भादिलोभात् (स० तत्पु०)। कृतकर्मभिः = कृतानि कर्मणि यैस्ते तैः (बहुव्रीहिः)। सुराणां भूमिस्तेषां पान्थास्तैः सुरभूमिपान्थैः (ष० तत्पु०)। अत्यप्सरसाः अप्सरसः अतिक्रान्ता अत्यप्सराः तया अत्यप्सरसा। अत्यादयः इत्यादिनातिक्रान्ता (कुगतिप्रादयः) इति सूत्रेण जातिसमासः।

भावः—

स्वर्गभूलाभलोभात् कृतैः कर्मभिः स्वः प्रयातैर्जनैर्मास्तुशून्या रसा।
एतयाऽत्यप्सरः शेभयेयं धरालिप्सिताऽकारि देवैर्दिवोऽप्युत्सुकैः ॥

अनुवादः—रम्भा आदि देवाङ्गनाओं के लोभ से यागादि कर्म करके स्वर्ग के पथिक लोगों से यह धरातल कहीं शूना न हो जाय, इसीलिये अप्सराओं से भी अधिक शोभावाली इस दमयन्ती ने स्वर्गवासी देवों को भी इस धरा के प्रति उत्सुक कर दिया ॥ ११३ ॥

रूपं यदाकर्ण्य जनाननेभ्यस्तत्तद्दिगन्ताद वयमागमाम।
सौन्दर्यसारादनुभूयमानादस्यास्तदस्मात् बहुना कनीयः ॥११४॥

अन्वयः—वयं जनाननेभ्यः यद्रूपं आकर्ण्य तत्तद्दिगन्तात् समागता तद्रूपम् अस्मात् अनुभूयमानात् सौन्दर्यसारात् बहुना कनीयः ।

व्याख्या—वयम् = नृपतयः, जनाननेभ्यः = लोकमुखेभ्यः, यत् = पूर्वाऽधिगतम् रूपम् = सौन्दर्य्यम् आकर्ण्य = श्रुत्वा तत्तद्दिगन्तात् = ताभ्यस्ताभ्यो दिग्भ्यः समागताः = आयाताः, तद्रूपम् = तत्सौन्दर्यम् अस्मात = संमुखस्थात् अनुभूयमानात् = साक्षात्क्रियमाणात् सौन्दर्यसारात् = सौन्दर्योत्कर्षात् बहुना = भूम्ना, कनीय = अत्यल्पम् ।

टिप्पणी—जनाननेभ्यः = जनानामाननानि तेभ्यः (ष० तत्पु०) तत्तद्दिगन्तात् = स च स च दिगन्तः तत्तद्दिगन्तः तस्मात् (कर्मधारयः) कनीयः = अतिशयेनाल्पः, अल्प शब्दात् अनीयर् प्रत्ययः । "युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्" इति कनादेश ।

भावः—जनमुखादवगत्य यदागता वयमियं नयनाभिमुखीं ततः ।
परमसौभगसारसुरूपिणी सदसि तन्तुविकल्पितमन्यथा ॥

अनुवादः—हमलोग लोगों के मुख से सुने जिस सौन्दर्य से आकृष्ट होकर अनेक दिशाओं से यहाँ आये, वह सुन्दरता इस अनुभूयमान सुन्दरता से अत्यन्त कम है ॥ ११४ ॥

रसस्य शृङ्गार इति श्रुतस्य क्व नाम जागर्ति महानुदन्वान् ।
कस्मादुदस्थादियमन्यथा श्रीर्लावण्यवैदग्ध्यनिधिः पयोधेः ? ॥११५॥

अन्वयः—शृङ्गार इति श्रुतस्य रसस्य महान् उदन्वान् क्व नाम जागर्ति अन्यथा लावण्यवैदग्ध्यनिधिः इयं श्रीः कस्मात् पयोधेः उदस्थात् ।

व्याख्या—शृङ्गार इति = शृङ्गार इत्येवं नाम्ना, श्रुतस्य = विख्यातस्य रसस्य, महान् = महत्त्वशाली, उदन्वान् = उदधि, क्व नाम = कस्मिन् अपि देशे जागर्ति = वर्तते, अन्यथा = तदभावे लावण्यवैदग्ध्यनिधिः = सौन्दर्यचातुर्यसेवधिभूता, इयम् = पूर्वप्रसिद्धभिन्ना लक्ष्मीः भैमी रूपा कस्मात् कुत, पयोधेः = समुद्रात् उदस्थात् = उत्पन्ना । श्रियोऽप्यधिकरूपिणीयं क्षीराब्धेरन्यस्मात् शृङ्गारसमुद्रादवश्यमुत्पन्नेति भावः ।

टिप्पणी—उदन्वान् = "उदन्वानुदधौ" इति निपातनात् सिद्धम् । लावण्यवैदग्ध्यनिधिः = लावण्यञ्चवैदग्ध्यञ्चेतिलावण्यवैदग्ध्ये तयोर्निधिः (द्वन्द्वगर्भः ष० तत्पु०) उदस्थात् = उत्पूर्वात् तिष्ठते लुंङ् 'जातिस्थेत्यादिना' सिचो लुक् ।

भावः—शृङ्गारनाम्नो विपुलः समुद्रो रसस्य नूनं क्वचन स्थितोऽस्ति।
यस्मादियं श्री रुदगात् समुद्रात् सौन्दर्यचातुर्यनिधानभूता ॥

अनुवादः—शृङ्गार इस नाम से प्रसिद्ध रस का महान् सागर कहीं पर अवश्य होगा जिससे यह दमयन्ती रूपिणी सौन्दर्य एवं चातुर्य की निधानभूत लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ है अन्यथा लक्ष्मी से अधिक गुणशालिनी इसकी उत्पत्ति क्षीरसागर से सम्भावित नहीं है ॥ ११५ ॥

साक्षात् सुधांशुर्मुखमेव भैम्या दिवः स्फुटं लाक्षणिकः शशाङ्कः।
एतद्भ्रुवो मुख्यमनङ्गचापं पुष्पं पुनस्तद्गुणमात्रवृत्त्या ॥११६॥

अन्वयः—भैम्या मुखम् एव साक्षात् सुधांशुः दिवः शशाङ्कस्तु लाक्षणिकः एतद् भ्रुवौ मुख्यम् अनङ्गचापम् पुष्यन्तु तद्गुणमात्रवृत्त्या।

व्याख्या—भैम्याः = दमयन्त्याः, मुखम् = आननमेव साक्षात् = उपमानभूतः अभिधाबोध्यः सुधांशुः = चन्द्रः, अधरसुधाधारतया साक्षादनुभूयमानत्वात्। दिवः = आकाशस्य शशाङ्कस्तु लाक्षणिकः = एतन्मुखसदृशगुणसम्बन्धात् गौणी-लक्षणा बोध्या। लाक्षणिकः-लाञ्छनयुक्तः। एतद्भ्रुवौ = दमयन्त्या भ्रुवौ मुख्यम् अनङ्गचापम् = मुखभवतयानुगतार्थम् अभिधाबोध्यम्, पुष्पं तु = दमयन्तीभ्रूगुण-सम्बन्धाद् गौणम् लक्षणाबोध्यम्।

टिप्पणी—साक्षात् सुधांशु अधर सुधाधारत्वादह्लादकत्वाभिधेयः। शशाङ्कः-शशलक्षणयुक्तत्वात् मुखगुणसम्बन्धात्' लक्षणावृत्तिबोध्या। एतस्या भ्रुवौ एतद्भ्रुवौ (ष० तत्पु०) मुख्यमनङ्गचापम् = मुखभवत्वात् मुखे भवे मुख्यम् "शरीरावयवाद्यत्" इति यत् प्रत्ययः। अभिधावृत्ति बोध्यम् पुष्पन्तु उद्दीपकत्व साम्याद् गौणम्।

भावः—अदसीय मुखं प्रधान चन्द्रः गगनस्थस्तगुणेन गौण एव।
मदनस्य तु मुख्यचापमेतद् दमयन्ती भ्रुयुगं न पुष्परूपम् ॥

अनुवादः—दमयन्ती का मुख ही साक्षात् (मुख्य) अभिधेय सुधांशु है क्योंकि इसके अधरोष्ठ में सुधा विराजित है। आकाश का शशाङ्क तो शशरूप लक्षण से युक्त होने के कारण लाक्षणिक लक्षणावृत्तिबोध्य है इसकी दोनों भौंह ही काम के मुख्य चाप हैं मुख में होने के कारण तथा साक्षात् कामोद्दीपक होने कारण अभिधेय हैं। पुष्पता तो समानता के कारण गौण कामदेव का चाप है ॥ ११६ ॥

लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्या ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने किम् ?।
सव्यापसव्यं विशिखा विसृष्टास्तेनैतयोर्यान्ति किमन्तरेण ! ॥११७॥

अन्वयः—सुदत्याः ताटङ्कयोः युग्मम् स्मरधन्विने लक्ष्ये कुण्डलिके धृते किम् तेन सव्यापसव्यं विसृष्टाः विशिखाः एतयोरन्तरेण यान्ति ।

व्याख्या—सुदत्या = भैम्या ताटङ्कयोः = कर्णभूषणयोः, युग्मम् = युगलम् स्मरधन्विने = कामधानुष्काय लक्ष्ये = शरव्यभूते, कुण्डलिके = कुण्डल्यौ, धृते = निवेशिते किम् ? ताटङ्कमेव शरव्यचक्रत्वेन धृतवती किम्, तेन = धन्विना सव्यापसव्यम्, बाम-दक्षिणम् विसृष्टा विमुक्ताः, विशिखाः बाणाः, तयोः = ताटङ्कयोः अन्तरेण = मध्येन, यान्ति = निर्गच्छन्ति ।

टिप्पणी—सुदत्याः = शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती तया सुदत्या (ब० व्रीहिः)। सुश्याथा इत्यादिना दन्तस्य दद्भावः । स्मरधन्विने = स्मर एव धन्वी तस्मै तथोक्ताय (मयूरव्य० स०) तादर्थ्ये चतुर्थी । कुण्डल्यावेव कुण्डलिके स्वार्थे कप्रत्ययः ।

भावः—ताटङ्क युग्मं विधृतम् स्मराय शरव्यहेतोः किमु भीम पुत्र्या ।
सव्यापसव्येन तयो विसृष्टा कामेन बाणाः सततं प्रयान्ति ॥

अनुवादः—दमयन्ती ने अपने दोनों कानों में काम धन्वी के लिये निशाने पर बाण मारने के लिये धारण किया है क्या ? क्योंकि दायें बांये से चलाये गये कामदेव के बाण उसी के रास्ते से निकल जाते हैं ।। ११७ ।।

तनोत्यकीर्तिं कुसुमाशुगस्य सैषा बतेन्दीवरकर्णपूरौ ।
यतः श्रवःकुण्डलिकाऽपराद्ध-शरं खलः ख्यापयिता तमाभ्याम् ॥११८॥

अन्वयः—सा एषा इन्दीवरकर्णपूरौ कुसुमायुधस्य अपकीर्तिम् तनोति बत यतः खलः आभ्याम् तम् श्रवः कुण्डलिकापराद्धशरम् ख्यायपिता ।

व्याख्या—सा = प्रसिद्धा एषा = दमयन्ती इन्दीवरकर्णपूरौ = नीलकमले कर्ण-भूषणीभूते एव कुसुमायुधस्य = प्रसूनबाणस्य अपकीर्तिम् = अपयशः, तनोति = विस्तारयति बत इति खेदे, यतः = यस्माद्धेतोः, खलः = दुर्जनः, आभ्याम् = कर्णोत्पलाभ्याम्, तम् = कामम्, श्रवःकुण्डलिकापराद्धशरम् = ताटङ्करूपलक्ष्य स्खलितनीलपद्मरूपबाणम् ख्यापयिता = खापयिष्यति । इन्दीवरयोरपि काम-बाणत्वात् कुण्डलिका बहिर्भागलग्नत्वाताबान्ध एतद् दृष्टान्तेन अन्यत्राप्य पराद्धपृषत्कदोषोद्घाटन सौकर्यादिति भावः ।

टिप्पणी—इन्दीवरकर्णपूरौ = इन्दीवरे एव कर्णपूरौ (मयूरव्यंसकादिः)। कुसुमायुधस्य = कुसुमान्येवायुधानि यस्य तस्य (बहुव्रीहिः)। आयुर्घृतमिति-वत् कार्यकारणयोस्तादात्म्यम्। श्रवः कुण्डलिकापराद्धशरम् = श्रवसोः कुण्डलिके ताभ्यामपराद्धाः शराः यस्य सः तम्। (तत्पु० गर्भो बहुव्रीहिः)।

भावः —

कर्णपूरीकृतेन्द्रीवरेयं ततः दुर्यशः कामदेवस्य धत्ते बत।
तच्छ्वः कुण्डला भ्यामलग्नाशुगः धन्विदोषेण युक्तस्ततः ख्यास्यते ॥

अनुवादः—दमयन्ती अपने कानों में इन्दीवर के कर्णपूरों को कामदेव की अपकीर्ति के समान धारण करती है यह खेद है क्योंकि इस नीलकमल रूप कर्णपूर द्वारा खल लोग कामदेव धन्वी पर दोषारोपण करेंगे कि उसका बाण कुण्ड रूप लक्ष्य से च्युत हो गया है इसलिये यह अच्छा धनुर्धर नहीं है। यहां नीलकमल रूप कारण से जनित होने के कारण कीर्ति भी काली हुई कारण का गुण कार्य के गुण को पैदा करता है ॥ ११८ ॥

रजःपदं षट्पदकीटजुष्टं हित्वाऽऽत्मनः पुष्पमयं पुराणम्।
अद्यात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टिचापम् ॥११९॥

अन्वयः—अद्य आत्मभूः सः रजःपदम् षट्पद कीटजष्टम् आत्मनः पुराणं पुष्पमयं धनुः हित्वा अन्तर्धृतमुष्टि भैम्याः भ्रूयुगं चापम् आद्रियताम्।

व्याख्या—अद्य = अस्मिन् अहनि आत्मभूः = मनोभूः सः = प्रसिद्धः रजः पदम् = परागयुक्तम् (धूलिकलुषम्) षट्पदकीटजुष्टम् = भ्रमररूपघुणविद्धम् तल्लीढत्वाज्जर्जरम्, आत्मनः = स्वस्य पुराणम् = पुरातनम् पुष्पमयम् = कुसुम-रूपम्–धनुः = चापम्, हित्वा = विहाय अन्तर्धृतमुष्टि = मध्ये मुष्टिधृतवल्ल-क्षयम् भैम्याः = दमयन्त्या भ्रूयुगरूपमेव चापम्, धत्ताम् = दधातु। सति विशिष्ट-गुणे नवे पुराणं निकृष्टं त्यजतु।

टिप्पणी—रजःपदम् = रजसां पदम् (ष० तत्पु०)। षट्पदकीटजुष्टम् = षट्पदैरेव कीटैः जुष्टम् (मयूरव्यं० पुरःसरस्तृतीया तत्पु०) अन्तर्धृतमुष्टि = अन्तः धृता मुष्टिर्यत्रेति (ब० व्री०)।

भावः—

सरजसमपि भृङ्गकीटजुष्टं कुसुमधनुः समपास्य तत्पुराणम्।
क्षितिपतितनया भ्रूयुग्मचापं कलयतु धृत मध्य मुष्टि सस्मरोऽद्य ॥

अनुवादः—आज कामदेव पराग युक्त (धूलिधूसर) भृङ्ग रूप कीट से जूठा किया गया। (घुणक्षत) अपने पुराने पुष्परूप धनुष को त्याग कर मध्य में मुष्टि से धारण किये गये के समान, दमयन्ती के भ्रूयुगल रूप नये धनुष को धारण करे। विशिष्ट गुण वाले नये धनुष को मिल जाने पर पुराने जीर्ण धनुष को छोड़ दे ॥ ११९ ॥

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिप्नुर्यमादाय विधिः क्वचित् तान् ।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥१२०॥

अन्वयः—विधिः यं सारम् आदाय तान् (निःसारान्) हिमे पद्मान् प्रावृषि खञ्जरीटान् क्वचित् क्षिप्नुः तेन सारेण प्रतिवर्षम् एतदीयम् दृष्टिद्वयम् उच्चैः पुष्णाति।

व्याख्या—विधिः = ब्रह्मा यम् कमलखञ्जरीटयोः सारम् आदाय = गृहीत्वा (निःसारान्) हिमे = हिमर्तौ पद्मान् = कमलान् प्रावृषि = वर्षासु खञ्जरीटान् = खञ्जनान् क्वापि = क्वचन क्षिप्नुः = प्रक्षेपणशीलः, तेनः = पूर्वगृहीतेन, सारेण श्रेष्ठभागेन प्रतिवर्षम् = प्रतिसमम्, एतदीयम् = एतस्याः दमयन्त्याः सम्बन्धि दृष्टिद्वयम् नयनयुगलम् पुष्णाति = विशिष्ट शोभं करोति।

टिप्पणी—एतदीयम् = एतस्या इदम् एतदीयम् 'त्यदादीनि चेति' वृद्धसंज्ञा—वृद्धाच्छ इति छप्रत्ययः। दृष्टिद्वयम् = दृष्ट्योः द्वयम्। (ष० तत्पु०)।

भावः—हिमेऽरविन्दानपि खञ्जरीटान् वर्षास्वपास्यात्त तदीयसारैः।
प्रत्यब्दमस्याः नयनद्वयस्य श्रियं प्रकृष्टां प्रकरोति धाता॥

अनुवादः—ब्रह्मा जिस कमल और खञ्जरीट के सार को लेकर निःसार उन दोनों को हिम ऋतु में कमल को एवं वर्षा में खञ्जरीट को कहीं फेंक देता है और उसी सार से प्रतिवर्ष दमयन्ति के नयनयुगल की श्री को विशिष्ट बनाता है ॥ १२० ॥

एतद्दृशोरम्बुरुहैर्विशेषं भृङ्गौ जनः पृच्छतु तद्गुणज्ञौ ।
इतीव धात्राऽकृत तारकालि-स्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यमिहाक्षियुग्मे ॥१२१॥

अन्वयः—जनः एतादृशः अम्बुरुहैः सह विशेषम् तद्गुणज्ञौ भृङ्गौ पृच्छतु इतीव धात्रा इह अक्षियुग्मे तारकालि स्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यम् अकृत।

व्याख्या—जनः = लोकः, अम्बुरुहैः = कमलैः सह = साकम्, विशेषम् = भेदम् तद्गणज्ञौ = तयोः कमलेक्षणयोः गुणज्ञौ = गुणभिज्ञौ भृङ्गौ = भृङ्गदम्पति

पृच्छतु = अनुयुङ्क्ताम्, इतीव एतदर्थमेव धात्रा = ब्रह्मणा, इह = अक्षियुगे तारकाली स्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यम् = कनीनिकारूपालिदम्पती कूटसाक्षित्वं (अक्षिमध्य) वर्तित्वञ्च । अकृत = कृतवान् ।

टिप्पणी—एतद्दृशोः = एतस्या दृशौ तयोः (ष० तत्पु०) तद्गुणज्ञौ = तयोः गुणान् जानीतः इति तद्गुणज्ञो = सोपपदात् जानातेर्डः भृङ्गी भृङ्गश्चेति भृङ्गौ 'पुमान् स्त्रिया' इति पुरुषैकशेषः । पृच्छतु 'दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम्, तारकालिस्त्री पुंसमाध्यस्थ्यम् = तारके एव अलिस्त्रीपुंसो (मयूरव्यंसकादिवत्) तयोः माध्यस्थ्यम् (ष० तत्पु०) 'अचतुरविचतुरेत्यादिना समासान्तः' । पद्मानि उत्कृष्टानि उत एतन्नेत्रे उत्कृष्टे इति संशये कूटसाक्षित्वम्, अकृत = कृतवान्, कञ् कर्तरि लुङ् ह्रस्वादङ्गादिति सिचोलुक् । तस्मान्नेत्रे कमलापेक्षया उत्कृष्टे भ्रमरवन्नीलकनीनिका विशिष्टे चेत्यर्थः ।

भावः—कमलैः सह दमयन्त्या पृच्छतु भृङ्गौ जनो दृशोर्भेदम् ।
इति धाताक्षिणि चक्रे तारक रूपालिदम्पती मध्ये ॥

अनुवादः—दमयन्ती के नयनों की कमलों से क्या विशेषता है इसको लोग दोनों के गुणों को जानने वाले भृङ्ग दम्पति से पूछ लें मानो इसीलिये विधाता ने उसके नयनों में तारका रूप भ्रमरदम्पती को मध्यस्थ बना दिया है ॥ १२१ ॥

व्यधत्त सौधौ रतिकामयोस्तद्-भक्तं वयोऽस्या हृदि वासभाजो ।
तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भ-कुम्भौ न सम्भावयति स्तनौ कः ? ॥१२२॥

अन्वयः—रतिकामयोः भक्तम् वयः अस्या हृदि वासभाजो रतिकामयोः कृते सौधौ व्यधत्त यस्मात् कः न (अस्याः) स्तनौ तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भौ सम्भावयति ।

व्याख्या—रतिकामयोः=रतिमनोभवयोः, भक्तम्=विधेयम्, वयः = यौवनम् अस्याः = दमयन्त्याः हृदि वासभाजोः = निवसतोः रतिकामयोः कृते = उपयोगाय । सौधौ = प्रासादौ, व्यधत्त=कृतवान् । यस्मात् = हेतोः, कः न=कः जनो न, अस्याः स्तनौ तदग्रजाग्रत् पृथुशातकुम्भकुम्भौ सम्भावयति ।

टिप्पणी—वासभाजोः = वासं भजतः इति वासभाजौ तयोः वासभाजोः 'भजोण्वि' इति ण्वि प्रत्ययः । रतिश्च कामश्चेति रतिकामौ (द्वन्द्वः) तयो रतिकामयोः तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भकुम्भौ = तयोरग्रे जाग्रतौ पृथू शातकुम्भौ कुम्भौ (ष० तत्पु० ष० तत्पु० कर्मधारयः) ।

भावः—स्थास्नोस्तदीये हृदि कामरत्योः भक्तं वयो वासकृते प्रसादौ ।
व्यदत्त कुम्भौ किल शातकुम्भौ प्रत्येतिः को नैव कुचौ तदग्रे ॥

अनुवादः—दमयन्ती के हृदय में रहने वाले रति और कामदेव के निवास के लिये उनके भक्त यौवनावस्था ने दो कोठे बनाये हैं, कौन व्यक्ति दमयन्ती के स्तनों को उन दोनों के ऊपर विराजमान सुवर्ण के घट के रूप में सम्भावना नहीं करता ॥ १२२ ॥

अस्या भुजाभ्यां विजितात् बिसात् किं पृथक् करोऽगृह्यत तत्प्रसूनम् ! ।
इहेक्ष्यते तन्न गृहं श्रियः कैर्न गीयते वा कर एव लोकैः ? ॥१२३॥

अन्वयः—अस्याः भुजाभ्यां विजितात् बिसात् पृथक् प्रसूनम् करः अगृह्यत् किम् तत् कैः श्रियः गृहं न ईक्ष्यते कैः वा लोके कर एव न कथ्यते ।

व्याख्या—अस्याः = दमयन्त्या, भुजाभ्याम् = हस्ताभ्याम् विजितात् = पराजितात् बिसात् = मृणालात् पृथक् = प्रत्येकम्, प्रसूनम् = कुसुमम् करः = हस्त (बलिः) अगृह्यत स्वीकृतः किम् इह = अस्याः, भुजयो तत् करत्वेन गृहीतं पद्मम् श्रियः = लक्ष्म्या. शोभायाश्च गृहम् = स्थानम् कैः = जनैः न ईक्ष्यते = दृश्यते कैः वा लोकैः कर एव न गीयते = कर एव न कथ्यते । दमयन्त्या भुजाभ्यां विजित्य तत्प्रसूनं कमल करत्वेन गृहीतम् विजेत्राविजितात् करः गृह्यत इत्यर्थः ।

टिप्पणी—करः 'वलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः ।

भावः—कर युगेन हि भीमभुजोबिसात् समवजित्य करः कुसुमं धृतम् ।
करपदेन ततो विनिगद्यतेऽखिलजनं भवनञ्च किलश्रियः ॥

अनुवादः—इस दमयन्ती की भुजाओं ने जीत कर मृडाल से करके रूप में उसका फूल कमल करके रूप में करको ग्रहण किया है क्या इसलिये कौन व्यक्ति उसको कर नही करता और कौन उसको लक्ष्मी (शोभा) का गृह नहीं देखता है ॥ १२३ ॥

छद्मैव तच्छम्बरजं बिसिन्यास्तत्पद्ममस्यास्तु भुजाग्रसद्म ।
उत्कण्टकादुद्गमनेन नालादुत्कण्टकं शातशिखैर्नखैर्यत् ॥१२४॥

अन्वयः—बिसिन्या तत् शम्बरजम् छद्म एव तु अस्याः भुजाग्रसद्म तत् पद्मम् यत् उत्कण्कात् नालात् उद्गमेन शातशिखैः नखैः कण्टकितम् ।

व्याख्या—विसिन्याः = कमलिन्याः तत् = प्रसिद्धम् शम्बरजम् = जलजम् छद्म = कपटम् एव, (शम्बरासुरेण मायया विहितम्) मिथ्याभूतम् । तु = किन्तु तत् = पद्मम् अस्याः = दमयन्त्याः भुजाग्रसद्म = हस्ताग्रस्थलम् यत् उत्कण्टकात् = उद्गताङ्कुरात् नालात् = बिसात् उद्गमेन = उत्पन्नत्वेन शातशिखैः = तीक्ष्णनखैः कण्टकितारः कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इति नियमात् कमलं तु न तथा अतो न तज्जातम् ।

टिप्पणी—शम्बराज्जातम् शम्बरजम्–सोपपदात् जनेर्डः "दैत्ये वा शम्बरोऽम्बुनि" इति वैजयन्ती । पक्षे—शम्बरनाम्नोमायाविनो माया कृतम् । भुजाग्रसद्म भुजयोरग्रं भुजाग्रं तदेव सद्म यस्य तत् (बहुव्रीहिः) उत्कण्टकात् = उद्गतानि कण्टकानि यस्मिन् तस्मात् (बहुव्रीहिः) ।

भावः—

छद्म तच्छाम्बरं वस्तुतः पङ्कजं भीमजाया भुजाग्रे दरीदृश्यते ।
कण्टकप्ताद् बिसादुद्गतौ तद् भुजौ कण्टकैः पङ्कजं नैव तत् तादृशं दृश्यते ॥

अनुवाद—शम्बर (जल) से उत्पन्न होने वाला कमलिनी का कमल कपट मात्र मिथ्या भूत है, शम्बरासुर के माया से कल्पित है । कमल का स्थान तो वस्तुतः दमयन्ती का भुजा का अग्रभाग ही है कण्टक युक्त मृडाल से उत्पन्न होने के कारण भुजा तीक्ष्ण अग्रभाग वाले नखों से कण्टक युक्त देखे जाते हैं, कमल कण्टकित नहीं है इसलिये वह मृडाल से उत्पन्न नहीं है । कारण के गुण का कार्य में होना आवश्यक होता है ॥ १२४ ॥

जागर्ति मर्त्येषु तुलार्थमस्यां योग्येति योग्यानुपलम्भनं नः ।
यद्यस्ति नाके भुवनेऽथवाऽधस्तदा न कौतस्कुतलोकबाधः ? ॥१२५॥

अन्वयः—मर्त्येषु अस्याः तुलार्थम् योग्या इति न, योग्यानुपलम्भनम् (बाधः) जागर्ति, नाके अथवा अधो भुवने यद्यस्ति तदा अत्र कौतस्कुतलोकनाथः न स्यात् ।

व्याख्या—मर्त्येषु = मानवेषु अस्याः = दमयन्त्या तुलार्थम्, योग्या = ऊही इति अत्र नः योग्यानुपलम्भनम् = योग्यानुपलब्धिः (बाधः) जागर्ति । नाके = स्वर्गे अथवा अधो = पाताले भुवने = लोके यद्यस्ति तदा = तस्मिन् अत्र = स्वयंवरे, कौतस्कुतलोकबाधः = तत्तल्लोकागतजनबाधः, न स्यात् = न भवेत् अतस्तयोरपि अस्या औपम्यार्हा नास्ति । पूर्वत्रानुपलब्ध्या प्रमाणेन परत्रार्थापत्तिरूपप्रमाणेन त्रिभुवने अस्याः औपम्या काचन नारी नास्ति ।

टिप्पणी—योग्यानुपलम्भनम् = योग्यायाः अनुपलम्भनम् (ष० तत्पुरुषः) कौतस्कुतलोकबाधः = कुतः कुतः आगता इति कौतस्कुता (तत आगत) इत्यण् अव्ययानां भयाथे टिलोपः इति टिलोपः। ते च ते लोकाः तेषां बाधः। भुवि अनुपलब्धि प्रमाणात् स्वर्गे पाताले च अर्थापत्तिप्रमाणा त्रिभुनेऽपि काचिदे तत्तुल्या नास्तीति सिद्धम्। यदि स्यादुपलभ्येत ततो नास्तीह भूतलेः दिवोऽधस्ताच्च नास्त्येव। यदि तत्रेदृशी भवेत् तदा दिवोधस्तादागतानामत्र सम्मर्दः न स्यात्।

भावः—अतस्त्रिलोक्यां नो भैमीसदृशी काचिदङ्गना।
अनुपलब्ध्यार्थापत्ती प्रमाणे जागृतो यतः॥

अनुवादः—इस धरातल पर यदि भैमी सदृश कोई स्त्री होती तो अवश्य पायी जाती। नहीं पायी जाती है अतः यहाँ पर ऐसी कोई नहीं है। यदि स्वर्ग अथवा पाताल में होती तो उन-उन लोकों से वहाँ वहाँ के वासी इस स्वयंवर में नहीं आते, अतः उन दोनों लोकों में भी भैमी के सदृश कोई स्त्री नहीं है। भूमि पर सत्ता का वाधक अनुपलब्धि प्रमाण है स्वर्ग एवं पाताल में सत्ता का बाधक अर्थापत्ति प्रमाण है अतः इन दोनों प्रमाणों से तीनों लोक में ऐसी कोई स्त्री नहीं है यह सिद्ध हो गया॥ १२५॥

नमः करेभ्योऽस्तु विधेर्न वाऽस्तु स्पृष्टं धियाऽप्यस्य न किं पुनस्तैः।
स्पर्शादिदं स्याल्लुलितं हि शिल्पं मनोभुवोऽनङ्गतयाऽनुरूपम्॥१२६॥

अन्वयः—विधेः करेभ्यः नमः अस्तु अथवा न अस्तु अस्य धिया अपि न स्पृष्टम् किं पुनः तैः हि इदं शिल्पं स्पर्शात् लुलितं स्यात् अनङ्गतया मनोभुवः अनुरूपम् इदम् शिल्पम्।

व्याख्या—विधेः = ब्रह्मणः, करेभ्यः = हस्तेभ्यः, नमः = नमस्कारः, अस्तु = भवतु, अथवा न अस्तु। अस्य = ब्रह्मणः, धिया = बुद्धया, अपि = च, न = नहि स्पष्टम् = कृतस्पर्शम् किं पुनः तैः = हस्तैः हि = यतः इदम् = पुरोदृश्यमानम् शिल्पम् स्पर्शात् = करासङ्गाः लुलितम् = मृदितम् स्यात् = भवेत्, अनङ्गतया = अशरीरतया मनोभुवः = कामस्य अनुरूपम् = योग्यम् इदम् शिल्पम्, अस्तीति शेषः।

टिप्पणी—करेभ्यो नमः "नमः स्वस्ति स्वाहे'त्यादिना चतुर्थी स्पष्टम् = स्पृशो कर्मणि क्तः व्रश्चेति षत्वं ष्टुत्वम्, अनुरूपम् = रूपस्य योग्यम् अनुरूपम् यथाऽर्थेऽव्ययी भावः।

भावः—

नमामो विधातुः करेभ्योऽथवानो न तस्यैदृशी संविधा सम्भवित्री ।
स कामो विधातुं त्विमामाकृतिं यः शरीरं विना वर्तते चेतसैव ॥

अनुवादः—ब्रह्मा के हाथों को नमस्कार हो अथवा नहीं हो, ब्रह्मा की बुद्धि से भी वह दमयन्ती नहीं छुई गयी है हाथों से तो बात ही क्या है शरीर न होने के कारण कामदेव का यह शिल्प हो सकता है ॥ १२६ ॥

इमां न मृद्वीमसृजत् कराभ्यां वेधाः कुशाध्यासनकर्कशाभ्याम् ।
शृङ्गारधारां मनसा न शान्ति-विश्रान्तिधन्वाध्वमहीरुहेण ॥१२७॥

अन्वयः—वेधाः मृद्वीम् इमां कुशाध्यासनकर्कशाभ्याम् कराभ्याम् न असृजत् तथा शृङ्गारधारां शान्ति-विश्रान्ति-धन्वाध्वमहीरुहेण मनसा अपि न अरचयत् ।

व्याख्या—वेधाः = ब्रह्मा मृद्वीम् = कोमलाङ्गीम् इमां, कुशाध्यासनकर्कशाभ्यां = दर्भासनकठिनाभ्याम् कराभ्याम् = हस्ताभ्याम् न असृजत् = निर्मितवान् शृङ्गार-धाराम् = शृङ्गाररसवाहिनीम्, शान्ति-विश्रान्ति-धन्वाध्व-महीरुहेण = विषय-विरति-विराम-मरुस्थल-वृक्षरूपेण मनसा = चेतसा अपि = च न अरचयत् = निर्मितवान् ।

टिप्पणी—मृद्वीम् = वोतोगुणवचनात् इति वैकल्पिकः ङीप् । कुशाध्या-सनकर्कशाभ्याम् = कुशे अध्यासनं तेन कर्कशाभ्याम् (स० तृ० तत्पुरुषो) शृङ्गारधाराम् = शृङ्गारस्य धाराम् (ष० तत्पु०) "समानौ मरुधन्वानौ" इत्यमरः मनसा नासृजत् विषय रसविरक्तेन शृङ्गाररसवाहिन्या अस्या निर्माणा सम्भवात् ।

भावः—मृद्वी नेयं कर्कशाभ्यां कराभ्यां कर्तुं शक्या वेधसा वै कथञ्चित् ।
शृङ्गारेका निर्झरी वा विरक्त-चित्तेनापीयं विधेया तथैव ॥

अनुवादः—विधाता कोमलाङ्गी इस दमयन्ती को कुशासन पर बैठने से कर्कश अपने हाथों से नहीं बना सकते और शृङ्गार रस की तरङ्गिणी रूपा इसको विषय से विरक्तों के विश्रामदायक कठिन मरुस्थल मार्ग के वृक्ष स्वरूप अपने मन से भी इसको नहीं बना सकते विषय से अनभिज्ञ द्वारा शृङ्गार रस-मयी इस दमयन्ती का निर्माण कैसे हो सकता है ॥ १२७ ॥

उल्लास्य धातुस्तुलिता करेण श्रोणौ किमेषा स्तनयोर्गुरुर्वा ।
तेनान्तरालैस्त्रिभिरङ्गुलीनामुदीतमध्यत्रिवलीविलासा ॥ १२८ ॥

अन्वयः—एषा श्रोणौ गुरुः स्तनयो वा गुरुः (इति संशये) धातुः करेण तल्लास्य तुलिता तेन अङ्गुलीनां त्रिभिः अन्तरालैः उदीतमध्यत्रिवलीविलासा ।

व्याख्या—एषा = दमयन्ती, श्रोणौ=नितम्बे, गुरुः=गुर्वी, स्तनयोः=कुचयोः वा गुरुः = गौरवयुक्ता, इति संशय इति शेषः । धातुः = ब्रह्मणः करेण = हस्तेन उल्लास्य = उत्थाय तुलिता = समं धारिता किम् = उत्प्रेक्षे, तेन = तोलनेन अङ्गुलीनाम् = करावयवानाम्, त्रिभिः = त्रिसङ्ख्याकैः अन्तरालैः = व्यवधानैः उदीतमध्यत्रिवलीविलासा = उद्गतान्तरालस्य त्रिवलीशोभायुक्ता जाता ।

टिप्पणी—उदीतमध्यत्रिवलीविलासा = उदीतः मध्ये त्रिवलीविलासो यस्याः सा तथोक्ता (व्यधिकरणबहुव्रीहिः) । उदीत = उत्पूर्वकादिणः क्तप्रत्ययः ।

भावः—गुर्वी स्तनयोरेषा श्रोणौ वेति वेधसा समुत्तोल्य ।
परीक्षिता किं त्र्यङ्गुलिमध्योत्थत्रिवलिसंयुता यस्मात् ॥

अनुवादः—यह दमयन्ती नितम्ब भाग में गुरु है कि स्तनभाग में गुरु है ऐसा संशय होने पर विधाता के हाथ से उठाकर बीच भाग में धारण कर परीक्षा की है जिससे चार अङ्गुलियों के तीन अवकाशों से निकली तीन रेखाओं से इसका मध्यभाग शोभित हो रहा है ॥ १२८ ॥

निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गीमेतां क्रमोन्मीलितपीतिमानम् ।
कृत्वेन्दुरस्या मुखमात्मनाऽभून्निद्रालुना दुर्घटमम्बुजेन ॥ १२९ ॥

अन्वयः—इन्दुः निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गीम् क्रमोन्मीलित पीतिमानं एनाम् कृत्वा निद्रालुना अम्बुजेन दुर्घटम् अस्याः मुखम् आत्मना अभूत् ।

व्याख्या—इन्दुः = चन्द्रः निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गीम् = स्वीयामृतोत्पद्यमान दधिसारोत्पन्नाङ्गीम् क्रमोन्मीलितपीतिमानम् = क्रमोत्पन्नपीतवर्णाम्, एनाम् = दमयन्तीं, कृत्वा = विधाय, निद्रालुना = रात्रौ सङ्कोचभाजा अम्बुजेन = कमलेन दुर्घटम् अस्याः = दमयन्त्याः मुखम् आत्मना = स्वयम् अभूत् = भवतिस्म ।

टिप्पणी—निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गीम् = निजं यत् अमृतं निजामृतम् तस्माद् उद्यत् यन्नवनीतम् तज्जान्यङ्गानि यस्या सा ताम् तथोक्ताम् । (कर्मधारय ष० तत्पु० पुरःसरो बहुव्रीहिः) क्रमोन्मीलित पीतिमानम् = क्रमेण उन्मीलितः पीतिमा यस्या सा ताम् (बहुव्रीहिः) निद्रालुना "तन्द्रिपतिस्दयि निन्द्रेत्यादिना निन्द्राधातो आलुच् प्रत्ययः । "अमृतं व्योम्नि देवान्ने मोक्षे हेम्नि च गोरसे" इति वैजयन्ती, "दधिसारो नवनीतम्" इति हलायुधः ।

भावः—अमृतोत्थेन सारेण भैम्यास्तनुं संविधायेन्दुरब्जेन निद्रालुनाम्।
असुशक्यं विलोक्य स्वयंतन्मुखं प्राभवत् पूर्णिमाशर्वरीशः शशी॥

अनुवादः—चन्द्रमा अपने अमृत से निकले नवनीत से उत्पन्न अङ्ग वाली क्रमशः उघरी हुई पीतिमा से युक्त शरीर वाली दमयन्ती को बनाकर रात्रि में संकुचित होने वाले कमल से दुर्घट उसका मुख स्वयं बन गये॥ १२९॥

अस्याः स चारुर्मधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन।
अमूनि पुष्पैर्विदधेऽङ्गकानि चकार वाचं पिकपञ्चमेन॥ १३०॥

अन्वयः—चारुः सः मधुः एव अस्याः कारुः मलयानिलेन श्वासम् वितेने पुष्पैः अमूनि अङ्गानि विदधे पिकपञ्चमेन वाचं चकार।

व्याख्या—चारुः = चतुरः, सः = प्रसिद्धः, मधुः = वसन्तः, एव अस्याः = दमयन्त्याः, कारुः = शिल्पी, मलयानिलेन = मलयमारुतेन, श्वासम् = निश्वासम्, वितेने = कृतवान्, पुष्पैः = कुसुमैः, अमूनि = प्रत्यक्षमनुभूयमानानि अङ्गानि = अवयवान् विदधे = विहितवान् पिकपञ्चमेन = कोकिलपञ्चमस्वरेण वाचम् = वाणिम् चकार = कृतवान्।

टिप्पणी—पिकपञ्चमेन = पिकस्य पञ्चमेन (पिकः कूजति पञ्चमम्) इत्युक्तेः।

भावः—सुरभिरेव सकासवरो व्यधात् नृपसुताश्वसितं मलयानिलैः।
अवयवान् कुसुमैर्वचनं तथा विकसितेन चकार मनोहरम्॥

अनुवादः—चतुर वसन्त कारीगर ही इस दमयन्ती का शिल्पी है उसी ने मलयानिल से इसका श्वास बनाया फूलों से सुकुमार इसके अङ्गों को और पिक से पञ्चम स्वर से इसकी मधुर वाणी को बनाया॥ १३०॥

कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः।
रूपस्य शिल्पे वयसा स वेधा निर्जीयते स स्मरकिङ्करेण॥ १३१॥

अन्वयः—एषा स्मरस्य एव कृतिः नैव धातुः हि अस्याः शिल्पी इतरकारुजेयः न रूपस्य शिल्पे सः वेधा स्मरकिङ्करेण वयसा अपि निर्जीयते।

व्याख्या—एषा = दमयन्ती, स्मरस्य = कामस्य, एव कृतिः = रचना धातुः = ब्रह्मणः, न हि। यतः अस्याः = दमयन्त्याः, शिल्पी = कारुः इतर कारुजेयः न = शिल्प्यन्तरविजेयो न, सः = प्रसिद्धः वेधाः = ब्रह्मा तु स्मरकिङ्करेण = कामानुचरेण वयसा = यौवनेन अपि, निर्जीयते = पराजीयते किमुत कामेन।

टिप्पणी—इतरकारुजेयः = इतरेण कारुणा जेयः (तृ० तत्पुरुषः) 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इत्यनेन समासः । स्मरकिङ्करेण = स्मरस्य किङ्करः स्मरकिङ्कर स्तेन तथोक्तेन (ष० तत्पु०) निर्जीयते—निर्पूर्वकात् जयतेः कर्मणि लट् ।

भावः—स्मरकृतिरेषा भैमी न विधेः स हीतरेविनिर्जेयः ।
स्मरकिङ्करवयसाऽसौ निर्जीयते किमुत कामेन ॥

अनुवादः—यह दमयन्ती कामदेव की ही रचना है ब्रह्मा की नहीं क्योंकि उसके शिल्पी को सर्वश्रेष्ठ अन्य शिल्पियों से अजेय होना चाहिये ब्रह्मा तो कामदेव के किङ्कर यौवनावस्था से भी जीत लिया जाता है कारु से तो कहना ही क्या ॥ १३१ ॥

गुरोरपीमां भणदोष्ठकण्ठ-निरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुः ।
श्रमः स्मरस्यैष भवं विहाय मुक्ति गतानामनुतापनाय ॥ १३२ ॥

अन्वयः—गुरोः अपि इमां भणदोष्ठकण्ठनिरुक्तिगर्वच्छिदया विजेतुः स्मरस्य एषः श्रमः भवं विहाय मुक्तिं गतानाम् अनुतापनाय ।

व्याख्या—गुरोः = बृहस्पतेः अपि = च इमां भणदोष्ठकण्ठ निरुक्तिगर्वच्छिदया, विजेतुः = स्मरस्य, वर्णपदोष्ठकण्ठसौन्दर्यातिशयनिर्वचनाहङ्कारभङ्गेन शिक्षयितुः कामस्य एषः = दमयन्तीनिर्माणरूपः, श्रमः = परिश्रमः, भवं = जन्ममरणादिक्लेशबहुलत्वधियां संसारं, विहाय = त्यक्त्वा, मुक्तिम् = मोक्षम् गतानाम्, मुक्तानामित्यर्थः अनुतायानाय । दमयन्ती सद्भावात् सदानन्दमयत्वेन संसार एव मोक्ष सुखम् वयं संसारं त्यक्त्वा मुधा मुक्ता एवं रूप पश्चात्तापाय ।

टिप्पणी—भणदोष्ठकण्ठनिरुक्तिगर्वच्छिदया = ओष्ठौ च कण्ठञ्चेति ओष्ठकण्ठम् प्राण्यङ्गत्वाद् एकवद्भावः । भणत् यत् ओष्ठकण्ठम् तयोः निरुक्तिगर्वच्छिदा तया (द्वन्द्वः, कर्मधारयः, ष० तत्पु०) छिदा = अत्र "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इत्यङ्प्रत्ययः स्त्रियां भावे । विजेतुरत्र ताच्छील्ये तृच् ।

भावः—

सौन्दर्यनिर्वचनकर्मणि भीमपुत्र्याः कण्ठोष्ठकुण्ठनभृतो विगतस्मयस्य ।
तद्वाक्पतेरपि विनेतुरयं स्मरस्य मुक्तात्मनां समनुतापकरः प्रयासः ॥

अनुवादः—इस दमयन्ती के वर्णन में ओष्ठ और कण्ठ के कुण्ठन से नष्ट हुये गर्व वाले बृहस्पति को शिक्षा को देने के लिये कामदेव का दमयन्ती के

सौन्दर्यातिशय के निर्माण का प्रयास मुक्त पुरुषों को पश्चात्ताप करने के लिये है। दमयन्ती के रहने से सदा आनन्दमय संसार को छोड़कर हमलोग व्यर्थ ही मुक्त हुए ऐसा प्रश्चात्ताप के लिये है ॥ १३२ ॥

आख्यातुमक्षिव्रजसर्वपीतां भैमीं तदेकाङ्गनिखातदृक्षु।
गाथासुधाश्लेषकलाविलासैरलञ्चकाराननचन्द्रमिन्द्रः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—अथ इन्द्रः अक्षिव्रजसर्वपीताम् भैमीं तदा एकाङ्गनिखातदिक्षु आख्यातुं गाथासुधालेप कलविलासैः आननचन्द्रम् अलञ्चकार।

व्याख्या—अथ = उक्तप्रकारेण राजकैः दमयन्ती वर्णने कृते इन्द्रः = देवराजः, तदा = तस्मिन् काले, एकाङ्गनिखातदिक्षु = एकावयवदर्शनदत्तदृष्टिषु, अक्षिव्रजसर्वपीताम् = सहस्रनैत्रैर्दृष्टसर्वाङ्गशोभाम्, भैमीम् = दमयन्ती, ख्यातुम् = वर्णयितुम्, गाथासुधाश्लेषकलाविलासैः = श्लोकामृतश्लेषालङ्काररचनाचमत्कारैः अन्यत्रामृतसम्पर्केण षोडशकलाविलासैः आननचन्द्रम् = मुखेन्दुं अलञ्चकार भूषयाञ्चकार। श्लिष्टार्थ्यं वक्ष्यमाणश्लोकेनाकथयत्।

टिप्पणी—अक्षिव्रजसर्वपीताम् = सर्वं पीता सर्वपीता अक्ष्णां व्रजम् अक्षिव्रजम् अक्षिव्रजम् (पूर्वत्र सुप्सुपेति समासः अन्यत्र ष० तत्पु०) अक्षिव्रजेन सर्वपीताम् गाथासुधाश्लेषकलाविलासैः = गाथा सुधाया या श्लेष कला तस्याः विलासैः (ष० तत्पु०) एकाङ्गनिखातदिक्षु = एकस्मिन् अङ्गे निखाता दृष्टयो येषां ते तेषु (बहुव्रीहि) एकमङ्गम् एकाङ्गमत्र (पूर्वकालेत्यादिना समासः)।

भावः—द्विनेत्रेषु भैम्येकदेशेक्षणेषु सहस्रेक्षणैर्दृष्टसर्वाङ्गशोभः।
सुरेशस्तदा स्वाननेन्दुं गिरा तमेकार्थभाजा समायोजयत्सः ॥

अनुवादः—इसके बाद देवराज ने अपने सहस्र नेत्रों से दमयन्ती के सभी अङ्गों को देखकर उसके एक एक अङ्ग के दर्शन में लगी दृष्टि वालों में कहने के लिये इस प्रकार श्लिष्टार्थक पद्य कला से अपने मुखचन्द्र को अलङ्कृत किया ॥ १३३ ॥

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयं वीणावती सुस्वरकण्ठभासा।
हैमेव कायप्रभयाऽङ्गशेषैस्तन्वी मतिं क्रामति मेनकाऽपि ॥ १३४॥

अन्वयः—इयं स्मितेन गौरी, दृशा हरिणी, सुन्दरकण्ठभासा वीणावती, कायप्रभया हैमीव, अङ्गशेषैः तन्वी मेनकाऽपि मे मतिं क्रामति।

व्याख्या—इयम् = भैमी स्मितेन = मन्दहासेन, गौरी = गौरीनामा काचिदप्सराः पक्षे—सिता च । ('मे मतिं क्रामति' एवमुत्तरत्राप्यन्वेयम्) सुन्दरकण्ठभासा=मधुरकण्ठध्वनिसम्पदा, वीणावती (मे मतिं क्रामति)=वीणावतीनाम्नी काचिद्देवाङ्गना पक्षे वीणायुक्ता च, कायभासा = देहकान्त्या, हेम = अप्सरोविशेषः सुवर्णञ्च अङ्गशेषैः = अवशिष्टाङ्गैः, तन्वी = मेनकाऽपि मे मतिं क्रामति, एतस्या अङ्गानि दृष्ट्वा स्मर्यत इत्यर्थः ।

भावः—गौवर्णा स्मितेनेक्षणेनैणिका स्वस्वरेणैवमाभाति बाणावती ।
कायकान्त्या सुवर्णाङ्गशेषैरियं मेनका तानवाप्ता शुभान्याऽङ्गना ॥

अनुवादः—यह दमयन्ती मन्दहास्य गौरी नाम की अप्सरा वा, गौरवर्णा है, आँखों से हरिणी नाम की देवाङ्गना वा, मृगी है, सुन्दर कण्ठस्वर से वीणावती अप्सरा वा, वीणा के समान स्वर वाली या वीणा वाली है, काय की कान्ति से हेम नाम की अमरनारी वा स्वर्णवर्णा है, एवं शेष अङ्गों से तन्वङ्गी मेनका नाम की अप्सरा भी मेरी बुद्धि पर आरूढ़ हो जाती है स्मृति पथ पर आ जाती है । कोई भी स्त्री इसके उपमा योग्य मेरे मन में नहीं आती है । यहाँ पर इन्द्र ने देव और मानव दोनों अर्थों को लेकर कहा है ॥ १३४ ॥

इति स्तुवानः सविधे नलेन विलोकितः शङ्कितमानसेन ।
व्याकृत्य मर्त्त्योचितमर्थमुक्तेराखण्डलस्तस्य नुनोद शङ्काम् ॥ १३५ ॥

अन्वयः—इति स्तुवानः आखण्डलः सविधेः शङ्कितमानसेन नलेन विलोकितः उक्तेः मर्त्योचितमर्थं व्याकृत्य तस्य शङ्कां नुनोद ।

व्याख्या—इति = पूर्वोक्तप्रकारेण गौरी प्रभृति देवाङ्गनात्वे भैमीं वर्णयन् आखण्डलः = इन्द्रः, सविधे = समीपे, स्थितेन = उपविष्टेन, नलेन = नैषधेन, शङ्कितमानमानसेन नूनमयं मम रूपधारी मघवेति सञ्जातशङ्केन, विलोकितः = दृष्टः, उक्तेः = स्वोक्तस्य, मर्त्योचितम् = मनुष्यपक्षीयम्, अर्थम् = अभिधेयम् व्याकृत्य=विवृत्य, तस्य = नलस्य, शङ्काम् = सन्देहम्, नुनोद = दूरितवान् ।

टिप्पणी—स्तुवानः = स्तुधातो कर्तरि लट् तस्य शानजादेशः । 'आखण्डलः सहस्राक्षः' इत्यमरः । शङ्कितमासेन = शङ्का सञ्जाता अस्येति शङ्कितम् 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच् प्रत्ययः तादृशम् मानसं यस्य सः तेन (बहुव्रीहिः) । मर्त्योचितम् = मर्त्यस्य उचितम् (ष० तत्पु०) । व्याकृत्य = वि + आ + कृ + क्त्वा–ल्यप् ।

भावः—गौर्यादीनामप्सरोरूपमर्थं ज्ञात्वा जातामिन्द्रशङ्कां नलस्य।
अर्थं स्वाक्तेर्मानवीयं विधाय शङ्कातङ्कं दूरितं तन्मघोना॥

अनुवाद:—इस प्रकार दमयन्ती का वर्णन करते हुये इन्द्र ने पास में बैठे शङ्कित मन से नल द्वारा देखे जाने पर अपनी उक्ति का मानव पक्ष वाला अर्थ करके उनकी शङ्का को दूर कर दिया॥ १३५॥

स्वं नैषधादेशमहो! विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः? ॥१३६॥

अन्वयः—सः कार्यस्य हेतोः स्वं नैषधस्य आदेशं विधाय नानलः सन् पुनः तादृक्कृतव्याकरणः अपि सः स्थानिवद्भावं दुष्टं न व्यधत्त किम्।

व्याख्या—सः = इन्द्रः, कार्यस्य = भैमीलाभस्य, हेतोः = कारणात्, स्वम् = आत्मानम्, नैषधस्य = नलस्य, आदेशम् = नलरूपादेशम्, विधाय = कृत्वा, नानलः = नलरूपो भूत्वा, पुनः = नलशङ्कानन्तरम् तादृक् कृतव्याकरणः = तथाविध-मानवोचितविहितविवरणः अपि सन् सः = इन्द्रःस्थानीयः भूत्वा न भवति परि-वर्तते तद्वत् स्थानिवत् = इन्द्रवत्, भावम् = आशयम्, दुष्टम् = परस्त्र्यभिलाप-रूपम्, किम् = किमर्थम्, व्यधत्त = कृतवान् अहो। महेन्द्रस्यापि दुर्व्यसनिता आश्चर्यम्। नलरूपधारिणा नलवत् साधुस्वभाववता भाव्यम्। किन्तु तं विहाय परप्रतारणरूपभावो धृत, इत्यकार्थमिति भावः।

अन्यच्च तादृक्कृतव्याकरणः माहेन्द्रव्याकरणकर्ता अपि पण्डितः स इन्द्रः नैषधरूपादेशं विधाय तद्रूपधारणेन तादृशो भूत्वा न अल् अनल् न अनल् नानल् अल् रूपो भूत्वा तद्रूप कार्यस्य अल् रूप कार्यस्य हेतोः दुष्टं स्थानिवद्भावं "स्थानवदादेशोऽनल् विधौ" इति पाणिनिसूत्रात् अनल् विधाविति अल् कार्य-विधौ निषिद्धम् स्थानिवद्भावं कथं कृतवान् इति अहो आश्चर्यम्।

अन्यच्च तादृक्कृतव्याकरणः तथाभूत कृत संस्कारः 'स' इति शब्दः "त्यदादीनामः" तकारस्य स्थाने कृताकारादेशः "हलङ्याब्भ्यो" इत्यादि सूत्रेण, अकारादेशस्य स्थानिवत्त्वेन हलं सम्पाद्य अनल् कार्यस्य हेतोः सुलोपः कथन्न कृत इत्याश्चर्यम्।

टिप्पणी—कार्य्यस्य हेतोः "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति षष्ठी नैषधादेशः = नैषधरूपम् आदेशः (कर्मधारयः) नानलः सन् न अलः अनलः न अनलः नानलनलरूपः सन्नपि तथाकृतं व्याकरणः तथा कृतं मर्त्यवत् कृतं व्याकरणं

स्वोक्तिविरुद्धविवरणं येन सः (बहुव्री०) स्थानी इन्द्रः तस्य भावम् स्थानिवद्-भावम्, परस्त्र्यनुरागरूपम्। नलेन सता तद्वत् साधु स्वभावेन भाव्यम् तथा तु न कृतम् इन्द्ररूपस्थानिसदृशमेव कृतम्। इदं देवविरुद्धाचरणमाश्चर्यम्।

अन्यच्च—नानल्रूप अल्कार्यस्य हेतो अनलिवधाविति दुष्टरूपानि बद्भावं कथं व्यधत्त यतः सः स्वयं माहेन्द्रव्याकरणकर्ता पण्डितः।

अन्यच्च तथा संस्कृत 'सः' इति शब्दः। 'त्यदादीनामः' इति तादेशमकारं स्थानिवत्त्वेन हलं कृत्वा हल्ङ्यादिना सुलोपरूपं दुष्टं स्थानिवद्भावं व्यधत्तेत्यार्षम्।

भावः—

कृतककृत नलं स्वं तन्नलादेश भूयं, व्यधित नृप सुतार्थे स स्वयं नानलोऽपि।
अनलि विधिविधाने स्थानिवद्भावकार्यं ह्यकृत कृतविरुद्धं व्याकृतेः पण्डितोऽपि॥
अपलपति निजोक्ति स्वः सदा माननीये घृणित जनसमाने लिप्सिते तुच्छभोगे।
स्मरशरविधुराणां मानवानामकार्यं नहि किमपि विजाने चित्रमेतद्विचित्रम्॥

अनुवादः—इस इन्द्र ने दमयन्ती लाभ रूप कार्य के लिये अपने-आप को नल रूप आदेश बनाकर (नानल) स्वयं अनल होते हुये भी नल की शंका के बाद मनुष्य के समान पूर्व कथन के विरुद्ध बताते हुये मिथ्याभाषी होकर (स्थानी) इन्द्र के समान भाव को परस्त्रीविषयक भाव को धारण किया यह आश्चर्य है। नल का रूप धारण करने पर उसके समान साधु स्वभाव होना चाहिये किन्तु इन्द्र ने अपनी स्वाभाविक दुष्टता को नहीं छोड़ा यह आश्चर्य है। अथवा (नानल्) अल् होते हुये भी दमयन्तीलाभरूप कार्य के लिये 'अनल् विधौ' इससे निषिद्ध स्थानिवद्भाव को नल रूप आदेश होकर दूषित स्थनिवद्भाव को किया यह आश्चर्य है। क्योंकि वे माहेन्द्र व्याकरण के कर्त्ता स्वयं महावैयाकरण हैं उनको ऐसा दूषित स्थानिवद्भाव नहीं करना चाहिये।

अथवा इसी प्रकार संस्कृत 'स' इस शब्द में भी 'त्यदादीनामः' इस सूत्र से किये त के स्थान में अरूप आदेश को स्थानिवद्भाव से हल् मानकर हल्ङ्यादिलोप रूप अल् विधि में निषिद्ध स्थानिवद्भाव को करना आश्चर्य है॥ १३६॥

इयमियमधिरथ्यं याति नेपथ्यमञ्जु-
विशति विशति वेदीमुर्वशी सेयमुर्व्याः।
इति जनजनितैः सानन्दनादैर्विजघ्ने
नलहृदि परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः॥ १३७॥

अन्वयः—नेपथ्यमञ्जुः उर्व्याः उर्वशी सेयम् इयम् इयम्, अधिरथ्यं याति, वेदीम् विशति विशति इति जनजनितैः सानन्दनादैः नलहृदि परभैमीवर्णना-कर्णनाप्तिः विजघ्ने ।

व्याख्या—नेपथ्यमञ्जुः = प्रसाधनमनोहरा, उर्व्याः = धरित्र्याः, उर्वशी = तन्नाम्नी अप्सरा सेयम् = सा दमयन्ती, इयम् इयम् = इत्यङ्गुल्या निर्देशः। अधिरथ्यम् = रथ्याम्, याति = गच्छति । वेदीम् = स्वयंवरभूवेदिकाम्, विशति विशति = प्रविशति प्रविशति, जनजनितैः = लोकोत्पादितैः, सानन्दवादैः = सहर्ष-रवैः नल हृदि नैषधहृदये, परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः = इतरकृतदमयन्तीप्रशंसा-श्रवणाधिगमः विजघ्ने = विघटितः । व्यवहितायतीत्यर्थः ।

टिप्पणी—नेपथ्येन मञ्जुः नेपथ्यमञ्जुः (तृ० तत्पु०)। रथ्यायाम् अधिरथ्यम् विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । जनैर्जनितैः जनजनितैः (कर्तृकरण०) इत्यादिना (तृ० तत्पु०) । सानन्दंवादास्तैः (सुप्सुपा) नलस्य हृदि नलहृदि (ष० तत्पु०) परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः = परेषां भैमीवर्णनस्य आकर्णनम् तस्याप्तिः (ष० तत्पु०) विजघ्नेः = वि + हन्कर्मणि + लिट् ।

भावः—उर्वशीयं भुवो धिप्रतोलिव्रजत्येषका वेदिकायां विशत्युच्चकैः ।
हृष्टहृष्टैर्जनैर्हर्षवादे कृते नैषधीयं मनो नान्यतः संययौ ॥

अनुवादः—धराधाम की उर्वशी सजधजकर यह गली में जा रही है रही है देखो यह उसी स्वयंवर वेदी में घुस रही है घुस रही है इस प्रकार लं. के सहर्ष कोलाहल से नल के द्वारा दमयन्ती की प्रशंसा के श्रवण का अधिग. चित्रित हो गया ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रिय-चयं मामल्लदेवी च यम् ।
तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३८ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे, तर्केषु अपि असमश्रमस्य तस्य चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलः दशमः सर्गः व्यरंसीत् ।

व्याख्या—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = कवीन्द्रचयमुकुटालङ्कृतिम श्रीहीरः = तन्नामा पिता मामल्लदेवी = तन्नाम्नी माता च, जितेन्द्रियचयम्

स्वाधीनीकृतकरणनिकरं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे तर्केषु=न कवितासु, अपि, च असमश्रमस्य=लोकोत्तरशालिनः, शेषम् सुगमम् ।

अनुवादः—कविराजसमूह के मुकुटमणि श्रीहीर नामक पिता और मामल्ल देवी नाम की माता ने इन्द्रियसमूह के विजेता जिस श्रीहर्ष कवि को पैदा किया, तर्कशास्त्र में भी लोकोत्तरपरिश्रम करने वाले उस श्रीहर्ष नाम कवि से निर्मित मनोहर नैषधीयचरित नामक महाकाव्य का स्वभावतः समुज्ज्वल यह दशवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३८ ॥

कल्पनागगनदूरचारिहंसः वर्णना-विविधचारुभङ्गिमाञ्चितः ।
तर्कतल्पताविलयमण्डितः पण्डितः कविगिरां सहर्षकः ॥
ग्रन्थिरस्मिन् दुरूहा सुसंस्थपिता काव्यकर्त्रास्वकण्ठेन चोद्धोषिता ।
मादृशस्तां कथं वेत्तु जीवातवे स्वस्य जीवातु टीका कृता तेन सा ॥

प्रवासादेतस्मिन्निजविहितपद्यैरपि मया-
समेषां पद्यानां व्यरचि खलु भावो बहुविधैः ।
अदुष्टाक्षैर्दृश्यान्यकलुषमनोभिर्बुधजनैः
क्व दोषा आस्माकव्यवसितकृतौ दुष्परिहराः ॥

खाश्वि-खाब्धिमितवैक्रमेऽब्दके माघशुक्लगुरुपञ्चमीतिथौ ।
नैषधीयदशमाङ्कसर्गके पूरिताऽत्र सकलैव टीकिका ॥

गाजीपुरमण्डलान्तर्गतवेरासोंग्रामाभिजनने, श्रीयदुनाथमिश्रपौत्रेण, पण्डितवर-श्रीबलदेवमिश्रपुत्रेण, चतुर्धामयात्रासंशोधितधिया चतुर्विंशतिलक्षैकैकक्रमेण सविधसम्पादितगायत्रीपरश्चरणचतुष्टयेन व्याकरणाचार्य काव्यतीर्थो-पाधिधारिणा, पाटलिपुत्रस्थडालमियाअनन्तभास्करसंस्कृतमहा-विद्यालय, आरामण्डलस्य हरगौरीसंस्कृतोच्चविद्यालयः गाजीपुर-मण्डलस्थ श्रीनृसिंह सं० महाविद्यालय, दिल्लीस्थ ऋषिकुल सं० महाविद्यालय प्रधानाचार्येण, श्रीबदरीनारायण-मिश्रेण कृता संस्कृत-हिन्दी-टीका समाप्ता ।

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

अभिज्ञान शाकुन्तलम्
श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

पञ्चतन्त्रम्
श्री गुरुप्रसाद शास्त्री एवं
श्री सीताराम शास्त्री

आर्य-सुभाषित-साहस्री
(संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)
डॉ. रामजी उपाध्याय

कादम्बरी
आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी

कालिदास-ग्रन्थावली
पं. रामतेज पाण्डेय एवं
डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

गीतगोविन्दकाव्यम्
पं. शिवप्रसाद द्विवेदी

रघुवंशमहाकाव्यम्
डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

संस्कृतसाहित्येतिहासः
डॉ. हंसराज अग्रवाल

नैषधीयचरितम्
आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी

ऋतुसंहारम्
डॉ. शिवप्रसाद द्विवेदी

हितोपदेशः
श्री गुरुप्रसाद शास्त्री एवं
श्री सीताराम शास्त्री

भर्तृहरिशतकत्रयम्
संस्कृत-हिन्दीटीका सहित
पं. ददन उपाध्याय

किरातार्जुनीयम्
श्रीबदरीनारायण मिश्र

शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम्
नारायणतीर्थविरचित संस्कृत टीका
एवं हिन्दी अनुवाद सहित

मेघदूतम्
डॉ. दयाशंकर शास्त्री

मालविकाग्निमित्रम्
डॉ. रमाशंकर पाण्डेय

संस्कृतकाव्यशास्त्रेतिहासः
डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र

बालरामायणम्
डॉ. गंगासागर राय

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली